

॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

श्रीकैलासविद्यालोकस्य पञ्चपञ्चाशत्तमः (५५) सोपानः

श्रीबादरायणविरचितम्

॥ ब्रह्मसूत्रम् ॥

॥ सटिप्पणशाङ्करभाष्यरत्नप्रभाललिताव्याख्यायुतम् ॥

अविरोध-साधन-फलाध्यायाः

(द्वितीयो भागः)



गोविन्दप्रसादिनीटिप्पणीकारः

विद्यावाचस्पतिमहामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी

विष्णुदेवानन्दगिरिजीमहाराजः



ललिताव्याख्याकारः

वेदान्तसर्वदर्शनाचार्यः श्रीकैलासदशमपीठाधीश्वरः

आचार्यमहामण्डलेश्वरः

श्रीमत्स्वामीविद्यानन्दगिरिजीमहाराजः

विद्वत्सम्पादकमण्डलेन सम्पादितम्

प्रकाशकः

श्रीकैलासविद्याप्रकाशनम्, हृषीकेशः (उ०प्र०)

ब्रह्मविद्यापीठश्रीकैलासाश्रमस्य षष्टपीठाचार्याणां विद्यावाचस्पतीनां महामण्डलेश्वराणां श्रीमत्स्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिमहोदयानां, महामण्डलेश्वराणां श्रीमत्स्वामिचैतन्यगिरिमहोदयानां (शास्त्रिणाम्) च निर्वाणरजतमहोत्सवप्रसङ्गे प्रकाशितम् ।

प्रथम संस्करणम्	महाशिवरात्रिः	वि० सं० २०५४	मूल्यम्
१५००	शाङ्कराब्दः १२१०	सन् १९९८	५०० रुप्यकाणि

ग्रन्थप्राप्तिस्थानानि : दूरभाष :

❀ श्री कैलास आश्रमः, कैलास गेट, हृषीकेशः—२४९२०१	(०१३५) ४३०५९८
❀ श्री दशनाम संन्यासाश्रमः, भूपतवाला, हरिद्वारः —२४९४०१	(०१३३) ४२७२०६
❀ श्री कैलाशाश्रमः, उजेली, उत्तरकाशी—२४९१९३	(०१३७४) २३९१
❀ श्री कैलास धामः, कैलास धाम मार्गः, नई झूसी—२२१५०६	
❀ श्री कैलास विद्यातीर्थः, ६-भाई वीरसिंह मार्गः, नई दिल्ली—११०००१	(०११) ३३४७४७५
❀ श्री कैवल्यविद्याकान्तम् १०३–बी.एल.आई.जी., राजौरी गार्डन, नई दिल्ली–११००२७	५४५१२४९
❀ श्री कैलासाश्रमः, कैलास आश्रम मार्गः, मॉडल टाउन, रोहतक—१२४००१	
❀ श्री कैलास विद्यतीर्थः, गिरियक मार्गः, राजगिर, जि० नालन्दा—८०३११६	
❀ श्री रामाश्रमः, समाना मण्डी, पटियाला—१४७१०१	(०१७६४) २०४५०
❀ श्री नर्मदा सत्सङ्ग आश्रम, भिलाड़ियाघाट, शिवपुर, होशंगाबाद (म० प्र०)	
❀ श्री कैलास विद्या धामः, सेक्टर–५, रूपनगर, जम्मूतवी—१८००९१	(०१९१) ४३३३४९)
❀ श्री शङ्कर ब्रह्मविद्या कुटीर, ८३-ए, द्वारकापुरी, मुजफ्फर नगर–२५१००१	

मुद्रक :

श्री कैलास विद्या प्रेस, ब्रह्मानन्दाश्रमः

मुनिकीरेती, हृषीकेशः ।

Kailas Vidya Prakashana Series—55

(SRI BADARAYANA'S)

BRAHMASUTRAM

Text With Shankarabhashya and Ratnaprabha Teeka

Avirodha - Sadhana - Phaladhyayah

VOLUME TWO

* * *

Annotation—**GOVINDAPRASADINEE**

BY

Vidyavachaspati Mahamandaleswara Srimat

Swami Vishnudevananda Giriji Maharaj



OVER

Hindi Discourses—**LALITA**

BY

Vedanta Sarvadarshanacharya

Sri Kailas Peethadheeshwara Mahamandaleshwara

Srimat Swami Vidyananda Giriji Maharaj

Edited By

Editorial Panel of Sri kailas Ashram

Published by :
SRI KAILAS VIDYA PRAKASHANAM
Rishikesh, U. P.

MEMORIALIS :
Nirvana Silver Jubilee of—
Vidyavachaspati Srimat Swami Vishnudevananda Giriji Maharaj, Sixth Acharya Mahamandaleswar Srimat Swami Chaitanya Giriji Maharaj (Shashtriji), Eighth Acharya Mahamandaleswar.

First Impression	Holy Maha Shivaratri Shankarabda	Vikram Samvatsar 2054	Price
1500	1210	A.D.-1998	Rs. 500 only.

The Books are available in India at :

	Telephone No.
Shri Kailas Ashram, Rishikesh—249 201	**0135/430598**
Shri Brahmananda Ashram, Rishikesh—249 201	
Shri Kailas Ashram, Ujeili, Uttarkashi—249 193	**01374/2361**
Shri Dashnama Sannyasa Ashram, Bhupatwala, Haridwar—249 401	**0133/427206**
Shri Rama Ashram, Samana Mandi, (Distt. Patiala) Punjab—147 101	**01764/20450**
Shri Kailas Ashram, Model Town, Rohatak (Hariyana)—124 001	
Shri Kailas Dhama, Nai Jhusi, Allahabad—221 506	
Shri Kailas Vidya Tirtha (Adi Shankdracharya Smaraka) 6, Bhai Vir Singh Marg, New Delhi—110001	**011/3347475**
Shri Kailas Vidya Tirtha, Rajgir, (Distt. Nalanda) Bihar,	
Shri Kaivalya-Vidya-Kentam Road, Rajori Garden, New Delhi—110027	**011/5451249**
Shri Narmada Satsang Ashram, Bhiladiya Ghat, Distt. Hoshangabad—461225	
Shri Kailas Vidya Dham, Rupnagar, Sector-5, Jammu Tawi—180001	**0191/433349**

PRINTED AT
SRI KAILAS VIDYA PRESS, MUNI-KI-RETI, RISHIKESH—249 201

॥ ॐ ॥

॥ श्रीमच्छंकरभगवत्पादो विजयतेतराम् ॥

॥ सम्पादकीयम् ॥

वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों में ब्रह्मसूत्र एक अद्वितीय प्रामाणिक ग्रन्थ है। अनेकानेक संप्रदायविद् आचार्यों ने इस पर विभिन्न प्रकार के मत-मतान्तरों का प्रतिपादित करने वाले भाष्य लिखे हैं। पर उन सभी के मध्य में भगवान् श्री आद्य शंकराचार्य द्वारा लिखित अद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादक भाष्य सर्वाधिक प्रामाणिक, न्याययुक्त तथा सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, जिसको प्रकाशित करते हुए हम अपार हर्ष का अनुभव कर रहे हैं क्योंकि इस अपूर्व संस्करण को प्रकाशित करने के तीन अत्यन्त पावन निमित्त हैं—१. वेदान्तश्रवण की अभीप्सा से कैलास आश्रम में स्वेच्छापूर्वक पधारे कैलास आश्रम के अधिष्ठातृ देव भगवान् श्री अभिनव चन्द्रेश्वर महादेव का प्रतिष्ठा शताब्दी महोत्सव। २. "श्रीगोविन्दप्रसादिनी टिप्पणी" के परिष्कर्ता षष्ठ कैलासपीठाधीश्वर विद्यावाचस्पति अनन्तश्री स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज का निर्वाण रजत महोत्सव। ३. अष्टम कैलास पीठाधीश्वर अनन्तश्री स्वामी चैतन्य गिरि शास्त्री जी महाराज का निर्वाण रजत महोत्सव। इन पावन प्रसङ्गों को लेकर ही इतर संस्करणों से विशिष्ट यह संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत संस्करण की विशेषता यह भी है कि श्रीमच्छांकरभाष्य को रत्नप्रभा टीका, गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणी तथा हिन्दी ललिता व्याख्या के सहित प्रकाशित किया गया है। इससे पूर्व शांकरभाष्य के सभी संस्करणों में या तो रत्नप्रभा, भामती एवं न्यायनिर्णय टीका दिए गये हैं अथवा भामती, कल्पतरु एवं परिमल के सहित छापे गये हैं, पर हमने भाष्यार्थ को सर्वाधिक स्फुट करने वाली रत्नप्रभा टीका को ही इस संस्करण में दिया है। इसका एक अभिप्राय यह भी है कि तीनों टीकाओं के सहित शांकरभाष्य के अनेक प्रकाशनों में रत्नप्रभा को सर्वप्रथम रखा गया है, ऐसा करने वाले संपादक ने भी निःसन्देह उसका वैशिष्ट्य समझा होगा। अतः हमने भी प्रस्तुत संस्करण में रत्नप्रभा को ही रखा है। श्री गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणियाँ श्री कैलास आश्रम के पूर्व मनीषियों के गहन चिन्तन के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई हैं जिनके बिना उपनिषद्, ब्रह्मसूत्रादि जैसे कठिन अद्वैत सिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थों का सम्प्रदायप्रतिपादनपरक समीचीन अर्थ जानना अत्यन्त दुष्कर होता है। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं, मनीषियों के स्वानुभव से ऐसा प्रत्यक्ष हो चुका है। इसी क्रम में श्री कैलास आश्रम ब्रह्मविद्यापीठ के वर्तमान पीठाचार्य म० मं० अनन्तश्रीस्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज द्वारा लिखित 'ललिता व्याख्या' भी गहन मनन-चिन्तन का सुपरिणाम है। इस व्याख्या को जो 'ललिता' अभिधान दिया गया है, उसके पीछे भी महाराजश्री का विशिष्टाभिप्राय प्रतिभासित होता है। यह व्याख्या ललित है, शोभन है, सुन्दर है; ललिता जगज्जननी भगवती दुर्गा का भी एक नाम है तथा महाराजश्री का पूर्वजीवन वृत्तान्त देखने से भी ज्ञात होता है कि उनके पावन लोकविग्रह की जननी का नाम भी श्रीमती ललिता देवी है। इन्हीं कारणों से महाराजश्री ने व्याख्या का नाम ललिता रखा होगा, ऐसा ही उनके मङ्गलाचरण से भी ज्ञात होता है।

यद्यपि इससे पूर्व भी हिन्दी भाषा में अनेक अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं किन्तु हमें अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ता है कि वे शांकरभाष्य के साथ न्याय नहीं कर पाये। अभी तक हिन्दी में शांकरभाष्य की कोई भी ऐसी व्याख्या उपलब्ध नहीं है जो उसका वास्तविक भाव स्फुटकर हिन्दी–

भाषाभाषी जिज्ञासुओं को सन्तुष्ट कर सके क्योंकि भाष्य को गूढ़ संस्कृत भाषा के तात्पर्यार्थ का प्रदर्शन हिन्दी भाषा में करना अत्यन्त कठिन कार्य था। पर प्रस्तुत ललिता व्याख्या में महाराजश्री-ने भाष्य का गूढ़ तात्पर्यार्थ प्रकाशित करने का सफल प्रयत्न किया है तथा जहाँ भाष्य क्लिष्ट है, वहाँ महाराजश्री ने टीका का आश्रय लेकर भी भाष्योक्त वास्तविक तात्पर्य को स्फुट किया है। निश्चय ही भाष्य में किये गये अध्यासनिरूपण को, सांख्य, मीमांसा, न्याय, चार्वाक, बौद्ध आदि दर्शनों के खण्डन को तथा श्रौत प्रमाणों और अनुमानादि प्रमाणों द्वारा सिद्ध किये गये केवलाद्वैत सिद्धान्त के निरूपण को संस्कृतभाषानभिज्ञों के सम्मुख हिन्दी भाषा में प्रस्तुत करना साधारण व्यक्ति योग्य कार्य नहीं था। इस कार्य को कोई बहुश्रुत, श्रोत्रिय, व्याकरणन्यायादि दर्शनों में पारंगत विद्वान् ही कर सकता है। महाराजश्री ने इससे पूर्व भी चित्सुखी-छात्रतोषिणी, व्याप्तिपञ्चकम्-छात्रतोषिणी, वेदान्त परिभाषा-सुबोधिनी टीका, ब्रह्मसूत्र-विद्यानन्दवृत्ति आदि अनेकानेक व्याख्यायें लिखकर न्याय तथा वेदान्त दर्शन के जिज्ञासुओं एवं छात्रों को समान रूप से अनुगृहीत किया है। ये सभी ग्रन्थ विद्यानुरागी पारंगत पण्डितों द्वारा भूरिशः प्रशंसित हैं।

इस संस्करण में द्वादशदर्शनकाननपञ्चानन आ० म० मं० अनन्त श्री स्वामी काशिकानन्द गिरि जी महाराज ने प्रस्तावना निबन्ध देकर इसका महत्व बढ़ाया है। देश-विदेश सर्वत्र आंग्लभाषा के माध्यम से आधुनिक जिज्ञासुओं को वेदान्त दर्शन के तात्पर्य से अवगत कराने के लिए जिनका प्रयास श्लाघनीय है ऐसे समादरणीय श्रीमत्स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने अपनी सम्मति देकर उक्त जिज्ञासुओं को भी इस संस्करण के अध्ययन के लिए आकृष्ट किया है। डॉ० श्री विष्णु दत्त राकेश जी (एम. ए., पी. एच. डी., डी. लिट्), हिन्दी विभागाध्यक्ष, गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय, हरिद्वार ने भी मनोरम शैली में अपनी शुभसम्मति देकर हमें अनुगृहीत किया है। ये सभी निबन्ध प्रथम भाग में द्रष्टव्य हैं। इस द्वितीय भाग में विश्व की ३६ भाषाओं के विद्वान् डॉ० श्री लोकेशचन्द जी का विचार भी देखने योग्य है। ललिता व्याख्याकार स्वयं महाराजश्री ने प्रासङ्गिकम् निबन्ध के माध्यम से इस ग्रन्थ के वृत्तवस्तु का स्पष्टीकरण किया है। एतदर्थ हम उक्त सभी महानुभावों के अधमर्ण हैं।

इन सभी विशेषताओं के अतिरिक्त प्रस्तुत संस्करण में यह वैशिष्ट्य भी है कि अक्षर अन्य संस्करणों की अपेक्षा बड़े टाइप में दिये गये हैं और शब्दों के मध्य में पर्याप्त दूरी भी रखी गयी है, जिससे वृद्धजन भी सुविधापूर्वक पढ़ सकेंगे। पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए यथासंभव उद्धरणों की संख्या; यथोचित स्थलों पर अर्धविराम, पूर्णविराम, प्रश्नवाचक चिह्न आदि भी इस संस्करण में दिये गये हैं। वैयासिक न्यायमाला के श्लोकों के साथ उनके पञ्चावयवों का सरल भाषा में स्फुटीकरण भी अपना विशेष स्थान रखता है। सूत्रों के आगे और पीछे संख्योल्लेख भी पाठकों को सौविध्यप्रद होगा। इतने पर भी मानवीय कृति होने के कारण यदि अशुद्धियाँ एवं त्रुटियाँ रह गयी हों तो हमें आशा है कि विद्वत्सुधीजन क्षमा करेंगे तथा हमारा ध्यान उस ओर आकर्षित करेंगे। इत्यों शम्।

गीता जयन्ती
वि० सं० २०५४

वयं निविविदिषवः भावत्काः
सम्पादकमण्डलसदस्याः

शुभाशंसा

ब्रह्मसूत्र-भाष्य पर ललिता-व्याख्या श्री कैलासपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर श्रीस्वामी-विद्यानन्द गिरिजी महाराज की चर्या की तपस्विता, क्रिया की अजेयता (यो न तन्द्रयते चरन्), योग की अजस्र साधना और ज्ञानके गाम्भीर्य की साक्षात् प्रतिमा है। भारत के विगत दस सहस्र वर्ष सनातन चारिका, अश्रान्त आरोहण और अनपायिनी संस्कार-सरिता के कारण निरन्तर चरैवेति चरैवेति रहे। संस्कृत में पशु और मनु शब्दों का संभेद और समवाय हमारे सतत विकास का कारण रहा है। दृश् धातु से पशु और मन् धातु से मनु की व्युत्पत्ति है। पशु, पक्षी, मनुष्य चर्म चक्षुओं से देखते हैं। शारीरिक पश्यना जीवन का सामान्य लौकिक धर्म है। परन्तु मनुष्य मनन के कारण मनस्वी, मनीषी और परिभू है (मनु से अँग्रेजी का 'मैन' शब्द है)। वह निदिध्यासन के लोकोत्तर तुंग शैलों को छूता है और विचार-साधना के कारण उन्नति करता है। महाराजश्री के नाम विद्यानन्दगिरि में गिरि इसी आरोह का प्रतिरूप है। आप शैलेन्द्र हैं। १००८ श्री विभूषित महाराजजी की ललिता व्याख्या भी उत्थान-सोपान है (उद्यानं ते पुरुष नावयानम्)। जैसे भगवान् पंगु को गिरि लघवाते हैं, मूक को वाचाल करते हैं, उसी भाँति महाराजजी अज्ञान-पंगु को पथ दिखलाते हैं और नव-शिशिक्षु की मूकता को सरस्वती का प्रवाह प्रदान करते हैं। व्याख्या में संगति, विषय, संशय, पूर्वपक्ष और सिद्धान्त को स्पष्टरूप से अलग करने से शङ्का-समाधान अनायास बुद्धिगम्य हो जाता है।

ऐतरेय-ब्राह्मण में कहा गया है—"पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलेग्रहिः"। महाराजजी ने ललिता-व्याख्या के द्वारा जिज्ञासुओं को समर्थ पाथेय दिया है, जिससे वे ज्ञान के महापथ को पार कर सकेंगे। यह व्याख्या पुष्पिणी जंघायें हैं जिनसे हँसते-खेलते चारिका को सम्पन्न करके लक्ष्य सिद्धि के लिए अदम्य संकल्प का सृजन होगा। कर्मण्यता से आप्लावित चेतना भूष्णु से भावित नए आयाम खोजती है। प्रस्तुत व्याख्या हिन्दी में होने के कारण और महाराजजी के चिरकालिक अध्यापन के अनुभव से सिक्त, भगवान् शंकराचार्य के ब्रह्मशिखरों को सुबोध बनाती है। ज्ञान की दुर्गमता को सरल कर महाराजजी ने नए उत्साह-उत्सव को उजागर किया है।

वेदान्त भारतीय दर्शनों का शिरोमणि है जिसमें मनन के तुंग शिखरों का विहंगावलोकन है। वेदान्त शब्द तैत्तिरीय आरण्यक में आता है। कुल्लूकभट ने मनुस्मृति (६-८३) पर टीका करते समय वेदान्ताः का अर्थ उपनिषद् किया है। ब्रह्म-मीमांसा का प्रचलन पालि त्रिपिटक के समय भी था। इसका उल्लेख मज्झम-निकाय आदि पालि ग्रन्थों में है। औपनिषदिक चिन्तन का बौद्ध दर्शन पर प्रभाव पड़ा और बौद्ध न्याय के विकास की छाप आद्य-शंकराचार्य के ग्रन्थों में परिलक्षित होती है। शंकराचार्यजी की उपदेशसाहस्री (१८-१४२) का श्लोक धर्मकीर्ति के प्रमाण-विनिश्चय से उद्धृत है।

बौद्ध आचार्य भावविवेक के (जिनका काल लगभग सन् ४६०-५७० है) मध्यमकहृदय के आठवें परिच्छेद का शीर्षक है—"वेदान्त तत्त्व-विनिश्चयोऽष्टमः परिच्छेदः"। इसकी टीका तर्कज्वाला में वेदान्त का विशद विवेचन है। इन्हीं आचार्य की प्रज्ञा-प्रदीप-मूल-मध्यमक-कारिका में भी वेदान्त का पर्यालोचन है। इसका संस्कृत मूल लुप्त हो गया, परन्तु चीनी और तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हैं। धर्मपाल ने चतुःशतक की टीका में और विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में वेदान्त के सिद्धान्तों की चर्चा की है। शान्तरक्षित ने अपनी विराट् कृति तत्त्वसंग्रह में जिसमें ३६४६ श्लोक हैं, वेदान्त प्रसंगों का प्रतिपादन किया है। इनका जीवनकाल सन् ६८०—७४० है जो आद्यशङ्कराचार्य से पूर्व है। भगवान् आद्य शङ्कराचार्य ने औपनिषद ज्ञानकाण्ड की मीमांसा को चरम अभिव्यक्ति दी, बादरायण विरचित ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखकर ब्रह्म–मीमांसा का पूर्णतम विकास और भव्य दर्शन प्रस्तुत किया। ब्रह्म शब्द अतीव प्राचीन है, जो लैटिन में 'फ्लेमेन्' और आयरिश में 'फोरमेन्' के रूप में मिलता है। जिस प्रकार व्याकरण के पाणिनि ने पूर्ववर्ती आचार्यों के और अपने कृतित्व को अष्टाध्यायी में सूत्रबध करके अमर बना दिया, उसी प्रकार आद्य शङ्कराचार्यजी ने अपने भाष्य द्वारा उत्तरमीमांसा को अनुत्तर दर्शन की शाश्वत और वरेण्य परम्परा बनायी। फ्राँस के अग्रणी लेखक आंद्रे मालरोक्स पर भगवान् शङ्कराचार्य जी का इतना गहरा प्रभाव पड़ा था कि भारत की स्वतंत्रता से पूर्व ही उन्होंने पं जवाहरलाल नेहरू को कहा था—"महान् शङ्कराचार्य ही स्वतन्त्र भारत के पथप्रदर्शक होने चाहिए।" जैसे पतञ्जलि ने महाभाष्य में पाणिनि की महिमा को प्रकट किया (महतो सूक्ष्मेक्षिका सूत्रकारस्य), उसी प्रकार आज की भाषा हिन्दी में श्रद्धेय महाराज जी ने ललिता-व्याख्या से अद्यतन और भावीभारत की अन्तश्चेतना में ब्रह्मात्म का ऐक्यबोध स्थापित किया है। चीन देश की तुन्ह्वाङ् गुहाओं में पाँचवीं शताब्दी की 'अम्युच्चदेव रोचन' की सौ फुट ऊंची विराट् प्रतिमा है। प्रस्तुत व्याख्या महाराजजी की ऐसी जगद्विरोचनी विराट् कृति है जो पातञ्जल महाभाष्य के समान कालजयिनी है। महाराजजी ने इसके द्वारा ज्ञानाग्नि प्रज्वलित की है जिससे आगामी संततियां अद्वैत का साक्षात्कार कर सकेंगी। भगवत्तत्त्व आद्यशङ्कराचार्यजी और साधनासत्त्व महाराजजी उदयीमान इक्कीसवीं शती के ज्ञानसंभार और पुण्यसंभार के पावन संगम हैं ॥

प्रो० (डॉ०) लोकेश चन्द्र शर्मा
जे–२२, हौज खास इन्क्लेव
नई दिल्ली–११००१६

विजयादशमी, शाङ्कराब्द १२१०

दिनाङ्क ११-१०-१९९७





ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यस्थविषयानुक्रमणिका ।

द्वितीयोऽध्यायः पृ० ४४५-७८६

प्रथमः पादः (पृ० ४४५–४५४)

द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः (पृ० ५३९—६४३)

१ रचनानुपपत्त्यधिकरणम् । (पृ. ५३८-५६०)

२ महद्दीर्घाधिकरणम् । (पृ० ५६०-५६७)

३ परमाणुजगदकारणत्वाधिकरणम् (पृ० ५६७-५८६)

४. समुदायाधिकरणम् । (पृ. ५८६-६०४)

द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः (पृ. ६४४-७४५)

१. वियदधिकरणम्। (पृ. ६४४-६६१)

* * *

द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः (पृ० ७४६-७८८)

तृतीयोऽध्यायः प्रथमः पादः ।

तृतीयाध्याये तृतीयः पादः (पृ० ९०१-१०५१)

* * *

तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः ॥४॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः (पृ० १११९-१२३४)

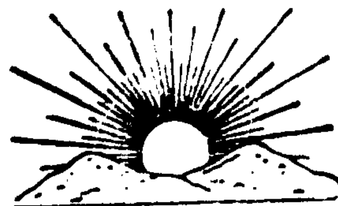
प्रथमः पादः (पृ० १११९-११६४)



चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः (पृ० ११६५-११९२)

इति श्रीमच्छारीरकमीमांससूत्र
शांकरभाष्यस्थविषयसूची।

इत्यों शम्।





विषयविटपाः

द्वितीयाध्याये (पृ० ४४५–७८६) प्रथमः पादः (पृ० ४४५–५३७)

द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः (पृ० ५३८—६४३)

द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः (६४४–७४५)



द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः (पृ० ७४६–७८६)

तृतीयाध्याये (पृ. ७८७-१११७)

प्रथमः पादः (पृ. ७८७ ८२६)

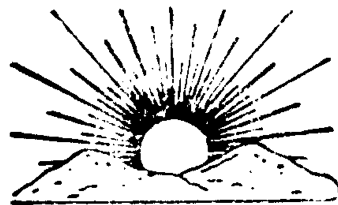
* * *

तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः (पृ० ८३०–९००)

तृतीयाध्याये तृतीयः पादः (९०१–१०५१)

तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः (पृ० १०५२–१११६)

चतुर्थाध्याये प्रथमः पादः (पृ० १११८–११६४)



ॐ

ब्रह्मविद्यापीठश्रीकैलासाश्रमस्याधिष्ठातृदेवानां भगवताम-
भिनवचन्द्रेश्वरमहादेवानां प्रतिष्ठाशताब्दीमहोत्सवप्रसङ्गे
षष्ठकैलासपीठाधीश्वराणामाचार्यमहामण्डलेश्वराणां
विद्यावाचस्पतीनामनन्तश्रीविभूषितानां स्वामि-
विष्णुदेवानन्दगिरिमहोदयानामष्टमपीठाधीश्व-
राणामाचार्यमहामण्डलेश्वराणामनन्तश्री-
विभूषितानां स्वामिचैतन्यगिरिमहोद-
यानां च निर्वाणरजतमहोत्सवा-
वसरे तेषांपूज्यचरणानां
कराब्जयोरिमाम-
भिनवां कृतिं
सादरं
समर्पयति।

कैलासपीठाधीश्वर आ.म.मं.स्वा. विद्यानन्दगिरिः



॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

॥ श्रीबादरायणविरचितम् ॥

॥ ब्रह्मसूत्रम् ॥



॥ सटिप्पणशाङ्करभाष्यरत्नप्रभाललिताव्याख्यायुतम् ॥

* * *

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः पादः ॥



१. स्मृत्यधिकरणम् (सू. १-२)

सांख्यस्मृत्यास्ति संकोचो न वा वेदसमन्वये ॥ धर्मे वेदः सावकाशः संकोचोऽनवकाशया ॥१॥
प्रत्यक्षश्रुतिमूलाभिर्मन्वादिस्मृतिभिः स्मृतिः ॥ अमूला कापिली बाध्या न संकोचोऽनया ततः ॥२॥

❁ भाष्यरत्नप्रभा ❁

सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे ।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ॥१॥

॥ दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः ॥

॥ द्वितीयोऽध्याय प्रथम पाद ॥

❁ ललिताख्या व्याख्या ❁

इस विरोधपरिहारनामक द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में सांख्य, योग, वैशेषिकादि दर्शनों के साथ एवं उनके तर्कों के साथ उत्पन्न हुए वेदान्तसमन्वयविरोध का परिहार किया गया है ।

१. स्मृत्यधिकरण ।

१ **संगति**—प्रथमाध्याय में प्रतिपादित वेदान्तसमन्वय का सांख्यस्मृत्यादि के द्वारा जो विरोध आया, उस विरोध का परिहार इस अध्याय से करना है। इसलिए पिछले अध्याय के साथ इस अध्याय की विषयविषयीभाव संगति है। प्रधानादि में वैदिक शब्द प्रमाण न रहने पर भी कापिलादि स्मृतिरूप शब्दप्रमाण तो है ही, ऐसा आक्षेप होने पर स्मृत्यधिकरण प्रारम्भ होता है, इसलिए पूर्व के साथ इसकी आक्षेप संगति है ।

२. **विषय**—समन्वय का अविरोध इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—वेदान्तसमन्वय में सांख्य-स्मृति से संकोच आता है, या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—यदि वेदान्त का समन्वय ब्रह्म में माना जायेगा तो बड़े-बड़े कपिलादि आप्त

प्रथमेऽध्याये सर्वज्ञः सर्वेश्वरो जगत उत्पत्तिकारणं, मृत्सुवर्णादय इव घटरुचकादीनाम् । उत्पन्नस्य जगतो नियन्तृत्वेन स्थितिकारणं, मायावीव मायायाः । प्रसारितस्य च जगतः पुनः स्वात्मन्येवोपसंहारकारणं, अवनिरिव चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य । स एव च सर्वेषां न आत्मेत्येतद्वेदान्तवाक्यसमन्वयप्रतिपादनेन प्रतिपादितम् । प्रधानादिकारणवादाश्चाशब्दत्वेन निराकृताः । इदानीं स्वपक्षे स्मृतिन्यायविरोधपरिहारः, प्रधानादि-

---

सांख्यादिस्मृतियुक्तिभिर्न चलितो वेदान्तसिद्धान्तगो
निर्मूलैर्विविधागमैरविदितो व्योमादिजन्माप्ययः ।
उत्पत्त्यन्तविवर्जितश्चितिवपुर्व्यापी च कर्तांशको
लिङ्गेन प्रतिथोऽपि नामतनुकृत्तं जानकीशं भजे ।।२।।

'नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुतेर्नामतनुकृदपि संज्ञा[1]मूर्तिव्याकर्तापि लिङ्गशरीरोपाधिना कर्तेति अंश इति च प्रथितः प्रसिद्धो यस्त प्रत्यगभिन्नं परमात्मानं मूलप्रकृतिनियन्तारं भजे इत्यर्थः । स्मृतिप्रसङ्गात्पूर्वोत्तराध्याययोर्विषयविषयिभावसङ्गतिं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—प्रथमेऽध्याय इति । जन्मादिसूत्रमारभ्य जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्मेति प्रतिपादितं, 'शास्त्रदृष्टया तु' इत्यादिसूत्रेषु स एवाद्वितीयः सर्वात्मेत्युक्तं, 'आनुमानिकम्' इत्यादिना कारणान्तरस्याश्रौतत्वं दर्शितमित्यर्थः । एवं प्रथमाध्यायस्यार्थमनूद्य तस्मिन् विषये विरोधपरिहारविषयिणं द्वितीयाध्यायस्यार्थं पादशः संक्षिप्य कथयति—इदानीमिति । अत्र प्रथमपादे समन्वयस्य सांख्यादिस्मृतियुक्तिभिर्विरोधपरिहारः क्रियते । द्वितीयपादे सांख्याद्यागमानां भ्रान्तिमूलत्वमविरोधाय कथ्यते । तृतीयपादे प्रतिवेदान्तं सृष्टिश्रुतीनां जीवात्मश्रुतीनां च व्योमादिमहाभूतानां जन्मलयक्रमादिकथनेनाविरोधः प्रतिपाद्यते । चतुर्थपादे लिङ्गशरीरश्रुतीनामविरोध इत्यर्थः । अयमेवार्थः सुखबोधार्थं श्लोकेन संगृहीतः—'द्वितीये स्मृतितर्काभ्यामविरोधोऽन्यदुष्टता । भूतभोक्तृश्रुतेर्लिङ्गश्रुतेरप्यविरुद्धता ।।' इति । तत्राज्ञाते विषये विरोधशङ्का-

---

ऋषियों के द्वारा बनायी गयी और शिष्टों ने जिसे आदर भी दिया, ऐसे प्रधानकारणवादी सांख्यस्मृति का संकोच होने लग जायेगा । अतः सांख्यस्मृति में प्रसिद्ध प्रधानादि के अनुसार ही श्रुतियों का अर्थ करना चाहिए ।

५. **सिद्धान्त**—मन्वादि स्मृति प्रत्यक्ष श्रुतिमूलक है, उसके द्वारा श्रुति को आधार न रखनेवाली कपिल सांख्यस्मृति बाधित हो जाती है । अतः सांख्यस्मृति के साथ समन्वय का कोई विरोध नहीं है ।

जिस प्रकार मृत्-स्वर्णादि, घट-रुचकादि का कारण है, वैसे ही सर्वज्ञ परमेश्वर जगदुत्पत्ति का कारण प्रथमाध्याय में बतलाया गया । उत्पन्न जगत् का नियन्ता होने से स्थिति का कारण और मायावी की भाँति माया से प्रसारित जगत् का पुनः अपनी आत्मा में उपसंहार का कारण वही है । जिस प्रकार चतुर्विध भूतग्राम का उपादानकारण पृथ्वी है, वैसे ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण होने से उपादानकारण सर्वज्ञ परमात्मा है, वही परमात्मा हम सबकी आत्मा है, ऐसा वेदान्तवाक्यसमन्वयप्रतिपादन के माध्यम से बतलाया गया है और साथ ही वेदबाह्य होने के कारण प्रधानादि कारणवाद का निराकरण भी कर दिया गया है । अब वेदान्त पक्ष में स्मृति एवं न्यायविरोध का परिहार इस द्वितीय अध्याय में करेंगे और प्रधानादि वादों में न्यायाभासत्व बतलायेंगे ।

---

१. स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूरित्यमरः ।

(१३५) स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाश-दोषप्रसङ्गात् ॥१॥

वादानां च न्यायाभासोपबृंहितत्वं, प्रतिवेदान्तं च सृष्ट्या[1]दिप्रक्रियाया अविगीतत्वमित्य-स्यार्थजातस्य प्रतिपादनाय द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते । तत्र प्रथमं तावत्स्मृतिविरोध-मुपन्यस्य परिहरति—

यदुक्तं ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणमिति, तदयुक्तम् । कुतः? स्मृत्यनवकाशदोष-प्रसङ्गात् । स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता शिष्टपरिगृहीता, अन्याश्च तदनुसारिण्यः स्मृतयः, एवं सत्यनवकाशाः प्रसज्येरन् । तासु ह्यचेतनं प्रधानं स्वतन्त्रं जगतः कारण-मुपनिबध्यते । मन्वादिस्मृतयस्तावच्चोदनालक्षणेनाग्निहोत्रादिना धर्मजातेनापेक्षितमर्थं

समाध्ययोगात्समन्वयाध्यायानन्तर्यमविरोधाध्यायस्य युक्तम् । तत्र प्रथमाधिकरणतात्पर्यमाह—तत्र प्रथममिति ।

श्रौते समन्वये विरोधनिरासार्थत्वादस्य पादस्य श्रुतिशास्त्राध्यायसङ्गतयः स्वमतस्थापनात्म-कत्वात्सर्वेषामधिकरणानामेतत्पादसङ्गतिः । अत्र पूर्वपक्षे स्मृतिविरोधादुक्तसमन्वयासिद्धिः फलं, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति विवेकः । तत्र ब्रह्मण्युक्तवेदान्तसमन्वयो विषयः । स किं सांख्यस्मृत्या विरुध्यते न वेति स्मृतिप्रामाण्याप्रामाण्याभ्यां सन्देहे पूर्वपक्षमाह—यदुक्तमिति । तन्त्र्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते तत्त्वान्यनेनेति तन्त्रं शास्त्रं कपिलोक्तम्, अन्याश्च पञ्चशिखादिभिः प्रोक्ताः, एवं सति वेदान्तानाम-द्वयब्रह्मसमन्वये निरर्थकाः स्युरित्यर्थः । तासामपि ब्रह्मार्थकत्वमस्तीत्यविरोध इत्यत आह—तासु हीति । ननु सांख्यस्मृतिप्रामाण्याय प्रधानवादग्रहे मन्वादिस्मृतीनामप्रामाण्यं स्यादित्याशङ्क्य तासां धर्मे सावकाशत्वात्प्रामाण्यं स्यादित्याह—मन्वादीति । तर्हि सांख्यादिस्मृतीनामपि धर्मे तात्पर्येण

सृष्ट्यादि प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्रतिवेदान्त विरोध नहीं है, इन अर्थों को बतलाने के लिए यह द्वितीय अध्याय प्रारम्भ किया जाता है, उनमें भी द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में स्मृतिविरोध का परिहार किया जायेगा, द्वितीय पाद से सांख्यादि मतों में तर्काभासत्व दिखलाया जायेगा, तृतीय पाद में सृष्टि श्रुति, जीवात्मा श्रुति और आकाशादि महाभूतबोधक श्रुतियों का सभी वेदान्तों में विरोधाभाव दिखलाया जायेगा तथा चतुर्थ पाद में लिङ्गशरीरबोधक श्रुति का विरोध परिहार किया जायेगा।

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् (ललिता)

स्मृति पाद के प्रथम अधिकरण में स्मृति विरोध प्रसङ्ग को उठा कर उसका परिहार किया जायेगा। सांख्य ने वेदान्ती से कहा कि आप ने सर्वज्ञ ब्रह्म को जगत् का कारण जो बतलाया था? वह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर सांख्यस्मृति में अनवकाश दोष प्रसङ्ग आ जायेगा। सांख्य-स्मृति तत्त्व का प्रतिपादन करती है, इसलिए इसे तन्त्र कहा है, यह सांख्यस्मृति परम ऋषि कपिल के द्वारा प्रणीत है और बड़े-बड़े शिष्ट पुरुषों से परिगृहीत भी है, इसका अनुसरण करने वाली अन्य स्मृतियाँ भी हैं। यदि सर्वज्ञ ईश्वर को जगत का उपादानकारण मानोगे,तो ये सभी स्मृतियाँ अनवकाश होने लग जायेंगी, क्योंकि इनमें अचेतन प्रधान को जगत् का कारण स्वतन्त्ररूप से कहा गया है। मन्वादि स्मृति अग्निहोत्रादि चोदनारूप धर्म का बोधक होने के कारण उनमें अपेक्षित अर्थ को

१. आदिना लिङ्ग शरीर परिग्रहः।

समर्पयन्त्यः सावकाशा भवन्ति । अस्य वर्णस्यास्मिन्कालेऽनेन विधानेनोपनयनं, ईदृशश्चाचारः, इत्थं वेदाध्ययनं, इत्थं समावर्तनं, इत्थं सहधर्मचारिणीसंयोग इति । तथा पुरुषार्थांश्चतुर्वर्णाश्रमधर्मान्नानाविधान्विदधति । नैवं कपिलादिस्मृतीनामनुष्ठेये विषयेऽवकाशोऽस्ति । मोक्षसाधनमेव हि सम्यग्दर्शनमधिकृत्य ताः प्रणीताः । यदि तत्राप्यनवकाशाः स्युरानर्थक्यमेवासां प्रसज्येत । तस्मात्तदविरोधेन वेदान्ता व्याख्यातव्याः ।

कथं पुनरीक्षत्यादिभ्यो हेतुभ्यो ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणमित्यवधारितः श्रुत्यर्थः स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेन पुनराक्षिप्यते । भवेदयमनाक्षेपः स्वतन्त्रप्रज्ञानाम् । परतन्त्रप्रज्ञास्तु प्रायेण जनाः स्वातन्त्र्येण श्रुत्यर्थमवधारयितुमशक्नुवन्तः प्रख्यातप्रणेतृकाः स्मृतीरवलम्बेरन् । तद्बलेन च श्रुत्यर्थं प्रतिपित्सेरन् । अस्मत्कृते च व्याख्याने न विश्वस्युर्बहुमानात्स्मृतीनां प्रणेतृषु । कपिलप्रभृतीनां चार्षं ज्ञानमप्रतिहतं स्मर्यते । श्रुतिश्च भवति—

प्रामाण्यमस्तु, 'तत्त्व तु ब्रह्मैवेत्यविरोध इत्यत आह—नैवमिति । तत्त्वे विकल्पनानुपपत्तेर्निरवकाशस्मृत्यनुसारेण श्रुतिव्याख्यानमुचितं, सावकाशनिरवकाशयोर्निरवकाशं बलीय इति न्यायादित्याह—तस्मादिति ।

श्रुतिविरोधे स्मृत्यप्रामाण्यस्येष्टत्वात्पूर्वपक्षो न युक्त इति शङ्कते—कथमिति । ये स्वातन्त्र्येण श्रुत्यर्थं ज्ञातुं शक्नुवन्ति तेषामयं पूर्वपक्षो न भवेत्, सांख्यवृद्धेषु श्रद्धालूनां तु भवेदित्याह—भवेदिति । तेषामतीन्द्रियार्थज्ञानवत्त्वाच्च तत्र श्रद्धा स्यादित्याह—कपिलप्रभृतीनां चेति । 'आदौ

बतलाती हुई सावकाश मानी जायेगी। इस वर्ण के बालक का अमुक काल में अमुक प्रकार से उपनयन होना चाहिए, ऐसा आचार होना चाहिए, उन्हें इस प्रकार वेदाध्ययन करना चाहिए, उनका इस प्रकार समावर्तन होना चाहिए और इस प्रकार सहधर्मचारिणी के साथ संयोग होना चाहिए। वैसे ही ब्राह्मणादि चारों वर्णों के नानाविध पुरुषार्थों का भी विधान मन्वादि स्मृतियाँ करती हैं, किन्तु कपिलादि स्मृतियों का अवकाश अनुष्ठेय विषय में नहीं है, वे तो मोक्ष के साधन तत्त्वज्ञान के लिए ही बनायी गयी हैं। यदि उसमें भी वह अनवकाश होने लग जायेंगी, तो उनमें आनर्थक्य प्रसङ्ग आने लग जायेगा। अतः सांख्यस्मृति के साथ विरोध न आवे, ऐसा व्याख्यान वेदान्तग्रन्थों का करना चाहिए ?

श्रुति से विरुद्ध होने के कारण स्मृति में यदि अप्रामाण्य आता हो, तो हमें वह इष्ट ही है। अतः समन्वय के ऊपर पूर्वपक्ष उठाना ठीक नहीं है। जब ईक्षत्यादि हेतुओं से सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण है, ऐसा श्रुति का तात्पर्य निश्चित हो चुका है, तो स्मृत्यनवकाश दोष प्रसङ्ग द्वारा पुनः यह आक्षेप सांख्य कैसे उठा रहा है। इस पर सांख्य कहता है कि स्वतन्त्ररूप से वेदार्थ समझने वालों के लिए यह आक्षेप भले ही अनावश्यक प्रतीत होता हो, किन्तु प्रायशः पराधीन बुद्धि वाले लोग स्वतन्त्ररूप से वेदार्थ का निश्चय नहीं कर पाते हैं, वे प्रख्यात कपिलादि ऋषियों के द्वारा रचे गये सांख्यस्मृति का आलम्बन करेंगे और उसी के बल से वेदार्थ को समझना चाहेंगे। हमारे व्याख्यान में वे विश्वास नहीं करेंगे एवं बहुमान्य स्मृतियों के प्रणेता पर श्रद्धा रखेंगे। उनकी धारणा होगी कि कपिलादि

---

१. कारणन्तु ।

'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' (श्वे० ५-२) इति। तस्मान्नैषां मतमयथार्थं शक्यं सम्भावयितुम्। तर्कावष्टम्भेन चैतेऽर्थं प्रतिष्ठापयन्ति। तस्मादपि स्मृतिबलेन वेदान्ता व्याख्येया इति पुनराक्षेपः।

तस्य समाधिः नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गादिति। यदि स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेनेश्वरकारणवाद आक्षिप्येत, एवमप्यन्या ईश्वरकारणवादिन्यः स्मृतयोऽनवकाशाः प्रसज्येरन्। ता उदाहरिष्यामः—'यत्तत्सूक्ष्ममविज्ञेयम्' इति परं ब्रह्म प्रकृत्य 'स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते' इति चोक्त्वा 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' इत्याह। तथान्यत्रापि 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निर्गुणे संप्रलीयते' इत्याह—'अतश्च संक्षेपममं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः। स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः' इति पुराणे। भगवद्गीतासु च—'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'

यो जायमानं च कपिलं जनयेदृषिम्। प्रसूतं बिभृयाज्ज्ञानैस्तं पश्येत्परमेश्वरम्। इति श्रुतियोजना।

यथा सांख्यस्मृतिविरोधाद्ब्रह्मवादस्त्याज्य इति त्वयोच्यते तथा स्मृत्यन्तरविरोधात्प्रधानवादस्त्याज्य इति मयोच्यत इति सिद्धान्तयति—तस्य समाधिरिति। तस्माद्ब्रह्मणः सकाशादव्यक्तं मायायां लीनम्। सूक्ष्मात्मकं जगदिति यावत्। 'इतिहासवाक्यान्युक्त्वा [2]पुराणसम्मतिमाह—अतश्चेति। प्रभवत्यस्मादिति प्रभवो जन्महेतुः। प्रलीयते तस्मिन्निति प्रलयो लयाधिष्ठानम्। तस्मात्

ऋषियों का ज्ञान आर्ष था, अप्रतिहत था, जिनका समर्थन 'प्रारम्भ में उत्पन्न हुए उस कपिल ऋषि को जिस परमेश्वर ने ज्ञान दिया था उसका साक्षात्कार करना चाहिए' इस वाक्य से श्रुति ने भी किया है। अतः कपिलादि का सिद्धान्त अयथार्थ नहीं माना जा सकता, तर्क के बल से वे पदार्थ की प्रतिष्ठा कराना चाहते हैं। इसलिए ही स्मृति के आधार पर वेदान्त की व्याख्या करनी चाहिए, ऐसा पुनः आक्षेप होता है?

इस आक्षेप का समाधान सिद्धान्ती करते हैं कि अन्य स्मृतियों में अनवकाश दोष प्रसङ्ग आने लग जायेगा। यदि सांख्यस्मृति में अनवकाश दोष प्रसङ्ग आने से ईश्वर कारणवाद पर आक्षेप करोगे तो ईश्वर कारण बतलाने वाली मन्वादि स्मृतियाँ अनवकाश होने लग जायेंगी, जिनका उदाहरण आगे हम देंगे। 'जो वह तत्त्व अति सूक्ष्म और अविज्ञेय है' इस वाक्य द्वारा परब्रह्म का प्रसङ्ग प्रारम्भ कर 'वही सम्पूर्ण भूतों की अन्तरात्मा है जिसे क्षेत्रज्ञ कहा गया है' ऐसा कहने के बाद यह भी कहा है कि 'हे द्विजों में श्रेष्ठ! उस परमेश्वर से त्रिगुणात्मक अव्यक्त उत्पन्न हुआ' तथा अन्यत्र भी कहा है कि 'हे ब्राह्मण! उस निर्गुण पुरुष में अव्यक्त भी लीन हो जाता है।' इतिहास प्रमाण के बाद पुराण प्रमाण देते हुए भाष्यकार ने कहा कि 'मैं संक्षेप में बतलाता हूँ, सुनो! यह सम्पूर्ण जगत् चिरंतन नारायण ही तो हैं, जो सर्गारम्भ में सृष्टि करता है और संहारकाल में पुनः उसका उपसंहार करता है।' श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है कि 'मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण तथा लयाधिष्ठान हूँ।' परमात्मा के ही प्रसङ्ग में

---

१. महाभारतादय इतिहासः। २. इतिहासः पुरावृत्तमिति। पुराणं पञ्चलक्षणमिति चामरः। सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणमिति चान्यत्रोक्तम्॥

(भ० गी० ७-६) इति । परमात्मानमेव च प्रकृत्यापस्तम्बः पठति—'तस्मात्काद्याः प्रभवन्ति सर्वे स मूलं शाश्वतिकः स नित्यः' (ध० सू० १-८-२३-२) इति एवमनेकशः स्मृतिष्वपीश्वरः कारणत्वेनोपादानत्वेन च प्रकाश्यते । स्मृतिबलेन प्रत्यवतिष्ठमानस्य स्मृतिबलेनैवोत्तरं वक्ष्यामीत्यतोऽयमन्यस्मृत्यनवकाशदोषोपन्यासः । दर्शितं तु श्रुतीनामीश्वरकारणवादं प्रति तात्पर्यम् । विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनामवश्यकर्तव्येऽन्यतरपरिग्रहेऽन्यतरपरित्यागे च श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणमनपेक्ष्या इतराः । तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (जै० सू० १—३—३) इति । न चातीन्द्रियानर्थाञ्श्रुतिमन्तरेण कश्चिदुपलभत इति शक्यं संभावयितुं निमित्ताभावात् ।

कर्तुरीश्वरात् काद्या ब्रह्मादयः प्रभवन्ति । स एव मूलमुपादानम् । किं परिणामि, न, शाश्वतिकः कूटस्थः । अतः स नित्य इत्यर्थः । ननु श्रुतिविरोधः किमिति नोक्त इत्यत आह—स्मृतिबलेनेति । स्मृतीनां मिथो विरोधे कथं तत्त्वनिर्णयः, तत्राह—दर्शित त्विति । श्रुतिभिरेव तत्त्वनिर्णय इत्यर्थः । स्मृतीनां का गतिरित्यत आह—विप्रतिपत्तौ चेति । वस्तुतत्त्वे स्मृतीनां मिथो विरोधे वस्तुनि विकल्पायोगात् क्लृप्तश्रुतिमूलाः स्मृतयः प्रमाणं, इतरास्तु कल्प्यश्रुतिमूला न प्रमाणमित्यर्थः । क्लृप्तश्रुतिविरोधे स्मृतिर्न प्रमाणमित्यत्र जैमिनीयन्यायमाह—तदुक्तमिति । 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्' इति प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धा 'सा सर्वा वेष्टयितव्या' इति स्मृतिर्मानं न वेति सन्देहे, मूलश्रुत्यनुमानान्मानमिति प्राप्ते सिद्धान्तः—क्लृप्तश्रुतिविरोधे स्मृतिप्रामाण्यमनपेक्षमपेक्षाशून्यम् । हेयमिति यावत् । हि यतोऽसति विरोधे श्रुत्यनुमानं भवति, अत्र तु विरोधे सति श्रुत्यनुमानायोगान्मूलाभावात् सर्ववेष्टनस्मृतिरप्रमाणमित्यर्थः । अस्तु सांख्यस्मृतिः प्रत्यक्षमूलेत्यत आह—न चेति । योगिनां सिद्धिमहिम्ना-

---

आपस्तम्ब में कहा है कि 'उस परमेश्वर से सभी हिरण्यगर्भादि उत्पन्न होते हैं। अतः वही परमात्मा शाश्वत सब का मूल है और वह नित्य है।' इस प्रकार अनेक स्मृतियों में ईश्वर को जगत् का कर्ता और उपादान कारण भी माना है। स्मृति के बल से प्रश्न करने वाले को स्मृति के बल से ही उत्तर दूंगा और वह यही है कि यदि सांख्यस्मृति में अनवकाश दोष के कारण सांख्यवाद को मानने का आग्रह करोगे, तो उससे भिन्न ईश्वरकारणवादी मन्वादि स्मृति में अनवकाश दोष प्रसङ्ग आ जायेगा। ऐसी स्थिति में ब्रह्मकारणवाद का त्याग न कर प्रधानकारणवाद का त्याग ही उचित होगा। ईश्वरकारणवाद के प्रति श्रुतियों का तात्पर्य पहले दिखलाया जा चुका है। अब स्मृतियों में परस्पर विरोध आने पर अवश्य किसी एक के ग्रहण और दूसरे के त्याग का प्रसङ्ग जब आयेगा तो उस स्थिति में श्रुति के अनुकूल स्मृति प्रमाण मानी जायेगी और श्रुतिविरुद्ध स्मृति प्रमाण नहीं मानी जायेगी, क्योंकि श्रुति अनुकूल स्मृति क्लृप्तश्रुति मूलक है, इसलिए प्रमाण है तथा दूसरों को श्रुति की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः वह प्रमाण नहीं है। इस सम्बन्ध में जैमिनी महर्षि ने प्रमाण प्रसङ्ग पर कहा है 'प्रत्यक्ष श्रुति से विरोध आने पर स्मृतिवाक्य अप्रमाण हो जाता है, जब तक प्रत्यक्ष श्रुति के साथ विरोध नहीं दीखता है तभी तक स्मृतिवाक्य प्रमाण माना जाता है।' '**औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्**' इस प्रत्यक्ष श्रुति से विरुद्ध होने के कारण '**औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या**' यह स्मृति प्रमाण नहीं मानी जायेगी। कोई कैसा सिद्ध क्यों न हो अतीन्द्रिय अर्थ को श्रुति के बिना जान नही सकता, क्योंकि उसे जानने के लिए उसके पास प्रमाण ही नहीं है। कपिलादि

Bha

शक्यं कपिलादीनां सिद्धानामप्रतिहतज्ञानत्वादिति चेत् । न । सिद्धेरपि सापेक्षत्वात् । धर्मानुष्ठानापेक्षा हि सिद्धिः । स च धर्मश्चोदनालक्षणः । ततश्च पूर्वसिद्धायाश्चोदनाया अर्थो न पश्चिमसिद्धपुरुषवचनवशेनातिशङ्कितुं शक्यते । सिद्धव्यपाश्रयकल्पनायामपि बहुत्वात्सिद्धानां प्रदर्शितेन प्रकारेण स्मृतिविप्रतिपत्तौ सत्यां न श्रुतिव्यपाश्रयादन्यन्निर्णयकारणमस्ति । परतन्त्रप्रज्ञस्यापि नाकस्मात्स्मृतिविशेषविषयः पक्षपातो युक्तः । कस्यचित्क्वचित्पक्षपाते सति पुरुषमतिवैश्वरूप्येण तत्त्वाव्यवस्थानप्रसङ्गात् । तस्मात्तस्यापि स्मृतिविप्रतिपत्त्युपन्यासेन श्रुत्यनुसाराननुसारविषयविवेचनेन च सन्मार्गे प्रज्ञा संग्रहणीया ।

या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यं, कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात् । अन्यस्य च कपिलस्य

तीन्द्रियज्ञानं सम्भावयितुं शक्यमिति शङ्क्यते—शक्यमिति । कपिलादिभिः किलादौ वेदप्रामाण्यं निश्चित्य तदर्थस्य धर्मस्यानुष्ठानेन सिद्धिः सम्पादिता, तया सिद्धया प्रणीतस्मृत्यनुसारेणानादिश्रुतिपीडा न युक्तोपजीव्यविरोधादिति परिहरति—न सिद्धेरपीति । अतिशङ्कितुमिति । श्रुतीनां मुख्यार्थमतिक्रम्योपचरितार्थत्वं शङ्कितुं न शक्यत इत्यर्थः । स्वतःसिद्धे वेदो नोपजीव्य इतिचेत् । न । अनीश्वरस्य स्वतःसिद्धौ मानाभावात् । अङ्गीकृत्याप्याह–सिद्धेति । सिद्धानां वचनमाश्रित्य वेदार्थकल्पनायामपि सिद्धोक्तीनांमिथो विरोधे श्रुत्याश्रितमन्वाद्युक्तिभिरेव वेदार्थनिर्णयो युक्त इत्यर्थः । श्रुतिरूपाश्रयं विना सिद्धोक्तिमात्रं न तत्त्वनिर्णयकारणमित्यक्षरार्थः । ननु मन्दमतेः सांख्यस्मृतौ श्रद्धा भवति तस्य मतिर्वेदान्तमार्गं कथमानेयेत्यत आह—परतन्त्रेत्यादिना ।

ननु श्रुत्या कपिलस्य सर्वज्ञतोक्तेस्तन्मते श्रद्धा दुर्वारेत्यत आह—या त्विति । कपिलशब्दमात्रेण सांख्यकर्ता श्रौत इति भ्रान्तिरयुक्ता, तस्य द्वैतवादिनः सर्वज्ञत्वायोगात् । अत्र च सर्वज्ञानसम्भृतत्वेन श्रुतः कपिलो वासुदेवांश एव । स हि सर्वात्मत्वज्ञानं वैदिकं सांख्यमुपदिशतीति सर्वज्ञ इति भावः । प्रतप्तुः प्रदाहकस्य । किञ्च यः कपिलं ज्ञानैर्बिभर्ति तमीश्वरं पश्येदिति

सिद्धों में जो अप्रतिहत ज्ञान है वह सिद्धि भी साधनापेक्ष्य है । धर्मानुष्ठान की अपेक्षा से ही उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई है और धर्म का स्वरूप वेद से जाना जाता है । अतः पूर्व सिद्ध धर्मादि का स्वरूप परवर्ती सिद्धपुरुष के वचन से सशङ्कित नहीं किया जा सकता । सिद्ध का आश्रय लेकर कल्पना करने पर भी एक प्रश्न सामने आयेगा, कि सिद्ध अनेक हुए हैं, उनमें से पूर्वप्रदर्शित न्याय से उन सिद्धों के वचनों में परस्पर विरोध आने पर श्रुति का आश्रय लेने वाले सिद्ध का वचन ही तत्त्वनिर्णायक होगा, अन्य का नहीं । परतन्त्र बुद्धि वालों को भी अकस्मात् किसी स्मृति विशेष में आग्रह करना उचित नहीं होगा । यदि किसी का किसी के प्रति आग्रह हो तो दूसरे का आग्रह दूसरे के प्रति होगा, क्योंकि सब की बुद्धि एक जैसी नहीं होती, फिर तो तत्त्व की व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी । अतः वहाँ पर भी स्मृतियों में परस्पर विरोध आने पर कल्याण मार्ग में श्रुत्यनुसार तत्त्व बतलाने वाली स्मृति ग्राह्य और उसके विरुद्ध त्याज्य मानी जायेगी ।

कपिल के ज्ञान को अतिशय बतलाने वाली जिस श्रुति का आप ने उदाहरण दिया है, उस श्रुति से श्रुति विरुद्ध कपिलमत श्रद्धास्पद नहीं माना जा सकता । श्रुति में तो कपिल नाममात्र ही आया

सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात् । अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात् । भवति चान्या मनोर्माहात्म्यं प्रख्यापयन्ती श्रुतिः–'यद्वै किंच मनुरवदत्तद्भेषजम्' (तै० सं० २-२-१०-२) इति । मनुना च 'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति ।।' (१२-९१) इति सर्वात्मत्वदर्शनं प्रशंसता कापिलं मतं निन्द्यत इति गम्यते । कपिलो हि न सर्वात्मत्वदर्शनमनुमन्यते, आत्मभेदाभ्युपगमात् । महाभारतेऽपि च 'बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु' इति विचार्य 'बहवः पुरुषा राजन्सांख्ययोगविचारिणाम्' इति परपक्षमुपन्यस्य तद्व्युदासेन–बहूनां पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते । तथा तं पुरुषं विश्वमाख्यास्यामि गुणाधिकम् ।।' इत्युपक्रम्य 'ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहसंस्थिताः । सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित्क्वचित् ।। विश्वमूर्धा विश्वभुजो

विधीयते, तथा चान्यार्थस्य ईश्वरप्रतिपत्तिशेषस्य कपिलसर्वज्ञत्वस्य दर्शनमनुवादस्तस्य मानान्तरेण प्राप्तिशून्यस्य स्वार्थसाधकत्वायोगान्नानुवादमात्रात्सर्वज्ञत्वप्रसिद्धिरित्याह—अन्यार्थेति । द्वैतवादिनः कपिलस्य श्रौतत्वं निरस्य ब्रह्मवादिनो मनोः श्रौतत्वमाह—भवति चेति । इतिहासेऽपि कापिलमतनिन्दापूर्वकमद्वैतं दर्शितमित्याह—महाभारतेऽपीति । पुरुषा आत्मानः किं वस्तुतो भिन्ना उतसर्वदृश्यानां प्रत्यगात्मा एक इति विमर्शार्थः । बहूनां पुरुषाकाराणां देहानां यथैका योनिरुपादानं पृथ्वी, तथा तं पुरुषमात्मानं विश्वं सर्वोपादानत्वेन सर्वात्मकं सर्वज्ञत्वादिगुणैः सम्पन्नं कथयिष्यामि । विश्वे सर्वे लोकप्रसिद्धा देवतिर्यङ्मनुष्यादीनां मूर्धानोऽस्यैवेति विश्वमूर्धा, एकस्यैव सर्वक्षेत्रेषु प्रतिबिम्बभावेन प्रविष्टत्वात् । एवं विश्वभुजत्वादियोजना । सर्वभूतेष्वेकश्चरत्यवगच्छति ।

है, वह कपिल सांख्यशास्त्र के निर्माता नहीं हैं, अपितु सगर पुत्रों को शाप से भस्म करने वाले परमात्मा के अंशरूप कपिल अन्य ही हैं। उस कपिल के लिए ही यह कहा गया है, कि जो परमेश्वर ज्ञान द्वारा कपिल का भरण करता है उस ईश्वर को देखो। यह वचन भेददर्शी प्रधानवादी कपिल के विषय में प्रमाण नहीं हो सकता। मनु का माहात्म्य बतलाने वाली अन्य श्रुति प्रसिद्ध है 'जो कुछ मनु ने कहा है वह तो संसार रोग की दवा है।' मनु ने कहा है कि जो सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को और आत्मा में सम्पूर्ण भूतों को समान रूप से देखता है, वह आत्मयाजी है और ऐसा आत्मयाजी स्वाराज्य को प्राप्त करता है।' ऐसे वाक्यों द्वारा सर्वात्मत्व दर्शन की प्रशंसा करते हुए मनु ने सांख्यशास्त्र सम्मत कपिलमत की निन्दा भी की है, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि वे कपिल सभी में एकात्मदर्शन का अनुमोदन नहीं करते, वे तो सभी शरीरों में भिन्न-भिन्न आत्मा मानते हैं। महाभारतादि इतिहास में भी कापिलमतनिन्दापूर्वक अद्वैत का ही समर्थन किया गया है। वहाँ पर कहा है कि 'हे ब्राह्मण ! आत्मा बहुत है अथवा एक है ?' इस प्रश्न पर विचार-विमर्श करने के बाद उत्तर में कहा है 'हे राजन् ! सांख्य और योग विचार वालों की दृष्टि में आत्मा अनेक है।' इस वाक्य से परपक्ष का वर्णन कर उसका खण्डन करते हुए कहा कि 'अनेक पुरुषाकार शरीरों को एक ही पृथ्वी योनि कही गयी है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्व का उपादानकारण मैं सर्वात्मक हूँ सर्वज्ञत्वादि गुणों से सम्पन्न विश्वात्मा को बतलाऊँगा' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भ कर मेरी और तेरी अन्तरात्मा एवं देही नाम से कहे जाने वाले सभी प्राणियों की आत्मा साक्षीरूप है वह कभी किसी से ग्रहण योग्य नहीं

विश्वपादाक्षिनासिकः । एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथासुखम् ॥' इति सर्वात्मतैव निर्धारिता । श्रुतिश्च सर्वात्मतायां भवति—'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई० ७) इत्येवंविधा । अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कपिलस्य तन्त्रं वेदविरुद्धं वेदानुसारिमनुवचनविरुद्धं च, न केवलं स्वतन्त्रप्रकृतिकल्पनयैवेति । वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये । पुरुषवचसां तु मूलान्तरापेक्षं वक्तृस्मृतिव्यवहितं चेति विप्रकर्षः । तस्माद्वेदविरुद्धे विषये स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो न दोषः ॥१॥

कुतश्च स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो न दोषः,

सर्वज्ञ इत्यर्थः । स्वैरचारी स्वतन्त्रः । नास्य नियन्ता कश्चिदस्ति । सर्वेश्वर इत्यर्थः । यथासुखमिति । विशोकानन्दस्वरूप इति यावत् । कापिलतन्त्रस्य वेदमूलस्मृतिविरोधमुक्त्वा साक्षाद्वेदविरोधमाह—श्रुतिश्चेति । यस्मिञ्ज्ञानकाले केवल स्वतन्त्रप्रकृतिकल्पनयैव वेदविरुद्धं न, किन्त्वात्मभेदकल्पनयापीति सिद्धमिति सम्बन्धः । स्मृतिविरोधे वेदस्यैवाप्रामाण्यं किं न स्यादित्यत आह—वेदस्य हीति । वेदस्य प्रामाण्यं स्वतःसिद्धमपौरुषेयत्वात् । पौरुषेयवाक्यानां [2]स्वार्थस्मृतितन्मूलानुभवयोः कल्पनया प्रामाण्यं ज्ञेयमिति व्यवहितं परतः प्रामाण्यमिति विप्रकर्षः । श्रुतिस्मृत्योर्विशेष इत्यक्षरार्थः । [3]समयोर्विरोधे हि निरवकाशेन सावकाशं बाध्यम् । इह स्वतःपरतःप्रामाण्योर्वैषम्याज्झटिति निश्चितप्रामाण्येन चानुपसंजातविरोधिना वेदवाक्येन विरुद्धस्मृतेरेव बाध इति भावः । तस्मादिति । विशेषादित्यर्थः । भ्रान्तिमूलत्वसम्भवादिति भावः ॥१॥

है वह मनुष्यादि सबकी मूर्धा है एक ही सभी शरीरों में प्रतिबिम्बभाव से प्रविष्ट है । इसीलिए उसको विश्वभुज, विश्वपाद, विश्वाक्षि आदि शब्द से कहते हैं । वह सभी भूतों मे एक है, स्वतन्त्र है और विशोकानन्दस्वरूप है ।' इन वाक्यों द्वारा सबमें एकात्मता का निश्चय किया गया है । 'जिस काल में ज्ञानी सभी भूतों को आत्मा ही समझ लेता है उस काल में एकत्व आत्मदर्शी को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है' इस वाक्य द्वारा एकात्मदर्शन का निरूपण श्रुति ने दृढ़ता के साथ किया है । अतः आत्मैकत्व सिद्ध हुआ । उसमें आत्मभेदकल्पना करने के कारण ही कापिलतन्त्र वेदविरुद्ध है और वेदानुसारी मनुवचन के भी विरुद्ध है न कि केवल स्वतन्त्र प्रकृति को जगत् का कारण मानने से ही कापिलमत अनादरणीय है । वेद अपने अर्थप्रतिपादन में किसी की अपेक्षा वैसे ही नहीं करता जैसे सूर्य रूप को दिखलाने में किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता, इसीलिए वह स्वतः प्रमाण है । किन्तु स्मृत्यादि पुरुषवचन मूलान्तर श्रुति की अपेक्षा करके ही प्रमाण बन सकते हैं, उसमें वक्ता, स्मृति आदि का व्यवधान रहता है । अतः उसमें स्वतः प्रामाण्य नहीं है । इसीलिए वेदविरुद्धार्थ-प्रतिपादक कापिलस्मृति में स्मृत्यनवकाश प्रसङ्ग कोई दोष नहीं है ॥१॥

स्मृत्यनवकाश प्रसङ्ग दोष क्यों नहीं माना जाय ? इसका उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं कि—

---

१. स्मृत्यादीनाम् । २. अर्थं बुध्वा वाक्यरचनेति न्यायेनाह स्वार्थेत्यादिः स्वस्य पौरुषेय वाक्यस्यार्थस्तस्य स्मृतिर्ज्ञानं तस्य कारणमनुभवश्चेति तयोः कल्पनयेत्यर्थः । ३. तुल्ययोः ।

२. योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् (सू० ३)

(१३६) इतरेषां चानुपलब्धेः ॥२॥

(१३७) एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥३॥

योगस्मृत्यास्ति संकोचो न वा योगो हि वैदिकः ॥ तत्त्वज्ञानोपयुक्तश्च ततः संकुच्यते तया ॥१॥
प्रमापि योगे तात्पर्यादतात्पर्यान्न सा प्रमा ॥ अवैदिके प्रधानादावसंकोचस्तयाप्यतः ॥२॥

प्रधानादितराणि यानि प्रधानपरिणामत्वेन स्मृतौ कल्पितानि महदादीनि न तानि वेदे लोके वोपलभ्यन्ते । भूतेन्द्रियाणि तावल्लोकवेदप्रसिद्धत्वाच्छक्यन्ते स्मर्तुम् । अलोकवेदप्रसिद्धत्वात्तु महदादीनां षष्ठस्येवेन्द्रियार्थस्य न स्मृतिरवकल्पते । यदपि क्वचित्तत्परमिव श्रवणमवभासते तदप्यतत्परं व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० १-४-१) इत्यत्र । कार्यस्मृतेरप्रामाण्यात्कारणस्मृतेरप्यप्रामाण्यं युक्तमित्यभिप्रायः । तस्मादपि न स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो दोषः । तर्कावष्टम्भं तु 'न विलक्षणत्वात्' (ब्र० २-१-४) इत्यारभ्योन्मथिष्यति ॥२॥

महदहंकारौ तावदप्रसिद्धौ, अहंकारप्रकृतिकत्वेन तन्मात्राण्यप्यप्रसिद्धानि स्मर्तुं न शक्यन्त इत्याह—इतरेषां चेति । ननु 'महतः परमव्यक्तम्' इतिश्रुतिप्रसिद्धानि महदादीनीत्यत आह—यदपीति । सूत्रतात्पर्यमाह—कार्येति । सांख्यस्मृतेर्महदादिष्विव प्रधानेऽपि प्रामाण्यं नेति निश्चीयत इत्यर्थः । सांख्यस्मृतेर्बाधेऽपि तदुक्तयुक्तीनां कथं बाध इत्यत आह—तर्केति ॥२॥

इतरेषां चानुपलब्धेः (ललिता)

प्रधान से भिन्न प्रधान के परिणामरूप से जिन महदादि पदार्थों की कल्पना सांख्यस्मृति में की गयी है वे कहीं उपलब्ध नहीं होते हैं। हाँ पञ्चभूत एवं एकादश इन्द्रियाँ तो लोक और वेद में प्रसिद्ध होने के कारण उनका संस्मरण सांख्य कर सकता है, किन्तु लोक-वेद में अप्रसिद्ध महदादि का संस्मरण करना वैसे ही अनुचित है जैसे कोई इन्द्रियों के छठे विषय की कल्पना करे। शब्दादि पाँच ही विषय प्रसिद्ध हैं, उनसे भिन्न छठाँ तो विषय ही नहीं है, वह तो वन्ध्यापुत्र की भाँति है। अतः कल्पनायोग्य नहीं है। ऐसे ही महदादि भी कल्पना के योग्य नहीं है। यद्यपि **'महत परमव्यक्तम्'** इस श्रुतिवाक्य में महत् एवं अव्यक्त शब्द तो आये हैं किन्तु उनका अर्थ सांख्यों का महत्तत्व और प्रधान नहीं है, ऐसा हम **'आनुमानिकमप्येकेषाम्'** इस सूत्र की व्याख्या में कह आये हैं। जब महदादि कार्य को बतलाने वाली स्मृति अप्रमाण है तो इसके उपादानकारण प्रधान को बतलाने वाली स्मृति को भी अप्रमाण मानना ही उचित होगा। इसलिए भी स्मृत्यनवकाश प्रसङ्ग दोष देना ठीक नहीं है। सांख्यादि के तर्कों का उन्मन्थन भगवान् वेदव्यास **'न विलक्षणत्वात्'** यहाँ से प्रारम्भ करेंगे ॥२॥

२. योगप्रत्युक्त्यधिकरण ।

१. **सङ्गति**—पूर्व अधिकरण में कहे गये न्याय का ही इस अधिकरण में अतिदेश होने से पृथक् सङ्गति की अपेक्षा नहीं रह जाती है।

२. **विषय**—इस अधिकरण का भी विचारणीय विषय समन्वय ही है।

एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्येत्यतिदिशति । तत्रापि श्रुतिविरोधेन प्रधानं स्वतंत्रमेव कारणं, महदादीनि च कार्याण्यलोकवेदप्रसिद्धानि कल्प्यन्ते । नन्वेवं सति समानन्यायत्वात्पूर्वेणैवैतद्गतं किमर्थं पुनरतिदिश्यते । अस्ति ह्यत्राभ्यधिकाशङ्का । सम्यग्दर्शनाभ्युपायो हि योगो वेदे विहितः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २-४-५) इति । 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम् (श्वे० २-८) इत्यादिना चासनादिकल्पनापुरःसरं बहुप्रपञ्चं योगविधानं श्वेताश्वतरोपनिषदि दृश्यते । लिङ्गानि च वैदिकानि योगविषयाणि सहस्रश उपलभ्यन्ते 'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' (का० २-६-११) इति । विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्'

ब्रह्मण्युक्तसमन्वयः प्रधानवादियोगस्मृत्या विरुध्यते न वेति सन्देहे पूर्वन्यायमतिदिशति—एतेन योगः प्रत्युक्तः । **अतिदेशत्वात्पूर्ववत्संगत्यादिकं द्रष्टव्यम् । पूर्वत्रानुक्तनिरासं पूर्वपक्षमाह—अस्ति** ह्यत्रेति । **निदिध्यासनं योगः । त्रीणि उरोग्रीवाशिरांस्युन्नतानि यस्मिञ्शरीरे तत्त्रयुन्नतम् । त्रिरुन्नत-मितिपाठश्चेच्छान्दसः । युञ्जीतेति शेषः । न केवलं योगे विधिः, किंतु योगस्य ज्ञापकान्यर्थवादवाक्या-न्यपि सन्तीत्याह**—लिङ्गानि चेति । **तां पूर्वोक्तां धारणां योगविदो योगं परमं तप इति मन्यते । उक्तामेतां ब्रह्मविद्यां योगविधिं ध्यानप्रकारं च मृत्युप्रसादान्नचिकेता लब्ध्वा ब्रह्म प्राप्त इति सम्बन्धः । योगस्मृतिः प्रधानादितत्त्वांशेऽपि प्रमाणत्वेन स्वीकार्या । सम्प्रतिपन्नः प्रामाणिकोऽर्थैकदेशो योगरूपो**

---

३. **संशय**—पूर्वोक्त वेदान्त समन्वय योग स्मृति के विरुद्ध है, अथवा नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—योग तत्त्वज्ञान में उपयोगी माना गया है, उसके साथ विरोध आने पर समन्वय में सङ्कोच करना पड़ेगा ।

५. **सिद्धान्त**—योगस्मृति तात्पर्यदृष्टि से प्रमा होती हुई भी अतात्पर्यदृष्टि से वह प्रमा नहीं है । श्रुति अविरुद्ध अष्टाङ्ग योगसाधन में योगदर्शन को भले ही प्रमाण मान लिया जाय, फिर भी श्रुति-विरुद्ध स्वतन्त्रप्रधानकारणवाद और महदादि कार्य के विषय में प्रमाण नहीं है । अतः किसी अंश में योगस्मृति को तत्त्वज्ञान का उपकारक मान लेने पर भी वेदान्तवाक्य के बिना तत्त्वज्ञान का होना सम्भव नहीं । इसलिए योग स्मृति से समन्वय में कोई सङ्कोच नहीं आता है ।

एतेन योगः प्रत्युक्तः (ललिता)

सांख्य स्मृति के खण्डन से योगस्मृति भी खण्डित ही समझना चाहिए, ऐसा अतिदेश करते हैं क्योंकि योगदर्शन में भी श्रुतिविरुद्ध स्वतन्त्रप्रधान को कारण और उसके कार्य महदादि की कल्पना करते हैं जोकि लोक-वेद प्रसिद्ध है । यदि कहो कि समानन्याय होने के कारण पूर्व अधिकरण से ही इस अधिकरण का विषय गतार्थ हो गया, तो फिर भिन्न अधिकरण की रचनाकर अतिदेश क्यों करते हैं ? सांख्य की अपेक्षा योग में कुछ अधिक शङ्का होती है, क्योंकि योग सम्यग्दर्शन का साधन है ऐसा 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस वाक्य द्वारा निदिध्यासनपदवाच्य योग का विधान किया गया है । उर, ग्रीवा और शिर योगसाधन के समय समुन्नत और समस्थापित कर योगाभ्यास करना चाहिए' इत्यादि वाक्य द्वारा आसनादि की कल्पना पूर्वक श्वेताश्वेतर उपनिषद में योग का विधान विस्तार से देखा जाता है । योगविषयक हजारों वैदिक लिंग भी देखे जाते हैं 'इन्द्रियों की जो स्थिर धारणा है उसे योगी लोग योग मानते हैं' 'उस ब्रह्मविद्या एवं ध्यानप्रकार को यमाचार्य

(का० २-६-१८) इति चैवमादीनि । योगशास्त्रेऽपि 'अथ तत्त्वदर्शनोपायो योगः' इति सम्यग्दर्शनाभ्युपायत्वेनैव योगोऽङ्गीक्रियते । अतः संप्रतिपन्नार्थैकदेशत्वादष्टकादिस्मृतिवद्योगस्मृतिरप्यनपवदनीया भविष्यतीति । इयमप्यधिकाशङ्काऽतिदेशेन निवर्त्यते । अर्थैकदेशसंप्रतिपत्तावप्यर्थैकदेशविप्रतिपत्तेः पूर्वोक्ताया दर्शनात् । सतीष्वप्यध्यात्मविषयासु बह्वीषु स्मृतिषु सांख्ययोगस्मृत्योरेव निराकरणे यत्नः कृतः । सांख्ययोगौ हि परमपुरुषार्थसाधनत्वेन लोके प्रख्यातौ, शिष्टैश्च परिगृहीतौ, लिङ्गेन च श्रौतेनोपबृंहितौ । 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वे० ६-१३) इति । निराकरणं तु न सांख्यज्ञानेन वेदनिरपेक्षेण योगमार्गेण वा निःश्रेयसमधिगम्यत इति । श्रुतिर्हि वैदिकादात्मैकत्वविज्ञानादन्यन्निःश्रेयससाधनं वारयति 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३-८) इति । द्वैतिनो हि ते सांख्या

'यस्यास्तत्त्वादित्यर्थः । 'अष्टकाः कर्तव्याः', 'गुरुरनुगन्तव्यः' इत्यादिस्मृतीनां वेदाविरुद्धार्थकत्वान्मूलश्रुत्यनुमानेन प्रामाण्यमुक्तं प्रमाणलक्षणे । एवं योगस्मृतेर्योगे प्रामाण्यात्तत्त्वांशेऽपि प्रामाण्यमिति पूर्वपक्षमनूद्य सिद्धान्तयति—इयमिति । ननु बौद्धादिस्मृतयोऽत्र किमिति न निराकृता इत्यत आह—सतीष्वपीति । तासां प्रतारकत्वेन प्रसिद्धत्वादशिष्टैः पशुप्रायैर्गृहीतत्वाद्वेदबाह्यत्वाच्चात्रोपेक्षेति भावः । तत्कारणमिति । तेषां प्रकृतानां कामानां कारणं सांख्ययोगाभ्यां विवेकध्यानाभ्यामभिपन्नं प्रत्यक्तया प्राप्तं देवं ज्ञात्वा सर्वपाशैरविद्यादिभिर्मुच्यत इत्यर्थः । समूलत्वे स्मृतिद्वयस्य निरासः किमिति कृत इत्यत आह—निराकरणं त्विति । इति हेतोः । कृतमिति शेषः । प्रत्यासत्तेरिति । श्रुतिस्थसांख्ययोगशब्दयोः

से प्राप्तकर नचिकेता ब्रह्म को प्राप्त कर गये' ये सब योगविषयक वैदिकलिङ्ग देखे जाते हैं। योगशास्त्र में भी कहा गया है 'अब तत्त्वदर्शन का उपाय योग बतलाया जायेगा' इस वाक्य द्वारा सम्यग्दर्शन के साधनरूप में योग को स्वीकार किया है। अतः जब योग का एकदेश अष्टकादि स्मृति की भाँति निर्विवाद सर्वसम्मत है, तो योगस्मृति अखण्डनीय मानी जायेगी ? यह भी अधिक शङ्का जब होती है तो उसका निवारण अतिदेश द्वारा करना ही पड़ेगा, कि किसी भी ग्रन्थ का एकदेश निर्विवाद होने पर भी एकदेश यदि विवादग्रस्त हो तो वह आदरणीय नहीं होता। यद्यपि अध्यात्मविषयक बौद्धादि दर्शन भी है किन्तु वे प्रतारकरूप से प्रसिद्ध है, शिष्टपुरुषों से गृहीत नहीं है और वेदबाह्य है, इसलिए वे उपेक्ष्य हैं। अतः सांख्य और योगस्मृति के ही निराकरण के लिए हमने यत्न किया है, क्योंकि मोक्ष के साधनरूप से लोक में सांख्य और योग प्रसिद्ध हैं। शिष्टपुरुषों ने उन्हें स्वीकारा भी है और वे श्रौतलिङ्ग से युक्त भी हैं 'उन प्रकृत कामनाओं का साधन विवेक एवं ध्यान द्वारा सम्पन्न आत्मरूप से प्राप्त देव को जानकर साधक अविद्यादि सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है।' सांख्य और योगस्मृति के मूल में अंशतः श्रुति का समर्थन होता हुआ भी हमने उसका खण्डन इसीलिये किया है, कि श्रुतिनिरपेक्ष सांख्यज्ञान से अथवा योगमार्ग से मोक्ष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वैदिक आत्मैकत्व ज्ञान से भिन्न मोक्षसाधनों का खण्डन 'उस परमेश्वर को जानकरके ही मृत्यु के मुख से छूट सकता है उससे भिन्न मोक्ष का कोई उपाय नहीं है' यह श्रुति कहती है। साथ ही

---

१. स्मृतेः ।

३. विलक्षणत्वाधिकरणम् (सू० ४-१२)

वैलक्षण्याख्यतर्केण बाध्यतेऽथ न बाध्यते । बाध्यते साम्यनियमात्कार्यकारणवस्तुनोः ॥१॥
मृद्घटादौ समत्वेऽपि दृष्टं वृश्चिककेशयोः ॥ स्वकारणेन वैषम्यं तर्काभ सो न बाधकः ॥२॥

योगाश्च नात्मैकत्वदर्शिनः । यत्तु दर्शनमुक्तं 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम्' इति, वैदिकमेव तत्र ज्ञानं ध्यानं च सांख्ययोगशब्दाभ्यामभिलप्यते प्रत्यासत्तेरित्यवगन्तव्यम् । येन त्वंशेन न विरुध्येते तेनेष्टमेव सांख्ययोगस्मृत्योः सावकाशत्वम् । तद्यथा—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४-३-१६) इत्येवमादिश्रुतिप्रसिद्धमेव पुरुषस्य विशुद्धत्वं निर्गुणपुरुषनिरूपणेन सांख्यैरभ्युपगम्यते । तथाच योगैरपि 'अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः' (जाबा० ५) इत्येवमादि श्रुतिप्रसिद्धमेव निवृत्तिनिष्ठत्वं प्रव्रज्याद्युपदेशेनानुगम्यते । एतेन सर्वाणि तर्कस्मरणानि प्रतिवक्तव्यानि । तान्यपि तर्कोपपत्तिभ्यां तत्त्वज्ञानायोपकुर्वन्तीति चेदुपकुर्वन्तु नाम । तत्त्वज्ञानं तु वेदान्तवाक्येभ्य एव भवति 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३-१२-९-७) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३-९-२६) इत्येवमादिश्रुतिभ्यः ॥ ३॥

सजातीयश्रुत्यर्थग्राहित्वादिति यावत् । किं सर्वांशेषु स्मृत्यप्रामाण्यं, नेत्याह—येन त्वंशेनेति । ब्रह्मवादस्य कणभक्षादिभिर्विरोधमाशङ्क्यातिदिशति—एतेनेति । श्रुतिविरोधेनेत्यर्थः । उपकारकबाधो न युक्त इत्याशङ्क्य योंऽश उपकारकः स न बाध्यः किंतु तत्त्वांश इत्याह—तान्यपीति । तर्कोऽनुमानं, तदनुग्राहिका युक्तिरुपपत्तिः ॥३॥

सांख्य और योगी द्वैत में आग्रह रखते हैं, वे आत्मैकत्वदर्शी नहीं है और 'सांख्य एवं योग के द्वारा मोक्ष का साधन प्राप्त होता है', इस वाक्य द्वारा जो दर्शन बतलाया गया है वह तो वैदिक ही है, उसमें ज्ञान और ध्यान को सांख्य एवं योग शब्द से बतलाते हैं, क्योंकि वही समीपवर्ती हैं, ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् जिस अंश में उनके साथ विरोध नहीं है उस अंश में तो सांख्य और योग-स्मृति सावकाश ही है, जैसे कि 'यह पुरुष असङ्ग है' ऐसा श्रुति में पुरुष का विशुद्धत्व प्रसिद्ध है। श्रुतिप्रसिद्ध पुरुष के विशुद्धत्व को सांख्यों ने निर्गुणपुरुषनिरूपण के द्वारा माना है। वसे ही योगियों ने भी 'संन्यासी गैरिक वस्त्रधारी, मुण्डन कराने वाला और अपरिग्रही होना है' इस श्रुति द्वारा प्रसिद्ध निवृत्तिनिष्ठा का प्रव्रज्यादि उपदेश द्वारा अनुमोदन किया है। श्रुतिविरोध के कारण ही ब्रह्मवाद के विरोधी काणादादि तर्कशास्त्र खण्डनीय हो जाता है। वे सभी शास्त्र भी तर्क एवं युक्ति से तत्वज्ञान के उपकारक तो हैं ऐसा पूर्वपक्षी कहता हो तो उसका उत्तर यह है कि वे भले ही उपकारक हों, किन्तु तत्त्वज्ञान तो वेदान्तवाक्यों से ही होता है, क्योंकि 'अवेदवित् उस ब्रह्मतत्त्व को नहीं जान सकता है' 'मैं तुझे उपनिषदैक समधिगम्य पुरुष के सम्बन्ध में पूछता हूँ' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से तत्त्वज्ञान का साधक वेदान्तवाक्य ही निश्चित होता है ॥॥३॥

३. विलक्षणत्वाधिकरणम्

१. **सङ्गति**—श्रुतिविरुद्ध सांख्यस्मृति में वेदमूलकता का अभाव होने से भले ही अप्रामाण्य मान लिया गया हो किन्तु व्याप्ति, पक्षधर्मतादिमूलक तर्क जो लोकप्रसिद्ध है, उसके साथ तो समन्वय का विरोध है ही, ऐसो प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

(१३८) न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।।४।।

ब्रह्मास्य जगतो निमित्तकारणं प्रकृतिश्चेत्यस्य पक्षस्याक्षेपः स्मृतिनिमित्तः परिहृतः । तर्कनिमित्त इदानीमाक्षेपः परिह्रियते । कुतः पुनरस्मिन्नवधारित आगमार्थे तर्कनिमित्तस्याक्षेपस्यावकाशः । 'ननु धर्म इव ब्रह्मण्यप्यनपेक्ष आगमो भवितुमर्हति । भवेदयमवष्टम्भो यदि प्रमाणान्तरानवगाह्य आगममात्रप्रमेयोऽयमर्थः स्यादनुष्ठेयरूप इव धर्मः । परिनिष्पन्नरूपं तु ब्रह्मावगम्यते । परिनिष्पन्ने च वस्तुनि प्रमाणान्तराणामस्त्यवकाशो यथा पृथिव्यादिषु । यथा च श्रुतीनां परस्परविरोधे सत्येकवशेनेतरा नीयन्ते, एवं प्रमाणान्तरविरोधेऽपि तद्वशेनैव श्रुतिर्नीयेत । दृष्टसाम्येन चादृष्टमर्थं समर्थयन्ती युक्ति-

---

स्मृतीनामप्रामाण्यात्ताभिः समन्वयस्य न विरोध इति सिद्धान्तलक्षणत्वाद्वृत्तानुवादेनास्याधिकरणस्य तात्पर्यमाह—ब्रह्मास्येति । पूर्वपक्षमाक्षिपति—कुतःपुनरिति । अनवकाशे हेतुमाह—ननु धर्म इवेति । मानान्तरानपेक्षे वेदैकसमधिगम्ये ब्रह्मण्यनुमानात्मकतर्कस्याप्रवेशः । तेनाक्षेपस्यानवकाशो भिन्नविषयत्वात्तर्कवेदयोरित्यर्थः । सिद्धस्य मानान्तरगम्यत्वा²देकविषयत्वाद्विरोध इति पूर्वपक्षं समर्थयते—भवेदयमिति । अवष्टम्भो दृष्टान्तः । नन्वेकविषयत्वेन विरोधेऽपि श्रुतिविरोधान्मानान्तरमेव बाध्यतामित्यत आह—यथा चेति । प्रबलश्रुत्या दुर्बलश्रुतिबाधवन्निरवकाशमानान्तरेण लक्षणावृत्त्या

---

२. **विषय**—यहाँ पर भी पूर्वअध्यायोक्त समन्वय ही विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—वैलक्षण्यनामक तर्क से पूर्वोक्त समन्वय बाधित होता है, या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—कार्य और कारणवस्तु में समानता का नियम है, इस नियम से अचेतन कार्य जगत् और चेतन ब्रह्मकारण इन दोनों में कार्य-कारण भाव का बाध हो जायेगा।

५. **सिद्धान्त**—मृत्तिका और घटरूप कार्यकारण में समानता रहने पर भी बिच्छू और केशरूप कार्य में अपने कारण के साथ वैषम्य देखा गया है अर्थात् गोबर अचेतन है उससे चेतन बिच्छू आदि उत्पन्न होते हैं, पुरुष चेतन है उससे अचेतन केशादि उत्पन्न होते हैं, इस वैषम्य को देखते हुए आपका तर्काभास पूर्वोक्त कार्य-कारण का बाधक नहीं हो सकता।

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् (ललिता)

इस जगत् का निमित्त एवं उपादानकारण ब्रह्म है, इस सिद्धान्त पक्ष पर स्मृतिनिमित्तक आक्षेप आया था उसका परिहार हो गया। अत्र तर्कनिमित्तक आपेक्ष का परिहार करना है । जब अद्वैत अर्थ में आगम का तात्पर्य निश्चित हो चुका है तो भला तर्कनिमित्तक आक्षेप का अवकाश ही कहाँ है ! जैसे धर्म के विषय में आगमप्रमाण निरपेक्ष होता है, ऐसे ही ब्रह्म के विषय में भी आगमप्रमाण निरपेक्ष होता तो आप का कथन उचित हो सकता था अर्थात् प्रमाणान्तर से न ग्रहण करने योग्य आगममात्र का विषय यह वेदान्त अर्थ अद्वय ब्रह्म भी धर्म की भांति अनुष्ठेय होता तो उस पर आक्षेप नहीं किया जा सकता था, किन्तु ब्रह्म तो परिनिष्पन्न वस्तु है, जैसे पृथिव्यादि परिनिष्पन्न वस्तु हैं तो वे प्रमाणान्तर से भी जाने जाते हैं, वैसे ही परिनिष्पन्न वस्तु ब्रह्म भी प्रमाणान्तर का विषय हो सकता था और जिस प्रकार श्रुतियों में परस्पर विरोध आने पर प्रबल श्रुति के आधार से दुर्बलश्रुति का अर्थ कर लिया जाता है

---

१. अत्र ननु शब्दोऽवधारणे । २. समानविषयत्वात् तर्कवेदयोरिति शेषः ।

र'नुभवस्य संनिकृष्यते । विप्रकृष्यते तु श्रुतिरैतिह्यमात्रेण स्वार्थाभिधानात् ।अनुभवावसानं च ब्रह्मविज्ञानमविद्याया निवर्तकं मोक्षसाधनं च दृष्टफलतयेष्यते । श्रुतिरपि—'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इति श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधती तर्कमप्यत्रादर्तव्यं दर्शयति । अतस्तर्कनिमित्तः पुनराक्षेपः क्रियते 'न विलक्षणत्वादस्य' इति । यदुक्तं चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिरिति । तन्नोपपद्यते । कस्मात् । विलक्षणत्वादस्य विकारस्य प्रकृत्याः । इदं हि ब्रह्मकार्यत्वेनाभिप्रेयमाणं जगत् ब्रह्मविलक्षणमचेतनमशुद्धं च दृश्यते । ब्रह्म च जगद्विलक्षणं चेतनं शुद्धं च श्रूयते । नच विलक्षणत्वे प्रकृतिविकारभावो दृष्टः । नहि रुचकादयो विकारा मृत्प्रकृतिका भवन्ति शरावादयो वा सुवर्णप्रकृतिकाः । मृदैव तु मृदन्विता विकाराः प्रक्रियन्ते सुवर्णेन च सुवर्णान्विताः । तथेदमपि जगदचेतनं सुखदुःखमोहान्वितं सदचेतनस्यैव सुखदुःखमोहात्मकस्य कारणस्य कार्यं भवितुमर्हतीति न विलक्ष-

सावकाशश्रुतिनयनं युक्तमित्यर्थः । किंच ब्रह्मसाक्षात्कारस्य मोक्षहेतुत्वे प्रधानस्यान्तरङ्गं तर्कस्तस्यापरोक्षदृष्टान्तगोचरत्वेन प्रधानवदपरोक्षार्थविषयत्वात् । शब्दस्तु परोक्षार्थकत्वाद्बहिरङ्गमतस्तर्केण बाध्य इत्याह—दृष्टेति । ऐतिह्यमात्रेण । परोक्षतयेति यावत् । अनुभवस्य प्राधान्यं दर्शयति—अनुभवावसानं चेति । 'नैषा तर्केण मतिः' इत्यर्थवादेन तर्कस्य निषेधमाशङ्क्य विधिविरोधान्मैवमित्याह—श्रुतिरपीति । एवं पूर्वपक्षं सम्भाव्य चेतनब्रह्मकारणवादिवेदान्तसमन्वयः, क्षित्यादिकं न चेतनप्रकृतिकं, कार्यद्रव्यत्वात्, घटवदिति सांख्ययोगन्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे स्मृतेर्मूलाभावाद्दुर्बलत्वेऽप्यनुमानस्य व्याप्तिमूलत्वेन प्राबल्यात्तेन विरुध्यते इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयति—न विलक्षणत्वादिति । पूर्वोत्तरपक्षयोः समन्वयासिद्धिः, तत्सिद्धिश्चेति पूर्ववत्फलम् । जगन्न ब्रह्मप्रकृतिकं, तद्विलक्षणत्वात्, यद्यद्विलक्षणं तन्न तत्प्रकृतिकं, यथा मृद्विलक्षणा रुचकादय इत्यर्थः । सुखदुःखमोहाः सत्त्वरजस्तमांसि । तथा च जगत् सुखदुःखमोहात्मकं सामान्यप्रकृतिकं, तदन्वितत्वात्, यदित्थं तत्तथा यथा मृदन्विताघटादय इत्याह—मृदैवेति । विलक्षणत्वं साधयति—ब्रह्मविलक्षणत्वं चेति । यथा हि एक एव स्त्री-

अर्थात् वहाँ पर लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है, ऐसे ही प्रमाणान्तर से विरोध आने पर तदनुसार ही श्रुति का अर्थ करना चाहिए । दृष्ट साधर्म्य से अदृष्ट अर्थ को जब युक्ति बतलाती है तब वह अपरोक्ष अनुभव के निकट मानी जाती है, पर ऐतिह्यमात्र से स्वार्थ को बतलाने के कारण श्रुति तो अनुभव से दूर पड़ जाती है । अनुभवारूढ़ ब्रह्मविज्ञान ही अविद्या को निवृत्त कर दृष्टफल रूप में मोक्ष का साधन माना गया है । 'श्रोतव्यो मन्तव्यो' यह श्रुति भी श्रवण से भिन्न मनन का विधान करती हुई तर्क को भी आदर देती देखी जाती है । अतः केवलाद्वैत समन्वय पर पुनः तर्कनिमित्तक आक्षेप किया जाता है, कि जो आपने चेतन ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण कहा था वह युक्तियुक्त नहीं है । क्योंकि वह कार्यजगत् अपने कारण ब्रह्म से विलक्षण दीख रहा है । ब्रह्म के कार्यरूप से अभिप्रेत जो यह जगत् है वह ब्रह्म से विलक्षण, अचेतन एवं अशुद्ध देखा जाता है और ब्रह्म जगत् से विलक्षण चेतन, शुद्ध सुना जाता है । कार्य कारण में विलक्षणत्व कहीं भी नहीं देखा जाता है, वैलक्षण्य रहने पर तो कार्यकारणभाव ही असंगत माना जायेगा । रुचकादि कार्य का उपादान कारण मिट्टी नहीं होती है अथवा कसोरे आदि पात्र का उपादान कारण स्वर्ण नहीं होता है । किन्तु वे कसोरे

१. अपरोक्षज्ञानस्येत्यर्थः ।

णस्य ब्रह्मणः । ब्रह्मविलक्षणत्वं चास्य जगतोऽशुद्धयचेतनत्वदर्शनादवगन्तव्यम् । अशुद्धं हि जगत्सुखदुःखमोहात्मकतया प्रीतिपरितापविषादादिहेतुत्वात्स्वर्गनरकाद्युच्चावचप्रपञ्चत्वाच्च । अचेतनं चेदं जगच्चेतनं प्रति [1]कार्यकारणभावेनोपकरणभावोपगमात् । नहि साम्ये सत्युपकार्योपकारकभावो भवति । नहि प्रदीपौ परस्परस्योपकुरुतः ।

ननु चेतनमपि कार्यकारणं स्वामिभृत्यन्यायेन भोक्तुरुपकरिष्यति । न । स्वामिभृत्ययोरप्यचेतनांशस्यैव चेतनं प्रत्युपकारकत्वात् । यो ह्येकस्य चेतनस्य परिग्रहो बुद्ध्यादिरचेतनभागः स एवान्यस्य चेतनस्योपकरोति नतु स्वयमेव चेतनश्चेतनान्तरस्योपकरोत्यपकरोति वा । निरतिशया ह्यकर्तारश्चेतना इति सांख्या मन्यन्ते । तस्मादचेतनं कार्यकारणम् । नच काष्ठलोष्टादीनां चेतनत्वे किंचित्प्रमाणमस्ति । प्रसिद्धश्चायं चेतनाचेतनप्रविभागो लोके । तस्माद्ब्रह्मविलक्षत्वान्नेदं जगत्तत्प्रकृतिकम् ।

पिण्डः पतिसपत्न्युपपतीनां प्रीतिपरितापविषादादीन्करोति, एवमन्येऽपि भावा द्रष्टव्याः । तत्र प्रीतिः सुखं, परितापः शोकः, विषादो भ्रमः, आदिपदाद्रागाविग्रहः ।

उभयोश्चेतनत्वेन साम्यादुपकार्योपकारकभावो न स्यादित्ययुक्तं, स्वामिभृत्ययोर्व्यभिचारादिति शङ्कते—ननु चेतनमपीति । भृत्यदेहस्यैव स्वामिचेतनोपकारकत्वान्न व्यभिचार इत्याह—नेत्यादिना । उत्कर्षापकर्षशून्यत्वाच्चेतनानां मिथो नोपकारकत्वमित्याह—निरतिशया इति । तस्मादुपकारकत्वात् ।

आदि कार्य जैसे मृत्तिका से अन्वित होते हैं और रुचकादि आभूषण स्वर्ण से जैसे अन्वित होते हैं । ठीक ऐसे ही यह अचेतन जगत् भी सुख-दुःख एवं मोह से जब अन्वित देखता है, तो इसका कारण सुख-दुःख, मोहात्मक अचेतन ही होना चाहिए, न कि इससे विलक्षण ब्रह्म । ऐसे ही इस जगत से विलक्षण ब्रह्म है और अशुद्धि, अचेतनत्व जगत् में देखा जाता है । अतः जगत् ब्रह्म से विलक्षण है । अशुद्ध जगत् सुख-दुःख, मोहात्मक होने से प्रीति, परिताप, विषाद एवं रागादि का कारण है । स्वर्ग-नरकादि उच्चावच प्रपञ्च भी इस जगत् में दीखता है । अचेतन यह जगत् चेतन के प्रति कार्य-कारणभाव से उपकारक माना गया है, दोनों के समान होने पर तो उपकार्य-उपकारकभाव ही नहीं रहेगा । चेतन जीव के लिए अचेतन जगत् उपकारक हो सकता है, किन्तु जगत् को चेतन मानने पर इसमें उपकारकत्व ही नहीं रह जायेगा, दो दीप परस्पर उपकारक नहीं होते हैं ।

शङ्का—स्वामी और सेवक में चेतन होते हुए भी उपकार्य-उपकारक देखे जाते हैं, ऐसे ही चेतन जगत् भी स्वामीभृत्यन्याय से भोक्ता का उपकारक हो जायेगा ? समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है । स्वामी भृत्य में भी अचेतन अंश ही चेतन का उपकारक होता है, क्योंकि एक चेतन का जो बुद्ध्यादि अचेतन भाग है, वही दूसरे चेतन का उपकार करता है न कि स्वयं ही चेतन चेतनान्तर का उपकार या अपकार करता है । सांख्य चेतन आत्मा को अकर्ता और निर्विकार मानते हैं । अतः कार्यकरण अचेतन हैं । काष्ठ लोष्ठादि के चेतन होने में कोई प्रमाण नहीं मिलता, लोक में चेतन और अचेतन विभाग प्रसिद्ध ही है । अतः ब्रह्म से विलक्षण होने के कारण यह जगत् ब्रह्मउपादानक नहीं है, ऐसा जान पड़ता है ।

---

१ क्वचित्कार्यरूपेण क्वचित्कारणरूपेणेत्यर्थः ।

योऽपि कश्चिदाचक्षीत श्रुत्वा जगतश्चेतनप्रकृतिकतां तद्बलेनैव समस्तं जगच्चेतनमवगमिष्यामि । प्रकृतिरूपस्य विकारेऽन्वयदर्शनात् । [1]अविभावनं तु चैतन्यस्य परिणामविशेषाद्भविष्यति । यथा स्पष्टचैतन्यानामप्यात्मनां स्वापमूर्च्छाद्यवस्थासु चैतन्यं न विभाव्यत एवं काष्ठलोष्टादीनामपि चैतन्यं न विभावयिष्यते । एतस्मादेव च विभाविताविभावितत्वकृताद्विशेषाद्रूपादिभावाभावाभ्यां च कार्यकारणानामात्मनां च चेतनत्वाविशेषेऽपि गुणप्रधानभावो न विरोत्स्यते । यथा च पार्थिवत्वाविशेषेऽपि मांससूपौदनादीनां प्रत्यात्मवर्तिनो विशेषात्परस्परोपकारित्वं भवत्येवमिहापि भविष्यति । प्रविभागप्रसिद्धिरप्यत एव न विरोत्स्यत इति । तेनापि कथंचिच्चेतनाचेतनत्वलक्षणं विलक्षणत्वं परिह्रियेत । शुद्ध्यशुद्धित्वलक्षणं तु विलक्षणत्वं

श्रुतचेतनप्रकृतिकत्वबलेन जगच्चेतनमेवेत्येकदेशिमतमुत्थापयति—योऽपीति । **घटादेश्चेतनत्वमनुपलब्धिबाधितमित्यत आह**—अविभावनं त्विति । **अन्तःकरणान्यपरिणामत्वात्ततोऽपि चैतन्यस्यानुपलब्धिरित्यर्थः । अन्तःकरणादन्यस्य वृत्त्युपरागदशायामेव चैतन्याभिव्यक्तिर्नान्यदेति भावः । वृत्त्यभावे चैतन्यानभिव्यक्तौ दृष्टान्तः**—यथेति । **आत्मानात्मनोश्चेतनत्वे स्वस्वामिभावः कुत इत्यत आह**—एतस्मादेवेति । **साम्येऽपि प्रातिस्विकस्वरूपविशेषात् शेषित्वे दृष्टान्तः**—यथा चेति । **चेतनाचेतनभेदः कथमित्यत आह**—प्रविभागेति । **चैतन्याभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिभ्यामित्यर्थः । सर्वस्य चेतनत्वमेकदेश्युक्तमङ्गीकृत्य सांख्यः [2]परिहरति**—तेनापि कथंचिदिति । **अङ्गीकारं त्यक्त्वा सूत्रशेषेण परि-**

और जो कोई कहेगा कि समस्त जगत् को चेतन सुना गया है, तो इस आधार पर मैं समस्त जगत् को चेतन ही समझूंगा क्योंकि प्रकृति कारण रूप का कार्य में अन्वय सर्वत्र देखा जाता है । चैतन्य की अनभिव्यक्ति और अभिव्यक्ति परिणामविशेष के कारण हो जायेगी, जैसे आत्मा स्पष्ट चैतन्य रूप है फिर भी निद्रा एवं मूर्छादि अवस्थाओं में उसका चैतन्यभाव अभिव्यक्त नहीं होता है, ऐसे ही काष्ठ लोष्टादि में भी चैतन्य अभिव्यक्त नहीं होता, अन्तःकरण में होता है । इस अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिरूप भेद के कारण गुणप्रधानभाव मानने में कोई विरोध नहीं है, अग्नि में रूप होता हुआ भी कहीं अभिव्यक्त होता है और कहीं अभिव्यक्त नहीं होता, ऐसे ही कार्य-कारण आत्मा और अनात्मा में चेतनत्व तुल्य रहने पर भी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति को लेकर गुणप्रधानभाव माना जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं है । और जैसे पार्थिवत्व मांस, दाल और भात अदि में समान रहने पर भी प्रतिशरीरवर्ती भेद के कारण परस्पर उपकारकत्व देखा गया है अर्थात् दाल-भात भोजन से शरीर के मांस में वृद्धि होती है । अतः शरीरगत मांस उपकार्य है और भोजनादि उपकारक है । ऐसा ही यहां भी उपकार्य-उपकारकभाव हो जायेगा । लोक में चेतन अचेतन विभाग की प्रसिद्धि भी अभिव्यक्ति अनभिव्यक्ति को लेकर ही हो जायेगी । सांख्य भी कथञ्चित् चेतनत्व और अचेतनत्व रूप विलक्षणत्व का परिहार उक्त रीति से ही करता है किन्तु शुद्धि अशुद्धिरूप विलक्षणत्व का परिहार तो कर नहीं सकता और वस्तुतः चेतनत्व अचेतत्व विलक्षणत्व का परिहार सम्भव भी नहीं है, इस बात को **'तथात्वं च**

१. अभिव्यक्ति । अविभावनं त्विति पाठांतरमर्थस्त्वेक एव ।
२. परिहरतीति जगतश्चेतनकारणत्वमिति शेषः ।

(१३६) अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥५॥

नैव परिह्रियते। न चेतरदपि विलक्षणत्वं परिहर्तुं शक्यत इत्याह—तथात्वं च शब्दादिति। अनवगम्यमानमेव हीद लोके समस्तस्य वस्तुनश्चेतनत्वं चेतनप्रकृतिकत्वश्रवणाच्छब्द-शरणतया केवलयोत्प्रेक्ष्येत, तच्च शब्देनैव विरुध्यते। यतः शब्दादपि तथात्वमवगम्यते। तथात्वमिति प्रकृतिविलक्षणत्वं कथयति। शब्द एव 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' (तै० २-६) इति कस्यचिद्विभागस्याचेतनतां श्रावयंश्चेतनाद्ब्रह्मणो विलक्षणमचेतनं जगच्छ्राव-यति ॥४॥

ननु चेतनत्वमपि क्वचिदचेतनत्वाभिमतानां भूतेन्द्रियाणां श्रूयते। यथा 'मृदब्रवीत्' 'आपोऽब्रुवन्' (श० प० ब्रा० ६-१-३-२-४) इति, 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' (छा० ६-२-३,४) इति चैवमाद्या भूतविषया चेतनत्वश्रुतिः। इन्द्रियविषयापि 'ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः' (बृ० ६-१-७) इति, 'ते ह वाच-मूचुस्त्वं न उद्गायेति' (बृ० १-३-२) इत्येवमाद्येन्द्रियविषयेति। अत उत्तरं पठति—

तुशब्द आशङ्कामपनुदति। न खलु मृदब्रवीदित्येवंजातीयकया श्रुत्या भूतेन्द्रियाणां

हरति—न चेत्यादिना। इतरच्चेतनाचेतनत्वरूपम्। वैलक्षण्यं तथात्वशब्दार्थः। श्रुतार्थापत्तिः शब्देन बाध्येति भावः ॥४॥

श्रुतिमाहात्म्यात्र बाध्येत्युत्तरसूत्रव्यावर्त्यं शङ्कते—नन्विति। मृदादीनां वक्तृत्वादिश्रुतेस्त-दभिमानिविषयत्वात्, तथा 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इति चेतनाचेतनविभागशब्दस्योपचरितार्थत्वं न युक्तमिति सांख्यः समाधत्ते—अभिमानीति। संवदनं विवादः। न भूतमात्रमिन्द्रियमात्रं वा चेतन-

---

शब्दात्' इस सूत्रांश से कहते हैं। लोक में समस्त वस्तुगत चेतनत्व जाना नहीं जाता है, केवल जगत् का कारण चेतन है ऐसा सुनकर शब्दप्रमाण के आधार पर जगत् में चेतनत्व की उत्प्रेक्षा करते हैं, यह कल्पना तो शब्द से ही विरुद्ध पड़ रही है, क्योंकि शब्द भी ब्रह्म कारण से जगत् को विलक्षण ही बतलाता है। श्रुति जगत् के कुछ भाग को चेतन और कुछ भाग को अचेतन भी बतलाती है, इससे यह सिद्ध होता है कि चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् विलक्षण है अतः ब्रह्म और जगत् में कार्य-कारणभाव मानना तर्कसंगत नहीं है।

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् (ललिता)

शङ्का—अचेतन माने गये भूत इन्द्रियों में कहीं कहीं पर चेतनत्व भी सुना जाता है जैसे 'मिट्टी बोली' 'जल बोला' 'उस तेज ने संकल्प किया' 'उस जल ने संकल्प किया' ये सब भूतविषयक चेतनत्व श्रुति सुनी जाती है। वैसे ही 'अपनी श्रेष्ठता के लिए विवाद करने वाली वे सभी इन्द्रियां ब्रह्म के पास गयीं' 'उन प्राणों ने वाणी से कहा कि तू मेरे लिए उद्गान कर' ये सब श्रुतियाँ इन्द्रियों के चेतन होने का संकेत दे रही है। इसका उत्तर पूर्वपक्षी अग्रिम सूत्र से देता है—

'तु' शब्द उक्त शङ्का की व्यावृत्ति करता है कि 'मिट्टी बोली' इत्यादि श्रुतियों से भूत और

---

१. उत्प्रेक्षणम्।

चेतनत्वमाशङ्कनीयम् । यतोऽभिमानिव्यपदेश एषः । मृदाद्यभिमानिन्यो वागाद्यभिमानिन्यश्च चेतना देवता वदनसंवदनादिषु चेतनोचितेषु व्यवहारेषु व्यपदिश्यन्ते न भूतेन्द्रियमात्रम् । कस्मात् ? विशेषानुगतिभ्याम् । विशेषो हि भोक्तृणां भूतेन्द्रियाणां च चेतनाचेतनप्रविभागलक्षणः प्रागभिहितः । सर्वचेतनतायां चासौ नोपपद्येत । अपि च कौषीतकिनः प्राणसंवादे करणमात्राशङ्काविनिवृत्तयेऽधिष्ठातृचेतनपरिग्रहाय देवताशब्देन विशिषन्ति—'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' इति । 'ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' (२-१४) इति च । अनुगताश्च सर्वत्राभिमानिन्यश्चेतना देवता मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादिभ्योऽवगम्यन्ते । 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० आ० २-४-२-४) इत्येवमादिका च श्रुतिः करणेष्वनुग्राहिकां देवतामनुगतां दर्शयति । प्राणसंवादवाक्यशेषे च 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' (छा० ५-१-७) इति श्रेष्ठत्वनिर्धारणाय प्रजापतिगमनं, तद्वचनाच्चैकैकोत्क्रमणेनान्वय-

---

त्वेन व्यपदिश्यते । लोकवेदप्रसिद्धविभागबाधायोगादित्यर्थः । विशेषपदस्यार्थान्तरमाह— अपि चेति । अहंश्रेयसे स्वस्वश्रेष्ठत्वाय प्राणा विवदमाना इत्युक्तप्राणानां चेतनवाचिदेवतापदेन विशेषितत्वात् प्राणादिपदैरभिमानिव्यपदेश इत्यर्थः । प्राणे निःश्रेयसं श्रैष्ठ्यं विदित्वा प्राणाधीना जाता इत्यर्थः । अनुगतिं बहुधा व्याचष्टे—अनुगताश्चेति । तस्मै प्राणाय, बलिहरणं वागादिभिः स्वीयवसिष्ठत्वादिगुणसमर्पणं कृतम् । तेजआदीनामीक्षणं तत्रैवेक्षत्यधिकरणे चेतनत्वनिष्ठतया व्याख्यातं द्रष्टव्य-

---

इन्द्रियों में चेतनत्व की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इस श्रुति से उनके अभिमानी का व्यपदेश किया गया है। मृदादि एवं वागादि के अभिमानी देवता चेतन उचित वाद-विवाद व्यवहार में बतलाये गये हैं न कि भूत और इन्द्रियाँ मात्र वाद विवाद करने वाले हैं। किस आधार पर ऐसा मानते हो, इसका उत्तर सूत्र के शेष भाग से दिया गया है कि विशेष अनुगति के कारण ऐसा मानना उचित ही है। भोक्ता को चेतन और भूत एवं इन्द्रियों को अचेतन रूप में पहले बताया जा चुका है, यदि सभी में चेतनता होती, तो वह विभाग असंगत हो जाता। इसके अतिरिक्त कौषीतकि उपनिषद् के प्राणसम्वाद में करणमात्र में आशङ्का की निवृत्ति के लिए तथा अधिष्ठातृ चेतन मानने के लिए उन्हें देवता शब्द से विशेषित किया गया है 'मैं श्रेष्ठ हूं, ऐसी अपनी श्रेष्ठता के लिए प्राणादि सभी देवता विवाद कर बैठे' ऐसा विशेष देखा जाता है। इतना ही नहीं मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास और पुराणादि में सर्वत्र अभिमानी चेतन देवता ही अनुगत जान पड़ते हैं। 'अग्नि वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट हो गयी' यह श्रुति इन्द्रियों के अनुग्राहक अनुगत देवता को बतलाती है और प्राणसम्वाद वाक्यविशेष में 'वे वागादि प्राणों के पिता प्रजापति के पास जाकर बोले' इस श्रुति द्वारा अपने में श्रेष्ठत्व का निश्चय कराने के लिए प्रजापति के पास उनका जाना कहा गया है। प्रजापति की बात को सुनकर क्रमशः सभी ने उत्क्रमण किया, वहाँ पर अन्वय-व्यतिरेक द्वारा प्राण की ही श्रेष्ठता सिद्ध होती है। अस्मदादि सभी प्राणी अपने से श्रेष्ठ को भेंट चढ़ाते हैं, ठीक ऐसे ही उस प्राण को सभी इन्द्रियों ने उपहार भेंट किया। यह अनुगम्यमान व्यवहार उसके अभिमानी देवता व्यपदेश को दृढ़

(१४०) दृश्यते तु ॥६॥

व्यतिरेकाभ्यां प्राणश्रैष्ठ्यप्रतिपत्तिः 'तस्मै बलिहरणम्' । (बृ० ६-१-१३) इति चैवंजातीयकोऽस्मदादिष्विव व्यवहारोऽनुगम्यमानोऽभिमानिव्यपदेशं द्रढयति । 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यपि परस्या एव देवताया अधिष्ठात्र्याः स्वविकारेष्वनुगताया इयमीक्षा व्यपदिश्यत इति द्रष्टव्यम्, तस्माद्विलक्षणमेवेदं ब्रह्मणो जगत् ॥५॥

विलक्षणत्वाच्च न ब्रह्मप्रकृतिकमित्याक्षिप्ते प्रतिविधत्ते—

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । यदुक्तं विलक्षणत्वान्नेदं जगद्ब्रह्मप्रकृतिकमिति । नायमेकान्तः । दृश्यते हि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यः पुरुषादिभ्यो विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिः, अचेतनत्वेन च प्रसिद्धेभ्यो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादीनाम् ।

नन्वचेतनान्येव पुरुषादिशरीराण्यचेतनानां केशनखादीनां कारणानि, अचेतनान्येव च वृश्चिकादिशरीराण्यचेतनानां गोमयादीनां कार्याणीति । उच्यते—एवमपि किंचिदचेतनं

मित्यर्थः । यस्मान्नास्ति जगतश्चेतनत्वं तस्मादिति पूर्वपक्षोपसंहारः ॥५॥

किं यत्किंचिद्वैलक्षण्यं हेतुः, बहुवैलक्षण्यं वा । आद्ये व्यभिचारमाह—नायमेकान्तः । दृश्यते हीति ।

हेतोरसत्त्वान्न व्यभिचार इति शङ्कते—नन्विति । यत्किंचिद्वैलक्षण्यमस्तीति व्यभिचार इत्याह—उच्यत इति । शरीरस्य केशादीनां च प्राणित्वाप्राणित्वरूपं वैलक्षण्यमस्तीत्यर्थः । द्वितीयेऽपि तत्रैव

करता है । 'तत्तेज ऐक्षत' इस वाक्य में भी अधिष्ठातृ परदेवता ही अपने विकार में अनुगत हो ईक्षण करने वाला बतलाया गया है । अतः यह जगत् ब्रह्म से विलक्षण ही है, ऐसा निश्चित हुआ ॥ ५ ॥

ब्रह्म से विलक्षण होने के कारण यह जगत् ब्रह्म उपादानक नहीं है, ऐसा आक्षेप होने पर इसका उत्तर अग्रिम सूत्र से दिया गया है—

दृश्यते तु (ललिता)

सूत्र में आया हुआ 'तु' शब्द पूर्वोक्त पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है कि आपने जो कहा था कि विलक्षण होने के कारण यह जगत् ब्रह्म उपादानक नहीं है यह कोई नियम नहीं है कि कार्य-कारण में सादृश्य होना ही चाहिए । लोक में चेतनरूप से प्रसिद्ध पुरुषादि से विलक्षण नख, केशादि की उत्पत्ति देखी जाती है और अचेतनरूप से प्रसिद्ध गोबर आदि से वृश्चिकादि की उत्पत्ति देखी जाती है । अतः आप के पूर्वोक्त नियम में व्यभिचार है ।

शङ्का—पुरुष का अचेतन शरीर ही अचेतन केश, नखादि का कारण है, वैसे ही बिच्छू आदि के अचेतन शरीर ही गोमयादि के कार्य है । इसलिए पूर्वोक्त व्यभिचार ठीक नहीं जान पड़ता । समाधान—इस प्रकार कुछ अचेतन चेतन का आयतन सिद्ध होता है और कुछ अचेतन चेतन का आयतन सिद्ध नहीं होता, यह वैलक्षण्य तो निश्चित ही हो गया अर्थात् पुरुष—शरीर अचेतन चेतनात्मा का आश्रय है किन्तु नख-केशादि चेतन का आश्रय नहीं है, वैसे ही बिच्छू का शरीर चेतन का आश्रय है । पर गोबर चेतन का आश्रय नहीं है । पुरुषादि और नखकेशादि में स्वरूपादि भेद

चेतनस्यायतनभावमुपगच्छति किञ्चिन्नेत्यस्त्येव वैलक्षण्यम् । महांश्चायं पारिणामिकः स्वभावविप्रकर्षः पुरुषादीनां केशनखादीनां च स्वरूपादिभेदात् । तथा गोमयादीनां वृश्चिकादीनां च । अत्यन्तसारूप्ये च प्रकृतिविकारभाव एव प्रलीयेत । अथोच्येतास्ति कश्चित्पार्थिवत्वादि स्वभावः पुरुषादीनां केशनखादिष्वनुवर्तमानो गोमयादीनां वृश्चिकादिष्विति । ब्रह्मणोऽपि तर्हि सत्तालक्षणः स्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमानो दृश्यते । विलक्षणत्वेन च [1]कारणेन ब्रह्मप्रकृतिकत्वं जगतो दूषयता किमशेषस्य ब्रह्मस्वभावस्याननुवर्तनं विलक्षणत्वमभिप्रेयत उत यस्य कस्यचिदथ चैतन्यस्येति वक्तव्यम् । प्रथमे विकल्पे समस्तप्रकृतिविकारोच्छेदप्रसङ्गः । न ह्यसत्यतिशये प्रकृतिविकार इति भवति । द्वितीये चासिद्धत्वम् । दृश्यते हि सत्तालक्षणो ब्रह्मस्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमान इत्युक्तम् । तृतीये तु दृष्टान्ताभावः । किं हि यच्चैतन्येनानन्वितं तदब्रह्मप्रकृतिकं दृष्टमिति ब्रह्मवादिनं प्रत्युदाह्रियेत ।

व्यभिचारमाह—महानिति । **पारिणामिकः । केशादीनां स्वगतपरिणामात्मक इत्यर्थः । किंच ययोः प्रकृतिविकारभावस्तयोः साहश्यं वदता वक्तव्यं किमात्यन्तिकं यत्किंचिद्वेति । आद्यं दोषमाह**—अत्यन्तेति । **द्वितीयमाशङ्क्य ब्रह्मजगतोरपि तत्सत्त्वात्प्रकृतिविकृतित्वसिद्धिरित्याह**—अथेत्यादिना ॥ **विलक्षणत्वं विकल्प्य दूषणान्तरमाह**—विलक्षणत्वेनेत्यादिना । **जगति समस्तस्य ब्रह्मस्वभावस्य चेतनत्वादेरननुवर्तनान्न ब्रह्मकार्यमिति पक्षे सर्वसाम्ये प्रकृतिविकारत्वमित्युक्तं स्यात्, तदसंगतमित्याह**—प्रथम इति । तृतीये तु दृष्टान्ताभाव इति । **नच जगन्न ब्रह्मप्रकृतिकमचेतनत्वादविद्यावदिति दृष्टान्तोऽ-**

के कारण महान् परिणामरूप स्वभावभेद तो है ही, वैसे ही, गोबरादि और वृश्चिकादि में भी भेद सुनिश्चित है । अत्यन्त सादृश्य रहने पर तो कार्य-कारणभाव ही समाप्त हो जायेगा । यदि कहो कि पुरुषादि का पार्थिवादि कुछ स्वभाव केश-नखादि में भी दिखाई पड़ते हैं क्योंकि पुरुषादि में और केश-नखादि में पार्थिवत्व समान है, वैसे ही गोमयादिगत पार्थिवत्व वृश्चिकादि में भी अनुगत भासते हैं? तब ब्रह्म का सत्तारूप स्वभाव भी आकाशादि में अनुगत दिखायी पड़ता ही है कारण के विलक्षण होने से ब्रह्म जगत् का उपादानकारण नहीं है ऐसा कहने वाले सांख्य क्या ब्रह्म का पूरा-पूरा स्वभाव जगत् में अनुगत नहीं है यह बात विलक्षणत्व से कहना चाहते हैं अथवा ब्रह्म के जिस किसी स्वभाव का जगत् में अनुवर्तन न होने के कारण आप को ब्रह्म से जगत् विलक्षण दीखता है या ब्रह्म का चैतन्य स्वभाव जगत् में अनुवर्तमान नहीं हैं । इसीलिए यह जगत् ब्रह्म से विलक्षण है । इन तीनों विकल्पों में से सांख्य का कौन सा विकल्प अभिमत है ?

प्रथम विकल्प में समस्त कार्यकारणभावउच्छेदप्रसङ्ग आ जायेगा । यदि कारण के समस्त धर्म कार्य में आ जाये तो, कार्यकारणभाव ही नहीं रह जायेगा ।

द्वितीय विकल्प में अप्रसिद्धत्व दोष आयेगा क्योंकि सत्तारूप ब्रह्म का स्वभाव आकाश में भी अनुगत हो रहा है ऐसा हम पहले भी कह आये हैं ।

तृतीय विकल्प में दृष्टान्त नहीं मिलेगा। जब आप अनुमान करने के लिए चलेंगे कि जगत् ब्रह्म उपादानक नहीं है, अचेतन होने से, अविद्या की भाँति, तो इस अनुमान में दृष्टान्त नहीं मिलेगा ।

---

१. हेतुना ।

समस्तस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मप्रकृतिकत्वाभ्युपगमात् । आगमविरोधस्तु प्रसिद्ध एव । चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यागमतात्पर्यस्य प्रसाधितत्वात् ।

यत्तूक्तं परिनिष्पन्नत्वाद्ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि सम्भवेयुरिति तदपि मनोरथमात्रम् । रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः । लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम् । आगममात्रसमधिगम्य एव त्वयमर्थो धर्मवत् । तथाच श्रुतिः—'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' (का० १-२-६) इति । 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्' । 'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव' (ऋ० सं० १-३०-६) इति चैते ऋचौ [1]सिद्धानामपीश्वराणां

स्तीति वाच्यं, अनादित्वस्योपाधित्वात् । नच ध्वंसे साध्याव्यापकता, तस्यापि कार्यसंस्कारात्मकस्य भावत्वेन ब्रह्मप्रकृतिकत्वादभावत्वाग्रहे च [2]अनादिभावत्वस्योपाधित्वादिति । संप्रति कल्पत्रयसाधारणं दोषमाह—आगमेति ।

पूर्वोक्तमनूद्य ब्रह्मणः शुष्कतर्कविषयत्वासंभवान्न तर्केणाक्षेप इत्याह—यत्तूक्तमित्यादिना । लिङ्गसादृश्यपदप्रवृत्तिनिमित्तानामभावादनुमानोपमानशब्दानामगोचर. । ब्रह्म लक्षणया वेदैकवेद्यमित्यर्थः । एषा ब्रह्मणि मतिस्तर्केण स्वतन्त्रेण नापनेया न संपादनीया । यद्वा कुतर्केण न बाधनीया । कुतार्किकादन्येनैव वेदविदाचार्येण प्रोक्ता मतिः सुज्ञानायानुभवाय फलाय भवति । हे प्रेष्ठ, प्रिययमेति नचिकेतसं प्रति मृत्योर्वचनम् । इयं विविधा सृष्टिर्यतः आ समन्ताद्बभूव तं को वा अद्धा साक्षाद्वद ।

अर्थात् इसमें अनादित्व उपाधि बैठ जायेगी क्योंकि अविद्या में ब्रह्म उपादानकत्वाभावरूप साध्य है वहाँ पर आनादित्व उपाधि भी है, इसलिए साध्य का व्यापक हो गया । किन्तु जगत् पक्ष में अचेतनत्व हेतु तो है पर उसमें अनादित्व उपाधि नहीं । है अतः साध्य का व्यापक एवं साधन का अव्यापक होने के कारण अनादित्व उपाधि यहाँ बैठा हुआ है, यही दृष्टान्ताभाव शब्द से कहना अभिप्रेत है । क्या जो चैतन्य अन्वित नही है वह ब्रह्म उपादानक नहीं देखा गया है यह बात ब्रह्मवादी के सामने आप कैसे बोल सकेंगे । ब्रह्मवादी ने समस्त जगत् को ब्रह्म उपादानक माना है, ऐसी स्थिति में उभयवादी सम्मत दृष्टान्त आप कहाँ से ला सकेंगे । इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त तीनों ही विकल्पों में आगमविरोधदोष तो प्रसिद्ध हो है क्योंकि जगत् का अभिन्ननिमित्त उपादानकारण चेतन ब्रह्म है ऐसा आगम का तात्पर्य हम बतला आये हैं।

और जो आपने कहा था कि सिद्ध वस्तु होने के कारण ब्रह्म में प्रमाणान्तर का भी प्रवेश हो जायेगा ? यह भी आप का मनोरथ ही है क्योंकि रूपादि अभाव होने के कारण यह आत्मा प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता, लिङ्गप्रमाण के अभाव में अनुमान का विषय नहीं है, सादृश्य के अभाव में उपमान का विषय नहीं है और शब्द प्रवृत्त के निमित्त जाति, गुण, कर्म एवं सम्बन्ध के न रहने के कारण यह शब्द का भी विषय नहीं है । श्रुति भी लक्षणा से ही उसे बतलाती है । अतः परमेश्वर धर्म की भाँति शास्त्र मात्रसमधिगम्य है । इसलिए श्रुति ने भी कहा है 'हे प्रियतम ! यह ब्रह्मविषयिणीबुद्धि स्वतन्त्र तर्क से प्राप्त करने योग्य नहीं, यह तो कुतार्किक से भिन्न वेदान्तविद्

१ स्वयसिद्धानां कपिलादीनाम् समर्थानाम् । २ अनादिभावत्वस्येति आदिविशिष्टोभाव आदिभाव इति मध्यमपदलोपि समासः न आदि भावोऽनादिभावः तस्यभावस्तत्त्वं तस्येत्यर्थः । सादिभावभिन्नत्वमिति यावत्तस्य ध्वंसेपि सत्वात्साध्यव्यापकत्वमक्षतमितिभावः ।

दुर्बोधतां जगत्कारणस्य दर्शयतः। स्मृतिरपि भवति—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति। 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' (गी० २-२५) इति च। 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः। अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥' (गी० १०-२) इति चैवंजातीयका। यदपि श्रवण व्यतिरेकेण मननं विदधच्छब्द एव तर्कमप्यादर्तव्यं दर्शयतीत्युक्तम्। नानेन मिषेण शुष्कतर्कस्यात्रात्मलाभः सम्भवति, श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते। 'स्वप्नान्तबुद्धान्तयोरुभयोरितरेतरव्यभिचारादात्मनोऽनन्वागतत्वं, 'सम्प्रसादे च प्रपञ्चपरित्यागेन सदात्मना सम्पत्तेर्निष्प्रपञ्चसदात्मत्वं, प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रभवत्वात्कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन ब्रह्माव्यतिरेक इत्ये-

तिष्ठतु वेदनं, क इह लोके त प्रवोचत्। छान्दसो दीर्घलोपः। यथावद्वक्तापि नास्तीत्यर्थः। प्रभवं जन्म न विदुः मम सर्वादित्वेन जन्माभावात्। मिषण मननविधिव्याजेन। शुष्कः श्रुत्यनपेक्षः। श्रुत्या तत्त्वे निश्चिते सत्यनु पश्चात् पुरुषदोषस्यासंभावनादेर्निरासाय गृहीतः श्रुत्यनुगृहीतः। तमाह—स्वप्नान्तेति। जीवस्यावस्थावतो देहादिप्रपञ्चयुक्तस्य निष्प्रपञ्चब्रह्मैक्यमसंभवि, द्वैतग्राहिप्रमाणविरोधाद्ब्रह्मणश्चाद्वितीयत्वमयुक्तमित्येवं श्रौतार्थासंभावनायां, तन्निरासाय सर्वास्ववस्थास्वात्मनोऽनुगतस्य व्यभिचारिणीभिरवस्थाभिरनन्वागतत्वमसंस्पृष्टत्वमवस्थानां स्वाभाविकत्वे वह्न्यौष्ण्यवदात्मव्यभिचारायोगात् सुषुप्तौ प्रपञ्चभ्रान्त्यभावे 'सता सोम्य' इत्युक्ताभेददर्शनान्निष्प्रपञ्चब्रह्मैक्यसंभवः, यथाघटादयो मृदभिन्नास्तथा जगद्ब्रह्माभिन्नं तज्जत्वादित्यादिस्तर्क आश्रीयत इत्यर्थः। इतोऽन्यादृशतर्कस्यात्र ब्रह्मण्यप्रवेशादस्यचानुकूलत्वान्न तर्केणाक्षेपावकाश इति भावः। ब्रह्मणि शुष्कतर्कस्याप्रवेशः सूत्रसंमत इत्याह—

आचार्य द्वारा उपदेश किये जाने पर ही अच्छी प्रकार से समझा जा सकता है' 'यह विवध सृष्टि सभी ओर से जो उत्पन्न हुई, उसे साक्षात् कौन जान सकता है जानना दूर रहा इस लोक में उसे कौन कह सकता है। बहिर्मुख देवता एवं मनुष्य इसे नहीं जान सकते, यह आत्मा जिससे उत्पन्न हुआ है' इन दोनों मन्त्रों में भी स्वयसिद्ध समर्थ कपिलादि के लिए भी जगत्कारण को दुर्बोध ही कहा है। स्मृति भी कहती है कि 'जो पदार्थ अचिन्त्य है उन्हें तर्क से जानने का प्रयास न करे, प्रकृति से जो पर हो, यही तो अचिन्त्य का लक्षण है' 'यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य अविकारी कहा जाता है' 'मेरी उत्पत्ति को न देवगण जानते हैं न महर्षि जानते हैं क्योंकि मैं देवताओं एवं महर्षियों का भी आदिकारक हूँ ऐसे ही आत्मस्मृतियाँ भी हैं। और जो श्रवण से भिन्न मनन का विधान **'मन्तव्यः'** शब्द कर रहा है वह तर्क को भी आदर देने के लिए आग्रह करता है, ऐसा आपने कहा था, उस मननविधिव्याज से इस अद्वय आत्मा में श्रुतिनिरपेक्ष शुष्क तर्क को आत्मलाभ सम्भव नहीं है, इस विषय में तो श्रुत्यनुगृहीत तर्क ही अनुभव के अङ्गरूप में माने जाते हैं। स्वप्न एवं जाग्रत् इन दोनों अवस्थाओं का परस्पर व्यभिचार है, पर इन दोनों अवस्थाओं में आत्मा अनुगत होता हुआ भी इन अवस्थाओं से असंस्पृष्ट है क्योंकि सुषुप्तावस्था में प्रपञ्च का त्याग हो जाने पर सदात्मारूप से निष्प्रपञ्च आत्मतत्त्व भासता ही है। अतः प्रपञ्च ब्रह्म से उत्पन्न होता है यह सिद्ध होता है। कार्यकारण में अभिन्नत्व **'तदनन्यत्वाधिकरण'** से बतलाया जायेगा, उस न्याय से कार्यप्रपञ्च अपने

१. उभयत्रांत शब्दोऽवस्थापरः। २. असंस्पृष्टत्वम्। ३. सुषुप्तौचेत्यर्थः। ४. तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः।
५. व्यभिचारायोगादिति दृश्यते तु व्यभिचारः तस्मान्नावस्थानामात्मनि स्वाभाविकत्वमिति भावः।

(१४१) असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥७॥

वंजातीयकः । 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्र० २-१-११) इति च केवलस्य तर्कस्य 'विप्रलम्भकत्वं दर्शयिष्यति ।

योऽपि चेतनकारणश्रवणबलेनैव समस्तस्य जगतश्चेतनतामुत्प्रेक्षते तस्यापि 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इति चेतनाचेतनविभागश्रवणं विभावनाऽविभावनाभ्यां चैतन्यस्य शक्यत एव योजयितुम् । परस्यैव त्विदमपि विभागश्रवण न युज्यते । कथम् ? परमकारणस्य ह्यत्र समस्तजगदात्मना समवस्थानं श्राव्यते 'विज्ञान चाविज्ञान चाभवत्' इति । तत्र यथा चेतनस्याचेतनभावो नोपपद्यते विलक्षणत्वात्, एवमचेतनस्यापि चेतनभावो नोपपद्यते । प्रत्युक्तत्वात्तु वैलक्षण्यस्य यथाश्रुत्यैव चेतनं कारणं ग्रहीतव्यं भवति ॥६॥

यदि चेतनं शुद्धं शब्दादिहीनं च ब्रह्म तद्विपरीतस्याचेतनस्याशुद्धस्य शब्दादिमतश्च

तर्काप्रतिष्ठानादिति । विप्रलम्भकत्वमप्रमापकत्वम् ।

यदुक्तं एकदेशिना सर्वस्य जगतश्चेतनत्वोक्तौ 'विभागश्रुत्यनुपपत्तिरिति दूषणं सांख्येन । तन्न । तत्र तेनैकदेशिना विभागश्रुतेश्चैतन्याभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिभ्यां योजयितुं शक्यत्वात् । सांख्यस्य त्विदं दूषण वज्रलेपायते, प्रधानकार्यत्वे सर्वस्याचेतनत्वेन चेतनाचेतनकार्यविभागासम्भवादित्याह–योऽपीत्यादिना। सिद्धान्ते चेतनाचेतनवैलक्षण्याङ्गीकारे कथं ब्रह्मणः प्रकृतित्वमित्यत आह—प्रत्युक्तत्वादिति । अप्रयोजकत्वव्यभिचाराभ्यां निरस्तत्वादित्यर्थः ॥६॥

कार्यमुत्पत्तेः प्रागसदेव स्यात्, 'स्वविरुद्धकारणात्मना सत्त्वायोगादित्यपसिद्धान्तापत्तिमाशङ्क्य मिथ्यात्वात्कार्यस्य कालत्रयेऽपि कारणात्मना सत्त्वमविरुद्ध मिति समाधत्ते—असदिति-चेदित्यादिना । असत्स्यादिति सत्त्वप्रतिषेधो निरर्थक इत्यर्थः । कार्यसत्यत्वाभावे श्रुतिमाह—

कारण से अभिन्न है । 'तर्काप्रतिष्ठानात्' इस सूत्र द्वारा केवल तर्क में अप्रमापकत्व बतलाया जायेगा ।

और जो एकदेशी ने सम्पूर्ण जगत् में चेतनत्व जब कहा तो सांख्यों ने 'विज्ञानम् चाविज्ञानम् च' इस विभागश्रुति का का अनुपपत्तिदोष दिया था, वह भी ठीक नहीं है क्योंकि विभागश्रुति चैतन्य की अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति को लेकर मानी जा सकती है । सांख्य पक्ष में यह दोष वज्रलेप हो जायेगा क्योंकि सांख्यों ने प्रधान का कार्य सम्पूर्ण जगत् को माना है, वैसी स्थिति में जगत् को अचेतन ही होना चाहिए इसलिए सांख्यपक्ष में चेतन-अचेतन कार्यविभाग बन ही नहीं सकते । परमकारण यहाँ पर समस्त जगत्रूप से कैसे स्थित सुना जाता है क्योंकि जगत् में विज्ञान और अविज्ञान का विभाग है । इस स्थिति में जैसे चेतन ब्रह्म का विलक्षण होने के कारण अचेतन जगत् कार्य युक्तियुक्त नहीं है ऐसे ही अचेतन प्रधान का भी चेतन होना युक्तिसंगत नहीं है । जगत् में विलक्षणत्व कह कर ब्रह्मकारणवाद का खण्डन आप ने किया था, ऐसे ही जगत् के चेतनत्व विभाग को देखते हुए अचेतन प्रधान को भी जगत कारण कहना युक्तियुक्त नहीं है । किन्तु हम तो श्रुति के अनुसार ही चेतन ब्रह्म को जगत्कारण मानने के लिए बाध्य करते हैं, केवल शुष्क तर्क के आधार पर नहीं ॥६॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् (ललिता)

यदि चेतन शुद्ध, शब्दादिहीन ब्रह्म अपने से विपरीत अचेतन, अशुद्ध और शब्दादिमान कार्य

---

१. वंचकत्वम् । २. सांख्यस्यैव । ३. ब्रह्मणः । ४. मृत्पाषाणरूपत्वम् । ५. प्रधानस्य । ६. विज्ञानं चेत्यादिका । ७. कार्यम्

(१४२) अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥८॥

कार्यस्य कारणमिष्येतासत्तर्हि कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति प्रसज्येत । अनिष्टं चैतत्सत्कार्यवादिनस्तवेति चेत् । नैष दोषः । प्रतिषेधमात्रत्वात् । प्रतिषेधमात्रं हीदं नास्य प्रतिषेधस्य प्रतिषेध्यमस्ति । न ह्ययं प्रतिषेधः प्रागुत्पत्तेः सत्त्वं कार्यस्य प्रतिषेद्धुं शक्नोति । कथम् ? यथैव हीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मना सदेवं प्रागुत्पत्तेरपीति गम्यते । न हीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मानमन्तरेण स्वतन्त्रमेवास्ति । 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० २-४-६) इत्यादिश्रवणात् । कारणात्मना तु सत्त्वं कार्यस्य प्रागुत्पत्तेरविशिष्टम् । ननु शब्दादिहीनं ब्रह्म जगतः कारणम् । बाढम् । न तु शब्दादिमत्कार्यं कारणात्मना हीनं प्रागुत्पत्तेरिदानीं वास्ति । तेन न शक्यते वक्तुं प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यमिति । विस्तरेण चैतत्कार्यकारणानन्यत्ववादे वक्ष्यामः ॥७॥

अत्राह—यदि स्थौल्यसावयवत्वाचेतनत्वपरिच्छिन्नत्वाशुद्ध्यादि धर्मकं कार्यं ब्रह्म-

---

सर्वं तमिति । **मिथ्यात्वमजानतः शङ्कामनूद्य परिहरति**—नन्वित्यादिना । विस्तरेण चैतदिति । **मिथ्यात्वमित्यर्थः ॥७॥**

सत्कार्यवादसिद्ध्यर्थं कार्याभेदे कारणस्यापि कार्यवदशुद्ध्यादिप्रसङ्ग इतिशङ्कासूत्रं व्याचष्टे-अत्रा

का कारण माना जायेगा तो उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् होने लग जायेगा और सत्कार्यवादी आप वेदान्ती के लिए यह बड़ा भारी अनिष्ट होगा ? यह दोष देना ठीक नहीं केवल '**असत्स्यात्**' ऐसा प्रतिषेधमात्र आप कर रहे हैं पर जिसका कोई प्रतिषेध्य नहीं किन्तु आपका यह प्रतिषेध उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता का निषेध नहीं कर सकता। जैसे स्थितिकाल में कार्यको कारणरूप से सत् वेदान्त मानता है। ऐसे ही उत्पत्ति से पूर्व भी कारणरूप से ही कार्य को सत् हम मानते हैं नकि कार्यरूप से । इस समय स्थितिकाल में भी कार्यकारण के बिना स्वतन्त्र नहीं रह सकता, कारण से पृथक् कार्य का अस्तित्व न स्थितिकाल में न प्रलयकाल में ही हम मानते हैं। हम तो स्थितिकाल में कार्य को मिथ्या मानते हैं, कल्पित मानते हैं किन्तु कारण को स्थितिकाल में भी पारमार्थिक अबाधित सत्य मानते हैं, जो उत्पत्ति से पूर्व भी था और प्रलय के बाद भी रहेगा। जो लोग कारण से पृथक कार्य की सत्ता मानते हैं उनके लिये श्रुति ने "उसे भी पराजित कर डालते हैं जो आत्मा से भिन्न सभी पदार्थों को सत्य मानता है' इस वाक्य द्वारा कार्य को मिथ्या और अधिष्ठानरूप से उसे सत्य माना है। कारणरूप से कार्य की सत्ता उत्पत्ति से पूर्व एवं वर्तमानकाल में भी समान ही है। शङ्का—तो क्या शब्दादिहीन ब्रह्म को जगत् का कारण आप मानते हैं ? समाधान—निःसन्देह ब्रह्म ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है क्योंकि ब्रह्मरूप कारण के बिना शब्दादियुक्त कार्य न उत्पत्ति से पूर्व और न अभी सृष्टिकाल में ही टिक सकता है, अतः उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् हो जायेगा ऐसा आप मुझ वेदान्ती पर आक्षेप नहीं कर सकते। कार्य स्वरूपतः असत् और अपने अधिष्ठानरूप से सत् एवं कार्य से अभिन्न इस सिद्धान्त को विस्तार से हम कार्यकारणअभिन्नत्वप्रतिपादक अधिकरण में कहेंगे ॥७॥

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् (ललिता)

पूर्वपक्ष—यदि स्थूलता, सावयवत्व, अचेतनत्व, परिच्छिन्नत्व एवं अशुद्धि आदि धर्मवाला कार्य-

कारणमभ्युपगम्येत तदपीतौ प्रलये प्रतिसंसृज्यमानं कार्यं कारणाविभागमापद्यमानं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेदित्यपीतौ कारणस्यापि ब्रह्मणः कार्यस्येवाशुद्ध्यादिरूपप्रसङ्गात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगत्कारणमित्यसमञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम् । अपिच समस्तस्य विभागस्याविभागप्राप्तेः पुनरुत्पत्तौ नियमकारणाभावाद्भोक्तृभोग्यादिविभागेनोत्पत्तिर्न प्राप्नोतीत्यसमञ्जसम् । अपिच भोक्तॄणां परेण ब्रह्मणाऽविभागं गतानां कर्मादिनिमित्तप्रलयेऽपि पुनरुत्पत्तावभ्युपगम्यमानायां मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गादसमञ्जसम् । अथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणावतिष्ठेत, एवमप्यपीतिश्च न सम्भवति, कारणाव्यतिरिक्तं च कार्यं न सम्भवतीत्यसमञ्जसमेवेति ।।८।। अत्रोच्यते—

हेति । प्रतिसंसृज्यमानपदस्य व्याख्या—कारणेति । यथा जले लीयमानं लवणद्रव्यं जलं दूषयति तद्वदित्यर्थः । सूत्रस्य योजनान्तरमाह—अपिचेति । सर्वस्य कार्यस्यापीतौ कारणवदेकरूपत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । अर्थान्तरमाह—अपिचेति । कर्मादीनामुत्पत्तिनिमित्तानां प्रलयेऽपि भोक्तॄणामुत्पत्तौ तद्वदेव मुक्तानामप्युत्पत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः । शङ्कापूर्वकं व्याख्यान्तरमाह—अथेति । यदि लयकालेऽपि कार्यं कारणाद्विभक्तं तर्हि स्थितिकालवल्लयाभावप्रसङ्गात्कार्येण द्वैतापत्तेश्चासमञ्जसमिदं दर्शनमित्यर्थः ।।८।

ब्रह्म उपादानक माना जायेगा, तब तो प्रलयकाल में जब कार्य कारण से अविभक्त होगा, तब वह प्रलीयमान कार्य अपने धर्म से कारण ब्रह्म को भी दूषित कर डालेगा अर्थात् जैसे कार्यप्रपञ्च अशुद्ध्यादि धर्मवाला है वैसा ही इसका कारण ब्रह्म भी होने लग जायेगा जिस ब्रह्म को जगत् का कारण आपने माना था वह ब्रह्म प्रपञ्च के धर्म से दूषित हो जाने के कारण औपनिषद् दर्शन असंगत होने लग जायेगा। जैसे जल में लीन होने वाला लवणद्रव्य जल को दूषित कर डालता है, ऐसे ही स्थूलतादि धर्म से युक्त जगत् ब्रह्म में लीन होगा, तो उसे भी अपने दोष से दूषित कर डालेगा, जिस प्रकार जल में लीन होने वाली नमक की डली जल को दूषित कर डालती है, वैसे ही अनेक दोषों से युक्त जगत् जब ब्रह्म में लीन होगा तो अपने दोषों से उस अद्वितीय ब्रह्म को भी दूषित कर डालेगा। इसके अतिरिक्त समस्त विभाग का जब ब्रह्म के साथ प्रलयकाल में अविभाग हो जायेगा, तब पुनः उत्पत्ति के समय नियामककारण के अभाव में भोक्ता-भोग्यादि का विभाग नहीं सिद्ध हो सकेगा अर्थात् जीव भोक्ता है और शब्दादियुक्त प्रपञ्च भोग्य है यह विभाग उत्पत्ति के समय सिद्ध नहीं हो सकेगा। यह दूसरी असङ्गति वेदान्तमत में आती है। इतना ही नहीं प्रत्युत परब्रह्म के साथ जब भोक्ता अविभक्त हो जायेंगे तब विभाग के निमित्तकारण कर्मादि का भी प्रलय हो जायेगा। उस दशा में पुनरुत्पत्ति मानने पर मुक्त पुरुषों के भी पुनः पुनर्जन्म का प्रसङ्ग आ जायेगा, यह भी असङ्गति आपके पक्ष में आयेगी। और यदि कहो कि प्रलयकाल में ब्रह्म के साथ यह जगत् विभक्त ही रहेगा तो भला प्रलय ही क्या हुआ अर्थात् प्रलयकाल में भी कार्य कारण से विभक्त ही रहा तो स्थितिकाल की भाँति लय भी माना जायेगा और इस स्थिति में कार्य को लेकर द्वैतापत्ति का प्रसङ्ग आ जाने के कारण आपका सिद्धान्त असङ्गत हो जायेगा ।।८।।

(१४३) न तु दृष्टान्तभावात् ॥९॥

नैवास्मदीये दर्शने किञ्चिदसामञ्जस्यमस्ति । यत्तावदभिहितं कारणमपिगच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेदिति, तददूषणम् । कस्मात् ? दृष्टान्तभावात् । सन्ति हि दृष्टान्ता यथा कारणमपिगच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण न दूषयति । तद्यथा शरावादयो मृत्प्रकृतिका विकारा विभागावस्थायामुच्चावचमध्यमप्रभेदाः सन्तः पुनः प्रकृतिमपिगच्छन्तो न तामात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति । रुचकादयश्च सुवर्णविकारा अपीतौ न सुवर्णमात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति । पृथिवीविकारश्चतुर्विधो भूतग्रामो न पृथिवीमपीतावात्मीयेन धर्मेण संसृजति । त्वत्पक्षस्य तु न कश्चिद्दृष्टान्तोऽस्ति । अपीतिरेव हि न सम्भवेद्यदि कारणे कार्यं स्वधर्मेणैवावतिष्ठेत । अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयोः कार्यस्य कारणात्मत्वं नतु कारणस्य कार्यात्मत्वं 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' इति वक्ष्यामः (ब्र० सू० २-१-१४) । अत्यल्पं चेदमुच्यते कार्यमपीतावात्मीयेन धर्मेण

अपीतौ जगत् स्वकारणं न दूषयति, कारणे लीनत्वात्, मृदादिषु लीनघटादिवदिति सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—नैवेत्यादिना । **अपिगच्छल्लीयमानम् । विभागावस्था स्थितिकालः ।** त्वत्पक्षस्येति । **मधुरजलं** लवणस्याकारणमित्यदृष्टान्तः । **किंच दूषकत्वे कार्यस्य स्थितिः स्याल्लवणवदित्याह**—अपीतिरेवेति । **असति कार्ये तद्धर्मेण कारणस्य योगो न संभवति । धर्म्यसत्त्वे धर्माणामप्यसत्त्वादिति भावः । ननु सत्कार्यवादे लयेऽपि कार्यस्य कारणाभेदेन सत्त्वाद्दूषकत्वं स्यादित्यत आह**—अनन्यत्वेऽपीति । **कल्पितस्याधिष्ठानधर्मवत्त्वमभेदान्न त्वधिष्ठानस्य कल्पितकार्यधर्मवत्त्वं तस्य कार्यात्पृथक्सत्त्वादित्यर्थः । किंचापीताविति विशेषणं व्यर्थमिति प्रतिबन्द्या समाधत्ते**—अत्यल्प चेति । **परिणामदृष्टान्तं व्याख्याय**

न तु दृष्टान्तभावात् (ललिता)

इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि हमारे दर्शन में असङ्गति नहीं है । यह जो आपने कहा था कि कारण में जब कार्य लीन होगा तब कारण को भी अपने धर्म से दूषित कर डालेगा, ऐसा दोष ठक नहीं है क्योंकि ऐसे अनेकों दृष्टान्त हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि कारण में कार्य के लीन होने पर भी कार्य अपने धर्म से कारण को दूषित नहीं करते । जैसे मिट्टी के बने घट, कसोरे आदि विकार स्थितिकाल में छोटे, बड़े, मध्यम आकार के होते हुए भी जब वे मिट्टी में लीन होते हैं तब घटादि अपने छोटे-बड़े धर्म से मिट्टी को अपने जैसा नहीं बना देते हैं, स्वर्ण के विकार रुचकादि आभूषण जब अपने कारण स्वर्ण में लीन होते हैं तब वे भी अपने धर्म से स्वर्ण को दूषित नहीं करते हैं । पृथ्वी के चतुर्विध अण्डजादि कार्य जब पृथ्वी में लीन होते हैं तब वे भी अपने धर्म से पृथ्वी को युक्त नहीं करते हैं । हमारे पक्ष में इतने दृष्टान्त हैं किन्तु आपके पक्ष का पोषक कोई दृष्टान्त नहीं है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि यदि कारण में लीन कार्य धर्म से ही बना रहे तब तो कार्य का लय ही नहीं हुआ, उस स्थिति में कार्य बना ही रहा । यह सर्वथा सत्य है कि कार्य-कारण का हम अभेद मानते हैं फिर भी कार्य कारणरूप है, न कि कारण कार्यरूप है, इस बात को '**आरम्भण शब्दादिभ्यः**' इस सूत्र से हम कहेंगे । लीन होने पर कार्य अपने धर्म से कारण को दूषित कर डालेगा यह तो आप बहुत

कारणं संसृजेदिति । स्थितावपि समानोऽयं प्रसङ्गः, कार्यकारणयोरनन्यत्वाभ्युपगमात् । 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २-४-६), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७-२५-२), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २-२-११), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३-१४-१) इत्येवमाद्याभिर्हि श्रुतिभिरविशेषेण त्रिष्वपि कालेषु कार्यस्य कारणानन्यत्वं श्राव्यते । तत्र यः परिहारः कार्यस्य तद्धर्माणां चाविद्याध्यारोपितत्वान्न तैः कारणं संसृज्यत इति, अपीतावपि स समानः । अस्ति चायमपरो दृष्टान्तो यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात् एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यत इति । यथा च स्वप्नदृगेकः स्वपनदर्शनमायया न संस्पृश्यत इति । प्रबोधसम्प्रसादयोरनन्वागतत्वात् । एवमवस्थात्रयसाक्ष्येकोऽव्यभिचार्यवस्थात्रयेण व्यभिचारिणा न संस्पृश्यते । मायामात्रं ह्येतद्यत्परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनं रज्ज्वा इव सर्पादिभावेनेति । अत्रोक्तं वेदान्तार्थसम्प्रदायविद्भिराचार्यैः—'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।

विवर्तदृष्टान्तं व्याचष्टे—अस्ति चेति । मायाऽप्यनुपादानमित्यरुच्या दृष्टान्तान्तरमाह—यथेति । अस्त्येव स्वप्नकाले दृष्टः संसर्ग इत्यत आह–प्रबोधेति । जाग्रत्सुषुप्त्योः स्वप्नेनात्मनोऽस्पर्शात् तत्कालेऽप्यस्पर्श इत्यर्थः । यद्यज्ञस्य जीवस्यावस्थाभिरसंसर्गस्तदा सर्वज्ञस्य किं वाच्यमिति दार्ष्टान्तिकमाह——एवमिति । यद्वा जगज्जन्मस्थितिलया ईश्वरस्यावस्थात्रयम् । तदसङ्गित्वे वृद्धसंमतिमाह अत्रोक्तमिति। यदा तत्त्वमसीत्युपदेशकाले प्रबुध्यते मायानिद्रां त्यजति तदा जन्मलयस्थित्यवस्था-

---

थोड़ा कह रहे हैं, आपको तो यह भी कहना चाहिए कि स्थितिकाल में भी कार्य कारण को अपने धर्म से दूषित कर डालेगा, क्योंकि वेदान्ती कार्य-कारण को अभिन्न मानते हैं । इस विषय में 'यह सब कुछ जो भी है आत्मा ही है' 'निःसन्देह यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है' इन सभी श्रुतियों में सामान्यतः तीनों काल में कार्य का कारण से अभेद सुना जाता है । यदि इसका समाधान आप यह कह देंगे कि कार्य एवं उसके धर्म अविद्या से कल्पित हैं, इसीलिए उनसे कारण का कोई संसर्ग नहीं होता । जैसे रज्जु में कल्पित सर्प का विष रज्जु को नहीं छूता है और जैसे मृगतृष्णिका का जल मरुस्थल को गीला नहीं कर सकता, ऐसे अनेकों दृष्टान्त हैं, जिससे कल्पित वस्तु का संसर्ग अधिष्ठान के साथ नहीं होता यह सिद्ध होता है । जिस प्रकार मायावी स्वयं ही अपनी प्रसारित माया से तीनों काल में संसृष्ट नहीं होता, क्योंकि वह कुछ वस्तु ही नहीं है, ठीक इसी प्रकार परमात्मा भी संसार माया से संस्पृष्ट नहीं होता । जिस प्रकार एकाकी स्वप्नद्रष्टा स्वप्नदर्शनरूप माया से संस्पृष्ट नहीं होता है क्योंकि वे स्वप्नदर्शन जाग्रत् और सुषुप्ति में नहीं दिखायी देते । इस प्रकार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थायें व्यभिचारी हैं । अतः इन अवस्थाओं के साथ अवस्थात्रय के साक्षी का कोई सम्बन्ध नहीं होता है, ये तो मायामात्र हैं जो परमात्मा में अवस्थात्रयरूप से वैसे ही भासते हैं जैसे रज्जु का सर्पादिरूप से अविद्या के कारण अन्यथा भान होता है । कोई भ्रान्तपुरुष उस रज्जु को सर्प समझता है, कोई दण्ड, कोई जलधारा और कोई भूखण्ड । इस सम्बन्ध में वेदान्त सम्प्रदाय के विद्वान् आचार्यों ने

---

१. असंस्पृष्टत्वात् । २. तत्रस्थितिजागरितम् जन्मस्वप्नम लयः सुषुप्तिरितिविवेकः

अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा' (गौडपा० कारि० १-१६) इति ॥

तत्र यदुक्तमपीतौ कारणस्यापि कार्यस्येव स्थौल्यादिदोषप्रसङ्ग इत्येतदयुक्तम् । यत्पुनरेतदुक्तम् समस्तस्य विभागस्याविभागप्राप्तेः पुनर्विभागेनोत्पत्तौ नियमकारणं नोपपद्यत इति । अयमप्यदोषः दृष्टान्तभावादेव । यथा हि सुषुप्तिसमाध्यादावपि सत्यां स्वाभाविक्यामविभागप्राप्तौ मिथ्याज्ञानस्यानपोदितत्वात्पूर्ववत्पुनः प्रबोधे विभागो भवत्येवमिहापि भविष्यति । श्रुतिश्चात्र भवति—'इमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्तितदा भवन्ति' (छा० ६-९-२, ३) इति । यथा ह्यविभागेऽपि परमात्मनि मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धो विभागव्यवहारः स्वप्नवदव्याहतः स्थितो दृश्यते' एवमपी-

---

शून्यमद्वैतमीश्वरमात्मत्वेनानुभवतीत्यर्थः ।

फलितमाह—तत्रेति । द्वितीयमसामञ्जस्यमनूद्य तेनैव सूत्रेण परिहरति—यत्पुनरिति । सुषुप्तावज्ञानसत्त्वे पुनर्विभागोत्पत्तौ च मानमाह—श्रुतिश्चेति । सति ब्रह्मण्येकं भूय न विदुरित्यज्ञानोक्तिः । इह सुषुप्तेः प्राक् प्रबोधे येन जात्यादिना विभक्ता भवन्ति तदा पुनरुत्थानकाले तथैव भवन्तीति विभागोक्तिः । ननु सुषुप्तौ पुनर्विभागशक्त्यज्ञानसत्त्वेऽपि सर्वप्रलये तत्सत्त्वं कुत इत्यत आह—यथा हीति । यथा सुषुप्तौ परमात्मनि सर्वकार्याणामविभागेऽपि पुनर्विभागहेत्वज्ञानशक्तिरस्ति एवमपीतौ महाप्रलयेऽपिमिथ्याभूताज्ञानसंबन्धात्पुनः सृष्टिविभागशक्तिरनुमास्यते । यतः स्थिताविदानीं मिथ्याज्ञानकार्यो विभागव्यवहारस्तत्त्वबोधाभावात् स्वप्नवद'बाधितो दृश्यते, अतः कार्यदर्शनात्कारणसत्त्व-

---

कहा है कि "जिस समय अनादि माया से सोया हुआ जीव अपने स्वरूप में जग जाता है उस समय अजन्मा, निद्रारहित, स्वप्नरहित अद्वैत को जानता है" ।

और जो इस सम्बन्ध में आपने कहा था कि प्रलयकाल में कार्य की भाँति कारण में भी स्थूलतादि दोष आ जायेंगे, वह पूर्वोक्त विचार से निरस्त हो गया । फिर जो आप ने कहा था कि समस्त कार्यवर्ग जब प्रलयकाल में अविभक्त हो जायेंगे तो पुनः विभागपूर्वक उत्पत्ति के लिए कोई नियामक कारण नहीं रह जायेगा ऐसी दशा में भोक्ता भोग्य होने लग जायेगा ? यह भी कोई दोष नहीं है क्योंकि इस दोष के वारण के लिए भी दृष्टन्त विद्यमान है । जैसे सुषुप्ति और जड़समाधि स्वाभाविकरूप से होते हैं उसमें कारण के साथ कार्य का अविभाग हो जाता है किन्तु मिथ्याज्ञान का नाश न होने के कारण जगने पर पुनः पूर्व की भाँति विभाग दिखाई पड़ता है, ऐसे ही प्रलय के वाद पुनः सृष्टि होने पर पूर्ववत् हो जायेगा इस सम्बन्ध में श्रुति कहती है कि "सुषुप्ति काल में सारी प्रजा ब्रह्म के साथ अभिन्न होकर भी यह जान नहीं पाती कि हम सद्ब्रह्म में सम्पन्न हो गये थे वे तो जगने पर पूर्व की भाँति व्याघ्र अपने को व्याघ्र, सिंह अपने को सिंह, भेड़िया अपने को भेड़िया, सूकर अपने को सूकर, कीट-पतंग, मच्छर, डंश ये सब पूर्व की भाँति ही सोकर उठने के बाद अपने को अनुभव करते हैं । ' जिस प्रकार सुषुप्तावस्था में परमात्मा में लीन हो जाने पर भी मिथ्याज्ञान के कारण उनकी स्वरूप स्थिति प्रतिबद्ध रहती है, उसी प्रतिबन्ध के कारण पुनः जाग्रत में विभाग व्यवहार होता है, ठीक वैसे ही स्थितिकाल में स्वप्न की भाँति विभाग

---

१. यथा स्वप्नः स्वकालेऽबधितो भवति तद्वदित्यर्थः ।

(१४४) स्वपक्षदोषाच्च ॥१०॥

तावपि मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धैव विभागशक्तिरनुमास्यते । एतेन मुक्तानां पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः प्रत्युक्तः । सम्यग्ज्ञानेन मिथ्याज्ञानस्यापोदितत्वात् । यः पुनरयमन्तेऽपरो विकल्प उत्प्रेक्षितोऽथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणावतिष्ठेतेति, सोऽप्यनभ्युपगमादेव प्रतिषिद्धः । तस्मात्समञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम् ॥९॥

स्वपक्षे चैते प्रतिवादिनः साधारणा दोषाः प्रादुःष्युः । कथमित्युच्यते । यत्तावदभिहितं विलक्षणत्वान्नेदं जगद्ब्रह्मप्रकृतिकमिति, प्रधानप्रकृतिकतायामपि समानमेतत्, शब्दाविहीनात्प्रधानाच्छब्दादिमतो जगत उत्पत्त्यभ्युपगमात् । अत एव च विलक्षणकार्योत्पत्त्यभ्युपगमात्समानः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यवादप्रसङ्गः तथाऽपीतौ कार्यस्य कारणाविभागाभ्युपगमात्तद्वत्प्रसङ्गोऽपि समानः । तथा मृदितसर्वविशेषेषु विकारेष्वपीतावविभागात्मतां गतेष्विदमस्य

सिद्धिरित्यर्थः । अज्ञानां जीवानां महाप्रलयेऽप्यज्ञानशक्तिनियमात्पुनर्जन्मनियम इति भावः । एतेनेति । जन्मकारणाज्ञानशक्त्यभावेनेत्यर्थः ॥९॥

वैलक्षण्यादीनां सांख्यपक्षेऽपि दोषत्वान्नास्माभिस्तन्निरासप्रयासः कार्य इत्याह—स्वपक्षेति । सूत्रं व्याचष्टे—स्वेति । प्रादुःष्युः प्रादुर्भवेयुः । अत एवेति । सत्यकार्यस्य स्वविरुद्धकारणात्मना सत्त्वायोगात् सांख्यस्यैवायं दोषो न कार्यमिथ्यात्ववादिन इति मन्तव्यम् । 'अपीतौ' इति सूत्रोक्तदोषचतुष्टयमाह—तथाऽपीताविति । कार्यवत्प्रधानस्य रूपादिमत्त्वप्रसङ्गः । इदं कर्मादिकमस्योपादानं भोग्य-

---

व्यवहार अव्याहत दिखायी पड़ता है । ऐसे ही प्रलयकाल में मिथ्याज्ञान से विभागशक्ति प्रतिबद्ध रहती है, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है । इससे मुक्तों को पुनरुत्पत्ति का प्रसंग भी निरस्त हो गया, क्योंकि मुक्तात्मा में सम्यग्ज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश हो चुका है । और जो अन्त में आपने एक विकल्प खड़ा किया था प्रलयकाल में भी जगत् विभक्त होकर ही परब्रह्म में रहता है इसे तो हम मानते ही नहीं, इसलिए यह विकल्प निरस्त हो गया । अतः औपनिषद् दर्शन सर्वथा सुसंगत है, इसमें असंगति की गन्ध भी नहीं है ॥९॥

स्वपक्षदोषाच्च (ललिता)

वैलक्षण्यादि दोष जब सांख्यपक्ष में भी समान ही हैं तो भला हम सांख्योक्त दोष का निराकरण क्यों करने लग जांय । जिन दोषों का उद्भावन सांख्यों ने वेदान्त के ऊपर किया है वे दोष तो सांख्य पक्ष में भी समान ही है । कैसे ? आपने पहले कहा था कि जगत् और ब्रह्म में वैलक्षण्य होने के कारण जब यह जगत् ब्रह्म का कार्य नहीं है, तब तो प्रधान के कार्य जगत् को मानने वाले सांख्यों के पक्ष में भी यह दोष समान रूप से आता है क्योंकि शब्दादिहीन प्रधान से शब्दादिमान जगत् की उत्पत्ति सांख्यों ने मानी है ।

१. विलक्षणकार्य उत्पत्ति मानने के कारण ही उत्पत्ति से पूर्व सांख्यमत में भी असत्कार्यवाद का प्रसंग आयेगा ही ।

२. प्रलय हो जाने पर कार्य का कारण के साथ अविभाग होना सांख्य भी मानते ही हैं वैसी स्थिति में जगत् कार्य की भाँति प्रधान में भी रूपादि आने लग जायेंगे ।

३. सभी कार्य नष्ट हो जाने पर जब अविभक्त हो जायेंगे, उसके बाद पुनरुत्पत्ति के समय इस

(१४५) तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमितिचेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥११॥

पुरुषस्योपादानमिदमस्येति प्राक्प्रलयात्प्रतिपुरुषं ये नियता भेदा न ते तथैव पुनरुत्पत्तौ नियन्तुं शक्यन्ते कारणाभावात् । विनैव कारणेन नियमेऽभ्युपगम्यमाने कारणाभावसाम्यान्मुक्तानामपि पुनर्बन्धप्रसङ्गः ।

अथ केचिद्भेदा अपीतावविभागमापद्यन्ते । केचिन्नेति चेत् । ये नापद्यन्ते तेषां प्रधानकार्यत्वं न प्राप्नोतीत्येवमेते दोषाः साधारणत्वान्नान्यतरस्मिन्पक्षे चोदयितव्या भवन्तीत्यदोषतामेवैषां [1]द्रढयति । [2]अवश्याश्रयितव्यत्वात् ॥१०॥

इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम् । यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति । उत्प्रेक्षाया निरङ्कुशत्वात् । तथा हि

मस्य नेत्यनियमः । बद्धमुक्तव्यवस्था च ।

यदि व्यवस्थार्थं मुक्तानां भेदाः संघातविशेषाः प्रधाने लीयन्ते बद्धानां भेदास्तु न लीयन्त इत्युच्येत तर्ह्यलीनानां पुरुषवत्कार्यत्वव्याघात इत्यर्थः ॥१०॥

किंच तर्कस्य संभावितदोषत्वात्तेन निर्दोषवेदान्तसमन्वयो न बाध्य इत्याह—तर्काप्रतिष्ठानादपीति ।

पुरुष का उपादान यह है ऐसा नियामक कोई रहेगा नहीं, उस दशा में भोक्ता भोग्य होने लग जायेगा और भोग्य भोक्ता होने लग जायेगा यह दोष सांख्य पक्ष में भी आता ही है ।

४. कारण के बिना ही उत्पत्तिकाल में नियम मानने पर मुक्तों के भी पुनर्जन्म का प्रसंग आ जायेगा क्योंकि कारण का अभाव भी सब किसी के लिए समान ही है ।

यदि कुछ कहो कि कुछ भेद प्रलय के समय अविभक्त हो जाते हैं और कुछ भेद बने रहते हैं वे प्रधान के कार्य नहीं माने जा सकते, यह दोष सांख्यपक्ष में भी आता ही है । जब वेदान्त और सांख्य दोनों के ऊपर निरुक्त दोषचतुष्टय समान रूप से आ रहे हैं तो किसी एक पक्ष में दोषोद्भावन ठीक नहीं है । इस स्थिति में आप के द्वारा दिये गये दोष वस्तुतः दोष नहीं हैं ऐसा मानना ही उचित होगा ॥१०॥

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमितिचेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः (ललिता)

जब तर्क सम्भावित दोष से युक्त है तो ऐसे तर्क द्वारा निर्दोष वेदान्तसमन्वय को नहीं बाधना चाहिए, यह बात अग्रिम सूत्र से कहने जा रहे हैं—

आगमगम्य अर्थ में इसलिए भी केवल तर्क से दोष का उत्त्थापन ठीक नहीं है क्योंकि आगमहीन पुरुष की कल्पना पर आधारित तर्कों की प्रतिष्ठा नहीं है । पुरुषकल्पना निरंकुश होती है । किसी विद्वान ने बड़े यत्न के साथ कुछ तर्कों का उत्त्थापन किया तो दूसरे विद्वान उन्हें तर्काभासरूप में

---

१. त्वदीय पक्ष इति शेषः । २. उक्तदोषाणामिति शेषः ।

कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमाना दृश्यन्ते । तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुं, पुरुषमतिवैरूप्यात् ।

अथ कस्यचित्प्रसिद्धमाहात्म्यस्य कपिलस्य चान्यस्य वा सम्मतस्तर्कः प्रतिष्ठित इत्याश्रीयेत । एवमप्यप्रतिष्ठितत्वमेव । प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थकराणां कपिलकणभुक्प्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात् ।

अथोच्येतान्यथा वयमनुमास्यामहे यथा नाप्रतिष्ठादोषो भविष्यति । नहि प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यते वक्तुम् । एतदपि हि तर्काणामप्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते । केषांचित्तर्काणामप्रतिष्ठितत्वदर्शनेनान्येषामपि तज्जातीयकानां तर्काणामप्रतिष्ठितत्वप्रकल्पनात् । सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः । अतीतवर्तमानाध्वसाम्येन ह्यनागतेऽप्यध्वनि सुखदुःखप्राप्तिपरिहाराय प्रवर्तमानो लोको

पुरुषमतीनां विचित्रत्वेऽपि कपिलस्य सर्वज्ञत्वात्तदीयतर्के विश्वास इति शङ्कते – अथेति । 'कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नेति का प्रमा' इति न्यायेन परिहरति—एवमपीति ।

सूत्रमध्यस्थशङ्काभागं व्याचष्टे – अथोच्येतेति । विलक्षणत्वादितर्काणामप्रतिष्ठितत्वेऽपि व्याप्तिपक्षधर्मतासंपन्नः कश्चित्तर्कः प्रतिष्ठितो भविष्यति तेन प्रधानमनुमेयमित्यर्थः । ननु सोऽप्यप्रतिष्ठितः तर्कजातीयत्वात् विलक्षणत्वादिवदित्यत आह— नहीति । तर्कजातीयत्वादिति तर्कः प्रतिष्ठितो न वा । आद्येऽत्रैवाप्रतिष्ठितत्वसाध्याभावाद्व्यभिचारः । द्वितीयेऽपि न सर्वतर्काणामप्रतिष्ठितत्वं हेत्वभावादित्यभिसंधिमानाह—एतदपीति । किंचानागतपाक इष्टसाधनं, पाकत्वात्, अतीतपाकवदित्यादीष्टानिष्टसाधनानुमानात्मकतर्कस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यवहारहेतुत्वान्नाप्रतिष्ठेत्याह—सर्वतर्केति ।

देखने लग जाते हैं, उसके बाद कुछ अन्य विद्वान् जब उत्प्रेक्षा करते है तो उसे अन्य तार्किक खण्डित कर डालते हैं । इस प्रकार पुरुषबुद्धि विचित्र होने के कारण तर्कों में प्रतिष्ठितत्व सिद्ध नहीं कर सकते ।

यदि कहो कि कपिल का माहात्म्य प्रसिद्ध है इसलिए उनके तर्क को आदर देना चाहिए ? तो दूसरा कहेगा कि प्रसिद्धमाहात्म्य कणाद के तर्क को आदर देना चाहिए क्योंकि कपिल सर्वज्ञ थे और कणाद सर्वज्ञ नहीं थे इस बात को कौन सिद्ध कर सकेगा । इस प्रकार तो प्रसिद्धमाहात्म्य अभिमत कपिल, कणाद आदि सभी शास्त्रनिर्माताओं में परस्पर विरोध देखे जाने के कारण सभी के तर्कों में अप्रतिष्ठितत्व ही है, किसी का भी तर्क सर्वमान्य नहीं है ।

यदि कहो कि जिस प्रकार अप्रतिष्ठादोष नहीं आ सकेगा, हम ऐसा अनुमान करेंगे क्योंकि प्रतिष्ठित तर्क ही नहीं है ऐसा कहना उचित नहीं होगा ? तर्कों में अप्रतिष्ठितत्व भी तर्क से ही सिद्ध किया जायेगा, ऐसी स्थिति में कुछ तर्कों में अप्रतिष्ठितत्व देखकर अन्य समान जाति वाले तर्कों में भी अप्रतिष्ठितत्व की कल्पना कर लेंगे । अनुमान का आकार ऐसा होगा **सर्वतर्काः अप्रतिष्ठिताः, तर्कत्वात्, त्वदीयाभिमताप्रतिष्ठित तर्कवत्** इस प्रकार कपिल, कणाद एवं अन्य विद्वानों के अभिमत तर्क में भी अप्रतिष्ठितत्व ही सिद्ध होगा । पूर्वपक्ष–सभी तर्कों को अप्रतिष्ठित मानने पर सर्वलोकव्यवहार का उच्छेद होने लग जायेगा । अतीत एवं वर्तमान पाक भोजनादि एवं विषभक्षणादि में इष्टानिष्ट देखे जाने के कारण अनागत भोजनादि में सुखदुःखप्राप्ति परिहार के लिए प्रवृत्त होता

दृश्यते । श्रुत्यर्थविप्रतिपत्तौ चार्थाभासनिराकरणेन सम्यगर्थनिर्धारणं तर्केणैव वाक्यवृत्तिनिरूपणरूपेण क्रियते । मनुरपि चैवं मन्यते—'प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥' इति । 'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना । यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥' (१२।१०५,१०६) इति च ब्रुवन् । अयमेव तर्कस्यालंकारो यदप्रतिष्ठितत्वं नाम । एवं हि सावद्यतर्कपरित्यागेन निरवद्यस्तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति । नहि पूर्वजो मूढ आसीदित्यात्मनापि मूढेन भवितव्यमिति किञ्चिदस्ति प्रमाणम् । तस्मान्न तर्काप्रतिष्ठानं दोष इति चेत् एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः । यद्यपि क्वचिद्विषये तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वमुपलक्ष्यते तथापि प्रकृते तावद्विषये प्रसज्यत एवाप्रतिष्ठितत्वदोषादनिर्मोक्षस्तर्कस्य । नहीदमतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनमाग-

अध्वा विषयः पाकभोजनादिर्विषभक्षणादिश्च, तत्सामान्येन पाकत्वादिनानागतविषये पाकादौ सुखदुःखहेतुत्वानुमित्या प्रवृत्त्यादिरित्यर्थः । किंच पूर्वोत्तरमीमांसयोस्तर्केणैव वाक्यतात्पर्यनिर्णयस्य क्रियमाणत्वात्तर्कः प्रतिष्ठित इत्याह—श्रुत्यर्थेति । मनुरपि केषांचित्तर्काणां प्रतिष्ठां मन्यत इत्याह—मनुरिति । धर्मस्य शुद्धिरधर्माद्भेदनिर्णयः । कस्यचित्तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वमङ्गीकरोति—अयमेवेति । सर्वतर्काणां प्रतिष्ठायां पूर्वपक्ष एव न स्यादिति भावः । पूर्वपक्षतर्कवत्सिद्धान्ततर्कोऽप्यप्रतिष्ठितः, तर्कत्वाविशेषादिति वदन्तमुपहसति—नहीति । क्वचित्तर्कस्य प्रतिष्ठायामपि जगत्कारणविशेषे तर्कस्य स्वातन्त्र्यं नास्तीति सूत्रशेषं व्याचष्टे—यद्यपीत्यादिना । अतिगम्भीरत्वं ब्रह्मणो वेदान्यमानागम्यत्वम् । भावस्य जगत्कारणस्य यथात्म्यमद्वयत्वम् । मुक्तिनिबन्धनं मुक्त्यालम्बनम् । ब्रह्मणो वेदान्य-

हुआ लोक दिखाई पड़ता है । इतना ही नहीं, पूर्वोत्तर मीमांसा में भी श्रुत्यर्थ में विप्रतिपत्ति होने पर अर्थाभास का निराकरण करके यथार्थ का निर्धारण वाक्यप्रवृत्तिनिरूपणरूप तर्क से ही किया जाता है । मनु ने भी कुछ तर्कों की प्रतिष्ठा मानी है । इसलिए उन्होंने कहा है कि 'प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध आगमरूपशास्त्र इन तीनों से जाना हुआ पदार्थ धर्मशुद्धि चाहने वालों के लिए सुविदित माना जाता है' 'जो भी व्यक्ति वेदशास्त्र विरोधी तर्क से आर्षवाक्य एवं धर्म उपदेश का अनुसन्धान करता है वही धर्म को समझता है, दूसरा नहीं ।' ऐसा कहने वाले मनु जी ने भी तर्क को आदर दिया है । इस प्रकार कुछ तर्कों को आदर देने वाले मनु ने भी कुछ तर्कों को अप्रतिष्ठित माना ही है जो तर्कों का भूषण है, दूषण नहीं । इसलिए दुष्ट तर्क का परित्याग कर निर्दुष्ट तर्क मानना चाहिए । हमारे पूर्वज मूर्ख थे, अतः हमको भी मूर्ख ही होना चाहिए ऐसा मानना प्रमाण नहीं है । अतः तर्काप्रतिष्टानदोष को दोष मानना उचित नहीं है ? सिद्धान्त-ऐसा कहने पर भी अविमोक्षप्रसंग बना ही रहेगा । यह ठीक है किसी-किसी विषय में तर्क की प्रतिष्ठा उपलक्षित होती है किन्तु जगत्कारण के विषय में अप्रतिष्ठितत्व दोष बने रहने के कारण उक्त दोष से शून्य नहीं मान सकते । जगत्कारण का निर्णय अतिगम्भीर है, क्योंकि जगत्कारण ब्रह्म का ज्ञान वेद को छोड़कर अन्य किसी प्रमाण से नहीं हो सकता, यह ज्ञान मुक्ति का साधन है । इसे आगम के बिना कल्पना से कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता । रूप, रसादि ब्रह्म

१. अप्रतिष्ठात्वदोषेण बद्धा एव न तर्क इति भावः ।

ममन्तरेणोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम् । रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनामिति चावोचाम । अपिच सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष इति सर्वेषां मोक्षवादिनामभ्युपगमः । तच्च सम्यग्ज्ञानमेकरूपं वस्तुतन्त्रत्वात् । एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः । लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमित्युच्यते यथाग्निरुष्ण इति । तत्रैवं सति सम्यग्ज्ञाने पुरुषाणां विप्रतिपत्तिरनुपपन्ना । तर्कज्ञानानां त्वन्योन्यविरोधात्प्रसिद्धा विप्रतिपत्तिः । यद्धि केनचित्तार्किकेणेदमेव सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपादितं तदपरेण व्युत्थाप्यते, तेनापि प्रतिष्ठापितं ततोऽपरेण व्युत्थाप्यत इति प्रसिद्धं लोके । कथमेकरूपानवस्थितविषयं तर्कप्रभवं सम्यग्ज्ञानं भवेत् । नच प्रधानवादी तर्कविदामुत्तम इति सर्वैस्तार्किकैः परिगृहीतो येन तदीयं मतं सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपद्येमहि । नच शक्यन्तेऽतीतानागतवर्तमानास्तार्किका एकस्मिन्देशे काले च समाहर्तुं येन तन्मतिरेकरूपैकार्थविषया सम्यङ्मतिरिति स्यात् । वेदस्य तु नित्यत्वे विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे च सति व्यवस्थितार्थविषयत्वोपपत्तेः । तज्जनितस्य ज्ञानस्य सम्यक्त्वमतीतानागतवर्तमानैः सर्वैरपि तार्किकैरपह्नोतुम-

---

मानागम्यत्वं दर्शयति–रूपादीति । अविमोक्षो मुक्त्यभाव इत्यर्थान्तरमाह–अपिचेत्यादिना । एकरूपवस्तुज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वेऽपि तर्कजन्यत्वं किं न स्यादित्यत आह—तत्रैवं सतीति । तर्कोत्थज्ञानानां मिथो विप्रतिपत्तेर्न सम्यग्ज्ञानत्वम् । सम्यग्ज्ञाने विप्रतिपत्त्ययोगादित्यर्थः । एकरूपेणानवस्थितो विषयो यस्य तत्तर्कप्रभवं कथं सम्यग्ज्ञानं भवेदिति योजना । ननु सांख्यस्य श्रेष्ठत्वात्तज्ज्ञानं सम्यगित्याशङ्क्य हेत्वसिद्धिमाह— नच प्रधानेति । ननु सर्वतार्किकैर्मिलित्वा निश्चिततर्कोत्था मतिर्मुक्तिहेतुरित्यत आह—नच शक्यन्त इति । तस्मात् तर्कोत्थज्ञानान्मुक्त्ययोगात् तर्केण वेदान्तसमन्वयबाधो न युक्तः,

---

में नही है अतः यह प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है, लिङ्गादि न रहने के कारण अनुमानादि का भी विषय नहीं है, ऐसा हम कह आये हैं। इसके अतिरिक्त तत्त्वज्ञान से मोक्ष मिलता है, इसे सभी मोक्षवादियों ने स्वीकारा है, वह तत्त्वज्ञान वस्तुतन्त्र होने के कारण एकरूप ही है। जो पदार्थ एकरूप से सदा स्थित रहता है, वह लोक में परमार्थ माना गया है और उसके ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं, जैसे अग्नि ऊष्ण है तो वह सदा ऊष्ण ही रहेगी और ऐसा समझना ही अग्नि का तत्त्वबोध है, इस तत्त्वज्ञान में पुरुषों का विवाद नहीं हो सकता किन्तु तर्कज्ञान तो परस्पर विरोधी होने के कारण उनमें विवाद प्रसिद्ध ही है । यदि किसी तार्किक ने **इदमेव सम्यग्ज्ञानम्** ऐसा बतलाया तो दूसरा तार्किक उसे उखाड़ फेंकता है और दूसरे ने किसी को प्रतिष्ठापित किया तो उसे तीसरा उखाड़ फेंकता है ऐसा लोक में प्रसिद्ध है। ऐसी स्थिति में जो विषय एकरूप से स्थित नहीं रहता उस विषय का तर्क से होने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान कैसे कहा जा सकता है । प्रधानवादी सांख्य सभी तार्किकों में मुख्य है ऐसा भी तो सभी तार्किकों ने स्वीकार नहीं किया, जिससे कि उनके मत को सम्यग्ज्ञान हम मान सकें और सभी तार्किकों में से किसी एक को मुख्य मानना यह सम्भव भी नहीं है, क्योंकि अतीत, अनागत और वर्तमानकाल में जितने तार्किक हैं सभी को एक देश और एक काल में कोई एकत्रित भी नहीं कर सकता, जिससे कि उनकी बुद्धि एक विषय में एकरूप सिद्ध हो सके, जो सम्यग्ज्ञान कहलाये। इससे विपरीत वेद के नित्य होने से और विज्ञान उत्पत्ति का कारण होने से वेद व्यवस्थित अर्थ को

४. शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् । (सू० १२)

(१४६) एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥१२॥

बाधोऽस्ति परमाण्वादिमतैर्नो वा यतः पटः ॥ न्यूनतन्तुभिरारब्धो दृष्टोऽतो बाध्यते मतैः ॥
शिष्टेष्टापि स्मृतिस्त्यक्ता शिष्टत्यक्तमतं किमु ॥ नातो बाधो विवर्ते तु न्यूनत्वनियमो नहि ॥

शक्यम् । अतः सिद्धमस्यैवौपनिषदस्य ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वम् । अतोऽन्यत्र सम्यग्ज्ञानत्वानुपपत्तेः संसाराविमोक्ष एव प्रसज्येत । अत आगमवशेनागमानुसारितर्कवशेन च चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेति स्थितम् ॥११॥

वैदिकस्य दर्शनस्य प्रत्यासन्नत्वाद्गुरुतरतर्कबलोपेतत्वाद्वेदानुसारिभिश्च कैश्चिच्छिष्टैः केनचिदंशेन परिगृहीतत्वात्प्रधानकारणवादं तावद्व्यपाश्रित्य यस्तर्कनिमित्त आक्षेपो

तद्बाधे सम्यग्ज्ञानालाभेनानिर्मोक्षप्रसङ्गादिति सूत्रांशार्थमुपसंहरति—अतोऽन्यत्रेति । **समन्वयस्य तर्केणाविरोधे फलितमधिकरणार्थमुपसंहरति**—अत आगमेति ॥११॥

ब्रह्म जगदुपादानमिति ब्रुवन् वेदान्तसमन्वयो विषयः । स किं यद्विभु तन्न द्रव्योपादानमिति वैशे-

---

बतलाता है, उस वेद वाक्य से उत्पन्न ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलायेगा, जिसका अपलाप अतीत, अनागत एवं वतमान सभी तार्किक कर नहीं सकते। अतः इस औपनिषद् ज्ञान में यथार्थज्ञानत्व सिद्ध हुआ और इससे भिन्न तर्कजन्यज्ञान में सस्यग्ज्ञानत्व सिद्ध न होने के कारण संसाराविमोक्षदोष आयेगा ही अर्थात् तर्कज्ञान से मोक्ष नहीं मिल सकता। अतः आगमप्रमाण के बल से और आगमानुसारी तर्क के बल से भी चेतन **ब्रह्म** जगत् का निमित्त एवं उपादानकारण है, यह **सिद्ध** हुआ ॥११॥

४. शिष्टापरिग्रहाधिकरण

१. **सङ्गति**—यहाँ पर प्रधानमल्लनिवर्हणन्याय से पूर्वोक्त न्याय का ही अतिदेश हुआ है। अतः पृथक् सङ्गति की अपेक्षा नहीं है।

२. **विषय**—यहां भी समन्वयविरोध ही विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—ब्रह्म को जगत् का उपादान बतलाने वाला समन्वय वैशेषिकादिसम्मत तर्कों के कारण विरुद्ध पड़ता है या नहीं?

४. **पूर्वपक्ष**— पटादि कार्य अपने से न्यूनतन्तुओं के द्वारा उत्पन्न होते देखा गया है। अतः वैशेषिकों के तर्कों के साथ ब्रह्मकारणवाद का विरोध है ही।

५. **सिद्धान्त**—किसी अंश में मन्वादि शिष्टों ने जिस स्मृति को माना था वह जब बाधित हो गयी तो भला सभी अंशों में शिष्टों से परित्यक्त वैशेषिकमत क्यों नहीं बाधित होगा। अतः ब्रह्मकारणवाद का वैशेषिक तर्क से बाध नहीं होता। आरम्भवाद में कारण की अपेक्षा कार्य का परिमाण महान् होता है और उसकी अपेक्षा कारण अल्पपरिमाण होता है, किन्तु विवर्तवाद में उक्त नियम लागू नहीं होता। अतः समन्वय वैशेषिक तर्कों से अविरुद्ध है।

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः (ललिता)

इससे पूर्व अधिकरणों में सांख्यों का ही खण्डन इसलिए किया गया, क्योंकि वह वैदिक दर्शन के समीपवर्ती है, गुरुतर तर्कबल से युक्त है और उनके प्रधानकारणवाद को वेदानुसारी कुछ शिष्ट-

वेदान्तवाक्येषूद्भावितः स परिहृतः। इदानीमण्वादिवादव्यपाश्रयेणापि कैश्चिन्मन्दमतिभिर्वेदान्तवाक्येषु पुनस्तर्कनिमित्त आक्षेप आशङ्क्यत इत्यतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनातिदिशति। परिगृह्यन्त इति परिग्रहाः न परिग्रहा अपरिग्रहाः शिष्टानामपरिग्रहाः शिष्टापरिग्रहाः। येतेन प्रकृतेन प्रधानकारणवादनिराकरणकारणेन शिष्टैर्मनुव्यासप्रभृतिभिः केनचिदंशेनापरिगृहीता येऽण्वादि कारणवादास्तेऽपि प्रतिसिद्धतया व्याख्याता निराकृता द्रष्टव्याः। तुल्यत्वान्निराकरणकारणस्य नात्र पुनराशङ्कितव्यं किंचिदस्ति। तुल्यमत्रापि परमगम्भीरस्य जगत्कारणस्य तर्कानवगाह्यत्वं तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वमन्यथानुमानेऽप्यविमोक्ष आगमविरोधश्चेत्येवंजातीयकं निराकरणकारणम् ॥१२॥

विकादिन्यायेन विरुध्यते न वेति संदेहे सांख्यवृद्धानां तर्काकुशलमतित्वेऽपि वैशेषिकादीनां तर्कमतिकुशलत्वप्रसिद्धेस्तदीयन्यायस्याबाधितत्वाद्विरुध्यत इति प्रत्युदाहरणेन 'प्राप्तेऽतिदिशति—एतेनेति। फलं पूर्ववत्। ननु सांख्यमतस्योपदेशस्तार्किकमतस्यातिदेशः किमिति कृतो वैपरीत्यस्यापि संभवादित्याशङ्क्य पूर्वोत्तराधिकरणयोरुपदेशातिदेशभावे कारणमाह—वैदिकस्येति। सत्कार्यत्वात्मासङ्गत्वस्वप्रकाशत्वाद्यंशैर्वेदान्तशास्त्रस्य प्रत्यासन्नः प्रधानवादः शिष्टैर्देवलादिभिः सत्कार्यत्वांशेन स्वीकृत इति प्रबलत्वादुपदेशः। अण्वादिवादानां निर्मूलत्वेन दुर्बलत्वादतिदेश इति भावः। किं निराकरणकारणमिति प्रष्टव्यं नास्तीत्याह—तुल्यत्वादिति। कारणमेवाह—तुल्यमिति। यदुक्तं विभुत्वान्न द्रव्योपादानं ब्रह्मेति, तत्र पक्षसाधकत्वेन श्रुतेरुपजीव्यत्वात्तया बाधः। महापरिमाणवत्त्वस्य सर्वसंयोगिकत्वरूपविभुत्वस्य निर्गुणे ब्रह्मण्यसिद्धेश्चेति द्रष्टव्यम्। अतः समन्वयस्य तार्किकन्यायेन न विरोध इति सिद्धम् ॥१२॥

पुरुषों ने भी किसी-किसी अंश में स्वीकारा है, इसीलिए प्रधानकारणवाद का आश्रयकर वेदान्तवाक्यों के ऊपर सांख्यों ने जो तर्कनिमित्तक आक्षेप उठाया था, उसका परिहार कर दिया गया। अब परमाण्वादिवाद का आश्रय लेकर कुछ मन्दबुद्धि तथाकथित दार्शनिकों ने जो वेदान्तवाक्यों के ऊपर तर्कनिमित्तक आक्षेप किया है उसका परिहार भी प्रधानमल्लनिबर्हणन्याय से हो गया मानना चाहिए। जो पदार्थ बड़े-बड़े ऋषियों ने स्वीकार नहीं किया है वे पदार्थ शिष्टापरिग्रह माने जाते हैं। परमाणुकारणवाद एवं असत्कार्यवादादि को देवलादि शिष्टों ने किसी भी अंश में स्वीकारा नहीं था, इसलिए वे शिष्टापरिग्रहीत पदार्थ प्रधानकारणवाद के निराकरण से भी निराकृत मानना चाहिए। मनु, व्यास आदि शिष्टों ने किसी भी अंश में परमाण्वादि कारणवाद को स्वीकारा नहीं है, जबकि प्रधानकारणवाद को किसी अंश में स्वीकारा था। जब सांख्यों के प्रधानकारणवाद का ही निराकरण हो गया तब मनु, व्यासादि के द्वारा किसी भी अंश में न स्वीकार किये गये परमाण्वादिवाद के निराकरण में तो कहना ही क्या है। अर्थात् इनके निराकरणकारण के सम्बन्ध में कोई शङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि निराकरण के हेतु समान ही हैं। परमाण्वादि कारणवाद में भी परमगम्भीर जगत्कारण तो तर्कानवग्राह्य है, तर्क की अवधि भी नहीं है अन्यथा अनुमान करने पर मोक्ष से हाथ धोना पड़ेगा और आगमविरोध भी आयेगा। ये सभी कारण परमाण्वादिकारणवाद निराकरण के लिए पर्याप्त हैं। अतः निराकरणकारण के समान होने से ही सांख्यों के प्रधानकारणवाद की भाँति उनसे भिन्न परमाण्वादिकारणवाद भी निराकृत मानना चाहिए ॥ १२ ॥

१. पूर्वं पक्ष इति शेषः।

५. भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् । (सू० १३)

(१४७) भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥१३॥

अद्वैतं बाध्यते नो वा भोक्तृभोग्यविभेदतः ॥ प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धो भेदोऽसावन्यबाधकः ॥
तरङ्गफेनभेदेऽपि समुद्रेऽभेद इष्यते ॥ भोक्तृभोग्यविभेदेऽपि ब्रह्माद्वैतं तथास्तु तत् ॥

अन्यथा पुनर्ब्रह्मकारणवादस्तर्कबलेनैवाक्षिप्यते । यद्यपि श्रुतिः प्रमाणं स्वविषये भवति तथापि प्रमाणान्तरेण विषयापहारेऽन्यपरा भवितुमर्हति । यथा मन्त्रार्थवादौ । तर्कोऽपि

अद्वितीयाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गाविवादी वेदान्तसमन्वयो विषयः । स किं यन्मिथो भिन्नं तन्नाद्वितीयकारणाभिन्नं यथा मृत्तन्तुजौ घटपटाविति तर्कसहितभेदप्रत्यक्षादिना विरुध्यते न वेति सदेहे ब्रह्मणि तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वेऽपि जगद्भेदे प्रतिष्ठितत्वाद्विरुध्यत इति पूर्वपक्षयति—भोक्त्रापत्तेरिति । विरोधाद्वैतासिद्धिः पूर्वपक्षफलं, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः । अनपेक्षश्रुत्या स्वार्थनिर्णयात्तर्केणाक्षेपो न युक्त इत्युक्तमिति शङ्कते—यद्यपीति । मानान्तरायोग्य[1]श्रुत्यर्थे भवत्यनाक्षेपः । यस्त्वद्वितीयब्रह्माभेदाद्भूजलादीनामभेदो ब्रह्मोपादानकत्वश्रुतिविषयः स 'आदित्यो यूपः' इत्यर्थवादार्थवन्मानान्तरयोग्य एवेति द्वैतप्रमाणैरपह्रियत इति समाधत्ते—तथापीति । अन्यपरत्वं गौणार्थकत्वम् । [2]स्वविषये जगद्भेदे तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वात्तेनाक्षेप इत्याह—तर्कोऽपीति । तर्कादिद्वैते प्रामाण्येऽपि ततः समन्वयविरोधे

---

५. भोक्त्रापत्त्यधिकरणम्

१. **संगति**—मान लिया कि ब्रह्म के विषय में तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है फिर भी भोक्ता-भोग्य आदि जगत् के सम्बन्ध में प्रत्यक्षप्रमाण प्रतिष्ठित होने के कारण प्रथमाध्यायोक्त समन्वय विरुद्ध पड़ रहा है, ऐसा प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. **विषय**—समन्वय में प्रत्यक्षविरोध इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—अद्वयब्रह्म से जगत्सृष्टि बतलाने वाला समन्वय विरुद्ध पड़ता है, या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—अद्वितीय ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानने पर भोक्ता-भोग्य आदि प्रपञ्च ब्रह्म से अभिन्न हो जायंगे, फिर तो भोक्ता, भोग्य और भोग्यविषय भोक्ता होने लग जायेगा तथा प्रत्यक्ष सिद्ध परस्पर विभाग अस्त-व्यस्त हो जायेगा ।

५. **सिद्धान्त**—अद्वितीय ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानने पर भी प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध भोक्ता-भोग्यादि विभाग व्यवस्थित रहेगा । जिस प्रकार समुद्र के विकार वीचि, तरंगादि का समुद्ररूप से अभेद है और वीचि इत्यादि रूप से देखने पर परस्पर भेद है, वैसा ही भोक्ता, भोग्यादि प्रपञ्च में कल्पित भेद मानने पर भी अद्वयब्रह्मरूप से अद्वैतसिद्धान्त में बाधा नहीं आयेगी ।

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् (ललिता)

ब्रह्मकारणवाद पर तर्क द्वारा पुनः आक्षेप उठाते हैं । पूर्वपक्ष का कहना है कि यद्यपि केवलाद्वैत ब्रह्मतत्त्व का बोध कराने में श्रुति प्रमाण है फिर भी प्रत्यक्ष एवं तर्क आदि प्रमाण से जब श्रुति के विषय अद्वैत का अपहार हो जाता है तो ऐसी स्थिति में आपाततः अद्वैतबोधक श्रुति को अन्यपरक मानना पड़ेगा । जैसे मन्त्र और अर्थवादवाक्यों का तात्पर्य स्वार्थबोधन में नहीं है, वैसे ही अद्वैतश्रुति का तात्पर्य भी स्वार्थ में नहीं है । तर्क का विषय जगद्भेद है, भले ही उसके बतलाने में तर्क की प्रतिष्ठा

---

१. ब्रह्मणि । २. तस्मिन विषये ।

स्वविषयादन्यत्राप्रतिष्ठितः स्यात् । यथा धर्माधर्मयोः । किमतो यद्येवम् । अत इदमयुक्तं यत्प्रमाणान्तरप्रसिद्धार्थबाधनं श्रुतेः । कथं पुनः प्रमाणान्तरप्रसिद्धोऽर्थः श्रुत्या बाध्यत इति । अत्रोच्यते—प्रसिद्धो ह्ययं भोक्तृभोग्यविभागो लोके भोक्ता चेतनः शारीरो भोग्याः शब्दादयो विषया इति । यथा भोक्ता देवदत्तो भोज्य ओदन इति । तस्य च विभागस्याभावः प्रसज्येत यदि भोक्ता भोग्यभावमापद्येत । भोग्यं वा भोक्तृभावमापद्येत । तयोश्चेतरेतरभावापत्तिः परम कारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वात्प्रसज्येत । न चास्य प्रसिद्धस्य विभागस्य बाधनं युक्तम् । यथा त्वद्यत्वे भोक्तृभोग्ययोर्विभागो दृष्टस्तथातीतानागतयोरपि कल्पयितव्यः । तस्मात्प्रसिद्धस्यास्य भोक्तृभोग्यविभागस्याभावप्रसङ्गादयुक्तमिदं ब्रह्मकारणतावधारणमिति चेत्कश्चिच्चोदयेत्तं प्रतिब्रूयात्—स्याल्लोकवदिति । उपपद्यत एवायमस्मत्पक्षेऽपि विभागः । एवं लोके दृष्टत्वात् । तथाहि—समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरङ्गबुद्बुदादीनामितरेतरविभाग इतरेतरसंश्लेषादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते ।

किमायातमिति शङ्कते—किमत इति । पूर्वपक्षी समाधत्ते—अत इति । तर्कादेः प्रामाण्यात् द्वैतबाधकत्वं श्रुतेरयुक्तमित्यद्वैतसमन्वयबाधो युक्त इत्यर्थः । इममर्थं शङ्कापूर्वकं स्फुटयति—कथमित्यादिना । ननु भोक्तृभोग्ययोर्मिथ एकत्वं केनोक्तमित्याशङ्क्य श्रुतार्थापत्त्येत्याह–तयोश्चेति । [1]तयोरेकब्रह्माभेदश्रवणादेकत्वं कल्प्यते, [2]एकस्मादभिन्नयो[3]र्भेदे एकस्यापि भेदापत्तेः । ततश्च भेदो बाध्येतेत्यर्थः । इष्टापत्तिं वारयति । न चास्येति । श्रुतेर्गौणार्थत्वेन सावकाशत्वान्निरवकाशद्वैतमानबाधो न युक्त इत्यर्थः । ननु विभागस्याधुनिकत्वादनाद्यद्वैतश्रुत्या बाध इत्यत आह—यथेति । अतीतानागतकालौ भोक्त्रादिविभागाश्रयौ, कालत्वात्, वर्तमानकालवदित्यनुमानाद्विभागोऽनाद्यनन्त इत्यर्थः । एवं प्राप्ते परिणामदृष्टान्तेनापाततः सिद्धान्तमाह—स्याल्लोकवदिति ।

है किन्तु उससे भिन्न धर्म और अधर्म के सम्बन्ध में तर्कों की गति नहीं है । इससे द्वैतवादी सांख्य के कथन का तात्पर्य यह है कि जो भेद प्रमाणान्तर से प्रसिद्ध है उसे श्रुति कैसे बाध सकती है । लोक में चेतन जीवात्मा भोक्ता और शब्दादि विषय भोग्य प्रसिद्ध हैं, जैसे देवदत्त भोक्ता है और ओदन भोज्य है यह प्रत्यक्ष से सिद्ध है । इस स्थिति में यदि अद्वैत को माना जाय तो इस प्रसिद्ध भेद का अभाव होने लग जायेगा । यदि भोक्ता भोग्यभाव को प्राप्त कर जाय और भोग्य भोक्ता बन जाय तो उन दोनों भोग्य और भोक्ता में इतरेतरभाव की प्राप्ति होने लग जायेगी क्योंकि वेदान्ती ने परमकारण ब्रह्म से इन सबको अभिन्न माना है । किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध इस विभाग का बाध करना उचित नहीं है और जैसे आज भोक्ता एवं भोग्य में विभाग देखा जाता है, वैसे ही अतीत में भी इनका विभाग था और अनागत में भी रहेगा, ऐसी कल्पना करनी चाहिए । अतः इस प्रसिद्ध भोक्ता एवं भोग्य के विभाग का अभाव होने लग जायेगा इसीलिए ब्रह्मकारणता का अवधारण असंगत है ? ऐसी शङ्का जब पूर्वपक्ष से उठायी गयी, तो उसका प्रत्युत्तर सिद्धान्त की ओर से दिया जाता है कि हमारे वेदान्तपक्ष में भी विभाग बना रहेगा इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं है । समुद्र के विकार वीचि, तरंग बुदबुद, फेनादि का जलरूप समुद्र के साथ अभेद रहने पर भी उनका परस्पर विभाग रहता ही है और फेन आदि का परस्पर संश्लेषादिरूप व्यवहार भी दिखायी पड़ता है ।

१. तवमते इतिशेषः । २. भोक्तृभोग्ययोरेकत्वं कल्प्यत इति सम्बन्धः परस्परमिति शेषः । ३. कारणात् । ४. परस्परम् ।

६. आरम्भणाधिकरणम् । (सू० १४–२०)

भेदाभेदौ तात्त्विकौ स्तो यदि वा व्यावहारिकौ ।। समुद्रादाविव तयोर्बाधाभावेन तात्त्विकौ ।।
बाधितौ श्रुतियुक्तिभ्यां तावेतौ व्यावहारिकौ । कार्यस्य कारणाभेदादद्वैतं ब्रह्म तात्त्विकम् ।।

नच समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनतरङ्गादीनामितरेतरभावापत्तिर्भवति । नच तेषामितरेतरभावानापत्तावपि समुद्रात्मनोऽनन्यत्वं भवति । एवमिहापि नच भोक्तृभोग्ययोरितरेतरभावापत्तिः, नच परस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्वं भविष्यति । यद्यपि भोक्ता न ब्रह्मणो विकारः 'तत्सृष्टवा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २-६) इति स्रष्टुरेवाविकृतस्य कार्यानुप्रवेशेन भोक्तृत्वश्रवणात्, तथापि कार्यमनुप्रविष्टस्यास्त्युपाधिनिमित्तो विभाग आकाशस्येव घटाद्युपाधिनिमित्त इत्यतः परमकारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वेऽप्युपपद्यते भोक्तृभोग्यलक्षणो विभागः समुद्रतरङ्गादिन्यायेनेत्युक्तम् ।।१३।।

दृष्टान्तेऽपि कथमेकसमुद्राभिन्नानां परिणामानां मिथो भेदः, कथं वा तेषां भेदे सत्येकस्मादभिन्नत्वमित्याशङ्क्य न हि दृष्टेऽनुपपत्तिरिति न्यायेनाह—नचेति । एवं भोक्तृभोग्ययोर्मिथो भेदो ब्रह्माभेदश्चेत्याह—एवमिहेति । जीवस्य ब्रह्मविकारत्वाभावाद्दृष्टान्तवैषम्यमिति शङ्कते—यद्यपीति । औपाधिकं जन्मास्तीति तरङ्गादिसाम्यमाह—तथापीति । विभागो जन्म । यद्वा तथापीतिशब्देनैवोक्तः परिहारः । ननु भोक्तुः प्रतिदेहं विभागः कथमित्यत आह—कार्यमनुप्रविष्टस्येति । औपाधिकविभागे फलितमुपसंहरति—इत्यत इति । एकब्रह्माभिन्नत्वेऽपि भोक्त्रादेस्तरङ्गादिवद्भेदाङ्गीकारान्न द्वैतमानेनाद्वैतसमन्वयस्य विरोध इत्यर्थः ।।१३।।

जलात्मक समुद्र से उनके विकार फेन, तरंग आदि का अभेद रहने पर भी उनमें परस्पर अभेद नहीं होता है, वैसे ही फेन, तरंगादि का इतरेतरभाव न होने पर भी समुद्र से उनका भिन्नत्व सिद्ध नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार भोक्ता और भोग्य में भी इतरेतरभावापत्ति नहीं होगी। परब्रह्म से भिन्न न भोक्ता है और न भोग्य ही है। यद्यपि भोक्ता जीव ब्रह्म का कार्य नहीं है क्योंकि 'जगत् की रचनाकर वह ब्रह्म ही उसमें प्रविष्ट हो गया' इस वाक्य द्वारा अविकृत स्रष्टा का ही कार्य में प्रवेशकर भोक्तृत्व सुना जाता है तथापि कार्यानुप्रविष्ट चेतन में कार्य उपाधि के कारण विभाग तो मानना ही पड़ेगा। जैसे महाकाश एक है किन्तु घटादि उपाधि के कारण घटाकाश, महाकाश में भेद माना जाता है। अतः परमकारण ब्रह्म से अभिन्न होता हुआ भी भोक्ता एवं भोग्यरूप विभाग वैसे ही बना रहेगा, जैसे समुद्र के साथ फेन, तरंगादि का अभेद होते हुए भी उनका परस्पर विभाग रहता ही है और ऐसा मानने में आपत्ति नहीं है। इसीलिए द्वैतबोधक प्रमाण के साथ अद्वैत समन्वय का कोई विरोध नहीं है, यह अर्थ निश्चित हुआ ।।१३।।

६. आरम्भणाधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में परिणामवाद का आश्रय लेकर 'स्याल्लोकवत्' (   ) इस वाक्य द्वारा अवान्तर समाधान दिया गया था, अब विवर्तवाद के आश्रित मुख्यसमाधान दिया जाता है। अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की एकफलकत्व संगति है।

२. विषय—इस अधिकरण का भी समन्वय में प्रत्यक्ष विरोध ही विचारणीय विषय है।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥१४॥

अभ्युपगम्य चेमं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षणं विभागं स्याल्लोकवदिति परिहारोऽभिहितः। न त्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति यस्मात्तयोः कार्यकारणयोरनन्यत्वमवगम्यते। कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परंब्रह्म, तस्मात्कारणात्परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते। कुतः? आरम्भणशब्दादिभ्यः। आरम्भणशब्दस्तावत् एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तापेक्षायामुच्यते—'तथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६-१-१) इति। एतदुक्तं भवति—एकेन मृत्पिण्डेन

पूर्वस्मिन्नेव पूर्वपक्षे विवर्तवादेन मुख्यं समाधानमाह—तदनन्यत्वमिति। समानविषयत्वं संगतिवदनुभयोः परिहारयोः परिणामविवर्ताश्रयत्वेनार्थभेदमाह—अभ्युपगम्येति। प्रत्यक्षादीनामौत्सर्गिकप्रामाण्यमङ्गीकृत्य स्थूलबुद्धिसमाधानार्थं परिणामदृष्टान्तेन भेदाभेदावुक्तौ, संप्रत्यङ्गीकृतं प्रामाण्यं तत्त्वावेदकत्वात्प्रच्याव्य व्यावहारिकत्वे स्थाप्यते, तथाच मिथ्याद्वैतग्राहिप्रमाणं रद्वैतश्रुतेर्न बाधः, बकस्यां रज्ज्वां दण्डस्रगादिद्वैतदर्शनादित्ययं मुख्यः परिहार इति भावः। एवमद्वैतसमन्वयस्याविरोधार्थं द्वैतस्य मिथ्यात्वं साधयति—यस्मात्तयोरिति। स्वरूपैक्ये कार्यकारणत्वव्याघात इत्यत आह—व्यतिरेकेणेति। कारणात्पृथक्सत्त्वशून्यत्वं कार्यस्य साध्यते नैक्यमित्यर्थः। वागारभ्यं नाममात्रं विकारो न कारणात्पृथगस्तीत्येवकारार्थ इति श्रुतिं योजयति—एतदुक्तमिति। आरम्भणशब्दार्था-

---

३ संशय—अद्वैत ब्रह्म बतलाने वाला समन्वय भेदग्राहीप्रत्यक्ष से विरुद्ध पड़ता है या नहीं, अर्थात् भेदाभेद तात्त्विक है अथवा व्यावहारिक है?

४ पूर्वपक्ष—जिस प्रकार समुद्रादि में तात्त्विक भेदाभेद मानने पर कोई बाधा नहीं है वैसे ही अद्वय ब्रह्म में भी तात्त्विक भेद मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—श्रुति एवं युक्ति से भेद बाधित हो जाने के कारण व्यावहारिक मानना चाहिए, किन्तु कार्यजगत् का अपने कारण ब्रह्म के साथ अभेद मानने पर अद्वयब्रह्म तात्त्विक सिद्ध होता है। अतः व्यवहारिक भेद और तात्विक अभेद मानने पर कोई विरोध नहीं है।

तदनन्यत्वमारम्भशब्दादिभ्य (ललिता)

निखिल जगत् का उपादानकारण ब्रह्म को मानने पर भाक्ता और भोग्य में अभिन्नत्व आने लग जायेगा, इस शङ्का का समाधान परिणामवाद के आधार पर किया गया था। अब मुख्य समाधान विवतवाद के आधार पर इस अधिकरण द्वारा किया जाता है। इस भोक्ता-भोग्यरूप विभाग को व्यावहारिक मानकर पिछले सूत्र के '**स्याल्लोकवत्**' इस अंश से परिहार किया गया था किन्तु यह विभाग परमार्थतः नहीं है क्योंकि कार्य एवं कारण का अनन्यत्व जान पड़ता है। आकाशादि विस्तृत जगत्कार्य है जिसका कारण परब्रह्म है, यह कार्य अपने कारण ब्रह्म से परमार्थतः अभिन्न है। कारण से कार्य को पृथक् करके नहीं देखा जा सकता इसमें '**आरम्भण शब्दादिभ्यः**' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञाकर दृष्टान्त की अपेक्षा होने पर वहाँ कहा गया है 'हे सोम्य! जैसे एक मृत्पिण्ड को जान लेने से मृत्तिका के समस्त कार्य विज्ञात हो जाते हैं क्योंकि कार्य नाममात्र वाणी से कहने योग्य है, सत्य तो मिट्टी ही है। तात्पर्य यह है कि परमार्थतः मृत्तिकारूप एक पिण्ड

परमार्थतो मृदात्मना विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं घटशरावोदञ्चनादिकं मृदात्मकत्वाविशेषाद्विज्ञातं भवेत्। यतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयं वाचैव केवलमस्तीत्यारभ्यते। विकारो घटः शराव उदञ्चनं चेति। न तु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति। नामधेयमात्रं ह्येतदनृतं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति। एष ब्रह्मणो दृष्टान्त आम्नातः। तत्र श्रुताद्वाचारम्भणशब्दाद्दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्यजातस्याभाव इति गम्यते। पुनश्च तेजोबन्नानां ब्रह्मकार्यतामुक्त्वा तेजोबन्नकार्याणां तेजोबन्नव्यतिरेकेणाभावं ब्रवीति—'अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (छा० ६-४-१) इत्यादिना। आरम्भणशब्दादिभ्य इत्यादिशब्दात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २-४-६), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (मु० २-२-११), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७-२५-२), 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० ४-४-१९) इत्येवमाद्यप्यात्मैकत्वप्रतिपादनपरं वचनजातमुदाहर्तव्यम्। न चान्यथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं सम्पद्यते। तस्माद्यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वं, यथा च मृगतृष्णिकोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्स्वरूपेणानुपाख्यत्वात्, एव-

---

पुनश्चेति। अपागादग्नित्वमपगतं कारणमात्रत्वात्। त्रीणि तेजोऽबन्नानां रूपाणि रूपतन्मात्रात्मकानि सत्यम्। तेषामपि सन्मात्रत्वात्सदेवशिष्यत इत्यभिप्रायः। जीवजगतोर्ब्रह्मान्यत्वे प्रतिज्ञाबाध इत्याह—न चान्यथेति। तयोरनन्यत्वे क्रमेण दृष्टान्तावाह—तस्माद्यथेति। प्रतिज्ञाबलादित्यर्थः। दृष्टं प्रातीतिकं

जान लेने से घट, कसोरा और छोटे-छोटे जलाहरण के लिए मृत्पात्र जो मिट्टी के कार्य हैं सब में मृदात्मत्व तो समान ही है, इसीलिए वे विज्ञात हो जाते हैं, क्योंकि कार्य वाणी से कहनेमात्र के लिए है कि यह घट है, यह कसोरा है, यह छोटा जलपात्र है। नामधेयमात्र का अर्थ होता है मिथ्या, वहाँ पर सत्य केवल मिट्टी ही है। जगत् के उपादानकारण अद्वयब्रह्म को बतलाने के लिए श्रुति ने यह दृष्टान्त दिया है। इस वाचारम्भण सुने गये शब्द से दार्ष्टान्तिक में ब्रह्म से भिन्न कार्यजगत का अभाव ही समझा जाता है। ऐसी प्रतिज्ञा के बाद तेज, जल और पृथ्वी को ब्रह्म का कार्य कहा है, ये कार्य भी अपनी तन्मात्रा से पृथक् अस्तित्व नहीं रखते हैं। इन्हें अपनी तन्मात्रओं से पृथक् कर देखने पर सत्ताशून्य हो जायेंगे, इसीलिए 'अग्नि का अग्नित्व समाप्त हो जाता है यदि तन्मात्रा से उसे पृथक्कर देखा जाय तो। ये तीनों भूत अपनी मात्रास्वरूप ही तो हैं, जो कार्य की अपेक्षा सत्य हैं।' इत्यादि श्रुतिवाक्य से कहा गया है। सूत्र में आये हुए **आरम्भण शब्दादिभ्यः**' इस वाक्य में जो 'आदि' शब्द है उससे 'यह सब आत्मा से अभिन्न है' 'वह सत्य है वह आत्मा है वह तू है' 'यह सब जो भी है सब आत्मा ही है' 'इस ब्रह्म में नाना कुछ नहीं है' इत्यादि श्रुतियों को ग्रहण कर लेना चाहिए। ये सब श्रुतियाँ भी आत्मैकत्वबोधक हैं। अतः इन्हें भी उदाहरण के रूप में यहाँ पर रखना चाहिए। जीव और जगत् को ब्रह्म से भिन्न मानने पर एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं हो सकेगी। अतः जैसे घटाकाश, करकाकाशादि महाकाश से अभिन्न है और जैसे मृगजल ऊसर आदि से अभिन्न है, क्योंकि देखते-देखते नष्ट हो जाता है स्वरूपतः सत्ता-स्फूर्तिशून्य है, ठीक ऐसे ही इस

मस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव इति द्रष्टव्यम् ।

नन्वनेकात्मकं ब्रह्म, यथा वृक्षोऽनेकशाख एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म । अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव । यथा वृक्ष इत्येकत्वं शाखा इति नानात्वम् । यथा च समुद्रात्मनैकत्वं फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वम् । यथा च मृदात्मनैकत्वं घटशरावाद्यात्मना नानात्वम् । तत्रैकत्वांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति । नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लौकिकवैदिकव्यवहारौ सेत्स्यत इति । एवं च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति । नैवं स्यात् । 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात् । वाचारम्भणशब्देन च विकारजातस्यानृतत्वाभिधानात् । दार्ष्टान्तिकेऽपि 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' इति च परमकारणस्यैवैकस्य सत्यत्वावधारणात् । 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति च शारीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात् । स्वयं प्रसिद्धं ह्येतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते न यत्नान्तरप्रसाध्यम् । अतश्चेदं शास्त्रीयं

नष्टमनित्यं यत्स्वरूपं तद्रूपेणानुपाख्यत्वात्सत्तास्फूर्तिशून्यत्वादनन्यत्वमिति सम्बन्धः ।

शुद्धाद्वैतं स्वमतमुक्त्वा भेदाभेदमतमुत्थापयति—नन्विति । अनेकाभिः शक्तिभिस्तदधीनप्रवृत्तिभिः परिणामैर्युक्तमित्यर्थः । भेदाभेदमते सर्वव्यवस्थासिद्धिरत्यन्ताभेदे द्वैतमानबाध इत्यभिमन्यमानो दूषयति—नैवं स्यादिति । एवकारवाचारम्भणशब्दाभ्यां विकारसत्तानिषेधात्परिणामवादः श्रुतिबाह्य इत्यर्थः । किंच संसारस्य सत्यत्वे तद्विशिष्टस्य जीवस्य ब्रह्मैक्योपदेशो न स्याद्विरोधादित्याह—स आत्मेति । एकत्वं ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्यमित्युपदेशार्थमित्याशङ्क्य असीति पदविरोधान्मैवमित्याह—स्वयमिति । अतस्तत्त्वज्ञानबाध्यत्वात्संसारित्वं मिथ्येत्याह—अतश्चेति । स्वतः सिद्धोपदेशादित्यर्थः ।

भोग्य-भोक्त्रादि प्रपञ्च का भी ब्रह्म से पृथक् करने पर अभाव ही दीख पड़ेगा अर्थात् उनमें सत्ता-स्फूर्तिशून्यत्व आ जायेगा ।

शङ्का—जैसे वृक्ष अनेक शाखावाला माना जाता है ऐसे ही ब्रह्म भी अनेकात्मक है, वह अनेक-शक्ति, तद्अधीन प्रवृत्ति, परिणामादि से युक्त है । अतः ब्रह्म में एकत्व और नानात्व दोनों ही धर्म पारमार्थिक हैं । जैसे वृक्ष अपनी दृष्टि से एक है किन्तु शाखा की दृष्टि से नाना है, जैसे समुद्र जलरूप से एक है किन्तु फेन तरंगादिरूप से नाना है और जैसे मृतिकारूप से मिट्टी एक किन्तु घटादिरूप से नाना मानी जाती है, ऐसे ही ब्रह्म को भी भेदाभेद दृष्टि से एकत्व तथा नानात्व उभयधर्मवाला मानना चाहिए । इनमें एकत्वांस के ज्ञान से मोक्षव्यवहार सिद्ध होता है और नानत्व अंश से कर्मकाण्ड के आश्रित लौकिक, वैदिक समस्त व्यवहार सिद्ध होते हैं । इस प्रकार भेदाभेद मानने पर मृदादि दृष्टान्त भी अनुकूल हो जायेंगे । अत्यन्त अभेद मानने पर द्वैत प्रमाण का बाध होने लग जायेगा ? समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं "मृत्तिका ही सत्य है" इस वाक्य के द्वारा दृष्टान्त में प्रकृति मात्र को सत्य बतलाया है और वाचारम्भ शब्द से विकारसमुदाय को अनृत कहा है, ऐसी स्थिति में दार्ष्टान्तिक में भी इस चेतन के साथ तादात्म्य हुआ यह सम्पूर्ण जगत् है, वह कारण ब्रह्म सत्य है' इन वाक्यों के द्वारा केवल परमकारण ब्रह्म को ही सत्य कहा गया है । 'हे श्वेतकेतु ! वह आत्मा है, वह तू है' इस वाक्य के द्वारा शारीर जीव में ही ब्रह्मत्व का उपदेश है क्योंकि ब्रह्मात्मत्व यत्न साध्य नहीं है अतः स्वतःसिद्ध उपदेश महावाक्य से किया है, वह ब्रह्मात्मत्व यत्नसाध्य नहीं है ।

ब्रह्मात्मत्वमवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरात्मत्वस्य बाधकं सम्पद्यते, रज्ज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनाम् । बाधिते च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति यत्प्रसिद्धये नानात्वांशोऽपरो ब्रह्मणः कल्प्येत । दर्शयति च—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४-५-१५) इत्यादिना ब्रह्मात्मत्वदर्शिनं प्रति समस्तस्य क्रियाकारकफललक्षणस्य व्यवहारस्याभावम् । न चायं व्यवहाराभावोऽवस्थाविशेषनिबद्धोऽभिधीयत इति युक्तं वक्तुम्, 'तत्त्वमसि' इति ब्रह्मात्मभावस्यानवस्थाविशेषनिबन्धनत्वात् । तस्करदृष्टान्तेन चानृताभिसन्धस्यबन्धनं सत्याभिसन्धस्य च मोक्षं दर्शयन्नेकत्वमेवैकं पारमार्थिकं दर्शयति (छा० ६-१६) । मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम् । उभयसत्यतायां हि कथं व्यवहारगोचरोऽपि जन्तुरनृताभिसन्ध इत्युच्यते । 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९) इति च

यदुक्तं व्यवहारार्थं नानात्वं सत्यमिति, तत्किं ज्ञानादूर्ध्वं व्यवहारार्थं प्राग्वा । नाद्य इत्याह—बाधिते चेति । स्वभावोऽत्राविद्या तया कृतः स्वाभाविकः । ज्ञानादूर्ध्वं प्रमातृत्वादिव्यवहारस्याभावान्नानात्वं न कल्प्यमित्यर्थः न द्वितीयः, ज्ञानात्प्राक्कल्पितनानात्वेन व्यवहारोपपत्तौ नानात्वस्य सत्यत्वासिद्धेः । यत्तु प्रमातृत्वादिव्यवहारः सत्य एव मोक्षावस्थायां निवर्तत इति, तत्रेत्याह—न चायमिति । संसारसत्यत्वे तदवस्थायां जीवस्य ब्रह्मत्वं न स्यात्, भेदाभेदयोरेकदैकत्र विरोधात् । अतोऽसंसारिब्रह्माभेदस्य सदातनत्वावगमात्संसारोऽपि मिथ्यैवेत्यर्थः । किंच यथा लोके कश्चित् तस्करबुद्ध्या भटगृहीतोऽनृतवादी चेत्तप्तपरशुं गृह्णाति सदह्यते बध्यते च, तथा नानात्ववादी दह्यते सत्यवादी चेन्न दह्यते मुच्यते च । तथैतदात्म्यमिदं सर्वमित्येकत्वदर्शी मुच्यत इति श्रुतदृष्टान्तेनैकत्वं सत्यं, नानात्वं मिथ्येत्याह—तस्करेति । व्यवहारगोचरो नानात्वव्यवहाराश्रयः । नानात्वनिन्दयाप्येकत्वमेव सत्यमित्याह—मृत्योरिति । किंचास्मिन्भेदाभेदमते जीवस्य ब्रह्माभेदज्ञानद्भेदज्ञानानिवृत्तेर्मुक्तिरिष्टा

अतः स्वतःसिद्ध उपदेश के कारण शास्त्रैकगम्य ब्रह्मात्मत्व जो जीव माना है वह आविद्यक शरीरात्मत्व का बाधक है, जैसे इयं रज्जुः इत्यादि अधिष्ठानज्ञान सर्पादि बुद्धि का बाधक है, ऐसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ब्रह्मैक्यज्ञान अविद्याजनित आध्यासिक जीवभाव का बाधक है । शरीरात्मत्व के बाधित हो जाने पर तदाश्रित आविद्यक समस्त व्यवहार भी बाधित हो जाता है, जिसकी प्रसिद्धि के लिए ब्रह्म के दूसरे नानात्व अंश की कल्पना आप करना चाहते हैं । श्रुति ने भी 'जिस विद्यादशा में इस ज्ञानी का सब कुछ आत्मा ही हो गया उस समय कौन किससे किसको देखेगा' इत्यादि वाक्य के द्वारा ब्रह्मात्मतत्त्वदर्शी के लिए क्रिया, कारक एवं फलरूप समस्त व्यवहार का अभाव ही बतलाया है । यदि कहो कि यह व्यवहाराभाव अवस्थाविशेष से सम्बद्ध ही कहा गया है जो सदा सम्भव नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'तत्त्वमसि' इस वाक्य से ब्रह्मात्मभाव का उपदेश किसी अवस्थाविशेष के लिए नहीं बतलाया गया है, वह तो जीव का पारमार्थिक स्वरूप है । तस्कर के दृष्टान्त से अनृताभिसन्धि को बन्धन और सत्याभिसन्धि को मोक्ष बतलाते हुए केवल एकत्व को ही पारमार्थिक कहा है, नानात्व तो मिथ्याज्ञान विजृम्भित है, क्योंकि दोनों को सत्य मानने पर व्यवहारविषय जीव अनृताभिसन्ध कैसे कहा जा सकता है अर्थात् जब एकत्व और नानात्व दोनों ही सत्य हैं तो व्यवहारदशा में द्वैत मानने वाले को अनृताभिसन्ध नहीं कह सकते । 'जो इस ब्रह्म में भेद जैसा देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है' इस

भेददृष्टिमपवदन्नेवं तद्दर्शयति । न चास्मिन्दर्शने ज्ञानान्मोक्ष इत्युपपद्यते, सम्यग्ज्ञानापनोद्यस्य कस्यचिन्मिथ्याज्ञानस्य संसारकारणत्वेनानभ्युपगमात् । उभयसत्यतायां हि कथमेकत्वज्ञानेन नानात्वज्ञानमपनुद्यत इत्युच्यते ।

नन्वेकत्वैकान्ताभ्युपगमे नानात्वाभावात्प्रत्यक्षादीनि लौकिकानि प्रमाणानि व्याहन्येरन्निर्विषयत्वात्, स्थाण्वादिष्विव पुरुषादिज्ञानानि । तथा विधिप्रतिषेधशास्त्रमपि भेदापेक्षत्वात्तदभावे व्याहन्येत, मोक्षशास्त्रस्यापि शिष्यशासित्रादिभेदापेक्षत्वात्तदभावे

सा न युक्ता, भेदज्ञानस्य भ्रमत्वानभ्युपगमात्, प्रमायाः प्रमान्तराबाध्यत्वादित्याह—न चास्मिन्निति । वंपरीत्यस्यापि सम्भवादिति भावः ।

इदानीं प्रत्यक्षादिप्रामाण्यान्यथानुपपत्त्या नानात्वस्य सत्यत्वमिति पूर्वपक्षबीजमुद्घाटयति —नन्वित्यादिना । एकत्वस्यैकान्तः कैवल्यम् । व्याहन्येरन्नप्रमाणानि स्युः । उपजीव्यप्रत्यक्षादिप्रामा-

---

वाक्य के द्वारा भेददृष्टि की निन्दा करते हुए एकत्व को सत्य और नानत्व को मिथ्या ही तो कहा है । इसके अतिरिक्त इस भेदाभेद मत में ज्ञान से मोक्ष नहीं बतलाया गया है, क्योंकि समग्ज्ञान से नष्ट होने वाले किसी मिथ्याज्ञान को संसार का कारण भेदवादी ने स्वीकार नहीं किया है । भेद और अभेद दोनों को सत्य मानने पर एकत्वज्ञान से नानत्व ज्ञान का नाश भी कैसे कहा जा सकता है ।

शङ्का—सर्वथा अभेद मानने पर नानत्व का अभाव हो जाने के कारण भेदग्राहक लौकिक प्रत्यक्षादिप्रमाण व्याहत हो जायेंगे । जैसे यह स्थाणु है ऐसा ज्ञान होने पर विषयशून्य हो जाने के कारण पुरुषादि ज्ञान व्याहत हो जाते हैं, वैसे ही द्वैत के अभाव में भेदग्राहक प्रत्यक्षादि लौकिकप्रमाण भी व्याहत हो जायेंगे । इसके अतिरिक्त **'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'** यह विधिशास्त्र और 'सुरा न पिबेत्' यह निषेधशास्त्र भी भेद की अपेक्षा करके ही सार्थक होते हैं । द्वैत न रहने पर विधि-प्रतिषेधशास्त्र भी व्याहत होने लग जायेंगे । इतना ही नहीं, गुरु-शिष्यादि भेद की अपेक्षा रखने वाला मोक्षशास्त्र भी द्वैताभाव दशा में व्याहत हो जायेगा । केवलाद्वैतवाद की दृष्टि में मोक्षशास्त्र अनृत है, ऐसे अनृतमोक्षशास्त्र के द्वारा प्रतिपादित आत्मैकत्व किस प्रकार सत्य सिद्ध हो सकेगा । धूलि को देख उसे धूम समझकर अग्नि का अनुमान करने वाले व्यक्ति को क्या अग्नि मिल सकती है, अर्थात् नहीं । ठीक वैसे ही मोक्षशास्त्र जब स्वयं ही अनृत है, तो आत्मैकत्वरूप सत्यत्व का प्रतिपादन कैसे कर सकेगा ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है । सत्यत्व का अर्थ बाधाभाव होता है मिथ्यात्वनिश्चय को बाध कहते हैं । ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार से पूर्व सभी व्यवहार में सत्यत्व माना गया है । जिस प्रकार जगने से पूर्व स्वप्नव्यवहार सत्य माना जाता है, ठीक वैसे ही सत्यब्रह्मस्वरूप आत्मा का जब तक अभेद साक्षात्कार नहीं हो जाता, तब तक प्रमाण प्रमेयफलरूप विकार में मिथ्यात्वबुद्धि किसी को भी नहीं होती है । अविद्या के कारण समस्त कार्यजगत् को मैं और मेरा ऐसे आत्मीयभाव से सभी जन्तु स्वाभाविक ब्रह्मरूपता को छोड़कर समझते रहते हैं । अतः ब्रह्मात्मैक्यबोध से पूर्व समस्त लौकिक-वैदिक व्यवहार सिद्ध होता है । जैसे प्राकृत पुरुष जब तक सोया रहता है तब तक स्वप्न में ऊंचे-नीचे पदार्थ को देखता है और उसे जगने से पूर्व तक निश्चित प्रत्यक्षाभिमत विज्ञान भी होता

---

१. एकत्व सत्यत्वं भेदमिथ्यात्वं चेत्यर्थः ।

व्याघातः स्यात् ।

कथं चानृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्यात्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येतेति । अत्रोच्यते— नैष दोषः । सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात्सत्यत्वोपपत्तेः । स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक्प्रबोधात् । यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत्प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते । विकारानेव त्वहं ममेत्यविद्ययात्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा । तस्मात्प्राग्ब्रह्मात्मताप्रतिबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः । यथा सुप्तस्य प्राकृतस्य जनस्य स्वप्ने उच्चावचान्भावान्पश्यतो निश्चितमेव प्रत्यक्षाभिमतं विज्ञानं भवति प्राक्प्रबोधात्, नच प्रत्यक्षाभासाभिप्रायस्[1]तत्काले भवति, तद्वत् । कथं त्वसत्येन वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्मत्वस्य प्रतिपत्तिरुपपद्येत । नहि रज्जुसर्पेण दंष्टो म्रियते । नापि मृगतृष्णिकाम्भसा पानावगाह-

व्याय वेदान्तानां भेदाभेदपरत्वमुचितमिति भावः ।

ननु कर्मकारकाणां यजमानादीनां विद्याकारकाणां शिष्यादीनां च कल्पितभेदमाश्रित्य कर्मज्ञानकाण्डयोः[2] प्रवृत्तेः स्वप्रमेयस्य [3]धर्मादेरबाधात्प्रामाण्यमव्याहतमित्याशङ्क्याह—कथं चानृतेनेति । धूलिकल्पितधूमेनानुमितस्य वह्नेरिव प्रमेयबाधापत्तेरिति भावः । तत्र द्वैतविषये प्रत्यक्षादीनां [4]यावद्बाधं व्यावहारिकं प्रामाण्यमुपपद्यत इत्याह—अत्रोच्यत इत्यादिना । सत्यत्वं बाधाभावः । बाधो मिथ्यात्वनिश्चयः । वस्तुतो मिथ्यात्वेऽपि विकारेषु तन्निश्चयाभावेन प्रत्यक्षादिव्यवहारोपपत्तावुक्तदृष्टान्तं विवृणोति—यथा सुप्तस्य प्राकृतस्येति । एवं द्वैतप्रमाणानां व्यवहारकाले बाधशून्यार्थबोधकत्वं व्यावहारिकं प्रामाण्यमुपपाद्याद्वैतप्रमाणानां वेदान्तानां सर्वकालेषु बाधशून्यब्रह्मबोधकत्वं तात्त्विकं प्रामाण्यमुपपादयितुमुक्तशङ्कामनुवदति—कथं त्वसत्येनेति । किमसत्यात्सत्यं न जायते, किमुत सत्यस्य ज्ञानं न । आद्य इष्ट एव । नहि वयं वाक्योत्थज्ञानं सत्यमित्यङ्गीकुर्मः । अङ्गीकृत्यापि दृष्टान्त-

है । स्वप्नकाल में उसे प्रत्यक्षाभास प्रतीत नहीं होता वैसे ही ब्रह्मात्मैक्य बोध से पूर्व प्रपञ्च में भी प्रत्यक्षाभास नहीं प्रतीत होता ।

शङ्का—असत्य वेदान्तवाक्य से सत् ब्रह्मात्मैकत्व का बोध कैसे हो सकेगा । जैसे रज्जु में कल्पित सर्प द्वारा डसा हुआ व्यक्ति मरता नहीं और मृगतृष्णिका जल से पान और अवगाहन आदि प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, वैसे ही असत्य वेदान्तवाक्य से ब्रह्मात्मैक्य बोध नहीं हो सकेगा ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है । विषादि शङ्का के कारण भी मरणादि कार्य देखा जाता है और स्वप्नदर्शनकाल में सर्पदंशन एवं उदकस्नानादि कार्य भी देखे जाते हैं । अतः असत्य से सत्य उत्पन्न नहीं होता, इस नियम में उक्त दोनों व्यभिचार देखे जाते हैं । पूर्वपक्ष—उक्त रीति से मरणकार्य तथा सर्पदंशन, उदकस्नानादि कार्य भी अनृत ही होते हैं ? ऐसा यदि कहोगे तो इस पर हम सिद्धान्ती कहते हैं, कि यद्यपि स्वप्नदर्शनकाल में स्वप्नद्रष्टा का सर्पदंशन एवं उदकस्ननादि कार्य अनृत हैं, तथापि उनका ज्ञान तो सत्य ही है, क्योंकि फल (ज्ञान) जगे हुए व्यक्ति को अबाधित ही दीखता है । स्वप्न से जगा हुआ व्यक्ति स्वप्न में दीखे हुए सर्पदर्शन और उदकस्नानादि कार्य को मिथ्या मानता हुआ भी

१. स्वप्नकाले । २. कर्मज्ञानकाण्डम् । ३. आदिना ज्ञानम् । ४. तं मर्यादीकृत्य ।

नादिप्रयोजनं क्रियत इति। नैष दोषः। शङ्काविषादिनिमित्तमरणादिकार्योपलब्धेः। स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यदर्शनात्। तत्कार्यमप्यनृतमेवेति चेद्ब्रूयात्। तत्र ब्रूमः—यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यमनृतं तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलं, प्रतिबुद्धस्याप्यबाध्यमानत्वात्। नहि स्वप्नादुत्थितः स्वप्नदृष्टं सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यं मिथ्येति मन्यमानस्तदवगतिमपि मिथ्येति मन्यते कश्चित्। एतेन स्वप्नदृशोऽवगत्यबाधनेन देहमात्रात्मवादो दूषितो वेदितव्यः। तथाच श्रुतिः—'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने॥' (छा० ५-२-९) इत्यसत्येन स्वप्नदर्शनेन सत्यायाः समृद्धेः प्रतिपत्तिं दर्शयति। तथा प्रत्यक्षदर्शनेषु केषुचिदरिष्टेषु[1] जातेषु 'न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यात्' इत्युक्त्वा 'अथ स्वप्नाः पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्यादिना तेन तेनासत्येनैव स्वप्नदर्शनेन सत्यं मरणं सूच्यत इति दर्शयति। प्रसिद्धं चेदं लोकेऽन्वयव्यतिरेककुशलानामीदृशेन स्वप्नदर्शनेन साध्वागमः सूच्यत ईदृशेनासाध्वागम इति। तथाकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा रेखानृताक्षरप्रतिपत्तेः। अपि चान्त्यमिदं प्रमाणमात्मै-

माह—नैष दोष इति। सर्पेणादष्टस्यापि दष्टत्वभ्रान्तिकल्पितविषात्सत्यमरणमूर्च्छादिदर्शनादसत्यात् सत्यं न जायत इत्यनियम इत्यर्थः। दृष्टान्तान्तरमाह—स्वप्नेति। असत्यात्सर्पोदकादेः सत्यस्य दंशनस्नानादिज्ञानस्य कार्यस्य दर्शनाद्व्यभिचार इत्यर्थः। यथाश्रुतमादाय शङ्कते—तत्कार्यमपीति। उक्तमर्थं प्रकटयति—तत्र ब्रूम इत्यादिना। अवगतिर्वृत्तिः घटादिवत्सत्यापि प्रातिभासिकस्वप्नदृष्टवस्तुनः फलं चैतन्यं वा वृत्त्यभिव्यक्तमवगतिशब्दार्थः। प्रसङ्गाद्देहात्मवादोऽपि निरस्त इत्याह—एतेनेति। स्वप्नस्थावगतेः स्वप्नदेहधर्मत्वे उत्थितस्य मया तादृशः स्वप्नोऽवगत इत्यबाधितावगतिप्रतिसंधानं न स्यात्। अतो देहभेदेऽप्यनुसंधानदर्शनाद्देहान्योऽनुसंधातेत्यर्थः। असत्यात्सत्यस्य ज्ञानं न जायत इति द्वितीयनियमस्य श्रुत्या व्यभिचारमाह—तथाच श्रुतिरिति। नच स्त्रियो मिथ्यात्वेऽपि तद्दर्शनात्सत्यादेव सत्यायाः समृद्धेर्ज्ञानमिति वाच्यम्, विषयविशिष्टत्वेन दर्शनस्यापि मिथ्यात्वात्प्रकृतेऽपि सत्ये ब्रह्मणि मिथ्यावेदानुगतचैतन्याज्ज्ञानसंभवाच्चेति भावः। असत्यात्सत्यस्येष्टस्य ज्ञानमुक्त्वानिष्टस्य ज्ञानमाह—तथेति। असत्यात्सत्यस्य ज्ञाने दृष्टान्तान्तरमाह—तथाकारादीति। रेखास्वकारत्वादि-

उनके ज्ञान को मिथ्या नहीं मानता। इतना कहने से स्वप्नदृष्टा का ज्ञान अबाधित बतल देने के कारण देहमात्र को आत्मा कहने वाले का पक्ष निरस्त मानना चाहिए। यदि देह ही आत्मा होता तो स्वप्नवाला शरीर जाग्रत में रहा नहीं फिर उसका अनुसन्धान कौन करता। अतः देह से भिन्न स्वप्न का स्मरण करने वाला अन्य ही कोई है, ऐसा मानना पड़ता है। वैसे ही श्रुति भी 'सकामकर्मों के अनुष्ठान के दिनों यदि अनुष्ठाता स्वप्नावस्था में किसी सौभाग्यवती स्त्री को देखता हो तो उस स्वप्नदर्शन के फलस्वरूप उसका वह अनुष्ठान सफल मानना चाहिए' ऐसे असत्य स्वप्नदर्शन से समृद्धिरूप सत्यफल की प्राप्ति बतलाती है। वैसे ही कोई अनिष्ट प्रत्यक्ष दीख जाय तो उसका दर्शन अपशकुन माना जाता है जिसका फल यह होगा कि अब वह अधिक समय तक नहीं जी सकेगा। इसे भी श्रुति ने कहा है कि 'जब कोई व्यक्ति स्वप्न में काले दांत वाले पुरुष को देखता है तो वह

१ अरिष्टेषु अशुभम।

कत्वस्य प्रतिपादकं नातः परं किंचिदाकाङ्क्ष्यमस्ति । यथा हि लोके यजेतेत्युक्ते किं केन कथमित्याकाङ्क्ष्यते नैवं 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्युक्ते किंचिदन्यदाकाङ्क्ष्यमस्ति, सर्वात्मैकत्वविषयत्वावगतेः । सति ह्यन्यस्मिन्नवशिष्यमाणेऽर्थे आकाङ्क्षा स्यात् । नत्वात्मैकत्वव्यतिरेकेणावशिष्यमाणोऽन्योऽर्थोऽस्ति य आकाङ्क्ष्येत । न चेयमवगतिर्नोत्पद्यत इति शक्यं वक्तुम्, 'तद्धास्य विजज्ञौ' (छा० ६-१६-३) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अवगतिसाधनानां च श्रवणादीनां वेदानुवचनादीनां च विधानात् । न चेयमवगतिरनर्थिका भ्रान्तिर्वेति शक्यं वक्तुम् । अविद्यानिवृत्तिफलदर्शनात्, बाधकज्ञानान्तराभावाच्च । प्राक्चा-

---

भ्रान्त्या सत्या अकारादयो ज्ञायन्त इति प्रसिद्धमित्यर्थः । एवमसत्यात्सत्यस्य जन्मोक्त्या यदर्थक्रियाकारि तत्सत्यमिति नियमो भग्नः, अनृतात्सत्यस्य ज्ञानोक्त्या यदनृतकरणगम्यं तद्बाध्यं कूटलिङ्गानुमितवह्निवदिति व्याप्तिर्भग्ना । तथा च कल्पितानामपि वेदान्तानां सत्यब्रह्मबोधकत्वं सम्भवतीति तात्त्विकं प्रामाण्यमिति भावः । यदुक्तं एकत्वनानात्वव्यवहारसिद्धये उभयं सत्यमिति, तन्न । भेदस्य लोकसिद्धस्यापूर्वफलवदभेदविरोधेन सत्यत्वकल्पनायोगात् । किंच यद्युभयोरेकदा व्यवहारः स्यात् तदा स्यादपि सत्यत्वम् । नैवमस्ति । एकत्वज्ञानेन चरमेणानपेक्षेण नानात्वस्य निःशेषं बाधात्, शुक्तिज्ञानेनेव रजतस्येत्याह—अपि चान्त्यमिति । ननूपजीव्यद्वैतप्रमाणविरोधादेकत्वावगतिर्नोत्पद्यत इत्यत आह—न चेयमिति । तत् किलात्मतत्त्वमस्य पितुर्वाक्यात् श्वेतकेतुर्विज्ञातवानिति ज्ञानोत्पत्तेः श्रुतत्वात्सामग्रीसत्त्वाच्चेत्यर्थः । व्यावहारिकगुरुशिष्यादिभेदमुपजीव्य ज्ञायमानवाक्यार्थावगतेः प्रत्यक्षादिगतं व्यावहारिकं प्रामाण्यमुपजीव्यं, तच्च पारमार्थिकैकत्वावगत्या न विरुध्यते । किंतु तया विरोधादनुपजीव्यं प्रत्यक्षादेस्तात्त्विकं प्रामाण्यं बाध्यत इति भावः । किंचैकत्वावगतेः फलवत्प्रमात्वान्निष्फलो द्वैतभ्रमो बाध्य इत्याह—न चेयमिति । ननु सर्वस्य द्वैतस्य मिथ्यात्वे स्वप्नो मिथ्या जाग्रत्

उस व्यक्ति को मार डालता है' । अतः असत्यस्वप्नदर्शन से सत्यमरण को उक्त श्रुति सूचित करती है । इस शकुन-अपशकुन के रहस्य को जानने वाले पुरुषों का यह निर्णय लोक में प्रसिद्ध है कि अमुक स्वप्नदर्शन से शुभ की सूचना और अमुक स्वप्नदर्शन से अशुभ की सूचना होती है । विभिन्न प्रकार की लिपियों में लिखे गये अक्षर रेखा अनृत होते हैं, लेकिन उस अनृत रेखा अक्षर के ज्ञान से भी आकारादि सत्य अक्षर का बोध होते देखा गया है । विश्व की विभिन्न लिपियों में लिखे गये रेखांकित अक्षर भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु उसके पढ़ने वाले जब शब्द उच्चारण करते हैं तब उच्चारित शब्द एक सा ही सुना जाता है । विभिन्न लिपियों में लिखा गया राम शब्द भले ही अलग अलग दिखाई पड़ता हो, किन्तु उसका उच्चारण एक सा ही होगा । वेदान्तवाक्य से एकत्वज्ञान अन्तिम है, उससे नानात्व का निःशेष बाध वैसे ही हो जाता है, जैसे शुक्तिज्ञान से रजत का पूर्णतया बाध हो जाता है । आत्मैकत्वबोधक यह श्रुतिप्रमाण अन्तिम है, इससे पर तो कुछ है ही नहीं, जिसकी आकांक्षा होती । जैसे 'यजेत्' ऐसा कहने पर लोक में किंभाव, केन और कथंभाव की आकांक्षा होती है, वैसा 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इन महावाक्यों के कहने पर कुछ भी अन्य वस्तु आकांक्षा के योग्य नहीं रह जाती है, क्योंकि महावाक्य से उत्पन्न यह ज्ञान सर्वत्र एक ही आत्मा को विषय करता है । अन्य अर्थ के शेष रहने पर आकांक्षा हो सकती है, किन्तु आत्मा से भिन्न जब अन्य अर्थ ही नहीं है, तो फिर किसकी आकांक्षा होने लग जाय । यदि कहो कि ऐसा ज्ञान तो हो ही नहीं सकता, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि

त्मैकत्वावगतेरव्याहतः सर्वः सत्यानृतव्यवहारो लौकिको वैदिकश्चेत्यवोचाम । तस्मादन्त्येन प्रमाणेन प्रतिपादित आत्मैकत्वे समस्तस्य प्राचीनस्य भेदव्यवहारस्य बाधितत्वान्नानेकात्मकब्रह्मकल्पनावकाशोऽस्ति । ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात्परिणामवद्ब्रह्म शास्त्रस्याभिमतमिति गम्यते, परिणामिनो हि मृदादयोऽर्था लोके समधिगता इति । नेत्युच्यते । 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४-४-२५), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३-९-२६), 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३-८-८) इत्याद्याभ्यः सर्वविक्रियाप्रतिषेधश्रुतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात् । न ह्येकस्य ब्रह्मणः परिणामधर्मत्वं तद्रहितत्वं च शक्यं प्रतिपत्तुम् । स्थितिगतिवत्स्यादिति चेत् । न । कूटस्थस्येति विशेषणात् ।

सत्यमित्यादिलौकिको व्यवहारः, सत्यं चानृतं च सत्यमभवदिदि वैदिकश्च कथमित्याशङ्क्य यथा स्वप्ने इदं सत्यमिदमनृतमिति तात्कालिकबाधाबाधाभ्यां व्यवहारस्तथा दीर्घस्वप्नेऽपीत्युक्तस्वप्नदृष्टान्तं स्मारयति—प्राक्चेति । व्यवहारार्थं नानात्वं सत्यमिति कल्पनमसंगतमित्युपसंहरति—तस्मादिति । नेदं कल्पितं, किंतु श्रुतमिति शङ्कते—नन्विति । कार्यकारणयोरनन्यत्वांशेऽयं दृष्टान्तः, न परिणामित्वे, ब्रह्मणः कूटस्थत्वश्रुतिविरोधादिति परिहरति—नेत्युच्यत इति । सृष्टौ परिणामित्वं प्रलये तद्राहित्यं च क्रमेणाविरुद्धमिति दृष्टान्तेन शङ्कते—स्थितीति । कूटस्थस्य कदाचिदपि विक्रिया न युक्ता कूटस्थत्वव्याघातादित्याह—नेति । कूटस्थत्वासिद्धिमाशङ्क्याह—कूटस्थस्येति । कूटस्थस्य

'पिता के वाक्य से श्वेतकेतु को आत्मैकत्व का ज्ञान हो गया और उससे वह कृतकृत्य हो गया' इन श्रुतियों से आत्मैकत्व का बोध होना सिद्ध हो जाता है । ज्ञान के साधन श्रवणादि का और वेदानुवचनादि का विधान देखते हुए भी आत्मैकत्वज्ञान महावाक्यजन्य होता ही है, इसे कोई नकार नहीं सकता । प्रमा होने से एकत्वज्ञान का फल है किन्तु द्वैतभ्रम निष्फल तथा बाध के योग्य है । इसलिए इस अद्वैतज्ञान को अनर्थक या भ्रम नहीं कह सकते क्योंकि इस ज्ञान से अविद्यानिवृत्तिरूप फल देखा गया है और उसका बाधक कोई दूसरा ज्ञान भी नहीं है । अतः आत्मैकत्व ज्ञान से पूर्व सत्यानृतव्यवहार लौकिक एवं वैदिक अव्याहत ही रहते हैं, ऐसा हम पहले भी कह आये हैं । इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ श्रुतिप्रमाण से आत्मैकत्व का साक्षात्कार हो जाने पर इससे पूर्व होने वाले समस्त भेदव्यवहार बाधित हो जाते हैं, इस स्थिति में ब्रह्म अनेकात्मक है ऐसा कल्पना का तो अवकाश ही नहीं रह जाता ।

प्रश्न—मृदादि दृष्टान्त को देखते हुए शास्त्र को ब्रह्म भी परिणामी ही अभिमत प्रतीत होता है, क्योंकि जब लोक में मृदादि परिणामी देखे गये हैं तो दार्ष्टान्ति में ब्रह्म भी परिणामी ही होना चाहिए ? उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते 'वह आत्मा महान् और अजन्मा है' 'आत्मा जरामरणरहित अमृत एवं अभयस्वरूप ब्रह्म ही है' 'वह आत्मा नेति-नेति शब्दों से प्रतिपाद्य है' 'वह स्थूल नहीं, अणु नहीं' इत्यादि सर्वप्रक्रियाप्रतिषेधक श्रुतियों से ब्रह्म में कूटथत्व जान पड़ता है । एक ही ब्रह्म में परिणामधर्मत्व और तद्रहितत्व और तद्रहितत्व कहना ठीक नहीं है ।

प्रश्न—एक ही देवदत्त में कभी स्थिति और कभी गति कालभेद से जिस प्रकार रहती है, वैसे ही कालभेद से ब्रह्म में कूटस्थत्व एवं विक्रियावत्व रह जायेगा, इसमें क्या आपत्ति है ? उत्तर—ऐसा

नहि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिगतिवदनेकधर्माश्रयत्वं सम्भवति। कूटस्थं च नित्यं ब्रह्म सर्वविक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम।

नच यथा ब्रह्मण आत्मैकत्वदर्शनं मोक्षसाधनमेवं जगदाकारपरिणामित्वदर्शनमपि स्वतन्त्रमेव कस्मैचित्फलायाभिप्रेयते। प्रमाणाभावात्। कूटस्थब्रह्मात्मत्वविज्ञानादेव हि फलं दर्शयति शास्त्रम्—'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्य 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४-२-४) इत्येवंजातीयकम्। तत्रैतत्सिद्धं भवति—ब्रह्मप्रकरणे सर्वधर्मविशेषरहितब्रह्मदर्शनादेव फलसिद्धौ सत्यां यत्तत्राफलं श्रूयते ब्रह्मणो जगदाकारपरिणामित्वादि तद्ब्रह्मदर्शनोपायत्वेनैव विनियुज्यते, फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमितिवत्। नतु स्वतन्त्रं फलाय कल्प्यत इति। नहि परिणामवत्त्वविज्ञानात्परिणामवत्त्वमात्मनः फलं स्यादिति वक्तुं युक्तं, कूटस्थनित्यत्वान्मोक्षस्य।

निरवयवस्य पूर्वरूपत्यागेनावस्थान्तरात्मकपरिणामायोगाच्छुक्तिरजतवद्विवर्त एव प्रपञ्च इति भावः।

किंच निष्फलस्य जगतः फलवन्निष्प्रपञ्चब्रह्मधीशेषत्वेनानुवादान्न सत्यतेत्याह—नच यथेत्यादिना। 'तं यथा यथोपास्ते तदेव भवति' इति श्रुतेर्ब्रह्मणः परिणामित्वविज्ञानात्तत्प्राप्तिर्विदुषः फलमित्याशङ्क्याह—नहि परिणामवत्त्वेति। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति श्रुतकूटस्थनित्यमोक्षफलसंभवे दुःखानित्यपरिणामित्वफलकल्पनायोगादिति भावः।

कहना ठीक नहीं। ब्रह्म में कूटस्थत्व विशेषण असङ्गत हो जायेगा। अतः कूटस्थ ब्रह्म में स्थिति एवं गति की भाँति अनेक धर्माश्रयत्व सम्भव नहीं है। ब्रह्म सभी विकारों से रहित होने के कारण नित्य-कूटस्थ है, ऐसा हम पहले कह आये हैं।

इसके अतिरिक्त ब्रह्म में आत्मैकत्वज्ञान जैसे मोक्ष का साधन माना है, इस प्रकार उसमें जगदाकार परिणामित्वज्ञान भी स्वतन्त्र ही किसी फल को नहीं देता क्योंकि वैसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। कूटस्थ ब्रह्मात्मत्व ज्ञान से ही मोक्षफल शास्त्र बतलाता है। 'वह आत्मा नेति-नेति ऐसे निषिद्धवाक्य से जाना जाता है' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भ कर 'हे जनक! अब तुम निःसन्देह अभयतत्त्व को प्राप्त कर चुके हो' ये सब शास्त्रवचन ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान से ही फल बतलाते हैं। इससे यहाँ पर यह अर्थ सिद्ध हुआ, कि ब्रह्म प्रकरण में सर्वधर्मविशेषरहित ब्रह्म-दर्शन से ही जब मोक्षफल सिद्ध हो गया तो ब्रह्म में जगदाकार परिणामित्वबोधक अफलवाक्य ब्रह्म-दर्शन के साधनरूप में विनियुक्त होता है क्योंकि शास्त्र में फलवद्वाक्य के समीप में पढ़ा गया अफलवाक्य उसका अङ्ग माना गया है। ठीक इसी प्रकार अद्वैतज्ञान फलवाला है, तो उसके समीप में पढ़ा गया द्वैतबोधक वाक्य उसका अङ्ग माना जाता है, उसमें स्वतन्त्र फल की कल्पना नहीं कर सकते। ब्रह्म में[1] परिणामवत्त्व विज्ञान से आत्मा में परिणामवत्व फल प्राप्त होगा ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि मोक्ष कूटस्थनित्य है और वह मोक्षफल ही सबको अभिष्ट है, आत्मा का विकारी होना किसी को भी अभिष्ट नहीं है।

---

१. परिणामिब्रह्म।

कूटस्थब्रह्मात्मवादिन एकत्वैकान्त्यादीशित्रीशितव्याभाव ईश्वरकारणप्रतिज्ञाविरोध इति चेत् । न । अविद्यात्मकनामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात्सर्वज्ञत्वस्य । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २-१) इत्यादिवाक्येभ्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेरीश्वराज्जगज्जनिस्थितिप्रलया नाचेतनात्प्रधानादन्यस्माद्वेत्येषोऽर्थः प्रतिज्ञातः 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १-१-४) इति । सा प्रतिज्ञा तदवस्थैव न तद्विरुद्धोऽर्थः पुनरिहोच्यते ।

कथं नोच्यतेऽत्यन्तमात्मन एकत्वमद्वितीयत्वं च ब्रुवता । शृणु यथा नोच्यते । सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्यते । ताभ्यामन्यः सर्वज्ञ ईश्वरः, 'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म'

ननु पूर्वं 'जन्माद्यस्य यतः' इति ईश्वरकारणप्रतिज्ञा कृता । अधुना तदनन्यत्वमित्यत्यन्ताभेदप्रतिपादने ईशित्रीशितव्यभेदाभावात्तद्विरोधः स्यादिति शङ्कते— कूटस्थेति । कल्पितद्वैतमपेक्ष्येश्वरत्वादिकं परमार्थतोऽनन्यत्वमित्यविरोधमाह—नेत्यादिना । अविद्यात्मके चिदात्मनि लीने नामरूपे एव बीजं तस्य व्याकरणं स्थूलात्मना सृष्टिस्तदपेक्षत्वादीश्वरत्वादेर्न विरोध इत्यर्थः । संग्रहीतार्थं विवृणोति—तस्मादित्यादिना ।

तत्त्वान्यत्वाभ्यामिति । नामरूपयोरीश्वरत्वं वक्तुमशक्यं जडत्वात् । नापीश्वरादन्यत्वं कल्पितस्य पृथक्सत्तास्फूर्त्योरभावादित्यर्थः । संस्कारात्मकनामरूपयोरविद्यैक्यविवक्षया ब्रूते—मायेति । नामरूपे चेदीश्वरस्यात्मभूते तर्हीश्वरो जड इत्यत आह—ताभ्यामन्य इति । अन्यत्वे व्याकरणे च श्रुतिमाह— आकाश इत्यादिना । अविद्याद्युपाधिना कल्पितभेदेन बिम्बस्थानस्येश्वरत्वं, प्रतिबिम्ब-

---

प्रश्न—कूटस्थब्रह्मात्मवादी के मत में सर्वथा एकत्व मानने पर ईशितृत्व और ईशितव्यत्व का अभाव हो जायेगा, फिर तो 'जन्माद्यस्य यतः' इस वाक्य द्वारा ईश्वर को जगत्कारण बतलानेवाली प्रतिज्ञा का विरोध होने लग जायेगा ? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है । अविद्यात्मक नाम-रूप जब चिदात्मा में लीन हो जाते हैं, तो उस बीज की पुनः स्थूलरूप से सृष्टि करने के कारण ही उस ईश्वर में सर्वज्ञत्व और सर्वसृष्टिकर्तृत्व सिद्ध होता है इसे 'उस आत्मा से सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ' इत्यादि वाक्यों द्वारा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय बतलाने वाली श्रुतियाँ हैं । यह उत्पत्त्यादि किसी अचेतन प्रधान से या अन्य से हो नहीं सकता । इसीलिए 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र से प्रतिज्ञा की गयी है, वह प्रतिज्ञा तदवस्थ ही है, यहाँ पर उसके विरुद्ध अर्थ नहीं कहा गया है ।

प्रश्न—आत्मा में आत्यन्तिक एकत्व एवं अद्वितीयत्व कहने वाले वादी ने पूर्वोक्त प्रतिज्ञा के विरुद्ध क्यों नहीं कहा है अर्थात् कहा ही है ? उत्तर—जिस प्रकार नहीं कहा उसे मैं समझाता हूँ, आप सुनें । ये अविद्याकल्पित नाम-रूप जो तत्त्व एवं अन्यत्व से विलक्षण अनिर्वचनीय है एवं संसारप्रपञ्च के बीजभूत हैं । ये सब सर्वज्ञ ईश्वर के आत्मस्वरूप ही तो हैं क्योंकि सर्वज्ञ ईश्वर की मायाशक्ति को श्रुति-स्मृति में जगत् की प्रकृति कहा है, उन नाम-रूपों से सर्वज्ञ ईश्वर भिन्न ही है । 'निःसन्देह नाम-रूप का निर्वाहकर्ता आकाश कहा गया है, जिसके भीतर ये नाम-रूप हैं वह ब्रह्म है' इस श्रुति से तथा

(छा० ८-१४-१) इति श्रुतेः । 'नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६-३-२), 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३-१२-७), 'एकं बीजं बहुधा यः करोति' (श्वे० ६-१२) इत्यादि श्रुतिभ्यश्च । एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति, व्योमेव घटकरकाद्युपाध्यनुरोधि । स च स्वात्मभूतानेव घटाकाशस्थानीयानविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसङ्घातानुरोधिनो जीवाख्यान्विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्यवहारविषये । तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च न परमार्थतो विद्ययापास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते । तथाचोक्तम्—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छा० ७-२४-१) इति । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४-५-१५) इत्यादिना च । एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे । तथेश्वरगीतास्वपि—'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः । न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।। नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः । अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' ।। (गी० ५-१४-१५) इति परमार्थावस्थायामीशित्रीशितव्यादिव्यव-

भूतानां जीवानां नियम्यत्वमित्याह—स च स्वात्मभूतानिति । न चात्र नानाजीवा भाष्योक्ता इति भ्रमितव्यं, बुद्ध्यादिसंघातभेदेन भेदोक्तेः । अविद्याप्रतिबिम्बस्त्वेक एव जीव इत्युक्तम् । परमार्थत ईश्वरत्वादिद्वैताभावे श्रुतिमाह—तथा चेति । कथं तर्हि कर्तृत्वादिकमित्यत आह—स्वभावस्त्विति । अनाद्यविद्यैव कर्तृत्वादिरूपेण प्रवर्तत इत्यर्थः । भक्ताभक्तयोः पापसुकृतनाशकत्वादीश्वरस्य वास्तवमीश्वरत्वमित्यत आह—नादत्त इति । न संहरतीत्यर्थः । तेन स्वरूपज्ञानावरणेन कर्ताहमीश्वरो मे

'मैं नाम-रूप को बनाऊँगा' 'धीरपुरुष नाम-रूप का विचारकर उन्हें नाम समझकर जब बैठ जाता है' 'जो परमेश्वर एक ही बीज को अनेक कर डालता है' इत्यादि श्रुतियों से भी उक्त अर्थ सिद्ध होता है। जैसे घटादि उपाधि के अनुरोध से शुद्ध आकाश ही घटाकाश नाम से व्यवहृत होता है, वैसे ही अविद्यादि उपाधि के कारण एक ही परमात्मा अनेक बन जाता है । वह परमात्मा घटाकाशस्थानीय अविद्याप्रत्युपस्थापित नाम रूप के कारण कार्यकरणसंघात के अनुरोधी स्वात्मभूत विज्ञानात्मा जीव को ही व्यवहारदशा में प्रेरणा देता है। इस प्रकार अविद्यात्मक उपाधिपरिच्छेद की अपेक्षा से ही ईश्वर में ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व सिद्ध होता है। परमार्थदृष्टि से विद्या द्वारा जब सभी उपाधियों का निषेध हो जाता है, तब सम्पूर्ण उपाधि से विनिर्मुक्त आत्मा में ईशितृ–ईशितव्यभाव एवं सर्वज्ञत्वादि व्यवहार सिद्ध नहीं होता । ऐसा ही 'जहाँ दूसरे को देखता नहीं, दूसरे को सुनता नहीं, दूसरे को जानता नहीं वह भूमा है' 'जहां पर इस ज्ञानी को सब कुछ आत्मा ही भासता है वहाँ कौन किसको किससे देखे' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से कहा गया है । इस प्रकार परमार्थ अवस्था में सभी वेदान्त ने सर्वव्यवहार का अभाव कहा है। ऐसा ही भगवद्गीता में भी 'परमेश्वर लोक के न कर्तृत्व की ओर न कर्मों की ही सृष्टि करता है एवं कर्मफलसंयोग को भी नहीं रचता, यह काम तो स्वभाव करता रहता है। व्यापक परमात्मा किसी के पुण्य और पाप को ग्रहण नहीं करता । अज्ञान से ज्ञान आवृत है इसीलिए सभी जीव उससे मोहित हो रहे हैं' इन वाक्यों से कहा गया है। अर्थात् परमार्थ-

(१४९) भावे चोपलब्धेः ॥१५॥

हाराभावः प्रदर्श्यते । व्यवहारावस्थायां तूक्तः श्रुतावपीश्वरादिव्यवहारः 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' (बृ० ४-४-२२) इति । तथाचेश्वरगीतास्वपि—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानिमायया ॥' (गी० १८-६१) इति । सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह । व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकवदिति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति । अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाश्रयति सगुणेषूपासनेषूपयोक्ष्यत[1] इति ॥१४॥

इतश्च कारणादनन्यत्वं कार्यस्य, यत्कारणं भाव एव कारणस्य कार्यमुपलभ्यते नाभावे । तद्यथा सत्यां मृदि घट उपलभ्यते, सत्सु च तन्तुषु पटः । नच नियमेनान्यभावे-

नियन्तेत्येवं क्रमान्त । उक्तार्थः सूत्रकारसम्मत इत्याह—सूत्रकारोऽपीति । न केवलं लौकिकव्यवहारार्थं परिणामप्रक्रियाश्रयणं किन्तूपासनार्थं चेत्याह—परिणामप्रक्रियां चेति । तदुक्तम्—'कृपणधीः परिणाममुदीक्षते क्षयितकल्मषधीस्तु विवर्ततम्' इति ॥१४॥

एवं तदनन्यत्वे प्रत्यक्षादिविरोधं परिहृत्यानुमानमाह—भावे चेति । कारणस्य भावे सत्त्वे उपलब्धौ च कार्यस्य सत्त्वादुपलब्धेश्चानन्यत्वमिति सूत्रार्थः । घटो मृदनन्यः, मृत्सत्त्वोपलब्धिक्षणनियतसत्त्वोपलब्धिमत्त्वात्, मृद्वत्अन्यत्वेऽप्ययं हेतुः किं न स्यादित्यप्रयोजकत्वमाशङ्क्य निरस्यति—नचेति । मृद्घटयो-

दशा में ईशिता एवं ईशितव्यादि व्यवहार का अभाव दिखलाया गया है केवल व्यवहारदशा में ही श्रुति ने भी ईश्वरादि व्यवहार कहा है, यह प्राज्ञ आत्मा सर्वेश्वर है, यह भूतों का अधिपति है, यह भूतों का पालक है ये सभी लोक आपस में मिल-जुल न जाँय इसके लिए परमेश्वर मेड़ का काम करता है अर्थात् नियामक है । भगवद्गीता में भी कहा है कि 'हे अर्जुन ! सम्पूर्ण भूतों के हृदयदेश में ईश्वर बैठा है और उन शरीरों में आत्माभिनिवेश करने वाले सम्पूर्ण भूतों को माया से नचाता रहता है ।' सूत्रकार भगवान् बादारायण ने भी परमार्थनिरूपणाभिप्राय से जगत् को ब्रह्म से अभिन्न कहा और व्यवहाराभिप्राय से 'स्याल्लोकवत्' कहा है, इसमें कार्यप्रपञ्च का प्रत्याख्यान न करके ही परिणाम प्रक्रिया का आश्रय लेते हैं जिसका उपयोग सगुण उपासनाओं में होता है ॥१४॥

भावे चोपलब्धेः (ललिता)

अग्रिम सूत्र का उपयोग अनुमान तथा प्रत्यक्षप्रमाण के रूप में किया गया है । इससे पूर्व कारण से कार्य का अनन्यत्व बतलाने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जो विरोध आ रहा था उसका परिहार किया गया, अब कार्य-कारण के अनन्यत्व में अनुमान प्रमाण दे रहे हैं ।

सूत्र का अर्थ यह है कि कारण के रहने और उसकी उपलब्धि होने पर कार्य की सत्ता देखी जाती है और कार्य की उपलब्धि भी होती है, इसलिए कार्य कारण से अभिन्न है । अनुमान का आकार यह है कि घट मृत्तिका से अभिन्न है क्योंकि मृत्तिका की सत्ताउपलब्धि क्षण में ही घट की नियतसत्ता एवं उपलब्धि होती है जैसे मृत्तिका अर्थात् मृत्तिका जैसे मृत्तिका से अभिन्न है उसमें उक्त

१. उपयुज्यत इति पाठान्तरम् । २. भिन्नस्य सत्वे ।

ऽन्यस्योपलब्धिर्दृष्टा । नह्यश्वो गोरन्यः सन् गोर्भाव एवोपलभ्यते । [1]नच कुलालभाव एव घट उपलभ्यते । सत्यपि निमित्तनैमित्तिकभावेऽन्यत्वात् ।

नन्वन्यस्य भावेऽप्यन्यस्योपलब्धिर्नियता दृश्यते, यथाग्निभावे एव धूमस्येति। नेत्युच्यते । उद्वापितेऽप्यग्नौ गोपालघुटिकादिधारितस्य धूमस्य दृश्यमानत्वात् । अथ धूमं कयाचिद-

---

रन्यत्वे गवाश्वयोरिव हेतूच्छित्तिः स्यादित्यर्थः । गवाश्वयोर्निमित्तनैमित्तिकत्वाभावाद्धेत्वभावः । अतो मृद्घटयोस्तेन [4]हेतुना निमित्तादिभावः सिध्यति नानन्यत्वमित्यर्थान्तरतामाशङ्क्याह—नच कुलालेति । न चोपादानोपादेयभावेनार्थान्तरता मृद्दृष्टान्ते [5]तद्भावाभावेऽपि हेतुसत्त्वादन्यत्वे गवाश्ववत्तद्भावायोगाच्चेति भावः । कुलालघटयोर्निमित्तादिभावे सत्यप्यन्यत्वात् कुलालसत्त्वनियतोपलब्धिघटस्य नैवेत्यक्षरार्थः ।

यथाश्रुतसूत्रस्थहेतोर्व्यभिचारं शङ्कते—नन्विति । अग्निभाव एव धूमोपलब्धिरिति नियमात्मको हेतुस्तत्र नास्तीत्याह—नेति । अविच्छिन्नमूलदीर्घरेखावस्थधूमे नियमोऽस्तीति व्यभिचार इत्याशङ्क्ने-अथेति । तद्भावनियतभावत्वे सति [8]तद्बुद्ध्यनुरक्तबुद्धि[9]विषयत्वस्य हेतोर्विवक्षितत्वान्न व्यभिचार

हेतु और साध्य का साहचर्य दिखायी पड़ता है ऐसे ही घटपक्ष में उक्त हेतु को देखने के बाद उसका अभेद मृत्तिका से सिद्ध हो जाता है। भाष्यकार कहते हैं कि कारण से कार्य इसलिए भी अभिन्न है क्योंकि कारण के रहने पर कार्य उपलब्ध होता है और कारण के न रहने पर कार्य उपलब्ध नहीं होता। जैसे मिट्टी के रहते-रहते ही घट दीखता है, और तन्तु के रहते-रहते ही पट दीखता है ऐसे ही ब्रह्म की सत्ता से जगत् भासता है। यदि नियम से कारण-कार्य का भेद होता तो उक्त प्रकार से उपलब्धि नहीं दीख पड़ती। जिस प्रकार गौ से अश्व भिन्न है, तो गौ के रहते-रहते ही अश्व दीखता है ऐसी बात नहीं है, अपितु गौ के अभाव में भी अश्व दिखाई पड़ता है, क्योंकि वे दोनों भिन्न वस्तु हैं। जगत् का उपादानकारण ब्रह्म वैसे ही है जैसे घट का उपादानकारण मृत्तिका है। पर घट का निमित्तकारण कुम्भकार है और वह घट से भिन्न है। अतएव कुम्भकार के रहने पर ही घट की सत्ता रहेगी और वह घट दीखेगा भी क्योंकि घट और कुम्भकार में निमित्त-नैमित्तिकभाव है, उपादान-उपादेयभाव नहीं है।

प्रश्न—अन्य वस्तु के रहने पर भी नियम से तद्भिन्नवस्तु की उपलब्धि देखी जाती है जैसे अग्नि और धूम भिन्न है फिर भी अग्नि के रहने पर ही धूम दीखता है, अग्नि के न रहने पर धूम नहीं दीखता। अतः जैसे अग्नि को धूम से अभिन्न नहीं मानते हैं ऐसे हो जगत् भी ब्रह्म से अभिन्न नहीं माना जायेगा? उत्तर—उक्त दृष्टान्त ठीक नहीं है क्योंकि अग्नि के बुझ जाने पर भी गोपालक की झोपड़ी में रहा हुआ धूम देर तक दीखता रहता है।

प्रश्न—किसी अवस्थाविशेष से विशिष्ट धूम को हम अग्नि के अभाव में नहीं देख सकते हैं अर्थात् अविच्छिन्नमूल दीर्घरेखा वाला धूम अग्नि के अभाव में नहीं दीखता है, वह तो अग्नि के रहते-

---

१. भिन्नः । २. सत्वे । ३. न च कुलालेत्यादिभाष्यग्रन्थस्य तात्पर्यमाह न चेत्यादिना। उपादानोपादेयभावेनेति तत्सत्त्वोपलब्धिक्षण नियत सत्त्वोपलब्धिमत्वेतेत्यर्थः । ४. मृत्सत्वोपलब्धीत्युक्त हेतुना । ५. अर्थान्तरतेति निमित्तादिभावेत्तेत्यर्थः । तथा च मृदघटौ निमित्तनैमित्तिकौ मृत्सत्वोपलब्धिक्षण नियतसत्त्वोपलब्धिमत्वात्भूद्रदिति पूर्वपक्षः । हेतोः साध्यवदन्यवृत्तित्वेनानैकान्तिकतामाह । मृद्दृष्टान्त इतिवद्भावाभावेपीति निमित्तनैमित्तिकभावाभावेपीत्यर्थः । तयोर्निमित्तादिभावेवाधकमप्याहान्यत्व इत्यादिना । ६. निमित्तादिभावेत्यर्थः । ७. मृत् । ८. सहकृतबुद्धि । ९. ग्राह्यत्वस्य ।

वस्थया विशिष्यादीदृशो धूमो नासत्याग्नौ भवतीति । नैवमपि कश्चिद्दोषः । तद्भावानुरक्तां हि बुद्धिं कार्यकारणयोरनन्यत्वे हेतुं वयं वदामः, न चासावग्निधूमयोर्विद्यते । भावाच्चोपलब्धेरिति वा सूत्रम् ।

न केवलं शब्दादेव कार्यकारणयोरनन्यत्वं । प्रत्यक्षोपलब्धिभावाच्च तयोरनन्यत्वमित्यर्थः । भवति हि प्रत्यक्षोपलब्धिः कार्यकारणयोरनन्यत्वे । तद्यथा—तन्तुसंस्थाने पटे तन्तुव्यतिरेकेण पटो नाम कार्यं नैवोपलभ्यते केवलास्तु तन्तव आतानवितानवन्तः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते, तथा तन्तुष्वंशवोऽंशुषु तदवयवाः अनया प्रत्यक्षोपलब्ध्याः लोहितशुक्लकृष्णानि त्रीणि रूपाणि ततो वायुमात्रमाकाशमात्रं चेत्यनुमेयम् । (छा० ६-४) ततः परं ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं तत्र सर्वप्रमाणानां निष्ठामवोचाम ॥१५॥

इत्याह—नैवमिति । आलोकबुद्ध्यनुरक्तबुद्धिग्राह्ये रूपे व्यभिचारनिरासाय सत्यन्तम् । आलोकाभावेऽपि घटादिरूपसत्त्वान्न व्यभिचारः । उक्तधूमविशेषस्याग्निबुद्धिं विनाप्युपलम्भान्न तत्र व्यभिचार इत्यर्थः । तथा च तयोः कार्यकारण, योर्भावेन सत्तयानुरक्तां सहकृतामिति भाष्यार्थः । यद्वा । तद्भावः सामानाधिकरण्यं तद्विषयकबुद्धिग्राह्यत्वं हेतुं वदामः । मृद्घट इति सामानाधिकरण्यबुद्धिदर्शनादग्निर्धूम इत्यदर्शनादित्यर्थः । अनुमानार्थत्वेन सूत्रं व्याख्याय पाठान्तरेण प्रत्यक्षपरतया व्याचष्टे—भावाच्चेति ।

पूर्वसूत्रोक्तारम्भणशब्दसमुच्चयार्थश्चकारः । न चैकः पट इति प्रत्यक्षं पटस्य तन्तुभ्यः पृथक्सत्त्वे प्रमाणं, अपृथक्सत्ताकमिथ्याकार्यविषयत्वेनाप्युपपत्तेः । अत आतानवितानसंयोगवन्तस्तन्तव एव पट इति प्रत्यक्षोपलब्धेः सत्त्वादनन्यत्वमित्यर्थः । पटन्यायं तन्त्वादावतिदिशति—तथेत्यादिना । प्रत्यक्षोपलब्ध्या ततत्कार्यं कारणमात्रं परिशिष्यत इत्यर्थः । यत्र प्रत्यक्षं नास्ति तत्र कार्यं विमतकारणादभिन्नं कार्यत्वात्, पटवदित्यनुमेयमित्याह—अनयेति । कारणपरिशेषे प्रधानादिकं परिशिष्यतां, न ब्रह्मेत्यत आह—तत्र सर्वेति । ब्रह्मणि वेदान्तानां सर्वेषां तात्पर्यस्योक्तत्वात्तदेवाद्वितीयं परिशिष्यते न कारणान्तरमप्रामाणिकत्वादिति भावः ॥१५॥

रहते ही दीखता है ? उत्तर—यह भी कोई दोष नहीं है । तदभावानुरक्तबुद्धि को ही कार्य-कारण के अनन्यत्व में हम हेतु कहते हैं अर्थात् उन दोनों का अस्तित्व भी नियत हो और वैसी ही बुद्धि भी हो रही हो तब उन दोनों का अभेद हम मानते हैं। तात्पर्य यह है कि मृत्तिका और घट दोनों वस्तु एक है और मृद्घटः ऐसी बुद्धि भी होती है किन्तु अग्नि और धूम में नियतसत्ता रहने पर भी तदनुरक्त बुद्धि नहीं है, इसलिए इन दोनों का अभिन्नत्व नहीं मान सकते ।

अनुमानरूप में इस सूत्र की व्याख्या के बाद प्रत्यक्षरूप से इसकी व्याख्या करते हैं । इसमें 'भावाच्चोपलब्धेः' ऐसा पाठ माना गया है इस सूत्र में चकार पूर्वसूत्रोक्त 'आरम्भण' शब्द के समुच्चय के लिए है । केवल शब्द से ही कार्य-कारण का अभिन्नत्व सिद्ध नहीं होता, किन्तु प्रत्यक्ष उपलब्धि से भी कार्य-कारण का अभिन्नत्व माना गया है । कार्य-कारण के अभिन्नत्व में प्रत्यक्षप्रमाण भी है, क्योंकि तन्तु का संस्थानविशेष ही तो पट है जो तन्तु से पृथक् उपलब्ध नहीं होता । तन्तुओं का आतान-वितान प्रत्यक्ष से पट में दिखाई पड़ते हैं जिसे लोक में पट कहा जाता है । जैसे पट अपने कारण तन्तु से अभिन्न है ऐसे ही तन्तु के अवयव अंशु से तन्तु अभिन्न है । इस प्रकार इस प्रत्यक्ष उपलब्धि के द्वारा पृथ्वी, जल एवं तेज को लोहित, शुक्ल और कृष्णरूप ही मानते हैं । ऐसे ही वायु स्पर्शतन्मात्रारूप है और आकाश अपने कारण शब्दतन्मात्रारूप है ऐसा भी अनुमान कर लेना चाहिए । इससे एक ही अद्वय परब्रह्म सिद्ध होता है और उसी में सभी प्रमाणों का पर्यवसान हमने कहा है ॥१५॥

(१५०) सत्त्वाच्चावरस्य ॥१६॥

इतश्च कारणात्कार्यस्यानन्यत्वं, यत्कारणं प्रागुत्पत्तेः कारणात्मनैव कारणे सत्त्वमवरकालीनस्य कार्यस्य श्रूयते। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६-२-१), 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० आ० २-४-१-१) इत्यादाविदंशब्दगृहीतस्य कार्यस्य कारणेन सामानाधिकरण्यात्। यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते न तत्तत उत्पद्यते, यथा सिकताभ्यस्तैलम्। तस्मात्प्रागुत्पत्तेरनन्यत्वादुत्पन्नमप्यनन्यदेव कारणात्कार्यमित्यवगम्यते। यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरत्येवं कार्यमपि जगत्त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति। एकं च पुनः सत्त्वमतोऽप्यनन्यत्वं कारणात्कार्यस्य ॥१६॥

इद जगत् सदात्मैवेति सामानाधिकरण्यश्रुत्या सृष्टेः प्राक्कार्यस्य कारणात्मना सत्त्वं श्रुतं, तदन्यथानुपपत्त्योत्पन्नस्यापि जगतः कारणादनन्यत्वमित्याह सूत्रकारः—सत्त्वाच्चेति। श्रुत्यर्थे युक्तिमप्याह—यच्च यदात्मनेति। घटादिकं प्राग् मृदाद्यात्मना वर्तते तत उत्पद्यमानत्वात् सामान्यतो व्यतिरेकेण सिकताभ्यस्तैलवदित्यर्थः। कारणवत्कार्यस्यापि सत्त्वात् सत्त्वभेदे मानाभावात् कार्यस्य कारणादभिन्नसत्ताकत्वमिति सूत्रस्यार्थान्तरमाह—यथा चेति। इदानीं सतः कार्यस्य प्रागुत्तरकालयोरसत्त्वायोगात् सत्त्वाव्यभिचारः। तच्च सत्त्वं सर्वानुस्यूतचिन्मात्रमेकम्। तदभेदेन सती मृत् सन् घट इति भासमानयोः कार्यकारणयोरनन्यत्वमित्यर्थः।

न चैवं घटपटयोरप्येकसत्त्वाभेदादनन्यत्वं स्यादिति वाच्यं, वस्तुत एकसत्त्वात्मनानन्यत्वस्येष्टत्वात्। तर्हि मृद्घटयोः को विशेषः। तादात्म्यमिति ब्रूमः। वस्तुतः सर्वत्र सत्तैक्येऽपि घटपटयोर्भेदेन सत्ताया भिन्नत्वान्न तादात्म्यं कार्यकारणयोर्भेदस्य सत्ताभेदकत्वाभावादभिन्नसत्ताकत्वं तादात्म्यमिति विशेषः ॥१६॥

सत्त्वाच्चावरस्य। (ललिता)

कारण से कार्य अभिन्न इसलिए भी है क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व अवरकालीन कार्य का कारण में कारणरूप से सत्व सुना जाता है। 'हे सोम्य! यह आज दीखने वाला जगत् उत्पत्ति से पूर्व सत् ही था' 'यह सामने दीखने वाला जगत् उत्पत्ति से पूर्व एक आत्मा ही था' इन श्रुतियों में '**इदम्**' शब्द से कार्य का ग्रहण होता है, जिसका कारण के साथ सामानाधिकरण्य सुना जाता है। जो वस्तु जिस रूप में जहाँ रहती है, वह वस्तु वहाँ से उसी रूप में उत्पन्न होती है और जो वस्तु जिसमें जिस रूप से नहीं रहती है वह वहाँ से उस रूप में उत्पन्न भी नहीं होती है, जैसे रेत में तैल नहीं है तो रेत से तैल कभी भी उत्पन्न नहीं होता। इससे उत्पत्ति से पूर्व जब कार्य का कारण के साथ अनन्यत्व सुना गया है तो उत्पन्न हुआ कार्य भी कारण से अभिन्न हो जाना जाता है। जिस प्रकार ब्रह्म तीनों काल में अपना सत्व नहीं छोड़ता वैसे ही कार्य भी तीनों काल में अपना सत्व नहीं छोड़ता और सत्व तो एक ही है। इसलिए भी कार्य को कारण से अभिन्न मानना चाहिए ॥१६॥

(१५१) असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥१७॥

ननु क्वचिदसत्त्वमपि प्रागुत्पत्तेः । कार्यस्य व्यपदिशति श्रुतिः—'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ३-१९-१) इति, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २-७-१) इति च । तस्मादसद्व्यपदेशान्न प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमिति चेत् । नेति ब्रूमः । नह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासद्व्यपदेशः, किं तर्हि ? व्याकृतनामरूपत्वाद्धर्मादव्याकृतनामरूपत्वं धर्मान्तरं तेन धर्मान्तरेणायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः सत एव कार्यस्य कारणरूपेणानन्यस्य । कथमेतदवगम्यते ? वाक्यशेषात् । यदुपक्रमे संदिग्धार्थं वाक्यं तच्छेषान्निश्चीयते । इह च तावत् 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यसच्छब्देनोपक्रमे निर्दिष्टं यत्तदेव पुनस्तच्छब्देन परामृश्य सदिति विशिनष्टि 'तत्सदासीत्' इति । असतश्च पूर्वापरकालासम्बन्धादासीच्छब्दानुपपत्तेश्च । 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यत्रापि 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति वाक्यशेषे विशेषणान्नात्यन्तासत्त्वम् । तस्माद्धर्मान्तरेणैवायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य ।

उक्तं कार्यस्य प्राक् कारणात्मना सत्त्वमसिद्धमित्याशङ्क्य समाधत्ते—असदिति । 'अक्ताः शर्करा उपदध्यात्' इत्युपक्रमे केनाक्ता इति संदेहे 'तेजो वै घृतम्' इति वाक्यशेषाद्घृतेनेति यथा निश्चयः, एवमत्रापि 'तत्सत्' इति वाक्यशेषात्सन्निश्चय इत्यर्थः । आसीदित्यतीतकालसम्बन्धोक्तेश्चासदव्याकृतमेव न शून्यमित्याह—असतश्च पूर्वापरेति । उक्तन्यायं वाक्यान्तरेऽतिदिशति—असद्वेति । क्रियमाणत्व-

---

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् (ललिता)

प्रश्न—कहीं-कहीं पर श्रुति उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् भी कहती है 'यह जगत् उत्पत्ति से पूर्व असत् ही था' 'निःसन्देह वतमान समय में दीखने वाला जगत् उत्पत्ति से पूर्व असत् था' इन श्रुतियों में जब उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् कहा गया, तो फिर उसे सत्य कैसे माना जायेगा ? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है । हम आपको समझाते हैं, श्रुति ने उत्पत्ति से पूर्व कार्य को अत्यन्त असत्व के अभिप्राय से असत् नहीं कहा है । हाँ, उत्पत्ति से पूर्व जगत् का नाम-रूप नहीं था, उस समय यह अव्याकृत नाम-रूपवाला धर्मान्तर से युक्त था । जगत् में दो धर्म हैं एक व्याकृत नाम-रूप और दूसरा अव्याकृत नाम-रूप, इनमें से सृष्टि के बाद जगत् के नाम-रूप व्याकृत रहते हैं । और सृष्टि पूर्व इस जगत् के नाम-रूप अव्याकृत रहते हैं । लोक में व्याकृत नाम-रूप को सत् और अव्याकृत नाम-रूप को असत् कहा जाता है । इसी धर्मान्तर अव्याकृत नाम-रूप के कारण उत्पत्ति से पूव जगत् को श्रुति ने असत् कहा है ।

प्रश्न—यह आप को कैसे ज्ञात हुआ ? उत्तर—वाक्यशेष से ऐसा प्रतीत होता है । प्रारम्भ में जो अर्थवादवाक्य संदिग्धार्थक है उसके अर्थ का निश्चय वाक्यशेष से होता है । तदनुसार यहाँ पर **'असदेव इदमग्रआसीत'** इस श्रुति में असत् शब्द से निर्देश जिस जगत् का हुआ था उसी को पुनः सत् शब्द से स्मरण कर 'तत्सदासीत' ऐसा सत् विशेषण दिया गया है । असत् वस्तु का पूवकाल और अपरकाल के साथ सम्बन्ध नहीं होता है । यदि असत् शब्द का अर्थ आपके कथनानुसार अत्यन्त असत् अर्थात् तुच्छ माना जाय तो **'आसीत्'** यह शब्द असङ्गत होने लग जायेगा । निःसन्देह, आज दीखने वाला जगत् सृष्टि से पूर्व असत् था' इस प्रसङ्ग में भी वाक्यशेष में कहा गया है, कि उसने

(१५२) युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥१८॥

नामरूपव्याकृतं हि वस्तु सच्छब्दार्हं लोके प्रसिद्धम् । अतः प्राङ्नामरूपव्याकरणादसदिवासीदित्युपचर्यते ॥१७॥

युक्तेश्च प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमनन्यत्वं च कारणादवगम्यते, शब्दान्तराच्च । युक्तिस्तावद्वर्ण्यते—दधिघटरुचकाद्यर्थिभिः प्रतिनियतानि कारणानि क्षीरमृत्तिकासुवर्णादीन्युपादीयमानानि लोके दृश्यन्ते । नहि दध्यर्थिभिर्मृत्तिकोपादीयते न घटार्थिभिः क्षीरं तदसत्कार्यवादे नोपपद्येत । अविशिष्टे हि प्रागुत्पत्तेः सर्वस्य सर्वत्रासत्त्वे कस्मात्क्षीरादेव दध्युत्पद्यते न मृत्तिकायाः, मृत्तिकाया एव च घट उत्पद्यते न क्षीरात् । अथाविशिष्टेऽपि प्रागसत्त्वे क्षीर एव दध्नः कश्चिदतिशयो न मृत्तिकायां, मृत्तिकायामेव च घटस्य

विशेषणं शून्यस्यासंभवीति भावः ॥१७॥

सत्त्वानन्यत्वयोर्हेत्वन्तरमाह सूत्रकारः—युक्तेरिति । दध्याद्यर्थिनां क्षीरादौ प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तिर्युक्तिस्तया कार्यस्य प्राक्कारणानन्यत्वेन सत्त्वं सिध्यतीत्यर्थः । असतोऽपि कार्यस्य तस्मादुत्पत्तेः कारणत्वधिया तत्र प्रवृत्तिरित्यन्यथोपपत्तिमाशङ्क्याह—अविशिष्टे हीति । असत उत्पत्त्यभावादुत्पत्तौ वा सर्वस्मात्सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गात्तत्तदुपादानविशेषे प्रवृत्तिर्न स्यादित्यर्थः । तदुक्तं सांख्यवृद्धैः—

'असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्' इति ।

शक्तस्य कारणस्य शक्यकार्यकारित्वाच्छक्तिविषयस्य कार्यस्य सत्त्वमसतोऽशक्यत्वात् । किंच सत्कारणाभेदात्कार्यं सदित्युत्तरार्धार्थः । कार्यस्यासत्त्वेऽपि कुतश्चिदतिशयात्प्रवृत्तिनियमोपपत्तिरिति शङ्कते—अथेति । अतिशयः कार्यधर्मः कारणधर्मो वा । आद्ये धर्मित्वात्प्रागवस्थारूपस्य

स्वयं ही अपने को बनाया ऐसा विशेषण के कारण असत् शब्द का अर्थ अत्यन्त असत् नहीं कह सकते । अतः धर्मान्तर से ही उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् कहा है, क्योंकि नाम-रूपव्याकृतवस्तु लोक में सत् शब्द से कहे जाते हैं । इसलिए नाम-रूप बनने से पूर्व यह जगत् असत् की भाँति था, ऐसा औपचारिक प्रयोग होता है ॥१७॥

युक्तेः शब्दान्तराच्च (ललिता)

युक्ति के आधार पर भी उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता और कारण के साथ इसकी अभिन्नता जान पड़ती है । ऐसे ही शब्दान्तर से भी प्रतीत होता है, इनमें से पहले युक्ति दी जा रही है । दधि, घट एवं रूचकादि आभूषण चाहने वाले लोग नियम से उनके कारण दूध, मिट्टी और स्वर्ण को ग्रहण करते लोक में देखे जाते हैं । दध्यर्थी मृत्तिका का उपादान नहीं करता और न घटार्थी दुग्ध का उपादान करते हैं । यह नियमतः प्रवृत्ति असत्कार्यवाद पक्ष में सम्भव नहीं होगी, क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व सभी वस्तुओं का असत्त्व तो सर्वत्र समान ही है । फिर दूध से दधि क्यों बनता है, मृत्तिका से क्यों नहीं बनता और मृत्तिका से ही घट बनता है, दूध से नहीं । यह नियम असत्कार्यवादपक्ष में सुसंगत नहीं होता । पूर्वपक्ष—यह ठीक है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य सर्वत्र असत् है किन्तु दधि का कुछ अतिशय (वैशिष्ट्य) दूध में ही है, मृत्तिका में नहीं, और घट का कुछ अतिशय मिट्टी में ही है,

कश्चिदतिशयो न क्षीर इत्युच्येत, तर्ह्यतिशयवत्त्वात्प्रागवस्थाया असत्कार्यवादहानिः सत्कार्यवादसिद्धिश्च । शक्तिश्च कारणस्य कार्यनियमार्था कल्प्यमाना नान्याऽसतो वा कार्यं नियच्छेत् । असत्त्वाविशेषादन्यत्वाविशेषाच्च । तस्मात्कारणस्यात्मभूता शक्तिः शक्तेश्चात्मभूतं कार्यम् । अपिच कार्यकारणयोर्द्रव्यगुणादीनां चाश्वमहिषवद्भेदबुद्ध्यभावात्तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम् । समवायकल्पनायामपि समवायस्य समवायिभिः सम्बन्धेऽभ्युपगम्यमाने तस्य तस्यान्योन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थाप्रसङ्गः । अनभ्युपगम्यमाने च विच्छेदप्रसङ्गः । अथ समवायः स्वयं सम्बन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैवापरं सम्बन्धं सम्बध्यते,

---

कार्यस्य सत्त्वं दुर्वारमित्याह—तर्ह्यतिशयवत्त्वादिति । द्वितीयेऽपि कार्यसत्त्वमायातीत्याह—शक्तिश्चेति । कार्यकारणाभ्यामन्या कार्यवदसती वा शक्तिर्न कार्यनियामिका, यस्य कस्यचिदन्यस्य नरशृङ्गस्य वा नियामकत्वप्रसङ्गादन्यत्वासत्त्वयोः शक्तावन्यत्र चाविशेषात् । तस्मात् कारणात्मना लीनं कार्यमेवाभिव्यक्तिनियामकतया शक्तिरित्येष्टव्यं, ततः सत्कार्यसिद्धिरित्यर्थः । किंच कार्यकारणयोरन्यत्वे मृद्घटौ भिन्नौ सन्ताविति भेदबुद्धिः स्यादित्याह—अपिचेति । तयोरन्यत्वेऽपि समवायवशा[1]त्तथा बुद्धिर्नोदेतीत्याशङ्क्य समवायं दूषयति—समवायेति । समवायः समवायिभिः संबद्धो न वा ? आद्ये स संबन्धः किं समवायः उत स्वरूपम् । आद्ये समवायानवस्था । द्वितीये मृद्घटयोरपि स्वरूपसंबन्धादेवोपपत्तेः समवायासिद्धिः । असंबद्ध इति पक्षे दोषमाह—अनभ्युपगम्यमान इति । द्रव्यगुणादीनां विशिष्टधीविरहप्रसङ्गः । असंबद्धस्य विशिष्टधीनियामकत्वायोगादित्यर्थः । विशिष्टधीनियामको हि संबन्धः, न तस्य नियामकान्तरापेक्षा, अनवस्थानात्, अतः स्वपरनिर्वाहकः समवाय इति शङ्कते—अथेति । संबध्यते स्वस्य स्वसंबन्धिनश्च विशिष्ट-

---

दूध में नहीं, ऐसा हम कहेंगे । सिद्धान्त— तब तो अतिशय रह जाने के कारण उत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य को असत् कहने वालों का पक्ष निरस्त हो जाता है और सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है । कारण की शक्ति की कार्य के नियामकरूप में कल्पना करोगे तो कारण से भिन्न शक्ति अथवा असत्-शक्ति कार्य का नियमन नहीं कर सकेगी क्योंकि असत्व और अन्यत्व तो सर्वत्र ही एक जैसे हैं । अतः शक्ति कारण की आत्मभूता है और शक्ति का आत्मभूत कार्य है अर्थात् कार्य शक्तिरूप है और शक्ति कारणरूप है । इसके अतिरिक्त कार्य-कारण में और द्रव्य, गुणादि में अश्व-महिष की भाँति भेदबुद्धि नहीं रहती । वहाँ पर तो कार्य-कारण का तादात्म्य और द्रव्य, गुणादि का तादात्म्य मानना पड़ता है । यदि कार्य-कारण में एवं द्रव्य, गुणादि में समवाय सम्बन्ध की कल्पना करोगे तो समवाय के लिए भी समवायी के साथ सम्बन्धान्तर मानना पड़ेगा और ऐसी स्थिति में उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न सम्बन्ध की कल्पना करने पर अनवस्था का प्रसंग आ जायेगा अथवा समवायी के साथ समवाय का सम्बन्ध न मानने पर द्रव्य, गुणादि में विशिष्ट बुद्धि का उच्छेद होने लग जायेगा । प्रश्न—समवाय स्वयं सम्बन्धरूप होने के कारण वह दूसरे सम्बन्ध की अपेक्षा न कर अपने सम्बन्धी के साथ सम्बद्ध हो जायेगा ? उत्तर—तब तो संयोग भी स्वयं सम्बन्धरूप होने के कारण

---

१. भेद ।

संयोगोऽपि तर्हि स्वयं सम्बन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैव समवायं सम्बध्येत। तादात्म्यप्रतीतेश्च द्रव्यगुणादीनां समवायकल्पनानर्थक्यम्। कथं च कार्यमवयविद्रव्यं कारणेष्ववयवद्रव्येषु वर्तमानं वर्तेत। किं समस्तेष्ववयवेषु वर्तेतोत प्रत्यवयवम्। यदि तावत्समस्तेषु वर्तेत ततोऽवयव्यनुपलब्धिः प्रसज्येत, समस्तावयवसन्निकर्षस्याशक्यत्वात्। नहि बहुत्वं समस्तेष्वाश्रयेषु वर्तमानं व्यस्ताश्रयग्रहणेन गृह्यते। अथावयवशः समस्तेषु वर्तेत तदाप्यारम्भकावयवव्यतिरेकेणावयविनोऽवयवाः कल्प्येरन् यैरारम्भकेष्ववयवेष्ववयवशोऽवयवी वर्तेत। कोशावयवव्यतिरिक्तैर्ह्यवयवैरसिः कोशं व्याप्नोति। अनवस्था चैवं प्रसज्येत। तेषु तेष्ववयवेषु

धियं करोतीत्यर्थः। प्रतिबन्द्या दूषयति—संयोगोऽपीति। यत्तु गुणत्वात्संयोगस्य समवायापेक्षा न संबन्धत्वादिति, तन्न, धर्मत्वात् समवायस्यापि संबन्धान्तरापत्तेरसंबद्धस्याश्वत्वस्य गोधर्मत्वादर्शनात्। किंच 'निष्पापत्वादयो गुणाः' इति श्रुतिस्मृत्यादिषु 'व्यवहारादिष्टधर्मो गुणः' इति [1]परिभाषया समवायस्यापि गुणत्वाच्च। 'जातिविशेषो गुणत्वम्' इति [2]परिभाषा तु समवायसिद्ध्युत्तरकालीना, नित्यानेकसमवेता जातिरिति ज्ञानस्य समवायज्ञानाधीनत्वात् अतः समवायसिद्धेः प्राक् संयोगस्य गुणत्वमसिद्धमिति दिक्। किंच प्रतीत्यनुसारेण वस्तु स्वीकार्यमन्यथा गोप्रतीतेरश्व आलम्बनमित्यस्यापि सुवचत्वात्। तथा च मृद्घट इत्यभेदप्रतीतेरभेद एव स्वीकार्यः, [3]ताभ्यामत्यन्तभिन्नस्य समवायस्य तन्नियामकत्वासंभवादित्याह—तादात्म्येति। एवं प्रतीत्यनुसारेण कार्यस्य कारणात्मना सत्त्वं, स्वरूपेण तु मिथ्यात्वमित्युक्तम्। वृत्त्यनिरूपणाच्च [4]तस्य मिथ्यात्वमित्याह—कथं चेति। तत्राद्यमनूद्यावयविनः पटादेस्तन्त्वादिष्ववयवेषु त्रित्वादिवत्स्वरूपेण वृत्तिरुता [5]वयवश इति विकल्प्याद्यं दूषयति—यदीत्यादिना। व्यासज्यवृत्तिवस्तुप्रत्यक्षस्य [6]यावदाश्रयप्रत्यक्षजन्यत्वात् संवृतपटादेर्यावदवयवानामप्रत्यक्षत्वादप्रत्यक्षत्वं प्रसज्येतेत्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते—अथेति। यथा हस्ते कोशे चावयवशः खड्गो वर्तमानो हस्तमात्रग्रहेऽपि गृह्यते, एवं यत्किंचिदवयवग्रहेणावयविनो ग्रहसंभवेऽप्यवयवानामनवस्था स्यादिति दूषयति—तदापीति। आद्य-

समवाय की अपेक्षा न करके ही अपने आश्रय के साथ जुड़ जायेगा। साथ ही, द्रव्य, गुणादि का तादात्म्यबोध होने के कारण समवाय की कल्पना भी अनर्थक ही है। प्रश्न—अवयवी कार्यद्रव्य अपने कारण अवयवद्रव्य में रहता है, वह किस प्रकार रहता है, क्या समस्त अवयवों में रहता है अथवा प्रत्येक अवयव में रहता है? उत्तर—प्रथम पक्ष मानने पर अवयवी का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा क्योंकि समस्त अवयवों के साथ में इन्द्रियसन्निकर्ष हो नहीं सकता। समस्त आश्रयों में रहने वाला बहुत्व व्यस्तआश्रय के ज्ञान से ज्ञात नहीं होता। अतः प्रथम पक्ष में अवयवी का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। यदि कहो कि समस्त अवयवों में अवयवशः अवयवी रह जायेगा तो इस स्थिति में आरम्भक अवयव से भिन्न अवयवी के कुछ अवयवों की कल्पना करनी पड़ेगी जिन अवयवों के कारण वे अवयवी अपने आरम्भक अवयवों में अवयवशः रह सकेंगे म्यान के अवयव से भिन्न तलवार के अवयव होते हैं, इसीलिए अपने अवयवों से युक्त तलवार कोश को व्याप्त करके रहती है, ऐसा कहने पर भी अनवस्था रहेगी क्योंकि उन उन अवयवों में अवयवी के रहने के लिए दूसरे-दूसरे अवयवों की कल्पना करनी पड़ेगी। दूसरे पक्ष में यह दोष आयेगा कि यदि अवयवी प्रत्येक अवयव में रहता है तो एक में व्यापार होने पर अन्य अवयव में किसी प्रकार व्यापार नहीं होगा, जैसे स्रुघ्न में रहने

१. मन्वादिदिष्ट परिभाषया। २. तार्किकादि परिभाषा। ३. मृद्घटाभ्याम्। ४. कार्यस्य।
५. किंचिदवयवेन। ६. साकल्यस्य।

वर्तयितुमन्येषामन्येषामवयवानां कल्पनीयत्वात् । अथ प्रत्यवयवं वर्तेत तदैकत्र व्यापारेऽन्यत्राव्यापारः स्यात् । नहि देवदत्तः स्रुघ्ने संनिधीयमानस्तदहरेव पाटलिपुत्रेऽपि संनिधीयते । युगपदनेकत्र वृत्तावनेकत्वप्रसङ्गः स्यात् । देवदत्तयज्ञदत्तयोरिव स्रुघ्नपाटलिपुत्रनिवासिनोः गोत्वादित्वत्येकं परिसमाप्तेर्न दोष इति चेत् न, तथा प्रतीत्यभावात् ।

यदि गोत्वादिवत्प्रत्येकं परिसमाप्तोऽवयवीस्याद्यथा गोत्वं प्रतिव्यक्ति प्रत्यक्षं गृह्यत एवमवयव्यपि प्रत्यवयवं प्रत्यक्षं गृह्येत । न चैवं नियतं गृह्यते । प्रत्येकपरिसमाप्तौ चावयविनः कार्येणाधिकारात्स्य चैकत्वाच्छृङ्गेणापि स्तनकार्यं कुर्यादुरसा च पृष्ठकार्यम् । न चैवं दृश्यते । प्रागुत्पत्तेश्च कार्यस्यासत्त्व उत्पत्तिरकर्तृका निरात्मिका च स्यात् । उत्पत्तिश्च नाम क्रिया, सा सकर्तृकैव भवितुमर्हति गत्यादिवत्, क्रिया च

द्वितीयमुद्भाव्य दूषयति—अथ प्रत्यवयवमित्यादिना । एकस्मिंस्तन्तौ, पटवृत्तिकाले तन्त्वन्तरे वृत्तिर्न स्यात्, वृत्तावनेकत्वापत्तेरित्यर्थः । यथा युगपदनेकव्यक्तिषु वृत्तावपि जातेरनेकत्वदोषो नास्ति तथावयविन इत्याशङ्क्ते—गोत्वेति । जातिवदवयविनो वृत्तिरसिद्धा अनुभवाभावादिति परिहरति—न तथेति ।

दोषान्तरमाह—प्रत्येकेति । अधिकारात्संबन्धात् । यथा देवदत्तः स्वकार्यमध्ययनं ग्रामेऽरण्ये वा करोति, तथा गोरवयवो स्वकार्यं क्षीरादिकं शृङ्गपुच्छादावपि कुर्यादित्यर्थं । एवं वृत्त्यनिरूपणादनिर्वाच्यत्वं कार्यस्य दर्शितम् । संप्रत्यसत्कार्यवादे दोषान्तरमाह—प्रागिति । यथा घटश्चलतीत्युक्ते चलनक्रियां प्रत्याश्रयत्वरूपं कर्तृत्वं घटस्य भाति तथा पटो जायत इति जनिक्रियाकर्तृत्वमनुभूयते । अतो जनिकर्तुः जनेः प्राक्सत्त्वं वाच्यम् । कर्तुरसत्त्वे क्रियाया अप्यसत्त्वापत्तेरित्यर्थः । जनेरनुभवसिद्धेऽपि सकर्तृकत्वे क्रियात्वेनानुमानमाह—उत्पत्तिश्चेति । असतो घटस्योत्पत्तौ कर्तृत्वासंभवेऽपि कुलालादेः

वाला देवदत्त उसी दिन पाटलिपुत्र में नहीं रहता है । और यदि एक साथ सर्वत्र अवयवी का रहना मानोगे, तो अवयवी में अनेकत्व प्रसंग आ जायेगा । जैसे स्रुघ्न में देवदत्त रहता है तो पाटलिपुत्र में यज्ञदत्त रहता है भिन्न व्यक्ति होने के कारण एक साथ भिन्न देश में रह जाता है, किन्तु दृष्टान्त में अवयवी भिन्न-भिन्न नहीं है, जो अवयवशः सर्वत्र रहने लग जाय ।

प्रश्न—गोत्व प्रत्येक गौ में परिसमाप्त है जब कि सभी गायों में एक ही गोत्व रहता है, ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है, ऐसे ही अवयवी भी युगपद् अनेक अवयव में रहते हुए भी प्रति अवयव उसकी पर्याप्ति मानने में कोई दोष नहीं है ? उत्तर—जाति की भाँति अवयवी की वृत्ति अनुभवसिद्ध नहीं है क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती है । गोत्व समस्त गायों में रहते हुए भी प्रत्येक में परिसमाप्त है, गोत्व की भाँति अवयवी भी प्रत्येक व्यक्ति में परिसमाप्त होता, तो एक गौ में जैसे गोत्व का प्रत्यक्ष होता है, ऐसे ही प्रत्येक अवयव में अवयवी का प्रत्यक्ष होना चाहिए था किन्तु नियम से ऐसा होता नहीं है । साथ ही अवयवी को प्रत्येक अवयव में परिसमाप्त मानोगे तो प्रत्येक अवयव से अवयवी का कार्य होना चाहिए क्योंकि अवयवी एक है जो सभी अवयवों में रहता है । इस स्थिति मे स्तन से दुग्ध निकलने की भाँति शृङ्ग से भी दुग्ध निकलना चाहिए पीठ से भार वहन करने की भाँति छाती से भी भार वहन करने का प्रसङ्ग आ जायेगा, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता । असत्कार्यवाद पक्ष में एक और दोष भी आता है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् मानने पर उत्पत्ति बिना कर्ता के निरात्मक होने लग जायेगी । उत्पत्ति एक क्रिया है, जो उत्पत्ति क्रिया सकर्तृक ही होती है, जैसे

नाम स्यादकर्तृका चेति विप्रतिषिध्येत । घटस्य चोत्पत्तिरुच्यमाना न घटकर्तृका किं तर्ह्यन्यकर्तृकेति कल्प्या स्यात् । तथा कपालादीनामप्युत्पत्तिरुच्यमानाऽन्यकर्तृकैव कल्प्येत । तथाच सति घट उत्पद्यत इत्युक्ते कुलालादीनि कारणान्युत्पद्यन्त इत्युक्तं स्यात् । नच लोके घटोत्पत्तिरित्युक्ते कुलालादीनामप्युत्पद्यमानता प्रतीयते । [1]उत्पन्नताप्रतीतेश्च । अथ [2]स्वकारणसत्तासम्बन्ध एवोत्पत्तिरात्मलाभश्च कार्यस्येति चेत्, कथमलब्धात्मकं सम्बध्येतेति वक्तव्यम् । सतोर्हि द्वयोः सम्बन्धः सम्भवति न सदसतोरसतोर्वा । अभावस्य च [4]निरुपाख्यत्वात्प्रागुत्पत्तेरिति मर्यादाकरणमनुपपन्नम् । सतां हि लोके क्षेत्रगृहादीनां मर्यादा दृष्टा नाभावस्य । नहि वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव प्राक्पूर्णवर्मणोऽभिषेकादित्येवंजातीयकेन मर्यादाकरणेन [5]निरुपाख्यो वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव भवति भविष्यतीति वा विशेष्यते । यदि च वन्ध्यापुत्रोऽपि कारकव्यापारदूर्ध्वमभविष्यत्तत

सत्त्वात्कर्तृत्वमित्याशङ्क्याह—घटस्य चेति । घटोत्पत्तिवदसत्कपालाद्युत्पत्तिरित्यतिदिशति—तथेति । शङ्कामनूद्य दोषमाह—तथाचेति । अनुभवविरोध इत्यर्थः । उत्पत्तिर्भावस्याद्या विक्रियेति स्वमतेन कार्यसत्त्वमानीतं, संप्रति कार्यस्योत्पत्तिर्नाम स्वकारणे समवायः स्वस्मिन् सत्तासमवायो वेति तार्किकमतमाशङ्कते–अथेति । तन्मतेनापि कार्यस्य सत्त्वमावश्यकं, असतः संबन्धित्वायोगादित्याह–कथमिति । असतोर्वेति दृष्टान्तोक्तिः । ननु नरशृङ्गादिवत्कार्यं सर्वदा सर्वत्रासन्न भवति किंतूत्पत्तेः प्राक् ध्वंसानन्तरं चासत् मध्ये तु सदेवेति वैषम्यात्संबन्धित्वोपपत्तिरित्याशङ्क्य—अभावस्येति । अत्राभावशब्दा असच्छब्दापरपर्याया व्याख्येयाः । असतः कालेनासंबन्धात्प्राक्त्वं न युक्तमित्यर्थः । ननु कारकव्यापारादूर्ध्वंभाविनः कार्यस्य वन्ध्यापुत्रतुल्यत्वं कथमित्यत आह—यदि चेति । कार्याभावोऽसत्कार्यमित्यर्थः

देवदत्तो गच्छति कहने पर गति क्रिया का कर्ता उस समय विद्यमान होता है ऐसे ही 'घट उत्पद्यते' इस वाक्य में उत्पत्ति क्रिया का कर्ता घट को क्रियाक्षण में विद्यमान ही होना चाहिए । क्रिया है तो सही किन्तु कोई उसका कर्ता नहीं है, ऐसा कहना परस्पर विरुद्ध है, घट की उत्पत्ति तो है किन्तु उसका कर्ता घट नहीं है, तब तो किसी अन्य कर्ता की कल्पना करनी पड़ेगी । ऐसे ही कपालादि की उत्पत्ति मानने पर उसका कर्ता कोई भिन्न ही मानना पड़ेगा । ऐसी स्थिति में घट उत्पद्यते ऐसा कहने पर घटादि की उत्पत्ति तो प्रतीत होती है पर कुलालादि की उत्पत्ति प्रतीत भी नहीं होती । प्रश्न—अपने कारण सत्ता के साथ सम्बन्ध होना ही कार्य की उत्पत्ति एवं स्वरूपलाभ है ? उत्तर—फिर भी जिसका स्वरूप अभी बना ही नहीं वह अलब्धात्मक कार्य कारण के साथ कैसे सम्बद्ध होगा, यह आपको बतलाना पड़ेगा क्योंकि दो सद्वस्तु का ही सम्बन्ध सम्भव है, एक सत् और दूसरा असत् हो अथवा दोनों ही असत् हों तो इस स्थिति में सम्बन्ध का होना सम्भव नहीं है । जब अभाव का निरूपण ही नहीं होता, तो उत्पत्ति से पूर्व उसकी मर्यादा भी नहीं बनती । लोक में घर क्षेत्रादि सद्वस्तु की मर्यादा देखी गयी है किन्तु निरुपाख्य अभाव की मर्यादा कहीं भी नहीं देखी गयी है । पूर्णवर्मा के अभिषेक से पूर्व वन्ध्यापुत्र राजा हुआ था इस प्रकार मर्यादाकरण से निरुपाख्य वन्ध्यापुत्र राजा न था, न है और न होगा । यदि वन्ध्यापुत्र भी कारक व्यापार के अस्तित्व धारण कर सके, तो

१. उत्पद्यत इति पाठांतरम् । २. घटादीनामिति शेषः । ३. स्वकारण संबंधः स्वस्मिन्सत्ता संबंधश्चेत्यर्थः । ४. अनिरूप्यत्वात् । ५. निरुपयितुमशक्यः ।

इदमप्युपापत्स्यत कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं भविष्यतीति। वयं तु पश्यामो वन्ध्यापुत्रस्य कार्याभावस्य चाभावत्वाविशेषाद्यथा वन्ध्यापुत्रः कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यत्येवं कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यतीति।

नन्वेवं सति कारकव्यापारोऽनर्थकः प्रसज्येत। यथैव हि प्राक्सिद्धत्वात्कारणस्वरूपसिद्धये न कश्चिद्व्याप्रियते। एवं प्राक्सिद्धत्वात्तदनन्यत्वाच्च कार्यस्य स्वरूपसिद्धयेऽपि न कश्चिद्व्याप्रियेत। व्याप्रियते च। अतः कारकव्यापारार्थवत्त्वाय मन्यामहे प्रागुत्पत्ते[1]रभावः कार्यस्येति। नैष दोषः। यतः कार्याकारेण कारणं व्यवस्थापयतः कारकव्यापारस्यार्थवत्त्वमुपपद्यते। कार्याकारोऽपि कारणस्यात्मभूत एवानात्मभूतस्यानारभ्यत्वादित्यभाणि। नच विशेषदर्शनमात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति। नहि देवदत्तः संकोचितहस्तपादः प्रसारितहस्तपादश्च विशेषेण दृश्यमानोऽपि वस्त्वन्यत्वं गच्छति, स एवेति प्रत्यभिज्ञानात्।

इत्युपापत्स्यत उपपन्नमभविष्यदित्यन्वयः कस्तर्हि निर्णयः, तत्राह—वयं त्विति। 'नासतो विद्यते भावः' इति स्मृतेरिति भावः।

सत्कार्यवादे कारकवैयर्थ्यं शङ्कते—नन्विति। सिद्धकारणानन्यत्वाच्च कार्यस्य सिद्धत्वमित्याह—तदनन्यत्वाच्चेति। अनिर्वाच्यकार्यात्मना कारणस्याभिव्यक्त्यर्थः कारकव्यापार इत्याह—नैष दोष इति। कार्यसत्यत्वमिच्छतां सांख्यानां सत्कार्यवादे कारकवैयर्थ्यं दोष आपतति, अभिव्यक्तेरपि सत्त्वात्। अद्वैतवादिनां त्वघटितघटनावभासनचतुरमायामहिम्ना स्वप्नवद्यथादर्शनं सर्वमुपपन्नम्। विचार्यमाणे सर्वमयुक्तं, युक्तत्वे द्वैतापत्तेरिति मुख्यं समाधानं समाधानान्तराभावात्। ननु कारणाद्भिन्नमसदेवोत्पद्यत इति समाधानं किं न स्यादित्याशङ्क्यासत्पक्षस्य दूषणमुक्तं स्मरेत्याह—कार्याकारोऽपीति। अतः कारणाद्भेदाभेदाभ्यां दुर्निरूपस्य 'सदसद्विलक्षणस्यानिर्वाच्याभिव्यक्तिरनिर्वाच्यकारकव्यापाराणां फलमिति पक्ष एव श्रेयानिति भावः। ननु मृद्यदृष्टः पृथुबुध्नत्वाद्यवस्थाविशेषो घटे दृश्यते। तथाच घटो मृद्भिन्नः, तद्विरुद्धविशेषवत्त्वात्, वृक्षवदित्यत आह—नचेति।

असत् कार्य भी व्यापार के पश्चात् अस्तित्व धारण कर सकेगा किन्तु यह दोनों ही असम्भव हैं। हम तो देखते हैं कि वन्ध्यापुत्र एवं असत्कार्य दोनों ही में अभावत्व एक जैसा है। इसलिए जिस प्रकार कारक व्यापार के पश्चात बन्ध्यापुत्र अस्तित्व धारण नहीं करता ऐसे ही कारक व्यापार के अनन्तर असत्कार्य भी सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकेगा।

प्रश्न—जैसे वेदान्ती ने असत्कार्यपक्ष में कारक व्यापार को अनर्थक सिद्ध किया, ऐसे ही सत्कार्यवादपक्ष में भी कारकव्यापार अनर्थक ही सिद्ध होगा। जिस प्रकार पूर्वसिद्ध होने के कारण मत्तिकादि कारण की स्वरूपसिद्धि के लिए कोई व्यापार नहीं किया जाता है ऐसे ही कारणात्मना कार्य जब उत्पत्ति से पूर्व सिद्ध ही है और वह अपने कारण से अभिन्न भी है, तो ऐसी स्थिति में सत्कार्य के स्वरूपसिद्धि के लिए भी कोई व्यापार आवश्यक नहीं है, किन्तु व्यापार करते देखा जाता है। अतः कारक व्यापार की सार्थकता के लिए हम असत्कार्यवादी मानते हैं कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अभाव है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि कार्याकाररूप स कारण की व्यवस्था मानने वाले हम वेदान्तियों के यहाँ कारकव्यापार की सार्थकता सिद्ध होती ही है। घटादि कार्याकार भी मृत्तिका कारण का अपना स्वरूप ही है। यदि स्वरूप नहीं होता तो उस कारण से कार्य का निर्माण ही कैसे होता, ऐसा हम पहले कह आये हैं। वस्तु में विशेष देखनेमात्र से वह भिन्न नहीं हो जाती

---

१. कार्यस्य।

तथा प्रत्यभिज्ञानात् । तथा प्रतिदिनमनेकसंस्थानानामपि पित्रादीनां न वस्त्वन्यत्वं भवति, मम पिता मम भ्राता मम पुत्र इति प्रत्यभिज्ञानात् । जन्मोच्छेदानन्तरितत्वात्तत्र युक्तं नान्यत्रेति चेत् । न । क्षीरादीनामपि दध्याद्याकारसंस्थानस्य प्रत्यक्षत्वात् । अदृश्यमानानामपि वटधानादीनां समानजातीय[1]ावयवान्तरोपचितानामङ्कुरादिभावेन दर्शनगोचरतापत्तौ जन्मसंज्ञा । तेषामेवावयवानामपचयवशाददर्शनापत्तावुच्छेदसंज्ञा । तत्रे[2]दृग्जन्मोच्छेदान्तरितत्वाच्चेदसतः सत्त्वापत्तिः सतश्चासत्त्वापत्तिस्तथा सति गर्भवासिन उत्तानशायिनश्च भेदप्रसङ्गः । तथा च बाल्ययौवनस्थाविरेष्वपि भेदप्रसङ्गः, पित्रादिव्यवहारलोपप्रसङ्गश्च । एतेन क्षणभङ्गवादः [3]प्रतिवेदितव्यः । यस्य पुनः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं तस्य निर्विषयः

वस्तुतोऽन्यत्वं सतो भेदः । हेतोर्व्यभिचारस्थलान्तरमाह—तथा प्रतिदिनमिति । प्रत्यहं पित्रादिदेहस्यावस्थाभेदेऽपि जन्मनाशयोरभावादभेदो युक्तः । दार्ष्टान्तिके तु मृदादिनाशे सति घटादिकं जायत इति जन्मविनाशरूपविरुद्धधर्मवत्त्वात्कार्यकारणयोरभेदो न युक्त इति शङ्कते—जन्मेति । कारणस्य नाशाभावाद्धेतुत्वसिद्धिरिति परिहरति—नेति । दधिघटादिकार्यान्वितत्वेन क्षीरमृदादीनां प्रत्यक्षत्वान्नाशासिद्धिरित्यर्थः । ननु यत्रान्वयो दृश्यते तत्र हेत्वसिद्धावपि यत्राङ्कुरादौ वटबीजादीनामन्वयो न दृश्यते तत्र हेतुसत्त्वाद्वस्त्वन्यत्वं स्यादित्यत आह—अदृश्येति । तत्राप्यङ्कुरादौ बीजाद्यवयवाः सन्त्येव सत एव जन्मविनाशौ किन्त्ववयवान्तरोपचयापचयाभ्यां तद्व्यवहार इत्यर्थः । अस्तूपचयापचयलिङ्गेन वस्तुभेदानुमानं ततोऽसत उत्पत्तिः सतो नाश इत्याशङ्क्य व्यभिचारमाह—तत्रेदृगिति । पितृदेहेऽपि भेदसत्त्वान्न व्यभिचार इत्यत्र बाधकमाह—पित्रादीनि । एतेनेति । कारणस्य सर्वकार्येष्वन्वयकथनेनेत्यर्थः । स्वपक्षे दोषं परिहृत्य परपक्षे प्रसञ्जयति—यस्य पुनरिति । असतः कार्यस्य

देवदत्तनामक व्यक्ति जब हस्त-पाद संकुचितकर रखता है और जब उसे फैला देता है, तब इस विशेष के दिखाई पड़ने पर भी देवदत्त व्यक्ति भिन्न नहीं हो जाता, क्योंकि वही देवदत्त है ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती रहती है । पितादि के शरीर में प्रतिदिन अनेक अवस्थायें होता रहती हैं फिर भी वे भिन्न नहीं हो जाते, क्योंकि संस्थान के परिवर्तन होने पर भी मेरे पिता, मेरी माता, मेरा पुत्र ऐसी प्रतिभिज्ञा होती रहती है । प्रश्न—जन्म और उच्छेद के अनन्तर होने वाली विकृति में ही उक्त परिवतत से भेद माना गया है, अन्यत्र नहीं ? उत्तर—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । दुग्धादि में भी दध्यादि आकारसंस्थान का प्रत्यक्ष होता ही है । अदृश्यमान वट के अतिसूक्ष्म बीज में भी समान जातिवाली मिट्टी तथा जल के संयोग से उपचित हुए में अंकुरादि रूप से प्रत्यक्ष विषयता आ जाने पर जन्म संज्ञा और उनके अवयवों के नट जाने पर, (अदर्शन होने पर) उच्छेद संज्ञा कही जाती है । इस प्रकार उसमें उपचय-अपचयरूप जन्म और उच्छेद के होने से न असत् की सत्वापत्ति होती है और न सत् असत् ही होता है । यदि उक्त रीति से सत् असत् और असत् सत् होने लग जाय, तो गर्भावस्था में और जन्म लेने के बाद वाले बालक में भेद का प्रसंग आ जायेगा । इतना ही नहीं, प्रत्युत बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था के भी अवयव के उपचय-अपचय के कारण भेद का प्रसंग आ जायेगा, फिर तो पित्रादि व्यवहार के लोप का प्रसंग आने लग जायेगा । इस प्रकार सभी कार्यों के कारण का अन्वय सिद्ध कर देने से क्षणभङ्गवाद भी निरस्त हुआ समझना चाहिए । जिसके मत में उत्पत्ति से

१. पार्थिवत्वेन समानजातीयपृथिवी जलाद्यवयवैरुपचितानामुच्छिसितानाम् । २. उपचयापचयरूपम् ।
३. निरस्त इति ज्ञातव्यः ।

कारकव्यापारः स्यात् । अभावस्य विषयत्वानुपपत्तेराकाशहननप्रयोजनखड्गाद्यनेकायुधप्रयुक्तिवत् । समवायिकारणविषयः कारकव्यापारः स्यादिति चेत् । न । अन्यविषयेण कारकव्यापारेणान्यनिष्पत्तेरति[1]प्रसङ्गात् । समवायिकारणस्यैवात्मातिशयः कार्यमिति चेत् । न । सत्कार्यतापत्तेः । तस्मात्क्षीरादीन्येव द्रव्याणि दध्यादिभावेनावतिष्ठमानानि कार्याख्यां लभन्त इति न कारणादन्यत्कार्यं वर्षशतेनापि शक्यं [2]निश्चेतुम् । तथा मूलकारणमेवान्त्यात्कार्यात्तेन तेन कार्याकारेण नटवत्सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते । एवं युक्तेः कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सत्त्वमनन्यत्वं च कारणादवगम्यते ।

शब्दान्तराच्चैतदवगम्यते । पूर्वसूत्रेऽसद्व्यपदेशिनः शब्दस्योदाहृतत्वात्ततोऽन्यः सद्व्यपदेशी शब्दः शब्दान्तरम्—,सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि । 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' इति चासत्पक्षमुपक्षिप्य 'कथमसतः सज्जायेत' इत्याक्षिप्य 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् (छा० ६-२-१) इत्यवधारयति । तत्रेदंशब्दवाच्यस्य कार्यस्य

कारकव्यापाराहितातिशयाश्रयत्वायोगादविषयत्वेऽपि मृदादेर्विषयत्वं स्यादिति शङ्कते—समवायीति । समवायिकारणात्कार्यं भिन्नमभिन्नं वेति विकल्प्याद्यं निरस्यति—नेत्यादिना । द्वितीयमाशङ्क्येष्टापत्तिमाह—समवायीति । कार्याणामवान्तरकारणानन्यत्वमुपसंहरति—तस्मादिति । परमकारणानन्यत्वं फलितमाह—तथा मूलेति ।

पूर्व कार्य असत् माना गया है, उसके मत में कारक व्यापार निर्विषय होने लग जायेगा, क्योंकि अभाव में विषयत्व युक्तिसिद्ध नहीं है । जैसे हनन प्रयोजन के लिए खड्गादि अनेक आयुधों का प्रयोग आकाश के ऊपर नहीं होता अर्थात् शस्त्र से आकाश छिन्न-भिन्न नहीं होता वैसे ही अभाव भी कारक व्यापार का विषय नहीं बन सकता । प्रश्न—हम असत्कार्यवादी कारक व्यापार का विषय समवायीकारण को मानते हैं ? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं । दूसरे के व्यापार से दूसरे की निष्पत्ति मानने पर अतिप्रसंग होने लग जायेगा और समवायीकारण का ही स्वरूपविशेष कार्य है ऐसा यदि कहोगे तो सत्कार्यवाद की प्रसक्ति हो जायेगी, जो आप को अभीष्ट नहीं है । अतः दुग्धादि द्रव्य ही दध्यादिरूप से अवस्थित हो जाने पर कार्य संज्ञा को प्राप्त कर जाते हैं, उस कार्य को कारण से भिन्न सौ वर्ष में भी कोई सिद्ध नहीं कर सकता । इस प्रकार परमकारण ब्रह्म ही भूत-भौतिक अन्तिमकार्यपर्यन्त विभिन्न कार्याकार के रूप में नट की भाँति सभी व्यवहारों का आश्रय बन जाता है अर्थात् जैसे एक ही नट आवश्यकतानुसार अनेक प्रकार का अभिनय करता है, तदनुरूप समय-समय पर वेष-भूषा भी बदलता रहता है, वैसे ही मूलकारण ब्रह्म ही अन्तिमघटादिकार्यपर्यन्त भूत-भौतिक मध्यवर्ती कार्यरूप में भी सभी व्यवहार का आश्रय बन जाता है । इस प्रकार युक्ति से उत्पत्ति से पूर्व कार्य का सत्व और कारण से अभिन्नत्व निश्चित होता है ।

शब्दान्तर से भी ऐसा ही जाना जाता है । पूर्वसूत्र में असत् कार्य को बतलाने वाला असत् शब्द का उदाहरण दिया गया था, उससे भिन्न सत् को बतलाने वाला शब्द शब्दान्तर माना जाता है । 'हे सौम्य ! उत्पत्ति से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् सत् ही था' 'सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य अद्वय

१. मृदादेःपटाद्युत्पत्तिरिति प्रसङ्गशब्दार्थः । २. कल्पयितुं इति पाठान्तरम् । ३. कार्यानुपादानमत्यकार्यं यथा घटादिः । ४. उत्पन्न ।

(१५३) पटवच्च ॥१६॥

प्रागुत्पत्तेः सच्छब्दवाच्येन कारणेन सामानाधिकरणस्य श्रूयमाणत्वात्सत्त्वानन्यत्वे प्रसिध्यतः। यदि तु प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं स्यात्पश्चाच्चोत्पद्यमानं कारणे समवेयात्तदान्यत्कारणात्स्यात्। तत्र 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६-१-३) इतीयं प्रतिज्ञा पीड्येत सत्त्वानन्यत्वावगतेस्त्वियं प्रतिज्ञा समर्थ्यते ॥१८॥

यथा च संवेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते किमयं पटः किं वान्यद्द्रव्यमिति। स एव प्रसारितो यत्संवेष्टितं द्रव्यं तत्पट एवेति प्रसारणेनाभिव्यक्तो गृह्यते। यथा च संवेष्टनसमये पट इति गृह्यमाणोऽपि न विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते स एव प्रसारणसमये विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते न संवेष्टितरूपादन्योऽयं भिन्नः पट इति। एवं तन्त्वादिकारणावस्थं

असत्कार्यवादे प्रतिज्ञाबाधः स्यादित्याह—यदि तु प्रागुत्पत्तेरिति ॥१८॥

कार्यमुपादानाद्भिन्नं 'तदुपलब्धावप्यनुपलभ्यमानत्वात् ततोऽधिकपरिमाणत्वाच्च मशकादिव शशक इत्यत्र व्यभिचारार्थं सूत्रम्—पटवच्चेति। द्वितीयहेतोर्व्यभिचारं स्फुटयति—यथा च संवेष्टनेति।

ब्रह्म था इत्यादि जगत् को सद्रूप बतलाने वाले शब्दान्तर श्रुति में देखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त 'कुछ लोगों ने उत्पत्ति से पूर्व इस सम्पूर्ण जगत् को असत् ही कहा था' इस वाक्य के द्वारा असत् पक्ष का उत्थापनकर 'असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है' इस वाक्य द्वारा असत् पक्ष पर आक्षेप उठा कर 'हे सौम्य! यह जगत् सृष्टि से पहले सत् ही था' इस वाक्य के द्वारा सत्कार्यवाद का निश्चय कराते हैं। यहाँ पर '**इदम**' पदवाच्य कार्य का उत्पत्ति से पूर्व सच्छब्दवाच्य कारण के साथ सामानाधिकरण्य जो सुना जाता है, उससे भी कारण में कार्य का सत्व और अनन्यत्व सिद्ध हो जाता है। किन्तु यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् होता और बाद में उत्पन्न होकर कारण के साथ समवाय सम्बन्ध से जुड़ता, तब कारण से कार्य को भिन्न कहा जा सकता था। ऐसी स्थिति में वहाँ पर 'जिसके सुन लेने पर अश्रुत भी श्रुत हो जाता है' यह प्रत्यभिज्ञा पीड़ित होने लग जायेगी, क्योंकि यह प्रतिज्ञा कारण में कार्य के सत्व और अनन्यत्वबोध से ही समर्थित होती है ॥१८॥

पटवच्च (ललिता)

अपने उपादानकारण से कार्य भिन्न है क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व कारण की उपलब्धि होने पर भी कार्य उपलब्ध नहीं होता तथा कारण की अपेक्षा कार्य का परिमाण अधिक होता है जैसे मच्छर से खरगोश बड़ा होता है। इस अनुमान में अग्रिम सूत्र से व्यभिचार दिखलाते हैं—

जैसे लपेटा हुआ वस्त्र यह पट है या कोई अन्य द्रव्य, ऐसा स्पष्ट नहीं होता और जब वह पट फैला दिया जाता है तब फैलाने से वही पट अभिव्यक्त हो जाता है कि जो द्रव्य पहले संवेष्टित था वही यह पट है। इसके अतिरिक्त सवेष्टन के समय यह पट है ऐसा गृहीत होने पर भी उसकी विशिष्ट लम्बाई-चौड़ाई गृहीत नहीं होती है और जब उसे फैला देते हैं, तब उस पट का विशिष्ट आयामविस्तार भी गृहीत होता है। इतने मात्र से संवेष्टितरूप से यह प्रसारित पट भिन्न नहीं हो जाता, ऐसे ही तन्त्वादि कारणावस्था में अवस्थित जो पटादि कार्य स्पष्ट नहीं होता, वही कार्य तुरी,

---

१. कारण।

७. इतरव्यपदेशाधिकरणम् सू० (२१–२३)

(१५४) यथा च प्राणादि ॥२०॥

हिताक्रियादि स्यान्नो वा जीवाभेद प्रपश्यत: । जीवाहितक्रिया स्वार्था स्यादेषा नहि युज्यते ।।
अवस्तु जीवससारस्तेन नास्ति मम क्षति: । इति पश्यत ईशस्य न हिताहितभागिता ।।

पटादिकार्यमस्पष्टं सत् तुरीवेमकुविन्दादिकारकव्यापारादिभिर्व्यक्तं स्पष्टं गृह्यते । अतः संवेष्टितप्रसारितपटन्यायेनैवानन्यत्कारणात्कार्यमित्यर्थः ॥१९॥

यथा च लोके प्राणापानादिषु प्राणभेदेषु प्राणायामेन निरुद्धेषु कारणमात्रेण रूपेण वर्तमानेषु जीवनमात्रं कार्यं निर्वर्त्यते नाकुञ्चनप्रसारणादिकं कार्यान्तरम् । तेष्वेव प्राणभेदेषु पुनः प्रवृत्तेषु जीवनादधिकमाकुञ्चनप्रसारणादिकमपि कार्यान्तरं निर्वर्त्यते । नच प्राणभेदानां प्रभेदवतः प्राणादन्यत्वं, समीरणस्वभावाविशेषात् । एवं कार्यस्य कारणादनन्यत्वम् । अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वात्तदनन्यत्वाच्च सिद्धैषा श्रौती प्रतिज्ञा 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६.१-१) इति ॥२०॥

आयामो दैर्घ्यम् ॥१९॥

तत्रैव 'विलक्षणकार्यकारित्वं कार्यमुपादानाद्भिन्नं, भिन्नकार्यकरत्वात्, संमतवत् इति हेतुमाशङ्क्य व्यभिचारमाह सूत्रकारः—यथा च प्राणादीति । **एवं जीवजगतोर्ब्रह्मानन्यत्वात्प्रतिज्ञासिद्धिरित्यधिकरणार्थमुपसंहरति**— अतश्च कृत्स्नस्येति ॥२०॥

वेन, कुविन्दादि जो पटनिर्मापक यन्त्र हैं उन कारकव्यापारों से व्यक्त हो स्पष्ट गृहीत होता है। अतः संवेष्टित पट एव प्रसारित पट को ध्यान में रखकर इसी रीति से कार्य कारण से अभिन्न सिद्ध होता है ॥१९॥

यथा च प्राणादि (ललिता)

तथा लोक में जब प्राणायाम के द्वारा प्राणभेद प्राण, अपानादि निरुद्ध हो जाते हैं उस दशा में कारणमात्ररूप से वे वर्तमान रहते हैं तब जीवनमात्र कार्य सम्पन्न कराते हैं । प्राणनिरुद्धावस्था में आकुञ्चन, प्रसारणादि कार्यान्तिर नहीं होते । उन प्राणादि विशेष के पुनः प्रयुक्त होने पर जीवन से अधिक आकुञ्चन, प्रसारणादि कार्यान्तिर भी होते हैं । किन्तु इन दोनों दशाओं में सामान्य प्राण एवं विशेष प्राणापानादि में भिन्नत्व नहीं आता, क्योंकि समीरण स्वभाव दोनों का एक जैसा है । इस प्रकार कारण से कार्य का अभिन्नत्व सिद्ध हो जाता है । अतएव सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का कार्य है तथा ब्रह्म से अभिन्न भी है, इससे **'येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतं अविज्ञातं विज्ञातम्'** यह श्रौतीप्रतिज्ञा सिद्ध हो जाती है ॥२०॥

७. इतरव्यपदेशाधिकरण

१. **संगति**—पहले एकविज्ञान से सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए जिस युक्ति से कार्यकारण का अनन्यत्व सिद्ध किया था, उसी युक्ति से जीव-ब्रह्म का अभेद मान लेने पर हित अकरणादि जीव-धर्म ब्रह्म में आने लग जायेंगे, इस प्रकार आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ

---

१. मृदपेक्षया घटादेर्विलक्षणजलानयनादि कार्यकारित्वम् ।

(१५५) इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥२१॥

अन्यथा पुनश्चेतनकारणवाद आक्षिप्यते। चेतनाद्धि जगत्प्रक्रियायामाश्रीयमाणायां हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते। कुतः? इतरव्यपदेशात्। इतरस्य शारीरस्य ब्रह्मात्मत्वं व्यपदिशति श्रुतिः—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६-८-७) इति प्रतिबोधनात्। यद्वा। इतरस्य च ब्रह्मणः शारीरात्मत्वं व्यपदिशति 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै २-६) इति स्रष्टुरेवाविकृतस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेन शारीरात्मत्वप्रदर्शनात्। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६-३-२) इति च परा देवता जीवमात्मशब्देन व्यपदिशन्ती न ब्रह्मणो भिन्नः शारीर इति दर्शयति। तस्माद्यद्ब्रह्मणः स्रष्टृत्वं तच्छारीरस्यैवेति। अतः स स्वतन्त्रः कर्ता सन् हितमेवात्मनः सौमनस्यकरं कुर्यान्नाहितं जन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थजालम्। नहि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागार-

---

जीवाभिन्नं ब्रह्म जगत्कारणमितिवदन्वेदान्तसमन्वयो विषयः। स यदि 'तादृग्ब्रह्म जगज्जनयेत्तर्हि स्वानिष्टं नरकादिकं न जनयेत् स्वतन्त्रचेतनत्वादिति न्यायेन विरुध्यते न वेति संदेहे पूर्वोक्तजीवानन्यत्वमुपजीव्य जीवदोषा ब्रह्मणि प्रसज्येरन्निति पूर्वपक्षसूत्रं गृहीत्वा व्याचष्टे—इतरव्यपदेशादित्यादिना।

किया जाता है।

२. **विषय**—जगज्जन्मादिकारण ब्रह्म का विचार इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—जीव से अभिन्न ब्रह्म का जगत्कारण मानने पर हिताकरणादिदोष ब्रह्म में आयेगा या नहीं?

४. **पूर्वपक्ष**—जीव से अभिन्न ब्रह्म को जगत्स्रष्टा तथा नियन्ता मानने पर जीव का अहितकरणादि अपना ही माना जायेगा जो उचित नहीं है। अतः विरोध सुस्पष्ट है।

५. **सिद्धान्त**—जीव में संसार कल्पित है, वास्तविक नहीं है, ऐसा तत्त्वदृष्टि से जाननेवाले को ब्रह्म में अहितकरणादि दोष नहीं आता, क्योंकि स्वयंप्रकाश ब्रह्मतत्त्व में जीवगतकल्पित हिताकरणादि का सम्बन्ध नहीं होता है।

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः (ललिता

जीव से अभिन्न ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् का कारण है, यह वेदान्त समन्वय ही इस अधिकरण का विषय है। चेतनकारणवाद पर पुनः अन्य प्रकार से आक्षेप करते हैं कि चेतन ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानने पर ब्रह्म में हिताकरणादि दोष आ जायेंगे क्योंकि 'हे श्वेतकेतु! वह चेतन आत्मा है और वही तू है' इस श्रुति ने जीव को ब्रह्मरूप बतलाया है अथवा 'ब्रह्म सृष्टि करने के बाद स्वयं ही उसमें प्रविष्ट हो गया' इस वाक्य द्वारा श्रुति ने निर्विकार स्रष्टा ब्रह्म को ही शरीर में प्रवेश करने के बाद जीवात्मा कहा है। इसके अतिरिक्त 'जीवात्मारूप से प्रवेशकर मैं नाम-रूप को बनाऊं' इस वाक्य द्वारा श्रुति परमात्मा को ही जीवात्मा शब्द कहती हुई उसे ब्रह्म से अभिन्न कहा है। इससे यह जाना जाता है कि ब्रह्म का स्रष्टृत्व जो पहले कहा गया वह जीवात्मा का ही है। ऐसी स्थिति में सृष्टिकर्ता जीव स्वतन्त्र होता हुआ अपने सुखद साधन को ही बनायेगा, जन्म-मरण, बुढ़ापा, रोगादि अनेक

---

१. जीवाभिन्नम्।

(१५६) अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥२२॥

मात्मनः कृत्वानुप्रविशति । नच स्वयमत्यन्तनिर्मलः सन्नत्यन्तमलिनं देहमात्मत्वेनोपेयात् । कृतमपि कथंचिद्दुःखकरं तदिच्छया जह्यात् । सुखकरं चोपाददीत । स्मरेच्च मयेदं जगद्बिम्बं विचित्रं विरचितमिति । सर्वो हि लोकः स्पष्टं कार्यं कृत्वा स्मरति मयेदं कृतमिति । यथा च मायावी स्वयं प्रसारितां मायामिच्छयानायासेनैवोपसंहरति, एवं शारीरोऽपीमां सृष्टिमुपसंहरेत् । स्वकीयमपि तावच्छरीरं शारीरो न शक्नोत्यनायासेनोपसंहर्तुम् । एवं हितक्रियाद्यदर्शनादन्याय्या चेतनाज्जगत्प्रक्रियेति [२]गम्यते ॥२१॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । यत्सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्,तद्वयं जगतः स्रष्टृ ब्रूमः । न तस्मिन्हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते । नहि तस्य

पूर्वपक्षे जीवाभिन्ने समन्वयासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलम् । हिताकरणेत्यत्र नञ्व्यत्यासेनाहितकरणं दोषो व्याख्यातः । आदिपदोक्तं भ्रान्त्यादिकमापादयति— नच स्वयमित्यादिना ॥२१॥

जीवेशयोरभेदाज्जीवगतदोषा ब्रह्मणि स्युः ब्रह्मगताश्च सृष्टिसंहारशक्तिसर्वज्ञत्वादयो गुणा जीवे स्युः । न चेष्टापत्तिः । जीवस्य स्वशरीरेऽपि संहारसामर्थ्यादर्शनादिति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे— तुशब्द इत्यादिना ।

अनर्थजालरूप अहितकारक साधनों को नहीं बनायेगा क्योंकि कोई भी स्वतन्त्र बुद्धिमान व्यक्ति अपने लिए कारागार बनाकर उसमें प्रवेश नहीं करता । साथ ही, स्वयं अत्यन्त निर्मल होता हुआ अत्यन्त मलिन देह को कभी भी आत्मा नहीं मान सकता । कदाचित् मान भी ले तो स्वेच्छा से उसे दुःखद समझकर छोड़ देगा और सुखद साधनों को ही अपनायेगा । उसे बाद में स्मरण भी होना चाहिए कि इस विचित्र जगत्कार्य को मैंने बनाया है क्योंकि सभी लोग स्पष्टकार्य करने के बाद कालान्तर में उसे स्मरण भी करते हैं कि मैंने इसे बनाया था और मायावी जब माया को फ़ैलाता है तो स्वयं उसे अनायास ही स्वेच्छया समेट भी लेता है । ऐसे ही, यह जीवात्मा भी इस दुःखद सृष्टि का उपसंहार कर सकता था किन्तु जब यह जीवात्मा अपने शरीर को भी अनायास नहीं समेट सकता है तो सम्पूर्ण जगत् उपसंहार करने की बात दूर ही रह गयी । इस प्रकार हितक्रियादि जब नहीं देखे जाते हैं तो ऐसी स्थिति में चेतन से जगत्सृष्टि बतलाने वाली प्रक्रिया न्यायविरुद्ध है ऐसा वेदान्ती से भिन्न दार्शनिक मानते हैं ॥२१॥

अधिकं तु भेदनिर्देशात् (ललिता)

जीव और ईश्वर को अभिन्न मानने पर जीवगत दोष ब्रह्म में आने लग जायेंगे एवं सृष्टि, संहारशक्ति इत्यादि ब्रह्म के गुण जीव में आने लग जायेंगे, ऐसा पूर्वपक्ष सूत्र होने पर अग्रिम सिद्धान्त सूत्र कहते हैं—

सूत्र में 'तु' शब्द पूर्वसूत्रोक्त पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है । जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव वाला है, जीवात्मा से अधिक एवं भिन्न है उसी को हम जगत्स्रष्टा कहते हैं, उसमें हिताकरणादि दोष नहीं आते हैं क्योंकि उसके लिए न कोई हितकारक करने योग्य है और न

१. कार्यम् । २. मन्यते इति पाठान्तरम् । वादिन इति शेषः ।

हितं किंचित्कर्तव्यमस्त्यहितं वा परिहर्तव्यं, नित्यमुक्तस्वभावत्वात्। नच तस्य ज्ञानप्रतिबन्धः शक्तिप्रतिबन्धो वा क्वचिदप्यस्ति, सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तित्वाच्च । शारीरस्त्वनेवंविधस्तस्मिन्प्रसज्यन्ते हिताकरणादयो दोषाः । नतु तं वयं जगतः स्रष्टारं ब्रूमः । कुत एतत् ? भेदनिर्देशात् । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २-४-५), 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८-७-१), 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६-८-१), 'शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः' (बृ० ४-३-३५) इत्येवंजातीयकः कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति ।

नन्वभेदनिर्देशोऽपि दर्शितः 'तत्त्वमसि' इत्येवंजातीयकः । कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ संभवेयाताम् । नैष दोषः । आकाशघटाकाशन्यायेनोभयसंभवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात् । अपिच यदा तत्त्वमसीत्येवंजातीयकेनाभेदनिर्देशेनाभेदः प्रतिबोधितो भवत्यपगतं भवति तदा जीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणश्च स्रष्टृत्वं, समस्तस्य मिथ्याज्ञानविजृम्भितस्य भेदव्यवहारस्य सम्यग्ज्ञानेन बाधितत्वात् । तत्र कुत एव सृष्टिः कुतो वा हिताकरणादयो दोषाः ? अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसंघातोपाध्यविवेककृता हि भ्रान्ति-

---

जीवेश्वरयोर्लोके बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव कल्पितभेदाङ्गीकाराद्धर्मव्यवस्थेति सिद्धान्तग्रन्थार्थः । यदि वयं जीवं स्रष्टारं ब्रूमस्तदा दोषाः प्रसज्यन्ते नतु तं ब्रूम इत्यन्वयः । किंवाभेदज्ञानादूर्ध्वं वा दोषा आपाद्यन्ते, पूर्वं वा । नाद्य इत्याह—अपिचेति । उक्तं मिथ्याज्ञानविजृम्भितत्वं स्फुटयति—अविद्येति ।

कुछ अहितकारक छोड़नेयोग्य है, वह तो नित्यमुक्तस्वभाव है । वह परमेश्वर सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान है इसीलिए उसके ज्ञान का और उसकी शक्ति का कहीं भी प्रतिबन्ध नहीं होता । किन्तु जीवात्मा ऐसा नहीं है, इसमें हिताकरणादि दोष आ सकते हैं । पर हम उसे जगत्स्रष्टा नहीं कहते क्योंकि जीव और ईश में भेद कहा गया है 'अरे मैत्रेयी ! आत्मा ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करने योग्य है, उसी का अन्वेषण करना चाहिए और उसी की विशेष जिज्ञासा करना चाहिए', 'हे सोम्य ! निद्रा एवं समाधि अवस्था में यह जीव ब्रह्म के साथ सम्पन्न हो जाता है', 'देह त्यागते समय यह जीवात्मा परमात्मा के साथ तादात्म्य होकर लोकान्तर में जाता है' इस प्रकार का कर्तृ-कर्मादि भेद को बतलाने वाला श्रुतिवाक्य जीव से पृथक् एवं श्रेष्ठ ब्रह्म को बतलाता है ।

प्रश्न—'**तत्त्वमसि**' इत्यादि अभेदनिर्देशक वाक्य भी तो देखा गया है, ऐसी स्थिति में भेदाभेद विरुद्धधर्म एक में कैसे सम्भव हो सकेगा ? उत्तर—यह दोष नहीं है । आकाश और घटाकाश की भाँति एक में उभयधर्म सम्भव हो जाते हैं जिसे हम पहले अनेक बार कह आये हैं । साथ ही, जब '**तत्त्वमसि**' अभेदबोधकश्रुतिवाक्य द्वारा जीव-ब्रह्म का अभेद जान लिया जाता है तब जीव का संसारित्व और ब्रह्म का स्रष्टृत्व दूर हो जाता है क्योंकि ये सब मिथ्याज्ञानविजृम्भित भेदव्यवहार होते हैं जो सम्यग्ज्ञान से बाधित हो चुके हैं, उस दशा में सृष्टि कहाँ अथवा हिताकरणादि दोष कहाँ रह जाते हैं ये सब तो अविद्याप्रत्युपस्थापित नामरूप के बनाये हुए कार्यकारणसंघात उपाधि के अविवेक से

(१५७) अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥२३॥

हिताकरणादिलक्षणः संसारो नतु परमार्थतोऽस्तीत्यसकृदवोचाम। जन्ममरणच्छेदनभेदनवेदनाद्यभिमानवत्। अबाधिते तु भेदव्यवहारे 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इत्येवंजातीयकेन भेदनिर्देशेनावगम्यमानं ब्रह्मणोऽधिकत्वं हिताकरणादिदोषप्रसक्तिं निरुणद्धि ॥२३॥

यथा च लोके पृथिवीत्वसामान्यान्वितानामप्यश्मनां केचिन्महार्हा मणयो वज्रवैडूर्यादयोऽन्ये मध्यमवीर्याः सूर्यकान्तादयोऽन्ये प्रहीणाः श्ववायसप्रक्षेपणार्हाः पाषाणा इत्यनेकविधं वैचित्र्यं दृश्यते। यथा चैकपृथिवीव्यपाश्रयाणामपि बीजानां बहुविधं पत्रपुष्पफलगन्धरसादिवैचित्र्यं चन्दनकिंपाकादिषूपलक्ष्यते। यथा चैकस्याप्यन्नरसस्य लोहितादीनि केशलोमादीनि च विचित्राणि कार्याणि भवन्ति। एवमेकस्यापि ब्रह्मणो जीवप्राज्ञपृथक्त्वं कार्यवैचित्र्यं चोपपद्यत इत्यतस्तदनुपपत्तिः। परपरिकल्पितदोषानुपपत्तिरित्यर्थः। श्रुतेश्च

कर्तृत्वादिबुद्धिधर्माध्यासे देहधर्माध्यासं दृष्टान्तयति—जन्मेति। द्वितीयं प्रत्याह—अबाधिते त्विति। ज्ञानादूर्ध्वं स्रष्टृत्वादिधर्माणां बाधात् पूर्वं च कल्पितभेदेन व्यवस्थोपपत्तेर्न किंचिदवद्यमित्यर्थः ॥२२॥

नन्वखण्डैकरूपे ब्रह्मणि कथं जीवेश्वरवैचित्र्यं, कथं च तत्कार्यवैचित्र्यमित्यनुपपत्तिं दृष्टान्तैः परिहरति सूत्रकारः—अश्मादिवच्चेति। किंपाको महातालफलम्? तत्तत्कार्यसंस्काररूपानादिशक्तिभेदाद्वैचित्र्यमिति भावः। सूत्रस्थचकारार्थमाह—श्रुतेश्चेति। ब्रह्म जीवगतदोषवत्, जीवाभिन्नत्वात्,

---

भ्रममात्र थे। हिताहित-करणादिरूप संसार परमार्थतः नहीं है, इस बात को हम अनेक बार कह आये हैं। जन्म-मरण, छेदन-भेदन, वेदनादि अभिमान की भांति आत्मा में पूर्वोक्त धर्म कल्पित है, जब तक भेदव्यवहार बाधित नहीं हो जाता तभी तक **'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः'** ऐसे भेदनिर्देशकवाक्य द्वारा ब्रह्म में श्रेष्ठत्व का बोध होता है जो हिताकरणादि दोषप्रसक्ति को निरुद्ध कर डालता है। अतः ज्ञान के बाद स्रष्टृत्वादि धर्म का बाध हो जाने से उससे पूर्व कल्पितभेद को लेकर सब व्यवस्था बन जाती है और कोई दोष नहीं रह जाता ॥२२॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः (ललिता)

अखण्डैकरूप ब्रह्म में जीव-ईश्वर वैचित्र्य और ब्रह्मकार्य जगत् में वैचित्र कैसे हो सकेगा, इस आशङ्का का समाधान अग्रिम सूत्र द्वारा दृष्टान्त से सूत्रकार देते हैं—

जैसे लोक में पृथ्वित्वरूप धर्म से सभी पत्थर युक्त हैं फिर भी उनमें कुछ बहुमूल्य वज्रवैडूर्य आदि मणि देखे जाते हैं, कुछ मध्यममूल्यवाले सूर्यकान्त आदि तथा कुछ मूल्यशून्य कौए-कुत्ते पर फेंके जाने वाले पत्थर देखे जाते है, जब एक ही पृथ्वी के ऐसे अनेकविध वैचित्र्य देखे जाते हैं तो एक ब्रह्म से विचित्र कार्य उत्पत्ति में क्या आपत्ति कह सकते हैं और जैसे एक पृथ्वी में डाले गये बीज के चन्दन, महातालफलादि में पत्ते पुष्प, फल, गन्ध, रस आदि अनेकविधवैचित्र्य कार्य देखे जाते हैं एवं जैसे खाये हुए अन्न-रस का ही शरीर में रक्तादि और केश, लोमादि विचित्रकार्य उत्पन्न हो जाते हैं ऐसे ही एक ही ब्रह्म से जीव-ईश्वर-वैचित्र्य और जगत्कार्यवैचित्र्य भी युक्तिसंगत ही है। अतः वादियों के परिकल्पित दोष ब्रह्मकारणवाद में नहीं आते हैं। सूत्रस्थ **'च'** को लेकर भाष्यकार ने कहा कि श्रुति में प्रामाण्य होने के कारण प्रामाणिक श्रुति से कार्यजगत् को वाचारम्भणमात्र मानना चाहिए,

८. उपसंहारदर्शनाधिकरणम् (सू० २४–२५)

न सम्भवेत्सम्भवेद्वा सृष्टिरेकाद्वितीयतः। नानाजातीयकार्याणां क्रमाज्जन्म न सम्भवि ॥
अद्वैतं तत्त्वतो ब्रह्म तच्चाविद्यासहायवत्। नानाकार्यकरं कार्यक्रमोऽविद्यास्थशक्तिभिः ॥

(१५८) उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥२४॥

प्रामाण्याद्विकारस्य च वाचारम्भणमात्रत्वात्स्वप्नदृश्यभाववैचित्र्यवच्चेत्यभ्युच्चयः ॥२३॥

चेतनं ब्रह्मैकमद्वितीयं जगतः कारणमिति यदुक्तं तन्नोपपद्यते। कस्मात्? उपसंहार-

---

जीववदित्याद्यनुमानं स्वतःप्रमाणनिरवद्यत्वादिश्रुतिबाधितम्। किञ्च कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविकारस्य मिथ्यात्वाज्जीवस्यैव तावद्दोषो नास्ति कुतो बिम्बस्थानीयस्याशेषविशेषदर्शिनः परमेश्वरस्य दोषप्रसक्तिः। यत्तु ब्रह्म न विचित्रकार्यप्रकृति, एकरूपत्वात्, व्यतिरेकेण मृतन्त्वादिवदिति। तन्न। एकरूपे स्वप्नदृशीव विचित्रदृश्यवस्तुवैचित्र्यदर्शनेन व्यभिचारादित्यर्थः। तस्मात् प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि समन्वयस्याविरोध इति सिद्धम् ॥२३॥

उपसंहारदर्शनात्। असहायाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन् समन्वयो विषयः। स किं यदसहायं तन्न कारणमिति लौकिकन्यायेन विरुध्यते न वेति संदेहे पूर्वमौपाधिकजीवभेदाद्ब्रह्मणि जीवदोषा न प्रसज्यन्त इत्युक्तम्, संप्रति 'उपाधितोऽपि विभक्तं ब्रह्मणः प्रेरकादिकं सहकारि नास्ति ईशनानात्वाभावादिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षसूत्रांशं व्याचष्टे—चेतनमित्यादिना। फलं पूर्ववत्। कारकाणामुप-

---

उस अद्वय ब्रह्म में स्वप्नदृश्यवस्तु को वैचित्र्य की भाँति जगद्वैचित्र्य सम्भव हो जाता है इन सभी तर्कों को यहाँ पर जोड़ लेना चाहिए ॥२३॥

८. उपसंहारदर्शनाधिकरण

१. **संगति**—पिछले अधिकरण में जीव-ब्रह्म के औपाधिक भेद को लेकर ब्रह्म को जगत्स्रष्टा मानने पर भी उसमें हिताकरणादि दोष नहीं है यह कहा गया था, अब ब्रह्म में औपाधिक भी करणादि मानना ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म नाना नहीं है ऐसी प्रत्युदारण संगति के कारण इस अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं।

२. **विषय**—जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण असहाय चेतन ब्रह्म पर इस अधिकरण में में विचार किया गया है।

३. **संशय**—क्या असहाय ब्रह्म से जगत् की सृष्टि हो सकती है, अथवा नहीं?

४. **पूर्वपक्ष**—घटादि का कर्ता कुम्भकार अनेक साधनों के सहकार से घट को बनाता है ऐसा देखा गया है। एकाकी ब्रह्म नाना प्रकार के कार्य को किसी की सहायता के बिना क्रमशः उत्पन्न नहीं कर सकता।

५. **सिद्धान्त**—तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म अद्वैत है, उसकी सहकारिणी अविद्या है। अतः अविद्या शक्ति के द्वारा अद्वय ब्रह्म विचित्र कार्य को क्रमशः उत्पन्न कर सकता है। लोक में दुग्ध स्वयं ही दधिरूप में परिणत हो जाता है और देवादि बिना किसी सहायता के नाना शरीर बना लेते हैं, ऐसे ही अविद्यासहकृत अद्वयब्रह्म अन्य साधनों की अपेक्षा के बिना ही जगत्सृष्टि करेगा, इसमें कोई दोष नहीं है।

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि (ललिता)

प्रश्न—आपने जो चेतन अद्वयब्रह्म को जगत् का कारण कहा था, वह युक्तियुक्त नहीं है। क्यों?

---

१. अचेतनाया उपाधेः प्रेरकत्वाभावं मन्यमान आह उपाधितोऽपीति। विभक्तं भिन्नम्।

दर्शनात् । इह हि लोके कुलालादयो घटपटादीनां कर्तारो मृद्दण्डचक्रसूत्राद्यनेककारकोपसंहारेण संगृहीतसाधनाः सन्तस्तत्तत्कार्यं कुर्वाणा दृश्यन्ते । ब्रह्म चासहायं तवाभिप्रेतं तस्य साधनान्तरानुपसंग्रहे सति कथं स्रष्टृत्वमुपपद्येत । तस्मान्न ब्रह्म जगत्कारणमिति चेत् । नैष दोषः । यतः क्षीरवद्द्रव्यस्वभावविशेषादुपपद्यते । यथा हि लोके क्षीरं जलं वा स्वयमेव दधिहिमभावेन परिणमतेऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं तथेहापि भविष्यति । ननु क्षीराद्यपि दध्यादिभावेन परिणममानमपेक्षत एव बाह्यं साधनमौष्ण्यादिकं कथमुच्यते क्षीरवद्धीति । नैष दोषः । स्वयमपि हि क्षीरं यां च यावतीं च परिणाममात्रामनुभवति तावत्येव त्वार्यते त्वौष्ण्यादिना दधिभावाय । यदि च स्वयं दधिभावशीलता न स्यान्नैवौष्ण्यादिनापि बलाद्दधिभावमापद्येत । नहि वायुराकाशो वौष्ण्यादिना बलाद्दधिभावमापद्यते । साधनसामग्र्या च तस्य पूर्णता संपाद्यते । परिपूर्णशक्तिकं तु ब्रह्म । न तस्या-

---

संहारो मेलनम् । उक्तन्यायस्य क्षीरादौ व्यभिचार इति सिद्धान्तयति—नैष दोष इति । शुद्धस्य ब्रह्मणोऽकारणत्वमिष्टमेव । विशिष्टस्येश्वरस्य तु मायैव सहाय इति भावेनाह—बाह्यमिति । क्षीरस्याप्यातञ्चनादिसहायोऽस्तीत्यसहायत्वहेतोर्न व्यभिचार इत्याशङ्क्य सहायाभावेऽपि यस्य कस्यचित्परिणामस्य क्षीरे दर्शनाद्व्यभिचारतादवस्थ्यमित्याह—नन्वित्यादिना । तर्हि सहायो व्यर्थः, तत्राह—त्वार्यत इति । ननु त्वार्यते क्षीरं दधिभावाय शीघ्रं कार्यत इति किमर्थं कल्प्यते, स्वतोऽशक्तं क्षीरं सहायेन शक्तं क्रियत इति किं न स्यात्, तत्राह—यदि चेति । शक्तस्य सहायसंपदा किं कार्यमित्यत्राह—साधनेति । सहायविशेषाभावे कश्चिद्विकारः क्षीरस्य भवति, तत्र आतञ्चनप्रक्षेपौष्ण्याभ्यां तूत्तमदधिभावसामर्थ्यं व्यज्यत इत्यर्थः । तर्हि शक्तिव्यञ्जकोऽपि सहायो ब्रह्मणो वाच्यः, तत्राह—परिपूर्णेति । निरपेक्षमा-

---

लोक में कुम्भकारादि घट-पटादि बनाने वाले जब मृत्तिका, दण्ड, चक्र, सूत्र आदि अनेक कारकों का उपसंहार करके साधनसम्पन्न हो जाते हैं, तभी घट-पटादि कार्य करते देखे जाते हैं, किन्तु ब्रह्म तो आप के सिद्धान्त में असहाय माना गया है, उसमें साधनान्तर को जोड़े बिना स्रष्टृत्व कैसे आयेगा । अतः ब्रह्म विचित्रजगत् का कारण नहीं हो सकता ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि लोक में दुग्ध द्रव्य स्वभावविशेष के कारण बाह्यसाधनों की अपेक्षा किए बिना ही दधिरूप से परिणत होता है और जल बाह्यसाधन की अपेक्षा न कर स्वयं ही हिमभाव से परिणत होता देखा जाता है, वैसे ही यहाँ भी हो जायेगा । प्रश्न—दध्यादिरूप से परिणत होने वाले दुग्धादि को भी औष्ण्यादि बाह्यसाधनों की अपेक्षा होती है, अतः 'क्षीरवद्धि' यह दृष्टान्त विषम प्रतीत होता है । उत्तर—यह दोष देना भी ठीक नहीं है, क्योंकि दुग्ध जैसा और जितना दध्यादि परिणाम का अनुभव करता ही है अर्थात् उसमें दधि बनने की शक्ति विद्यमान है, ऊष्णता और जामन आदि डालने से अच्छा और शीघ्र दही बनता है । यदि स्वयं दूध में दधि बनाने की शक्ति नहीं होती, तो औष्ण्यादि के द्वारा भी बलात् दही नहीं बना सकते, क्या वायु और आकाश को औष्ण्यादि के द्वारा बलात् दधिभाव को प्राप्त कराया जा सकता है ? अर्थात् नहीं । साधन सामग्री से तो उसमें पूर्णता आती है, किन्तु ब्रह्म परिपूर्ण शक्तिवाला है, उसमें किसी दूसरे से पूर्णता लाने की भी आवश्यकता नहीं है । श्रुति

(१५९) देवादिवदपि लोके ॥२५॥

न्येन केनचित्पूर्णता सम्पादयितव्या। श्रुतिश्च भवति—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥' (श्वे० ६·८) इति। तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात्क्षीरादिवद्विचित्र-परिणाम उपपद्यते ॥२४॥

स्यादेतत्। उपपद्यते क्षीरादीनामचेतनानामनपेक्ष्यापि बाह्यं साधनं दध्यादिभावः, दृष्टत्वात्। चेतनाः पुनः कुलालादयः साधनसामग्रीमपेक्ष्यैव तस्मै तस्मै कार्याय प्रवर्तमाना दृश्यन्ते। कथं ब्रह्म चेतनं सदसहायं प्रवर्तेतेति। देवादिवदिति ब्रूमः। यथा लोके देवाः पितर ऋषय इत्येवमादयो महाप्रभावाश्चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव किंचिद्बाह्यं साधनमैश्वर्यविशेषयोगादभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि च रथादीनि च निर्मिमाणा उपलभ्यन्ते मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यात्। तन्तुनाभश्च स्वत एव तन्तून्सृजति। बलाका चान्तरेणैव शुक्रं गर्भं धत्ते। पद्मिनी

याशक्तिक्रमित्यर्थः। तादृशशक्तौ मानमाह—श्रुतिश्चेति ॥२४।

ननु ब्रह्म न कारणं चेतनत्वे सत्यसहायत्वान्मृदादिशून्यकुलालादिवदिति न क्षीरादौ [1]व्यभिचार इति सूत्रव्यावर्त्यां शङ्कामाह—स्यादेतदिति। तस्यापि हेतोर्देवादौ व्यभिचार इत्याह—देवादिवदिति। लोक्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति लोको मन्त्रार्थवादादिशास्त्रं वृद्धव्यवहारश्च। अभिध्यानं संकल्पः। ननु देवाद्यूर्णनाभान्तदृष्टान्तेषु शरीरेषु चेतनत्वं नास्ति, बलाकापद्मिनीचेतनयोर्गर्भप्रस्थानकर्तृत्वे मेघशब्दः

भी कहती है—'उस परमेश्वर का न शरीर है, न इन्द्रियाँ हैं, उसके समान या उससे श्रेष्ठ लोक में नहीं देखा जाता। परमेश्वर में अनेक प्रकार की पराशक्ति सुनी जाती है जो ज्ञान, बल एवं क्रिया वाली स्वाभाविक शक्ति है।' अतः असहाय ब्रह्म में विचित्र जगत् उत्पादनशक्ति विद्यमान होने के कारण दुग्धादि की भाँति उसके विचित्र परिणाम जगत् का होना युक्तियुक्त ही है ॥२४॥

देवादिवदपि लोके (ललिता)

शङ्का—क्षीर आदि अचेतन हैं इसलिए उनका बाह्यसाधनों की अपेक्षा न करके भी दध्यादि-रूप से परिणाम होना देखा गया है किन्तु चेतन कुम्भकारादि साधन-सामग्री का अपेक्षा करके ही घटादि कार्य के लिए प्रवृत्त होते देखे जाते हैं। अचेतन, असहाय ब्रह्म भला कैसे विचित्र जगन्निर्माण के लिए प्रवृत्त होगा? समाधान—जैसे लोक में देवता, पितर, ऋषि इत्यादि महाप्रभावशाली चेतन होते हुए भी बाह्यसाधन की अपेक्षा न कर ऐश्वर्यविशेष से युक्त होने के कारण संकल्पमात्र से स्वतः ही अभूतपूर्व अनेक आकार वाले शरीर, प्रासाद, रथादि साधनों को बनाते देखे जाते हैं, इसमें मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास एवं पुराण प्रमाण हैं। मकड़ी स्वतः ही जाले बनाती है, बलाका (मयूरी) बादल का गर्जन सुनकर बिना शुक्र के ही गर्भ धारण कर लेती है, कमलिनी किसी दूसरे प्रस्थानसाधन की अपेक्षा न कर एक तालाब से दूसरे तालाब में चली जाती है; ऐसे ही चेतन ब्रह्म भी बाह्य साधनों

१. न व्यभिचार इति क्षीरादावसहायत्वं सत्वेपि चेतनत्वस्यासत्वेन विशिष्टाभावस्य सुलभत्वात्।

चानपेक्ष्य किंचित्प्रस्थानसाधनं सरोन्तरात्सरोन्तरं प्रतिष्ठते। एवं चेतनमपि ब्रह्मानपेक्ष्य बाह्यं साधनं स्वत एव जगत्स्रक्ष्यति। स यदि ब्रूयाद्य एते देवादयो ब्रह्मणो दृष्टान्ता उपात्तास्ते दार्ष्टान्तिकेन ब्रह्मणा न समाना भवन्ति। शरीरमेव ह्यचेतनं देवादीनां शरीरान्तरादिविभूत्युत्पादन उपादानं नतु चेतन आत्मा। तन्तुनाभस्य च क्षुद्रतरजन्तुभक्षणाल्लाला कठिनतामापद्यमाना तन्तुर्भवति। बलाका च स्तनयित्नुरवश्रवणाद्गर्भं धत्ते। पद्मिनी च चेतनप्रयुक्ता सत्यचेतनेनैव शरीरेण सरोन्तरात्सरोन्तरमुपसर्पति, वल्लीव वृक्षं, न तु स्वयमेवाचेतना सरोन्तरोपसर्पणे व्याप्रियते। तस्मान्नैते ब्रह्मणो दृष्टान्ता इति। तं प्रति ब्रूयान्नाय दोषः। कुलालादिदृष्टान्तवैलक्षण्यमात्रस्य विवक्षितत्वादिति। यथा हि कुलालादीनां देवादीनां च समाने चेतनत्वे कुलालादयः कार्यारम्भे बाह्यं साधनमपेक्षन्ते न देवादयः, तथा ब्रह्म चेतनमपि न बाह्यं साधनमपेक्षिष्यत इत्येतावद्वयं देवाद्युदाहरणेन विवक्ष्यामः। तस्माद्यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथा सर्वेषामेव भवितुमर्ह-

---

शरीरं च सहायोऽस्ति, अतो विशिष्टहेतोर्न व्यभिचार इति शङ्कते—स यदि ब्रूयादित्यादिना। व्यभिचारोऽस्तीति परिहरति—तं प्रति ब्रूयादिति। अयं दोषः दृष्टान्तवैषम्याख्यः। अत्र हि हेतौ चेतनत्वमहंधीविषयत्वरूप विसाबात्म्यापन्नदेहसाधारणं ग्राह्यं न तु मुख्यात्मत्वं, [2]तव कुलालदृष्टान्ते [3]साधनसंकल्यापत्तेः। असहायत्वं च [4]चेतनस्य स्वातिरिक्तहेतुशून्यत्वं, तदुभयं देवादिष्वस्तीति व्यभिचारः, देहस्य स्वान्तःपातित्वेन स्वातिरिक्तत्वाभावात्। तथा च कुलालवैलक्षण्यं देवादीनां घटादिकार्यस्वातिरिक्तानपेक्षत्वात्। देववैलक्षण्यं ब्रह्मणः देहस्याप्यनपेक्षणात्। नरदेवादीनां कार्यारम्भे नास्त्येकरूपा सामग्री। श्रूयते हि महाभारते श्रीकृष्णस्य संकल्पमात्रेण द्रौपद्याः पटपरंपरोत्पत्तिः। अतः

की अपेक्षा न कर स्वतः ही जगत् को बना डालेगा। इस पर यदि आप कहें कि ये सब देवादि जो ब्रह्म के लिए दृष्टान्त दिये गये हैं वे दार्ष्टान्तिक ब्रह्म के समान स्वभाव वाले नहीं हैं क्योंकि देवादियों का अचेतन शरीर ही शरीरान्तरादि विभूति उत्पादन के कारण उपादान माना गया है, उनकी चेतन आत्मा शरीरान्तरविभूति उत्पादन का कारण नहीं है। मकड़ी अति क्षुद्रजन्तुओं को खाती है उससे उसके मुख में उत्पन्न लाला कठिन होकर जाला बन जाता है मयूरी बादल के गर्जन सुनकर गर्भधारण करती है, पद्मिनी चेतनप्रयुक्त हो अचेतन शरीर के द्वारा ही एक तालाब से दूसरे तालाब में वल्लरी (लता) की भाँति चली जाती है, वह स्वयं अचेतन होती हुई एक तालाब से दूसरे तालाब में जाने के लिए व्यापार नहीं करती। अतः ये सब ब्रह्म के लिए समान दृष्टान्त नहीं है ? ऐसा कहने वाले को उत्तर देना चाहिए कि यह कोई दोष नहीं है। हम तो इन दृष्टान्तों से कुलालादि दृष्टान्तवैलक्षण्यमात्र बतलाना अभीष्ट है अर्थात् कुलालादि और देवादि चेतनसमान हैं किन्तु कुलालादि को घटादि कार्यनिर्माण के लिए बाह्य साधन की अपेक्षा होती है और देवादि को कार्यनिर्माण के लिए बाह्यसाधन को अपेक्षा नहीं होती, ऐसे ही चेतन ब्रह्म भी जगत्कार्य निर्माण के लिए बाह्यसाधन की अपेक्षा नहीं रखता है. बस देवादि उदाहरणों के द्वारा हम इतना ही कहना चाहते हैं। अतः कार्य करने के लिए बाह्यसाधनों की अपेक्षा करके जैसे कुलालादि में सामर्थ्य देखा गया है, वैसे ही सभी चेतन कर्ता को कार्य करने के लिए बाह्यसाधनों की अपेक्षा होती ही है यह नियम नहीं है, हमारा कहने का

---

१. कुलालादेः। २. तवेति अन्यथेत्यादौ शेषः। ३. कुलालशरीरावच्छिन्न चेतनातिरिक्त कुलालशरीरस्य सहायत्वात्। ४. उक्तचेतनस्य साधनं हेतुः।

९. कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् (सू० २६–२९)

(१६०) कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥२६॥

न युक्तो युज्यते वास्य परिणामो न युज्यते । कात्स्न्र्याद्ब्रह्मानित्यताप्तेरंशात्सावयवं भवेत् ॥
मायाभिर्बहुरूपत्वं न कात्स्न्र्यान्नापि भागतः । युक्तोऽनवयवस्यापि परिणामोऽत्र मायिकः ॥

तीति नास्त्येकान्त इत्यभिप्रायः ॥२५॥

चेतनमेकमद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद्देवादिवच्चानपेक्ष्य बाह्यसाधनं स्वयं परिणममानं जगतः कारणमिति स्थितम् । शास्त्रार्थपरिशुद्धये तु पुनराक्षिपति । कृत्स्नप्रसक्तिः कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्यरूपेण परिणामः प्राप्नोति, निरवयवत्वात् । यदि ब्रह्म पृथिव्यादिवत्सा-

---

सिद्धमसहायस्यापि ब्रह्मणः कारणत्वम् ॥२५॥

कृत्स्नप्रसक्तिः । **क्षीरदृष्टान्तेन ब्रह्म परिणामीति भ्रमोत्पत्त्या पूर्वपक्षे प्राप्ते शास्त्रार्थो विवर्तो न परिणाम इति निर्णयार्थमिदमधिकरणमिति पूर्वाधिकरणेनोत्तराधिकरणस्य** [1]**कार्यत्वं सगतिमाह**— चेतनमिति । **निरवयवाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदन् समन्वयो विषयः । स किं यन्निरवयवं तन्न परिणामीति** [2]**न्यायेन विरुध्यते न वेति संदेहे विरुध्यत इति पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे**—कृत्स्नेति । **ब्रह्म परिणामीति वदता वक्तव्यं ब्रह्म निरवयवं सावयवं वा । आद्ये सर्वस्य ब्रह्मणः** परिणामात्मना स्थितिः स्यादित्युक्तं **व्यतिरेकदृष्टान्तेन विवृणोति**—यदि ब्रह्मेत्यादिना । **पर्यणंस्यत् परिणतोऽभविष्यत् । एकदेशश्चावा-**

यह अभिप्राय है ॥२५॥

९. कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरण

१. **सङ्गति**—पूर्व अधिकरण में भ्रमउत्पादकत्वरूप कारण और इस अधिकरण में कार्य का विचार होने से दोनों की कार्य–कारण सङ्गति है।

२. **विषय**—निरवयव ब्रह्म से जगत्सृष्टि बतलाने वाला समन्वय इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—निराकार ब्रह्म का परिणाम यह जगत् हो सकता है, या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—निराकार ब्रह्म से जगत्सृष्टि मानने पर पूर्णरूप से ब्रह्म जगत् बन गया तो उसमें नित्यत्व नहीं रह जायेगा और यदि अंशतः जगत् ब्रह्म का परिणाम है, तो ब्रह्म में सावयवत्व आ जायेगा, ऐसी स्थिति में ब्रह्म से जगत्सृष्टि बतलाने वाला समन्वय विरुद्ध है।

५. **सिद्धान्त**–माया से ब्रह्म अनेक रूप धारण कर लेता है। अतः उसमें कृत्स्नप्रसक्तिदोष नहीं है और सावयव तो हम मानते ही नहीं कि ब्रह्म का अंशतः परिणाम माना जाय। निरवयव ब्रह्म का जगत् विवर्त है, परिणाम नहीं। जैसे स्वप्नद्रष्टा में स्वप्नदृश्य कल्पित है ऐसे ही अद्वयब्रह्म में जगत कल्पित है। अतः स्वरूप उपमर्दन के बिना ही ब्रह्म में जगत् भासता है।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा (ललिता)

जैसे दुग्धादि और देवादि बाह्यसाधनों की अपेक्षा न कर दध्यादि रूप से परिणत होते हैं, ऐसे ही चेतन, एक, अद्वितीय ब्रह्म भी अन्य किसी की अपेक्षा न कर जगद्रूप से परिणत होता है इसीलिए ब्रह्म को जगत्कारण कहा गया है। इस शास्त्रतात्पर्य को परिशुद्ध करने के लिए पूर्वपक्षी उस पर आक्षेप करता है कि निरवयव होने से सम्पूर्ण ब्रह्म का कार्यरूप से परिणाम हो जायेगा क्योंकि **ब्रह्म**

---

१. नियमः । २. हेतुहेतुमद्भावः ।

(१६१) श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥२७॥

यवमभविष्यत्ततोऽस्यैकदेशः पर्यणंस्यदेकदेशश्चावास्थास्यत । निरवयवं तु ब्रह्म श्रुतिभ्योऽवगम्यते—'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६-१९), 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २-१-२), 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' (बृ० २-४-१२), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३-९-२६), 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३-८-८) इत्याद्याभ्यः सर्वविशेषप्रतिषेधिनीभ्यः। ततश्चैकदेशपरिणामासंभवात्कृत्स्नपरिणामप्रसक्तौ सत्यां मूलोच्छेदः प्रसज्येत। द्रष्टव्यतोपदेशानर्थक्यं चापन्नमयत्नदृष्टत्वात्कार्यस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य च ब्रह्मणोऽसंभवात् । अजत्वादिशब्दकोपश्च। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया सावयवमेव ब्रह्माभ्युपगम्येत तथापि ये निरवयवत्वस्य प्रतिपादकाः शब्दा उदाहृतास्ते प्रकुप्येयुः । सावयवत्वे चानित्यत्वप्रसङ्ग इति। सर्वथायं पक्षो न घटयितुं शक्यत इत्याक्षिपति ॥२६॥

तुशब्देनाक्षेपं परिहरति। न खल्वस्मत्पक्षे कश्चिदपि दोषोऽस्ति। न तावत्कृत्स्नप्रसक्ति-

---

स्थास्यदपरिणतोऽभविष्यत् । उक्तश्रुतिभ्यो निरवयवत्वसिद्धेः फलितं दोषमाह—ततश्चेति। यदा परिणामव्यतिरेकेण मूलब्रह्मात्मा नास्ति तदात्मा द्रष्टव्य इत्युपदेशोऽर्थशून्यः स्यादिति दोषान्तरमाह—द्रष्टव्यतेति । ब्रह्मणः परिणामात्मना जन्मनाशाङ्गीकारे 'अजोऽमरः' इति श्रुतिविरोधश्चेत्याह—अजत्वादीति। सावयवत्वपक्षमाशङ्क्य सूत्रशेषेण परिहरति—अथेत्यादिना ॥२६॥

परिणामपक्षो दुर्घट इति यदुक्तं तदस्मदिष्टमेवेति विवर्तवादेन सिद्धान्तयति—श्रुतेरिति। स्वपक्षे पूर्वोक्तदोषद्वयं नास्तीति सूत्रयोजनया वर्णयति—तुशब्देनेत्यादिना। ईक्षितृत्वेन व्याकर्तृत्वेन-चेक्षणी-

---

यदि पृथिव्यादि के समान सावयव होता तो उसका एकदेश परिणाम होता और एकदेश पूर्व की भाँति अवस्थित रहता, किन्तु 'कलारहित, क्रियारहित, शान्त, निर्दोष, दिव्य, निराकार, अजन्मा वह पुरुष बाहर-भीतर सर्वत्र विद्यमान है'; 'यह महद्भूत ब्रह्म अनन्त अपार, विज्ञानघन ही तो है', जिसे नेति-नेति शब्द से निषेधकर अवशेष रखते हैं'; 'वह न स्थूल है न अणु है' इत्यादि सभी विशेष का निषेध करने वाली श्रुतियों से ब्रह्म निरवयव जाना गया है। ऐसी स्थिति में उसके एकदेश का परिणाम कहना सम्भव नहीं है। निरवयव ब्रह्म के पूर्ण परिणाम हो जाने पर मूल का ही उच्छेद हो गया, तो फिर द्रष्टव्यत्वेन उसका उपदेश अनर्थक हो जायेगा और ब्रह्म का परिणामरूप जगत्कार्य तो बिना श्रवणादि यत्न के दीख रहा है, इसके लिए भी श्रवणादी का विधान व्यर्थ ही माना जायेगा । इन दोनों के अतिरिक्त ब्रह्म का तीसरा स्वरूप तो सम्भव ही नहीं है। इस पक्ष में अजत्वादि शब्द का व्याकोपदोष भी आयेगा अर्थात् ब्रह्म का परिणाम जब जगत् है तो फिर वह अजन्मा कैसे रहा। इस दोष परिहार की इच्छा से यदि ब्रह्म को सावयव माना जाय, तो ब्रह्म के प्रतिपादक निरवयव श्रुतिवाक्यों का जो उदाहरण आप ने दिया, उनका सावयवपक्ष में व्याकोप होने लग जायेगा। सावयव मानने पर अनित्यत्वदोष भी आ जायेगा । अतः जगत् का कारण ब्रह्म है, यह पक्ष किसी भी प्रकार से घटता नहीं है ? ऐसा आक्षेप होने पर अग्रिम सूत्र से समाधान दिया जाता है ॥२६॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् (ललिता)

पूर्वपक्षी ने परिणामपक्ष दुर्घट बतलाया, वह तो हमें भी इष्ट ही है। हम तो जगत् को ब्रह्म

---

१. षोडशकलाशून्यं निरवयवमिति यावत् ।

रस्ति । कुतः ? श्रुतेः । यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयत एवं विकारव्यतिरेकेणापि ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते, प्रकृतिविकारयोर्भेदेन व्यपदेशात् 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६-३-२) इति, 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३-१२-६) इति चैवंजातीयकात् । तथा हृदयायतनत्ववचनात्सत्सम्पत्तिवचनाच्च । यदि च कृत्स्नं ब्रह्म कार्यभावेनोपयुक्तं स्यात् 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६-८-१) इति सुषुप्तिगतं विशेषणमनुपपन्नं स्यात् । विकृतेन ब्रह्मणा नित्यसम्पन्नत्वादविकृतस्य च ब्रह्मणोऽभावात् । तथेन्द्रियगोचरत्वप्रतिषेधाद्ब्रह्मणो विकारस्य चेन्द्रियगोचरत्वोपपत्तेः । तस्मादस्त्यविकृतं ब्रह्म । नच निरवयत्वशब्दकोपोऽस्ति, श्रूयमाणत्वा-

---

यव्याकर्तव्यप्रपञ्चात् पृथगीश्वरसत्त्वश्रुतेर्न कृत्स्नप्रसक्तिरित्याह—सेयं देवतेति । न्यूनाधिकभावेनापि पृथक्सत्त्वं श्रुतमित्याह—तावानिति । इतश्चास्त्यविकृतं ब्रह्मेत्याह—तथेति । 'स वा एष आत्मा हृदि' इति श्रुतेरस्ति दृश्यातिरिक्तं ब्रह्म । 'तदा' इति सुषुप्तिकालरूपविशेषणाच्चेत्यर्थः । लिङ्गान्तरमाह—तथेन्द्रियेति । भूम्यादेर्विकारस्येन्द्रियगोचरत्वात् 'न चक्षुषा गृह्यते' इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मणस्तत्प्रतिषेधा-द्वाङ्मनसागोचरत्वश्रुतेश्चास्ति कूटस्थं ब्रह्मेत्यर्थः । कृत्स्नप्रसक्तिदोषो नास्तीत्युक्त्वा द्वितीयदोषोऽपि नास्तीत्याह—नचेति । ननु ब्रह्म कार्यात्मनाप्यस्ति, पृथगप्यस्ति चेत् सावयवत्वं दुर्वारं, निरवयवस्यैकस्य द्विधा सत्त्वायोगात्, अतो यद्द्विधाभूतं तत्सावयवमिति तर्कविरुद्धं ब्रह्मणो निरवयवत्वमिति

का विवर्त मानते हैं, परिणाम नहीं । पूर्ववादी के आक्षेप को दूर करने के लिए सूत्र में 'तु' शब्द आया है कि हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं है । (क्यों कोई दोष नहीं है ?) सर्वप्रथम आप ने कृत्स्नप्रसक्तिदोष जो दिया था वह इसलिए नहीं है, क्योंकि जैसे ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति सुनी जाती है, ऐसे ही विकार से भिन्नरूप में ब्रह्म का अवस्थान भी सुना जाता है । प्रकृतिविकार का पृथक् व्यपदेश भी मिलता है 'उस देवता ने संकल्प किया, कि मैं इन तेज आदि तीनों देवताओं में इस जीवात्मारूप से अनुप्रवेशकर इनके नाम-रूप को बनाऊंगा', 'यह सृष्टि तो इस परमात्मा की महिमा है, वह पुरुष तो इससे भी बड़ा है, उसके एक पाद में सम्पूर्ण सृष्टि है और उसके तीन पाद द्युलोक में विशुद्ध हैं ।' 'यह आत्मा हृदय में रहता है' इस श्रुति से हृदय में उसका आयतन बतलाया गया है । सुषुप्तिकाल में जीवात्मा का ब्रह्म के साथ सम्पन्न होना भी कहा गया है । इन सभी श्रुतिवाक्यों से जगद्रूप से बने ब्रह्म का निर्विकार भिन्नरूप भी प्रतीत होता है । यदि सम्पूर्ण ब्रह्म जगद्रूप से परिणत हो गया होता, तो **'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति'** सुषुप्त आत्मा के लिए सद्ब्रह्म के साथ सम्पन्नता विशेषण असंगत हो जाता, क्योंकि विकृत ब्रह्म के साथ तो यह सदा सम्पन्न ही है और निर्विकार ब्रह्म रह नहीं गया, तो फिर सुषुप्ति में किसके साथ जीव सम्पन्न होगा । इसके अतिरिक्त ब्रह्म का विकार जगत् इन्द्रियों का विषय है ही और इससे भिन्न निर्विकार ब्रह्म है नहीं जिसके लिए इन्द्रियगोचरत्व का निषेध किया जाय । अतः इस निषेध के बल से भी निर्विकार ब्रह्म का अस्तित्व मानना पड़ेगा । हमारे इस पक्ष में निरवयवत्व शब्द का व्याकोप भी नहीं है, क्योंकि ब्रह्म का कार्य जगत् है ऐसा कहने के बाद श्रुति ने ब्रह्म को निरवयव माना ही है । ब्रह्म शब्दप्रमाणगम्य है केवल इन्द्रियादि-

देव निरवयवत्वस्याप्यभ्युपगम्यमानत्वात् । 'शब्दमूलं च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं नेन्द्रियादिप्रमाणकं तद्यथाशब्दमभ्युपगन्तव्यम् । शब्दश्चोभयमपि ब्रह्मणः प्रतिपादयत्यकृत्स्नप्रसक्तिं निरवयत्वं च । लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकालनिमित्तवैचित्र्यवशाच्छक्तयो विरुद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते । ता अपि तावन्नोपदेशमन्तरेण केवलेन तर्केणावगन्तुं शक्यन्तेऽस्य वस्तुन एतावत्य एतत्सहाया एतद्विषया एतत्प्रयोजनाश्च शक्तय इति किमुताचिन्त्यस्वभावस्य ब्रह्मणो रूपं विना शब्देन न निरूप्येत । तथाचाहुः पौराणिकाः—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् । प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥'' इति । तस्माच्छब्दमूल एवातीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः ।

ननु शब्देनापि न शक्यते विरुद्धोऽर्थः प्रत्याययितुं निरवयवं च ब्रह्म परिणमते न च कृत्स्नमिति । यदि निरवयवं ब्रह्म स्यान्नैव परिणमेत । कृत्स्नमेव वा परिणमेत । अथ केनचिद्रूपेण परिणमेत केनचिच्चावतिष्ठेतेति रूपभेदकल्पनात्सावयवमेव प्रसज्येत । क्रिया-

विवर्तमजानतः शङ्कां गूढाशय एव परिहरति—शब्द मूल चेति । यदा लौकिकानां प्रत्यक्षदृष्टानामपि शक्तिरचिन्त्या तदा शब्दैकसमधिगम्यस्य ब्रह्मणः किमु वक्तव्यम् । अतो ब्रह्मणो निरवयवत्वं द्विधाभावश्चेत्युभयं यथाशब्दमभ्युपगन्तव्यम् । न तर्केण बाधनीयमित्यर्थः । प्रकृतिभ्यः प्रत्यक्षदृष्टवस्तुस्वभावेभ्यो यत्परं विलक्षणं केवलोपदेशगम्यं तदचिन्त्यस्वरूपमिति स्मृत्यर्थः । 'आशयानवबोधेन शङ्कते—ननु शब्देनापीति ।

यद्वा ब्रह्म परिणामीत्येकदेशिनामियं सिद्धान्तसूत्रव्याख्या दर्शिता तामाक्षिपति—नन्विति । शब्दस्य योग्यताज्ञानसापेक्षत्वादित्यर्थः । ननु ब्रह्म सावयवं निरवयवं वेति विकल्पाश्रयणे सर्वश्रुतिसमाधानं स्यादित्यत आह—क्रियेति । निरवयवत्वे ब्रह्मणः प्रकृतित्वश्रुतिविरोधः, सावयवत्वे निरवयवत्व-

प्रमाणगम्य नहीं है। इसलिए उसके सम्बन्ध में शब्द जैसा कहता है वैसा ही मानना चाहिए। शब्द ब्रह्म के उभयरूप का प्रतिपादन करता है कि सम्पूर्ण ब्रह्म की प्रसक्ति भी नहीं है और ब्रह्म निरवयव भी है। मणि, मन्त्र, औषधादि लौकिक वस्तुओं में भी देश, काल, निमित्त की विचित्रता से अनेक कार्य करने वाली विरुद्ध शक्तियाँ देखी जाती हैं, उन्हें भी उपदेश के बिना केवल तर्क से नहीं समझ सकते, कि इस वस्तु में इतनी शक्तियाँ हैं और उनके विषय ये हैं, एवं उनसे ये प्रयोजन सिद्ध होते हैं तो भला अचिन्त्यप्रभाव वाले ब्रह्म का रूप श्रुतिवाक्य के बिना कैसे निरूपित किया जा सकता है। ऐसा ही पौराणिकों ने भी कहा है कि 'जो पदार्थ अचिन्त्य हैं उन्हें तर्क से नहीं मापा जा सकता। जो प्रकृति से अर्थात् प्रत्यक्षदृष्टवस्तुस्वभाव से विलक्षण, केवल उपदेशगम्य हो, उसे अचिन्त्यरूप कहते हैं।' इसलिए अतीन्द्रिय पदार्थ का यथार्थ बोध केवल शब्दप्रमाण से ही हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं।

प्रश्न—शब्द से भी विरुद्ध अर्थ का बोध कैसे कराया जा सकेगा, कि ब्रह्म निरवयव है। किन्तु उसका सम्पूर्ण परिणाम नहीं होता। यदि ब्रह्म निरवयव है, तो उसका या तो परिणाम नहीं होगा या होगा तो पूर्णरूप से ही होगा और यदि किसी रूप से परिणाम हो एवं किसी रूप से यथावत् बना रहे

१. शब्दमूलमित्यस्यैव विवरण शब्दप्रमाणकम् । २. ब्रह्म । ३. शब्दप्रमाणक एव । ४. विवर्तम् ।

विषये हि 'अतिरात्रे 'षोडशिनं गृह्णाति', 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्येवंजातीयकायां विरोधप्रतीतावपि विकल्पाश्रयणं विरोधपरिहारकारणं भवति पुरुषतन्त्रत्वाच्चानुष्ठानस्य। इह तु विकल्पाश्रयणेनापि न विरोधपरिहारः सम्भवत्यपुरुषतन्त्रत्वाद्वस्तुनः। तस्माद्दुर्घटमेतदिति। नैष दोषः। अविद्याकल्पितरूपभेदाभ्युपगमात्। न ह्यविद्याकल्पितेन रूपभेदेन सावयवं वस्तु सम्पद्यते। नहि तिमिरोपहतनयनेनानेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक एव भवति। अविद्याकल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते। वाचारम्भणमात्रत्वाच्चाविद्याकल्पितस्य नामरूपभेदस्येति न निरवयवत्वं ब्रह्मणः कुप्यति। न चेयं परिणामश्रुतिः परिणामप्रतिपादनार्था, तत्प्रतिपत्तौ फलानवगमात्। सर्वव्यवहारहीनब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था त्वेषा, तत्प्रति-

---

शब्दविरोधः, विकल्पश्च वस्तुन्ययुक्तः, अतः प्रकारान्तरानुपलम्भाच् श्रुतीनां प्रामाण्यं दुर्घटमिति प्राप्ते स्वाशयमुद्घाटयति— नैष दोष इति। निरवयवस्य वस्तुनः कूटस्थस्याप्यविद्यया कल्पितनामरूपविकाराङ्गीकाराद्दुर्घटत्वदोषो नास्ति। वास्तवकौटस्थ्यस्य कल्पितविकारप्रकृतित्वेनाविरोधादित्यर्थः। रूपभेदाङ्गीकारे सावयवत्वं स्यादित्याशङ्क्योक्तं विवृणोति—नहीत्यादिना। कृत्स्नप्रसक्तिं निरस्य दोषान्तरं निरस्यति—वाचारम्भणेति। ननु श्रुतिप्रतिपाद्यस्य परिणामस्य कथं मिथ्यात्मत्वं, तत्राह—न चेयमिति। निष्प्रपञ्चब्रह्मधीशेषत्वेन सृष्टिरनूद्यते न प्रतिपाद्यत इत्यसकृदावेदितम्, अतो विवर्तवादे

ऐसा माना जायेगा तो रूपभेदकल्पना करने पर ब्रह्म सावयव ही होने लग जायेगा। 'अतिरात्र याग में षोडशीपात्र का ग्रहण करें' और अतिरात्र याग में षोढशीपात्र का ग्रहण न करें' ऐसी विरुद्ध प्रतीति होने पर भी क्रिया के विषय में विकल्प का आश्रय विरोधपरिहार का कारण हो सकता है क्योंकि अनुष्ठान पुरुषाधीन होता है, वह उक्तश्रुति की आज्ञाका पालन विकल्प से कर सकता है, किन्तु इस सिद्ध ब्रह्मवस्तु में विकल्प का आश्रय लेकर भी विरोध परिहार करना सम्भव नहीं होगा, क्योंकि वस्तु पुरुषतन्त्र नहीं होती। अतः इसका समाधान कठिन जान पड़ता है ? उत्तर— यह दोष नहीं है। अविद्याकल्पित रूपभेद ब्रह्म में माना गया है पर अविद्याकल्पित रूपभेद के कारण ब्रह्म सावयव नहीं होता। तिमिर रोग से उपहित नेत्रवाले पुरुष से अनेक चन्द्रमा देखे जाने पर भी चन्द्र अनेक नहीं हो जाता। अविद्याकल्पित व्याकृत तथा अव्याकृत नाम-रूपभेद के कारण ब्रह्म परिणाम आदि सभी व्यवहार का आश्रय बन रहा है, जो नाम-रूप सत् और असत् से विलक्षण है। परमार्थतः तो ब्रह्म सभी व्यवहारों का अविषय परिणामरहित शुद्ध ही रहता है। अविद्याकल्पित नामरूपभेद तो वाणी से कहने मात्र के लिए है, इससे ब्रह्म में निरवयवत्व का व्यापको नहीं होता और ब्रह्म के परिणाम को बतलाने वाली श्रुति परिणाम का प्रतिपादन भी नहीं कर रही है क्योंकि ऐसा जान लेने पर कोई फल नहीं मिलता। यह श्रुति तो सम्पूर्ण व्यवहार से शून्य ब्रह्मात्मभावप्रतिपादन के लिए है क्योंकि ऐसा जान लेने पर फल सुना जाता है। 'यह प्रकृत आत्मा नेति-नेति शब्द द्वारा बतलाया जाता है' यहाँ से प्रसंग

१, सोमपात्रविशेषः षोडशी।

(१६२) आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥२८॥

पत्तौ फलावगमात् । 'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्याह—'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' बृ० ४-२-४) इति । तस्मादस्मत्पक्षे न कश्चिदपि दोषप्रसङ्गोऽस्ति ॥२७॥

अपि च नैवात्र विवदितव्यं कथमेकस्मिन्ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः स्यादिति । यत आत्मन्यप्येकस्मिन्स्वप्नदृशि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः पठ्यते— 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४-३-१०) इत्यादिना । लोकेऽपि देवादिषु मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादिसृष्टयो दृश्यन्ते । तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिर्भविष्यतीति ॥२८॥

न कश्चिद्दोष इत्युपसंहरति—तस्मादिति ॥२७॥

पूर्वावस्थानाशेनावस्थान्तरं परिणामः, यथा दुग्धस्य दधिभावः । पूर्वरूपानुपमर्देनावस्थान्तरं विवर्तः, यथा शुक्तेः रजतभावः । तत्र ब्रह्मणो विवर्तोपादानत्वं स्वप्नसाक्षिदृष्टान्तेन द्रढयन्मायावादं स्फुटयति सूत्रकारः—आत्मनि चेति । रथयोगाः अश्वाः ॥२८॥

प्रारम्भकर 'हे जनक ! निःसन्देह अब तुम अभयपद को प्राप्त कर चुके हो' इन श्रुति वाक्यों द्वारा प्रपञ्चातीत ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान से अभयपद की प्राप्तिरूप फल कहा गया है । अतः हम विवर्तवादी वेदान्तो के पक्ष में दोष का कोई प्रसंग नहीं आता ॥२७॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि (ललिता)

पूर्व अवस्था के नाश से अवस्थान्तरप्राप्ति को परिणाम कहते हैं जैसे दुग्ध का परिणाम दधि है और पूर्वरूप के नाश के बिना ही अवस्थान्तरप्राप्ति को विवर्त कहते हैं जैसे शुक्ति का रजतभाव । उनमें से स्वप्नसाक्षी दृष्टान्त द्वारा ब्रह्म में विवर्तउपादानत्व को दृढ़ करते हुए अग्रिम सूत्र से मायावाद को स्फुट करते हैं, कि,

इस प्रसंग में विवाद नहीं करना चाहिए कि एक ब्रह्म में स्वरूपनाश के बिना ही अनेकाकार सृष्टि कैसे हो सकेगी । जब एक ही स्वप्नद्रष्टा में स्वरूपनाश के बिना ही अनेकाकार सृष्टि होती हैं, क्योंकि स्वप्न में न रथ होते हैं, न रथ के घोड़े, न मार्ग ही होते हैं किन्तु रथ, उसके घोड़े और उसके मार्ग को स्वप्नद्रष्टा स्वयं ही बना लेता है' इस वाक्य द्वारा श्रुति ने स्वरूपनाश के बिना ही एक ही स्वप्नद्रष्टा में अनेकाकार सृष्टि बतला रखी है । लोक में भी देवादि और मायावी आदि में स्वरूपनाश के बिना ही विचित्र हस्ति, अश्वादि की सृष्टि देखी जाती है । ऐसे ही एक ब्रह्म में भी स्वरूपनाश के बिना ही अनेकाकार सृष्टि हो जायेगी । अतः इस विषय में विवाद करने का अवकाश ही कहाँ है ॥२८॥

(१६३) स्वपक्षदोषाच्च ॥२९॥

परेषामप्येष समानः स्वपक्षे दोषः । प्रधानवादिनोऽपि हि निरवयवमपरिच्छिन्नं शब्दादिहीनं प्रधानं सावयवस्य परिच्छिन्नस्य शब्दादिमतः कार्यस्य कारणमिति स्वपक्षः । तत्रापि कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वात्प्रधानस्य प्राप्नोति निरवयवत्वाभ्युपगमकोपो वा ।

ननु नैव तैर्निरवयवं प्रधानमभ्युपगम्यते, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयोगुणा नित्यास्तेषां साम्यावस्था प्रधानं तैरेवावयवैस्तत्सावयवमिति । नैवंजातीयकेन सावयवत्वेन प्रकृतो दोषः परिहर्तुं पार्यते । यतः सत्त्वरजस्तमसामप्येकैकस्य समानं निरवयवत्वम् । एकैकमेव चेतरद्वयानुगृहीतं सजातीयस्य प्रपञ्चस्योपादानमिति समानत्वात्स्वपक्षदोष-

किंच कृत्स्नप्रसक्त्यादीनां सांख्यादिपक्षेऽपि दोषत्वान्नास्मान् प्रत्युद्भावनीयत्वं, 'यश्चोभयोः समो दोषः' इति न्यायादित्याह सूत्रकारः—स्वपक्षेति ।

प्रधानस्य निरवयवत्वे कृत्स्नप्रसक्तिः सावयवत्वे च निरवयवत्वाभ्युपगमविरोध इत्यत्र शङ्कते—नन्विति । किं साम्यावस्था गुणानां विकारः, समुदायो वा । आद्ये तस्या न मूलप्रकृतित्वं, 'विकारत्वात्'। द्वितीये प्रपञ्चाभावः, समुदायस्यावस्तुत्वेन मूलाभावात् । अथ निरवयवा गुणा एव विविधपरिणामानां प्रकृतिरिति चेत्, तर्हि कृत्स्नप्रसक्तेर्मूलोच्छेदो दुर्वार इत्यभिप्रेत्य परिहरति—नैवमित्यादिना। इति यतोऽतः समानत्वान्न वयं पर्यनुयोज्या इत्यन्वयः । प्रत्येकं सत्त्वादिकमितरगुणद्वयसचिवं निरवयवं यद्युपादानं तर्हि कृत्स्नस्योपादानस्य कार्यरूपत्वप्रसक्तेर्मूलोच्छेद इत्युक्ते निरवयवत्वसाधकतर्कस्याभासत्वाद्गुणानां सावयवत्वमेव परिणामित्वेन मृदादिवदतो न कृत्स्नप्रसक्तिरेकदेशपरिणामसंभवादिति शङ्कते—तर्केति। एतद्दोषाभावेऽपि दोषान्तरं स्यादिति परिहरति—एवमपीति ।

स्वपक्षदोषाच्च (ललिता)

सांख्यों के पक्ष में भी यह दोष समानरूप से आता ही है क्योंकि उन्होंने भी निरवयव, शब्दादिहीन, अपरिच्छिन्न प्रधान को सावयव, शब्दादिमान, परिच्छिन्न, महदादि कार्य का कारण कहा है, यह उनका पक्ष है। इस पक्ष में भी प्रधान को निरवयव मानने के कारण कृत्स्नप्रसक्तिदोष आयेगा ही। सावयव कहोगे, तो निरवयवत्व सिद्धान्त का व्याकोप होगा।

प्रश्न—सांख्य प्रधान को निरवयव नहीं मानते हैं क्योंकि सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को ही प्रधान कहते हैं और इन तीनों गुणरूप अवयव के कारण ही प्रधान सावयव माना जाता है? उत्तर—इस प्रकार सावयव मानकर भी प्रकृत दोष का परिहार वे नहीं कर पायेंगे, क्योंकि सत्त्वादि गुणों में भी एक-एक में निरवयवत्व समान ही है। सत्वादि एक एक गुण अन्य दो गुणों से अनुगृहीत होकर सजातीय प्रपञ्च का उपादानकारण माना गया है, इसलिए सांख्य के अपने पक्ष में पूर्वोक्त दोष का प्रसंग आयेगा ही। पूर्वपक्ष—तर्कों की सीमा न होने के कारण हम गुणों में सावयवत्व ही मानते हैं। सिद्धान्त—इस

१. मूलप्रकृतिरविकृतिरिति प्रतिज्ञानात् ।

प्रसङ्गस्य । तर्काप्रतिष्ठानात्सावयवत्वमेवेति चेत् । एवमप्यनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गः । अथ शक्तय एव कार्यवैचित्र्यसूचिता अवयवा इत्यभिप्रायः । तास्तु ब्रह्मवादिनोऽप्यविशिष्टाः । तथाणुवादिनोऽप्यणुरण्वन्तरेण संयुज्यमानो निरवयवत्वाद्यदि कार्त्स्न्येन संयुज्येत ततः प्रथिमानुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गः । अथैकदेशेन संयुज्येत तथापि निरवयवत्वाभ्युपगमकोप इति स्वपक्षेऽपि समान एष दोषः । समानत्वाच्च नान्यतरस्मिन्नेव पक्ष उपक्षेप्तव्यो भवति । परिहृतस्तु ब्रह्मवादिना स्वपक्षे दोषः ॥२६॥

ननु गुणानामवयवास्तुन्तुवदारम्भका न भवन्ति किंतु कार्यवैचित्र्यानुमितास्तद्गताः शक्तय इत्याशङ्क्य मायिकशक्तिभिर्ब्रह्मणोऽपि सावयवत्वं तुल्यमित्याह—अथेत्यादिना । अणुवादेऽपि दोषसाम्यमाह—तथेति । सांख्यवद्दोषः समान इति संबन्धः । निरवयवयोः परमाण्वोः संयोगो व्याप्यवृत्तिरव्याप्यवृत्तिर्वा । आद्ये तत्कार्यस्य द्व्यणुकस्यैकपरमाणुमात्रत्वापत्तिः, प्रथिम्नोऽधिकपरिमाणस्यानुपपत्तेः । न ह्यणोरण्वन्तरेणोपर्यधः पार्श्वतश्च व्याप्तौ ततोऽधिकद्रव्यं संभवति । द्वितीये परमाण्वोः सावयवत्वापत्तिरित्यर्थः । ननु त्वं चोर इत्युक्ते त्वमपि चोर इतिवद्दोषसाम्योक्तिरयुक्तेत्यत आह—परिहृतस्त्विति । उक्तं हि मायावादे स्वप्नवत्सर्वं सामञ्जस्यम्, अतो निरवयवे ब्रह्मणि समन्वयस्याविरोध इति सिद्धम् ॥२६॥

प्रकार मानने पर भी सत्त्वादि गुणों और उनके साम्यावस्थारूप प्रधान में भी अनित्यत्वादि दोष आयेंगे ही, क्योंकि सावयव वस्तु सर्वत्र अनित्य ही देखी गयी है। यदि सत्त्वादि गुणों को और उनके साम्यावस्थारूप प्रधान को सावयव मानोगे, तो उनमें अनित्यत्व दोष आयेगा ही। पूर्वपक्ष—कार्यवैचित्र्य से सूचित शक्ति ही प्रधान के अवयव हैं, ऐसा हमारा अभिप्राय है ? सिद्धान्त— तब तो ब्रह्मवादियों के यहाँ भी ऐसा ही माना गया है। अतः दोनों में कोई भेद नहीं रह गया। ऐसे ही परमाणुवादी वैशेषिकों के पक्ष में भी निरवयव एक परमाणु का दूसरे परमाणु से मिलकर द्व्यणुकादि क्रम से जगत् की रचना मानी जाती है, ऐसी स्थिति में निरवयव दो परमाणुओं के मिलने पर महत्व परिमाण न सिद्ध होने के कारण अणुमात्र ही रह जायेगा। अतः उनके पक्ष में भी यह दोष समान ही है। जब वादी-प्रतिवादी सभी के पक्ष में यह दोष रहता ही है, तो किसी एक पक्ष में ऐसे दोष का उद्भावन ठीक नहीं है।

'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि तत्समः ।
नैकस्तत्र नियोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥'

इस अभियुक्त वचन के अनुसार ऐसे प्रसंग पर चुप रह जाना ही अच्छा है। एक ने दूसरे को चोर कहा, तो दूसरे ने पहले वाले को चोर कह दिया, यह कथन कोई समाधान नहीं है। इसलिए सिद्धान्त पक्ष से भाष्यकार ने कहा कि ब्रह्मवादियों ने मायावाद के आधार पर स्वप्न के समान अपने पक्ष में पूर्वोक्त दोष का परिहार कर दिया। अतः निरवयव ब्रह्म में श्रुति का समन्वय निर्विरोध सिद्ध रह गया है ॥२६॥

१०. सर्वोपेताधिकरणम् (सू० ३०-३१)

नाशरीरस्य मायास्ति यदि वास्ति न विद्यते । ये हि मायाविनो लोके ते सर्वेऽपि शरीरिणः ॥
बाह्यहेतुमृते यद्वन्मायया कार्यकारिता । ऋतेऽपि देह मायैवं ब्रह्मण्यस्तु प्रमाणतः ॥

(१६४) सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥३०॥

एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगादुपपद्यते विचित्रो विकारप्रपञ्च इत्युक्तम् । तत्पुनः कथमवगम्यते विचित्रशक्तियुक्तं परं ब्रह्मेति । तदुच्यते । सर्वोपेता च तद्दर्शनात् । सर्वशक्तियुक्ता च परा देवतेत्यभ्युपगन्तव्यम् । कुतः ? तद्दर्शनात् । तथाहि दर्शयति श्रुतिः सर्वशक्तियोगं परस्या देवतायाः—'सर्वकर्मा 'सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः' (छा० ३-१४-४), 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छा० ८-७-१), 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १-१-९), 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृ० ३-८-९) इत्येवंजातीयका ॥३०॥

सर्वोपेता । मायाशक्तिमतो ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदतः समन्वयस्याशरीरस्य न मायेति न्यायेन विरोधोऽस्ति न वेति संदेहे न्यायस्याभासत्वादस्तीति पूर्वपक्षे पूर्वोक्तशक्तिमत्त्वसमर्थनादेकविषयत्वं संगतिं वदन् सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे–एकस्येत्यादिना । पूर्वोत्तरपक्षयोर्विरोधाविरोधौ फलमित्युक्तमेवापादसमाप्तेरवगन्तव्यम् । अभ्यात्तः अभितो व्याप्तः । अवाकी वागिन्द्रियशून्यः । अनादरो निष्कामः ॥३०॥

---

१०. सर्वोपेताधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण द्वारा ब्रह्म में विचित्र शक्ति का योग वतलाया गया, जिसका समर्थन इस अधिकरण द्वारा किया जायेगा, अतः दोनों की विषय-विषयिभाव संगति है।

२. विषय—ब्रह्म में मायायुक्तत्व का विचार इस अधिकरण द्वारा किया गया है।

३. संशय—निराकार ब्रह्म के आश्रित माया रह सकती है, या नहीं ? इस प्रकार संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—लोक में सभी मायावी शरीरधारी देखे गये हैं। अतः अशरीर ब्रह्म में माया नहीं रह सकती।

५. सिद्धान्त—बाह्यकारण के बिना ही माया के द्वारा जैसे ब्रह्म जगत का कर्ता है, पिछले अधिकरण में ब्रह्म को जगत्कर्ता सिद्ध किया गया था। ऐसे ही शरीर के विना भी ब्रह्म में माया रह सकती है, ऐसा श्रुति के बल से सिद्ध होता है।

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् (ललिता)

विचित्र शक्तियुक्त अद्वय ब्रह्म से भी विचित्र कार्यप्रपञ्च की रचना सम्भव है, ऐसा पिछले प्रसंग में कहा गया था। इस पर प्रश्न होता है, कि परमात्मा विचित्र शक्तियुक्त है, यह आपको कैसे ज्ञात हुआ ? इसी प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से दिया गया है कि—

'परमात्मा सर्वशक्तियुक्त है ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि वह परमात्मा समस्त कर्म, समस्त काम, समस्त गन्ध, समस्त रस से युक्त है और उसने सम्पूर्ण जगत् को सभी ओर से व्याप्त कर रखा है, वह वागिन्द्रिय रहित है और निष्काम है', 'वह सत्यकाम एवं सत्यसंकल्प है', 'हे गार्गी! इसी अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चन्द्र सदा खड़े रहते हैं' ये सब श्रुतियाँ परमेश्वर को सर्वशक्तियुक्त बतलाती हैं ॥३०॥

(१६५) विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥३१॥

स्यादेतत् । विकरणां परां देवतां शास्ति शास्त्रम्—'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' (बृ० ३-८-८) इत्येवंजातीयकम् । कथं सा सर्वशक्तियुक्तापि सती कार्याय प्रभवेत् । देवादयो हि चेतनाः सर्वशक्तियुक्ता अपि सन्त आध्यात्मिककार्यकरणसम्पन्ना एव तस्मै तस्मै कार्याय प्रभवन्तो विज्ञायन्ते । कथं च 'नेति नेति' (बृ० ३-९-२६) इति प्रतिषिद्धसर्वविशेषाया देवतायाः सर्वशक्तियोगः सम्भवेदिति चेत् । यदत्र वक्तव्यं तत्पुरस्तादेवोक्तम् । श्रुत्यवगाह्यमेवेदमतिगम्भीरं ब्रह्म न तर्कावगाह्यम् । नच यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथान्यस्यापि सामर्थ्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्तीति । प्रतिषिद्धसर्वविशेषस्यापि ब्रह्मणः सर्वशक्तियोगः सम्भवतीत्येतदप्यविद्याकल्पितरूपभेदोपन्यासेनोक्तमेव । तथाच शास्त्रम्—'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे० ३-१९) इत्यकरणस्यापि ब्रह्मणः सर्वसामर्थ्ययोगं दर्शयति ॥३१॥

पूर्वपक्षन्यायमनूद्य दूषयति—विकरणत्वादिति । देवादिचेतनानां शक्तानामपि देहाभिमाने सत्येव कर्तृत्वं दृष्टं तदभावे सुषुप्ते तन्न दृष्टं, अतो ब्रह्मणः शक्तत्वेऽप्यदेहत्वान्न कर्तृत्वम् । नाप्यदेहस्य शक्तिः संभवतीति शङ्कार्थः । विकरणस्य जीवस्य कर्तृत्वासंभवेऽपीश्वरस्य संभवतीति, 'देवादिवदपि लोके' इत्यत्रोक्तम् । तत्र शरीरस्य कल्पितस्य मायाश्रयत्वायोगान्निर्विशेषचिन्मात्रस्यैव मायाधिष्ठानत्वं युक्तमिति समाधानार्थः ॥३१॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् (ललिता)

पूर्वपक्ष—'वह परमात्मा नेत्र, श्रोत्र, वाणी और मन से रहित है' यह श्रुति परमेश्वर को इन्द्रियों से रहित बतलाती है । ऐसी स्थिति में वह परमात्मा सर्वशक्तियुक्त होता हुआ भी जगत् रचना में कैसे समर्थ हो सकेगा ? क्योंकि सर्वशक्तिसम्पन्न हुए ही चेतन देवादि आध्यात्मिक शरीर एवं इन्द्रियों से युक्त होने पर ही तत्तद् कार्य करने में समर्थ जाने जाते हैं, फिर भला 'नेति-नेति' शब्द से जिस परमेश्वर में सभी विषयों का प्रतिषेध कर दिया गया है, ऐसे परमात्मा में सर्वशक्ति का योग कैसे सम्भव हो सकेगा ? सिद्धान्त—इसका जो उत्तर कहा जा सकता है, उसे हम 'देवादिवदपि लोके' इस सूत्र के भाष्य में कह आये हैं । अतिगम्भीर यह ब्रह्मतत्व श्रुति से जानने योग्य है, केवल तर्क से नहीं । इसके अतिरिक्त एक वस्तु में जो सामर्थ्य देखा गया है, वैसा ही सामर्थ्य दूसरे में भी होना चाहिए ऐसा नियम नहीं है । जिस ब्रह्म में सभी विशेषों का प्रतिषेध कर दिया गया है, उसमें सभी शक्तियों का सम्बन्ध सम्भव है, यह भी हमने अविद्याकल्पित रूपभेद के उपन्यास से ही कहा है, क्योंकि 'परमेश्वर हाथ के बिना भी सबको ग्रहण करता है, पैर के बिना भी सबसे अधिक तीव्र गति से भागता है, नेत्र के बिना भी देखता है और श्रोत्र के बिना भी सुनता है' यह शास्त्रवचन कार्य-कारण रहित ब्रह्म में भी सर्वसामर्थ्य का सम्बन्ध बतलाता है ॥३१॥

---

१. देवादिवदपि लोक इत्यत्रेत्यर्थः ।

२. श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादित्यत्र ।

११. न प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् (सू० ३२-३३)

तृप्तोऽस्रष्टाथवा स्रष्टा न स्रष्टा फलवाञ्छने। अतृप्तः स्यदवाञ्छायामुन्मत्तनरतुल्यता।
लीलाश्वासवृथाचेष्टा अनुद्दिश्य फलं यतः। अनुन्मत्तैर्विरच्यन्ते तस्मात्तृप्तस्तथा सृजेत्॥

(१६६) न प्रयोजनवत्त्वात्॥३२॥

अन्यथा पुनश्चेतनकर्तृत्वं जगत आक्षिपति। न खलु चेतनः परमात्मेदं जगद्बिम्बं विरचयितुमर्हति। कुतः? प्रयोजनवत्त्वात्प्रवृत्तीनाम्। चेतनो हि लोके बुद्धिपूर्वकारी पुरुषः प्रवर्तमानो न मन्दोपक्रमामपि तावत्प्रवृत्तिमात्मप्रयोजनानुपयोगिनीमारभमाणो दृष्टः। किमुत गुरुतरसंरम्भाम्। भवति च लोकप्रसिद्ध्यनुवादिनी श्रुतिः—'न वा अरे सर्वस्य

न प्रयोजनवत्त्वात्। **परितृप्ताद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदन् समन्वयो विषयः। स किमभ्रान्तश्चेतनो यः स निष्फलं वस्तु न रचयतीति न्यायेन विरुध्यते न वेति संदेहे पूर्वमदेहस्यापि श्रुतिबलात् शक्तत्वोक्त्या कर्तृत्वमुक्तं तदाक्षेपसंगत्या पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे**—अन्यथेत्यादिना। **ईश्वरस्य फलाभावेऽपि परप्रयोजनाय सृष्टौ प्रवृत्तिरस्त्वित्याशङ्क्य श्रुतिमाह**—भवति चेति। **या प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः सा**

---

११. न प्रयोजनवत्त्वाधिकरण

१. **संगति**—पिछले अधिकरण द्वारा श्रुति के आधार पर सर्वशक्तिविशिष्ट परमेश्वर को जगत्कर्ता सिद्ध किया गया। अब उस पर आक्षेप करके समाधान देने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है। अतः पूर्व के साथ इसकी आक्षेप संगति है।

२. **विषय**—तृप्तब्रह्म को जगत्स्रष्टा मानने पर समन्वयविरोध इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—आप्तकाम ब्रह्म जगत्स्रष्टा हो सकता है, या नहीं?

४. **पूर्वपक्ष**—फलाकांक्षा रहने पर ब्रह्म अतृप्त माना जायेगा और बिना इच्छा के उसे जगत्कर्ता मानने पर उसकी प्रवृत्ति उन्मत्तपुरुष के समान हो जायेगी। अतः आप्तकाम ब्रह्म को जगत्स्रष्टा मानना ठीक नहीं।

५. **सिद्धान्त**—बिना किसी उद्देश्य के लीला में और श्वास की चेष्टा में स्वस्थ व्यक्ति की भी प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः आप्तकाम परमेश्वर भी बिना किसी प्रयोजन के लीलादि प्रवृत्ति की भाँति जगद्रचनारूप प्रवृत्ति कर लेगा, इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

न प्रयोजनवत्त्वात् (ललिता)

जगत् का कर्ता चेतन ब्रह्म है, इस पर पुनः आक्षेप करते हैं, कि चेतन ब्रह्म इस जगत् बिम्ब की रचना नहीं कर सकता क्योंकि प्रवृत्ति स्वकीय प्रयोजन के लिए हुआ करती है। लोक में बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होने वाला चेतन पुरुष छोटी सी छोटी प्रवृत्ति भी अपने प्रयोजन के बिना करता हुआ नहीं देखा गया है फिर भला गुरुतरआयाससिद्ध जगद् की रचना जैसी प्रवृत्ति ईश्वर स्वकीय प्रयोजन के बिना कैसे कर सकेगा। लोकप्रसिद्ध प्रवृत्ति का अनुवाद करने वाली श्रुति भी है 'अरे मैत्रेयि! सब की

(१६७) लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥३३॥

कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तुकामाय सर्वं प्रियं भवति' बृ० २-४-५) इति । गुरुतर-संरम्भा चेयं प्रवृत्तिर्यदुच्चावचप्रपञ्चं जगद्बिम्बं विरचयितव्यम् । यदीयमपि प्रवृत्तिश्चेतनस्य परमात्मन आत्मप्रयोजनोपयोगिनो परिकल्प्येत परितृप्तत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत । प्रयोजनाभावो वा प्रवृत्त्यभावोऽपि स्यात् । अथ चेतनोऽपि सन्नुन्मत्तो बुद्ध्यपराधादन्तरेणैवात्मप्रयोजनं प्रवर्तमानो दृष्टस्ततः परमात्मापि प्रवर्तिष्यत इत्युच्येत । तथा सति सर्वज्ञत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत । तस्मादश्लिष्टा चेतनात्सृष्टिरिति ॥३२॥

तुशब्देनाक्षेपं परिहरति । यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य राज्ञो राजामात्यस्य वा व्यतिरिक्तं किंचित्प्रयोजनमनभिसंधाय केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयः क्रीडाविहारेषु भवन्ति, यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसंधाय बाह्यं किञ्चित्प्रयोजनं स्वभावादेव सम्भवन्ति, एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किञ्चित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा

स्वफलार्थेति लोकप्रसिद्धिः । नच दयालुप्रवृत्तौ व्यभिचारः, तस्यापि परदुःखासहनप्रयुक्तस्वचित्तव्याकुलतानिवृत्त्यर्थत्वादिति भावः । किंच गुरुतरायासस्य फलं वाच्यमित्याह—गुरुतरेति । तर्ह्यस्तीश्वरस्यापि प्रवृत्तिः स्वार्थेत्यत आह—यदीयमपीति । अस्वार्थत्वे प्रवृत्त्यभावः पूर्वोक्तः स्यादित्यर्थः । ईश्वरः प्रेक्षावान्न भवतीत्याशङ्क्य श्रुतिविरोधमाह—अथेत्यादिना । बुद्धेरपराधो विवेकाभावः ॥३२॥

उक्तन्यायस्य राज्ञां लीलायां व्यभिचार इति सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—तुशब्देनेति । व्यतिरिक्तं । लीलातिरिक्तम् । क्रीडारूपा विहारा येषु रम्यदेशेषु तेष्वित्यर्थः । कदाचिद्राजादीनां लीलाया अपि किंचित् फलं सुखोल्लासादिकं संभाव्येत, तथापि निःश्वासादौ प्रेक्षावत्प्रवृत्तित्वमस्ति न तु स्वस्य तत्रोद्देश्यं फलं किंचिदस्तीति व्यभिचारस्थलान्तरमाह—यथा चेति । प्राणस्य स्वभावश्चलत्वं प्रारब्धं

स्वार्थसिद्धि के लिए सब प्रिय नहीं होते हैं किन्तु अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए सब प्रिय होते हैं।' यह जगद् रचनारूप प्रवृत्ति अत्यन्त आयाससाध्य है, क्योंकि यह जगद् रचना बहुत ऊँचा-नीचा स्वभाव-वाला है। यदि चेतन परमेश्वर की यह प्रवृत्ति अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये होती है, ऐसी कल्पना करोगे तो परमात्मा में जो पूर्णतृप्तत्व सुना गया है वह बाधित होने लग जायेगा अथवा प्रयोजन के न रहने पर प्रवृत्ति का अभाव भी हो जायेगा। यदि कहो कि चेतन उन्मत्तपुरुष भी बुद्धिदोष के कारण अपने प्रयोजन के बिना ही कर्म करता देखा गया है, वैसे ही परमात्मा भी स्वप्रयोजन के बिना ही जगद् रचना कर लेगा, तब तो उसमें सर्वज्ञत्व जो सुना गया था, उसका बाध होने लग जायेगा। अतः चेतन ब्रह्म से जगत्सृष्टि बतलाना असंगत है ॥३२॥

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् (ललिता)

सूत्रोक्त आक्षेप का परिहार अग्रिम सूत्र से किया गया है—

'तु' शब्द से आक्षेप का परिहार करते हैं। लोक में किसी आप्तकाम राजा अथवा उसके मन्त्री की प्रयोजन चिन्तन किये बिना ही क्रीड़ा-विहारादि में जैसे लीलारूप प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं और जैसे श्वास-प्रश्वास आदि किञ्चिद् बाह्यप्रयोजन सोचे बिना स्वभाव से होते रहते हैं, ऐसे ही किसी प्रयोजनान्तर की अपेक्षा न कर स्वभाव से ही लीलारूपा प्रवृत्ति ईश्वर की भी हो जायेगी। बहुत

१२. वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम् (सू० ३४–३६)

वैषम्याद्यापतेर्नो वा सुखदुःखे नृभेदतः । सृजन्विषम ईशः स्यान्निर्घृणश्चोपसंहरन् ॥
प्राण्यनुष्ठितधर्मादिमपेक्ष्येशः प्रवर्तते । नातो वैषम्यनैर्घृण्ये संसारस्तु न चादिमान् ॥

प्रवृत्तिर्भविष्यति । न हीश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा सम्भवति । नच स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते यद्यप्यस्माकमियं जगद्बिम्बविरचना गुरुतसंरम्भेवाभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयं, अपरिमितशक्तित्वात् । यदि नाम लोके लीलास्वपि किञ्चित्सूक्ष्मं प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्येत तथापि नैवात्र किञ्चित्प्रयोजनमुत्प्रेक्षितुं शक्यते, आप्तकामश्रुतेः । नाप्यप्रवृत्तिरुन्मत्तप्रवृत्तिर्वा, सृष्टिश्रुतेः, सर्वज्ञश्रुतेश्च । न चेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात् ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनपरत्वाच्चेत्येतदपि नैव विस्मर्तव्यम् ॥३३॥

बोच्छ्वासादिहेतुः, ईश्वरस्य स्वभावः कालकर्मसहितमाया । नन्वीश्वरस्य जगद्रचनायाः केवललीलात्वं किमित्युच्यते, फलमेव किंचित् कल्प्यतां, तत्राह—नहीति । आप्तकामत्वव्याघातादित्यर्थः । नन्वीश्वरस्तूष्णीं किमिति न तिष्ठति, किमिति स्वस्याफलां परेषां दुःखावहां सृष्टिं करोति, तत्राह—नच स्वभाव इति । कालधर्मादिसामग्र्यां सत्यां सृष्टेरपरिहार्यत्वादित्यर्थः । यदुक्तं गुरुतरायासत्वात् फलं वाच्यमिति, तत्र हेत्वसिद्धिमाह—यद्यपीत्यादिना । अल्पप्रवृत्तेरपि फलं वाच्यं लोके तथादर्शनादित्याशितर्कस्यागमबाधमाह—यदि नामेति । सृष्टिश्रुतेरप्रवृत्तिर्नास्ति, सर्वज्ञत्वश्रुतेरुन्मत्तता नास्तीति विभागः । स्वप्नसृष्टिवदस्याः सृष्टेर्मायामात्रत्वान्न फलापेक्षेत्याह—न चेयमिति । नच निष्फलसृष्टिश्रुतीनामानर्थक्यं, सफलब्रह्मबोधशेषत्वेनार्थवत्त्वादित्युक्तं न विस्मर्तव्यमित्यर्थः ॥३३॥

विचार करने पर भी युक्ति से जगद् रचना के लिए ईश्वर में कोई प्रयोजन नहीं दिखाई पड़ता और न श्रुति ही ऐसा कहती है । किसी के स्वभाव पर प्रश्न नहीं कर सकते हैं, कि ऐसा इसका स्वभाव क्यों हुआ । यद्यपि जगद्बिम्बरचना हम सब के लिए गुरुतर आयासवाली जान पड़ती है फिर भी परमेश्वर की यह केवल लीला ही है, क्योंकि उसमे अपरिमित शक्ति है । यदि लोक में कुछ सूक्ष्म प्रयोजन की कल्पना लीलाओं में भी कर सकते हैं, फिर भी ईश्वर में कुछ प्रयोजन की कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि श्रुति उसे आप्तकाम बतलाती है । ऐसे ही प्रवृत्ति का अभाव अथवा उन्मत्त प्रवृत्ति भी ईश्वर में नहीं कह सकते, क्योंकि सृष्टिबोधक श्रुति है और ईश्वर में सर्वज्ञत्वप्रतिपादक श्रुति भी है । यह सृष्टि श्रुति परमार्थतत्त्वविषयक तो है नहीं क्योंकि यह अविद्याकल्पित नाम-रूप व्यवहार को बतलाती है, इसका मुख्य तात्पर्य ब्रह्मात्मभावप्रतिपादन में है, इस बात को कभी भूलना नहीं चाहिए अर्थात् सृष्टि श्रुति का तात्पर्य सृष्टिमात्रबोधन में नहीं है और न सृष्टि को परमार्थ बतलाने में है किन्तु ब्रह्म और आत्मा के अभेदप्रतिपादन में महावाक्य की भाँति सृष्टिश्रुति का भी तात्पर्य है, इसे सदा स्मरण बनाये रखना चाहिए ॥३३॥

१२. वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण द्वारा मायाशक्तियुक्त ब्रह्म को लीला से जगत्स्रष्टा कहा गया, उस पर आक्षेप करके समाधान देने के लिए इस अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं । अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की आक्षेप संगति है ।

(१६८) वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ॥३४॥

पुनश्च जगज्जन्मादिहेतुत्वमीश्वरस्याक्षिप्यते स्थूणानिखननन्यायेन प्रतिज्ञातस्यार्थस्य दृढीकरणाय । नेश्वरो जगतः कारणमुपपद्यते । कुतः ? वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात् । कांश्चिदत्यन्तसुखभाजः करोति देवादीन्, कांश्चिदत्यन्तदुःखभाजः पश्वादीन्, कांश्चिन्मध्यमभोगभाजो मनुष्यादीनित्येवं विषमां सृष्टिं निर्मिमाणस्येश्वरस्य पृथग्जनस्येव रागद्वेषोपपत्तेः। श्रुतिस्मृत्यवधारितस्वच्छत्वादीश्वरस्वभावविलोपः प्रसज्येत । तथा खलजनैरपि जुगुप्सितं निर्घृणत्वमतिक्रूरत्वं दुःखयोगविधानात्सर्वप्रजोपसंहाराच्च प्रसज्येत । तस्माद्वैषम्य-

---

वैषम्यघृणैण्ये न । निर्दोषाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन् समन्वयो विषयः । स किं यो विषमकारी स दोषवानिति न्यायेन विरुध्यते न वेति संदेहे पूर्वत्र लीलया यत्स्रष्टृत्वमुक्तं तदेव कर्मादिसापेक्षस्य न युक्तमनीश्वरत्वापत्तेः, निरपेक्षत्वे रागादिदोषापत्तेरित्याक्षेपसंगत्या पूर्वपक्षयति—पुनश्चेत्यादिना । ब्रह्मैव जगत्कारणमिति जन्मादिसूत्रे प्रतिज्ञातोऽर्थः । पृथग्जनः पामरः, 'निरवद्यं निरञ्जनम्' इति श्रुतिः, 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' इति स्मृतिः । स्वच्छत्वादीत्यादिपदेन कूटस्थत्वग्रहः, स्वच्छत्वादिश्चासावीश्वरस्वभावश्चेति विग्रहः । निमित्तमनपेक्ष्य विषमकारित्वे वैषम्यादिदोषः स्यात्, न त्वन-

---

२. **विषय**—निर्दोषब्रह्म से जगत्सृष्टि बतलाने वाला समन्वय इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—समब्रह्म से जगत्सृष्टि मानने पर परमेश्वर में वैषम्य दोष आता है, या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—सभी प्राणियों के लिए सुख-दुःख का विधान करने वाला ईश्वर विषम माना जायेगा । साथ ही दुःख का विधान एवं सभी प्रजाओं का संहार जैसा दुःखद काम करने वाले परमात्मा में नैर्घृण्यदोष भी आ जायेगा जो समन्वय का विरोधी है ।

५. **सिद्धान्त**—सृज्यमान प्राणियों के धर्मादि की अपेक्षाकर परमेश्वर जगत्सृष्टि, स्थिति और संहार जैसे कार्य में प्रवृत्त होता है। अतः उसमें वैषम्यनैर्घृण्यदोष नहीं है और संसार प्रवाहरूप से भी अनादि भी है, जिसमें श्रुति एवं स्मृतिप्रमाण विद्यमान है।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति (ललिता)

'**जन्माद्यस्य यतः**' इस सूत्र से ईश्वर को जगज्जन्मादि का कारण होने की प्रतिज्ञा की गयी थी उसी प्रतिज्ञात अर्थ को दृढ़ करने के लिए स्थूणानिखननन्याय से पुनः ईश्वर के जगज्जन्मादिकारणता पर शङ्का करते हैं कि ईश्वर जगत् का कारण सिद्ध नहीं होता है क्योंकि ऐसा मानने पर उसमें वैषम्यनैर्घृण्यदोष आने लग जायेगा, देवादि कुछ प्राणियों को अत्यन्त सुख का भागी, पश्वादि कुछ प्राणियों को अत्यन्त दुःख का और मनुष्यादि कुछ प्राणियों को मध्यम भोग का अधिकारी बना रखा है । ऐसी विषमसृष्टि करने वाले ईश्वर में पामरों की भांति राग-द्वेष आने लग जायेंगे । ऐसी स्थिति में श्रुति-स्मृति ने जो ईश्वर को अत्यन्त स्वच्छ स्वभाव बतलाया था, उस निर्धारित स्वच्छत्वादि ईश्वर स्वभाव का लोप होने लग जायेगा एवं दुःखसम्बन्ध के विधान तथा सर्वप्रजाउपसंहरण के कारण ईश्वर में अतिक्रूरत्व का प्रसंग भी आने लग जायेगा, जिस अतिक्रूरत्व की निन्दा

नैर्घृण्यप्रसङ्गान्नेश्वरः कारणमित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—वैषम्यनैर्घृण्ये नेश्वरस्य प्रसज्येते। कस्मात्? सापेक्षत्वात्। यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते स्यातामेतौ दोषौ वैषम्यं नैर्घृण्यं च। नतु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति। सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षत इति चेत्। धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः। अतः सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः। ईश्वरस्तु पर्जन्यवद्द्रष्टव्यः। हि यथा पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति। देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्त्येवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दुष्यति। कथं पुनरवगम्यते सापेक्ष ईश्वरो नीचमध्यमोत्तमं संसारं निर्मिमीत इति। तथाहि दर्शयति श्रुतिः—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु

पेक्षत्वमीश्वरस्यास्तीति सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इत्यादिना। न च सापेक्षत्वे अनीश्वरत्वं, सेवामपेक्ष्य फलदातरि राज्ञीश्वरत्वानपायात्। ननु तर्हि धर्माधर्माभ्यामेव विचित्रा सृष्टिरस्तु किमीश्वरेणेत्यत आह—ईश्वरस्तु पर्जन्यवदिति। साधारणहेतुसहितस्यैवासाधारणहेतोः कार्यकारित्वान्नेश्वरवैयर्थ्यं, अन्यथा पर्जन्यवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति भावः। यं जनमुन्निनीषते ऊर्ध्वं नेतुमिच्छति तं साधु कारयत्येष ईश्वर इत्यन्वयः। नच किञ्चज्जनं साधु कंचिदसाधु कर्म कारयतो वैषम्यं तदवस्थमिति वाच्यं, अनादि-

---

दुष्टजनों ने भी की है। अतः वैषम्य एवं नैर्घृण्य दोष की प्रसक्ति ईश्वर में होने लग जायेगी। इसीलिए ईश्वर जगत्कारण नहीं है? ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं, कि ईश्वर में आप के द्वारा आक्षिप्त वैषम्यनैर्घृण्यदोष नहीं आयेंगे, क्योंकि ईश्वर प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षाकर सृष्टि करता है। यदि प्राणियों के शुभाशुभ कर्म की अपेक्षा के बिना ही स्वतन्त्र ईश्वर विषमसृष्टि का निर्माणकर्ता माना जाता, तो वैषम्य और नैर्घृण्य ये दोनों दोष उसमें आ सकते थे किन्तु कर्मनिरपेक्ष ईश्वर में जगन्निर्मातृत्व हम नहीं मानते अपितु कर्मसापेक्ष ही ईश्वर विषमसृष्टि का निर्माण करता है। ईश्वर विषमसृष्टि के निर्माण में किसकी अपेक्षा रखता है, ऐसा यदि पूछो, तो हम कहेंगे कि धर्माधर्म कर्मों की अपेक्षा रखता है। अतः सृज्यमान प्राणी के धर्माधर्म की अपेक्षा से विषमसृष्टि का निर्माण जब ईश्वर करता है, तो यह ईश्वर का अपराध नहीं है। ईश्वर को बादल की भाँति जगत् का साधारण कारण समझना चाहिए। जैसे व्रीहियवादि की उत्पत्ति में बादल साधारण कारण है, उनके वैषम्य में तो व्रीहियवादि के बीजगत असाधारण शक्ति ही कारण है। इस प्रकार ईश्वर, देव, मनुष्यादि की सृष्टि में साधारण कारण है, उनकी विषमसृष्टि में उन जीवों के अन्दर रहने वाले असाधारण कर्म ही कारण होते हैं। इस रीति से धर्माधर्म को अपेक्षाकर सृष्टि का निर्माता ईश्वर वैषम्यनैर्घृण्यदोष से दूषित नहीं होता है। आप को यह कैसे ज्ञात हुआ कि निम्न, मध्यम एवं उत्तम संसार की रचना ईश्वर कर्मसापेक्ष होकर करता है? क्योंकि श्रुति वैसा ही कहता है 'यह ईश्वर ही उस व्यक्ति से साधुकर्म करवाता है, जिसे इस लोक में ऊपर उठाना चाहता है और

(१६९) न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥३५॥

कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौ० ब्रा० ३-८) इति। 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृ० ३-२-१३) इति च। स्मृतिरपि प्राणिकर्मविशेषापेक्षमेवेश्वरस्यानुग्रहीतृत्वं निग्रहीतृत्वं च दर्शयति—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भ० गी० ४-११) इत्येवंजातीयका ॥३४॥

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६-२-१) इति प्राक्सृष्टेरविभागावधारणान्नास्ति कर्म यदपेक्ष्य विषमा सृष्टिः स्यात्। सृष्ट्युत्तरकालं हि शरीरादिविभागापेक्षं कर्म, कर्मापेक्षश्च शरीरादिविभाग इतीतरेतराश्रयत्वं प्रसज्येत, अतो विभागादूर्ध्वं कर्मापेक्ष ईश्वरः प्रवर्ततां नाम। प्राग्विभागाद्वैचित्र्यनिमित्तस्य कर्मणोऽभावात्तुल्यैवाद्या सृष्टिः प्राप्नोतीति चेत्। नैष दोषः। अनादित्वात्संसारस्य। भवेदेष दोषो यद्यादिमान्संसारः स्यात्। अनादौ तु संसारे बीजाङ्कुरवद्धेतुहेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते ॥३५॥

पूर्वार्जितसाध्वसाधुवासनया स्वभावेन जनस्य तत्तत्कर्मसु प्रवृत्तावीश्वरस्य साधारणहेतुत्वात्। अतोऽनवद्य ईश्वर इति भावः ॥३४॥

प्रथमसर्गस्य वैषम्यहेतुकर्माभावादेकरूपत्वं स्यात्, तथा तथा तदुत्तरकल्पानामपीत्याक्षिप्य समाधत्ते सूत्रकारः—न कर्मेति। प्रथमसृष्टेः पश्चाद्भाविकर्मकृतं वैषम्यमित्याशङ्क्यान्योन्याश्रयमाह—सृष्ट्युत्तरेति। आद्या सृष्टिरित्युपलक्षणम्। आदावेकरूपत्वे मध्ये विषमकर्मोत्पत्तौ हेत्वभावेनोत्तरसृष्टीनामपि तुल्यत्वस्य दुर्वारत्वादिति द्रष्टव्यम्। परिहारः सुगमः ॥३५॥

वही ईश्वर उस व्यक्ति से असाधुकर्म करवाता है जिसे इन लोकों से नीचे ढकेलना चाहता है 'पुण्यकर्म से पुण्यात्मा होता है और पापकर्म से पापी हो जाता है' ऐसा ही 'जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं मैं भी उन्हें उसी प्रकार भजता हूँ' यह स्मृति भी प्राणीकर्मविशेष की अपेक्षा करके ही ईश्वर को अनुग्रह एवं निग्रह का कर्ता बतलाती है ॥३४॥

प्रश्न—'हे सौम्य ! यह दृश्यमान जगत् सृष्टि से पहले सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य अद्वितीय सत् ही था' इस वाक्य द्वारा सृष्टि से पूर्व अविभाग का निश्चय होता है, ऐसी स्थिति में वह कर्म ही नहीं है, जिसको अपेक्षाकर विषमसृष्टि का निर्माण ईश्वर कर सके। सृष्टि के बाद ही शरीरादि विभाग की अपेक्षाकर कर्म होता है और कर्म की अपेक्षाकर शरीरादि विभाग होता है, ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रयदोष भी आ जायेगा। अतः शरीरादि विभाग के पश्चात् कर्म की अपेक्षाकर भले ही ईश्वर सृष्टि करने में प्रवृत्त हो जाय किन्तु विभाग से पूर्व वैचित्र्य के निमित्त कर्म का अभाव होने से आदिसृष्टि समान ही प्राप्त होती है, विषम नहीं ? उत्तर—संसार को अनादि मान लेने के कारण यह दोष भी नहीं आता। आप के द्वारा उत्थापित यह दोष आ सकता था, यदि संसार आदिमान् होता। बीजाङ्कुर की भाँति हेतुहेतुमद्भाव से अनादि संसार में कर्म एवं सर्गवैषम्य की प्रवृत्ति विरुद्ध नहीं है ॥३५॥

(१७०) उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥३६॥

कथं पुनरवगम्यतेऽनादिरेष संसार इति । अत उत्तरं पठति—

उपपद्यते च संसारस्यानादित्वम् । आदिमत्त्वे हि संसारस्याकस्मादुद्भूतेर्मुक्तानामपि पुनः संसारोद्भूतिप्रसङ्गः । अकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च, सुखदुःखादिवैषम्यस्य निर्निमित्तत्वात् । न चेश्वरो वैषम्यहेतुरित्युक्तम् । न चाविद्या केवला वैषम्यस्य कारणं, एकरूपत्वात् । रागादिक्लेशवासनाक्षिप्तकर्मापेक्षा त्वविद्या वैषम्यकरी स्यात् । न च कर्मान्तरेण शरीरं सम्भवति, न च शरीरमन्तरेण कर्म सम्भवतीतीतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गः । अनादित्वे तु बीजाङ्कुरन्यायेनोपपत्तेर्न कश्चिद्दोषो भवति । उपलभ्यते च संसारस्यानादित्वं श्रुतिस्मृत्योः । श्रुतौ तावत् 'अनेन जीवेनात्मना' (छा० ६-३-२) इति सर्गप्रमुखे शारीरमात्मानं जीवशब्देन प्राणधारणनिमित्तेनाभिलपन्ननादिः संसार इति दर्शयति । आदिमत्त्वे

प्रथमः सर्गः कश्चिन्नास्तीत्यत्र प्रमाणं पृच्छति—कथं पुनरिति । उपपत्तिसहितश्रुत्यादिकं प्रमाणमिति सूत्रव्याख्यया दर्शयति—उपपद्यत इति । हेतुं विनैव सर्गाङ्गीकारे ज्ञानकर्मकाण्डवैयर्थ्यं स्यादित्यर्थः । ननु सुखादिवैषम्ये ईश्वरोऽविद्या वा हेतुरस्त्वित्याशङ्क्य क्रमेण दूषयति—न चेश्वर इत्यादिना । कस्तर्हि हेतुः, तत्राह—रागादीति । रागद्वेषमोहाः क्लेशास्तेषां वासनाभिराक्षिप्तानि कर्माणि धर्माधर्मव्यामिश्ररूपाणि, तदपेक्षा त्वविद्या सुखादिसर्गवैचित्र्यहेतुः । तस्मादविद्यासहकारित्वेन क्लेशकर्मणामनादिप्रवाहोऽङ्गीकर्तव्य इति भावः । किंच सृष्टेः सादित्वे प्रथमशरीरस्योत्पत्तिर्न संभवति, हेत्वभावात् । नच कर्म हेतुः, शरीरात्प्राक्कर्मासंभवात् । तस्मात् कर्मशरीरयोरन्योन्याश्रयपरिहाराय सर्वैरेव वादिभिः संसारस्यानादित्वमङ्गीकार्यमित्याह—न चेति । सर्गप्रमुखे सृष्ट्यादौ प्रागनवधारितप्राणोऽपि

आप को कैसे ज्ञात हुआ कि यह संसार अनादि है ? बस इसी प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं कि—

संसार का अनादित्व युक्ति से सिद्ध होता है एवं श्रुति-स्मृति में भी ऐसा ही उपलब्ध होता है, क्योंकि संसार को आदिमान् मानने पर अकस्मात् अकारण हो सृष्टि मानने पर मुक्त आत्मा का भी पुनः संसार में जन्मग्रहण का प्रसंग आ जायेगा और उसमें अकृताभ्यागमदोष भी आने लगेगा । जब पहले कर्म था नहीं, तो बिना कर्म के ही अकस्मात् जीव में कर्मफल मानने पर अकृताभ्यागमदोष आ जायेगा, क्योंकि सुखःदुखादि वैषम्य का निमित्त उस आदिसृष्टि में कुछ है नहीं । ईश्वर और केवल अविद्या को वैषम्य का कारण नहीं कह सकते, क्योंकि ये दानों सभी के लिए समान है । रागादि क्लेश और उनकी वासनाओं से आक्षिप्त त्रिविधकर्म की अपेक्षाकर अविद्या विषम संसार का कारण बन सकती है, अन्यथा नहीं । कर्म के बिना शरीर का होना सम्भव नहीं है और शरीर के बिना कर्म का होना सम्भव नहीं है, इस प्रकार सृष्टि को आदिमान् मानने पर अन्योन्याश्रयत्वदोष आ जायेगा, किन्तु संसार को अनादि मानने पर बीजाङ्कुरन्याय से कर्म तथा शरीर की व्यवस्था हो जाने के कारण कोई दोष नहीं आता । श्रुति एवं स्मृति में संसार का अनादित्व उपलब्ध भी होता है 'इस जीवात्मारूप से शरीर में प्रविष्ट हो मैं नाम-रूप को बनाऊँ' इस वाक्य द्वारा सर्गारम्भ में प्राणधारणनिमित्तक जीव शब्द से शारीर आत्मा का वर्णन करते हुए श्रुति संसार को अनादि बतलाती है । पर संसार को आदिमान् मानने पर उससे पूर्व जब प्राणधारण करने वाला कोई प्राण हो नहीं है तब प्राण-

१३. सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणम् ।

नास्ति प्रकृतिता यद्वा निर्गुणस्यास्ति नास्ति सा ।। मृदादेः सगुणस्यैव प्रकृतित्वोपलम्भनात् ।।
भ्रमाधिष्ठानतास्माभिः प्रकृतित्वमुपेयते ।। निर्गुणेऽप्यस्ति जात्यादौ सा ब्रह्म प्रकृतिस्ततः ।।

तु प्रागनवधारितप्राणः सन् कथं प्राणधारणनिमित्तेन जीवशब्देन सर्गप्रमुखेऽभिलप्येत । नच धारयिष्यतीत्यतोऽभिलप्येत । अनागताद्धि सम्बन्धादतीतः सम्बन्धो बलवान्भवति, अभिनिष्पन्नत्वात् । 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० सं० १०-१९०३) इति च मन्त्रवर्णः पूर्वकल्पसद्भावं दर्शयति । स्मृतावप्यनादित्वं संसारस्योपलभ्यते— 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा' (गी० १५-३) इति । पुराणे चातीतानागतानां कल्पानां न परिमाणमस्तीति स्थापितम् ।।३६।।

सन् प्रत्यगात्मा भाविधारणनिमित्तेन जीवशब्देनोच्यतामित्यत्राह—नच धारयिष्यतीति । 'गृहस्थः सदृशीं भार्यामुपेयात्' इत्यादावगत्या भाविवृत्त्याश्रयणमिति भावः । अस्य संसारवृक्षस्य स्वरूपं सत्यं मिथ्या वेत्युपदेशं बिना नोपलभ्यते । ज्ञानं विनान्तोऽपि नास्ति । नाप्यादिरुपलभ्यते, असत्त्वादेव । न च संप्रतिष्ठा मध्ये स्थितिः, दृष्टनष्टस्वरूपत्वादिति गीतावाक्यार्थः । संसारस्यानादित्वेऽपि मिथ्यात्वात् 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यवधारणमुपपन्नम् । तस्मान्निरवद्ये ब्रह्मणि समन्वयाविरोध इति सिद्धम् ।।३६।।

धारणनिमित्तक जीव शब्द से सर्गारम्भ में कथन कैसे कर सकेंगे । यदि कहो कि भविष्य में प्राणधारण करेगा इसलिए भविष्यत्वृत्ति से ऐसा कहा गया है तो अनागत सम्बन्ध की अपेक्षा अतीत सम्बन्ध बलवान होता है, क्योंकि वह पूर्व से सिद्ध है । 'परमेश्वर ने इस सर्ग में सूर्य-चन्द्र को वैसे ही बनाया, जैसे पहले था' यह मन्त्रवर्ण पूर्वकल्प का सद्भाव बतलाता है । 'इस संसार का रूप वैसा नहीं दीखता जैसा शास्त्रों में कहा गया है, न इसका अन्त है, न आदि है और न मध्य है' इस वाक्य द्वारा स्मृति में भी संसार को अनादि कहा है । पुराण में अतीत तथा अनागत कल्पों को अपरिमित माना गया है । अतः निर्दोष ब्रह्म में श्रुतियों का समन्वय निर्विरोध सिद्ध हुआ ।।३६।।

१३. सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरण

१. **सङ्गति**—यद्यपि पूर्व अधिकरण में ब्रह्म को जगत् का निमित्तकारण सिद्ध किया गया फिर भी उपादानत्वप्रयोजकगुण जब उसमें हैं नहीं, तो ऐसी स्थिति में ब्रह्म जगत् का उपादानकारण नहीं हो सकता । ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ हुआ है ।

२. **विषय**—इस अधिकरण द्वारा ब्रह्म में जगदुपादानत्व का विचार किया गया है ।

३. **संशय**—निर्गुण ब्रह्म में जगदुपादानत्व सम्भव है, या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—सगुण मृदादि में ही उपादानत्व देखा गया है जो निर्गुण ब्रह्म में कथमपि सम्भव नहीं है ।

५. **सिद्धान्त**—जगत्कारणत्व के प्रयोजक सभी सर्वज्ञत्वादि कारणधर्म ब्रह्म में विद्यमान हैं । अतः निर्गुण ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् का उपादानकारण है, किन्तु परिणामी उपादान नहीं अपितु विवर्त उपादानकारण है ।

(१७१) सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥३७॥

चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यस्मिन्नवधारिते वेदार्थे परैरुपक्षिप्तान्विलक्षणत्वादीन्दोषान्पर्यहार्षीदाचार्यः । इदानीं परपक्षप्रतिषेधप्रधानं प्रकरणं प्रारिप्समाणः स्वपक्षपरिग्रहप्रधानं प्रकरणमुपसंहरति । यस्मादस्मिन्ब्रह्मणि कारणे परिगृह्यमाणे प्रदर्शितेन प्रकारेण सर्वे कारणधर्मा उपपद्यन्ते 'सर्वज्ञं सर्वशक्ति महामायं च ब्रह्म' इति, तस्मादनतिशङ्कनीयमिदमौपनिषदं दर्शनमिति ॥३७॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

सर्वधर्मोपपत्तेश्च । **निर्गुणस्य ब्रह्मणो जगदुपादनत्ववादिवेदान्तसमन्वयो विषयः स किं यन्निर्गुणं तन्नोपादानं यथा रूपमिति न्यायेन विरुध्यते न वेति संदेहे, भवत्वीश्वरस्य विषमसृष्टिनिमित्तत्वं तत्प्रयोजकस्य कर्मणः सत्त्वात्, नतूपादानत्वं तद्व्यापकस्य सगुणत्वस्याभावादिति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रतात्पर्यमाह**—चेतनमिति । **विवर्तोपादानत्वं निर्गुणस्याप्यविरुद्धं, अज्ञातत्वस्य भ्रमाधिष्ठानत्वप्रयोजकस्य सत्त्वात्, सगुणत्वं त्वव्यापकं शब्दादिगुणेषु नित्यत्वादिभ्रमदर्शनादिति भावः । यद्यपि सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च लोके कारणधर्मत्वेनाप्रसिद्धं तथापि यो यस्य कर्ता स तस्य सर्वस्य ज्ञाता शक्तश्चेति प्रसिद्धम्, ईश्वरस्यापि सर्वकर्तृत्वश्रवणात्प्रसिद्ध्यनुसारेणार्थान्निरतिशयसर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च सिध्यतीत्यभिसंधायाह**—सर्वज्ञं सर्वशक्तीति । महामायमिति । **कर्तृत्वोपादानत्वकथने सर्वशङ्कापङ्कक्षालनायोक्तम् । तस्मादौपनिषदसिद्धान्ते न कश्चिद्दोष इति सिद्धम् ॥३७॥**

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ

श्रीमच्छशारीरकमीमांसाव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादः ॥१॥

चेतन ब्रह्म जगत् का निमित्त तथा उपादानकारण है, इस सुनिश्चित वेदार्थ में प्रतिवादियों के द्वारा उत्थापित विलक्षणत्वादि दोषों का परिहार आचार्यों ने किया। अब परपक्षप्रतिषेधप्रधान-प्रकरण प्रारम्भ की इच्छा से आचार्य बादरायण स्वपक्षपरिग्रहप्रधान प्रकरण का उपसंहार करते हैं अर्थात् द्वितीय अध्याय प्रथम पाद में स्वपक्ष का परिग्रह प्रधानरूप से किया गया था जिसका उपसंहार इसलिए कर रहे हैं क्योंकि द्वितीय पाद में प्रधानरूप से परपक्ष का खण्डन किया जायेगा। जब इस ब्रह्मकारणवाद का परिग्रह किया तो उसमें प्रदर्शित प्रकार से सभी कारणधर्म सिद्ध हो जाते हैं। 'ब्रह्म सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् और महामाया से युक्त है' इसलिए औपनिषद् दर्शन पर शङ्का सर्वथा नहीं करनी चाहिए। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और महामाया से युक्त ब्रह्म को कर्ता तथा उपादानकारण मानने में अब कोई शङ्का नहीं रह जाती, यह सिद्ध हुआ ॥३७॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक कैलासपीठाधीश्वर

दशमाचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि

द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य द्वितीयाध्याय

प्रथमपाद की ललिता व्याख्या समाप्त।



द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः

१. रचनानुपपत्त्यधिकरणम् (सू. १-१०)

प्रधानं जगतो हेतुर्न वा सर्वे घटादयः ।। अन्विताः सुखदुःखाद्यैर्यतो हेतुरतो भवेत ।।
न हेतुर्योग्यरचनाप्रवृत्त्यादेरसम्भवात् ।। सुखाद्या आन्तरा बाह्या घटाद्यास्तु कुतोऽन्वयः ।।

(१७२) रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ।।१।।

यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदंपर्यं निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तं न तर्कशास्त्रवत्केवला-

सांख्यतार्किकबौद्धाश्च जैनाः पाशुपतादयः ।
यस्य तत्त्वं न जानन्ति तं वन्दे रघुपुङ्गवम् ।।

ब्रह्मणि सर्वधर्मोपपत्तिवत् प्रधानेऽपि तदुपपत्तिमाशङ्क्य निराचष्टे—रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् । **ननु मुमुक्षूणां वाक्यार्थनिर्णय**[1]**प्रतिबन्धनिरासाय वेदान्तानां तात्पर्यं निश्चेतुमिदं शास्त्रमारब्धं**[2]**तच्च निर्दोषतया निश्चितं, ततः परपक्षनिरासात्मकोऽयं पादोऽस्मिन् शास्त्रे न संगतः, तन्निरासस्य मुमुक्ष्वनपेक्षितत्वादित्याक्षिपति**—यद्यपीति । **परपक्षनिराकरणं विना स्वपक्षस्थैर्यायोगात्तत्कर्तव्य-**

द्वितीय अध्याय–द्वितीय पाद

इस पाद में सांख्यादि मतों में दुष्टत्व दिखलाया गया है। इस प्रकार वेदान्तसमन्वय में प्रतिवादियों के द्वारा जो विरोध खड़े किये गये थे, उनका खण्डन करके स्वपक्षस्थापन करने वाले प्रथम पाद के साथ इस परमतनिराकरणप्रधान द्वितीय पाद की उपजीव्य-उपजीवकभाव सङ्गति है।

१. रचनानुपपत्त्यधिकरण

१. **सङ्गति**—पिछले अधिकरण द्वारा ब्रह्म में जगत्कारणत्व, सर्वज्ञत्वादि धर्म की जो उपपत्ति कही गयी थी, उन धर्मों की सङ्गति प्रधान में ही क्यों न मान ली जाय, ऐसा अक्षेप उठाकर इस अधिकरण के द्वारा समाधान दिया गया है; इसलिए पूर्व के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति मानी गयी है।

२. **विषय**—सांख्य सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—क्या सांख्य सिद्धान्त प्रमाणमूलक है अथवा भ्रान्तिमूलक है? अर्थात् जगत् का कारण प्रधान हो सकता है या नहीं?

४. **पूर्वपक्ष**—घटादि सम्पूर्ण जगत् सुख-दुःख एवं मोह से अन्वित देखे जाते हैं, अतः इनका कारण सुखदुःखमोहात्मक त्रिगुण प्रधान ही हो सकता है।

५. **सिद्धान्त**—सांख्यदर्शनोक्त अनुमानसिद्धप्रधान जगत्कारण नहीं हो सकता क्योंकि स्रष्टव्यज्ञान से शून्य, अचेतन प्रधान से अनेकविध विचित्र रचना सम्भव नहीं है। सुखादि आन्तरपदार्थ हैं, वे घटादि विषय में कैसे रह सकेंगे।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् (ललिता)

पिछले अधिकरण में जैसे ब्रह्म में सभी कारणधर्म बतलाये गये थे, वैसे ही प्रधान में भी वे सब विद्यमान हैं, अतः प्रधान को ही जगत्कारण मानना चाहिए; ऐसी शङ्का होने पर उसके निराकरण के लिए अग्रिम प्रसङ्ग प्रारम्भ करते हैं। यद्यपि, वेदान्तवाक्यों का यही तात्पर्य है, ऐसा बतलाने के

१. प्रतिबन्धकं तु असंभावनादिकं परमते श्रद्धादिकं च। २. तात्पर्यम्।

भिर्युक्तिभिः कंचित्सिद्धान्तं साधयितुं दूषयितुं वा प्रवृत्तम्, तथापि वेदान्तवाक्यानि [1]व्याचक्षाणैः सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि सांख्यादिदर्शनानि निराकरणीयानीति तदर्थः परः पादः प्रवर्तते। वेदान्तार्थनिर्णयस्य च सम्यग्दर्शनार्थत्वात्तन्निर्णयेन स्वपक्षस्थापनं प्रथमं कृतं, तद्ध्यभ्यर्हितं परपक्षप्रत्याख्यानादिति। ननु मुमुक्षूणां मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्तुं युक्तं किं परपक्षनिराकरणेन परद्वेषकरेण। बाढमेवम्, तथापि [2]महाजनपरिगृहीतानि महान्ति सांख्यादितन्त्राणि सम्यग्दर्शनापदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत्केषांचिन्मन्दमतीनामेतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपादेयानीत्यपेक्षा। तथा युक्तिगाढत्वसम्भवेन [3]सर्वज्ञभाषितत्वाच्च श्रद्धा च तेषु। इत्यतस्तदसारतोपपादनाय प्रयत्यते। ननु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १-१-५), 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' (ब्र० सू०१-

मित्याह—तथापीति। तर्हि स्वपक्षस्थापनात्प्रागेव परपक्षप्रत्याख्यानं कार्यमित्यत आह—वेदान्तार्थेति। वेदान्ततात्पर्यनिर्णयस्य [4]फलवज्ज्ञानकरणान्तर्भावादभ्यर्हितत्वम्। ननु रागद्वेषकरणत्वात् परमतनिराकरणं न कार्यमिति शङ्कते—नन्विति। तत्त्वनिर्णयप्रधाना खल्वियं कथारब्धा, तत्त्वनिर्णयश्च परमतेष्वश्रद्धां विना न सिध्यति, सा च तेषु भ्रान्तिमूलत्वनिश्चयं विना न सिध्यति, स च इमं पादं विनेति स्वसिद्धान्तसंरक्षणार्थत्वात्प्रधानसिद्ध्यर्थत्वादयं पादोऽस्मिन् शास्त्रे संगतः, संगतत्वा[5]द्वीतरागेणापि कर्तव्य इत्यभिसंधायोक्ताङ्गीकारेण समाधत्ते—बाढमित्यादिना। अपदेशेन व्याजेन, मन्दमतीनां तेषु श्रद्धानिमित्तानि बहूनि सन्तीति तन्निरासाय यत्नः क्रियत इत्यर्थः। स्वमतश्रद्धापरमतद्वेषौ तु प्रधानसिद्ध्यर्थत्वादङ्गीकृतौ। नाप्ययं द्वेषः। परपक्षत्वबुद्ध्या हि निरासो द्वेषमावहति न तु तत्त्वनिर्णयेच्छया कृत इति मन्तव्यम्। पौनरुक्त्यं शङ्कते—नन्वीक्षतेरिति। पूर्वं सांख्यादीनां श्रुत्यर्थानुग्राहकतर्क-

लिए यह शास्त्र प्रवृत्त हुआ था, तर्कशास्त्र की भाँति केवल युक्तियों से किसी सिद्धान्त को सिद्ध करने अथवा विरुद्ध पक्ष को दूषित करने के लिए प्रवृत्त नहीं हुआ था। फिर भी वेदान्तवाक्य की व्याख्या करने वाले वेदव्यासादि आचार्य, सम्यग्दर्शन के विरोधी सांख्यादि दर्शनों का खण्डन करना ही चाहिए, ऐसा मानकर अग्रिम पाद प्रारम्भ करते हैं। वेदान्तार्थ का निर्णय सम्यग्ज्ञान के लिए है, उसके निर्णय से प्रथम स्वपक्ष का स्थापन किया गया है क्योंकि परपक्षखण्डन की अपेक्षा स्वपक्ष स्थापन अधिक महत्व रखता है। प्रश्न—मुमुक्षुओं को मोक्ष के साधनरूप से सम्यग्ज्ञान के लिए केवल स्वपक्ष का स्थापन करना ही उचित था, दूसरे के साथ द्वेष करने वाले परपक्ष के निराकरण से क्या लेना है, यह तो विक्षेप का कारण है? उत्तर—ऐसा आप का कथन ठीक ही है, फिर भी देवलादि महापुरुषों से परिगृहीत सांख्यादि दर्शन महान हैं, ये भी सम्यग्दर्शनव्याज से प्रवृत्त हुए हैं; ऐसा मानकर कुछ मन्दबुद्धि लोगों को यह अपेक्षा हो सकती है कि सांख्यादि दर्शन भी तत्त्वज्ञान के लिए उपादेय हैं। उन दर्शनों में प्रगाढ़ युक्ति के सम्भव होने से और सर्वज्ञ कपिलादि ऋषियों से निर्मित होने के कारण उनमें उन मन्दबुद्धि पुरुषों की श्रद्धा भी हो सकती है। अतः उन सांख्यादि दर्शनों में असारता बतलाने के लिए यह प्रयत्न किया जाता है। प्रश्न—सांख्य आदि दर्शनों का खण्डन इससे पूर्व 'ईक्षतेर्ना-

१. वेदव्यासादिभिराचार्यैरित्यर्थः। २. देवलादि। ३. कपिल। ४. मोक्षरूपफलवत्सम्यग्ज्ञानकरणं वेदान्तशास्त्र तदंतर्गतत्वं तत्तात्पर्यनिर्णयस्य स्पष्टमेव। ५. व्यासाचार्येण।

१-१८), एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' (ब्र० सू० १-४-२८) इति च पूर्वत्रापि सांख्यादिपक्षप्रतिक्षेपः कृतः, किं पुनः कृतकरणेनेति । तदुच्यते—सांख्यादयः स्वपक्षस्थापनाय वेदान्तवाक्यान्यप्युदाहृत्य स्वपक्षानुगुण्येनैव योजयन्तो व्याचक्षते, तेषां यद्व्याख्यानं तद्व्याख्यानाभासं न सम्यग्व्याख्यानमित्येतावत्पूर्वं कृतम् । इह तु वाक्यनिरपेक्षः स्वतन्त्रस्तद्युक्तिप्रतिषेधः क्रियत इत्येष विशेषः ।

तत्र सांख्या मन्यन्ते—यथा घटशरावादयो भेदा मृदात्मनान्वीयमाना मृदात्मकसामान्यपूर्वका लोके दृष्टाः, तथा सर्व एव बाह्याध्यात्मिका भेदाः सुखदुःखमोहात्मतयान्वीयमानाः सुखदुःखमोहात्मकसामान्यपूर्वका भवितुमर्हन्ति । यत्तत्सुखदुःखमोहात्मकं सामान्यं तत्त्रिगुणं प्रधानं मृद्वदचेतनं चेतनस्य पुरुषस्यार्थं साधयितुं स्वभावेनैव विचित्रेण

निरासादश्रौतत्वमुक्तम्, सम्प्रति श्रुत्यनपेक्षास्तदीयाः स्वतन्त्रा युक्तयो निरस्यन्त इत्यर्थभेदान्न पुनरुक्तिरित्याह—तदुच्यत इति ।

प्रधानमचेतनं जगदुपादानमिति सांख्यसिद्धान्तोऽत्र विषयः, स किं प्रमाणमूलो भ्रान्तिमूलो वेति संदेहे 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' इत्युक्तधर्माणां प्रधाने संभवात्तदेवोपादानमित्याक्षेपसंगत्या प्रमाणमूलत्वं दर्शयन् पूर्वपक्षमाह—तत्र सांख्या इति । स्वसिद्धान्तज्ञानस्य परमतनिरासं प्रत्युपजीव्यत्वात् पादयोः संगतिः । परमतनिरासात्मकत्वात्सर्वेषामधिकरणानामेतत्पादसंगतिः । पूर्वपक्षे प्रमाणमूलमतविरोधादुक्तश्रुत्यर्थसमन्वयासिद्धिः फलं, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरित्यापादं द्रष्टव्यम् । मूलश्रौतसमन्वयदार्ढ्यार्थत्वादस्य पादस्य श्रुतिसंगतिरिति विवेकः । भिद्यन्त इति भेदाः विकाराः, ये विकारा येनान्वितास्ते तत्प्रकृतिका इति व्याप्तिमाह—यथेति । सर्वं कार्यं सुखदुःखमोहात्मकवस्तुप्रकृतिकं, तदन्वितत्वात्, घटादिवदित्यनुमानमाह—तथेति । किमर्थं प्रधानं परिणमते, तत्राह—चेतनस्येति । अर्थो भोगापवर्गरूपः, तदर्थं स्वभावत एव प्रवर्तते न तु केनचिच्चेतनेन प्रेर्यत इत्यर्थः । तदुक्तम्—'पुरुषार्थ एव हेतुर्न

शब्दम्' 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' 'एतेन व्याख्याता सर्वे व्याख्याताः' इत्यादि सूत्रों के द्वारा किया जा चुका है । अतः निरस्त पक्ष के पुनः निराकरण से क्या लाभ है, ऐसा करने पर पुनरुक्ति ही तो होगी । उत्तर—सांख्यादि दार्शनिकों ने स्वपक्ष स्थापन के लिए वेदान्तवाक्यों का उदाहरण देकर स्वपक्षानुकूल ही योजना करते हुए व्याख्या की है । उनका जो व्याख्यान है, वह व्याख्यानाभास है, यथार्थ व्याख्यान नहीं है ऐसा पिछले प्रसङ्ग में कहा गया है । किन्तु अब यहाँ पर वेदान्तवाक्यनिरपेक्ष, स्वतन्त्र उन्हीं की युक्तियों से उनके पक्ष के निराकरण के लिए प्रयत्न किया जाता है, इतना पूर्व के साथ इसका भेद है ।

वहाँ पर सांख्य मानते हैं कि जिन घटादि मृत्पात्रविशेष में मृत्तिका अन्वित हो रही है वे तो मृदात्मक (मिट्टीरूप) ही संसार में देखे गये हैं, वैसे ही ये बाह्य और आध्यात्मिक सभी सांसारिक पदार्थ सुख-दुःख एवं मोह से अन्वित हैं; अतः इनका कारण सुख-दुःख-मोहात्मक ही होना चाहिए और जो सुख-दुःख-मोहात्मक सामान्य है, वह त्रिगुणात्मक प्रधान है, मृत्तिका की भाँति अचेतन है जो चेतन पुरुष के भोग एवं अपवर्ग के लिए स्वभाव से ही विचित्र कार्यरूप से प्रवृत्त होता है । वैसे ही

---

१. सांख्यमत ।

विकारात्मना विवर्तत इति। तथा [1]परिमाणादिभिरपि लिङ्गैस्तदेव प्रधानमनुमिमते। तत्र वदामः—यदि दृष्टान्तबलेनैवैतन्निरूप्येत, नाचेतनं लोके चेतनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं किञ्चिद्विशिष्टपुरुषार्थनिर्वर्तनसमर्थान्विकारान्विरचयद्दृष्टम्। गेहप्रासादशयनासनविहार-

केनचित्[2]कार्यते 'करणम्' इति। अनुमानान्तराणि तैरुक्तानि स्मारयति—तथेति। उक्तं हि—'भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च। कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य॥ इति। अत्र कारिकायां समन्वयादिति लिङ्गं व्याख्यातम्। शिष्टानि व्याख्यायन्ते। तथा हि—क्षित्यादीनां [3]भेदानां कारणमव्यक्तमस्ति, [4]परिमितत्वात्, घटवत्। नच दृष्टान्ते साध्यवैकल्यं, घटोत्पत्तेः प्रागनभिव्यक्त-घटादिरूपकार्यविशिष्टत्वेन मृदोऽप्यव्यक्तत्वात्। तथा [5]घटादीनां कारणशक्तितः प्रवृत्तेर्महदादिकार्या-णामपि कारणशक्तितः प्रवृत्तिर्वाच्या, तच्छक्तिमत्कारणमव्यक्तम्। किंच कारणात्कार्यस्य विभागो जन्म दृश्यते क्षितेर्मृत्तिका जायते ततो घट इति। एवमविभागः प्रातिलोम्येन प्रलयो दृश्यते घटस्य मृत्तिकायां लयः तस्याः क्षितौ क्षितेरप्सु अपां तेजसीति। एतौ विभागाविभागौ वैश्वरूप्यस्य विचित्रस्य भावजातस्य दृश्यमानौ पृथक्पक्षीकृतौ क्वचित्कारणे विश्रान्तौ विभागत्वादविभागत्वाच्च मृदि घट-विभागाविभागवदित्यर्थः। सिद्धान्तयति—तत्र वदाम इति। किमनुमानैरचेतनप्रकृतिकत्वं जगतः साध्यते, स्वतन्त्राचेतनप्रकृतिकत्वं वा। आद्ये सिद्धसाधनता, अस्माभिरनादित्रिगुणमायाङ्गीकारात्। द्वितीये घटादिदृष्टान्ते साध्याप्रसिद्धिरित्याह—यदीति। स्वतन्त्रमचेतनं प्रकृतिरित्येतद्दृष्टान्तबलेन तदा निरूप्येत, यदि दृष्टान्तः क्वचित्स्यात्, नतु दृष्टः क्वचिदित्यन्वयः। स्वतन्त्रपदार्थमाह—चेतनानधि-ष्ठितमिति। परकीयस्य [6]साध्यस्याप्रसिद्धिमुक्त्वा सत्प्रतिपक्षं वक्तुं यद्विचित्ररचनात्मकं कार्यं तच्चे-तनाधिष्ठिताचेतनप्रकृतिकमिति व्याप्तिमाह—गेहेति। इदं जगच्चेतनाधिष्ठिताचेतनप्रकृतिकं, कार्य-त्वात् गेहवदिति प्रयोगः। विपक्षे विचित्ररचनानुपपत्तिरूपं सूत्रोक्तं बाधकतर्कं वक्तुं जगतो वैचित्र्य-

परिच्छिन्नत्वादि लिङ्गों से उस प्रधान का ही वे अनुमान भी करते हैं। इसीलिए सांख्य कारिका में कहा है—'भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च। कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्व-रूप्यस्य॥' इस कारिका के 'समन्वयात्' इस लिङ्ग की व्याख्या भाष्य में की गयी है, शेष पदों की व्याख्या भी इस प्रकार कर लेनी चाहिए—पृथिव्यादि विकारों का कारण अव्यक्त है क्योंकि उस में परिच्छिन्नत्व है। जैसे घट में परिच्छिन्नत्व है और उसमें अव्यक्त कारणत्व है, ऐसे ही पृथिव्यादि में भी परिच्छिन्नत्व को देखकर अव्यक्तकारणत्व का निश्चय कर लेंगे। घटादि कार्य में कारणशक्ति से प्रवृत्ति देख कर महदादि कार्य में भी कारणशक्ति से प्रवृत्ति माननी चाहिए, वह शक्तिशाली कारण अव्यक्त ही है। कारण से कार्य का जन्म देखा जाता है। पृथ्वी से मृत्तिका और उससे घट उत्पन्न होता है, यही कारण से कार्य का विभाग होना माना जाता है। इसके विपरीत घट का विलय मृत्तिका में देखकर पृथ्वी का विलय जल में, जल का विलय तेज में, इस क्रम से कारण में कार्य के विलय का अनुमान कर लेना चाहिए और यह क्रम सभी भाववस्तुओं में देखे जाते हैं। इस प्रकार सांख्यों ने कतिपय अनुमानों से अव्यक्त प्रधान को जगत्कारण सिद्ध किया है? इस पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि दृष्टान्तबल से ही यह बतलाना होता तो चेतन का आश्रय लिए बिना लोक में स्वतन्त्र अचेतन किसी विशिष्ट पुरुषार्थ के योग्य समर्थ कार्य की रचना करता नहीं देखा गया है। गेह, प्रासाद, शयन, आसन, विहारभूमि आदि लोक में बुद्धिमान शिल्पियों के द्वारा

१. परिच्छिन्नत्वादिभिः। २. विलक्षण। ३. प्रेर्यते। ४.प्रधानम्। ५. विकाराणाम्। ६. परिच्छिन्नत्वात्। ७. घटादीनां या जलाद्याहरणादिको प्रवृत्तिस्कारणाशक्तिपूर्विकैवसत्कार्यवादाभ्युपगमात्। ८ अचेतनप्रकृतिकत्वस्य।

भूम्यादयो हि लोके प्रज्ञावद्भिः शिल्पिभिर्यथाकालं सुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोग्या रचिता दृश्यन्ते। तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्म[1]फलोपभोगयोग्यं बाह्यम्, आध्यात्मिकं च शरीरादि [2]नानाजात्यन्वितं प्रतिनियतावयवविन्यासमनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानं दृश्यमानं प्रज्ञावद्भिः सम्भावितमैः शिल्पिभिर्मनसाप्यालोचयितुमशक्यं सत् कथमचेतनं प्रधानं रचयेत्। लोष्टपाषाणादिष्वदृष्टत्वात्। मृदादिष्वपि कुम्भकाराद्यधिष्ठितेषु [3]विशिष्टाकारा [4]रचना दृश्यते, तद्वत्प्रधानस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितत्वप्रसङ्गः। नच मृदाद्युपादानस्वरूपव्यपाश्रयेणैव [5]धर्मेण मूलकारणमवधारणीयं न बाह्यकुम्भकारादिव्यप[6]ाश्रयेणेति किञ्चिन्नियामकमस्ति। न चैवं सति किञ्चिद्विरुध्यते, प्रत्युत श्रुतिरनुगृह्यते। चेतनकारणसमर्पणात्। अतो रचनानुपपत्तेश्च हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति।

माह—तथेति। बाह्यं पृथिव्यादि भोग्यम्, आध्यात्मिकं शरीरादि च भोगाधिष्ठानमिति विभागः। प्रतिनियतोऽसाधारणोऽवयवानां विन्यासो रचना यस्य तदित्यर्थः। इत्थं विचित्रं जगच्चेतनानधिष्ठिता जडप्रकृतिः कथं रचयेत्। न कथमपीत्यर्थः। यच्चेतनानधिष्ठितमचेतनं तन्न कार्यकाराति व्याप्तिमुक्तर्कमूलभूतामाह—लोष्टेति। चेतनाप्रेरितेषु लोष्टादिषु कार्यकारित्वादर्शनादित्यर्थः। किञ्चानादिजडप्रकृतिश्चेतनाधिष्ठिता,परिणामित्वात् मृदादिवदित्याह—मृदिति। ननु मृदादिदृष्टान्ते द्वयमप्यस्त्यचेतनत्वं चेतनाधिष्टितत्वं चेति, तत्र परिणामित्वहेतोरचेतनत्वमेव [7]व्यापकं मृदादिस्वरूपत्वेनान्तरङ्गत्वात्, न तु चेतनाधिष्ठितत्वं [8]व्यापकं, [9]तस्य मृदादिबाह्यकुलालादिसापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वात्, तथा च परिणामित्वेऽपि मूलप्रकृतेरचेतनत्वधर्मेणैव योगो न चेतनाधिष्ठितत्वेनेत्याशङ्क्य निषेधति—नचेति। महानसदृष्टान्तेऽन्तरङ्गस्यापि महानसस्वरूपस्य धूमव्यापकत्वं नास्ति तद्भिन्नस्य बहिरङ्गस्यापि वह्नेस्तदस्तीत्यन्तरङ्गत्वं व्यापकत्वे प्रयोजकं न भवतीति भावः। किंच यदचेतनं तच्चेतनाधिष्ठितमेव परिणमते इत्यङ्गीकारे बाधकाभावात् प्रत्युत श्रुत्यनुग्रहाच्च तथाङ्गीकार्यमित्याह—न चैवं सतीति।

यथासमय सुखप्राप्ति–दुःखपरिहार के योग्य रचे देखे जाते हैं, वैसे ही यह पृथिव्यादि सम्पूर्ण जगत् अनेक कर्मफल उपभोग के योग्य बाह्य और आध्यात्मिक शरीरादि जो ब्राह्मणत्वादि अनेक जाति से युक्त है जिसका अवयवविन्यास यथास्थान किया गया है जो अनेक कर्मफल अनुभव का अधिष्ठान है जो अत्यन्त बुद्धिमान शिल्पियों के द्वारा मन से भी चिन्तन नहीं किया जा सकता ऐसे जगत् एवं शरीरादि का अचेतन प्रधान कैसे बना सकता है क्योंकि ढेले-पत्थर आदि अचेतन में ऐसी क्षमता नहीं देखी जाती। कुम्भकार के आश्रित होने पर ही मृत्तिकादि में घटादि विशिष्टाकार की रचना देखी जाती है, इस प्रकार प्रधान में भी चेतनाधिष्ठितत्व का प्रसङ्ग आ जायेगा। चेतन से प्रेरित हुए बिना लोष्टादि में कार्यकारित्व नहीं देखा गया है। इसके विपरीत चेतन कुम्भकार आदि से अधिष्ठित मृदादि में जैसे विलक्षण आकार वाली घटादि रचना देखी जाती है, वैसे ही प्रधान को भी जगद् रचना के लिए चेतन से अधिष्ठित होना पड़ेगा।

---

१. फलोपभोग्यमिति पाठान्तरम्। २. ब्राह्मणत्वादि। ३. विलक्षणाकारा। ४. घटादि रचना। ५. अचेतनत्वेन। ६. चेतनाधिष्ठितत्वेन धर्मेण इति शेषः। ७. व्यापकत्वेन गृह्यत इत्यर्थः। ८. तत्वेन गृह्यते। ९. चेतनाधिष्ठितत्वस्येत्यर्थः।

अन्वयाद्यनुपपत्तेश्चेति चशब्देन हेतोरसिद्धिं समुच्चिनोति । नहि [1]बाह्या[2]ध्यात्मिकानां [3]भेदानां सुखदुःखमोहात्मकतयाऽन्वय उपपद्यते, सुखादीनां चान्तरत्वप्रतीतेः, शब्दादीनां चातद्रूपत्वप्रतीतेः, तन्निमित्तत्वप्रतीतेश्च । शब्दाद्यविशेषेऽपि च भावनाविशेषात्सुखादिविशेषोपलब्धेः । तथा परिमितानां भेदानां मूलाङ्कुरादीनां संसर्गपूर्वकत्वं दृष्ट्वा बाह्या-

सुखदुःखमोहान्वयादिति हेतोरसिद्धिद्योतनार्थं सूत्रे चकार इत्याह—अन्वयाद्यनुपपत्तेश्चेति । नानुमानं युक्तमित्यर्थः । आदिशब्दः परिमाणादिग्रहार्थः । शब्दादीनां बाह्यत्वानुभवादान्तरसुखाद्यात्मकत्वमसिद्धं [7]तन्निमित्तत्वाच्च । नहि निमित्तनैमित्तिकयोरभेदेन योगोऽस्ति, दण्डघटयोरदर्शनादित्यर्थः । किंच यदि घटे मृद्वत्सुखादिकं शब्दाद्यन्वितं स्यात् तर्हि सर्वैरविशेषेण सुखादिकमुपलभ्येत घटे मृद्वत् । न तथोपलब्धिरस्तीति योग्यानुपलब्ध्या हेत्वभावनिश्चय इत्याह—शब्दादीति । विषयस्यैकत्वेऽपि पुरुषवासनावैचित्र्यात् कस्यचित्सुखबुद्धिः कस्यचिद्दुःखबुद्धिः कस्यचिन्मोहबुद्धिर्दृश्यतेऽतो विषयाः सुखाद्यात्मका न भवन्तीत्यर्थः । एवं समन्वयादिति हेतुं दूषयित्वा परिमाणादिहेतून् दूषयति—तथेति । बुद्ध्यादीनां परिमितत्वेन [8]संसर्गपूर्वकत्वसिद्धौ संसृष्टान्यनेकानि सत्त्वरजस्तमांसि सिध्यन्ति, एकस्मिन् संसर्गासंभवात् ब्रह्मसिद्धिरिति सांख्यस्य भावः । किमिदं परिमितत्वं, न तावद्देशतः परिच्छेदः, पक्षान्तर्गताकाशे तस्याभावेन भागासिद्धेः । नापि कालतः परिच्छेदः, सांख्यैः कालस्यानङ्गीकारात्, अविद्यागुणसंसर्गेण [9]सिद्धसाधनाच्च । नापि वस्तुतः परिच्छेदः, सत्त्वा-

प्रश्न— मृदादि दृष्टान्त में अचेतनत्व और चेतनाश्रितत्व देखे जाते हैं; इनमें परिणामित्व हेतु का व्यापक अचेतनत्व है क्योंकि मृदादिस्वरूप होने के कारण वह अन्तरङ्ग है, चेतनाधिष्ठितत्व व्यापक नहीं हो सकता क्योंकि उनमें तो मृदादिबाह्य कुलालादि की अपेक्षा होने से बहिरङ्गत्व है ? उत्तर— ऐसा कहना ठीक नहीं है । महानस दृष्टान्त में महानस का स्वरूप अन्तरङ्ग होता हुआ भी धूम का व्यापक नहीं है, उससे भिन्न बहिरङ्ग वह्नि धूम का व्यापक है । अतः अन्तरङ्गत्व व्यापकत्व का प्रयोजक नहीं है। इसके अतिरिक्त चेतनाधिष्ठित ही अचेतन कार्य करता है ऐसा मानने में कोई बाधक नहीं है प्रत्युत इसकी अनुग्राहक श्रुति है । अतः चेतनाश्रित अचेतन को जगत् का कारण मानना चाहिए । आप ने सुख-दुःख और मोह से अन्वित जगत्कार्य को देखते हुए, इसका कारण भी ऐसा ही होना चाहिए, यह कहा था; इस हेतु में असिद्धिद्योतनार्थ ही इस सूत्र में 'च' कार आया है अर्थात रचनानुपपत्ति हेतु के कारण अचेतन प्रधान को जगत्कारण नहीं मान सकते । साथ ही अन्वयादि की अनुपपत्ति होने से भी प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता, अन्वयाद्यनुपपत्ति हेतु के समुच्चय के लिए सूत्र में 'च' कार पढ़ा गया है । बाह्य आकाशादि और आध्यात्मिक शरीरादि कार्य को सुख-दुःख एवं मोहात्मकरूप से अन्वित कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि सुखादि में आन्तरत्व प्रतीत होता है और शब्दादि में अन्तरत्व प्रतीत नहीं होता; शब्दादि तो सुख-दुःखादि में निमित्त कारण प्रतीत होता है, उपादान कारण नहीं प्रतीत होता । एक ही शब्दादि के रहने से भी भावना के भेद से कभी सुख और कभी दुःख प्रतीत होता देखा गया है । बीजाङ्कुर आदि कार्य परिच्छिन्न है, उनमें संसर्गपूर्वकत्व देखकर बाह्य तथा आध्यात्मिक कार्य में भी परिमितत्व हेतु के कारण संसर्गपूर्वकत्व का अनुमान करने वाले सांख्य को सत्व, रज, तम गुणों में भी संसर्गपूर्वकत्व मानना पड़ेगा।

१. आकाशादिः । २. शरीरादिः । ३. विकारणाम् । ४. परिच्छिन्नाम् । ५. विकाराणाम् । ६. बीज । ७. तत्सुखादि । ८. संसर्गः परस्परमेलन सत्त्वादीनां प्रधानमिति यावत्तत्पूर्वकत्वसिद्धावित्यर्थः । ९. सिद्धसाधनेच्चेति चकारात्कालाभ्युपगमेपि भागासिद्धिराकाशे कालपरिच्छेदस्याप्यभावात् ।

(१७३) प्रवृत्तेश्च ॥२॥

ध्यात्मिकानां भेदानां परिमितत्वात्संसर्गपूर्वकत्वमनुमिमानस्य सत्त्वरजस्तमसामपि संसर्गपूर्वकत्वप्रसङ्गः, परिमितत्वाविशेषात् । कार्यकारणभावस्तु प्रेक्षापूर्वकनिर्मितानां शयनासनादीनां दृष्ट इति न कार्यकारणभावाद्बाह्या ध्यामिकानां भेदानामचेतनपूर्वकत्वं शक्यं कल्पयितुम् ॥१॥

आस्तां तावदियं रचना । तत्सिद्ध्यर्था या प्रवृत्तिः साम्यावस्थानात्प्रच्युतिः सत्त्वरजस्त-

---

दीनां परस्परं भिन्नत्वे सत्यपि साध्याभावेन व्यभिचारादित्याह—सत्त्वेति । यदुक्तं कार्यकारण विभागो यत्र समाप्यते तत्प्रधानमिति । तन्न । ब्रह्मणि मायायां वा समाप्तिसंभवात् । नच यः कार्यस्य विभागः स चेतनानधिष्ठिताचेतने समाप्त इति व्याप्तिरस्ति, सर्वत्राचेतनेषु चेतनाधिष्ठानदर्शनादित्याह—कार्येति । एतेनाविभागोऽपि व्याख्यातः । यत्तु यत्परिमितं तदव्यक्तप्रकृतिपूर्वकमिति व्याप्त्यन्तरं, तस्यापि गुणध्वनादिषु परिमितेषु व्यभिचारः । एतेन सदृशयोरेव प्रकृतिविकारभावादचेतनविकाराणामचेतनमेव प्रकृतिरिति निरस्तम् । चेतनाधिष्ठिताचेतनप्रकृतिकत्वेऽपि सादृश्योपपत्तेः, 'न विलक्षणत्वात्' इत्यत्र सादृश्यनियमस्य निरस्तत्वाच्च । एवं चेतनाधीनकारणशक्तितः कार्यप्रवृत्तिसंभवात् शक्तितः प्रवृत्तिलिङ्गमन्यथासिद्धमिति भावः ॥१॥

'स्वतन्त्रमचेतनं कारणत्वेन नानुमातव्यं, 'तस्य सृष्ट्यर्थं प्रवृत्तेः अनुपपत्तेरिति चकारेणानुपपत्तिपदमनुषज्य सूत्रं योजनीयम् । रचनाप्रवृत्त्योः को भेद इत्याशङ्क्य प्रवृत्तिस्वरूपमाह—साम्येति । गुणानां किल साम्यावस्था तत्त्वानां प्रलयः, तदा न किंचित् कार्यं भवति प्रलयाभावप्रस-

---

क्योंकि वस्तुपरिच्छिन्नत्वरूप परिमितत्व उसमें भी है । दैशिकपरिच्छिन्नत्वरूप परिमितत्व हेतु करने पर पक्षैकदेश आकाश में भागासिद्धि होने लग जायेगा क्योंकि पक्ष के एकदेश में हेतु का न रहना भागासिद्धि कहा गया है । आकाश में भी कार्यत्वरूप साध्यता है किन्तु दैशिकपरिच्छिन्नत्वरूप परिमितत्व नहीं है क्योंकि आकाश विभु है । कालिकपरिच्छिन्नत्वरूप परिमितत्व को हेतु सांख्य बना ही नहीं सकता क्योंकि सांख्यवादियों ने काल को स्वीकार नहीं किया है । कार्य-कारण का विभाग जहाँ समाप्त हो जाता है वह प्रधान है, यह भी सांख्य नहीं कह सकता क्योंकि कार्यकारणविभाग को समाप्ति ब्रह्म अथवा माया में भी सम्भव है । चेतन से अनधिष्ठित अचेतन में ही कार्य का विभाग होता है, ऐसी व्याप्ति तो है नहीं । इसके विपरीत सर्वत्र अचेतन में चेतनाश्रितत्व देखा गया है । इसीलिए प्रेक्षापूर्वक शयन आसनादि में जो कार्यकारणभाव देखा गया है उसे देखकर बाह्य आकाशादि और आध्यात्मिक शरीरादि कार्य में स्वतन्त्र अचेतनपूर्वकत्व की कल्पना नहीं कर सकते । कार्य-कारण में सादृश्य का निराकरण **'विलक्षणत्वाधिकरण'** में कर आये हैं । इस प्रकार चेतनाधीन कारणशक्ति से कार्य की उत्पत्ति जब सम्भव है तो सांख्यों का प्रधान अनुमापक शक्तितः प्रवृत्तिलिङ्ग अन्यथासिद्ध हो गया ॥१॥

प्रवृत्तेश्च (ललिता)

सूत्रस्थ 'च'कार द्वारा पूर्वसूत्र से 'अनुपपतेः नानुमानम्' पदों की अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए

---

१. आकाशादिः । २. शरीरादिः । ३. विकाराणाम् । ४. रचना सिद्ध्यर्था । ५. जन्म । ६. जन्म । ७. व्याप्त्यंतरस्य । ८. प्रधानम् । ९. प्रधानस्य ।

मसामञ्जाङ्गिभावरूपापत्तिविशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तिता सापि नाचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपपद्यते, मृदादिष्वदर्शनाद्रथादिषु च। नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वानधिष्ठिता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयोदृश्यन्ते, दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः। अतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति। ननु चेतनस्यापि प्रवृत्तिः केवलस्य न दृष्टा। सत्यमेतत्। तथापि चेतनसंयुक्तस्य रथादेरचेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा। न त्वचेतनसंयुक्तस्य चेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा। किं पुनरत्र

ङ्गात्। किंत्वादौ साम्यप्रच्युतिरूपं वैषम्यं भवति, ततः कस्यचिद्गुणस्याङ्गित्वमुद्भूतत्वेन प्राधान्यं कस्यचिदङ्गत्वं शेषत्वमित्यङ्गाङ्गिभावो भवति, तस्मिन् सति महदादिकार्योत्पादनात्मिका प्रवृत्तिः, तया विविधकार्यविन्यासो रचनेति भेद इत्यर्थः। गुणानां प्रवृत्तिश्चेतनाधिष्ठानपूर्विका, प्रवृत्तित्वात्, रथादिप्रवृत्तिवदित्याह— सापीति। विपक्षे स्वतन्त्र प्रवृत्त्यनुपपत्तिरित्यर्थः। केचित्तु भेदानां प्रवृत्तिशक्तिमत्त्वाच्चेतनानधिष्ठिताचेतनप्रकृतिकत्वमिति शक्तितः प्रवृत्तिरिति लिङ्गं व्याचक्षते। 'अस्यापि गुणेषु व्यभिचारः। कार्यत्वविशेषणे च विरुद्धता, प्रवृत्तिशक्तिमत्त्वे सति कार्यत्वस्य घटादिषु चेतनाधिष्ठितप्रकृतिकत्वेनोक्तसाध्यविरुद्धेन व्याप्तिदर्शनादिति प्रवृत्तेश्च इति सूत्रेण ज्ञापितम्। ननु लोके स्वतन्त्राचेतनानां प्रवृत्त्यदर्शनेऽपि प्रधाने सा प्रवृत्तिः सिध्यतु, तत्राह—दृष्टाच्चेति। अनुमानशरणस्य तव दृष्टान्तं विनातीन्द्रियार्थसिद्ध्ययोगादिति भावः। ननु प्रधानस्य प्रवृत्तिं खण्डयता चेतनस्य सृष्टौ प्रवृत्तिर्वाच्या सा न युक्तेति सांख्यः शङ्कते—नन्विति। शुद्धचेतनस्य प्रवृत्त्ययोगमङ्गीकरोति—सत्यमिति। तर्हि केवलस्याचेतनस्य प्रवृत्तिसिद्धिरन्यथा सृष्ट्ययोगात्, तत्राह—तथापीति। केवलस्य चेतनस्याप्रवृत्तावपि चेतनाचेतनयोर्मिथः संबन्धात्सृष्टिप्रवृत्तिरिति भावः। इमं वेदान्तसिद्धान्तं सांख्यो दूषयति—न त्विति। सर्वा प्रवृत्तिरचेतनाश्रयैव दृष्टा। न त्वचेतनसंबन्धेनापि चेतनस्य क्वचित्प्रवृत्तिर्दृष्टा। तस्मान्न चेतनात्सृष्टिरित्यर्थः। मतद्वयं श्रुत्वा मध्यस्थः पृच्छति—किं पुनरिति। यस्मिन्नचेतने

अर्थात् अनुमानप्रमाणगम्य अचेतन प्रधान जगत्कारण नहीं बन सकता क्योंकि उसमें प्रवृत्ति की अनुपपत्ति है। गुणों की साम्यावस्था से प्रथम वैषम्य होने को प्रवृत्ति कहते हैं जिसमें एक गुण अङ्गी और दो गुण अङ्ग हो जाते हैं, तभी महदादि कार्यउत्पादनरूपा प्रवृत्ति होती है; उस प्रवृत्ति से विविध कार्यविन्यास होता है जिसे रचना कहते हैं, प्रवृत्ति और रचना में यही भेद है। पिछले सूत्र में कही गयी रचनानुपपत्ति को रहने दो, रचना की सिद्धि के लिए जब अचेतन प्रधान में प्रवृत्ति भी सम्भव नहीं है, तब रचना की बात दूर ही रह जाती है। सत्व, रज और तमोगुण की साम्यावस्था को प्रधान कहते हैं और जब उन गुणों में विशिष्ट कार्य के लिए अङ्गाङ्ग भावरूपापत्तिरूप प्रच्युति होती है तब उसे प्रवृत्ति कहते हैं। मृदादि और रथादि में जब स्वतन्त्ररूप से प्रवृत्ति नहीं देखी गयी है तो अचेतन, स्वतन्त्र प्रधान में भी प्रवृति नहीं हो सकती क्योंकि चेतन कुम्भकार का आश्रय लिए बिना मृदादि घटादिविशिष्टकार्याभिमुख प्रवृत्ति करते नहीं देखे जाते हैं। वैसे ही अश्वादि चेतन का आश्रय लिए बिना स्वयं अचेतन रथादि में विशिष्टकार्याभिमुख प्रवृत्ति नहीं होती है। दृष्ट से ही अदृष्ट की सिद्धि होती है, अनुमानैकशरण सांख्यमत में दृष्टान्त के बिना अतीन्द्रिय अर्थ की सिद्धि नहीं होती है। सांख्य—केवल चेतन में भी तो प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। वेदान्ती—आप का यह कहना सत्य है। फिर भी चेतन से संयुक्त रथादि अचेतन में प्रवृत्ति देखी गयी है, न कि अचेतनसंयुक्त चेतन में प्रवृत्ति

१. हेतोः।

युक्तम् ? यस्मिन्प्रवृत्तिर्दृष्टा तस्य सोत यत्संप्रयुक्तस्य दृष्टा तस्य सेति । ननु यस्मिन्दृश्यते प्रवृत्तिस्तस्यैव सेति युक्तमुभयोः प्रत्यक्षत्वात् । न तु प्रवृत्त्याश्रयत्वेन केवलश्चेतनो रथादिवत्प्रत्यक्षः । प्रवृत्त्याश्रयदेहादिसंयुक्तस्यैव तु चेतनस्य सद्भावसिद्धिः केवलाचेतनरथादिवैलक्षण्यं जीवद्देहस्य दृष्टमिति । अत एव च प्रत्यक्षे देहे सति दर्शनादसतिचादर्शनाद्देहस्यैव चैतन्यमपीति लोकायतिकाः प्रतिपन्नाः । तस्मादचेतनस्यैव प्रवृत्तिरिति ।

तदभिधीयते—न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्तिर्दृश्यते न तस्य सेति । भवतु तस्यैव सा । सा तु चेतनाद्भवतीति ब्रूमः । तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात् । यथा काष्ठादिव्यपाश्रयापि दाहप्रकाशलक्षणा विक्रियानुपलभ्यमानापि च केवले ज्वलने ज्वलनादेव भवति,

रथादौ प्रवृत्तिर्दृष्टा तस्यैव सा न चेतनस्तत्र हेतुरिति किं सांख्यमतं साधु उत येन चेतनेनाश्वादिना संयोगादचेतनस्य प्रवृत्तिस्तत्प्रयुक्ता सेति वेदान्तिमतं वा साध्विति प्रश्नार्थः । सांख्य आह—नन्विति । उभयोः । प्रवृत्तितदाश्रययोरित्यर्थः । दृष्टाश्रयेणैव प्रवृत्तेरुपपत्तावदृष्टचेतनप्रवृत्तिर्न कल्प्येति भावः आत्मनोऽप्रत्यक्षत्वे कथं सिद्धिः, तत्राह—प्रवृत्तीति । जीवद्देहस्य रथादिभ्यो वैलक्षण्यं प्राणादिमत्त्वं लिङ्गं दृष्टमिति कृत्वा चेतनस्य सिद्धिरित्यन्वयः । जीवद्देहः सात्मकः, प्राणादिमत्त्वात्, व्यतिरेकेण रथादिवदित्यात्मसिद्धिरित्यर्थः । देहप्रवृत्तिः [1]स्वाश्रयादन्येन ज्ञानवता सहभूता, प्रवृत्तित्वात्, रथप्रवृत्तिवदित्यनुमानान्तरसूचनाय प्रवृत्त्याश्रयेत्युक्तम् सद्भावसिद्धिरेव न प्रवर्तकत्वमित्येवकारार्थः । अनुमितस्य सद्भावमात्रेण प्रवृतिहेतुत्वे सर्वत्राकाशस्यापि हेतुत्वप्रसङ्गादिति भावः । आत्मनोऽप्रत्यक्षत्वे चार्वाकाणां भ्रमोऽपि लिङ्गमित्याह—अत एवेति । अप्रत्यक्षत्वादेवेत्यर्थः । देहान्यात्मनः प्रत्यक्षत्वे भ्रमासंभवादिति भावः । दर्शनात् । प्रवृत्तिचैतन्ययोरिति शेषः ।

प्रवृत्ति प्रत्याश्रयत्वमचेतनस्यैवेत्युक्तमङ्गीकृत्य चेतनस्य प्रयोजकत्वं सिद्धान्ती साधयति—तदभिधीयत इति । रथादिप्रवृत्तावश्वादिचेतनस्यान्वयव्यतिरेकौ स्फुटौ, ताभ्यां चेतनस्य प्रवर्तकत्वं

देखी जाती है। मध्यस्थ—तो इस परिस्थिति में क्या मानना उचित होगा। क्या जिसमें प्रवृत्ति दीख रही है उसकी मानी जाय या जिसके संयोग से प्रवृत्ति हो रही है उसकी मानी जाय। सांख्य—जिसमें प्रवृत्ति दीखती है उसी की वह है, ऐसा मानना उचित होगा, क्योंकि प्रवृत्ति और प्रवृत्ति के आश्रय रथादि दोनों का प्रत्यक्ष हो रहा है। प्रवृत्ति के आश्रयरूप से रथादि की भाँति केवल चेतन का तो प्रत्यक्ष ही नहीं होता। प्रवृत्ति के आश्रय देहादि से संयुक्त चेतन का सद्भाव सिद्ध होता है, केवल अचेतन रथादि की अपेक्षा जीवित शरीर में वैलक्षण्य दीखता है। चेतन का प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्युत देह के रहने पर चैतन्य भासता है और देह के न रहने पर चैतन्य नहीं भासता। ऐसी स्थिति में चैतन्य भी देह का ही धर्म है, ऐसा चार्वाकों ने माना है, इससे अचेतन की ही प्रवृत्ति सिद्ध होती है।

सिद्धान्ती-प्रवृत्ति का आश्रय अचेतन शरीर को मानकर भी हम चेतन में प्रयोजकत्व मानते हैं कि जिस अचेतन में प्रवृत्ति दीख रही है वह तो उसी की रहे किन्तु वह प्रवृत्ति चेतन से होती है क्योंकि चेतन का सम्बन्ध रहने पर अचेतन मे प्रवृत्ति होती है और सम्बन्ध न रहने पर नहीं होती है। जैसे दाह एवं प्रकाशरूप विकृति काष्ठादि इँधनों के आश्रित हैं, इँधन के बिना केवल अग्नि में दाह एवं प्रकाशरूप विकार उपलब्ध नहीं होता, फिर भी अग्नि के संयोग से काष्ठ में दाह तथा प्रकाशरूप विकार देखा जाता

१. अपि इति पाठान्तरम्। २. स्वं प्रवृत्तिः। ३. तस्यापि शब्दसमवायित्वेनानुमितत्वाविशेषात्।

तत्संयोगे दर्शनात्तद्वियोगे चादर्शनात्तद्वत् । लोकायतिकानामपि चेतन एव देहोऽचेतनानां रथादीनां प्रवर्तको दृष्ट इत्यविप्रतिषिद्धं चेतनस्य प्रवर्तकत्वम् । ननु तव देहादिसंयुक्तस्याप्यात्मनो विज्ञानस्वरूपमात्रव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरनुपपन्नं प्रवर्तकत्वमिति चेत् । न । अयस्कान्तवद्रूपादिवच्च प्रवृत्तिरहितस्यापि प्रवर्तकत्वोपपत्तेः । यथाऽयस्कान्तो मणिः स्वयं प्रवृत्तिरहितोऽप्ययसः प्रवर्तको भवति । यथा वा रूपादयो विषयाः स्वयं प्रवृत्तिरहिता अपि चक्षुरादीनां प्रवर्तका भवन्ति । एवं प्रवृत्तिरहितोऽपीश्वरः सर्वगतः सर्वात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सन् सर्वं प्रवर्तयेदित्युपपन्नम् । एकत्वात्प्रवर्त्याभावे प्रवर्तकत्वानुपपत्तिरिति चेत् । न । अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेनासकृत्प्रत्युक्तत्वात् । तस्मात्सम्भवति प्रवृत्तिः सर्वज्ञकारणत्वे न त्वचेतनकारणत्वे ॥२॥

[1]बाह्यानामपि सम्मतमित्याह—लोकायतिकानामपीति । यः प्रवर्तकः स स्वयं प्रवृत्तिमानश्वादिवदिति व्याप्तेरात्मनि [2]व्यापकाभावान्न प्रवर्तकत्वमिति कश्चिच्छङ्कते—नन्विति । मण्यादौ व्यभिचारान्न व्याप्तिरिति परिहरति—नेति । वस्तुत एकत्वेऽपि कल्पितं द्वैतं प्रवर्त्यमस्तीत्याह—न । अविद्येति । अविद्ययाकल्पिते नामरूपप्रपञ्चे तयैवाविद्यारूपया मायया य आवेशश्चिदात्मनः कल्पितः संबन्धस्तस्य वशः सामर्थ्यं तेनान्तर्यामित्वादिकमीश्वरस्येत्युक्तत्वान्न चोद्यावसर इत्यर्थः ॥२॥

है और अग्नि का वियोग हो जाने पर नहीं देखा जाता । चार्वाकों ने भी देह की चेतनता मान लेने पर चेतन देह को ही अचेतन रथादि का प्रवर्तक कहा है, इससे चेतन के प्रवर्तकत्व में विवाद नहीं है । अतः चार्वाकों का मत भी हमारे पक्ष का ही पोषक है, सांख्य पक्ष का नहीं । सांख्य—आप के मत में देहादि संयुक्त आत्मा में भी विज्ञानस्वरूपमात्र से भिन्न प्रवृति न होने के कारण प्रवर्तकत्व सिद्ध नहीं होता अर्थात् जो स्वयं प्रवृत्तिवाला होता है वही दूसरे में प्रवृत्ति करा सकता है । अश्व प्रवृत्तिशील है तो रथादि में प्रवृत्ति कराता है; किन्तु वेदान्त मत में आत्मा को विज्ञानस्वरूपमात्र माना गया है, जब वह स्वयं प्रवृत्तिवाला नहीं है तो दूसरे में प्रवृत्ति कैसे करायेगा । वेदान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं है, अयस्कान्त मणि प्रवृत्तिरहित होती हुई भी दूसरे में प्रवृति करा देती है । रूपादि विषय स्वयं प्रवृत्तिशून्य होते हुए भी दूसरे में प्रवृत्ति कराते देखे गये हैं । चुम्बक स्वयं प्रवृत्त नहीं होता किन्तु लोहे का प्रवर्तक बन जाता है और रूपादि विषय स्वयं प्रवृत्तिवाले न होते हुए भी चक्षुरादि के प्रवतक होते हैं । ऐसे ही प्रवृत्तिशून्य भी ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वात्मा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान होने के कारण सबका प्रवर्तक हो जायेगा, यह युक्तियुक्त है । सांख्य-केवलाद्वैतवादी वेदान्ती के मत में जब ब्रह्म से भिन्न कोई प्रवर्त्य है ही नहीं तो उसमें प्रवर्तकत्व कैसे सिद्ध होगा । वेदान्ती—अविद्याप्रत्युपस्थापित नाम-रूप माया के कारण कल्पित द्वैत हम मानते ही हैं और ऐसा मानकर अनेक बार आप के ऐसे आक्षेपों का निराकरण हम कर चुके हैं । अतः सर्वज्ञ ब्रह्म को जगत्कारण मानने पर प्रवृत्ति सम्भव हो जाती है, किन्तु अचेतन प्रधान को जगत्कारण मानने पर प्रवृत्ति सम्भव नहीं है ॥२॥

१. चारवाकानाम् । २. स्वयंप्रवृत्तिमत्त्वाभावात् ।

परिणमत एवं प्रधानमपि महदाद्याकारेण परिणंस्यत इति । कथं च निमित्तान्तरनिरपेक्षं तृणादीति गम्यते ? निमित्तान्तरानुपलम्भात् । यदि हि किञ्चिन्निमित्तमुपलभेमहि ततो यथाकामं तेन तृणाद्युपादाय क्षीरं सम्पादयेमहि नतु सम्पादयामहे । तस्मात्स्वाभाविकस्तृणादेः परिणामः । तथा प्रधानस्यापि स्यादिति ।

अत्रोच्यते—भवेत्तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्यापि परिणामो यदि तृणादेरपि स्वाभाविकः परिणामोऽभ्युपगम्येत । न त्वभ्युपगम्यते, निमित्तान्तरोपलब्धेः । कथं निमित्तान्तरोपलब्धिः, अन्यत्राभावात् । धेन्वैव ह्युपयुक्तं तृणादि क्षीरीभवति न प्रहीणमनडुहाद्युपयुक्तं वा । यदि हि निर्निमित्तमेतत्स्याद्धेनुशरीरसम्बन्धादन्यत्रापि तृणादि क्षीरीभवेत् । न च यथाकामं मानुषैर्न शक्यं सम्पादयितुमित्येतावता निर्निमित्तं भवति । भवति हि किञ्चित्कार्यं मानुषसम्पाद्यं किंचिद्दैवसम्पाद्यम् । मनुष्या अपि शक्नुवन्त्येवोचितेनोपायेन तृणाद्युपादाय क्षीरं सम्पादयितुम् । प्रभूतं हि क्षीरं कामयमानाः प्रभूतं घासं धेनुं चारयन्ति । ततश्च प्रभूतं क्षीरं लभन्ते । तस्मान्न तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्य परिणामः ॥५॥

त्यादिना । पृच्छति—कथमिति । उत्तरम्—निमित्तान्तरेति ।

धेन्वादि निमित्तान्तरमस्तीति सिद्धान्तयति—अत्रोच्यत इति । प्रहीणं नष्टम् । यदुक्तं क्षीरस्य स्वेच्छया संपादयितुमशक्यत्वात्स्वाभाविकत्वमिति, तत्राह—नच यथाकाममिति ॥५॥

सूत्रकार अग्रिम सूत्र से करते हैं—

सांख्य—जैसे तृण, पल्लव, उदकादि निमित्तान्तर की अपेक्षा न कर स्वभाव से ही दुग्धादि रूप से परिणत होते हैं ऐसे ही प्रधान भी महदादिरूप से परिणत हो जायेगा । वेदान्ती—तृणादि निमित्तान्तर की अपेक्षा नहीं रखते, यह आप को कैसे ज्ञात हुआ । सांख्य—क्योंकि निमित्तान्तर दीखता नहीं है । यदि तृणादि को दुग्धादिरूप में परिणत करने वाले किसी निमित्तान्तर को हम देखते तो हम अपनी इच्छापूर्वक उन-उन निमित्तों से तृणादि को लेकर दुग्ध बना लेते, किन्तु ऐसा हम नहीं कर पाते हैं । अतः मानना पड़ेगा कि तृणादि का स्वाभाविक परिणाम दुग्धादि है, वैसे ही प्रधान का भी स्वाभाविक परिणाम महदादि है ।

इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि तृणादि की भाँति प्रधान का स्वाभाविक परिणाम महदादि हो सकता था यदि तृणादि में स्वाभाविक परिणाम हम मानते होते, किन्तु ऐसा हम मानते नहीं हैं, क्योंकि यहाँ पर निमित्तान्तर की उपलब्धि है । सांख्य—निमित्तान्तर की उपलब्धि कैसे है । वेदान्ती—गौ के द्वारा खाये गये तृणादि दूध बनते हैं, नष्ट हुए अथवा बैल के द्वारा खाये गये तृणादि दुग्ध नहीं बनते । इसी से सिद्ध होता है कि तृणादि के दुग्ध बनने में निमित्तान्तर की अपेक्षा है । यदि बिना निमित्त के तृणादि दुग्ध बनता होता तो गौ के शरीर से सम्बन्ध न होने पर भी तृणादि दुग्ध बन जाता । मनुष्य अपनी इच्छा से तृणादि के द्वारा दुग्ध नहीं बना सकता, इतने मात्र से निर्निमित्त तृणादि दुग्ध बनता है, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि कुछ कार्य मनुष्यसम्पाद्य होता है और कुछ कार्य दैवसम्पाद्य होता है । यह ठीक है कि अपनी इच्छा से उचित तृणादि साधनों को लेकर मनुष्य दुग्धादि नहीं बना सकता फिर भी प्रभूत दुग्ध की इच्छावाले मनुष्य पर्याप्त घास-चारा जब गाय को खिलाते हैं तो उससे पर्याप्त दुग्ध प्राप्त कर लेते हैं । अतः तृणादि की भाँति प्रधान का महदादि परिणाम स्वाभाविक है, ऐसा नहीं कह सकते ॥५॥

(१७७) अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥६॥

स्वाभाविकी प्रधानप्रवृत्तिर्न भवतीति स्थापितम् । अथापि नाम [1]भवतः श्रद्धामनुरुध्यमानाः स्वाभाविकीमेव प्रधानस्य प्रवृत्तिमभ्युपगच्छेम तथापि दोषोऽनुषज्येतैव । कुतः ? अर्थाभावात् । यदि तावत्स्वाभाविकी प्रधानस्य प्रवृत्तिर्न किंचिदन्यदिहापेक्षत इत्युच्येत, ततो यथैव सहकारि किंचिन्नापेक्षत एवं प्रयोजनमपि किंचिन्नापेक्षिष्यत इत्यतः प्रधानं पुरुषस्यार्थं साधयितुं प्रवर्तत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत । स यदि ब्रूयात्सहकार्येव केवलं नापेक्षते न प्रयोजनमपीति । तथापि प्रधानप्रवृत्तेः प्रयोजनं विवेक्तव्यं भोगो वा स्यादपवर्गो वोभयं वेति । भोगश्चेत्कीदृशोऽनाधेयातिशयस्य पुरुषस्य भोगो भवेत् । अनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च । अपवर्गश्चेत्प्रागपि प्रवृत्तेरपवर्गस्य सिद्धत्वात्प्रवृत्तिरनर्थिका स्यात् । शब्दाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गश्च । उभयार्थताभ्युपगमेऽपि भोक्तव्यानां प्रधानमात्राणामानन्त्यादनि-

प्रधानस्य न स्वतःप्रवृत्तिः, स्वतःप्रवृत्त्यभ्युपगमे पुरुषार्थस्याप्यपेक्षाभावप्रसङ्गादित्येकोऽर्थः । तत्रेष्टापत्तिं निरस्यति—इत्यतः प्रधानमिति । उक्तप्रसङ्गस्येष्टत्वे प्रतिज्ञाहानिः स्यादित्यर्थः । अर्थासम्भवान्न स्वतःप्रवृत्तिरित्यर्थान्तरं शङ्कापूर्वकमाह—स यदीत्यादिना । प्रयोजनमपेक्षितं चेद्वक्तव्यमित्याह —तथापीति । कूटस्थे पुरुषे [2]स्वतःसुखादिरूपस्यातिशयस्याधातुमशक्यत्वादध्यासानङ्गीकाराच्च भोगो न युक्तः । किंच प्रधानप्रवृत्तेर्भोगार्थत्वे मोक्षहेतुविवेकख्यात्यभावादनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च, अपवर्गार्थत्वे स्वरूपावस्थानरूपमुक्तेः स्वतःसिद्धत्वात् प्रवृत्तिवैयर्थ्यं, भोगाभावप्रसङ्गश्चेत्यर्थः । तृतीयं दूषयति—उभयार्थतेति । मीयन्ते भुज्यन्त इति मात्रा भोग्याः । औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् (ललिता)

अब तक प्रधान की स्वाभाविकी प्रवृत्ति नहीं है, ऐसा हम कह आये हैं । अब आपकी श्रद्धा को देखते हुए हम प्रधान में स्वाभाविकी प्रवृत्ति हम मान लेते हैं फिर भी दोष रहता है क्योंकि प्रधान के महदादिरूप से परिणत होने में कोई प्रयोजन नहीं दीखता है । यदि प्रधान की स्वाभाविकी प्रवृत्ति किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखती है, ऐसा कहोगे तो जैसे प्रधान सहकारी की अपेक्षा नहीं रखता है, वैसे ही किसी प्रयोजन की भी अपेक्षा वह नहीं रखेगा; ऐसी स्थिति में प्रधान महदादिरूप से पुरुष के लिए परिणत होता है, यह जो आप ने प्रतिज्ञा की थी वह नष्ट हो जायेगा । इस पर यदि सांख्य कहता हो कि केवल सहकारी की ही अपेक्षा प्रधान नहीं रखता, प्रयोजन की अपेक्षा तो रखता ही है तब प्रधान की प्रवृत्ति का प्रयोजन आपको सुस्पष्ट करना पड़ेगा कि वह प्रयोजन पुरुष का भोग है अथवा मोक्ष है या दोनों ही है । यदि भोग प्रयोजन मानोगे तो निर्विकार, कूटस्थ पुरुष का भोग ही कैसा होगा और यदि ऐसे पुरुष का ही भोग होने लग जाय तो अनिर्मोक्षप्रसङ्ग आने लग जायेगा अर्थात् भोग से पुरुष का छुटकारा नहीं हो सकेगा । तथा पुरुष को अपवर्ग दिलाना प्रधान का प्रयोजन माना जाय तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रधान की प्रवृत्ति से पूर्व भी पुरुष का अपवर्ग सिद्ध ही था । ऐसी स्थिति में प्रधान की प्रवृत्ति अनर्थक हो जायेगी और शब्दादि विषयों की अनुपलब्धि का प्रसङ्ग भी आ जायेगा । उभयार्थक

१. भावत्कीं श्रद्धामित्यर्थः । १. स्वतः अध्यासमंतरेणैव ।

(१७८) पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ।।७।।

मोक्षप्रसङ्ग एव । न चौत्सुक्यनिवृत्त्यर्था प्रवृत्तिः । नहि प्रधानस्याचेतनस्यौत्सुक्यं संभवति । नच पुरुषस्य निर्मलस्य निष्कलस्यौत्सुक्यम् । दृक्शक्तिसर्गशक्तिवैयर्थ्यभयाच्चेत्प्रवृत्तिस्तर्हि दृक्शक्त्यनुच्छेदवत्सर्गशक्त्यनुच्छेदात्संसारानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव । तस्मात्प्रधानस्य पुरुषार्था प्रवृत्तिरित्येतदयुक्तम् ।।६।।

स्यादेतत् । यथा कश्चित्पुरुषो दृक्शक्तिसम्पन्नः प्रवृत्तिशक्तिविहीनः पङ्गुरपरं पुरुषं प्रवृत्तिशक्तिसम्पन्नं दृक्शक्तिविहीनमन्धमधिष्ठाय प्रवर्तयति । यथा वाऽयस्कान्तोऽश्मा स्वयमप्रवर्तमानोऽप्ययः प्रवर्तयति । एवं पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयिष्यतीति [1]दृष्टान्तप्रत्ययेन पुनः प्रत्यवस्थानम् । अत्रोच्यते—तथापि नैव [2]दोषान्निर्मोक्षोऽस्ति । अभ्युपेतहानं तावद्दोष

पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तमिति कारिकोक्तं दूषयति—नचेति । औत्सुक्यमिच्छाविशेषः केवलजडस्यात्मनो वा न युक्त इत्यर्थः । अस्ति पुरुषस्य दृक्शक्तिश्चिद्रूपत्वात्, अस्ति च प्रधानस्य सर्गशक्तिस्त्रिगुणत्वात्, तयोः शक्त्योर्दृश्यसृष्टी विना सार्थक्यायोगात् प्रधानस्य सृष्टौ प्रवृत्तिरिति चेत् । न । शक्त्योर्नित्यत्वात् सृष्टिनित्यत्वापत्तिरित्याह—दृक्शक्तीति ।।६।।

पुरुषस्य प्रवर्तकत्वं [3]निरस्तमपि दृष्टान्तेन पुनराशङ्क्य निषेधति—पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ।

मानने पर भी प्रधान के भोक्तव्य पदार्थ शब्दादि विषय अनन्त हैं जिनका भोगकर मोक्ष पाना सम्भव नहीं है, अतः अनिर्मोक्षप्रसङ्ग आयेगा ही । ऐसे ही उत्सुकता की निवृत्ति के लिए यदि प्रधान की प्रवृत्ति मानी जाय तो यह तर्क भी ठीक नहीं है क्योंकि अचेतन प्रधान में उत्सुकता सम्भव ही नहीं है और न शुद्ध, निष्कल पुरुष में औत्सुक्य सम्भव है । यदि कहो कि प्रधान में प्रवृत्ति न मानने पर पुरुष की दृक्शक्ति और प्रधान की सर्गशक्ति, इस भय से प्रधान में प्रवृत्ति माननी पड़ेगी तब तो जैसे दृक्शक्ति का कभी उच्छेद नहीं होता, ऐसे ही प्रधान की सर्गशक्ति का भी उच्छेद नहीं होगा । ऐसी स्थिति में संसार का उच्छेद न होने के कारण अनिर्मोक्षप्रसंग आयेगा ही । अतः प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के लिए है, यह सांख्यों की मान्यता असङ्गत है ।।६।।

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि (ललिता)

पुरुष में प्रवर्तकत्व का निराकरण हो चुका है फिर भी दृष्टान्त के बल से प्रवर्तकत्व की आशङ्का कर अग्रिम सूत्र से निषेध करते हैं—

जैसे कोई पुरुष दर्शनशक्तिसम्पन्न है, किन्तु प्रवृत्तिशक्तिविहीन है अर्थात् पंगु है, वह दूसरे प्रवृत्तिशक्तिसम्पन्न एवं दर्शनशक्तिविहीन अन्धे के कन्धे पर बैठकर उसमें प्रवृत्ति करवाता है और जैसे अयस्कान्त मणि स्वयं प्रवृत्त न होती हुई भी लोहे में प्रवृत्ति करा देती है इन दृष्टान्तों के आधार पर यह हम मानते हैं कि पुरुष प्रधान में प्रवृत्ति करा देगा ? ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि उक्त रीति से पङ्ग्वन्धन्याय के आधार पर प्रधान का प्रवर्तक पुरुष को माना भी जाय तो भी दोष से आप मुक्त नहीं हो सकते, प्रत्युत सिद्धान्तहानिरूप दोष तो आयेगा ही क्योंकि इससे पूर्व आप

१. दृष्टान्तावलम्बनेनेत्यर्थः । २. दोषात्मकबध सकाशात्तव निर्मोक्षो नैवास्ति । यद्वा दोषाद्धेतोस्तव मते कैवल्यं नास्तीति । ३. निरस्तमपीति व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वादिति सूत्र व्याख्यानावसर इत्यर्थः ।

आपतति । प्रधानस्य स्वतन्त्रस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमात्, पुरुषस्य च प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात् । कथं चोदासीनः पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयेत् । पङ्गुरपि ह्यन्धं वागादिभिः पुरुषं प्रवर्तयति । नैवं पुरुषस्य कश्चिदपि प्रवर्तनव्यापारोऽस्ति, निष्क्रियत्वान्निर्गुणत्वाच्च । नाप्ययस्कान्तवत्संनिधिमात्रेण प्रवर्तयेत् । संनिधिनित्यत्वेन प्रवृत्तिनित्यत्वप्रसङ्गात् । अयस्कान्तस्य त्वनित्यसंनिधेरस्ति स्वव्यापारः संनिधिः, परिमार्जनाद्यपेक्षा चास्यास्तीत्यनुपन्यासः पुरुषाश्मवदिति । तथा प्रधानस्याचैतन्यात्पुरुषस्य चौदासीन्यात्तृतीयस्य च तयोः संबन्धयितुरभावात्सम्बन्धानुपपत्तिः । योग्यतानिमित्ते च सम्बन्धे योग्यत्वानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्गः । पूर्ववच्चेहाप्यर्थाभावो विकल्पयितव्यः । परमात्मनस्तु स्वरूपव्यपाश्रयमौदासीन्यं मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वमित्यस्त्यतिशयः ।।७।।

प्रधानस्य स्वातन्त्र्यं पुरुषस्यौदासीन्यं चाभ्युपेतं त्यज्यत इति वदन्तं सांख्यं प्रत्याह—कथं चेति। पुरुषस्य परिस्पन्दः प्रयत्नगुणो वा नास्तीति वक्तुं हेतुद्वयम् । प्रधानपुरुषयोर्नित्यत्वाद्व्यापित्वाच्च नित्यः संनिधिः, अश्मनस्तु परिमार्जनमृजुत्वेन स्थापनमनित्यसंनिधिश्चेति व्यापारोऽस्तीत्यनुपन्यासः, समदृष्टान्तोपन्यासो न भवतीत्यर्थः । ननु चिज्जडयोर्द्रष्टृदृश्यभावयोग्यतास्ति, तया [1]तद्भावः सम्बन्ध इत्यत आह—योग्यतेति । चिज्जडत्वरूपाया योग्यताया नित्यत्वात्सम्बन्धनित्यत्वापत्तिरित्यर्थः । यथा स्वतन्त्रप्रधानप्रवृत्तिपक्षो भोगोऽपवर्ग उभयं वा फलमिति विकल्प्य दूषितः, एवं पुरुषाधीनप्रधानप्रवृत्तिपक्षोऽपि फलाभावेन दूषणीय इत्याह—पूर्ववच्चेति । सिद्धान्ते परमात्मन उदासीनस्य कथं प्रवर्तकत्वमित्याशङ्क्याह—परमात्मेति । सांख्यमते उभयं विरुद्धं सत्यत्वात । अस्मन्मते कल्पिताकल्पितयोरविरोध इत्यतिशयः ।।७।।

ने स्वतन्त्र प्रधान में प्रवृत्ति मानी थी और पुरुष में प्रवर्तकत्व नहीं कहा था, ऐसी स्थिति में भला उदासीन पुरुष प्रधान का प्रवर्तक कैसे होगा । पङ्गु भी अन्ध पुरुष में वागादि के द्वारा ही प्रवृत्ति कराता है पर पुरुष में तो ऐसा कोई प्रवर्तनव्यापार है हो नहीं क्योंकि वह निष्क्रिय और निर्गुण है । अयस्कान्त मणि भी सन्निधिमात्र से लोहे में प्रवृत्ति कराती है, वैसे ही पुरुष भी सन्निधिमात्र से प्रधान में प्रवृत्ति करा देगा ? ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि प्रधान-पुरुष को सन्निधि नित्य होने से नित्य प्रवृत्ति होने लग जायेगी । अयस्कान्त मणि के साथ लोहे की सन्निधि अनित्य है, अतः सन्निधि ही उसका व्यापार है और लोहे के परिमार्जन की अपेक्षा भी होती है अन्यथा सन्निधि होने पर भी मलयुक्त लोहे में अयस्कान्त मणि प्रवृत्ति नहीं करा सकती । इसलिए पुरुष एवं अयस्कान्त मणि का दृष्टान्त ठीक नहीं है । वैसे ही प्रधान अचेतन है और पुरुष उदासीन है और इन दोनो के अतिरिक्त तीसरा कोई इनका सम्बन्ध कराने वाला है नहीं, अतः प्रधान-पुरुष का सम्बन्ध भी नहीं हो सकता । सम्बन्ध का निमित्त योग्यता को मानो तो योग्यता का कभी उच्छेद नहीं होता, फिर तो अनिर्मोक्षप्रसङ्ग आ जायेगा । साथ ही, आप के इस कथनानुसार प्रवृत्ति मान लेने पर भी प्रयोजन नहीं दीखता है जिससे कि प्रवृत्ति की मान्यता सफल हो सके । किन्तु सिद्धान्त पक्ष में परमात्मा में स्वरूपतः औदासीन्य और माया का आश्रय लेने से प्रवर्तकत्व मानते हैं, अतः सांख्य की अपेक्षा सिद्धान्त पक्ष में वैशिष्ट्य है ।।७।।

१. द्रष्टृदृश्यभावरूपः सम्बध इत्यर्थः ।

(१७९) अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥८॥

(१८०) अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥९॥

इतश्च न प्रधानस्य प्रवृत्तिरवकल्पते । यद्धि सत्त्वरजस्तमसामन्योन्यगुणप्रधानभावमुत्सृज्य साम्येन स्वरूपमात्रेणावस्थानं सा प्रधानावस्था । तस्यामवस्थायामनपेक्ष स्वरूपाणां स्वरूपप्रणाशभयात्परस्परं प्रत्यङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः । बाह्यस्य च कस्यचित्क्षोभयितुरभावाद्गुणवैषम्यनिमित्तो महदाद्युत्पादो न स्यात् ॥८॥

अथापि स्यादन्यथा वयमनुमिमीमहे यथा नायमनन्तरो दोषः प्रसज्येत । न ह्यनपेक्षस्वभावाः कूटस्थाश्चास्माभिर्गुणा अभ्युपगम्यन्ते प्रमाणाभावात् । कार्यवशेन तु गुणानां स्वभावोऽभ्युपगम्यते । यथा यथा कार्योत्पाद उपपद्यते तथा तथैषां स्वभावोऽभ्युपगम्यते । चलं [1]गुणवृत्तमिति चास्त्यभ्युपगमः । तस्मात्साम्यावस्थायामपि वैषम्योपगमयोग्या एव

किं प्रधानावस्था कूटस्थवन्नित्या, उत विकारिणी । आद्ये दोषमाह—तस्यामिति । अङ्गाङ्गिभावे साम्यस्वरूपनाशः स्यात्, ततः कौटस्थ्यभङ्ग इति भयादङ्गाङ्गित्वानुपपत्तेः सृष्ट्यनुपपत्तिरित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—बाह्यस्येति । चिरकालस्थितस्य साम्यस्य च्युतौ निमित्तं वाच्यं तन्नास्तीत्यर्थः ॥८॥

गुणानां मिथोऽनपेक्षस्वभावत्वान्न स्वतो वैषम्यमित्युक्तम्, तत्र हेत्वसिद्धिमाशङ्क्य सूत्रकारः परिहरति—अन्यथेति । अनपेक्षस्वभावादन्यथा सापेक्षत्वेन गुणानामनुमानात्पूर्वसूत्रोक्तो दोषो न प्रसज्यते । न चैवमपसिद्धान्तः, कार्यानुसारेण गुणस्वभावाङ्गीकारादित्याह—चलं गुणवृत्तमिति ।

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च (ललिता)

इसलिए भी प्रधान में प्रवृत्ति मानना ठीक नहीं है क्योंकि तीनों गुण परस्पर गुणप्रधानभाव छोड़कर जब स्वरूपमात्र समान होने के कारण अवस्थित रहते है वह समता ही प्रधान अवस्था है। उस अवस्था में अनपेक्ष स्वरूप गुण स्वरूपनाश के भय से परस्पर अङ्गाङ्गीभाव नहीं हो सकते क्योंकि जिन गुणों का स्वरूप किसी की अपेक्षा नहीं रखता था वह यदि एक प्रधान हो जाय और दो गुण हो जायँ तो उनके स्वरूपनाश का भय हो जाता है और प्रधान पुरुष से भिन्न कोई गुणों में क्षोभ कराने वाला है नहीं जो गुणो के वैषम्य का निमित्त बन सके। गुणवैषम्य का निमित्त न रहने पर महदादि जगत की उत्पत्ति भी नहीं हो सकेगी। अतः चिरकाल तक जो गुण साम्य अवस्था में स्थित रहे उनकी प्रच्युति में कोई निमित्त नहीं है जिससे कि महदादि की उत्पत्ति मानी जाय ॥८॥

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् (ललिता)

हम कुछ अन्य प्रकार से गुणों के स्वभाव का अनुमान करेंगे जिससे आप का अभी-अभी कहा हुआ दोष हमारे पक्ष में नहीं आयेगा। हम अनपेक्षस्वभाव और कूटस्थ गुणों को नहीं मानते हैं क्योंकि ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। हम तो कार्य को देखते हुए गुणों का स्वभाव स्वीकार करते है, जैसे-जैसे कार्य की उत्पत्ति सम्भव हो वैसा-वैसा उन गुणों का स्वभाव हमें स्वीकार है। गुण स्वभाव से चल है ऐसा मान लेने पर साम्यावस्था में भी वैषम्यप्राप्ति के अनुरूप ही गुण रहते हैं? ऐसा कहने

---

१. गुणानाम् । २. गुणानांवृत्त स्वभावः ।

(१८१) विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥१०॥

गुणा अवतिष्ठन्त इति । एवमपि प्रधानस्य ज्ञशक्तिवियोगाद्रचनानुपपत्त्यादयः पूर्वोक्ता दोषास्तदवस्था एव । ज्ञशक्तिमपि त्वनुमिमानः प्रतिवादित्वान्निवर्तेत । चेतनमेकमनेकप्रपञ्चस्य जगत उपादानमिति ब्रह्मवादप्रसङ्गात् । वैषम्योपगमयोग्या अपि गुणाः साम्यावस्थायां निमित्ताभावान्नैव वैषम्यं भजेरन्, भजमाना वा निमित्ताभावाविशेषात्सर्वदैव वैषम्यं भजेरन्निति प्रसज्यत एवायमनन्तरोऽपि दोषः ॥९॥

परस्परविरुद्धश्चायं सांख्यानामभ्युपगमः । क्वचित्सप्तेन्द्रियाण्यनुक्रामन्ति, क्वचिदेकादश । तथा क्वचिन्महतस्तन्मात्रसर्गमुपदिशन्ति, क्वचिदहंकारात् । तथा क्वचित्त्रीण्यन्तःकरणानि वर्णयन्ति, क्वचिदेकमिति । प्रसिद्ध एव तु श्रुत्येश्वरकारणवादिन्या विरोधस्तदनुवर्तिन्या च स्मृत्या । तस्मादप्यसमञ्जसं सांख्यानां दर्शनमिति ।

पूर्वसूत्रोक्ताङ्गाङ्गित्वानुपपत्तिदोषाभावमङ्गीकृत्य परिहरति—एवमपीति । कार्यार्थं ज्ञानशक्तिकल्पने ब्रह्मवादः स्यादित्यर्थः । [1]अङ्गीकारं त्यजति—वैषम्येति ॥९॥

सूत्रं व्याचष्टे—परस्परेति । त्वङ्मात्रमेव ज्ञानेन्द्रियमेकमनेकशब्दादिज्ञानकारणं, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनश्चेति सप्तेन्द्रियाणि, ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च मनश्चेत्येकादश । बुद्धिरहंकारो मन इति त्रीणि । एकमिति बुद्धिरेव । एवं पूर्वापरविरोधादिति व्याख्याय श्रुतिस्मृतिविप्रतिषेधाच्चेत्यर्थान्तरमाह—प्रसिद्ध इति । तस्माद्भ्रान्तिमूलत्वात्सांख्यशास्त्रस्य तेन निर्दोषवेदान्तसमन्वयस्य न विरोध इति सिद्धम् ।

पर भी चैतन्यशक्ति से विहीन होने के कारण प्रधान से रचनानुपपत्ति आदि पूर्वोक्त दोष पहले की भाँति रहेंगे ही और प्रधान में चैतन्यशक्ति का अनुमान करते हुए आप प्रतिवादी नहीं रह जायेंगे क्योंकि एक चेतन अनेक प्रपञ्चात्मक जगत् का उपादान कारण है यह ब्रह्मवाद है, इसी ब्रह्मवाद का प्रसङ्ग आप के पक्ष में भी आ जायेगा। वैषम्य होने योग्य गुणों को माना जाय फिर भी साम्यावस्था से विषम होने का निमित्त न रहने के कारण वे गुण वैषम्य को नहीं प्राप्त कर सकेंगे और यदि वे गुण निमित्त के बिना ही विषम होने लग जायें तो सदा उनमें वैषम्य होने लग जायेगा। इसलिए सूत्र में गया दोष सांख्य पक्ष में भी आता ही है ॥९॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् (ललिता)

सांख्यों की यह मान्यता परस्पर विरुद्ध है कि कहीं पर त्वचामात्र ज्ञानेन्द्रियाँ एक है जो अनेक शब्दादि विषयों के ज्ञान का करण है, पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और मन है; ऐसे सात इन्द्रियाँ कहीं पर मानते हैं और कहीं पर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन; इस प्रकार एकादश इन्द्रियाँ मानते हैं। वैसे ही कहीं पर महतत्व से तन्मात्राओं की सृष्टि बतलाते हैं और कहीं पर अहंकार से। उसी प्रकार कहीं पर तीन अन्तःकरण कहते हैं और कहीं पर एक ही अन्तःकरण मानते हैं। इस प्रकार सांख्यों की मान्यता परस्पर विरुद्ध है। ईश्वर को जगत्कारण बतलाने वाली श्रुति और उस श्रुति का अनुवर्तन करने वाली स्मृति के साथ सांख्यों का विरोध तो प्रसिद्ध ही है। इसलिए भी सांख्यों का सिद्धान्त असङ्गत है।

---

१. अङ्गाङ्गित्वानुपपत्तिरूपदोषाभावस्येत्यादौ शेषः।

अत्राह—नन्वौपनिषदानामप्यसमञ्जसमेव दर्शनं तप्यतापकयोर्जात्यन्तरभावानभ्युपगमात्। एकं हि ब्रह्म सर्वात्मकं सर्वस्य प्रपञ्चस्य कारणमभ्युपगच्छतामेकस्यैवात्मनो विशेषौ तप्यतापकौ न जात्यन्तरभूतावित्यभ्युपगन्तव्यं स्यात्। यदि चैतौ तप्यतापकावेकस्यात्मनो विशेषौ स्यातां स ताभ्यां तप्यतापकाभ्यां न निर्मुच्यत इति तापोपशान्तये सम्यग्दर्शनमुपदिशच्छास्त्रमनर्थकं स्यात्। न ह्यौष्ण्यप्रकाशधर्मकस्य प्रदीपस्य तदवस्थस्यैव ताभ्यां निर्मोक्ष उपपद्यते। योऽपि जलतरङ्गवीचीफेनाद्युपन्यासः, तत्रापि जलात्मन एकस्य वीच्यादयो विशेषा आविर्भावतिरोभावरूपेण नित्या एवेति समानो जलात्मनो वीच्यादिभिरनिर्मोक्षः। प्रसिद्धश्चायं तप्यतापकयोर्जात्यन्तरभावो लोके। तथाहि—अर्थी चार्थश्चान्योन्यभिन्नौ लक्ष्येते। यद्यर्थिनः स्वतोऽन्योऽर्थो न स्यात्, यस्यार्थिनो यद्विषयमर्थित्वं स तस्यार्थो नित्यसिद्ध एवेति न तस्य तद्विषयमर्थित्वं स्यात्, यथा प्रकाशात्मनः प्रदीपस्य प्रकाशा-

---

स्वमतासामञ्जस्यमसहमानः सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते—अत्राहेति। तप्यो जीवस्तापकः संसारस्तयोर्भेदानङ्गीकाराल्लोकप्रसिद्धस्तप्यतापकभावो लुप्येतेत्यर्थः। विवृणोति—एकं हीति। तथा च भेदव्यवहारलोप इत्यसमञ्जसमित्यर्थः। ननु तयोरुपादानैक्येऽपि मिथो भेदोऽस्त्येव यथैकवह्न्यात्मकयोरौष्ण्यप्रकाशयोः, अतो न व्यवहारलोप इत्याशङ्क्य वह्नेरिव ताभ्यामात्मनो मोक्षो न स्यादित्याह—यदि चेत्यादिना। ननु सत्यपि धर्मिणि स्वभावनाशो मोक्ष उपपद्यते, सत्येव जले वीच्यादिनाशदर्शनादित्याशङ्क्य दृष्टान्तासिद्धिमाह–योऽपीति। किंच भेदाङ्गीकारेऽपसिद्धान्तः, अनङ्गीकारे लोकप्रसिद्धिबाध इत्याह–प्रसिद्धश्चेति। अर्थो ह्यर्जनालाभादिनार्थिनं तापयतीति तापकः, अर्थी तप्यस्तयोरभेदे बाधकमाह–यदीति। अर्थिनोऽन्यस्यार्थस्याभावादर्थित्वाभाववदर्थादन्यस्यार्थिनोऽसत्त्वादर्थत्वाभावः प्रसज्येते-

---

पूर्वपक्ष—(इस पर सांख्य कहता है कि) तब तो औपनिषद् मानने वाले वेदान्तियों का दर्शन भी असङ्गत ही है क्योंकि तप्य और तापक को अद्वय ब्रह्म से भिन्न जात्यन्तररूप में उन्होंने स्वीकार नहीं किया है। सर्वात्मक एक ही ब्रह्म सम्पूर्ण प्रपञ्च का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है, ऐसा मानने वाले वेदान्तियों के यहाँ एक ही आत्मा के तप्य-तापक भेद हैं जो आत्मा से भिन्न जातिवाले नहीं हैं, ऐसा उन्हें स्वीकार करना होगा। यदि ये दोनों तप्य-तापक एक ही आत्मा के विशेष होंगे तो वह आत्मा तप्य-तापक से कभी भी मुक्त नहीं हो सकता, ऐसी स्थिति में तापोपशान्ति के लिए सम्यग-दर्शन का उपदेश करने वाला वेदान्तशास्त्र अनर्थक हो जायेगा। प्रदीप के धर्म औष्ण्य और प्रकाश हैं, उस धर्म में स्थित होते हुए ही उन दोनों धर्मों से धर्मी प्रदीप कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। और जो भी वेदान्ती ने जल, वीचि, तरंग, फेनादि का दृष्टान्त दिया है वहाँ पर भी जल स्वरूपतः एक है किन्तु वीचि आदि विशेष आते-जाते रहते हैं जो किसी न किसी रूप में रहते ही हैं। उस जल का वीचि आदि के साथ मोक्षाभाव तुल्य ही है अर्थात् जल के रहते-रहते कोई न कोई विकार उसमें रहता ही है। लोक में तप्य-तापक यह जात्यन्तरभाव प्रसिद्ध है, यदि उसे स्वीकार करते हो तो अपसिद्धान्तापत्ति होगी और यदि स्वीकार नहीं करते तो लोकप्रसिद्धि का बाध होता है। वैसे ही अर्थी और अर्थ परस्पर भिन्न लक्षणवाले हैं। यदि अर्थी से भिन्न स्वतः अर्थ अस्तित्व नहीं रखता हो तो जिस अर्थी को जिस विषय का अर्थित्व है उसका वह अर्थ स्वरूपभूत होने के कारण नित्यसिद्ध ही है, अतः उस अर्थी को स्वविषयक अर्थित्व तो होगा ही नहीं, जैसे प्रकाशस्वरूप दीपक का प्रकाशात्मक

स्योऽर्थो नित्यसिद्ध एवेति न तस्य तद्विषयमर्थित्वं भवति । अप्राप्ते ह्यर्थेऽर्थिनोऽर्थित्वं स्यादिति । तथाऽर्थस्याप्यर्थत्वं न स्यात् । यदि स्यात्स्वार्थत्वमेव स्यात् । न चैतदस्ति । सम्बन्धिशब्दौ ह्येतावर्थी चार्थश्चेति । द्वयोश्च सम्बन्धिनोः सम्बन्धः स्यान्नैकस्यैव । तस्माद्भिन्नावेतावर्थार्थिनौ । तथानर्थानर्थिनावपि । अर्थिनोऽनुकूलोऽर्थः प्रतिकूलोऽनर्थस्ताभ्यामेकः पर्यायेणोभाभ्यां सम्बध्यते । तत्रार्थस्याल्पीयस्त्वाद्भूयस्त्वाच्चानर्थस्योभावप्यर्थानर्थावनर्थ एवेति तापकः स उच्यते । तप्यस्तु पुरुषो य एकः पर्यायेणोभाभ्यां सम्बध्यत इति तयोस्तप्यतापकयोरेकात्मतायां मोक्षानुपपत्तिः । जात्यन्तरभावे तु तत्संयोगहेतुपरिहारात्स्यादपि कदाचिन्मोक्षोपपत्तिरिति ।

स्याह—तथार्थस्यापीति । प्रसङ्गस्येष्टत्वं निराकरोति—न चैतदस्तीति । अर्थत्वं हि कामनाविषयत्वं, तच्च 'काम्यादन्यस्य कामयितुरसत्त्वान्न स्यात् । न हि स्वस्य स्वार्थत्वमस्ति काम्यस्यैव कामयितृत्वायोगात् । तस्माद्भेदोऽङ्गीकार्य इत्यर्थः । इतश्च भेद इत्याह—सम्बन्धीति । तथानर्थानर्थिनावपि भिन्नावित्यन्वयः । अर्थानर्थयोः स्वरूपोक्तिपूर्वकं तापकत्वं स्फुटयति—अर्थिनोऽनुकूल इति । अद्वैतमते मुक्तेरयोगमुक्त्वा स्वमते योगमाह—जात्यन्तरेति । तया तप्यया बुद्ध्या पुरुषस्य संयोगः स्वस्वामिभावस्तस्य हेतुरनादिरविवेकस्तस्य परिहारो विवेकस्तस्मान्नित्यमुक्तस्यापि पुरुषस्य कथंचिदुपचारान्मोक्षोपपत्तिरित्यर्थः । यथा योद्धृगतौ जयपराजयौ राजन्युपचर्येते, तथा पुरुषादत्यन्तभिन्नबुद्धिगतौ बन्धमोक्षौ पुरुषे उपचर्यते । तदुक्तम्—'सैव च बध्यते मुच्यते च' इति ।

अर्थ नित्यसिद्ध ही है । ऐसी स्थिति में उस दीपक को प्रकाशविषयक अर्थित्व नहीं होता । अप्राप्त अर्थ में ही अर्थी का अर्थित्व होता है, स्वरूपभूत नित्यप्राप्त अर्थ में नहीं । वैसे ही, अर्थ का अर्थत्व भी नहीं रहेगा और यदि रहेगा तो स्वार्थ ही होगा, किन्तु ऐसा होता नहीं । ये अर्थ और अर्थी शब्द सम्बन्धी को बतलाते हैं । सम्बन्ध दो सम्बन्धियों के मध्य में होता है, इसीलिए उसे द्विष्ठ कहते हैं, एक ही में सम्बन्ध नहीं होता । अत: अर्थ और अर्थी दोनों भिन्न हैं, वैसे ही अनर्थ और अनर्थी भी परस्पर भिन्न हैं । अर्थी के अनुकूल विषय को अर्थ कहते हैं एवं प्रतिकूल को अनर्थ कहते हैं, इन दोनों के साथ क्रमश: एक आत्मा का सम्बन्ध होता रहता है । सत्य पूछो तो अर्थ अल्प होता है और अनर्थ अधिक होता है, इसीलिए ये दोनों अर्थ और अनर्थ वस्तुत: अनर्थ ही है, इसी से उन्हें तापक कहा है । तप्य तो आत्मा पुरुष है जो एक है और क्रमश: दोनों के साथ सम्बन्ध रखता है । अत: उन दोनों ताप्य-तापक में एकात्मता होने के कारण मोक्ष नहीं बन सकेगा । हम सांख्यों के मत में तप्य बुद्धि है, उसके साथ पुरुष का स्व-स्वामीभाव सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध का कारण अनादि अविवेक है एवं उसका परिहार करने वाला विवेक है । अत: नित्य मुक्त पुरुष को भी किसी उपचार से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है इसलिए हम सांख्यों के मत में विवेक द्वारा अविवेक का नाश हो जाने के कारण मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है । जैसे सैन्यगत जय-पराजय राजा में औपचारिक दृष्टि से माने जाते हैं, वैसे ही पुरुष से अत्यन्त भिन्न बुद्धिगत बन्ध-मोक्ष का औपचारिक प्रयोग पुरुष में होता है । इसीलिए सांख्य कारिका में कहा है कि 'बुद्धि ही बँधती है और बुद्धि ही मुक्त होती है ।'

---

१. अर्थात् ।

अत्रोच्यते—न । एकत्वादेव तप्यतापकभावानुपपत्तेः । भवेदेष दोषो यद्येकात्मतायां तप्यतापकावन्योन्यस्य विषयविषयिभावं प्रतिपद्येयाताम् । न त्वेतदस्त्येकत्वादेव । न ह्यग्निरेकः सन्स्वमात्मानं दहति प्रकाशयति वा सत्यप्यौष्ण्यप्रकाशादिधर्मभेदे परिणामित्वे च । किं कूटस्थे ब्रह्मण्येकस्मिंस्तप्यतापकभावः सम्भवेत् । क्व पुनरयं तप्यतापकभावः स्यादिति ? उच्यते—किं न पश्यसि[1] कर्मभूतो जीवद्देहस्तप्यस्तापकः सवितेति ।

ननु तप्तिर्नाम दुःखं सा चेतयितुर्नाचेतनस्य देहस्य । यदि हि देहस्यैव तप्तिः स्यात्सा देहनाशे स्वयमेव नश्यतीति तन्नाशाय साधनं नैषितव्यं स्यादिति । उच्यते—देहाभावेऽपि केवलस्य चेतनस्य तप्तिर्न दृष्टा । नच त्वयापि तप्तिर्नाम विक्रिया चेतयितुः केवलस्येष्यते । नापि देहचेतनयोः[2] संहतत्वमशुद्ध्यादिदोषप्रसङ्गात् । नच तप्तेरेव तप्तिमभ्युपग-

सिद्धान्तयति—अत्रेति । किं परमार्थदृष्ट्या तप्यतापकभावानुपपत्तिरुच्यते, व्यवहारदृष्ट्या वा । नाद्य इत्याह—न । एकत्वादेवेति । दोषत्वमिति शेषः । तस्या अदोषत्वं विवृणोति—भवेदित्यादिना । एतत्तात्त्विकं विषयविषयित्वं न त्वस्तीत्यर्थः । यत्र तप्यतापकभावो दृष्टस्तत्रैवेति व्यवहारपक्षमादाय सिद्धान्ती ब्रूते—किं न पश्यसीति ।

देहस्य तप्यत्वे देहात्मवादापत्तिरिति शङ्कते—नन्विति । अचेतनस्यैव देहस्य तप्तिर्नेति वदता सांख्येन वक्तव्यं किं चेतनस्य केवलस्य तप्तिः, किंवा देहसंहतस्य, उत तप्तेः, आहोस्वित् सत्त्वस्य । नाद्य इत्याह—उच्यत इति । न द्वितीयतृतीयावित्याह—नापीत्यादिना । चतुर्थं शङ्कते—

सिद्धान्त—(इस पर सिद्धान्ती कहता है कि) केवलाद्वैत सिद्धान्त में परमार्थ दृष्टि से तप्य-तापक भाव ही नहीं है। यह दोष वेदान्त पक्ष में आ सकता था यदि अद्वैतवाद में तप्य और तापक को परस्पर विषय-विषयीभाव मानते, किन्तु एकत्व होने के कारण जब विषय-विषयीभाव ही नहीं मानते हैं तो फिर परमार्थ दृष्टि से आप के द्वारा उद्भावित दोष हमारे पक्ष में नहीं आता। अग्नि एक है तो वह अपने आप को न जला सकती और न प्रकाशित ही कर सकती है जब कि औष्ण्य और प्रकाश इन धर्मों में भेद है और वह परिणामी भी है, फिर भला कूटस्थ अद्वय ब्रह्म में तप्य-तापकभाव कैसे हो सकेगा। व्यवहार पक्ष को लेकर सिद्धान्ती कहता है कि जहाँ पर तप्य-तपक भाव भी देखा गया वहीं उस भाव को मानना चाहिए, अन्यत्र आत्मा में नहीं। क्या तुम देखते नहीं हो कि कर्मभूत जीवित देह तप्य है और सविता तापक है।

सांख्य—(सांख्य कहता है कि) ताप दुःख है, वह चेतन में ही हो सकता है, अचेतन देह में नहीं क्योंकि यदि देह को ताप होता हो तो वह देह के नाश होने पर स्वयं ही नष्ट हो जायेगा, उसके नाश के लिए ढूंढने की आवश्यकता नहीं है। वेदान्ती—तो फिर आप को यह बतलाना पड़ेगा कि केवल चेतन में ताप है या देह से युक्त चेतन में ताप है, तप्ति में ताप है अथवा बुद्धि को ताप है। देह के अभाव में भी केवल चेतन में ताप नहीं देखा गया है क्योंकि आप सांख्यों को केवल चेतन में तापविक्रिया मान्य नहीं है और न देह एवं चेतन का संघात ही आप को इष्ट है क्योंकि देह और चेतन का संघात मानने पर चेतन आत्मा में अशुद्ध्यादि दोष का प्रसङ्ग आ

१. तपनक्रियाकर्मीभूतः । २. तव मत इतिशेषः ।

च्छसि । कथं तवापि तप्यतापकभावः । सत्त्वं तप्यं तापकं रज इति चेत् । न । ताभ्यां चेतनस्य संहतत्वानुपपत्तेः । सत्त्वानुरोधित्वाच्चेतनोऽपि तप्यत इवेति चेत्, परमार्थतस्तर्हि नैव तप्यत इत्यापततीवशब्दप्रयोगात् न चेत्तप्यते नेवशब्दो दोषाय । नहि [1]डुण्डुभः सर्प इवेत्येतावता सविषो भवति । सर्पो वा डुण्डुभ इवेत्येतावता निर्विषो भवति । अतश्चाविद्याकृतोऽयं तप्यतापकभावो न पारमार्थिक इत्यभ्युपगन्तव्यमिति । नैवं सति ममापि किंचिद्दुष्यति । अथ पारमार्थिकमेव चेतनस्य तप्यत्वमभ्युपगच्छसि तवैव सुतरामनिर्मोक्षः प्रसज्येत नित्यत्वाभ्युपगमाच्च तापकस्य ।

सत्त्वमिति । **सत्त्वरजसोस्तप्यतापकत्वे पुरुषस्य बन्धाभावाच्छास्त्रारम्भवैयर्थ्यमिति** परिहरति—न । ताभ्यामिति । **असङ्गत्वेऽपि पुरुषस्य तप्यसत्त्वप्रतिबिम्बत्वात्तप्तिरिति शङ्कते**—सत्त्वेति । **तर्हि जलचन्द्रस्य चलनवन्मिथ्यैव तप्तिरित्यस्मत्पक्ष आगत इत्याह**—परमार्थत इति । **इवशब्दमात्रेण कथं मिथ्या तप्त्यवगम इति चेत्तदुच्यते—इवशब्दस्तप्यबुद्धिसत्त्वसादृश्यं ब्रूते, तच्च सादृश्यं पुरुषस्य तप्यत्वरूपं चेत् कल्पितमेव वस्तुतस्तप्त्यभावादित्युपपादयति**—न चेदिति । **पुरुषो वस्तुतस्तप्तिशून्यश्चेदिवशब्दो न [2]दोषाय मिथ्यातप्तिपरत्वादित्यर्थः । मिथ्यासादृश्यमेव दोष इति चेत्, नेत्याह**—नहीति । **सविषत्वं निर्विषत्वं चेवशब्दार्थः कल्पित एव द्रष्टव्यः । सांख्यस्याविद्यके तप्यतापकत्वे सति ममापि किंचिन्न दुष्यति किंतु इष्टमेव संपन्नमित्यर्थः । यदि मिथ्यातप्यत्वाङ्गीकारेऽपसिद्धान्तः स्यादिति भीत्या सत्यं तप्यत्वं पुरुषस्योच्यते तथाप्यपसिद्धान्तः, कौटस्थ्यहानात् । अनिर्मोक्षश्च, सत्यस्यात्मवन्निवृत्त्ययोगादित्याह**—अथेत्यादिना । **किंच रजसो नित्यत्वाद्दुःखसातत्यमित्याह**—नित्यत्वेति ।

जायेगा । ऐसे ही ताप को ही ताप होता है, यह भी आप को मान्य नहीं है । अब चतुर्थ विकल्प रह गया वहाँ तप्य-तापकभाव आप को कैसा इष्ट है, इसे बतलाना होगा । यदि आप कहते हों कि बुद्धि में जो सत्वगुण है वह तप्य है और रजोगुण तापक है, तब तो उन दोनों के साथ चेतन आत्मा का संघात हो ही नहीं सकता । और यदि मानो सत्वानुरोधी होने से चेतन भी तपता सा जान पड़ता है तो परमार्थतः वह नहीं तपता, यह प्रसङ्ग आयेगा क्योंकि '**इव**' शब्द का प्रयोग आप ने किया है और यदि वस्तुतः चतन तपता नहीं है तो '**इव**' शब्द का प्रयोग करना कोई दोषावह नहीं है । किसी ने कहा कि डुण्डुभ सर्प जैसा होता है तो ऐसा कहने या मान लेने पर सचमुच में वह डुण्डुभ विषयुक्त नहीं हो जाता, वैसे ही किसी ने कहा कि सर्प डुण्डुभ जैसा होता है तो ऐसा कहने और मानने से भी वह सर्प निर्विष नहीं हो जाता । अतः यह तप्य-तापकभाव अविद्याकृत है, पारमार्थिक नहीं है, यही आप को मानना पड़ेगा और ऐसा मान लेने पर मुझ वेदान्ती के पक्ष में भी कोई दोष नहीं आता । यदि सांख्य अपसिद्धान्तापत्ति के भय से चेतन आत्मा में तप्यत्व पारमार्थिक ही मानता हो तब तो आप सांख्य के पक्ष में भी मोक्षाभाव की प्राप्ति सुनिश्चित ही है । रजोगुण जिसे आप तापक कहते हैं उसे भी आप नित्य मानते हैं, फिर तो आप के पक्ष में अनिर्मोक्ष प्रसक्त रहेगा ही ।

---

१. डुण्डुभो नाम निर्विषो द्विमुखः सर्पः 'समौ राजिलडुण्डुभावित्यमरः । निर्मुक्तो निर्विषः सर्पो राजिलः परिकीर्तित इति स्मरणात् ।

२. पुरुषोऽवस्तुतस्तप्ति विशिष्ट इत्यात्मक दोषायन्भवतीत्यर्थः ।

२. महद्दीर्घाधिकरणम् (सू० ११)

नास्ति काणाददृष्टान्तः किं वास्यसदृशोद्भवे । नास्ति शुक्लः पटः शुक्लात्तन्तोरेव हि जायते ।।
अणु द्व्यणुकमुत्पन्नमनणोः परिमण्डलात् । अदीर्घात् द्व्यणुकाद्दीर्घं त्र्यणुकं तन्निदर्शनम् ।।

तप्यतापकशक्त्योर्नित्यत्वेऽपि सनिमित्तसंयोगापेक्षत्वात्तप्तेः संयोगनिमित्तादर्शननिवृत्तावात्यन्तिकः संयोगोपरमः, ततश्चात्यन्तिको मोक्ष उपपन्न इति चेत् । न । अदर्शनस्य तमसो नित्यत्वाभ्युपगमात् । गुणानां चोद्भवाभिभवयोरनियतत्वादनियतः संयोगनिमित्तोपरम इति वियोगस्याप्यनियतत्वात्सांख्यस्यैवानिर्मोक्षोऽपरिहार्यः स्यात् । औपनिषदस्य त्वात्मैकत्वाभ्युपगमादेकस्य च विषयविषयिभावानुपपत्तेर्विकारभेदस्य च वाचारम्भणमात्रत्वश्रवणादनिर्मोक्षशङ्का स्वप्नेऽपि नोपजायते । व्यवहारे तु यत्र यथा दृष्टस्तप्यतापकभावस्तत्र तथैव स इति न चोदयितव्यः परिहर्तव्यो वा भवति ।।१०।।

अत्र सांख्यः शङ्कते—तप्येति । 'सत्त्वं पुरुषो वा तप्यशक्तिः, तापकशक्तिस्तु रजः, निमित्तमविवेकात्मकमदर्शनं तमस्तेन सहितः सनिमित्तः संयोगः पुरुषस्य गुणस्वामित्वरूपस्तदपेक्षत्वादित्यर्थः । मोक्षस्तप्त्यभावः । निमित्तस्य निवृत्त्यभावान्न मोक्ष इति सिद्धान्ती परिहरति—नेति । तमसो निवृत्त्यभावेऽपि विवेकेनोपरमान्मोक्ष इत्यत आह—गुणानां चेति । 'चलं गुणवृत्तम्' इत्यङ्गीकारादिति भावः । परपक्षे बन्धमोक्षानुपपत्तिमुक्त्वा स्वपक्षमुपसंहरति—औपनिषदस्य त्विति । वस्तुत एकत्वेन बन्धाभावान्न मुक्त्यभावशङ्कावसरः । व्यवहारस्तु भेदाङ्गीकारात्तप्यतापकभावो बन्धः तत्त्वज्ञानात्तन्निवृत्तिश्चोपपन्नत इति न चोद्यावसर इत्यर्थः ।।१०।।

सांख्य—तप्य और तापकशक्ति को नित्य मानने पर भी ताप तो अविवेक के कारण संयोग की अपेक्षा रखता है । तप्य और तापक के संयोग का निमित्त है अविवेक, उस अविवेक के निवृत्त होने पर तप्य और तापक के संयोग की सर्वथा निवृत्ति हो जायेगी, उसके बाद आत्यन्तिक मोक्ष सिद्ध हो जायेगा । सिद्धान्ती—ऐसा कहना भी ठीक नहीं । अदर्शन तमोगुणरूप है जिसे आप ने नित्य स्वीकार किया है, नित्य तमोगुणरूप अदर्शन (अज्ञान) की निवृत्ति तो हो ही नहीं सकती । तीनों गुणों का उद्भव और अभिभव अनियत होने के कारण संयोगनिमित्तक उपरम भी अनियत ही रहेगा । इस स्थिति में संयोग के निमित्त अदर्शन का वियोग भी अनियत होने से सांख्य के पक्ष में ही अनिर्मोक्षापत्तिरूप दोष का परिहार असम्भव हो जायेगा । वेदान्त पक्ष में आत्मा एक माना गया है, उस एक आत्मा में विषय-विषयीभाव बनता नहीं है । विकार जगत् वाणी से कहने मात्र के लिए है । ऐसी स्थिति में आत्मा नित्यमुक्त है फिर तो वेदान्त पक्ष में अनिर्मोक्ष की शङ्का स्वप्न में भी उत्पन्न नहीं होती । व्यवहार में भेद मानते हैं, उस दशा में जहाँ जिस प्रकार तप्य-तापकभाव दीखता हो वहाँ पर वैसा ही मान लेना चाहिए, न शङ्का करनी चाहिए और न उसका समाधान ही करना चाहिए । वेदान्त पक्ष में शङ्का-समाधान का अवसर ही नहीं है ।।१०।।

२. महद्दीर्घाधिकरण

१. सङ्गति—चेतनत्वादि ब्रह्म के गुण प्रपञ्च में न दीखने के कारण प्रधान की भाँति ब्रह्म भी

१. सत्वप्रतिबिम्बितः पुरुषः ।

प्रधानकारणवादो निराकृतः । परमाणुकारणवाद इदानीं निराकर्तव्यः । तत्रादौ तावद्योऽणु[1]वादिना ब्रह्मवादिनि दोष उत्प्रेक्ष्यते, स प्रतिसमाधीयते । तत्रायं वैशेषिकाणामभ्युपगमः—कारणद्रव्यसमवायिनो गुणाः कार्यद्रव्ये समानजातीयं गुणान्तरमारभन्ते, शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्लस्य पटस्य प्रसवदर्शनात्तद्विपर्ययादर्शनाच्च । तस्माच्चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेऽभ्युपगम्यमाने कार्येऽपि जगति चैतन्यं समवेयात् । तददर्शनात्तु न चेतनं ब्रह्म जगत्कारणं भवितुमर्हतीति । इममभ्युपगमं तदीययैव प्रक्रियया व्यभिचारयति—

वृत्तानुवादेन 'महद्दीर्घवत्' इति स्वमतस्थापनात्मकाधिकरणस्य संगतिमाह—प्रधानेति। **यद्यपि**

जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता, ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. **विषय**—चेतन ब्रह्म से जगत्सृष्टि कहने पर जो समन्वय में विरोध आता है, वह इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—शुक्ल तन्तु से जैसे शुक्ल पट उत्पन्न होता देखा गया है, विपरीत नहीं। अतः चेतन ब्रह्म को जगत्कारण मानने पर उसके कार्य जगत् में भी चैतन्य दीखना चाहिए, इसलिए चेतन ब्रह्म जगत्कारण नहीं हो सकता, इस तर्क के साथ समन्वय का विरोध है या नहीं।

४. **पूर्वपक्ष**—शुक्ल तन्तु से शुक्ल पट ही उत्पन्न होता है अतः कारण से भिन्न प्रकार के कार्य उत्पन्न होने में कोई दृष्टान्त न मिलने के कारण पूर्वोक्त विरोध है ही।

५. **सिद्धान्त**—पारिमाण्डल्य परिमाण से युक्त परमाणु जिस प्रकार अणुत्वपरिमाणयुक्त द्व्यणुक का कारण है और अणुत्वपरिमाण से युक्त द्व्यणुक जैसे दीर्घत्वपरिमाणयुक्त त्र्यणुक का कारण है, वहाँ कार्य-कारण में समानपरिमाणरूप धर्म नहीं है; ऐसे ही चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् की उत्पत्ति मानने पर समन्वय का कोई विरोध नहीं है क्योंकि दृष्टान्त विद्यमान है।

पूर्वाधिकरण में प्रधानकारणवाद का निराकरण किया गया, अब परमाणुकारणवाद का निराकरण करना है। उसमें भी सर्वप्रथम परमाणुकारणवादी वैशेषिकों ने ब्रह्मवादी वेदान्ती के ऊपर दोषारोपण किया है उसका समाधान दिया जाता है। वहाँ वैशेषिकों की यह मान्यता है कि कार्य के समवायी, असमवायी और निमित्त भेद से तीन कारण होते हैं। उनमें समवायी कारण द्रव्य ही होता है जिससे कार्य बनता है और उस समवायी कारण-द्रव्य में रहने वाले गुण कार्य-द्रव्य में समान जातिवाले गुणान्तर को उत्पन्न करते हैं। ऐसा ही लोक में देखा जाता है कि शुक्ल तन्तुओं से शुक्ल पट उत्पन्न होता है, नील पट उत्पन्न नहीं होता। यहाँ पर तन्तुओं से पट बना, इसलिए तन्तु पट का समवायी कारण है और तन्तुओं का संयोग पट का असमवायी कारण है, किन्तु पट रूप का समवायी कारण पट है और असमवायी कारण तन्तु रूप है। इसीलिए शुक्ल तन्तु से शुक्ल पट ही उत्पन्न होते देखा गया है, नील पट उत्पन्न होते नहीं देखा गया है। जब लोक में सर्वत्र ऐसा नियम है तो चेतन ब्रह्म को जगत्कारण मानने पर कार्यजगत् में चैतन्य का ही सम्बन्ध होना चाहिए किन्तु जगत् में चैतन्य नहीं अपितु जाड्य देखते हैं अतः चेतन ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता। वैशेषिकों की इस मान्यता में इन्हीं की प्रक्रिया से अग्रिम सूत्र द्वारा व्यभिचार दिखलाते हैं।

---

१. अणुकारणवादिना इति पाठान्तरम्।

(१८२) ¹महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥११॥

एषा तेषां प्रक्रिया-परमाणवः किल कंचित्कालमनारब्धकार्या यथायोगं रूपादिमन्तः पारिमाण्डल्यपरिमाणाश्च तिष्ठन्ति। ते च पश्चाददृष्टादिपुरःसराः संयोगस²चिवाश्च सन्तो द्व्यणुकादिक्रमेण कृत्स्नं कार्यजातमारभन्ते। कारणगुणाश्च कार्ये गुणान्तरम्। यदा द्वौ परमाणू द्व्यणुकमारभेते तदा परमाणुगता रूपादिगुणविशेषाः शुक्लादयो द्व्यणुके शुक्लादीनपरानारभन्ते। परमाणुगुणविशेषस्तु पारिमाण्डल्यं न द्व्यणुके पारिमाण्डल्यमपरमारभते, द्व्यणुकस्य परिमाणान्तरयोगाभ्युपगमात्। ³अणुत्वह्रस्वत्वे हि द्व्यणु-

---

सांख्यमतनिरासानन्तरं परमाणुवादो निराकर्तव्यः स्वमतस्थापनस्य स्मृतिपादे संगतत्वात्, तथापि पूर्वत्र प्रधानगुणानां सुखादीनां जगत्यनन्वयात्प्रधानस्यानुपादानत्वमुक्तं, तथा ब्रह्मगुणचैतन्यानन्वयाद्ब्रह्मणोऽपि नोपादानत्वमिति दोषो दृष्टान्तसंगतिलाभादत्र समाधीयत इत्यर्थः। चेतनाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गवादी वेदान्तसमन्वयो विषयः। स किं 'यः समवायिकारणगुणः स कार्यद्रव्ये स्वसमानजातीयगुणारम्भकस्तन्तुशौक्ल्यवदिति' न्यायेन विरुध्यते न वेति संदेहे न्यायस्याव्यभिचाराद्विरुध्यत इति प्राप्ते व्यभिचारान्न तद्विरोध इति सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—एषेत्यादिना। यद्यपि 'न विलक्षणत्वात्' (ब्र.२-१-४) इत्यत्र चेतनादचेतनसर्गः साधितस्तथापि वैशेषिकन्यायस्य तदीयप्रक्रियया व्यभिचारोक्त्यर्थत्वादस्य सूत्रस्य न गतार्थता। प्रलयकाले परमाणवो निश्चला असंयुक्तास्तिष्ठन्ति सर्गकाले चादृष्टवदात्मसंयोगात्तेषु ⁴कर्म भवति, ⁵तेन संयोगाद्द्रव्यान्तरसृष्टिर्भवति, कारणगुणाः कार्ये गुणान्तरमारभन्त इति सामान्येन प्रक्रियामुक्त्वा विशेषतस्तामाह—यदा द्वाविति। परमाणुः परिमण्डलः, तद्गतं परिमाणं पारिमाण्डल्यमित्युच्यते, तच्च स्वसमानजातीयगुणारम्भकं न भवतीत्युक्तन्यायस्य व्यभिचार इति भावः।

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् (ललिता)

वैशेषिकों की यह भी प्रक्रिया है कि चतुर्विध परमाणु कुछ काल तक अपना कार्य प्रारम्भ नहीं करते, किन्तु यथायोग्य रूपादि से युक्त हो स्थित रहते हैं। उन परमाणुओं का परिमाण पारिमाण्डल्य माना गया है अर्थात् पारिमाण्डल्य परिमाण से युक्त रूपादिमान परमाणु स्थित रहते हैं। वे ही परमाणु सर्गारम्भ में अदृष्टादि से प्रेरित हो, संयोग से सहकृत हो द्व्यणुकादि क्रमेण सम्पूर्ण जगत् को बनाते हैं और समवायी कारण परमाणुओं के गुण अपने कार्य द्व्यणुक में गुणान्तर के आरम्भक होते हैं। जब दो परमाणु द्व्यणुक को बनाते हैं तब परमाणुगत रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि विशेष गुण अपने कार्य द्व्यणुक में शुक्लादि रूप को उत्पन्न करते हैं। किन्तु परमाणुओं का गुणविशेष पारिमाण्डल्य भी है, वह द्व्यणुक कार्य में दूसरे पारिमाण्डल्य को उत्पन्न नहीं करता क्योंकि द्व्यणुक में परिमाणान्तर का सम्बन्ध माना गया है अर्थात् द्व्यणुक में अणुत्व और ह्रस्वत्व परिमाण वैशेषिक

---

१. वा शब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तथा च यथा ह्रस्वादद्व्यणुकान्महद्दीर्घत्र्यणुक यथा च परिमण्डलात् परमह्रस्वात्परमाणोरणु ह्रस्व द्व्यणुकं जायते तथा चेतनाब्रह्मण अचेतन जगज्जायत इति सूत्रार्थः। २. सहकारिणः। ३. परिमाणान्तरमेवाहाणुत्वेत्यादिना। ४. क्रिया जायते ५. कर्मणा।

कवर्तिनो परिमाणे वर्णयन्ति । यदापि द्वे द्व्यणुके चतुरणुकमारभेते तदापि समानं द्व्यणुकसमवायिनां शुक्लादीनामारम्भकत्वम् । अणुत्वह्रस्वत्वे तु द्व्यणुकसमवायिनी अपि नैवारभेते, चतुरणुकस्य महत्त्वदीर्घत्वपरिमाणयोगाभ्युपगमात् । यदापि बहवः परमाणवो बहूनि वा द्व्यणुकानि द्व्यणुकसहितो वा परमाणुः कार्यमारभते तदापि समानैषा योजना । तदेवं यथा परमाणोः परिमण्डलात्सतोऽणु ह्रस्वं च द्व्यणुकं जायते महद्दीर्घं च त्र्यणुकादि न परिमण्डलम्, यथा वा द्व्यणुकादणोर्ह्रस्वाच्च सतो महद्दीर्घं च त्र्यणुकं जायते नाणु नो ह्रस्वम्, एवं चेतनाद्ब्रह्मणोऽचेतनं जगज्जनिष्यत इत्यभ्युपगमे किं तव च्छिन्नम् ।

व्यभिचारस्थलान्तरमाह— यदापि द्वे इति । द्वे द्वे इति शब्दद्वयं पठितव्यम्, एवं सति चतुर्भिर्द्व्यणुकैश्चतुरणुकारम्भ उपपद्यते, यथाश्रुते तु द्वाभ्यां द्व्यणुकाभ्यां महतश्चतुरणुकस्यारम्भो न युज्यते, कारणगतं महत्त्वं बहुत्वं वा बिना कार्ये महत्त्वायोगादिति मन्तव्यम् । प्रकटार्थकारास्तु यद्द्वाभ्यां द्व्यणुकाभ्यामारब्धं कार्यं महत्त्व दृश्यते तस्य हेतुः [1]प्रचयो नाम प्रशिथिलावयवसंयोग इति रावणप्रणीते भाष्ये दृश्यत इति चिरन्तनवैशेषिकदृष्टमिदं भाष्यमित्याहुः । सर्वथापि द्व्यणुकगतह्रस्वत्वाणुत्वपरिमाणयोरनारम्भकत्वाद्व्यभिचारः । यद्यपि तार्किका द्वाभ्यामेव परमाणुभ्यां द्व्यणुकं त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्र्यणुकमिति कल्पयन्ति, तथापि तर्कस्याप्रतिष्ठानान्न नियम इति मत्वा ब्रूते—यदापि बहव इति । कारणगुणाः शुक्लादयः समानजातीयगुणारम्भकाः, कार्यद्रव्यपरिमाणं तु न कारणपरिमाणारम्भं किंतु कारणगतसंख्यारभ्यमिति प्रक्रिया तुल्येत्यर्थः । एवं प्रक्रियां दर्शयित्वा सूत्रं योजयन् व्यभिचारमाह—तदेवमिति । परमाणुभ्य एव महद्दीर्घं चेत्यनियतप्रक्रियामाश्रित्योक्तम् । नियतप्रक्रियामाश्रित्य व्यभिचारमाह—यथावेति । अणुह्रस्वेभ्यो द्व्यणुकेभ्योऽणु द्रव्यं न जायते ह्रस्वमपि न जायत इति व्यभिचार इत्यर्थः । सूत्रे वाशब्दश्चार्थोऽनुक्ताणुसमुच्चयार्थः । तथा च ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां द्व्यणुकपरमाणुभ्यां महद्दीर्घाणुवच्चेतनादचेतनं जायत इति सूत्रयोजना । तत्र ह्रस्वान्महद्दीर्घं त्र्यणुकं परिमण्डलादणु द्व्यणुकमिति विभागः ।

बतलाते हैं और जब द्व्यणुक मिलकर चतुरणुक को बनाते हैं तब भी समवायी कारण द्व्यणुक के शुक्लादि रूप तो चतुरणुक में दूसरे शुक्लादि रूप को अवश्य बनाते हैं किन्तु द्व्यणुक में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले अणुत्व और ह्रस्वत्व चतुरणुक कार्य में अपने समान जातिवाले परिमाण को उत्पन्न नहीं करते क्योंकि वैशेषिकों ने चतुरणुक में महत्त्व-दीर्घत्व परिमाण का सम्बन्ध स्वीकार किया है। और जब बहुत से परमाणु अथवा बहुत से द्व्यणुक या द्व्यणुकसहित परमाणु कार्य उत्पन्न करते हैं, तब भी यह योजना तुल्य ही रहती है। यहाँ पर जैसे पारिमाण्डल्य परिमाण से युक्त परमाणुओं से बना हुआ द्व्यणुक अणुत्व-ह्रस्वत्व पारिमाणवाला उत्पन्न होता है, वैसे ही त्र्यणुकादि महत्त्व एवं दीर्घत्व परिमाण से युक्त हो जाता है वे द्व्यणुक और त्र्यणुक पारिमाण्डल्य परिमाण से युक्त नहीं होते। और जैसे अणुत्व-ह्रस्वत्व परिमाणयुक्त द्व्यणुक से उत्पन्न होने वाला त्र्यणुक अणु एवं ह्रस्व नहीं होता, किन्तु उसमें महत्व एवं दीर्घत्व परिमाण की उत्पत्ति वैशेषिक मानते हैं। ऐसे ही चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् उत्पन्न हो जायेगा, ऐसा सिद्धान्त मानने में तुम वैशेषिकों की क्या क्षति हो रही है जिसकी तुम पूर्ति करना चाहते हो।

---

१. प्रचय इति शेषः ।

अथ मन्यसे विरोधिना परिमाणान्तरेणाक्रान्तं कार्यद्रव्यं द्व्यणुकादीत्यतो नारम्भकाणि कारणगतानि पारिमाण्डल्यादीनीत्यभ्युपगच्छामि, नतु चेतनाविरोधिना गुणान्तरेण जगत आक्रान्तत्वमस्ति, येन कारणगता चेतना कार्ये चेतनान्तरं नारभेत । न ह्यचेतना नाम चेतनाविरोधी कश्चिद्गुणोऽस्ति, चेतनाप्रतिषेधमात्रत्वात् 'तस्मात्पारिमाण्डल्यादिवैषम्यात्प्राप्नोति चेतनाया आरम्भकत्वमिति । मैवं मंस्थाः । यथा कारणे विद्यमानानामपि पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वमेवं चैतन्यस्यापीत्यस्यांशस्य समानत्वात् । नच परिमाणान्तराक्रान्तत्वं पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वे कारणं, प्राक्परिमाणान्तरारम्भात्पारिमाण्डल्यादीनामारम्भकत्वोपपत्तेः । आरब्धमपि कार्यद्रव्यं प्राग्गुणारम्भात्क्षणमात्रमगुणं तिष्ठतीत्यभ्युपगमात् । नच परिमाणान्तरारम्भे [1]व्यग्राणि पारिमाण्डल्यादीनीत्यतः स्वसमानजातीयं परिमाणान्तरं नारभन्ते परिमाणान्तरस्यान्यहेतुत्वाभ्युपगमात् । 'कारण-

दृष्टान्तवैषम्यं शङ्कते—अथ मन्यस इति । अचेतनैव विरोधिगुण इत्यत आह—न ह्यचेतनेति । कार्यद्रव्यस्य परिमाणान्तराक्रान्तत्वमङ्गीकृत्य विवक्षितांशसाम्यमाह—मैवमिति । अङ्गीकारं त्यजति—नचेति । उत्पन्नं हि परिमाणान्तरं विरोधि भवति, तदुत्पत्तेः प्राग्विरोध्यभावात् द्व्यणुके पारिमाण्डल्यारम्भः किं न स्यादित्यर्थः । ननु विरोधिपरिमाणेन सहैव द्रव्यं जायत इत्यत आह-आरब्धमपीति । सहोत्पत्तावपसिद्धान्तः । अतो विरोध्यभावः सिद्ध इति भावः । अणुत्वाद्यारम्भे व्यग्रत्वात् पारिमाण्डल्यादेः स्वसमानगुणानारम्भकत्वमित्याशङ्क्य निषेधति—नचेति । [2]व्यग्रत्वमन्यथासिद्धम् । तत्र हेतु —परिमाणान्तरस्येति । अन्यहेतुकत्वे सूत्राण्युदाहरति–कारणेति । कारणानां द्व्यणुकानां बहुत्वात् त्र्यणुके

वैशेषिक – यदि म नें कि पारिमाण्डल्य परिमाण के विरोधी ह्रस्वत्व-अणुत्व परिमाण से द्व्यणुकादि कार्य आक्रान्त हैं, इसीलिए परमाणुकारणगत पारिमाण्डल्यादि द्व्यणुक में समान जातिवाले परिमाण के आरम्भक नहीं है, ऐसा मैं वैशेषिक मानता हूँ किन्तु चेतन के विरोधी किसी दूसरे गुण से जगत् आक्रान्त नहीं है जिससे कारणब्रह्मगत चेतना कार्यजगत् में चेतनान्तर का आरम्भक न बने क्योंकि अचेतनात्मक कोई चेतनाविरोधी गुण लोक या शास्त्र में प्रसिद्ध नहीं है, अचेतना पद से केवल चेतना का प्रतिषेधमात्र हो हाता है । अतः पारिमाण्डल्यादि की अपेक्षा ब्रह्मगत चेतना में वैषम्य होने के कारण आरम्भकत्व रहेगा ही । वेदान्ती–ऐसा नहीं मान सकते हो । जैसे कारण परमाणु में रहते हुए भी पारिमाण्डल्यादि से द्व्यणुकगत परिमाण का आरम्भक नहीं होता, ऐसे ही ब्रह्मगत चैतन्य भी कार्यजगत् में चैतन्य का आरम्भक नहीं होगा; इस अंश में दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्त में समानता है ही । परमाणुगत पारिमाण्डल्यादि द्व्यणुकादि में समानजातिवाले पारिमाण्डल्यान्तर को उत्पन्न नहीं करते इसमें परिमाणान्तराक्रान्तत्व कारण नहीं है क्योंकि द्व्यणुक परिमाणान्तर आरम्भ से पूर्व परमाणुगत पारिमाण्डल्यादि अपने समानजातिवाले गुण का आरम्भक हो ही सकता था । उत्पन्न हुआ कार्यद्रव्य भी गुणारम्भ से पूर्व एक क्षण निर्गुण ही रहता है, ऐसा आप ने मान ही रखा है । द्व्यणुक में परिमाणान्तर आरम्भ के लिए तद्गत पारिमाण्डल्यादि व्यग्र नहीं है जिससे कि अपने समानजातिवाले परिमाणान्तर के आरम्भक न हों । द्व्यणुकगत परिमाणान्तर का कारण कुछ दूसरा ही आप ने माना

१. व्यग्रो व्यासक्त आकुले इत्यमरः । व्यासक्ते द्विधाऽव्यापृते आकुलेऽनेकार्थे न्यस्तचित्ते व्यग्र इति तदर्थः ।
२. स्वसमानगुणानारम्भकत्वे व्यग्रत्वरूपं यत्कारणमुक्तं तदन्यथासिद्धमित्यर्थः ।

बहुत्वात्कारणमहत्त्वात्प्रचयविशेषाच्च महत्' (वै० सू० ७-१-९), 'तद्विपरीतमणु' (७-१-१०), 'एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते' (७-१-१७) इति हि काणभुजानि सूत्राणि। न च संनिधानविशेषात्कुतश्चित्कारणबहुत्वादीन्येवारभन्ते, न पारिमाण्डल्यादीनीत्युच्येत, द्रव्यान्तरे गुणान्तरे वारभ्यमाणे सर्वेषामेव कारणगुणानां स्वाश्रयसमवायाविशेषात्। तस्मात्स्वभावादेव पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वं, तथा चेतनाया अपीति द्रष्टव्यम्।

महत्त्वं, मृदो महत्त्वाद्घटे महत्त्वं, द्वितूलपिण्डारब्धेऽतिस्थूलतूलपिण्डे प्रचयादवयवसंयोगविशेषान्महत्त्वमित्यर्थः। महत्त्वविरुद्धमणुत्वं परमाणुगतद्वित्वसंख्यया द्व्यणुके भवतीत्याह—तदिति। यन्महत्त्वस्यासमवायिकारणं तदेव महत्त्वसमानाधिकरणस्य दीर्घत्वस्य, यच्चाणुत्वस्यासमवायिकारणं, तदेवाणुत्वाविनाभूतह्रस्वत्वस्यासमवायिकारणमित्यतिदिशति—एतेनेति। अतो महत्त्वाद्यवहेतुत्वात्पारिमाण्डल्यादीनां व्यग्रत्वमसिद्धमिति भावः। तेषां संनिधिविशेषाभावान्न समानगुणारम्भकत्वमित्यपि न वाच्यमित्याह—नचेति। पारिमाण्डल्यादीनामपि बहुत्वादिवत्समवायिकारणगतत्वाविशेषादित्यर्थः। तेषामनारम्भकत्वे कार्यद्रव्यस्य विरोधिगुणाक्रान्तत्वं व्यग्रत्वमसंनिधिर्वा न हेतुरित्युक्तिफलमाह—तस्मादिति। यत्तु कारणगुणः स्वसमानगुणारम्भक इति व्याप्तेः सामान्यगुणेषु पारिमाण्डल्यादिषु व्यभिचारेऽपि यो द्रव्यसमवायिकारणगतो विशेषगुणः स स्वसमानजातीयगुणारम्भक इति व्याप्तेश्चैतन्यस्य विशेषगुणत्वादारम्भकत्वं दुर्वारमिति, तन्मन्दं, चित्रपटहेतुतन्तुगतेषु नीलादिरूपेषु विजातीयचित्ररूपहेतुषु व्यभिचाराच्चैतन्यस्यात्मत्वेन गुणत्वाभावाच्चेति मन्तव्यम्। तस्माच्चेतनाद्विजातीया-

---

है, कार्यद्रव्य त्र्यणुकादि में महत्व परिमाण आरम्भ का कारण भिन्न ही आप ने माना है; वह है 'कारण बहुत्व, कारण महत्व और प्रचयविशेष' अर्थात् त्र्यणुक में महत्त्वारम्भ का कारण है परमाणुगत बहुत्व, घटादि कार्यगत महत्त्वारम्भ का हेतु है मृत्तिकागत महत्त्व और स्थूल रुई की ढेर में महत्त्वारम्भ का कारण है और उसके पिण्ड में भी अवयवसयोगविशेष का शैथिल्य। 'महत्त्व के विरुद्ध अणुत्व जो द्व्यणुक में उत्पन्न हुआ है उसका हेतु है परमाणुगत द्वित्व संख्या', 'जो बहुत्व संख्या महत्व का असमवायी कारण है वही महत्व के सामानाधिकारण्य दीर्घत्व का भी कारण है।' इससे दीर्घत्व और ह्रस्वत्व की उत्पत्ति प्रसंग का भी उत्तर हो गया। क्योंकि जहाँ महत्त्व है वहीं दीर्घत्व है, इन दोनों की उत्पत्ति में हेतु है कारणगत बहुत्व; और जहाँ अणुत्व है वहीं ह्रस्वत्व भी है, इसकी उत्पत्ति में हेतु है परमाणुगत द्वित्व। अतः ऐसे प्रसङ्ग पर कणाद के तीन सूत्रों को उद्धृत करना आवश्यक समझा। समवायी कारण परमाणु के साथ किसी सन्निधानविशेष के कारण उनमें रहने वाली बहुत्व आदि संख्या ही अपने कार्य द्व्यणुकादि में परिमाणान्तर को उत्पन्न करेगी, पारिमाण्डल्यादि द्व्यणुकादि कार्य में परिमाणान्तर को उत्पन्न नहीं करेंगे, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि द्रव्यान्तर और गुणान्तर के निर्माण में सभी कार्यगुणों का अपने आश्रय के साथ समवायसम्बन्ध तुल्य ही है। ऐसी स्थिति में परमाणुगत संख्या द्व्यणुकादि में परिमाणान्तर को उत्पन्न करे और पारिमाण्डल्यादि न करे, इसमें कोई विनिगमक नहीं है। अतः पारिमाण्डल्यादि में परिमाणान्तर का अनारम्भकत्व स्वभाव से ही है। वैसे ही हम वेदान्ती के मत में ब्रह्मगत चेतना भी कार्यजगत् में अपने समान चैतन्य गुण को उत्पन्न नहीं करती, ऐसा समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त भी वैशेषिक पक्ष में एक दोष है कि संयोग गुण

संयोगाच्च द्रव्यादीनां विलक्षणानामुत्पत्तिदर्शनात्समानजातीयोत्पत्त्यव्यभिचारः।

द्रव्ये प्रकृते गुणोदाहरणमयुक्तमिति चेत् । न । दृष्टान्तेन विलक्षणारम्भमात्रस्य विवक्षितत्वात् । नच द्रव्यस्य द्रव्यमेवोदाहर्तव्यं गुणस्य वा गुण एवेति कश्चिन्नियमे हेतुरस्ति । सूत्रकारोऽपि भवतां द्रव्यस्य गुणमुदाजहार—'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात्संयोगस्य पञ्चात्मकं न विद्यते' (वै० सू० ४-२-२) इति । यथा प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयोर्भूम्याकाशयोः समवयन्संयोगोऽप्रत्यक्षः, एवं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षेषु पञ्चसु भूतेषु समवयच्छरीरमप्रत्यक्षं स्यात् । प्रत्यक्षं हि शरीरम् । तस्मान्न पाञ्चभौतिकमिति । एतदुक्तं भवति—गुणश्च संयोगो द्रव्यं शरीरम् । 'दृश्यते तु' (ब्र० सू० २-१-६) इति चात्रापि विलक्षणोत्पत्तिः प्रपञ्चिता । नन्वेवं सति तेनैवैतद्गतम् । नेति ब्रूमः । तत्सांख्यं प्रत्युक्तम्, एतत्तु वैशेषिकं प्रति । नन्वतिदेशोऽपि समानन्यायतया कृतः 'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः' (ब्र० सू०

रम्भो युक्त इति स्थितम् । तत्रोदाहरणान्तरमाह— संयोगाच्चेति ।

ननु चेतनं ब्रह्म कार्योपादानत्वाद्द्रव्यं, तत्र विलक्षणस्योपादानमिति प्रकृते किंचिद्द्रव्यमेव विलक्षणकार्यकरमुदाहर्तव्यं, न संयोगस्य गुणस्योदाहरणमिति शङ्कते—द्रव्य इति । गुणात् द्रव्यवच्चेतनादचेतनारम्भ इति विलक्षणारम्भकत्वांशेऽयं दृष्टान्त इति परिहरति—नेति । अनियमः कणादसंमत इत्याह—सूत्रकारोऽपीति । एतावता कथमनियमः ? तत्राह—एतदुक्तमिति । न विलक्षणत्वन्यायेनपुनरुक्त्यभावेऽतिदेशाधिकरणेन पुनरुक्तिरिति शङ्कते—नन्वतिदेश इति । समानगुणारम्भनियमस्य पारि-

---

से विलक्षण द्रव्यादि की उत्पत्ति मानी गयी है अर्थात् कपालद्वय के संयोग से घट उत्पन्न होता है और तन्तुओं के संयोग से पट उत्पन्न होता है, पर संयोग गुण है और घट एवं पट द्रव्य हैं, दोनों में समानजातीयता नहीं है । ऐसे ही चेतन ब्रह्म से विजातीय जगत् की उत्पत्ति भी मानी जा सकती है ।

वैशेषिक—द्रव्य के प्रसङ्ग में गुण का उदाहरण देना ठीक नहीं है, ऐसा यदि वैशेषिक कहता हो तो उनका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इस दृष्टान्त से विलक्षण आरम्भमात्र बतलाना ही हमें अभीष्ट है द्रव्यारम्भ के लिए द्रव्य का ही उदाहरण देना चाहिए, ऐसा नियम मानने में कोई हेतु नहीं है । आप के सूत्रकार कणाद ने भी द्रव्य के प्रसङ्ग में गुण का उदाहरण दिया है पृथ्वी का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता; तो दोनों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले संयोग का जैसे प्रत्यक्ष नहीं होता है, ऐसे ही पृथ्वी, जल, तेज का प्रत्यक्ष होता है किन्तु वायु और आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता । इन पञ्चभूतों से बने हुए शरीर का भी प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए किन्तु शरीर का प्रत्यक्ष होना सर्वानुभवसिद्ध है । अतः यह शरीर पाञ्चभौतिक नहीं है किन्तु पार्थिव है । अभिप्राय यह है कि संयोग गुण है और शरीर द्रव्य है, द्रव्य के लिए गुण का उदाहरण वैशेषिक दर्शन में भी आया है । ऐसे ही द्रव्य प्रसङ्ग में गुण का उदाहरण देना हमारा असङ्गत नहीं है । 'दृश्यते तु' इस सूत्र में भी कारण से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति बतलायी जा चुकी है । पूर्वपक्ष—इस प्रकार तो उसी सूत्र से वैशेषिक पक्ष का निराकरण हो चुका था, यहाँ पर पुनः निराकरण की आवश्यकता नहीं है। वेदान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं । वहाँ पर सांख्य पक्ष का निराकरण किया गया था किन्तु यहाँ वैशेषिक पक्ष का निराकरण किया गया है । पूर्वपक्ष—समान न्याय से 'एतेन शिष्टापरिग्रहाअपि व्याख्याताः' इस सूत्र से अतिदेश द्वारा वैशेषिक पक्ष का निराकरण हो चुका है । सिद्धान्ती—आप

३. परमाणुजगदकारणत्वाधिकरणम् (सू. १२-१७)

(१८३) उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥१२॥

जनयन्ति जगन्नो वा सयुक्ताः परमाणवः ॥ आद्यकर्मजसंयोगाद्द्व्यणुकादिक्रमाज्जनिः ॥
सनिमित्तानिमित्तादिकल्पेष्वाद्यकर्मणः ॥ असम्भवादसयोगे जनयन्ति न ते जगत ॥

२-१-१२) इति। सत्यमेतत्। तस्यैव त्वयं वैशेषिकप्रक्रियारम्भे तत्प्रक्रियानुगतेन निदर्शनेन प्रपञ्चः कृतः ॥११॥

इदानीं परमाणुकारणवादं निराकरोति। स च वाद इत्थं समुत्तिष्ठते—पटादीनि हि लोके सावयवानि द्रव्याणि स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तन्त्वादिभिर्द्रव्यैरारभ्यमाणानि

माण्डल्यादिदृष्टान्तेन भङ्गार्थमस्यारम्भ इत्याह—सत्यमिति। तस्यैवातिदेशस्येत्यर्थः ॥११॥

वैशेषिकमतपरीक्षामारभते—उभयथापि न कर्मातस्तदभावः। नास्य प्रासङ्गिकेन पूर्वाधिकरणेन संगतिरपेक्षितेति मन्वानः प्रधानस्येश्वरानधिष्ठितस्याकारणत्वेऽपि परमाणूनां तदधिष्ठितानां कारणत्वमस्त्विति प्रत्युदाहरणसंगत्या सांख्याधिकरणानन्तर्यमस्य वदंस्तात्पर्यमाह—इदानीमिति। द्व्यणुकादिक्रमेण परमाणुभिर्जगदारभ्यत इति वैशेषिकराद्धान्तोऽत्र विषयः। स किं मानमूलो भ्रान्तिमूलो वेति संदेहे पूर्वपक्षयति—स चेति। तैः पटादिभिः सामान्यं क्षित्यादेः कार्यद्रव्यत्वं तेनेत्यर्थः। विमतं सावयवं क्षित्यादिकं स्वन्यूनपरिमाणसंयोगसचिवानेकद्रव्यारब्धं, कार्यद्रव्यत्वात्, पटादिवदिति प्रयोगः। स्वेष्ट-

---

का यह कथन सत्य ही है। उसी निराकृत पक्ष का यहाँ पर वैशेषिक परीक्षारम्भ प्रसङ्ग में उनकी प्रक्रिया में अनुगत दृष्टान्त से विस्तार किया गया है अर्थात् अतिदेश द्वारा वैशेषिक पक्ष का निराकरण किया गया था, उसी का उनकी प्रक्रिया में अनुगत दृष्टान्त द्वारा पुनः विस्तार से निराकरण किया जा रहा है, अतः पुनरुक्ति की आशङ्का नहीं होनी चाहिए ॥११॥

३. परमाणुजगदकारणत्वाधिकरण

१. **सङ्गति**—अचेतन प्रधान जगत् का कारण भले ही न हो पर नित्यज्ञानादि गुणयुक्त ईश्वर से अधिष्ठित परमाणु तो जगत् का कारण हो ही सकता है ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. **विषय**—परमाणुकारणवाद वैशेषिक सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—संयुक्त परमाणु जगत उत्पन्न कर सकते हैं या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—सर्गारम्भ में परमाणुओं में क्रिया उत्पत्ति का कारण अदृष्ट है, उससे दो परमाणुओं में संयोग होता है और द्व्यणुकादि क्रम से जगत् की उत्पत्ति होती है।

५. **सिद्धान्त**—सर्गारम्भ में क्रिया उत्पत्ति का निमित्त मानो या न मानो, दोनों ही दशा में परमाणु जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकते। अतः वैशेषिक सिद्धान्त से वेदान्त समन्वय में कोई विरोध नहीं आता है।

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः (ललिता)

अब भगवान् बादरायण परमाणुकारणवाद का निराकरण करते हैं। वह वाद इस प्रकार खड़ा होता है कि लोक में सावयव पटादि स्वानुगत संयोग से सहकृत हो तन्तु आदि द्रव्यों से बनते देखे गये हैं,

दृष्टानि । तत्सामान्येन यावत्किंचित्सावयवं तत्सर्वं स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तैस्तैर्द्रव्यै-रारब्धमिति गम्यते । स चायमवयवावयविविभागो यतो निवर्तते, सोऽपकर्षपर्यन्तगतः परमाणुः । सर्वं चेदं जगद्गिरिसमुद्रादिकं सावयवं, सावयवत्वाच्चाद्यन्तवत् । न चाकारणेन कार्येण भवितव्यमित्यतः परमाणवो जगतः कारणमिति कणभुगभिप्रायः । तानीमानि चत्वारि भूतानि भूम्युदकतेजःपवनाख्यानि सावयवान्युपलभ्य चतुर्विधाः परमाणवः परिकल्प्यन्ते । तेषां चापकर्षपर्यन्तगतत्वेन परतो विभागासम्भवाद्विनश्यतां पृथिव्यादीनां परमाणुपर्यन्तो विभागो भवति, स प्रलयकालः । ततः सर्गकाले च वायवीयेष्वणुष्वदृष्टापेक्षं कर्मोत्पद्यते, तत्कर्म स्वाश्रयमणुमण्वन्तरेण संयुनक्ति, ततो द्व्यणुकादिक्रमेण वायुरुत्पद्यते । एवमग्निरेवमाप एवं पृथिवी । एवमेव शरीरं सेन्द्रियमिति । एवं सर्वमिदं जगदणुभ्यः सम्भवति । अणुगतेभ्यश्च रूपादिभ्यो द्व्यणुकादिगतानि रूपादीनि सम्भवन्ति तन्तुपट-

---

परमाणुसिद्ध्यर्थानि साध्यविशेषणानि । नन्वेतावता कथं परमाणुसिद्धिः? तत्राह—स चायमिति । विमतं सावयवत्वं पक्षतावच्छेदकं यतो निवर्तते, स न्यूनपरिमाणस्यापकर्षस्य पर्यन्तत्वेनावसानभूमित्वेनावगतः परमाणुरित्यर्थः । यावत्सावयवमनुमानप्रवृत्तेः द्व्यणुकन्यूनद्रव्यं निरवयवं सिध्यतीति भावः । जगन्नित्यत्ववादात् कार्यद्रव्यत्वहेत्वसिद्धिरिति [2]वदन्तं प्रत्याह—सर्वं चेति । विमतमाद्यन्तवत्, सावयवत्वात्, पटवदित्यर्थः । हेतोरसिद्धिं निरस्याप्रयोजकत्वं निरस्यति—नचेति । ते कतिविधा इत्याकाङ्क्षायामाह—तानीति । प्रलये चैषामपि नाशाञ्च जगत्कारणत्वमित्याशङ्क्याह—तेषां चेति । अवयवानां विभागान्नाशाद्वावयविनो नाशः । परमाणूनां निरवयवत्वेनावयवविभागादेर्नाशहेतोरसंभवान्न नाश इत्यर्थः । तेषां नित्यत्वे फलितं सृष्टिक्रममाह—तत इति । एवं काणादमतस्य मानमूलत्वात्तेन वेदान्त-

---

इस दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि सावयव जो कुछ भी जगत् है वह संयोग से सहकृत हो कारण-द्रव्य द्वारा बनता है । यहाँ पर एक अनुमान किया जाता है कि सावयव पृथिव्यादि संयोगसहकृत अपने न्यून परिमाणवाले अनेक द्रव्यों से उत्पन्न होता है, कार्यद्रव्य होने के कारण, पटादि की भाँति । यह अवयवावयवीविभाग जहाँ पर समाप्त हो जाता है ऐसे अत्यन्त निम्न द्रव्य को परमाणु कहते हैं । यह सम्पूर्ण गिरि, समुद्रादि जगत् सावयव है और सावयव होने के कारण आदि-अन्तवाला भी है । कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं बनता; अतः जगत् का कारण परमाणु ही है ऐसा कणाद ऋषि का अभिप्राय है । पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चारों द्रव्यों को सावयव देखकर इनके चतुर्विध परमाणुओं की कल्पना करनी पड़ती है । इनके अपकर्षपर्यन्त जाने से जिसके बाद विभाग होना सम्भव नहीं है वहाँ नाशवान पृथिव्यादि के परमाणुपर्यन्त विभाग को प्रलय कहते हैं । प्रलय के बाद सर्गारम्भ में वायवीय परमाणुओं में जीवों के अदृष्ट की अपेक्षाकर कर्म उत्पन्न होता है, वही कर्म अपने आश्रय परमाणु को अन्य परमाणुओं के साथ जोड़ता है, उससे क्रमशः द्व्यणुकादि वायु उत्पन्न होते हैं । यही क्रम अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति में भी है । इन्द्रियों के सहित यह शरीर इसी क्रम से उत्पन्न होता है । इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् परमाणुओं से उत्पन्न होता है और परमाणुगत रूपादि गुणों से द्व्यणुकादि में रूप उत्पन्न होते हैं, जैसे तन्तुओं से पट बनता है और तन्तुगत रूप से पटरूप बनता है । ऐसी

---

२. सांख्यमिति शेषः ।

न्यायेनेति काणादा मन्यन्ते ।

तत्रेदमभिधीयते—विभागावस्थानां तावदणूनां संयोगः कर्मापेक्षोऽभ्युपगन्तव्यः, कर्मवतां तन्त्वादीनां संयोगदर्शनात् । कर्मणश्च कार्यत्वान्निमित्तं किमप्यभ्युपगन्तव्यम् । अनभ्युपगमे निमित्ताभावान्नाणुष्वाद्यं कर्म स्यात् । अभ्युपगमेऽपि यदि प्रयत्नोऽभिघातादिर्वा (अथा) यथादृष्टं किमपि कर्मणो निमित्तमभ्युपगम्येत, तस्यासंभवान्नैवाणुष्वाद्यं कर्म स्यात् । नहि [1]तस्यामवस्थायामात्मगुणः प्रयत्नः संभवति, शरीराभावात् । शरीरप्रतिष्ठे हि मनस्यात्मनः संयोगे सत्यात्मगुणः प्रयत्नो जायते । एतेनाभिघाताद्यपि दृष्टं निमित्तं प्रत्याख्यातव्यम् । सर्गोत्तरकालं हि तत्सर्वं नाद्यस्य कर्मणो निमित्तं संभवति ।

समन्वयस्य विरोधादसिद्धिरिति पूर्वपक्षे फलम् ।

तस्य भ्रान्तिमूलत्वादविरोध इति सिद्धान्तयति—तत्रेदमिति । प्रलये विभक्तानां परमाणूनामन्यतरकर्मणोभयकर्मणा वा संयोगो वाच्यः, कर्मणश्च निमित्तं प्रयत्नादिकं दृष्टं, यथा प्रयत्नवदात्मसंयोगाद्देहचेष्टा, वाय्वाद्यभिघाताद्वृक्षादिचलनं, हस्तनोदनादिष्वादिगमनं, तद्वदणुकर्मणो दृष्टं निमित्तमभ्युपगम्यते न वा । द्वितीये कर्मानुत्पत्तिः । नाद्यः, प्रयत्नादेः सृष्टयुत्तरकालीनत्वादित्युभयथापि न कर्म संभवति । अतः कर्मासंभवात्तस्य संयोगपूर्वकद्व्यणुकादिसर्गस्याभाव इति सूत्रार्थः । स्थिरस्य वेगवद्द्रव्यसंयोगविशेषोऽभिघातः, स एव चलस्य नोदनमिति भेदः ।

स्थिति में पट का समवायी कारण तन्तु है और तन्तुओं का संयोग पट का असमवायी कारण है। पटरूप का समवायी कारण पट है और असमवायी कारण तन्तुरूप है, ऐसा वैशेषिक मानते हैं ।

सिद्धान्ती—इस पर हमें यह कहना है कि प्रलयकाल में विभागावस्था को प्राप्त अणुओं का संयोग कर्म की अपेक्षा करके ही हो सकेगा क्योंकि कर्मयुक्त तन्तुओं के संयोग से पटकार्य उत्पन्न होते देखा गया है । कर्म भी एक कार्य है, उसकी उत्पत्ति के लिए भी कोई निमित्त मानना ही पड़ेगा । निमित्त न मानने पर परमाणुओं में आद्यकर्म उत्पन्न नहीं हो सकेगा और उस आद्यकर्म की उत्पत्ति के लिए निमित्त मानने पर भी यह प्रश्न होगा कि उस कर्म का निमित्त प्रयत्न है अथवा अभिघातादि है । जैसे लोक में कर्म के निमित्त प्रयत्न और अभिघात देखे गये हैं वैसा ही सर्गारम्भ में भी मानना पड़ेगा। इनमें से प्रयत्न को परमाणुओं के आद्यकर्म का निमित्त नहीं कह सकते क्योंकि उसका होना उस समय सम्भव नहीं है । सृष्टि से पूर्वावस्था में जब शरीर ही नहीं है तब आत्मा का गुण, प्रयत्न उस दशा में कैसे हो सकेगा । शरीर में जब मन प्रतिष्ठित होता है तब आत्मा और मन का संयोग होने पर आत्मा में प्रयत्नरूप गुण उत्पन्न होता है जिसका शरीर के बिना होना सम्भव नहीं है । किसी स्थिर वस्तु का जब वेगवान द्रव्य के साथ विलक्षण संयोग होता है जिससे शब्द उत्पन्न हो जाता है उसी संयोगविशेष को अभिघात कहते हैं और वह संयोगविशेष जब चल पदार्थ में होता है तब उसे नोदन कहते हैं । जब परमाणुओं में आद्यकर्म का निमित प्रयत्न सिद्ध न हो सका तब इसी से अभिघातादि दृष्ट निमित्त भी निरस्त हो गये क्योंकि सृष्टि के बाद होने वाले ये सब पदार्थ आद्यकर्म के निमित्त नहीं हो सकते ।

---

१ सृष्टेः प्रागवस्थायाम् ।

अथादृष्टमाद्यस्य कर्मणो निमित्तमित्युच्येत । तत्पुनरात्मसमवायि वा स्यादणुसमवायि वा। उभयथापि नादृष्टनिमित्तमणुषु कर्मावकल्पेतादृष्टस्याचेतनत्वात् । न ह्यचेतनं चेतनेनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं प्रवर्तते, प्रवर्तयति वेति सांख्यप्रक्रियायामभिहितम् । आत्मनश्चानुत्पन्नचैतन्यस्य तस्यामवस्थायामचेतनत्वात् । आत्मसमवायित्वाभ्युपगमाच्च नादृष्टमणुषु कर्मणो निमित्तं स्यादसम्बन्धात् ।

अदृष्टवता पुरुषेणास्त्यणूनां सम्बन्ध इति चेत्, सम्बन्धसातत्यात्प्रवृत्तिसातत्यप्रसङ्गो नियामकान्तराभावात्। तदेवं नियतस्य कस्यचित्कर्मनिमित्तस्याभावान्नाणुष्वाद्यं कर्म स्यात्। कर्माभावात्तन्निबन्धनः संयोगो न स्यात्। संयोगाभावाच्च तन्निबन्धनं द्व्यणुकादि कार्यजातं न स्यात् । संयोगश्चाणोरण्वन्तरेण सर्वात्मना वा स्यादेकदेशेन वा । सर्वात्मना चेदुपचया-

---

दृष्टनिमित्ताभावेऽप्यदृष्टवदात्मसंयोगादणुषु कर्मेति शङ्कते—अथादृष्टमिति । विकल्पपुरःसरं दूषयति—तत्पुनरिति । जडात्मवदणोराश्रयत्वं किं न स्यादितिमत्वा विकल्पः कृत इति मन्तव्यम् । अत्रापि सूत्रं योजयति—उभयथेति । जीवाधिष्ठितमदृष्टं निमित्तमस्त्वित्यत आह—आत्मनश्चेति । अचेतनत्वान्नाधिष्ठातृत्वमिति शेषः । भिन्नेश्वरस्याधिष्ठातृत्वमग्रे निराकरिष्यते । अचेतनत्वमदृष्टस्य कर्मनिमित्तत्वाभावे हेतुरुक्तः । हेत्वन्तरमाह—आत्मसमवायित्वेति ।

गुरुत्ववददृष्टमपि स्वाश्रयसंयुक्ते क्रियाहेतुरिति शङ्कते—अदृष्टवतेति । विभुसंयोगस्याणुषु सदा सत्त्वात् क्रियासातत्ये प्रलयाभावः स्यादिति दूषयति—सम्बन्धेति । कादाचित्कप्रवृत्तेरदृष्टनियम्यत्वायोगेऽपीश्वरान्नियम इत्यत आह—नियामकान्तरेति। यज्ज्ञानं तच्छरीरजन्यमिति व्याप्तिविरोधेन नित्यज्ञानासिद्धेस्तद्गुण ईश्वरो नास्ति, अस्तित्वेऽपि सदा सत्त्वान्न नियामकत्वमिति भावः । सूत्रार्थं निगमयति—तदेवमिति । संयोगस्य हेतुत्वं खण्डयित्वा स्वरूपं खण्डयति—संयोगश्चाणोरिति । संयोगस्य व्याप्य-

---

और यदि आद्यकर्म का निमित्त अदृष्ट को मानोगे तो प्रश्न होगा कि वह अदृष्ट आत्मा में समवेत है अथवा परमाणुओं में समवेत है। दोनों ही प्रकार से वह अदृष्ट परमाणुओं में कर्म उत्पत्ति के प्रति निमित्त नहीं हो सकता क्योंकि अदृष्ट स्वयं अचेतन है वह अचेतन अदृष्ट चेतन से अधिष्ठित हुए बिना स्वतन्त्ररूप से न प्रवृत्त हो सकता है और न दूसरे को प्रवृत्त कर सकता है, ऐसा हम सांख्यों की परीक्षा में कह चुके हैं। उस अवस्था में आत्मा में चैतन्य गुण न उत्पन्न होने के कारण आत्मा भी अचेतन ही है, ऐसे आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला अदृष्ट परमाणुओं में आद्यकर्म का निमित्त हो ही नहीं सकता क्योंकि परमाणुओं के साथ उस अदृष्ट का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यदि अदृष्टविशिष्ट आत्मा के साथ परमाणुओं का सम्बन्ध मानो तो वह सम्बन्ध सदा से है वैसी स्थिति में सदा प्रवृत्ति होने लग जायेगी। कभी प्रवृत्ति होगी और कभी नहीं होगी, इसका कोई नियामक नहीं है। इस प्रकार कर्म का कोई नियत निमित्त न होने के कारण सर्गारम्भ में परमाणुओं में आद्यकर्म नहीं हो सकते और कर्म न होने पर तन्निमित्तक संयोग नहीं हो सकता, संयोग न होने पर संयोगनिमित्तक द्व्यणुकादि कार्य नहीं हो सकते।

एक और प्रश्न यहाँ सामने आता है कि परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ सर्वात्मना संयोग होगा अथवा एकदेशेन संयोग होगा। सर्वात्मना संयोग मानने पर द्व्यणुक में वृद्धि नहीं हो सकेगी, फिर तो दो परमाणु से उत्पन्न होने वाला द्व्यणुक अणुमात्र ही रह जायेगा। साथ ही संयोग को

नुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गो दृष्टविपर्ययप्रसङ्गश्च । प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगस्य दृष्टत्वात् । एकदेशेन चेत्सावयवत्वप्रसङ्गः । परमाणूनां कल्पिताः प्रदेशाः स्युरितिचेत् । कल्पितानामवस्तुत्वादवस्त्वेव संयोग इति वस्तुनः कार्यस्यासमवायिकारणं न स्यात् । असति चासमवायिकारणे द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यं नोत्पद्येत । यथा चादिसर्गे निमित्ताभावात्संयोगोत्पत्त्यर्थं कर्म नाणूनां सम्भवत्येवं महाप्रलयेऽपि विभागोत्पत्त्यर्थं कर्म नैवाणूनां सम्भवेत् । नहि तत्रापि किंचिन्नियतं तन्निमित्तं दृष्टमस्ति अदृष्टमपि भोगप्रसिद्ध्यर्थं न प्रलयप्रसिद्ध्यर्थमित्यतो निमित्ताभावान्न स्यादणूनां संयोगोत्पत्त्यर्थं विभागोत्पत्त्यर्थं वा कर्म । अतश्च संयोग विभागाभावात्तदायत्तयोः सर्गप्रलययोरभावः प्रसज्येत । तस्मादनुपपन्नोऽयं परमाणुकारणवादः ॥१२॥

वृत्तित्वे एकस्मिन्नितरस्यान्तर्भावात्कार्यस्य पृथुत्वायोगात् सर्वं कार्यं परमाणुमात्रं स्यादित्यर्थः । किंच सांशद्रव्ये संयोगस्यैकांशवृत्तित्वं दृष्टं, तद्विरोधाद्व्याप्यवृत्तित्वं न कल्प्यमित्याह—दृष्टेति । परमाणोः संयोग एकदेशेन चेदिति सम्बन्धः । दिग्भेदेन कल्पितप्रदेशस्थसंयोगस्यापि कल्पितत्वात्ततः कार्यं नोत्पद्येत, उत्पन्नं वा मिथ्या स्यादित्यपसिद्धान्त इत्यर्थः । काणादानां सर्गप्रत्युक्तौ सूत्रं योजयित्वा प्रलयनिरासेऽपि सूत्रं योजयति—यथा चेति । परमाणूनां कर्मणा संयोगात्सर्गः, विभागात्प्रलय इति प्रक्रिया न युक्ता, युगपदनन्तपरमाणूनां विभागे नियतस्याभिघातादेर्दृष्टस्य निमित्तस्यासत्त्वात्, धर्माधर्मरूपादृष्टस्य सुखदुःखार्थत्वेन सुखदुःखशून्यप्रलयप्रयोजकत्वायोगान्नादृष्टनिमित्तेन कर्मणा विभागः संभवति । तथा च दृष्टादृष्टनिमित्तयोरसत्त्वादुभयथापि संयोगार्थत्वेन विभागार्थत्वेन च कर्म नास्ति, अतः कर्माभावात्तयोः संयोगविभागपूर्वकयोः सर्गप्रलययोरभाव इति सूत्रयोजना ॥१२॥

व्याप्यवृत्ति मानने पर दृष्टविरोधप्रसङ्ग भी आयेगा क्योंकि संयोग सावयव द्रव्य का सावयव द्रव्य के साथ देखा गया है । यदि परमाणु का संयोग एकदेशेन कहोगे तो उनमें सावयवत्व का प्रसङ्ग आ जायेगा । और यदि परमाणुओं में प्रदेश कल्पित माने जाँय तो कल्पित में वस्तुत्व नहीं होता, उससे उत्पन्न संयोग भी अवस्तु ही माना जायेगा । वह अवस्तुरूप संयोग किसी का असमवायी कारण नहीं हो सकता, ऐसी स्थिति में असमवायी कारण संयोग के न रहने पर द्व्यणुकादि कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते । और जैसे सर्गारम्भ में निमित्ताभाव के कारण संयोग उत्पत्ति के लिए परमाणुओं में कर्म का होना सम्भव नहीं है । ऐसे ही महाप्रलय में भी विभाग उत्पत्ति के लिए परमाणुओं में कर्म का होना सम्भव नहीं है क्योंकि वहाँ पर कोई निश्चित विभागजनक कर्म का निमित्त नहीं दीखता है । जीव का अदृष्ट भी उसके सुख-दुःखादि भोगसिद्धि के लिए माना गया है, प्रलय की प्रसिद्धि के लिए नहीं । अतः निमित्ताभाव होने के कारण न संयोग उत्पत्ति के लिए कर्म और न विभाग उत्पत्ति के लिए ही कर्म हो सकेगा, संयोग-विभाग को अभावदशा में उस सर्ग और प्रलय का भी अभाव होने जायेगा । अतः यह परमाणुकारणवाद असङ्गत ही है ॥१२॥

(१८४) समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥१३॥

समवायाभ्युपगमाच्च तदभाव इति प्रकृतेनाणुवादनिराकरणेन सम्बध्यते। द्वाभ्यां चाणुभ्यां द्व्यणुकमुत्पद्यमानमत्यन्तभिन्नमणुभ्यामण्वोः समवैतीत्यभ्युपगम्यते भवता। न चैवमभ्युपगच्छता शक्यतेऽणुकारणता समर्थयितुम्। कुतः? साम्यादनवस्थितेः। यथैव ह्यणुभ्यामत्यन्तभिन्नं सद्द्व्यणुकं समवायलक्षणेन सम्बन्धेन ताभ्यां सम्बध्यते, एवं समवायोऽपि समवायिभ्योऽत्यन्तभिन्नः सन्समवायलक्षणेनान्येनैव सम्बन्धेन समवायिभिः सम्बध्येतात्यन्तभेदसाम्यात्। ततश्च तस्य तस्यान्योन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थैव प्रसज्येत।

नन्विह प्रत्ययग्राह्यः समवायो नित्यसम्बद्ध एव समवायिभिर्गृह्यते नासंबद्धः सम्बन्धान्तरापेक्षो वा। ततश्च न तस्यान्यः सम्बन्धः कल्पयितव्यो येनानवस्था प्रसज्येतेति।

समवायाभ्युपगमाच्च तदभावः। अणुवादासभव इति योग्यतया सम्बध्यते, द्व्यणुकसमवाययोः परमाणुभिन्नत्वसाम्यात् द्व्यणुकवत् समवायस्यापि समवायान्तरमित्यनवस्थितिरित्यर्थः।

नन्विह तन्तुषु पट इत्यादिविशिष्टधीनियामकः समवायो न सम्बन्धान्तरमपेक्षते, स्वरूपेणैव नित्यसम्बद्धत्वादिति शङ्कते—नन्विहेति। संयोगस्यापि स्वरूपसम्बन्धोपपत्तेः समवायो न स्यादिति

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः (ललिता)

पिछले सूत्र में परमाणुकारणवाद का निराकरण किया गया था, उस सूत्र में जो '**तदभाव**' पद है उसकी अनुवृत्ति यहाँ आती है जिसका अर्थ होता है कि वैशेषिकों ने समवाय को माना है इसीलिए सृष्टि सिद्ध नहीं होती है। वैशेषिकों ने माना है कि दो परमाणुओं से उत्पन्न होने वाला द्व्यणुक अत्यन्त भिन्न है और वह द्व्यणुक समवाय सम्बन्ध से परमाणु में रहता है अर्थात् दो परमाणु कारण हैं जिसका कार्य द्व्यणुक परमाणु से अत्यन्त भिन्न है। किन्तु द्व्यणुक कार्य समवाय सम्बन्ध से परमाणुओं में रहता है, ऐसा मानने वाले वैशेषिक परमाणुकारणवाद का समर्थन नहीं कर सकते क्योंकि जैसे परमाणु से अत्यन्त भिन्न द्व्यणुक परमाणु में समवाय सम्बन्ध से रहता है ऐसे ही समवाय भी अपने समवायी से अत्यन्त भिन्न है, उस समवाय को अपने समवायी में रहने के लिए किसी अन्य समवाय सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी क्योंकि द्व्यणुक की भाँति समवाय भी अपने समवायी से अत्यन्त भिन्न तो है ही। इस प्रकार द्व्यणुक को परमाणु में रहने के लिए समवाय सम्बन्ध माना है और समवाय के अपने समवायी में रहने के लिए किसी अन्य सम्बन्ध की कल्पना करोगे तो उत्तरोत्तर सम्बन्धान्तर की कल्पना करने पर अनवस्था दोष आयेगा ही।

वैशेषिक—इन तन्तुओं में पट है, इस प्रतीति में जो समवाय सम्बन्ध भासता है वह अपने समवायी के साथ नित्यसम्बद्ध ही गृहीत होता है, असम्बद्ध गृहीत नहीं होता और न वहाँ पर सम्बन्धान्तर की अपेक्षा ही होती है। अतः उत्तरोत्तर भिन्नसम्बन्ध की कल्पना ही नहीं करेंगे

(१८५) नित्यमेव च भावात् ॥१४॥

नेत्युच्यते-संयोगोऽप्येवं सति संयोगिभिर्नित्यसम्बद्ध एवेति समवायवन्नान्यं सम्बन्धमपेक्षेत। अथार्थान्तरत्वात्संयोगः सम्बन्धान्तरमपेक्षेत, समवायोऽपि तर्ह्यर्थान्तरत्वात्सम्बन्धान्तरमपेक्षेत। नच गुणत्वात्संयोगः सम्बन्धान्तरमपेक्षते, न समवायोऽगुणत्वादिति युज्यते वक्तुम्। अपेक्षाकारणस्य तुल्यत्वात्। गुणपरिभाषायाश्चातन्त्रत्वात्। तस्मादर्थान्तरं समवायमभ्युपगच्छतः प्रसज्येतैवानवस्था। प्रसज्यमानायां चानवस्थायामेकासिद्धौ सर्वासिद्धेर्द्वाभ्यामणुभ्यां द्व्यणुकं नैवोत्पद्येत। तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥१३॥

अपि चाणवः प्रवृत्तिस्वभावा वा निवृत्तिस्वभावा वोभयस्वभावा वाऽनुभयस्वभावा वाभ्युपगम्यन्ते, गत्यन्तराभावात्। चतुर्धापि नोपपद्यते। प्रवृत्तिस्वभावत्वे नित्यमेव प्रवृत्तेर्भावात्प्रलयाभावप्रसङ्गः। निवृत्तिस्वभावत्वेऽपि नित्यमेव निवृत्तेर्भावात्सर्गाभाव-

---

दूषयति—नेति। **सम्बन्धिभिन्नत्वाच्चेदपेक्षा समवायस्यापि तुल्या।** गुणपरिभाषायाश्चेति। **गुणत्वाभावेऽपि कर्मसामान्यादीनां समवायाङ्गीकाराद् गुणत्वं समवायित्वे न व्यापकम्। नापि व्याप्यं, गुणस्यापि समवायवत्स्वरूपसम्बन्धसम्भवेन व्याप्त्यनुकूलतर्काभावात् तस्मात्। सम्बन्धिभिन्नत्वमेव सम्बन्धान्तरापेक्षायां कारणं, तस्य समवायेऽपि तुल्यत्वादनवस्था दुर्वारा। सा च मूलक्षयकरी। तया समवायासिद्धौ समवेतद्व्यणुकासिद्धिरित्यर्थः ॥१३॥**

सूत्रं व्याचष्टे—अपिचेति। **अनुभयस्वभावत्वे नैमित्तिकीप्रवृत्तिर्वाच्या, निमित्तं च कालादृष्टा-**

जिससे कि अनवस्था दोष का प्रसङ्ग आवे। वेदान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं है। इस प्रकार तो संयोग भी अपने आधार संयोगी के साथ नित्यसम्बद्ध ही माना जायेगा। ऐसी स्थिति में जैसे समवाय अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता है वैसे ही संयोग भी अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखेगा। और यदि कहो कि संयोग एक स्वतन्त्र पदार्थ है इसीलिए अपने आधार के साथ जुड़ने के लिए समवायरूप सम्बन्धान्तर की अपेक्षा करेगा तो समवाय भी स्वतन्त्र पदार्थ होने के कारण सम्बन्धान्तर की अपेक्षा करेगा ही। यदि कहो कि संयोग गुण होने के कारण समवायरूप सम्बन्धान्तर की अपेक्षा रखेगा, किन्तु गुण न होने के कारण समवाय सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं रखेगा तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि अपेक्षाकारण दोनों के लिए समान है। सम्बन्धी से भिन्न होने के कारण संयोग को यदि सम्बन्ध की अपेक्षा है तो समवाय को भी सम्बन्ध की अपेक्षा होनी ही चाहिए। संयोग गुण है और समवाय गुण नहीं है, यह परिभाषा सर्वतन्त्रसिद्ध नहीं है। अतः समवाय को स्वतन्त्र पदार्थ मानने वाले वादी के पक्ष में अनवस्था आयेगी ही। अनवस्था आने पर कहीं एक की असिद्धि हुई तो सभी की असिद्धि हो जायेगी, वैसी स्थिति में दो परमाणुओं से द्व्यणुक की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए भी परमाणुकारणवाद असङ्गत ही है ॥१३॥

नित्यमेव च भावात् (ललिता)

परमाणु प्रवृत्तिस्वभाव है या निवृत्तिस्वभाव है अथवा उभयस्वभाव है या अनुभयस्वभाव है। इनसे भिन्न कोई गति है नहीं और इन चार विकल्पों में भी समाधान नहीं होता क्योंकि प्रवृत्तिस्वभाव मानने पर सदा प्रवृत्ति होते रहने से प्रलयाभाव का प्रसङ्ग आ जायेगा, निवृत्तिस्वभाव मानने

(१८६) रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥१५॥

प्रसङ्गः। उभयस्वभावत्वं च विरोधादसमञ्जसम्। अनुभयस्वभावत्वे तु निमित्तवशात्प्रवृत्तिनिवृत्त्योरभ्युपगम्यमानयोरदृष्टादेर्निमित्तस्य नित्यसन्निधानान्नित्यप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। अतन्त्रत्वेऽप्यदृष्टादेर्नित्याप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥१४॥

सावयवानां द्रव्याणामवयवशो विभज्यमानानां यतः परो विभागो न सम्भवति, ते चतुर्विधा रूपादिमन्तः परमाणवश्चतुर्विधस्य रूपादिमतो भूतभौतिकस्यारम्भका नित्याश्चेति यद्वैशेषिका अभ्युपगच्छन्ति, स तेषामभ्युपगमो निरालम्बन एव। यतो रूपादिमत्त्वात्परमाणूनामणुत्वनित्यत्वविपर्ययः प्रसज्येत। परमकारणापेक्षया स्थूलत्वमनित्यत्वं च तेषामभिप्रेतविपरीतमापद्येतेत्यर्थः। कुतः? एवं लोके दृष्टत्वात्। यद्धि लोके रूपादिमद्वस्तु तत्स्वकारणापेक्षया स्थूलमनित्यं च दृष्टम्। तद्यथा पटस्तन्तूनपेक्ष्य स्थूलोऽनित्यश्च भवति, तन्त-

---

दिकं नित्यसन्निहितमिति नित्यमेव प्रवृत्तिप्रसङ्गः, तस्यानिमित्तत्वे प्रवृत्त्यभाव इत्यर्थः ॥१४॥

किञ्च परमाणवः समवायिकारणवन्तः कारणापेक्षया स्थूला अनित्याश्च, रूपवत्त्वात् रसवत्त्वाद्गन्धवत्त्वात् स्पर्शवत्त्वात्, घटवदिति सूत्रं योजयितुं परप्रक्रियामाह—सावयवानामित्यादिना। नन्वत्र परमाणुत्वं पक्षतावच्छेदकं तद्विरुद्धं स्थूलत्वं [1]कथं साध्यत इति चेत्। न। वायुत्वतेजस्त्वादेः [2]पृथगवच्छेदकत्वात्। न चाप्रयोजकता, कारणशून्यत्वे नित्यत्वे चात्मवद्रूपादिमत्त्वायोगात्। न च तर्हि वायुः कारणवानिति पृथक्साधने रूपादिहेतूनां भागासिद्ध्यभावेऽपि सिद्धसाधनता स्यादिति वाच्यं, यत्र

पर नित्यनिवृत्ति होने के कारण सर्गाभाव का प्रसङ्ग आ जायेगा। परस्परविरुद्ध होने के कारण उभयस्वभाव तो असङ्गत ही है; किन्तु अनुभय स्वभाव मानने पर प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिए कोई निमित्त मानना पड़ेगा, उस स्थिति में अदृष्टादि को निमित्त मानोगे तो उसका नित्यसन्निधान होने से नित्यप्रवृत्ति का प्रसङ्ग आ जायेगा। और अदृष्टादि को प्रयोजक न मानने पर भी नित्याप्रवृत्तिप्रसङ्ग आयेगा ही। इसलिए भी परमाणुकारणवाद असंगत ही है ॥१४॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् (ललिता)

सावयव द्रव्य का अवयवशः विभाग होने पर जिसके आगे विभाग होना सम्भव नहीं है वे चतुर्विध रूपादिमान परमाणु चतुर्विध रूपादिमान भूत-भौतिक पदार्थ के आरम्भक माने जाते हैं और वे नित्य भी हैं, ऐसा वैशेषिक कहते हैं। उनका वह मत निरालम्बन ही हो जायेगा क्योंकि रूपादिमान होने के कारण परमाणुओं में अणुत्व और नित्यत्व के विरुद्ध परमकारण ब्रह्म की अपेक्षा उनमें स्थूलत्व और अनित्यत्व आ जायेगा जो उन्हें अभिप्रेत नहीं है क्योंकि लोक में ऐसा ही देखा जाता है। लोक में जो रूपादिमान वस्तुएँ होती हैं वे अपने कारण की अपेक्षा से स्थूल और अनित्य देखी जाती हैं, जैसे तन्तु की अपेक्षा पट स्थूल और अनित्य है तथा तन्तु भी अपने अवयव अंशु की अपेक्षा स्थूल एवं अनित्य है।

---

१. कथमिति। बाधस्य जागरूकत्वादिति भावः। २. पृथगवच्छेदकत्वादिति। न चैवमपि भागासिद्धिः, रूपवत्त्वादिचतुष्टयमध्ये कस्यचिद्धेतोः पक्षे सत्यपि उक्तचतुष्टयस्य तत्राभावादितिवाच्यम्। चतुष्टयहेतुमध्ये यथासम्भवमेव हेतुताया विवक्षितत्वादिति बोध्यम्।

वश्वांऽशूनपेक्ष्य स्थूला अनित्याश्च भवन्ति, तथा चामी परमाणवो रूपादिमन्तस्तैरभ्युपगम्यन्ते, तस्मात्तेऽपि कारणवन्तस्तदपेक्षया स्थूला अनित्याश्च प्राप्नुवन्ति ।

यच्च नित्यत्वे कारणं तैरुक्तम्—'सदकारणवन्नित्यम्' (वै० सू० ४-१-१) इति । तदप्येवं सत्यणुषु न सम्भवति । उक्तेन प्रकारेणाणूनामपि कारणवत्त्वोपपत्तेः । यदपि नित्यत्वे द्वितीयं कारणमुक्तम्—'अनित्यमिति च विशेषतः प्रतिषेधाभावः' (वै० ४-१-४) इति । तदपि नावश्यं परमाणूनां नित्यत्वं साधयति । असति हि यस्मिन्कस्मिंश्चिन्नित्ये वस्तुनि नित्यशब्देन नञः समासो नोपपद्यते । न पुनः परमाणुनित्यत्वमेवापेक्ष्यते । तच्चास्त्येव नित्यं परमकारणं ब्रह्म । न च शब्दार्थव्यवहारमात्रेण कस्यचिदर्थस्य प्रसिद्धिर्भवति, प्रमाणान्तरसिद्धयोः शब्दार्थयोर्व्यवहारावतारात् । यदपि नित्यत्वे तृतीयं कारणमुक्तम्—

स्पर्शस्तत्सकारणं, यत्र रूपं तत्सकारणमिति व्याप्तिग्रहकाले वायुत्वाद्यवच्छेदेन साध्यसिद्ध्यभावादितिभावः ।

परमाणवो नित्याः, सत्त्वे सत्यकारणवत्वात् । आत्मवदिति सत्प्रतिपक्षमुत्थाप्य विशेष्यासिद्ध्या दूषयति—यच्च नित्यत्व इति । सत्त्वं भावत्वं प्रागभावनिरासार्थम् । नित्यत्वप्रतिषेधः सप्रतियोगिकः, अभावत्वात्, घटाभाववदिति नित्यत्वस्य क्वचित्सिद्धौ कार्यमनित्यमिति विशेषतः कार्ये नित्यत्वप्रतिषेधात् कारणभूतपरमाणुषु नित्यत्वं सिध्यति, अन्यथा प्रतियोग्यभाव प्रतिषेधानुपपत्तेरिति कणादोक्तमनूद्यान्यथासिद्ध्या दूषयति—यदपीति । कार्ये नित्यत्वप्रतिषेधव्यवहारमङ्गीकृत्य ब्रह्मणि प्रतियोगिप्रसिद्धिरुक्ता । वस्तुतस्तु विशेषव्यवहार एवासिद्धः, कारणनित्यत्वस्य प्रमाणान्तरेण ज्ञानं विना कार्यमनित्यमिति व्यवहारायोगादित्याह—न च शब्देति । यदि प्रमाणान्तरं कारणनित्यत्वे स्यात्तदायं व्यवहारः समूलो भवति, ततो मूलज्ञानात्प्राग्व्यवहारमात्रान्न वस्तुसिद्धिः, वटे यक्षव्यवहारादपि तत्सिद्धिप्रसङ्गात्, मूलज्ञाने तु तेनैवाशेषसिद्धेर्व्यवहारोपन्यासवैयर्थ्यमिति भावः । एवं परमाणुनित्यत्वे काणादसूत्रद्वयं निरस्य तृतीयं निरस्यति—यदपीति । सतामणूनां दृश्यमानस्थूलकार्याणां प्रत्यक्षेण

वैसे ही इन सभी परमाणुओं को जब वैशेषिक रूपादिमान मानते हैं तो वे भी कारणवाले होंगे ही ओर उस कारण की अपेक्षा परमाणु स्थूल एवं अनित्य सिद्ध हो जायेंगे ।

वैशेषिकों ने नित्यत्व में कारण जो कहा था कि 'जो वस्तु कारणवाली नहीं है और सत् है वह नित्य है' इस प्रकार यह लक्षण भी परमाणुओं में नहीं घटता क्योंकि पूर्वोक्त रीति से परमाणुओं में कारणवत्त्व सिद्ध हो जाता है । और जो वैशेषिकों ने नित्यत्व की सिद्धि में दूसरा कारण कहा था कि 'कोई भी निषेध निष्प्रतियोगिक नहीं होता । अनित्यम् यह निषेध जो किया गया है उसका प्रतियोगी नित्य होना ही चाहिए और वह नित्य परमाणु ही है ।' यह कथन भी परमाणुओं में नित्यत्व अवश्य सिद्ध नहीं करता, परमाणुओं से भिन्न जिस किसी नित्यवस्तु के मान लेने पर भी नित्य शब्द के साथ नञ् समास का होना कोई असङ्गत नहीं है । ऐसी स्थिति में अनित्यम् यह प्रयोग परमाणु में नित्यत्व-सिद्धि की अपेक्षा नहीं रखता है । कोई नित्य होगा तो उसकी अपेक्षाकर अनित्य शब्द का प्रयोग सम्भव हो सकता है, ऐसा जो आपका आग्रह है वह तो नित्य परमकारण नित्यब्रह्म की अपेक्षाकर ही सङ्गत हो जायेगा, इसके लिए परमाणु में नित्यत्वसिद्धि का आग्रह अनावश्यक है । शब्दार्थव्यवहारमात्र से किसी अर्थ की प्रसिद्धि नहीं होती है किन्तु प्रमाणान्तर से शब्द और अर्थ सिद्ध होता

'अविद्या च' (वै० ४-१-५) इति, तद्यद्येवं विवक्षेयेत सतां परिदृश्यमानकार्याणां कारणानां प्रत्यक्षेणाग्रहणमविद्येति, ततो द्व्यणुकनित्यताऽप्यापद्येत । अथाद्रव्यत्वे सतीति विशेष्येत, तथाप्यकारणवत्त्वमेव नित्यतानिमित्तमापद्येत। तस्य च प्रागेवोक्तत्वात् । 'अविद्या च' इति पुनरुक्तं स्यात् । अथापि कारणविभागात्कारणविनाशाच्चान्यस्य तृतीयस्य विनाशहेतोरसम्भवोऽविद्या सा परमाणूनां नित्यत्वं ख्यापयतीति व्याख्यायेत, नावश्यं विनश्यद्वस्तु द्वाभ्यामेव हेतुभ्यां विनष्टुमर्हतीति नियमोऽस्ति । संयोगसचिवे ह्यनेकस्मिंश्च द्रव्ये द्रव्यान्तरस्यारम्भकेऽभ्युपगम्यमान एतदेवं स्यात् । यदा त्वपास्तविशेषं सामान्यात्मकं कारणं विशेषवदव-

---

कारणाज्ञानमविद्येति यदि सूत्रार्थः, तर्ह्यप्रत्यक्षकारणत्वं नित्यत्वे हेतुः स्यात् । तन्न, द्व्यणुके व्यभिचारादित्यर्थः । यद्यारम्भकद्रव्यशून्यत्वं हेतुविशेषणं, तदा विशेष्यवैयर्थ्यमापद्येत, पुनरुक्तिश्चेत्याह—अथेत्यादिना । परमाणवो नित्याः, नाशकानुपलम्भात्, आत्मवदिति सूत्रार्थमाशङ्कते—अथापीति । तन्त्वाद्यवयवानां विभागान्नाशाद्वा पटादिनाशो दृष्टः, तच्च द्वयं निरवयवाणूनां नास्तीति नित्यत्वमित्यर्थः । परिणामवादमाश्रित्याणूनां नाशकं किंचित्संभवतीति परिहरति—नेति । अवयवानां संयोगेन द्रव्यान्तरोत्पत्तिरारम्भ इति यदि मतं स्यात्, तदा द्रव्यविनाशो द्वाभ्यामेवेति नियमः स्यात् । नारम्भे मानमस्ति, संयुक्ततन्त्वन्यपटादर्शनात् । अतः कारणमेव स्वतो निर्विशेषं विशेषवदवस्थात्मना कार्यमित्यनुभवबलादास्थेयम् । तथा चाणूनामप्यविद्यापरिणामरूपाणां प्रलयनिमित्तेन कालादिना पिण्डात्मकस्वरूपतिरोभावेन कारणभावापत्तिर्विनाश उपपद्यते । यथाग्निसंपर्काद्घृतकाठिन्यमवयवसंयोगस्या-

---

है, वहाँ पर व्यवहार का अवतरण होता है जो शब्द और अर्थ प्रमाणान्तर से सिद्ध न हो वहाँ पर व्यवहार का अवतरण होता ही नहीं । वैशेषिकों ने **'अविद्या च'** इस सूत्र द्वारा परमाणु के नित्यत्व में तृतीय कारण कहा था अर्थात दृश्यमान स्थूल कार्य में परमाणु रहते हुए भी प्रत्यक्ष से नहीं जाना जाता है, इसे अविद्या कहते हैं और यह परमाणु के नित्यत्व में कारण है । वैशेषिकों का यह कथन भी ठीक नहीं है, तब तो द्व्यणुक में भी नित्यत्व आने लग जायेगा क्योंकि उसका भी प्रत्यक्ष नहीं होता है । यदि कहो कि अद्रव्यवत्त्वविशिष्ट अप्रत्यक्षत्व नित्यत्व का प्रयोजक मानेंगे तो अन्ततः अकारणवत्त्व ही नित्यत्व का प्रयोजक सिद्ध होगा जिसका निराकरण पहले कर आये हैं फिर **'अविद्या च'** सूत्र से उसी बात को कहोगे तो पुनरुक्ति होने लग जायेगी । और यदि कारण के विभाग से, कारण के नाश से कार्य का नाश होता है; इन दोनों के अतिरिक्त कार्यनाश का तीसरा कोई हेतु सम्भव नहीं है इसी को अविद्या कहते हैं और वह अविद्या परमाणु में नित्यत्व बतलाती है, ऐसी व्याख्या आप **'अविद्या च'** इस सूत्र की कराेगे तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि नाश होने वाली वस्तु दो कारणों से नष्ट होती है, ऐसा नियम नहीं है । आरम्भवाद का आश्रय लेकर आप ने उक्त नियम बनाये, पर परिणामवाद का आश्रय लेने पर परमाणुओं का नाशक कुछ और भी हो सकता है । अनेक द्रव्यसंयोग सहकृत रहने पर द्रव्यान्तर का आरम्भक माना जाय अर्थात् अनेक परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुकादि कार्य उत्पन्न होते हैं, ऐसा माना जाय तो आप के द्वारा बनाया गया नियम लागू हो सकता था । जब कोई विशेष नहीं रहता तब वह सामान्यात्मक कारण विशेष अवस्था को प्राप्तकर आरम्भक माना जाता है, उस समय घृत का

(१८७) उभयथा च दोषात् ॥१६॥

स्थान्तरमापद्यमानमारम्भकमभ्युपगम्यते, तदा घृतकाठिन्यविलयनवन्मूर्त्यवस्थाविलयनेनापि विनाश उपपद्यते। तस्माद्रूपादिमत्त्वात्स्यादभिप्रेतविपर्ययः परमाणूनाम्। तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥१५॥

गन्धरसरूपस्पर्शगुणा स्थूला पृथिवी, रूपरसस्पर्शगुणाः सूक्ष्मा आपः, रूपस्पर्शगुणं सूक्ष्मतरं तेजः, स्पर्शगुणः सूक्ष्मतमो वायुरित्येवमेतानि चत्वारि भूतान्युपचितापचितगुणानि स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमतारतम्योपेतानि च लोके लक्ष्यन्ते। तद्वत्परमाणवोऽप्युपचितापचितगुणाः कल्प्येरन्न वा? उभयथापि च दोषानुषङ्गोऽपरिहार्य एव स्यात्। कल्प्यमाने तावदुपचितापचितगुणत्व उपचितगुणानां मूर्त्युपचयादपरमाणुत्वप्रसङ्गः। न चान्तरेणापि

वयवानां च नाशं विनैव लीयते, तद्वत्। नच काठिन्यस्य संयोगविशेषत्वेन गुणत्वाद्द्रव्यनाशेऽनुदाहरणत्वमिति शङ्क्यं, गुणवद्द्रव्यस्यापि कुतश्चिद्विनाश इत्यशेनोदाहरणात्, गुणपरिभाषायाश्चातन्त्रत्वात्। वस्तुतस्तु घृतं कठिनं द्रवमित्यनुस्यूतघृतपरिणामविशेषो द्रव्यमेव काठिन्यम्। नच द्रव्यत्वेऽप्यवयवविभागादेव [1]तस्य नाश इति वाच्यं, घृतस्य परिणामिन एकत्वेन विभागासम्भवात्, परमाणुकाठिन्यनाशे तदसम्भवाच्चेति भावः। किंच प्रलये [2]नासीद्रजो नान्यत् किंचनेत्यणूनां नाशसिद्धिः। तस्मान्न तेषां परमकारणत्वमित्युपसंहरति—तस्मादिति ॥१५॥

यद्यस्मादधिकगुणवत्तत्तस्मात्स्थूलमिति व्याप्तिमुक्त्वा विकल्पयति—तद्वदिति। पार्थिवः परमाणुरधिकगुणस्ततः एकैकन्यूनगुणा जलादिपरमाणव इति कल्प्यते, न वा। आद्ये दोषमाह—कल्प्यमान इति। मूर्त्युपचयात् स्थौल्यादित्यर्थः। पार्थिवोऽणुराप्यात् स्थूलः, अधिकगुणत्वात्, घटवदित्येवं प्रयोक्तव्यः। अप्रयोजकत्वं निरस्यति—न चान्तरेणेति। दृष्टविरोधः स्यादिति भावः। नेति पक्षे सर्व-

काठिन्य जैसे नष्ट हो जाता है वैसे ही मूर्त अवस्था के विलय से भी कार्य का विनाश हो जाता है। घृतावयव बने हुए है, उनका संयोग भी बना हुआ है फिर भी अग्निसम्पर्क से काठिन्य नष्ट हो जाता है; ऐसे ही परमाणुओं की मूर्तावस्था के विलय से भी उनका नाश हो सकता है। अतः पार्थिवादि परमाणुओं को वैशेषिकों ने रूपादि माना है इसीलिए उनके अभिप्राय के विरुद्ध, परमाणु में वैशेषिकों को अभिमत नित्यत्व के विरुद्ध अनित्यत्व सिद्ध हो जायेगा; इसलिए भी परमाणुकारणवाद असङ्गत है ॥१५॥

उभयथा च दोषात् (ललिता)

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श गुणवाली पृथ्वी स्थूल है; उसकी अपेक्षा गन्धरहित, रूप, रस, स्पर्श गुणवाला जल सूक्ष्म है; उसकी अपेक्षा से रूप, स्पर्श गुणवाला तेज सूक्ष्मतर है और उससे भी स्पर्श गुणवाला वायु सूक्ष्मतम है। ऐसे चारों भूत अधिक एवं न्यून गुणवाले स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम लोक में देखे जाते हैं; वैसे ही उपचित-अपचित गुणवाले इनके परमाणुओं की भी कल्पना करेंगे या नहीं। दोनों ही प्रकार से दोष आयेगा जिसका परिहार नहीं कर सकते अर्थात् इनके परमाणुओं को अधिक गुणवाले मानने पर वे स्थूल हो जायेंगे, वैसी स्थिति में उनमें परमाणुत्व नहीं रह जायेगा। और यदि कहो कि स्थूलता के बिना भी गुणों का उपचय हम मानेंगे तो ऐसा मानना

१. कार्यस्य। २. श्रुतौ रजःशब्दोऽणुपरः।

(१८८) अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥१७॥

मूर्त्युपचयं गुणोपचयो भवतीत्युच्यते, कार्येषु भूतेषु गुणोपचये मूर्त्युपचयदर्शनात् । अकल्प्यमाने तूपचितापचितगुणत्वे परमाणुत्वसाम्यप्रसिद्धये यदि तावत्सर्वे एकैकगुणा एव कल्प्येरंस्ततस्तेजसि स्पर्शस्योपलब्धिर्न स्यात्, अप्सु रूपस्पर्शयोः, पृथिव्यां च रसरूपस्पर्शानां, कारणगुणपूर्वकत्वात्कार्यगुणानाम् । अथ सर्वे चतुर्गुणा एव कल्प्येरन्, ततोऽप्स्वपि गन्धस्योपलब्धिः स्यात्, तेजसि गन्धरसयोः, वायौ गन्धरूपरसानाम् । न चैवं दृश्यते । तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥१६॥

प्रधानकारणवादो वेदविद्भिरपि कैश्चिन्मन्वादिभिः सत्कार्यत्वाद्यंशोपजीवनाभिप्रायेणोपनिबद्धः । अयं तु परमाणुकारणवादो न कैश्चिदपि शिष्टैः केनचिदप्यंशेन परिगृहीत इत्यत्यन्तमेवानादरणीयो वेदवादिभिः । अपि च वैशेषिकास्तन्त्रार्थभूतान्षट्पदार्थान्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्यानत्यन्तभिन्नान्भिन्नलक्षणानभ्युपगच्छन्ति । यथा मनुष्योऽश्वः

वामणूनां साम्यार्थमेकैकगुणवत्त्वं वा स्याच्चतुर्गुणवत्त्वं वा । उभयथापि दोषमाह—अकल्प्यमाने त्वित्यादिना ॥१६॥

न केवलमणुवादस्यायुक्तत्वादुपेक्षा, किंतु शिष्टबहिष्कृतत्वादग्रन्थतोऽर्थतश्चाग्राह्यत्वमित्याह—अपरिग्रहाच्चेति । चकारार्थं प्रपञ्चयितुमुपक्रमते—अपि चेति । अत्यन्तभेदज्ञापकमाह—भिन्नलक्षणानिति । द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वजातयो लक्षणानि, गुणाश्रयत्वाद्युपाधयो वा, निर्गुणत्वे

ठीक नहीं है क्योंकि कार्यभूत जगत् में गुणों को अधिकता से स्थूलता देखी जाती है। वैसे ही चतुर्विध परमाणुओं में परमाणुत्व की समानता को प्रसिद्धि के लिए यदि गुणों का उपचय-अपचय नहीं मानोगे तो सभी चतुर्विध परमाणु एक-एक गुणवाले ही मानने पड़ेंगे। फिर तो अग्नि में स्पर्श की; जल में रूप, स्पर्श को और पृथ्वी में रूप, रस, स्पर्श की उपलब्धि नहीं हो सकेगी क्योंकि जब कारण में एक-एक गुण था तो कार्य में न्यूनाधिक गुण कहाँ से आ गया, कारण के गुण ही कार्य में आते हैं। इस दोष से बचने के लिए चतुर्विध परमाणुओं को चार-चार गुणवाले मानोगे तो जल में भी गन्ध की, तेज में गन्ध और रस की तथा वायु में गन्ध, रूप और रस की उपलब्धि भी होने लग जायेगी; पर ऐसा देखा नहीं जाता, इसलिए भी परमाणुकारणवाद असङ्गत है ॥१६॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा (ललिता)

न केवल अणुकारणवाद युक्तिहीन होने के कारण उपेक्ष्य है प्रत्युत वेदवादी कुछ मन्वादि शिष्टों से अपरिगृहीत होने के कारण भी परमाणुकारणवाद अत्यन्त ही अनादरणीय है। मन्वादि वेदवादी कुछ शिष्टों ने सत्कार्यत्वादि अंश को लेकर प्रधानकारणवाद का समर्थन किया भी था किन्तु इस परमाणुकारणवाद का समर्थन किसी भी अंश में किसी भी शिष्ट ने नहीं किया है। अतः वेदवादियों के द्वारा परमाणुकारणवाद अत्यन्त उपेक्षणीय है। सूत्रस्थ 'च' कार शब्द से सूत्रकार ने जिस अर्थ को सूचित किया है उसका विस्तार करते हुए भाष्य में कहा है कि वैशेषिकों ने स्वतन्त्रवाच्य द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवायनामक षट् पदार्थ अत्यन्त भिन्नलक्षणवाले भिन्न ही माने जाते हैं जैसे मनुष्य, अश्व और शश भिन्न है। ऐसा मानने के बाद पुनः उसके विरुद्ध गुणादि

---

१. स्वतन्त्रवाच्यान् ।

शश इति । तथात्वं चाभ्युपगम्य तद्विरुद्धं द्रव्याधीनत्वं शेषाणामभ्युपगच्छन्ति । तन्नोपपद्यते । कथम् ? यथा हि लोके शशकुशपलाशप्रभृतीनामत्यन्तभिन्नानां सतां नेतरेतराधीनत्वं भवति, एवं द्रव्यादीनामत्यन्तभिन्नत्वान्नैव द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां भवितुमर्हति । अथ भवति द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां, ततो द्रव्यभावे भावाद्द्रव्याभावेचाऽभावाद्द्रव्यमेव संस्थानादिभेदादनेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति । यथा देवदत्त एक एव सन्नवस्थान्तरयोगादनेकशब्द प्रत्ययभाग्भवति तद्वत् । तथा सति सांख्यसिद्धान्तप्रसङ्गः स्वसिद्धान्तविरोधश्चापद्येयाताम् ।

नन्वग्नेरन्यस्यापि सतो धूमस्याग्न्यधीनत्वं दृश्यते । सत्यं दृश्यते । भेदप्रतीतेस्तु तत्राग्नि-

---

सति जातिमदक्रियत्वं गुणलक्षणम् । संयोगविभागयोनिरपेक्षकारणं कर्म, नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यम्, नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषाः, नित्यः सम्बन्धः समवाय इति भिन्नानि लक्षणानि । तैर्मिथोऽत्यन्तभेदसिद्धिरित्यर्थः । तथात्वमत्यन्तभिन्नत्वम् । तेन विरुद्धो यो धर्मधर्मिभावः । गुणादयो न द्रव्यधर्माः स्युः, ततोऽत्यन्तभिन्नत्वात्, शशकुशादिवदित्यर्थः । भेदबाधकमुपन्यस्याभेदमाह—अथ भवतीति । गुणादिषु तदधीनत्वं तावदन्वयव्यतिरेकसिद्धं, तथा च गुणादयो द्रव्याभिन्नाः, द्रव्याधीनत्वात्, यद्यस्माद्भिन्नं तन्न तदधीनं, यथा शशभिन्नः कुश इत्यर्थः । अभेदे द्रव्य गुण इति शब्दप्रत्ययभेदः कथं? तत्राह—द्रव्यमिति । कल्पितभेदोऽप्यस्तीत्याशयः । अन्यथात्यन्तभेदवदत्यन्ताभेदेऽपि धर्मधर्मित्वायोगादिति मन्तव्यम् । अस्तु गुणादीनां द्रव्यतादात्म्यमिति वदन्तं तार्किकमन्यं प्रत्याह–तथा सतीति । सांख्योऽत्र वेदान्ती ग्राह्यः । यद्वा कापिलस्यापि तादात्म्यसिद्धान्त इति सांख्यग्रहणम् ।

यद्यपि तदधीनत्वं तद्धर्मत्वं, तच्च धूमे नास्ति, अग्निं विनापि भावात्, तथापि तत्कार्यत्वं तदधीनत्वं मत्वा व्यभिचारं शङ्कते—नन्विति । कार्यत्वमन्यत्वं चाङ्गीकरोति—सत्यमिति । तथापि तादात्म्येन प्रतीयमानत्वस्य हेतोर्विवक्षितत्वान्न व्यभिचार इत्याशयः । अस्य हेतोरन्यथासिद्धिमाशङ्कते—

पदार्थों को द्रव्य के आधीन माने हैं जो युक्तिसंगत नहीं है । जैसे लोक में शश, कुश, पलाशादि अत्यन्त भिन्न होने के कारण एक दूसरे के आधीन नहीं हैं ऐसे ही द्रव्यादि भी अत्यन्त भिन्न होने के कारण गुणादि को द्रव्याधीन कहना उचित नहीं है । हाँ, इतनी बात आवश्यक है कि द्रव्य के रहते-रहते गुणादि दीखते हैं और द्रव्य के न रहने पर स्वतन्त्र गुणादि का अस्तित्व नहीं दीखता है । अतः द्रव्य ही संस्थानादि भेद के कारण गुणादि अनेक शब्द और प्रतीति का विषय हो जाता है अर्थात् द्रव्य से गुणादि का कल्पित भेद है, वास्तविक भेद नहीं है । जैसे एक ही देवदत्त अवस्थान्तर के कारण पाठक, पाचक, अध्यापक, जापक; ऐसे अनेक शब्द और प्रतीति का विषय हो जाता है वैसे ही द्रव्य भी संस्थानादि भेद के कारण गुणादि शब्द एवं प्रतीति का विषय हो जाता है । इस प्रकार तार्किक यदि गुणादि का द्रव्य के साथ तादात्म्य मानता हो तो सांख्य सिद्धान्त का प्रसङ्ग आ जायेगा और उनके अपने सिद्धान्त से विरोध भी होने लगेगा ।

पूर्वपक्ष—अग्नि से धूम भिन्न है फिर भी अग्नि का कार्य होने से अग्नि के आधीन देखा जाता है । अतः भिन्न होता हुआ भी गुणादि द्रव्य के आधीन हो सकता है । सिद्धान्ती–निःसन्देह धूम अग्नि के आधीन देखा गया है, पर भेदप्रतीति के आधार पर वहां पर दृष्टान्त में अग्नि और धूम का भिन्नत्व

धूमयोरन्यत्वं निश्चीयते। इह तु शुक्लः कम्बलो रोहिणी धेनुर्नीलमुत्पलमिति द्रव्यस्यैव तस्य तस्य तेन तेन विशेषणेन प्रतीयमानत्वान्नैव द्रव्यगुणयोरग्निधूमयोरिव भेदप्रतीतिरस्ति। तस्माद्द्रव्यात्मकता गुणस्य। एतेन कर्मसामान्यविशेषसमवायानां द्रव्यात्मकता व्याख्याता। गुणा (दी)नां द्रव्याधीनत्वं द्रव्यगुणयोरयुतसिद्धत्वादिति यद्युच्येत, तत्पुनरयुतसिद्धत्वमपृथग्देशत्वं वा स्यादपृथक्कालत्वं वाऽपृथक्स्वभावत्वं वा। सर्वथापि नोपपद्यते। अपृथग्देशत्वे तावत्स्वाभ्युपगमो विरुध्येत। कथम्? तन्त्वारब्धो हि पटस्तन्तुदेशोऽभ्युपगम्यते, न पटदेशः। पटस्य तु गुणाः शुक्लत्वादयः पटदेशा अभ्युपगम्यन्ते न तन्तुदेशाः। तथा चाहुः—'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्' (वै० १।१।१०) इति। तन्तवो हि कारणद्रव्याणि कार्यद्रव्यं पटमारभन्ते। तन्तुगताश्च गुणाः शुक्लादयः कार्यद्रव्ये पटे शुक्लादिगुणान्तरमारभन्त इति हि तेऽभ्युपगच्छन्ति। सोऽभ्युपगमो द्रव्यगुणयोरपृथग्देशत्वेऽभ्युपगम्यमाने बाध्येत।

अथापृथक्कालत्वमयुतसिद्धत्वमुच्येत, सव्यदक्षिणयोरपि गोविषाणयोरयुतसिद्धत्वं।

गुणादीनामिति। गुणादीनां द्रव्येणाभेदाभावेऽप्ययुतसिद्धत्वेन तादात्म्यप्रतीतिसिद्धिरित्यर्थः। दूषयितुं विकल्पयति—तत्पुनरिति। शौक्ल्यस्य पटनिष्ठत्वात् पटस्य तन्तुदेशत्वात् पटशौक्ल्ययोरपृथग्देशत्वाभावाच्छुक्लः पट इति सामानाधिकरण्यप्रतीतिर्न स्यादित्याद्यं दूषयति—अपृथग्देशत्व इति। काणादसूत्रद्वयं व्याचष्टे—तन्तवो हीति।

स्वभावो हि स्वरूपं, तस्यापृथक्त्वेऽस्मदिष्टाभेदसिद्धिरित्याह—अपृथक्स्वभावत्व इति। अभेदे

निश्चित होता है किन्तु दार्ष्टान्त में कम्बल शुक्ल है, गौ लाल है और कमल नीला है; इन सभी स्थलों में उन-उन द्रव्यों का अन्य विशेषणों से प्रतीति होने के कारण द्रव्य और गुण में भेद वैसा नहीं भासता जैसा धूम और अग्नि में भेद भासता है। अतः गुण द्रव्यरूप ही है। जिस प्रकार गुण में द्रव्यात्मकता सिद्ध हुई ऐसे ही कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय में भी द्रव्यात्मकता माननी ही उचित है। यदि कहो कि द्रव्य और गुण में अयुतसिद्ध सम्बन्ध होने के कारण गुण को द्रव्याधीन मानना उचित होगा तो हम आप से पूछेंगे कि दोनों एक देश में रहते हैं इसलिए अयुतसिद्ध कहे जाते हैं या एक स्वभाववाले होने के कारण अयुतसिद्ध कहे जाते हैं, सर्वथा आप का पक्ष सिद्ध नहीं होता। दोनों का अपृथक् देश मानो तो आप के सिद्धान्त का विरोध होने लग जायेगा क्योंकि तन्तु से बने हुए पट का देश तन्तु आप ने माना है, उस पट का देश पट नहीं है किन्तु शुक्लादि गुण का देश पट को आप ने माना है, तन्तु को नहीं। ऐसा ही 'द्रव्य द्रव्य को बनाते हैं और गुण गुण को' अर्थात तन्तुरूप कारणद्रव्य कार्यद्रव्य को पट बनाते हैं किन्तु तन्तुगत शुक्लादि गुण तन्तु के पटद्रव्य में शुक्लादि गुणान्तर को बनाते हैं यह वैशेषिकों की मान्यता है। आज द्रव्य, गुण को अपृथक् देश वाले मानने पर आप की पूर्वमान्यता बाधित होने लग जायेगी।

अयुतसिद्धत्व का अर्थ अपृथक्कालत्व मानोगे तो गौ के दक्षिण एवं वाम शृङ्ग एक काल में उत्पन्न होते हैं, उन दोनों में अपृथक्कालत्व है; ऐसी स्थिति में वहाँ पर भी अयुतसिद्धत्व आने लग

प्रसज्येत । तथाऽपृथक्स्वभावत्वे त्वयुतसिद्धत्वे न द्रव्यगुणयोरात्मभेदः सम्भवति, तस्य तादात्म्येनैव प्रतीयमानत्वात् । युतसिद्धयोः सम्बन्धः संयोगोऽयुतसिद्धयोस्तु समवाय इत्ययमभ्युपगमो मृषैव तेषां, प्राक्सिद्धस्य कार्यात्कारणस्यायुतसिद्धत्वानुपपत्तेः । अथान्यतरापेक्ष एवायमभ्युपगमः स्यादयुतसिद्धस्य कार्यस्य कारणेन सम्बन्धः समवाय इति, एवमपि प्रागसिद्धस्यालब्धात्मकस्य कार्यस्य कारणेन सम्बन्धो नोपपद्यते, द्वयायत्तत्वात्सम्बन्धस्य । सिद्धं भूत्वा सम्बध्यत इति चेत्, प्राक्कारणसम्बन्धात्कार्यस्य सिद्धावभ्युपगम्यमानायामयुतसिद्ध्यभावात्कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते इतीदं दुरुक्तं स्यात् । यथा चोत्पन्नमात्रस्याक्रियस्य कार्यद्रव्यस्य विभुभिराकाशादिभिर्द्रव्यान्तरैः सम्बन्धः संयोग एवाभ्युपगम्यते, न समवायः, एवं कारणद्रव्येणापि सम्बन्धः संयोग एव स्यान्न समवायः । नापि संयोगस्य समवायस्य वा सम्बन्धस्य सम्बन्धिव्यतिरेकेणास्तित्वे किंचित्प्रमाणमस्ति ।

युक्तिमाह—तस्येति । गुणस्येत्यर्थः । एवं षट् पदार्था अत्यन्तभिन्ना इति परसिद्धान्तोऽनुभवविरोधेन दूषितः । सिद्धान्तान्तरं दूषयति—युतेति । अयुतसिद्धत्वं किमुभयोरुतान्यतरस्य । नाद्य इत्याह—प्रागिति । द्वितीयमाशङ्क्य दूषयति—अथेत्यादिना । कारणस्य पृथक्सिद्धत्वेऽपि कार्यमपृथक्सिद्धमित्युक्तमुपेत्य सम्बन्धोऽसिद्धस्य सिद्धस्य वेति विकल्प्याद्यं दूषयित्वा द्वितीयं शङ्कते—सिद्धं भूत्वेति । सतोरप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोग इत्यभ्युपगमात्तन्तुपटयोरपि संयोगापत्तिरित्यपसिद्धान्तः स्यादित्यर्थः । सद्योजातपटस्य क्रियाभावात् कथं संयोगः ? तत्राह—यथेति । किंच सम्बन्धस्यापि सम्बन्धेऽनवस्थानादसंबद्धस्यानियामकत्वात सम्बन्धोऽपि दुर्निरूप इत्याह—नापीति । सम्बन्धः सम्बन्धिभिन्नः,

---

जायेगा । वैसे ही अपृथक्स्वभावत्व भी अयुतसिद्धत्व का अर्थ नहीं कर सकते क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर द्रव्य और गुण के स्वरूप में भेद नहीं रह जायेगा, उनकी तो तादात्म्यरूप से ही प्रतीति होती है । यदि कहो कि युतसिद्ध दो पदार्थ के संयोग को सम्बन्ध कहते हैं और उससे भिन्न अयुतसिद्ध दो पदार्थ के सम्बन्ध को समवाय कहेंगे तो वैशेषिकों की यह मान्यता भी मिथ्या ही मानी जायेगी क्योंकि कार्य से पूर्व जब कारण सिद्ध है तो उसमें अयुतसिद्धत्व कैसे युक्तिसंगत हो सकेगा । यदि कहो कि कार्य एवं कारण में से किसी एक की अपेक्षा कर ही ऐसा समवाय हम मान लेंगे, इससे अयुतसिद्ध कार्य का कारण के साथ जो सम्बन्ध होगा वह समवाय कहा जायेगा तो ऐसा मानने पर भी जो कार्य पूर्व से सिद्ध नहीं है अर्थात् अलब्धात्मक है उसका कारण के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है । सम्बन्ध सदा दो में ही हुआ करता है, एक में नहीं होता । यदि पूर्वपक्षी यह कहता हो कि कार्य सिद्ध होकर कारण के साथ सम्बद्ध हो जायेगा तो कारणसम्बन्ध से पूर्व कार्य की सिद्धि मानने पर अयुतसिद्धि नहीं रह जायेगी, फिर तो कार्य-कारण में संयोग और विभाग नहीं रह जायेंगे, यह सम्बन्ध बतलाना कठिन हो जायेगा । वैशेषिकों ने 'उत्पन्न द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियं च तिष्ठति' इस परिभाषा के आधार पर उत्पन्नमात्र कार्यद्रव्य को क्रिया शून्य कहा है; उसका विभु आकाशादि द्रव्यान्तर के साथ सम्बन्ध संयोग ही मानते हैं, समवाय नहीं मानते हैं । वैसे ही कारणद्रव्य के साथ भी कार्यद्रव्य का सम्बन्ध संयोग ही होगा, समवाय नहीं होगा । साथ ही सम्बन्ध का सम्बन्ध मानने पर अनवस्था भी होती है, सम्बन्ध का निरूपण भी दुष्कर ही है । संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध को अपने सम्बन्धी से पृथक् मानने में कोई प्रमाण नहीं मिलता है । यदि कहो कि सम्बन्धी शब्द और

सम्बन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवायशब्दप्रत्ययदर्शनात्तयोरस्तित्वमिति चेत् । न । एकत्वेऽपि स्वरूपबाह्यरूपापेक्षयानेकशब्दप्रत्ययदर्शनात् । यथैकोऽपि सन् देवदत्तो लोके स्वरूपं सम्बन्धिरूपं चापेक्ष्यानेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति, मनुष्यो ब्राह्मणः श्रोत्रियो वदान्यो बालो युवा स्थविरः पिता पुत्रः पौत्रो भ्राता जामातेति, यथा चैकापि सती रेखा स्थानान्यत्वेन निविशमानैकदशशतसहस्रादिशब्दप्रत्ययभेदमनुभवति, तथासम्बन्धिनोरेव सम्बन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवायशब्दप्रत्ययार्हत्वं, न व्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वेन, इत्युपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरभावो वस्त्वन्तरस्य । नापि सम्बन्धिविषयत्वे सम्बन्धशब्दप्रत्यययोः संततभावप्रसङ्गः । स्वरूपबाह्यरूपापेक्षयेत्युक्तोत्तरत्वात् ।

तद्विलक्षणशब्दधीगम्यत्वात्, वस्त्वन्तरवदिति शङ्कते—सम्बन्धीति । कल्पितभेदसाधने सिद्धसाधनता, वस्तुभेदसाधने तु व्यभिचार इति समाधत्ते—न । एकत्वेऽपीति । स्वरूपेणैव मनुष्यादिशब्दभागेव पुत्राद्यपेक्षया पितेत्यादिविलक्षणशब्दधीगम्यो भवति, नच भिद्यत इति व्यभिचार इत्यर्थः । फलितमाह—इत्युपलब्धीति । विलक्षणशब्दधीगम्यत्वादित्युपलब्धिघटितेन—लक्षणेन लिङ्गेन प्राप्तस्य वस्त्वन्तरस्य संयोगादेः सम्बन्धिव्यतिरेकेणानुपलब्धेरभावो निश्चीयत इत्यर्थः । न ह्यङ्गुलिद्वयस्य नैरन्तर्यातिरेकेण संयोग उपलभ्यते । समवायस्तु न कस्यापि क्वचिदप्यनुभवमारोहतीति भावः । सम्बन्धस्य सम्बन्ध्यभेदे सम्बन्धिनः सदा सत्त्वात्सर्वदा सम्बन्धबुद्धिप्रसङ्ग इति शङ्कां निषेधति—नापीति । परापेक्षया नैरन्तर्यावस्थायामङ्गुल्योः रूपरूपिणोश्च सम्बन्धिधीः, न स्वत इत्युक्तमित्यर्थः ।

सम्बन्धी ज्ञान से भिन्न संयोग एवं समवाय शब्द का प्रयोग होता है और प्रतीति भी देखी जाती है, ये दोनों ही संयोग एवं समवाय की सत्ता मानने में प्रमाण है तो ऐसा कहना ठीक नहीं । सम्बन्धी से अभिन्न मानने पर भी स्वरूप और बाह्यरूप की अपेक्षा से अनेकों शब्दों का प्रयोग होता है, अनेकधा प्रतीति भी देखी जाती है । जैसे एक ही देवदत्त लोक में स्वरूप की अपेक्षाकर मनुष्य, ब्राह्मण, श्रोत्रिय, दानशूर, बाल, युवा एवं वृद्ध कहा जाता है और सम्बन्धी की अपेक्षाकर पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता एवं जामाता माना जाता है; ऐसे ही एक ही पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा और पररूप की अपेक्षा से सम्बन्ध तथा सम्बन्धी शब्द का विषय बन सकता है । और जैसे एक ही रेखा स्थानभेद से रखे जाने पर एक, दश, शत, सहस्रादि विलक्षण शब्द एवं प्रतीति का विषय बन जाती है वैसे ही सम्बन्धियों में भी सम्बन्धी शब्द एवं प्रतीति से भिन्न संयोग, समवाय शब्द का प्रयोग और प्रत्यय हो सकता है; इससे संयोग और समवाय का पृथक् अस्तित्व सिद्ध नहीं होता । इस प्रकार उपलब्धि लक्षण से सिद्ध वस्त्वन्तर का अभाव अनुपलब्धि के कारण से हो जाता है अर्थात् जब वस्त्वन्तर की उपलब्धि ही नहीं होती तो उसका अभाव मानना ही उचित होगा । संयोग और समवाय के सम्बन्ध में जब प्रमाण ही नहीं मिलता है तो ऐसी स्थिति में उनका अस्तित्व मानना ही असंगत है । और यदि कहो कि सम्बन्ध शब्द का प्रयोग सम्बन्धी के विषय में किया जायेगा तो उसमें सम्बन्ध शब्द का प्रयोग एवं बोध सदा होने लग जायेगा, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि स्वरूप एवं बाह्यरूप की अपेक्षा करके सम्बन्ध शब्द का प्रयोग एवं प्रतीति देखी गई है, ऐसा हम पहले उत्तर दे आये हैं ।

---

१. दानशूरः ।

तथाऽण्वात्ममनसामप्रदेशत्वान्न संयोगः सम्भवति, प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगदर्शनात् । कल्पिताः प्रदेशा अण्वात्ममनसां भविष्यन्तीति चेत् । न । अविद्यमानार्थ कल्पनायां सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गात् । इयानेवाविद्यमानो विरुद्धोऽविरुद्धोवार्थः कल्पनीयो नातोऽधिक इति नियमहेत्वभावात् । कल्पनायाश्च स्वायत्तत्वात्प्रभूतत्वसम्भवाच्च । नच वैशेषिकैः कल्पितेभ्यः षड्भ्यः पदार्थेभ्योऽन्येऽधिकाः शतं सहस्रं वार्था न कल्पयितव्याइति निवारको हेतुरस्ति । तस्माद्यस्मै यस्मै यद्यद्रोचते तत्तत्सिद्ध्येत् । कश्चित्कृपालुः प्राणिनां दुःखबहुलः संसार एव माभूदिति कल्पयेत् । अन्यो वा व्यसनो मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिं कल्पयेत् । कस्तयोर्निवारकः स्यात् ।

किंचान्यत् । द्वाभ्यां परमाणुभ्यां निरवयवाभ्यां सावयवस्य द्व्यणुकस्याकाशेनेव

पूर्वं परमाण्वोः संयोगनिरासेन द्व्यणुकादिसृष्टिर्निरस्ता, संप्रत्यदृष्टवदात्मनाऽणूनां संयोगोऽणुषु क्रियाहेतुः, आत्ममनसोः संयोगो बुद्ध्याद्यसमवायिकारणं निरस्यते—तथाण्वात्मेति । [1]निरस्तमपि कल्पितप्रदेशपक्षमतिप्रसङ्गाख्यदोषान्तरं वक्तुं पुनरुद्भावयति—कल्पिता इति । कल्पनमूहः । [2]ऊहितार्थाः सन्तोऽसन्तो वा ? द्वितीये न संयोगसिद्धिः, [3]स्वस्वाभावयोरेकत्र वृत्यवच्छेदकासत्वात् । आद्ये तूहमात्रेण सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गः, ऊहस्य स्वाधीनत्वात् । प्रभूतत्वं निरवधित्वं तत्संभवाच्चेत्यर्थः । यद्यूहात्सर्वसिद्धिस्तदा पदार्थबन्धमुक्तिनियमा लुप्येरन्नित्याह—नचेत्यादिना ।

संयोगं दूषयित्वा समवायं दूषयति—किंचान्यदिति । तन्मते दूषणान्तरमुच्यत इत्यर्थः । संश्लेषः संग्रहः । यत एकाकर्षणेनापराकर्षणं तस्यानुपपत्तिरित्यर्थः । द्व्यणुकं निरवयवासम-

पहले परमाणुसंयोग के निराकरण से द्व्यणुकादि सृष्टि का निराकरण किया गया था, अब अदृष्टविशिष्ट आत्मा के साथ परमाणुओं के सयोग का और परमाणुओं में क्रियाहेतु आत्म-मन-संयोग का एवं बुद्ध्यादि के असमवायी कारण का निराकरण करते हैं। वैशेषिकों ने परमाणु, आत्मा और मन का संयोग माना है जो सम्भव नहीं है क्योंकि ये तीनों ही निरवयव हैं। सावयव द्रव्य का सावयव द्रव्य के साथ संयोग देखा गया है, जब ये तीनों ही निरवयव हैं तो इनका संयोग कैसे होगा, फिर बुद्ध्यादि का असमवायी कारण आत्ममनःसंयोग कैसे बन सकेगा। यदि वैशेषिक परमाणु, आत्मा और मन में कल्पित प्रदेश मानेंगे तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं क्योंकि अविद्यमान अर्थ की कल्पना करने पर सभी अर्थ की सिद्धि कल्पना से होने लग जायेगी। अविद्यमान, विरुद्ध या अविरुद्ध; इतने ही अर्थ की कल्पना करनी चाहिए, इससे अधिक की नहीं ऐसा नियम मानने में कोई हेतु नहीं है और कल्पना तो कल्पक के आधीन है, वह जितनी कल्पना करना चाहे उतनी निःसीम कल्पना कर सकता है। यदि कहो कि वैशेषिकों ने छःभाव पदार्थों की कल्पना की है, उनसे अधिक सौ अथवा हजार पदार्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिए; तो इसमें कोई निवारक हेतु नहीं है। अतः जिसे जो अच्छा लगेगा उसकी सिद्धि वह कल्पना से कर लेगा। कोई दयालु कल्पना करेगा कि प्राणियों का दुःखबहुल संसार न रहे, तो दूसरा व्यसनी मुक्तपुरुषों के भी जन्म की कल्पना करने लग जायेगा; इन दोनों को ऐसी कल्पना से कौन रोक सकता है।

पूर्वपक्ष—दो निरवयव परमाणुओं से सावयव द्व्यणुक का सम्बन्ध समवाय के अतिरिक्त नहीं

१. निरस्तमपीति 'उभयथा पि०' (ब्र० २-२-१२) इति सूत्रव्याख्यावसरे । २. प्रदेशाः । ३. प्रदेश ।

संश्लेषानुपपत्तिः । न ह्याकाशस्य पृथिव्यादीनां च जतुकाष्ठवत्संश्लेषोऽस्ति । कार्यकारणद्रव्ययोराश्रिताश्रयभावोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यवश्यं कल्प्यः समवाय इति चेत् । न । इतरेतराश्रयत्वात् । कार्यकारणयोर्हि भेदसिद्धावाश्रिताश्रयभावसिद्धिराश्रिताश्रयभावसिद्धौ च तयोर्भेदसिद्धिः कुण्डबदरवदितीतरेतराश्रयता स्यात् । नहि कार्यकारणयोर्भेद आश्रिताश्रयभावो वा वेदान्तवादिभिरभ्युपगम्यते, कारणस्यैव संस्थानमात्रं कार्यमित्यभ्युपगमात् । किंचान्यत् । परमाणूनां परिच्छिन्नत्वाद्यावत्यो दिशः षडष्टौ दश वा, तावद्भिरवयवैः सावयवास्ते स्युः, सावयवत्वादनित्याश्चेति नित्यत्वनिरवयवत्वाभ्युपगमो बाध्येत ।

यांस्त्वं दिग्भेदभेदिनोऽवयवान्कल्पयसि त एव परमाणव इति चेत् । न । स्थूलसूक्ष्मतारतम्यक्रमेणापरमकारणाऽऽद्विनाशोपपत्तेः । यथा पृथिवी द्व्यणुकाद्यपेक्षया स्थूलतमा वस्तु-

---

वेतं, सावयवत्वात्, आकाशासमवेतभूमिवदिति भावः । ननु द्व्यणुकस्यासमवेतत्वे तदाश्रितत्वं न स्यात्, सम्बन्धं विना तदयोगात् । न च संयोगादाश्रितत्वं, कार्यद्रव्यस्य प्रकृत्यसंयोगादिति शङ्कते—कार्येति । प्रकृतिविकारयोरभेदादाश्रयाश्रयिभावानुपपत्तिरिष्टेति परिहरति—नेति । भेदात्तद्भाव इति वदन्तं प्रत्याह—इतरेतराश्रयत्वादिति । कथं तर्हि कार्यस्य कारणाश्रितत्वव्यवहारः ? कल्पितभेदादित्याह—कारणस्यैवेति । परमाणूनां निरवयवत्वमप्ययुक्तमित्याह—किंचेति । परमाणवः सावयवाः, [1]अल्पत्वात्, घटवत् ।

विपक्षे तेषां दिग्भेदावधित्वं न स्यादात्मवदित्यर्थः । ननु परमाण्वपेक्षया योऽयं प्राची दक्षिणेत्या-

---

हो सकता, जैसे निरवयव आकाश के साथ किसी का संश्लेष नहीं होता है । पृथिव्यादि सावयव वस्तु का निरवयव आकाश के साथ लाक्ष और काष्ठ आदि की भाँति संश्लेष नहीं होता ऐसी ही निरवयव दो परमाणुओं के साथ द्व्यणुक का संश्लेष नहीं हो सकता । बिना सम्बन्ध माने कार्यद्रव्य द्व्यणुक और कारणद्रव्य परमाणु में आश्रिताश्रयभाव बन नहीं सकता अतः आश्रयाश्रितभाव की अन्यथानुपपत्ति से कार्य-कारण का सम्बन्ध समवाय मानना ही पड़ेगा । सिद्धान्त-ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि तब तो कार्य-कारण में अन्योन्याश्रयत्व दोष आ जायेगा । कार्य-कारण का भेद सिद्ध होने पर आश्रित-आश्रयभाव की सिद्धि होगी और आश्रिताश्रयभाव की सिद्धि होने पर उन दोनों में भेदसिद्धि होगी । कुण्ड और बदर में भेद सिद्ध है, इसीलिए तो कुण्ड बदर का आश्रय माना जाता है और बदर कुण्ड के आश्रित माने जाते हैं । कार्य और कारण में भी आश्रित-आश्रयभावसिद्धि के लिए भेद की सिद्धि और भेद की सिद्धि के लिए आश्रिताश्रयभाव की सिद्धि मानने पर अन्योन्याश्रयत्व दोष आ जायेगा । हम वेदान्ती न कार्यकारणभाव में भेद मानते हैं और न उनमें आश्रित-आश्रय भाव ही मानते हैं, हम तो कारण का ही संस्थानमात्र विशेष कार्य है, ऐसा मानते हैं । इसके अतिरिक्त परिच्छिन्न होने के कारण परमाणुओं की जितनी छः, आठ या दश दिशायें हैं उन्हें ही अवयव मानेंगे और उन अवयवों के कारण ही परमाणु सावयव हो जायेंगे, सावयव होने से अनित्य भी होने लग जायेंगे, फिर तो परमाणुओं में नित्यत्व और निरवयवत्व होने का वैशेषिक सिद्धान्त बाधित हो जायेगा ।

पूर्वपक्ष—दिग्भेदभेदी जिन अवयवों की कल्पना आप करेंगे वे ही मुझ वैशेषिक के मत में परमाणु हैं । सिद्धान्त—ऐसा मानना भी ठीक नहीं । स्थूल-सूक्ष्म तार-तम्य क्रम से परमकारणपर्यन्त क्रमशः

---

१. परिच्छिन्नत्वात् ।

मूतापि विनश्यति, ततः सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं च पृथिव्येकजातीयकं विनश्यति, ततो द्व्यणुकं, तथा परमाणवोऽपि पृथिव्येकजातीयकत्वाद्विनश्येयुः । विनश्यन्तोऽप्यवयवविभागेनैव विनश्यन्तीति चेत् । नायं दोषः । यतो घृतकाठिन्यविलयनवदपि विनाशोपपत्तिमवोचाम । यथा हि घृतसुवर्णादीनामविभज्यमानावयवानामप्यग्निसंयोगाद्द्रवभावापत्त्या काठिन्यविनाशो भवति, एवं परमाणूनामपि परमकारणभावापत्त्या मूर्त्यादिविनाशो भविष्यति । तथा कार्यारम्भोऽपि नावयवसंयोगेनैव केवलेन भवति, क्षीरजलादीनामन्त-

विदिग्भेदव्यवहारस्तदवधित्वेन येऽवयवास्त्वयोच्यन्ते त एव मम परमाणवस्तेऽपि सावयवाश्चेत् तदवयवा एवेति, एवं यतः परं न विभागः स एव निरवयवः परमाणुरिति शङ्कते—यांस्त्वमिति । परिहरति—न । स्थूलेति । अयमर्थः—यत्सर्वात्मना विभागायोग्यं वस्तु स परमाणुरिति यद्युच्येत, तर्हि ब्रह्मण एव परमाणुसंज्ञा कृता स्यात्, तदन्यस्य[1]ऽल्पस्य दिग्विभागार्हत्वेनावयवविभागावश्यंभावात् । यदि पृथिव्यादिजातियाऽल्पपरिमाणविश्रान्तिभूमिर्यः स परमाणुरित्युच्येत, तर्हि, तस्य न मूलकारणत्वं, विनाशित्वात्, घटवत् । नच हेत्वसिद्धिः, अणवो विनाशिनः, पृथिव्यादिजातीयत्वात् घटवदिति साधनादिति । संप्रति निरवयवद्रव्यस्य नाशहेत्वभावादात्मवदविनाश इत्याशङ्क्य पूर्वोक्तं परिहारं स्मारयति—विनश्यन्त इत्यादिना । ब्रह्मातिरिक्तस्याज्ञानिकत्वाच्च द्रव्यस्य निरवयवत्वमसिद्धम् । निमित्तादृष्टादिनाशाद्विनाशः प्रलये संभवति, मुक्तौ ज्ञानादज्ञाननाशे तत्कार्याणुनाशसंभव इति भावः । यदुक्तं यत्कार्यद्रव्यं तत्संयोगसचिवानेकद्रव्यारब्धमिति, तत्रेत्याह-तथा कार्यारम्भोऽपीति । केवलयं प्राधान्यम् । कार्यद्रव्यस्थितावपि हेतुत्वात्संयोगस्य क्षीरारम्भकसंयोगाद्दध्यारम्भकं न संयोगान्तरं, तथा च दध्यादौ व्यभिचारान्न व्याप्तिरित्यर्थः । किञ्च यत्कार्यद्रव्यं तद्द्रव्यारभ्यमित्येव व्याप्तिरस्तु लाघवात्, न तु संयोगसचिवस्वन्यूनपरिमाणानेकद्रव्यारभ्यमिति, गौरवात्, दीर्घविस्तृतदुकूलारब्धरज्जौ न्यूनपरिमाणायां व्यभिचाराच्च ।नच रज्जुर्न द्रव्यान्तरमिति वाच्यम्, अवयविमात्रविप्लवापातात् । किञ्च निरवयवद्रव्यत्वस्यैकात्मवृत्तित्वे लाघवाच्च निरवयवानेकाणुसिद्धिः । यत्त्वणुत्वतारतम्यविश्रान्तिभूमित्वेन तत्सिद्धिरिति । तन्न । त्र्यणुकत्वेनोक्तत्रुटिषु विश्रान्तेः । नच त एव त्रुटिनामानो जगद्धेतव इति वाच्यम्, पृथिवीत्वादिना सावयवत्वानित्यत्वयोरनुमानात् । न चावयवत्वस्य क्वचिद्विश्रान्तौ परमाणुसिद्धिरविश्रान्तावनवस्थेति वाच्यम्, मायायां ब्रह्मणि वावयवत्वविश्रान्तिसंभवात् । अतो न किञ्चिदणुसद्भावे प्रमाणम् । निरवयवानां संयोगसमवाययोरसंभवात्समवेतद्व्यणुकाद्यारम्भकत्वायोग

विनाशी सिद्ध होंगे अर्थात् जैसे द्व्यणुकादि की अपेक्षा पृथ्वी स्थूलतम है, वह वस्तुभूत होती हुई भी नष्ट हो जाती है; उसकी अपेक्षा सूक्ष्म और सूक्ष्मतर पृथ्वी के ह एक जाति द्व्यणुक और परमाणु हैं, वे भी नष्ट हो जायेंगे क्योंकि वे सब के सब पृथ्वी जाति वाले हैं । नाश होने वाले पदार्थ अवयवविभाग से ही नष्ट होते हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि घृतकाठिन्य का विलय अवयवविभाग के बिना भी हो जाता है; ऐसे ही परमाणुओं का विनाश भी अवयवविभाग के बिना हो जायेगा, ऐसा हम पहले कह आये हैं अर्थात् जैसे घृत, सुवर्णादि के अवयव अविभाज्य रहने पर भी अग्निसयोग से पिघलते ही उससे उनका काठिन्य नष्ट हो जाता है, ऐसे ही परमाणुओं का भी परमकारण ब्रह्मभावापत्ति से मूर्तादि रूप नष्ट हो जायेगा । उसी प्रकार केवल अवयवसंयोग से ही कार्य बनता है, ऐसा भी वैशेषिक नहीं कह सकते क्योंकि दुग्ध और जलादि में अवयव संयोगान्तर के बिना भी दधि

१. साध्वप्रयोगः ।　२. परिच्छिन्नस्य ।

४. समुदायाधिकरणम् । (सू० १८–२७)

(१८९) समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ।।१८।।

समुदायावुभौ युक्तावयुक्तौ वाऽणुहेतुकः । एकोऽपरः स्कन्धहेतुरित्येव युज्यते द्वयम् ।
स्थिरचेतनराहित्यात्स्वयं चाचेतनत्वतः । न स्कन्धानामणूनां वा समुदायोऽत्र युज्यते ।।

रेणाप्यवयवसंयोगान्तरं दधिहिमादिकार्यारम्भदर्शनात् । तदेवमसारतरतर्कसंदृब्धत्वादीश्वरकारणश्रुतिविरुद्धत्वाच्छ्रुतिप्रवणैश्च शिष्टैर्मन्वादिभिरपरिगृहीतत्वादत्यन्तमेवानपेक्षास्मिन्परमाणुकारणवादे कार्या श्रेयोर्थिभिरिति वाक्यशेषः ।।१७।।

वैशेषिकराद्धान्तो दुर्युक्तियोगाद्वेदविरोधाच्छिष्टापरिग्रहाच्च नापेक्षितव्य इत्युक्तम् । सोऽर्धवैनाशिक इति वैनाशिकत्वसाम्यात्सर्ववैनाशिकराद्धान्तो नतरामपेक्षितव्य इतीदमि-

---

इत्यादि बाधकमुक्तमेव । संप्रति 'अपरिग्रहाच्च' इति सूत्रवाक्यशेषं पूरयन्नधिकरणार्थमुपसंहरति— तदेवमिति । **तस्माद्भ्रान्तिमूलेन वैशेषिकमतेन वेदान्ततात्पर्यस्याविरोध इति सिद्धम् ।।१७।।**

वैशेषिकं निरस्य वैनाशिकं निरस्यति— समुदाय इति । **परिमाणभेदेन देहादेराशुतरविनाशाङ्गीकारादर्धवैनाशिको वैशेषिकस्तस्य निरासानन्तरं सर्वक्षणिकवादी बुद्धिस्थो निरस्यत इति प्रसङ्गसंगतिमाह—**वैशेषिकेति । '[1]**नाभाव उपलब्धेः' इति निरसनीयसिद्धान्तादत्र निरस्यसिद्धान्तस्य भेदं वक्तुं**

एवं हिमादि कार्य का आरम्भ देखा गया है। अतः अत्यन्त असारतर तर्क से युक्त होने के कारण, ईश्वरकारणवादिनी श्रुति से विरुद्ध होने के कारण एवं कुशल चिन्तनशील मन्वादि शिष्टों से अपरिगृहीत होने के कारण वैशेषिकों के इस परमाणुकारणवाद में कल्याणकामी श्रेष्ठ पुरुषों को अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए, ऐसा इस सूत्र का निष्कर्ष सिद्ध होता है ।।१७।।

४. समुदायाधिकरण

१. संगति—इससे पूर्व अर्धवैनाशिक वैशेषिक मत का निराकरण किया गया, अब वैनाशिकत्वसादृश्य के कारण सर्ववैनाशिक सिद्धान्त बुद्धिस्थ है जिसका निराकरण अवान्तर सङ्गति के कारण इस अधिकरण द्वारा किया जायेगा।

२ **विषय**—बाह्यास्तित्ववाद सौत्रान्तिक-वैभाषिकों का है, उसी का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. **संशय**—क्या बाह्यास्तित्ववाद प्रमाणमूलक है अथवा नहीं है ?

४. **पूर्वपक्ष**—परमाणुहेतुक बाह्य पृथिव्यादि भूतचतुष्टय एवं रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कारसंज्ञक पञ्चस्कन्धहेतुक आध्यात्मिक समुदाय, ऐसा बाह्यास्तित्ववादी बौद्धों का मत प्रमाणमूलक है।

५. **सिद्धान्त**—कारण स्वरूपतः अचेतन है और स्थिरचैतन्य से रहित भी है। अतः स्कन्ध और परमाणु का समुदाय बाह्यास्तित्ववादियों के मत से नहीं बन सकता।

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः (ललिता)

वैशेषिक मत का खण्डन करने के बाद बौद्ध मत का खण्डन प्रारम्भ करते हैं। परिणामभेद के कारण देहादि शीघ्र विनाशी हैं, ऐसा अर्ध वैनाशिक वैशेषिकों का मत है, उसका खण्डन किया गया। अब जो सर्वक्षणिकवाद बुद्धि में आरूढ़ है, प्रसंगतः उसी का खण्डन करना है इस प्रकार प्रसङ्गप्रसङ्गतिरूप सम्बन्ध पूर्वोत्तर अधिकरणों का मानना चाहिए। दुर्युक्ति से सम्बद्ध होने

---

१. ब्र. सू. २-२-२८ ।

दानीमुपपादयामः । स च बहुप्रकारः, प्रतिपत्तिभेदाद्विनेयभेदाद्वा । तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति—केचित्सर्वास्तित्ववादिनः, केचिद्विज्ञानास्तित्वमात्रवादिनः, अन्ये पुनः सर्वशून्यत्ववादिन इति । तत्र ये सर्वास्तित्ववादिनो बाह्यमान्तरं च वस्त्वभ्युपगच्छन्ति भूतं भौतिकं च चित्तं चैत्तं च, तांस्तावत्प्रतिब्रूमः । तत्र भूतं पृथिवीधात्वादयः भौतिकं रूपादयश्चक्षुरादयश्च । चतुष्टये च पृथिव्यादिपरमाणवः खरस्नेहोष्णेरणस्वभावास्ते पृथिव्यादिभावेन संहन्यन्त इति मन्यन्ते । तथा रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकाः पञ्चस्कन्धाः । तेऽप्या-

---

त्तसिद्धान्त विभजते—सचेति । ननु सुगतप्रोक्तागमस्यैक्यात् कुतो बहुप्रकारता ? तत्राह—प्रतिपत्तीति । एकस्यैवागमव्याख्यातुः शिष्यस्यावस्थाभेदेन बुद्धिभेदात्, मन्दमध्यमोत्तमधियां शिष्याणां वा भेदाद्बहुप्रकारतेत्यर्थः । तानेव प्रकारानाह—तत्रेति । सौत्रान्तिको वैभाषिको योगाचारी माध्यमिकश्चेति चत्वारः शिष्याः । तेष्वाद्ययोर्बाह्यार्थानां परोक्षत्वापरोक्षत्वविवादेऽप्यस्तित्वसंप्रतिपत्तेस्तयोः सिद्धान्तमेकीकृत्य निरस्यत इत्याह—तत्र ये सर्वास्तित्वेति । भूतं भौतिकं बाह्यं, चित्तं चैतं च कामाद्यान्तरमिति विभागः । तत्र संदिह्यते किं मानमूलो भ्रान्तिमूलो वायं सिद्धान्त? इति । तत्र प्रमाणमूल इति पूर्वपक्षयन् सिद्धान्तं तदीयं दर्शयति—तत्र भूतमिति । स्थिरः प्रपञ्चो ब्रह्महेतुक इति वेदान्तसिद्धान्तस्य मानमूलक्षणिकसिद्धान्तविरोधादसिद्धिः पूर्वपक्षे फलं, सिद्धान्ते तदविरोध इति ज्ञेयम् । पृथिव्यादिभूतचतुष्टयं विषयेन्द्रियात्मकं भौतिकं च परमाणुसमुदाय एव नावयव्यन्तरमिति मत्वा परमाणून् विभजते—चतुष्टये चेति । चतुर्विधा इत्यर्थः । खरः कठिनस्तत्स्वभावाः पार्थिवाः परमाणवः, स्निग्धा आप्याः, उष्णास्तैजसाः, ईरणं चलनस्वभावो वायव्यानामिति । बाह्यसमुदायमुक्त्वाध्यात्मिकसमुदायमाह—तथेति । सविषयेन्द्रियाणि रूपस्कन्धः, विषयाणां बाह्यत्वेऽपि देहस्थेन्द्रियग्राह्यत्वादाध्यात्मिकत्वम्, अहमहमित्यालयविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः, सुखाद्यनुभवो वेदनास्कन्धः, गौरश्व इत्येवं नामविशिष्टसवि-

---

के कारण वेदविरुद्ध और शिष्टों से अपरिगृहीत होने के कारण वैशेषिक मत मुमुक्षुओं के लिए अपेक्षित नहीं है, ऐसा कहा था; वह मत अर्धवैनाशिक है । अब सर्ववैनाशिक सिद्धान्त सर्वथा अपेक्षा के योग्य नहीं है इसीलिए हम इसका उपपादन करते हैं । वह सिद्धान्त बुद्धिभेद से अथवा मन्द, मध्यम, उत्तम बुद्धिवाले शिष्यों के भेद से अनेक प्रकार के हैं; उनमें से तीन भेद प्रधान माने जाते हैं । कुछ लोग सर्वास्तित्ववादी हैं, कुछ विज्ञानास्तित्ववादी हैं और कुछ सर्वशून्यवादी हैं इनमें भी सर्वास्तित्ववादी सौत्रान्तिक और वैभाषिक में कुछ मतभेद होने पर भी उन्हें एक श्रेणी में रखकर खण्डन करना है । जो सर्वास्तित्ववादी बाह्य एवं आभ्यन्तर वस्तु मानते हैं, जो भूत-भौतिक चित्त और चैत्त्य रूप है, उनका खण्डन हम पहले करते हैं । उनमें से पृथ्वी धात्वादि भूत पदार्थ हैं एवं रूपादि विषय तथा चक्षुरादि इन्द्रियाँ भौतिक पदार्थ हैं । पृथिव्यादि के परमाणु चार प्रकार के हैं—कठिन स्वभाव होने के कारण पार्थिव परमाणु खर हैं, स्निग्ध होने के कारण जलीय परमाणु स्नेह है, तैजस परमाणु उष्ण स्वभाव हैं और चलन स्वभाव वायु परमाणु इरणरूप हैं । ये परमाणु ही पृथिव्यादि रूप से संहत हो जाते हैं, ऐसा सर्वास्तित्ववादी मानते हैं । इस प्रकार बाह्य समुदाय को बतला देने के बाद आध्यात्मिक समुदाय आभ्यन्तररूप मानते हैं जिसके रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कारनामक पाँच स्कन्ध हैं । विषय बाहर रहने पर भी देहस्थ इन्द्रिय से ग्रहण के योग्य होने के कारण उन्हें आध्यात्मिक कहते हैं । विषयों के सहित इन्द्रियाँ रूपस्कन्ध हैं । अहम्-अहम् इस प्रतीति के विषय आलयविज्ञानप्रवाह को विज्ञान स्कन्ध कहते हैं । सुखादि अनुभव को वेदना स्कन्ध एवं गौः-अश्वः ऐसे

ध्यात्मं सर्वव्यवहारास्पदभावेन संहन्यन्त इति मन्यन्ते।

तत्रेदमभिधीयते—योऽयमुभयहेतुक उभयप्रकारः समुदायः परेषामभिप्रेतोऽणुहेतुकश्च भूतभौतिकसंहतिरूपः, स्कन्धहेतुकश्च पञ्चस्कन्धीरूपः तस्मिन्नुभयहेतुकेऽपि समुदायेऽभिप्रेयमाण तदप्राप्तिः स्यात्समुदायाप्राप्तिः। समुदायभावानुपपत्तिरित्यर्थः। कुतः ? समुदायिनामचेतनत्वात्। चित्ताभिज्वलनस्य च समुदायसिद्धयधीनत्वात्। [1]अन्यस्य च कस्यचिच्चेतनस्य भोक्तुः प्रशासितुर्वा स्थिरस्य संहन्तुरनभ्युपगमात्। निरपेक्षप्रवृत्त्यभ्युपगमे च प्रवृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात्। आशयस्याप्यन्यत्वानन्यत्वाभ्यामनिरूप्यत्वात्। क्षणिकत्वाभ्युपगमाच्च निर्व्यापारत्वात्प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तस्मात्समुदायानुपपत्तिः। समुदायानुपपत्तौ च तदाश्रया लोकयात्रा लुप्येत ॥१८॥

कल्पकप्रत्ययः संज्ञास्कन्धः, रागद्वेषमोहधर्माधर्माः संस्कारस्कन्धः। तत्र विज्ञानस्कन्धश्चित्तमात्मेति गीयते। अन्ये चत्वारः स्कन्धश्चैत्तास्तेषां संघात आध्यात्मिकः। सकललोकयात्रानिर्वाहक इत्यर्थः।

अवयवातिरिक्तावयव्यनुपलब्धेरवयवाः शिष्यन्ते, यत्सत् तत्क्षणिकं, यथा विद्युदिति तेषां क्षणिकत्वमिति मानमूलोऽयं सिद्धान्त इति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रं योजयति—योऽयमिति। सर्वाबौ परमाणूनां च स्कन्धानां च स्वतःसंघातस्तावन्न संभवति, अचेतनत्वात्। नापि चिताख्यमभिज्वलनं विज्ञान समुदायहेतुः, संघाते देहाकारे जाते विज्ञानं, विज्ञाने जाते संघात इत्यन्योन्याश्रयात्। नच क्षणिकविज्ञानादन्यः कश्चिज्जीव ईश्वरो वा त्वयाभ्युपगम्यते यः संघातकर्ता भवेत्। नच कर्तारमनपेक्ष्याणवः स्कन्धाश्च स्वयमेव संघातार्थं प्रवर्तन्त इति वाच्यम्, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। नन्वालयविज्ञानसंतानः संहन्तास्त्वित्यत आह—आशयस्येति। आशेरतेऽस्मिन् रागादय इत्याशयः संतानः, स किं संतानिभ्योऽन्यो विज्ञानिभ्योऽन्योऽनन्यो वा। आद्येऽपि स्थिरः क्षणिको वा। नाद्यः, अस्मदिष्टनित्यात्मवादप्रसङ्गात्। द्वितीये दोषमाह—क्षणिकत्वेति। क्षणिकस्य जन्मातिरिक्तव्यापारो नास्ति, तस्मात्तस्य परमाण्वादिमेलनार्थं प्रवृत्तिरनुपपन्ना, क्षणिकत्वव्याघातादित्यर्थः। एतेनान्यः संतान इति पक्षो निरस्तः, क्षणिकस्य मेलकत्वानुपपत्तेः, तस्मात् संहन्तुरसत्त्वात् संघातानुपपत्तिरित्यर्थः ॥१८॥

नामविशिष्ट सविकल्पक प्रत्यय को संज्ञा स्कन्ध कहते हैं। राग, द्वेष, मोह, धर्माधर्म संस्कार स्कन्ध है। उनमें विज्ञान स्कन्ध चित्त को आत्मा कहते हैं, शेष चार स्कन्ध चैत्यरूप हैं। इनका संघात आध्यात्मिक है जो सकललोकयात्रा का निर्वाहक है। अवयव से भिन्न अवयवी उपलब्ध न होने के कारण सब कुछ विद्युत् की भाँति क्षणिक अवयवरूप ही है। इस मान्यता को प्रामाणिक माना जाय अथवा अप्रामाणिक, इस बात की परीक्षा करते हुए सिद्धान्त पक्ष से सूत्र द्वारा कहा गया है कि—

परमाणुहेतुक भूतभौतिकसंघातरूप और स्कन्धहेतुक पञ्चस्कन्धीरूप जो यह उभयहेतुक समुदाय सर्वास्तित्ववादी को अभिप्रेत है उसकी सिद्धि नहीं होती है क्योंकि समुदायी को उन्होंने अचेतन माना है और चित्त का प्रकाश समुदायसिद्धि के आधीन है। विज्ञान से भिन्न किसी चेतन भोक्ता अथवा प्रशासक स्थिरसंघात को वे मानते नहीं हैं। चेतन की अपेक्षा किये बिना प्रवृत्ति मानने पर प्रवृत्ति का विराम कभी भी नहीं होगा। आशयरूप सन्तान भी अपने सन्तानी से भिन्नाभिन्न नहीं बतलाया जा सकता, उन्हें क्षणिक भी माना है जिनमें व्यापार न होने के कारण प्रवृत्ति भी सिद्ध नहीं होती। अतः समुदाय की सिद्धि इस मत में नहीं हो पाती और समुदाय की सिद्धि न होने पर तदाश्रित लोकयात्रा भी लुप्त होने लग जायेगी ॥१८॥

---

१. विज्ञानादिति शेषः। २. संघातेभ्यः।

(१९०) इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥१९॥

यद्यपि भोक्ता प्रशासिता वा कश्चिच्चेतनः संहन्ता स्थिरो नाभ्युपगम्यते, तथाप्यविद्यादीनामितरेतरकारणत्वादुपपद्यते लोकयात्रा । तस्यां चोपपद्यमानायां न किंचिदपरमपेक्षितव्यमस्ति । ते चाविद्यादयोऽविद्या संस्कारो विज्ञानं नाम रूपं षडायतनं स्पर्शो वेदना तृष्णा उपादानं भवो जातिर्जरा मरणं शोकः परिदेवना दुःखं दुर्मनस्तेत्येवंजातीयका इतरेतरहेतुकाः सौगते समये क्वचित्संक्षिप्ता निर्दिष्टाः क्वचित्प्रपञ्चिताः । सर्वेषामप्ययमविद्यादिकलापोऽप्रत्याख्येयः ।

संहन्तुरभावेऽपि संघातोपपत्तिमाशङ्क्य निषेधति—इतरेति । कार्यं प्रत्ययते गच्छतीति प्रत्ययः कारणम् । अविद्यादिभिरेवार्थात् संघातसिद्धौ व्यवहारोपपत्तिरित्यर्थः । अविद्यादीनाह—ते चेति । क्षणिकेषु स्थिरत्वबुद्धिरविद्या, ततो रागद्वेषमोहाः संस्कारा भवन्ति, तेभ्यो गर्भस्थस्याऽऽद्यं विज्ञानमुत्पद्यते, तस्माच्चालयविज्ञानात् पृथिव्यादिचतुष्टयं नामाश्रयत्वान्नाम भवति । ततो रूपं सितासितात्मकं शुक्रशोणितं निष्पद्यते । गर्भस्य 'कललबुद्बुदावस्था नामरूपशब्दार्थ इति निष्कर्षः । विज्ञानं पृथिव्यादिचतुष्टयं रूपं चेति षडायतनानि यस्येन्द्रियजातस्य तत् षडायतनं, नामरूपेन्द्रियाणां मिथः संयोगः स्पर्शः, ततः सुखादिका वेदना, तया पुनर्विषयतृष्णा, तया प्रवृत्तिरुपादानं, तेन भवत्यस्माज्जन्मेति भवो धर्मादिः, ततो जातिर्देहजन्म पञ्चस्कन्धसमुदाय इति यावत् । जातानां स्कन्धानां परिपाको जरास्कन्धः, नाशः मरणं, म्रियमाणस्य पुत्रादिस्नेहादन्तर्दाहः शोकः, तेन हा पुत्रेत्यादि विलापः परिदेवना, अनिष्टानुभवो दुःखं, तेन दुर्मनस्ता मानसी व्यथा, इतिशब्दो मानापमानादिक्लेशसंग्रहार्थः । न केवलं सुगतानामेवाविद्यादयः संमताः, किंतु सर्ववादिनामपीत्याह—सर्वेषामिति ।

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् (ललिता)

संघातकर्ता के न रहने पर भी संघात की सिद्धि की आशङ्काकर, उसका निषेध इस सूत्र से करते हैं —

जो कार्य को प्राप्त करता है उस कारण को प्रत्यय कहते हैं, उसी अविद्यादि के द्वारा अर्थतः संघात की सिद्धि हो जाने पर व्यवहार सिद्ध हो जाता है; इस बात को सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यद्यपि कोई चेतन संघातभोक्ता या प्रशासक स्थिर हम नहीं मानते फिर भी अविद्यादि को एक दूसरे का कारण मान लेने से लोकयात्रा सिद्ध हो जाती है, लोकयात्रा के सिद्ध होने पर किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रह जाती । अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण, शोक, परिदेवना, दुःख एवं दुर्मनस्ता; इन सबको बौद्धों ने इतरेतरहेतुक माना है जिनका कहीं पर संक्षेप और कहीं पर विस्तार से वर्णन किया गया है । 'इति' शब्द से मानापमानादि क्लेश भी संगृहीत हो जाते हैं । अविद्यादि समुदाय का खण्डन कोई भी कर नहीं सकता, ऐसी उनकी मान्यता है ।

---

१. शुक्रशोणितसन्निपातः कललः । २. प्रलाप इति पाठान्तरम् ।

तदेवमविद्यादिकलापे परस्परनिमित्तनैमित्तिकभावेन घटीयन्त्रवदनिशमावर्तमानेऽर्थाक्षिप्त उपपन्नः संघात इति चेत् । तन्न । कस्मात् ? उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् । भवेदुपपन्नः संघातो यदि संघातस्य किंचिन्निमित्तमवगम्येत । न त्ववगम्यते । यत इतरेतरप्रत्ययत्वेऽप्यविद्यादीनां पूर्वपूर्वमुत्तरोत्तरस्योत्पत्तिमात्रनिमित्तं भवद्भवेन्न तु संघातोत्पत्तेः किंचिन्निमित्तं संभवति । नन्वविद्यादिभिरर्थादाक्षिप्यते संघात इत्युक्तम् । अत्रोच्यते—यदि तावदयमभिप्रायोऽविद्यादयः संघातमन्तरेणात्मानमलभमाना अपेक्षन्ते संघातमिति, ततस्तस्य संघातस्य निमित्तं वक्तव्यम् । तच्च नित्येष्वप्यणुष्वभ्युपगम्यमानेष्वाश्रयाश्रयिभूतेषु च भोक्तृषु सत्सु न सम्भवतीत्युक्तं वैशेषिकपरीक्षायाम् । किमङ्ग पुनः क्षणिकेष्वप्यणुषु भोक्तृरहितेष्वाश्रयाश्रयशून्येषु वाभ्युपगम्यमानेषु सम्भवेत् । अथायमभिप्रायोऽविद्यादय एव संघातस्य निमित्तमिति, कथं तमेवाश्रित्यात्मानं लभमानास्तस्यैव निमित्तं स्युः । अथ मन्यसे संघाता

अविद्यादिहेतुका जन्मादयो जन्मादिहेतुकाश्चाविद्यादय इति मिथो हेतुहेतुमद्भावादर्थात्संघातसिद्धिरिति शङ्कामुपसंहरति—तदेवमिति । सिद्धान्तभागं व्याचष्टे—तन्नेति । अविद्यादीनामुत्तरोत्तरहेतुत्वमङ्गीकृत्य संघातहेत्वभावात् संघातो न स्यादित्युक्ते पूर्वोक्तं स्मारयति—नन्विति । किमविद्यादयः संघातस्य गमका उतोत्पादका इति विकल्प्याद्य संघातस्योत्पादकं किंचिद्वाच्यं, तन्नास्तीत्याह—अत्रोच्यते, यदीति । आश्रयाश्रयिभूतेष्विति भोक्तृविशेषणम् । अदृष्टाश्रयेष्वित्यर्थः । यदा स्थिरेष्वणुषु संघातयोग्येषु कर्तृषु चादृष्टसहायेषु सत्सु ज्ञानाभावमात्रेण संहतिकर्तृत्वायोगात्संघातापत्तेर्निमित्तं नास्तीत्युक्तं, तदा क्षणिकपक्षे तन्नास्तीति किमु वक्तव्यमित्याह—किमिति । आश्रयाश्रयः संघातकर्ता तच्छून्येष्वित्यर्थः । 'आश्रयाश्रयिशून्येषु' इति पाठे उपकार्योपकारकत्वशून्येष्वित्यर्थः । द्वितीयं शङ्कते—अथायमिति । संघातस्याऽविद्यादीनां चोत्पत्तावन्योन्याश्रयः स्यादिति दूषयति—कथमिति । स्वाभाविकः खल्वयं संघातानां हेतुहेतुमद्भावेन प्रवाहो न संहन्तारमपेक्षते, पूर्वसंघाताश्रया अविद्यादय उत्तरसंघातप्रवर्तका इति नान्योन्याश्रयदोषोऽपीत्याशङ्कते—अथ मन्यस इति । स्वभावस्य नियमानियमयो-

पर सिद्धान्त पक्ष से कहते हैं कि इस प्रकार अविद्यादि कलाप परस्पर निमित्तनैमितिकभाव से घटीयन्त्र की भाँति सदा घूमते रहने से अर्थतः संघात बन जाता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ये उत्पत्तिमात्र के निमित्त हो सकते हैं, संघात के निमित्त नहीं हो सकते । पूर्व अविद्या उक्त रीति से उत्तर अविद्या को उत्पन्न कर भी दे फिर भी संघात का होना सम्भव नहीं है । यदि संघात का कोई निमित्त जाना जाता तो संघात का होना सम्भव हो सकता था किन्तु संघात का निमित्त कोई दीखता भी नहीं है । अविद्यादि को इतरेतर का कारण मानने पर भी संघात उत्पत्ति के निमित्त ये नहीं हो सकते । पूर्वपक्ष—अविद्यादि के द्वारा अर्थतः संघात का होना हम मानते हैं । सिद्धान्त—अविद्यादि संघात के बिना स्वरूपलाभ नहीं कर सकते, अतः संघात का निमित्त पहले आप को बतलाना पड़ेगा । नित्य परमाणुओं को स्वीकार करो और आश्रयाश्रयीरूप भोक्ता को मानो तो यह भी आप के मत मेंसम्भव नहीं है, ऐसा वैशेषिकों की परीक्षा करते हुए हम कह आये हैं । नित्य परमाणु और नित्य जीवको मानने पर भी वैशेषिक मत में जब संघात सिद्ध न हो सका तो भला भोक्तारहित अथवा आश्रय शून्य क्षणिक परमाणुओं के मानने पर कैसे संघात सिद्ध हो सकेगा । तात्पर्य यह है कि अविद्यादि को हीसंघात का निमित्त आप मानते हैं, वे संघात का आश्रय लेकर जीने वाले अविद्यादि संघात के निमित्त कैसे हो सकेंगे । और यदि मानते हो कि अनादि संसार में संघात ही अनुवृत्त रहते हैं और उसी के आश्रित अविद्यादि

१. कारणत्वेपि ।

(१६१) उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥२०॥

एवानादौ संसारे संतत्यानुवर्तन्ते तदाश्रयाश्चाविद्यादय इति, तदापि संघातात्संघातान्तरमुत्पद्यमानं नियमेन वा सदृशमेवोत्पद्येत, अनियमेन वा सदृशं विसदृशं वोत्पद्येत। नियमाभ्युपगमे मनुष्यपुद्गलस्य देवतिर्यग्योनिनारकप्राप्त्यभावः प्राप्नुयात् । अनियमाभ्युपगमेऽपि मनुष्यपुद्गलः कदाचित्क्षणेन हस्ती भूत्वा देवो वा पुनर्मनुष्यो वा भवेदिति प्राप्नुयात् । उभयमप्यभ्युपगमविरुद्धम्। अपि च यद्भोगार्थः संघातः स्यात्स नास्ति स्थिरो भोक्तेति तवाभ्युपगमः । ततश्च भोगो भोगार्थ एव स नान्येन प्रार्थनीयः। तथा मोक्षो मोक्षार्थ एवेति मुमुक्षुणा नान्येन भवितव्यम् । अन्येन चेत्प्रार्थ्येतोभयं भोगमोक्षकालावस्थायिना तेन भवितव्यम् । अवस्थायित्वे क्षणिकत्वाभ्युपगमविरोधः । तस्मादितरेतरोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वमविद्यादीनां यदि भवेद्भवतु नाम न तु संघातः सिद्ध्येत् । भोक्त्रभावादित्यभिप्रायः ॥१६॥

उक्तमेतदविद्यादीनामुत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वान्न संघातसिद्धिरस्तीति । तदपि तूत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वं न सम्भवतीतीदमिदानीमुपपाद्यते । क्षणभङ्गवादिनोऽयमभ्युपगम उत्तरस्मिन्क्षण

रपसिद्धान्तापातः स्यादिति परिहारार्थः। पूर्यते गलति चेति पुद्गलो देहः। किंच भोक्तुः क्षणिकत्वपक्षे भोगापवर्गव्यवहारोऽपि दुर्घट इत्याह—अपि चेति। यो यदिच्छति स तत्काले नास्ति चेदिच्छा व्यर्था, अस्ति चेत् क्षणिकत्वभङ्ग इत्यर्थः। प्रकृतं संघातनिरासमुपसंहरति—तस्मादिति ॥१६॥

द्विविधो हि कार्यसमुत्पादः सुगतसंमतो हेत्वधीनः कारणसमुदायाधीनश्चेति । तत्राविद्यातः संस्कारस्ततो विज्ञानमित्येवंरूपः प्रथमः, पृथिव्यादिसमुदायात्कार्यं इत्येवं द्वितीयः, तत्राद्यमङ्गीकृत्य द्वितीयः संघातकर्त्रभावेन दूषितः। संप्रत्याद्यं दूषयति सूत्रकारः- उत्तरेति। क्षणिकोऽर्थः क्षण इत्युच्यते।

है, तब तो संघात से संघातान्तर उत्पन्न होकर नियमतः सदृश ही होगा अथवा कभी सदृश और कभी विसदृश भी उत्पन्न होगा। प्रथम पक्षानुसार सदृश उत्पत्ति स्वीकार करने पर मनुष्य देह को देव, तिर्यग् योनि एवं नारकीय योनि की प्राप्ति का अभाव हो जायेगा और द्वितीय कल्पानुसार अनियम स्वीकार करने पर भी मनुष्य देह कदाचित् क्षणमात्र में हाथी बनकर देव अथवा मनुष्य भी होने लग जायेगा। नियम और अनियम दोनों मानना तो विरुद्ध है और यदि संघात भोगार्थ माना जाय तो वह आप के पक्ष में स्थिर भोक्ता न रहने के कारण असंगत ही होगा। ऐसी स्थिति में भोग भोग के लिए ही होता है, उसकी इच्छा कोई दूसरा नहीं कर सकेगा। वैसे ही मोक्ष मोक्ष के लिए ही माना जायेगा, मोक्षाकांक्षावाला मुमुक्षु दूसरा सिद्ध न हो सकेगा। यदि भोग मोक्ष से भिन्न है ऐसा माना जाय तो भोक्ता एवं मुमुक्षु को जो उनकी आकांक्षा रखता है भोगकालपर्यन्त स्वीकार करना होगा। इस प्रकार इन दोनों को स्थायी मानने पर क्षणिकत्व सिद्धान्त का विरोध होने लग जायेगा। अतः अविद्यादि में इतरेतर उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्व स्वीकार किया जाय तो भले ही मान लें, पर भोक्ता के अभाव में संघात की सिद्धि नहीं हो सकेगी ॥१६॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् (ललिता)

पिछले सूत्र में अविद्यादि को उत्तर अविद्यादि की उत्पत्ति में निमित्त मानने पर भी संघात की सिद्धि नहीं होती है, ऐसा कहा गया था। विचार करने पर अविद्यादि में उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्व भी सम्भव नहीं है, ऐसा अब बतलाते हैं। क्षणभङ्गवादियों का यह मत है कि उत्पद्यमान उत्तरक्षण में

उत्पद्यमाने पूर्वः क्षणो निरुध्यत इति । न चैवमभ्युपगच्छता पूर्वोत्तरयोः क्षणयोर्हेतुफलभावः शक्यते सम्पादयितुम् । निरुध्यमानस्य निरुद्धस्य वा पूर्वक्षणस्याभावग्रस्तत्वादुत्तरक्षणहेतुत्वानुपपत्तेः । अथ भावभूतः परिनिष्पन्नावस्थः पूर्वक्षण उत्तरक्षणस्य हेतुरित्यभिप्रायस्तथापि नोपपद्यते, भावभूतस्य पुनर्व्यापारकल्पनायां क्षणान्तरसम्बन्धप्रसङ्गात् । अथ भाव एवास्य व्यापार इत्यभिप्रायस्तथापि [1]नैवोपपद्यते । [2]हेतुस्वभावानुपरक्तस्य फलस्योत्पत्त्यसम्भवात् । स्वभावोपरागाभ्युपगमे च हेतुस्वभावस्य फलकालावस्थायित्वे सति क्षणभङ्गाभ्युपगमत्यागप्रसङ्गः । विनैव वा स्वभावोपरागेण हेतुफलभावमभ्युपगच्छतः सर्वत्र तत्प्राप्तेरतिप्रसङ्गः ।

अपि चोत्पादनिरोधौ नाम वस्तुनः स्वरूपमेव वा स्यातामवस्थान्तरं वा वस्त्वन्तरमेव वा, दर्शतादर्शनेवा सर्वथापि नोपपद्यते । यदि तावद्वस्तुनः स्वरूपमेवोत्पादनिरोधौ स्यातां, ततो वस्तुशब्द उत्पादनिरोधशब्दौ च पर्यायाः प्राप्नुयुः । अथास्ति कश्चिद्विशेष इति मन्येतोत्पाद

निरुध्यमानत्वं विनाशकसान्निध्यं, निरुद्धत्वमतीतत्वम् । ननु कार्यकाले विनाशव्याप्तत्वेपि पूर्वक्षणे सत्त्वात् क्षणिकाऽर्थस्य हेतुत्वमक्षतमिति शङ्कते—अथ भावेति । सद्रूप इत्यर्थः । किं हेतोरुत्पत्त्यतिरिक्तः कार्योत्पादनाख्यो व्यापारः, अनतिरिक्तो वा ? नाद्य इत्युक्त्वा द्वितीयं शङ्कते—अथेति । भाव उत्पत्तिः, उक्तं हि - 'भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यत' इति । येषां क्षणिकभावानां या भूतिः सैव क्रिया कारकं चेत्यर्थः । नष्टस्यापि निमित्तत्वं स्यान्नोपादानत्वं, तथा च मृदादेर्घटादिकालासत्त्वे घटाद्यनुत्पत्तिः । सत्त्वे च क्षणिकत्वहानिरिति परिहरति—तथापीत्यादिना । प्रथमपक्षोक्तदोषं द्रढयति—विनैवेति ।

वस्तुनो जन्मध्वंसानिरूपणाच्च न क्षणिकत्वमित्याह—अपि चेति । तयोः स्वरूपत्वे वस्तुन्यन्तर्भावाद्वस्तुनोऽनाद्यनन्तत्वमित्यपि द्रष्टव्यम् । द्वितीयं शङ्कते—अथास्तीति । विशेषमेवाह—उत्पादेति ।

पूर्वक्षण नष्ट हो चुका है । ऐसा मानने वाले पूर्वोत्तरक्षणों में कार्यकारणभाव की सिद्धि भी नहीं कर सकते क्योंकि निरुध्यमान अथवा निरुद्ध पूर्वक्षण अभावग्रस्त होने के कारण उत्तरक्षण का हेतु नहीं हो सकता । मान लिया कि भावरूप परिनिष्पन्नावस्थावाला पूर्वक्षण उत्तरक्षण का हेतु है, ऐसा बौद्धों का अभिप्राय है; किन्तु इस प्रकार भी पूर्वोत्तरक्षण में कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता क्योंकि सिद्ध वस्तु में पुनर्व्यापार की कल्पना करने पर क्षणान्तर के साथ सम्बन्ध का प्रसङ्ग आ जायेगा । यदि कहो कि भाव ही इसका व्यापार है तो भी हेतुस्वभाव असम्बद्ध पूर्वक्षण में हेतुत्व सिद्ध नहीं होता, फिर तो फल की उत्पत्ति असम्भव ही मानी जायेगी । साथ ही हेतुस्वभाव सम्बद्ध मानने पर, फलपर्यन्त हेतुरूप को स्थायी कहने से क्षणभङ्गसिद्धान्त का त्याग करना पड़ेगा । अथवा स्वभाव उपराग के बिना ही हेतुफलभाव माना जाय तो सर्वत्र सब कुछ उत्पन्न होने लग जायेगा अर्थात् सभी वस्तु में हेतुफलभाव का प्रसङ्ग आ जायेगा ।

इसके अतिरिक्त एक प्रश्न यह भी होता है कि उत्पत्ति और विनाश वस्तु का स्वरूप ही है अथवा अवस्थान्तर है या वस्त्वन्तर है जो दर्शन और अदर्शनरूप है, इनमें से कोई भी विकल्प युक्तियुक्त सिद्ध नहीं होता । यदि उत्पाद और निरोध को वस्तु का स्वरूप ही माना जाय तो वस्तु शब्द उत्पाद एवं निरोध शब्द का पर्याय बन जायेगा । यदि मानो कि उत्पाद-निरोध से भिन्न कोई विशेष वस्तु है तो

---

1. हेतुत्वमिति । 2. पूर्वक्षणिकस्य

(१६२) असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥२१॥

निरोधशब्दाभ्यां मध्यवर्तिनो वस्तुन आद्यन्ताख्ये अवस्थे अभिलप्येते इति, एवमप्याद्यन्तमध्यक्षणत्रयसम्बन्धित्वाद्वस्तुनः क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिः। अथात्यन्तव्यतिरिक्तावेवोत्पादनिरोधौ वस्तुनः स्यातामश्वमहिषवत्, ततो वस्तु उत्पादनिरोधाभ्यामसंसृष्टमिति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्गः। यदि च दर्शनादर्शने वस्तुना उत्पादनिरोधौ स्याताम्, एवमपि द्रष्टृधर्मौ तौ न वस्तुधर्माविति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्ग एव। तस्मादप्यसङ्गतं सौगतं मतम् ॥२०॥

क्षणभङ्गवादे पूर्वक्षणो निरोधग्रस्तत्वान्नोत्तरस्य क्षणस्य हेतुर्भवतीत्युक्तम्। अथासत्येव हेतौ फलोत्पत्तिं ब्रूयात्, ततः प्रतिज्ञोपरोधः स्यात्। चतुर्विधान्हेतून्प्रतीत्य चित्तचैत्ता उत्पद्यन्त इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। निर्हेतुकायां चोत्पत्तावप्रतिबन्धात्सर्वं सर्वत्रोत्पद्येत।

दूषयति—एवमपीति। ताभ्यां संसर्गे वस्तुनः क्षणिकत्वभङ्गः स्यात्। संसर्ग एव नास्तीति तृतीयकल्पमुत्थाप्य दूषयति—अथात्यन्तेति ॥२०॥

सूत्रं व्याख्यातुं वृत्तं स्मारयति—क्षणभङ्गेति। किं कार्योत्पत्तिर्निर्हेतुका सहेतुका वा ? आद्ये प्रतिज्ञाहानिरित्याह—अथाऽसत्येवेत्यादिना। विषयकरणसहकारिसंस्काराश्चतुर्विधा हेतवस्तान् प्रतीत्य प्राप्य चित्तं रूपादिविज्ञानं चैत्ताश्चित्तात्मकाः सुखादयश्च जायन्त इति प्रतिज्ञार्थः। यथा नीलविज्ञानस्य नीलवस्त्वालम्बनप्रत्ययो विषयः, चक्षुः करणमधिपतिप्रत्ययः, सहकारिप्रत्यय आलोकः, समनन्तरपूर्वप्रत्ययः संस्कार इति भेदः। प्रतिज्ञाहानिं पुरुषदोषमुक्त्वा वस्तुदोषमप्याह—निर्हेतुकायां चेति। सहेतुकत्वपक्षे-

---

उत्पाद एवं निरोध के मध्यवर्ती वस्तु में आद्यन्तनामक अवस्थाद्वय का वर्णन होने लग जायेगा। इस प्रकार भी आदि, अन्त और मध्य क्षणत्रय से सम्बन्धित होने के कारण वस्तु में क्षणिकत्व की मान्यता नष्ट हो जायेगी। और यदि मानो कि उत्पाद और निरोध अश्व-महिष की भाँति वस्तु से अत्यन्त भिन्न ही हैं तो वस्तु का उत्पाद-निरोध के साथ कोई सम्बन्ध सिद्ध न होने के कारण उसमें शाश्वतत्व का प्रसङ्ग आ जायेगा। और यदि दर्शन वस्तु का उत्पाद है तथा अदर्शन वस्तु का निरोध है, ऐसा मानें तो भी वे उत्पाद-निरोध द्रष्टा के धर्म सिद्ध होंगे, वस्तु के नहीं। ऐसी स्थिति में वस्तु में शाश्वतत्व का प्रसङ्ग आयेगा ही। इसलिए सौगत मत असङ्गत है ॥२०॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा (ललिता)

क्षणभङ्गवाद में कहा जा चुका है कि निरोधग्रस्त पूर्वक्षण उत्तरक्षण का हेतु नहीं हो सकता, अब हेतु के बिना ही फल की उत्पत्ति मानोगे तो प्रतिज्ञा भङ्ग होने लग जायेगी। बौद्धों का यह प्रतिज्ञा है कि विषय, करण, सहकारी और संस्कार इन चार हेतुओं को प्राप्त कर रूपादि विज्ञानात्मक चित्त और सुखादि चैत्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं, यह प्रतिज्ञा निर्हेतुक उत्पत्ति स्वीकार करने पर नष्ट हो जायेगी। साथ ही, बिना प्रतिबन्ध के सर्वत्र सब कुछ उत्पन्न होने लग जायेगा। और यदि उत्तरक्षण

(१६३) प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ।।२२।।

अथोत्तरक्षणोत्पत्ति यावत्तावदवतिष्ठते पूर्वक्षण इति ब्रूयात्ततो यौगपद्यं हेतुफलयोः स्यात् । तथापि प्रतिज्ञोपरोध एव स्यात् । क्षणिकाः सर्वे संस्कारा इतीयं प्रतिज्ञोपरुध्येत ।।२१।।

अपिच वैनाशिकाः कल्पयन्ति बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत्संस्कृतं क्षणिकं चेति । तदपि च त्रयं प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधावाकाशं चेत्याचक्षते । त्रयमपि चैतदवस्त्वभावमात्रं निरुपाख्यमिति मन्यन्ते, बुद्धिपूर्वकः किल विनाशो भावानां प्रतिसंख्यानिरोधो नाम भाष्यते, तद्विपरीतोऽप्रतिसंख्यानिरोधः, आवरणाभावमात्रमाकाशमिति । तेषामाकाशं परस्तात्प्रत्याख्यास्यति । निरोधद्वयमिदानीं प्रत्याचष्टे ।

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधयोरप्राप्तिः । असंभव इत्यर्थः । कस्मात् ? अविच्छेदात् । एतौ हि प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधौ संतानगोचरौ वा स्यातां भावगोचरौ वा ।

ऽन्वयिकारणस्य मृदादेः कार्यसहभावापत्त्या क्षणिकत्वप्रतिज्ञाहानिरिति सूत्रशेषं व्याचष्टे—अथोत्तरक्षणेत्यादिना । सम्यक् क्रियन्त इति संस्काराः । आद्यन्तवन्तो भावा इत्यर्थः ।।२१।।

एवमाद्यसूत्राभ्यां समुदायो निरस्तः, उत्तरसूत्राभ्यां कार्यकारणभावक्षणिकत्वे निरस्ते । संप्रति तदभिमतं द्विविधं विनाशं दूषयति–प्रतिसंख्येति । संस्कृतमुत्पाद्यं, बुद्धिबोध्यं प्रमेयमात्रं, त्रयात्तुच्छरूपादन्यदित्यर्थः । किं तत्त्रयं ? तदाह–तदपीति । निरुपाख्यं निःस्वरूपम् । प्रतीपा प्रतिकूला संख्या सन्तं भावमसन्तं करोमीत्येवंरूपा बुद्धिः प्रतिसंख्या, तया निरोधः कस्यचिद्भावस्य भवति । अबुद्धिपूर्वकस्तु स्तम्भादीनां स्वरसभङ्गुराणामित्याह–तद्विपरीत इति । परप्रक्रियामुक्त्वा सूत्रं व्याचष्टे—तेषामिति ।

भावाः संतानिनः । संतानो नाम भावानां हेतुफलभावेन प्रवाहः, तस्मिन् संताने चरमक्षणः क्षणान्तरं करोति वा न वा? आद्ये चरमत्वव्याघातः, संतानाविच्छेदात् । द्वितीये चरमस्यासत्त्वप्रसङ्गः,

---

उत्पत्तिपर्यन्त पूर्वक्षण का रहना स्वीकार करोगे, तो हेतु और फल में यौगपद्य आ जाने के कारण भी प्रतिज्ञा का उपरोध होगा हो, क्योंकि आप ने सभी पदार्थ क्षणिक माने थे, यह प्रतिज्ञा कार्य और कारण को एक क्षण में होना स्वीकार करने पर उपरुद्ध हो ही जायेगी ।।२१।।

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् (ललिता)

पिछले चार सूत्रों में से प्रारम्भिक दो सूत्रों द्वारा संघात का खण्डन किया गया था, तत्पश्चात् दो सूत्रों द्वारा कार्यकारणभाव एवं उनमें क्षणिकत्व का निराकरण किया गया । अब सौगताभिमत द्विविध विनाश का खण्डन करते हैं । बौद्धों ने प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध एवं आकाश से भिन्न सभी वस्तुओं को संस्कृत एवं क्षणिक माना है जो बुद्धिगम्य है । वे तीन पदार्थ अवस्तु, अभावमात्र तथा निःस्वभाव माने जाते हैं; उनमें से बुद्धिपूर्वक भावपदार्थ के विनाश को प्रतिसंख्या निरोध कहते हैं, उससे विपरीत अबुद्धिपूर्वक विनाश को अप्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं और आवरणाभावमात्र को आकाश मानते हैं । उनमें से आकाश का खण्डन आगे किया जायेगा, द्विविधनिरोध का खण्डन इस सूत्र द्वारा करते हैं ।

प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध का होना सम्भव नहीं है, क्योंकि इनका सन्तान या सन्तानी में विच्छेदाभाव बना रहता है अर्थात् यह द्विविधनिरोध प्रवाह को विषय करता अथवा भाव

(१९४) उभयथा च दोषात् ॥२३॥

न तावत्संतानगोचरौ संभवतः। सर्वेष्वपि संतानेषु संतानिनामविच्छिन्नेन हेतुफलभावेन संतानविच्छेदस्यासंभवात्। नापि भावगोचरौ संभवतः। नहि भावानां निरन्वयो निरुपाख्यो विनाशः संभवति, सर्वास्वप्यवस्थासु प्रत्यभिज्ञानबलेनान्वय्यविच्छेददर्शनात्। अस्पष्टप्रत्यभिज्ञानास्वप्यवस्थासु क्वचिद्दृष्टेनान्वय्यविच्छेदेनान्यत्रापि तदनुमानात्। तस्मात्परपरिकल्पितस्य निरोधद्वयस्यानुपपत्तिः ॥२२॥

योऽयमविद्यादिनिरोधः प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधान्तःपाती परपरिकल्पितः, स सम्यग्ज्ञानाद्वा सपरिकरात्स्यात्स्वयमेव वा। पूर्वस्मिन्विकल्पे निर्हेतुकविनाशाभ्युपगमहानिप्रसङ्गः। उत्तरस्मिंस्तु मार्गोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः। एवमुभयथापि दोषप्रसङ्गादसमञ्जसमिदं दर्शनम् ॥२३॥

अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमिति स्वसिद्धान्तात्, चरमस्यासत्त्वे पूर्वेषामप्यसत्त्वप्रसङ्गः, अर्थक्रियाशून्यत्वात्। तस्मात् संतानस्य विच्छेदासंभवान्निरोधाप्राप्तिरित्याह—न तावदिति। न द्वितीय इत्याह—नापीति। घटकपालचूर्णाद्यवस्थासु सेयं मृदिति प्रत्यभिज्ञानादन्वयिभावस्य मृदादेर्नात्यन्तिकविनाश इत्यर्थः। बीजस्याङ्कुरादिषु प्रत्यभिज्ञानादर्शनादन्वयिनो विच्छेद इत्यत आह–अस्पष्टेति। अङ्कुरादयोऽनुस्यूतान्वयिभावस्थाः, कार्यत्वात्पटवदित्यन्वय्यविच्छेदसिद्धिरित्यर्थः। यस्माद्भावानां स्थायित्वं तस्मात्प्रतिक्षण (?) निरोधासंभव इत्युपसंहारः ॥२२॥

अविद्यादीनां प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधं तदभिमतं दूषयति—उभयथेति। यमनियमादयः परिकराः। सर्वं दुःखं क्षणिकमिति भावनोपदेशो मार्गोपदेशः ॥२३॥

को विषय करता है। प्रवाहविषयक निरोध मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि सभी सन्तानों में सन्तानी का अविच्छिन्न-हेतुफल भावरूप से विद्यमान रहने के कारण सन्तान का विच्छेद कहना असम्भव है। वैसे ही सन्तानी में भी पूर्वोक्त निरोधद्वय सम्भव नहीं है, क्योंकि भावपदार्थ का निरन्वय, निरुपाख्य विनाश होता ही नहीं, केवल अवस्थान्तर की प्राप्ति होती है। इसोलिए सभी अवस्थाओं में सेयं जलधारा, सेयं दीपज्वाला की भांति सन्तानी का प्रत्यभिज्ञान होने से विच्छेदाभाव ही देखा गया है। पिण्ड, कपाल एवं घटादि अवस्थाओं के बदलने पर भी सेयं मृत्तिका, ऐसी प्रत्यभिज्ञा देखी जाती है फिर भला भाव पदार्थ का बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक विनाश कैसे कह सकते हैं। बीज से उत्पन्न वृक्ष में यद्यपि स्पष्ट प्रत्यभिज्ञा नहीं दीखती फिर भी जहाँ देखी गयी है उससे अस्पष्ट प्रत्यभिज्ञान अवस्थाओं में भी सन्तानी के अविच्छेद होने का अनुमान कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह कि घटादि में मृत्तिका की प्रत्यभिज्ञा होती है और वृक्षादि में बीज की प्रत्यभिज्ञा स्पष्ट नहीं होती है अतः दृष्ट प्रत्यभिज्ञा के बल से अदृष्ट प्रत्यभिज्ञान स्थल में भी सन्तानी का अविच्छिन्नरूप से रहना अनुमानसिद्ध है। इसलिए बौद्धपरिकल्पित निरोधद्वय की सिद्धि युक्तिसङ्गत नहीं ॥२२॥

उभयथा च दोषात् (ललिता)

प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध के अन्तःपाती जिस अविद्यादिनिरोध की कल्पना बौद्धों ने की है उस पर विकल्प होता है कि यम, नियमादि सहकारी साधनों के सहित सम्यग्ज्ञान से अविद्यादि का निरोध होता है अथवा स्वयं ही हो जाता है। प्रथम कल्प में निर्हेतुकविनाशस्वीकारपक्ष की हानि होने लग जायेगी और द्वितीय कल्प में सर्वं क्षणिकं ऐसा मार्गोपदेश अनर्थक होने लग जायेगा। अतः उभयप्रकार से दोष का प्रसङ्ग आ जाने के कारण बौद्धों का यह दर्शन असङ्गत ही है। ॥२३॥

(१९५) आकाशे चाविशेषात् ॥२४॥

यच्च तेषामेवाभिप्रेतं निरोधद्वयमाकाशं च निरुपाख्यमिति, तत्र निरोधद्वयस्य निरुपाख्यत्वं पुरस्तान्निराकृतम् । आकाशस्येदानीं निराक्रियते । आकाशे चायुक्तो निरुपाख्यत्वाभ्युपगमः । प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधयोरिव वस्तुत्वप्रतिपत्तेरविशेषात् । आगमप्रामाण्यात्तावत् 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यादिश्रुतिभ्य आकाशस्य च वस्तुत्वप्रसिद्धिः । विप्र[1]तिपन्नान्प्रति तु शब्दगुणानुमेयत्वं वक्तव्यं, गन्धादीनां गुणानां पृथिव्यादिवस्त्वाश्रयत्वदर्शनात् । अपि चावरणाभावमात्रमाकाशमिच्छतामेकस्मिन्सुपर्णे पतत्यावरणस्य विद्यमानत्वात्सुपर्णान्तरस्योत्पित्सतोऽनवकाशत्वप्रसङ्गः । यत्रावरणाभावस्तत्र पतिष्यतीति चेत् । येनावरणाभावो विशेष्यते तर्त्तह् वस्तुभूतमेवाकाशं स्यात्, नावरणा-

आगमप्रामाण्यादिति । तत्राकाशस्य कार्यत्वोक्त्या घटादिवद्वस्तुत्व प्रसिध्यतीत्यर्थः । नन्वागमप्रामाण्ये 'विप्रतिपन्नान्सुगतान्प्रत्याकाशस्य वस्तुत्वं कथं सिध्यति? इत्यत आह—विप्रतिपन्नानिति । शब्दो वस्तुनिष्ठः, गुणत्वात् गन्धादिवदित्यनुमानादाकाशस्य वस्तुत्वं सिध्यति । पृथिव्याद्यष्टद्रव्याणां श्रोत्रग्राह्यगुणाश्रयत्वायोगादित्यर्थः । आकाशस्य भावत्वं प्रसाध्याभावत्वं दूषयति—अपि चेति । यथैक घटसत्त्वेऽपि घटसामान्याभावो नास्ति, तथैकपक्षिसत्त्वेऽपि मूर्तद्रव्यसामान्याभावात्मकाकाशो नास्त्येवेति पक्ष्यन्तरसंचारो न स्यादित्यर्थः । देशविशेषावच्छेदेनावरणाभावोऽस्तीत्याशङ्क्याभावावच्छेदकदेशविशेष एवाकाशोः, नाभाव इत्याह—यत्रेत्यादिना । पतिष्यति । पक्षो संचरिष्यतीत्यर्थः । आकाशस्या-

आकाशे चाविशेषात् (ललिता)

बौद्धों को निरोधद्वय और आकाश निरुपाख्य जो अभिमत था; उनमें से निरोधद्वय में निरुपाख्यत्व का निराकरण पहले किया जा चुका है, अब आकाश में निरुपाख्यत्व का निराकरण करते हैं। जिस प्रकार प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध में वस्तुत्व का बोध कराया गया, वैसे ही आकाश में भी वस्तुत्वबोध सम्भव होने के कारण उसे निरुपाख्य कहना असङ्गत ही है। सर्वप्रथम 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' इत्यादि श्रुतियों के बल से आकाश में वस्तुत्व की प्रसिद्धि हो जाती है। अतः आगम प्रमाण से आकाश में वस्तुत्व प्रसिद्ध हो जाने के कारण निरुपाख्यत्व नहीं है, पर जो लोग आगम प्रामाण्य नहीं मानते ऐसे विप्रतिपन्न नास्तिकों के सामने हम अनुमान प्रमाण से आकाश में वस्तुत्व सिद्ध करेंगे—शब्दो वस्तुनिष्ठः, गुणत्वात्, गन्धादिवत्। पृथिव्यादि अष्टद्रव्यों में श्रोत्रग्राह्य गुणाश्रयत्व का होना असम्भव होने के कारण परिशेषतः शब्द गुण का आश्रय आकाश को ही मानना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त आवरणाभावमात्र को आकाश कहने वाले आप के पक्ष में यह भी दोष आयेगा कि एक पक्षी के उड़ने पर आवरण विद्यमान होने के कारण उड़ने की इच्छावाले दूसरे पक्षी को अवकाश ही नहीं मिलेगा क्योंकि एक पक्षी का उड़नारूप आवरण वहाँ पर बना हुआ है, उस स्थिति में दूसरा पक्षी कैसे उड़ सकेगा। यदि कहो कि जहाँ आवरण नहीं है वहाँ उड़ेगा तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि आवरणाभाव का विशेषण जो होगा वहाँ पर वह वस्तुरूप ही होगा जिसे आकाश कहेगे, फिर भला आवरणाभावमात्र को आकाश आप कैसे कह सकेंगे। इसके अतिरिक्त आवरणा-

१. विवाद कुर्वतः ।

(१९६) अनुस्मृतेश्च ॥२५॥

भावमात्रम् । अपि चावरणाभावमात्रमाकाशं मन्यमानस्य सौगतस्य स्वाभ्युपगमविरोधः प्रसज्येत। सौगते हि समये 'पृथिवी भगवन् किंसंनिश्रया' इत्यस्मिन्प्रश्नप्रतिवचनप्रवाहे पृथिव्यादीनामन्ते 'वायुः किंसंनिश्रयः' इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं भवति 'वायुराकाशसंनिश्रयः' इति ।[1] तदाकाशस्यावस्तुत्वे न समञ्जसं स्यात् । तस्मादप्ययुक्तमाकाशस्यावस्तुत्वम् । अपि च निरोधद्वयमाकाशं च त्रयमप्येतन्निरुपाख्यमवस्तु नित्यं चेति विप्रतिषिद्धम् । नह्यवस्तुनो नित्यत्वमनित्यत्वं वा संभवति, वस्त्वाश्रयत्वाद्धर्मधर्मिव्यवहारस्य । धर्मधर्मिभावे हि घटादिवद्वस्तुत्वमेव स्यान्न निरुपाख्यत्वम् ॥२४॥

अपिच वैनाशिकः सर्वस्य वस्तुनः क्षणिकतामभ्युपयन्नुपलब्धुरपि क्षणिकतामभ्युपेयात् । न च सा संभवति । अनुस्मृतेः । अनुभवमुपलब्धिमनूत्पद्यमानं स्मरणमेवानुस्मृतिः । सा चोपलब्ध्येककर्तृका सती संभवति । पुरुषान्तरोपलब्धिविषये पुरुषान्तरस्य स्मृत्यदर्श-

---

वस्तुत्वं स्वग्रन्थविरुद्धं चेत्याह—अपि चेति । कः सम्यक् निश्रय आश्रयोऽस्या इति किंसंनिश्रया ? अवस्तुनः शशविषाणस्याश्रयत्वादर्शनादिति भावः । व्याघातान्तरमाह–अपि चेति । ध्वंसाप्रतियोगिताख्यो धर्मो नित्यत्वं नास्ति संभवति । धर्मिणोऽसत्त्वव्याघातादित्यर्थः ॥२४॥

आत्मनः क्षणिकत्वं दूषयति—अनुस्मृतेरिति । अनुभवजन्या स्मृतिरनुस्मृतिस्तस्याअनुभवसमाना-

---

भावमात्र को आकाश मानने वाले बौद्धों के पक्ष में सिद्धान्तविरोध दोष भी आयेगा । बौद्ध दर्शन में गुरु-शिष्य के प्रश्नोत्तर प्रसङ्ग पर ऐसा देखा जाता है कि जब शिष्य ने पूछा कि 'भगवन्! पृथ्वी किसके आश्रित है?' गुरु ने कहा—जल के आश्रित है । इस क्रम से प्रश्नोत्तर चलते-चलते अन्त में जब शिष्य ने कहा—'भगवन्! वायु किसके आश्रित है?' तो इस प्रश्न का उत्तर गुरु ने दिया कि 'वायु आकाश के आश्रित है।' इस प्रतिवचन से आकाश में वस्तुत्व सिद्ध होता है। यदि आकाश अवस्तु होता तो वह वायु का आश्रय कभी भी नहीं होता। जो स्वयं अवस्तु है वह किसी का आश्रय होता हुआ लोक में नही देखा जाता है। बौद्धग्रन्थों में इस प्रकार प्रश्नोत्तर से भी आकाश में अवस्तुत्व बतलाना असङ्गत ही है। साथ ही, निरोधद्वय और आकाश ये तीनों ही निरुपाख्य हैं, अवस्तु हैं तथा नित्य हैं, बौद्धों का ऐसा कथन भी परस्पर विरुद्ध ही है क्योंकि अवस्तु में नित्यत्व अथवा अनित्यत्व कहना सम्भव ही नहीं है। धर्म-धर्मी व्यवहार तो वस्तु में होता है, अवस्तु में नहीं होता। घट धर्मी है और घटत्व धर्म है, ऐसा व्यवहार वस्तुत्व को सिद्ध करता है। ठीक इसी प्रकार उक्त तीनों में नित्यत्व का प्रतिपादन उनमें वस्तुत्वः सिद्ध कर रहा है, अतः उनमें निरुपाख्यत्व कहना सर्वथा असङ्गत ही है ॥२४॥

अनुस्मृतेश्च (ललिता)

बौद्धों ने सभी वस्तुओं में क्षणिकत्व को मानते हुए उपलब्धा आत्मा में भी सर्वंक्षणिकं कहते हुए क्षणिकत्व स्वीकार किया ही होगा, पर आत्मा में क्षणिकत्व सम्भव नहीं है क्योंकि अनुभव के पश्चात् स्मरण होते देखा जाता है जो अनुभव और स्मरण दोनों अभिन्न कर्ता को सिद्ध करते हैं। दूसरे के द्वारा अनुभूत विषय का स्मरण दूसरे पुरुष को होते नहीं देखा गया है। यदि अनुभव और

---

१. प्रश्नप्रतिवचनम् ।

नात् । कथं ह्यहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति च पूर्वोत्तरदर्शिन्येकस्मिन्नसति प्रत्ययः स्यात् । अपिच दर्शनस्मरणयोः कर्तर्येकस्मिन्प्रत्यक्षः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः सर्वस्य लोकस्य प्रसिद्धोऽहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति । यदि हि तयोर्भिन्नः कर्ता स्यात्ततोऽहं स्मराम्यद्राक्षीदन्य इति प्रतीयात् । न त्वेवं प्रत्येति कश्चित् । यत्रैवं प्रत्ययस्तत्र दर्शनस्मरणयोर्भिन्नमेव कर्तारं सर्वलोकोऽवगच्छति, स्मराम्यहमसावदोऽद्राक्षीदिति । इह त्वहमदोऽद्राक्षमिति दर्शनस्मरणयोर्वैनाशिकोऽप्यात्मानमेवैकं कर्तारमवगच्छति । न नाहमित्यात्मनो दर्शनं [1]निर्वृत्तं निह्नुते यथाग्निरनुष्णोऽप्रकाश इति वा । तत्रैवं सत्येकस्य दर्शनस्मरणलक्षणक्षणद्वयसंबन्धे क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिरपरिहार्या वैनाशिकस्य स्यात् । तथाऽनन्तरामनन्तरामात्मन एव

श्रयत्वात्तदुभयाश्रयात्मनः स्थायित्वमित्यर्थः । क्षणिकत्वे ज्ञानद्वयानुसंधानं च न स्यादित्याह—कथं ह्यहमिति । पूर्वदर्शनकर्तुरद्राक्षमिति स्मरणकर्त्रैक्यप्रत्यभिज्ञानाच्चात्मनः स्थायित्वमित्याह—अपि चेति । ज्ञाना- योऽहमदः पूर्वमद्राक्षं स एवाहमद्य तत्स्मरामीति प्रत्यभिज्ञानाकारो द्रष्टव्यः । इदं पश्यामीति । ज्ञाना- न्तरसंबन्धकथनं, योऽहमद्राक्षं सोऽहं पश्यामीति प्रत्यभिज्ञानान्तरद्योतनार्थम् । विपक्षे बाधकमाह— यदि होति । द्रष्टृस्मर्त्रोर्भेदेऽहं स्मरामि अन्योऽद्राक्षीदिति प्रतीतिः स्यादित्यत्र दृष्टान्तमाह—यत्रैवमिति । प्रत्ययमाह—स्मरामीति । स्मराम्यहमन्योऽद्राक्षीदिति प्रत्ययो यत्र तत्र भिन्नमेव कर्तारं लोकोऽवगच्छ- तीत्यविवादमित्यर्थः । प्रकृतप्रत्यभिज्ञायां तादृशभेदप्रत्ययस्य [2]बाधकस्यादर्शनादात्मस्थायित्वं दुर्वारमि- त्याह—इह त्वहमद इति । यथाग्नेरौष्ण्यादिकं न बाधते कश्चित्तथा नाहमद्राक्षमिति पूर्वदर्शनं न निह्नुत इत्यनेन बाधाभावात् प्रत्यभिज्ञा प्रमेत्युक्तं भवति । तथा च द्रष्टृस्मर्त्रैक्ये सति स्थायित्वं फलितमित्याह—तत्रैव सतीति । क्षणद्वयसंबन्धेऽप्यात्मनस्तृतीयक्षणे भङ्गोऽस्त्विति वदन्तं प्रत्याह— तथेति । वर्तमानदशामारभ्योत्तमादुच्छ्वासादामरणादनन्तरामनन्तरां स्वस्यैव प्रतिपत्तिमात्मैककर्तृकां

स्मरण का कर्ता एक नहीं मानोगे तो उसे मैंने देखा था, अब इसे देखता हूँ, ऐसा बोध कैसे हो सकेगा । दर्शन और स्मरण का कर्ता एक होने पर यह प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यय सार्वजनीन प्रत्यक्षसिद्ध है कि मैंने पहले उसे देखा था, वही मैं आज इसे देखता हूँ । यदि उस अनुभव और स्मरण का कर्ता भिन्न होता तो मैं स्मरण करता हूँ, उसने देखा था, ऐसा बोध होना चाहिए; किन्तु ऐसा बोध किसी को होता नहीं है और जहाँ मैं स्मरण करता हूँ; उसने देखा था, ऐसा बोध होता है वहाँ पर दर्शन और स्मरण के कर्ता को पृथक् पृथक् ही सब मानते हैं कि मैं स्मरण करता हूँ और उसने देखा था । किन्तु यहाँ पर उसके विपरीत उसे मैंने देखा था, वही मैं आज स्मरण कर रहा हूँ, ऐसा बोध होता है और ऐसी प्रतीति में बौद्धों ने भी एक ही दर्शन और स्मरण के कर्ता आत्मा को माना है । मैं हूँ, इस सिद्ध आत्मदर्शन का अपलाप कोई वैसे ही नहीं कर सकता जैसे कोई अग्नि को अनुष्ण और अप्रकाश नहीं कह सकता क्योंकि अग्नि में उष्णत्व और प्रकाशत्व सार्वजनीन अनुभवसिद्ध है । इस प्रकार वहाँ दर्शन और स्मरण दो क्षणों के साथ सम्बन्ध रखने वाले एक में क्षणिकत्व स्वीकार की हानि का परिहार वैनाशिक कर नहीं सकते अर्थात् उनके सिद्धान्त में उक्त रीति से आत्मा में स्थायित्व सिद्ध हो जाने पर उन्हें क्षणिकत्व का आग्रह छोड़ना ही पड़ेगा । जो लोग दो क्षण तक आत्मा को स्थायी मानकर तृतीय क्षण में उसका ध्वंस मानते हैं उन्हें भी यह स्मरण रखना चाहिए

---

१. निष्पन्नं सिद्धमिति यावत् । २. प्रत्यभिज्ञायामिति शेषः ।

प्रतिपत्ति प्रत्यभिजानन्नेककर्तृकामोत्तमादुच्छ्वासादतीताश्च प्रतिपत्तीरा जन्मन आत्मैककर्तृकाः प्रतिसदधानः कथं क्षणभङ्गवादी वैनाशिको नापत्रपेत ।

स यदि ब्रूयात्साहश्यादेतत्संपत्स्यत इति । तं प्रतिब्रूयात् । तेनेदं सदृशमिति द्वयायत्तत्वात्साहश्यस्य, क्षणभङ्गवादिनः सदृशयोर्द्वयोर्वस्तुनोर्ग्रहीतुरेकस्याभावात्, साहश्यनिमित्तं प्रतिसन्धानमिति मिथ्याप्रलाप एव स्यात् । स्याच्चेत्पूर्वोत्तरयोः क्षणयोः साहश्यस्य ग्रहीतैकः, तथासत्येकस्य क्षणद्वयावस्थानात्क्षणिकत्वप्रतिज्ञा पीडयेत । तेनेदं सदृशमिति प्रत्ययान्तरमेवेदं न पूर्वोत्तर[3]क्षणद्वय[1]ग्रहणनिमित्तमिति चेत् । न । तेनेदमिति भिन्नपदार्थोपादा-

---

प्रत्यभिजानन्ना जन्मनश्च वर्तमानदशापर्यन्तमतीताः प्रतिपत्तीः स्वकर्तृकाः प्रतिसंदधानः सन्निति योजना ।

दीपज्वालास्विवात्मनि प्रत्यभिज्ञानं साहृश्यदोषादिति शङ्कते—स इति । साहृश्यज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिज्ञानाधीनत्वात् स्थिरस्य ज्ञातुरसत्त्वान्न साहृश्यज्ञानं संभवति, सत्त्वे वाऽपसिद्धान्तः स्यादिति परिहरति—तमित्यादिना । स्यादेतत् । न साहृश्यप्रत्ययः पूर्वोत्तरवस्तुद्वयज्ञानजन्यस्तद्द्वयसाहृश्यावगाही, किं तर्हि? कश्चि[२]देष विकल्पः [४]स्वाकारमेव बाह्यत्वेन विषयीकुर्वाणः [५]क्षणान्तरास्पर्शी, अतो न स्थिरद्रष्टृपेक्षेति शङ्कते—तेनेदमिति । अत्र वक्तव्यं साहृश्यप्रत्यये तेन, इदं, सदृशं इति वस्तुत्रय भासते न वेति ? नेति वदतः स्वानुभवविरोधः । किंचार्थभेदाभावात् पदत्रयप्रयोगो न स्यात् । तस्मात् पदत्रयेण मिथःसंसृष्टभिन्नार्थभानादभानमसिद्धमिति परिहरति—न तेनेति । अथ भासते वस्तुत्रयं तच्च [६]प्रत्ययाभिन्नमेव न

कि जन्म से लेकर मरणपर्यन्त और अन्तिम श्वास से पूर्व का जो अहम्-अहम् यह प्रत्यय होता है वह प्रत्यय जीवनपर्यन्त आत्मा में एकत्व सिद्ध कर रहा हैं । आत्मा एक ही है, क्षणिक नहीं है ऐसा प्रतिसन्धान करता हुआ भी क्षणभङ्गवादी बौद्ध क्यों नहीं लज्जित होता, यह एक महान् प्रश्न और आक्रोश भी है ।

प्रश्न—यदि वैनाशिक कहता हो कि उक्त रीति से आत्मा में प्रत्यभिज्ञा साहश्य के कारण बन जायेगी, जिस प्रकार जलधारा एवं दीपज्वाला प्रतिक्षण भिन्न होती हुई भी साहश्य के कारण सेयं जलधारा—सेयं दीपज्वाला, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है वैसे ही प्रतिक्षण उत्पत्तिविनाशशील आत्मा में भी साहश्य के कारण 'सोऽहं' ऐसी प्रत्यभिज्ञा हो जायेगी ? उत्तर—ऐसा कहने वाले वैनाशिक से पूछना चाहिए कि उसके समान यह है, ऐसा साहश्यज्ञान अनुयोगी-प्रतियोगी ज्ञान के अधीन है किन्तु क्षणभङ्गवादी बौद्धों के यहाँ दो सदृशवस्तु का ग्रहण करने वाला एक आत्मा जब है नहीं तब साहश्य के कारण प्रतिसन्धान होता है, ऐसा कहना मिथ्याप्रलाप ही माना जायेगा । और यदि पूर्वोत्तर क्षणों के एवं तत्रस्थ पदार्थों के साहश्य को जानने वाला एक है ऐसा वे मानेंगे तो एक के दो क्षणों में रह जाने के कारण उनकी क्षणिकत्वप्रतिज्ञा ही नष्ट हो जायेगी । यदि क्षणभङ्गवादी कहता हो कि उसके सदृश यह है, यह तो भिन्न ही प्रत्यय है जो पूर्वोत्तर क्षण में रहने वाली दो वस्तु ग्रहण के कारण नहीं है अपितु यह भिन्न ज्ञान है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उसके सदृश यह है, इस प्रतीति में अनुयोगी, प्रतियोगी और साहश्य ऐसे भिन्न-भिन्न तीन पदार्थ प्रतीत होते हैं । यदि साहश्य-

---

१. आत्मनि प्रत्यभिज्ञानम् । २. ज्ञान । ३. साहश्य ज्ञानाख्यः । ४. साहश्याख्यं स्वकीयमाकार विशेषमेव ।
५. स्वप्नवत् । ६. विज्ञान ।

नात् । प्रत्ययान्तरमेव चेत्साहश्यविषयं स्यात्तेनेदं सदृशमिति वाक्यप्रयोगोऽनर्थकः स्यात् । साहश्यमित्येव प्रयोगः प्राप्नुयात् । यदा हि लोकप्रसिद्धः पदार्थः परीक्षकैर्न परिगृह्यते तदा स्वपक्षसिद्धिः परपक्षदोषो वोभयमप्युच्यमानं परीक्षकाणामात्मनश्च यथार्थत्वेन न बुद्धिसन्तानमारोहति । एवमेवैषोऽर्थ इति निश्चितं यत्तदेव वक्तव्यम् । ततोऽन्यदुच्यमानं बहुप्रलापित्वमात्मनः केवलं प्रख्यापयेत् । न चायं साहश्यात्संव्यवहारो युक्तः । तद्भावाव-

बाह्यमिति चेत् । न । त्रयाणामेकप्रत्ययाभेदे मिथोऽप्यभेदापत्तेः । इष्टापत्तिरिति ब्रुवाणं विज्ञानवादिनं प्रत्याह–यदा हीति । वस्तुत्रयं ज्ञेयं साहश्यप्रत्ययाद्भिन्नं सर्वलोकप्रसिद्धं । तच्चेन्नाङ्गीक्रियते स्थायिद्रष्टृप्रसङ्गभयेन, तर्हि तत्तदाकाराणां क्षणिकविज्ञानानां मिथो वार्तानभिज्ञत्वादेकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धानेकपक्षस्फुरणात्मक[२]विप्रतिपत्त्यसंभवात् स्वपक्षसाधनादिव्यवहारो लुप्येत, अतो यथानुभवं ज्ञानज्ञेयभेदोऽङ्गीकार्यः । तथा च तेनेदं सदृशमिति [३]बाह्यार्थयोर्ज्ञानपूर्वकं साहश्यं [४]जानत आत्मनः स्थायित्वं दुर्वारमित्यर्थः। ननु सन्त्येव बाह्यार्थाः क्षणिकस्[५]वलक्षणा [६]निर्विकल्पकग्राह्याः, सविकल्प[७]ाध्यवसेयास्तु स्थायित्वसाहश्यादयो बाह्याः कल्पिता अवभासन्ते, अतो विप्रतिपत्त्यादिव्यवहार इति बाह्यार्थवादमाशङ्क्य निरस्यति–एवमेवेति । यत् प्रमाणसिद्धं तदेव वक्तव्यम् । नहि क्षणिकत्वे किंचित् प्रमाणमस्ति । न चेदानीं घट इति प्रत्यक्षमवर्तमानकालासत्त्वं घटस्य गोचरयद्वर्तमानक्षणमात्रसत्त्वरूपे क्षणिकत्वे मानमिति वाच्यम्, तस्य वर्तमानत्वमात्रगोचरत्वेन कालान्तरासत्त्वासिद्धेः । नच यत्सत् तत्क्षणिकमिति व्याप्तिरस्ति, विद्युदादेरपि द्वित्रिक्षणस्थायित्वेन दृष्टान्ताभावात् । नच स्थायिनमनुमातारमन्तरेणानुमानं संभवति । तस्मादनुमानसिद्धार्थवक्ता तथागतोऽश्रद्धेयवचन इत्यर्थः । किंच साहश्यं प्रत्यभिज्ञायां दोषतया निमित्तं विषयतया वा ? आद्येऽपि स्वरूपसत्, ज्ञातं वा । नाद्यः, मन्दान्धकारे शुक्तिमात्रग्रहे रजतस्याज्ञानेऽपि रूप्याभेदभ्रमापत्तेः । न द्वितीयः, स्थायिज्ञातारं विना तज्ज्ञानासंभवस्योक्तत्वात् । नापि विषयतया निमित्तमित्याह–न चेति । सोऽहमित्युल्लेखात्तेनाहं सदृश इत्यनुल्लेखादित्यर्थः । सोऽहमिति

विषयक यह प्रत्यय भिन्न ही है, उनके सादृश्य को ग्रहण नहीं करता है तो उसके सदृश्य यह है, ऐसा वाक्यप्रयोग अनर्थक हो जायेगा । उस स्थिति में सादृश्यम् केवल ऐसा ही प्रयोग होने लगेगा क्योंकि यहाँ तीन पदार्थ उन्हें मान्य नहीं है। पर स्मरण रहे कि जब लोकप्रसिद्ध पदार्थ का ग्रहण परीक्षक लोग नहीं करेंगे तो स्वपक्ष की सिद्धि, परपक्ष का दोष कहते समय परीक्षकों और अपने में यथार्थ बोध का निर्णय नहीं कर पायेंगे। अन्य परीक्षकों और अपने में यथार्थता का निश्चय भी आत्मा में स्थायित्व बतलाता है जो क्षणभङ्गवाद का विरोधी है। जो प्रमाणसिद्ध होता है, उसी का कहना चाहिए, सभी वस्तु को क्षणिक मानने पर कोई भी पदार्थ प्रमाण से सिद्ध नहीं होगा, अतः प्रमाणसिद्ध वस्तु को बोलने वाला केवल अपने में बहुप्रलापित्व का ही ख्यापन करेगा। सादृश्य को लेकर व्यवहार भी सिद्ध नहीं होगा क्योंकि सभी लोग यह वही घट है, वही मैं हूँ इस रूप में बाह्य घटादि और आभ्यन्तर आत्मा को जानते हैं उसके सदृश वह घट है, कल के सदृश आज मैं हूँ ऐसा ज्ञान किसी को नहीं होता है। सोऽहं ऐसा उल्लेख आत्मा में होता है, सदृशोऽहं ऐसा

१. बकबन्धनत्वम् । २. विवादं । ३. धर्मिप्रतियोगिनोः । ४. तव वैनाशिकस्य । ५. स्वरूपः ।
६. निर्विकल्पकेन ज्ञानेन । ७. ग्राह्याः ।

(१९७) नासतोऽदृष्टत्वात् ॥२६॥

गमात्तत्सदृशभावानवगमाच्च। भवेदपि कदाचिद्बाह्यवस्तुनि विप्रलम्भसम्भवात्तदेवेदं स्यात्तत्सदृशं वेति संदेहः। उपलब्धरि तु संदेहोऽपि न कदाचिद्भवति—स एवाहं स्यां तत्सदृशो वेति। य एवाहं पूर्वेद्युरद्राक्षं स एवाहमद्य स्मरामीति निश्चितात्तद्भावोपलम्भात्। तस्मादप्यनुपपन्नो वैनाशिकसमयः ॥२५॥

इतश्चानुपपन्नो वैनाशिकसमयः, यतः स्थिर[1]मनुयायिकारणमनभ्युपगच्छतामभावाद्भावोत्पत्तिरित्येतदापद्यते। दर्शयन्ति चाभावाद्भावोत्पत्तिम्—'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' इति। विनष्टाद्धि किल बीजादङ्कुर उत्पद्यते, तथा विनष्टात्क्षीराद्दधि, मृत्पिण्डाच्च घटः। कूटस्थाच्चेत्कारणात्कार्यमुत्पद्येताविशेषात्सर्वं सर्वत उत्पद्येत। तस्मादभावग्रस्तेभ्यो

प्रत्यभिज्ञाया भ्रमत्वंनिरस्य संशयत्वं निरस्यति—भवेदिति। जडार्थ प्रत्यभिज्ञातेऽपि बाधसंभावनया संशयः कदाचित् स्यान्नात्मनीत्यर्थः। असन्दिग्धाविपर्यस्तप्रत्यभिज्ञाविरोधादात्मक्षणिकत्वमतमत्यन्तासङ्गतमित्युपसंहरति—तस्मादिति ॥२५॥

'अभावः शशविषाणवदत्यन्तासन्नित्यङ्गीकृत्य मृदादिनाशादसतो घटादिकं जायते' इति सुगता वदन्ति, तद्दूषयति—नासत इति। न केवलं बलादापाद्यते किंतु स्वयं दर्शयन्ति च। द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयतः। मृदादिकमुपमृद्य घटादेः प्रादुर्भावादितीममर्थमाह—विनष्टादिति। कारणविनाशात् कार्यजन्मेत्यत्र युक्तिमाह—कूटस्थादिति। विनाशशून्यात्। नित्यादित्यर्थः। नित्यस्य निरतिशयस्य कार्यशक्तत्वे तत्कार्याणि सर्वाण्येकस्मिन्नेव क्षणे स्युः, तथा चोत्तरक्षणे कार्याभावाद[2]सत्त्वापत्तिः। नच सहकारिकृतातिशयक्रमात्कार्यक्रम इति युक्तम्। अतिशयस्यातिशयान्तरापेक्षायामनवस्थानात्। अनपेक्षायां कार्यस्याप्यतिशयानपेक्षत्वेन सहकारिवैयर्थ्यात्। तस्मान्न स्थायिभावात् कार्यजन्मेत्यर्थः। क्षणिकभावस्य

उल्लेख नहीं होता। अतः इस प्रत्यभिज्ञा में भ्रमत्व मानना उचित नहीं है। कदाचित् बाह्यवस्तु में विप्रलम्भ होने के कारण वही यह है अथवा उसके सदृश यह है, ऐसा सन्देह हो भी सकता है, किन्तु उपलब्ध आत्मा में कभी भी किसी को मैं वही हूँ या मैं उसके सदृश हूँ, ऐसा सन्देह नहीं होता। इसके विपरीत जो मैं पहले दिन देखा था वही मैं आज स्मरण करता हूँ, ऐसा निश्चय स्थायी बोध होने के कारण भी बौद्धों का सिद्धान्त युक्तिहीन है ॥२५॥

नासतोऽदृष्टत्वात् (ललिता)

इसलिए भी बौद्ध मत असङ्गत है क्योंकि बौद्धों ने स्थिर अनुयायी कारण को स्वीकार नहीं किया है, उन्होंने कारण के ध्वंस से कार्य की उत्पत्ति मानते हुए अभाव से भाव का जन्म माना है। वे कहते हैं कि बीज के नाश हुए बिना अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता, 'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' ऐसा सूत्र भी उनका है। ध्वस्त बीज से अङ्कुर उत्पन्न होता है, ध्वस्त दुग्ध से दधि उत्पन्न होता है और ध्वस्त मृत्पिण्ड से घट उत्पन्न होता है। विनाशशून्य कूटस्थ कारण से कार्य की उत्पत्ति मानोगे तो सभी पदार्थ से सब कुछ उत्पन्न होने लग जायेगा, फिर तो विशेष कार्यकारणभाव का नियम ही नहीं रह जायेगा। अतः अभावग्रस्त बीजादिकों से ही अङ्कुर आदि की उत्पत्ति देखे जाने के कारण वे

---

१. अन्वयि। २. कारणस्येतिशेषः।

बीजादिभ्योऽङ्कुरादीनामुत्पद्यमानत्वादभावाद्भावोत्पत्तिरिति मन्यते । तत्रेदमुच्यते—'नासतोऽदृष्टत्वात्' इति । नाभावाद्भाव उत्पद्यते । यद्यभावाद्भाव उत्पद्येताभावत्वाविशेषात्कारणविशेषाभ्युपगमोऽनर्थकः स्यात् । नहि बीजादीनामुपमृदितानां योऽभावस्तस्याभावस्य शशविषाणादीनां च निःस्वभावत्वाविशेषादभावत्वे कश्चिद्विशेषोऽस्ति, येन बीजादेवाङ्कुरो जायते क्षीरादेव दधीत्येवंजातीयकः कारणविशेषाभ्युपगमोऽर्थवान्स्यात् । निर्विशेषस्य त्वभावस्य कारणत्वाभ्युपगमे शशविषाणादिभ्योऽप्यङ्कुरादयो जायेरन् । न चैवं दृश्यते । यदि पुनरभावस्यापि विशेषोऽभ्युपगम्येतोत्पलादीनामिव नीलत्वादिस्ततो विशेषवत्त्वादेवाभावस्य भावत्वमुत्पलादिवत्प्रसज्येत । नाप्यभावः कस्यचिदुत्पत्तिहेतुः स्यात्, अभावत्वादेव, शशविषाणादिवत् । अभावाच्च भावोत्पत्तावभावान्वितमेव सर्वं कार्यं स्यात् । न चैवं दृश्यते । सर्वस्य च वस्तुनः स्वेन स्वेन रूपेण

हेतुत्वम् "उत्तरोत्पादे च"[1] इत्यत्र निरस्तम् । अभावस्य हेतुत्वनिरासार्थं सूत्रं व्याचष्टे—तत्रेदमिति । यदि बीजाभावस्याभावान्तराद्विशेषः स्यात्, तदा विशेषवदभावद्वारा बीजादेवाङ्कुर इति लौकायतिकानामभ्युपगमोऽर्थवान्स्यात्, न सोऽस्तीत्याह—येनेति । सूत्रं योजयति—निर्विशेषस्येति । शशविषाणादेः कार्यकारित्वस्यादृष्टत्वान्नाभावस्यासतो हेतुत्वमित्यर्थः । अस्त्वभावस्यापि विशेष इत्यत आह—यदीति । अभावस्य हेतुत्वेतिप्रसङ्ग इति तकमुक्त्वानुमानमाह—नापीति । अभावो न हेतुः, असत्वात् । संमतवदित्यर्थः । अभावो न प्रकृतिः, कार्यानन्वितत्वात्, यथा शरावाद्यनन्वितस्तन्तुर्न शरावादिप्रकृतिरिति

वैनाशिक अभाव से भाव की उत्पत्ति मानते हैं । इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि अभाव से भाव उत्पन्न नहीं होता । यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानोगे तो अभावत्व सर्वत्र समान है, घटादि कार्य के लिए मृदादि कारणविशेष को स्वीकार करना व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि नष्ट बीजादि का जो अभाव है उस अभाव का शशविषाणादि के निःस्वभावत्व के साथ कोई अन्तर नहीं है, दोनों में अभावत्व तो समान ही है; भेद है ही नहीं जिससे कि बीज से ही अङ्कुर उत्पन्न होता है, दूध से ही दधि उत्पन्न होता है ऐसा कारणविशेष मानना सार्थक हो सके । निर्विशेष अभाव में कारणत्व मानने पर ध्वस्त बीज से जैसे अङ्कुर की उत्पत्ति होती है ऐसे ही शशविषाणादि से भी अङ्कुरादि की उत्पत्ति होने लग जायेगी, पर ऐसा देखा नहीं जाता है । यदि उत्पलादि में नीलत्वादि विशेष की भाँति अभाव में भी विशेष मानोगे तो उस विशेष के कारण ही उत्पलादि की भाँति अभाव में भी भावत्व आ जायेगा, फिर तो वह अभाव ही नहीं रह गया जिससे कि ध्वस्त बीज से अङ्कुर की उत्पत्ति मानी जा सके । साथ ही, किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति का कारण अभाव नहीं हो सकता, जिस प्रकार शशशृङ्गादि किसी की उत्पत्ति का कारण नहीं क्योंकि उनमें अभावत्व है । ऐसे ही आप के अभिमत अभाव में भी अभावत्व है, उससे भी भावजगत् की उत्पत्ति नहीं मान सकते हैं । अभाव से भाव की उत्पत्ति मानोगे तो सभी कार्य अभावान्वित होने चाहिए अर्थात् घटो अस्ति की भाँति घटो नास्ति, ऐसा अभाव का अन्वय सभी घटादि कार्य में होना चाहिए, पर ऐसा देखा नहीं जाता है । सभी पदार्थ अपने-अपने भावरूप से ही अन्वित देखे जाते हैं, अभावरूप से नहीं । मृत्तिका से अन्वित शरावादि

---

१. ब्र. सू. २-२-२० ।

भावात्मनैवोपलभ्यमानत्वात् । नच मृदन्विताः शरावादयो भावास्तन्त्वादिविकाराः केनचिदभ्युपगम्यन्ते । मृद्विकारानेव तु मृदन्वितान्भावाँल्लोकः प्रत्येति ।

यत्तूक्तं—स्वरूपोपमर्दमन्तरेण कस्यचित्कूटस्थस्य वस्तुनः कारणत्वानुपपत्तेरभावाद्भावोत्पत्तिर्भवितुमर्हतीति तद्दुरुक्तम् । स्थिरस्वभावानामेव सुवर्णादीनां प्रत्यभिज्ञायमानानां रुचकादिकार्यकारणभावदर्शनात् । येष्वपि बीजादिषु स्वरूपोपमर्दो [1]लक्ष्यते तेष्वपि नाऽसावुपमृद्यमाना पूर्वावस्थोत्तरावस्थायाः कारणमभ्युपगम्यते, अनुपमृद्यमानानामेवानुयायिनां बीजाद्यवयवानामङ्कुरादिकारणभावाभ्युपगमात् । तस्मादसद्भ्यः शशविषाणादिभ्यः सदुत्पत्त्यदर्शनात्सद्भ्यश्च सुवर्णादिभ्यः सदुत्पत्तिदर्शनादनुपपन्नोऽयमभावाद्भावोत्पत्त्यभ्युपगमः । अपिच [2]चतुर्भ्यश्चित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते परमाणुभ्यश्च भूतभौतिकलक्षणः

तर्कपूर्वकमाह—अभावच्चेति । अतोऽन्वितत्वान्मृदादिर्भाव एव प्रकृतिरित्याह—मृदिति ।

स्थायिनः कारणत्वायोगमुक्तमनूद्य दूषयति—यत्तूक्तमित्यादिना । अनुभवबलात्स्थिरस्वभावानामेव सहकारिसन्निधिक्रमेण कार्यक्रमहेतुत्वमङ्गीकार्यम् । नच शक्तस्य सहकार्यपेक्षा न युक्तेति वाच्यं, यतोऽशक्तस्यापि नापेक्षेत्यसहकारि विश्वं स्यात् । ततः स्वर्णादौ स्वतोऽतिशयशून्येऽग्नितापादिसहकारिकृतातिशयक्रमाद्रुचकादिकार्यक्रमः । न चातिशयस्यातिशयान्तरानपेक्षत्वे कार्यस्याप्यनपेक्षेति वाच्यं, पटस्य मृदनपेक्षत्वे कार्यत्वाविशेषाद्घटस्यापि मृदनपेक्षाप्रसङ्गादन्वयव्यतिरेकाभ्यामपेक्षा सहकारिष्वपि [3]तुल्या । यदुक्तं कार्याभावदशायां कारणस्यासत्त्वापत्तिरिति । तन्न । अकारणस्यापि बाधाभावेन सत्त्वोपपत्तेः । न ह्यर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वम् असतस्तदयोगेन सत्त्वस्य ततो भेदात् । सतो ह्यर्थक्रियाकारित्वं नासतः । अतः कारणतावच्छेदकमबाधितस्वरूपात्मकं सत्त्वं [4]कारणत्वाद्भिन्नमेव । तस्मादनुस्यूतस्थिरभावानां हेतुत्वमुपपन्नमिति भावः । पूर्वापरविरोधमप्याह—अपि चेति । २८॥

(कसोरादि पात्रविशेष) पदार्थ को तन्तु आदि के कार्य किसी ने भी नहीं माना है, किन्तु मृत्तिका से अन्वित भावात्मक मृद्विकार को ही लोग जानते हैं कि ये मृत्तिका के कार्य हैं, तन्तु के नहीं ।

और जो आपने कहा था कि स्वरूपनाश हुए बिना किसी भी कूटस्थ वस्तु में कारणत्व सिद्ध नहीं होता, जैसे बीज के उपमर्दन हुए बिना अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं होती है । अतः अभाव से ही भाव की उत्पत्ति माननी चाहिए । यह आप का कथन दुरुक्त है क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के विषय स्थिरस्वभाव स्वर्णादि के ही रुचकादि भावरूप कार्य देखे जाते हैं । स्वर्ण के नाश होने पर रुचकादि कार्य उत्पन्न नहीं होते किन्तु स्वर्णादि के रहते-रहते ही रुचकादि कार्य देखे जाते हैं । और जिन बीजादियों में अङ्कुरादि उत्पत्ति के लिए स्वरूप का ध्वंस देखा जाता है उनमें भी नाश होने वाली पूर्वावस्था उत्तरावस्था का कारण नहीं मानी जाती है किन्तु जो अंश नष्ट नहीं होते और कार्य में भी अनुगत रहते हैं ऐसे बीजादि अवयव को ही अङ्कुरादि का कारण माना गया है । अतः असत् शशविषाणादि से सत् की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है, इनके विपरीत सत् स्वर्णादि से ही सत् रुचकादि की उत्पत्ति देखी जाती है । इस अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर अभाव से भाव की उत्पत्ति माननारूप यह पक्ष असङ्गत है । इसके अतिरिक्त विषय, करण, सहकारी और संस्कार; इन चारों से विज्ञानरूप चित्त

---

१. दृश्यते ।　२. विषयकरणसहकारिसंस्कारेभ्यश्चतुर्भ्यः चित्तहृदिविज्ञानं चैताश्चित्तात्मकः सुखादयः ।
३. अतो न सहकारिवैयर्थ्यम् ।　४. कारणत्वसकाशात् ।

५. अभावाधिकरणम् (सू. २८-२३)

(१६८) उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥२७॥

विज्ञानस्कन्धमात्रत्व युज्यते वा न युज्यते ॥ युज्यते स्वप्नदृष्टान्ताद्बुद्ध्यैव व्यवहारतः ॥
अबाधात्स्वप्नवैषम्यं बाह्यार्थस्तूपलभ्यते ॥ बहिर्वदिति तेऽप्युक्तिर्नातो धीरर्थरूपभाक ॥

समुदाय उत्पद्यत इत्यभ्युपगम्य पुनरभावाद्भावोत्पत्तिं कल्पयद्भिरभ्युपगतमपह्नुवानैर्वैनाशिकैः सर्वो लोक आकुलीक्रियते । २६॥

यदि चाभावाद्भावोत्पत्तिरभ्युपगम्येत, एवंसत्युदासीनानामनीहमानानामपि जनानामभिमतसिद्धिः स्यात् । अभावस्य सुलभत्वात् । कृषीवलस्य क्षेत्रकर्मण्यप्रयतमानस्यापि सस्यनिष्पत्तिः स्यात् । कुलालस्य च मृत्संस्क्रियायामप्रयतमानस्याप्यमत्रोत्पत्तिः । तन्तुवायस्यापि तन्तूनतन्वानस्यापि तन्वानस्येव वस्त्रलाभः । स्वर्गापवर्गयोश्च न कश्चित्कथंचित्समीहेत । न चैतद्युज्यतेऽभ्युपगम्यते वा केनचित् । तस्मादप्यनुपपन्नोऽयमभावादभावोत्पत्त्यभ्युपगमः ॥२७॥

अभावादुत्पत्तौ शशिविषाणादप्युत्पत्तिः स्यादित्युक्तम् । अतिप्रसङ्गान्तरमाह— उदासीनानामिति । अनीहमानानां प्रयत्नशून्यानाम् । अमत्र घटादिपात्रम् । तन्वानस्य व्यापारयतः । तस्माद्भ्रान्तिमूलेन क्षणिकबाह्यार्थवादेन कूटस्थनित्यब्रह्म समन्वयस्य न विरोध इति सिद्धम् ॥२७॥

एव सुखादिरूप चैत्य उत्पन्न होते हैं तथा परमाणुओं से भूतभौतिकरूप समुदाय उत्पन्न होता है, ऐसा मानने के बाद पुनः अभाव से भाव की उत्पत्तिकल्पना करने वाले और अपनी ही मान्यता का अपलाप करने वाले वैनाशिक बौद्ध सम्पूर्ण लोक को अस्त-व्यस्त कर रहे हैं जो पूर्वापर विरुद्ध होने से सर्वथा उपेक्ष्य है ॥२६॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धि (ललिता)

यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानोगे तो घटादि की उत्पत्ति के लिए प्रयत्न न करने वाले उदासीन पुरुषों का भी अभिमत सिद्ध हो जायेगा क्योंकि अभाव सर्वत्र सुलभ है। फलतः कृषिकर्म में प्रयत्न न करने वाले किसान की भी खेती लहलहा उठेगी, मृत्तिकासंस्कार के लिए प्रयत्न न करने वाले कुम्भकार के भी घटादि मृत्पात्र उत्पन्न हो जायेंगे, तन्तुओं में वस्त्र उत्पत्ति के लिए व्यापार न करने वाले तन्तुवाय के भी तदर्थ व्यापारशील तन्तुवाय के समान ही वस्त्रलाभ हो जायेगा और स्वर्ग और मोक्ष के लिए कोई भी चेष्टा नहीं करेगा, आप के मतानुसार बिना चेष्टा के ही स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त हो जायेंगे। पर न तो ऐसा युक्ति से सिद्ध होता है और न किसी ने ऐसा माना ही है। अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने वाला सिद्धान्त असङ्गत ही है ॥२७॥

५. अभावाधिकरण

१. **सङ्गति**—बाह्यार्थवादी का मत इससे पूर्व निराकृत कर दिया गया, अब उसी को उपजीव्य बनाकर क्षणिकविज्ञानवादी योगाचार का मत उपस्थित होता है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की उपजीव्य-उपजीवकभाव सङ्गति है।

(१६६) नाभाव उपलब्धेः ॥२८॥

एवं बाह्यार्थवादमाश्रित्य समुदाया[१]प्राप्त्यादिषु दूषणेषूद्भावितेषु विज्ञानवादी बौद्ध इदानीं प्रत्यवतिष्ठते । केषांचित्किल विनेयानां बाह्ये वस्तुन्यभिनिवेशमालक्ष्य तदनुरोधेन बाह्यार्थवादप्रक्रियेयं विरचिता । नासौ सुगताभिप्रायः, तस्य तु विज्ञानैकस्कन्धवाद एवाभिप्रेतः । तस्मिंश्च विज्ञानवादे बुद्ध्यारूढेन रूपेणान्तःस्थ एव प्रमाणप्रमेयफलव्यवहारः सर्व उपपद्यते । सत्यपि बाह्येऽर्थे बुद्ध्यारोहमन्तरेण प्रमाणादिव्यवहारानवतारात् । कथं

नाभाव उपलब्धेः । अखण्डनिर्विशेषं ब्रह्म विज्ञानं बाह्यार्थोपादानं वदतां [२]वेदान्तानां भिन्नं साकारं क्षणिकं विज्ञानं न ततोऽन्योऽर्थोऽस्तीति योगाचारमतेन विरुध्यते न वेति तन्मतस्य मानभ्रान्तिमूलत्वाभ्यां संशये पूर्वोक्तबाह्यार्थवादनिरासमुपजीव्य पूर्वपक्षमाह—एवमित्यादिना । पूर्वोत्तरपक्षयोर्विरोधाविरोधौ फलम् । नन्वेकस्य सुगतागमस्य कथं बाह्यार्थसत्त्वासत्त्वयोस्तात्पर्यं विरोधादित्याशङ्क्याधिकारिभेदादविरोध इति वदन् विज्ञानवादिनः सुगताभिप्रायज्ञत्वेन मन्दाधिकारिभ्यो बाह्यार्थवादिभ्यः श्रैष्ठ्यमाह—केषांचिदिति । उक्तं च धर्मकीर्तिना—'देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः' इति । सुगतानामुपदेशाः शिष्यमत्यनुसारिण इत्यर्थः । नन्वसति बाह्यार्थे मानमेयव्यवहारः कथं, तत्राह—तस्मिन्निति । विज्ञानमेव कल्पितनीलाद्याकारत्वेन प्रमेयम्, [३]अवभासात्मना मानफलं, [४]शक्त्यात्मना मानं, शक्त्याश्रयत्वाकारेण प्रमातेति भेदकल्पनया व्यवहार इत्यर्थः । मुख्य एव भेदः किं न स्यादत आह—सत्यपीति । नहि बुध्द्यनारूढस्य नीलादेः प्रमेयत्वव्यवहारोऽस्ति । अतो बुद्ध्यारूढाकार एव प्रमेयं न बाह्यमित्यर्थः । बाह्यार्थासत्त्वे प्रश्नपूर्वकं युक्तीरुपन्यस्यति—कथमित्यादिना । ज्ञेयं

२. **विषय**—विज्ञानवादी योगाचार का सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—बाह्य पदार्थ का अस्तित्व न मानने पर विज्ञानस्कन्धमात्र जगत् को मानना युक्तिसङ्गत है या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—स्वप्न दृष्टान्त को देखते हुए विज्ञानवाद युक्तिसङ्गत सिद्ध होता है । क्षणिक बुद्धि ही व्यवहारदृष्टि से स्वप्न की भांति बाहर प्रतीत होती है ।

५. **सिद्धान्त**—स्वप्न दृष्टान्त में वैषम्य है क्योंकि बाह्य अर्थ उपलब्ध होता है, उसका बाध नहीं होता; इसलिए '**बहिर्वदवभासते**' यह युक्ति ठीक नहीं है । अतः बुद्धि ही घट-पटादि बाह्य जगत् के रूप में प्रतीत होती है, योगाचार का यह मत भ्रान्तिमूलक है ।

नाभाव उपलब्धेः (ललिता)

इस प्रकार बाह्यार्थवाद का आश्रय लेकर संघात की सिद्धि नहीं होती है इत्यादि उद्भावित दोषों पर क्षणिकविज्ञानवादी बौद्ध अब अपना पक्ष सामने खड़ा करता है । उनका कहना है कि तथागत के अनेक शिष्यों में से कुछ शिष्यों का बाह्यवस्तु में अभिनिवेश था, उसे देखकर तदनुरूप उन्होंने इस बाह्यार्थवाद प्रक्रिया की रचना कर दी थी; किन्तु वह उनका अभिप्राय नहीं था, उन्हें तो विज्ञानैकस्कन्धवाद ही अभिप्रेत था । उस क्षणिकविज्ञानवाद में बुद्धि में आरूढ़ वस्तु से ही अन्तःस्थ प्रमाण, प्रमेय, फलव्यवहार सब कुछ सिद्ध हो जाता है क्योंकि बाह्य अर्थ मानने पर भी उसे

१. आदिना प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्या निरोधाप्राप्तिक्षणिकभावहेतुत्वाप्राप्त्यभावहेतुत्वाप्राप्त्यादयो गृह्यन्ते ।

२. वेदान्तानामित्यनन्तरं समन्वय इति शेषः । ३. अनुभवात्मना । ४. वृत्त्यात्मना ।

पुनरवगम्यतेऽन्तःस्थ एवायं सर्वव्यवहारो न विज्ञानव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थोऽस्तीति तद-सम्भवादित्याह । स हि बाह्योऽर्थोऽभ्युपगम्यमानः परमाणवो वा स्युस्तत्समूहा वा स्तम्भादयः स्युः । तत्र न तावत्परमाणवः स्तम्भादिप्रत्ययपरिच्छेद्या भवितुमर्हन्ति परमाण्वाभासज्ञानानुपपत्तेः ? नापि तत्समूहाः स्तम्भादयः, तेषां परमाणुभ्योऽन्यत्वा-नन्यत्वाभ्यां निरूपयितुमशक्यत्वात् । एवं जात्यादीनपि प्रत्याचक्षीत । अपिचानुभव-मात्रेण साधारणात्मनो ज्ञानस्य जायमानस्य योऽयं प्रतिविषयं पक्षपातः स्तम्भज्ञानं कुड्यज्ञानं घटज्ञानं पटज्ञानमिति, नासौ ज्ञानगतविशेषमन्तरेणोपपद्यत इत्यवश्यं विषयसा-रूप्यं ज्ञानस्याङ्गीकर्तव्यम् । अङ्गीकृते च तस्मिन्विषयाकारस्य ज्ञानेनैवावरुद्धत्वाद-

---

ज्ञानातिरेकेणासत्, तदतिरेकेणासंभवात्, नरशृङ्गवदित्याह—तदसंभवादिति । असंभवं विवृणोति—स हीति । परमाणवश्चेदेकस्थूलस्तम्भ इति ज्ञानं न स्यात् । समूहस्त्ववसन्नित्यर्थः । अवयव्यभावेऽपि जात्यादयो बाह्यार्थाः स्युः, तत्राह—एवमिति । जातिगुणकर्मणां धर्मिणः सकाशादभेदेऽन्यन्तभेदे वा धर्मिवद्धर्म्यन्तरवच्च न धर्मधर्मिभावः । भेदाभेदौ च विरुद्धाविति न सन्ति जात्याद्यर्था इत्यर्थः । किंच ज्ञानस्य [1]ज्ञेयसारूप्यरूपविशेषसंबन्धाभावे सर्वविषयत्वापत्तेर्विशेषोऽङ्गीकार्यः, तथाच ज्ञानगत-विशेषस्यैव ज्ञानेन विषयीकरणान्न बाह्यार्थसिद्धिर्मानाभावाद्गौरवाच्चेत्याह—अपिचेति । पक्षपातो

बुद्धि में आरूढ़ हुए विना प्रमाण, प्रमेय, फलव्यवहार जब होता नहीं है तो फिर बाह्य अर्थ कल्पना की आवश्यकता क्या है । प्रश्न—विज्ञान से भिन्न बाह्य अर्थ नहीं है एवं अन्तःस्थ ही यह सब कुछ व्यवहार होता रहता है, यह कसे ज्ञात हुआ ? उत्तर—बाह्य अर्थ का होना सम्भव नहीं है, ऐसा विज्ञानवादियों ने कहा है । बाह्य अर्थ मानने वाले विज्ञानवादियों के समकक्ष हम विकल्प रखते हैं कि बाह्य स्तम्भादि पदार्थ परमाणुरूप हैं अथवा उनके समूहरूप हैं । इनमें प्रथम पक्ष का आश्रय लेकर बाह्य स्तम्भादि को परमाणुरूप नहीं कह सकते क्योंकि स्तम्भादि प्रतीति के विषय परमाणु नहीं हो सकते, परमाण्वाभास ज्ञान भी नहीं हो सकता । द्वितीय पक्ष का आलम्बन लेकर उन स्तम्भादि को परमाणुसमूह मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि उन्हें परमाणुओं से भिन्न और अभिन्नरूप में आप बतला नहीं सकते । इसी प्रकार अवयवी के अभाव में जाति, गुण और कर्म की सिद्धि भी नहीं हो पाती है क्योंकि जात्यादि का भी धर्मी से भिन्न और अभिन्न का विकल्प होने पर कोई समुचित उत्तर नहीं आता है, अतः जात्यादि का भी खण्डन कर लेना चाहिए । और जो अनुभवमात्र के आधार पर उत्पद्यमान साधारण ज्ञान का पक्षपात—यह स्तम्भ-ज्ञान है, यह कुड्य (भित्ति) ज्ञान है, घट ज्ञान है, पट ज्ञान है—ऐसा प्रत्येक विषय में भासता है, वह ज्ञानगत विशेष को माने विना सिद्ध नहीं होता । अतः ज्ञान में विषयसारूप्य अवश्य मानना पड़ेगा और ज्ञान में विषयसारूप्य मान लेने पर विषय का आकार ज्ञान से ही अवरुद्ध हो जायेगा, ऐसी स्थिति में बाह्यार्थ की सत्ताकल्पना निरर्थक हो जायेगी । इसके अतिरिक्त विषय और ज्ञान का एक

---

१. विषयाकाररूपा ।

पार्थिका बाह्यार्थसद्भावकल्पना । अपिच सहोपलम्भनियमादभेदो विषयविज्ञानयोरापतति । नह्यनयोरेकस्यानुपलम्भेऽन्यस्योपलम्भोऽस्ति । न [1]चैतत्स्वभावविवेके युक्तं, [2]प्रतिबन्धकारणाभावात् । तस्मादप्यर्थाभावः । स्वप्नादिवच्चेदं द्रष्टव्यम् । यथाहि स्वप्नमायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन ग्राह्यग्राहकाकारा भवन्ति, एवं जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया भवितुमर्हन्तीत्यवगम्यते । प्रत्ययत्वाविशेषात् ।

कथं पुनरसति बाह्यार्थे प्रत्ययवैचित्र्यमुपपद्यते । वासनावैचित्र्यादित्याह । अनादौ हि संसारे बीजाङ्कुरवद्विज्ञानानां वासनानां चान्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन वैचित्र्यं न विप्रतिषिध्यते । अपिचान्वयव्यतिरेकाभ्यां वासनानिमित्तमेव ज्ञानवैचित्र्यमित्यवगम्यते ।

विषयविशेषवैशिष्ट्यव्यवहारः । किंच ज्ञेयं ज्ञानाभिन्नं, ज्ञातोपलम्भक्षणनियतोपलम्भग्राह्यत्वात्, ज्ञानवदित्याह—अपि चेति । **ज्ञानार्थयोर्वास्तवभेदेऽपि सहोपलम्भनं स्यात्, ग्राह्यग्राहकभावादित्यत आह**—न चैतदिति । **क्षणिकज्ञानस्यार्थेन संबन्धहेत्वभावान्न ग्राह्यग्राहकभाव इत्यर्थः । किंच जाग्रद्विज्ञानं न बाह्यालम्बनं, विज्ञानत्वात्, स्वप्नादिज्ञानवदित्याह**—स्वप्नेति ।

विज्ञानानां वैचित्र्यानुपपत्ति[3]बाधितमनुमानमिति शङ्कते—कथमिति । **अन्यथोपपत्त्या परिहरति**—वासनेति । **अनादिसंतानान्तर्गतपूर्वज्ञानमेव वासना, तद्वशादनेकक्षणव्यवधानेऽपि नीलाद्याकारज्ञानवैचित्र्यं भवति, यथा बीजवासनया कार्पासरक्तत्वं तद्वदित्यर्थः । [4]उभयवादिसमतत्वाच्च वासना एव ज्ञानवैचित्र्यहेतवो न बाह्यार्था इत्याह**—अपिचेति ।

साथ अनुभव भी विषय एवं विज्ञान को अभिन्न बतलाता है क्योंकि इन दोनों में से एक के अनुपलम्भ से दूसरे की उपलब्धि नहीं होती है। यह सहोपलम्भनियम विषय तथा ज्ञान को भिन्न मानने पर युक्तियुक्त सिद्ध नहीं होता क्योंकि ज्ञान और विषय के सम्बन्ध का कोई कारण नहीं है, अतः स्वप्नादि की भाँति ही बाह्य अर्थ का अभाव ही मानना चाहिए। जैसे स्वप्न, माया मरीचि उदक और गन्धर्वनगर आदि प्रतीति बाह्य अर्थ के बिना ही ग्राह्यग्राहकरूप में भासते हैं, ऐसे ही जाग्रदवस्था की विषयविषयक स्तम्भादि प्रतीति भी हो जायेगी, ऐसा जान पड़ता है क्योंकि बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रत्यय में प्रत्ययत्व तो समान ही है।

पूर्वपक्ष—बाह्य विषय के न रहने पर ज्ञान में वचित्र्य कैसे सिद्ध होगा क्योंकि घट ज्ञान, पट ज्ञान, मठ ज्ञान, इन सभी ज्ञानों में विचित्रता के कारण तो बाह्य अर्थ ही हैं। उत्तरपक्ष—वासना की विचित्रता से ज्ञान में वैचित्र्य आना सम्भव है, ऐसा हम कहते हैं क्योंकि अनादि संसार में बीज-अङ्कुर की भाँति विज्ञान एवं वासना में परस्पर निमित्त नैमित्तिकभाव के कारण विचित्रता मानना परस्पर प्रतिषिद्ध नहीं है। जैसे बीज से अङ्कुर और अङ्कुर से बीज होता है ऐसे ही इस अनादि संसार में विचित्र विज्ञान से विचित्र वासना होती है और विचित्र वासना से विचित्र विज्ञान होता है, ऐसा मानना असङ्गत नहीं है। इसके अतिरिक्त ज्ञानवैचित्र्य के हेतु वासना को आप और हम उभयवादी मानते हैं; बाह्य अर्थ को ज्ञानवैचित्र्य का प्रयोजक केवल आप मानते हैं, हम नहीं। अन्वय एवं व्यतिरेक के आधार पर ज्ञान में वैचित्र्य का निमित्त वासना इसलिए जान पड़ती है क्योंकि

---

१. ग्राह्यग्राहकभावत्वम् । २. सम्ब । ३. र क्षस्य साध्यशून्यत्वाद् बाधितत्वम् । ४. बाह्यार्थक्षणिकविज्ञानवादि ।

स्वप्नादिष्वन्तरेणाप्यर्थं वासनानिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्योभाभ्यामप्यावाभ्यामभ्युपगम्यमानत्वात् । अन्तरेण तु वासनामर्थंनिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्य मयानभ्युपगम्यमानत्वात् । तस्मादप्यभावो बाह्यार्थस्येति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—'नाभाव उपलब्धेः' इति न खल्वभावो बाह्यस्यार्थस्याध्यवसातुं शक्यते । कस्मात् ? उपलब्धेः । उपलभ्यते हि ¹प्रतिप्रत्ययं बाह्योर्थः स्तम्भः कुड्यं घटः पट इति । नचोपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति । यथा हि कश्चिद्भुञ्जानो भुजिसाध्यायां तृप्तौ स्वयमनुभूयमानायामेवं ब्रूयान्नाहं भुञ्जे न वा तृप्यामीति, तद्वदिन्द्रियसंनिकर्षेण ²स्वयमुपलभमान एव बाह्यमर्थं नाहमुपलभे न च सोऽस्तीति ब्रुवन्कथमुपादेयवचनः स्यात् ।

ननु नाहमेवं ब्रवीमि न कंचिदर्थमुपलभ इति किं तूपलब्धिव्यतिरिक्तं नोपलभ इति ब्रवीमि । बाढमेवं ब्रवीषि निरङ्कुशत्वात्ते तुण्डस्य । नतु युक्त्युपेतं ब्रवीषि । यत ³उपलब्धिव्यतिरेकोऽपि बलादर्थस्याभ्युपगन्तव्य उपलब्धेरेव । नहि कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भः

क्षणिकविज्ञानमात्रवादस्य मानमूलत्वात्तेन नित्यविज्ञानवादो विरुध्यत इति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—नाभाव इत्यादिना । किं बाह्यार्थस्यानुपलब्धेरभाव उत ज्ञानाद्भेदेनानुपलब्धेः । नाद्य इत्युक्तमुपलब्धेरिति ।

द्वितीयं शङ्कते—ननु नाहमिति । ज्ञानज्ञेययोर्विषयिविषयभावेन भेदस्य साक्षिप्रत्यक्षसिद्धत्वात्प्रत्यक्षविरुद्धमभेदाभिधानमित्याह—बाढमित्यादिना । त्वद्वचनादपि जनो बाह्यार्थं ज्ञानाद्भेदेनैवोपलभत

स्वप्नादि में बाह्य अर्थ कुछ भी नहीं होते, केवल वासना होती है जिस वासना में विचित्रता हम और आप दोनों ही मानते हैं, वह वासना ही ज्ञानगत विचित्रता का निमित्त है। वासना के बिना ज्ञान में वैचित्र्य का निमित्त बाह्य अर्थ हम नहीं मानते हैं; इस लिए यह पक्ष उभयवादीसम्मत नहीं है। अतः बाह्य अर्थ का अभाव मानना ही उचित है।

विज्ञानवादी का ऐसा पक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि बाह्य अर्थ का अभाव मानना ठीक नहीं है क्योंकि इसकी उपलब्धि होती है। प्रत्येक ज्ञान के साथ यह स्तम्भ है, भित्ति है, घट है और पट है, ऐसा बाह्य अर्थ भासता है, उस उपलभ्यमान बाह्य अर्थ का ही अभाव कहना उचित नहीं होगा। यह तो वैसा ही कहना होगा जैसे कोई खाने वाला, भुज् क्रिया से उत्पन्न तृप्ति को स्वयं अनुभव करने वाला बोले कि मैं नहीं खाता हूँ और न तृप्त होता हूँ। ठीक वैसे ही इन्द्रियसन्निकर्ष से स्वयं बाह्य अर्थ का अनुभव करने वाला ही बोले कि मैं बाह्य अर्थ को नहीं देखता और न बाह्य अर्थ है ही, तो ऐसा बोलने पर उसकी बात में कौन श्रद्धा करेगा।

विज्ञानवादी—मैं ऐसा नहीं कह रहा हूँ कि किसी विषय को मैं नहीं देखता, मैं तो कहता हूँ कि ज्ञान से भिन्न किसी वस्तु को मैं नहीं देखता। सिद्धान्ती—निःसन्देह ऐसा आप इसलिए बोलते हैं क्योंकि आप का वाणी पर कोई नियन्त्रण नहीं है, किन्तु आप युक्तियुक्त नहीं बोल रहे हैं। उपलब्धि के आधार पर ही बलात् उपलब्धि से भिन्न बाह्य अर्थ को मानना ही पड़ता है क्योंकि कोई भी

---

१. प्रतिज्ञानम् । २. विज्ञानवादी । ३. उपलब्धेः सकाशाद् भेदोपीत्यर्थः ।

कुड्यं चेत्युपलभते । उपलब्धिविषयत्वेनैव तु स्तम्भकुड्यादीन्सर्वे लौकिका उपलभन्ते । अतश्चैवमेव सर्वे लौकिका उपलभन्ते यत्[1]प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वदवभासत इति । तेऽपि सर्वलोकप्रसिद्धां बहिरवभासमानां संविदं प्रतिलभमानाः प्रत्याख्यातुकामाश्च बाह्यमर्थं बहिर्वदिति वत्कारं कुर्वन्ति । इतरथा हि कस्माद्बहिर्वदिति ब्रूयुः । नहि विष्णुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभासत इति कश्चिदाचक्षीत । तस्माद्यथानुभवं तत्त्वमभ्युपगच्छद्भिर्बहिरेवावभासत इति युक्तमभ्युपगन्तुं न तु बहिर्वदवभासत इति । ननु बाह्यस्यार्थस्यासम्भवाद्बहिर्वदवभासत इत्यध्यवसितम् । नायं साधुरध्यवसायो यतः प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्तिपूर्वकौ सम्भवासम्भवाववधार्येते न पुनः सम्भवासम्भवपूर्विके प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्ती । यद्धि प्रत्यक्षादीनामन्यतमेनापि प्रमाणेनोपलभ्यते तत्सम्भवति ।

इत्याह—अतश्चेति । बाह्यार्थस्यात्यन्तासत्त्वे प्रत्यक्षोपलम्भायोगात्, दृष्टान्तत्वासम्भवाच्च बहिर्वच्छब्दो न स्यादित्याह—इतरथेति । अबाधितभेदानुभवादेवकारो युक्तो न वत्कार इत्याह—तस्मादिति । ज्ञेयार्थो ज्ञानातिरेकेणासत्त्वसंभवादित्युक्तबाधादुत्करणमिति शङ्कते—नन्विति । कोऽसावसंभवः असत्त्वं वा असत्त्वनिश्चयो वा अयुक्तत्वं वा उत्कटकोटिकसंशयात्मकसंभवस्याभावो वा । नाद्यः, साध्याभेदात् । न द्वितीयः, स्थूलो घटस्तम्भाविति समूहालम्बने स्थूलत्वद्वित्वघटत्वस्तम्भत्वरूपविरुद्धधर्मवतोरर्थयोरस्थूलादेकस्माद्द्वयावगाहिविज्ञानाद्भेदसत्त्वनिश्चये नासंभवासिद्धिरित्याह—नायं साधुरिति । संभवः सत्तानिश्चयः प्रमाणाधीनः । असंभवोऽसत्त्वनिश्चयः प्रमाणाभावाधीनो न वैपरीत्यमिति व्यवस्थामेव स्फुटयति—यद्धीति । उक्तव्यवस्थायाः फलं बाह्यार्थस्य प्रत्यक्षादिभिः संभवं वदन्नेव तृतीयं दूषयति—इहेति । प्रमाणनिश्चितबाह्यार्थस्य स्तम्भादेः परमाणुभ्यो भेदाभेदविकल्पैरयुक्तत्वमात्रेणासत्त्व-

उपलब्धा ज्ञान को ही स्तम्भ और भित्ति नहीं जानता है, सभी लोग स्तम्भादि को ज्ञान के विषयरूप में ही जानते हैं। सभी लोग जब ऐसे ही अनुभव करते हैं इसीलिए तो बाह्य अर्थ का खण्डन करने वाले और न मानने वाले विज्ञानवादी भी बाह्य विषय को ऐसा ही कहते हैं कि जो भीतर ज्ञेयरूप वस्तु है वह बाहर की भाँति भासती है। ऐसे विज्ञानवादी भी सर्वलोकप्रसिद्ध बाहर प्रतीत होने वाले ज्ञान के विषय बाह्य अर्थ के प्रत्याख्यान की इच्छा से 'बहिर्वत्' ऐसे 'वत्' कार शब्द का प्रयोग करते हैं, यदि बाह्य अर्थ नहीं होता तो वे बहिर्वत् ऐसा शब्द कैसे बोलते। क्या विष्णुमित्र बन्ध्यापुत्र की भाँति दिखाई पड़ता है, ऐसा विष्णुमित्र का प्रत्याख्यान कोई करेगा अर्थात् नहीं। इसलिए अनुभवानुसार तत्त्व को मानने वाले यथार्थदर्शी व्यक्ति को वस्तु बाहर ही है, ऐसा कहना चाहिए और मानना चाहिए, न कि बाहर की भाँति भासता है ऐसा कहना उचित होगा। विज्ञानवादी—बाह्य अर्थ का होना असम्भव होने के कारण बहिर्वदवभासते, ऐसा निश्चय किया गया है। सिद्धान्ती—आप का यह निश्चय ठीक नहीं है क्योंकि किसी वस्तु का होना प्रमाणप्रवृत्ति के आधीन है, और न होना प्रमाण की अप्रवृत्ति के आधीन है, ऐसा निश्चय करते हैं अर्थात् सत्तानिश्चय प्रमाणाधीन है और असत्तानिश्चय प्रमाणाभावाधीन है। इसके विपरीत सम्भव एवं असम्भवपूर्वक प्रमाण की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति का निश्चय नहीं करना चाहिए क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों में से किसी एक प्रमाण से भी जो उपलब्ध होता है उसकी सत्ता मानी जाती है

१. विज्ञानवादिनः ।

यत्तु न केनचिदपि प्रमाणेनोपलभ्यते तन्न सम्भवति। इह तु यथास्वं सर्वैरेव प्रमाणैर्बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथं व्यतिरेकाव्यतिरेकादिविकल्पैर्न सम्भवतीत्युच्येतोपलब्धेरेव। नच ज्ञानस्य विषयसारूप्याद्विषयनाशो भवति, असति विषये विषयसारूप्यानुपपत्तेः, बहिरुपलब्धेश्च विषयस्य। अतएव सहोपलम्भनियमोऽपि प्रत्ययविषयोरुपायोपेयभावहेतुको नाभेदहेतुक इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

अपिच घटज्ञानं पटज्ञानमिति विशेषणयोरेव घटपटयोर्भेदो न विशेष्यस्य ज्ञानस्य। यथा शुक्लो गौः कृष्णो गौरिति शौक्ल्यकार्ष्ण्ययोरेव भेदो न गोत्वस्य। द्वाभ्यां च भेद एकस्य

निश्चयो न युक्तः, स्वपक्षेऽप्ययुक्तत्वस्य तुल्यत्वात्। न ह्यस्थूलस्यैकस्य विज्ञानस्य स्थूलानेकसमूहालम्बनस्य विषयाभेदो युक्तः, स्थूलत्वानेकत्वप्रसङ्गात्। न चेष्टापत्तिः, समूहालम्बनोच्छेदे विज्ञानानां मिथो वार्तानभिज्ञतया विषयद्वित्वादिव्यवहारलोपापत्तेः। तस्मादयुक्तत्वेऽपि यथानुभवं व्यवहारयोग्योऽर्थः स्वीकार्यः। न चतुर्थः, निश्चिते [1]तादृशसंभवस्यानुपयोगात्। [2]तस्य क्वचित् प्रमाणप्रवृत्तेः पूर्वाङ्गत्वादिति भावः। यच्चोक्तं ज्ञानगतार्थसारूप्यस्यैव ज्ञानालम्बनत्वोपपत्तेर्बहिरर्थाभाव इति, तत्राह—नचेति। यत्तु गौरवमुक्तं, तन्न दूषणं, प्रामाणिकत्वादित्याह—बहिरिति। यत एव ज्ञानार्थयोर्भेदः सर्वलोके साक्ष्यनुभवसिद्धः, अत एव सहोपलम्भनियमोऽपि नाभेदसाधक इत्याह—अत एवेति। यथा चाक्षुषद्रव्यरूपस्यालोकोपलम्भनियतोपलब्धिकत्वेऽपि नालोकाभेदः, तथार्थस्य न ज्ञानाभेदः, भेदेऽपि ग्राह्यग्राहकभावेन नियमोपपत्तेः। नच ज्ञानस्य क्षणिकत्वात् स्वभिन्नग्राह्यसंबन्धायोगः, स्थायित्वादिति भावः।

विज्ञानमनेकार्थेभ्यो भिन्नम्, एकत्वात्, गोत्ववदिति सत्प्रतिपक्षमाह—अपिचेति। नच हेत्वसिद्धिः, ज्ञानं ज्ञानमित्येकाकारप्रतीतेर्ज्ञानैक्यनिश्चयात्। नच सा जातिविषया, व्यक्तिभेदानिश्चयादित्याह—

और जो किसी भी प्रमाण से उपलब्ध नहीं होता उसकी सत्ता नहीं मानी जाती है यहाँ तो वस्तु के अनुरूप सभी प्रमाणों से बाह्य अर्थ उपलब्ध होते हैं, फिर भला व्यतिरेक एवं अव्यतिरेक आदि विकल्पों के द्वारा ज्ञान के रहते-रहते वस्तु की असत्ता कैसे कह सकते हो। यदि कहो कि ज्ञान और विषय सदृश होने के कारण हम विषय को नहीं मानते, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि विषय के न रहने पर ज्ञान में विषयसारूप्य भी सिद्ध नहीं हो सकता; और विषय बाहर है, इसे सभी मानते ही हैं। इसीलिए सहोपलम्भनियम भी ज्ञान और विषय के उपाय और उपेय रूप में कारण स्वीकार किया गया है, अभेद के कारण स्वीकार नहीं किया है अर्थात् विषय और ज्ञान जो एक साथ उपलब्ध होता है उसका कारण है उपाय-उपेयभाव, न कि अभेद। यदि ज्ञान और विषय में अभेद होता तो सहोपलम्भनियम बतलाना भी व्यर्थ ही माना जाता। चाक्षुष द्रव्य का रूप आलोक उपलम्भ नियत होने पर भी आलोक और रूप में अभेद नहीं है, वैसे ही अर्थ और ज्ञान का भी अभेद नहीं है; दोनों में भेद रहने पर भी ग्राह्यग्राहकभाव से नियम की सिद्धि हो जाती है।

घट ज्ञान, पट ज्ञान इनमें घट और पटरूप विशेषण का ही भेद है, विशेष्य ज्ञान में भेद नहीं है; जिस प्रकार शुक्ल गौ, कृष्ण गौ इन दोनों अनुभवों में गोत्व का भेद नहीं है किन्तु गौ के विशेषण

१. उत्कटकोटिकसंशयात्मक। २. तादृशसम्भवस्य।

सिद्धो भवत्येकस्माच्च द्वयोः । तस्मादर्थज्ञानयोर्भेदः । तथा घटदर्शनं घटस्मरणमित्यत्रापि प्रतिपत्तव्यम् । अत्रापि हि विशेष्ययोरेव दर्शनस्मरणयोर्भेदो न विशेषणस्य घटस्य । यथा क्षीरगन्धः क्षीररस इति विशेष्ययोरेव गन्धरसयोर्भेदो न विशेषणस्य क्षीरस्य तद्वत् । अपिच द्वयोर्विज्ञानयोः पूर्वोत्तरकालयोः [1]स्वसंवेदनेनैवोपक्षीणयोरितरेतरग्राह्यग्राहकत्वानुपपत्तिः । ततश्च विज्ञानभेदप्रतिज्ञा क्षणिकत्वादिधर्मप्रतिज्ञा स्वलक्षणसामान्यलक्षणवास्यवासकत्वाविद्योपप्लवसदसद्धर्मबन्धमोक्षादिप्रतिज्ञाश्च स्वशास्त्रगतास्ता हीयेरन् । किंचान्यत् ? विज्ञानं विज्ञानमित्यभ्युपगच्छता बाह्योऽर्थः स्तम्भः

न विशेष्यस्येति । घटादेश्चैतन्याद्भेद मुक्त्वा वृत्तिज्ञानाद्भेदमाह—तथेति । घटो द्वाभ्यां भिन्नः एकत्वात्, क्षीरवदित्यर्थः । ज्ञानभिन्नार्थानङ्गीकारे स्वशास्त्रव्यवहारलोपं बाधकमाह—अपिचेति । क्रमिकयोः स्वप्रकाशयोः क्षणिकज्ञानयोर्मिथो ग्राह्यग्राहकत्वमयुक्तम[2]नभ्युपगतं च । तथाच तयोर्भेदप्रतिज्ञा न युक्ता, धर्मिप्रतियोगिनोर्मिथः परेण चाग्रहेण भेदग्रहायोगात् । तथाच तयोर्भेदग्राहकः स्थाय्यात्मा तद्भिन्न एवेष्टव्यः । एवं पक्षसाध्यहेतुदृष्टान्तभेदाभावे इदं क्षणिकमसदिति प्रतिज्ञा न युक्ता । सर्वतो व्यावृत्तं व्यक्तिमात्रत्वं [3]स्वलक्षणम्, अनेकानुगतं सामान्यमत[4]द्व्यावृत्तिरूपमिति प्रतिज्ञा न युक्ता, सर्वानेकार्थानां ज्ञानमात्रत्वे मिथः परेण वा दुर्ज्ञानत्वात् । उत्तरनीलज्ञानं वास्यं पूर्वनीलज्ञानं वासकमिति प्रतिज्ञा न युक्ता, तयोर्भिन्नस्य ज्ञातुरभावात् । किंचाविद्योपप्लवोऽविद्यासंसर्गः, तेन नीलमिति सद्धर्मः, नरविषाणमित्यसद्धर्मः, अमूर्तमिति सदसद्धर्मः, सतो विज्ञानस्यासतो नरविषाणस्य वामूर्तत्वादितिप्रतिज्ञा दुर्लभा, अनेकार्थज्ञानसाध्यत्वात् । अज्ञानेनास्य बन्धो ज्ञानेनास्य मोक्ष इति च प्रतिज्ञा बह्वर्थज्ञानसाध्या । आदिपदेन सामान्यत इष्टं ग्राह्यमनिष्टं त्याज्यमिति शिष्यहितोपदेशोऽनेकज्ञानसाध्यो गृहीतः । तस्मात् प्रतिज्ञादिव्यवहाराय ग्राह्यग्राहकभेदोऽङ्गीकार्य इत्यर्थः । ज्ञानार्थयोर्भेदे युक्त्यन्तरमस्तीत्याह—किंचान्यदिति । ज्ञानवदर्थस्याप्यनुभवाविशेषात्स्वीकारो युक्त इत्यर्थः । [5]स्वविषयत्वाद्वि-

शुक्लत्व और कृष्णत्व का ही भेद है । कहीं-कहीं पर दो विशेषणों के कारण एक विशेष्य में भेद भासता है और कहीं-कहीं पर एक विशेष्य के कारण दो विशेषणों में भेद सिद्ध होता है । घट का दर्शन और घट का स्मरण, इन दोनों ज्ञानों में घट विशेषण एक ही है, उसमें भेद नहीं है; किन्तु उसके विशेष्य दर्शन और स्मरण में केवल भेद है । जैसे दूध की गन्ध और दूध का रस, इन दोनों ज्ञानों में विशेषण दूध तो एक ही है, उसमें भेद नहीं है; किन्तु विशेष्य रस और गन्धमात्र में भेद है । इसके अतिरिक्त क्रमशः उत्पन्न होने वाले स्वप्रकाश ज्ञानद्वय में ग्राह्य-ग्राहकभाव सिद्ध नहीं होता और न किसी ने स्वीकार ही किया है । फिर इन दोनों विज्ञानों में भेद की प्रतिज्ञा, इनमें क्षणिकत्वादि धर्म की प्रतिज्ञा, बाह्यार्थस्वरूप स्वलक्षण और अनेकानुगत सामान्य लक्षण की प्रतिज्ञा, वास्य-वासक भाव की प्रतिज्ञा, अविद्या कार्य एवं अविद्या से सम्बद्ध होने के कारण नीलरूप यह सद्धर्म है ऐसी प्रतिज्ञा एवं नरविषाण असद्धर्म है ऐसी प्रतिज्ञा, अज्ञान से बन्ध एवं ज्ञान से मोक्ष की प्रतिज्ञा जो आप के शास्त्र में की गयी है उन सबका त्याग करना पड़ेगा क्योंकि ये सभी प्रतिज्ञा अनेकार्थक ज्ञान से साध्य है । अतः प्रतिज्ञादि की सिद्धि के लिए ग्राह्यग्राहकभेद को स्वीकार करना पड़ेगा । इसके अतिरिक्त यह भी एक प्रश्न यहाँ पर होता है कि विज्ञानं विज्ञानम् ऐसा विज्ञान में भेद मानने वाले आप स्तम्भ और भित्ति आदि को

१. स्वात्मप्रकाशनेनैव । २. केनापि वादिनेति शेषः । ३. बाह्यार्थस्वरूपम् । ४. इतरव्यावृत्ति । ५. विज्ञान ।

कुड्यमित्येवंजातीयकः कस्मान्नाभ्युपगम्यत इति वक्तव्यम् । विज्ञानमनुभूयत इति चेत् । बाह्योऽप्यर्थोनुभूयत एवेति युक्तमभ्युपगन्तुम् । अथ विज्ञानं प्रकाशात्मकत्वात्प्रदीपवत्स्वयमेवानुभूयते न तथा बाह्योऽप्यर्थ इति चेत् । अत्यन्तविरुद्धां स्वात्मनि क्रियामभ्युपगच्छस्यग्निरात्मानं दहतीतिवत्, अविरुद्धं तु लोकप्रसिद्धं [1]स्वात्मव्यतिरिक्तेन विज्ञानेन बाह्योऽर्थोऽनुभूयत इति नेच्छस्यहो पाण्डित्यं महद्दर्शितम् । न चार्थाव्यतिरिक्तमपि विज्ञानं स्वयमेवानुभूयते, स्वात्मनि क्रियाविरोधादेव ।

ननु विज्ञानस्य स्वरूपव्यतिरिक्तग्राह्यत्वे तदप्यन्येन ग्राह्यं तदप्यन्येनेत्यनवस्था प्राप्नोति । अपिच प्रदीपवदवभासात्मकत्वाज्ज्ञानस्य ज्ञानान्तरं कल्पयतः समत्वादवभास्यावभासकभावानुपपत्तेः कल्पनानर्थक्यमिति । तदुभयमप्यसत् । [2]विज्ञानग्रहणमात्र एव विज्ञानसाक्षिग्र

ज्ञानं स्वीक्रियते नार्थः 'परग्राह्यत्वादिति शङ्कते—अथ विज्ञानमिति । विरुद्धं स्वीकृत्याविरुद्धं त्यजता बौद्धनयेन मौढ्यं दर्शितमित्याह—अत्यन्तेति । ज्ञानं स्ववेद्यमित्यङ्गीकृत्य मौढ्यमापादितं, वस्तुतः स्ववेद्यत्वमयुक्तमित्याह—नचेति । कर्तरि क्रियां प्रति गुणभूते प्रधानत्वाख्यकर्मत्वायोगात्स्वकर्तृकवेदनकमत्वमसदित्यर्थः ।

न च स्वविषयत्वमात्रं स्ववेद्यत्वमिति वाच्यम्, अभेदे विषयविषयित्वस्याप्यसंभवादिति भावः । ज्ञानस्य स्ववेद्यत्वाभावे दोषद्वयं स्यादिति शङ्कते—नन्विति । अनवस्था च साम्यं चेति दोषद्वयं परिहरति—तदुभयमपीति । अनित्यज्ञानस्य जन्मादिमत्त्वेन घटवज्जडस्य स्वेन स्वीयजन्मादिग्रहायोगा-

---

बाह्य अर्थ क्यों नहीं मानते । यदि अनुभव के आधार पर विज्ञान को मानते हैं तो अनुभव के आधार पर बाह्य अर्थ को भी मानना पड़ेगा । यदि कहो कि प्रदीप की भाँति प्रकाशात्मक होने से विज्ञान स्वयं ही अनुभूत हो रहा है, पर बाह्य अर्थ वैसा नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि अपने आप में अत्यन्त विरुद्ध क्रिया यदि आप स्वीकार करोगे तो वह अग्नि अपने को जलाती है, इस विरुद्ध अनुभव की भाँति विज्ञान विज्ञान को जानता है, यह अनुभव भी विरुद्ध ही होगा । इसके विपरीत लोकप्रसिद्ध अविरुद्ध बाह्य अर्थ को विज्ञान से जाना जाता है, इसे आप स्वीकार नहीं करते हो तो आप के इस महापाण्डित्य को धन्यवाद है इस प्रकार भाष्यकार ने बौद्धों के ऊपर व्यंग कसा है । बाह्य अर्थ से भिन्न विज्ञान भी स्वयं ही अनुभव में आता है ऐसा कहने पर अपने में कर्तृ, कर्म का विरोध आने के कारण किसी को भी मान्य नहीं होगा ।

पूर्वपक्ष—ज्ञान में स्वसंवेद्यत्व न मानने पर दो दोष की आशङ्का होती है । प्रथम विज्ञान को स्व से भिन्न विज्ञानग्राह्य मानने पर द्वितीय, तृतीय आदि विज्ञान को भी ऐसा ही मानना पड़ेगा, ऐसी स्थिति में अनवस्था आ जायेगी । दूसरा विज्ञान से भिन्न दूसरे विज्ञान को प्रथम विज्ञान का अवभासक कहोगे तो प्रथम विज्ञान और द्वितीय विज्ञान में कोई अन्तर नहीं होगा, फिर तो अवभास्य-अवभासक भाव ही सिद्ध नहीं होगा; ऐसी स्थिति में विज्ञान के प्रकाशक दूसरे विज्ञान की कल्पना निरर्थक हो जायेगी । इन दोनों दोषों के कारण से हम विज्ञानवादी विज्ञान को स्वयंप्रकाश मानते हैं । सिद्धान्ती— अनवस्था एवं साम्य दोष विज्ञान के प्रकाशक नित्य साक्षी-चैतन्य को मानने पर

---

१. बाह्यार्थस्वरूप । २. ग्राहककाङ्क्षेति शेषः । ३. विज्ञान ।

ग्रहणाकाङ्क्षानुत्पादादनवस्थाशङ्कानुपपत्तेः । साक्षिप्रत्यययोश्च स्वभाववैषम्यादुपलब्ध्युपलभ्यभावोपपत्तेः । स्वयंसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात् । किंचान्यत् । प्रदीपवद्विज्ञानमवभासकान्तरनिरपेक्षं स्वयमेव [1]प्रथत इति ब्रुवताऽप्रमाणगम्यं विज्ञानमनवगन्तृकमित्युक्तं स्यात् । शिलाघनमध्यस्थप्रदीपसहस्रप्रथनवत् ।

बाढमेवम्, अनुभवरूपत्वात्तु विज्ञानस्येष्टो नः पक्षस्त्वयाऽनुज्ञायत इति चेत् । न । अन्यस्यावगन्तुश्चक्षुरादिसाधनस्य प्रदीपादिप्रथनदर्शनात् । अतो विज्ञानस्याप्यवभास्य-

---

दस्ति ग्राहकाकाङ्क्षा, साक्षिणस्तु सत्तायां स्फूर्तौ च निरपेक्षत्वान्नानवस्था । नापि साम्यम् । चिज्जडत्ववैषम्यादित्यर्थः । साक्षी क्वेत्यत आह—स्वयंसिद्धस्येति । निरपेक्षस्य साक्षिणोऽसत्त्वे क्षणिकविज्ञानभेदासिद्धेः सोऽङ्गीकार्य इत्यर्थः । अनित्यज्ञानस्वरूपसाधकत्वाच्च साक्षी स्वीकार्य इत्याह—किंचेति । विज्ञानं ज्ञानान्तरानपेक्षमिति ब्रुवता तस्याप्रामाणिकत्वमुक्तं स्यात्, स्वयं प्रथत इति ब्रुवता ज्ञातृशून्यत्वं चोक्तं स्यात्, तथाच ज्ञातृज्ञानाविषयत्वाच्छिलास्थप्रदीपवदसदेव विज्ञानं स्यात् । अतस्तत्साक्ष्येष्टव्य इत्यर्थः ।

विज्ञानस्य स्वान्यज्ञातृशून्यत्वमिष्टमेव त्वयापाद्यते न चासत्त्वापत्तिः ज्ञात्रभावादिति वाच्यं, स्वस्यैव ज्ञातृत्वादिति शाक्यः शङ्कते—बाढमिति । अभेदे ज्ञातृज्ञेयत्वायोगाज्ज्ञात्रन्तरमावश्यकमिति परिहरति—नेति । विमतं विज्ञानं [2]स्वातिरिक्तवेद्यं, वेद्यत्वात्, देहवदित्यर्थः । अतिरिक्तः साक्षी किम-

---

नहीं आते हैं । विज्ञान के ग्राहक साक्षी में ग्राहकान्तर की आकांक्षा नहीं होती जिससे कि अनवस्था होने लग जाय । साक्षी चैतन्य और विज्ञान में स्वभाववैषम्य भी है; साक्षी उपलब्धिस्वरूप है, वह उपलभ्य नहीं है । किन्तु क्षणिकविज्ञान में उपलब्धित्व और उपलभ्यत्व दोनों ही हैं; वह बाह्यविषय की अपेक्षाकर उपलब्धिरूप है, किन्तु साक्षी की दृष्टि से उपलभ्य भी है । साक्षी सत्तास्फूर्तिरूप है, उसे अपने प्रकाश के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, वह चिद्रूप है; किन्तु विज्ञान वृत्तिरूप होने के कारण जड़ है । इस प्रकार साक्षी और विज्ञान में वैषम्य सुस्पष्ट है । उस स्वयंसिद्ध साक्षी का प्रत्याख्यान कोई कर नहीं सकता, अनित्यज्ञानरूप विज्ञान का साधक साक्षी को मानना ही पड़ेगा । यहाँ पर प्रदीप की भाँति विज्ञान अवभासकान्तर की अपेक्षा नहीं रखता वह स्वयंप्रकाश है ऐसा कहते समय आप ने विज्ञान को प्रमाण से अगम्य कहा साथ ही उसका कोई अवगन्ता भी नहीं है यह सब कहते हुए आप का यह कथन वैसा ही है जैसे कोई शिलाघनमध्यवर्ती सहस्रदीप का प्रकाश मानता हो जिसके अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं किन्तु अपना विश्वास मात्र ही है जो विज्ञान प्रमाण से अगम्य है और उसका कोई अवगन्ता भी नहीं है, ऐसा आप कहते हो ।

पूर्वपक्षी बौद्ध–विज्ञान स्वयंप्रकाशस्वरूप है, यह पक्ष हमें इष्ट है जिसका अनुमोदन आप ने भी किया । सिद्धान्ती–ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि चक्षुरादि साधनवाले किसी अन्य ज्ञाता के रहने पर ही प्रदीपादि प्रकाश की सिद्धि देखी जाती है । जैसे प्रदीप में अवभास्यत्व है और उसका अवगन्ता कोई अन्य है, ऐसे ही विज्ञान में भी अवभास्यत्व है, उसका कोई अवगन्ता उससे भिन्न रहने पर ही विज्ञान की सिद्धि हो

---

१. प्रख्यातो भवति । २. विज्ञानातिरिक्तसाक्षिवेद्यम् ।

(२००) वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥२९॥

त्वाविशेषात्सत्येवान्यस्मिन्नवगन्तरि प्रथनं प्रदीपवदित्यवगम्यते । साक्षिणोऽवगन्तुः स्वयंसिद्धतामुपक्षिपता स्वयं प्रथते विज्ञानमित्येष एव मम पक्षस्त्वया वाचो युक्त्यन्तरेणाश्रित इति चेत् । न । विज्ञानस्योत्पत्तिप्रध्वंसानेकत्वादिविशेषवत्त्वाभ्युपगमात् । अतः प्रदीपवद्विज्ञानस्यापि व्यतिरिक्तावगम्यत्वमस्माभिः प्रसाधितम् ॥२८॥

यदुक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषादिति । तत्प्रतिवक्तव्यम् ।

अत्रोच्यते—न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति । कस्मात् ? वैधर्म्यात् । वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः । किं पुनर्वैधर्म्यम् ? बाधाबाधाविति ब्रूमः ।

न्यवेद्यः स्ववेद्यो वा । आद्येऽनवस्था । द्वितीये विज्ञानवाद एव भङ्ग्यन्तरेणोक्तः स्यादिति शङ्कते—साक्षिण इति । त्वया विज्ञानं जन्मविनाशयुक्तमुच्यते । अतः कार्यस्य जडत्वनियमात्स्वातिरिक्तवेद्यत्वमस्माभिः साधितं, कूटस्थचिदात्मनो ग्राहकानपेक्षत्वान्नानवस्थेति चोक्तमतो महद्वैलक्षण्यमावयोरिति परिहरति—न । विज्ञानस्येति ॥२८॥

एवं वेद्यविज्ञानवदर्थस्याप्युपलब्धेर्न बाह्यार्थाभाव इत्युक्तम् । संप्रति जाग्रद्विज्ञानं स्वप्नादिविज्ञानवन्न बाह्यालम्बनमित्यनुमानं दूषयति—वैधर्म्याच्चेति । किमत्र निर्विषयत्वं साध्यमुत पारमार्थिकविषयशून्यत्वम्, अथवा व्यावहारिकविषयशून्यत्वम् । नाद्यः, स्वप्नादिविभ्रमाणामपि मिथ्यार्थालम्बनत्वेन दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात् । न द्वितीयः, सिद्धसाधनादिति

सकेगी । पूर्वपक्ष—तब तो अवगन्ता साक्षी को स्वयंसिद्ध कहने वाले आप वेदान्ती ने विज्ञान को स्वयंप्रकाश मान ही लिया, यही हमारा पक्ष है जिसका अनुमोदन प्रकारान्तर से आप ने किया । सिद्धान्त—ऐसी बात नहीं है क्योंकि आप विज्ञान को उत्पत्तिविनाशशील कहते हो, उसे अनेक मानते हो; ऐसी स्थिति में उसकी उत्पत्तिध्वंसशीलता और अनेकता का प्रकाशक नित्य साक्षी कूटस्थ होना ही चाहिए। अतः जैसे प्रदीप अपने से भिन्न किसी दूसरे के द्वारा जाना जाता है, ऐसे ही विज्ञान भी अपने से भिन्न किसी दूसरे नित्यसाक्षी चैतन्य द्वारा प्रकाशित होता है । अतः क्षणिकविज्ञानवाद और नित्यविज्ञान आत्मवाद में महद्वैलक्षण्य है, ऐसा हमने सिद्ध किया ॥२८॥

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् (ललिता)

और जो बाह्यार्थ का अपलाप करने वाले विज्ञानवादी ने अनुमान किया था कि जाग्रद्विज्ञान बाह्यविषय के बिना ही हो रहा है, विज्ञान होने के कारण, स्वप्नविज्ञान की भांति; इस अनुमान का खण्डन सूत्रकार अग्रिम सूत्र से कर रहे हैं—

यहाँ पर सिद्धान्ती कहते हैं कि स्वप्नप्रत्यय की भांति जाग्रत्प्रत्यय को निरालम्ब नहीं कह सकते क्योंकि दृष्टान्त-दार्ष्टान्त में वैधर्म्य दीखता है। स्वप्न प्रत्यय में बाध्यत्व है किन्तु जाग्रत् प्रत्यय का बाध नहीं होता है, ऐसा हम कहते हैं अर्थात् स्वप्नज्ञान प्रतिदिन अभिनव हुआ

बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति, न ह्यस्तिमम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूवतेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति । एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधाः । नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते । अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम् । उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम् । स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तरं स्वयमनुभूयतेऽर्थविप्रयोगसंप्रयोगात्मकमिष्टं पुत्रं स्मरामि नोपलभ उपलब्धुमिच्छामीति । तत्रैवंसति न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धिरुपलब्धित्वात्स्वप्नोपलब्धिवदित्युभयोरन्तरं स्वयमनुभवता । न च स्वानुभवापलापः प्राज्ञमानिभिर्युक्तः कर्तुम् । अपिचानुभवविरोधप्रसङ्गाज्जागरितप्रत्ययानां स्वतो निरालम्बनतां वक्तुमशक्नुवता स्वप्नप्रत्ययसाधर्म्याद्वक्तुमिष्यते । नच यो यस्य

सूत्रस्थचकारार्थः । तृतीये तु व्यवहारदशायां बाधितार्थग्राहित्वमुपाधिरित्याह—बाध्यते हीत्यादिना । निद्राग्लानमिति । **करणदोषोक्तिः । साधनव्यापकस्य**[1]निरासायाह—न चैवमिति । **किंच प्रमाणजानुभव उपलब्धिः पक्षोऽप्रमाणजं स्वप्नज्ञानं दृष्टान्त इति वैधर्म्यान्तरम् । परमतेन स्वप्नस्य स्मृतित्वमङ्गीकृत्याह**—अपि चेति । **स्मृतिप्रत्यक्षोपलब्ध्योर्वैधर्म्यान्तरमाह**—अर्थविप्रयोगेति । [2]**असंबन्धश्चा वर्तमानश्च स्मृतेरर्थो विषय इति निरालम्बनत्वम्**[3]**स्याः कदाचिद्भवेत्, न संप्रयुक्तवर्तमानार्थमात्रग्राहिण्या उपलब्धेरितिभावः । पूर्वोक्तप्रमाणाप्रमाणजत्ववैधर्म्योक्तिफलमाह**— तत्रैवंसतीति । **वैधर्म्ये सतीत्यर्थः । अप्रमाणजत्वोपाधेर्निरालम्बनत्वानुमानं न युक्तमिति भावः । वैधर्म्यसिद्धि निरस्यति**—नचेति । **बाधमप्याह**—अपिचेति । **वस्तुतो घटाद्यनुभवस्य निरालम्बनत्वं धर्मो यदि स्यात्तदा किं दृष्टान्ताग्रहेण,**

करता है, उसके भी प्रतिदिन नये-नये उत्पन्न होते हैं; किन्तु जाग्रत् के ज्ञान और उसके विषय प्रतिदिन नये नहीं होते, अतः दृष्टान्त-दार्ष्टान्त में वैषम्य भासता है । इसके अतिरिक्त स्वप्न से जगे हुए व्यक्ति को स्वप्न में उपलब्ध वस्तु बाधित दीखती है, वह कहता है की महापुरुषों का समागम हमें जो स्वप्न में हुआ था वह मिथ्या ही है अर्थात् मेरा महापुरुषों के साथ समागम नहीं हुआ था, किन्तु निद्रा के कारण मेरा मन अभिभूत हो गया था, इसी से यह भ्रान्ति हो रही थी । ऐसे ही माया आदि में भी यथासम्भव बाध देखा ही जाता है । अतः स्वप्न और मायादि दृष्टान्त से जाग्रत् प्रत्यय को निरालम्ब सिद्ध नहीं कर सकते । और जाग्रत् ज्ञान के विषय स्तम्भादि का किसी भी अवस्था में बाध नहीं होता है । इसके अतिरिक्त स्वप्न को तार्किकों ने स्मृतिरूप भी माना है पर जाग्रद् दर्शन उपलब्धिरूप है, इन दोनों में भेद प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है । स्मृतिज्ञान के लिए विषय के साथ सन्निकर्ष होना इष्ट नहीं है, किन्तु दर्शनज्ञान के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष अभीष्ट है । इसीलिए तो लोग कहते है कि इष्ट पुत्र को स्मरण करता हूँ पर देखता नहीं, उसे देखना चाहता हूँ । अतः जाग्रत् ज्ञान को मिथ्या नहीं कह सकते, उपलब्धिरूप होने से, स्वप्न उपलब्धि के समान; इस प्रकार आप स्वयं भी स्वप्न और जाग्रत् ज्ञान में अन्तर का अनुभव कर रहे हो । अतः ज्ञानीपने का अभिमान रखने वाले आपको अपने अनुभव का अपलाप करना ठीक नहीं है । इसके अतिरिक्त

---

१. वैधर्म्यमितिशेषः । २. स्मृतिविषयं विप्रयुक्तमर्थमाह इष्टमिति । ३. पण्डितमानिभिः । ४. एतेन पक्षे साध्यशून्यतात्मको बाधो दर्शितः । ५. निराकरोति । ६. ज्ञानम् । ७. तार्किक । ८. बहुव्रीहिः । ९. नञ्तत्पुरुषः । १०. स्मृतेः । ११. दृढवासनावशात् ।

(२०१) न भावोऽनुपलब्धेः ॥३०॥

स्वतो धर्मो न संभवति सोऽन्यस्य साधर्म्यात्तस्य संभविष्यति । न ह्यग्निरुष्णोऽनुभूयमान उदकसाधर्म्याच्छीतो भविष्यति । दर्शितं तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः ॥२९॥

यदप्युक्तं विनाप्यर्थेन ज्ञानवैचित्र्यं वासनावैचित्र्यादेवावकल्प्यत इति । तत्प्रतिवक्तव्यम् । अत्रोच्यते—न भावो वासनानामुपपद्यते, त्वत्पक्षेऽनुपलब्धेर्बाह्यानामर्थानाम् । अर्थोपलब्धिनिमित्ता हि प्रत्यर्थं नानारूपा वासना भवन्ति । अनुपलभ्यमानेषु त्वर्थेषु किंनिमित्ता विचित्रा वासना भवेयुः । अनादित्वेऽप्यन्धपरंपरान्यायेनाप्रतिष्ठैव[1]नवस्था व्यवहारलोपिनी स्यान्नाभिप्रायसिद्धिः ।

प्रत्यक्षतोऽपि वक्तुं शक्यत्वात् । नहि वह्नेरौष्ण्यं दृष्टान्तेन वक्तव्यम् । यदि न वस्तुतो धर्मोऽस्ति तदा किं दृष्टान्तेन, बाधितस्य दृष्टान्तसहस्रेणापि दुःसाध्यत्वात् । अतः स्वतो निरालम्बनत्वोक्तौ सालम्बनत्वानुभवबाधभिया [2]त्वयानुमातुमारब्धं तथापि बाधो न मुञ्चतीत्यर्थः । उक्तोपाधिरपि न विस्मर्तव्य इत्याह—दर्शितं त्विति ॥२९॥

सूत्रव्यावर्त्यं स्मारयित्वा दूषयति—यदप्युक्तमित्यादिना । भाव उत्पत्तिः सत्ता वा । ननु बाह्यार्थानुपलब्धावपि पूर्वपूर्ववासनाबलादुत्तरोत्तरविज्ञानवैचित्र्यमस्तु बीजाङ्कुरवदनादित्वादित्यत आह—अनादित्वेऽपीति । बीजादङ्कुरो दृष्ट इत्यदृष्टेऽपि तज्जातीययोः कार्यकारणभावकल्पना युक्ता, इह त्वर्थानुभवनिरपेक्षवासनोत्पत्तेरादावेव कल्प्यत्वादनादित्वकल्पना निर्मूलेति नाभिप्रेतधीवैचित्र्यसिद्धिरित्यर्थः ।

आप के अनुमान में बाध दोष भी है। स्वप्नज्ञान के सादृश्य होने के कारण जाग्रत्ज्ञान में निरालम्बनत्व कहना इसलिए भी अशक्य है क्योंकि स्वप्न प्रत्यय का बाध होता है पर जाग्रत प्रत्यय का बाध नहीं होता, ऐसा अनुभवविरोध भी आ रहा है। जिसका स्वतः जो धर्म सम्भव नहीं है वह दूसरे के दृष्टान्त से कैसे सम्भव हो सकेगा। अग्नि में औष्ण्य का अनुभव हो रहा है, इसलिए उदकसाधर्म्य के कारण वह अग्नि शीतल नहीं हो सकती। स्वप्न और जाग्रत् में वैधर्म्य हम कई बार दिखला चुके हैं जिसे आप याद रखें, भूलें नहीं ॥२९॥

न भावोऽनुपलब्धेः (ललिता)

और जो विज्ञानवादी ने कहा था कि बाह्य अर्थ के विना भी वासनावैचित्र्य के कारण ज्ञान में वैचित्र्य आ जायेगा, उसका हमें खण्डन करना है। यहाँ पर हमें कहना है कि जब आप के पक्ष में बाह्य-विषयों की उपलब्धि ही नहीं है फिर भला बाह्यार्थ उपलब्धि के बिना वासना भी कैसे बन सकेगी। नाना प्रकार की वासना अपने-अपने विषय के अनुरूप अर्थज्ञान के निमित्त से ही तो हुआ करती है विषय की उपलब्धि न होने पर वासना में विचित्रता किस निमित्त से आ सकेगी। बीजाङ्कुर की भाँति वासना और ज्ञानवैचित्र्य में अनादित्व मानने पर भी अन्धपरम्परा न्याय से अप्रतिष्ठित अनवस्था आ जायेगी जो व्यवहार को लुप्त करने वाली होगी फिर भी आप का अभिप्राय सिद्ध नहीं होगा।

---

१. अनादित्वकल्पना। २. निरालंबनत्वमिति शेषः।

(२०२) क्षणिकत्वाच्च ॥३१॥

यावप्यन्वयव्यतिरेकावर्थापलापिनोपन्यस्तौ वासनानिमित्तमेवेदं ज्ञानजातं नार्थनिमित्तमिति, तावप्येवंसति प्रत्युक्तौ द्रष्टव्यौ। विनाऽर्थोपलब्ध्या वासनानुपपत्तेः। अपिच विनापि वासनाभिरर्थोपलब्ध्युपगमाद्विना त्वर्थोपलब्ध्या वासनोत्पत्त्यनभ्युपगमादर्थसद्भावमेवान्वयव्यतिरेकावपि प्रतिष्ठापयतः। अपिच वासना नाम संस्कारविशेषाः। संस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते। एवं लोके दृष्टत्वात्। न च तव वासनाश्रयः कश्चिदस्ति प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ॥३०॥

यदप्यालयविज्ञानं नाम वासनाश्रयत्वेन परिकल्पितं तदपि क्षणिकत्वाभ्युपगमादनव-

---

ननु निरपेक्षवासनानां सत्त्वे धीवैचित्र्यमसत्त्वे तु नेति स्वप्ने दृष्टमिति समूलानवस्थेत्यत आह—याविति। वासनानां बाह्यार्थानुभवकार्यत्वे सति [1]नैरपेक्ष्यासिद्धेर्नान्वयादिदृष्टिरित्यर्थः। कार्यत्वग्राहकं व्यतिरेकमाह—विनेति। अर्थानुभवकार्याणां वासनानां तदनपेक्षत्वायोगान्न त्वदुक्तान्वयादिदृष्टिरित्युक्तम्। अभिनवार्थोपलब्धिवैचित्र्यस्य वासनां विनापि भावेन व्यतिरेकव्यभिचाराच्च न क्वापि वासनामात्रकृतं धीवैचित्र्यं किंत्वर्थानुभवे सति वासनाऽसति नेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां वासनामूलानुभवावच्छेदकार्थकृतमेवेति बाह्यार्थसद्भावसिद्धिरित्याह—अपिचेति। यः [2]संस्कारः स साश्रयो लोके दृष्टः यथा वेगादिरिष्वाद्याश्रयः, अतो विज्ञानसंस्काराणां न भाव आश्रयानुपलब्धेरित्यर्थान्तरमाह—अपिचेति ॥३०॥

अस्त्वालयविज्ञानमाश्रय इत्यत आह—क्षणिकत्वाच्चेति। सूत्रं व्याचष्टे—यदपीति। सहोत्पन्नयोः सव्येतरविषाणवदाश्रयाश्रयिभावायोगात्, पौर्वापर्ये च [3]आधेयक्षणे [4]ऽसत आधारत्वायोगात्, सत्त्वे क्षणिकत्वव्याघातान्नाधारत्वमालयविज्ञानस्य [5]क्षणिकत्वान्नीलादिविज्ञानवदित्यर्थः। अस्तु तर्ह्यालयविज्ञानसंता-

---

निरपेक्ष वासना के रहने पर बुद्धि में वैचित्र्य और न रहने पर वैचित्र्य का अभाव स्वप्न में देखा गया है, इसलिए अनवस्था अप्रतिष्ठित नहीं कह सकते। यह अन्वय-व्यतिरेक जो अर्थापलापियों ने प्रस्तुत किये हैं वे भी उक्त रीति से निराकृत समझना चाहिए क्योंकि वासनानिमित्तक यह ज्ञानवैचित्र्य उत्पन्न होता है, अर्थनिमित्तक नहीं। अर्थ उपलब्धि के बिना वासना उत्पन्न ही नहीं होती है। साथ ही वासना के बिना भी अर्थोपलब्धि तो होती है, पर अर्थोपलब्धि के बिना वासना की उत्पत्ति नहीं होती। अतः पूर्वोक्त अन्वय-व्यतिरेक बाह्यार्थ के सद्भाव को ही सिद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त विज्ञानवाद में एक अन्य दोष भी है कि संस्कारविशेष का नाम वासना है, वे संस्कारविशेष आश्रय के बिना नहीं रहते हैं, ऐसा लोक में देखा गया है। आप क्षणिक विज्ञानवादी के पक्ष में वासना का कोई आश्रय नहीं है क्योंकि उसकी उपलब्धि प्रमाण से नहीं होती फिर भला संस्कारविशेषरूप वासना कहाँ रहेगी। अतः आश्रय की उपलब्धि न होने के कारण बाह्यार्थ सिद्ध हो जाता है ॥३०॥

क्षणिकत्वाच्च (ललिता)

और जो वासना के आश्रयरूप में आलयविज्ञान की कल्पना आप ने की थी, वह भी प्रवृत्तिविज्ञान की भांति क्षणिक होने के कारण स्थिर नहीं है, अतः आलयविज्ञान भी वासनाओं का अधिकरण

---

१. धीवैचित्र्यम्। २. बाह्यार्थापेक्षाशून्यवासनानां सिद्धिः। ३. वासनापरपर्यायः। ४. वासनाक्षणे।
५. अविद्यमानस्यालयविज्ञानस्य। ६. प्रवृत्ति।

स्थिरस्वरूपं सत्प्रवृत्तिविज्ञानवन्न वासनानामधिकरणं भवितुमर्हति । नहि कालत्रयसंबन्धिन्ये[1]कस्मिन्नन्वयिन्यसति कूटस्थे वा सर्वार्थदर्शिनि देशकालनिमित्तापेक्षवासनाधानस्मृतिप्रतिसंधानादिव्यवहारः संभवति । स्थिरस्वरूपत्वे त्वालयविज्ञानस्य सिद्धान्तहानिः । अपि च विज्ञानवादेऽपि क्षणिकत्वाभ्युपगमस्य समानत्वाद्यानि बाह्यार्थवादे क्षणिकत्वनिबन्धनानि दूषणान्युद्भावितानि '[2]उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्' इत्येवमादीनि तानीहाप्यनुसंधातव्यानि । एवमेतौ द्वावपि वैनाशिकपक्षौ निराकृतौ बाह्यार्थवादिपक्षो विज्ञानवादिपक्षश्च शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते । नह्ययं

नाश्रया वासनेत्यत आह—नहीति । सविकारः कूटस्थो वा स्थाय्यात्मा यदि नास्ति तदा संतानस्यावस्तुत्वाद्देशाद्यपेक्षया यद्वासनानामाधानं निक्षेपो ये च स्मृतिप्रत्यभिज्ञे यश्च तन्मूलो व्यवहारः, तत्सर्वं न सम्भवतीत्यर्थः । यदि व्यवहारार्थमात्मस्थायित्वं तदापसिद्धान्त इत्याह—स्थिरेति । सूत्रमतिदेशार्थत्वेनापि व्याचष्टे—अपि चेति । मतद्वयनिरासमुपसंहरति—एवमिति । ज्ञानज्ञेयात्मकस्य सर्वस्य सत्त्वासत्त्वाभ्यां विचारसहत्वाच्छून्यतावशिष्यत इति माध्यमिकपक्षस्यापि मानमूलत्वमाशङ्क्य सूत्रकारः किमिति न निराचकारेत्यत आह—शून्येति । आदरः पृथक्सूत्रारम्भो न क्रियते । एतान्येव तन्मतनिरासार्थत्वेनापि योज्यन्त इत्यर्थः । तथाहि—ज्ञानार्थयोर्नाभावः, प्रमाणत उपलब्धेः । ननु जाग्रत्स्वप्नौ ज्ञानार्थशून्यौ, अवस्थात्वात्, सुषुप्तिवदित्यत आह—'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' । स्वप्न आदिर्यस्याः सुषुप्तेस्तद्वन्नेतरावस्थयोः शून्यत्वम् उपलब्ध्यनुपलब्धिवैधर्म्यलक्षणबाधितज्ञानार्थोपलब्धिबाधात् । सुषुप्तावप्यात्मज्ञानसत्त्वेन साध्यवैकल्पाच्च नानुमानमित्यर्थः । किंच निरधिष्ठाननिषेधायोगादधिष्ठानमेव तत्त्वं वाच्यं, तस्य त्वन्मते न भावः । मानतोऽनुपलब्धेरित्याह—'न भावोऽनुपलब्धेः' । तदर्थमाह—न ह्ययमिति । यद्भाति तन्नासदित्युत्सर्गतः प्रपञ्चस्य न शून्यत्वम् । बाधाभावा-

---

नहीं हो सकता । तीनों काल से सम्बन्ध रखने वाला एक अनुगत पदार्थ के न रहने पर अथवा उसे सर्वार्थदर्शी कूटस्थ मानने पर देशकालनिमित्त को अपेक्षा से वासना का आधान, स्मृति और प्रतिसन्धानादि व्यवहार नहीं हो सकता । वासनाधान के लिए त्रैकालिक अनुगत एक आश्रय होना चाहिए और उसे स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा के लिए विकारी भी होना चाहिए अन्यथा न वासना आश्रय हो सकेगा और न स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा का कर्ता एवं तन्मूलक व्यवहार ही हो सकेगा । यदि उक्त व्यवहार के लिए आलयविज्ञान को स्थायी मानोगे तो सिद्धान्त को हानि होने लग जायेगी । बाह्यार्थवाद की भाँति विज्ञानवाद में भी क्षणिकत्व समानरूप से ही माना गया है; अतः क्षणिकत्वनिबन्धन दोष जो 'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्' इत्यादि बाह्यार्थवाद में दिये गये थे उनका अनुसन्धान यहाँ पर विज्ञानवाद में भी कर लेना चाहिए । इस प्रकार बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद दोनों पक्षों का निराकरण हो गया, पर शून्यवादी का पक्ष सर्वप्रमाणविरुद्ध होने के कारण उसके निराकरण के लिए भगवान् बादरायण ने पृथक् सूत्र की रचना न करके उसका अनादर ही किया है क्योंकि सर्वप्रमाणसिद्ध लोकव्यवहार का अपलाप अन्य

---

१. आलयविज्ञाने । २. ब्र.सू. २-२-२०

(२०३) सर्वथानुपपत्तेश्च ॥३२॥

सर्वप्रमाणसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत्तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुमपवादाभाव उत्सर्गप्रसिद्धेः ॥३१॥

किं बहुना ? सर्वप्रकारेण यथा यथायं वैनाशिकसमय उपपत्तिमत्त्वाय परीक्ष्यते तथा तथा सिकताकूपवद्विदीर्यत एव । न कांचिदप्यत्रोपपत्तिं पश्यामः । अतश्चानुपपन्नो वैनाशिकतन्त्रव्यवहारः । अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसंबद्धप्रलापित्वं, प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति । सर्वथाप्यनादरणीयोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैरित्यभिप्रायः ॥३२॥

विरयर्थः । नव सत्त्वासत्त्वाभ्यां विचारासहत्वाच्छून्यत्वम्[1] । मिथ्यात्वसंभवादिति भावः । 'क्षणिकत्वाच्च' इति सूत्रं 'क्षणिकत्वोपदेशाच्च' इति पठनीयम् । शून्यत्वविरुद्धक्षणिकत्वोपदेशादसंगतप्रलापी सुगत इत्यर्थः ॥३१॥

सुगतमतासांगत्यमुपसंहरति—सर्वथेति । सर्वज्ञस्य कथं विरुद्धप्रलापः, तत्राह—प्रद्वेषो वेति । वेदबाह्या अत्र प्रजा ग्राह्याः । अतो भ्रान्त्येकमूलसुगतसिद्धान्तेन वेदान्तसिद्धान्तस्य न विरोध इति सिद्धम् ॥३२॥

तत्त्व को न मानकर नहीं कर सकते । अपवाद के अभाव में उत्सर्ग सिद्ध होता है । अतः बाह्यार्थ सिद्ध हुआ ।

शून्यवाद पक्ष में उक्त सूत्रों की योजना इस प्रकार करनी चाहिए । ज्ञान एवं अर्थ का अभाव नहीं कह सकते क्योंकि वे प्रमाण से उपलब्ध हो रहे हैं । सुषुप्त के दृष्टान्त से भी जाग्रत् एवं स्वप्न को ज्ञान तथा अर्थ से शून्य नहीं कह सकते क्योंकि दृष्टान्त-दार्ष्टान्त में वैषम्य दीखता है । साथ ही, सुषुप्तिरूप दृष्टान्त में साध्यवैकल्य भी है । निषेध निरधिष्ठान नहीं होता, अतः अधिष्ठान तत्त्व मानना ही पड़ेगा, वह आप के पक्ष में है नहीं । जब अपने सिद्धान्त को प्रमाण आप सिद्ध नहीं कर पाये तो अन्ततः बाह्य अर्थ एवं नित्यविज्ञानरूप आत्मा की सिद्धि हो जाती है । सर्वं शून्यं कहने वाले सुगत ने उसके विरुद्ध क्षणिकत्व का उपदेश करके अपने को असम्बद्धप्रलापी सिद्ध कर दिया है ॥३१॥

सर्वथानुपपत्तेश्च (ललिता)

अधिक बोलने से कोई लाभ नहीं है । बौद्धों के सिद्धान्त की युक्तियुक्तता के लिए सभी प्रकार से जैसे-जैसे परीक्षा करते हैं वैसे-वैसे रेत के कूप की भाँति इनका सिद्धान्त विदीर्ण हो रहा है, इसीलिए इस मत में कोई युक्ति हम नहीं देखते हैं । इसलिए भी सौगत मत असङ्गत है क्योंकि बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद ऐसे परस्पर तीन विरुद्ध मतों का उपदेश करने वाले बुद्ध ने अपने को असम्बद्ध प्रलापी सिद्ध कर दिया है । विरुद्धार्थ ज्ञान से ये प्रजा मोहगर्त में पड़ी रहे, ऐसा द्वेष भी प्रजा के प्रति इनके मन में है । अतः कल्याणकामी मुमुक्षुओं को बौद्ध मत का सभी प्रकार से अनादर ही करना चाहिए, यह भगवान् बादरायण का अभिप्राय है । जिन प्रजाओं को मोहित करने के लिए सुगत ने ऐसा उपदेश किया था वे वेदबाह्य प्रजा ही मानी जायेगी क्योंकि वैदिक सिद्धन्ताग्रही प्रजा में वे मोह उत्पन्न कर ही नहीं सकते थे, यह इसका अभिप्राय है ॥३२॥

---

१. असत्त्वम् इति पाठान्तरम् ।

६. एकस्मिन्नसंभवाधिकरणम् (सू. ३३-३६)

(२०४) नैकस्मिन्नसंभवात् ॥३३॥

सिद्धिः सप्तपदार्थानां सप्तभङ्गीनयाच्च वा ॥ साधकन्यायसद्भावात्तेषां सिद्धौ किमद्भुतम् ॥
एकस्मिन्सदसत्त्वादिविरुद्धप्रतिपादनात् ॥ अपन्यायः सप्तभङ्गी नच जीवस्य सांशता ॥

निरस्तः सुगतसमयः । विवसनसमय इदानीं निरस्यते । सप्त चैषां पदार्थाः संमता जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षा नाम । संक्षेपतस्तु द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाख्यौ । यथायोगं तयोरेवेतरान्तर्भावादिति मन्यन्ते । तयोरिममपरं प्रपञ्चमाचक्षते पञ्चास्तिकाया

नैकस्मिन्नसंभवात् । **मुक्तकच्छमते निरस्ते मुक्ताम्बराणां मतं बुद्धिस्थं भवति तन्निरस्यत इति प्रसङ्गसंगतिमाह**—निरस्त इति । एकरूपं **ब्रह्मेति वैदिकसिद्धान्तस्यानेकान्तवादेन विरोधोऽस्ति न वेति तद्वादस्य मानभ्रान्तिमूलत्वाभ्यां संदेहे मानमूलत्वाद्विरोध इति पूर्वपक्षफलमभिसंधाय तन्मतमुपन्यस्यति**—सप्त चेति । **जीवाजीवौ भोक्तृभोग्यौ, विषयाभिमुख्येनेन्द्रियाणां प्रवृत्तिरास्रवः, तां संवृणोति इति संवरो यमनियमादिः, निर्जरयति नाशयति कल्मषमिति निर्जरस्तप्तशिलारोहणादिः, बन्धः कर्म, मोक्षः कर्मपाशनाशे सत्यलोकाकाशप्रविष्टस्य सततोर्ध्वगमनम् । नन्वास्रवादीनां भोग्यान्तर्भावात्कथं सप्तत्वमित्यत** आह—संक्षेपतस्त्विति । **संक्षेपविस्तराभ्यामुक्तार्थेषु मध्यमरीत्या विस्तरान्तरमाह**—तयोरिति । **अस्तिकायशब्दः** सांकेतिकः **पदार्थवाची । जीवश्चासावस्तिकायश्चेत्येवं विग्रहः । पूर्यन्ते गल-**

६ एकस्मिन्नसम्भवाधिकरण

१. **सङ्गति**–इससे पूर्व अधिकरण में बौद्ध मत का निराकरण किया गया, अब बुद्धिस्थ जैन मत का निराकरण करना है; अतः पिछले अधिकरण के साथ इस अधिकरण का बुद्धिसन्निधिलक्षण सङ्गति है।

२. **विषय**—समन्वयविरुद्ध जैन सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—सर्वत्र सर्वभङ्गीन्याय से सप्त पदार्थ की सिद्धि होती है या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—सप्तपदार्थसाधकन्याय के रहते हुए उनकी सिद्धि में क्या आश्चर्य है ।

५. **सिद्धान्त**–**स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च**; ऐसे एक साथ विरुद्ध सदसत्वादि धर्मों का एकधर्मी में प्रतिपादन होने के कारण जैनियों का सप्तभङ्गीन्याय दुर्न्याय है। साथ ही, उन्होंने जीव को सावयव भी माना है जो युक्तिविरुद्ध है। अतः सप्तभङ्गीन्याय भ्रान्तिमूलक होने के कारण उससे समन्वय में कोई विरोध नहीं आता।

नैकस्मिन्नसम्भवात् (ललिता)

पिछले दो अधिकरणों में बौद्ध मत का निराकरण किया गया, अब जैन मत का निराकरण प्रारम्भ करते हैं। जैन मत में जीव, अजीव, आश्रव, संवर, निर्जर, बन्ध एवं मोक्ष नामक सात पदार्थ माने गये हैं; किन्तु संक्षेपतः जीव और अजीवनामक दो ही पदार्थ माने जाते है, इन्हीं दोनों में शेष सभी पदार्थों का अन्तर्भाव हो जाता है। इनमें जीव भोक्ता है और शेष सभी भोग्य है। पूर्वोक्त सात पदार्थों में से—१. जीव भोक्ता है, २. अजीव भोग्य है, ३. विषयाभिमुखरूप से इन्द्रियों की प्रवृत्ति को आश्रव कहते हैं, ४. उस प्रवृत्ति को रोकने वाले यमनियमादि को संवर कहते है, ५. तप्तशिलारोहणादि को निर्जर कहते हैं जो कल्मष का नाश करने वाला है, ६. कर्म ही बन्धन है और ७. कर्मपाश के नष्ट हो जाने पर आलोकाकाश में प्रविष्ट जीव का जो सतत उर्ध्वगमन है उसे मोक्ष कहते हैं।

पिछले भोग्य और अभोग्यनामक दो पदार्थों का विस्तार अन्य प्रकार से भी करते हैं। वे पञ्चा-

नाम, जीवास्तिकायः पुद्गलास्तिकायो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायश्चेति। सर्वेषामप्येषामवान्तरप्रभेदान्बहुविधान्स्वसमयपरिकल्पितान्वर्णयन्ति। सर्वत्र चेमं सप्तभङ्गीनयं नाम न्यायमवतारयन्ति।

न्तीति पुद्गलाः परमाणुसंघाः कायाः, सम्यक्प्रवृत्त्यनुमेयो धर्मः, ऊर्ध्वगमनशीलस्य जीवस्य देहे स्थितिहेतुरधर्मः, आवरणाभावः आकाश इत्यर्थः। पञ्चपदार्थानामवान्तरभेदमाह—सर्वेषामिति। अयमर्थः जीवास्तिकायस्त्रिविधः—कश्चिज्जीवो नित्यसिद्धोऽर्हन्मुख्यः, केचित्साम्प्रतिकमुक्ताः, केचिद्बद्धा इति। पुद्गलास्तिकायः षोढा—पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि, [1]स्थावरं जङ्गमं चेति। प्रवृत्तिस्थितिलिङ्गौ धर्माधर्मावुक्तौ। आकाशास्तिकायो द्विविधः—लोकाकाशः सांसारिकः, अलोकाकाशो मुक्ताश्रय इति। बन्धाख्यं कर्माष्टविधम्—चत्वारि घातिकर्माणि चत्वार्यघातीनि। तत्र ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीयं मोहनीयमान्तर्यं चेति घातिकर्माणि। तत्त्वज्ञानान्न मुक्तिरिति ज्ञानमाद्यं कर्म, आर्हततन्त्रश्रवणान्न मुक्तिरिति ज्ञानं द्वितीय, बहुषु तीर्थकरप्रदर्शितेषु मोक्षमार्गेषु विशेषानवधारणं मोहनीयं, मोक्षमार्गप्रवृत्तिविघ्नकरणमान्तर्यम्, इमानि चत्वारि श्रेयोहन्तृत्वाद्घातिकर्माणि। अथाऽघातीनि चत्वारि कर्माणि-वेदनीयं, नामिकं, गोत्रिकम्, आयुष्कमिति। मम वेदितव्यं तत्त्वमस्तीत्यभिमानो वेदनीयम्, एतन्नामाहमस्मीत्यभिमानो नामिकम्, अहमत्र भवतो देशिकस्यार्हतः शिष्यवंशे प्रविष्टोऽस्मीत्यभिमानो गोत्रिकम्, शरीरस्थित्यर्थं कर्म आयुष्कम्। अथवा शुक्रशोणितमिश्रितमायुष्कं, तस्य तत्त्वज्ञानानुकूलदेहपरिणामशक्तिर्गोत्रिकं, शक्तस्य तस्य द्रवीभावात्मककललावस्थाया बुद्बुदावस्थायाश्चारम्भकः क्रियाविशेषो नामिकं, सक्रियस्य बीजस्य जाठराग्निवायुभ्यामीषद्घनीभावो वेदनीयं, तत्त्ववेदनानुकूलत्वात्। तान्येतानि तत्त्वावेदकशुक्लपुद्गलार्थत्वादघातीनि। तदेतत्कर्माष्टकंजन्मार्थत्वाद्बन्ध आस्रवादिद्वारेति। इयं प्रक्रिया मानशून्येति द्योतयति—स्वसमयपरिकल्पितानिति। स्वीयतन्त्रसंकेतमात्रकल्पितानित्यर्थः। पदार्थानामुक्तानामनेकान्तत्वं वदन्तीत्याह—सर्वत्रेति। अस्तित्वनास्तित्वादिविरुद्धधर्मद्वयमादाय वस्तुमात्रे न्यायं योजयन्ति। सप्तानामस्तित्वादीनां भङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गी, तस्या नयो न्यायः। घटादेर्हि सर्वात्मना [2]सदेकरूपत्वे प्राप्यात्मनाप्यस्त्येव स इति तत्प्राप्तये यत्नो न स्यात्। अतो घटत्वादिरूपेण कथंचिदस्ति, प्राप्यत्वादिरूपेण कथंचिन्नास्तीत्येवमनेकरूपत्वं वस्तुमात्रस्यास्थेयमिति भावः।

स्तिकाय मानते हैं—१. **जीवास्तिकाय** २. **पुद्गलास्तिकाय** ३. **धर्मास्तिकाय** ४. **अधर्मास्तिकाय** और ५. **आकाशास्तिकाय**। आस्तिकाय शब्द साङ्केतिक पदार्थवाचक है, इसीलए जीवास्तिकाय शब्द का अर्थ होता है जीवनामक पदार्थ। परमाणु समुदाय शरीर को पुद्गलास्तिकाय कहते हैं। सम्यक् प्रवृत्ति द्वारा अनुमेय धर्म को धर्मास्तिकाय कहा गया है। उर्ध्वगमनशील जीव का देह में स्थित रहने का कारण अधर्म है और आवरणाभाव को आकाश कहते हैं। इन पाँच पदार्थों के अवान्तर भेद भी अनेक प्रकार के हैं जिनको अपने मत से कल्पनाकर वे कहते रहते हैं क्योंकि इनके ये सब पदार्थ किसी श्रुति–स्मृति द्वारा प्रतिपादित नहीं हैं, ये सभी इनकी कल्पना पर आधारित हैं। उक्त सभी पदार्थों में अनेकान्तता सिद्ध करने के लिए वे सर्वत्र सप्तभङ्गीन्याय का प्रतिपादन करते हैं।

१. भौतिकम्। २. सामान्यरूपेणैकरूपत्वे।

स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति । एवमेवैकत्वनित्यत्वादिष्वपीमं सप्तभङ्गीनयं योजयन्ति ।

अत्राचक्ष्महे—नायमभ्युपगमो युक्त इति । कुतः? एकस्मिन्नसम्भवात् । न ह्येकस्मिन्धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः सम्भवति शीतोष्णवत् । य एते सप्तपदार्था-

के ते सप्तभङ्गाः, तानाह—स्यादस्तीति । स्यादित्यव्ययं तिङन्तप्रतिरूपकं कथंचिदर्थकम् । स्यादस्ति । कथंचिदस्तीत्यर्थः ? एवमग्रेऽपि । तत्र वस्तुनोऽस्तित्ववाञ्छायां स्यादस्तीत्याद्यो भङ्गः प्रवर्तते । नास्तित्ववाञ्छायां स्यान्नास्तीति द्वितीयो भङ्गः । क्रमेणोभयवाञ्छायां स्यादस्ति च नास्ति चेति तृतीयो भङ्गः । युगपदुभयवाञ्छायामस्ति नास्तीति शब्दद्वयस्य सकृद्वक्तुमशक्यत्वात् स्यादवक्तव्यत्वं इति चतुर्थो भङ्गः । आद्यचतुर्थभङ्गयोर्वाञ्छायां स्यादस्ति चावक्तव्यश्चेति पञ्चमो भङ्गः । द्वितीयचतुर्थेच्छायां स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्चेति षष्ठो भङ्गः । तृतीयचतुर्थेच्छायां स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति सप्तमो भङ्ग इति विभागः । एवमेकत्वमनेकत्वं चेति द्वयमादाय स्यादेकः स्यादनेकः, स्यादेकोऽनेकश्च, स्यादवक्तव्यः, स्यादेको वक्तव्यः, स्यादनेकोऽवक्तव्यः, स्सादेकोऽनेकश्चावक्तव्यश्चेति, तथा स्यान्नित्यः, स्यादनित्य इत्याद्यूह्यम् ।

एवमनेकरूपत्वे वस्तुनि प्राप्तित्यागादिव्यवहारः संभवति, एकरूपत्वे सर्वं सर्वत्र सर्वदास्त्येवेति व्यवहारविलोपापत्तिः स्यात् तस्मादनेकान्तं सर्वमित्येकरूपब्रह्मवादबाधः इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—अत्रेति—यदस्ति तत् सर्वत्र सर्वदास्त्येव यथा ब्रह्मात्मा । न चैवं तत्प्राप्तये यत्नो न स्यादिति वाच्यम्, अप्राप्तिभ्रान्त्या[1] यत्नसंभवात् । यन्नास्ति तन्नास्त्येव, यथा शशविषाणादि । प्रपञ्चस्तूभयविलक्षण[2] एवेत्येकान्तवाद एव युक्तो नानैकान्तवादः । तथाहि—किं येनाकारेण वस्तुनः सत्त्वं तेनैवाकारेणासत्त्वमुताकारान्तरेण । द्वितीये वस्तुन आकारान्तरमेवाऽपदिति वस्तुनः सदैकरूपत्वमेव । नहि दूरस्थग्रामस्य प्राप्तेरसत्त्वे ग्रामोऽप्यसन् भवति, प्राप्त्यासत्त्वे प्राप्तियत्नानुपपत्तेः । अतो यथाव्यवहारं प्रपञ्चस्यैकरूपत्वमास्थेयम् । नाद्य इत्याह—नायमिति । ननु विमतमनेकात्मकं वस्तुत्वात्, नार-

सात अस्तित्वादि भङ्गों के समाहार को सप्तभङ्गी कहते हैं, वे निम्नांकित प्रकार के हैं—१. स्यादस्ति, २. स्यान्नास्ति. ३. स्यादस्ति च नास्ति च, ४. स्यादवक्तव्यः, ५. स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च, ६. स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, ७. स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च । इस प्रकार एकत्वनित्यत्वादि के सम्बन्ध में भी इस सप्तभङ्गीन्याय की योजना करते हैं । इनके मत में सभी पदार्थ अनेकान्तिक हैं, किसी को इदमित्थं नहीं कहा जा सकता । घट कथञ्चित घटत्वरूप से है किन्तु प्राप्यत्वादिरूप से नहीं है, अतः उसको प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए । यदि इन्हें एक रूप में ही माना जाय तो प्राप्ति एवं त्यागादि व्यवहार का लोप होने लग जायेगा । अतः सभी पदार्थों में अनेकान्तत्व मानना चाहिए, ऐसा मानने पर एकरूप ब्रह्मवाद का बाध हो जाता है ।

इस प्रकार आर्हतों की ओर से पूर्वपक्ष किये जाने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि आप की यह मान्यता ठीक नहीं हैं क्योंकि एक धर्मी में एक साथ सत्व एवं असत्वादि विरुद्ध धर्म का समावेश वैसे ही नहीं हो सकता जैसे एक द्रव्य में शीत एवं औष्ण्य परस्पर विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते। जो नहीं है वह शशविषाणादि

१. स्वकण्ठाभरण यथा । २. अनिर्वचनीयः ।

निर्धारिता एतावन्त एवंरूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्युः । इतरथा हि तथा वा स्युरतथा वेत्यनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात् ।

नन्वनेकात्मकं वस्त्विति निर्धारितरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यमानं संशयज्ञानवन्नाप्रमाणं भवितुमर्हति । नेति ब्रूमः । निरंकुशं ह्यनेकान्तत्वं सर्ववस्तुषु प्रतिजानानस्य [1]निर्धारणस्यापि वस्तुत्वाविशेषात्स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादिविकल्पोपनिपातादनिर्धारणात्मकतैव स्यात् । एवं निर्धारयितुर्निर्धारणफलस्य च स्यात्पक्षेऽस्तिता स्याच्च पक्षे नास्तितेति । एवंसति कथं प्रमाणभूतः संस्तीर्थकरः प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमितिष्वनिर्धारितासूपदेष्टुं शक्नुयात् । कथं वा तदभिप्रायानुसारिणस्तदुपदिष्टेऽर्थेऽनिर्धारितरूपे प्रवर्तेरन् । ऐकान्तिकफलत्वनिर्धारणे हि सति तत्साधनानुष्ठानाय सर्वो लोकोऽनाकुलः प्रवर्तते नान्यथा । अतश्चानिर्धा-

---

सिंहवदिति चेत् । न । घट इदानीमस्त्येवेत्यनुभवबाधात् । किंच जीवादिपदार्थानां सप्तत्व जीवत्वादिरूपं चास्त्येव नास्त्येवेति च नियतम् वा उत अनियतम् । आद्ये व्यभिचार इत्याह—य इति । पदार्थनिश्चयो न स्यादित्याह—इतरथेति ।

अनेकान्तं सर्वमित्येव निश्चय इति शङ्कते—नन्विति । [2]तस्य [3]निश्चयरूपत्वं नियतमनियतं वा ? आद्यं वस्तुत्वस्य तस्मिन्नेवैकरूपे निश्चये व्यभिचारः । द्वितीये तस्य संशयत्वं स्यादित्याह—नेति ब्रूम इति । प्रमायामुक्तन्यायं प्रमात्रादावतिदिशति—एवमिति । निर्धारणं फलं यस्य प्रमाणादेस्तस्येत्यर्थः । इत्येवं सर्वत्रानिर्धारणे सत्युपदेशो निष्कम्पप्रवृत्तिश्च न स्यादित्याह—एवं सतीति

की भाँति नहीं ही माना जायेगा । प्रपञ्च तो उभयविलक्षण ही है; अतः एकान्तवाद ही युक्तियुक्त है, अनेकान्तवाद नहीं । और जो आप ने सप्त पदार्थ निर्धारित किये हैं वे उतने ही उसी रूप में हैं और नहीं भी हैं, अन्यथा भी हैं और इन सबसे भिन्न भी है; ऐसा अनिश्चित ज्ञान संशयज्ञान की भाँति अप्रमाण ही माना जायेगा । उस स्थिति में कोई भी व्यवहार नहीं हो सकेगा क्योंकि निश्चित ज्ञान के बाद ही व्यवहार प्रारम्भ होता है ।

इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि वस्तु अनेकात्मक है, इस रूप में उसका निश्चय होना प्रमाणज्ञान ही माना जायेगा । ऐसा उत्पद्यमान ज्ञान संशय ज्ञान की भाँति अप्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि इस ज्ञान ने अनेकान्त वस्तु को अनेकान्तरूप में जाना है । सिद्धान्ती—हम आप के इस अनुमान को बाधदोषग्रस्त मानते हैं जिसमें आप ने वस्तुत्व हेतु से नारसिंह उपमा देकर सबमें अनेकात्मत्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । वह अनुमान इदानीं घटोऽस्ति इस अनुभव से बाधित हो रहा है । अनेकान्त मत निरङ्कुश भी है जो सभी वस्तुओं में प्रतिज्ञा करने वाली प्रमा में भी वस्तुत्व हेतु रहने के कारण **स्यादस्ति, स्यान्नास्ति** इत्यादि विकल्प का उपस्थापक होने से अनिर्धारितरूप ही है। केवल प्रमा अनिर्धारित है, ऐसी बात नहीं; अपितु इस ज्ञान का आश्रय निर्धारक प्रमाता पुरुष और निर्धारण के फल प्रवृत्ति में भी एक पक्ष में अस्तित्व और दूसरे पक्ष में नास्तित्व सिद्ध करेगा । इस प्रकार प्रामाणिक होते हुए आप के तीर्थंकर अनिश्चित प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति के सम्बन्ध में कैसे उपदेश कर पायेंगे और उनके अभिप्राय पर चलने वाले उनसे उपदिष्ट अनिश्चित अर्थ में किस प्रकार प्रवृत्त होंगे क्योंकि जिसका फल ऐकान्तिक निश्चित हो गया है उस साधन के अनुष्ठान के लिए सभी लोग स्वस्थ-

---

१. प्रमाया अपि । २. ज्ञानस्य । ३. प्रमारूपत्वम् ।

रितार्थं शास्त्रं प्रणयन्[1]मत्तोन्मत्तवदनुपादेयवचनः स्यात् । तथा पञ्चानामस्तिकायानां पञ्चत्वसंख्यास्ति वा नास्ति वेति विकल्प्यमाना स्यात्तावदेकस्मिन्पक्षे, पक्षान्तरे तु न स्यादित्यतो न्यूनसंख्यात्वमधिकसंख्यात्वं वा प्राप्नुयात् । न चैषां पदार्थानामवक्तव्यत्वं सम्भवति । अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन् । उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम् । उच्यमानाश्च तथैवावधार्यन्ते नावधार्यन्त इति च । तथा तदवधारणफलं सम्यग्दर्शनमस्ति वा नास्ति वा, एवं तद्विपरीतमसम्यग्दर्शनमप्यस्ति वा नास्ति वेति प्रलपन्मत्तोन्मत्तपक्षस्यैव स्यान्न प्रत्यायितव्यपक्षस्य । स्वर्गापवर्गयोश्च पक्षे भावः पक्षे चाभावस्तथा पक्षे नित्यता पक्षे चानित्यतेत्यनवधारणायां प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । अनादिसिद्धजीवप्रभृतीनां च स्वशास्त्राव-

अनेकान्तवादे अस्तिकायपञ्चत्वमपि न स्यादित्याह—तथा पञ्चानामिति । यदुक्तमवक्तव्यत्वं तत् किं केनापि शब्देनावाच्यत्वमुत सकृदनेकशब्दावाच्यत्वम् । नाद्यः, व्याघातादित्याह—न चैषामिति । उच्यन्ते च । अवक्तव्यादिपदैरिति शेषः । न द्वितीयः, सकृदेकवक्तृमुखजानेकशब्दानामप्रसिद्धेर्निषेधायोगात्, शेषस्यापि मुखभेदात् । न चार्थस्य [2]युगपद्विरुद्धधर्मवाञ्छायां [3]वक्तुर्मूकत्वमात्रमवक्तव्यपदेन विवक्षितमिति वाच्यं, तादृशवाञ्छाया एवानुत्पत्तेरिति । किंच विरुद्धानेकप्रलापित्वादर्हन्ननाप्त इत्याह—उच्यमानाश्चेत्यादिना । इति च प्रलपन्नित्यन्वयः । अर्हन्निति शेषः । अनाप्तपक्षस्यैवान्तर्गतः स्यान्नाप्तपक्षस्येत्यर्थः । इतश्चासंगतोऽनेकान्तवाद इत्याह—स्वर्गेति । किंचानादिसिद्धोऽर्हन्मुनिः, अन्ये तु हेत्वनुष्ठानान्मुच्यन्ते, अननुष्ठानाद्बध्यन्त इत्यार्हततन्त्रावधृतस्वभावानां त्रिविधजीवानां त्रैविध्यनियमोऽपि न स्यादित्याह—अनादीति । प्रपञ्चितं सूत्रार्थं निगमयति—एवमिति । एतेनेति । सत्त्वा-

चित्त हो प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा नहीं । अतः अनिश्चित अर्थविबोधक शास्त्र के प्रणेता आप के तीर्थंकर मत्त-उन्मत्त की भाँति अश्रद्धेय हो जायेंगे । वैसे ही, पाँच अस्तिकायों की पञ्चत्व संख्या के सम्बन्ध में भी अस्ति और नास्ति का विकल्प खड़ा होगा। उस स्थिति में एक पक्ष में पूर्वोक्त संख्या मानी जायेगी, किन्तु पक्षान्तर में वह संख्या नहीं मानी जा सकेगी। फलतः उससे न्यून या अधिक संख्या होने लग जायेगी। इन सभी पदार्थों को अव्यक्त कहना भी सम्भव नहीं है, यदि ये पदार्थ अव्यक्त हैं तो इनका उच्चारण नहीं होना चाहिए । अब आप इनके सम्बन्ध में शब्द उच्चारण भी करते हैं और इन्हें अव्यक्त भी बतलाते हैं, यह तो परस्पर विरुद्ध बात है । शब्द से बतलाये गये अर्थ वैसे ही निश्चित किये जाते हैं और नहीं भी किये जाते हैं, ऐसा कहने पर निश्चय का फल सम्यग्दर्शन है और नहीं है । वैसे ही उसके विपरीत असम्यग्दर्शन है और नहीं है, ऐसा कहना मत्त-उन्मत्त पक्ष की भाँति प्रलापमात्र ही माना जायेगा । आप के शास्त्र से अवगत पक्ष का, स्वर्ग एवं मोक्ष का एक बार भाव और दूसरी बार अभाव सिद्ध होगा । वैसे ही एक पक्ष में उनकी नित्यता और पक्षान्तर में अनित्यता मानने पर प्रवृत्ति नहीं बन सकेगी । इसके अतिरिक्त अनादिसिद्ध आप के शास्त्र से निश्चित स्वभाव वाले जीव आदि पदार्थों में अनिश्चित स्वभावत्व का प्रसङ्ग भी आने लग जायेगा । आर्हत तन्त्र (जैन शास्त्र) में निश्चित स्वभाव वाले त्रिविध जीव माने गये हैं, उनमें त्रैविध्य

१. मत्तः क्षीबः, उन्मत्तो धूर्तः । २. अस्ति नास्तीत्युभयविरुद्धः । ३. अस्त्यादिशब्दद्वयस्य सकृदुक्तुमशक्यत्वात् ।

(२०५) एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम् ॥३४॥

धृतस्वभावानामयथावधृतस्वभावत्वप्रसङ्गः। एवं जीवादिषु पदार्थेष्वेकस्मिन्धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोर्विरुद्धयोर्धर्मयोरसम्भवात्सत्त्वे चैकस्मिन्धर्मेऽसत्त्वस्य धर्मान्तरस्यासम्भवादसत्त्वे चैवं सत्त्वस्यासम्भवादसङ्गतमिदमार्हतं मतम्। एतेनैकानेकनित्यानित्यव्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ताद्यनेकान्ताभ्युपगमा निराकृता मन्तव्याः। यत्तु पुद्गलसंज्ञकेभ्योऽणुभ्यः संघाताः, सम्भवन्तीति कल्पयन्ति तत्पूर्वेणैवाणुवादनिराकरणेन निराकृतं भवतीत्यतो न पृथक्तन्निराकरणाय प्रयत्यते ॥३३॥

यथैकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धधर्मासम्भवो दोषः स्याद्वादे प्रसक्त एवमात्मनोऽपि जीवस्याकात्स्न्र्यमपरो दोषः प्रसज्येत। कथम्? शरीरपरिमाणो हि जीव इत्यार्हता मन्यते। शरीरपरिमाणतायां च सत्यामकृत्स्नोऽसर्वगतः परिच्छिन्न आत्मेत्यतो घटादिवदनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। शरीराणां चानवस्थितपरिमाणत्वान्मनुष्यजीवो मनुष्यशरीरपरिमाणो

सत्त्वयोरेकत्र निरासेनेत्यर्थः। परमाणुसंघाताः पृथिव्यादय इति। दिगम्बरसिद्धान्तः किमिति सूत्रकृतोपेक्षित, तत्राह—यत्त्विति ॥३३॥

जीवस्य देहपरिमाणतां दूषयति—एवं चेति। अकात्स्न्र्यं मध्यमपरिमाणत्वम्। तेनानित्यत्वं स्यादित्यर्थः। अर्थान्तरमाह—शरीराणां चेति। विपाकः कर्मणामभिव्यक्तिः। जीवस्य कृत्स्नगजशरीराव्यापित्वमकात्स्न्र्यम्। शरीरैकदेशो निर्जीवः स्यादित्यर्थः। पुत्ति-

---

का नियम भी नहीं रह जायेगा। इस प्रकार जीवादि पदार्थों में से एक-एक धर्मी में विरुद्ध सत्व एवं असत्व धर्म का होना असम्भव हो जाने के कारण एक धर्म के रहने पर असत्व धर्मान्तरत्व का होना भी सम्भव नहीं होगा और असत्व के रहने पर सत्व का रहना सम्भव नहीं हो सकेगा। इस प्रकार आप का आर्हत मत असङ्गत हो जायेगा। इससे एक, अनेक, नित्य, अनित्य, व्यतिरिक्त, अव्यतिरिक्त इत्यादि अनेकान्त को मान्यता निराकृत समझना चाहिए अर्थात् जब एक धर्मी में सत्वासत्व का निराकरण हो गया तो उससे एकत्वानेकत्वादि का भी निराकरण समझना चाहिए। पुद्गलनामक परमाणुओं से जैन मत में जो संघात की उत्पत्ति मानी गयी है उस कल्पना को भी पूर्वोक्त परमाणुवाद के निराकरण से निराकृत हो समझना चाहिए, अतः उसके निराकरण के लिए पृथक् प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। सूत्रकार ने भी उसकी उपेक्षा की है ॥३३॥

एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम् (ललिता)

जीव देहपरिमाण पक्ष का खण्डन करते हैं। जैसे एक धर्मी में विरुद्ध धर्मों का होना असम्भव है, यह दोष स्याद्वाद पक्ष में आता है ऐसे ही जीवात्मा में अकात्स्न्र्यरूप दूसरा दोष भी आयेगा। कैसे? क्योंकि आर्हत जीव को शरीरपरिमाण मानते हैं। शरीरपरिमाण जीवात्मा को मानने पर अव्यापक अर्थात् परिच्छिन्न माना जायेगा। ऐसी स्थिति में घटादि की भाँति आत्मा में अनित्यत्व दोष भी आने लग जायेगा। जैसे परिच्छिन्न घटादि अनित्य होते हैं ऐसे ही परिच्छिन्न परिमाणवाला जीवात्मा भी अनित्य होने लग जायेगा और शरीर का कोई निश्चित परिमाण भी नहीं है। मनुष्य देह में रहने वाला जीवात्मा मनुष्य शरीर परिमाणवाला होकर पुनः किसी कर्मविपाक से प्रेरित हो हस्ति जन्म को जब प्राप्त

(२०६) नच पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥३५॥

भूत्वा पुनः केनचित्कर्मविपाकेन हस्तिजन्म प्राप्नुवन्न कृत्स्नं हस्तिशरीरं व्याप्नुयात् । पुत्तिकाजन्म च प्राप्नुवन्न कृत्स्नः पुत्तिकाशरीरे संमीयेत । समान एष एकस्मिन्नपिजन्मनि कौमारयौवनस्थाविरेषु दोषः । स्यादेतत् । अनन्तावयवो जीवस्तस्य त एवावयवा अल्पे शरीरे संकुचेयुर्महति च विकासेयुरिति । तेषां पुनरनन्तानां जीवावयवानां समानदेशत्वं प्रतिविहन्यते वा न वेति वक्तव्यम् । प्रतिघाते तावन्नानन्तावयवाः परिच्छिन्ने देशे संमीयेरन् । अप्रतिघातेऽप्येकावयवदेशत्वोपपत्तेः सर्वेषामवयवानां [1]प्रथिमानुपपत्तेर्जीवस्याणुमात्रत्वप्रसङ्गः स्यात् । अपिच शरीरमात्रपरिच्छिन्नानां जीवावयवानामानन्त्यं नोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम् ॥३४॥

अथ पर्यायेण [3]बृहच्छरीरप्रतिपत्तौ केचिज्जीवावयवा उपगच्छन्ति तनुशरीरप्रतिपत्तौ च केचिदपगच्छन्तीत्युच्येत । तत्राप्युच्यते—

कादेहे कृत्स्नो जीवो न प्रविशेत् । देहाद्बहिरपि जीवः स्यादित्यर्थः । किंच बालदेहमात्र आत्मा ततः स्थूले युवदेहे क्वचित् स्यादिति कृत्स्नदेहः सजीवो न स्यादित्याह—समान इति । यथा दीपावयवानां घटे संकोचो गेहे विकासस्तथा जीवावयवानामिति देहमानत्वनियमं शङ्कते—स्यादिति । दीपांशवज्जीवांशा भिन्नदेशा एकदेशा वेति विकल्प्याद्येऽल्पदेहाद्बहिरपि जीवः स्यादिति दूषयति—तेषामित्यादिना । दीपस्य तु न घटाद्बहिः सत्त्वमधिकावयवानां विनाशात् । द्वितीयं दूषयति—अप्रतिघात इति । अवयवानां नित्यत्वं चासिद्धमल्पत्वाद्दीपांशवदित्याह—अपिचेति ॥३४॥

एवं जीवावयवा नित्या इति मते देहमानत्वं निरस्तम् । संप्रति जीवस्य केचिदेव कूटस्था अवयवा अन्ये त्वागमापायिन इति शङ्कते—अथेति । बृहत्तनुकायाप्तौ जीवस्यावयवागमापायाभ्यां देहमानत्वमित्यर्थः ।

करेगा तो वह सम्पूर्ण हस्ति शरीर में व्याप्त नहीं हो सकेगा और चींटी जन्म प्राप्त करने पर चींटी के पूरे शरीर में नहीं समा सकेगा । यह दोष एक जन्म में भी कौमार्य, यौवन और जरावस्था भेद के कारण शरीरपरिमाण के भिन्न हो जाने से आयेगा ही । यदि कोई कहता हो कि जीव अनन्त अवयव वाला है उसके हैं अवयव अल्पशरीर में संकुचित हो जायेंगे और महत् शरीर में विकसित हो जायेंगे, तो इस पर हम प्रश्न करेंगे कि जीव के उन अनन्त अवयवों का एकदेश में प्रतिघात होता है या नहीं । प्रथम पक्ष में अनन्त अवयव नहीं माने जा सकेंगे क्योंकि परिच्छिन्न देश में वे समा नहीं सकेंगे । द्वितीय पक्ष में भी अवयवदेशत्व की सिद्धि नहीं होगी क्योंकि सभी अवयवों का विकास होना सम्भव नहीं है, उस स्थिति में जीव में अणुपरिमाणमात्रत्व का प्रसङ्ग आ जायेगा । साथ ही शरीरमात्रपरिच्छिन्न जीवावयवों के नित्य होने की कल्पना भी नहीं कर सकते क्योंकि शरीर परिच्छिन्न है, तन्मात्रपरिच्छिन्न जीवावयव भला अनन्त कैसे हो सकेंगे ॥३४॥

नच पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः (ललिता)

यदि आर्हत कहते हों कि बृहत् शरीरप्राप्ति में क्रमशः कुछ जीवावयव आकर जुड़ जाते हैं और सूक्ष्मशरीर प्रतिपत्ति में वे कुछ अवयव पृथक् हो जाते हैं, तो इस पर सूत्रकार कहते हैं कि—

---

१. प्रथिमत्वेष्ट पृथुलत्वं विशालत्वं बृहत्त्वं महत्त्वमिति यावत्तदनुपपत्तेरित्यर्थः । २ नित्यत्वम् ।
३. पर्याय उपगमापगमौ तावेवाह बृहदित्यादिना ।

नच पर्यायेणाप्यवयवोपगमापगमाभ्यामेतद्देहपरिमाणत्वं जीवस्याविरोधेनोपपादयितुं शक्यते। कुतः ? विकारादिदोषप्रसङ्गात्। अवयवोपगमापगमाभ्यां ह्यनिशमापूर्यमाणस्यापक्षीयमाणस्य च जीवस्य विक्रियावत्त्वं तावदपरिहार्यम्। विक्रियावत्वे च चर्मादिवदनित्यत्वं प्रसज्जेत। ततश्च बन्धमोक्षाभ्युपगमो बाध्येत 'कर्माष्टकपरिवेष्टितस्य जीवस्यालाबुवत्संसारसागरे निमग्नस्य बन्धनोच्छेदादूर्ध्वगामित्वं भवतीति। किंवान्यत्। आगच्छतामपगच्छतां चावयवानामागमापायिधर्मवत्त्वादेवानात्मत्वं शरीरादिवत्। ततश्चावस्थितः कश्चिदवयव आत्मेति स्यात्। न च स निरूपयितुं शक्यतेऽयमसाविति। किञ्चान्यत्। आगच्छन्तश्चैते जीवावयवाः कुतः प्रादुर्भवन्त्यपगच्छन्तश्च क्व वा लीयन्त इति वक्तव्यम्। नहि भूतेभ्यः प्रादुर्भवेयुर्भूतेषु च निलीयेरन्, अभौतिकत्वाज्जीवस्य। नापि कश्चिदन्यः साधारणोऽसाधारणो वा जीवानामवयवाधारो निरूप्यते प्रमाणाभावात्। किंचा-

---

सूत्रेण परिहरति–नचेति। आगमापायौ पर्यायः। किमागमापायिनामवयवानामात्मत्वमस्ति न वा। आद्ये आह–विकारादिदोषेति। कोऽसौ बन्धमोक्षाभ्युपगम इत्यत आह–कर्माष्टकेति। व्याख्यातमेतत्। आद्य कल्पे दोषान्तरं वदन् कल्पान्तरमादाय दूषयति–किंचेति। अवशिष्टकूटस्थावयवस्य दुर्ज्ञानत्वादात्मज्ञानाभावान्न मुक्तिरित्यर्थः। यथा दीपावयवानामाकारस्तेजस्तथात्मावयवानामाकारकारणाभावान्नागमापायौ युक्तावित्याह—किंचेति। सर्वजीवसाधारणः प्रतिजीवमसाधारणो वेत्यर्थः। किंचात्मन आगमापायिशीलावयवत्वे सति कियन्त आयान्त्यवयवाः कियन्तोऽपयन्तीत्यज्ञानादात्मनिश्चयाभावादनिर्मोक्षः स्यादित्याह—किंचेति। अपि चावयवारब्धावयवित्वे जीवस्यानित्यत्वम्, अवयवसमूहत्वे

छोटे और बड़े शरीर म जीवावयव का उपगम और अपगम मानकरके भी पूर्वोक्त विरोध का परिहार नहीं कर सकते क्योंकि उस दशा में जीवात्मा में विकारादि दोष आने लग जायेंगे। क्रमशः जीव के अवयवों का उपगम और अपगम मानकर भी जीवात्मा में देहपरिमाणत्व पक्ष में आने वाले विरोध का परिहार नहीं कर सकते क्योंकि उस दशा में विकारादि दोष आयेंगे ही। अवयव के उपगम और अपगम से निरन्तर जीव में वृद्धि और ह्रासरूप विकार होता रहेगा जिस विकार का परिहार कर नहीं सकते। चमड़े की भाँति विकारी मानने पर उसमें अनित्यत्व दोष आयेगा ही,तब तो बन्ध-मोक्ष की मान्यता भी आप के पक्ष में बाधित हो जायेगी। मोक्ष के बाधक चार कर्म और अबाधक चार कर्म कहे गये हैं, इन आठ कर्मों से परिवेष्टित जीव तुम्बी की भाँति संसारसागर में डूब रहा है उसके बन्धन का उच्छेद हो जाने से उर्ध्वगामित्व होने पर मोक्ष कहा गया है जो आप के मत में सिद्ध नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त आने वाले और जाने वाले जीवावयवों में शरीरादि की भाँति आगमापायी धर्मवत्व होने के कारण अनात्मत्व ही सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में जीवात्मा को निश्चित अवयववाला ही मानना पड़ेगा। पर यह ऐसे अवयववाला है, इस निर्विवादित पक्ष का निरूपण आप कर नहीं सकते। यहाँ पर हम एक दूसरा प्रश्न भी कर सकते हैं कि आते समय जीवावयव कहाँ से आते हैं और जाते हुए कहाँ लीन होते हैं, यह भी आप को बतलाना पड़ेगा। भूतों से आते है और भूतों में हो लीन होते हैं, ऐसा तो कह नहीं सकते क्योंकि जीव भौतिक नहीं है। इसके

---

१. धात्यघातिभेदेन कर्माष्टकमुक्तनैकस्मिन्नसम्भवादिति सूत्रं व्याख्यावसरे।

स्यात् । अनवधृतस्वरूपश्चैवंसत्यात्मा स्यात् । आगच्छतामपगच्छतां चावयवानामनियतपरिमाणत्वात् । अत एवमादिदोषप्रसङ्गान्न पर्यायेणाप्यवयवोपगमापगमावात्मन आश्रयितुं शक्येते ।

अथवा पूर्वेण सूत्रेण शरीरपरिमाणस्यात्मन उपचितापचितशरीरान्तरप्रतिपत्तावकात्स्न्र्यप्रसञ्जनद्वारेणानित्यतायां चोदितायां पुनः पर्यायेण परिमाणानवस्थानेऽपि स्रोतःसंताननित्यतान्यायेनात्मनो नित्यता स्यात् । यथा रक्तपटानां विज्ञानानवस्थानेऽपि तत्संताननित्यता तद्वद्विसिचामपीत्याशङ्क्यानेन सूत्रेणोत्तरमुच्यते । संतानस्य तावदवस्तुत्वे नैरात्म्यवादप्रसङ्गः । वस्तुत्वेऽप्यात्मनो विकारादिदोषप्रसङ्गादस्य पक्षस्यानुपपत्तिरिति ॥३५॥

चात्त्वं, आत्मत्वस्य यावदवयववृत्तित्वे यत्किंचिदवयवापायेऽपि सद्यः शरीरस्या'चेतनत्वं, गोत्ववत्प्रत्येकं समाप्तावेकस्मिञ्छरीर आत्मनानात्वं स्यादतो न देहपरिमाणत्वसावयवत्वे आत्मन इत्युपसंहरति—अत इति ।

सूत्रस्यार्थान्तरमाह—अथवेति । स्थूलसूक्ष्मशरीरप्राप्तावकात्स्न्योक्तिद्वारेणात्माऽनित्यतायामुक्तायां सुगतवत्संतानरूपेणात्मनित्यतामाशङ्क्यानेनोत्तरमुच्यत इत्यन्वयः । पर्यायेणेत्यस्य व्याख्या स्रोत इति । देहभेदेन परिमाणस्यात्मनश्चानवस्थानेऽपि नाशेऽपि । स्रोतः प्रवाहः । तदात्मकस्यात्मव्यक्तिसंतानस्य नित्यतयात्मनित्यता स्यादित्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । सिग् वस्त्रं विगत येभ्यस्ते विसिचो दिगम्बरास्तेषामित्यर्थः । पर्यायात् सतानादप्यात्मनित्यत्वस्याविरोध इति न च । कुतः ? विकारादिभ्यः । संतानस्यावस्तुन आत्मत्वे शून्यवादः, संतानस्य वस्तुत्वे संतान्यतिरेके च कूटस्थात्मवादः, अनतिरेके जन्मादिविकारो विनाशो मुक्त्यभाव इत्युक्तदोषप्रसङ्गात् संतानात्मपक्षोऽनुपपन्न इति सूत्रार्थः ॥३५॥

अतिरिक्त जीवों के अवयव का आधार कोई दूसरा साधारण अथवा असाधारण आप बतला नहीं सकते क्योंकि ऐसा निरूपण करने में आप के पास प्रमाण नहीं है। इस प्रकार यह आत्मा अनिश्चितस्वरूप हो जायेगा, उसके आने और जाने वाले अवयवों को नियतपरिमाण आप बतला नहीं पाते हैं । अतः 'एवं' आदि दोषप्रसङ्ग आ जाने के कारण पर्याय से आत्मा के अवयव का उपगम और अपगम मानना भी ठीक नहीं है।

इस सूत्र का एक दूसरा अर्थ भी होता है जिसे भाष्यकार 'अथवा' इत्यादि ग्रन्थ से कहते हैं। पूर्व चौंतीसवें सूत्र से आत्मा को शरीरपरिमाण मानने पर उसके छोटे-बड़े शरीरप्राप्ति के समय अकात्स्न्र्यदोषप्रसञ्जन के कारण उसमें अनित्यता आ जायेगी और पर्याय से परिमाण की व्यवस्था न होने पर भी नदीप्रवाहनित्यत्वन्याय से आत्मा में नित्यत्व सिद्ध किया जा सकता है। जैसे रक्तपटादि का विज्ञान स्थिर न होने पर भी विज्ञानसन्तान की नित्यता मानी है वैसे ही दिगम्बर आर्हतों की आत्मा में भी नित्यता सिद्ध की जा सकती है, ऐसी आशङ्काकर इस पैंतीसवें सूत्र से उत्तर कहा जाता है। यदि सन्तान को वस्तु नहीं मानते तो नैरात्म्यवाद प्रसङ्ग आ जायेगा और वस्तु मानते हो तो भी आत्मा में विकारादि दोष आ जायेंगे, अतः इस पक्ष की भी युक्तियुक्तता सिद्ध नहीं होती है ॥३५॥

---

१. यथाऽन्यतमतमतन्तुनाशे सहस्रतन्त्वारब्ध पटनाशस्तद्वत् ।

७. पत्यधिकरणम् (सू. ३७-४१)

(२०७) अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६॥

तटस्थेश्वरवादो यः स युक्तोऽथ न युज्येत । युक्तः कुलालदृष्टान्तान्नियन्तृत्वस्य सम्भवात ।
न युक्तो विषमत्वादिदोषाद्वैदिक ईश्वरे ॥ अभ्युपेते तटस्थत्वं त्याज्यं श्रुतिविरोधतः ॥

अपि चान्त्यस्य मोक्षावस्थाभाविनो जीवपरिमाणस्य नित्यत्वमिष्यते जैनैः । तद्वत्पूर्वयोरप्याद्यमध्यमयोर्जीवपरिमाणयोर्नित्यत्वप्रसङ्गादविशेषप्रसङ्गः स्यात् । एकशरीरपरिमाणतैव स्यान्नोपचितापचितशरीरान्तरप्राप्तिः । अथ वान्त्यस्य जीवपरिमाणस्यावस्थितत्वात्पूर्वयोरप्यवस्थयोरवस्थितपरिमाण एव जीवः स्यात्, ततश्चाविशेषेण सर्वदैवाणुर्महान्वा जीवोऽभ्युपगन्तव्यो न शरीरपरिमाणः । अतश्च सौगतवदार्हतमपि मतमसङ्गतमित्युपेक्षितव्यम् ॥३६॥

यं स्थूलं वा सूक्ष्मं वा देहं गृह्णाति तद्देहपरिमाण एव जीव इति नियमं दूषयति—अन्त्येति । अन्त्यशरीरपरिमाणस्यावस्थितेर्नित्यत्वदर्शनादुभयोराद्यमध्यमपरिमाणयोर्नित्यत्वप्रसङ्गादविशेषस्त्रयाणां नित्यपरिमाणानां साम्यं स्याद्विरुद्धपरिमाणानामेकत्रायोगादिति सूत्रयोजना । आद्यमध्यमपरिमाणे नित्ये, आत्मपरिमाणत्वात्, अन्त्यपरिमाणवत् । न चाप्रयोजकता, परिमाणनाशे सत्यात्मनोऽपि नाशादन्त्यपरिमाणनित्यत्वायोगादिति भावः । परिमाणत्रयसाम्यापादनफलमाह—एकेति । अन्त्यशरीरसमान्येव पूर्वशरीराणि स्युः, विषमशरीरप्राप्तावात्मनस्तत्परिमाणत्वे परिमाणत्रयसाम्यानुमानविरोधादित्यर्थः । पूर्वं कालत्रये परिमाणत्रयमङ्गीकृत्यान्त्यदृष्टान्तेन नित्यत्वमनुमाय साम्यमापादितम् । संप्रत्यन्त्यस्य मुक्तपरिमाणस्याणुत्वस्थूलत्वयोरन्यतरत्वेनावस्थितेस्तदेवान्त्यमाद्यमध्यमकालयोरपि नित्यत्वंस्यात्, प्रागसतो नित्यत्वायोगात्, तथा चाविशेषः कालत्रयेऽपि जीवपरिमाणाभेद इत्याह—अथवेति । तस्माद्भ्रान्त्यैकशरणक्षपणकसिद्धान्तेनाविरोधः समन्वयस्येति सिद्धम् ॥३६॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः (ललिता)

यदि अन्तिम मोक्षावस्थाभावी जीवपरिमाण को आर्हतों ने नित्य माना है तो उसके पूर्व आद्य और मध्यम जीवपरिमाण में भी नित्यत्व का प्रसङ्ग आ जाने से अविशेष प्रसङ्ग रहेगा ही। अतः एकशरीरपरिमाणता ही जीव में सिद्ध होगी। ऐसी स्थिति में उससे बड़े या छोटे शरीरान्तर की प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकेगी। अथवा अन्तिम जीवपरिमाण को स्थिर मानोगे तो उससे पूर्व आद्य और मध्यम अवस्था के परिमाण को भी अवस्थित मानना ही होगा। ऐसी स्थिति में सामान्य रूप से सदा ही जीव को अणु परिमाण अथवा महत् परिमाण मानना ही उचित होगा। अतः बौद्ध मत की भाँति आर्हत मत (जैनों का मत) भी असङ्गत ही माना जायेगा और इस प्रकार वह भी उपेक्षणीय सिद्ध होगा ॥३६॥

७. पत्यधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण द्वारा सदसत्त्वादि परस्पर विरुद्ध धर्म एक धर्मी में कहना असम्भव होने से अनेकान्तवाद का खण्डन किया गया। वैसे ही एक ईश्वर में सम्पूर्ण जगत् का उपादानत्व एवं कर्तृत्व, ऐसे विरुद्ध धर्मों का होना असम्भव है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

(२०८) पत्युरसामञ्जस्यात् ॥३७॥

इदानीं केवलाधिष्ठात्रीश्वरकारणवादः प्रतिषिध्यते । तत्कथमवगम्यते ? 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्', 'अभिध्योपदेशाच्च' (ब्र० १-४-२३, २४) इत्यत्र प्रकृतिभावेनाधिष्ठातृभावेन चोभयस्वभावस्येश्वरस्य स्वयमेवाचार्येण प्रतिष्ठापितत्वात् । यदि-पुनरविशेषेणेश्वरकारणवादमात्रमिह प्रतिषिध्येत पूर्वोत्तरविरोधाद्व्याहताभिव्याहारः सूत्रकार इत्येतदापद्येत । तस्मादप्रकृतिरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इत्येष पक्षो वेदान्तविहितब्रह्मैकत्वप्रतिपक्षत्वाद्यत्नेनात्र प्रतिषिध्यते । सा चेयं वेदबाह्येश्वरकल्पनाने-

---

पत्युरसामञ्जस्यात् । लुञ्चितकेशमतनिरासानन्तरं जटाधारिशैवमतं बुद्धिस्थं निराक्रियत इति प्रसङ्गसंगतिमाह—इदानीमिति । सामान्यत ईश्वरनिरास एवात्र किं न स्यादिति शङ्कते—तदिति । स्वोक्तिविरोधान्मैवमित्याह—प्रकृतिश्चेत्यादिना । प्रतिष्ठापितत्वात् केवलनिमित्तेश्वरप्रतिषेधोऽवगम्यत इत्यन्वयः । व्याहतो विरुद्धोऽभिव्याहार उक्तिर्यस्य स तथा । अद्वितीयब्रह्मप्रकृतिकं जगदिति वदतो वेदान्तसमन्वयस्य कर्तैवेश्वरो न प्रकृतिरिति शैवादिमतेन विरोधोऽस्ति न वेति संदेहे तन्मतस्य मानमूलत्वाद्विरोधे सति वेदान्तोक्ताद्वयब्रह्मासिद्धिरिति फलमभिप्रेत्य सत्त्वासत्त्वयोरेकत्रासंभववत् कर्तृत्वोपादानत्वयोरप्येकत्रासंभवात् कर्तैवेश्वर इति पूर्वपक्षं कुर्वन्नवान्तरमतमेवमाह—सा चेति । सेश्वराः सांख्याः, सांख्यशब्दार्थः । चत्वारो माहेश्वराः—शैवाः पाशुपताः कारुणिकसिद्धा-

---

२. **विषय**—तटस्थ ईश्वरकारणवाद माहेश्वर सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।
३. **संशय**—ईश्वर केवल जगत् का अधिष्ठाता है, उपादानकारण नहीं; ऐसा माहेश्वर सिद्धान्त प्रमाणमूलक है अथवा भ्रान्तिमूलक ?
४. **पूर्वपक्ष**—घटादि कार्य का निमित्तकारण कुलाल है, ऐसे ही ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण कहना युक्तिसङ्गत ही है ।
५. **सिद्धान्त**—वेदप्रतिपादित ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानने पर उसमें वैषम्यनैर्घृण्यदोष आ जायेंगे । अतः श्रुतिविरुद्ध होने के कारण तटस्थ ईश्वरकारणवाद त्यागने योग्य है, वह युक्तियुक्त नहीं है ।

पत्युरसामञ्जस्यात् (ललिता)

लुञ्चितकेशमत के निराकृत हो जाने पर अब जटाधारी बुद्धिस्थ शैवमत का निराकरण किया जाता है । इसमें अब केवलनिमित्तईश्वरकारणवाद का खण्डन किया जाता है । वह कैसे मालूम पड़ा ? 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' और 'अभिध्योपदेशाच्च' इन दोनों सूत्रों द्वारा ईश्वर को उपादान एवं निमित्त कारणरूप से स्वयं आचार्य बादरायण ने प्रतिष्ठापित किया है । यदि पुनः अविशेषरूप से ईश्वरकारणवादमात्र का यहाँ पर खण्डन करते हों तो पूर्वोत्तर ग्रन्थ का विरोध आ जाने से सूत्रकार परस्पर व्याहत बोलते हैं, यह अर्थ सिद्ध होने लग जायेगा । अतः ईश्वर उपादान कारण नहीं किन्तु केवल निमित्त कारण है, यह पक्ष वेदान्तविहित ब्रह्मैकत्व का विरोधी होने के कारण यहाँ पर तटस्थ ईश्वरकारणवाद का यत्नपूर्वक निराकरण किया जाता है । वह वेदबाह्य

कप्रकारा । केचित्तावत्सांख्ययोगव्यपाश्रयाः कल्पयन्ति-प्रधानपुरुषयोरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वरः, इतरेतरविलक्षणाः प्रधानपुरुषेश्वरा इति । माहेश्वरास्तु मन्यन्ते कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताः पञ्च पदार्थाः पशुपतिनेश्वरेण पशुपाशविमोक्षणायोपदिष्टाः, पशुपतिरीश्वरो निमित्तकारणमिति वर्णयन्ति । तथा वैशेषिकादयोऽपि केचित्कथंचित्स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारणमीश्वर इति वर्णयन्ति ।

अत उत्तरमुच्यते—'पत्युरसामञ्जस्यात्' इति पत्युरीश्वरस्य प्रधानपुरुषयोरधिष्ठातृत्वेन जगत्कारणत्वं नोपपद्यते। कस्मात्? [१]असामञ्जस्यात्। किं पुनरसामञ्जस्यम्? हीनमध्यमोत्त-

---

ल्गिनः कापालिकाश्चेति । सर्वेऽप्यमी महेश्वरप्रोक्तागमानुगामित्वान्माहेश्वरा उच्यन्ते । कार्यं महदादिकं, कारणं प्रधानमीश्वरश्च, योगः समाधिः, विधिस्त्रि[३]षवणस्नानादिः, दुःखान्तो मोक्ष इति पञ्च पदार्थाः । पशवो जीवास्तेषां पाशो बन्धस्तन्नाशायेत्यर्थः । पाशुपतागमप्रामाण्यात् पशुपतिर्निमित्तमेवेति मतमुक्त्वानुमानिकेश्वरमतमाह—तथेति । विमतं सकर्तृकम्, कार्यत्वात्, घटवदिति वैशेषिकाः कर्तारमीश्वरं साधयन्ति । कर्मफलं सपरिकराभिज्ञदातृकं, कालान्तरभाविफलत्वात् सेवाफलवदिति गौतमा दिगम्बराश्च । ज्ञानैश्वर्योत्कर्षः क्वचिद्विश्रान्तः, सातिशयत्वात्, परिमाणवदिति सांख्यसौगतपातञ्जला इति मत्वोक्तम्—केचित्कथंचिदिति ।

सिद्धान्तयति—अत इति । [५]आगमादिना निर्दोषेश्वरसिद्धेः कथं दोषवत्त्वमित्याह—किमिति । न तावत् स्वस्वागमादीश्वरनिर्णयः, आगमानां निर्मूलत्वेनाप्रामाण्यात् नच सर्वज्ञानं मूलं, तत्र मानाभावात् । न चागम एव मानम्, आगममानत्वनिश्चये मूलनिश्चयस्तन्निश्चये तन्निश्चय इत्यन्योन्याश्रयात् । नच पुरुषवचसां स्वतो मानत्वं युक्तं, मिथो विरोधेन [४]तत्त्वाव्यवस्थानाच्च । नाप्यनुमानादीश्वरः सर्वज्ञः कर्तेवेति निर्णयः संभवति, अनुमानस्य दृष्टानुसारित्वेन दृष्टविपरीतार्थासाधकत्वात् । तथाच लोके यादृशाः कर्तारो दृष्टास्तादृशा एव जगत्कर्तारो

ईश्वरकल्पना अनेक प्रकार की है । कुछ लोग सांख्ययोग का आश्रय लेकर, प्रधान और जीव का अधिष्ठाता ईश्वर केवल निमित्त कारण है, ऐसी कल्पना करते हैं और ईश्वर, जीव एवं प्रकृति ये तीनों परस्पर विलक्षण है, ऐसा मानते हैं; इन्हें सेश्वर सांख्यवादी कहते हैं । माहेश्वर शैव, पाशुपत, कारुणिक और कापालिक भेद से चार प्रकार के हैं । ये महेश्वरप्रोक्त आगमानुगामी होने के कारण माहेश्वर कहे जाते हैं । इन्होंने महदादि कार्य, प्रधानकारण ईश्वर, समाधि, त्रिषवणस्नानादि विधि और दुःखान्त मोक्ष ऐसे पांच पदार्थ माने हैं जिनका उपदेश जीव को पाश से छुड़ाने के लिए पशुपति ईश्वर ने किया है । ईश्वर पशुपति निमित्त कारण ही है, ऐसा वे बतलाते हैं । वैसे ही, वैशेषिकादिकों ने भी ईश्वर को तटस्थ ही माना है । इनमें से कुछ ने अपनी प्रक्रिया के अनुसार कथञ्चित् निमित्त कारण ही ईश्वर को कहा है, उभयकारण नहीं माना है । इसलिए सिद्धान्त पक्ष से इस सूत्र द्वारा उनका उत्तर दिया जाता है ।

प्रधान एवं पुरुष के अधिष्ठातामात्र ईश्वर में जगत्कारणत्व युक्तियुक्त सिद्ध नहीं होता है क्योंकि

---

१. जीवस्य । २. दोषवत्त्वात् । ३. सवनशब्दः कालवचनः । ४. स्वस्वागमादिना । ५. निर्विवादकारणत्वस्य ।

समभावेन हि प्राणिभेदान्विदधत ईश्वरस्य रागद्वेषादिदोषप्रसक्तेरस्मदादिवदनीश्वरत्वं प्रसज्येत । प्राणिकर्मापेक्षितत्वाददोष इति चेत् । न । कर्मेश्वरयोः प्रवर्त्यप्रवर्तयितृत्वे इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । नानादित्वादिति चेत् । न । वर्तमानकालवदतीतेष्वपि कालेष्वितरेतराश्रय-

---

रागद्वेषादिमन्तः सिध्येयुः । यदि लोके विचित्रप्रासादादिकर्तुरेकत्वाद्यदर्शनेऽपि जगत्कर्तरि लाघवादेकत्वं नित्यज्ञानं निर्दोषत्वं च कल्प्येत, तर्हि द्रव्योपादानत्वमपि कल्प्यतां, कर्तुरेवोपादानत्वेन लाघवात्, अन्यथा स्वतन्त्रप्रधानपरमाण्वाद्युपादानकल्पनागौरवात् । अदृष्टत्वाच्चेत्कर्तुर्द्रव्योपादानत्वासिद्धिरेकत्वादिकमपि न सिध्येत् । अस्माकं त्वपौरुषेयतया स्वतःसिद्धप्रमाणभावया श्रुत्या स्वप्रमेयबोधने दृष्टान्तानपेक्षया भवत्येव लौकिककर्तृविपरीताद्वितीयकर्त्रुपादानात्मकसर्वज्ञनिर्दोषेश्वरनिर्णयः । निर्णीते च तस्मिन् धर्मिग्राहकमानाबाधान्न रागादिदोषापादनस्यावकाश इत्यानुमानिकेश्वरादिभ्यो वैषम्यं, तदभिप्रेत्याश्रौतस्येश्वरस्यासामञ्जस्यमाह—हीनेति । यदि कर्तुरुपादानत्वमदृष्टत्वान्न कल्प्यते तर्हि निर्दोषत्वस्याप्यदृष्टत्वाद्यो विषमकारी स दोषवानिति व्याप्तिदृष्टेश्च जगत्कर्ता दोषवान् स्यात् । न चात्र धर्मिग्राहक[1]ानुमानबाधः, कार्यत्वलिङ्गस्य कर्तृमात्रसाधकत्वेन निर्दोषत्वादावुदासीनत्वात् । न चोत्कर्षसमा जातिः, व्यापकधर्मापादनात्, दोषाभावे तद्व्याप्यविषमकर्तृकत्वायोगाच्च । दृष्टान्तस्थाव्यापकधर्माणां पक्षे आपादनं ह्युत्कर्षसमा जातिः । यथा शब्दो यदि कृतकत्वेन हेतुना घटवदनित्यः स्यात्तर्हि तेनैव हेतुना सावयवोऽपि स्यादिति । न ह्यत्रानित्यत्वस्य व्यापकं सावयवत्वं, गन्धादौ व्यभिचारादिति भावः । ननु प्राणिकर्मप्रेरित ईश्वरो विषमफलान् प्राणिनः करोति न स्वेच्छयेति शङ्कते—प्राणीति । जडस्य कर्मणः प्रेरकत्वायोगान्मैवमित्याह—नेति । न चेश्वरप्रेरितं कर्मेश्वरस्य प्रेरकमिति वाच्यमित्याह—कर्मेति । अतीतकर्मणा प्रेरित ईश्वरो वर्तमानं कर्म तत्फलाय प्रेरयतीत्यनादित्वात्प्रेर्यप्रेरकभावस्य नानुपपत्तिरिति शङ्कते—नानादित्वादिति । अतीतकर्मणोऽपि जडत्वान्नेश्वरप्रेरकता । न च तदपीश्वरेण प्रेरितं सदीश्वरं प्रेरयति, उक्तान्योन्याश्रयात् । ततोऽप्यतीतकर्मप्रेरितेश्वरप्रेरितं तदे-

---

ऐसे ईश्वर को जगत्कारण मानने में असामञ्जस्यरूप दोष दिखाई पड़ता है । हीन, मध्यम, उत्तमरूप से विभक्त प्राणियों की सृष्टि एवं कर्मफलविधान करने वाले ईश्वर में रागद्वेषादि दोष आ जाने के कारण हम सबकी भांति अनीश्वरत्व आने लग जायेगा । जिस प्रकार राग द्वेष से युक्त जीव लोक में विषम व्यवहार करता देखा जाता है, उसमें ईश्वरत्व नहीं है; ऐसे ही विषम फलविधान करने वाले ईश्वर में राग-द्वेष आ जाने के कारण अनीश्वरत्व आ जायेगा । यदि कहो कि प्राणियों के कर्म की अपेक्षा से विषमसृष्टिरचना और कर्मफलविधान ईश्वर करता है इसलिए उसमें असामञ्जस्य दोष नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि कर्म और ईश्वर में प्रवर्त्यप्रवर्तकभाव आ जाने के कारण अन्योऽन्याश्रय दोष आने लग जायेगा । ईश्वर से प्रेरित कर्म ईश्वर की विषमसृष्टिरचना में प्रवर्तक है, ऐसा मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष इस प्रकार आता है कि विषम कर्म ईश्वर का प्रवर्तक है और वह ईश्वर विषम सृष्टि का प्रवर्तक है । यदि कहो कि अतीतकर्म से प्रेरित फल देने के लिए वर्तमान कर्म को प्रेरित करता है और यह प्रर्यप्रेरकभाव अनादि काल से आ रहा है इसलिए अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं आता है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि वर्तमान काल की भांति अतीत काल में भी अन्योऽन्याश्रय दोष अविशेषरूप से आता ही है, इसलिए ऐसा मानने में

---

१. विमत सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत् । २. जगत्कर्ता दोषवान् विषमकारित्वात् कुलालवदित्यनुमाने सेत्यर्थः ।

(२०९) संबन्धानुपपत्तेश्च ॥३८॥

दोषाविशेषादन्धपरम्परान्यायापत्तेः। अपिच 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' (न्याय सू.१-१-१८) इति न्यायवित्समयः। नहि कश्चिददोषप्रयुक्तः स्वार्थे परार्थे वा प्रवर्तमानो दृश्यते। स्वार्थप्रयुक्त एव च सर्वो जनः परार्थेऽपि प्रवर्तत इत्येवमप्यसामञ्जस्यं, स्वार्थवत्त्वादीश्वरस्यानीश्वरत्वप्रसङ्गात्। पुरुषविशेषत्वाभ्युपगमाच्चेश्वरस्य पुरुषस्य चौदासीन्याभ्युपगमादसामञ्जस्यम् ॥३७॥

पुनरप्यसामञ्जस्यमेव। नहि प्रधानपुरुषव्यतिरिक्त ईश्वरोऽन्तरेण संबन्धं प्रधानपुरुषयोरीशिता। न तावत्संयोगलक्षणः संबन्धः संभवति, प्रधानपुरुषेश्वराणां सर्वगतत्वान्निर-

---

वेश्वरं वर्तमाने कर्मणि फलदानाय प्रेरयतीति चेत्। न। मानहीनाया मूलक्षयावहाया अनवस्थायाः प्रसङ्गात्। अतः कर्मनिरपेक्ष एवेश्वरो विषमसृष्टेरित्यसामञ्जस्यं दुर्वारमित्यर्थः। यत्तु फलदाने ईश्वरस्य कर्म निमित्तमात्रं, न प्रेरकमिति नोक्तदोष इति। तन्न। विषमकर्म कारयितुरीश्वरस्य दोषवत्त्वानपायात्, पूर्वकर्मापेक्षया कर्मकारयितृत्वे चोक्ताप्रामाणिकानवस्थानात्। अस्माकं तु 'एष ह्येव साध्वसाधु कारयति' इति, 'निरवद्यम्' इति च श्रुतिमूलं पूर्वकर्मापेक्षाकल्पनमिति वैषम्यम्। किंच परमतानुसारेणापीश्वरस्य रागादिमत्त्वं प्राप्नोतीत्याह—अपिचेति। प्रवर्तकत्वलिङ्गाद्दोषा इति तार्किकाणां स्थितिः, तथाचेश्वरः स्वार्थरागादिमान्, प्रवर्तकत्वात्, [1]संमतवत्। नच कारुणिके व्यभिचारः, परदुःखप्रयुक्तस्वदुःखनिवृत्त्यर्थित्वात्तस्येत्यर्थः। उदासीनः प्रवर्तक इति च व्याहतमिति योगान्प्रत्याह—पुरुषेति ॥ ३७ ॥

प्रधानवादे दोषान्तरमाह सूत्रकारः—संबन्धेति। ईश्वरेणासंबद्धस्य प्रधानादेः प्रेर्यत्वायोगात्संबन्धो वाच्यः। स च संयोगः समवायो वा नास्तीत्यर्थः। कार्यबलात् प्रेरणयोग्यत्वाख्यः संबन्धः

अन्धपरम्परान्याय की प्रसक्ति होने लग जायेगी। तार्किक मतानुसार भी ईश्वर में प्रवर्तनरूप दोष आयेंगे क्योंकि कोई भी दोषमुक्त पुरुष स्वार्थ या परार्थ में प्रवृत्त होते नहीं देखा जाता है। स्वार्थ में प्रवृत्त ही सभी पुरुष परार्थ प्रवृत्त होते हैं, ऐसा असामञ्जस्य भी आप के पक्ष में आयेगा और ईश्वर को स्वार्थी मानने पर अनीश्वरत्व प्रसङ्ग आयेगा ही। ईश्वर को पुरुषविशेष स्वीकार किया गया है और उस पुरुष विशेष ईश्वर को उदासीन भी माना गया है, अतः असाञ्जस्य दोष तो रहेगा ही। कोई दयालु पुरुष भी परदुःख से प्रेरित स्वदुःखनिवृत्ति के लिए ही प्रवृत होता है। जब सामान्य व्यक्ति भी निष्प्रयोजन प्रवृत्त नहीं होता तो सर्वज्ञ, उदासीन परमात्मा बिना स्वार्थ के क्यों प्रवृत्त होने लगेगा, उसे उदासीन अथ च प्रवर्तक कहना परस्पर व्याघात दोषग्रस्त है। अतः योगियों का मत भी ठीक नहीं हैं ॥३७॥

सम्बन्धानुपपत्तेश्च (ललिता)

प्रधानकारणवाद में यह भी असामञ्जस्य दोष है ही क्योंकि प्रधान-पुरुष से भिन्न तटस्थ ईश्वर सम्बन्ध के बिना प्रधान एवं पुरुष पर शासन नहीं कर सकेगा। ऐसी स्थिति में प्रधान एवं पुरुष के साथ ईश्वर का सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा, वह सम्बन्ध संयोग हो नहीं सकता क्योंकि संयोग परिच्छिन्न एवं सावयव वस्तु का ही होता है। प्रधान, पुरुष तथा ईश्वर ये तीनों ही आप को सर्वव्यापक एवं निरवयव मान्य है। वैसे ही समवायरूप सम्बन्ध भी नहीं कह सकते क्योंकि समवाय

---

१. प्राकृतपुरुषवत्।

वयवत्वाच्च । नापि समवायलक्षणः संबन्धः, आश्रयाश्रयिभावानिरूपणात् । नाप्यन्यः कश्चित्कार्यगम्यः संबन्धः शक्यते कल्पयितुं, कार्यकारणभावस्यैव[3]द्याप्यसिद्धत्वात् ।

ब्रह्मवादिनः कथमिति चेत् । न । [4]तस्य तादात्म्यलक्षणसंबन्धोपपत्तेः । अपि चागमबलेन ब्रह्मवादी कारणादिस्वरूपं निरूपयतीति नावश्यं तस्य यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमिति नियमोऽस्ति । परस्य तु दृष्टान्तबलेन कारणादिस्वरूपं निरूपयतो यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमित्ययमस्त्यतिशयः । परस्यापि सर्वज्ञप्रणीतागमसद्भावात्समानमागमबलमिति चेत् । न । इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादागमप्रत्ययात्सर्वज्ञत्वसिद्धिः सर्वज्ञप्रत्ययाच्चागमसिद्धिरिति । तस्मादनुपपन्ना सांख्ययोगवादिनामीश्वरकल्पना । एवमन्यास्वपि वेदबाह्यास्वीश्वरकल्पनासु यथासंभवमसामञ्जस्यं योजयितव्यम् ।।३८।।

कल्प्यतामित्यत आह—नाप्यन्य इति । ईश्वरप्रेरितप्रधानकार्यं जगदिति सिद्धं चेत् संबन्धकल्पना स्यात् । 'तच्चाद्या यसिद्धमित्यर्थः । मायाब्रह्मणोस्त्वनिर्वाच्यतादात्म्यसंबन्धः, 'देवात्मशक्तिम्' (श्वे० १-३) इतिश्रुतेः ।

किंच वेदस्यापूर्वार्थत्वान्न लोकदृष्टमृत्कुलालसंबन्धो [4]वैदिकेनानुसर्तव्यः, [5]आनुमानिकेन त्वनुसर्तव्य इति विशेषमाह—अपिचेति । सर्वज्ञस्यागमप्रामाण्यस्य च ज्ञप्तावन्योन्याश्रयः, अनुमानात्सर्वज्ञसिद्धेर्निरस्तत्वात् । न ह्यमनस्कस्य ज्ञानं संभवति, ज्ञानं मनोजन्यमिति व्याप्तिविरोधान्नित्यज्ञानकल्पनानवकाशादिति भावः । प्रधानवत्परमाणूनामपि निरवयवेश्वरेण संयोगाद्यसत्त्वात्प्रेर्यत्वायोगः, प्रेरकत्वे चेश्वरस्य दोषवत्त्वमित्याह—एवमन्यास्वपीति ।। ३८ ।।

सम्बन्ध के लिए आश्रयाश्रयीभाव बतलाना आवश्यक है । इन तीनों में आश्रयाश्रयीभाव का निरूपण नहीं कर सकते, अतः इनका समवाय सम्बन्ध भी नहीं है। और न कार्य को देखकर किसी अन्य सम्बन्ध की कल्पना ही कर सकते हैं क्योंकि इन तीनों में आज तक कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं हो पाया है ।

पूर्वपक्षी—ब्रह्मवादियों को इन तीनों का कैसा सम्बन्ध अभिमत है? सिद्धान्ती—यह प्रश्न नहीं कर सकते क्योंकि उस ब्रह्म का तादात्म्यरूप सम्बन्ध ब्रह्मवादी मानते ही हैं । ब्रह्मवादी आगम बल से भी कार्यकारणादि का स्वरूप बतलाते हैं, इसलिए जैसा लोक में देखा गया है वैसा अवश्य मानना ही चाहिए यह ब्रह्मवादी के लिए नियम नहीं है । किन्तु दृष्टान्त के बल से कर्यकारणादि स्वरूप बतलाने वाले आप को तो यथादृष्ट सब कुछ मानना पड़ेगा अर्थात् लोक में जैसा देखा गया है वैसा ही वेद में भी आप को मानना होगा, हममें और आपमें यही भेद है । पूर्वपक्षी—सर्वज्ञप्रणीत आगम के विद्यमान रहने से आगम बल तो आप के समान ही हम प्रतिपक्षी को भी है, इसलिए हम और आप इस सम्बंध में तुल्य बल रखते हैं । सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष आने लग जायेगा अर्थात् आगम के सिद्ध होने पर उसके प्रणेता में सर्वज्ञत्व की सिद्धि होगी और सर्वज्ञत्व की सिद्धि होने पर आगम में प्रामाण्य सिद्ध होगा । अतः सेश्वर सांख्य और योगवादियों की ईश्वरकल्पना युक्तिहीन है । ऐसे ही वेदवाह्य अन्य ईश्वरकल्पनाओं में भी यथासम्भव असामञ्जस्य की योजना कर लेनी चाहिए ।।३८।।

---

१. संबन्धकल्पनदशायाम् । २. ब्रह्मणः । ३. कार्यकारणभावत्वम् । ४. मया । ५. त्वया सांख्येन ।

(२१०) अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥३९॥
(२११) करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥४०॥

इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य । स हि परिकल्प्यमानः कुम्भकार इव मृदादीनि प्रधानादीन्य[१]धिष्ठाय प्रवर्तयेत् । नचैवमुपपद्यते । न ह्यप्रत्यक्षं रूपादिहीनं [२]च प्रधानमीश्वरस्याधिष्ठेयं संभवति मृदादिवैलक्षण्यात् ॥ ३९ ॥

स्यादेतत् । यथा करणग्रामं चक्षुरादिकमप्रत्यक्षं रूपादिहीनं [३]च पुरुषो[४]ऽधितिष्ठत्येवं प्रधानमपीश्वरो[५]ऽधिष्ठास्यतीति । तथापि नोपपद्यते । भोगादिदर्शनाद्धि करणग्रामस्याधिष्ठितत्वं गम्यते । न [६]चात्र भोगादयो दृश्यन्ते । करणग्रामसाम्ये वाभ्युपगम्यमाने संसा-

---

ईश्वरस्य प्रधानादिप्रेरणानुपपत्तेश्चासामञ्जस्यमित्याह सूत्रकारः—अधिष्ठानेति । **प्रधानादिकं चेतनस्यान[७]धिष्ठेयं, अप्रत्यक्षत्वात्, ईश्वरवत् व्यतिरेकेण मृदादिवच्चेत्यर्थः ॥ ३९ ॥**

चक्षुरादौ व्यभिचारमाशङ्क्य निषेधति—करणवदिति । रूपमुद्भूतं नास्तीत्यप्रत्यक्षत्वं स्फुटयति—रूपेति । स्वभोगाहेतुत्वे सतीति विशेषणान्न व्यभिचार इत्याह—तथापीति । भोगः सुखदुःखानुभवः । आदिपदाद्विषयानुभवग्रहः । नच यद्येनाधिष्ठेयं तत्तदीयभोगहेतुत्वे सति प्रत्यक्षमिति व्यतिरेकव्याप्तौ करणेषु व्यभिचारतादवस्थ्यमिति वाच्यं, भोगाहेतुत्वविशिष्टाप्रत्यक्षत्वस्य हेतुत्वात्, करणेषु च विशेषणाभावेन विशिष्टस्य हेतोरभावात् । नच विशेष्यवैयर्थ्यं, परार्थपाचकाधिष्ठेयकाष्ठादौ व्यभिचारात् । नच प्रधानादेरीश्वरप्रत्यक्षत्वाद्विशेष्यासिद्धिः, अतीन्द्रियत्वरूपाप्रत्यक्षत्वस्य सत्त्वादित्यभिप्रायः । जीवे करणकृता भोगादयो दृश्यन्ते, ईश्वरे तु प्रधानकृतास्ते न दृश्यन्त इत्यक्षरार्थः । विपक्षे दोषं वदन्नप्रयोजकत्वं हेतोर्निरस्यति—करणेति । प्रधानादेः प्रेर्यत्वाङ्गीकारे प्रेरकभोगहेतुत्वं स्यात् ।

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च (ललिता)

इसलिए भी तार्किककल्पित ईश्वर की सङ्गति नहीं बैठती है क्योंकि जैसे कुम्भकार मृत्तिकादि का आश्रय लेकर घटादि के निर्माण में प्रवृत्त होता है वैसे ही प्रधान का आश्रय लेकर तटस्थ ईश्वर भी जगत् की रचना में प्रवृत्त होगा । किन्तु यह युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि रूपादिहीन प्रधान का प्रत्यक्ष नहीं होता । मृत्तिका रूपवाली है इसलिए वह तो कुम्भकार का अधिष्ठेय हो सकती है, पर मृदादि से विलक्षण रूपादिहीन प्रधान ईश्वर का अधिष्ठेय नहीं हो सकता ॥३९॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः (ललिता)

पूर्वपक्ष—चक्षुरादि इन्द्रियसमुदाय प्रत्यक्ष का विषय नहीं और वे रूपादिहीन भी है, फिर भी जैसे पुरुष उसका आश्रय लेता है ऐसे ही रूपादिहीन, प्रत्यक्ष प्रमाण के अविषय प्रधान का भी ईश्वर आश्रय लेगा? सिद्धान्त—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियसमुदाय का आश्रय लेने वाले जीव में भोगादि देखे जाते हैं; इस आधार पर इन्द्रियसमुदाय को पुरुष से अधिष्ठित जाना जाता है, पर ईश्वर में भोगादि नहीं देखे जाते हैं । इन्द्रियसमुदाय का अधिष्ठाता जैसे जीव है, वैसे ही प्रधान एवं पुरुष का अधिष्ठाता ईश्वर को मानोगे तो संसारी जीव की भाँति ईश्वर में भी भोगादि प्रसक्त होने लग जायेंगे क्योंकि लोक में प्रेर्य वस्तु भोग की हेतु देखी गयी है, उस स्थिति में प्रेरक

---

१. आश्रित्य । २. चो हेतौ । ३. चो हेतौ । ४. आश्रयति । ५. आश्रयिष्यति । ६. प्रधानादौ । ७. अनाश्रेयम् ।

(२१२) अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥४१॥

रिणामिवेश्वरस्यापि भोगादयः प्रसज्येरन् ।

अन्यथा वा सूत्रद्वयं व्याख्यायते—'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च' । इतश्चानुपपत्तिस्तार्किक-परिकल्पितस्येश्वरस्य । [1]साधिष्ठानो हि लोके सशरीरो राजा [2]राष्ट्रस्येश्वरो दृश्यते, न निरधि-ष्ठानः । अतश्च तद्दृष्टान्तवशेनादृष्टमीश्वरं कल्पयितुमिच्छत ईश्वरस्यापि किंचिच्छरीरं करणायतनं वर्णयितव्यं स्यात् । नच तद्वर्णयितुं शक्यते । सृष्ट्युत्तरकालभावित्वाच्छरी-रस्य प्राक्सृष्टेस्तदनुपपत्तेः । निरधिष्ठानत्वे चेश्वरस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्तिः । एवं लोके दृष्टत्वात् । 'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः' । अथ लोकदर्शनानुसारेणेश्वरस्यापि किंचित्कर-णानामायतनं शरीरं कामेन कल्प्येत । एवमपि नोपपद्यते । सशरीरत्वे हि सति संसारिव-द्भोगादिप्रसङ्गादीश्वरस्याप्यनीश्वरत्वं प्रसज्येत ॥ ४० ॥

इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य । स हि सर्वज्ञस्तैरभ्युपगम्यतेऽनन्तश्च ।

अतीन्द्रियस्य प्रेर्यस्य भोगहेतुत्वनियमादित्यर्थः ।

सूत्रद्वयस्यार्थान्तरमाह—अन्यथा वेति । यः प्रवर्तकश्चेतनः स शरीरीति लोके व्याप्तिदृष्टेरीश्व-रस्य च शरीरानुपपत्तेर्न प्रवर्तकत्वमिति सूत्रार्थमाह— इतश्चेति । विमतं सेश्वरं, कार्यत्वात्, राष्ट्र-वदिति कल्पयतो राजवत्सशरीर एवेश्वरः स्यादित्युक्तम् । तत्रेष्टापत्तिं निरस्यति—नच तद्वर्णयितुमिति । नच नित्यं शरीरं सर्गात्प्रागपि संभवतीति वाच्यं, शरीरस्य भौतिकत्वनियमादित्यर्थः । अस्त्वशरीर एवेश्वर इत्यत आह—निरधिष्ठानत्वे चेति । जीवस्यैव शरीरं भौतिकमीश्वरस्य तु स्वेच्छानिर्मितं प्रागपि स्यादित्याशङ्कां निरस्यति—करणवदिति । करणान्यत्र सन्तीति करणवच्छरीरम् । इच्छामय-शरीरकल्पनैवानुपपन्ना, मानाभावाद्दृष्टभौतिकत्वनियमविरोधाच्चेति मन्तव्यम् ॥४०॥

ईश्वर में सुख-दुःखादि भोग का होना अनिवार्य हो जायेगा जो आप को इष्ट नहीं ।

उक्त दोनों सूत्रों की दूसरी व्याख्या भी की जाती है । तार्किकों से परिकल्पित ईश्वर के मानने में इसलिए भी असङ्गति है क्योंकि लोक में राष्ट्र का शासक राजा साधिकरण एवं शरीरवाला देखा जाता है, निरधिष्ठान नहीं देखा जाता । अतः प्रवर्तक को लोक में शरीरधारी देखकर उस दृष्टान्त के बल से अदृष्ट ईश्वर की कल्पना करने वाले को ईश्वर का भी कोई शरीर इन्द्रियों का आश्रय बतलाना पड़ेगा; पर उसे वे कह नहीं सकते क्योंकि शरीर सृष्टि के बाद ही बनता है, सृष्टि से पूर्व शरीर नहीं होता । इस असङ्गति के कारण भी निरधिष्ठान ईश्वर को प्रवर्तक कहना उचित नहीं होगा क्योंकि लोक में ऐसा देखा नहीं गया है । और यदि लोक दर्शनानुसार में भी इन्द्रियों के आश्रय किसी शरीर की कल्पना स्वेच्छा से करोगे तो वह भी उचित नहीं होगा क्योंकि शरीरधारी मानने पर संसारी जीव की भाँति ईश्वर में सुख-दुःखादि भोग का प्रसङ्ग आ जायेगा । ऐसी स्थिति में ईश्वर में अनीश्वरत्व भी आ जायेगा । इच्छामय शरीर की कल्पना भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं और दृष्ट भौतिकत्वनियम का भी विरोध होगा ॥४०॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा (ललिता)

तार्किकों से परिकल्पित तटस्थ ईश्वर के मानने में इसलिए भी असङ्गति है क्योंकि उन्होंने ईश्वर

---

१. साधिकरणः । २. जनपदस्य । ३. नित्यः ।

अनन्तं च प्रधानमनन्ताश्च [1]पुरुषा मिथो भिन्ना अभ्युपगम्यन्ते । तत्र सर्वज्ञेनेश्वरेण प्रधानस्य [2]पुरुषाणा[3]मात्मनश्चे[4]यत्ता परिच्छिद्येत वा न वा परिच्छिद्येत । उभयथापि दोषोऽनुषक्त एव । कथम् ? पूर्वस्मिंस्तावद्विकल्प इयत्तापरिच्छिन्नत्वात्प्रधानपुरुषेश्वराणामन्तवत्त्वमवश्यंभाव्येवं लोके दृष्टत्वात् । यद्धि लोके इयत्तापरिच्छिन्नं वस्तु घटादि तदन्तवद्दृष्टं तथा प्रधानपुरुषेश्वरत्रयमपीयत्तापरिच्छिन्नत्वादन्तवत्स्यात् । संख्यापरिमाणं तावत्प्रधानपुरुषेश्वरत्रयरूपेण परिच्छिन्नम् । [5]स्वरूपपरिमाणमपि [6]तद्गतमीश्वरेण परिच्छिद्येतेति । पुरुषगता च महासंख्या । ततश्चेयत्तापरिच्छिन्नानां मध्ये ये संसारिणः संसारान्मुच्यन्ते तेषां संसारोऽन्तवान्संसारित्वं च तेषामन्तवत् । एवमितरेष्वपि क्रमेण मुच्यमानेषु संसारस्य संसारिणां चान्तवत्त्वं स्यात् । प्रधानं च सविकारं [7]पुरुषार्थ-

---

एवमीश्वरस्य शुष्कतर्केण कर्तृत्वनिर्णयो नेत्युपपाद्य नित्यत्वसर्वज्ञत्वनिर्णयोऽपि न संभवतीत्याह सूत्रकारः—अन्तवत्त्वमिति । प्रधानपुरुषेश्वरत्रयमनित्यं, इयत्तापरिच्छिन्नत्वात् घटवदित्याह—पूर्वस्मिन्निति । संख्या वा परिमाणं वेयत्ता । तया च निश्चितसंख्यत्वान्निश्चितपरिमाणत्वाच्चेति हेतुद्वयम् । यद्यपि संख्यावत्त्वमात्रं हेतुः संभवति तथापि सर्वज्ञत्वनिश्चयेन हेत्वसिद्धिनिरासं द्योतयितुं निश्चितपदम् । तत्राद्यहेतोरसिद्धिर्नास्तीत्याह—संख्यापरिमाणमिति । संख्यास्वरूपमित्यर्थः । द्वितीयहेतुं साधयति—स्वरूपेति । प्रधानादयो निश्चितपरिमाणाः, वस्तुनो भिन्नत्वात्, घटवदित्यर्थः । ननु प्रधानपुरुषेश्वरास्त्रय इति ज्ञातेऽपि जीवानामानन्त्यात्कथं संख्यानिश्चयः, तत्राह—पुरुषेति । जीवसंख्यापीश्वरेण निश्चीयते । अनिश्चये सर्वज्ञत्वायोगादित्यर्थः । हेतुसिद्धेः फलमाह—ततश्चेति । मापराशिवत्केषांचिज्जीवानां संगस्तद्बन्धश्च नश्येदित्येवं सर्वमुक्तेरिदानीं शून्यं जगत्स्यादित्यर्थः । नित्यस्यानवशेषादिति भावः । ननु ईश्वरः शिष्यतामिति चेत् । न । तस्यापि [8]भिन्नत्वेनान्तवत्त्वात् । किंचेशितव्याभावादीश्वराभावः स्यादित्याह—प्रधान

को सर्वज्ञ और अनन्त कहा है; वैसे ही प्रधान अनन्त है और जीवात्मा भी अनन्त है, साथ ही इन्हें परस्पर भिन्न भी मानते हैं। वहाँ एक प्रश्न होता है कि सर्वज्ञ ईश्वर प्रधान, पुरुष और अपनी इयत्ता को जानता है या नहीं दोनों ही पक्ष में दोष आते हैं। कैसे? प्रथम विकल्प में प्रधान, पुरुष एवं ईश्वर की इयत्ता परिच्छिन्न हो जाने के कारण उनमें अन्तवत्व अवश्यम्भावी है। ऐसा ही लोक में देखा गया है क्योंकि लोक में इयत्तापरिच्छिन्न जो घटादि वस्तु है वह नाशवान देखी गयी है; वैसे ही प्रधान, पुरुष ईश्वर तीनों ही इयत्तापरिच्छिन्न होने के कारण अन्तवत् हो जायेंगे। संख्यापरिमाण तो प्रधान, पुरुष एव ईश्वर तीन रूपों में परिच्छिन्न है ही, उनमें रहने वाला स्वरूपपरिमाण भी ईश्वर से जाना जायेगा। पुरुषगत महासंख्या भी ईश्वर से जानी जाती है। तब तो संख्यापरिच्छिन्न जीव में से जो जीव मुक्त हो गये उनका संसार नष्ट हो गया और उनका संसारित्व भी नष्ट हो गया। इस प्रकार क्रमशः अन्य जीवों के भी मुक्त हो जाने पर संसार और संसारी जीव का अन्त ही हो जायेगा। विकारयुक्त प्रधान जो पुरुष के भोग अपवर्ग के लिए माना गया है वह ईश्वर का अधिष्ठेय होगा जो

---

१. जीवाः । २. जीवानाम् । ३. स्वस्य । ४. परिमाणं संख्या वा । ५. प्रधानादिस्वरूपस्य परिमाणमपि । ६. प्रधानादिगतम् । ७. जीवस्य भोगापवर्गार्थम् । ८. वस्तुपरिच्छिन्नत्वात् ।

८. उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम् (सू. ४२-४५)

जीवोत्पत्त्यादिकं पाञ्चरात्रोक्तं युज्यते न वा ।। युक्तं नारायणव्यूहतत्समाराधनादिवत् ।
युज्यतामविरुद्धोंऽशो जीवोत्पत्तिर्न युज्यते ।। उत्पन्नस्य विनाशित्वे कृतनाशादिदोषतः ।।

मीश्वरस्याधिष्ठेयं संसारित्वेनाभिमतं तच्छून्यतायामीश्वरः किमधितिष्ठेत् । किंविषये वा सर्वज्ञतेश्वरते स्याताम् । प्रधानपुरुषेश्वराणां चैवमन्तवत्त्वे सत्यादिमत्त्वप्रसङ्गः । आद्यन्तवत्त्वे च शून्यवादप्रसङ्गः । अथ मा भूदेष दोष इत्युत्तरो विकल्पोऽभ्युपगम्येत न प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्तेश्वरेण परिच्छिद्यत इति, तत ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वाभ्युपगमहानिरपरो दोषः प्रसज्येत । तस्मादप्यसंगतस्तार्किकपरिगृहीत ईश्वरकारणवादः ।।४१।।

मिति । दोषान्तरमाह—प्रधानेति । इयत्तानिश्चयाभावान्न शून्यतेति द्वितीयं शङ्कते—अथेति । इयत्ता नास्ति न निश्चीयते चेत्यर्थः । प्रधानादयः संख्यापरिमाणवन्तः, द्रव्यत्वात्, माषादिवदित्यनुमानादस्तीयत्ता, तदज्ञाने स्यादसर्वज्ञता, इयत्तायां चान्तवत्त्वमप्यक्षतमिति परिहरति—तत इति । तस्मात् केवलकर्त्रीश्वरवादस्य निर्मूलत्वान्न कर्त्रुपादानाद्वयेश्वरसमन्वयविरोध इति सिद्धम् ।।४१।।

संसारित्वेन आप को अभिमत है, उसके अभाव हो जाने पर ईश्वर किसका अधिष्ठाता होगा, किस विषय को लेकर वह सर्वज्ञ और ईश्वर माना जायेगा । प्रधान, पुरुष और ईश्वर को इस प्रकार अन्तवत मानने पर उनमें आदिमत्व का भी प्रसङ्ग आयेगा । इन दोषों से बचने के लिए दूसरा विकल्प स्वीकार करेंगे तो ईश्वर में ईश्वरत्व नहीं रह जायेगा क्योंकि ईश्वर प्रधान, पुरुष और अपनी इयत्ता को जानता नहीं है । ऐसी स्थिति में, उसमें सर्वज्ञत्व को स्वीकारोक्ति भी उचित नहीं होगी, यह दूसरा दोष भी आयेगा । अतः तार्किकों को अभिमत ईश्वरकारणवाद भी असङ्गत ही है ।।४१।।

८. उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण

१. **सङ्गति**—पिछले अधिकरण में तटस्थ ईश्वरकारणवाद का निराकरण किया गया, अब अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद भागवत सिद्धान्त पर विचार किया जायेगा; अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की प्रत्युदाहरण सङ्गति है।

२. **विषय**—पाञ्चरात्र सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—एक भगवान् वासुदेव जगत् का अधिष्ठाता एवं उपादान है उससे संकर्षणनामक जीव उत्पन्न हुआ, उस जीव से प्रद्युम्ननामक मन उत्पन्न हुआ और उस मन से अनिरुद्धनामक अहंकार उत्पन्न हुआ; ऐसा भागवत सिद्धान्त प्रामाणिक है अथवा अप्रामाणिक है?

४. **पूर्वपक्ष**—'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७-२६-२) इस श्रुति से परमात्मा का अनेक होना अधिगत होता है । ऐसे ही अभिगमनादिरूप अनन्यभाव से उसकी आराधना भगवत्प्राप्ति का साधन भी है । अतः भागवत सिद्धान्त प्रामाणिक है ।

५. **सिद्धान्त**—भागवत सिद्धान्त वेदविरुद्धअंश प्रामाणिक मान भी लिया जाय फिर भी जीवोत्पत्तिअंश में वेदविरुद्ध होने के कारण प्रामाणिक नहीं है क्योंकि उत्पन्न होने वाला पदार्थ विनाशी होता है । अतः जीव को उत्पत्तिशील मानने पर कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष भी आयेंगे, इसलिए भागवत मत प्रामाणिक नहीं हैं।

(२१३) उत्पत्त्यसम्भवात् ॥४२॥

येषामप्रकृतिरधिष्ठाता केवलनिमित्तकारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यातः । येषां पुनः प्रकृतिश्चाधिष्ठाता चोभयात्मकं कारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यायते ।

ननु श्रुतिसमाश्रयणेनाप्येवंरूप एवेश्वरः प्राङ्निर्धारितः प्रकृतिश्चाधिष्ठाता चेति । श्रुत्यनुसारिणी च स्मृतिः प्रमाणमिति स्थितिः । तत्कस्य हेतोरेष पक्षः प्रत्याचिख्यासित इति । उच्यते—यद्यप्येवंजातीयकोंऽशः समानत्वान्न विसंवादगोचरो भवत्यस्ति त्वंशान्तरं विसंवादस्थानमित्यतस्तत्प्रत्याख्यानायारम्भः । तत्र भागवता मन्यन्ते—भगवानेवैको वासुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्त्वं, स चतुर्धात्मानं प्रविभज्य प्रतिष्ठितो वासुदेवव्यूहरूपेण संकर्षणव्यूहरूपेण प्रद्युम्नव्यूहरूपेणानिरुद्धव्यूहरूपेण च । वासुदेवो नाम परमात्मोच्यते । संकर्षणो नाम जीवः । प्रद्युम्नो नाम मनः । अनिरुद्धो नामाहंकारः । तेषां वासुदेवः परा प्रकृतिरितरे संकर्षणादयः कार्यम् । तमित्थंभूतं परमेश्वरं भगवन्त-

---

पञ्चपदार्थवादिमाहेश्वरमतनिरासानन्तरं चतुर्व्यूहवादं बुद्धिस्थं निरस्यति—उत्पत्त्यसंभवादिति । अधिकरणतात्पर्यमाह—येषामिति । अधिकरणारम्भमाक्षिपति—नन्विति । वेदाविरुद्धांशमङ्गीकृत्य वेदविरुद्धं जीवोत्पत्त्याद्यंशं निराकर्तुमधिकरणारम्भ इत्याह—उच्यत इति । अत्र भागवतपञ्चरात्रागमो विषयः । स किं जीवोत्पत्त्याद्यंशे मानं न वेति संदेहे बाधानुपलम्भान्मानमिति पूर्वपक्षयति—तत्रेति । पूर्वपक्षे तदागमविरोधाज्जीवाभिन्नब्रह्मसमन्वयासिद्धिः, सिद्धान्ते तदंशे तस्यामानत्वादविरोधात्तत्सिद्धिरिति फलभेदः । सावयवत्वं निरस्यति—निरञ्जनेति । कथं तर्ह्यद्वितीये वासुदेवे मूर्तिभेदः, तत्राह—स इति । व्यूहो मूर्तिः । सविशेषं शास्त्रार्थमुक्त्वा सहेतुं पुरुषार्थमाह—तमित्थम्भूतमिति ।

उत्पत्त्यसम्भवात् (ललिता)

जिनके मत में ईश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं, अपितु केवल निमित्त कारण, अधिष्ठाता है, उनके पक्ष का निराकरण पिछले अधिकरण में किया गया; किन्तु जिन्हें ईश्वर उपादान एवं निमित्त उभय कारण अभिमत है, उनके पक्ष का निराकरण अब किया जाता है।

शङ्का—श्रुति का आश्रय लेकर आप ने भी पहले जगत् का अभिन्न निमित्त-उपादान कारण ईश्वर को निर्धारण किया है, ऐसी श्रुति का अनुसरण करने वाली स्मृति प्रमाण मानी जाती है, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। फिर इस पक्ष का खण्डन करना आप को कैसे इष्ट हो गया? समाधान—यद्यपि अभिन्न निमित्त-उपादानकारणत्व अंश केवलाद्वैत सिद्धान्त से समानता रखने के कारण विवाद का विषय नहीं है किन्तु दूसरा अंश विवादास्पद है, उस अंश का खण्डन करने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है। उसमें भागवत पाञ्चरात्र आगम वाले मानते हैं कि केवल भगवान् वासुदेव ही निरञ्जन, ज्ञानस्वरूप परमार्थतत्त्व हैं, वे अपने को चार भागों में विभक्त कर प्रतिष्ठित हैं एक वासुदेव मूर्तिरूप, दूसरा संकर्षण मूर्तिरूप, तीसरा प्रद्युम्न मूर्तिरूप और चौथा अनिरुद्ध मूर्तिरूप । वासुदेव का अर्थ परमात्मा करते हैं; संकर्षण जीव, प्रद्युम्न मन और अनिरुद्ध अहंकार उन्हें मान्य है। उनमें भी वासुदेव को वे पराप्रकृति कहते हैं और अन्य संकर्षणादि कार्य हैं। ऐसे परमेश्वर का अभिगमन, उपा-

---

१. निमित्तं च । २. मूर्तिः । ३. पञ्चरात्रेति नारद प्रणीतागमस्य संज्ञा । ४. जीवोत्पत्त्याद्यंशे ।

मभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगैर्वर्षशतमिष्ट्वा क्षीणक्लेशो भगवन्तमेव प्रतिपद्यत इति। तत्र यत्तावदुच्यते योऽसौ नारायणः परोऽव्यक्तात्प्रसिद्धः परमात्मा सर्वात्मा स आत्मनात्मानमनेकधा व्यूह्यावस्थित इति, तन्न निराक्रियते, 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७-२६-२) इत्यादिश्रुतिभ्यः परमात्मनोऽनेकधा भावस्याधिगतत्वात्। यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्रमनन्यचित्ततयाभिप्रेयते, तदपि न प्रतिषिध्यते। श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात्। यत्पुनरिदमुच्यते वासुदेवात्संकर्षण उत्पद्यते संकर्षणाच्च प्रद्युम्नः प्रद्युम्नाच्चानिरुद्ध इति। अत्र ब्रूमः—'न वासुदेवसंज्ञकात्परमात्मनः संकर्षणसंज्ञकस्य जीवस्योत्पत्तिः सम्भवति। अनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात्। उत्पत्तिमत्त्वे हि जीवस्यानित्यत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन्। ततश्च नैवास्य भगवत्प्राप्तिर्मोक्षः स्यात्। कारणप्राप्तौ कार्यस्य प्रविलयप्रसङ्गात्। प्रतिषेधिष्यति चाचार्यो जीवस्योत्पत्तिम्—नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (ब्र० सू० २-३-१७) इति। तस्मादसंगतैषा कल्पना ॥४२॥

यथोक्तव्यूहवन्तं सर्वप्रकृतिं निरञ्जनं विज्ञानरूपं परमात्मानमिति यावत्। वाक्कायचेतसामवधानपूर्वकं देवतागृहगमनमभिगमनम्। पूजाद्रव्याणामर्जनमुपादानम्। इज्या पूजा। स्वाध्यायोऽष्टाक्षरादिजपः। योगो ध्यानम्। तत्राविरुद्धांशमुपादत्ते—तत्रेति। 'समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वा' इति, 'तं यथा यथोपासते' इत्याद्या च श्रुतिः। 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' इत्याद्या स्मृतिः। विरुद्धांशमनूद्य दूषयति—यत्पुनरिति। कृतहान्यादिदोष आदिशब्दार्थः। न्यायोपेतया 'अज आत्मा' इत्यादिश्रुत्या पञ्चरात्रागमस्योत्पत्त्यंशे मानत्वाभावनिश्चयाज्जीवाभिन्नब्रह्मसमन्वयस्थैर्यमिति भावः ॥४२॥

दान,इज्या, स्वाध्याय और योग-रूप साधना द्वारा सौ वर्ष तक पूजनकर क्षीण क्लेश साधक भगवान् को ही प्राप्त करता है। मन, वाणी, शरीर को स्वाधीन बनाकर देवमन्दिर में जाना अभिगमन है; पूजाद्रव्य का अर्जन उपादान है; पूजा को इज्या कहते हैं; अष्टाक्षरादि मन्त्र जाप को स्वाध्याय कहते हैं और ध्यान को योग कहते हैं। उनमें उन्होंने जो अव्यक्त से परे प्रसिद्ध नारायण को परमात्मा कहा है, वह सर्वात्मा है, वह स्वयं ही अपने आप को अनेक रूप से विभक्तकर स्थित है; इस अंश का निराकरण हम नहीं करते हैं क्योंकि 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' इत्यादि श्रुतियों से परमात्मा अनेक रूपों में विभक्त जाना जाता है। उस भगवान् का अभिगमनादिरूप आराधन भी निषिद्ध नहीं है, वह तो अनन्यचित्त से निरन्तर अभिप्रेत ही है, उसका भी निषेध करना हमें इष्ट नहीं है क्योंकि श्रुति स्मृति में ईश्वरप्रणिधान प्रसिद्ध ही है। ये दोनों ही अंश श्रुति-स्मृति से अविरुद्ध हैं जो हमें भी मान्य है। पर पञ्चरात्र आगम वाले यह जो कहते हैं कि वासुदेव से संकर्षण उत्पन्न होता है संकर्षण से प्रद्युम्न और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध उत्पन्न होता है; इस सम्बन्ध में हम कहते हैं कि वासुदेव-नामक परमात्मा से संकर्षणनामक जीवात्मा की उत्पत्ति सम्भव नहीं है क्योंकि जीव की उत्पत्ति मानने पर उसमें अनित्यत्व, कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष भी आने लग जायेंगे; फिर तो उस जीव को भगवत्प्राप्तिरूप मोक्ष नहीं मिलेगा, कारण की प्राप्ति में कार्य के विलय का प्रसङ्ग भी आने लगेगा। साथ ही, आचार्य बादरायण ने जीवोत्पत्ति का निषेध भी किया है; उन्होंने कहा है 'जीव उत्पन्न नहीं होता क्योंकि जीव की उत्पत्ति कहीं सुनी नहीं जाती है और श्रुति से जीव नित्य भी जाना गया है।' अतः यह जीवोत्पत्ति की उनकी कल्पना असङ्गत ही है ॥४२॥

(२१४) नच कर्तुः करणम् ॥४३॥

(२१५) विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥४४॥

इतश्चासंगतैषा कल्पना। यस्मान्न हि लोके कर्तुर्देवदत्तादेः करणं परश्वाद्युत्पद्यमानं दृश्यते। वर्णयन्ति च भागवताः कर्तुर्जीवात्संकर्षणसंज्ञकात्करणं मनः प्रद्युम्नसंज्ञकमुत्पद्यते। कर्तृजाच्च तस्मादनिरुद्धसंज्ञकोऽहंकार उत्पद्यत इति न चैतद्दृष्टान्तमन्तरेणाध्यवसातुं शक्नुमः। न चैवंभूतां श्रुतिमुपलभामहे ॥४३॥

अथापि स्यान्न चैते संकर्षणादयो जीवादिभावेनाभिप्रेयन्ते किं तर्हीश्वरा एवैते सर्वे ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिरैश्वर्यधर्मैरन्विता अभ्युपगम्यन्ते वासुदेवा एवैते सर्वे निर्दोषा निरधिष्ठाना निरवद्याश्चेति। तस्मान्नायं यथावर्णित उत्पत्त्यसम्भवो दोषः प्राप्नोतीति। अत्रोच्यते—एवमपि तदप्रतिषेध उत्पत्त्यसम्भवस्याप्रतिषेधः प्राप्नोत्येवायमुत्पत्त्यसम्भवो दोषः

जीवस्योत्पत्तिं निरस्य जीवान्मनस उत्पत्तिं निरस्यति—नच कर्तुरिति। यस्मात् कर्तुः करणोत्पत्तिर्न दृश्यते तस्मादसंगता कल्पनेत्यन्वयः। सिद्धान्तं करणानां प्रयोक्ता कर्तेति प्रसिद्ध्यर्थो हिशब्दः। वर्णनं निर्मूलमित्याह—नचेति। ननु लोके कश्चिच्छिल्पिवरः कुठारं निर्माय तेन वृक्षं छिनत्तीति दृष्टमिति चेत्। सत्यम्। शिल्पिनो हस्तादिकरणान्तरसत्त्वात्कुठारकर्तृत्वं युक्तं, जीवस्य तु करणान्तरासत्त्वान्न मनसः कर्तृत्वम्। विनैव करणं कर्तृत्वे वा मनोवैयर्थ्यमिति भावः ॥ ४३ ॥

संकर्षणादीनामुत्पत्त्यसंभवेऽपि व्यूहचतुष्टयं स्यादिति सूत्रव्यावर्त्यमाशङ्कते—अथापि स्यादिति। ज्ञानैश्वर्ययोः शक्तिरान्तरं सामर्थ्यं, बलं शरीरसामर्थ्यं, वीर्यं शौर्यं, तेजः प्रागल्भ्यमेतैरन्विता यस्मात् संकर्षणादयस्तस्मादीश्वरा एवेत्यर्थः। सर्वेषामीश्वरत्वे पञ्चरात्रोक्तिमाह—वासुदेवा एवेति। निर्दोषा रागादिशून्याः। निरधिष्ठानाः प्रकृत्यजन्याः। निरवद्या नाशादिरहिता इत्यर्थः। ईश्वरत्वाज्जन्मासंभवो गुण एवेत्याह—तस्मादिति। सूत्रेण सिद्धान्तयति—अत्रेति। एवमपि। चतुर्णामीश्वरत्वेन

नच कर्तुः करणम् (ललिता)

जीव से मन की उत्पत्तिकल्पना भी प्रमाण सिद्ध न होने के कारण असङ्गत है क्योंकि लोक में कर्ता देवदत्त से कुठारादि करण उत्पन्न होते नहीं देखे जाते हैं। पर पञ्चरात्र आगम वाले भागवत संकर्षणनामक कर्ता-जीव से प्रद्युम्ननामक मनरूप करण की उत्पत्ति मानते हैं और कर्तृ-जन्य उस प्रद्युम्न से अनिरुद्धनामक अहंकार उत्पन्न होता है, ऐसा कहते है। किन्तु दृष्टान्त के बिना ऐसा निश्चय हम नहीं कर सकते हैं और न ऐसी श्रुति ही हम देखते हैं ॥४३॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः (ललिता)

पूर्वपक्ष—(उन्होंने ऐसी भी कहा है कि) ये संकर्षणादि जीवादिरूप से हमें अभिप्रेत नहीं है; किन्तु ये ईश्वर ही हैं और ये सभी ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य एवं तेजरूप ऐश्वरधर्म से युक्त माने जाते हैं। ज्ञान और ऐश्वर्य का आन्तर सामर्थ्य शक्ति है, शरीर सामर्थ्य बल है, शौर्य को वीर्य और प्रागल्भ्य को तेज कहते हैं; इनसे युक्त होने के कारण संकर्षणादि ईश्वर ही हैं। ये सभी वासुदेव हैं; सभी निर्दोष, निरधिष्ठान और निरवद्य हैं। ऐसा मानने पर यथावर्णित उत्पत्त्यसंभव दोष पञ्चरात्र आगम में नहीं आता है। सिद्धान्त—इस पर हम कहते हैं कि ऐसा मानने पर भी उत्पत्त्यसम्भव दोष का प्रतिषेध नहीं

(२१६) विप्रतिषेधाच्च ॥४५॥

प्रकारान्तरेणेत्यभिप्रायः। कथम्? यदि तावदयमभिप्रायः परस्परभिन्ना एवैते वासुदेवादयश्चत्वार ईश्वरास्तुल्यधर्माणो नैषामेकात्मकत्वमस्तीति, ततोऽनेकेश्वरकल्पनानर्थक्यमेकेनैवेश्वरेणेश्वरकार्यसिद्धेः। सिद्धान्तहानिश्च। भगवानेवैको वासुदेवः परमार्थतत्त्वमित्यभ्युपगमात्। अथायमभिप्रायः एकस्यैव भगवत एते चत्वारो [1]व्यूहास्तुल्यधर्माण इति, तथापि तदवस्थ एवोत्पत्त्यसम्भवः। नहि वासुदेवात्संकर्षणस्योत्पत्तिः सम्भवति संकर्षणाच्च प्रद्युम्नस्य प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धस्यातिशयाभावात्। भवितव्यं हि कार्यकारणयोरतिशयेन यथा मृद्घटयोः। न ह्यसत्यतिशये कार्यं कारणमित्यवकल्पते। नच पञ्चरात्रसिद्धान्तिभिर्वासुदेवादिष्वेकैकस्मिन्सर्वेषु वा ज्ञानैश्वर्यादितारतम्यकृतः कश्चिद्भेदोऽभ्युपगम्यते। वासुदेवा एव हि सर्वे व्यूहा निर्विशेषा इष्यन्ते। न चैते भगवद्व्यूहाश्चतुःसंख्यायामेवावतिष्ठेरन्, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य समस्तस्यैव जगतो भगवद्व्यूहत्वावगमात् ॥४४॥

[2]विप्रतिषेधश्च[3]ास्मिञ्छास्त्रे बहुविध उपलभ्यते गुणगुणित्वकल्पनादिलक्षणः। ज्ञानैश्वर्य-

---

विज्ञानशक्त्यादिभावेऽपीत्यर्थः। प्रकारान्तरं पृच्छति—कथमिति। किं चत्वारः स्वतन्त्रा भिन्ना एव उतैकस्य विकारत्वेनाभिन्नाः? आद्यमनूद्य दूषयति—यदीत्यादिना। द्वितीये विकाराः प्रकृतितुल्या वा। न्यूना वा आद्यमुत्थाप्य निषेधति—अथेत्यादिना। न्यूनत्वपक्षेऽपसिद्धान्तमाह—नच पञ्चेति। यदि न्यूना अपि भगवतो व्यूहास्तदा चतुष्ट्वव्याघात इत्याह—नचैत इति ॥ ४४ ॥

इतश्च जीवोत्पत्तिवाद उपेक्ष्य इत्याह सूत्रकारः—विप्रतिषेधाच्चेति। स्वस्यैव गुणत्वं गुणित्वं च

होता है, यह उत्पत्त्यसम्भव दोष प्रकारान्तर से आता ही है। कैसे? यदि ये चारों स्वतन्त्र और परस्पर भिन्न हैं, ये सभी तुल्य धर्म वाले ईश्वर ही हैं तो इनका एकात्मकत्व नहीं हो सकता, फिर अनेक-ईश्वरकल्पना अनर्थक ही होगी। एक ही ईश्वर से ईश्वर का कार्य सिद्ध हो जायेगा, फिर भला अनेक ईश्वर मानना व्यर्थ ही तो होगा। साथ ही, भगवान् वासुदेव एक परमार्थतत्त्व हैं, ऐसा सिद्धान्त जो आप ने माना था उसकी हानि भी होगी। पूर्वपक्ष—यहाँ पर हमारा अभिप्राय यह है कि एक ही भगवान् की ये तुल्यधर्मवाली चार मूर्तियाँ हैं, इसलिए आप का दिया हुआ पूर्वोक्त दोष पञ्चरात्र आगम में नहीं आता है। सिद्धान्त—फिर भी उत्पत्त्यसम्भव दोष तो विद्यमान ही है क्योंकि वासुदेव से संकर्षण की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, न संकर्षण से प्रद्युम्न की और न प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की ही उत्पत्ति सम्भव है क्योंकि इनमें कोई अतिशय तो है नहीं। जैसे मृत्तिका और घट में अतिशय के कारण कार्य-कारण भाव माना गया है वैसा वासुदेव और संकर्षणादि में अतिशय न होने से कार्य-कारणभाव नहीं कह सकते। पञ्चरात्र सिद्धान्ती वासुदेवादि में से एक-एक में अथवा सभी में ज्ञान, ऐश्वर्यादि के तारतम्य के कारण कोई भेद तो मानते नहीं, प्रत्युत वे कहते हैं कि ये सभी मूर्तियाँ निर्विशेष वासुदेव स्वरूप ही हमें इष्ट हैं। यहाँ पर हमारा कहना है की भगवान् की चार ही मूर्तियाँ क्यों मानते हो, ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त जगत् भगवत्स्वरूप ही तो है, फिर भला चार संख्या का आग्रह क्यों करते हो ॥४४॥

विप्रतिषेधाच्च (ललिता)

इस पञ्चरात्र आगम में अनेक प्रकार से विप्रतिषेध भी देखा जाताहै, वे इन चारों में गुण-गुणी भाव

---

१. मूर्तयः। २. विरोधश्च। ३. ये चतुर्व्यूहवादिशास्त्रे।

शक्तिबलवीर्यतेजांसि गुणाः, आत्मान एवैते भगवन्तो वासुदेवा इत्यादिदर्शनात्। वेदविप्रतिषेधश्च भवति। चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवानित्यादिवेदनिन्दादर्शनात्। तस्मादसंगतैषा कल्पनेति सिद्धम्॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ
द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥२॥

विरुद्धम्। आदिपदात् प्रद्युम्नानिरुद्धौ भिन्नावात्मन ईत्युक्त्वात्मान एवैते इति विरुद्धोक्तिग्रहः। पूर्वापरविरोधादसांगत्यमिति सूत्रार्थमुक्त्वार्थान्तरमाह—वेदेति। एकस्यापि तन्त्राक्षरस्याध्येता चतुर्वेदिभ्योऽधिक इति निन्दाविपदार्थः। तस्मान्मिथो विरुद्धाभिः पौरुषेयकल्पनाभिर्नापौरुषेयवेदान्तसमन्वयविरोध इति सिद्धम्॥४५॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ
श्रीमच्छारीरकमीमांसाव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां
द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥२॥

की कल्पना करते हैं। वे ज्ञान,ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य एवं तेज को गुण मानते हैं और इन्हें वासुदेवस्वरूप भी मानते हैं। अतः गुणगुणीभाव कल्पना इस आगम में विरुद्ध देखी जाती है। वेद का विरोध भी इस पञ्चरात्र आगम में देखा जाता है, वहाँ पर कहा है कि चारों वेदों में मोक्ष का साधन न देखकर शाण्डिल्य ऋषि ने इस पञ्चरात्र आगम को बनाया, ऐसी वेदनिन्दा देखी जाती है। अतः पञ्चरात्र आगम की यह कल्पना असङ्गत ही है। इसलिए परस्परविरुद्ध पौरुषेय कल्पनाओं से अपौरुषेय वेदान्तसमन्वय का विरोध नहीं आता है, यह सिद्ध हुआ॥४५॥

द्वितीयाध्याय द्वितीयपाद समाप्तः
इस प्रकार ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य द्वितीयाध्याय द्वितीय पाद की
श्रीकैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज
द्वारा रचित ललिता व्याख्या पूर्ण हुई।



द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः

१. वियदधिकरणम् (सू.१-७)

(२१७) न वियदश्रुतेः ॥१॥

व्योम नित्यं जायते वा हेतुत्रयविवर्जनात् ॥ जनिश्रुतेश्च गौणत्वान्नित्यं व्योम न जायते ॥
एकज्ञानात्सर्वबुद्धेर्विभक्तत्वाज्जनिश्रुतेः ॥ विवर्ते कारणैकत्वाद्ब्रह्मणो व्योम जायते ॥

वेदान्तेषुतत्र तत्र [1]भिन्नप्रस्थाना उत्पत्तिश्रुतय उपलभ्यन्ते । केचिदाकाशस्योत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न । तथा केचिद्वायोरुत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न । एवं जीवस्य प्राणानां च ।

वियदादिविधातारं सीतास्याब्जमधुव्रतम् ।
नित्यचिद्विश्वकर्त्रात्माभिन्नं सर्वेश्वरं भजे ॥

जीवस्यानुत्पत्तिप्रसङ्गेनाकाशस्याप्युत्पत्त्यसंभवमाशङ्क्य परिहरन्नादावेकदेशिमतमाह—न वियदश्रुतेः । वियत्प्राणपादयोरर्थं संक्षिपन् पूर्वपादेन संगतिमाह—वेदान्तेष्विति । भिन्नोपक्रमत्वमेवाह—केचिदित्यादिना । भूतभोक्तृश्रुतीनां मिथोविरोधशङ्कानिरासो वियत्पादार्थः । लिङ्गशरीरश्रुतीनां

द्वितीयाध्याये तृतीयपादः ।

१. वियदधिकरण

१. संगति—पाद भिन्न होने के कारण पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की संगति बतलाना अपेक्षित नहीं है ।

२. विषय—सृष्टिश्रुति में अविरोध बतलाने के लिए सर्वप्रथम इस अधिकरण में आकाश पर विचार किया जाता है ।

३. संशय—आकाश उत्पन्न होता है या नित्य है ।

४. पूर्वपक्ष—समवायी, असमवायी एवं निमित्त कारण के न होने से आकाश उत्पन्न नहीं होता तथा आकाश उत्पत्ति श्रुति गौण भी है । अतः आकाश नित्य है ।

५. सिद्धान्त—एक ज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा, कार्यजगत् के विभाग और आकाश की उत्पत्तिश्रुति को देखते हुए ब्रह्म से आकाश की उत्पत्ति मानना ही उचित है, उसे नित्य कहना ठीक नहीं है । साथ ही, विवर्तवाद में समवायी, असमवायी एवं निमित्त कारणत्रय की अपेक्षा नहीं होती, वहाँ एक ही कारण से सम्पूर्ण कार्य की उत्पत्ति सिद्धान्तसम्मत है ।

न वियदश्रुतेः (ललिता)

वियत् पाद और प्राण पाद का तात्पर्य बतलाते हुए पूर्वपाद के साथ उसकी संगति भाष्यकार कहते हैं कि श्रुतियों में स्थल-स्थल पर उत्पत्ति श्रुतियाँ भिन्न प्रकार की देखा जाता हैं । कुछ श्रुति आकाश की उत्पत्ति कहती है और कुछ नहीं कहती है । वैसे ही कुछ वायु की उत्पत्ति बतलाती है और कुछ नहीं बतलाती है । इसी प्रकार जीवात्मा एवं प्राणों के सम्बन्ध में भी श्रुतियों का वैमत्य

---

१. भिन्नोपक्रमाः ।

एवमेव क्रमादिद्वारकोऽपि [1]विप्रतिषेधः श्रुत्यन्तरेषूपलक्ष्यते । विप्रतिषेधाच्च परपक्षाणामनपेक्षितत्वं स्थापितं, तद्वत्स्वपक्षस्यापि विप्रतिषेधादेवानपेक्षितत्वमाशङ्क्येतेत्यतः सर्ववेदान्तगतसृष्टिश्रुत्यर्थनिर्मलत्वाय परः प्रपञ्च आरभ्यते । [2]तदर्थनिर्मलत्वे च फलं यथोक्ताशङ्कानिवृत्तिरेव ।

तत्र प्रथमं तावदाकाशमाश्रित्य चिन्त्यते किमस्याकाशस्योत्पत्तिरस्त्युत नास्तीति । तत्र तावत्प्रतिपाद्यते—'न वियदश्रुतेः' इति । न खल्वाकाशमुत्पद्यते । कस्मात् ? अश्रुतेः । न ह्यस्योत्पत्तिप्रकरणे श्रवणमस्ति । छान्दोग्ये हि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६-२-१) इति सच्छब्दवाच्यं ब्रह्म प्रकृत्य 'तदैक्षत', तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६-२-३) इति च पञ्चानां महाभूतानां मध्यमं तेज आदि कृत्वा त्रयाणां तेजोबन्ना-

---

तन्निरासः प्राणपादार्थः । यथा मिथोविरोधात पूर्वापरविरोधाच्च परपक्षा उपेक्ष्यास्तथा श्रुतिपक्षोऽपि उपेक्ष्य इति शङ्कोत्थाने पादद्वयस्यारम्भात् पूर्वपादेन दृष्टान्तसंगतिरिति समुदायार्थः । आकाशवाय्वोरुत्पत्तिमामनन्ति तैत्तिरीयकाः । नामनन्ति छन्दोगाः । जीवस्य प्राणानां चोत्पत्तिं 'सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति' इति वाजिनः । 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्याथर्वणिकाश्चामनन्ति नान्ये । एवमाकाशपूर्विका क्वचित्सृष्टिः, क्वचित्तेजः पूर्विकेति क्रमविरोधः । आदिपदात् 'स इमांल्लोकानसृजत' इत्यक्रमः, क्वचित्सप्त प्राणाः, क्वचिदष्टावित्यादिसंख्याद्वारकश्च विरोधो ग्राह्यः । प्रपञ्चः पादद्वयम् । तथाच पादद्वयस्य श्रुतीनां मिथोविरोधनिरासार्थत्वात् श्रुतिशास्त्राध्यायसंगतयः सिद्धाः ।

अत्राकाशस्योत्पत्त्यनुत्पत्तिश्रुत्योर्मिथोविरोधोऽस्ति न वेति वाक्यभेदैकवाक्यत्वाभ्यां संदेहे यद्युत्पत्तिस्तदा वाक्यभेदेन विरोधादप्रामाण्यमनयोः श्रुत्योरिति पूर्वपक्षयिष्यन्नादावनुत्पत्तिपक्षमेकदेशी गृह्णातीत्याह—तत्र तावदिति । उत्पत्तिश्रुतिर्मुख्या नास्तीति गूढाभिसंधिः ॥१॥

देखा जाता है । ऐसे ही क्रमादि के कारण भी श्रुतियों में विरोध लक्षित होता है और पिछले अधिकरण में परस्पर विरोध के कारण परपक्षों को आप ने अनपेक्षित कहा है । वैसे ही, विप्रतिषेध के कारण ही स्वपक्ष में भी अनपेक्षितत्व की आशङ्का हो सकती है । अतः सभी वेदान्तवाक्यगत सृष्टि श्रुति को निर्दोष बतलाने के लिए तृतीय एवं चतुर्थ पाद प्रारम्भ किया जाता है । श्रुत्यर्थ के निर्मल सिद्ध हो जाने पर यथोक्त शङ्कानिवृत्ति ही फल बतलाया जाता है । उनमें भी आकाशादि भूतश्रुति और भोक्तृ श्रुतियों में परस्पर विरोध की आशङ्का का निरास वियत् पाद से किया जायेगा और सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी श्रुतियों के विरोध का परिहार करना चतुर्थ प्राण पाद का तात्पर्य है ।

उनमें सर्वप्रथम आकाश को लेकर विचार किया जाता है कि आकाश की उत्पत्ति श्रुति है या नहीं । उनमें वैशेषिकों के पक्ष का आलम्बन करने वाले कहते हैं कि आकाश उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उत्पत्ति प्रसंग में आकाश का श्रवण नहीं होता । छान्दोग्य में कहा है 'हे सोम्य ! उत्पत्ति से पूर्व सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्य सत् ही था ।' इस वाक्य में सच्छब्दवाच्य ब्रह्म का प्रसंग प्रारम्भकर 'उस ब्रह्म ने संकल्प किया और उसने तेज को बनाया, इस वाक्य द्वारा पञ्चमहाभूतों में से मध्यवर्ती तेज की सृष्टि प्रथम बतलाकर तेज, जल एवं पृथ्वी इन तीनों की उत्पत्ति सुनी जाती है ।

---

१. विरोधः । २. श्रुत्यर्थः ।

(२१८) अस्ति तु ॥२॥

नामुत्पत्तिः श्राव्यते । श्रुतिश्च नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ । न चात्र श्रुतिरस्त्याकाशस्योत्पत्तिप्रतिपादिनी । तस्मान्नास्त्याकाशस्योत्पत्तिरिति ॥१॥

तुशब्दः पक्षान्तरपरिग्रहे । मा नामाकाशस्य छान्दोग्ये भूदुत्पत्तिः, श्रुत्यन्तरे त्वस्ति । तैत्तिरीयका हि समामनन्ति—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति प्रकृत्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २-१) इति । ततश्च श्रुत्योर्विप्रतिषेधः क्वचित्तेजःप्रमुखा सृष्टिः क्वचिदाकाशप्रमुखेति । नन्वेकवाक्यतानयोः श्रुत्योर्युक्ता । सत्यम् । सा युक्ता न तु सावगन्तुं शक्यते । कुतः ? 'तत्तेजोऽसृजत', (छा० ६-२-३) इति सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयेन सम्बन्धानुपपत्तेः 'तत्तेजोऽसृजत', तदाकाशमसृजत इति । ननु सकृच्छ्रुतस्यापि कर्तुः कर्तव्यद्वयेन सम्बन्धो दृश्यते, यथा सूपं पक्त्वौदनं पचतीति, एवं तदाकाशं सृष्टवा तत्तेजोऽसृजतेति योजयिष्यामि । नैवं युज्यते । प्रथमजत्वं हि छान्दोग्ये तेजसोऽवगम्यते तैत्तिरीयके

संप्रति पूर्वपक्षयति सूत्रकारः—अस्ति त्विति । एकवाक्यत्वेन प्रामाण्यसंभवे किमिति श्रुत्योरप्रामाण्यमिति शङ्कते—नन्वेकवाक्यतेति । एकवाक्यत्वासंभवादप्रामाण्यं युक्तमित्याह—सत्यमित्यादिना । एकस्य युगपत्कार्यद्वयासंबन्धेऽपि क्रमेण संबन्धसंभवादेकवाक्यतेति मुख्यसिद्धान्ती शङ्कते—ननु सकृदिति । अप्रामाण्यवादो दूषयति—नैवमिति । क्रमो न युज्यते द्वयोः श्रुतप्राथम्यभङ्गापत्तेर-

---

अतीन्द्रिय अर्थ के विज्ञान की उत्पत्ति में हमारे पास श्रुति ही प्रमाण है, जब यहाँ पर आकाश की उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुति नहीं है, तो आकाश की उत्पत्ति न मानना ही उचित होगा ॥१॥

अस्ति तु (ललिता)

एकदेशी पूर्वपक्ष के कथनानन्तर अब पूर्वपक्षी के पक्षान्तरपरिग्रह के लिए सूत्र में 'तु' शब्द कहा गया है कि छान्दोग्य में चाहे आकाश की उत्पत्ति नहीं सुनी जाती है फिर भी श्रुत्यन्तर में आकाश की उत्पत्ति सुनी जाती है । तैत्तिरीय शाखा वाले 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ऐसा प्रसंग प्रारम्भकर 'उस प्रकृत आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' इस वाक्य द्वारा आकाश की उत्पत्ति कहते ही हैं । ऐसी स्थिति में दोनों श्रुतियों में परस्पर विरोध है ही; कहीं तेजप्रमुखसृष्टि और कहीं पर आकाशप्रमुखसृष्टि सुनी जाती है, फिर तो श्रुतियों में विरोध सुस्पष्ट ही भासता है । पूर्वपक्ष—इन दोनों श्रुतियों में एक वाक्यता माननी ही उचित होगी । सिद्धान्त—एकवाक्यता मानना उचित तो है किन्तु एकवाक्यता का बाध नहीं करा सकते, क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् में 'तत्तेजोऽसृजत' इस वाक्य में एक बार सुने गये स्रष्टा का स्रष्टव्य दो के साथ सम्बन्ध नहीं बनता है जिससे कि 'उस ब्रह्म ने तेज की सृष्टि की और उसने आकाश की सृष्टि की' ऐसा स्रष्टा परमात्मा का दो स्रष्टव्य के साथ सम्बन्ध बन सके । शङ्का—एक बार सुने गये कर्ता का भी दो कर्तव्य के साथ सम्बन्ध लोक में देखा जाता है, जैसे—दाल पकाकर भात पकाता है—इस वाक्य में कर्ता एक है किन्तु उसका सम्बन्ध सूप एवं ओदन दो पाक के साथ देखा जाता है । ऐसे ही, उस ब्रह्म ने आकाश की सृष्टिकर उसने तेज की सृष्टि की, ऐसी योजना हम कर लेंगे । समाधान—ऐसी योजना उचित नहीं जान पड़ती, क्योंकि छान्दोग्य में तेज की उत्पत्ति

(२१६) गौण्यसम्भवात् ॥३॥

चाकाशस्य । न चोभयोः प्रथमजत्वं सम्भवति । एतेनेतरश्रुत्यक्षरविरोधोऽपि व्याख्यातः । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २-१) इत्यत्रापि तस्मादाकाशः सम्भूतस्तस्मात्तेजः सम्भूतमिति सकृच्छ्रुतस्यापादानस्य सम्भवनस्य च वियत्तेजोभ्यां युगपत्सम्बन्धानुपपत्तेः । 'वायोरग्निः' (तै० २-१) इति च पृथगाम्नानात् ॥२॥

अस्मिन्विप्रतिषेधे कश्चिदाह—

नास्ति वियत उत्पत्तिर[1]श्रुतेरेव । या त्वितरा वियदुत्पत्तिवादिनी श्रुतिरुदाहृता सा गौणी भवितुमर्हति । कस्मात् ? असम्भवात् । नह्याकाशस्योत्पत्तिः सम्भावयितुं शक्या श्रीमत्कणभुगभिप्रायानुसारिषु जीवत्सु । ते हि कारणसामग्र्यसम्भवादाकाशस्योत्पत्तिं वारयन्ति । समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेभ्यो हि किल सर्वमुत्पद्यमानं समुत्पद्यते । द्रव्यस्य

त्यर्थः । एकस्माद्द्विदलबीजादङ्कुरद्वयवदस्तूभयं प्रथमजमित्यत आह—नचेति । **वायोरग्निरिति क्रमश्रुतिभङ्गादिति शेषः ।** छान्दोग्यश्रुतेस्तित्तिरिश्रुतिविरुद्धार्थत्वमुक्त्वा तित्तिरिश्रुतेस्तद्विरुद्धार्थत्वमाह—एतेनेति । एतत्पदार्थमाह—तस्मादिति । **छान्दोग्येऽपि श्रुतं तेजसः प्राथम्यमत्र दुर्योज्यमित्यर्थः । किञ्च सत्पदार्थ आत्मा छान्दोग्ये तेजस उपादानं श्रूयते,** अत्र तु वायुरिति नैकवाक्यतेत्याह—वायोरिति ॥२॥

एवं श्रुत्योर्विरोधादप्रामाण्यमिति पूर्वपक्षे प्राप्ते स एव वियदनुत्पत्तिवादी स्वमतेन प्रामाण्यं ब्रूत इत्याह—अस्मिन्निति । एवमाऽध्यायसमाप्तेरधिकरणेषु प्रथमं विरोधात् श्रुत्यप्रामाण्यमिति पूर्वपक्षफलं तत एकदेशिसिद्धान्तः, पश्चान्मुख्यसिद्धान्ते श्रुतीनामविरोधेनैकवाक्यतया ब्रह्मणि समन्वयसिद्धिरिति फलं क्रमश्चेत्यवगन्तव्यम् । तत्र श्रुत्योर्विरोधे सत्यध्ययनविध्युपात्तयोरप्रामाण्यायोगाद्वियदुत्पत्त्यसंभवरूपतर्कानुगृहीतच्छान्दोग्यश्रुतिर्मुख्यार्था इतरा गौणीत्यविरोध इत्येकदेशिमतं विवृणोति—नास्तीत्या-

---

प्रथम जान पड़ती है और तैत्तिरीयक में आकाश की उत्पत्ति प्रथम जानी जाती है, किन्तु दो में प्रथमत्व सम्भव नहीं है और 'वायोरग्निः' इस क्रमबोधक श्रुति का मार्ग भी रुक जायेगा। अतः उक्त रीति से भी एक स्रष्टा का दो स्रष्टव्य के साथ सम्बन्ध नहीं बनता है। इससे इतर श्रुतिवाक्यगत विरोध भी व्याख्यात हो गया। 'उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' इस वाक्य में भी **'तस्माद्वाकाशः सम्भूतः', 'तस्मात्तेजः सम्भूतम्'** इस वाक्य द्वारा एक बार सुने गये परमात्मा में अपादानत्व और सम्भवन का सम्बन्ध वियत् एवं तेज इन दोनों के साथ युगपद बनता नहीं। इसके अतिरिक्त **'वायोरग्निः'** इस वाक्य द्वारा वायु से अग्नि की उत्पत्ति पृथक् सुनी जाती है, जब कि छान्दोग्य में तेज का उपादान कारण सत्पदवाच्य परमात्मा को कहा गया है, फिर भला इन दोनों श्रुतियों की एकवाक्यता कैसे हो सकती है ॥२॥

गौण्यसम्भवात् (ललिता)

इस प्रकार परस्पर विरोध आने पर किसी एकदेशी ने कहा कि आकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि छान्दोग्य में उसकी उत्पत्ति नहीं सुनी जाती है और जो आकाश की उत्पत्ति बतलाने वाली अन्य श्रुतियों का उदाहरण आपने दिया है, वह तो गौण है क्योंकि आकाश की उत्पत्ति कणाद सिद्धान्त का अनुसरण करने वाले के जीवित रहते सिद्ध नहीं कर सकते। कणादों ने कारणसामग्री के असम्भव होने के कारण आकाश की उत्पत्ति का निषेध किया है। समवायी, असमवायी और

---

१. छांदोग्य उत्पत्तिप्रकरणे।

चैकजातीयकमनेकं च द्रव्यं समवायिकारणं भवति। न चाकाशस्यैकजातीयमनेकं च द्रव्यमारम्भकमस्ति, यस्मिन्समवायिकारणे सत्यसमवायिकारणे च तत्संयोग आकाश उत्पद्येत। तदभावात्तु तदनुग्रहप्रवृत्तं निमित्तकारणं दूरापेतमेवाकाशस्य भवति। उत्पत्तिमतां च तेजःप्रभृतीनां पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः सम्भाव्यते प्रागुत्पत्तेः प्रकाशादिकार्यं न बभूव पश्चाच्च भवतीति। आकाशस्य पुनर्न पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः सम्भावयितुं शक्यते। किं हि प्रागुत्पत्तेरनवकाशमसुषिरमच्छिद्रं बभूवेति शक्यतेऽध्यवसातुम्? पृथिव्यादिवैधर्म्याच्च विभुत्वादिलक्षणादाकाशस्याजत्वसिद्धिः। तस्माद्यथा लोक आकाशं कुर्वाकाशो जात इत्येवंजातीयको गौणः प्रयोगो भवति, यथा च घटाकाशः करकाकाशो गृहाकाश इत्ये-

दिना। आकाशो नोत्पद्यते सामग्रीशून्यत्वात्, आत्मवत्। न चाविद्याब्रह्मणोः सत्त्वाद्धेत्वसिद्धिः, विजातीयत्वेनानयोरारम्भकत्वायोगादसंयुक्तत्वाच्च। संयोग एव हि द्रव्यस्यासमवायिकारणमतः समवाय्यसमवायिनोरभावान्न हेत्वसिद्धिरित्यर्थः। प्रागभावशून्यत्वाच्चात्मवदाकाशो नोत्पद्यत इत्याह—उत्पत्तिमतां चेति। प्रकाशश्चाक्षुषानुभवः। आदिपदात्तमोध्वंसपाकयोर्ग्रहणम्। 'मूर्तद्रव्याश्रयत्वं ह्याकाशस्य कार्यं, तच्च प्रलयेऽप्यस्ति परमाण्वाश्रयत्वात्। अतो न प्रागभाव इत्यर्थः। प्रागभावासत्त्वं स्फुटयति—किं होति। स्थूलाश्रयोऽवकाशः सूक्ष्माश्रयच्छिद्रमण्वाश्रयः सुषिरमिति भेदः। किंचात्मवदाकाशो न जायते, विभुत्वात्, अस्पर्शद्रव्यत्वाच्चेत्याह—पृथिव्यादीति। तस्मादुक्ततर्कबलाद्गौणी द्रष्टव्येत्यन्वयः। भेदो-

निमित्त कारण से ही सभी उत्पद्यमान पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इनमें एक जातिवाला अनेक द्रव्य कार्य द्रव्य का समवायी कारण माना जाता है, जैसे गन्ध के आश्रय अनेक परमाणु मिलकर द्वयणुकादि क्रम से पृथ्वी को उत्पन्न करते हैं, इसलिए पृथ्वी के समवायी कारण पार्थिव परमाणु माने जाते हैं, किन्तु एकजातिवाला अनेक द्रव्य आकाश का आरम्भक नहीं है जिस समवायी कारण के रहने पर उनके असमवायी कारण संयोग हो जाने के बाद आकाश की उत्पत्ति मानी जा सके। इन दोनों कारणों का अभाव होने पर उनके ऊपर अनुग्रह के लिए प्रवृत्त आकाश का निमित्त कारण दूर ही छूट जाता है। इसके अतिरिक्त प्रागभाव का अभाव भी है, अतः प्रागभाव का अभाव रहने पर जैसे आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही आकाश की भी उत्पत्ति नहीं होती है। तेज आदि उत्पद्यमान पदार्थों के पूर्वोत्तर काल में भेद भी देखा जाता है, तेज आदि की उत्पत्ति से पूर्व प्रकाशादि कार्य नहीं होते हैं और उत्पत्ति के बाद होते हैं; किन्तु आकाश के पूर्वोत्तर काल में कोई भेद नहीं बतलाया जा सकता। क्या आकाश की उत्पत्ति से पूर्व अनवकाश, असुषिर अर्थात् अछिद्र था ऐसा कोई निश्चय कर सकता है। स्थूल आश्रय को अवकाश कहते हैं, सूक्ष्म आश्रय को छिद्र कहते हैं और अणु आश्रय को सुषिर कहते हैं। पृथिव्यादि की अपेक्षा विभुत्वादिरूप वैधर्म्य भी आकाश अजत्वसिद्धि में कारण है। अतः जैसे लोक में आकाशं कुरु, आकाशो जातः—ऐसा प्रयोग गौण माना जाता है और जैसे घटाकाशः,

१. क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च। परापरत्वमूर्तत्व क्रियावेगाश्रया अमी।

(२२०) शब्दाच्च ॥४॥

कस्याप्याकाशस्यैवंजातीयको भेदव्यपदेशो गौणो भवति, वेदेऽपि 'आरण्यानाकाशेष्वालभेरन्' इति, एवमुत्पत्तिश्रुतिरपि गौणी द्रष्टव्या ॥३॥

शब्दः खल्वाकाशस्याजत्वं ख्यापयति। यत आह—'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्' (बृ० २-३-३) इति। न ह्यमृतस्योत्पत्तिरुपपद्यते। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति चाकाशेन ब्रह्म सर्वगतत्वनित्यत्वाभ्यां धर्माभ्यामुपमिमान आकाशस्यापि तौ धर्मौ सूचयति। नच तादृशस्योत्पत्तिरुपपद्यते। 'स यथानन्तोऽयमाकाश एवमनन्त आत्मा वेदितव्यः' इति चोदाहरणम्। 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १-६-२), 'आकाश आत्मा' (तै० १-७-१) इति च। न ह्याकाशस्योत्पत्तिमत्त्वे ब्रह्मणस्तेन विशेषणं सम्भवति नीलेनेवोत्पलस्य। तस्मान्नित्यमेवाकाशेन साधारणं ब्रह्मेति गम्यते ॥४॥

स्के गौणत्वे वैदिकोदाहरणमाह—वेदेऽप्यारण्यानिति। आकाशेष्विति भेदव्यपदेशो गौण इति संबन्धः ॥३॥

न केवलं तर्कादाकाशस्यानुत्पत्तिः, किंतु श्रुतितोऽपीत्याह सूत्रकारः—शब्दाच्चेति। नित्यभावस्यानादित्वादिति भावः। आत्मेति च शब्द इहोदाहरणमित्यन्वयः। आकाशः शरीरमस्येति बहुव्रीहिणात्यन्तसाम्यभानाद्ब्रह्मवदाकाशस्यानादित्वमित्यर्थः ॥ ४ ॥

करकाकाशः, गृहाकाशः इन वाक्यों में एक ही आकाश का भेदव्यहार गौण है, ऐसे ही आकाश की उत्पत्तिश्रुति भी गौण है। इसीलिए वेद में भी 'आकाश में आरण्यक पशु का आलभन करे' इस वाक्य द्वारा आकाश में जो भेद बतलाया गया है वह गौण है, क्योंकि एक आकाश में बहुवचन का प्रयोग बनता नहीं। ठीक इसी प्रकार आकाश की उत्पत्तिश्रुति भी गौण है ॥३॥

शब्दाच्च (ललिता)

'वायु और यह अन्तरिक्ष अमृत है' ऐसा शब्द भी आकाश को अजन्मा बतलाता है, क्योंकि नित्य की उत्पत्ति नहीं होती। 'आकाश की भाँति ब्रह्म व्यापक है और नित्य है' इस वाक्य द्वारा आकाश से ब्रह्म की व्यापकता एवं नित्यता धर्म की उपमा देते हुए आकाश में भी उन दोनों धर्मों का होना सूचित करते हैं। ऐसे नित्य और व्यापक आकाश की उत्पत्ति मानना युक्तिसगत नहीं है। 'जैसे यह आकाश अनन्त है ऐसे आत्मा को भी अनन्त जानना चाहिए', 'ब्रह्म आकाश शरीरवाला और आत्मा आकाश सदृश है' इन उदाहरणों से भी आकाश की अनुत्पत्ति सिद्ध होती है, क्योंकि आकाश को उत्पत्तिशील मानोगे तो वह ब्रह्म का विशेषण नहीं बन सकेगा। समानधर्म वाले में ही उपमान-उपमेयभाव देखा गया है, जैसे नीलं उत्पलम् इस वाक्य द्वारा उत्पल का नील विशेषण समानधर्मता के कारण है, ऐसे ही ब्रह्मरूप आत्मा का विशेषण नित्यता के कारण ही आकाश हो सकेगा। अतः आकाश के समान ब्रह्म नित्य है, यह जान पड़ता है ॥४॥

(२२१) स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥५॥

इदं पदोत्तरं सूत्रम् । स्यादेतत् । कथं पुनरेकस्य सम्भूतशब्दस्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २-१) इत्यस्मिन्नधिकारे परेषु तेजःप्रभृतिष्वनुवर्तमानस्य मुख्यत्वं सम्भवत्याकाशे च गौणत्वमिति । अत उत्तरमुच्यते—स्याच्चैकस्यापि सम्भूतशब्दस्य विषयविशेषवशाद्गौणो मुख्यश्च प्रयोगो ब्रह्मशब्दवत् । यथैकस्यापि ब्रह्मशब्दस्य 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म' (तै० ३-२) इत्यस्मिन्नधिकारेऽन्नादिषु गौणः प्रयोग आनन्दे च मुख्यः । यथा च तपसि ब्रह्मविज्ञानसाधने ब्रह्मशब्दो भक्त्या प्रयुज्यतेऽञ्जसा तु विज्ञेये ब्रह्मणि तद्वत् । कथं पुनरनुत्पत्तौ नभसः 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६-२-१) इतीयं प्रतिज्ञा समर्थ्यते । ननु नभसा द्वितीयेन सद्वितीयं ब्रह्म प्राप्नोति । कथं च ब्रह्मणि विदिते सर्वं विदितं स्यादिति । तदुच्यते—एकमेवेति तावत्स्वकार्यापेक्षयोपपद्यते । यथा लोके कश्चित्कुम्भकारकुले पूर्वेद्युर्मृद्दण्डचक्रादीनि चोपलभ्यापरेद्युश्च नानाविधान्यमत्राणि प्रसारितान्युपलभ्य ब्रूयान्मृदेवैकाकिनी पूर्वेद्युरासीदिति स च तयावधारणया मृत्कार्य-

---

पदोत्तरमिति । शङ्कोत्तरमिति यावत् । तान्येव शङ्कापदानि पठति—स्यादेतदिति । अधिकारे प्रकरणे । यथैकस्मिन्ब्रह्मप्रकरणे 'अन्नं ब्रह्म', 'आनन्दो ब्रह्म' इति वाक्ययोर्ब्रह्मशब्दस्यान्ने गौणत्वमानन्दे मुख्यता तथैकवाक्यस्थस्यैकस्यापि संभूतशब्दस्य गुणमुख्यार्थभेदो योग्यताबलादित्याह—स्याच्चेति । उदाहरणान्तरमाह—यथा चेति । अभेदोपचारो भक्तिः । मुख्यसिद्धान्त्याक्षिपति—कथं पुनरिति । स एवाक्षेपद्वयं स्पष्टयति—नन्विति । अद्वितीयत्वश्रुतिबाधः सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाबाधश्चेत्यर्थः । प्रथमाक्षेपं दृष्टान्तेन परिहरति—एकमेवेति । कार्यरूपद्वितीयशून्यत्वं प्रागवस्थायामवधारणं श्रुत्यर्थ इत्यर्थः । कुले गृहे ।

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् (ललिता)

एक ही सम्भूत शब्द 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इस अधिकार में आगे कहे जाने वाले तेज आदि में अनुवृत्त होकर मुख्यार्थ कैसे हो जायेगा, और वही सम्भूत शब्द आकाश में गौणार्थक कैसे हो सकेगा, इस शङ्का के उत्तररूप में अग्रिम सूत्र कहते हैं कि—

एक भी सम्भूत शब्द विषयविशेष के कारण कहीं गौण और कहीं मुख्यभाव से प्रयुक्त हो सकता है। जैसे 'तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा करो, तप ब्रह्म है, इस अधिकार में अन्नादि अर्थ में ब्रह्म शब्द का गौण प्रयोग हुआ है और आनन्द अर्थ में ब्रह्म शब्द का मुख्य प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान के साधन तप में ब्रह्म शब्द का प्रयोग गौणीवृत्ति से होता है किन्तु विज्ञेय ब्रह्म में ब्रह्म शब्द का प्रयोग मुख्यवृत्ति से होता है, ऐसे ही सम्भूत शब्द भी आकाश में गौणार्थक है और तेज आदि में मुख्यार्थक है। शङ्का—आकाश की उत्पत्ति न मानने पर 'एकमेवाद्वितीयम्' इस प्रतिज्ञा का समर्थन कैसे होगा, उस समय आकाश रूप दूसरी वस्तु के कारण ब्रह्म सद्वितीय माना जायेगा, अद्वितीय नहीं कहा जा सकता। उस स्थिति में ब्रह्म के ज्ञात हो जाने पर सब कुछ विदित भी कैसे कहा जा सकता है। समाधान—अपने कार्य की अपेक्षा से 'एकमेवाद्वितीयम्' यह प्रतिज्ञा की गयी है। जिस प्रकार लोक में कुम्भकार के घर में किसी ने पहले दिन मृत्तिका, दण्ड और चक्रादि को देखकर दूसरे दिन चारों ओर फैले हुए मृत्तिका के अनेक पात्रों को देखकर कहता है की पहले दिन केवल मिट्टी ही थी; वह अपनी इस अवधारणा से

जातमेव पूर्वेद्युर्नासीदित्यभिप्रेयान्न दण्डचक्रादि, तद्वदद्वितीयश्रुतिरधिष्ठात्रन्तरं वारयति । यथा मृदोऽमत्रप्रकृतेः कुम्भकारोऽधिष्ठाता दृश्यते नैवं ब्रह्मणो जगत्प्रकृतेरन्योऽधिष्ठातास्तीति । नच नभसापि द्वितीयेन सद्वितीयं ब्रह्म प्रसज्यते । लक्षणान्यत्वनिमित्तं हि नानात्वम् । नच प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मनभसोर्लक्षणान्यत्वमस्ति क्षीरोदकयोरिव संसृष्टयोर्व्यापित्वामूर्तत्वादिधर्मसामान्यात् । सर्गकाले तु ब्रह्म जगदुत्पादयितुं यतते स्तिमितमितरत्तिष्ठति । तेनान्यत्वमवसीयते । तथाच 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १-६-२) इत्यादिश्रुतिभ्योऽपि ब्रह्माकाशयोरभेदोपचारसिद्धिः । अत एव च ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानसिद्धिः । अपिच सर्वं कार्यमुत्पद्यमानमाकाशेनाव्यतिरिक्तदेशकालमेवोत्पद्यते, ब्रह्मणा चाव्यतिरिक्तदेशकालमेवाकाशं भवतीति, अतो ब्रह्मणा तत्कार्येण च विज्ञातेन सहविज्ञातमेवाकाशं भवति । यथा क्षीरपूर्णे घटे कतिचिदब्बिन्दवः प्रक्षिप्ताः सन्तः क्षीरग्रहणेनैव गृहीता भवन्ति, नहि क्षीरग्रहणादब्बिन्दुग्रहणं परिशिष्यते, एवं ब्रह्मणा तत्कार्यैश्चाव्यतिरिक्तदेशकालत्वाद्गृहीतमेव ब्रह्मग्रहणेन नभो भवति । तस्माद्भाक्तं नभसः सम्भवश्रवणमिति ॥५॥

अमत्राणि घटादीनि पात्राणि । एकमेवेत्यवधारणव्यावर्त्यं कार्यमिति व्याख्यायाद्वितीयपदव्यावर्त्यमाह—अद्वितीयश्रुतिरिति । आकाशस्य द्वितीयत्वमङ्गीकृत्याद्वितीयादिपदसंकोचः कृतः, तदपि नास्तीत्याह—नच नभसापीति । धर्मसाम्ये ब्रह्मनभसोः कथं भेदः, तत्राह—सर्गकाले त्विति । धर्मसाम्यादद्वितीयत्वोपचार इत्यर्थे श्रुतिमाह—तथा चाकाशेति । द्वितीयमाक्षेपं परिहरति—अत एवेति । अभेदोपचारादेवेत्यर्थः । नभसो ब्रह्मतत्कार्याभ्यामभिन्नदेशकालत्वाच्च तज्ज्ञानेज्ञानमित्याह—अपिचेति ॥५॥

पहले दिन मृत्कार्य नहीं थे इस अभिप्राय से बोलता है, न कि दण्डादि भी नहीं थे इस अभिप्राय से । वैसे ही, सृष्टि से पूर्व जगत्कार्य की अपेक्षा से 'एकमेव' यह श्रुतिवाक्य है, इससे आकाशोत्पत्ति का निषेध नहीं होती है । अद्वितीय श्रुति भी दूसरे अधिष्ठाता का ही निषेध करती है जैसे बर्तन का उपादान कारण मृत्तिका अधिष्ठाता कुम्भकार देखा जाता है वैसा जगत् की प्रकृति ब्रह्म का अधिष्ठाता दूसरा कोई नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है । अर्थात् ब्रह्म जगत् का निमित्त एवं उपादान उभयकारण है । और आकाश ब्रह्म से भिन्न है, इस द्वैत के कारण ब्रह्म सद्वितीय नहीं हो सकता क्योंकि लक्षणभेद को लेकर भेद होता है, किन्तु उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म और आकाश में लक्षणभेद है नहीं । दूध और जल की भाँति संश्लिष्ट दोनों पदार्थों में व्यापित्व और अमूर्तत्वादि धर्म एक जैसे हो हैं किन्तु सर्गारम्भ में ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति के लिए यत्न करता है पर दूसरा आकाश यत्न न करते हुए स्थित रहता है । इसीलिए इन दोनों में भेद निश्चित होता है । अतः 'आकाश शरीरं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों से भी ब्रह्म एवं आकाश में अभेद व्यवहार की सिद्धि होती है । इसीलिए उत्पद्यमान सभी वस्तु आकाश के साथ अभिन्न देशकाल में रहता है । अतएव ब्रह्म एवं उसके कार्य विज्ञात हो जाने के साथ-साथ आकाश भी विज्ञात हो जाता है । जैसे दूध से भरे घड़े में कुछ जल के छींटे पड़ जाँय, तो वे दूध के ग्रहण से ही गृहीत हो जाते है, दूध के ग्रहण से जलविन्दु का ग्रहण शेष नहीं रह जाता । इस प्रकार ब्रह्म और उसके कार्य से देश-काल अभिन्न हैं । इसीलिए ब्रह्म के ज्ञान से आकाश भी ज्ञात हो जाता है । तात्पर्य यह है, कि आकाश की उत्पत्तिश्रुति गौण है ॥५॥

(२२२) प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥६॥

एवं प्राप्त इदमाह—

'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६-१-१) इति, 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' (बृ० ४-५-६) इति, 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुण्ड० १-१-३) इति, 'न काचन मद्बहिर्धा विद्याऽस्ति' इति चैवंरूपा प्रतिवेदान्तं प्रतिज्ञा विज्ञायते । तस्याः प्रतिज्ञाया एवमहानिरनुपरोधः स्यात्, यद्यव्यतिरेकः कृत्स्नस्य वस्तुजातस्य विज्ञेयाद्ब्रह्मणः स्यात् । व्यतिरेके हि सत्येकविज्ञानेन सर्वं विज्ञायत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत । स चाव्यतिरेक एवमुपपद्यते यदि कृत्स्नं वस्तुजातमेकस्माद्ब्रह्मण उत्पद्येत । शब्देभ्यश्च प्रकृतिविकाराव्यतिरेकन्यायेनैव प्रतिज्ञासिद्धिरवगम्यते । तथाहि—'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इति प्रतिज्ञाय मृदादिदृष्टान्तैः

एवमाकाशस्यानुत्पत्तौ सर्वश्रुतीनामविरोध इत्येकदेशिसिद्धान्तः प्राप्तस्तं मुख्यसिद्धान्ती दूषयति—प्रतिज्ञेति । अहानिरबाधः । सामयजुराथर्वणशाखाभेदज्ञापनार्था इति शब्दाः । न काचनेति । आत्मभिन्नं ज्ञेयं नास्तीत्यर्थः । ननु सर्वस्य ब्रह्माव्यतिरेकात्प्रतिज्ञाया अहानिरित्यस्तु, तथापि जीवाविवदनुत्पन्नस्यापि नभसो ब्रह्मणि कल्पितत्वेनाव्यतिरेकात्प्रतिज्ञासिद्धिः किं न स्यात्, किमुत्पत्त्येत्यत आह—शब्देभ्यश्चेति । अव्यतिरेक एव न्यायस्तेनेत्यर्थः । अयं भावः—जीवस्य तावदात्मत्वाद्ब्रह्माव्यतिरेकः । अज्ञानतत्संबन्धयोः कल्पितत्वेनाव्यतिरेकः । 'स्वतन्त्राज्ञानायोगादज्ञानान्यजडद्रव्यस्य तु कार्यत्वेनैवाव्यतिरेकसिद्धिः, तस्याकार्यत्वे प्रधानवत्स्वातन्त्र्यादव्यतिरेकायोगात् । तथाहुर्न्यायविदः—'नित्यद्रव्याणि स्वतन्त्राणि भिन्नान्यनाश्रितानि' इति । तस्मात्प्रतिज्ञासिद्धये आकाशस्य कार्यत्वेनैवाव्यतिरेको वाच्य इति दृष्टान्तसृष्टिसार्वात्म्यशब्दानाह—तथा हीति । तेन तेन दृष्टान्तेनेति । 'यजुषि

प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः (ललिता)

इस प्रकार एकदेशी सिद्धान्त आने पर मुख्य सिद्धान्ती उसका खण्डन करते हुए अग्रिम सूत्र से स्वपक्ष का स्थापना करता है—

'जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है', 'अरे आत्मा के देखने, सुनने, मनन करने और जान लेने पर यह सब कुछ विदित हो जाता है', 'हे भगवन् ! किसके जानने पर यह सम्पूर्ण जगत् विज्ञात होता है', साम, यजु एवं आथर्वण शाखाभेदज्ञान को बतलाने के लिए इन उदाहृत तीन श्रुतियों के अन्त में भाष्यकार ने 'इति' शब्द का प्रयोग किया है । आत्मभिन्न कोई वस्तु ज्ञेय नहीं है ऐसी प्रतिज्ञा सभी वेदान्तों में जानी जाती है । यदि विज्ञेय ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् को अभिन्न माना जायेगा तो उक्त प्रतिज्ञा का बाध नहीं होगा और भिन्न मानने पर एक के विज्ञान से सभी विज्ञात हो जाता है यह प्रतिज्ञा बाधित हो जायेगी । सम्पूर्ण जगत् का ब्रह्म से अभेद तभी सिद्ध हो सकता है जब सम्पूर्ण जगत् का एक ब्रह्म से उत्पन्न होना माना जाय । श्रुतिवाक्यों के द्वारा भी कार्य-कारण का अभेदन्याय से ही प्रतिज्ञा की सिद्धि होती है । 'येनाश्रुतं श्रुत भवति' ऐसी प्रतिज्ञा करके कार्य-कारण के

---

१. अबाधः । २. कार्यकारणयो र्योऽव्यतिरेकाख्योन्यायस्तेनेत्यर्थ ।

३. कल्पितत्वे बीजमाह स्वतन्त्रेति । ४. तदन्तर्गत बृहदारण्यक मैत्रेयी ब्राह्मणे ।

कार्यकारणाभेदप्रतिपादनपरैः प्रतिज्ञैषा समर्थ्यते । तत्साधनायैव चोत्तरे शब्दाः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६-२-१), 'तदैक्षत', 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६-२-३) इत्येवं कार्यजातं ब्रह्मणः प्रदर्श्याव्यतिरेकं प्रदर्शयन्ति—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा०-६-८-७) इत्यारभ्याप्रपाठकपरिसमाप्तेः । तद्यद्याकाशं न ब्रह्मकार्यं स्यान्न ब्रह्मणि विज्ञात आकाशं विज्ञायेत, ततश्च प्रतिज्ञाहानिः स्यात् । नच प्रतिज्ञाहान्या वेदस्याप्रामाण्यं युक्तं कर्तुम् । तथाहि—प्रतिवेदान्तं ते ते शब्दास्तेन तेन दृष्टान्तेन तामेव प्रतिज्ञां स्थापयन्ति 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २-४-६), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मुण्ड० २-२-११), इत्येवमादयः । तस्माज्ज्वलनादिवदेव गगनमप्युत्पद्यते । यदुक्तमश्रुतेर्न वियदुत्पद्यत इति, तदयुक्तं, वियदुत्पत्तिविषयश्रुत्यन्तरस्य दर्शितत्वात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २-१) इति सत्यं दर्शितम् । विरुद्धं तु 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यनेन श्रुत्यन्तरेण । न । एकवाक्यत्वात्सर्वश्रुतीनाम् । भवत्वेकवाक्यत्वमविरुद्धानाम् । इह तु विरोध उक्तः, सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः

दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तेन[1] अथर्वणे ऊर्णनाभ्यादिदृष्टान्तेनेत्यर्थः । यजुषि प्रतिज्ञासाधका 'इदं सर्वम्' इतिशब्दाः, आथर्वणे 'ब्रह्मैवेदम्' इति शब्दा इति भावः । एवमाकाशोत्पत्तिकथनादेकदेशिमते दूषिते श्रुत्यप्रामाण्यवादी स्वोक्तं स्मारयति—सत्यं दर्शितमिति । मुख्यसिद्धान्त्याह—न । एकेति । 'तत्तेजोऽसृजत' इति सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुराकाशतेजोभ्यां युगपत्संबन्धे तित्तिरिक्रमबाधात्, क्रमेणाकाशं सृष्ट्वा तेजोऽसृजतेति सबन्धे तेजःप्राथम्यभङ्गप्रसङ्गात्, वस्तुनि विकल्पासंभवेन तयोः शाखाभेदेन प्राथम्यव्य-

---

अभेदप्रतिपादनपरक मृदादि दृष्टान्तों द्वारा इस प्रतिज्ञा का समर्थन भी किया गया है । इस प्रतिज्ञा के समर्थन के लिए ही '**सदेव सोम्येदमग्रासीत एकमेवाद्वितीयम, तदैक्षत, तत्तेजोऽसृजत**' ये आगे के शब्द हैं । इस प्रकार ब्रह्मकार्य को दिखलाकर ब्रह्म के साथ उसका अभेद '**ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्**' यहाँ से प्रारम्भकर षष्ठाध्यायसमाप्तिपर्यन्त वाक्यों से दिखलाते हैं । ऐसी स्थिति में यदि आकाश को ब्रह्म का कार्य न मानोगे, तो ब्रह्म के विज्ञात होने पर आकाश विज्ञात नहीं हो सकता, तब तो प्रतिज्ञा का बाध हो जायेगा । प्रतिज्ञा की अहानि से वेद में अप्रामाण्य मानना उचित नहीं है । इसीलिए प्रत्येक वेदान्त में आये हुए वे शब्द उन-उन दृष्टान्तों से उसी प्रतिज्ञा की स्थापना करते हैं 'यह सब जो भी है आत्मा ही है', 'यह नित्यब्रह्म ही आगे-पीछे सर्वत्र है' इत्यादि । अतः अग्न्यादि की भाँति गगन भी उत्पन्न होता ही है । और जो आप ने कहा था कि छान्दोग्य उपनिषद् में आकाश को उत्पत्ति का श्रवण न होने के कारण आकाश उत्पन्न नहीं होता? ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि आकाश की उत्पत्ति के विषय में '**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः**' यह श्रुति हम दिखला चुके हैं । शङ्का—ठीक हैं, तैत्तिरीय श्रुति के आधार पर आकाश की उत्पत्ति आप ने कही है किन्तु वह '**तत्तेजोऽसृजत**' इस दूसरी श्रुति के साथ विरुद्ध पड़ती है । सभी श्रुतियों की एकवाक्यता को देखते हुए वह पक्ष ठीक नहीं है । अविरुद्ध श्रुतियों की एकवाक्यता हो भी जाय किन्तु यहाँ पर तो उनका विरोध ही कहा गया है । एक बार सुने गये

---

१. प्रतिज्ञासमर्थनायैव । २. षष्ठप्रपाठकसमाप्तिपर्यन्तम् । ३. तदंतरगतप्रथममुण्डकप्रथमखंडे ।

स्रष्टव्यद्वयसम्बन्धासम्भवाद्द्वयोश्च प्रथमजत्वासम्भवाद्विकल्पासम्भवाच्चेति । नैष दोषः । तेजःसर्गस्य तैत्तिरीयके तृतीयत्वश्रवणात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः' (तै० २·१) इति अशक्या हीयं श्रुतिरन्यथा परिणेतुम् । शक्या तु परिणेतुं छान्दोग्यश्रुतिस्तदाकाशं वायुं च सृष्ट्वा 'तत्तेजोऽसृजत' इति । न हीयं श्रुतिस्तेजोजनिप्रधाना सती श्रुत्यन्तरप्रसिद्धामाकाशस्योत्पत्तिं वारयितुं शक्नोति । एकस्य वाक्यस्य व्यापारद्वयासम्भवात् । स्रष्टा त्वेकोऽपि क्रमेणानेकं स्रष्टव्यं सृजेत् । इत्येकवाक्यत्वकल्पनायां सम्भवन्त्यां न विरुद्धार्थत्वेन श्रुतिर्हातव्या । न चास्माभिः सकृच्छ्रुतस्य

वस्थाया अयोगात्, नैकवाक्यतेति प्राप्ते मुख्य एव दूषयति—नैष दोष इति । अप्रामाण्यकल्पनाद्वरमपौरुषेयश्रुतीनामेकवाक्यत्वेन प्रामाण्यकल्पनं, तच्चैकवाक्यत्वं बलवच्छ्रुत्या दुर्बलश्रुतेः कल्प्यं, बलवती च तित्तिरिश्रुतिः, प्रकृतिपञ्चम्या पौर्वापर्याख्यक्रमस्य श्रुतत्वात् । छान्दोग्यश्रुतिस्तु दुर्बला, तेजःप्राथम्यश्रुत्यभावात् । तेजःसर्गमात्रं तु श्रुतं तृतीयत्वेन परिणेयमित्येकवाक्यतेत्यर्थः । यदुक्तमेकदेशिना छान्दोग्यश्रुत्याकाशोत्पत्तिर्वार्यत इति तन्निरस्तम् । किंच सा श्रुतिः किं तेजोजन्मपरा, उत तेजोजन्म वियदनुत्पत्तिश्चेत्युभयपरा । आद्ये न तद्वारणमित्याह—नहीति । अविरोधादित्यर्थः । न द्वितीयः, श्रुत्यन्तरविरोधेनोभयपरत्वकल्पनायोगाद्वाक्यभेदापत्तेश्चेत्याह—एकस्येति । नन्वेकस्य स्रष्टुरनेकार्थसंबन्धवद्वाक्यस्याप्यनेकार्थता किं न स्यादित्यत आह- स्रष्टा त्विति । एकस्य कर्तुरनेकार्थसंबन्धो दृष्टः । न त्वेकस्य वाक्यस्य नानार्थत्वं दृष्टम् । नानार्थकप्रयोगे तु पय आनयेत्यादावावृत्त्या वाक्यभेद एव । आनयनस्य जलक्षीराभ्यां पृथक्संबन्धादित्यर्थः । फलितमाह—इत्येकेति । एकस्य शब्दस्यावृत्तिं विनानेकार्थत्वं नास्ति चेद्'सृजतेति शब्दस्य छान्दोग्य उपसंहृताकाशादिसंबन्धार्थमावृत्तिदोषः स्यादित्यत आह—नचेति । छान्दोग्यस्थतेजोजन्म आकाशादिजन्मपूर्वकं, तेजोजन्मत्वात्, तित्तिरिस्थतेजोजन्मवदित्याकाशादिजन्मोपसंहारे 'तदाकाशमसृजत' इति वाक्यान्तरस्यैव कल्पनात्प्रा-

---

स्रष्टा का दो स्रष्टव्य के साथ सम्बन्ध होना असम्भव है, दोनों में प्रथमजत्व भी असम्भव है और वस्तु में विकल्प होना सर्वथा सम्भव नहीं है । समाधान-यह कोई दोष नहीं है । तैतिरीयक में तेजसर्ग का 'वायोरग्निः' इस वाक्य द्वारा तृतीयत्व सुना गया है, इस श्रुति का व्याख्यान अन्यथा नहीं कर सकते; किन्तु छान्दोग्य श्रुति का व्याख्यान अन्य प्रकार से भी हो सकता है 'उस ब्रह्म ने आकाश और वायु की सृष्टिकर तेज को बनाया ।' तेज की उत्पत्ति बतलाने में छान्दोग्य श्रुति प्रधान है फिर भी वह तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार प्रसिद्ध आकाश की उत्पत्ति का निषेध नहीं कर सकती अर्थात् उस ब्रह्म ने तेज की सृष्टि की और आकाश को सृष्टि नहीं की, ऐसी व्याख्या नहीं कर सकते, क्योंकि एक वाक्य में दो व्यापार का होना संभव नहीं है किन्तु एक स्रष्टा क्रमशः अनेक स्रष्टव्य वस्तु की सृष्टि कर सकता है । इस प्रकार एकवाक्यत्व कल्पना सम्भव हो जाने पर विरुद्धार्थक मानकर श्रुति का त्याग करना उचित नहीं है । एक बार सुने गये स्रष्टा का दो स्रष्टव्य के साथ सम्बन्ध बतलाना हमें अभिप्रेत नहीं है, हम तो दूसरी श्रुति के बल

---

१. श्रुतावप्रामाण्यनिश्चयो न कर्तव्यः । २. उपादानगत पञ्चमी विभक्ति श्रुत्यां । ३. शब्देभ्य इति सूत्रशेषेणेति शेषः । ४. इत्येतच्छब्द वाच्य स्रष्टुरित्यर्थः । ५. आदिनावायोर्ग्रहः । ६. आदिना वायुः ।

स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयसम्बन्धोऽभिप्रेयते [1]श्रुत्यन्तरवशेन [2]स्रष्टव्यान्तरोपसंग्रहात् । यथाच "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' (छा० ३-१४-१) इत्यत्र साक्षादेव सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मजत्वं श्रूयमाणं न [3]प्रदेशान्तरविहितं तेजःप्रमुखमुत्पत्तिक्रमं [4]वारयति, एवं तेजसोऽपि ब्रह्मजत्वं श्रूयमाणं न [5]श्रुत्यन्तरविहितं नभःप्रमुखमुत्पत्तिक्रमं वारयितुमर्हति ।

ननु शमविधानार्थमेतद्वाक्यम्, 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' इति श्रुतेः, नैतत्सृष्टिवाक्यं, तस्मादेतन्न प्रदेशान्तरप्रसिद्धं क्रममुपरोद्धुमर्हतीति । 'तत्तेजोऽसृजत' इत्येतत्सृष्टिवाक्यम् । तस्मादत्र यथा श्रुतिक्रमो ग्रहीतव्य इति । नेत्युच्यते । नहि तेजःप्राथम्यानुरोधेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो [9]वियत्पदार्थः परित्यक्तव्यो भवति, पदार्थधर्मत्वात्क्रमस्य । अपिच 'तत्तेजोऽसृजत' इति नात्र क्रमस्य वाचकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति । अर्थात्तु क्रमोऽवगम्यते ।

वृत्तिदोष इत्यर्थः । श्रुत्यन्तरस्थः क्रमः श्रुत्यन्तरे ग्राह्य इत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथाचेति ।

सृष्टौ तात्पर्यातात्पर्याभ्यां दृष्टान्तश्रुतिवैषम्यं शङ्कते—नन्वित्यादिना । तेजःप्राथम्यस्वीकारे आकाशसर्गो धर्मी तद्धर्मः प्राथम्यं चेति द्वयं श्रुतं बाधनीयमिति गौरवम्, आकाशप्राथम्ये त्वार्थिकतेजःसर्गप्राथम्यमात्रबाध इति लाघवमिति मत्वाह—नेत्युच्यत इति । किंच प्रधानधर्मित्यागाद्वरं गुणभूतस्य तेजःप्राथम्यस्य धर्मस्य त्याग इत्याह—नहीति । किंच किं सृष्टिपरश्रुतिसिद्धत्वात्तेजःप्राथम्यं गृह्यत उत प्रथमस्थाने तेजसः सर्गश्रुत्यार्थात्प्राथम्यभानात् । नाद्य इत्याह—अपिचेति । द्वितीयमनूद्य दूषयति—अर्थात्त्विति । यदुक्तं वस्तुनि विकल्पासंभवादुभयोः प्राथम्यं शाखाभेदेन व्यवस्थितं न भवति,

---

अन्य स्रष्टव्य का संग्रह करना चाहते हैं, वह श्रुति तैत्तिरीय है । जैसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' इस श्रुति में सभी वस्तुसमुदाय साक्षात् ब्रह्मजन्य सुना गया है फिर भी वह प्रदेशान्तरविहित तेजप्रमुख उत्पत्तिक्रम का निषेध नहीं करता है । ऐसे ही तेज में ब्रह्मजत्व सुना भी गया है फिर भी तैत्तिरीयश्रुतिविहित आकाशप्रमुख उत्पत्तिक्रम का वारण यह नहीं कर सकती ।

शङ्का—'तज्जलान् इति शान्त उपासीत' यह श्रुतिवाक्य समविधानार्थ है, सृष्टिबोधक वाक्य यह नहीं है । अतः इसके आधार पर प्रदेशान्तरप्रसिद्ध क्रम का अवरोध नहीं कर सकते । 'तत्तेजोऽसृजत' यह वाक्य तो सृष्टिबोधक है । अतः यहाँ पर जैसा क्रम सुना गया है वैसा ही ग्रहण करना चाहिए । समाधान—लाघव गौरव को देखते हुए आप का कथन मान्य नहीं है । छान्दोग्य श्रुति को तेजनिष्ठ प्राथम्यक्रमबोधक मानोगे तो उसके आधार पर श्रुत्यन्तरप्रसिद्ध वियद् सर्ग पदार्थ का परित्याग करना पड़ेगा, क्रम पदार्थ धर्म है और वियद् धर्मी है । तेज में प्राथम्यक्रमलाभ के लिए तैत्तरीयश्रुतिप्रसिद्ध वियद् पदार्थ धर्मी और तन्निष्ठ प्राथम्यरूप धर्म का परित्याग करना उचित नहीं होगा क्योंकि ऐसा मानने पर गौरव होगा । इसके अतिरिक्त 'तत्तेजोऽसृजत' इस श्रुतिवाक्य में क्रम का बाधक कोई शब्द

---

१. तित्तिरिश्रुतिसानुकूल्येन । २. स्रष्टव्यान्तरावाकाशवायू ३. । छान्दोग्य श्रुतौ । ४. छान्दोग्य तृतीय-प्रपाठक-चतुर्दश-खण्डे इदं वचनम् । ५. षष्ठ प्रपाठक । ६. अपितु त क्रममाश्रयतीति शेषः । ७. तित्तरि । ८ अपितु त क्रममाश्रयितुमर्हतीति शेषः । ९. वियत्सर्गपदार्थः ।

स च 'वायोरग्निः' इत्यनेन श्रुत्यन्तर[1]प्रसिद्धेन क्रमेण निवार्यते। विकल्पसमुच्चयौ तु वियत्तेजसोः प्रथमजत्वविषयावसम्भवानभ्युपगमाभ्यां निवारितौ। तस्मान्नास्ति श्रुत्योर्विप्रतिषेधः।

अपिच छान्दोग्ये 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्येतां प्रतिज्ञां वाक्योपक्रमे श्रुतां समर्थयितुमसमाम्नातमपि वियदुत्पत्तावुपसंख्यातव्यं, किमङ्ग पुनस्तैत्तिरीयके समाम्नातं नभो न संगृह्यते। यच्चोक्तमाकाशस्य सर्वेणानन्यदेशकालत्वाद्ब्रह्मणा तत्कार्यैश्च सह विदितमेव तद्भवत्यतो न प्रतिज्ञा हीयते, नच 'एकमेवाद्वितीयम्' इतिश्रुतिकोपो भवति, क्षीरोदकवद्ब्रह्मनभसोरव्यतिरेकोपपत्तेरिति। अत्रोच्यते। न क्षीरोदकन्यायेनेदमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं नेतव्यम्। मृदादिदृष्टान्तप्रणयनाद्धि प्रकृतिविकारन्यायेनैवेदं सर्वविज्ञानं नेतव्यमिति गम्यते। क्षीरोदकन्यायेन च सर्वविज्ञानं कल्प्यमानं न सम्यग्विज्ञानं स्यात्। नहि

नाप्युभयोर्द्विदलाङ्कुरवत्समुच्चित्योत्पत्त्या प्राथम्यं वायोरग्निरिति क्रमबाधापातादिति, तदिष्टमेवेत्याह—विकल्पेति।

न केवलं श्रुतिद्वयोरविरोधः सौहार्दं चास्तीत्याह—अपिचेति। वियदुपसंग्राह्यमित्यन्वयः। वियदनुत्पत्तिवादिनोक्तमनूद्य 'प्रतिज्ञाया 'अद्वितीयश्रुतेश्च मुख्यार्थतात्पर्यावगमान्न गौणार्थतेति दूषयति—यच्चोक्तमित्यादिना। प्रकृतिविकारन्यायस्तदनन्यत्वन्यायः। उदकं क्षीरस्थमपि क्षीरज्ञानान्न

नहीं है, यहां पर अर्थतः क्रम की कल्पना करते हैं वह 'वायोरग्निः' इस श्रुत्यन्तरप्रसिद्ध क्रम से बाधित हो जायेगा। आकाश और तेज में प्रथमजत्वविषयक विकल्प और समुच्चय तो उचित ही नहीं है, क्योंकि वस्तु में विकल्प सम्भव नहीं हैं और समुच्चय का स्वीकार ही नहीं किया है। अतः छान्दोग्य एवं तैत्तिरीय श्रुति में विप्रतिषेध नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त छान्दोग्य में 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इस वाक्यारम्भ में सुनी गयी इस प्रतिज्ञा के समर्थन के लिए वियदुत्पत्ति वहां पर नहीं कही गयी है फिर भी हे सोम्य! तैत्तिरीय में पड़े गये आकाश का ही संग्रह क्यों न कर लिया जाय, क्योंकि ऐसा करने पर उस प्रतिज्ञा का समर्थन हो जाता है और अद्वितीय में श्रुति मुख्यार्थता भी आ जाती है। और जो आप ने कहा था, कि सभी वस्तुओं के साथ आकाश का देश-काल अभिन्न है। इसलिए ब्रह्म एवं उसके कार्य के साथ आकाश भी विदित हो है। अतः प्रतिज्ञा का त्याग नहीं होता है एवं 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुति का व्याकोप भी नहीं होगा, क्योंकि क्षीर-उदक की भांति ब्रह्म और आकाश का अभेद युक्तिसिद्ध है; इस पर हमारा कहना है कि क्षीरोदकन्याय से एक विज्ञान द्वारा सर्वविज्ञान का आग्रह नहीं करना चाहिए अपितु मृदादि दृष्टान्त को देखते हुए कार्यकारणन्याय से ही इस सर्वविज्ञानपक्ष का आश्रय लेना चाहिए, ऐसा जाना जाता है। क्षीरोदकन्याय से सर्वविज्ञान की कल्पना करने पर सम्यग्ज्ञान नहीं कहला सकेगा क्योंकि क्षीरबुद्धि का विषय उदक को मानना सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है, वह तो भ्रमज्ञान माना जायेगा। जैसे पुरुष

---

१. आर्थक्रमः। २. श्रुतेरयं:। ३. ब्रह्मणि विदिते सर्वं विदितं स्यादिति सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः।
४. एकमेवाद्वितीयमिति श्रुतेश्च।

क्षीरज्ञानगृहीतस्योदकस्य सम्यग्विज्ञानगृहीतत्वमस्ति । नच वेदस्य पुरुषाणामिव मायालीकवञ्चनादिभिरर्थावधारणमुपपद्यते । सावधारणा चेयम् 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिः क्षीरोदकन्यायेन नीयमाना पीड्येत । नच स्वकार्यापेक्षयेदं 'वस्त्वेकदेशविषयं सर्वविज्ञानमेकमेवाद्वितीयतावधारणं चेति न्याय्यं, मृदादिष्वपि हि 'तत्सम्भवात्न तदपूर्ववदुपन्यसितव्यं भवति । 'श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना 'अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६-१-१) इत्यादिना । तस्मादशेषवस्तुविषयमेवेदं सर्वं विज्ञानं सर्वस्य ब्रह्मकार्यतापेक्षयोपन्यस्यत इति द्रष्टव्यम् ॥६॥

यत्पुनरेतदुक्तमसम्भवाद्गौणी गगनस्योत्पत्तिश्रुतिरिति । अत्र ब्रूमः—

गृह्यते भेदादिति भावः। मास्तु सम्यग्ज्ञानं श्रुतेर्भ्रान्तिमूलत्वसंभवादित्याशङ्क्यापौरुषेयत्वान्मैवमित्याह-नच वेदस्येति । माया भ्रान्तिस्तयाऽलीकं मिथ्याभाषणं तेन वञ्चनमयथार्थबोधनम् । आदिपदाद्विप्रलिप्साप्रमादकरणापाटवानि गृह्यन्ते । प्रतिज्ञामुख्यत्वमभिधायाऽद्वितीयश्रुतिमुख्यतामाह—सावधारणेति । सर्वद्वैतनिषेधपरेत्यर्थः । उभयगौणत्वेऽद्भुतवदुपन्यासो मृदादिदृष्टान्तैःस्तत्साधनं च न स्यादिति दोषान्तरमाह—नचेत्यादिना ॥६॥

में भ्रान्ति, मिथ्याभाषण आदि के कारण अप्रामाण्य देखा गया है वैसा वेद में मानना उचित नहीं होगा। 'एकमेवाद्वितीयम्' यह श्रुति अवधारण युक्त है, यदि इस श्रुति का अर्थ क्षीरोदकन्याय से करोगे, तो वह पीड़ित हो जायेगी अपने कार्य की अपेक्षा से वस्तु के एकदेशविषयक सर्वविज्ञान और एकाद्वितीयत्वावधारण भी उचित नहीं है अर्थात् अपने कार्य की अपेक्षा से वस्तु के एकदेश को जानने पर सर्वविज्ञान हो जाता है। स्थालीपुलाकन्याय से तन्दुल के एकदेश को पका देखकर उस पात्र में पड़े हुए सभी तन्दुलों को पक गया मान लेते हैं, ऐसे ही अपने कार्य की अपेक्षा से अद्वितीयता का अवधारण भी मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर मृदादि में भी अपने कार्यविषयक सर्वज्ञत्व मानना पड़ेगा। उस स्थिति में अपूर्वता भी नहीं रह जायेगी, जो कि उद्दालक ऋषि ने कहा था कि 'हे सोम्य ! जो तू अपने को बड़ा विद्वान् और प्रवक्ता मानकर स्तब्ध हो गया हो, क्या तूने उस आदेश को पूछा है कि जिसके सुनने पर अश्रुत भी श्रुत हो जाता हैं' इत्यादि। अतः अशेषवस्तुविषयक यह सर्वविज्ञान तभी सम्भव हो सकेगा जब सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म का कार्य मानोगे, तभी कारणब्रह्म के ज्ञान से उसका कार्य सम्पूर्ण जगत् विज्ञात माना जायेगा। ऐसा निश्चय करना चाहिए ॥ ६ ॥

और जो आप ने कहा था कि असम्भव होने के कारण आकाश की उत्पत्तिश्रुति गौणी है अर्थात् आकाश उत्पन्न नहीं होता है, सामग्रीशून्य होने के कारण, यथा आत्मा; इस पर हमारा कहना है कि—

---

१. वस्तुन एकदेशः स्वकार्यरूपस्तद्विषयम् । २. स्वकार्यापेक्षया सर्वज्ञत्वाद्वितीयत्वयोर्मृदादिष्वपि सम्भवादित्यन्वयः । ३. अनूचानः प्रवचने सांगेऽधीति गुरोस्तु यः ।

(२२३) यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥७॥

तुशब्दोऽसम्भवाशङ्काव्यावृत्त्यर्थः । न खल्वाकाशोत्पत्तावसम्भवाशङ्का कर्तव्या । यतो यावत्किंचिद्विकारजातं दृश्यते घटघटिकोदञ्चनादि वा कटककेयूर[1]कुण्डलादि वा सूचीनारा[2]चनिस्त्रिंशा[3]दि वा तावानेव विभागो लोके लक्ष्यते । न त्वविकृतं किंचित्कुतश्चिद्विभक्तमुपलभ्यते । विभागश्चाकाशस्य पृथिव्यादिभ्योऽवगम्यते । तस्मात्सोऽपि विकारो भवितुमर्हति । एतेन दिक्कालमनःपरमाण्वादीनां कार्यत्वं व्याख्यातम् । नन्वात्माप्याकाशादिभ्यो विभक्त इति तस्यापि कार्यत्वं घटादिवत्प्राप्नोति । न 'आत्मन आकाशः सम्भूतः (तै० २-१)

'कार्यमेव वस्त्वेकदेश[4] आकाशो नोत्पद्यते सामग्रीशून्यत्वादित्यत्र आकाशो विकारः विभक्तत्वात् घटादिवदिति सत्प्रतिपक्षमाह—यत्पुनरित्यादिना । यो विभक्तः स विकार इत्यन्वयमुक्त्वा यस्त्वविकारः स न विभक्तो यथात्मेति व्यतिरेकव्याप्तिमाह—न त्वविकृतमिति । दिगादिषु 'व्यभिचारमाशङ्क्य पक्षसमत्वान्मैवमित्याह—एतेनेति । विभक्तत्वेनेत्यर्थः । आत्मनि 'व्यभिचारं शङ्कते—नन्विति । 'धर्मिसमानसत्ताकविभागस्य हेतुत्वात्परमार्थात्मनि विभागस्य कल्पितत्वेन भिन्नसत्ताकत्वान्न व्यभिचार इत्याह—नेति । अत्र चाज्ञानान्यद्रव्यत्वं विशेषणम्, अतो नाज्ञानतत्संबन्धादौ 'व्यभिचारः । नन्वात्मा कार्यः, विभक्तत्वात्, "वस्तुत्वाद्वा, घटवदित्याभासतुल्य"मिदं अनुमानमित्याशङ्क्यात्मनः परमकारणत्वेन च तस्य कार्यत्वे शून्यताप्रसङ्ग इति बाधकसत्त्वा"त्तस्याभावत्वं, "नात्र किंचिद्बाधकमस्ति प्रत्युत आकाशस्याकार्यत्वे "नित्यानेकद्रव्यकल्पना श्रौतप्रतिज्ञाहान्यादयो बाधकाः सन्तीति "नाभासतुल्यतेत्याह-आत्मन

आकाश कार्य है, विभक्त होने के कारण, घटादि की भाँति । ऐसा सत्प्रतिपक्ष आप के पूर्वोक्त अनुमान में आता है । इसीलिए इस सूत्र में 'तु' अव्यय आया है, जो आकाश उत्पत्ति असम्भव शङ्का की व्यावृत्ति के लिए है क्योंकि जो कुछ भी विकारसमुदाय घट, घटिका, अन्य मृत्पात्रादि, कटक, बाजूबन्द, कुण्डलादि अथवा सूची, लौह निर्मित बाण और खड्गादि दिखाई पड़ते हैं वे सभी विभाग लोक में लक्षित होते हैं । अविकृत कोई भी वस्तु किसी से विभक्त नहीं देखी जाती है । पृथिव्यादि से आकाश का विभाग दीखता हैं । अतः वह आकाश भी कार्य हो सकता है । इससे दिशा, काल, मन और परमाणु आदि में भी कार्यत्व व्याख्यात हो गया, क्योंकि ये भी विभक्त हैं इसीलिए कार्य हैं, नित्य नहीं हैं । शङ्का—तब तो आकाशादि से आत्मा भी विभक्त है, ऐसी स्थिति में घटादि की भाँति उसमें भी कार्यत्व आ जायेगा । समाधान—'आत्मन आकाशः सम्भूत.' ऐसी श्रुति है । यदि आत्मा को भी कार्य मानोगे, तो उससे भिन्न

१. केयूर इति बाजुबन्द इति ख्यातम् । २. नाराचो लोहमयो बाणः । ३. निस्त्रिंशः खड्गः । ४. वस्त्वेकदेशः कार्यमेव सर्वविज्ञानविषय इत्यर्थः । ५. आत्मवत् । ६. प्रथमिकमन्वयव्यभिचारम् । ७. द्वितीयव्यतिरेकव्यभिचारम् । ८. धर्मो विभागस्तद्धर्मिणो दिगादयः तेषां सत्ताव्यावहारिकी तादृशसत्ताको यमाकाशविभागः तद्वत्त्वमस्ति आकाशे । ९. नोभयव्यभिचारः । १०. द्रव्यत्वादित्यर्थः । ११. इदमिति आत्मा ऽकार्यः धर्मिसमानसत्ता भिन्नसत्ताकत्वात् व्यतिरेके घटादिवदित्यनुमानम् । १२. आत्मनः कार्यत्वसाधकत्वदनुमानस्येत्यर्थः । १३. मदीयानुमाने । १४. नित्यत्वं, आकाशवद्दिगादि स्वीकारेऽनेकत्वं चैतत् सर्वकल्पना । १५. मदनुमानस्य ।

इति श्रुतेः। यदि ह्यात्मापि विकारः स्यात्तस्मात्[१]परमन्यन्न श्रुतमित्याकाशादि सर्वं कार्यं निरात्मकमात्मनः कार्यत्वे स्यात्। तथाच शून्यवादः प्रसज्जेत। [२]आत्मत्वादेवात्मनो निराकरणशङ्कानुपपत्तिः। नह्यात्मागन्तुकः कस्यचित्, स्वयंसिद्धत्वात्। नह्यात्मात्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति। [३]तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्यप्रसिद्ध[४]प्रमेयसिद्धय उपादीयन्ते। न हि आकाशादयः पदार्थाः प्रमाणनिरपेक्षाः स्वयंसिद्धाः केनचिदभ्युपगम्यन्ते। आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात्सिध्यति। नचेदृशस्य निराकरणं सम्भवति। आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम्। य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्। न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना

इति। [५]इष्टप्रसङ्ग इति वदन्तं प्रत्याह—आत्मत्वादिति। आत्माभावः केनचिज्ज्ञायते न वा। आद्ये यो ज्ञाता स परिशिष्यत इति न शून्यता। द्वितीयेऽपि न शून्यता मानाभावादित्यर्थः। किंच यद्धि कार्यं सत्तास्फूर्त्योरन्यापेक्षं तन्निराकार्यम्, आत्मा स्वकार्यो निरपेक्षत्वान्न बाधयोग्य इत्याह—नह्यात्मेत्यादिना। कस्यचित्कारणस्यागन्तुकः कार्यो न हि। सत्तास्फूर्त्योः सिद्धयोरनन्यायत्तत्वादित्यक्षरार्थः। तत्र स्फूर्तेरनन्यायत्तत्वं विवृणोति—नहीति। यदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—'प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा। यस्य प्रसादात्सिध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते॥' इति। तथा श्रुतिराह—'पुरुषः स्वयं ज्योतिः', 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति च। नन्वात्मनः स्वतःसिद्धौ 'प्रमाणवैयर्थ्यं, तत्राह—तस्येति। ननु प्रमेयस्यापि स्वप्रकाशत्वं किं न स्यादित्यत आह—नहीति। अतो न प्रमाणवैयर्थ्यमिति भावः। आत्माऽपि मानाधीनसिद्धिकः किं न स्यादित्यत आह—आत्मा त्विति। अयमर्थः—निश्चितसत्ताकं हि[६]ज्ञानं प्रमेयसत्तानिश्चायकं. गेहे घटो दृष्टो न वेति ज्ञानसंशये न दृष्ट इति व्यतिरेकनिश्चये चार्थस्वरूपानिश्चयात्। ज्ञानसत्तानिश्चयश्च न स्वतः, कार्यस्य स्वप्रकाशत्वायोगात्। नापि ज्ञानान्तरात्, अनवस्थानात्। अतः साक्षिणैव ज्ञानसत्तानिश्चयो वाच्यः। तत्र साक्षिणश्चेज्ज्ञानाधीनसत्तानिश्चयः, अन्योन्याश्रयः स्यात्। अतः सर्वसाधकत्वादात्मा स्वतःसिद्ध इति। स्वप्रकाशस्यापि बाधः किं न स्यादित्यत आह—नचेति। जडं हि परायत्तप्रकाशत्वाद[८]गन्तुकं बाधयोग्यं न स्वप्रकाशात्मस्वरूपं, तस्य सर्वबाधसाक्षिस्वरूपस्य निराकर्त्रन्तराभावात्, स्वस्य च स्वनिराकर्तृत्वायोगात्। नहि सुनिपुणेनापि

कारण तो सुना नहीं जाता, जिससे आत्मा की उत्पत्ति मानी जा सके। इस स्थिति में आत्मा को कार्य मानने पर आकाशादि सभी कार्य निरात्मक हो जायेंगे, फिर तो शून्यवाद का प्रसंग आ जायेगा और स्वरूप का निराकरण सम्भव न होने के कारण आत्मा के अभाव की शङ्का बनती नहीं है, क्योंकि स्वयंसिद्ध होने के कारण किसी की आत्मा आगन्तुक नहीं है। आत्मा अपनी सिद्धि के लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता है, अतः आत्मसिद्धि प्रमाणसापेक्ष नहीं है, वह तो स्वतःसिद्ध है। घटादि प्रमेय की सिद्धि के लिए प्रमाता आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणों का उपादान करता है, क्योंकि आकाशादि पदार्थ प्रमाणनिरपेक्ष स्वयंसिद्ध किसी के द्वारा माने नहीं जाते हैं किन्तु आत्मा प्रमाणादि व्यवहार का आश्रय होने से प्रमाणादि व्यवहार से पूर्व ही सिद्ध रहता है, ऐसे आत्मा का निराकरण सम्भव नहीं है। अत्यन्त कुशल व्यक्ति भी अपना अभाव देख नहीं सकता, आगन्तुक कार्यवस्तु का ही निराकरण होता है, स्वरूप का नहीं, क्योंकि जो निराकरण करता है उसका वही स्वरूप है फिर भला वह अपने स्वरूप

१. कारणमिति शेषः। २. सत्स्वरूपनिराकरणमसम्भवात। ३. आत्मनः। ४. घटादि। ५. शून्यवादप्रसंग इष्टः। ६. प्रत्यक्षादि। ७. वृत्तिज्ञानम्। ८. कार्यम्।

निराक्रियते । तथाहमेवेदानीं जानामि वर्तमानं वस्त्वहमेवातीतमतीततरं चाज्ञासिषमहमेवानागतमनागततरं च ज्ञास्यामीत्यतीतानागतवर्तमानभावेनाऽन्यथा भवत्यपि ज्ञातव्ये न ज्ञातुरन्यथाभावोऽस्ति, सर्वदा [1]वर्तमानस्वभावत्वात् । तथा भस्मीभवत्यपि देहे नात्मन उच्छेदो [2]वर्तमानस्वभावादन्यथास्वभावत्वं वा न सम्भावयितुं शक्यम् । एवमप्रत्याख्येयस्वभावत्वादेवाकार्यत्वमात्मनः कार्यत्वं चाकाशस्य ।

यत्तूक्तं समानजातीयमनेकं कारणद्रव्यं [3]व्योम्नो नास्तीति, तत्प्रत्युच्यते—न तावत्समानजातीयमेवारभते न भिन्नजातीयमिति नियमोऽस्ति । नहि तन्तूनां तत्संयोगानां च समानजातीयत्वमस्ति, द्रव्यगुणत्वाभ्युपगमात् । न च निमित्तकारणानामपि तुरीवेमादीनां समानजातीयत्वनियमोऽस्ति । स्यादेतत् । समवायिकारणविषय एव समानजातीयत्वाभ्यु-

---

स्वाभावो द्रष्टुं शक्यत इत्यर्थः । एवं स्वतःस्फूर्तित्वादात्मा न बाध्य इत्युक्त्वा स्वतःसत्ताकत्वाच्च न बाध्य इत्याह—तथाहमेवेति । [4]ज्ञानज्ञेययोः सत्ताव्यभिचारेऽपि [5]ज्ञातुः सर्वकरूपत्वान्न सत्ताव्यभिचार इत्यर्थः । मास्तु जीवतो ज्ञातुरन्यथास्वभावः, मृतस्य तु स्यादित्यत आह—तथेति । उच्छेदो विनाशः । अन्यथास्वभावत्वं मिथ्यात्वं वा संभावयितुमपि न शक्यम्, अहमस्मीत्यनुभवसिद्धसत्स्वभावस्य बाधकाभावादित्यर्थः । एवमात्मनः शून्यत्वनिरासेन शून्यताप्रसक्त्यानिष्टत्वमुक्तं, ततश्चात्मनः कार्यत्वानुमानमाभास इत्याह— एवमिति । अकार्यात्मनः सिद्धौ [6]तस्याविद्यासहितस्योपादानस्यादृष्टादिनिमित्तस्य च सत्त्वादाकाशानुत्पत्तिहेतोः सामग्रीशून्यत्वस्य स्वरूपासिद्धेरुक्तसत्प्रतिपक्षबाधाच्चाकाशस्य कार्यत्वं निरवद्यमित्याह—कार्यत्वं चेति ।

आत्माविद्ययोर्विजातीयत्वान्नाकाशारम्भकत्वमित्युक्तमनूद्य निरस्यति—यत्त्वित्यादिना । किं कारणमात्रस्य साजात्यनियमः उत समवायिनः । तत्राद्यं निरस्य द्वितीयं शङ्कते—स्यादेतदिति । किं

का निराकरण कैसे कर सकेगा ? अग्नि की उष्णता का निराकरण अग्नि नहीं कर सकती, वैसे ही मैं ही इस समय वर्तमान वस्तु को जानता हूँ, मैंने ही अतीत एवं अतीततर वस्तु का जाना था, मैं ही अनागत एवं अनागततर वस्तु को जानूंगा । इस प्रकार अतीत, अनागत एवं वतमान भाव से ज्ञातव्य वस्तु में भेद रहने पर भी ज्ञाता में भेद नहीं आता है, वह तो सदा विद्यमानस्वभाव ही है। देह के भस्म हो जाने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता है। अतः वर्तमानस्वभाव होने के कारण आत्मा में अन्यथा स्वभावत्व (मिथ्यात्व) की सम्भावना नहीं कर सकते । ऐसे ही, अप्रत्याख्येय स्वभाव होने के कारण ही आत्मा में कार्यत्व नहीं है किन्तु आकाश में कार्यत्व है ।

शङ्का—आप ने जो कहा था कि समान जाति वाले अनेक कारणद्रव्य आकाश के आरम्भक नहीं हैं? । समाधान—इसका समाधान सुन लीजिए । क्या समानजातीय कारण ही कार्य को प्रारम्भ करता है, भिन्नजातीय नहीं, ऐसा नियम है क्या । लोक में तन्तु और तन्तुओं का संयोग समान जातिवाले नहीं हैं, तन्तु द्रव्य है और उनका संयोग गुण है, फिर भी दोनों मिलकर पट कार्य को उत्पन्न करते हैं। इसलिए कारण में समानजातीयता का नियम नहीं है । तुरी, वेमादि निमित्तकारणों में भी समानजातीयता का नियम नहीं है । शङ्का—समवायीकारण में ही समानजातीयता मानी गयी है, कारणान्तर में

---

१. विद्यमान । २. तदापीति शेषः । ३. आरम्भकमिति शेषः । ४. वृत्तिज्ञान । ५. साक्षिणः । ६. आत्मनः ।

पगमो न कारणान्तरविषय इति । तदप्यनैकान्तिकम् । सूत्रगोवालैर्ह्यनेकजातीयैरेका रज्जुः सृज्यमाना दृश्यते । तथा सूत्रैरूर्णादिभिश्च विचित्रान्कम्बलान्वितन्वते । सत्त्वद्रव्यत्वाद्यपेक्षया वा समानजातीयत्वे कल्प्यमाने नियमानर्थक्यं, सर्वस्य सर्वेण समानजातीयकत्वात् । नाप्यनेकमेवारभते नैकमिति नियमोऽस्ति । अणुमनसोराद्यकर्मारम्भाभ्युपगमात् । एकैको हि परमाणुर्मनश्चाद्यं स्वकर्मारभते न द्रव्यान्तरैः संहत्येत्यभ्युपगम्यते ।

द्रव्यारम्भ एवानेकारम्भकत्वनियम इति चेत् । न । परिणामाभ्युपगमात् । भवेदेष नियमो यदि संयोगसचिवं द्रव्यं द्रव्यान्तरस्यारम्भकमभ्युपगम्येत । तदेव तु द्रव्यं विशेष-

---

समवायितावच्छेदकधर्मेण साजात्यमुत सत्त्वादिना ? नाद्यः इत्याह—तदपीति । नच रज्ज्वादि न द्रव्यान्तरमिति वाच्यं, पटादेरपि तथात्वापातात् । द्वितीयोऽस्मदिष्टः, आत्माऽविद्ययोर्वस्तुत्वेन साजात्यादित्याह—सत्त्वेति । उपादानस्य साजात्यनियमं निरस्य संयुक्तानेकत्वनियमसद्वितीयस्याऽसङ्गस्याप्यात्मन उपादानत्वसिद्धये निरस्यति—नापीत्यादिना । किमारम्भकमात्रस्यायं नियमः उत द्रव्यारम्भकस्य ? नाद्य इत्याह—अण्विति । द्व्यणुकस्य ज्ञानस्य चासमवायिकारणसंयोगजनकमाद्यं कर्म । यद्यप्यदृष्टवदात्मसंयुक्ते अणुमनसी आद्यकर्मारम्भके, तथापि कर्मसमवायिन एकत्वादनेकत्वनियमभङ्ग इत्याह—एकैको हीति । द्रव्यान्तरैः समवायिभिरित्यर्थः ।

द्वितीयमुत्थाप्यारम्भवादानङ्गीकारेण दूषयति—द्रव्येत्यादिना । न त्वभ्युपगम्यते तस्मान्नैष नियम इति शेषः । यत्तु क्षीरपरमाणुषु रसान्तरोत्पत्तौ तैरेव दध्यारम्भ इति । तन्न । क्षीरनाशे माना-

---

नहीं । समाधान–यह भी अव्यभिचरित[1] नहीं है, क्योंकि भिन्न जातिवाले सूत्र एवं गो के बालों से एक रज्जु बनते देखी जाती है, वैसे ही सूत्र एवं ऊन आदि से विचित्र कम्बल लोक में बनाते हैं । सत्ता एवं द्रव्यत्व आदि की अपेक्षा से समानजातीयता की कल्पना करने पर नियम का मानना व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि उस स्थिति में सभी का सभी के साथ समानजातीयत्व है ही और अनेक द्रव्य मिलकर एक कार्य को करते हैं, एक द्रव्य नहीं, ऐसा नियम भी नहीं माना जा सकता । एक परमाणु और मन में भी आद्यकर्म का आरम्भ होना माना गया है अर्थात् द्व्यणुकनिर्माण के लिए एक एक परमाणुओं में पहले क्रिया होती है, उससे परमाणुद्वय का संयोग होने के बाद द्व्यणुक बनता है, वैसे ही ज्ञान के लिए आत्ममनः संयोग की आवश्यकता है, वहाँ पर व्यापक आत्मा में कोई क्रिया नहीं होती, पर अकेले मन में आद्यक्रिया होती है, वह क्रिया द्रव्यान्तर के साथ जुड़कर नहीं मानी गयी है । अतःएक एक परमाणु में और मन में भी कर्म होता ही है ।

शङ्का—द्रव्य कार्यनिर्माण के लिए अनेक द्रव्यों में आरम्भकत्व का नियम माना गया है, द्रव्य से भिन्न कर्मादि निर्माण के लिए उक्तनियम नहीं है । समाधान—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि हम परिणामवाद को स्वीकार करते हैं, आरम्भवाद को नहीं । आप का कहा हुआ नियम हो सकता था यदि संयोगसहकृत द्रव्य द्रव्यान्तर का आरम्भक माना जाता किन्तु वही क्षीरादि द्रव्य विशेषावस्था

---

१. व्यभिचरितम् । २. द्रव्यमेव गुणादिसंख्यामापद्यते न तु गुणादि वस्त्वन्तरमिति भावः । ३. परमाणोः मनसश्च । ४. क्षीरारम्भक ।

यदवस्थान्तरमापद्यमानं कार्यं नामाभ्युपगम्यते । तच्च क्वचिदनेकं परिणमते मृद्बीजाद्यङ्कुरादिभावेन । क्वचिदेकं परिणमते क्षीरादि दध्यादिभावेन । नेश्वरशासनमस्त्यनेकमेव कारणं कार्यं जनयतीति । अतः श्रुतिप्रामाण्यादेकस्माद्ब्रह्मण आकाशादिमहाभूतोत्पत्तिक्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते । तथाचोक्तम्—'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' (ब्र० सू० २-१-२४) इति ।

यच्चोक्तमाकाशस्योत्पत्तौ न पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभावयितुं शक्यत इति । तदयुक्तम् । येनैव हि विशेषेण पृथिव्यादिभ्यो व्यतिरिच्यमानं नभः [1]स्वरूपवदिदानीमध्यवसीयते स एव विशेषः प्रागुत्पत्तेर्नासीदिति गम्यते । यथा च ब्रह्म न स्थूलादिभिः पृथिव्यादिस्वभावैः स्वभाववत्, 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३-८-८) इत्यादिश्रुतिभ्यः, एवमाकाशस्वभावेनापि न स्वभाववदनाकाशमिति श्रुतेरवगम्यते । तस्मात्प्रागुत्पत्तेरनाकाशमिति

भावात्, रसवद्घ्नोऽप्येकद्रव्यारभ्यत्वसंभवाच्च, द्रव्यगुणसंकेतस्य पौरुषेयस्य श्रुत्यर्थनिर्णयाहेतुत्वादिति भावः । लोके कर्तुः सहायदर्शनादसहायाद्ब्रह्मणः कथं सर्ग इति, तत्राह—तथा चोक्तमिति ।

प्रागभावशून्यत्वंहेतुरप्यसिद्ध इत्याह—यच्चोक्तमित्यादिना । शब्दाश्रयत्वं विशेषः । शब्दादिमानाकाशः प्रलये नास्ति, 'नासीद्रजो नो व्योम' इति श्रुतेः । नन्वाकाशाभावे काठिन्यं स्यादिति चेत् । सुशिक्षितोऽयं नैयायिकतनयः । न ह्याकाशाभावस्तद्धर्मो वा काठिन्यं किंतु मूर्तद्रव्यविशेषस्तत्संयोगविशेषो वा काठिन्यं, तच्च प्रलये नास्तीति भावः । 'आकाशशरीरं ब्रह्म' इति श्रुतेरन्योन्यवद्ब्रह्मस्वभावस्याऽऽकाशस्य सति ब्रह्मणि कथमभावः, तत्राह—यथाचेति । विभुत्वादाकाशसमं

को प्राप्तकर दध्यादि कार्य के रूप में माना गया है । अतः कहीं पर मृत् बीजादि को अंकुर आदि के रूप में परिणत होने के लिए अनेक कारण माने गये हैं और कहीं क्षीरादि दध्यादि रूप से एक ही परिणत होता है । यह कोई ईश्वरीय शासन नहीं है कि अनेक कारण ही कार्य को उत्पन्न करे । अतः श्रुतिप्रमाण के आधार पर एक ही ब्रह्म से आकाशादि महाभूतों की उत्पत्तिक्रम से जगत् उत्पन्न हुआ, है । ऐसा निश्चय होता है । ऐसा ही भगवान् बादरायण ने **'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न, क्षीरवद्धि'** इस सूत्र द्वारा कहा भी है अर्थात् कार्य की उत्पत्ति के लिए अनेक सहायक की आवश्यकता होनी है, एकाकी ब्रह्म से जगत् उत्पन्न नहीं हो सकता, पूर्वपक्षी की यह शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि अकेला ही दूध दधि बनते देखा गया है, वैसे ही एकाकी ब्रह्म से जगद् रचना हो सकती है ।

शङ्का—आप ने कहा था कि आकाश की उत्पत्ति मानने पर उत्पत्ति से पूर्व और उत्पत्ति के बाद इन पूर्वोत्तर कालों में कोई भेद नहीं दिखलाया जा सकता । अतः आकाश की उत्पत्ति मानना आवश्यक नहीं है ।समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है । शब्दाश्रयत्व–विशेष प्रलयकाल में नहीं रहता, इसी विशेष के कारण पृथिव्यादि से भिन्न आकाश का स्वरूप आज भी निश्चित किया जाता है । यह शब्दाश्रयत्वरूप विशेष उत्पत्ति से पूर्व प्रलयकाल में नहीं था, ऐसा निश्चित होता है । जैसे ब्रह्म पृथिव्यादि के स्थूलादि स्वभाव से युक्त नहीं है ऐसा 'अस्थूलमनणु' इत्यादि श्रुति से जाना जाता है,ऐसे ही स्वभावतः आकाश के स्वभाव से भी वह युक्त नहीं है यह बात **'अनाकाशम्'** इस श्रुति से जानी जाती

१. अवकाशात्मकस्वकीय स्वरूपवत् ।

स्यितम् । यदप्युक्तं पृथिव्यादिवैधर्म्यादाकाशस्याजत्वमिति । तदप्यसत् । श्रुतिविरोधे सत्युत्पत्त्यसम्भवानुमानस्याभासत्वोपपत्तेः । उत्पत्त्यनुमानस्य च [1]दर्शितत्वात् । अनित्यमाकाशमनित्यगुणाश्रयत्वाद्घटादिवदित्यादिप्रयोगसम्भवाच्च । [2]आत्मन्यनैकान्तिकमिति चेत् । न । [3]तस्यौ[4]पनिषदं प्रत्यनित्यगुणाश्रयत्वासिद्धेः । विभुत्वादिनां चाकाशस्योत्पत्तिवादिनं प्रत्यसिद्धत्वात् । यच्चोक्तमेतच्छब्दाच्चेति, तत्रामृतत्वश्रुतिस्तावद्वियत्यमृता दिवौकस इतिवद्द्रष्टव्या । उत्पत्तिप्रलययोरुपपादितत्वात् । 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्यपि

ब्रह्मेति श्रुत्यर्थः । विभुत्वास्पर्शद्रव्यत्वनिरवयवद्रव्यत्वलिङ्गानां विभक्तत्वादिलिङ्गसहितागमबाधमाह—यदपीत्यादिना । धर्मिविकाराभावे गुणनाशो न स्यादिति तर्कार्थमनित्यपदम् । गुणाश्रयत्वमेव हेतुः । तच्च स्वसमानसत्ताकगुणवत्त्वम्, अतो [5]निर्गुणात्मनि न [6]व्यभिचारः । मूर्तत्वमादिशब्दार्थः । स्वरूपासिद्धिमप्याह—विभुत्वादीनां चेति । सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगः [7]परिमाणविशेषो वा विभुत्वं निर्गुणात्मनि दृष्टान्ते नास्ति । संयोगस्य सावयवत्वनियतस्याजत्वसाध्यविरुद्धता च । स्वरूपोपचयरूपं तु विभुत्वमात्माकाशयोर्न समं, 'ज्यायानाकाशात्' इति श्रुतेः । क्वचिदाकाशसाम्यं तु ब्रह्मणो [8]यत्किंचिद्धर्मसंबन्धेन व्यपदिश्यते । असक्तत्वेन वा । पञ्चीकरणादस्पर्शत्वमसिद्धं, कार्यद्रव्यत्वा-

है । अतः उत्पत्ति से पूर्व आकाशरहित केवल ब्रह्म था । शङ्का—और जो आप ने कहा था कि पृथिव्यादि की अपेक्षा विभुत्व, अस्पर्शद्रव्यत्व, निरवयवत्व एवं द्रव्यत्वरूप वैधर्म्य के कारण आकाश में अजत्व है अर्थात् आकाशं नोत्पद्यते, विभुत्वात्, अस्पर्शद्रव्यत्वात् निरवयवत्वात् द्रव्यत्वात्च, आत्मवत्; इस प्रकार पृथिव्यादि वैधर्म्य के कारण आकाश में अजत्व सिद्ध हो जाता है । समाधान—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि श्रुतिविरोध रहने पर उत्पत्त्यसंभव साधक अनुमान में आभासत्व आ जाता है, जो अनुमान इस सूत्र के प्रारम्भ में दिखलाया जा चुका है । वहाँ कहा गया था कि आकाशो नोत्पद्यते, सामग्र शून्यत्वात्, आत्मवत्; इस अनुमान में सूत्रकार ने सत्प्रतिपक्ष दिया था, कि आकाशो विकारः, विभक्तत्वात्, घटादिवत् । साथ ही तैत्तिरीय श्रुति आकाश की उत्पत्ति मानती है, इसलिए भी पूर्वपक्षी के अनुमान में आभासत्व सिद्ध होना है । आकाशं अनित्यं, अनित्यगुणाश्रयत्वात्, घटादिवत् ऐसा प्रतिप्रयोग (विरुद्धप्रयोग) भी देखा जाता है । यदि कहो कि अनित्यत्व साध्य आत्मा में नहीं है किन्तु उसमें अनित्यगुणाश्रयत्वरूप हेतु है, अतः आप के अनुमान में अनैकान्तिकता है अर्थात् साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तित्व हेतु में विद्यमान है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वेदान्तियों के सामने आत्मा में अनित्यगुणाश्रयत्व सिद्ध नहीं कर सकते, निर्गुण आत्मा में गुण कल्पित हैं । सोपाधिक आत्मा में ही गुण हैं । अतः निर्गुण आत्मा में अनित्यगुणाश्रयत्व नहीं दिखला सकते । साथ ही विभुत्वादि हेतु आकाश की उत्पत्ति मानने वाले वेदान्ती के पक्ष में हैं नहीं । अतः उन हेतुओं में स्वरूपासिद्धि दोष भी है । शङ्का—और जो आप ने कहा था, कि आकाश में अमृतत्व सुना गया है, अतः आकाश उत्पन्न नहीं होता । समाधान—यह आकाश में अमृतत्व बोधक शब्द 'अमृता दिवौकसः' इस वाक्य की भाँति सापेक्षिक समझना चाहिए । आकाश की उत्पत्ति आकाश का प्रलय तो पहले दिखलाया जा चुका है । 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' यह उपमान भी परकीय पक्ष में प्रसिद्ध आकाश के

१. प्रकृतसूत्रोपक्रमे । २. साध्याभाववदात्मनि हेतोः सत्त्वात् । ३. आत्मनः । ४. वेदान्तिनं प्रति । ५. कल्पितगुणवद आत्मनि । ६. परमार्थात्मनि गुणानां कल्पितत्वेन भिन्नसत्ताकत्वादिति भावः । ७. परममहत् । ८. आविद्यकतादात्म्यरूप ।

२. मातरिश्वाधिकरणम् (सू. ८)

वायुर्नित्यो जायते वा छान्दोग्येऽजन्मकीर्तनात ।। सैषाऽनस्तमिता देवतेत्युक्तेर्न च जायते ।।
श्रुत्यन्तरोपसंहारादगौण्यनस्तमयश्रुतिः ।। वियद्वज्जायते वायुः स्वरूपं ब्रह्म कारणम् ।।

'प्रसिद्धमहत्त्वेनाकाशेनोपमानं क्रियते, निरतिशयमहत्त्वाय नाकाशसमत्वाय । यथेषुरिव सविता धावतीति क्षिप्रगतित्वायोच्यते नेषुतुल्यगतित्वाय तद्वत् । एतेनानन्तत्वोपमानश्रुतिर्व्याख्याता । 'ज्यायानाकाशात्' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ब्रह्मण आकाशस्योनपरिमाणत्वसिद्धिः । 'न तस्य प्रतिमास्ति' (श्वे० ४-१९) इति च ब्रह्मणोऽनुपमानत्वं दर्शयति । "अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३-४-२) इति च ब्रह्मणोऽन्येषामाकाशादीनामार्तत्वं दर्शयति । तपसि ब्रह्मशब्दवदाकाशस्य जन्मश्रुतेगौणत्वमित्येतदाकाशसम्भवश्रुत्यनुमानाभ्यां परिहृतम् । तस्माद्ब्रह्मकार्यं वियदिति सिद्धम् ।।७।।

निरवयवत्वमप्यसिद्धं, द्रव्यत्वजातिश्चात्मन्यसिद्धेत्यर्थः । नित्य इत्यंशेन साम्यं न विवक्षितम् । ननु 'स यथाऽनन्तोऽयमाकाशः एवमनन्त आत्मा' इति श्रुतिर्नित्यत्वेनैव साम्यं ब्रूते, नेत्याह—एतेनेति । **आकाशस्य कार्यत्वेनानित्यत्वादित्यर्थः । श्रुतिस्त्वापेक्षिकाऽऽनन्त्यद्वारा मुख्याऽऽनन्त्यं बोधयतीति भावः । न्यूनत्वाच्चाकाशस्य न मुख्योपमानत्वमित्याह—**ज्यायानिति । **मुख्योपमानाऽसत्त्वे श्रुतिः—'न तस्य' इति । तस्मादाकाशस्योपमानत्वमात्रेण नित्यत्वं नास्तीति भावः । अनित्यत्वेनासत्त्वे श्रुतिमाह—**अतोऽन्यदिति । **यत्त्वेकस्यैव संभूतशब्दस्य गौणत्वं मुख्यत्वं चेति । तन्न । आकाशेऽपि तस्य मुख्यत्वसंभवादित्याह—**तपसीति । **बलवत्तित्तिरिश्रुत्या छान्दोग्यश्रुतेर्नयनादेकवाक्यतया स्रष्टरि ब्रह्मात्मनि समन्वय इत्युपसंहरति—**तस्मादिति ।।७।।

महत्त्व को लेकर ही दिया गया है, जो महत्त्व आकाश में आपेक्षिक है, निरपेक्ष महत्त्व आकाश में नहीं है। ब्रह्म में निरतिशय महत्त्व बतलाने के लिए यह उपमा है, न कि आकाश की समता बतलाने के लिए। जैसे 'सविता बाण की भाँति दौड़ता है' यह उपमा शीघ्रगतित्व के लिए दी गयी है, न कि बाणतुल्यगतित्व बतलाने के लिए; वैसे ही ब्रह्म में निरतिशय महत्त्वसिद्धि के लिए आकाश की उपमा दी गयी है। इससे आकाश में अनन्तत्व और आकाश की उपमा बतलाने वाली श्रुति भी व्याख्यात हो गयी अर्थात् आकाश में अनन्तत्वादि भी सापेक्ष ही है। **'ज्यायान् आकाशात्'** इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म की अपेक्षा आकाश का परिमाण न्यून माना गया है। **'न तस्य प्रतिमाऽस्ति'** इस वाक्य से ब्रह्म में अनुपमानत्व दिखलाया गया है और **'अतो अन्यदार्तम्'** यह वाक्य ब्रह्म से भिन्न आकाशादि को विनाशग्रस्त बतलाता है। तप में जैसे ब्रह्म शब्द का प्रयोग गौण है, ऐसे ही आकाश की जन्मश्रुति भी गौण है, इस आक्षेप का भी परिहार आकाश की उत्पत्ति बतलाने वाली बलवती तैत्तिरीय श्रुति और अनुमान से किया जा चुका है। अतः आकाश ब्रह्म का कार्य है, यह सिद्ध हुआ ।। ७ ।।

२. मातरिश्वाधिकरण

१. संगति—पूर्वोक्त न्याय का अतिदेश इस अधिकरण में होने के कारण पूर्व अधिकरण के साथ इसकी अतिदेश संगति है।

---

१. परप्रसिद्ध । २. विनाशग्रस्तम् ।

(२२४) एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥८॥

अतिदेशोऽयम् । एतेन वियद्व्याख्यानेन मातरिश्वापि वियदाश्रयो वायुर्व्याख्यातः । तत्राप्येते यथायोगं पक्षा रचयितव्याः । न वायुरुत्पद्यते छान्दोगानामुत्पत्तिप्रकरणेऽनाम्नानादित्येकः पक्षः । अस्ति तु तैत्तिरीयाणामुत्पत्तिप्रकरण आम्नानम् 'आकाशाद्वायुः' (तै० २-१) इति पक्षान्तरम् । ततश्च श्रुत्योर्विप्रतिषेधे सति गौणी वायोरुत्पत्तिश्रुतिरसंभवादित्यपरोऽभिप्रायः । असंभवश्च 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १-५-२२)

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः । **अतिदेशत्वान्न पृथक्संगत्याद्यपेक्षा । 'तत्तेजोऽसृजत' इति श्रुतेः 'आकाशाद्वायुः' इति श्रुत्या विरोधोऽस्ति न वेति एकवाक्यत्वभावाभावाभ्यां संशये गौणपक्षपूर्वपक्षसिद्धान्तपक्षानतिदिशति**—तत्रापीत्यादिना । **पूर्वत्र ह्याकाशानन्तर्यं तेजसः स्थापितं, तत्र वायुतेजसोस्तुल्यवदानन्तर्ये 'वायोरग्निः' इति क्रमश्रुतिबाधात्पौर्वापर्ये तेजःप्राथम्यभङ्गान्नैकवाक्यतेति पूर्वपक्षे गौणवाद्यभिप्रायमाह**—ततश्चेति । **अस्तमयप्रतिषेधो मुख्योत्पत्त्यसंभवे लिङ्गम् । 'वायुश्चान्तरिक्षं चैतद-**

---

२. **विषय**—वायु उत्पत्ति श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—वायु उत्पन्न होता है अथवा नित्य है ?

४. **पूर्वपक्ष**—छान्दोग्य में वायु की उत्पत्ति न होने के कारण वायु नित्य है । साथ ही "**सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः**" (बृ० १-५-२२) इस बृहदारण्यक श्रुति में वायु के अस्तमय का प्रतिषेध किया गया है, इसलिए भी वायु नित्य है ।

५. **सिद्धान्त**—तैत्तिरीय श्रुति का उपसंहार देखते हुए अनस्तमय श्रुति को गौणी मानना चाहिए । अतः आकाश की भाँति वायु भी उत्पन्न होता है, जिसका कारण आकाश उपाहित ब्रह्मचैतन्य है ।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः (ललिता)

अतिदेश होने के कारण इस अधिकरण की पृथक् संगति नहीं है । आकाश के व्याख्यान से आकाशाश्रित वायु भी व्याख्यात हो गया । यहाँ पर भी यथासम्भव पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष की रचना कर लेनी चाहिए । पूर्वपक्ष—छान्दोग्य के उत्पत्ति प्रकरण में वायु का पाठ न होने के कारण वायु उत्पन्न नहीं होता है । सिद्धान्त—तैत्तिरीय उपनिषद् के उत्पत्ति प्रकरण में '**आकाशाद्वायुः**' ऐसा पाठ मिलता है, ऐसी स्थिति में दोनों श्रुतियों में परस्पर विरोध आने के कारण वायु की उत्पत्ति श्रुति गौणी है क्योंकि उसकी उत्पत्ति **सम्भव** नहीं है, ऐसा एक पक्ष है । असम्भवत्व बतलाया जा चुका है, साथ ही '**सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः**' (यह देवता अस्तमय से रहित है, जो वायु है) इस वाक्य द्वारा वायु के

---

१. छांदोग्ये आकाशमुपसहृत्याकाशं सृष्ट्वा तेजोऽसृजतेति आकाशानन्तर्यं तेजसस्स्थापितं, तैत्तिरीयके चाकाशाद्वायुरिति । आकाशानन्तर्यं वायोः श्रुतमिति तयोस्तुल्यमानंतर्यं वतकरणेन सिद्धान्तदृष्ट्या तौल्यं नास्तीति सूचयति ।

इत्यस्तमयप्रतिषेधात्, अमृतत्वादिश्रवणाच्च । प्रतिज्ञा[1]नुपरोधाद्यावद्विकारं च विभागाभ्युपगमादुत्पद्यते वायुरिति सिद्धान्तः । अस्तमयप्रतिषेधोऽपरविद्याविषय आपेक्षिकः । अग्न्यादीनामिव वायोरस्तमयाभावात् । कृतप्रतिविधानं चामृतत्वादिश्रवणम् ।

ननु वायोराकाशस्य च तुल्ययोरुत्पत्तिप्रकरणे श्रवणाश्रवणयोरेकमेवाधिकरणमुभयविषयमस्तु किमतिदेशेनासति विशेष इति । उच्यते—सत्यमेवमेतत् । तथापि मन्दधियां शब्दमात्रकृताशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयमतिदेशः क्रियते । संवर्गविद्यादिषु ह्युपास्यतया वायोर्महा[2]भागत्वश्रवणात्, अस्तमयप्रतिषेधादिभ्यश्च भवति नित्यत्वाशङ्का कस्यचिदिति ॥८॥

मृतम्' इति तस्यैव लिङ्गस्याभ्यासः । 'वायुरेव व्यष्टिः समष्टिश्च' इति सर्वात्मत्वलिङ्गान्तरमादिपदार्थः । तथा संवर्गविद्यायां 'वायुर्ह्येवैतान्सर्वानग्न्यादीन्संहरति' इति शब्दमात्रेणैश्वर्यश्रवणं लिङ्गान्तरं ग्राह्यम् । एतैर्लिङ्गैर्वायुरनाद्यनन्त इति प्रतीतेरुत्पत्तिगौणीत्यविरोधः श्रुत्योरिति प्राप्ते प्रतिपिपादयिषित[3]प्रतिज्ञाश्रुतेर्बलीयस्त्वात्तत्[4]साधकानां तत्र तत्र वायूत्पत्तिवाक्यानां भूयस्त्वादुक्तविभक्तत्वादिलिङ्गानुग्रहाच्च मुख्यैव वायोरुत्पत्तिः, तथा चाकाशं वायुं च सृष्ट्वा तेजोऽसृजतेति श्रुत्योरेकवाक्यतया ब्रह्मणि समन्वयः । लिङ्गानि तूपास्यवायुस्तावकत्वादापेक्षिकतया व्याख्येयानीति मुख्यसिद्धान्तमाह—प्रतिज्ञेत्यादिना । कृतं प्रतिविधानमापेक्षिकत्वेन समाधानं यस्य तत्तथा ।

अधिकरणारम्भमाक्षिप्यो[5]क्तामधिकाशङ्कामाह—नन्वित्यादिना । 'वायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्ते' इत्यादिशब्दमात्रं शङ्कामूलं नार्थ इति द्योतनार्थं मात्रपदम् । तामेव शङ्कामाह—संवर्गेति । व्यष्टिसमष्ट्युपास्तिः 'वायुं दिशां वत्सं वेद' इत्युपास्तिरवादिशब्दार्थः ॥८॥

नाश का प्रतिषेध किया गया है। इसके विपरीत वायु में अमृतत्व भी सुना जाता है। इस पर मुख्य सिद्धान्ती कहता है कि एक के विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा का बाध न हो और विकार को विभक्त माना गया है, इन दोनों कारणों से वायु की उत्पत्ति मानी गयी है। अस्तमय का प्रतिषेध अपरविद्याविषयक है, जो आपेक्षिक है क्योंकि अग्न्यादि की भाँति वायु का अस्तमय नहीं देखा गया है और अमृतत्वादि श्रवण का समाधान आपेक्षिकत्वेन कर दिया गया है।

पूर्वपक्ष—जब वायु और आकाश की उत्पत्ति प्रकरण में श्रवण और अश्रवण एक जैसा ही है तो ऐसी स्थिति में दोनों के लिए एक ही अधिकरण बनाना चाहिए था, जब दोनों में भेद नहीं है तो अतिदेश से क्या लाभ है? सिद्धान्त—आप का ऐसा कहना ठीक ही है फिर भी मन्दबुद्धि वाले लोगों को शब्दमात्र सुनकर शङ्का हो सकती थी, जिसकी निवृत्ति के लिए यह अतिदेश किया गया है। संवर्गविद्यादि में उपास्यरूप से वायु को महाऐश्वर्यसम्पन्न सुना गया है और अस्तमयप्रतिषेध भी सुना जाता है, इनसे वायु में नित्यत्व की आशङ्का किसी को हो सकती थी, जिसे दूर करने के लिए पृथक् अधिकरण की रचना आवश्यक हो गयी॥ ८ ॥

---

१. अबाधात् । २. महैश्वर्य श्रवणात् । ३. एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानरूपा । ४. तदिति—प्रतिज्ञाबलीयस्त्वं वा ।
५. उक्ताधिकामिति पाठः साधुः ।

३. असंभवाधिकरणम् (सू० ९)

(२२५) असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥९॥

सदब्रह्म जायते नो वा कारणत्वेन जायते । यत्कारणं जायते तद्वियद्वाय्वादयो यथा ॥
असतोऽकारणत्वेन खादीनां सत उद्भवात् । व्याप्तेरजादिवाक्येन बाधात्सन्नैव जायते ॥

वियत्पवनयोरसंभाव्यमानजन्मनोरप्युत्पत्तिमुपश्रुत्य ब्रह्मणोऽपि भवेत्कुतश्चिदुत्पत्तिरिति स्यात्कस्यचिन्मतिः । तथा विकारेभ्य एवाकाशादिभ्य उत्तरेषां विकाराणामुत्पत्तिमुपश्रुत्याकाशस्यापि विकारादेव ब्रह्मण उत्पत्तिरिति कश्चिन्मन्येत । तामाशङ्कामपनेतुमिदं सूत्रम्—'असंभवस्तु' इति ।

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः । 'अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्', 'न चास्य कश्चिज्जनिता' इत्यादि ब्रह्मानादित्वश्रुतीनां 'त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' इत्युत्पत्तिश्रुत्या विरोधोऽस्ति न वेत्येकवाक्यत्वभावाभावाभ्यां संदेहेऽस्ति विरोध इति पूर्वपक्षे यथा वाय्वादेरमृतत्वादिकमुत्पत्तिश्रुतिबलादापेक्षिकं तथा ब्रह्मानादित्वमापेक्षिकमिति दृष्टान्तसंगत्या एकदेशिपक्षं प्रापयति—वियदिति । ब्रह्म कुतश्चिज्जायते, कारणत्वात्, आकाशवदित्यनुमानानुग्रहाज्जन्मश्रुतिर्बलीयसीत्याह—तथेति । न चानादिकारणाभावेनानवस्था बीजाङ्कुरवदनादित्वोपपत्तेः । तथाच दीपाद्दीपवद्ब्रह्मान्तराद्ब्रह्मान्तरोत्पत्तिः, उत्पत्तिश्रुत्या चानादित्वश्रुतिर्नेयेत्यनाद्यनन्तब्रह्मसमन्वयासिद्धिरिति प्राप्ते मुख्यसिद्धान्तमाह—तामिति । ब्रह्म नव जायते, कारणशून्यत्वात्, नरविषाणवत्, व्यतिरेकेण घटवच्चेत्यनुमानानुग्रहाद्विपक्षे चाकारणककार्यवादप्रसङ्गाद्ब्रह्मानादित्वश्रुतयो बलीयस्य इति कारणत्वलिङ्गबाधाज्जन्मश्रुतिः 'कार्यमिदेन व्याख्येयेत्यनाद्यनन्तब्रह्मसमन्वयसिद्धिरिति सिद्धान्तफलम् । नच हेत्वसिद्धिः, कारणस्यानिरूपणात् ।

---

३. असम्भवाधिकरण

१. **संगति**—आकाश और वायु की उत्पत्ति असम्भव होने पर भी उत्पत्ति श्रुति के आधार पर पिछले अधिकरणों में उनकी उत्पत्ति का समर्थन किया गया । वैसे ही श्रुति के बल से अन्य ब्रह्म से अन्य ब्रह्म की उत्पत्ति माननी चाहिए, ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२ **विषय**—ब्रह्मोत्पत्तिश्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—सद्ब्रह्म उत्पन्न होता है अथवा नित्य है?

४. **पूर्वपक्ष**—कारण होने से ब्रह्म उत्पन्न होता है क्योंकि जो कारण होता है वह उत्पन्न होते देखा गया है जैसे कि आकाश और वायु ।

५. **सिद्धान्त**—ब्रह्म का कोई कारण नहीं, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न सत् और असत् ऐसे दो पदार्थ कल्पित हैं । उनमें से असत् तो किसी का उपादान कारण हो ही नहीं सकता और सत् से आकाशादि की उत्पत्ति सुनी जाती हैं । साथ ही ब्रह्म को अज, नित्य, शाश्वत् आदि कहे जाने के कारण **'यद्यत्कारणं तत्तद् उत्पत्तिशीलं'** इस व्याप्ति का बाध हो जाता है । अतः सद्ब्रह्म उत्पन्न नहीं होता ।

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः (ललिता)

आकाश और वायु की उत्पत्ति असम्भव थी, फिर भी उसकी उत्पत्ति जब आप ने मान ली, तो किसी न किसी से ब्रह्म की भी उत्पत्ति माननी चाहिए, ऐसी धारणा किसी की हो सकती है; क्योंकि आकाशादि विकारों से ही उत्तर पवनादि विकारों की उत्पत्ति सुनकर आकाश की भी किसी विकारात्मक ब्रह्म से उत्पत्ति हो सकती है, ऐसा कोई मान सकता है; उसकी इस शङ्का को दूर करने के लिए अग्रिम सूत्र है—

---

१. अनभिव्यक्त नामरूप कार्याभिन्नः सन्नभिव्यक्त नामरूपत्वेन जन्म लभते ।

न खलु ब्रह्मणः सदात्मकस्य कुतश्चिदन्यतः संभव उत्पत्तिराशङ्कितव्या। कस्मात्? अनुपपत्तेः। सन्मात्रं हि ब्रह्म। न तस्य सन्मात्रादेवोत्पत्तिः संभवति, असत्यतिशये प्रकृतिविकारभावानुपपत्तेः। नापि सद्विशेषाद्दृष्टविपर्ययात्। सामान्याद्धि विशेषा उत्पद्यमाना दृश्यन्ते मृदादेर्घटादयो, न तु विशेषेभ्यः सामान्यम्। नाप्यसतो निरात्मकत्वात्। 'कथमसतः सज्जायेत' (छा० ८-७-१) इति चाक्षेपश्रवणात्। 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६।९) इति च ब्रह्मणो जनयितारं वारयति। वियत्पवनयोः पुनरुत्पत्तिः प्रदर्शिता न तु ब्रह्मणः सास्तीति वैषम्यम्।

नच विकारेभ्यो विकारान्तरोत्पत्तिदर्शनाद्ब्रह्मणोऽपि विकारत्वं भवितुमर्हतीति मूलप्रकृत्यनभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। या मूलप्रकृतिरभ्युपगम्यते तदेव च नो ब्रह्मेत्यविरोधः ॥९॥

तथाहि—किं सन्मात्रस्य ब्रह्मणः सन्मात्रमेव सामान्यं कारणं सद्विशेषो वा असद्वा। न त्रेधापीत्याह—सन्मात्रं हीत्यादिना। दोषस्तु दोषान्तरे निमित्तमित्यनुदाहरणम्। वियत्पवनयोर्ब्रह्मणश्च विभक्तत्वाविभक्तत्वाभ्यां कारणभावाभ्यां च वैषम्यम्। कारणत्वलिङ्गास्याप्रामाणिकानवस्था।

तर्कमपि बाधमाह—नच विकारेभ्य इत्यादिना। कारणस्यानभ्युपगमे यदृच्छावादप्रसङ्गः, अनादिकारणानभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गः तदभ्युपगमे ब्रह्मत्वप्रसङ्गः, कारणान्तरस्य प्रधानादेर्निरासादिति भावः ॥९॥

सदात्मक ब्रह्म की उत्पत्ति की आशङ्का किसी अन्य से नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ब्रह्म सन्मात्र है, उस ब्रह्म की सन्मात्र से ही उत्पत्ति सम्भव नहीं है। कार्य-कारण में वैशिष्ट्य माने बिना प्रकृति भावविकार सिद्ध नहीं होता। अतः सन्मात्र से सन्मात्र ब्रह्म की उत्पत्ति सम्भव नहीं है और न सद्विशेष से सन्मात्र ब्रह्म की उत्पत्ति हो सकती है, क्योंकि ऐसा मानने पर दृष्टविपर्यय हो जायेगा। मृत्तिकादि सामान्य से घटादि विशेष उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं, न कि घटादि विशेष से मृदादि सामान्य उत्पन्न होते हैं और न असत् कारण से सद्ब्रह्म की उत्पत्ति सम्भव है क्योंकि ऐसा मानने पर निरात्मक शून्यवाद का प्रसंग आ जायेगा। 'असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है' ऐसा आक्षेप भी सुना जाता है, साथ ही 'वह ब्रह्म सबका कारण है, करणाधिपति जीव का भी वह अधिपति है, न तो इस ब्रह्म का कोई जनक है और न अधिपति ही है' इस वाक्य द्वारा ब्रह्म की जनयिता का निषेध करते हैं। आकाश और पवन की उत्पत्ति तो श्रुति में दिखलायी जा चुकी है किन्तु ब्रह्म की उत्पत्ति बतलाने वाली कोई श्रुति नहीं है। अतः पूर्वपक्षी के दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्त में वैषम्य है।

शङ्का—जब आकाशादि विकारों से विकारान्तर की उत्पत्ति देखी गयी, तो ब्रह्म में भी विकारत्व मान लेना चाहिए? समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि मूल प्रकृति को न मानने पर अनवस्था का प्रसंग आ जायेगा, जिसे मूल प्रकृति मानते हैं वही तो हमारा ब्रह्म है। इस प्रकार विरोध का का परिहार हो जाता है।

---

१. दृष्टविपर्यासमेवाह सामान्यमिति। २. कारणसत्त्वासत्त्वाभ्यामित्यर्थः। ३. आकस्मिकोत्पत्तिः।

४. तेजोधिकरणम् (सू. १०)

(२२६) तेजोऽतस्तथाह्याह ॥१०॥

ब्रह्मणो जायते वह्निर्वायोर्वा ब्रह्मसयुतात् । तत्तेजोऽसृजतेत्युक्तेर्ब्रह्मणो जायतेऽनलः ॥
वायोरग्निरिति श्रुत्या पूर्वश्रुत्येकवाक्यतः । ब्रह्मणो वायुरूपत्वमापन्नादग्निसम्भवः ॥

छान्दोग्ये सन्मूलत्वं तेजसः श्रावितं, तैत्तिरीयके तु वायुमूलत्वं, तत्र तेजोयोनिं प्रति श्रुतिविप्रतिपत्तौ सत्यां प्राप्तं तावद्ब्रह्मयोनिकं तेज इति। कुतः? 'सदेव' इत्युपक्रम्य 'तत्तेजोऽसृजत' इत्युपदेशात्। सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाश्च ब्रह्मप्रभवत्वे सर्वस्य संभवात्। 'तज्जलान्' (छा० ८-७-१) इति [1]चाविशेषश्रुतेः 'एतस्माज्जायते प्राणः' (मुण्ड० २-१-३) इति चोपक्रम्य [2]श्रुत्यन्तरे सर्वस्याविशेषेण ब्रह्मजत्वोपदेशात्। तैत्तिरीयके च 'स तपस्तप्त्वा

तेजोऽतस्तथाह्याह। 'तत्तेजोऽसृजत' इति 'वायोरग्निः' **इति च श्रुत्योर्विरोधोऽस्ति न वेति संदेहे सामान्यात्सामान्योत्पत्त्यसंभवेऽपि ब्रह्मवाय्वोः सामान्ययोस्तेजोरूपविशेषोपादानत्वसंभवात्तुल्यबलतयास्ति विरोध इति [3]प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षः। सर्वत्राध्यायसमाप्तेरेकवाक्यत्वसंभवसंभवौ संशयबीजम्। पूर्वपक्षे श्रुतीनां विरोधादप्रामाण्यं फलं, सिद्धान्ते प्रामाण्यमित्युक्तं न विस्मर्तव्यम्। एवं पूर्वपक्षे कार्यमात्रस्य विवर्तत्वात्कल्पितस्य वायोस्तेजःकल्पनाधिष्ठानत्वायोगाद्ब्रह्मैव तेजस उपादानं सर्वकार्याणां ब्रह्मैवोपादानमित्यर्थे श्रुतीनां भूयस्त्वाच्च तदनुरोधाद्वायोरिति क्रमार्था पञ्चमीत्यविरोध इत्येकदेशिसिद्धान्तं प्रापयति**—प्राप्तं तावद्ब्रह्मयोनिकं तेज इत्यादिना। **श्रुतीनां विरोधमात्रोपन्यासेन**

---

४. तेजोऽधिकरण

१. **संगति**—सामान्य से सामान्य की उत्पत्ति चाहे न भी मानी जाय, फिर भी सामान्य ब्रह्म से विशेष तेज की उत्पत्ति तो मान ही सकते हैं, इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसको प्रत्युदाहरण संगति है।

२. **विषय**—तेज उत्पत्ति श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—क्या ब्रह्म से वह्नि उत्पन्न होता है अथवा वायुरूपापन्न ब्रह्म से ?

४. **पूर्वपक्ष**—**'तत्तेजोऽसृजत'** (छा० ६-२-३) इस श्रुति के आधार पर ब्रह्म से ही वह्नि की उत्पत्ति माननी चाहिए।

५. **सिद्धान्त**—**'वायोरग्निः'** (तै० ३-२) इस तैत्तिरीय श्रुति के साथ छान्दोग्य श्रुति की एकवाक्यता मान लेने पर वायुरूपापन्न ब्रह्म से अग्नि की उत्पत्ति माननी चाहिए, केवल ब्रह्म से नहीं।

तेजोऽतस्तथाह्याह (ललिता)

छान्दोग्य में तेज को सन्मूलक कहा और तैत्तिरीय में तेज को वायुमूलक कहा है, ऐसी स्थिति में तेज के कारण के प्रति श्रुतियों का परस्पर विरोध आने पर ब्रह्म को ही तेज का कारण मानना चाहिए क्योंकि **'सदेव'** यहाँ से प्रसंग प्रारम्भकर 'उस सत् ने तेज की उत्पत्ति की' ऐसा उपदेश है। इस उपदेश से और सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा के आधार पर सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म से उत्पन्न माना जाना चाहिए। 'तज्जलान्' इस वाक्य में सभी की उत्पत्ति सामान्यरूप से सुनी जाती है और **'एतस्माज्जायते प्राणः'** यहाँ से प्रसंग प्रारम्भकर प्रश्नोपनिषद् में सभी का सामान्यतः ब्रह्म से ही उत्पन्न होना माना गया

---

१. कार्यमात्रस्य सत एव श्रवणात्। २. मुण्डके। ३. व्यतिरेकिदृष्टान्तेन।

इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच' (तै० ३-६-१) इत्यविशेषश्रवणात्। तस्मात् 'वायोरग्निः' इति क्रमोपदेशो द्रष्टव्यः। वायोरनन्तरमग्निः सम्भूत इति। एवं प्राप्त उच्यते—तेजोऽतो मातरिश्वनो जायत इति। कस्मात्? तथाह्याह—वायोरग्निः' इति। 'अव्यवहिते हि तेजसो ब्रह्मजत्वे सत्यसति वायुजत्वे वायोरग्निरितीयं श्रुतिः कदर्थिता स्यात्। ननु क्रमार्थैषा भविष्यतीत्युक्तम्। नेति ब्रूमः—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २-१-१) इति पुरस्तात् संभवत्यपादानस्यात्मनः 'पञ्चमीनिर्देशात्, तस्यैव च संभवतेरिहाधिकारात्, परस्तादपि च तदधिकारे 'पृथिव्या ओषधयः' (तै० २-१-१) इत्यपादानपञ्चमीदर्शनाद्वायोरग्निरित्यपादानपञ्चम्येवैषेति गम्यते। अपिच वायोरूर्ध्वमग्निः संभूत इति कल्प्य उपपदार्थयोगः क्लृप्तस्तु कारकार्थयोगो वायोरग्निः संभूत इति।

पूर्वपक्षः, 'अपसिद्धान्तेनाविरोधात्तावदेकदेशिपक्ष इति ज्ञेयम्। तदुभयमपि मुख्यसिद्धान्तापेक्षया पूर्वपक्षत्वेन व्यवह्रियते। सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इति। कदर्थिता बाधितार्थेति यावत्। वायोस्तेजःप्रकृतित्वं पञ्चमीश्रुत्या निर्धारितं, नच कल्पितस्योपादानत्वासंभवः, अधिष्ठानत्वासंभवेऽपि मृदादिवत्परिणामित्वसंभवात्, सतस्तु ब्रह्मणश्छान्दोग्ये स्रष्टृत्वमात्रं श्रुतं नोपादानत्वम्। नच 'बहु स्याम्' इति कार्याभेदेक्षणलिङ्गादुपादानत्वसिद्धिः, लिङ्गात् श्रुतेर्बलीयस्त्वेन श्रुत्यविरोधेन लिङ्गस्य नेयत्वात्। नयनं चेत्थं वायोर्ब्रह्मानन्यत्वाद्वायुजस्यापि तेजसो ब्रह्मप्रकृतिकत्वमविरुद्धमिति सिद्धान्तप्रघाशयः। इहाधिकारादिति। वायोरग्निः संभूत इति वाक्ये संबन्धादित्यर्थः। तदधिकारे संभूत्यधिकारे। निरपेक्षकारकविभक्तेरुपपदसापेक्षविभक्त्यपेक्षया प्रबलत्वाच्च न क्रमार्था पञ्चमीत्याह—अपिचेति। ऊर्ध्वमनन्तरमिति वोपपदं विना पञ्चमीमात्रात्क्रमो न भातीति कल्प्य उपपदार्थप्रयोगः। प्रकृत्याख्यापादानकारकं तु निरपेक्षपञ्चम्या भाति। विशेषताऽत्र। प्रकरणादपादानार्थत्वं पञ्चम्याः क्लृप्तं

है। तैत्तिरीय में भी 'उस परमेश्वर ने तप करके इस सम्पूर्ण जगत् को बनाया, जो कुछ भी संसार दीखता है' यहां पर अविशेष रूप से उत्पत्ति सुनी गयी है। अतः परमेश्वर से ही वायु और अग्नि की उत्पत्ति मानी गयी है। 'वायोरग्निः' इसमें तो केवल क्रम ही समझना चाहिए अर्थात् उस परमेश्वर से वायु के बाद अग्नि उत्पन्न हुई, ऐसा अर्थ करना चाहिए? ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि वायु से तेज उत्पन्न होता है क्योंकि श्रुति में 'वायोरग्निः' ऐसा कहा है। साक्षात् ब्रह्म से तेज की उत्पत्ति मानने पर एवं वायु से तेज की उत्पत्ति न मानने पर 'वायोरग्निः' यह श्रुति कदर्थित हो जायेगी। शङ्का—यह श्रुति क्रममात्रबोधक है, ऐसा हम कह आये हैं? समाधान—आप का ऐसा कहना हम ठीक नहीं मानते, क्योंकि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः' इस पूर्ववाक्य में अपादान आत्मा से सम्भव अर्थ में पञ्चमी विभक्ति का निर्देश है, उसी सम्भव का अधिकार आगे भी चलता है। उस अधिकार में 'पृथिव्या ओषधयः' इस वाक्य में अपादानार्थक पञ्चमी देखी जाती है। अतः 'वायोरग्निः' इस वाक्य में भी अपादानार्थक पञ्चमी ही है, ऐसा निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त आपके कथनानुसार वायोरूर्ध्वम् अग्नि सम्भूतः ऐसे उपपदार्थ सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी, परन्तु कारकार्थ सम्बन्ध तो 'वायोरग्निः सम्भूतः' इस वाक्य में पूर्व से क्लृप्त (सिद्ध) है, कल्पनीय नहीं है।

१. साक्षादित्यर्थः। २ संभवनं सभवतिस्तस्यापादान तस्येत्यर्थः। ३. अपादानपंचमी। ४. एकदेशिसिद्धान्तेन। ५. द्रष्टव्येति शेषः।

तस्मादेषा [1]श्रुतिर्वायुयोनित्वं तेजसोऽवगमयति ।

नन्वितरापि श्रुतिर्ब्रह्मयोनित्वं तेजसोऽवगमयति 'तत्तेजोऽसृजत' इति । न । तस्याः पारम्पर्यजत्वेऽप्यविरोधात् । यदापि ह्याकाशं वायुं च सृष्ट्वा वायुभावापन्नं ब्रह्म तेजोऽसृजतेति कल्प्यते, तदापि ब्रह्मजत्वं तेजसो न विरुध्यते । यथा तस्याः शृतं तस्या दधि तस्या आमिक्षेत्यादि । दर्शयति च ब्रह्मणो विकारात्मनावस्थानं 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २-७-१) इति । तथाचेश्वरस्मरणं भवति—'बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः' (भ० गी० १०-४) इत्याद्यनुक्रम्य 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' (भ० गी० १०-५) इति । यद्यपि बुद्ध्यादयः स्वकारणेभ्यः प्रत्यक्षं भवन्तो दृश्यन्ते तथापि सर्वस्य भावजातस्य साक्षात्प्रणाड्या वेश्वरवंश्यत्वात् । [2]एतेनाक्रमवत्सृष्टिवादिन्यः श्रुतयो व्याख्याताः । [3]तासां

क्लृप्तेन च कल्प्यं सति विरोधे बाध्यमिति स्थितिरित्यर्थः ।

पारम्पर्यजत्वमेवाह—यदापीति । तस्या धेनोः शृतं तप्तं क्षीरं साक्षात्कार्यं, दध्यादिकं तु पारम्पर्यजमित्यर्थः । दधिसंसृष्टं कठिनक्षीरमामिक्षा । ब्रह्मणो वायुभावे मानमाह—दर्शयतिचेति । पारम्पर्यजस्यापि तज्जत्वव्यपदेशे स्मृतिमाह—तथाचेति । [4]अन्तःकरणादिभ्यो जायमानबुद्ध्यादीनां मत्त एवेत्यवधारणं कथमित्याशङ्क्याह—यद्यपीत्यादिना । प्रणाड्या परंपरयेश्वरवंश्यत्वात्तज्जत्वात्परमकारणान्तरनिरासार्थमवधारणं युक्तमिति शेषः । एतत्पदार्थमाह—तासामिति ।

कल्पनीय से क्लृप्त बलवान् होता है । अतः यह पञ्चमी श्रुति वायुयोनित्व तेज को बतलाती है ।

शङ्का—'तत्तेजोऽसृजत' यह दूसरी श्रुति भी तेज में ब्रह्मयोनित्व का बोध कराती ही है, फिर इसका निषेध कैसे कर सकोगे । समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उस श्रुति में परम्परया ब्रह्मजन्यत्व मानने पर भी विरोध का परिहार हो जाता है, क्योंकि आकाश और वायु की सृष्टिकर वायुभावापन्न ब्रह्म ने तेज की सृष्टि की, ऐसी कल्पना भी कर सकते हैं, इससे तेज में ब्रह्मजन्यत्व का कोई विरोध नहीं आता है । जैसे गौ का धारोष्ण दूध, गौ की दधि और गौ की आमिक्षा इत्यादि वाक्य में धारोष्ण दूध गौ से साक्षात् निकलता है किन्तु दधि और आमिक्षा (पनीर) गौ का साक्षात् विकार नहीं है, वह तो परम्परया गो विकार है । 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' यह श्रुति विकाररूप से ब्रह्म का अवस्थान बतलाती ही है । 'बुद्धि, ज्ञान और असम्मोह' यहाँ से प्रसंग प्रारम्भकर 'ये भूतों के भाव मुझसे ही पृथक्-पृथक् उत्पन्न होते हैं' ऐसा ही भगवद्गीता वाक्य भी है । यद्यपि बुद्ध्यादि अपने कारणों पञ्चभूतों से साक्षात् उत्पन्न होते देखे जाते हैं, फिर भी सभी पदार्थसमुदाय साक्षात् या परम्परया ईश्वर से उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार व्याख्यान कर देने पर बिना क्रम के सृष्टि बतलाने वाली श्रुतियाँ भी व्याख्यात हो जाती हैं, क्योंकि उनकी युक्तियुक्तता क्रमबद्ध सृष्टि बतलाने वाली श्रुति के अनुसार मानने में कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु क्रमबद्ध सृष्टि बतलाने वाली श्रुतियों का व्याख्यान अन्य प्रकार

१. पञ्चमी श्रुतिः । २. साक्षात्परम्परया वा ब्रह्मजत्वकथनेन । ३. अक्रमश्रुतीनाम् । ४. उपपदनिरपेक्षपञ्चमी मात्रात् । ५. समष्टिभूतसत्त्वात् कार्यान्तःकरणस्यैव शाखाबुद्ध्यादयः ।

५. अबधिकरणम् (सू. ११)

(२२७) आपः ॥११॥

ब्रह्मणोऽपां जन्म किं वा वह्नेनाग्निर्जलोद्भवः । विरुद्धत्वान्नीरजन्म ब्रह्मणः सर्वकारणात् ।
अग्नेराप इति श्रुत्या ब्रह्मणो वह्न्युपाधिकात् । अपां जनिर्विरोधस्तु सूक्ष्मयोर्नाग्निनीरयोः ॥

सर्वथोपपत्तेः । क्रमवत्सृष्टिवादिनीनां त्वन्यथानुपपत्तेः । प्रतिज्ञापि [1]सद्वंश्यत्वमात्रमपेक्षते नाव्यवहितजन्यत्वमित्यविरोधः ॥१०॥

'अतस्तथाह्याह' इत्यनुवर्तते । आपोऽतस्तेजसो जायन्ते । कस्मात् ? तथाह्याह– [2]'तदपो-

---

'तज्जलान्' इत्याद्युक्तश्रुतीनां साक्षात्प्रणाड्या वा ब्रह्मजत्वमात्रेणोपपत्तेरित्यर्थः । अक्रमश्रुतीनां बलवत्क्रमश्रुत्यनुसारेणैकवाक्यत्वाद्वियद्वायुद्वारा तेजःकारणे ब्रह्मणि समन्वय इति सिद्धम् ॥१०॥

आपः । अतिदेशोऽयम् । तथा ह्याथर्वणे मुण्डकग्रन्थे 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' इति मन्त्रेऽपां ब्रह्मजत्वं श्रुतम् । 'अग्नेरापः' इति श्रुत्या तस्य विरोधोऽस्ति न वेति संदेहे तुल्यत्वादस्ति विरोध इति पूर्वपक्षे अपामग्निदाह्यत्वेन विरोधादग्निजत्वासंभवात्क्रमार्था पञ्चमीत्यविरोध इत्यधिकाशङ्कायामुक्ततेजोन्यायमतिदिश्य व्याचष्टे–अत

से नहीं कर सकते । एक के विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा भी ब्रह्मजत्वमात्र की अपेक्षा रखती है, न कि साक्षात् ब्रह्मजन्यत्व की । अतः तेज को साक्षात् ब्रह्मजन्य न मानकर वायुभावापन्न ब्रह्मजन्य मानने में कोई विरोध नहीं है । इस प्रकार तेज के कारण ब्रह्म में उक्त श्रुतियों का समन्वय निर्विवाद सिद्ध हुआ ॥१०॥

५. अबधिकरण

१. **संगति**—वायु से तेज उत्पन्न हुआ, ऐसा कहने के बाद अब जल एवं पृथ्वी बुद्धिस्थ हैं । अतः बुद्धिसन्निधानरूप संगति के कारण आगे के दो अधिकरण प्रारम्भ किये जाते हैं ।

२. **विषय**—जल की उत्पत्ति श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—ब्रह्म से जल की उत्पत्ति होती है अथवा अग्नि से?

४. **पूर्वपक्ष**—जल और अग्नि का परस्पर विरोध होने के कारण उनका कार्य-कारणभाव मानना उचित नहीं है । अतः सर्वकारण ब्रह्म से ही जल की उत्पत्ति माननी चाहिए । **'अग्नेरापः'** (तै० ३·२) इस श्रुति से वह्नि उपाधि वाले ब्रह्मचैतन्य से ही जल की उत्पत्ति माननी चाहिए ।

५. **सिद्धान्त**—स्थूल वह्नि और जल का विरोध है, सूक्ष्म का नहीं । अतः सूक्ष्म वह्नि से जल की उत्पत्ति मानने में कोई विरोध नहीं है ।

आपः (ललिता)

'अतस्तथा ह्याह' इतने की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र से लाते हैं । तेज से जल उत्पन्न होता है क्योंकि 'उस तेज ने जल की सृष्टि की' 'अग्नि से जल उत्पन्न हुआ' इन दोनों श्रुतियों ने तेज से जल की उत्पत्ति कही है । इस अर्थ के बोधक वचन रहने पर इस सम्बन्ध में संशय का कोई स्थान नहीं रह जाता । त्रिवृत्कृत तेज एवं जल का विरोध होने पर भी **'अग्नेरापः'** इस

---

१. सज्जत्वमात्रम् । २. तेजोभावापन्नं ब्रह्म ।

६. पृथिव्यधिकरणम् (सू.-१२)

(२२८) पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥१२॥

ता अन्नमसृजन्तेति श्रुतमन्नं यवादिकम् । पृथिवी वा यवाद्येव लोकेऽन्नत्वप्रसिद्धितः ॥
भूताधिकारात् कृष्णस्य रूपस्य श्रवणादपि । तथाऽद्भ्यः पृथिवीत्युक्तेरन्नं पृथ्व्यन्नहेतुतः ॥

ऽसृजत' इति 'अग्नेरापः' इति च । सति वचने नास्ति संशयः । तेजसस्तु सृष्टिं व्याख्याय पृथिव्या व्याख्यास्यन्नपोऽन्तरियामीत्याप इति सूत्रयांबभूव ॥११॥

'ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त' (छा० ६-२-४) इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमनेनान्नशब्देन व्रीहियवाद्यभ्यवहार्यं चौदनाद्युच्यते किं वा

इति । प्रत्यक्षविरोधे कथमपामग्निजत्वनिर्णयः, तत्राह—सति वचन इति । त्रिवृत्कृतयोरप्तेजसो-र्विरोधेऽप्यग्नेराप इति वचनादतीन्द्रिययोस्तयोर्नास्ति विरोध इति निर्णीयत इत्यर्थः । न केवलं श्रुत्यविरोधज्ञानायायमतिदेशः किंतु पञ्चभूतोत्पत्तिक्रमनिर्णयार्थं चेत्याह—तेजसस्त्विति । तस्मात्ते-जोभावापन्ने ब्रह्मणि श्रुतिसमन्वय इति सिद्धम् ॥११॥

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः । विषयमुक्त्वान्नशब्दमहाभूतप्रकरणाभ्यां संशयमाह—ता इति ।

श्रुतिवाक्य के आधार पर अतीन्द्रिय (अत्रिवृत्) जल और तेज में विरोध नहीं है, यह निश्चित हो जाता है । इस सूत्र में अतिदेश केवल श्रुतिविरोधपरिहारार्थ नहीं है, किन्तु पञ्चभूतोत्पत्तिक्रमनिर्णयार्थ भी है । इसीलिए तेज की सृष्टि बतलाकर पृथ्वी की सृष्टि बतलाने के लिए मध्य में जल की सृष्टि की चिन्ता सूत्रकार ने की है एतदर्थ 'आपः' इस सूत्र को बनाया है । अपो अन्तरं करोमि आचष्टे वा, इस विग्रह में अन्तर शब्द से णिच् प्रत्यय किया गया है और उस णिजन्त धातु से लट् लकार उत्तम पुरुष एक वचन में अन्तरियामि यह शब्द निष्पन्न होता है ॥ ११ ॥

६. पृथिव्यधिकरण

१. **संगति**—पूर्व अधिकरण द्वारा निरूपित है ।

२. **विषय**—पृथ्वी उत्पत्ति श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—'**ता अन्नमसृजन्त**' (छा० ६-२-४) इस श्रुति में यवादि अन्न की उत्पत्ति बतलायी गयी है अथवा पृथ्वी की?

४. **पूर्वपक्ष**—लोक में अन्न शब्द की प्रसिद्धि यवादि अर्थ में ही है, इसलिए जल से यवादि की ही उत्पत्ति माननी चाहिए, पृथ्वी की नहीं ।

५. **सिद्धान्त**—भूत उत्पत्ति का प्रसंग होने से और कृष्णरूप श्रवण होने से भी जल से पृथ्वी की उत्पत्ति माननी चाहिए । अन्न का कारण होने से पृथ्वी को भी अन्न शब्द से कहा गया है । अतः '**अद्भ्यः पृथिवी**' (जलसे पृथिवी) तथा '**ता अन्नमसृजन्त**' ये दोनों श्रुतियाँ समानार्थक हैं, इन दोनों की एकवाक्यता होने के कारण इनका विरोध नहीं है ।

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः (ललिता)

उस जल ने ईक्षण किया, कि हम बहुतरूप हो जायें, प्रजारूप से उत्पन्न हों ऐसा संकल्पकर उसने अन्न की सृष्टि की, ऐसा सुना जाता है । अन्न शब्द और महाभूत का प्रकरण होने के कारण वहाँ पर संशय होता है, कि इस अन्न शब्द से व्रीहियवादि का और ओदनादि भक्ष्य का ग्रहण करना चाहिए

पृथिवीति । [1]तत्र प्राप्तं तावद्व्रीहियवाद्योदनादि वा परिग्रहीतव्यमिति । तत्र ह्यन्नशब्दः प्रसिद्धो लोके, वाक्यशेषोऽप्येतमर्थमु[2]पोद्बलयति । 'तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवतीति' । व्रीहियवाद्येव हि सति वर्षणे बहु भवति न पृथिवीति । एवं प्राप्ते ब्रूमः— पृथिव्येवेयमन्नशब्देनाद्भ्यो जायमाना विवक्ष्यत इति । कस्मात् ? अधिकाराद्रूपाच्छब्दान्तराच्च । अधिकारस्तावत् 'तत्तेजोऽसृजत', 'तदपोऽसृजत' इति महाभूतविषयो वर्तते । तत्र क्रमप्राप्तां पृथिवीं [3]महाभूतं सृष्टिं विलङ्घ्य नाकस्माद्व्रीह्यादिपरिग्रहो न्याय्यः । तथा रूपमपि वाक्यशेषे पृथिव्यनुगुणं दृश्यते 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति । न ह्योदनादेरभ्यवहार्यस्य कृष्णत्वनियमोऽस्ति । नापि व्रीह्यादीनाम् ।

ननु पृथिव्या अपि नैव कृष्णत्वनियमोऽस्ति पयःपाण्डुरस्याङ्गाररोहितस्य च क्षेत्रस्य दर्शनात् । नायं दोषः । बाहुल्यापेक्षत्वात् । भूयिष्ठं हि पृथिव्याः कृष्णं रूपं न तथा

अभ्यवहार्यं भक्ष्यम् । अत्र श्रुतौ यद्यन्नमोदनादिकं तदा 'अद्भ्यः पृथिवी' इति श्रुत्या विरोधः, यदि पृथिवी तदा न विरोध इति फलं बोध्यम् । अप्पृथिव्योः कार्यकारणभावादधिकरणसंगतिः । अन्नश्रुतिवृष्टिप्रभवत्वलिङ्गाभ्यां पूर्वपक्षः । तदेव तत्रैवेति श्रुत्यर्थः । तथाच क्वचिदन्नं क्वचिदद्भ्यः पृथिवी ततोऽन्नमिति विरोधान्नैकवाक्यतेति प्राप्ते सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इति । अधिकारः प्रकरणम् । रूपं लिङ्गम् ।

पयः क्षीरं तद्वत्पाण्डुरं श्वेतम्, अङ्गारवद्रोहितं रक्तम् । शब्दान्तरशब्दितं स्थानं व्याचष्टे—

अथवा पृथ्वी अर्थ लेना चाहिए । उस पर पूर्वपक्ष का कहना है, कि व्रीहियवादि अथवा ओदनादि अर्थ लेना ठीक रहेगा, क्योंकि लोक में उन्हीं अर्थों में अन्न शब्द प्रसिद्ध है और यह प्रसिद्ध अन्न शब्द वाक्यशेष से उक्त अर्थ का दृढ़ता से स्थापक भी है । इसलिए जहाँ कहीं वर्षा होती है, वहीं पर प्रभूत व्रीहियवादि अन्न उत्पन्न होते हैं । पृथ्वी के रहने पर व्रीहियवादि अन्न नहीं होता किन्तु पृथ्वी पर जल बरसने से होता है? ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि जल से उत्पन्न होने वाली अन्नशब्दवाच्य पृथ्वी को ही बतलाना अभीष्ट है, क्योंकि भूतोत्पत्ति के प्रकरणरूप और शब्दान्तर स्थान प्रमाण मिलते हैं । सर्वप्रथम अधिकार (प्रकरण) को देखिये 'उसने तेज की सृष्टि की, उसने जल की सृष्टि की' यह महाभूत को विषय कर रहा है । वहाँ पर तेज एवं जल के बाद महाभूत सृष्टि क्रमशः पृथ्वी की होनी चाहिए, उस क्रम का उल्लंघनकर अकस्मात् व्रीहियवादि अर्थ मानना न्याय नहीं होगा । वैसे ही वाक्यशेष में रूप भी उसी अर्थ का निर्णायक लिङ्ग है । पृथ्वी के ही अनुरूप रूप भी वाक्यशेष में दीखता है 'जो यह काला रूप है वह अन्न का है' ओदनादि भक्ष्य वस्तु में कृष्णत्व का नियम नहीं है और न व्रीह्यादि में ही नियम से कृष्णत्व देखा जाता है । अतः पृथ्वी अर्थ के परिचायक रूपात्मक लिङ्ग को देखते हुए अन्न शब्द का अर्थ पृथ्वी करना ही उचित होगा ।

शङ्का—पृथ्वी का भी नियमतः काला रूप नहीं होता, क्योंकि दूध के समान सफेद और अंगारे के समान लाल भूमि भी देखी जाती है । समाधान—यह कोई दोष नहीं है । पृथ्वी में काला

---

१. व्रीहियवादी । २. दृढं स्थापयति । ३. महाभूतानामपां

श्वेतरोहिते। पौराणिका अपि पृथिवीच्छायां शर्वरीमुपदिशन्ति। [1]सा च कृष्णाभासेत्यतः कृष्णं रूपं पृथिव्या इति श्लिष्यते। श्रुत्यन्तरमपि समानाधिकारमद्भ्यः पृथिवीति भवति। 'तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्'—(बृ० १-२-२) इति च। पृथिव्यास्तु व्रीह्यादेरुत्पत्तिं दर्शयति—'पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्' इति च। एवमधिकारादिषु पृथिव्याः प्रतिपादकेषु सत्सु कुतो व्रीह्यादिप्रतिपत्तिः। [3]प्रसिद्धिरप्यधिकारादिभिरेव बाध्यते। वाक्यशेषोऽपि पार्थिवत्वादन्नाद्यस्य [4]तद्द्वारेण पृथिव्या एवाद्भ्यः प्रभवत्वं सूचयतीति द्रष्टव्यम्। तस्मात्पृथिवीयमन्नशब्देति ॥१२॥

श्रुत्यन्तरमपीति। अबानन्तर्यं पृथिव्याः स्थानं श्रुत्यन्तरसिद्धं तेनाप्यन्नस्य पृथिवीत्वमित्यर्थः। तत्तत्र सृष्टिकाले यदपां शरः यो मण्डवद्घनीभाव आसीत्स एव समहन्यत कठिनः संघातोऽभूत् साऽपां कठिना परिणतिः पृथिव्यभवदिति श्रुत्यर्थः। व्रीह्याद्यन्नसर्गः कस्मिन्स्थान इति विवक्षायामाह—पृथिव्यास्त्विति। पञ्चमीयम्। वृष्टिप्रभवत्वलिङ्गसहितान्नश्रुतेः कथं प्रकरणलिङ्गस्थानैर्बाध इत्याशङ्क्याह—वाक्यशेषोऽपीति। प्रबलदुर्बलप्रमाणसंनिपाते बहूनां दुर्बलानामत्यन्तबाधाद्वरं प्रबलप्रमाणस्याल्पबाधेन कथंचिन्नयनमिति न्यायेन श्रुतिलिङ्गयोरन्नमात्रनिष्ठत्वं बाधित्वान्नाद्यात्मकपृथिवीनिष्ठत्वं नीयते। ताभ्यामन्नमात्रग्रहे प्रकरणादीनां पृथिवीमात्रविषयाणामत्यन्तबाधापत्तेरिति भावः। अन्नस्य वृष्टिजत्वोक्तिद्वारा पृथिव्या अब्जन्यत्वं सूच्यते। [5]पृथिव्यब्जा, पृथिवीत्वात्, अन्नवदित्यनुमानादित्यक्षरार्थः। एवं तित्तिरिश्रुत्यनुसारेण छन्दोगश्रुतेर्नयनादविरुद्धो भू सृष्टिश्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वय इति सिद्धम् ॥१२॥

रूप अधिक होने के कारण वैसा कहा गया है, क्योंकि पृथ्वी में जैसा काला रूप अधिक दीखता है, वैसा श्वेत और लोहित रूप नहीं दीखता। पौराणिकों ने भी रात्रि को पृथ्वी की ही छाया कहा है, कि 'वह रात्रि काले रंगवाली है।' अतः पृथ्वी का काला रंग मानना युक्तियुक्त है। समान प्रकरण में श्रुति भी ऐसी ही मिलती है 'जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है' 'जल में जो घनाभाव था वह संघात बन गया और उसी का परिणाम पृथ्वी बन गयी। व्रीह्यादि अन्न की उत्पत्ति तो 'पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्यो अन्नम्' इस वाक्य द्वारा पृथ्वी से बतलाती है। इस प्रकार प्रकरण, लिङ्ग और शब्दान्तररूप पृथ्वी अर्थ के प्रतिपादक प्रमाणों के रहते-रहते अन्न शब्द से व्रीह्यादि अर्थ का बोध कैसे हो सकता है। लोकप्रसिद्धि भी पूर्वोक्त प्रकरणादि प्रमाणों से ही बाधित हो जाती है, वाक्यशेष भी अन्नाद्य भक्ष्य वस्तु पार्थिव होने के कारण अन्न द्वारा जल से पृथ्वी की ही उत्पत्ति को सूचित करता है, ऐसा अर्थ समझना चाहिए। अतः अन्न शब्द से यहाँ पृथ्वी अर्थ ही ग्रहण करना निश्चित होता है। इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार छान्दोग्य श्रुति का अर्थ करने पर भूतसृष्टि श्रुति का विरोधाभाव हो जाता है और उनका ब्रह्म में ही समन्वय सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

---

१. शर्वरी। २. प्रकरण। ३. लोकप्रसिद्धिः। ४. अन्न। ५. सर्गकालीना।

७. तदभिध्यानाधिकरणम् (सू. १३)

(२२६) तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥१३॥

व्योमाद्याः कार्यकर्तारो ब्रह्म वा तदुपाधिकम् ॥ व्योम्नो वायुर्वायुतोऽग्निरित्युक्तेः खादिकर्तृता ॥
ईश्वरोऽन्तर्यमयत्युक्तेर्व्योमाद्युपाधिकम् ॥ ब्रह्म वाय्वादिहेतुः स्यात्तेजआदीक्षणादपि ॥

किमिमानि वियदादीनि भूतानि स्वयमेव स्वविकारान्सृजन्त्याहोस्वित्परमेश्वर एव तेन तेनात्मनावतिष्ठमानोऽभिध्यायंस्तं तं विकारं सृजतीति सन्देहे सति प्राप्तं तावत्स्वयमेव सृजन्तीति। कुतः ? 'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' इत्यादि स्वातन्त्र्यश्रवणात्।

नन्वचेतनानां स्वतन्त्राणां प्रवृत्तिः प्रतिषिद्धा। नैष दोषः। 'तत्तेज ऐक्षत ता आप

संप्रति तानि भूतान्याश्रित्याश्रयाश्रयिभावसंगत्या तेषां स्वातन्त्र्यमाशङ्क्य निषेधति—तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः। उक्तभूतान्याश्रित्य संशयपूर्वपक्षौ दर्शयति—किमिमानीत्यादिना। संशयबीजानुक्तौ पूर्वोत्तरपक्षयुक्त्योर्बीजमिति ज्ञेयम्।

नन्वत्र भूतानां किं स्वातन्त्र्येणोपादानत्वमाशङ्क्यते कर्तृत्वं वा। नाद्यः, 'रचनानुपपत्तेः' इत्यादिन्यायविरोधादिति शङ्कते—नन्विति। न द्वितीयः, अचेतनत्वादिति भावः। यथा मनुष्यादिशब्दैस्तत्तद्देहाभिमानिनो जीवा उच्यन्ते तथा 'आकाशाद्वायुः' इत्यादिश्रुतावाकाशादिशब्दैस्तत्तद्भूताभिमानिदेवता उच्यन्ते, तासां स्वकार्ये वाय्वादौ कर्तृत्वसंभवान्निरपेक्षनिमित्तत्वं पञ्चम्यर्थः। एवं 'तदात्मानं स्व-

---

७. तदभिध्यानाधिकरण

१. **संगति**—पूर्व अधिकरणों में महाभूतोत्पत्ति श्रुति का विरोध दूर किया गया, अब उन्हीं भूतों का आश्रय लेकर कुछ अन्य बात का भी विचार करना है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आश्रयाश्रयिभाव संगति है।

२. **विषय**—भूतोत्पत्ति श्रुति का पुनर्विचार इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—क्या वायु आदि भूतों की उत्पत्ति तत्तत् पूर्व उत्पन्न भूतोपहित ब्रह्म से होती है अथवा केवल भूत से?

४. **पूर्वपक्ष**—'आकाशाद्वायुः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार पूर्व-पूर्व भूत से उत्तर-उत्तर भूत की उत्पत्ति माननी चाहिए, ब्रह्म से नहीं।

५. **सिद्धान्त**—'ईश्वर सबके भीतर रहकर नियमन करता है' इस श्रुति के आधार पर आकाशादि उपाधि से उपहित ब्रह्मचैतन्य अन्य भूतोत्पत्ति का कारण है। '**तत्तेज ऐक्षत**' ऐसा तेज में ईक्षण सुना गया है, जो तेज का नहीं है अपितु तेज उपहित ब्रह्मचैतन्य का है।

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः (ललिता)

क्या आकाशादि भूत स्वयं ही अपने कार्य रूप वायु आदि को बनाते हैं अथवा परमेश्वर ही उन-उन रूपों में अवस्थित रहकर परवर्ती भूतों का चिन्तन और उनकी सृष्टि करता है, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्षी कहता है, कि आकाशादि भूत स्वयं ही परवर्ती वायु आदि कार्यों की रचना करते हैं क्योंकि 'आकाशाद्वायुः वायोरग्निः' इन वाक्यों से परवर्ती कार्यरचना में उनकी स्वतन्त्रता देखी जाती है।

शङ्का—अचेतन में स्वतन्त्ररूप से प्रवृत्ति का प्रतिषेध पहले कर दिया गया है। **समाधान**—यह

ऐक्षन्त' (छा० ६-२-४) इति च भूतानामपि चेतनत्वश्रवणादिति । एवं प्राप्तेऽभिधीयते —स एव परमेश्वरस्तेन तेनात्मनावतिष्ठमानोऽभिध्यायंस्तं तं विकारं सृजतीति । कुतः ? तल्लिङ्गात् । तथा हि शास्त्रम्—'यः पृथिव्यां तिष्ठन् यः पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति' (बृ० ३-७-३) इत्येवंजातीयकं साध्यक्षाणामेव भूतानां प्रवृत्तिं दर्शयति । तथा 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति प्रस्तुत्य 'सच्च त्यच्चाभवत् । तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २-६-१) इति तस्यैव च सर्वात्मभावं दर्शयति । यत्त्वीक्षणश्रवणमप्तेजसोस्तत्परमेश्वरावेशवशादेव द्रष्टव्यम् 'नान्योऽतोऽस्ति

यमकुरुत' इति श्रुतौ स्वयमिति विशेषणाद्ब्रह्मणोऽन्यानपेक्षसर्वकर्तृत्वसंभवान्निरपेक्षनिमित्तत्वं श्रुतम् । तथाच मिथोनिरपेक्षेश्वरभूतकर्तृश्रुत्योर्विरोधान्न ब्रह्मणि समन्वय इति सफलं पूर्वपक्षमाह—नैष दोष इति । भूतानां तदभिमानिदेवतानामित्यर्थः । यथा आकाशादिभावापन्नब्रह्मणः सर्वोपादानत्वं तथा तदभिमानिदेवताजीवभावमापन्नब्रह्मणः कर्तृत्वमिति परम्परया ईश्वरकर्तृत्वश्रुत्यविरोधः । स्वयमिति विशेषणमीश्वरान्तरनिरासार्थं न जीवभावापेक्षानिरासार्थमित्येकदेशिसिद्धान्त ऊहनीयः । मुख्यसिद्धान्तमाह—एवं प्राप्त इति । आकाशादिशब्दैर्न देवतालक्षणा मुख्यार्थे बाधकाभावात् पञ्चम्यश्च प्रकृतित्वार्थास्तत्र रूढतरत्वात्, तथा चाचेतनानां भूतानां कर्तृत्वमेव नास्ति, कुत ईश्वरानपेक्षकर्तृत्वम् । यद्यपि देवतानां कर्तृत्वं संभवति तथापीश्वरनियम्यत्वश्रवणाच्चेतनानामपि न स्वातन्त्र्यं, किमु वाच्यमचेतनानां भूतानां न स्वातन्त्र्यमिति मत्वोक्तम्—तल्लिङ्गादिति । तत्तदचेतनात्मनावस्थितस्य ब्रह्मण उपादानत्वेऽपि जीवव्यावृत्तेश्वरत्वाकारेणैव साक्षात्सर्वकर्तृत्वं न जीवत्वद्वारा तस्य सर्वनियन्तृत्वाल्लिङ्गादित्यर्थः । प्रकरणाच्च साक्षात्सर्वकर्तृत्वमित्याह—तथेति । पूर्वोक्तमनूद्य निरस्यति—यत्त्विति । परमेश्वरस्यान्तर्यामिभावेनावेशः संबन्धस्तद्वशाद्भूतेष्वीक्षणश्रवणं नैतावता तेषां चेतनत्वं स्वातन्त्र्यं वेत्यर्थः । अनेन 'तदभिध्यानात्' इति पदं व्याख्यातम् । इत्थं सूत्रयोजना—स ईश्वरस्तत्तदात्मना स्थितोऽपि साक्षादेव सर्वकर्ता तस्यान्तर्यामित्वलिङ्गात् । जीवत्वद्वारा कर्तृत्वं नाम जीवस्यैव कर्तृत्वमित्यन्तर्यामिणः कर्तृत्वासिद्धेरन्तर्यामित्वायोगात्तदभिध्यानादीश्वरेक्षणादेव भूतेषु श्रुतेक्षणोपपत्तेश्चेति । तत्तेज ऐक्षतेति श्रुत ईक्षिता परमात्मैवेत्यत्र श्रुत्यन्तरं प्रकरणं चाह—नान्य

कोई दोष नहीं है क्योंकि 'तत्तेज ऐक्षत', 'ता आप ऐक्षन्त' इन वाक्यों द्वारा भूतों में भी चेतनत्व सुना जाता है । ऐसा प्राप्त होने पर मुख्य सिद्धान्त पक्ष से कहा जाता है कि स्वयं परमेश्वर ही उन आकाशादि रूपों में स्थित होता हुआ परवर्ती भूतों का ध्यानपूर्वक सृष्टि करता है क्योंकि सर्वत्र नियामक रूप से परमेश्वर की स्थितिबोधक लिङ्ग देखे जाते हैं । 'जो पृथ्वी में स्थित है, पृथ्वी के भीतर है, जिसे पृथ्वी जानती नहीं, पृथ्वी जिसका शरीर है और जो पृथ्वी के भीतर रहकर पृथ्वी का नियमन करता है' इस प्रकार का शास्त्रवचन अध्यक्ष के सहित भूतों की ही प्रवृत्ति को दिखलाता है । वैसे ही 'उसने कामना की, मैं बहुत रूप में और प्रजारूप में हो जाऊँ' ऐसा प्रसंग प्रारम्भकर 'उसने पृथिव्यादि सद्रूप एवं वायु, आकाशादि त्यद् रूप से स्वयं अपने को ही बनाया' इस वाक्य द्वारा उसी ब्रह्म में सर्वात्मभाव श्रुति दिखलाती है । और जो आप ने जल एवं तेज में ईक्षणश्रवण कहा था, उसे तो परमेश्वरावेश के कारण ही समझना चाहिए, क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इस वाक्य द्वारा परमेश्वर से भिन्न ईश्वर

१. सस्वामिकानाम् ।

८. विपर्ययाधिकरणम् (सू. १४)

(२३०) विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥१४॥

सृष्टिक्रमो लये ज्ञेयो विपरीतक्रमोऽथ वा । क्लृप्त कल्प्यादरं तेन लये सृष्टिक्रमो भवेत् ॥
हेतावसति कार्यस्य न सत्त्वं युज्यते ततः । पृथिव्यप्स्विवति चोक्तत्वाद्विपरीतक्रमो लये ॥

द्रष्टा' (बृ० ३-७-२३) इतीक्षित्रन्तरप्रतिषेधात् । प्रकृतत्वाच्च सत ईक्षितुः 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यत्र ॥१३॥

भूतानामुत्पत्तिक्रमश्चिन्तितः । अथेदानीमप्ययक्रमश्चिन्त्यते । किमनियतेन क्रमेणाप्यय उतोत्पत्तिक्रमेणाथ वा तद्विपरीतेनेति । त्रयोऽपि चोत्पत्तिस्थितिप्रलया भूतानां ब्रह्मायत्ताः

इति । तस्मादीश्वरपदार्थलोपप्रसङ्गेनेश्वरादन्यस्य स्वातन्त्र्याभावान्नेश्वरकर्तृत्वश्रुतेर्भूतश्रुत्या विरोध इति सिद्धम् ॥१३॥

विपर्ययेण तु । यद्यप्यत्र श्रुतिविरोधो न परिह्रियत इत्यसंगतिस्तथाप्युत्पत्तिक्रमे निरूपिते लयक्रमो बुद्धिस्थो विचार्यत इति प्रासङ्गिक्यावेव पादाऽवान्तरसंगती इति मत्वाह—भूतानामिति । अत्रोत्पत्तिक्रमाद्विपरीतक्रमनिर्णयात्सिद्धान्ते भूतानां प्रातिलोम्येन लयध्यानपूर्वकं प्रत्यग्ब्रह्मणि मनः-समाधानं फलं, पूर्वपक्षे तु कारणनाशे सति कार्यनाश इति सर्वलयाधारब्रह्मासिद्धेरुक्तसमाध्यसिद्धिरिति भेदः । सति महाभूतानां लये क्रमचिन्ता स एव नास्तीति केचित्तान्प्रत्याह—त्रयोऽपीति । अनियम

कर्ता का निषेध कर दिया गया है । 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' यह प्रकरण भी ईक्षणकर्ता सत्स्वरूप ब्रह्म को ही कहता है, उससे भिन्न किसी भी अचेतन जल एवं तेज में स्वतन्त्र ईक्षणकर्तृत्व सम्भव नहीं है । अतः ईश्वरकर्तृत्वश्रुति का भूतश्रुति के साथ कोई विरोध नहीं है यह सिद्ध हुआ ॥१३॥

८. विपर्ययाधिकरण

१. **संगति**—भूतों की उत्पत्ति का विचार अब तक किया गया था, अब बुद्धिस्थ विलय-क्रम का विचार करना है । इसलिए पूर्व के साथ इस अधिकरण का प्रसंग संगति है ।

२. **विषय**—भूतों का लय-क्रम इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—जिस क्रम से भूतों की उत्पत्ति हुई है उसी क्रम से इनका विलय होता है अथवा विपरीत क्रम से?

४. **पूर्वपक्ष**—उभयवादी सम्मत होने के कारण निर्विवाद उत्पत्ति-क्रम से ही भूतों का विलय मानना चाहिए, विपरीत क्रम तो कल्प्यमान होने के कारण विवादास्पद है ।

५. **सिद्धान्त**—उपादान कारण के न रहने पर कार्य की स्थिति क्षण भर भी नहीं रह सकती । साथ ही 'हे देवर्षि नारद ! सम्पूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा यह पृथ्वी प्रलयकाल में अपने कारण जल में लीन होती है' ऐसा सुना गया है । अतः उत्पत्तिक्रम की अपेक्षा विपरीत क्रम से भूतों का विलय मानना चाहिए ।

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च (ललिता)

वियदादि भूतों की उत्पत्तिक्रम का विचार किया गया, अब उनके प्रलय के समय विलय क्रम का विचार किया जाता है, कि क्या अनियत क्रम से इनका विलय होता है या उत्पत्ति क्रम से अथवा उत्पत्ति क्रम के विपरीत क्रम से इनका विलय होता है । भूतों की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय परमात्माधीन

श्रूयन्ते—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३-१-१) इति । तत्रानियमोऽविशेषादिति प्राप्तम् । अथवोत्पत्तेः क्रमस्य श्रुतत्वात्प्रलयस्यापि क्रमाकाङ्क्षिणः स एव क्रमः स्यादिति । एवं प्राप्तं ततो ब्रूमः—विपर्ययेण तु प्रलयक्रमोऽत उत्पत्तिक्रमाद्भवितुमर्हति । तथाहि लोके दृश्यते येन क्रमेण सोपानमारूढस्ततो विपरीतेन क्रमेणावरोहतीति । अपिच दृश्यते मृदो जातं घटशरावाद्यप्ययकाले मृद्भावमप्येत्यद्भ्यश्च जातं हिमकरकाद्यब्भावमप्येतीति । अतश्चोपपद्यत एतत् । यत्पृथिव्यद्भ्यो जाता सती स्थितिकालव्यतिक्रान्तावपोऽपीयादापश्च तेजसो जाताः सत्यस्तेजोऽपीयुः । एवं क्रमेण सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं चानन्तरमनन्तरतरं कारणमपीत्य सर्वं कार्यजातं परमकारणं परमसूक्ष्मं च ब्रह्माप्येतीति वेदितव्यम् । नहि स्वकारणव्यतिक्रमेण कारणकारणे कार्याप्ययो न्याय्यः । स्मृतावप्युत्पत्तिक्रमविपर्ययेणैवाप्ययक्रमस्तत्र तत्र दर्शितः—'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु

इत्यनास्थयोक्तं श्रौतस्य प्रलयस्य क्रमाकाङ्क्षायां श्रौत उत्पत्तिक्रम एव ग्राह्यः, श्रौतत्वेनान्तरङ्गत्वादित्येवं पूर्वपक्षः । 'सति कारणे कार्यं नश्यतीति लोके दृश्यते । तथाच श्रौतोऽप्युत्पत्तिक्रमो लये न गृह्यते किंतु लौकिकक्रम एव गृह्यते श्रुतेर्लोकदृष्टपदार्थबोधाधीनत्वेन श्रौतादपि लौकिकस्यान्तरङ्गत्वाद्योग्यत्वाच्च । कारणमेव हि कार्यस्य स्वरूपमिति तदनन्यत्वन्यायेन स्थापितम् । न हि स्वरूपनाशे कार्यस्य क्षणमपि स्थितिर्युक्ता तस्मादयोग्य उत्पत्तिक्रमो लयस्य न ग्राह्यः लौकिकक्रमावरोधेन निराकाङ्क्षत्वादिति सिद्धान्तयति—ततोब्रूम इत्यादिना । क्रमेण परम्परया सर्वकार्यलयाधारत्वं ब्रह्मणः किमित्याश्रीयते, साक्षादेव तत्किं न स्यादित्यत आह—नहि स्वकारणव्यतिक्रमेणेति । घटनाशे मृदनुपलब्धि-

---

सुने जाते हैं । 'जिससे सभी भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीवित रहते हैं और जिसमें सभी लीन होते हैं' यहाँ पर क्रम का कोई नियम नहीं । इसीलिए सामान्यतः क्रमनिर्धारण करना ठीक नहीं है । अथवा उत्पत्ति का क्रम श्रुति में निश्चित है तो उसी श्रौतक्रम से लय क्रम की आकांक्षा होने पर प्रलय को भी मान लेना चाहिए । ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं, कि उत्पत्ति क्रम से विपरीत क्रम द्वारा वियदादि भूतों का प्रलय मानना उचित होगा, क्योंकि लोक में जिस क्रम से सोपान पर आरूढ़ होता है उसके ठीक विपरीत क्रम से अवरोह करता देखा गया है । यह भी देखा गया है, कि मृत्तिका से उत्पन्न घट, शरावादि मृत्पात्र विलयकाल में मृद्भाव को ही प्राप्त करते हैं और जल से उत्पन्न हिम, ओले आदि जलरूप को ही प्राप्त करते हैं । इसीलिए यह युक्तिसंगत भी है कि जल से उत्पन्न हुई पृथ्वी प्रलयकाल में जल में ही लीन होती है । वैसे ही, तेज से उत्पन्न हुआ जल विलयकाल में तेज में ही लीन होगा । इस प्रकार क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और अनन्तर एवं अनन्तरतर कारण में लीन होकर सभी कार्य परम कारण, परम सूक्ष्म ब्रह्म में ही लीन होते हैं, ऐसा समझना चाहिए । अपने कारण के विपरीत क्रम से कारण के कारण में कार्य का विलय मानना उचित नहीं होगा अन्यथा घट के नष्ट होने पर मृत्तिका की अनुपलब्धि का प्रसंग आ जायेगा । स्मृति में भी उत्पत्ति क्रम के विपरीत क्रम से ही स्थल-स्थल पर वियदादि भूतों का प्रलय देखा गया है । 'हे देवर्षि नारद ! इस सम्पूर्ण विश्व

---

१. अनन्तर व्यवहिताव्यवहितसाधारणम्, अव्यवहितमेवत्वनंतरतरमिति भेदः । २. विद्यमाने कारणे ।

९. अन्तराविज्ञानाधिकरणम् (सू. १५)

किमुक्तक्रमभङ्गोऽस्ति प्राणाद्यैर्नास्ति वास्ति हि । प्राणाक्षमनसां ब्रह्मवियतोर्मध्य ईरणात् ।।

प्राणाद्या भौतिका भूतेष्वन्तर्भूताः पृथक् क्रमम् । नेच्छन्त्यतो न भङ्गोऽस्ति प्राणादौ न क्रमः श्रुतः ।।

प्रलीयते । ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते' इत्येवमादौ । उत्पत्तिक्रमस्तूत्पत्तावेव श्रुतत्वान्नाप्यये भवितुमर्हति । न चासावयोग्यत्वादप्ययेनाकाङ्क्ष्यते । नहि कार्ये ध्रियमाणे कारणस्याप्ययो युक्तः कारणाप्यये कार्यस्यावस्थानानुपपत्तेः । कार्याप्यये तु कारणस्यावस्थानं युक्तं मृदादिष्वेवं दृष्टत्वात् ।।१४।।

प्रसङ्गादित्यर्थः । 'वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते' इति स्मृतिशेष आदिपदार्थः । 'योग्यताधीनः संबन्धः' इति न्यायादयोग्यक्रमबाध इति सिद्धम् ।।१४।।

की प्रतिष्ठा पृथ्वी प्रलय के समय जल में लीन होती है, जल तेज में लीन होता है, तेज वायु में लीन होता है, वायु आकाश में लीन होता है और आकाश अव्यक्त में लीन होता है' इत्यादि स्थलों में विपरीत क्रम से ही वियदादि भूतों का विलय होता देखा गया है। उत्पत्ति क्रम तो उत्पत्ति में ही सुने जाने के कारण वह प्रलय में नहीं लगाया जा सकता। सम्बन्ध सदा योग्यताधीन हुआ करता है, इस युक्ति से अयोग्य क्रम का बाध भी हो जाता है। अतः उत्पत्ति क्रम प्रलय के लिये अयोग्य होने के कारण उसको आकांक्षा विलय को नहीं हुआ करती है। कार्य बना रहे और कारण का नाश हो जाय, यह युक्तिसंगत भी नहीं है, क्योंकि कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का बना रहना युक्तिविरुद्ध है। हाँ, कार्य के नाश होने पर कारण का बने रह जाना तो युक्तियुक्त है। घटादि के नाश होने पर मृत्तिकादि में ऐसा ही देखा गया है। अतः उत्पत्ति क्रम के विपरीत क्रमानुसार ही विलय मानना श्रुति, स्मृति एवं न्याय से सिद्ध है ।।१४।।

९. अन्तराविज्ञानाधिकरण

१. **संगति**—भूतोत्पत्ति एवं लय-क्रम विचार का जो प्रयोजन लयचिन्तन बतलाया गया है वही प्रयोजन करणों की उत्पत्ति एवं विलय क्रम विचारकामी हैं। अतः एकप्रयोजनकत्व संगति के कारण इस अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं।

२. **विषय—'करणोत्पत्तिश्रुतिविरोध'** इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—पूर्वोक्त भूतोत्पत्ति-क्रम करणोत्पत्ति-क्रम से विरुद्ध पड़ता है या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—ब्रह्म और आकाश के मध्य में प्राण, इन्द्रियों और मन की उत्पत्ति कही गयी है। अतः प्राणादि उत्पत्ति के कारण भूतोत्पत्ति-क्रम का विरोध सुस्पष्ट भासता है।

५. **सिद्धान्त**—मन और बुद्धि भौतिक होने के कारण प्राणादि भौतिक सभी पदार्थ पञ्चभूतों के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। अतः भौतिक प्राणादि उत्पत्ति का क्रम पृथक् नहीं है। साथ ही, आथर्वण श्रुति ने सम्पूर्ण भूत और भौतिक सभी पदार्थों की उत्पत्तिमात्र को कहा है, क्रम को नहीं। अतः भूतोत्पत्ति-क्रम के भङ्ग का कोई प्रसंग ही नहीं आता है।

(२३१) अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥१५॥

भूतानामुत्पत्तिप्रलयावनुलोमप्रतिलोमक्रमाभ्यां भवत इत्युक्तम् । आत्मादिरुत्पत्तिः प्रलयश्चा[१]त्मान्त इत्यप्युक्तम् । सेन्द्रियस्य तु मनसो बुद्धेश्च सद्भावः प्रसिद्धः श्रुतिस्मृत्योः । 'बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च । इन्द्रियाणि हयानाहुः' (कठ० ३-३) इत्यादिलिङ्गेभ्यः । [२]तयोरपि कस्मिंश्चिद[३]न्तराले क्रमेणोत्पत्तिप्रलयावुपसंग्राह्यौ, सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मजत्वाभ्युपगमात् । अपि चा[४]थर्वण उत्पत्तिप्रकरणे भूतानामात्मनश्चान्तराले करणान्यनुक्रम्यन्ते । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' (मुण्ड० २-१-३) इति । तस्मात्पूर्वोक्तोत्पत्तिप्रलयक्रमभङ्गप्रसङ्गो भूतानामिति चेत् ।

अन्तराऽविशेषात् । उक्तभूतोत्पत्तिलयक्रममुपजीव्य स किं करणोत्पत्तिक्रमेण विरुध्यते न वेति करणानामभौतिकत्वभौतिकत्वाभ्यां संदेहे वृत्तानुवादपूर्वकं पूर्वपक्षमाह—भूतानामित्यादिना । करणानि नैव न सन्तीति वदन्तं प्रत्याह—सेन्द्रियस्येति । 'मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः', 'श्रोत्रादीन्येव न सन्तीति वदन्तं' ... 'नीन्द्रियाण्यन्ये' इति स्मृतिर्द्रष्टव्या । अन्यपराः शब्दाः लिङ्गानीत्युच्यन्ते । करणानां क्रमाकाङ्क्षामाह—तयोरिति । आकाङ्क्षायां श्रुतिसिद्धः क्रमो ग्राह्य इत्याह—अपिचेति । विज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानं सेन्द्रिया बुद्धिः । आत्मनो भूतानां चान्तरा मध्ये तल्लिङ्गात्सृष्टिवाक्यात् 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः' इत्यादिरूपाद्विज्ञानमनसी अनुक्रम्येते । तथाच करणक्रमेण पूर्वोक्तक्रमभङ्ग इति शङ्कासूत्रांशार्थः । नच करणानां भौतिकत्वाद्भूतान्तर्गतमिति वाच्यं, तेषां भौतिकत्वे मानाभावात् । तथा चात्मनः प्रथममाकाशस्य जन्म पश्चाद्वायोरित्युपक्रमस्यात्मनः करणानि ततो भूतानीति क्रमेण विरोध इति तित्तिर्याथर्वणश्रुत्योर्विरोधान्न ब्रह्मणि समन्वय इति पूर्वपक्षफलम् ।

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् (ललिता)

पूर्वपक्ष—अनुलोम क्रम से भूतों की उत्पत्ति और प्रतिलोम क्रम से भूतों का प्रलय होना बतलाया गया । उत्पत्ति के आदि में आत्मा था और प्रलय के अन्त में भी आत्मा ही रहेगा, यह भी बतला दिया गया । किन्तु इन्द्रियों के सहित मन और बुद्धि का अस्तित्व श्रुति एवं स्मृति में प्रसिद्ध ही है 'बुद्धि को सारथी समझो, मन को लगाम और इन्द्रियों को घोड़ जानो' ये अन्यार्थबोधक शब्द भी उनके अस्तित्वबोध कराने वाले लिङ्ग हैं । अतः इन्द्रियों के सहित मन और बुद्धि का भी किसी के मध्य में क्रमशः उत्पत्ति और प्रलय मानना चाहिए, क्योंकि सभी वस्तु ब्रह्मजन्य मानी गयी है । सूत्र में आया हुआ विज्ञान पद विज्ञायते अनेन इस व्युत्पत्ति के आधार पर इन्द्रियों के सहित बुद्धि अर्थ का बोधक है । मुण्डकोपनिषद् के उत्पत्तिप्रकरण में वियदादि भूतों और आत्मा के मध्य इन्द्रियों का पाठ है । 'इस आत्मा से प्राण, मन, सभी इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न हुई' इस वाक्य द्वारा सुना गया है । ऐसी स्थिति में भूतों की उत्पत्ति एवं विलय का क्रम जो सिद्धान्ती ने निश्चित किया था उसके भङ्ग का प्रसंग आ जाता है ।

१. आत्मान्तः पर्यवसानभूमिर्यस्य । २. करणग्रामसहितयोर्बुद्धिमनसोः । ३. मध्ये । ४. मुण्डके । ५. उदिदश्य ।

न । अविशेषात् । यदि तावद्भौतिकानि करणानि ततो भूतोत्पत्तिप्रलयाभ्यामेवैषामुत्पत्तिप्रलयौ भवत इति नैतयोः क्रमान्तरं मृग्यम् । भवति च भौतिकत्वे लिङ्गं करणानाम् । 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' (छा० ६-५-४) इत्येवंजातीयकम् । व्यपदेशोऽपि क्वचिद्भूतानां करणानां च ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन नेतव्यः । अथ त्वभौतिकानि करणानि तथापि भूतोत्पत्तिक्रमो न करणैर्विशेष्यते प्रथमं करणान्युत्पद्यन्ते चरमं भूतानि प्रथमं वा भूतान्युत्पद्यन्ते चरमं वा करणानीति । आथर्वणे तु समाम्नायक्रममात्रं करणानां भूतानां च । न तत्रोत्पत्तिक्रम उच्यते । तथान्यत्रापि पृथगेव भूतक्रमात्करणक्रम

सिद्धान्तयति—नेति । 'आत्मन आकाशः' इत्यादि तित्तिरिश्रुतौ पञ्चम्याः कार्यकारणभावेनार्थतः क्रमो भाति । न तस्याथर्वणपाठेन बाधः अर्थक्रमविरोधिक्रमविशेषस्याश्रुतेः पाठमात्रस्यार्थक्रमधीशेषस्य शेषिबाधकत्वायोगादतः श्रुत्यर्थक्रमाविरोधेन पाठस्य नेयत्वाद्भूतानन्तर्यं करणानामित्यर्थः । किञ्च भौतिकत्वात्तेषां तदानन्तर्यमित्याह—यदीति । नच 'प्राणस्याब्विकारत्वायोगादन्नमयमित्यादिमयटो न विकारार्थतेति वाच्यं, करणानां विभक्तत्वेन कार्यतया कारणाकाङ्क्षायामन्नमयमित्यादिश्रुतेराकाङ्क्षितोक्त्यर्थमसति बाधके मयटो विकारार्थताया युक्तत्वात् । प्राचुर्यार्थत्वे त्वनाकाङ्क्षितोक्तिप्रसङ्गाच्च । स्यैव तेजोबन्नप्राशने वाक्प्राणमनसां वृद्धिस्तदभावे तन्नाश इति विकारत्वस्य दर्शितत्वान्न विवादावसरः । यद्वा स्थूलभूताधीना तेषां वृद्धिर्विकारो मयडर्थः श्रूयमाणो भौतिकत्वे लिङ्गं प्राणेन्द्रियमनांसि भौतिकानि भूताधीनवृद्धिमत्त्वाद्देहवदिति भावः । ननु तेषां भौतिकत्वे कथमाथर्वणे पृथक् जन्मकथनं भूतजन्मोक्त्यैव तज्जन्मसिद्धेरित्यत आह—व्यपदेशोऽपीति । प्रौढवादेन तेषामभौतिकत्वमुपेत्यापि श्रुत्यविरोधमाह—अथ त्विति । करणानां भूतानां च पूर्वापरत्वे मानाभावान्नोक्तभूतक्रमभङ्गः । न चाथर्वणवाक्यं मानं पाठमात्रत्वादित्यर्थः । तर्हि कथं क्रमनिर्णयः, तत्राह—तथेति । इदं स्थूलमुत्पत्तेः प्राक् प्रजापतिः सूत्रात्मासीत् । अत्र सूक्ष्मभूतात्मकप्रजापतिसर्गः

सिद्धान्त—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि मुण्डकोपनिषद् में क्रमबोधक कोई शब्द नहीं है, वहाँ तो सामान्यतः आत्मा से सबकी उत्पत्तिमात्र कहा गया है और तैत्तिरीय उपनिषद् में क्रमबोधक पञ्चमी विभक्ति है उससे पाठ क्रममात्र का बाध हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि इन्द्रियाँ भौतिक हैं तो भूत उत्पत्ति-प्रलय क्रम से ही इन्द्रियों की उत्पत्ति और प्रलय हो जायेंगे, इनके लिए पृथक् क्रम अन्वेषण की आवश्यकता नहीं है। 'हे सोम्य ! मन अन्न का विकार है, प्राण जल का और घृतादि तेज का विकार वाणी है' इस प्रकार का शास्त्रवचन इन्द्रियों के भौतिक होने में लिङ्ग है। कहीं-कहीं पर भूत और इन्द्रियों का पृथक् जन्म जो बतलाया गया है, उनका तो ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय से अर्थ कर लेने पर श्रुतिविरोध का परिहार हो जाता है। और यदि इन्द्रियों को भौतिक न माना जाय, तो भी भूतोत्पत्ति क्रम को इन्द्रियों से विशेषित नहीं किया जा सकता चाहे पहले करण उत्पन्न हुए, तत्पश्चात् भूत उत्पन्न हुए हैं अथवा प्रथम भूत और तत्पश्चात् करण उत्पन्न हुए, कैसा भी माना जाय, इसमें विरोध का कोई प्रसंग नहीं है, क्योंकि मुण्डकोपनिषद् में इन्द्रियों एवं भूतों का पाठ क्रममात्र के लिए है, वहाँ पर उससे उत्पत्ति क्रम का बोध नहीं कराया गया है। ऐसे ही अन्यत्र भी भूतक्रम से इन्द्रियों का क्रम

१. मनआदीनां समष्टिभूतसत्त्वांशकार्यत्वप्रसिद्धेरपि तेषां स्थित्यशेऽपि भौतिकत्वं वक्तुमाहान्नमयमित्यादिना ।
२. तेजो घृतम् । ३. समाम्नायः पाठः । ४. अर्थक्रमधीशेषः । ५. सकरणस्य प्राणस्य प्रकरणाभावादित्यर्थः ।

१०. चराचरव्यपाश्रयाधिकरणम् (सू. १६)

(२३२) चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥१६॥

जीवस्य जन्ममरणे वपुषो वात्मनो हि ते। जातो मे पुत्र इत्युक्तेर्जातकर्मादितस्तथा ॥
मुख्ये ते वपुषो भाक्ते जीवस्यैते अपेक्ष्य हि। जातकर्म च लोकोक्तिर्जीवापेतेति शास्त्रतः ॥

आम्नायते—'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत्स आत्मानमैक्षत स मनोऽसृजत तन्मन एवासीत्तदात्मानमैक्षत तद्वाचमसृजत' इत्यादिना। तस्मान्नास्ति भूतोत्पत्तिक्रमस्य भङ्गः ॥१५॥

स्तो जीवस्याप्युत्पत्तिप्रलयौ, जातो देवदत्तो मृतो देवदत्त इत्येवंजातीयकाल्लौकिकव्य-

---

प्रथमस्ततो मनआदिसर्गः इति क्रमो भातीति भावः। एवंच भूतकरणोत्पत्तिश्रुत्योरविरोधाद् ब्रह्मणि समन्वयसिद्धिरिति सिद्धान्तफलं निगमयति—तस्मादिति ॥१५॥

चराचरभावित्वात्। एवं तावत्तत्पदवाच्यकारणनिर्णयाय भूतश्रुतीनां विरोधो निरस्तः। इदानीमा पादसमाप्तेस्त्वंपदार्थशुद्ध्यर्थं जीवश्रुतीनां विरोधो निरस्यते। इह जीवो 'न जायते म्रियते' इत्यादिश्रुतेर्जातेष्टिश्राद्धशास्त्रेण विरोधोऽस्ति न वेति संदेहे विरोधोऽस्तीति प्राप्ते लौकिकजन्मादिव्यपदेशसहायाज्जातेष्ट्यादिशास्त्रेण जीवाजत्वादिश्रुतिर्बाध्यत इति पूर्वपक्षयति—स्त इति। तथाच

पृथक् ही पढ़ा गया है 'इस जगदुत्पत्ति से पूर्व प्रजापति ही था, उसने अपने को देखा, तत्पश्चात् मन को बनाया, वह मन शरीर में ही था। फिर उसने अपने को देखा और तत्पश्चात् वाणी को बनाया' इत्यादि वाक्यों में केवल सृष्टि सुनी जाती है, इसके आधार पर क्रम निश्चित नहीं किया जा सकता। अतः भूत और इन्द्रियों की उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुतियों में कोई विरोध नहीं है। इसीलिए भूतोत्पत्ति क्रम का भङ्ग नहीं होता और ब्रह्म में श्रुतियों का समन्वय सिद्ध हो जाता है ॥१५॥

१०. चराचरव्यपाश्रयाधिकरण

१. **संगति**—पञ्चभूत एवं भौतिक प्राणादि में कार्यकारणभाव होने के कारण इनकी उत्पत्तिश्रुतिविरोध का परिहार किया गया, पर जीव तो किसी का कार्य नहीं है, उसकी उत्पत्तिबोधक शास्त्र के साथ विरोध तो रहेगा ही; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया।

२. **विषय**—जीवोत्पत्तिश्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—क्या जीव के जन्म-मरण होते हैं अथवा शरीर के ?

४. **पूर्वपक्ष**—'मेरा पुत्र उत्पन्न हुआ' इस कथन से तथा जातकर्मादि के विधान से जीवात्मा का ही जन्म-मरण मानना चाहिए।

५. **सिद्धान्त**—शरीर के ही मुख्य रूप से जन्म-मरण होते हैं, जीवात्मा में इनका गौणप्रयोग होता है, इन्हीं की अपेक्षा करके जातकर्मादि संस्कार का विधान किया गया है। **'जीवोपेतः'** (जीवरहित शरीर मरता है) इस शास्त्र के आधार पर भी देहादि का जन्म और आत्मा का नित्यत्व मानना ही उचित होगा।

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् (ललिता)

इस प्रकार तत्पदवाच्य जगत्कारण का निश्चय कराने के लिए भूत उत्पत्ति श्रुतियों के विरोध का निरास किया गया। अब यहाँ से इस पाद की समाप्तिपर्यन्त त्वं पदार्थशोधन के लिए जीवबोधक श्रुतियों का विरोधपरिहार किया जाता है। 'जीव न जन्मता है, न मरता है' इस श्रुति का जातेष्टि

पदेशात् जातकर्मादिसंस्कारविधानाच्चेति स्यात्कस्यचिद्भ्रान्तिस्तामपनुदामः। न जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ स्तः, शास्त्रफलसम्बन्धोपपत्तेः। शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तरगतेष्टानिष्टाप्राप्तिपरिहारार्थौ विधिप्रतिषेधा[1]वनर्थकौ स्याताम्। श्रूयते च—'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' (छा० ६-११-३) इति।

ननु लौकिको [2]जन्ममरणव्यपदेशो जीवस्य दर्शितः। सत्यं दर्शितः। भाक्तस्त्वेष जीवस्य जन्ममरणव्यपदेशः। किमाश्रयः पुनरयं मुख्यो यदपेक्षया भाक्त इति। उच्यते—चराचरव्यपाश्रयः। स्थावरजङ्गमशरीरविषयौ जन्ममरणशब्दौ। स्थावरजङ्गमानि हि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ते चातस्तद्विषयौ जन्ममरणशब्दौ मुख्यौ सन्तौ [3]तत्स्थे जीवात्मन्युपचर्येते, [4]तद्भावभावित्वात्। शरीरप्रादुर्भावतिरोभावयोर्हि सतोर्जन्ममरणशब्दौ भवतो नासतोः।

करणोत्पत्तिक्रमेण भूतक्रमस्य बाधाभावेऽपि जीवोत्पत्तिक्रमेण बाधः स्यादिति [5]प्रत्युदाहरणसंगतिः। पूर्वपक्षे जीवब्रह्मैक्यासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः। चेतनजन्माद्युद्देशेन चेतनस्य तस्य जन्मान्तरीयफलसाधनं जातकर्मादिसंस्कारो विधीयते। तथा चोद्देश्यविधेययोर्मिथोविरोधे सति 'विधेयाविरोधेनोद्देश्यं नेयम्' इति न्यायाज्जन्मादिकं देहोपाधिकं न स्वत इति सिद्धान्तयति—तामित्यादिना। जीवापेतं जीवेन त्यक्तमिदं शरीरम्। जन्मादिव्यपदेशश्चराचरदेहविषयो मुख्यः। जीवे तु भाक्तो गौणः औपाधिकजन्मादिविषयः स्यादुपाधिजन्मभावे भावादसत्यभावादिति सूत्रार्थः।

और श्राद्धबोधक शास्त्र के साथ विरोध है या नहीं, ऐसा सन्देह होने पर पूर्वपक्ष में विरोध माना गया है क्योंकि जातो देवदत्तः मृतो देवदत्तः, ऐसे लौकिक शब्द व्यवहार से और जातकर्मादि संस्कार के विधान से भी जीव की उत्पत्ति एवं प्रलय सम्भावित हो जाते हैं। ऐसा भ्रम किसी को हो सकता है, उसका निवारण हम सिद्धान्ती करते हैं कि जीव की उत्पत्ति और उसके प्रलय नहीं होते, क्योंकि शास्त्र द्वारा जन्मान्तरीय फल के साथ जीव का सम्बन्ध बतलाया गया है। यदि शरीर के साथ-साथ जीव को मरने वाला माना जायेगा, तो शरीरान्तर में होने वाले इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार के लिए जो विधि तथा प्रतिषेध शास्त्र हैं वे अनर्थक हो जायेंगे। श्रुति में सुना गया है कि 'निःसन्देह जीवरहित केवल शरीर ही मरता है, जीव नहीं मरता' इस से भी जीव में नित्यत्व सिद्ध हो जाता है।

शङ्का—जातो देवदत्तः मृतो देवदत्तः, ऐसा जीव के जन्म एवं मरण बतलाने वाला लौकिक शब्द व्यवहार दिखलाया जा चुका है। समाधान—ठीक है, दिखलाया तो है किन्तु यह जन्म-मरण व्यपदेश जीव के लिए गौण है। शङ्का—फिर यह जिसकी अपेक्षाकर जीवाश्रित जन्म-मरण व्यपदेश गौण है, तो वह मुख्य कौन है? समाधान—चर एवं अचर देह ही मुख्यरूप से जन्म एवं मरणरूप व्यवहार का आश्रय है। अर्थात् स्थावर एवं जङ्गम शरीर के विषय में ही जन्म-मरण शब्द व्यवहार होता है, क्योंकि स्थावर एवं जङ्गम भूत उत्पन्न होते और मरते हैं। अतः उसी में जन्म-मरण शब्द मुख्यरूप से प्रयुक्त होते हैं और उस संघात में रहने वाले जीवात्मा में उसका गौणप्रयोग होता है, क्योंकि शरीर के प्रादुर्भाव एवं तिरोभाव को लेकर ही जन्म एवं मरण शब्द का प्रयोग होता है, न कि असत् के प्रादुर्भाव

---

१. तथा च कृतनाशादि दोषः स्यात्। २. जातो देवदत्त इत्यादिः। ३. संघातस्थे। ४. तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। ५. व्यतिरेकिदृष्टान्तसंगतिः।

११. आत्माधिकरणम् (सू. १७)

कल्पादौ ब्रह्मणो जीवो वियद्वज्जायते न वा । सृष्टेः प्रागद्वयत्वोक्तेर्जायते विस्फुलिङ्गवत ॥
ब्रह्माद्वयं जातबुद्धौ जीवत्वेन विशेत्स्वयम् । औपाधिकं जीवजन्म नित्यत्व वस्तुतः श्रुतम् ॥

नहि शरीरसम्बन्धादन्यत्र जीवो जातो मृतो वा केनचिल्लक्ष्यते । 'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः' (बृ० ४-३-८) इति च शरीरसंयोगवियोगनिमित्तावेव जन्ममरणशब्दौ दर्शयति । जातकर्मादिविधानमपि देहप्रादुर्भावापेक्षमेव द्रष्टव्यम् । अभावाज्जीवप्रादुर्भावस्य । जीवस्य परस्मादात्मन उत्पत्तिर्वियदादिनामिवास्ति नास्ति वेत्येतदुत्तरेण सूत्रेण वक्ष्यति । देहाश्रयौ तावज्जीवस्य स्थूलावुत्पत्तिप्रलयौ न स्त इत्येतदनेन सूत्रेणावोचत् ॥१६॥

जीवस्यौपाधिकजन्ममृत्यौ श्रुतिमप्याह—स वा इति । **जायमानपदार्थमाह**—शरीरमिति । **म्रियमाणत्वं व्याचष्टे**—उत्क्रामन्निति । **ननूत्तरत्र जीवस्य जन्मादि निरस्यते, अत्रापि तन्निरासे पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याह**—जीवस्येति । **तदेवं जातेष्टयादिशास्त्रस्यौपाधिकजन्मादिविषयत्वान्न जीवानाद्यनन्तत्वश्रुतिविरोध इति सिद्धम्** ॥१६॥

और तिरोभाव को लेकर । शरीर सम्बन्ध से भिन्न अर्थ में जीवो जातः जीवो मृतः ऐसा प्रयोग किसी ने भी नहीं किया 'वही यह पुरुष उत्पन्न होने पर शरीरयुक्त हो जाता है और शरीर से उत्क्रमण करने पर मर गया' ऐसा जन्म-मरण शब्द शरीर संयोग एवं वियोग निमित्त को लेकर ही प्रयुक्त होता है । जातकर्मादि का विधान भी देह प्रादुर्भाव की अपेक्षा करके ही समझना चाहिए, क्योंकि जीव का प्रादुर्भाव तो होता ही नहीं । जैसे परमेश्वर से आकाशादि की उत्पत्ति सुनी जाती है, वैसा परमात्मा से जीव का जन्म नहीं सुना जाता, ऐसा अग्रिम सूत्र से कहा जायेगा । इस सूत्र से तो देहाश्रित स्थूल उत्पत्ति एवं प्रलय जीव के नहीं होते, यही अर्थ बतलाया गया है । इस प्रकार जातेष्टि, श्राद्ध आदि शास्त्र औपाधिक जन्म को बतलाता है । अतः जीवादि को अनादि एवं अनन्त बतलाने वाली श्रुतियों के साथ जातेष्टि-श्राद्धादिबोधक शास्त्र का विरोध नहीं है ॥ १६ ॥

११. आत्माधिकरण

१. **संगति**—प्रतिदेह उत्पत्ति और नाश से चाहे जीव के उत्पत्ति एवं नाश न भी माने जायँ, फिर भी कल्प के आदि-अन्त में जीव के जन्म एवं नाश क्यों न मान लिए जायँ, ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. **विषय**—आत्मा का नित्यत्वानित्यत्व इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—कल्प के आदि में आकाशादि की भाँति जीव ब्रह्म से उत्पन्न होता है या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—सृष्टि से पूर्व अद्वयत्व कथन के कारण अग्नि से विस्फुलिङ्गादि की भाँति जीव भी ब्रह्म से उत्पन्न होता है ।

५. **सिद्धान्त**—अन्तःकरण के उत्पन्न हो जाने पर स्वयं अद्वय ब्रह्म जीवरूप से उसमें प्रवेश करता है । अतः जीव का जन्म औपाधिक है । **'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः'** (क० २-१८) इत्यादि श्रुति से जीव के नित्यत्व का बोध होता है ।

(२३३) नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥१७॥

अस्त्यात्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी । स किं व्योमादिवदुत्पद्यते ब्रह्मण आहोस्विद्ब्रह्मवदेव नोत्पद्यत इति श्रुतिविप्रतिपत्तेर्विशयः । कासुचिच्छ्रुतिष्वग्निविस्फुलिङ्गादिनि[1]दर्शनैर्जीवात्मनः परस्माद्ब्रह्मण उत्पत्तिराम्नायते, कासुचित्त्वविकृतस्यैव परस्य ब्रह्मणः कार्यप्रवेशेन जीवभावो विज्ञायते नचोत्पत्तिराम्नायत इति । तत्र प्राप्तं तावदुत्पद्यते जीव इति । कुतः ? प्रतिज्ञानुपरोधादेव ।

'एकस्मिन्विदिते सर्वमिदं विदितम्' इतीयं प्रतिज्ञा सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मप्रभवत्वे सति नोपरुध्येत । तत्त्वान्तरत्वे[2] तु जीवस्य प्रतिज्ञेयमुपरुध्येत । नचाविकृतः परमात्मैव जीव इति शक्यते विज्ञातुं, लक्षणभेदात् । अपहतपाप्मत्वादिधर्मको हि परमात्मा, तद्विपरीतो हि जीवः । विभागाच्चास्य विकारत्वसिद्धिः । यावान्ह्याकाशादिः प्रविभक्तः

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः । 'अग्नेर्विस्फुलिङ्गवदेतस्मात्परमात्मनः सर्वे जीवात्मानो व्युच्चरन्ति' इत्यादिजीवोत्पत्तिश्रुतीनां 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' 'अज आत्मा' इत्याद्यनुत्पत्तिश्रुतीनां च मिथोविरोधात्संशये मा भूतां देहजन्मनाशयोर्जीवजन्मनाशौ, देहान्तरभोग्यस्वर्गादिहेतुविध्याद्यसंभवात्, कल्पाद्यन्तयोर्नभस इव जीवस्य तौ किं न स्यातां, तत्संभवादिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षमाह—तत्र प्राप्तं तावदिति । फलं पूर्ववत् । उपरोधो बाधः ।

नन्वविकृतं ब्रह्मैवात्र प्रविष्टं जीवो न तत्त्वान्तरमिति प्रतिज्ञासिद्धिः, तत्राह—नचेति । जीवः परस्माद्भिन्नः, विरुद्धधर्मवत्त्वाद्भिन्नस्याविकारत्वे प्रतिज्ञाबाध इति तर्कोपेतविभक्तत्वलिङ्गानुगृहीतोत्पत्तिश्रुतेर्बलीयस्त्वात्प्रवेशश्रुतिर्जीवरूपविकारात्मना प्रविष्ट ईश्वर इति व्याख्येयेति समुदायार्थः ।

शरीर, इन्द्रियाँ, रूपपञ्जर के अध्यक्ष जीवात्मा का अस्तित्व तो प्रसिद्ध ही है, वह जीव जैसे ब्रह्म से आकाश उत्पन्न होता है, वैसे ही ब्रह्म से उत्पन्न होता है अथवा ब्रह्म के समान ही वह अजन्मा है, क्योंकि किन्हीं किन्हीं श्रुतियों में अग्नि से विस्फुलिङ्ग की भाँति परमात्मा से जीवात्मा की उत्पत्ति कही गयी है और किन्हीं-किन्हीं श्रुतियों में वह परमात्मा इस देह में नख से शिख तक प्रविष्ट हो गया, ऐसी अनुत्पत्ति भी बतलायी गयी है । इस प्रकार अग्नि विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्त से परमात्मा से जीवात्मा की उत्पत्ति कही गयी और कहीं पर निर्विकार परब्रह्म के ही देह में प्रवेश हो जाने के कारण जीव भाव बतलाया गया है, उसकी उत्पत्ति नहीं कही है । अतः श्रुतियों में परस्पर विरोध आने के कारण संशय होता है ।

इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि एक के विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा का बाध न हो, इसके लिए जीव की उत्पत्ति माननी चाहिए, यह प्रतिज्ञा सभी वस्तुओं की ब्रह्म से उत्पत्ति मानने पर ही पूर्ण हो सकेगी, जीव को वस्त्वन्तर मानने पर तो यह प्रतिज्ञा बाधित होने लग जायेगी । इसके अतिरिक्त निर्विकार परमात्मा ही जीव है, ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि जीव और ब्रह्म के लक्षणों में भेद है । पाप-पुण्य से रहित निर्धर्मक परमात्मा है, पर जीव उससे विपरीत पुण्य-पाप का कर्ता और उसके फल सुख-दुःख का भोक्ता है । विभाग होने के कारण भी इस जीव में विकारत्व की सिद्धि होती है,

---

१. दृष्टान्तैः । २. वस्त्वन्तरत्वे ।

स सर्वो विकारस्तस्य चाकाशादेरुत्पत्तिः समधिगता । जीवात्मापि पुण्यापुण्यकर्मा सुखदुःखभावप्रतिशरीरं प्रविभक्त इति तस्यापि प्रपञ्चोत्पत्त्यवसर उत्पत्तिर्भवितुमर्हति । अपि च 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' (बृ० २-१-२०) इति प्राणादेर्भोग्यजातस्य सृष्टिं शिष्ट्वा 'सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' इति भोक्तृणामात्मनां पृथक्सृष्टिं शास्ति । 'यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' (मुण्ड० २-१-१) इति च जीवात्मनामुत्पत्तिप्रलयावुच्येते । सरूपवचनात्, जीवात्मानो हि परमात्मना सरूपा भवन्ति चैतन्ययोगात् । न च क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं वारयितुमर्हति । श्रुत्यन्तरगतस्याप्यविरुद्धस्याधिकस्यार्थस्य सर्वत्रोपसंहर्तव्यत्वात् । प्रवेशश्रुतिरप्येवं सति विकारभावापत्त्यैव व्याख्यातव्या, 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादिवत् । तस्मादुत्पद्यते जीव इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नात्मा जीव उत्पद्यत इति । कस्मात् ? अश्रुतेः । न ह्यस्योत्पत्ति-

---

सरूपेति । दृष्टान्तश्रुतेर्भावा जीवा इति निश्चीयते । ननु 'आत्मन आकाशः संभूतः' इत्यादौ जीवस्योत्पत्त्यश्रवणादनुत्पत्तिः, तत्राह—न चेति । एवं विकारत्वे सति विकारप्रपञ्चात्मना स्वात्मानमकुरुतेतिवद्विकारजीवात्मना प्रवेश इत्यर्थः ।

अजत्वादिश्रुतिः कल्पमध्ये जीवस्यानुत्पत्त्यादिविषया, तत्त्वमसीति श्रुतिश्च मृद्घट इत्यभेदवाक्यवद्व्याख्येयेति प्राप्ते सिद्धान्तयति—एवमिति ।

क्योंकि जो भी आकाशादि प्रविभक्त हैं वे सब के सब विकार हैं, उस विकाररूप आकाशादि की उत्पत्ति मानी गयी है । वैसे ही पुण्य-पाप कर्म का कर्ता एवं उसके फल सुख-दुःख का भोक्ता जीवात्मा भी प्रतिशरीर विभक्त है । अतः प्रपञ्च उत्पत्ति के समय उस जीव की भी उत्पत्ति सम्भव हो जाती है । इसके अतिरिक्त 'जैसे प्रदीप्त अग्नि से क्षुद्र चिनगारियाँ निकलती हैं ऐसे ही इस आत्मा से सभी प्राण उत्पन्न होते हैं' इस श्रुतिवाक्य द्वारा प्राणादि भोग्य वस्तु की सृष्टि बतलाने के बाद 'उस परमात्मा से ये सभी जीवात्मा उत्पन्न होते हैं' इस वाक्य के द्वारा भोक्ता जीव की सृष्टि श्रुति पृथक् कहती है । 'जैसे सुदीप्त अग्नि में से समान धर्मवाले हजारों विस्फुलिङ्ग उत्पन्न होते हैं, हे सोम्य ! वैसे ही अक्षर परमात्मा से नाना पदार्थ उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन होते हैं' इस स्वरूपबोधक वाक्य द्वारा जीवात्मा की उत्पत्ति और प्रलय भी कहे जाते हैं, क्योंकि चैतन्य सम्बन्ध के कारण जीवात्मा एवं परमात्मा समान रूपवाले हैं । कहीं पर जीवात्मा का जन्म नहीं सुना गया, इतने मात्र से अन्यत्र श्रुत जन्म का निषेध नहीं कर सकते, क्योंकि अन्य श्रुति में आये हुए अविरुद्ध अधिक अर्थ का संग्रह सर्वत्र देखा जाता है । इस प्रकार प्रवेशश्रुति भी विकाररूप में ही परमेश्वर का प्रवेश मानकर व्याख्या करने योग्य है । 'उस परमेश्वर ने अपने को स्वयं ही बनाया' इत्यादि श्रुतिवाक्य की भाँति उस परमेश्वर से जीव उत्पन्न होता है, ऐसा मानना उचित होगा ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उत्पत्ति

---

१. उपदिश्य ।

प्रकरणे श्रवणमस्ति भूयःसु प्रदेशेषु । ननु क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं न वारयतीत्युक्तम् । सत्यमुक्तम् । उत्पत्तिरेव त्वस्य न सम्भवतीति वदामः । कस्मात् ? नित्यत्वाच्च ताभ्यः । चशब्दादजत्वादिभ्यश्च । नित्यत्वं ह्यस्य श्रुतिभ्योऽवगम्यते तथाजत्वमविकारित्वमविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवात्मनावस्थानं ब्रह्मात्मना चेति । न चैवंरूपस्योत्पत्तिरुपपद्यते । ताः काः श्रुतयः । 'न जीवो [1]म्रियते' (छा० ६-११-३), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४-४-२५), 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (कठ०२-१८), 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (कठ० २-१८), 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २-६-१), 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६-३-२), 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' (बृ० १-४-७), 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १-४-१०), 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २५-१९), इत्येवमाद्या नित्यत्ववादिन्यः सत्यो जीवस्योत्पत्तिं प्रतिबध्नन्ति ।

ननु प्रविभक्तत्वाद्विकारो विकारत्वाच्चोत्पद्यत इत्युक्तम् । अत्रोच्यते—नास्य प्रविभागः स्वतोऽस्ति । 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी-सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६-११)

[2]धर्मिवत्सत्यो विभागो हेतुरौपाधिको वा ? नाद्यः, असिद्धेरित्याह—अत्रोच्यते नास्येति । द्वितीये जीव-

प्रकरण में अनेक स्थलों पर जीव का जन्म नहीं सुना गया है। शङ्का—कहीं जीव का जन्म नहीं सुना गया, इतने मात्र से जहाँ सुना गया है उसका निषेध नहीं कर सकते, ऐसा हम पहले कह आये हैं । समाधान—आप ने कहा तो ठीक है, पर जीव की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है, ऐसा हम भी कह आये हैं क्योंकि उन्हीं श्रुतियों में जीव का नित्यत्व सुना गया है और 'च' कार से अजत्वादि भी सुना गया है । श्रुति से इस जीव में नित्यत्व जाना जाता है और अविकृत ब्रह्म का ही जीवरूप से अवस्थान होने के कारण इसमें अजत्व एवं ब्रह्मरूपता भी जानी जाती है। ऐसे नित्य, निर्विकार, ब्रह्मस्वरूप जीव की उत्पत्ति बतलाना अशक्य है । वे श्रुतियाँ कौन-कौन सी हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में अनेक श्रुतियों को भाष्यकार उद्धृत करते हैं—'निर्जीव शरीर ही मरता है, जीव नहीं मरता', 'वह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत और अभयब्रह्मस्वरूप ही है'; 'चेतन आत्मा न जन्मता है और न मरता ही है'; 'यह जीव अजन्मा, नित्य, शाश्वत एवं पुराण है', 'वह परमेश्वर जगत् की सृष्टिकर वही इसमें प्रविष्ट हो गया', 'इस जीवात्मारूप से देह में प्रवेशकर मैं नाम-रूप को बनाऊंगा', 'वह परमात्मा इस शरीर में नख से शिख तक प्रविष्ट हो गया', 'हे सोम्य ! वह ब्रह्म तू ही है', 'मैं ब्रह्म हूँ', 'यह आत्मा सब का प्रकाशक ब्रह्मस्वरूप है' ऐसी जीव को नित्य बतलाने वाली श्रुतियाँ जीव की उत्पत्ति का निषेध करती हैं ।

शङ्का—विभक्त होने के कारण जीव विकार है और विकार होने के कारण उत्पन्न होता है, ऐसा हम भी तो कह आये हैं । समाधान—इस सम्बन्ध में हमारा कहना है कि चेतन आत्मा में स्वतः विभाग नहीं है, क्योंकि 'सभी भूतों में सर्वव्यापक, सम्पूर्ण भूतों को अन्तरात्मा एक परमेश्वर ही छिपा

१. जीवापेतं वा व किलेदं म्रियत इति श्रुतिशेषः । २. जीवात्मकपक्षवत् ।

इति श्रुतेः। बुद्ध्याद्युपाधिनिमित्तं त्वस्य प्रविभागप्रतिभानमाकाशस्येव घटादिसंबन्धनिमित्तम्। तथाच शास्त्रम्—'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' (बृ० ४-४-५) इत्येवमादि ब्रह्मण एवाविकृतस्य सतोऽस्यैकस्यानेकबुद्ध्यादिमयत्वं दर्शयति। तन्मयत्वं चास्य विविक्तस्वरूपानभिव्यक्त्या तदुपरक्तस्वरूपत्वं स्त्रीमयो जाल्म इत्यादिवद्द्रष्टव्यम्। यदपि क्वचिदस्योत्पत्तिप्रलयश्रवणं तदप्यत एवोपाधिसंबन्धान्नेतव्यम्। उपाध्युत्पत्त्यास्योत्पत्तिस्तत्प्रलयेन च प्रलय इति। तथाच दर्शयति—'प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' (बृ० ४-५-१३) इति। तथोपाधिप्रलय एवायं नात्मविलय इत्येतदप्यत्रैव, 'मा भगवान्मोहान्तमापीपदन्न वा अहमिमं विजानामि न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति प्रश्नपूर्वकं प्रतिपादयति—

स्य न स्वतो विकारत्वसिद्धिः, अप्रयोजकत्वादित्याह–बुद्ध्यादीति। औपाधिकभेदे मानमाह–तथाचेति। मयटो विकारार्थत्वमाशङ्क्याह–तन्मयत्वं चेति। जाल्मः कामजडः स्त्रीपरतन्त्रः स्त्रीमयः इतिवज्जीवस्य स्वरूपाज्ञानाद्बुद्ध्यादिपरतन्त्रत्वेन भेदकर्तृत्वादिभाक्त्वात्प्राचुर्यार्थे मयट्प्रयोग इत्यर्थः। 'लिङ्गं निरस्य तदनुग्राह्य[1]श्रुतेर्गतिमाह–यदपीति। जीवस्यौपाधिकजन्मनाशयोः श्रुतिमाह–तथेति। एतेभ्यो देहात्मना परिणतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय साम्येनोत्थाय जनित्वा तान्येव लीयमानान्यनु पश्चाद्विनश्यति। प्रेत्यौपाधिकमरणानन्तरं संज्ञा नास्तीत्यर्थः। ननु प्रज्ञानघनः, संज्ञा नास्तीति च विरुद्धमित्यत आह–तथेति। उपाधिलयाद्विशेषज्ञानाभाव एव संज्ञाऽभावो नात्मस्वरूपविज्ञानाभाव इत्युत्तरं प्रतिपादयति श्रुतिरित्यन्वयः। अत्रैवात्मनि विज्ञानघने प्रेत्य संज्ञा नास्तीत्युक्त्या मा मोहान्तं मोहमध्यं भ्रान्तिमापीपदद्‌आपादितवा-

हुआ है' ऐसी श्रुति है। इस जीव का विभाग अन्तःकरणादि उपाधि के कारण प्रतिभासित होता है जो घटादि सम्बन्धनिमित्त को लेकर घटाकाश, मठाकाश की भाँति औपाधिक है। ऐसा ही शास्त्र है 'निःसन्देह वह आत्मा ब्रह्मरूप है, वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय एवं श्रोत्रमय है' इस वाक्य के द्वारा शास्त्र निर्विकार, सत्स्वरूप इस एक ब्रह्म का ही अनेक बुद्ध्यादि उपाधियों के साथ तन्मयता के कारण उक्त नाम से व्यवहार बतलाती है। इस चेतन ब्रह्म को विज्ञानमयत्वादि भी इसीलिए कह दिया गया है, क्योंकि उन उपाधियों से पृथक् स्वरूप की अभिव्यक्ति उसे नहीं है। इसीलिए उन उपाधियों के साथ चेतन तन्मय हो गया है। जैसे काम जड, स्त्रीपरतन्त्र किसी दुष्ट व्यक्ति को स्त्रीमय कह दिया जाता है, ऐसे ही स्वरूप का अज्ञान रहने से जीव को बुद्ध्यादि उपाधि के अधीन होने से तन्मयता बतलायी गयी है। कहीं-कहीं पर जीव की उत्पत्ति और उसका प्रलय जो सुना गया है, वह भी उस उपाधिसम्बन्ध के कारण ही मानना चाहिए। उपाधि की उत्पत्ति होने पर जीव की उत्पत्ति और उपाधि के प्रलय होने पर जीव का प्रलय कहा गया है। ऐसा ही श्रुति दिखलाती है 'प्रज्ञानघन आत्मा इन पञ्चभूतों से उत्पन्न होकर इन भूतों के नष्ट होते ही वह भी नष्ट हो जाता है, उपाधि के नष्ट होने पर संज्ञा (विशेषज्ञान) नहीं रह जाती है।' वैसे ही उपाधि का ही विलय होता है, आत्मा का विलय नहीं होता, यह भी उस प्रसंग में ही कहा गया है। 'मैत्रेयी ने कहा कि आप ऐसा कहकर मुझे मोह में डाल रहे हैं, अतः मैं इस तत्त्व को नहीं समझ रही हूँ कि मर जाने पर संज्ञा नहीं रहती' ऐसा प्रश्न उत्थानपूर्वक श्रुति

१. विभक्तत्वाख्यम्। २. आत्मानो व्युच्चरन्ति अक्षराद्विविधाभावा जायन्त इत्याद्युत्पत्तिश्रुतिरित्यर्थः।

१२. ज्ञाधिकरणम् (सू. १८)

अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपो जीवोऽचिद्रूप इष्यते । चिदभावात्सुषुप्त्यादौ जाग्रच्चिन्मनसा कृता ॥
ब्रह्मत्वादेव चिद्रूपश्चित्सुषुप्तौ न लुप्यते । द्वैतादृष्टिर्द्वैतलोपान्न हि द्रष्टुरिति श्रुतेः ॥

'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति' (बृ० ४-५-१४) इति । प्रतिज्ञानुपरोधोऽप्यविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवभावाभ्युपगमात् । लक्षणभेदोऽप्यनयोरुपाधिनिमित्त एव । 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' (बृ० ४-३-१५) इति च प्रकृतस्यैव विज्ञानमयस्यात्मनः सर्वसंसारधर्मप्रत्याख्यानेन परमात्मभावप्रतिपादनात् । तस्मान्नैवात्मोत्पद्यते प्रविलीयते चेति ॥१७॥

निममर्थं न जानामि ब्रूहि त्वदुक्तेरर्थमिति मैत्रेयीप्रश्नार्थः । मुनिराह—न वा इति । **मोहं मोहकरं वाक्यमुच्छित्तिः पूर्वावस्थानाशो धर्मोऽस्येत्युच्छित्तिधर्मा परिणामी स नेत्यनुच्छित्तिधर्माऽपरिणामी, तस्मादविनाशीत्यर्थः ।** तर्हि न प्रेत्य **संज्ञेति कथमुक्तं, तत्राह**—मात्रेति । **मात्राभिर्विषयैरसंसर्गात्तथोक्तमित्यर्थः । बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव विरुद्धधर्मभेदोऽध्यस्त इत्यत्र हेतुमाह**—अत ऊर्ध्वमिति । **जीवस्य विकारित्वे मुक्त्ययोगात्तत्त्वमसीति वाक्यमखण्डार्थमिति च वक्तव्यं, तथाच 'फलवत्प्रधान'वाक्यापेक्षितजीवनित्यत्वश्रुतीनां बलवत्त्वादुत्पत्त्यादिकमध्यस्तमनुवदन्त्युत्पत्त्यादिश्रुतय इत्यविरोध इति सिद्धम् ॥१७॥**

कहती है कि 'अरी मैत्रेयी! मैं तो मोह में नहीं डाल रहा हूँ, यह आत्मा अनुच्छित्ति धर्मवाला है अर्थात् इसकी पूर्व अवस्था का नाशरूप उच्छेद नहीं होता । अतः यह अविनाशी है, उपाधि के अभाव में उस व्यापक, असंग चैतन्य का विषय के साथ संसर्ग नहीं होता है, यही मेरे कहने का अभिप्राय है ।' निर्विकार ब्रह्म का ही जीवभाव मानने पर एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा का बाध भी नहीं होता है । जीवात्मा–परमात्मा में जो लक्षण का भेद कहा गया है वह केवल उपाधिनिमित्त को लेकर ही कहा गया है । बिम्ब–प्रतिबिम्ब की भाँति विरुद्ध धर्मभेद अध्यस्त है, इस विषय में भाष्यकार हेतु देते हैं कि जब मैत्रेयी ने मुनि से प्रार्थना की कि 'आप इसके आगे मोक्ष के लिए[1] ही मुझे उपदेश करें तो इसका उत्तर महर्षि याज्ञवल्क्य ने प्रकृत विज्ञानमय आत्मा के सर्व संसारधर्म का निराकरण करते हुए परमात्मभाव का ही प्रतिपादन किया है । अतः आत्मा न उत्पन्न होता है और न लीन ही होता है, यह अर्थ सिद्ध हुआ ॥१७॥

१२. ज्ञाधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में जीव की अनुत्पत्ति बतलायी गयी, उसी जीव में चेतनत्वाचेतनत्व का विचार करना है । इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इसकी हेतुहेतुमद्भाव संगति है ।

२. विषय—जीवाश्रित चेतनत्व-अचेतनत्व इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—जीवात्मा चेतन है अथवा अचेतन ?

४. पूर्वपक्ष—सुषुप्त्यादि में चेतनता का अभाव होने के कारण जीवात्मा चिद्रूप नहीं है ।

५. सिद्धान्ती—ब्रह्म होने के कारण जीवात्मा चिद्रूप है, जो सुषुप्ति में लुप्त नहीं होता । उस सुषुप्तावस्था में द्वैत का लोप हो जाने के कारण द्वैत दर्शन नहीं होता । **"नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्"** इस श्रुति से भी उक्त अर्थ सिद्ध होता है ।

---

१. मोक्ष । २. तत्वमस्यादि ।

(२३४) ज्ञोऽत एव ॥१८॥

स किं काणभुजानामिवागन्तुकचैतन्यः स्वतोऽचेतन आहोस्वित्सांख्यानामिव नित्यचैतन्यस्वरूप एवेति वादिविप्रतिपत्तेः संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? आगन्तुकमात्मनश्चैतन्यमात्ममनःसंयोगजमग्निघटसंयोगजरोहितादिगुणवदिति प्राप्तम् । नित्यचैतन्यत्वे हि सुप्तमूर्च्छितग्रहाविष्टानामपि चैतन्यं स्यात् । ते पृष्टाः सन्तो न किंचिद्वयम[1]चेतयामहीति जल्पन्ति स्वस्थाश्च [2]चेतयमाना दृश्यन्ते । अतः कादाचित्कचैतन्यत्वादागन्तुकचैतन्य आत्मेति ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—ज्ञो नित्यचैतन्योऽयमात्मात एव, यस्मादेव नोत्पद्यते परमेव

ज्ञोऽत एव । 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इत्याद्यात्मस्वप्रकाशत्वश्रुतीनां 'पश्यंश्चक्षुः शृण्वञ्छ्रोत्रम्' इत्यनित्यज्ञानवत्त्वश्रुतिभिर्विरोधोऽत्र निरस्यते । 'अस्य लोकस्य चक्षुर्द्रष्टा श्रोत्रं श्रोतेत्यर्थः । प्रागुक्तजीवानुत्पत्तिहेतुमादाय स्वप्रकाशत्वसाधनाद्धेतुसाध्यभावः संगतिः । अनुत्पत्तौ हि स्वप्रकाश ब्रह्माैक्योपहितं जीव इति जीवस्य स्वप्रकाशता सिध्यति । न चैवं गतार्थता, अनुत्पन्नस्यापि जीवस्य स्वप्रकाशत्वे ज्ञानसाधनवैयर्थ्यमिति तर्कसहितानित्यज्ञानश्रुतिबलेन स्वप्रकाशत्वश्रुतेर्बाध्यतया ब्रह्मान्यत्वशङ्कायां तदैक्ययोग्यतायै स्वप्रकाशत्वस्यात्र साधनात् । तथाच पूर्वपक्षे जीवस्य ब्रह्मैक्यायोग्यता सिद्धान्ते तद्योग्यतेत्यपादसमाप्तेः फलमवगन्तव्यम् । इष्टापत्तिं निराचष्टे—ते पृष्टा इति । साधनाधीनज्ञानत्वान्न स्वप्रकाशो जीवो व्यतिरेकेणेश्वरवदित्याह—अतः कादाचित्केति । यथाश्रुते भाष्ये हेतोः साध्याविशेष इति मन्तव्यम् ।

अतो जीवस्य स्वप्रकाशत्वश्रुतिर्बाध्येति प्राप्ते सिद्धान्तयति—एवमिति । चेच्छब्दो निश्चयार्थः ।

ज्ञोऽत एव (ललिता)

काणादों की भाँति आगन्तुक चैतन्य जीवात्मा है, स्वतः अचेतन है अथवा सांख्यों की भाँति नित्य चैतन्यस्वरूप ही जीवात्मा है; वादियों की ऐसी विप्रतिपत्ति होने के कारण जीवात्मा के चैतन्य होने में संशय होता है । इस पर पूर्वपक्ष का कहना है, कि जैसे अग्नि के साथ घट का संयोग होने पर घट में लालरूप उत्पन्न हो जाता है, ठीक इसी प्रकार आत्मा और मन के संयोग से आत्मा में आगन्तुक ज्ञान उत्पन्न होता है । अतः आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं है और न उसमें नित्यचैतन्य ही है, क्योंकि नित्यचैतन्य गुण आत्मा में मानने पर सुषुप्त, मूर्च्छाग्रस्त और ग्रहाविष्ट जीव में भी नित्यचैतन्य होना चाहिए, पर सुषुप्त, मूर्च्छित एवं ग्रहाविष्ट पुरुष के स्वस्थावस्था में जब पूछते हैं तब वे कहते हैं कि हम उस समय चेतनाशून्य कुछ भी नहीं जानते थे और वे स्वस्थ अवस्था में चेतनायुक्त दिखाई पड़ते हैं । अतः कादाचित्य चैतन्य दीखने के कारण जीवात्मा आगन्तुक ज्ञान वाला है, नित्य ज्ञानवाला नहीं है ? ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती की ओर से भगवान् वेदव्यास ने इस सूत्र की रचना की है कि—

यह आत्मा नित्य चैतन्यरूप है । जैसा कि पूर्व अधिकरण में कहा गया था, कि निर्विकार परब्रह्म

१. अवेदयामः । २. चेतनावन्तः । ३. कस्यात्माज्योतिरित्याशंक्याहास्येति ।

ब्रह्माविकृतमुपाधिसम्पर्काज्जीवभावेनावतिष्ठते। परस्य हि ब्रह्मणश्चैतन्यस्वरूपत्वमाम्नातम्—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३-९-२८), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१-१), 'अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४-५-१३) इत्यादिषु श्रुतिषु। तदेव चेत्परं ब्रह्म जीवस्तस्माज्जीवस्यापि नित्यचैतन्यस्वरूपत्वमग्न्यौष्ण्यप्रकाशवदिति गम्यते। विज्ञानमयप्रक्रियायां च श्रुतयो भवन्ति—'असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति' (बृ० ४-३-११) 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (बृ० ४-३-९) इति, 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ० ४-३-३०) इत्येवंरूपाः। 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' (छा० ८-१२-४) इति च सर्वैः करणद्वारैरिदं वेदेदं वेदेति विज्ञानेनानुसंधानात्तद्रूपत्वसिद्धिः।

नित्यस्वरूपचैतन्यत्वे घ्राणाद्यानर्थक्यमिति चेत्। न। गन्धादिविषयविशेषपरिच्छेदार्थ-

---

न केवलं स्वप्रकाशब्रह्माभेदाज्जीवस्य स्वप्रकाशता किंतु श्रुतितोऽपीत्याह—विज्ञानमयेति। योऽयं विज्ञानमय इति प्रकरण इत्यर्थः। असुप्तः स्वयं भासमान एवात्मा सुप्तांल्लुप्तव्यापारान्वागादीनभिलक्ष्य चाकशीति। सुप्तार्थान्पश्यतीति यावत्। अत्र स्वप्ने विज्ञातुर्बुद्धिसत्त्वस्य साक्षिणो विज्ञातेर्विनाशो नास्तीत्यर्थः। घ्राणादिजन्यगन्धादिज्ञानानुसंधानसिद्धबे आत्मनो ज्ञानरूपत्वं वाच्यमिति श्रुत्यन्तरेणाह—अथेति।

आत्मनो नित्यचिद्रूपत्वेऽपि स्वतोऽसङ्गतया गन्धाद्यसंबन्धात्तत्संबन्धघटनात्मकवृत्त्यर्थानि ज्ञानसाधनानीति न तेषां वैयर्थ्यमित्याह—न गन्धेति। परिच्छेदो वृत्तिः। गन्धाय तद्गोचरान्तःकरणवृत्तये इत्यर्थः।

ही उपाधि के सम्पर्क से जीव भाव में आ गया है। यह जीव ब्रह्म से भिन्न पदार्थ नहीं है। 'ब्रह्म ज्ञान तथा आनन्दरूप है', 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान एवं देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्य है', 'वह कार्य-कारण भाव से रहित है, चैतन्यघनरूप ही है' इन श्रुतियों में परब्रह्म का नित्यचैतन्यस्वरूप कहा है। निःसन्देह, वही परब्रह्म उपाधिसम्पर्क से जीवरूप में भासता है। अतः जीव में भी नित्यचैतन्यस्वरूपत्व वैसे ही है जैसे अग्नि में औष्ण्य और प्रकाश, ऐसा निश्चित रूप से जाना जाता है। साथ ही विज्ञानमय प्रकरण में ये श्रुतियाँ भी हैं कि 'वह आत्मा सोता नहीं पर व्यापारशून्य सोये हुए बुद्ध्यादि उपकरणों को प्रकाशित करता रहता है।' इस प्रसंग में यह भी कहा है कि 'यह पुरुष स्वयंज्योति है', 'विज्ञाता आत्मा की चैतन्यरूपता का लोप नहीं होता है' इत्यादि। 'जो जानता है कि मैं इसे सूँघू वह आत्मा है' इस प्रकार सभी इन्द्रियों द्वारा इसे जानूँ इसे जानूँ, ऐसे ज्ञानपूर्वक अनुसन्धान करने के कारण उस आत्मा में ज्ञानरूपत्व सिद्ध हो जाता है।

शङ्का—आत्मा को नित्यचैतन्यस्वरूप मानने पर गन्धादि बाह्यविषयों को जानने के लिए घ्राणादि इन्द्रियों का आश्रय लेना अनर्थक हो जायेगा, क्योंकि चैतन्यस्वरूप होने के कारण वह स्वयं ही सभी विषयों को प्रकाशित करता रहेगा, उसे विषयप्रकाश के लिए इन्द्रियों के आश्रय की क्या आवश्यकता है? समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि गन्धादि बाह्यविषयविशेष को जानने के लिए उस नित्यचैतन्यरूप आत्मा को घ्राणादि इन्द्रियों की आवश्यकता होती है। इसीलिए तो श्रुति कहती

---

१. अकारणम्। २. अकार्यम्। ३. ज्ञान।

त्वात् । तथाहि दर्शयति—'गन्धाय घ्राणम्' इत्यादि ।

यत्तु सुप्तादयो न चेतयन्त इति तस्य श्रुत्यैव परिहारोऽभिहितः । सुषुप्तं प्रकृत्य 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति—नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ० ४-३-२३) इत्यादिना । एतदुक्तं भवति—विषयाभावादियमचेतयमानता न चैतन्याभावादिति । यथा वियदाश्रयस्य प्रकाशस्य प्रकाश्याभावादनभिव्यक्तिर्न स्वरूपाभावात्तद्वत् । वैशेषिकादितर्कश्च श्रुतिविरोध आभासीभवति । तस्मान्नित्यचैतन्यस्वरूप एवात्मेति निश्चिनुमः ॥१८॥

सुप्ताद्यवस्थास्वात्मसत्त्वेऽपि चैतन्याभावान्नात्मा चिद्रूप इत्युक्तं दूषयति—यत्त्विति । तत्तदा सुषुप्तो न पश्यतीति यत्तत्पश्यन्नेवालुप्तज्ञान एव सन्न पश्यतीत्यत्र हेतुः—नहीति । नाशायोग्यत्वादित्यर्थः । किमिति न पश्यतीत्यत आह—न त्विति । वृत्तेः साधनाधीनत्वोक्त्या स्वरूपज्ञानस्यासाधनाधीनत्वं हेतुरसिद्ध इत्युक्तम् । साधनवैयर्थ्यतर्कोऽपि निरस्तः । शु[1]न्निनित्याद्यनित्यज्ञानश्रुतीनां वृत्तिविषयत्वं व्याख्यातम् । आत्मा न ज्ञानं, द्रव्यत्वात्, इत्यादितर्काश्चागमबाधिताः । फलवत्प्रधानवाक्यापेक्षितस्वप्रकाशत्वागमस्य बलवत्त्वात् । किंच निरवयवात्मनो मनःसंयोगायोगान्नानित्यज्ञानगुणता समवायाभावाच्च न स्वसमवेतज्ञानवेद्यता कर्मकर्तृत्वविरोधाच्च । किंच ज्ञानत्वस्यैकवृत्तित्वे लाघवादात्मैव ज्ञानं वृत्तेश्च मनःपरिणामत्वश्रुत्या 'कामः संकल्पः' इत्याद्यया जडत्वान्नास्माकं ज्ञानद्वैविध्यगौरवमित्यनवद्यमात्मनः स्वप्रकाशत्वमिति सिद्धम् ॥१८॥

है कि गन्धाकार वृत्ति के लिए घ्राण इन्द्रिय की आवश्यकता है । विषयों के प्रकाश के लिए विषयाकार वृत्ति की आवश्यकता है, तभी आत्मा उसे विशेषरूप से प्रकाशित करता है । सामान्यतः चैतन्य से सभी विषय प्रकाशित हैं, किन्तु विशेष प्रकाश के लिए तदाकार वृत्ति की आवश्यकता होती ही है ।

और जो आप ने कहा था कि सुषुप्त आदि पुरुष अपने में चेतनता का अनुभव नहीं करते हैं इत्यादि, इस आक्षेप का परिहार श्रुति द्वारा ही हो चुका है, क्योंकि सुषुप्त पुरुष के प्रसंग में कहा है कि 'सोया हुआ पुरुष जो नहीं देखता है, वह देखता हुआ भी नहीं देखता है, क्योंकि निद्रावस्था में विषय और विषयाकार वृत्ति नहीं रह जाती, अविनाशी होने के कारण द्रष्टा की दृष्टि का लोप तो होता ही नहीं, उस अवस्था में उससे भिन्न द्वैत नहीं है, इसीलिए वह उसे देखता नहीं । तात्पर्य यह है कि विषयाभाव के कारण वह अचेतन सा जान पड़ता है, न कि चैतन्याभाव के कारण । जैसे आकाशाश्रित प्रकाश प्रकाश्य वस्तु के अभाव से अभिव्यक्त नहीं होता, किन्तु स्वरूपतः उसका अभाव नहीं होता है, वह प्रकाश आकाश के साथ तादात्म्य होकर रह रहा है, प्रकाश्य विषय के आते ही वह अभिव्यक्त हो जाता है । वैसे ही जाग्रदवस्था में विषय एवं विषयाकार वृत्ति होने पर वह नित्यचैतन्यरूप आत्मा विशेषरूप से अभिव्यक्त होता है । वैशेषिक आदि के तर्क का उक्त श्रुति के साथ विरोध आने के कारण उनमें तर्काभासता आ जाती है । अतः नित्यचैतन्यरूप ही आत्मा है ऐसा हम निश्चय करते हैं ॥१८॥

१. सुप्तमूर्छादिः ।

१३. उत्क्रान्तिगत्यधिकरणम् (सू. १९-३२)

(२३५) उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥१९॥

जीवोऽणुः सर्वगो वा स्यादेषोऽणुरिति वाक्यतः। उत्क्रान्तिगत्यागमनश्रवणाच्चाणुरेव सः॥
साभासबुद्ध्याणुत्वेन तदुपाधित्वतोऽणुता। जीवस्य सर्वगत्वं तु स्वतो ब्रह्मत्वतः श्रुतम्॥

इदानीं तु किंपरिमाणो जीव इति चिन्त्यते। किमणुपरिमाण उत मध्यमपरिमाण आहोस्विन्महापरिमाण इति। ननु च नात्मोत्पद्यते नित्यचैतन्यश्चायमित्युक्तम्। अतश्च पर एवात्मा जीव इत्यापतति। परस्य चात्मनोऽनन्तत्वमाम्नातं, तत्र कुतो जीवस्य परिमाणचिन्तावतार इति। उच्यते—सत्यमेतत्। उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रवणानि तु जीवस्य परिच्छेदं प्रापयन्ति। स्वशब्देन चास्य क्वचिदणुपरिमाणत्वमाम्नायते। तस्य सर्वस्याना-

---

स्वप्रकाशत्वादात्मस्वरूपादीषद्'हिष्ठं परिमाणमेवा'श्रिताश्रयत्वेनान्तर्बहिर्भावेन वा संगत्या विचारयति—उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्। विषयसंशयो दर्शयति—इदानीमिति। नात्माश्रुतेरित्यादिना गतार्थत्वमस्याशङ्क्यात्माणुत्वश्रुतीनां महत्त्वश्रुतीनां चाविरोधकथनार्थमस्याधिकरणस्यारम्भ इत्याह—नन्वित्यादिना। न केवलं श्रुतोत्क्रान्त्याद्यनुपपत्त्यात्मनोऽणुत्वं किन्त्वेषोऽणुरात्मेति श्रुत्यापीत्याह—स्वशब्देनेति। पूर्वपक्षे जीवस्याणुत्वाद् ब्रह्मैक्यासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति मत्वा सूत्रं व्याचष्टे—

---

१३. उत्क्रान्तिगत्यधिकरण

१. **संगति**—ब्रह्म के साथ अभेद सम्पादन के लिए जिस प्रकार जीवात्मा में स्वयंज्योतिष्ट्व और नित्यत्व इससे पूर्व के अधिकरणों में सिद्ध किया गया, ऐसे ही इस अधिकरण में जीवाणुत्वनिरासपूर्वक विभुत्व सिद्ध करने के लिए आन्तरबहिर्भाव संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. **विषय**—जीव परिमाण इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—जीवात्मा अणु परिमाण है अथवा विभु परिमाण है?

४. **पूर्वपक्ष**—'**एषोऽणुरात्मा**' (मु० ३-१-९) इस श्रुति से जीव में अणुत्व सिद्ध होता है। साथ ही उत्क्रान्ति, गमनागमन का श्रवण होने से भी जीवात्मा में अणुत्व मानना ही उचित है।

५. **सिद्धान्त**—साभास बुद्धि अणुपरिमाण वाली है, ऐसी उपाधि के कारण ही जीवात्मा में श्रुति ने अणुत्व कहा है, स्वतः तो जीवात्मा में विभुत्व ही है, क्योंकि वह ब्रह्म से अभिन्न कहा गया है।

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् (ललिता)

अब इस अधिकरण में जीव किस परिमाणवाला है, इस पर विचार किया जाता है। क्या जीवात्मा अणु परिमाण है, मध्यम परिमाण है अथवा विभु परिमाण है, ऐसा संशय होता है। मध्यस्थ—यह आत्मा नित्य चैतन्य है, अतः उत्पन्न नहीं होता, ऐसा आप पहले कह चुके हैं, इससे यह सिद्ध होता है, कि परमात्मा ही जीव है। परमात्मा में अपरिच्छिन्नत्वरूप अनन्तत्व कहा जा चुका है। ऐसी स्थिति में परमात्मस्वरूप उस जीव में परिमाण चिन्ता का प्रसंग ही कैसे उपस्थित हुआ! तटस्थ—आप का यह कहना सत्य है, किन्तु उत्क्रान्ति, गति और आगति के श्रवण जीवात्मा को परिच्छिन्न बतलाते हैं। इतना ही नहीं, श्रुति ने अपने कण्ठ से कहीं-कहीं पर इस जीवात्मा को अणु परिमाण बत-

---

१. अपकृष्टम्। २. स्वप्रकाशात्मनि आश्रयत्वमाश्रितत्वं तु परिमाणे।

(२३६) स्वात्मना चोत्तरयोः ॥२०॥

'कुलत्वोपपादनायायमारम्भः। तत्र प्राप्तं तावदुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नोऽणुपरिमाणो जीव इति। उत्क्रान्तिस्तावत्—'स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति' (कौषीत० ३-३) इति। गतिरपि 'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषीत० १-२) इति। आगतिरपि 'तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४-४-६) इति। आसामुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नस्तावज्जीव इति प्राप्नोति। नहि विभोश्चलनमवकल्पत इति। सति च परिच्छेदे शरीरपरिमाणत्वस्यार्हतपरीक्षायां निरस्तत्वादणुरात्मेति गम्यते ॥१९॥

उत्क्रान्तिः कदाचिदचलतोऽपि ग्रामस्वाम्यनिवृत्तिवद्देहस्वाम्यनिवृत्त्या कर्मक्षयेणावकल्पेत। ³उत्तरे तु गत्यागती नाचलतः संभवतः। स्वात्मना हि तयोः संबन्धो भवति,

कुर्वन्पूर्वपक्षमाह—तत्र प्राप्तमित्यादिना। श्रुतेरणुरिति उत्तरसूत्रादाकृष्य सूत्रं पूरितम्। उत्क्रान्तिः श्रूयत इति शेषः। स 'मुमूर्षुः जीव एतैर्बुद्ध्यादिभिस्तस्माच्चन्द्रलोकादिमं लोकं प्रति कर्म कर्तुमायातीत्यर्थः ॥१९॥

उत्क्रान्तिरात्मनो देहान्निर्गमो न भवति येनाणुत्वं स्यात् किंतु स्वामित्वनिवृत्तिरिति केचित्। तदङ्गीकृत्याप्यणुत्वमावश्यकमित्याह—स्वात्मनेति। उत्क्रान्तेरुत्तरयोर्गत्यागत्योः स्वात्मना कर्त्रा संबन्धादणुत्वमिति सूत्रयोजना। पाकानाश्रयस्य पक्तृत्ववद्गत्यनाश्रयस्यापि गन्तृत्वोक्तिः किं न स्या-

लाया है। ऐसी स्थिति में सभी श्रुतिवाक्यों में प्रतिरोधत्वरूप अनाकुलत्व बतलाने के लिए जीव परिमाण का विचार प्रारम्भ किया गया है। पूर्वपक्ष—इस पर पूर्वपक्षी का कहना है, कि उत्क्रान्ति, गति और आगति के श्रवण से जीव अणु परिमाण सिद्ध होता है। 'जब जीव इस शरीर से निकलता है तब मुमूर्षु जीव इन बुद्ध्यादि इन्द्रियों के साथ इस देह से उत्क्रमण करता है' इस वाक्य द्वारा जीव की उत्क्रान्ति कही है। 'जो कोई भी जीव इस लोक से प्रस्थान करते हैं वे सब के सब चन्द्रलोक में ही जाते हैं' इस वाक्य द्वारा गति और 'उस लोक से पुनः कर्म करने के लिए इस लोक में जीव आ जाता है' इस वाक्य द्वारा जीवात्मा की आगति भी कही है। इन उत्क्रान्ति, गति और आगति को सुनने से यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा परिच्छिन्न परिमाणवाला है, क्योंकि विभु में चलन नहीं होता। परिच्छेद पक्ष मानने पर शरीर परिमाणरूप मध्यमपरिमाणत्व का खण्डन आर्हत परीक्षा प्रसंग में कर आये हैं। अतः परिशेषतः अणु परिमाण जीव है, यही अर्थ निश्चित होता है ॥१९॥

स्वात्मना चोत्तरयोः (ललिता)

ग्रामस्वामित्व की निवृत्ति गाँव में रहते हुए भी हो जाती है। वैसे ही कदाचित् न चलने वाले जीवात्मा की भी देहस्वामित्व की निवृत्ति से कर्मक्षीण होते ही उत्क्रान्ति मानी जा सकती है, किन्तु इसके आगे गति और आगतिरूप लिङ्ग अचल पदार्थ में सम्भव नहीं है, इन दोनों का सम्बन्ध तो कर्ता के

१. अविरोधत्वम्। २. स्वाम्यनिवृत्यात्मोत्क्रान्त्युत्तरभाविनी। ३. मरणोन्मुखः।

(२३७) नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥२१॥

गमेः कर्तृस्थक्रियात्वात्। अमध्यमपरिमाणस्य च गत्यागती अणुत्व एव संभवतः। सत्योश्च गत्यागत्योरुत्क्रान्तिरप्यपसृप्तिरेव देहादिति प्रतीयते। न ह्यनपसृप्तस्य देहाद्गत्यागती स्याताम्। देहप्रदेशानां चोत्क्रान्तावपादानत्ववचनात्। 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृ० ४-४-२) इति। 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' (बृ० ४-४-१), 'शुक्रमादाय पुनरेति स्थानम्' (बृ० ४-३-११) इति चान्तरेऽपि शरीरे शारीरस्य गत्यागती भवतः। तस्मादप्यस्याणुत्वसिद्धिः ॥२०॥

'अथापि स्यान्नाणुरयमात्मा। कस्मात्? अतच्छ्रुतेः। अणुत्वविपरीतपरिमाणश्रवणादित्यर्थः। 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४-४-२२), 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१-१) इत्येवंजातीयका हि

वित्यत आह—गमेरिति। गमनस्य कर्तरि संयोगविभागरूपातिशयहेतुत्वात्कर्त्राश्रितत्वं लोकसिद्धमित्यर्थः। जीवोऽणुरमध्यमपरिमाणत्वे सति गतिमत्त्वात्परमाणुवदित्याह—अमध्यमेति। अङ्गीकारं त्यजति—सत्योश्चेति। न स्वाम्यनिवृत्तिमात्रमुत्क्रान्तिरित्यर्थः। देहान्निर्गम एवोत्क्रान्तिरित्यत्र लिङ्गान्तरमाह—देहप्रदेशानामिति। अपादानत्वमवधित्वम्। अन्येभ्यो वा मुखादिभ्य एष आत्मा निष्क्रामतीति शेषः। किंच देहमध्येऽपि जीवस्य गत्यागतिश्रुतेरणुत्वमित्याह—स इति। इन्द्रियाणि गृह्णन्स्वापादौ हृदयं स जीवो गच्छति शुक्रं प्रकाशकमिन्द्रियग्राममादाय पुनर्जागरितस्थानमागच्छतीत्यर्थः ॥२०॥

साथ ही रहता है क्योंकि गम् धातु कर्तृस्थ क्रियास्वरूप है। इसी गम् धातु से गति और आगति शब्द निष्पन्न होते हैं। मध्यमपरिमाण से भिन्न जीवात्मा में अणु परिमाण मानने पर ही गति और आगति क्रिया सम्भव हो जाती है। जब गति और आगति जीवाणुत्व के साधक मान लिए गये, तो उत्क्रान्तिरूप अपसृति ही देह से जीव की होती है, ऐसा अर्थ निश्चित होता है, क्योंकि देह से बाहर न निकलने पर गति और आगति हो नहीं सकते। 'उत्क्रान्ति के लिए देह के अवयवविशेष में चक्षु से, मूर्धा से अथवा देह के मुखादि अन्य द्वारों से भी जीव निकलता है' इस वाक्य द्वारा अपादानत्व कहा गया है। इतना ही नहीं, देह के मध्य में भी जीवात्मा की गत्यागति का श्रवण होने से उसमें अणुत्व सिद्ध होता है। 'यह जीव स्वापादि अवस्था में इन्द्रियों के व्यापार को समेटकर हृदयदेश में आ जाता है और पुनः विषयों के प्रकाशक इन्द्रिय समुदाय को लेकर जाग्रदवस्था में आ जाता है' इस श्रुतिवाक्य द्वारा शरीर के भीतर में भी जब जीवात्मा की गति और आगति होती है, इससे भी उसमें अणुपरिमाणत्व सिद्ध होता है। ॥२०॥

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् (ललिता)

शङ्का—फिर भी जीवात्मा अणुपरिमाण नहीं है, क्योंकि अणुत्व के विपरीत परिमाण भी सुना जाता है 'यह जीवात्मा महान् और अजन्मा है जो यह इन्द्रियों के मध्य में चेतन है', 'वह आकाश की भाँति व्यापक और नित्य है', 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान एवं अनन्तस्वरूप है' ये सभी श्रुतियाँ आत्मा को अणु

---

१. यद्यपि।

(२३८) स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥२२॥

श्रुतिरात्मनोऽणुत्वे विप्रतिषिध्येतेति चेत् । नैष दोषः । कस्मात् ? इतराधिकारात् । परस्य ह्यात्मनः 'प्रक्रियायामेषा 'परिमाणान्तरश्रुतिः । परस्यैवात्मनः प्राधान्येन वेदान्तेषु वेदितव्यत्वेन प्रकृतत्वात् । विरजः पर 'आकाशादित्येवंविधाच्च परस्यैवात्मनस्तत्र तत्र विशेषाधिकारात् । ननु 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४-४-२२) इति शारीर एव महत्त्वसंबन्धित्वेन प्रतिनिर्दिश्यते । शास्त्रदृष्ट्या त्वेष निर्देशो वामदेववद्द्रष्टव्यः । तस्मात् प्राज्ञविषयत्वात्परिमाणान्तरश्रवणस्य न जीवस्याणुत्वं विरुध्यते ॥२१॥

इतश्चाणुरात्मा यतः साक्षादेवास्याणुत्ववाची शब्दः श्रूयते—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश' (मुण्ड० ३-१-९) इति प्राणसंबन्धाच्च जीव एवायमणुरभिहित इति गम्यते । तथोन्मानमपि जीवस्याणिमानं गमयति—'बालाग्रशत-

इतराधिकारात् । ब्रह्मप्रकरणात् । ननु महत्त्वश्रुतेः कथं परप्रकरणस्थत्वमित्यत आह—परस्येति । या वेदान्तश्रुतिः सा परप्रकरणस्थेत्युत्सर्गात्तस्यास्तत्स्थत्वं ब्रह्मारभ्याधीतत्वाच्चेत्याह—विरज इति । निर्दोष इत्यर्थः । विज्ञानमयश्रुत्या प्रकरणं बाध्यमिति शङ्कते—नन्विति । अणोर्जीवस्य ब्रह्मणा भेदाभेदाङ्गीकाराच्छास्त्रीयाभेददृष्ट्या महत्त्वोक्तिः, यथा वामदेवस्याहं मनुरिति सर्वात्मत्वोक्तिरित्यविरोधमाह—शास्त्रेति ॥२१॥

एवमुत्क्रान्त्यादिश्रुत्याणुत्वमनुमितं, तत्र श्रुतिमप्याह—स्वशब्देति । बालाग्रादुद्धृतः शततमो भाग-

परिमाण मानने पर विप्रतिषिद्ध होने लग जायेंगी । पूर्वपक्ष—ऐसा दोष देना ठीक नहीं है, क्योंकि वह जीवात्मा से भिन्न परमात्मा के अधिकार में कहा गया है । परमात्म प्रकरण में ही यह परिमाणान्तर श्रुति पढ़ी गयी है, क्योंकि प्रधानरूप से वेदान्तशास्त्र द्वारा परमात्मा ही वेदितव्य कहा गया है । 'जो निर्दोष है और आकाश से भी पर है' ऐसा स्थल-स्थल पर परमात्मा का ही विशेषाधिकार सुना जाता है । अतः महत्त्व परिमाण परमात्मा में है, न कि जीवात्मा में । ऐसा निश्चय करना चाहिए । शङ्का—'इन्द्रियों के मध्य में जो यह विज्ञानमय पुरुष है' इस वाक्य द्वारा महत्त्व परिमाण से सम्बन्धित जीव ही बतलाया जाता है । समाधान—यह निर्देश 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' इत्यादि वाक्य में जैसे शास्त्रदृष्टि से वामदेव ने कहा था, वैसे ही जीवात्मा में भी यह निर्देश समझ लेना चाहिए । अतः विभुत्व श्रुति ब्रह्मविषयक है, वह परिमाणान्तर श्रवण जीव के अणुत्व परिमाण की विरोधी नहीं है ॥२१॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च (ललिता)

इसलिए भी जीव अणु परिमाण है, क्योंकि 'यह अणु परिमाणवाला जीव शुद्ध मन से जानने योग्य है जिसमें पाँच भेदवाला प्राण जुड़ा हुआ है' इस वाक्य द्वारा साक्षात् अणु परिमाणत्व सुना गया है, और प्राण के साथ सम्बन्ध भी सुना गया है । इसीलिए यह जीव ही अणु परिमाण कहा गया

१. प्रकरणे । २. अणुविपरीतपरिमाण । ३. अव्यक्ताकाशात् । ४. एवंप्रकाराद्वेदान्तादिति शेषः । ५. ब्रह्म । ६. प्राणापानादि । ७. श्वेताश्वतर ।

(२३९) अविरोधश्चन्दनवत् ॥२३॥

भागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः' (श्वे० ५-८) इति । 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ५-८) इति चोन्मानान्तरम् ॥२२॥

नन्वणुत्वे सत्येकदेशस्थस्य सकलदेहगतोपलब्धिर्विरुध्यते । दृश्यते च जाह्नवीह्रदनिमग्नानां सर्वाङ्गशैत्योपलब्धिर्निदाघसमये च सकलशरीरपरितापोपलब्धिरिति । अत उत्तरं पठति—

यथा हि हरिचन्दनबिन्दुः शरीरैकदेशसंबद्धोऽपि सन्सकलदेहव्यापिनमाह्लादं करोत्येवमात्मापि देहैकदेशस्थः सकलदेहव्यापिनीमुपलब्धिं करिष्यति । त्वक्संबन्धनाच्चास्य सकलशरीरगता वेदना न विरुध्यते । त्वगात्मनोर्हि संबन्धः कृत्स्नायां त्वचि वर्तते त्वक्च कृत्स्नशरीरव्यापिनीति ॥२३॥

स्तस्मादप्युद्धृतः शततमो भागो जीव इति, उद्धृत्य मानमुन्मानमत्यन्ताल्पत्वमित्यर्थः । बालः केशः, 'तोत्रप्रोतायःशलाकाग्रमाराग्रम् । तस्मादुद्धृता मात्रा मानं यस्य स जीवस्तथा ॥२२॥

आत्मसंयुक्तायास्त्वचो देहव्यापिस्पर्शोपलब्धिकरणस्य महिम्नात्मनो व्यापिकार्यकारित्वमविरुद्धम् । त्वगात्मनोरिति । संबन्धस्य त्वगवयविनिष्ठत्वादवयविनश्चैकत्वादात्मसंयोगस्य कृत्स्नत्वङ्निष्ठतेत्यर्थः ॥२३॥

है । साथ ही 'केश के अग्रभाग के सौ-सौ बार विभाग करने पर जो अंश बनता है वैसा जीव को समझना चाहिए' आरे के अग्रभाग की भाँति छोटा जीव को जाना गया है' इन वाक्यों द्वारा जीव में अल्प परिमाणत्व भी सुना गया है । अत्यन्त अल्प परिमाण को उन्मान कहते हैं अणुत्ववाचक शब्द एवं अल्पपरिमाणबोधक शब्द से जीवात्मा में अणुत्व सिद्ध होता है ॥२२॥

अविरोधश्चन्दनवत् (ललिता)

शङ्का—जीवात्मा को अणु मानने पर वह देह के एकदेश में ही स्थित रहेगा । ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण देहगत उपलब्धि विरुद्ध पड़ जायेगी अर्थात् एकदेश में स्थित अणु परिमाण जीवात्मा देहव्यापी उपलब्धि कैसे कर सकेगा । पर देखा जाता है कि गंगा जी में गोता लगाने पर सर्वाङ्ग शीतलता का अनुभव और ग्रीष्मकाल में सकलशरीर परिताप का अनुभव भी होता है । इसका उत्तर अग्रिम सूत्र द्वारा पूर्वपक्षी देता है कि—

जैसे देवतरु चन्दनबिन्दु शरीर के एकदेश से सम्बद्ध होता हुआ भी सकलदेहव्यापी आह्लाद देता है, ऐसे ही देह के एकदेश में स्थित हुआ भी आत्मा सम्पूर्णदेहव्यापी उपलब्धि कर लेगा क्योंकि त्वचा सकलदेहव्यापी है और उस त्वचा के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध है । अतः सकलदेहवर्ती ज्ञान का होना अणु परिमाण जीवात्मा में विरुद्ध नहीं है । सकलदेहव्यापी त्वचा का सम्बन्ध आत्मा के साथ है इसलिए अणु परिमाण आत्मा में सकलशरीरव्यापी ज्ञान का होना विरुद्ध नहीं है ॥२३॥

---

१. अपकृष्टः । २. देवतरुः । ३. ज्ञानम् । ४. प्राजनं तोदनं तोत्रमित्यमरः । चाबुकव्याख्यस्य त्रीणि ।

(२४०) अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद् हृदि हि ॥२४॥

'अत्राह यदुक्तमविरोधश्चन्दनवदिति, तदयुक्तं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरतुल्यत्वात् । सिद्धे ह्यात्मनो देहैकदेशस्थत्वे चन्दनदृष्टान्तो भवति । प्रत्यक्षं तु चन्दनस्यावस्थितिवैशेष्यमेकदेशस्थत्वं सकलदेहाह्लादनं च । आत्मनः पुनः सकलदेहोपलब्धिमात्रं प्रत्यक्षं नैकदेशवर्तित्वम् । अनुमेयं तु तदिति यदप्युच्येत । न चात्रानुमानं संभवति । किमात्मनः सकलशरीरगता वेदना त्वगिन्द्रियस्येव सकलदेहव्यापिनः सतः किंवा विभोर्नभस इवाहोस्विच्चन्दनबिन्दोरिवाणोरेकदेशस्थस्येति संशयानिवृत्तेरिति । अत्रोच्यते—नायं दोषः । कस्मात् ? अभ्युपगमात् । अभ्युपगम्यते ह्यात्मनोऽपि चन्दनस्येव देहैकदेशवृत्तित्वमवस्थितिवैशेष्यम् । कथमित्युच्यते । 'हृदि ह्येष आत्मा पठ्यते वेदान्तेषु 'हृदि ह्येष आत्मा' (प्रश्न० ३-६),

---

सिद्धे हीति । नतु सिद्धमित्यतुल्यतेत्यर्थः । विशेष एव वैशेष्यम् । चन्दनबिन्दोरल्पत्वस्य प्रत्यक्षत्वात्त्वग्व्याप्त्या व्यापिकार्यकारित्वकल्पना युक्ता, जीवस्य त्वणुत्वे संदेहाद्व्यापिकार्यदृष्ट्या व्यापित्वकल्पनमेव युक्तम् । व्यापिकार्याश्रयो व्यापीत्युत्सर्गादिति सूत्रशङ्काभागार्थः । आत्माल्पः, व्यापिकार्यकारित्वात्, चन्दनबिन्दुवदित्यनुमानमयुक्तं, त्वगादौ व्यभिचारादित्याह—न चात्रानुमानमिति । पूर्वोक्तश्रुतिभिर्जीवस्याणुत्वनिश्चयाद्धृदिस्थत्वश्रुतिभिरेकदेशस्थत्वनिश्चयाच्च न दृष्टान्तवैषम्यमिति । परिहारभागार्थमाह—अत्रोच्यत इति ॥२४॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद् हृदि हि (ललिता)

पूर्वपक्षी के इस निर्णय पर शङ्का करते हैं कि आप ने जो पूर्वसूत्र द्वारा जीवाणुत्व का समर्थन किया है, इसके लिए चन्दन का दृष्टान्त दिया, वह ठीक नहीं है क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में समानता नहीं है । यदि आत्मा का देह के एकदेश में स्थित होना सिद्ध हो गया होता, तो चन्दन दृष्टान्त सुसंगत माना जाता, पर वही विचाराधीन है । इधर दृष्टान्त में चन्दन की स्थिति देह के एकदेश में प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है और सकलदेहव्यापी आह्लाद भी प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुभूत है किन्तु दार्ष्टान्त में आत्मा का शरीर के एकदेश में स्थित होना अभी तक प्रत्यक्ष सिद्ध हुआ नहीं, केवल सकलदेहगत उपलब्धि मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है । आत्मा का एकदेश में स्थित होना अनुमेय है किन्तु यहां पर अनुमान की प्रवृत्ति भी सम्भव नहीं है । क्या जैसे त्वगिन्द्रियाँ सकलदेहव्यापी हैं ऐसे ही आत्मा की उपलब्धि भी सकलदेहव्यापी है अथवा व्यापक आकाश की भाँति आत्मा की उपलब्धि भी सकलदेहव्यापी है या चन्दनबिन्दु की भाँति एकदेश में स्थित अणुपरिमाण जीवात्मा का शरीरव्यापी कार्य है ? इन सभी विकल्पों से संशय मिटता नहीं, प्रत्युत बना ही रहता है । पूर्वपक्ष—यह दोष नहीं है क्योंकि चन्दन की भाँति आत्मा का देह के एकदेश में स्थित होना माना गया है । कैसे? तो सुन लीजिए—'यह आत्मा हृदय में रहता है', 'निःसन्देह यह प्रकृत आत्मा हृदय में रहता है ।'

---

१. अनणुवादी । २. उपलब्धिः । ३. अथर्वान्तर्गतप्रश्नः ।

(२४१) गुणाद्वा लोकवत् ॥२५॥

'स वा एष आत्मा हृदि' (छा० ८-३-३), 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः 'प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४-३-७) इत्याद्युपदेशेभ्यः । तस्माद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरवैषम्याद्युक्तमेवैतदविरोधश्चन्दनवदिति ॥२४॥

चैतन्यगुणव्याप्तेर्वाऽणोरपि सतो जीवस्य सकलदेहव्यापि कार्यं न विरुध्यते । यथा लोके मणिप्रदीपप्रभृतीनामपवरकैकदेशवर्तिनामपि प्रभाऽपवरकव्यापिनी सती कृत्स्नेऽपवरके कार्यं करोति तद्वत् । स्यात्कदाचिच्चन्दनस्य सावयवत्वात्सूक्ष्मावयवविसर्पणेनापि सकलदेह आह्लादयितृत्वं न त्वणोर्जीवस्यावयवाः सन्ति यैरयं सकलदेहं विप्रसर्पेदित्याशङ्क्य गुणाद्वा लोकवदित्युक्तम् ॥२५॥

कथं पुनर्गुणो गुणिव्यतिरेकेणान्यत्र वर्तेत । नहि पटस्य शुक्लो गुणः पटव्यतिरेकेणान्यत्र वर्तमानो दृश्यते । प्रदीपप्रभावद्भवेदिति चेत् । न । तस्या अपि

आत्मवत्तद्धर्मज्ञानस्याप्यणुत्वं स्वतः, कादाचित्कं तु देहपरिमाणत्वमित्युक्त्वा स्वत एव व्यापित्वमिति मतान्तरमाह— गुणाद्वेति । वाशब्देन चन्दनदृष्टान्तापरितोषः सूचितस्तमाह—स्यादिति ॥२५॥
उत्तरसूत्रव्यावर्त्यं शङ्कते— कथमिति । ज्ञानं न गुणिव्यतिरिक्तदेशव्यापि, गुणत्वात्, रूपवत्, नच

आत्मा कौन है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहा है कि 'जो कार्य-कारण संघात[1] में हृदय के भीतर ज्योतिस्वरूप विज्ञानमय पुरुष है' इत्यादि। इन उपदेशों के द्वारा श्रुतियों में जीवात्मा का हृदयदेश में रहना माना गया है। अतः दृष्टान्त-दार्ष्टान्त में वैषम्य नहीं है। इसीलिए 'अविरोधश्चन्दनवत्' इस सूत्र द्वारा जीवाणुत्व का समर्थन युक्तिसिद्ध है ॥२४॥

गुणाद्वा लोकवत् (ललिता)

अणु परिमाण होता हुआ भी जीवात्मा का चैतन्य गुण सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इसलिए सकलदेहव्यापी कार्य का होना विरुद्ध नहीं है। जैसे लोक में गृह[2] के भीतर मणि, प्रदीपादि रहते हैं और उनकी प्रभा गृहव्यापी होती है जो सम्पूर्ण गृह में प्रकाश कार्य करती रहती है, वैसे ही जीव भी शरीरैकदेश हृदय में रहता है किन्तु उसका चैतन्य गुण सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। शङ्का— सावयव होने के कारण चन्दन का सूक्ष्म अवयव फैलकर कदाचित् सकलदेह में आह्लाद उत्पन्न कर सकता है किन्तु अणु परिमाण जीवात्मा के तो अवयव नहो हैं जिनके द्वारा यह जोव सम्पूर्ण शरीर में फैल सके। पूर्वपक्ष —'गुणाद्वा लोकवत्' इस सूत्र से समाधान दिया जा चुका है। सूत्र में आये हुए 'वा' शब्द द्वारा यह सूचित कर रहे हैं कि चन्दन दृष्टान्त सन्तोषजनक नहीं है ॥२५॥

शङ्का—गुण अपने आश्रय को छोड़कर अन्यत्र कैसे रहेगा ? क्योंकि पट का शुक्ल गुण पट को छोड़कर अन्यत्र रहने वाला नहीं देखा जाता है। प्रदीप को छोड़कर जैसे उसकी प्रभा अन्यत्र रहते देखी गयी है एसे ही गुण भी अपने आश्रय को छोड़कर अन्यत्र रह जायेगा, ऐसा कहना ठीक नहीं है

१. कार्यकरणसघातेषु । २. आवरणकर्तृको गृहादिरपवरकपदार्थः ।

(२४२) व्यतिरेको गन्धवत् ॥२६॥

द्रव्यत्वाभ्युपगमात् । [1]निबिडावयवं हि तेजोद्रव्यं प्रदीपः । [2]प्रविरलावयवं तु तेजोद्रव्यमेव प्रभेति । अत उत्तरं पठति—

यथा गुणस्यापि सतो गन्धस्य गन्धवद्द्रव्यव्यतिरेकेण वृत्तिर्भवति । अप्राप्तेष्वपि कुसुमादिषु गन्धवत्सु कुसुमगन्धोपलब्धेः । एवमणोरपि सतो जीवस्य चैतन्यगुणव्यतिरेको भविष्यति । [3]अतश्चानैकान्तिकमे[4]तद्गुणत्वाद्रूपादिवदाश्रयविश्लेषानुपपत्तिरिति । गुणस्यैव सतो गन्धस्याश्रयविश्लेषदर्शनात्, गन्धस्यापि सहैवाश्रयेण विश्लेष इति चेत् । न । यस्मान्मूलद्रव्याद्विश्लेषस्तस्य क्षयप्रसङ्गात् । अक्षीयमाणमपि तत्पूर्वावस्थातो गम्यते । अन्यथा तत्पूर्वावस्थैर्गुरुत्वादिभिर्हीयेत । स्यादेतत् । गन्धाश्रयाणां विश्लिष्टानामवयवानामल्पत्वात्सन्नपि विशेषो नोपलक्ष्यते । सूक्ष्मा हि गन्धपरमाणवः सर्वतो विप्रसृता गन्धबुद्धिमुत्पाद-

प्रभायां व्यभिचारस्तस्या अपि द्रव्यत्वादिति प्राप्ते गन्धे व्यभिचारमाह—अत उत्तरमिति ।

गुणस्य द्रव्यव्यतिरेक आश्रयविश्लेषः । ननु विश्लिष्टावयवानामल्पत्वाद्द्रव्यक्षयो न भातीत्यत आह—अक्षीयमाणमपीति । अपिरवधारणे, पूर्वावस्थालिङ्गेनाक्षीयमाणमेव तद्द्रव्यमनुमीयत इत्यर्थः । [5]विमतमविश्लिष्टावयवं, पूर्वावस्थातो गुरुत्वाद्यपचयहीनत्वात्, संमतवदिति भावः । [6]शङ्कते—स्यादेतदिति । विश्लिष्टानामल्पत्वादित्युपलक्षणं, [7]अवयवान्तराणां प्रवेशादित्यपि द्रष्टव्यम् । विशेषोऽवयवानां विश्लेषप्रवेशरूपः सन्नपि न ज्ञायते, तथाच गुरुत्वापचयो न भवतीति हेतोरन्यथासिद्धिरिति शङ्कार्थः । आगच्छन्तो-

क्योंकि प्रभा को भी द्रव्य ही माना है । घनीभूत अवयव वाले तेजोमय द्रव्य को प्रदीप कहते हैं किन्तु विरल अवयव वाले तेजोद्रव्य को प्रभा कहते हैं । इसका उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं कि—

व्यतिरेको गन्धवत् (ललिता)

जैसे गन्धाश्रय द्रव्य को छोड़कर केवल गन्ध गुण की अन्यत्र वृत्ति देखी जाती है । गन्धवाले पुष्प को न प्राप्तकर भी दूरदेशस्थ पुरुष गन्ध को उपलब्धि करता रहता है, ऐसे ही अणु परिमाण वाले जीव का भी चैतन्य गुण शरीर में व्याप्त होकर रह जायेगा । अतः रूपादि की भाँति गन्ध में गुणत्व देखकर उसके अपने आश्रय से भिन्न न होने का अनुमान अनैकान्तिक है, आश्रय से विश्लेष असंगत है । केवल गुण का ही अपने आश्रय से विभाग होता है, गन्धाश्रय द्रव्य का नहीं । शङ्का—आश्रय के सहित गन्ध का भी विश्लेष (विभाग) अनुभवसिद्ध है । समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि गन्धाश्रय मूल द्रव्य से उसके अवयव का विभाग मानने पर उसके नाश का प्रसंग आ जायेगा । गन्धाश्रय कुसुम आदि द्रव्य पूर्वावस्था से अक्षीयमाण ही देखा जाता है । यदि द्रव्यावयव का विश्लेष वहाँ होता, तो पूर्व अवस्था वाले गुरुत्वादि बाद में घट जाने चाहिए था । पर ऐसा होता नहीं है, इसलिए गन्धाश्रय द्रव्य के अवयव का विभाग नहीं होता है, किन्तु केवल गन्ध गुण का ही विभाग होता है । शङ्का—विभक्त गन्धाश्रय अवयव अल्प होने के कारण मूलद्रव्य से उसका विभाग होता हुआ भी अनुभव में नहीं आता है, क्योंकि गन्ध के आश्रय परमाणु अति सूक्ष्म हैं जो सभी ओर

१. घनं निरन्तरं सांद्रं पेलवं विरलं तनु । २. प्रथमं त्रिकं निबिडस्य द्वितीयं तु विरलस्य । ३. वक्ष्यमाणहेतोः । ४. किमेतदित्यपेक्षायामाह गुणत्वादित्यादिना अतः शब्दद्योत्य हेतुमाह गुणस्यैवेत्यादिना । ५. गुणवद्द्रव्यम् । ६. अनणुवादी । ७. भोक्तृदृष्टवशेन ।

(२४३) तथाच दर्शयति ॥२७॥

यन्ति नासिकापुटमनुप्रविशन्त इति चेत् । न । अतोन्द्रियत्वात्परमाणूनां स्फुटगन्धोपलब्धे-श्च नागकेसरादिषु । नच लोके प्रतीतिर्गन्धवद्द्रव्यमाघ्रातमिति । गन्ध एवाघ्रात इति तु लौकिकाः प्रतियन्ति । रूपादिष्वाश्रयव्यतिरेकानुपलब्धेर्गन्धस्याप्ययुक्त आश्रयव्यतिरेक इति चेत् । न । प्रत्यक्षत्वादनुमानाप्रवृत्तेः । तस्माद्यद्यथा लोके दृष्टं तत्तथैवानुमन्तव्यं निरूपकैर्नान्यथा । नहि रसो गुणो जिह्वयोपलभ्यत इत्यतो रूपादयोऽपि गुणा जिह्वयैवो-पलभ्येरन्निति नियन्तुं शक्यते ॥२६॥

हृदयायतनत्वमणुपरिमाणत्वं चात्मनोऽभिधाय तस्यैव 'आ लोमभ्य आ नखाग्रेभ्यः' (छा० ८-८-१) इति चैतन्येन गुणेन समस्तशरीरव्यापित्वं दर्शयति ॥२७॥

ऽवयवाः परमाणवस्त्रसरेणवो वा, नाद्यः, तदगतरूपवद्गन्धस्याप्यनुपलब्धिप्रसङ्गादिति परिहरति—नेति। द्वितीयं प्रत्याह—स्फुटेति। 'त्रसरेणुगन्धश्चेत्स्फुटो न स्यादित्यर्थः। अतो गन्धस्य पुष्पादिस्थस्यैव गुणव्यतिरेको वाच्य इति भावः। गन्धो न गुणिविश्लिष्टः, गुणत्वात्, रूपवदिति शङ्कते—रूपेति। विश्लेषस्य प्रत्यक्षत्वाद्बाध इत्याह—नेति ॥२६॥

आत्मनश्चैतन्यगुणेनैव देहव्याप्तिरित्यत्र श्रुतिमाह सूत्रकारः—तथाच दर्शयतीति । तद्व्या-चष्टे—हृदयेति ॥२७॥

फैल गये हैं, वे ही नासिका पुट में प्रवेश करते हुए गन्ध ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। पूर्वपक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय है। पर नाग-केशरादि वाली गन्ध का अनुभव तो स्पष्ट होता है। लोक में किसी को भी गन्धाश्रित द्रव्य को मैंने सूंघा, ऐसी प्रतीति नहीं होती है किन्तु सभी लौकिक पुरुष गन्ध को ही मैंने सूंघा, ऐसा जानते और कहते हैं। शङ्का—जब अपने आश्रय को छोड़कर शुक्ल रूपादि केवल नहीं देखे जाते, तो गन्ध को आश्रयभिन्न मानना असंगत है। पूर्वपक्षी—जब अपने आश्रय से विभक्त गन्ध का प्रत्यक्ष हो रहा है और रूप का नहीं होता, तो ऐसी स्थिति में यहाँ पर अनुमान प्रवृत्ति नहीं होता है। इसीलिए लोक में जो वस्तु जैसी देखी गयी है, बुद्धिमान पुरुष उसका वैसा ही अनुमान करता है, अन्यथा नहीं करता। रस गुण जिह्वा से उपलब्ध होता है। अतः रूपादि गुण भी जिह्वा से ही जान लिये जायगे, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता है ॥२६॥

तथाच दर्शयति (ललिता)

आत्मा चैतन्य गुण के कारण ही देहव्यापी है, इस बात को श्रुति के आधार पर सूत्रकार अग्रिम सूत्र से दिखलाते हैं—

आत्मा का आयतन हृदय है और वह आत्मा अणु परिमाण है, ऐसा कहकर उसी को 'लोम से नख तक व्याप्त है' इस वाक्य द्वारा चैतन्य गुण के कारण ही श्रुति समस्तशरीरव्यापी बतलाती है ॥२७॥

---

१. त्रसरेणोरूपमेव स्फुटं भवति न रसादय इत्यनुभवसिद्धम् ।

(२४४) पृथगुपदेशात् ॥२८॥

(२४५) तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२९॥

'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौषी० ३-६) इति चात्मप्रज्ञयोः कर्तृकरणभावेन पृथगुपदेशाच्चैतन्यगुणेनैवास्य शरीरव्यापिता गम्यते। 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २-१-१७) इति च कर्तुः शरीरात्पृथग्विज्ञानस्योपदेश एतमेवाभिप्रायमुपोद्बलयति। तस्मादणुरात्मेति ॥२८॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्त्यणुरात्मेति। उत्पत्त्यश्रवणाद्धि परस्यैव तु ब्रह्मणः प्रवेशश्रवणात् तादात्म्योपदेशाच्च परमेव ब्रह्म जीव इत्युक्तम्। परमेव चेद्ब्रह्म जीवस्तस्माद्यावत्परं ब्रह्म तावानेव जीवो भवितुमर्हति। परस्य च ब्रह्मणो विभुत्वमाम्नातम्। तस्माद्विभुर्जीवः। तथाच 'स वा एष महाजन आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४-४-२२)

तत्रैव श्रुत्यन्तरार्थं सूत्रम्—पृथगिति। विज्ञानमिन्द्रियाणां ज्ञानशक्तिं विज्ञानेन चैतन्यगुणेनादाय शेत इत्यर्थः। एतं चैतन्यगुणाव्याप्तिगोचरमभिप्रायम् ॥२८॥

तत्रात्माणुत्वविभुत्वश्रुतीनां विरोधादप्रामाण्यप्राप्तावणुत्वं जीवस्य विभुत्वमीश्वरस्येत्यविरोध इत्येकदेशिपक्षो दर्शितः। तं दूषयन्सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—तुशब्द इत्यादिना। तस्माद्ब्रह्माभिन्नत्वाद्विभुर्जीवः ब्रह्मवदित्यनुमानानुगृहीते श्रुतिस्मृती आह—तथाच स वा एष इति। नित्यः सर्वगतः

पृथगुपदेशात् (ललिता)

'प्रज्ञा के द्वारा शरीर में आरूढ़ होकर' इस वाक्य से आत्मा कर्ता एवं प्रज्ञा करण रूप में दोनों ही पृथक्-पृथक् उपदिष्ट हैं, इससे चैतन्य गुण के कारण ही इस आत्मा की शरीरव्यापिता सिद्ध होती है। 'इन इन्द्रियों की चेतना को बुद्धि के द्वारा ग्रहणकर सुषुप्त पुरुष रहता है' इस वाक्य के द्वारा शरीर कर्ता से पृथक् विज्ञान का जो उपदेश किया गया है वह भी इस अभिप्राय का ही सिद्ध करता है। अतः आत्मा अणु परिमाण है ॥२८॥

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् (ललिता)

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं—

सूत्र में आया हुआ 'तु' शब्द पूर्वोक्त एकदेशी पक्ष की व्यावृत्ति करता है, कि यह आत्मा अणु परिमाण नहीं है क्योंकि इसकी उत्पत्ति नहीं सुनी जाती है, अपितु परब्रह्म का ही इस देह में प्रवेश सुना जाता है और उसके तादात्म्य का उपदेश भी है, इससे परब्रह्म ही जीव है यह बात कही जा चुकी है। जब परब्रह्म ही जीव है तो जो ब्रह्म का परिमाण है वैसा ही परिमाण जीव का भी होना चाहिए। ब्रह्म में विभुत्व कहा गया है, इसलिए जीव भी विभु परिमाण है। इसीलिए 'यह जीव महान्, अजन्मा और कार्यकरणसंघातरूप प्राणों के मध्य विज्ञानमय है' ऐसी श्रुति और 'नित्य, सर्वव्या-

---

१. य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेत इति श्रुतिशेषभागः। २. एकदेशिपक्षम्। ३. अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्येत्यादिना। ४. निश्चयावद्योती चेच्छब्दः। ५. बुद्धिप्रधान। ६. कार्यकारणसंघातेषु। ७. चैतन्यगुणेनात्मनो या देहव्याप्तिः सैव गोचरो यस्य तमभिप्रायमुपवरार्येति शेषः।

इत्येवंजातीयका जीवविषया विभुत्ववादाः श्रौताः स्मार्ताश्च समर्थिता भवन्ति । न चाणोर्जीवस्य सकलशरीरगता वेदनोपपद्यते । त्वक्सम्बन्धात्स्यादिति चेत् । न । कण्टकतोदनेऽपि सकलशरीरगतैव वेदना प्रसज्येत । त्वक्कण्टकयोर्हि संयोगः कृत्स्नायां त्वचि वर्तते त्वक्च कृत्स्नशरीरव्यापिनीति । पादतल एव तु कण्टकनुन्नो[1] वेदनां प्रति लभते । न चाणोर्गुणव्याप्तिरुपपद्यते, गुणस्य गुणिदेशत्वात् । गुणत्वमेव हि गुणिनमनाश्रित्य गुणस्य हीयेत[2] । प्रदीपप्रभायाश्च द्रव्यान्तरत्वं व्याख्यातम् । गन्धोऽपि गुणत्वाभ्युपगमात्साश्रय एव संचरितुमर्हति । अन्यथा गुणत्वहानिप्रसङ्गात् । तथाचोक्तं भगवता द्वैपायनेन । 'उपलभ्याप्सु

स्याणुरित्याद्याः स्मार्तवादाः । 'एतेन जीवस्य ब्रह्माभेदज्ञानेऽणुत्वाभावधीस्तस्यां तदित्यन्योन्याश्रय इति निरस्तम् । 'प्रधानमहावाक्यानुगुणश्रुतिस्मृतिभिरणुत्वाभावनिश्चयानन्तरमभेदज्ञानात्प्रधानवाक्यविरोधे गुणभूताणुत्वश्रुतीनामौपाधिकाणुत्वविषयत्वकल्पनात् । 'गुणे त्व'न्याय्यकल्पना' इति न्यायादिति भावः । किञ्च सर्वदेहव्यापिशैत्यानुभवान्यथानुपपत्त्याऽणुत्वश्रुतयोऽभ्यस्ताणुत्वविषयत्वेन कथंचिदर्थवादा नेयाः । लौकिकन्यायादपि तेषां दुर्बलत्वादिति मत्वाह—न चाणोरिति । शङ्कते—त्वगिति । यद्यप्यात्मसंबन्धस्य त्वग्व्याप्त्या देहव्यापिनी वेदना स्यात्तर्ह्यतिप्रसङ्ग इति दूषयति—नेति । प्रसङ्गस्येष्टत्वं निरस्यति—पादतल एवेति । तस्मादल्पमहतोः संयोगो न महद्व्यापी, कण्टकसंयोगस्य देहव्याप्त्यदर्शनात्, तथाचाण्वात्मसंयोगस्त्वगेकदेशस्थ एवेति देहव्यापिवेदनानुपपत्तिः । नच सिद्धान्ते त्वगात्मसंबन्धस्य व्यापित्वात्कण्टकसंबन्धे देहव्यापिवेदनाप्रसङ्ग इति वाच्यम् । यावती विषयसंबद्धा त्वक् तावद्व्याप्त्यात्मसंबन्धस्तावद्व्यापिवेदनाहेतुरिति नियमात् । न चैवं विषयत्वक्संबन्ध एव तद्धेतुरस्तु किमात्मव्याप्त्येति वाच्यम् । वेदना हि सुखं दुःखं तदनुभवश्च, न चैषां व्यापकानां कार्याणामल्पमुपादानं संभवति कार्यस्योपादानाद्विश्लेषानुपपत्तेः । न चैषां व्यापकत्वमसिद्धं, सूर्यतप्तस्य गङ्गानिमग्नस्य सर्वाङ्गव्यापिदुःखसुखानुभवस्य दुरपह्नवत्वात् । यदुक्तं गुणस्यापि गुणिविश्लेषो गन्धवदिति, तन्नेत्याह—न चाणोरिति । गन्धो नाश्रयाद्विश्लिष्टः, गुणत्वात्, रूपवदित्यत्रागममाह—तथा चोक्त-

पक, निर्विकार आत्मा है' ऐसी स्मृति भी जीव को विभु बतलाने वाली समर्थित होती है । अणु परिमाण जीव को सकलशरीरव्यापी वेदना का अनुभव नहीं हो सकता । शङ्का—त्वचा के साथ सम्बन्ध होने के कारण शरीरव्यापी वेदना का अनुभव अणु परिमाण जीव को भी हो जायेगा । सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं । त्वचा में कांटे के चुभने पर सकलशरीरव्यापी वेदना का प्रसंग आ जायेगा, क्योंकि त्वचा सकलशरीरव्यापी है, उस त्वचा के साथ कांटे का संयोग हुआ है, ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण शरीर में वेदना का अनुभव होना चाहिए, किन्तु पैर में कांटा चुभने पर वे कण्टकविद्ध पुरुष केवल पाद में ही वेदना का अनुभव करते हैं, सम्पूर्ण शरीर में नहीं । गुण सदा गुणी के देश में रहता है । अतः अणु परिमाण जीव का ज्ञान गुण शरीरव्यापी नहीं हो सकता, गुणी रूप के आश्रय के छोड़ देने पर गुण में गुणत्व ही नष्ट हो जाता है । प्रदीप प्रभा में द्रव्यान्तरत्व बतलाया जा चुका है । गन्ध भी गुण है, वह अपने आश्रय में ही रहकर संचरण कर सकता है, नहीं तो गुणत्व की हानि होने लग जायेगी ।

१. कण्टकेन व्यथिताः प्राणिनः । २. द्रव्याश्रितत्वं हि गुणत्वम् । ३. उक्तश्रुतिस्मृतिभ्यामणुत्वाभावनिश्चयेन । ४. प्रधानानि च तानि महान्ति बहूनि वाक्यानि तदनुगुणेत्यादि । ५. अन्याय्यालक्षणा तस्याः कल्पनमित्यर्थः ।

चेद्गन्धं केचिद्ब्रूयुरनैपुणाः । पृथिव्यामेव तं विद्यादपो वायुं च संश्रितम्' इति । यदि च चैतन्यं जीवस्य समस्तं शरीरं व्याप्नुयान्नाणुर्जीवः स्यात् । चैतन्यमेव ह्यस्य स्वरूपमग्नेरिवौष्ण्यप्रकाशौ । नात्र गुणगुणिविभागो विद्यत इति । शरीरपरिमाणत्वं च प्रत्याख्यातम् । परिशेषाद्विभुर्जीवः ।

कथं तर्ह्यणुत्वादिव्यपदेश इत्यत आह—'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः' इति । तस्या बुद्धेर्गुणास्तद्गुणा इच्छा द्वेषः सुखं दुःखमित्येवमादयस्तद्गुणाः सारः प्रधानं यस्यात्मनः संसारित्वे संभवति स तद्गुणसारस्तस्य भावस्तद्गुणसारत्वम् । नहि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मनः संसारित्वमस्ति । बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वाविलक्षणं संसारित्वमकर्तुरभोक्तुश्चासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सत आत्मनः । तस्मात्तद्गुणसारत्वाद्बुद्धिपरिमाणेनास्य परिमाणव्यपदेशः । तदुत्क्रान्त्यादिभिश्चास्योत्क्रान्त्यादिव्यपदेशो

मिति । नच प्रत्यक्षबाधः, गन्धस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि निराश्रयत्वस्याप्रत्यक्षत्वान्महतां त्रसरेणूनामनुद्भूतस्पर्शानामुद्भूतगन्धानामागमनात्स्फुटगन्धोपलम्भसंभवः, अवयवान्तरप्रवेशान्न सहसा मूलद्रव्यक्षय इति भावः । पूर्वं चैतन्यस्य गुणत्वमुपेत्य तद्व्याप्त्या गुण्यात्माणुत्वं निरस्तं, संप्रति तस्य गुणत्वमसिद्धमित्याह—यदि च चैतन्यमिति ।

'उत्सूत्रं विभुत्वं प्रसाध्याणुत्वाद्युक्तेर्गतिप्रदर्शनार्थं सूत्रं व्याचष्टे—कथमित्यादिना । 'अन्तरा विज्ञानमनसी, हृदि हि' इति च प्रकृता बुद्धिर्योग्यत्वात्तच्छब्देन परामृश्यते । बुद्धिगुणानामात्मन्यध्या-

---

इसीलिए तो भगवान् द्वैपायन ने कहा है कि 'यदि जल में किसी को गन्ध दीखती हो, तो उसे विवेकी लोग जल में नहीं मानते हैं किन्तु उसे पृथ्वी में ही समझना चाहिए, जल और वायु में तो पार्थिवसंसर्ग के कारण गन्ध भासती है । और यदि जीव का चैतन्य गुण समस्तशरीरव्यापी हो तो जीव अणु परिमाण नहीं माना जायेगा, क्योंकि इस जीव का स्वरूप चैतन्य ही तो है । जैसे अग्नि का स्वरूप औष्ण्य और प्रकाश है वैसे ही जीव का स्वरूप चैतन्य है । यहाँ पर जीव गुणी और चैतन्य उसका गुण है, ऐसा विभाग नहीं कर सकते । जीव के शरीर परिमाणत्व का निराकरण तर्क पाद में हो चुका है । परिशेषतः जीव विभु परिमाण है ।

शङ्का—फिर भला अणुत्वादि व्यपदेश जीव में क्यों किया गया है ? इसका उत्तर इस सूत्र से देते हैं कि उस बुद्धि के गुण इच्छा, द्वेष, सुख-दुःखादि हैं, उन्हीं की प्रधानता जिस आत्मा के संसारित्व में कही गयी है वह जीव तद्गुणसार कहा जाता है और उसके अस्तित्व को तद्गुणसारत्व कहते हैं। बुद्धि के गुणों का आरोप किये बिना केवल आत्मा में संसारित्व हो ही नहीं सकता । बुद्धि उपाधि धर्म के अध्यास से कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिरूप संसारित्व अकर्ता, अभोक्ता, नित्यमुक्त, असंसारी सदात्मा में दीखता है । अतः बुद्धि के परिमाण को लेकर ही जीवात्मा में अणु परिमाणत्व का व्यपदेश श्रुति करती है और बुद्धि की उत्क्रान्ति आदि के कारण इस जीवात्मा में उत्क्रान्त्यादि का व्यपदेश भी

---

१. सूत्राद्बहिरेव ।

न स्वतः । तथाच—'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते' (श्वे० ५-९) इत्यणुत्वं जीवस्योक्त्वा तस्यैव पुनरानन्त्यमाह । तच्चैवमेव समञ्जसं स्याद्यद्यौपचारिकमणुत्वं जीवस्य भवेत्पारमार्थिकं चानन्त्यम् । न ह्युभयं मुख्यमवकल्पेत । न चानन्त्यमौपचारिकमिति शक्यं विज्ञातुं, सर्वोपनिषत्सु ब्रह्मात्मभावस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात् । तथेतरस्मिन्नप्युन्माने 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ६-८) इति च बुद्धिगुणसबन्धेनैवाराग्रमात्रतां शास्ति न स्वेनैवात्मना । 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मुण्ड० ३-१-९) इत्यत्रापि न जीवस्याणुपरिमाणत्वं शिष्यते, परस्यैवात्मनश्चक्षुराद्यनवग्राह्यत्वेन ज्ञानप्रसादगम्यत्वेन च प्रकृतत्वात् । जीवस्यापि च मुख्याणुपरिमाणत्वानुपपत्तेः । तस्माद्दुर्ज्ञानत्वाभिप्रायमिदमणुत्व-

---

सावणुत्वाद्युक्तिर्न स्वतः, आनन्त्यश्रुतिविरोधादित्याह—तथाचेति । अकार्यकारणद्रव्यसमानाधिकरणतया तत्त्वमसीति वाक्यस्य सोऽयमिति वाक्यवदखण्डाभेदार्थत्वादानन्त्यं सत्यमणुत्वमध्यस्तमित्यर्थः । 'उक्तं चैतदङ्गुष्ठाधिकरणे[1] 'प्रतिपाद्यविरुद्धमुद्देश्यगतविशेषणमविवक्षितम्' इति । बालाग्रवाक्यमाराग्रवाक्यं चेत्युन्मानद्वयमुक्तम् । तत्राद्यं निरस्य द्वितीयं निरस्यति—तथेतरस्मिन्नपीति । बुद्धेर्गुणेन निमित्तेनात्मन्यध्यस्तो गुणो भवति तेनात्मगुणेनाध्यस्तेनैवाराग्रपरिमाणोऽपकृष्टश्च जीवो दृष्टः स्वतस्त्वनन्त एवेत्यर्थः । 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं[2] ध्यायमानः[3]' इत्युक्त्वा 'एषोऽणुरात्मा' इत्युक्तः पर एव, यदि जीवस्तथाप्यध्यस्ताणुत्वमणुशब्दार्थ इत्याह—जीवस्यापीति । यदुक्तं पृथगुपदेशाच्चैतन्यगुणेनैवात्मनो देहव्याप्ति-

---

होता है, स्वतः आत्मा में उत्क्रान्त्यादि भी नहीं है । इसलिए तो 'बाल के अग्रभाग को सौ भागों में विभक्त करके उसके एक भाग को पुनः सौ भागों में विभक्त करने पर, इस प्रकार सौ बार विभक्त करते-करते जो शेष रहता है, इतना सूक्ष्म जीव को समझना चाहिए, वह अनन्तता को प्राप्त कर जाता है' इस वाक्य द्वारा पहले जीव में अणुत्व बतलाकर उसी में अनन्तता भी कही है । ये दोनों बातें तभी सुसंगत हो सकती हैं, जब जीव में अणुत्व औपचारिक मानें और अनन्तत्व पारमार्थिक मानें, क्योंकि दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म मुख्य नहीं हो सकते । अनन्तता को औपचारिक भी नहीं मान सकते क्योंकि ब्रह्म और आत्मा का अभेद प्रतिपादन करना इष्ट है । वैसे ही अन्य उन्मान में भी 'आरा के अग्रभाग के समान यह जीव छोटा देखा गया है' इस वाक्य द्वारा बुद्धि के गुण सम्बन्ध से ही आराग्रमात्रता का उपदेश शास्त्र करता है, स्वरूपतः आत्मा आराग्रमात्र नहीं है । 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' इस वाक्य में भी जीव का अणु परिमाण नहीं कहा गया है, क्योंकि वहाँ भी चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्रहण के अयोग्य, ज्ञानप्रसाद से प्राप्त होने वाले परमात्मा का ही प्रसङ्ग चल रहा है । अतः जीवात्मा में भी मुख्य रूप से अणुपरिमाणत्व कहना युक्तिसंगत नहीं है, केवल दुर्ज्ञानत्वाभिप्राय से अथवा औपाधिक दृष्टि से

---

१. शब्दादेव प्रमित इति सूत्र इत्यर्थः । २. निरवयवम् । ३. निदिध्यास्यमानः ।

वचनमुपाध्यभिप्रायं वा द्रष्टव्यम् । तथा 'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौषी० ३-६) इत्येवंजातीयकेष्वपि भेदोपदेशेषु बुद्ध्यैवोपाधिभूतया जीवः शरीरं समारुह्येत्येवं योजयितव्यम् । व्यपदेशमात्रं वा, शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यादिवत् । न ह्यत्र गुणगुणिविभागोऽपि विद्यत इत्युक्तम् । हृदयायतनत्ववचनमपि बुद्धेरेव [1]तदायतनत्वात् । तथोत्क्रान्त्यादीनामप्युपाध्यायत्ततां दर्शयति—'कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि' (प्रश्न० ६-३) इति, 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६-४) इति । उत्क्रान्त्यभावे हि गत्यागत्योरप्यभावो विज्ञायते । न ह्यनपसृप्तस्य देहाद्गत्यागतो स्याताम् । एवमुपाधिगुणसारत्वाज्जीवस्याणुत्वादिव्यपदेशः प्राज्ञवत् । यथा प्राज्ञस्य परमात्मनः सगुणेषूपासनेषूपाधिगुणसारत्वादणीयस्त्वादिव्यपदेशः—'अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' (छा० ३-१४-३) 'मनोमयः प्राणशरीरः सर्वगन्धः सर्वरसः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ३-१४-२) इत्येवंप्रकारस्तद्वत् ॥२९॥

स्यादेतद्यदि बुद्धिगुणसारत्वादात्मनः संसारित्वं कल्प्येत, ततो बुद्ध्यात्मनोर्भिन्नयोः

रिति, तत्राह—तथा प्रज्ञयेति । बुद्धिः प्रज्ञेत्यर्थः । यदि चैतन्यं प्रज्ञा तदा भेदोपचार इत्याह—व्यपदेशमात्र वेति । ननु चैतन्यं गुण इति भेदो मुख्योऽस्तु, नेत्याह—न ह्यत्रेति । निर्गुणत्वश्रुतेरित्यर्थः । अन्यदपि पूर्वोक्त बुद्ध्याद्युपाधिकमित्याह—हृदयेत्यादिना । सौत्रं दृष्टान्तं विवृणोति—यथेति । असत्त्वमित्यापाततः । असंसारित्वमापाद्यम् । शेषं सुबोधम् ॥२९॥

जीवात्मा में यह अणुत्व समझना चाहिए। वैसे ही "बुद्धि के द्वारा शरीर में आरूढ़ होकर" इन भेदोपदेशा श्रुतिवाक्यों में भी बुद्धि उपाधि के कारण ही जीव शरीर में समारूढ़ होता है, ऐसी योजना करनी चाहिए। यहां पर भेद व्युपदेश तो शिलापुत्र के शरीर की भाँति औपचारिक है, यहाँ भी गुण-गुणी विभाग करना इष्ट नहीं है, ऐसा हम कह आये हैं। हृदयायतनत्व वचन भी बुद्धि को लेकर ही है, क्योंकि बुद्धि ही हृदय में रहती है, जैसे 'किसके उत्क्रमण करने पर मैं उत्क्रान्त हो जाऊँगा और किसके प्रतिष्ठित होने पर मैं प्रतिष्ठित हो जाऊँगा' इस वाक्य द्वारा उत्क्रान्त्यादि को भी उपाधि-अधीन ही श्रुति कहती है। 'उसने प्राण की सृष्टि की' ऐसा भी कहा है। उत्क्रान्ति के अभाव में गति और आगति का भी अभाव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि देह से अपसरण किए बिना गति और आगति हो नहीं सकती। अतः उपाधि के गुण को सार मान लेने पर जीवात्मा में अणुत्वादि का व्यपदेश वैसे ही होता है, जैसे प्राज्ञ परमात्मा की सगुण उपासनाओं में उपाधि गुणों की प्रधानता के कारण 'व्रीहि से और जौ से भी वह परमात्मा सूक्ष्म है, वह मनोमय प्राण शरीर सर्वगन्ध, सर्वरस, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है' इन वाक्यों द्वारा विभिन्न धर्मो का व्यपदेश किया गया है। परमात्मा वास्तव में निर्विशेष एवं निर्गुण है, उपाधियों को लेकर ही उसमें सगुणत्वादि का व्यपदेश श्रुति करती है। वैसे ही जीव में भी उपाधि के गुणों के कारण ही अणुत्वादि व्यपदेश होता है ॥२९॥

शङ्का—यदि बुद्धिगुणप्रधानता को लेकर आत्मा में संसारित्व की कल्पना करोगे, तो बुद्धि और आत्मा भिन्न पदार्थ हैं, इनके संयोग का अन्त होना आवश्यक है। अतः बुद्धि का वियोग होने

---

१. हृदयं मांसपिण्डं तदायतनं बुद्धेरेव । २. सूत्रात्मा ।

(२४६) यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥३०॥

संयोगावसानमवश्यंभावीत्यतो बुद्धिवियोगे सत्यात्मनो विभक्तस्यानालक्ष्यत्वादसत्त्वमसंसारित्वं वा प्रसज्येतेति । अत उत्तरं पठति—

नेयमनन्तरनिर्दिष्टदोषप्राप्तिराशङ्कनीया । कस्मात् ? यावदात्मभावित्वाद्बुद्धिसंयोगस्य । यावदयमात्मा संसारी भवति, यावदस्य सम्यग्दर्शनेन संसारित्वं न निवर्तते, तावदस्य बुद्ध्या संयोगो न शाम्यति । यावदेव चायं बुद्ध्युपाधिसंबन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च । परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसंबन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणास्ति । नहि नित्यमुक्तस्वरूपात्सर्वज्ञादीश्वरादन्यश्चेतनो धातुर्द्वितीयो वेदान्तार्थनिरूपणायामुपलभ्यते । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता' (बृ० ३-७-२३), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृ' (छा० ६-८-७), 'तत्त्वमसि' (छा० ६-१-६), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १-४-७) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः ।

कथं पुनरवगम्यते यावदात्मभावी बुद्धिसंयोग इति । तद्दर्शनादित्याह । तथाहि शास्त्रं दर्शयति—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४-३-७) इत्यादि । तत्र विज्ञानमय इति बुद्धिमय

ननु स्वतः संसारित्वमस्तु किं बुद्ध्युपाधिनेत्यत आह—यावदेव चायमिति ।

पर विभक्त आत्मा जीव पद का लक्ष्य नहीं रह जायेगा, ऐसी स्थिति में उसमें असत्त्व अथवा असंसारित्व प्रसक्त हो जायेगा । इसी प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से दिया जाता है कि—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् (ललिता)

बुद्धि और आत्मा का संयोग जीवत्वपर्यन्त बना रहता है । अतः पूर्वोक्त दोष नहीं है । ऐसा ही श्रुति भी कहती है । अवतरण भाष्य में जो दोष अभी कहा गया है उसकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि बुद्धि और आत्मा का संयोग यावदात्मभावी है अर्थात् जब तक आत्मा संसारी है और जब तक इसका संसारित्व तत्त्वज्ञान से नहीं निवृत्त होता, तब तक जीवात्मा का बुद्धि के साथ संयोग शान्त नहीं होता । यह बुद्धि उपाधिसम्बन्ध जब तक जीव में है तभी तक जीव में जीवत्व और संसारित्व है । वस्तुतः जीव नहीं है, वह तो बुद्धि उपाधि से परिकल्पित कर्तृत्वादिस्वरूप[1] ही है, उससे भिन्न जीवत्व नहीं है, क्योंकि नित्यमुक्तस्वरूप सर्वज्ञ ईश्वर से भिन्न दूसरा चेतन पदार्थ नहीं है, यह तात्पर्य वेदान्तार्थनिरूपण करने पर उपलब्ध होता है । 'इस परमेश्वर से भिन्न कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता नहीं है', 'वही तू है', 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि शतशः श्रुतियों में परमेश्वर से भिन्न जीव का अस्तित्व नहीं माना गया है ।

बुद्धिसंयोग यावदात्मभावी आप को कैसे ज्ञात हुआ ? इसका उत्तर सूत्रस्थ 'तद्दर्शनात्' इस वाक्य से देते हैं क्योंकि ऐसा ही 'इन्द्रियों के मध्य हृदय देश में स्वयंप्रकाश विज्ञानमय पुरुष है, वह बुद्धि के साथ तादात्म्य होकर जाग्रत एवं स्वप्न लोकों में विचरण करता है; वह ध्यान करता सा, चञ्चल होता सा जान पड़ता है' इत्यादि वाक्य द्वारा शास्त्र बतलाता है । इस वाक्य में विज्ञानमय पद का

---

१. कर्तृत्वादि । २. बुद्धिप्रधानः ।

इत्येतदुक्तं भवति । प्रदेशान्तरे 'विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' इति विज्ञानमयस्य मनआदिभिः सह पाठात् बुद्धिमयत्वं च तद्गुणसारत्वमेवाभिप्रेयते । यथा लोके स्त्रीमयो देवदत्त इति स्त्रीरागादिप्रधानोऽभिधीयते तद्वत् । 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति' इति च लोकान्तरगमनेऽप्यवियोगं बुद्धया दर्शयति । केन समानस्तयैव बुद्धयेति गम्यते संनिधानात् । 'तच्च दर्शयति–'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४-३-७) इति । एतदुक्तं भवति–नायं स्वतो ध्यायति, नापि चलति, ध्यायन्त्यां बुद्धौ ध्यायतीव चलन्त्यां बुद्धौ चलतीवेति । अपिच मिथ्याज्ञानपुरःसरोऽयमात्मनो बुद्धयुपाधिसंबन्धः । नच मिथ्याज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानादन्यत्र निवृत्तिरस्तीत्यतो यावद्ब्रह्मात्मतानवबोधस्तावदयं बुद्धयुपाधिसंबन्धो न शाम्यति । दर्शयति च–'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ३-८) इति ॥३०॥

समानो बुद्धितादात्म्यापन्नः सन्, विज्ञानं ब्रह्म तन्मयो विकारोऽणुरित्यर्थः किं न स्यादित्यत आह–प्रदेशान्तर इति । विज्ञानमयो बुद्धिप्रचुर इत्यर्थः । केन समान इत्याकाङ्क्षायामिति शेषः । श्रुतिबलाद्बुद्धेर्यावत्संसार्यात्मभावित्वमुक्तं, सति मूले कार्यस्य वियोगासंभवाच्चेति युक्त्याप्याह–अपिच मिथ्येति । सम्यग्ज्ञानादेव बुद्ध्यादिबन्धध्वंस इत्यत्र श्रुतिमाह–दर्शयतीति । मृत्युमत्येतीत्यन्वयः । आदित्यवर्णं स्वप्रकाशम् । तमसः परस्तादज्ञानास्पृष्टमित्यर्थः ॥३०॥

अर्थ बुद्धिमय होता है, अन्य स्थान में 'विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय' इस वाक्य द्वारा 'विज्ञानमय' पद का मन आदि के साथ पाठ होने के कारण बुद्धिमयत्व ही अर्थ होता है, जिससे-तद्गुणसारत्व बतलाना ही अभीष्ट है । जैसे लोक में देवदत्त स्त्रीमय है इस वाक्य से स्त्रीरागादि-प्रधान देवदत्त को कहा जाता है, वैसे ही बुद्धिउपाधिप्रधान चैतन्य को जीव कहा गया है, वह चेतन बुद्धि के साथ तादात्म्य होकर जाग्रत् एवं स्वप्नलोक में विचरण करता है । लोकान्तर गमनकाल में भी बुद्धि आदि के साथ आत्मा का अवियोग ही श्रुति बतलाती है । उस बुद्धि के साथ चैतन्य का तादात्म्य कैसा है ? इसका उत्तर है कि सन्निधान से । उसी को श्रुति ने 'ध्यान करता हुआ सा, चञ्चल होता हुआ सा' इस वाक्य से कहा है । तात्पर्य यह है कि यह आत्मा स्वयं न ध्यान करता है, न चञ्चल होता है; यह तो ध्यान करने वाली बुद्धि के साथ तादात्म्य होने के कारण ध्यान करता हुआ सा और चञ्चल बुद्धि के साथ तादात्म्य करने के कारण चलता हुआ सा कहा जाता है । यह भी स्मरण रहे कि आत्मा का बुद्धि उपाधि के साथ यह सम्बन्ध मिथ्याज्ञानपूर्वक ही है, इस मिथ्याज्ञान की निवृत्ति सम्यग्ज्ञान के बिना नहीं होती । अतः जब तक बुद्धि और आत्मा का अभेद साक्षात्कार नहीं होता, तब तक बुद्धि उपाधि के साथ चेतन का तादात्म्य सम्बन्ध शान्त नहीं हो सकेगा । इस बात को 'इस महान्, आदित्य के समान वर्णवाले, अज्ञान से पर पुरुष को हमने जान लिया, उसी को जानकर मृत्यु से छूटता है, इससे भिन्न मोक्ष का कोई मार्ग नहीं है' इस वाक्यों द्वारा श्रुति दिखलाती है ॥३०॥

---

१. समानत्वम् ।

(२४७) पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥३१॥

ननु सुषुप्तप्रलययोर्न शक्यते बुद्धिसंबन्ध आत्मनोऽभ्युपगन्तुम् । 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६-८-१) इति वचनात् । कृत्स्नविकारप्रलयाभ्युपगमाच्च । तत्कथं यावदात्मभावित्वं बुद्धिसंबन्धस्येत्यत्रोच्यते—

यथा लोके पुंस्त्वादीनि बीजात्मना विद्यमानान्येव बाल्यादिष्वनुपलभ्यमानान्यविद्यमानवदभिप्रेयमाणानि यौवनादिष्वाविर्भवन्ति, नाविद्यमानान्युत्पद्यन्ते 'षण्ढादीनामपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्,—एवमयमपि बुद्धिसंबन्धः शक्त्यात्मना विद्यमान एव सुषुप्तप्रलययोः पुनः प्रबोध प्रसवयोराविर्भवति । एवं ह्येतद्युज्यते । न ह्याकस्मिकी कस्यचिदुत्पत्तिः संभवति । अतिप्रसङ्गात् । दर्शयति च सुषुप्तादुत्थानमविद्यात्मकबीज'सद्भावकारितम्— 'सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति', 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा' (छा० ६-९-३) इत्यादिना । तस्मात्सिद्धमेतद्यावदात्मभावी बुद्ध्याद्युपाधिसंबन्ध इति ॥३१॥

यावदात्मभावित्वस्यासिद्धिं शङ्कते—नन्विति । सुषुप्तौ बुद्धिसत्त्वे ब्रह्मसम्पत्तिर्न स्यात् । प्रलये तत्सत्त्वे प्रलयव्याहतिरित्यर्थः । स्थूलसूक्ष्मात्मना बुद्धेर्यावदात्मभावित्वमस्तीत्याह—पुंस्त्वेति । पुंस्त्वं रेतः । आदिपदेन श्मश्र्वादिग्रहः । अस्य बुद्धिसंबन्धस्येत्यर्थः । स्वापे बीजात्मना सतो बुद्ध्यादेः प्रबोधेऽभिव्यक्तिरित्यत्र श्रुतिमाह— दर्शयतीति । न विदुरित्यविद्यात्मकबीजसद्भावोक्तिः । ते व्याघ्रादयः पुनराविर्भवन्ति इत्यभिव्यक्तिनिर्देशः ॥३१॥

शङ्का—सुषुप्ति और प्रलय में बुद्धि के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं मान सकते हैं क्योंकि 'हे सोम्य ! उस समय जीव ब्रह्म के साथ सम्पन्न हो जाता है, अपने स्वरूप में लीन हो जाता है' इस वाक्य के द्वारा सम्पूर्ण विकार का विलय माना गया है, फिर भला बुद्धिसम्बन्ध का यावदात्मभावी कैसे कहते हो ? इसी का समाधान अग्रिम सूत्र से किया जाता है—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् (ललिता)

जैसे विद्यमान पुंस्त्वादि की ही यौवनावस्था में अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही सुषुप्त और प्रलय में विद्यमान बुद्धिसम्बन्ध की अभिव्यक्ति सृष्टि और जाग्रत् काल में होती है । जिस प्रकार लोक में रेत और दाढ़ी मूंछ बीजरूप से विद्यमान रहते ही हैं जो बाल्यादि अवस्था में दीखते नहीं, इसीलिए अविद्यमान जैसे जान पड़ते हैं । वे ही पुंस्त्वादि तरुणादि अवस्था में आविर्भूत होते हैं, अविद्यमान पुंस्त्वादि उत्पन्न नहीं होते अन्यथा नपुंसक, बन्ध्यादि में भी पुंस्त्वादि की उत्पत्ति का प्रसंग आ जायेगा । ऐसे ही यह बुद्धिसम्बन्ध भी सुषुप्ति और प्रलयकाल में शक्तिरूप से विद्यमान ही रहते हैं, उन्हीं का प्रबोध एवं सर्गकाल (सृष्टिकाल) मे बार-बार आविर्भाव होता है और ऐसा मानना युक्तियुक्त भी है । किसी भी वस्तु की उत्पत्ति आकस्मिक सम्भव नहीं है, अन्यथा अतिप्रसंग आने लग जायेगा जिस सुषुप्ति से से उठे हुए अविद्यारूप बीज के सद्भाव को श्रुति बतलाती है । 'सुषुप्तिकाल में ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त करके भी ये सुषुप्त जीव नहीं जानते, कि हम सद्ब्रह्म में सम्पन्न हो गये थे', 'वह पहले की भाँति जगने पर पुनः व्याघ्र और सिंह हो अपने को समझता है' इत्यादि वाक्य द्वारा बीजरूप से अविद्यादि का सद्भाव कहा गया है । अतः यह सिद्ध हो गया कि बुद्धि आदि उपाधि के साथ सम्बन्ध यावदात्मभावी है ॥३१॥

१. आदिना वंध्या । २. सर्ग । ३. सद्भावेन कारितमुत्थानम् ।

(२४८) नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥३२॥

तच्चात्मन उपाधिभूतमन्तःकरणं मनो बुद्धिर्विज्ञानं चित्तमिति चानेकधा तत्र तत्राभिलप्यते । क्वचिच्च वृत्तिविभागेन संशयादिवृत्तिकं मन इत्युच्यते निश्चयादिवृत्तिकं बुद्धिरिति । तच्चैवंभूतमन्तःकरणमवश्यमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा ह्यनभ्युपगम्यमाने तस्मिन्नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः स्यात् । आत्मेन्द्रियविषयाणामुपलब्धिसाधनानां संनिधाने सति नित्यमेवोपलब्धिः प्रसज्येत । अथ सत्यपि हेतुसमवधाने फलाभावस्ततो नित्यमेवानुपलब्धिः प्रसज्येत । नचैवं दृश्यते । अथवान्यतरस्यात्मन इन्द्रियस्य वा शक्तिप्रतिबन्धोऽभ्युपगन्तव्यः । नचात्मनः शक्तिप्रतिबन्धः संभवति । अविक्रियत्वात् । नापीन्द्रि-

---

बुद्धिसद्भावे मानमाह सूत्रकारः—नित्येति । 'मनसा ह्येव पश्यति,' 'बुद्धिश्च न विचेष्टति,' 'विज्ञानं यज्ञं तनुते,' 'चेतसा वेदितव्यः', 'चित्तं च चेतयितव्यम्' इति तत्र तत्र श्रुतिषु मनआदिपदवाच्यं तावद् बुद्धिद्रव्यं प्रसिद्धमित्यर्थः । कथमेकस्यानेकधोक्तिः, तत्राह—क्वचिच्चेति । गर्ववृत्तिकोऽहंकारो विज्ञानं चित्प्रधानं स्मृतिप्रधानं वा चित्तमित्यपि द्रष्टव्यम् । यद्यपि साक्षिप्रत्यक्षसिद्धमन्तःकरणं, श्रुत्यनूदितं च तथापि प्रत्यक्षश्रुत्योर्विवदमानं प्रति व्यासङ्गानुपपत्त्या तत्साधयति—तच्चेत्यादिना । सूत्रं योजयति—अन्यथेति । पञ्चेन्द्रियाणां पञ्चविषयसंबन्धे सति नित्यं युगपत्पञ्चोपलब्धयः स्युः, मनोऽतिरिक्तसामग्र्याः सत्त्वात् । यदि सत्यामपि सामग्र्यामुपलब्ध्यभावस्तर्हि सदैवानुपलब्धिप्रसङ्ग इत्यर्थः । अतः कादाचित्कोपलब्धिनियामकं मन एष्टव्यमिति भावः । ननु सत्यपि कराग्निसंयोगे दाहकादाचित्कत्ववदुपलब्धिकादाचित्कत्वमस्तु किं मनसेत्याशङ्क्याऽन्यतरनियमो वेत्येतद्व्याचष्टे—अथवेति । सत्यां सामग्र्यां नित्योपलब्धिर्वाङ्गीकार्या अन्यतरस्य कारणस्य केनचिच्छक्तिप्रतिबन्धनियमो वाङ्गीकार्यः, यथा मणिनाऽग्निशक्तिप्रतिबन्ध इति वाकारार्थः । अस्तु प्रतिबन्ध इत्यत आह—नचेति । न चेन्द्रियस्यैवास्तु शक्तिप्रतिबन्ध इति वाच्यम् । प्रतिबन्धकाभावात् । नच दृष्टसामग्र्यां सत्यामदृष्टं प्रतिबन्धकमिति युक्तमतिप्रसङ्गात् । नच व्यासङ्गः, प्रतिबन्धकमनोऽसत्त्वे तस्यासंभवात् । तथाहि—रसादीनां सहोपलब्धिप्राप्तौ रसबुभुत्सारूपो व्यासङ्गो रूपाद्युपलब्धिप्रतिबन्धको वाच्यः, 'स च गुणत्वाद्रूपवद्गुण्याश्रयः, तत्रात्मनोऽसङ्गनिर्गुणकूटस्थस्य गुणित्वायोगान्मन एव गुणित्वेनेष्टव्यमिति व्यासङ्गानुपपत्त्या मनः-

---

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा (ललिता)

आत्मा के उपाधिभूत अन्तःकरण को मन, बुद्धि, विज्ञान और चित्त इन अनेक नामों से स्थल-स्थल पर कहा गया है । कहीं-कहीं पर अन्तःकरण के व्यापारभेद से संशय आदि वृत्ति को मन कहा गया है और निश्चय आदि वृत्ति को बुद्धि कहा गया है । यह अन्तःकरण इस प्रकार का है इसे मानना ही पड़ेगा, उसे न मानने पर उपलब्धि के साधन, इन्द्रिय और विषयों के सन्निधान रहने पर सदा ही उनकी उपलब्धि का प्रसंग आ जायेगा और हेतु के न रहने पर फल का अभाव मानने से सदा ही अनुपलब्धि का प्रसंग आ जायेगा, पर ऐसा देखा नहीं जाता है । साधन के रहने पर फल का अभाव मानने से आत्मा अथवा इन्द्रियों की शक्तिप्रतिबन्ध का प्रसंग भी मानना पड़ेगा । इनमें आत्मा की शक्ति का प्रतिबन्ध कहना सम्भव नहीं है क्योंकि आत्मा निर्विकार है और इन्द्रियों की शक्ति का प्रतिबन्ध

---

१. व्यासंगः ।

१४. कर्त्रधिकरणम् (सू. ३३-३९)

जीवकर्तृतया किं स्यादित्याहुः सांख्यमानिनः ॥
जीवोऽकर्ताऽथवा कर्ता धियः कर्तृत्वसम्भवात् ।
करणत्वान्न धीः कर्त्री यागश्रवणलौकिकाः । व्यापारा न विना कर्त्रा तस्माज्जीवस्य कर्तृता २॥

यस्य । नहि तस्य पूर्वोत्तरयोः क्षणयोरप्रतिबद्धशक्तिकस्य सतोऽकस्माच्छक्तिः प्रतिबध्येत । तस्माद्यस्यावधानानवधानाभ्यामुपलब्ध्यनुपलब्धी भवतस्तन्मनः । तथा च श्रुतिः— 'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' (बृ० १-५-३) इति, 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' (बृ० १-५-३) इति । कामादयश्चास्य वृत्तय इति दर्शयति 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० १-५-३) इति । तस्माद्युक्तमेतत् 'तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेशः' इति ॥३२॥

सिद्धिः । एतदभिप्रेत्योपसंहरति—तस्मादिति । अवधानं बुभुत्सा । न चानिच्छतोऽपि दुर्गन्धाद्युपलम्भाद्बुभुत्सोपलब्धिर्नियामिकेति वाच्यम्, अनेकविषयसन्निधौ क्वचिदेव तस्या नियामकत्वाङ्गीकारात् । येषां मते पुनरिच्छादीनामात्मधर्मत्वं एव तेषां मनो दुर्लभमिति मन्तव्यम् । इच्छादिधर्मिणं वाऽऽत्मना व्यासङ्गोपपत्तेः । संप्रति व्यासङ्गस्य मानसत्वे श्रुतिमाह—तथाचेति । न केवलं व्यासङ्गान्मनःसिद्धिः, किंतु कामाद्याश्रयत्वेनापीत्याह—कामादयश्चेति । बुद्धेः प्रामाणिकत्वोक्तिफलमाह—तस्मादिति ॥३२॥

कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उससे पूर्व और उत्तर क्षण उसकी शक्ति अप्रतिबद्ध देखी गई है तो भला अकस्मात् उस क्षण में इन्द्रियों की शक्ति का प्रतिबन्ध कैसे माना जा सकेगा । अतः जिसके अवधान से उपलब्धि और अनवधान से अनुपलब्धि होती है, वही मन है। ऐसा ही 'मेरा मन कहीं अन्यत्र चला गया था, अतः मैं देख न सका, मेरा मन कहीं अन्यत्र था इसलिए मैं सुन न सका' 'मन से ही देखता है, मन से ही सुनता है' 'काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि और भय यह सब मन ही तो है' इत्यादि वाक्यों द्वारा श्रुति ने कामादि को मन का व्यापार कहा है । अतः यह कहना सर्वथा युक्तियुक्त है कि आत्मा में अणुपरिमाणत्व एवं संसारित्वादि जो कुछ भी अज्ञान दशा में भासते हैं वे सब उपाधिभूत बुद्धि के साथ तादात्म्य होने के कारण ही हैं जिसे '**तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः**' इस सूत्र से भगवान् बादरायण ने कहा है ॥३२॥

१४. कर्त्रधिकरण

१. **संगति**—जिस प्रकार जीवात्मा में अणुत्व औपाधिक है और स्वयंज्योतिष्ट्वादि की भांति विभुत्व पारमार्थिक है, ऐसे ही कर्तृत्वादि भी बुद्धि उपाधि के कारण जीवात्मा में परिकल्पित है; इस आन्तरबहिर्भावसंगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. **विषय**—जीव में कर्तृत्वाकर्तृत्व इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—जीवात्मा कर्ता है अथवा अकर्ता है ?

४. **पूर्वपक्ष**—विकारी होने से जब बुद्धि में कर्तृत्व सम्भव है तो फिर निर्विकार जीव में कर्तृत्व क्यों माना जाय, ऐसा सांख्यों का कहना है ।

५. **सिद्धान्त**—करण होने के कारण बुद्धि को कर्ता मानना ठीक नहीं और कर्ता के बिना यागादि शास्त्रीय अथवा लौकिक व्यापार हो नहीं सकते, अतः जीवात्मा में कर्तृत्व मानना ही उचित होगा ।

(२४९) कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥३३॥

(२५०) विहारोपदेशात् ॥३४॥

तद्गुणसारत्वाधिकारेणैवापरोऽपि जीवधर्मः प्रपञ्च्यते । कर्ता चायं जीवः स्यात् । कस्मात् ? शास्त्रार्थवत्त्वात् । एवं च 'यजेत', 'जुहुयात्', 'दद्यात्' इत्येवंविधं विधिशास्त्रमर्थवद्भवति । अन्यथा तदनर्थकं स्यात् । तद्धि कर्तुः सतः कर्तव्यविशेषमुपदिशति । न चासति कर्तृत्वे तदुपपद्येत । तथेदमपि शास्त्रमर्थवद्भवति 'एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' (प्र० ५-९) इति ॥३३॥

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वं, यज्जीवप्रक्रियायां संध्ये स्थाने विहारमुपदिशति—'स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्'(बृ० ४-३-१२) इति, 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' (बृ० २-१-१८) इति च ॥३४॥

एवमात्मन्यणुत्वाध्यासोक्त्या स्वाभाविकं महत्त्वं स्थापितम् । संप्रति ततो बहिष्ठं कर्तृत्वं साधयति—कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् । स नित्यश्चिद्रूपो महानात्मा कर्ता न वेत्यसङ्गत्वश्रुतीनां विध्यादिश्रुतीनां च विप्रतिपत्त्या संशये बुद्धिकर्तृत्वेनैव विध्यादिशास्त्रोपपत्तेरकर्तात्मेति सांख्यपक्षप्राप्तौ सिद्धान्तयन्नेव तद्गुणसारत्वोक्त्यात्मनि कर्तृत्वाध्यासस्यापि सिद्धत्वात्पुनरुक्तिमाशङ्क्य सांख्यपक्षनिरासार्थमात्मनि कर्तृत्वाध्यासप्रपञ्चनान्न पुनरुक्तिरित्याह—तद्गुणेति । अधिकारः प्रसङ्गः । वस्तुतोऽसङ्गत्वम्, अविद्यातः कर्तृत्वमित्यसङ्गत्वकर्तृत्वश्रुतीनामविरोधोक्तेः कर्तृत्वविचारात्मकाधिकरणत्रयस्य पादसंगतिः । श्रुतीनां मिथो विरोधाविरोधौ पूर्वोत्तरपक्षयोः फलम् । यद्वात्र पूर्वपक्षे बन्धाभावाच्छास्त्रवैयर्थ्यं फलं, सिद्धान्ते कर्तृत्वादिसंबन्धसत्त्वाच्छास्त्रार्थवत्तेति भेदः । ननु बुद्धिकर्तृत्वेन शास्त्रार्थवत्तास्तु किं जीवकर्तृत्वेन तत्राह—तद्धि कर्तुः सत इति । मयेदं कर्तव्यमिति बोधसमर्थस्य चेतनस्यैव कर्तृत्वं वाच्यं न त्वचेतनाया बुद्धेः । किं च भोक्तुरात्मन एव कर्तृता वाच्या 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' इति न्यायादिति भावः ॥३३॥

संध्यं स्थानं स्वप्नः । अमृतः स आत्मा यथेष्टमीयते गच्छतीति विहारोपदेशात्, आत्मा कर्ता ॥३४॥

इस प्रकार आत्मा में बुद्धि के अणुत्वादि का अध्यास कहकर स्वाभाविक महत्त्व स्थापित किया गया, अब उसमें कर्तृत्व सिद्ध करते हैं । बुद्धिगुणसारत्व का अधिकार चल रहा था जो जीव का धर्म है । एक दूसरा भी जीवधर्म का प्रतिपादन अग्रिम सूत्र से करते हैं —

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् (ललिता)

जीव को कर्ता मानना चाहिए, तभी 'यजेत' 'जुहुयात्' 'दद्यात' यह विधिशास्त्र सार्थक हो सकेगा, अन्यथा अनर्थक हो जायेगा, क्योंकि कर्ता के रहने पर ही कर्तव्यविशेष का उपदेश होता है। जब कोई कर्ता ही नहीं है, तो किसके लिए शास्त्र उपदेश करेगा । वैसे ही 'यह द्रष्टा है श्रोत्रा, मन्ता, बोद्धा, कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष है' यह उपदेश भी जीवात्मा को कर्ता मानने पर ही सार्थक हो सकेगा अन्यथा निरर्थक हो जायेगा ॥३३॥

विहारोपदेशात् (ललिता)

जीव प्रक्रिया की स्वप्नावस्था में 'यह अविनाशी आत्मा जहाँ जाना चाहता है वहाँ जाता है' 'अपने शरीर के भीतर इच्छानुसार विचरण करता है' इन श्रुतिवाक्यों द्वारा जो विहार का उपदेश है, इससे भी जीव में कर्तृत्व सिद्ध होता है ॥३४॥

(२५१) [1]उपादानात् ॥३५॥

(२५२) व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥३६॥

इतश्चास्य कर्तृत्वं, यज्जीवप्रक्रियायामेव करणानामु[2]पादानं संकीर्तयति—'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २१-१-१७) इति, 'प्राणान्गृहीत्वा' (बृ० २-१-१८) इति च ॥३५॥

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वं, यदस्य लौकिकोषु वैदिकोषु च क्रियासु कर्तृत्वं व्यपदिशति शास्त्रम्—'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' (तै० २-५-१) इति । ननु विज्ञानशब्दो बुद्धौ समधिगतः । कथमनेन जीवस्य कर्तृत्वं सूच्यत इति । नेत्युच्यते । जीवस्यैवैष निर्देशो न बुद्धेः । न चेज्जीवस्य स्यान्निर्देशविपर्ययः स्यात् । विज्ञानेनेत्येवं निरदेक्ष्यत् । तथा ह्यन्यत्र बुद्धिविवक्षायां विज्ञानशब्दस्य करणविभक्तिनिर्देशो दृश्यते 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २-१-१७) इति । इह तु 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै० २-५-१) इति कर्तृसामानाधिकरण्यनिर्देशाद्बुद्धिव्यतिरिक्तस्यैवात्मनः कर्तृत्वं सूच्यत इत्यदोषः ॥३६॥

प्राणानां मध्ये विज्ञानेन बुद्ध्या [3]विज्ञानसमर्थमिन्द्रियजातमादाय शेते इति प्राणान् गृहीत्वा परिवर्तत इति [4]उपादानकर्तृत्वमात्मनः, अकर्तृत्वे उपादानानुपपत्तेरिति भावः ॥३५॥

विज्ञानशब्दो जीवस्य निर्देशो न चेत् तदा प्रथमानिर्देशाद्विपर्ययः । करणद्योतितृतीयया निर्देशः स्यात् । तस्मादिह श्रुतौ तनुत इत्याख्यातेन कर्तृवाचिना विज्ञानपदस्य सामानाधिकरण्यनिर्देशात्क्रियायामात्मनः कर्तृत्वं सूच्यत इति सूत्रभाष्ययोरर्थः ॥३६॥

उपादानात् (ललिता)

इसलिए भी जीव में कर्तृत्व मानना ही पड़ेगा, क्योंकि जीव की प्रक्रिया में ही करण का उपादान बतलाते हैं। 'इन इन्द्रियों की चेतनता को बुद्धि से ग्रहणकर' 'इन्द्रियों को ग्रहणकर' इन वाक्यों से आत्मा में कर्तृत्व सिद्ध होता है। कर्तृत्व माने बिना किसी वस्तु का ग्रहण करना सिद्ध नहीं होता ॥३५॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः (ललिता)

लौकिकी तथा वैदिकी सभी क्रियाओं में 'चेतन आत्मा यज्ञ का विस्तार करता है, वह कर्म का भी विस्तार करता है' इन वाक्यों द्वारा जीव में कर्तृत्व सिद्ध होता है। शङ्का—विज्ञान शब्द का प्रयोग बुद्धि अर्थ में किया गया है, इससे जीव में कर्तृत्व कैसे कह सकते हो। समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं। यह निर्देश जीव के लिए ही है, बुद्धि के लिए नहीं है। यदि बुद्धि अर्थ में विज्ञान शब्द का प्रयोग हुआ होता, तो विज्ञानम् न कहकर '**विज्ञानेन**' ऐसा तृतीयान्त पद का प्रयोग होना चाहिए था। ऐसा ही अन्यत्र बुद्धि अर्थ बतलाने के लिए विज्ञान शब्द में करण विभक्ति का निर्देश देखा जाता है 'इन्द्रियों की चेतना को बुद्धि द्वारा ग्रहणकर' बुद्धि अर्थ के लिए विज्ञानेन यह तृतीयान्त पद प्रयोग किया गया है। किन्तु '**विज्ञानं यज्ञं तनुते**' इस श्रुतिवाक्य में '**तनुते**' क्रिया के कर्तारूप में '**विज्ञानम्**' पद का कर्तृसामानाधिकरण्य निर्देश देखा जाता है। अतः बुद्धि से भिन्न आत्मा में ही कर्तृत्व सूचित होता है, यह पक्ष निर्दुष्ट है ॥३६॥

---

१. ग्रहणादित्यर्थः । २. स्वीकरणम् । ३. रूपादि विज्ञाने समर्थम् । ४. ग्रहण ।

(२५३) उपलब्धिवदनियमः ॥३७॥

अत्राह—यदि बुद्धिव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता स्यात्स स्वतन्त्रः सन्प्रियं हितं चैवात्मनो नियमेन संपादयेन्न विपरीतम्। विपरीतमपि तु संपादयन्नुपलभ्यते। नच स्वतन्त्रस्यात्मन ईदृशी प्रवृत्तिरनियमेनोपपद्यत इति। अत उत्तरं पठति—

यथायमात्मोपलब्धिं प्रति स्वतन्त्रोऽप्यनियमेनेष्टमनिष्टं चोपलभत एवमनियमेनैवेष्टमनिष्टं च संपादयिष्यति। उपलब्धावप्यस्वातन्त्र्यमुपलब्धिहेतूपादानोपलम्भादिति चेत्। न। विषयप्रकल्पनामात्रप्रयोजनत्वादुपलब्धिहेतूनाम्। उपलब्धौ त्वनन्यापेक्षत्वमात्मनश्चैतन्य'योगात्। अपिचार्थक्रियायामपि नात्यन्तमात्मनः स्वातन्त्र्यमस्ति देशकालनिमित्तविशेषापेक्षत्वात्। नच सहायापेक्षस्य कर्तुः कर्तृत्वं निवर्तते। भवति ह्येधोदकाद्यपेक्षस्यापि

सूत्रान्तरमवतारयति—अत्राहेति। जीवः स्वतन्त्रश्चेदिष्टमेव कुर्यादस्वतन्त्रश्चेन्न कर्ता, 'स्वतन्त्रः कर्ता' इति न्यायादित्यर्थः। सत्यपि स्वातन्त्र्ये कारकवैचित्र्यादनियता प्रवृत्तिरिति सूत्रेण परिहरति—यथेति। दृष्टान्तासंप्रतिपत्त्या शङ्कते—उपलब्धावपीति। चक्षुरादीनां चैतन्येन विषयसंबन्धार्थत्वात्स्वसंबन्धोपलब्धौ चात्मनश्चैतन्यस्वभावत्वेन स्वातन्त्र्याद्दृष्टान्तसिद्धिरित्याह—नेति। नन्वात्मा विषयसंबन्धाय करणान्यपेक्षते चेत्कथं स्वतन्त्र इत्याशङ्क्याह—अपिचेति। स्वातन्त्र्यं नाम न स्वान्यानपेक्षत्वम्, ईश्वरस्यापि प्राणिकर्मापेक्षत्वेनास्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्। किं तु स्वेतरकारकप्रयोक्तृत्वे सति कारकाप्रेर्यत्वं स्वातन्त्र्यं तेन स्वतन्त्रोऽपि जीव इष्टसाधनत्वभ्रान्त्यानिष्टसाधनमप्यनुतिष्ठतीत्यनियता प्रवृत्तिः स्वातन्त्र्यं चेत्यविरुद्धमित्यर्थः॥३७॥

शङ्का—यदि बुद्धि से भिन्न जीव को कर्ता माना जाय, तो स्वतन्त्र होता हुआ वह कर्ता जीव अपने लिए नियम से प्रिय एवं हितकारक कर्म का ही सम्पादन करेगा, विपरीत कर्म का नहीं करेगा। किन्तु विपरीत कर्म करता हुआ भी जीव देखा जाता है और स्वतन्त्र आत्मा में ऐसी प्रवृत्ति नियम के बिना सिद्ध नहीं होती है, इसके समाधान के लिए अग्रिम सूत्र कहते हैं कि—

उपलब्धिवदनियमः (ललिता)

जिस प्रकार उपलब्धि में स्वतन्त्र होता हुआ भी यह जीव नियम से इष्ट वस्तु को ही उपलब्धि नहीं करता है, अपितु अनिष्ट की भी उपलब्धि कर लेता है। अतः जिस प्रकार स्वतन्त्र होता हुआ भी उपलब्धा नियम के बिना इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रकार की वस्तु को उपलब्ध करता है, ऐसे ही नियम के बिना ही स्वतन्त्र कर्ता भी इष्ट और अनिष्ट कर्म का सम्पादन कर लेगा। शङ्का—उपलब्धि में जीव की स्वतन्त्रता नहीं है, क्योंकि उपलब्धि के हेतु चक्षुरादि करणों का ग्रहण करते देखा जाता है। समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं। उपलब्धि के साधन चक्षुरादि करण का प्रयोजन विषयप्रकल्पानामात्र ही तो है। चक्षुरादि करणों से भिन्न किसी वस्तु की अपेक्षा चैतन्य आत्मा को नहीं रह जाती, क्योंकि आत्मा में चैतन्य का सम्बन्ध है। उपलब्धि की भाँति अर्थ क्रिया में भी आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं है, उसे देश, काल एवं निमित्तविशेष की अपेक्षा होती ही है। इतने सहायक की अपेक्षा रखने वाले कर्ता में कर्तृत्व मिट जाता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पाचक को काष्ठ, जल आदि की अपेक्षा होते

१. सम्बन्धात्। २. समाधत्ते न चेत्यादिना। ३. आत्मनि समवेता योपलब्धिस्तस्याम्।

(२५४) शक्तिविपर्ययात् ॥३८॥

(२५५) समाध्यभावाच्च ॥३९॥

पक्तुः पक्तृत्वम् । सहकारिवैचित्र्यात्त्विष्टानिष्टार्थक्रियायामनियमेन प्रवृत्तिरात्मनो न विरुध्यते ॥३७॥

इतश्च विज्ञानव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता भवितुमर्हति । यदि पुनर्विज्ञानशब्दवाच्या बुद्धिरेव कर्त्री स्यात्ततः शक्तिविपर्ययः स्यात् । करणशक्तिर्बुद्धेर्हीयेत कर्तृशक्तिश्चापद्येत । सत्यां च बुद्धेः कर्तृशक्तौ तस्या एवाहंप्रत्ययविषयत्वमभ्युपगन्तव्यम् । अहंकारपूर्विकाया एव प्रवृत्तेः सर्वत्र दर्शनात् । अहं गच्छाम्यहमागच्छाम्यहं भुञ्जेऽहं पिबामीति च । तस्याश्च कर्तृशक्तियुक्तायाः सर्वार्थकारिण्याः सर्वार्थकारि करणमन्यत्कल्पयितव्यम् । शक्तोऽपि हि सन्कर्ता करणमुपादाय क्रियासु प्रवर्तमानो दृश्यत इति । ततश्च संज्ञामात्रे वि वादःस्यान्न वस्तुभेदः कश्चित् । करणव्यतिरिक्तस्य कर्तृत्वाभ्युपगमात् ॥३८॥

योऽप्ययमौपनिषदात्मप्रतिपत्तिप्रयोजनः समाधिरुपदिष्टो वेदान्तेषु—'आत्मा वा अरे

जीवस्य कर्तृत्वे हेत्वन्तरार्थं सूत्रम्—शक्तीति । बुद्धेः करणशक्तिविपरीता कर्तृशक्तिः स्यादित्यर्थः । ततः किं, तत्राह—सत्यां च बुद्धेरिति । योऽहंधीगम्यः । स कर्ता स एव जीवो यत्तदपेक्षितं करणं तन्मन इति जीवकर्तृत्वसिद्धिरिति भावः ॥३८॥

ज्ञानसाधनविध्यन्यथानुपपत्त्याप्यात्मनः कर्तृत्वं वाच्यमित्याह—समाधीति । मुक्तिफलभोक्तुरेव

हुए भी उसमें पक्तृत्व रहता ही है। सहकारी की विचित्रता से इष्ट एवं अनिष्ट अर्थ क्रिया में नियम के बिना आत्मा की प्रवृत्ति मानना विरुद्ध नहीं है। ॥३७॥

शक्तिविपर्ययात् (ललिता)

इसलिए भी बुद्धि से भिन्न जीव को ही कर्ता मानना पड़ता है, क्योंकि विज्ञानशब्दवाच्य बुद्धि को ही कर्ता माना जायेगा, तो शक्ति का विपर्यय मानना पड़ेगा अर्थात् बुद्धि में करण शक्ति नष्ट हो जायेगी और कर्तृशक्ति आने पर उसी में अहं प्रतीतिविषयत्व भी मानना पड़ेगा, क्योंकि सर्वत्र अहंकारपूर्वक ही प्रवृत्ति देखी जाती है। मैं जाता हूँ, मैं आता हूँ, मैं खाता हूँ और मैं पीता हूँ ये सभी प्रवृत्तियाँ अहंकारपूर्वक ही होती हैं। ऐसी स्थिति में सभी कार्य सम्पन्न कराने वाली कर्तृशक्ति से युक्त उस बुद्धि से सर्वार्थकारी करण दूसरा ही मानना होगा। समर्थ कर्ता भी करण को लेकर ही क्रिया में प्रवृत्ति होते देखा जाता है। अतः बुद्धि को कर्ता और उससे भिन्न करण की कल्पना करने के बाद नाममात्र के लिए हमारा और आप का विवाद है, वस्तुभेद कुछ भी नहीं है क्योंकि करण से भिन्न को कर्ता आप ने मान ही लिया है चाहे वह बुद्धि हो अथवा जीव हो। इस सम्बन्ध में विवाद अब अनावश्यक हो गया है ॥३८॥

समाध्यभावाच्च (ललिता)

'अरे मैत्रेयी ! आत्मा दर्शन के योग्य है, अतः उसका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना

१५. तक्षाधिकरणम् (सू. ४०)

(२५६) यथा च तक्षोभयथा ॥४०॥

कर्तृत्वं वास्तवं किं वा कल्पितं वास्तवं भवेत्। 'यजेते'त्यादिशास्त्रेण सिद्धस्याबाधितत्वतः ॥
असङ्गो हीति तद्बाधात्स्फटिके रक्ततेव तत्। अध्यस्तं धीचक्षुरादिकरणोपाधिसंनिधेः ॥

द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (बृ० २-४-५), 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' (मुण्ड० २-२-६) इत्येवंलक्षणः, सोऽप्यसत्यात्मनः कर्तृत्वे नोपपद्येत। तस्मादप्यस्य कर्तृत्वसिद्धिः ॥३९॥

एवं तावच्छास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः कर्तृत्वं शारीरस्य प्रदर्शितं, तत्पुनः स्वाभाविकं वा स्यादुपाधिनिमित्तं वेति चिन्त्यते। तत्रैतैरेव शास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः स्वाभाविकं

तदुपायसमाधिकर्तृत्वं युक्तम्, अन्यथात्मनोऽकर्तृत्वे बुद्धेरपि अभोक्त्र्याः कर्तृत्वायोगात्समाध्यभावप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥३९॥

यथा च तक्षोभयथा। **उक्तमात्मनः कर्तृत्वमुपजीव्य संशयपूर्वपक्षावाह**—एवं तावदित्यादिना। **सांख्यनिरासेनात्मनः कर्तृत्वे साधिते बाधकाभावात् तत्सत्यमिति मीमांसकादिपक्षः प्राप्तः। न चास-**

चाहिए, वही अन्वेषण के योग्य है और वही विशेष जिज्ञासा के योग्य भी है' 'ॐ इस प्रकार आत्मा का ध्यान करो' यह वेदान्तशास्त्र में उपदेश जो समाधि के लिए किया गया है, जिसका प्रयोजन एकमात्र औपनिषद आत्मबोध ही है, ऐसी समाधि का, आत्मा में कर्तृत्व न मानने पर अभाव होने लग जायेगा। इसलिए भी जीव में कर्तृत्व की सिद्धि होती ही है अर्थात् कर्तृत्व माने बिना समाधि का अभाव भी होने लग जायेगा। और जब आत्मा भोक्ता माना गया है तो उसे कर्ता भी मानना ही पड़ेगा। बुद्धि को आप भोक्ता नहीं मानते तो उसमें कर्तृत्व का मानना भी असंगत ही होगा ॥३९॥

१५. तक्षाधिकरण

१. **संगति**—पूर्वाधिकरण द्वारा शास्त्रार्थ के अर्थवत्तादि हेतुओं से जीवात्मा में कर्तृत्व बतलाया गया, वह आत्मा में कल्पित है, बस इसी अर्थ को बतलाने के लिए यह अधिकरण उपजीव्य-उपजीवक भाव संगति के कारण प्रारम्भ किया जाता है।

२. **विषय**—जीवकर्तृत्व का अवान्तर विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. **संशय**—जीवात्मा में कर्तृत्व पारमार्थिक है अथवा कल्पित है?

४. **पूर्वपक्ष**—'**यजेत**' (याग करे) इत्यादि शास्त्र से सिद्ध कर्तृत्व का बाध न होने के कारण जीवकर्तृत्व पारमार्थिक ही है।

५. **सिद्धान्त**—'जीवात्मा असङ्ग है' इस श्रुति से कर्तृत्व का बाध होने के कारण लोहितः स्फटिकः इस प्रतीति की भाँति आत्मा में भी कर्तृत्व कल्पित है। बुद्धि, इन्द्रियादि करण के सन्निधानरूप उपाधि के सन्निधान से जीवात्मा मे कर्तृत्व औपाधिक ही सिद्ध होता है।

यथा च तक्षोभयथा (ललिता)

पिछले अधिकरण से कहे गये आत्मकर्तृत्व को उपजीव्य बनाकर भाष्यकार संशय एवं पूर्वपक्ष का उत्थापन करते हैं। इस प्रकार शास्त्रार्थवत्वादि हेतुओं से जीवात्मा में जो कर्तृत्व सिद्ध

कर्तृत्वमपवादहेत्वभावादिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । न स्वाभाविकं कर्तृत्वमात्मनः संभवति, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात् । कर्तृत्वस्वभावत्वे ह्यात्मनो न कर्तृत्वान्निर्मोक्षः संभवति । अग्नेरिवौष्ण्यात् । नच कर्तृत्वादनिर्मुक्तस्याऽस्ति पुरुषार्थसिद्धिः, कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वात् ।

ननु स्थितायामपि कर्तृत्वशक्तौ कर्तृत्वकार्यपरिहारात्पुरुषार्थः सेत्स्यति । तत्परिहारश्च निमित्तपरिहारात् । यथाग्नेर्दहनशक्तियुक्तस्यापि काष्ठवियोगाद्दहनकार्याभावस्तद्वत् । न । निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन संबन्धेन संबद्धानामत्यन्तपरिहारासंभवात् । ननु मोक्ष-

---

कृत्स्वागमेन बाधः, अहं कर्तेत्यनुभवसहितकर्तृत्वश्रुतिबलेन तस्यागमस्य स्तावकत्वादिति प्राप्त उत्सूत्रमेव सिद्धान्तयति—न स्वाभाविकमिति । यदुक्तं बाधकाभावादिति तदसिद्धमित्याह—अनिर्मोक्षेति ।

ननु कर्तृत्वं नाम क्रियाशक्तिर्मुक्तावप्यस्ति तथापि शक्तिकार्यस्य क्रियारूपशक्यस्याभावान्मुक्तेः पुरुषार्थत्वसिद्धिरिति शङ्कते—ननु स्थितायामिति । सत्यां शक्तौ कथं कार्यपरिहारः, तत्राह—तत्परिहारश्चेति । मुक्तौ शक्तिसत्त्वे कार्यमपि स्यात्, शक्याभावे शक्त्ययोगात् । अस्ति हि प्रलयेऽपि कार्यं पुनरुद्भवयोग्यं सूक्ष्मं शक्यं, तथाच शक्त्या धर्मादिनिमित्तैः सहितकार्याक्षेपान्मुक्तिलोप इति परिहरति—न निमित्तानामपीति । सनिमित्तस्य कार्यस्य शक्यत्वेन शक्त्या संबन्धान्निमित्तानामपि परम्परया शक्तिसंबन्धित्वमुक्तं मन्तव्यम् । संबन्धेन संबन्धिनेत्यर्थः । यद्वा शक्तिर्लक्षणमाक्षेपकं यस्य कार्यस्य तेन कार्येण यः संबन्धस्तेनेति व्यधिकरणे तृतीये । ननु नरस्य कर्मणा देवत्ववच्छास्त्रबलात्कर्तुरेवाकर्तृतासिद्धिरिति शङ्कते—नन्विति । ज्ञानादकर्तृत्वाख्यमोक्षश्चेदकर्तृत्वमाविद्यकं स्याद्यतो ज्ञानमज्ञान-

---

किया गया वह स्वाभाविक है अथवा औपाधिक है, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष कहता है कि पिछले शास्त्रार्थवत्वादि हेतुओं से निर्णीत कर्तृत्व स्वाभाविक ही है क्योंकि उसका बाधक कारण नहीं दीखता । इस पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व मानना सम्भव नहीं है, अन्यथा मोक्षाभाव का प्रसङ्ग आ जायेगा, क्योंकि अग्नि की उष्णता जैसे स्वाभाविक है वैसे ही आत्मा में कर्तृत्व स्वाभाविक मानने पर वह सदा बना रहेगा । ऐसी स्थिति में कर्तृत्व से मुक्ति पाये बिना परम पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकेगी । कर्तृत्व तो दुःखरूप है, वह यदि मोक्ष काल में भी बना रहा, तो फिर मोक्ष ही क्या हुआ ।

शङ्का—कर्तृत्वशक्ति के बने रहने पर भी कर्तृत्व के कार्य का परिहार हो जाने से मोक्ष की सिद्धि हो जायेगी । जैसे दाहशक्तियुक्त अग्नि का दहनकार्य काष्ठाभाव दशा में नहीं होता वैसे ही निमित्त का परिहार हो जाने से जाने से जीव को मोक्ष दशा में दुःख नहीं भासता है । समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि शक्तिरूप सम्बन्ध से सम्बन्धित निमित्तों का भी सर्वथा परिहार होना सम्भव नहीं है । शक्ति व्यापक है और उसका कार्य व्याप्य है । शक्ति के रहते-रहते कार्य का परिहार सर्वथा नहीं कहा जा सकता । शङ्का—मोक्षसाधन का विधान शास्त्र ने किया है इससे मोक्ष सिद्ध हो

---

१. स्थापनात् । २. कार्यद्वारा । ३. व्यापकम् । ४. शक्तेर्यः सम्बन्धः ।

साधनविधानान्मोक्षः सेत्स्यति । न । साधनायत्तस्यानित्यत्वात् । अपिच नित्यशुद्धबुद्धमुक्तात्मप्रतिपादनान्मोक्षसिद्धिरभिमता । तादृगात्मप्रतिपादनं च न स्वाभाविके कर्तृत्वेऽवकल्पेत । तस्मादुपाधिधर्माध्यासेनैवात्मनः कर्तृत्वं न स्वाभाविकम् । तथाच श्रुतिः—'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४-३-७) इति । 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (काठ० ३-४) इति चोपाधिसंपृक्तस्यैवात्मनो भोक्तृत्वादिविशेषलाभं दर्शयति । नहि विवेकिनां परस्मादन्यो जीवो नाम कर्ता भोक्ता वा विद्यते । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ४-३-२३) इत्यादिश्रवणात् । पर एव तर्हि संसारी कर्ता भोक्ता च प्रसज्येत, परस्मादन्यश्चेच्चितिमाञ्जीवः कर्ता बुद्ध्यादिसंघातव्यतिरिक्तो न स्यात् । न । अविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः । तथाच शास्त्रम्—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २-४-१४) इत्यविद्यावस्थायां कर्तृत्वभोक्तृत्वे दर्शयित्वा

स्यैव [1]निवर्तकम् । यदि कर्मणा मोक्षः, तत्राह—नेति । आत्मनः स्वाभाविकं कर्तृत्वमभ्युपगम्यानिर्मोक्ष उक्तः । संप्रत्यसङ्गनिर्विकारत्वानेकश्रुतिव्याकोपात्तन्न स्वाभाविकमित्याह—अपिचेति । नचाभ्यस्तानेकश्रुतीनां स्तावकत्वकल्पनं युक्तं, न चाहं कर्तेत्यनुभवो विरुध्यते, तस्य सत्यमिथ्योदासीनकर्तृत्वावगाहिनोऽध्यासत्वेनाप्युपपत्तेरित्यर्थः । कर्तृत्वस्याध्यस्तत्वे श्रुतिमाह—तथाचेति । विद्वदनुभवबाधितं च कर्तृत्वमित्याह—नहीति । बुद्ध्यादिसंघाताद्व्यतिरिक्तो यदि परस्मादन्यश्चेतनो न स्यात्तदा पर एव संसारी प्रसज्येत, तच्चानिष्टं, परस्य नित्यमुक्तत्वव्याघातादिति शङ्कते—पर एवेति । न वयं शुद्धस्य चिद्धातोः परस्य बन्धं वदामः, किंतु तस्यैवाविद्याबुद्ध्यादिप्रतिबिम्बितस्याविद्यया भिन्नस्य जीवत्वं प्राप्तस्य बन्धमोक्षाविति ब्रूमः । कल्पितभेदोऽपि लोके बिम्बप्रतिबिम्बयोर्धर्मव्यवस्थापको दृष्ट इति परिहरति—नाविद्येति । अविद्योपहिते बन्धो न शुद्धात्मनीत्यत्र श्रुतिमाह—तथाचेति । कर्तृत्वस्य बुद्ध्युपाध्यन्वयव्यतिरेकानुविधा-

---

जायेगा । जैसे मनुष्य का कर्म से देवत्व शास्त्र ने बतलाया है वैसे ही शास्त्र के बल से कर्ता में अकर्तृत्व की सिद्धि भी हो जायेगी जिसे मोक्ष कहते हैं । समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, साधनाधीन मोक्ष अनित्य हो जायेगा । इसके अतिरिक्त शास्त्र ने आत्मा को नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव बतलाया है इससे मोक्ष की सिद्धि कही है स्वाभाविक कर्तृत्व मानने पर इस प्रकार आत्मा का प्रतिपादन युक्तिसंगत नहीं होगा । अतः उपाधि धर्म के अध्यास से ही आत्मा में कर्तृत्व मानना उचित होगा, स्वाभाविक नहीं । ऐसा ही 'ध्यान करता हुआ सा, चञ्चल होता हुआ सा' 'इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को मनीषियों ने भोक्ता कहा है' इन वाक्यों से उपाधिसंयुक्त आत्मा में ही भोक्तृत्वादि विशेष लाभ श्रुति बतलाती है । विवेकियों को परमात्मा से भिन्न जीव कर्ता या भोक्ता नहीं भासता । 'परमात्मा से भिन्न कोई द्रष्टा नहीं, श्रोता नहीं' इत्यादि श्रुतियों में ऐसा सुना गया है । शङ्का—तब तो परमात्मा ही संसारी जीव, कर्ता और भोक्ता होने लग जायेगा । यदि परमात्मा से भिन्न बुद्ध्यादिसंघातव्यतिरिक्त चेतन जीव कर्ता नहीं है तो महान अनिष्ट होने लग जायेगा । समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं । चेतन में भोक्तृत्व-कर्तृत्व अविद्याप्रत्युपस्थापित माना गया है । 'जिस अविद्यावस्था में द्वैत जैसा भासता है वहाँ पर ही दूसरा दूसरे को देखता है' इस वाक्य द्वारा अविद्यावस्था में कर्तृत्व-भोक्तृत्व

---

१. ज्ञानमिति शेषः ।

विद्यावस्थायां ते एव कर्तृत्वभोक्तृत्वे निवारयति—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २-४-१४) इति । तथा स्वप्नजागरितयोरात्मन उपाधिसंपर्ककृतं श्रमं श्येनस्येवाकाशे विपरिपततः श्रावयित्वा तदभावं सुषुप्तौ प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तस्य श्रावयति—'तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्' (बृ० ४-३-२१) इत्यारभ्य 'एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः (बृ० ४-३-३२) इत्युपसंहारात् । तदेतदाहाचार्यः—'यथा च तक्षोभयथा' इति । त्वर्थे चायं चः पठितः ।

नैवं मन्तव्यं स्वाभाविकमेवात्मनः कर्तृत्वमग्नेरिवौष्ण्यमिति । यथा तु तक्षा लोके वास्यादिकरणहस्तः कर्ता दुःखी भवति स एव स्वगृहं प्राप्तो विमुक्तवास्यादिकरणः स्वस्थो निर्वृतो निर्व्यापारः सुखी भवत्येवमविद्याप्रत्युपस्थापितद्वैतसंपृक्त आत्मा स्वप्नजागरितावस्थयोः कर्ता दुःखी भवति स तच्छ्रमापनुत्तये स्वमात्मानं परं ब्रह्म प्रविश्य विमुक्तकार्यकरणसंघातोऽकर्ता सुखी भवति संप्रसादावस्थायाम् । तथा मुक्त्यवस्थायाम-

---

यित्वाच्छ्रुतेश्च न स्वाभाविकत्वमित्याह—तथा स्वप्नेति । आत्मैव काम्यते आनन्दत्वादित्यात्मकाम स्वरूपं स्वातिरिक्तकाम्यासत्त्वादकामं, आत्मकामत्वादकामत्वाच्चाप्तकामं विशोकत्वाच्चेत्याह—शोकेति । शोकान्तरं दुःखास्पृष्टमित्यर्थः । तस्यैव सुषुप्तात्मरूपस्य परमपुरुषार्थतामाह—एषा इति । गतिः प्राप्यं, संपदैश्वर्यं लोको भोग्यं सुखं, चैतस्मादन्यन्नास्तीत्यर्थः । आत्मा स्वतोऽकर्ता बुद्ध्याद्युपाधिना तु कर्तेत्युभयथाभाव उक्तः । तत्रार्थे सूत्रं योजयति—तदेतदाहेत्यादिना ।

संप्रसादः सुषुप्तिः । यथा स्फटिकस्य लौहित्यं कुसुमाद्युपाधिकं तथात्मनः कर्तृत्वं बुद्ध्याद्युपाधिकमन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धम् । न च तौ बुद्धेरात्मकर्तृत्वे करणत्वविषयौ नोपादानत्वविषयाविति

दिखलाने के बाद विद्यावस्था में 'जहां इस तत्त्वज्ञानी का सब कुछ आत्मा ही हो गया वहां वह किससे किसको देखे' इस वाक्य द्वारा उक्त कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निषेध किया गया है। वैसे ही जाग्रत् और स्वप्न में आत्मा को उपाधिसम्पर्क के कारण आकाश में उड़ने वाले श्येन पक्षी की भाँति श्रम बतलाकर सुषुप्तावस्था में चेतन परमात्मा के साथ सम्परिष्वक्त जीव के लिए उक्त श्रम का अभाव श्रुति बतलाती है। 'इसका यह आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोक से तरा हुआ रूप है' यहां से प्रसंग प्रारम्भ कर 'यह इसकी परागति है, यह इसकी परम सम्पत्ति है और यह इसका परम लोक है, यही इसका परम आनन्द है' इस वाक्य द्वारा उपसंहार दिखलाकर आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व का वारण किया गया है। इसी अर्थ को भगवान् वेदव्यास ने अग्रिम सूत्र से कहा है।

अग्नि में उष्णता की भाँति आत्मा में कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं मान सकते; किन्तु जैसे लोक में बढ़ई वसूला आदि उपकरणों को हाथ में लेकर काष्ठछेदन क्रिया करते समय दुःखी होता है, वही अपने घर में पहुँचकर उन उपकरणों से मुक्त हो स्वस्थ, शान्त और व्यापाररहित हो सुखी हो जाता है, इसी प्रकार अविद्याप्रत्युपस्थापित द्वैत से संयुक्त आत्मा स्वप्न और जाग्रदवस्था में कर्म करता हुआ दुःखी होता है और जब वह श्रम की निवृत्ति के लिए अपने आत्मस्वरूप ब्रह्म में प्रवेशकर कार्यकरण-

---

१. आत्मनि सत्यपि स्वाभाविके कर्तृत्वेऽन्वयव्यतिरेकौ न विरुध्येते । यतो हि तौ बुद्धिनिष्ठकरणत्व विषयौ न तन्निष्ठोपादानत्वविषयाविति न च युक्तमित्यन्वयः ।

त्यविद्याध्वान्तं विद्याप्रदीपेन विधूयात्मैव केवलो निर्वृतः सुखी भवति । तक्षदृष्टान्तश्चैतावतांऽशेन द्रष्टव्यः । तक्षा हि विशिष्टेषु तक्षणादिव्यापारेष्वपेक्ष्यैव प्रतिनियतानि करणानि वास्यादीनि कर्ता भवति । स्वशरीरेण त्वकर्तैव । एवमयमात्मा सर्वव्यापारेष्वपेक्ष्यैव मनआदीनि करणानि कर्ता भवति, स्वात्मना त्वकर्तैवेति । न त्वात्मनस्तक्षण इवावयवाः सन्ति यैर्हस्तादिभिरिव वास्यादीनि तक्षा मनआदीनि करणान्यात्मोपाददीत न्यस्येद्वा ।

यत्तूक्तं शास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः स्वाभाविकमात्मनः कर्तृत्वमिति । तन्न । विधिशास्त्रं तावद्यथाप्राप्तं कर्तृत्वमुपादाय कर्तव्यविशेषमुपदिशति न कर्तृत्वमात्मनः प्रतिपादयति । नच स्वाभाविकमस्य कर्तृत्वमस्ति ब्रह्मात्मत्वोपदेशादित्यवोचाम । तस्मादविद्याकृतं कर्तृत्वमुपादाय विधिशास्त्रं प्रवर्तिष्यते । 'कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष' इत्येवंजातीयकमपि शास्त्रमनुवादरूपत्वाद्यथाप्राप्तमेवाविद्याकृतं कर्तृत्वमनुवदिष्यति । एतेन विहारोपादाने

युक्तं, 'करणत्वात् कार्यान्वय्युपादानत्वस्यान्तरङ्गतया चित्संवलितबुद्धेस्ताभ्यामुपादानत्वस्यैव सिद्धेः, एवं चिदभेदेनाध्यस्तबुद्ध्याख्याहंकारस्य कर्तृत्वोपादानत्वेन महावाक्यसंमतिश्चेति भावः । ननु तक्षा स्वहस्तादिना वास्यादिप्रेरणशक्तत्वात्स्वतः कर्ता, आत्मा तु निरवयवत्वादशक्त इति दृष्टान्तवैषम्यमाशङ्क्यौपाधिककर्तृत्वांशेन विवक्षितेन साम्यमाह—तक्षदृष्टान्तश्चेति । शास्त्रेणानूद्यमानं कर्तृत्वं स्वाभाविकमेव किं न स्यादित्यत आह—नच स्वाभाविकमिति । उपा-

---

मघात से मुक्त हो उस निद्रावस्था में अकर्ता, सुखी हो जाता है वैसे ही मोक्ष काल में भी ब्रह्मविद्याप्रदीप से अविद्यान्धकार को नष्टकर केवल आत्मा शान्त एवं सुखी होता है । यहाँ पर बढ़ई का दृष्टान्त इतने ही अंश में समझना चाहिए कि काष्ठछेदनादि विशिष्ट व्यापार में प्रतिनियत वसूलादि उपकरणों की अपेक्षा से ही वह बढ़ई काष्ठछेदन क्रिया का कर्ता माना जाता है किन्तु अपने शरीर से तो वह अकर्ता ही है, ऐसे ही यह आत्मा सभी लौकिक-वैदिक व्यापारों में मन आदि करणों की अपेक्षा करके ही क्रिया का कर्ता कहा जाता है किन्तु स्वरूपतः वह अकर्ता ही है । इस दृष्टान्त से कोई यह न समझ ले कि जैसे बढ़ई सावयव है वैसे ही आत्मा भी सावयव है और जैसे हाथों से बढ़ई वसूलादि का ग्रहण करता है, ऐसे ही आत्मा भी मन आदि उपकरणों को ग्रहण करता है और छोड़ता भी है ।

शङ्का—शास्त्र से कहे गये कर्तृत्व को स्वाभाविक ही क्यों न माना जाय अर्थात् शास्त्रार्थवत्त्वादि हेतुओं से आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व ही मानना चाहिए । समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है । विधिशास्त्र यथाप्राप्त कर्तृत्व को लेकर कर्तृत्वविशेष का उपदेश करता है, वह आत्मा में कर्तृत्व का प्रतिपादन नहीं करता और इस आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व है भी नहीं क्योंकि ब्रह्म और आत्मा का अभेद उपदेश किया गया है, जिसे हम अनेक बार कह आये हैं । अतः अविद्याकृत कर्तृत्व को लेकर ही विधिशास्त्र प्रयुक्त हो जायेगा । 'विज्ञानात्मा पुरुष कर्ता है' इस प्रकार का शास्त्रवचन अनुवादरूप होने के कारण यथाप्राप्त आविद्यक कर्तृत्व का ही अनुवाद करेगा । इस व्याख्यान से जीवात्मा के विहार और उपादान शङ्का का परिहार भी

---

१. करणत्वापेक्षया ।

परिहृते । तयोरप्यनुवादरूपत्वात् । ननु संध्ये स्थाने प्रसुप्तेषु करणेषु स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तत इति विहार उपदिश्यमानः केवलस्यात्मनः कर्तृत्वमावहति । तथोपादानेऽपि 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' इति करणेषु कर्मकरणविभक्ती श्रूयमाणे केवलस्यात्मनः कर्तृत्वं गमयत इति । अत्रोच्यते—न तावत्संध्ये स्थानेऽत्यन्तमात्मनः करणविरमणमस्ति । 'सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति' (बृ० ४-३-७) इति तत्रापि धीसंबन्धश्रवणात् । तथाच स्मरन्ति—'इन्द्रियाणामुपरमे मनोऽनुपरतं यदि । सेवते विषयानेव तद्विद्यात्स्वप्नदर्शनम्' इति । 'कामादयश्च मनसो वृत्तयः' इति श्रुतिः । ताश्च स्वप्ने दृश्यन्ते । तस्मात्समना एव स्वप्ने विहरति । विहारोऽपि च तत्रत्यो वासनामय एव न तु पारमार्थिकोऽस्ति । तथाच श्रुतिरिवकारानुबद्धमेव स्वप्नव्यापारं वर्णयति—'उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्' (बृ० ४-३-१३) इति । लौकिका अपि तथैव स्वप्नं कथयन्ति । आरुक्षमिव गिरिशृङ्गमद्राक्षमिव वनराजिमिति । तथोपादानेऽपि यद्यपि करणेषु कर्मकरणविभक्तिनिर्देशस्तथापि तत्संपृक्तस्यैवात्मनः

ध्यभावकाले श्रुतं कर्तृत्वं स्वाभाविकमेवेति शङ्कते—ननु संध्य इति । किंच करणविशिष्टस्य कर्तृत्वे तेषां कर्त्रन्तर्भावात्तेष्वपि कर्तृविभक्तिः स्यात् । न चैवमस्ति ततः केवलात्मनः कर्तृत्वमित्याह—तथेति । स्वप्नविहारे तावदुपाध्यभावोऽसिद्ध इत्याह—न तावत्संध्य इति । विहारस्य मिथ्यात्वात्तत्कर्तृत्वमपि मिथ्येत्याह—विहारोऽपीति । जक्षत् भुञ्जान इव । करणत्वविशिष्टस्य कर्तृत्वे करणेषु

हो गया क्योंकि वे दोनों अनुवादरूप हैं। शङ्का—स्वप्नावस्था में करणों के निर्व्यापार हो जाने पर यह जीव अपने शरीर में यथेच्छ विचरण करता है, ऐसा विहार का उपदेश केवल आत्मा में कर्तृत्व बतलाता है। वैसे ही 'इन्द्रियों की चेतना को बुद्धि से ग्रहणकर' इस वाक्य द्वारा ग्रहणप्रसङ्ग में भी करणों में कर्म विभक्ति और करण विभक्ति जो सुनी जाती है वे भी आत्मा में केवल कर्तृत्व बोध कराती हैं। समाधान—इस पर हम कहते हैं कि स्वप्नावस्था में जीवात्मा के करणों का सर्वथा विराम नहीं होता है, क्योंकि 'बुद्धिसहित सोया हुआ पुरुष इस लोक का अतिक्रमण कर जाता है' इस वाक्य द्वारा स्वप्नावस्था में भी बुद्धि के साथ सम्बन्ध सुना जाता है। वैसा ही 'यदि इन्द्रियों के उपराम होने पर मन उपरत नहीं होता तो जीव उस समय मन से विषयों का उपभोग करता है, उसी को स्वप्नावस्था समझनी चाहिए' इस स्मृतिवाक्य से भी स्वप्नावस्था में जीवात्मा के साथ अन्तःकरण के सम्बन्ध का बना रहना कहा गया है। 'कामादि मन के व्यापार हैं' ऐसी श्रुति है, वे ही कामादि स्वप्न में दीख पड़ते हैं। अतः स्वप्नावस्था में मन से युक्त हो जीव विहार करता है; वह स्वप्नकालीन विहार भी वासनामय ही होता है, पारमार्थिक नहीं होता। इसीलिए 'स्त्रियों के साथ आमोद-प्रमोद करता हुआ, खाता हुआ और भय का अनुभव करता हुआ भी' इन श्रुतियों ने इवकार से अनुबद्ध स्वप्न व्यापार को कहा है। लौकिक पुरुष भी, मानो पर्वत के शिखर पर मैं चढ़ा हुआ था, मानो वनपंक्तियों को मैं देख रहा था, ऐसा ही स्वप्न को बतलाते हैं। वैसे ही ग्रहण के सम्बन्ध में भी यद्यपि करणों में कर्म एवं करण विभक्ति का निर्देश है, फिर भी करणसंयुक्त चैतन्य आत्मा में ही कर्तृत्व समझना

कर्तृत्व द्रष्टव्यम् । केवले कर्तृत्वासंभवस्य दर्शितत्वात् । भवति च लोकेऽनेकप्रकारा विवक्षा योधा युध्यन्ते योधै राजा युध्यत इति । अपिचास्मिन्नुपादाने करणव्यापारोपरममात्रं विवक्ष्यते न स्वातन्त्र्यं कस्यचिदबुद्धिपूर्वकस्यापि स्वापे करणव्यापारोपरमस्य दृष्टत्वात् ।

यस्त्वयं व्यपदेशो दर्शितः 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इति, स बुद्धेरेव कर्तृत्वं प्रापयति । विज्ञानशब्दस्य तत्र प्रसिद्धत्वात् । मनोनन्तरं पाठाच्च । 'तस्य श्रद्धैव शिरः' (तै० २-४) इति च विज्ञानमयस्यात्मनः श्रद्धाद्यवयवत्वसंकीर्तनात् । श्रद्धादीनां च बुद्धिधर्मत्वप्रसिद्धेः । 'विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते' (तै० २-५-१) इति च वाक्यशेषात् । ज्येष्ठत्वस्य च प्रथमजत्वस्य बुद्धौ प्रसिद्धत्वात् । 'स एष वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरक्रमो यद्यज्ञः'

कर्तृविभक्तिः स्यात्, न करणविभक्तिरित्युक्तं प्रत्याह—भवति च लोक इति । कर्तृत्वपि करणविभक्तिर्न विरुध्यते दृष्टत्वात् । अस्ति च कर्तृत्वप्रयोगः, 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादाविति भावः । 'उपादानस्य सकर्तृकत्वमङ्गीकृत्य केवलात्मनः कर्तृत्वं निरस्तम् । इदानीं 'तस्या'क्रियत्वान्न कर्त्रपेक्षेत्याह—अपिचेति ।

'पूर्वं विज्ञानं जीव इत्यङ्गीकृत्य जीवस्य कर्तृत्वे तनुत इति श्रुतिरुक्ता, संप्रति तया श्रुत्याऽनुपहितात्मनः कर्तृत्वमिति प्राप्तौ विज्ञानं बुद्धिरेव तस्या एवात्र कर्तृत्वमुच्यते । तदुपहितात्मनः कर्तृत्वसिद्धय इत्यभिप्रेत्याह—यस्त्विति । 'योऽयं विज्ञानमयः' इत्यादिश्रुतिषु विज्ञानशब्दस्य बुद्धौ प्रसिद्धत्वादत्र च मनोमयकोशानन्तरं पठितत्वाच्छ्रद्धादिलिङ्गाच्च बुद्धिरेव विज्ञानमित्यर्थः । तत्रैव लिङ्गान्तरमाह—विज्ञानं देवा इति । 'महद्यक्षं प्रथमजम्' इत्यादिश्रुतौ हिरण्यगर्भब्रह्मात्मकबुद्धेर्ज्येष्ठत्वोक्तेरत्र देवैरिन्द्रियैरुपास्यमानं ज्येष्ठं ब्रह्म विज्ञानं बुद्धिरेवेत्यर्थः । यक्षं पूज्यम् । किंच श्रुत्यन्तरे यज्ञस्य बुद्धिकार्यत्वोक्तेरत्रापि यज्ञकर्तृ विज्ञानं बुद्धिरित्याह—स एष इति । चित्तेन ध्यात्वा वाचा मन्त्रोक्त्या यज्ञो जायते ततश्चित्तस्य वाचः पूर्वोत्तरभावो यज्ञ इत्यर्थः । यच्चोक्तं बुद्धेः कर्तृत्वे शक्तिवंपरीत्यप्रसङ्ग इति । तन्न । विक्लिद्यन्ते तण्डुलाः, ज्वलन्ति काष्ठानि, बिभर्ति स्थालीति स्व-

---

चाहिए. केवल आत्मा में कर्तृत्व असम्भव बतला दिया गया है। लोक में अनेक प्रकार की विवक्षा देखी जाती है; योद्धा युद्ध करते हैं, योद्धाओं के द्वारा राजा युद्ध करता है, ऐसा अनेकधा प्रयोग देखा जाता है। वस्तुतः उपादान क्रिया न होने के कारण उसमें कर्ता की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि इस उपादान में करण व्यापार का उपरममात्र बतलाना अभीष्ट है, कर्ता का स्वातन्त्र्य बतलाना अभीष्ट नहीं है। स्वप्नावस्था में अबुद्धिपूर्वक भी कोई-कोई करणव्यापाराभाव देखा गया है।

और जो 'विज्ञानं यज्ञ तनुते' इस वाक्य द्वारा यह व्यपदेश दिखलाया गया था वह भी बुद्धि में ही कर्तृत्व सिद्ध करता है, क्योंकि विज्ञान शब्द बुद्धि अर्थ में ही प्रसिद्ध है और मनोमयकोश के बाद विज्ञानमयकोश के प्रतिपादनकाल में विज्ञानमय शब्द का पाठ मिलता है। 'विज्ञानमय पुरुष का श्रद्धा ही शिर है' इस वाक्य द्वारा विज्ञानमय आत्मा के श्रद्धा आदि अवयव कहे गये हैं और श्रद्धा आदि बुद्धि के धर्म प्रसिद्ध ही हैं, इस अर्थ को 'सभी देवता विज्ञानरूप ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना करते हैं' इस वाक्यशेष द्वारा कहा गया है। प्रथमजत्वरूप ज्येष्ठत्व बुद्धि में प्रसिद्ध ही है। 'चित्त से ध्यान और वाणी से मन्त्रोच्चारण करने पर यज्ञ सम्पन्न होता है, इसीलिए चित्त और वाणी के पूर्वोत्तर भाग

---

१. ग्रहणस्य । २. उपादनस्य । ३. क्रियायाएव कर्तुरपेक्षा न तु सिद्धोपादानादेरिति । ४. सांख्यमतनिरासावसरे ।

इति च श्रुत्यन्तरे यज्ञस्य वाग्बुद्धिसाध्यत्वावधारणात् । नच बुद्धेः शक्तिविपर्ययः करणानां कर्तृत्वाभ्युपगमे भवति सर्वकारकाणामेव स्वस्वव्यापारेषु कर्तृत्वस्यावश्यंभावित्वात् । उपलब्ध्यपेक्षं त्वेषां करणानां करणत्वं, सा चात्मनः । नच तस्यामप्यस्य कर्तृत्वमस्ति । नित्योपलब्धिस्वरूपत्वात् । अहंकारपूर्वकमपि कर्तृत्वं नोपलब्धुर्भवितुमर्हति । अहंकारस्याप्युपलभ्यमानत्वात् । न चैवं सति करणान्तरकल्पनाप्रसङ्गः । बुद्धेः करणत्वाभ्युपगमात् । समाध्यभावस्तु शास्त्रार्थवत्त्वेनैव परिहृतः । यथाप्राप्तमेव कर्तृत्वमुपादाय समाधिविधानात् । तस्मात्कर्तृत्वमप्यात्मन उपाधिनिमित्तमेवेति स्थितम् ।।४०।।

स्वव्यापारेषु सर्वकारकाणां कर्तृत्वस्वीकारादित्याह—नचेति । तर्हि बुद्ध्यादीनां कर्तृत्वे करणत्ववार्ता तेषु न स्यादित्यत आह—उपलब्धीति । यथा काष्ठानां स्वव्यापारे कर्तृत्वेऽपि पाकापेक्षया करणत्वं तथा बुद्ध्यादीनामध्यवसायसंकल्पादिक्रियाकर्तृत्वेऽप्युपलब्ध्यपेक्षया करणत्वमित्यर्थः । ननु तर्ह्युपलब्धिः कस्य व्यापार इत्याह—सा चेति । तर्हि तस्यामात्मा केवलः कर्ता स्यात्, यस्य यो व्यापारः स तस्य कर्तेति स्थितेरित्यत आह—नचेति । उपलब्धेर्नित्यत्वे बुद्ध्यादीनां कथं करणत्वमुक्तमिति चेदुच्यते—'अखण्डसाक्षिचैतन्यं [1]बुद्धिवृत्तिभिर्भिन्नं सद्विषयावच्छिन्नत्वेन जायते, तथाच विषयावच्छिन्नचैतन्याख्योपलब्धौ बुद्ध्यादीनां करणत्वं बुद्ध्याद्युपहितात्मनः कर्तृत्वं न केवलस्य, नच बुद्धेरेव [2]तत्कर्तृत्वं चैतन्यस्य जडव्यापारस्वायोगादिति भावः । यच्चोक्तं बुद्धेः कर्तृत्वे स एवाहंधीगम्यो जीव इति तस्य करणान्तरं कल्पनीयं, तथाच नाममात्रे विवाद इति तत्र केवलात्मनः कर्तृत्वमुक्तमिति भ्रान्ति निरस्यति—अहंकारेति । सांख्यनिरासार्थं बुद्ध्यमेवेनाध्यस्त[4]चिदात्मकाहंकारगतं कर्तृत्वं यदुक्तं तदहंधीगम्यस्य बुद्धिविशिष्टात्मन एव न केवलस्य साक्षिणो भवितुमर्हति, दृश्यधर्मस्य साक्षिस्वभावत्वायोगात् । एवं विशिष्टात्मनः कर्तृत्वे विशेषणीभूताया जडबुद्धेरेव करणत्वोपपत्तेर्न करणान्तरकल्पनाप्रसङ्गः । अध्यासं विना [5]केवलबुद्धिकर्तृत्ववादिनस्तु करणान्तरप्रसङ्गो दुर्वार इत्यर्थः । एवं शास्त्रार्थवत्त्वादिहेतूनामात्मनः कर्तृत्वमात्रसाधकत्वेऽपि स्वाभाविककर्तृत्वसाधनसामर्थ्याभावादध्यस्तमेव कर्तृत्वं विध्यादिकर्तृत्वश्रुतीनामुपजीव्यम् । तस्मादसङ्गत्वविध्यादिकर्तृत्वश्रुतीनामविरोध इति सिद्धम् ।।४०।।

को यज्ञ कहा गया है' इस वाक्य द्वारा श्रुत्यन्तर में यज्ञ को वाक और बुद्धि से साध्य निश्चित किया गया है । करण को कर्ता मानने पर बुद्धि में शक्तिविपर्यय भी नहीं होता, क्योंकि अपने-अपने व्यापार में सभी कारकों का कर्तृत्व अवश्यम्भावी है । इन करणों में करणत्व भी उपलब्धि की अपेक्षा करके कहा गया है; वह उपलब्धि आत्मा की है, न कि तद्भिन्न करणों की । उस उपलब्धि में भी इस आत्मा का कर्तृत्व नहीं है, क्योंकि आत्मा नित्यउपलब्धिस्वरूप है । अहंकारपूर्वक कर्तृत्व भी उपलब्धा का नहीं हो सकता क्योंकि अहंकार भी उपलभ्यमान है अर्थात् उसका अनुभव भी सार्वजनीन है । ऐसा कहने पर करणान्तरकल्पना का प्रसङ्ग भी नहीं आता है, क्योंकि बुद्धि में करणत्व स्वीकार किया गया है । समाध्यभाव परिहार शास्त्रार्थवत्त्व हेतु से कर दिया गया है । अतः यथाप्राप्त कर्तृत्व को लेकर के ही समाधि का विधान है । इसलिए कर्तृत्व भी आत्मा में उपाधिनिमित्तक ही है, यह सिद्ध हुआ ।।४०।।

---

१. आकाशवत् । २. घटाकाशवत् । ३. उपलब्धि । ४. अज्ञातश्चिदात्मा चिदात्मकस्तस्मिन्नहंकारश्चिदात्मकाहंकारोऽध्यस्तश्चासौ स तद्गतं कर्तृत्वमित्यर्थः । ५. सांख्यस्य ।

१६. परायत्ताधिकरणम् (सू. ४१-४२)

(२५७) परात्तु तच्छ्रुतेः ॥४१॥

प्रवर्तकोऽस्य रागादिरीशो वा रागतः कृषौ । दृष्टा प्रवृत्तिर्वैषम्यमीशस्य प्रेरणे भवेत् ॥
सस्येषु वृष्टिवज्जीवेष्वीशस्याविषमत्वतः । रागोऽन्तर्याम्यधीनोऽत ईश्वरोऽस्य प्रवर्तकः ॥

यदिदमविद्यावस्थायामुपाधिनिबन्धनं कर्तृत्वं जीवस्याभिहितं, तत्किमनपेक्ष्येश्वरं भवत्याहोस्विदीश्वरापेक्षमिति भवति विचारणा । तत्र प्राप्तं तावन्नेश्वरमपेक्षते जीवः कर्तृत्वे इति । कस्मात् ? अपेक्षाप्रयोजनाभावात् । अयं हि जीवः स्वयमेव रागद्वेषादि-दोषप्रयुक्तः कारकान्तर सामग्रीसम्पन्नः कर्तृत्वमनुभवितुं शक्नोति । तस्य किमीश्वरः करिष्यति । नच लोके प्रसिद्धिरस्ति कृष्यादिकासु क्रियास्वनडुहादिवदीश्वरोऽपरोऽपेक्षितव्य

परात्तु तच्छ्रुतेः । **यथा स्फटिके लौहित्याध्यासे लोहितद्रव्यं 'करणं तेनायं स्फटिको लोहित इत्यनु-भवात्, तथा कामादिपरिणामिबुद्धिरात्मनि कर्तृत्वाद्यध्यासे करणमित्युक्तम् । तदध्यस्तं 'कर्तृत्वमुप-जीव्य जीवस्य कारकसंपन्नत्वादीश्वरस्य कारयितृत्वश्रुतेश्च** संशयमाह—यदिदमिति । **अत्र 'एष ह्येव' इत्यादि'**श्रुतीनां कर्तृस्वातन्त्र्यद्योतक'विध्यादिश्रुतिभिर्विरोधसमाधानात्पादसंगतिः । **कर्ममीमांसकमतेन पूर्वपक्षयति**—तत्रेत्यादिना । **बुद्ध्यादिकारकसंपत्तावीश्वरव्यतिरेके कर्तृत्वव्यतिरेकानुपलब्धेर्नेश्वरः**

१६ परायत्ताधिकरण

१. **सङ्गति**—पूर्व अधिकरण द्वारा जीवात्मा में औपाधिक कर्तृत्व सिद्ध किया गया था, अब उस कर्तृत्व को ईश्वराधीन सिद्ध करने के लिए उपजीव्य-उपजीवकभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. **विषय**—जीवात्मा के कर्तृत्वप्रयोजक का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—जीवात्मा में कर्तृत्व के प्रवर्तक रागादि हैं अथवा ईश्वर है ?

४. **पूर्वपक्ष**—कृषि आदि लौकिक व्यापार में कर्ता की रागतः प्रवृत्ति देखी गयी है; साथ ही, ईश्वर को प्रेरक मानने पर उसमें वैषम्यदोष भी आ जायेगा । अतः कर्म में जीवात्मा के प्रवर्तक रागादि मानसविकार ही हैं, ईश्वर नहीं ।

५. **सिद्धान्त**—कृषि आदि की उत्पत्ति में जिस प्रकार वृष्टि सामान्य प्रयोजक है, ऐसे ही कर्म में जीवात्मा का सामान्य प्रेरक ईश्वर है, अतः ईश्वर में वैषम्यदोष नहीं आयेगा । रागादि विशेष प्रेरक होते हुए भी वे ईश्वराधीन ही हैं, अतः कर्म में जीवात्मा का प्रवर्तक मुख्यरूप से ईश्वर ही है ।

परात्तु तच्छ्रुतेः (ललिता)

अज्ञानावस्था में जो बुद्धिरूप उपाधिनिमित्त को लेकर जीवात्मा में कर्तृत्व कहा गया था, क्या जीव में वह कर्तृत्व ईश्वरनिरपेक्ष है अथवा ईश्वरसापेक्ष है, ऐसा यहाँ पर विचार प्रारम्भ होता है । इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि जीव शुभाशुभ कर्म करने में ईश्वर की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि अपेक्षा का कोई प्रयोजन नहीं दीखता । यह जीव रागादि दोष से प्रयुक्त, कारकान्तर सामग्री से सम्पन्न स्वयं ही अपने में कर्तृत्व का अनुभव कर सकता है; फिर इसमें ईश्वर क्या करेगा । साथ ही, कृषि आदि व्यापार में जैसे लोक में बैल आदि सहकारी प्रसिद्ध है ऐसा जीव से पृथक् दूसरे ईश्वर की

१. कारणमित्यर्थः । २. निमित्तीकृत्य । ३. साधुकर्म कारयति । ४. स्वर्गकामो यजेतेत्यादि ।

इति । क्लेशात्मकेन च कर्तृत्वेन जन्तून्संसृजत ईश्वरस्य नैर्घृण्यं प्रसज्येत, विषमफलं चैषां
कर्तृत्वं विदधतो वैषम्यम् । ननु 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' (ब्र० २-१-३४) इत्युक्तम् ।
सत्यमुक्तं सति त्वीश्वरस्य सापेक्षत्वसम्भवे, सापेक्षत्वं च नेश्वरस्य सम्भवति [1]सतोर्जन्तूनां
धर्माधर्मयोस्तयोश्च सद्भावः सति जीवस्य कर्तृत्वे । तदेव चेत्कर्तृत्वमीश्वरापेक्षं स्यात्किंविष-
यमीश्वरस्य सापेक्षत्वमुच्येत । अकृताभ्यागमश्चैवं जीवस्य प्रसज्येत । तस्मात्स्वत एवास्य
कर्तृत्वमिति ।

एतां प्राप्तिं तुशब्देन व्यावर्त्य प्रतिजानीते—'परात्' इति । अविद्यावस्थायां कार्य-
करणसंघाताविवेकदर्शिनो जीवस्याविद्यातिमिरान्धस्य सतः परस्मादात्मनः [2]कर्माध्यक्षा-
त्सर्वभूताधिवासात्साक्षिणश्चेतयितुरीश्वरात्तदनुज्ञया कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणस्य संसारस्य

प्रयोजकः । किंच प्रयोजकत्वे नैर्घृण्यादिप्रसङ्ग इत्याह—क्लेशात्मकेन चेति । दत्तोत्तरमिदं चोद्यमिति
शङ्कते—नन्विति । पूर्वं जीवस्य धर्माधर्मवत्त्वं सिद्धवत्कृत्य तत्सापेक्षत्वाद्विषमजगत्कर्तृत्वमविरुद्ध-
मित्युक्तं संप्रति ईश्वराधीनत्वे जीवस्य कर्तृत्वे सिद्धे धर्माधर्मवत्त्वसिद्धिः, तद्वत्त्वसिद्धौ तत्सापेक्षकार-
यितृत्वसिद्धिः, ईश्वरस्य कारयितृत्वे सिद्धे जीवस्य कर्तृत्वसिद्धिरिति चक्रकापत्तेः कर्मसापेक्षत्वं न
सम्भवतीत्युच्यत इत्याह—सत्यमिति । अस्तु कर्मानपेक्षस्य प्रवर्तकत्वं, तत्राह—अकृतेति । अनपेक्षस्य
प्रवर्तकत्वे धर्मवतो नरान् दुःखेनाधर्मवतः सुखेन योजयेत्, कारुणिकत्वे वा सर्वे सुखेन एकरूपाः
स्युरिति जगद्वैचित्र्यं विध्यादिशास्त्रं च न स्यात् । तस्माद्विध्यादिशास्त्रार्थवत्त्वाय रागद्वेषायत्तं स्वत
एव जीवस्य कर्तृत्वं वाच्य, तथाच कारयितृत्व[3]श्रुतिविरोधः ।
[4]ईश्वरस्तावका वा सा श्रुतिरिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—एतामिति । यथा चन्दना[5]दिसामग्र्यां

अपेक्षा लोक में नहीं सिद्ध हो पाती है। कर्तृत्व क्लेशात्मक है, उसके साथ यदि जीव को ईश्वर
जोड़ता है तो ईश्वर में नैर्घृण्य दोष भी आ जायेगा । साथ ही, जीवों के कर्तृत्व का विधान करने वाले
ईश्वर में वैषम्य एवं विषमफलदातृत्व भी आ जायेगा । अतः जीव कर्म करने में ईश्वर को अपेक्षा नहीं
रखता । शङ्का—आप के ऐसे दोषों का परिहार 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' इस वाक्य से दिया जा
चुका है । समाधान—उत्तर दिया तो ठीक है, पर जीव के कर्मों की अपेक्षाकर ईश्वर विषम सृष्टि एवं
विषम फल का विधानकर्ता है, ऐसा सम्भव हो तो, ऐसी स्थिति में सापेक्षत्व नहीं रह जायेगा, क्योंकि
जीवों के धर्माधर्म रहने पर उनकी अपेक्षा से ईश्वर में वैषम्य आदि का वारण होगा और जीव में
कर्तृत्व सिद्ध होने पर वह कर्तृत्व ईश्वरसापेक्ष सिद्ध होगा, यह तो अन्योन्याश्रय दोषग्रस्त है । ऐसी
स्थिति में जीव में ईश्वरापेक्ष कर्तृत्व नहीं बनता है । साथ ही, जीव में अकृताभ्यागम दोष भी
आयेगा । यदि वह जीव ईश्वर से प्रेरित होकर शुभाशुभ कर्म करता हो तो जीव को बिना किये हुए
कर्म का फलभोग भी करना पड़ेगा । अतः जीव में स्वतन्त्र ही कर्तृत्व है, ईश्वरसापेक्ष नहीं है ।

सिद्धान्त—इस प्रकार प्राप्त पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति सूत्रस्थ 'तु' शब्द से करते हैं । अज्ञानावस्था में
कार्य-करणसंघात से पृथक् आत्मा को न समझने वाले अविद्यातिमिरान्ध जीव के कर्मों का अध्यक्ष,
सम्पूर्ण भूताधिवास, साक्षी, चैतन्य परमात्मा है; उसकी अनुज्ञा से जीव में कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप संसार

१. तत्सापेक्षकारयितृत्वमिति शेषः । २. कर्मफलस्वामिनः । ३. इति पूर्वपक्षः । ४. एकदेशिपक्षः ।
५. आदिना स्त्रगादयो ग्राह्याः ।

(२५८) कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥४२॥

सिद्धिः, तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति। कुतः ? तच्छ्रुतेः। यद्यपि रागादि–दोषप्रयुक्तः सामग्रीसम्पन्नश्च जीवः, यद्यपि च लोके कृष्यादिषु कर्मसु नेश्वरकारणत्वं प्रसिद्धं, तथापि सर्वास्वेव प्रवृत्तिष्वीश्वरो हेतुकर्तेति[1] श्रुतेरवसीयते[2]। तथाहि श्रुतिर्भवति–'एष ह्येव साधु कर्म कारयति यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौषी० ३-८) इति। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इति चैवंजातीयका ॥४१॥

नन्वेवमीश्वरस्य कारयितृत्वे सति वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामकृताभ्यागमश्च जीवस्येति। नेत्युच्यते—

तुशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः। कृतो य प्रयत्नो जीवस्य धर्माधर्मलक्षणस्तदपेक्ष एवैनमीश्वरः कारयति। ततश्चैते चोदिता दोषा न प्रसज्यन्ते। जीवकृतधर्माधर्म-वैषम्यापेक्ष एव तत्तत्फलानि विषमं विभजते पर्जन्यवदीश्वरो निमित्तत्वमात्रेण। यथा लोके

सत्यां धर्मव्यतिरेके सुखव्यतिरेकग्रहाभावेऽपि 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति' इत्यादिशास्त्रप्रामाण्यादेव धर्मस्य हेतुत्वसिद्धिः, एवमीश्वरस्यापि शास्त्रबलात्कारयितृत्वसिद्धिरिति भावः ॥४१॥

धर्माधर्माभ्यामेव फलवैषम्यसिद्धेरलमीश्वरेणेत्याशङ्क्य बीजैरेवाङ्कुरवैषम्यसिद्धेः पर्जन्यवैयर्थ्यं स्यात्। यदि 'विशेषहेतूनां साधारणहेत्वपेक्षत्वान्न वैयर्थ्यं तर्हि ईश्वरस्यापि साधारणहेतुत्वान्न वैयर्थ्यमित्याह—पर्जन्यवदिति। दृष्टान्तं विवृणोति—यथेति। अतिदीर्घवल्ली[4]प्रन्थयो गुच्छाः पुष्पस्तबका[5] वा, गुल्मास्तु ह्रस्ववल्ल्य[6] इति भेदः।

सिद्ध होता है और भगवत्कृपा के फलस्वरूप उत्पन्न विज्ञान द्वारा जीव के मोक्ष की सिद्धि होती है। ऐसी ही श्रुति भी है। यद्यपि रागादिदोषप्रयुक्त, सामग्रीसम्पन्न जीव है और यद्यपि लोक में कृष्यादि कर्मों में ईश्वरकारणत्व प्रसिद्ध नहीं है, तथापि सभी प्रवृत्तियों में ईश्वर ही प्रेरक है, ऐसा श्रुति से निश्चित होता है। 'यह परमेश्वर उस जीव से अच्छा कर्म करवाता है जिसे ऊपर उठाना चाहता है और यही परमेश्वर उस जीव से असाधु कर्म करवाता है जिसे नीचे गिराना चाहता है', 'जो आत्मा में स्थित है और आत्मा के भीतर रहकर उसका नियामक है' इन श्रुतियों ने ईश्वर को जीव के शुभाशुभ कर्मों में प्रेरक कहा है ॥४१॥

जीव के शुभाशुभ कर्मों में ईश्वर को प्रेरक मानोगे तो ईश्वर में वैषम्य एवं नैर्घृण्य दोष आ जायेंगे और जीव में अकृताभ्यागम दोष भी आयेगा, इस शङ्का का समाधान अग्रिम सूत्र से किया जायगा—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः (ललिता)

सूत्रस्थ 'तु' शब्द उक्त शङ्का की व्यावृत्ति के लिए है। जीव ने जो पहले धर्माधर्मरूप प्रयत्न किया था उसकी अपेक्षा करके ही ईश्वर उसे शुभाशुभ कर्मों में लगाता है, ऐसा मानने पर आप के द्वारा उत्थापित दोष सिद्धान्त पक्ष में नहीं आते। जीव के द्वारा किये गये धर्माधर्मवैषम्य की अपेक्षा करके ही उनके सुःख-दुःखादि विषम फल का विभाग ईश्वर करता है जो वर्षा की भाँति निमित्तकारण-

---

१. प्रयोजककर्ता २. निश्चीयते। ३. प्रत्यक्षादिनेति शेषः धर्मस्यातीन्द्रियत्वादिति भावः। ४. असाधारणहेतुनाम्। ५. कलिकादिभिराकीर्णास्ता इति ऊह्यम्। ६. विकाशोन्मुखकलिकास्तबकः।

नानाविधानां गुच्छगुल्मादीनां व्रीहियवादीनां चासाधारणेभ्यः स्वस्वबीजेभ्यो जायमानानां साधारणं निमित्तं भवति पर्जन्यः। नह्यसति पर्जन्ये रसपुष्पफलपलाशादिवैषम्यं तेषां जायते, नाप्यसत्सु स्वस्वबीजेषु, एवं जीवकृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वरस्तेषां शुभाशुभं विदध्यादिति श्लिष्यते।

ननु कृतप्रयत्नापेक्षत्वमेव जीवस्य परायत्ते कर्तृत्वे नोपपद्यते। नैष दोषः। परायत्तेऽपि हि कर्तृत्वे करोत्येव जीवः। कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति। अपिच पूर्वप्रयत्नमपेक्ष्येदानीं कारयति पूर्वतरं च प्रयत्नमपेक्ष्य पूर्वमकारयदित्यनादित्वात्संसारस्येत्यनवद्यम्। कथं पुनरवगम्यते कृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वर इति। विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य इत्याह। एवं हि 'स्वर्गकामो यजेत' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्येवंजातीयकस्य विहितस्य प्रतिषिद्धस्य चावैयर्थ्यं भवति। अन्यथा

किमीश्वरस्य कारयितृत्वे जीवस्य कर्तृत्वं न स्यादित्यापाद्यते उत चक्रकापत्तिर्वा। नाद्य इत्याह—नैष दोष इति। अध्यापकाधीनस्य बटोर्मुख्याध्ययनकर्तृत्वदर्शनादिति भावः। चक्रकं निरस्यति—अपिचेति। अनवद्यं जीवस्य कर्तृत्वमीश्वरस्य कारयितृत्वं चेति शेषः। ईश्वरस्य सापेक्षत्वे विध्यादिशास्त्रप्रामाण्यान्यथानुपपत्तिं प्रमाणयति—कथमित्यादिना। एवं सापेक्षत्वे सत्यवैयर्थ्यं भवति,

---

मात्र है। जिस प्रकार लोक में दीर्घ वल्ली, ग्रन्थिरूप गुच्छे अथवा ह्रस्व वल्ली वाले गुल्म जो नाना प्रकार के होते हैं, ऐसे ही व्रीहियवादि धान्य भी नाना प्रकार के देखे जाते हैं; वे अपने-अपने असाधारण बीज से उत्पन्न होते हैं, वर्षा तो उनका साधारणनिमित्तकारण है। पर यह सर्वथा सत्य है कि वर्षा न होने पर रस, पुष्प, फल, पलाशादि विषमता उनमें उत्पन्न नहीं होती। वैसे ही अपने-अपने बीज के न रहने पर भी पूर्वोक्त वैषम्य उत्पन्न नहीं होता, किन्तु उस वैषम्य का उपादान कारण बीज है और वर्षा तो निमित्त कारण है। ऐसे ही जीव के किये हुए प्रयत्न की अपेक्षा रखकर ईश्वर उनसे शुभाशुभ कर्म करायेगा, ऐसा कहना युक्तियुक्त है।

शङ्का—जीव में कर्तृत्व ईश्वराधीन मानने पर कृतप्रयत्नापेक्षत्व ही सिद्ध नहीं होगा क्योंकि उस समय जीव का प्रयत्न ईश्वराधीन ही तो है और जीव के प्रयत्न को अपेक्षाकर ईश्वर यदि उसे प्रेरणा देता हो तो चक्रकापत्तिरूप दोष भी आने लग जायेगा। समाधान—यह कोई दोष नहीं है। जीव के कर्तृत्व को ईश्वराधीन मानने पर भी कर्म करने वाला तो जीव ही है, उस कर्म करने वाले जीव से ईश्वर करवाता है। पूर्वप्रयत्न की अपेक्षा करके आज परमेश्वर जीव से कर्म करवाता है और उससे भी पूर्वप्रयत्न की अपेक्षाकर परमेश्वर ने पहले जीव से कर्म करवाया था, इस प्रकार संसार को अनादि मानने से चक्रकापत्तिरूप दोष भी नहीं है। शङ्का— जीव के किये हुए पूर्वप्रयत्न की अपेक्षाकर ईश्वर सदा जीव से कर्म करवाता है, ऐसा किस आधार पर आप मानते हैं। समाधान—इस शङ्का का समाधान 'विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' इत्यादि वाक्य द्वारा सूत्रकार ने दिया है अर्थात् पूर्वोक्त सिद्धान्त मानने पर 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य द्वारा विहित स्वर्ग का साधन याग एवं 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इस वाक्य द्वारा ब्राह्मणहनननिषेध व्यर्थ नहीं होते हैं, अन्यथा ये दोनों अनर्थक होने लग

१७. अंशाधिकरणम् (सू० ४३–५३)

किं जीवेश्वरसांकर्यं व्यवस्था वा श्रुतिद्वयात् । अभेदभेदविषयात्सांकर्यं न निवार्यते ॥
अंशोऽवच्छिन्न आभास इत्यौपाधिककल्पनैः । जीवेशयोर्व्यवस्था स्याज्जीवानां च परस्परम् ॥

तदनर्थकं स्यात् । ईश्वर एव विधिप्रतिषेधयोर्नियुज्येत । अत्यन्तपरतन्त्रत्वाज्जीवस्य । तथा विहितकारिणमप्यनर्थेन संसृजेत्प्रतिषिद्धकारिणमप्यर्थेन । ततश्च प्रामाण्यं वेदस्यास्तमियात् । ईश्वरस्य चात्यन्तानपेक्षत्वे लौकिकस्यापि पुरुषकारस्य वैयर्थ्यं तथा देशकालनिमित्तानां पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गश्चेत्येवंजातीयकं दोषजातमादिग्रहणेन दर्शयति ॥४२॥

अन्यथानपेक्षत्वे वैयर्थ्यं प्रपञ्चयति—ईश्वर इति । तयोः स्थाने स एव नियुज्येत अभिषिच्येत । तयोः कार्यं स एव कुर्यादिति यावत् । तथाच जीवस्य निरपेक्षेश्वरपरतन्त्रत्वाद्विध्यादिशास्त्रमकिंचित्करमनर्थकं स्यादिति संबन्धः । पुरुषकारः प्रयत्नः । आदिशब्दार्थमाह—तथेति । पूर्वोक्तदोषोऽकृताभ्यागमादिः । तस्मात् कर्मसापेक्षेश्वरस्य कारयितृत्वात् 'एष ह्येव' इत्यादिश्रुतेर्विध्यादिश्रुत्यविरोध इति सिद्धम् ॥ ४२ ॥

जायेंगे । उस स्थिति में जीव को विधि एवं निषेध में ईश्वर ही नियुक्त करेगा क्योंकि जीव ईश्वर के अत्यन्त परतन्त्र है । वैसे ही, सर्वथा स्वतन्त्र परमात्मा विहित कर्म करने वाले को भी अनर्थ फल के साथ जोड़ेगा और निषिद्ध कर्म करने वाले को अच्छे फल के साथ जोड़ डालेगा; ऐसी स्थिति में वेदनिष्ठ-प्रामाण्य समाप्त हो जायेगा । तथा ईश्वर को पुरुष प्रयत्न की सर्वथा अपेक्षा न करने वाला मानने पर लौकिक पुरुष प्रयत्न भी व्यर्थ होने लग जायेगा । उसी प्रकार देश-काल निमित्त में भी पूर्वोक्त दोष-प्रसङ्ग आयेगा, इन सभी दोषसमुदाय को सूत्रस्थ 'आदि' पद से दिखलाते हैं । अतः परमेश्वराधीन कर्तृत्वबोधक विधि-प्रतिषेधादि शास्त्र के साथ 'ईश्वर ही कर्म में प्रवर्तक है' इस श्रुति का कोई विरोध नहीं है ॥४२॥

१७. अंशाधिकरण

१. **सङ्गति**—पूर्व अधिकरण द्वारा जीवात्मा में नित्यत्व आदि बतलाने के बाद अब इस अधिकरण द्वारा ब्रह्माभेदयोग्य जीव में तदैक्य बतलाने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. **विषय**—जीव-ईश्वर के भेदाभेद का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—जीव और ईश्वर का साङ्कर्य है अथवा व्यवस्था है ?

४. **पूर्वपक्ष**—भेद और अभेदबोधक श्रुतियों को देखते हुए जीव और ईश्वर के साङ्कर्य का वारणकर व्यवस्थित करना सम्भव नहीं है ।

५. **सिद्धान्त**—जीव ब्रह्म का अंश है, अवच्छिन्न है और आभास है; इस प्रकार औपाधिक कल्पना मानकर जीव और ईश्वर की एवं जीवों की भी परस्पर व्यवस्था सम्भव हो जाती है । अतः जीव-ईश अथवा जीवों के परस्पर साङ्कर्य का आग्रह दुराग्रह ही है ।

(२५६) अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥४३॥

जीवेश्वरयोरुपकार्योपकारकभाव उक्तः । स च 'संबद्धयोरेव लोके दृष्टो यथा स्वामिभृत्ययोर्यथा वाऽग्निविस्फुलिङ्गयोः । ततश्च जीवेश्वरयोरप्युपकार्योपकारकभावाभ्युपगमात्किं स्वामिभृत्यवत्संबन्ध आहोस्विदग्निविस्फुलिङ्गवदित्यस्यां विचिकित्सायामनियमो वा प्राप्नोति । अथवा स्वामिभृत्यप्रकारेष्वेवेशित्रीशितव्यभावस्य प्रसिद्धत्वात्तद्विध एव संबन्ध इति प्राप्नोति । अतो ब्रवीत्यंश इति ।

जीव ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति, यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गः । अंश इवांशो नहि निरवयवस्य मुख्योंऽशः संभवति। 'कस्मात्पुनर्निरवयवत्वात्स एव न भवति। 'नानाव्यपदेशात् । 'सोऽन्वेष्टव्यः' स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८-७-१), 'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति', 'य आत्मनि

अंश-एको नित्यः स्वप्रकाशोऽनणुरकर्ता जीव' इति 'शोधितत्वंपदार्थस्यात्र ब्रह्मैक्यसाधनेन भेदाभेदश्रुतीनां विरोधसमाधानात्पादसंगतिः । पूर्वपक्षे प्रत्यगभिन्नब्रह्मासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः पूर्वोक्तोपकार्योपकारकभावा'क्षिप्तं जीवेशयोः संबन्धं विषयीकृत्य द्विविधदृष्टान्तदर्शनात्संशयमाह—ततश्चेति । प्रसिद्धस्वस्वामित्वसंबन्धसंभवाद्यः कश्चित् संबन्ध इत्यनियमो न युक्त इत्यरुचेराह—अथवेति । अनेन 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धभेदकोटिर्दर्शिता । एवं तत्त्वमसीत्यादिश्रुतिसिद्धाऽभेदकोटिर्द्रष्टव्या, तथाच भेदाभेदश्रुतीनां समबलत्वाद्विरोधे सति संबन्धानिश्चयात्संबन्धापेक्षस्य पूर्वोक्तोपकार्योपकारकभावस्यासिद्धिरित्याक्षेपात्संगतिः । लोकसिद्धानर्थात्मकभेदानुवादित्वेन भेदश्रुतीनां दुर्बलत्वादज्ञातफलवदभेदश्रुत्यनुसारेण प्रकल्पितभेदनिबन्धनोंऽशांशिभावः संबन्ध इति सिद्धान्तयति—अत इत्यादिना ।

अग्नेः सांशत्वेऽपि 'निष्कलेश्वरस्य कथं सांशत्वमत आह—अंश इवेति । जीव इत्यनुषङ्गः । भेद

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके (ललिता)

जीव-ईश्वर में उपकार्य उपकारक भाव जो पिछले अधिकरण में बतलाया गया है, वह सम्बद्ध पदार्थों में ही लौकिक उक्त भाव में देखा गया है । जिस प्रकार परस्पर सम्बद्ध स्वामी और भृत्य में तथा जैसे सम्बद्ध अग्नि और विस्फुलिङ्ग में उपकार्य-उपकारक भाव देखा गया है वैसे ही जीव-ईश्वर में भी उपकार्य-उपकारकभाव मानने पर यह संशय होता है कि स्वामी-भृत्य की भाँति उक्त सम्बन्ध है अथवा अग्नि-विस्फुलिङ्ग की भाँति ? ऐसा संशय होने पर नियमाभाव ही प्राप्त होता है अथवा ईशिता-ईशितव्यभाव स्वामी-भृत्य में ही प्रसिद्ध होने के कारण वैसा ही सम्बन्ध यहाँ मानना चाहिए।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि जीव ईश्वर का अंश वैसा ही है जैसा अग्नि का अंश विस्फुलिङ्ग है । निरवयव चेतन का मुख्य अंश तो सम्भव ही नहीं है, इसीलिए अंश की भाँति होने से उसे अंश कहते हैं । पूर्ववादी—निरवयव होने के कारण अंश क्यों नहीं हो सकता ? सिद्धान्ती—क्योंकि 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः', 'इस आत्मा को जानकर ही मुनि होता है', 'जो आत्मा में

---

१. किंचित्सम्बन्धविशिष्टयोः । २ पूर्ववाद्याह । ३ मुख्योऽमुख्यो वांश एव न सम्भवति । ४ सिद्धान्ती । ५. 'न वियदश्रुतेरित्यारभ्य अन्तरा विज्ञानमनसीत्यन्तेन ग्रन्थेन भूतश्रुतीनां विरोधनिरसन द्वारा तत्पदार्थः शोधितः चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यादित्यारभ्य कृतप्रयत्नापेक्षस्त्वित्यन्तेन ग्रन्थेन जीवश्रुतीनां विरोधनिरसनद्वारा त्वम् पदार्थः शोधितोऽत्राधिकरणे तयोरैक्यं साध्यते । ६. येन विनेति न्यायात् । ७. निरवयव ।

तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इति चैवंजातीयको भेदनिर्देशो नासति भेदे युज्यते। ननु चायं नानाव्यपदेशः सुतरां स्वामिभृत्य[1]सारूप्ये युज्यत इत्यत आह—अन्यथा चापीति। न च नानाव्यपदेशादेव केवलादंशत्वप्रतिपत्तिः। किं तर्ह्यन्यथा चापि व्यपदेशो भवत्यनानात्वस्य प्रतिपादकः। तथाहि—एके शाखिनो दाशकितवादिभावं ब्रह्मण आमनन्त्याथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते—'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः' इत्यादिना। [2]दाशा य एते कैवर्ताः प्रसिद्धाः, ये चामी दासाः स्वामिष्वात्मानमु[3]पक्षपयन्ति, ये चान्ये कितवा द्यूतकृतस्ते सर्वे ब्रह्मैवेति हीनजन्तूदाहरणेन सर्वेषामेव नामरूपकृतकार्यकरणसंघातप्रविष्टानां जीवानां ब्रह्मत्वमाह। तथान्यत्रापि ब्रह्मप्रक्रियायामेवायमर्थः प्रपञ्च्यते—'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' (श्वे० ४-३) इति। 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' इति च। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३-७-२३) इत्यादिश्रुतिभ्यश्चास्यार्थस्य सिद्धिः। चैतन्यं चाविशिष्टं जीवेश्वरयोर्यथाऽग्निविस्फुलिङ्गयोरौष्ण्यम्। अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः ॥४३॥

एव चेत्स्वस्वामिभावो युक्तो नांशांशिभाव इति शङ्कते—ननु चेति। अभेदस्यापि सत्त्वादंशांशिभाव इत्याह—अत इति। वञ्चसि गच्छसि यदास्ते यो नामरूपे निर्माय प्रविश्य व्यवहरन्वर्तते तं विद्वानमृतो भवतीति श्रुत्यर्थः। श्रुतिसिद्धाभेदे युक्तिमाह—चैतन्यं चेति। जीवो ब्रह्मैव चेतनत्वात् ब्रह्मवदित्यर्थः ॥४३॥

स्थित है और भीतर रहकर आत्मा का नियामक है' इस प्रकार का भेदनिर्देश भेद न रहने पर युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। शङ्का—यह भेदनिर्देश स्वामी एवं भृत्य के सारूप्य में ही युक्तियुक्त हो सकता है। समाधान—अन्य प्रकार से भी यह भेद सम्भव होता है। केवल भेदनिर्देश के कारण ही अंशत्व का बोध नहीं होता किन्तु अभेदप्रतिपादक वाक्य भी मिलता है क्योंकि एक आथर्वणिक शाखावालों ने ब्रह्मसूत्र में 'ब्रह्म दाश है, ब्रह्म दास है और यह कितव भी ब्रह्म ही हैं' इस वाक्य द्वारा ब्रह्म का दास, कितवादि भाव भी बतलाया हैं। केवट अर्थ में दाश शब्द प्रसिद्ध है और स्वामी के लिए अपने को समर्पित करने वाले को दास कहते हैं, ऐसे ही द्यूत क्रीड़ा करने वाले को कितव कहते हैं; ये सब के सब ब्रह्म ही हैं। हीन प्राणियों के इस उदाहरण से नामरूपकृत कार्यकरणसंघात में प्रविष्ट सभी जीव में ब्रह्मत्व का बोध होता है। वैसे ही अन्य श्रुतियों में भी ब्रह्म के प्रकरण में ही यह विस्तार से देखा जाता है 'तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार हो और तुम्हीं कुमारी हो, तुम्हीं वृद्ध होने पर दण्ड के सहारे चलते हो और तुम सभी ओर मुखवाले उत्पन्न हुए हो', 'धीर पुरुष सभी रूपों का विचारकर उसे नाममात्र समझकर जब अद्वयभाव में स्थिर हो जाते हैं' 'उस ब्रह्म से भिन्न द्रष्टा नहीं है' इत्यादि श्रुतियों से इसी अर्थ की सिद्धि होती है। जैसे अग्नि और विस्फुलिङ्ग में उष्णता एक जैसी है, वैसे ही जीव और ईश्वर में चैतन्य भी एक जैसा है। अतः भेद एवं अभेद का बोध होने के कारण जीव में ईश्वर का अंशत्व जाना जाता है ॥४३॥

१. सम्बन्धे। २. कैवर्तेदाश धीवरावित्यमरः। कोशांतरे कर्णधारस्यापीदनाम। ३. समर्पयन्ति।

(२६०) मन्त्रवर्णाच्च ।।४४।।

(२६१) अपिच स्मर्यंते ।।४५।

कुतश्चांशत्वावगमः—

मन्त्रवर्णश्चैतमर्थमवगमयति 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि' (छा० ३-१२-६) इति । अत्र भूतशब्देन जीवप्रधानानि स्थावरजङ्गमानि निर्दिशति । 'अहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' इति प्रयोगात् । अंशः पादो भाग इत्यनर्थान्तरम् । तस्मादप्यंशत्वावगमः ।।४४।।

कुतश्चांशत्वावगमः –

ईश्वरगीतास्वपि चेश्वरांशत्वं जीवस्य स्मर्यते—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (१५-७) इति । तस्मादप्यंशत्वावगमः । यत्तूक्तं स्वामिभृत्यादिष्वेवेशित्रीशितव्यभावो लोके प्रसिद्ध इति । यद्यप्येषा लोके प्रसिद्धिस्तथापि शास्त्रात्त्वत्रांशांशित्वमीशि-

---

अस्य सहस्रशीर्षपुरुषस्य तावान्प्रपञ्चो महिमा विभूतिः पुरुषस्तस्मात्प्रपञ्चात् ज्यायान्महत्तरः । भूतानि देहिनो जीवा इत्यत्र नियामकमाह—अहिंसन्निति । तीर्थानि शास्त्रोक्तकर्माणि, तेभ्योऽन्यत्र सर्वप्राणिहिंसामकुर्वन्ब्रह्मलोकमाप्नोतीत्यर्थः । अत्र भूतशब्दस्य प्राणिषु प्रयोगात्सूत्रोक्तमन्त्रेऽपि तथेति भावः । भूतानां पादत्वेऽप्यंशत्वं कुतः, तत्राह—अंशः पाद इति ।।४४।।

जीवस्य पुरुषसूक्तमन्त्रोक्तभगवदंशत्वे भगवद्गीतामुदाहरति सूत्रकारः—अपिचेति । अत्यन्तभिन्नेशित्रीशितव्यभावप्रसिद्धेः ईशितव्यजीवस्य कथमीश्वरांशत्वमित्याशङ्क्य कल्पितमेदेनापीशितव्यत्वोपपत्तेः, अनन्यथासिद्धाभेदशास्त्रबलादंशत्वमित्याह—यत्त्वित्यादिना । औपाधिके ईश्वरस्य

जीव में ईश्वरांशत्व है । इस बात को अग्रिम सूत्र से भी समझाते हैं—

मन्त्रवर्णाच्च (ललिता)

'इतनी तो इस सहस्रशीर्ष पुरुष की विभूति है, वह पुरुष तो इस प्रपञ्च से भी बड़ा है, इसके एक पाद (अंश) में सभी भूत हैं और इसके तीन पाद दिव्य अमृत है' इस मन्त्रवर्ण से भी जीव में ईश्वरांशत्व का बोध होता है । इस मन्त्र में भूत शब्द से जीवप्रधान स्थावर-जङ्गम प्राणियों का निर्देश किया गया है । ऐसा ही प्रयोग 'शास्त्रोक्त कर्मस्थल को छोड़कर अन्यत्र सभी भूतों की हिंसा न करे' इन वाक्यों में भी देखा जाता है । अंश, पाद और भाग ये सब समानार्थक हैं । इससे भी जीव में ईश्वरांशत्व का बोध होता है ।।४४।।

जीव में ईश्वरांशत्व का बोध किस अन्य प्रमाण से होता है, इसका उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं कि—

अपिच स्मर्यंते (ललिता)

'देह में मेरा ही अंश सनातन जीव है' इस वाक्य द्वारा भगवद्गीता में भी जीव में ईश्वरांशत्व का स्मरण होता है, इसलिए भी जीव को ईश्वर का अंश समझना चाहिए । और जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि लोक में स्वामी और भृत्य में ही ईशिता-ईशितव्यभाव प्रसिद्ध है वैसा ही यहाँ भी होना चाहिए, उस पर हम सिद्धान्ती का कहना है कि यद्यपि लोक में ऐसी प्रसिद्धि है फिर भी शास्त्रबल से यहाँ पर अंशा-

(२६३) प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥४६॥

त्रीशितव्यभावश्च निश्चीयते । निरतिशयोपाधिसम्पन्नश्चेश्वरो निहीनोपाधिसम्पन्नाञ्जीवान्प्रशास्तीति न किंचिद्विप्रतिषिध्यते ॥४५॥

अत्राह—ननु जीवस्येश्वरांशत्वाभ्युपगमे तदीयेन संसारदुःखोपभोगेनांशिन ईश्वरस्यापि दुःखित्वं स्यात् । यथा लोके हस्तपादाद्यन्यतमाङ्गगतेन दुःखेनाङ्गिनो देवदत्तस्य दुःखित्वं तद्वत् । ततश्च 'तत्प्राप्तानां महत्तरं दुःखं प्राप्नुयात् । अतो वरं पूर्वावस्थः संसार एवास्त्विति सम्यग्दर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः स्यादिति । अत्रोच्यते—

यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवं पर ईश्वरोऽनुभवतीति प्रतिजानीमहे । जीवो ह्यविद्यावेशवशा द्देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते । नैवं परमेश्वरस्य देहाद्यात्मभावो दुःखाभिमानो वास्ति । जीवस्याप्यविद्याकृतनामरूपनिर्वृत्तदेहेन्द्रियाद्युपाध्यविवेकभ्रमनिमित्त एव दुःखाभिमानो न तु पारमा-

नियन्तृत्वे जीव एव तन्नियन्ता किं न स्यादित्यत आह—निरतिशयेति । नितरां हीनः शरीराद्युपाधिः, आज्ञानिकोपाधितारतम्यादीशेशितव्यव्यवस्था, न वस्तुतः । तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—'ईशेशितव्यसंबन्धः प्रत्यगज्ञानहेतुजः । सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः ॥' इति ॥४५॥

उत्तरसूत्रमवतारयति—अत्राहेति । ईश्वरः 'स्वांशदुःखैर्दुःखी अंशित्वात्, देवदत्तवदित्यर्थः । ततः किं, तत्राह—ततश्चेति । ज्ञानात्'सर्वांशदुःखसमष्टिप्राप्त्यपेक्षया संसारो वरं तत्र स्वदुःखमात्रानुभवादित्यर्थः । नैवंपर इति प्रतिज्ञां विभजते—यथा जीव इति । देवदत्तदृष्टान्ते भ्रान्तिकामकर्मरूपदुःखसामग्रीमत्त्वमुपाधिः, तदभावान्नेश्वरस्य दुःखित्वप्राप्तिः । उक्तं चैतदभेदेऽपि बिम्बप्रतिबिम्बयोर्धर्मव्यवस्थेति भावः । दुःखस्य भ्रान्तिकृतत्वं प्रपञ्चयति—जीवस्यापीत्यादिना । भ्रान्तौ सत्यां दुःखमित्य-

शित्व एवं ईशिता-ईशितव्य भाव का निश्चय होता है, जो सर्वोत्कृष्ट उपाधियुक्त चैतन्य ईश्वर है वह शरीरादिहीनउपाधियुक्त जीव पर शासन करता है, ऐसा मान लेने पर कोई विरोध नहीं है ॥४५॥

शङ्का—जीव को ईश्वर का अंश मानने पर जीव के संसारदुःखोपभोग से अंशी ईश्वर में भी दुःख होने लग जायेगा । ऐसा ही लोक में हस्तपादादि किसी एक अङ्ग में दुःख होने पर अङ्गी देवदत्त को दुःखी होते देखा गया है, वैसे ही जीवों के दुःख से ईश्वर भी दुःखी होने लग जायेगा । इस प्रकार ईश्वर को प्राप्त हुए जीवों को महत्तर दुःख का अनुभव करना पड़ेगा । इससे अच्छा पूर्ववर्ती संसार ही था, तत्त्वज्ञान तो अनर्थ का कारण बन गया; ऐसी शङ्का होने पर सिद्धान्ती की ओर से अग्रिम सूत्र कहा जाता है कि—

प्रकाशादिवन्नैवं परः (ललिता)

जैसे जीव संसारदुःख का अनुभव करता है वैसा ईश्वर संसारदुःख का अनुभव नहीं करता है, ऐसी प्रतिज्ञा हम करते हैं । जीव भी अविद्या के कारण जब देहादि में आत्मभाव प्राप्त कर लेता है तब, उसके दुःख से मैं दुःखी हूँ, ऐसा मानता है । अतः उसमें दुःखोपभोग आविद्यक है । किन्तु परमेश्वर को देहादि में आत्मभाव नहीं है और न दुःखाभिमान ही है । स्मरण रहे कि अविद्याकृत नामरूप से उत्पन्न देह-इन्द्रिय आदि उपाधि में अविवेक से उत्पन्न हुए भ्रम के कारण ही जीव को दुःख

१. ईश्वर । २. देहोऽहमित्यात्मकम् । ३. स्वांशाजीवास्तदीयैर्दुःखैः । ४. सर्वजीव दुःख ।

थिकोऽस्ति । यथा च स्वदेहगतदाहच्छेदादिनिमित्तं दुःखं तदभिमानभ्रान्त्यानुभवति तथा पुत्रमित्रादिगोचरमपि दुःखं तदभिमानभ्रान्त्यैवानुभवत्यहमेव पुत्रोऽहमेव मित्रमित्येवं स्नेहवशेन पुत्रमित्रादिष्वभिनिविशमानः । ततश्च निश्चितमेतदवगम्यते––मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभव इति । व्यतिरेकदर्शनाच्चैवमवगम्यते । तथाहि–पुत्रमित्रादिमत्सु बहुषूपविष्टेषु तत्संबन्धाभिमानिष्वितरेषु च पुत्रो मृतो मित्रं मृतमित्येवमाद्युद्घोषिते येषामेव पुत्रमित्रादिमत्त्वाभिमानस्तेषामेव तन्निमित्तं दुःखमुत्पद्यते नाभिमानहीनानां परिव्राजकादीनाम् । अतश्च लौकिकस्यापि पुंसः सम्यग्दर्शनार्थवत्त्वं दृष्टं, किमुत विषयशून्यादात्मनोऽन्यद्वस्त्वन्तरमपश्यतो नित्यचैतन्यमात्रस्वरूपस्येति[1] । तस्मान्नास्ति सम्यग्दर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः । प्रकाशादिवदिति निदर्शनोपन्यासः[2] । यथा प्रकाशः सौर्यश्चान्द्रमसो वा वियद्व्याप्यावतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसंबन्धात्तेष्वृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तत्तद्भावमिव प्रतिपद्यमानोऽपि न परमार्थतस्तद्भावं प्रतिपद्यते । यथा चाकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्निव विभाव्यमानोऽपि न परमार्थतो गच्छति, यथा चोदशरावादिकम्पनात्तद्गते सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमानेऽपि न [3]तद्वान्सूर्यः कम्पते, एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युपाध्युपहिते

न्वयमुक्त्वा भ्रान्त्यभावे दुःखाभावदर्शनाच्च भ्रान्तिकृतं दुःखमिति निश्चीयत इत्याह—व्यतिरेकेति । इतरेष्वभिमानशून्येष्वित्यर्थः । जीवस्यापि सम्यग्ज्ञाने दुःखाभावो दृष्टः किमु वाच्यं नित्यसर्वज्ञेश्वरस्येत्याह—अतश्चेति । एवमंशित्वे हेतोः सोपाधिकत्वमुक्त्वा योंऽशी स वस्तुतः स्वांशधर्मवानिति व्याप्तिं स्थलत्रये व्यभिचारयति—प्रकाशादिवदिति । वस्तुतः स्वांशदुःखित्वसाध्यस्य देवदत्तदृष्टान्ते वैकल्य-

एवं दुःखाभिमान होता है, परमार्थतः दुःख उसमें भी नहीं है। जैसे अपने देह के दाह, छेदन आदि निमित्त को लेकर दुःख का अनुभव उसमें अभिमान की भ्रान्ति से होता है, वैसे ही पुत्र-मित्रादिनिष्ठ दुःख का अनुभव भी उसमें अभिमान की भ्रान्ति से ही होता है। मैं ही पुत्र हूँ, मैं ही मित्र हूँ, ऐसा स्नेह के कारण पुत्र-मित्रादि में संसारी जीव अभिनिवेश कर बैठता है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि दुःखानुभव मिथ्याभिमानजनित भ्रान्तिनिमित्त को लेकर ही होता है, अभिमानशून्य अन्य व्यक्तियों में उसका अभाव दीख पड़ता है। वैसे ही पुत्रमित्रादि परिवार से युक्त उनमें सम्बन्ध एवं अभिमान रखने वाले अनेक व्यक्ति जहाँ बैठे रहते हैं ऐसे स्थल पर पुत्र मर गया, मित्र मर गया ऐसा उद्घोष होने पर जिन व्यक्तियों को पुत्रमित्रादिमत्वाभिमान है उन्हीं को तन्निमित्तक दुःख उत्पन्न होता है, अभिमानशून्य संन्यासियों को वहाँ पर कोई नहीं होता। अतः लौकिक पुरुष में भी जब तत्त्वज्ञान सार्थक देखा गया है तब विषयसंसर्गशून्य, आत्मा से भिन्न वस्तु को न देखने वाले नित्यचैतन्यमात्रस्वरूप में स्थित ईश्वर के विषय में कहना ही क्या है। अतः तत्त्वज्ञान व्यर्थ नहीं है, प्रकाशादिवत्; यह दृष्टान्त सूत्र में दिया गया है। जैसे सूर्य या चन्द्र का प्रकाश आकाश में व्याप्त होकर रहता है और अंगुली आदि उपाधि के साथ सम्बन्ध हो जाने के कारण उनमें ऋजु एवं वक्रादिभाव दिखने लग जाते हैं, उस समय ऋजु-वक्रादि भाव को प्राप्त हुआ भी वह प्रकाश वस्तुतः वैसा नहीं हो जाता। और जैसे जल से भरे घटादि जलपात्र के हिलने से तद्गत सूर्य प्रतिबिम्ब के हिलने पर भी उसका बिम्बभूत सूर्य नहीं हिलता है ऐसे ही अविद्याप्रत्युपस्थापित बुद्धि

१. ईश्वरस्येति शेषः । २. दृष्टान्त । ३. प्रतिबिंबाश्रयांशवानंशी सूर्यः ।

(२६३) स्मरन्ति च ॥ ४७॥

जीवाख्येंऽशे दुःखायमानेऽपि न तद्वानीश्वरो दुःखायते। जीवस्यापि तु दुःखप्राप्तिरविद्यानिमित्तैवेत्युक्तम्। तथाचाविद्यानिमित्तजीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः 'तत्त्वमसि' इत्येवमादयः। तस्मान्नास्ति जैवेन दुःखेन परमात्मनो दुःखित्वप्रसङ्गः ॥४६॥

स्मरन्ति च व्यासादयो यथा जैवेन दुःखेन न परमात्मा दुःखायत इति। 'तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा। कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते। स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः' इति। चशब्दात्समामनन्ति चेति वाक्यशेषः। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (श्वे० ४-६) इति। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' (कठ० ५-११) इति च ॥४७॥

मप्याह—जीवस्येति। कल्पितदुःखित्वसाध्यं तु भ्रान्त्याद्यभावादीश्वरे नास्तीत्युक्तम्। किंच जीवस्येश्वरस्य वा वस्तुतो दुःखित्वानुमानं न युक्तमागमबाधादित्याह—तथाचेति। दुःखित्वे तद्भावोपदेशो न स्यादित्यर्थः ॥४६॥

स्मृत्याप्यनुमानं बाध्यमित्याह—स्मरन्ति चेति। सूत्रं व्याचष्टे—स्मरन्तीति। तत्र जीवपरयोर्मध्ये कर्मात्मा कर्माश्रयो जीवः। दशेन्द्रियाणि पञ्च प्राणाः मनोबुद्धिश्चेति सप्तदशसंख्याको राशिर्लिङ्गम्। सूत्रे चशब्दः श्रुतिसमुच्चयार्थं इत्याह—चशब्दादिति। यथाऽऽदित्यः प्रकाश्यदोषैर्न लिप्यते तथेत्यर्थः। यतो बाह्योऽसङ्गस्तस्मान्न लिप्यते ॥४७॥

आदि उपाधि से उपहित ईश्वरांश जीव के दुःखी होने पर भी उसका बिम्बभूत ईश्वर दुःखी नहीं होता। इससे जीव में भी अविद्या के कारण ही दुःख की प्राप्ति कही गयी है। वैसे ही अविद्यानिमित्तक जीवभाव के मिट जाने पर जीव को ब्रह्मभाव की प्राप्ति 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियाँ बतलाती हैं। अतः जीव के दुःख से परमात्मा में दुःखित्व का प्रसङ्ग नहीं आता है, यह निश्चित हो गया ॥४६॥

स्मरन्ति च (ललिता)

स्मृति से भी अनुमान का बाध कर देना चाहिए, ऐसा अग्रिम सूत्र से कहते हैं—

जैसे जीव के दुःख से परमात्मा दुःखी नहीं होता है, ऐसा व्यासादि कहते हैं। महाभारत में कहा है कि 'जीव और ईश्वर के मध्य जो परमात्मा है वह नित्य निर्गुण कहा गया है, जैसे जल से कमल-पत्र लिप्त नहीं होता वैसे ही फल से वह परमेश्वर भी लिप्त नहीं होता। किन्तु जो दूसरा कर्म का आश्रय जीव है वह मोक्ष और बन्ध से युक्त होता है और वही सत्रह तत्वों वाले लिङ्गशरीर के साथ भी दीखता है।' सूत्रस्थ 'च' शब्द से श्रुति का समुच्चय कर लेना चाहिए अर्थात् श्रुतियाँ भी 'इन दोनों में से एक जीव स्वादिष्ट फल को चखता है और दूसरा परमात्मा कर्मफलभोग न करता हुआ उसे सभी ओर से प्रकाशता है' 'सूर्य की भाँति सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा एक है, वह लोकदुःख से लिप्त नहीं होता किन्तु बाहर ही रहता है' ऐसा ही कहती हैं ॥४७॥

अत्राह—यदि तर्ह्येक एव सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा स्यात्कथमनुज्ञापरिहारौ[1] स्यातां लौकिकौ वैदिकौ चेति । ननु चांशो जीव ईश्वरस्येत्युक्तम् । तद्भेदाच्चानुज्ञापरिहारौ तदाश्रयावव्यतिकीर्णावुपपद्येते किमत्र चोद्यत इति । उच्यते—नैतदेवम् । अनंशत्वमपि हि जीवस्याभेदवादिन्यः श्रुतयः प्रतिपादयन्ति—'तत्सृष्ट्वा—तदेवानुप्राविशत्' (तै० २-६-१), 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३-७-२३), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४-४-१९), 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १-४-१०) इत्येवंजातीयकाः । ननु भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वं सिध्यतीत्युक्तम् । स्यादेतदेवं यद्युभावपि भेदाभेदौ प्रतिपिपादयिषितौ स्याताम्, अभेद एव त्वत्र प्रतिपिपादयिषितो ब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तौ पुरुषार्थसिद्धेः । स्वभावप्राप्तस्तु भेदोऽनूद्यते । नच निरवयवस्य ब्रह्मणो मुख्योंऽशो जीवः संभवतीत्युक्तम् । तस्मात्पर एवैकः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा जीवभावेनावस्थित इत्यतो वक्तव्याऽनुज्ञापरिहारोपपत्तिः

तां ब्रूमः—

एवमंशित्वकृतमीश्वरे दोषं निरस्यांश इत्युक्तं जीवस्यांशत्वं देहाद्युपाधिकमिति स्फुटयितुमत्यन्तस्वरूपैक्यमादायाक्षिपति—अत्राहेत्यादिना । कथं तर्हि इत्यन्वयः । तद्भेदादंशभेदात् । निरवयवब्रह्मणो मुख्यांशो न संभवतीति वदता सिद्धान्तिना भेदो नास्तीत्युक्तं भवति, भेदाभावे चांशांशित्वाभावादनुज्ञादिभेदव्यवहारानुपपत्तिरित्याक्षेपाभिप्रायः । न वयं भेदस्यासत्त्वं नरशृङ्गवद् ब्रूमः, किंतु मिथ्यात्वं वदामः । तथा च देहाद्युपाधिभेदेनांशजीवानामाब्रह्मबोधात्कल्पितभेदाद् भेदव्यवहारोपपत्तिरिति सूत्रेण समाधत्ते—तामित्यादिना ।

इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि जब सम्पूर्ण भूतों की अन्तरात्मा एक ही है तो फिर लौकिक और वैदिक विधि-निषेध कैसे हो सकेंगे । शङ्का—जीव ईश्वर का अंश है, ऐसा कहा जा चुका है; उसके भेद से अनुज्ञा और परिहार एवं तदाश्रित असांकर्य भी बन जायेगा, इस सम्बन्ध में शङ्का क्यों करते हो ? पूर्वपक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि 'उसकी सृष्टिकर उसी में प्रविष्ट हो गया', 'परमेश्वर से भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है', 'जो भेद देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है', 'वही तू है' 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अभेदवादी श्रुतियाँ परमेश्वर का अंशत्वाभाव भी जीव में बतलाती हैं । शङ्का—भेद एवं अभेद के बोध से अंशत्व सिद्ध होता है, ऐसा हम कह आये हैं । पूर्वपक्ष—ऐसा कहना सम्भव था यदि भेद और अभेद दोनों बतलाने अभीष्ट होते, किन्तु श्रुति को अभेदप्रतिपादन करना ही इष्ट है क्योंकि ब्रह्मात्मैक्य बोध हो जाने पर मोक्ष मिलता है । भेद स्वभावतः प्राप्त है जिसका अनुवाद श्रुति ने किया है । यह भी स्मरण रहे कि निरवयव ब्रह्म का मुख्य अंश जीव हो नहीं सकता, ऐसा हम पहले कह आये हैं । अतः सभी भूतों की अन्तरात्मा परमात्मा एक ही है, वही सबमें जीवभाव से बैठा है । ऐसी स्थिति में विधि-प्रतिषेध की सङ्गति आप को बतलानी पड़ेगी !

सिद्धान्ती—

---

१. विधिप्रतिषेधौ ।

(२६४) अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥४८॥

'ऋतौ भार्यामुपेयात्' इत्यनुज्ञा । 'गुर्वङ्गनां नोपगच्छेत्' इति परिहारः । तथा 'अग्नीषोमीयं पशुं संज्ञपयेत्' इत्यनुज्ञा । 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति परिहारः । एवं लोकेऽपि मित्रमुपसेवितव्यमित्यनुज्ञा । शत्रुः परिहर्तव्य इति परिहारः । एवंप्रकारावनुज्ञापरिहारावेकत्वेऽप्यात्मनो देहसंबन्धात्स्याताम् । देहैः संबन्धो देहसंबन्धः । कः पुनर्देहसंबन्धः । देहादिरयं संघातोऽहमेवेत्यात्मनि विपरीतप्रत्ययोत्पत्तिः । दृष्टा च सा सर्वप्राणिनामहं गच्छाम्यहमागच्छाम्यहमन्धोऽहमनन्धोऽहं मूढोऽहममूढ इतीत्येवमात्मिका । न ह्यस्याः सम्यग्दर्शनादन्यन्निवारकमस्ति । प्राक्तु सम्यग्दर्शनात्प्रततैषा[1] भ्रान्तिः सर्वजन्तुषु । तदेवमविद्यानिमित्तदेहाद्युपाधिसम्बन्धकृताद्विशेषादैकात्म्याभ्युपगमेऽप्यनुज्ञापरिहाराववकल्प्येते । सम्यग्दर्शिनस्तर्ह्यनुज्ञापरिहारानर्थक्यं प्राप्तम् । न । तस्य कृतार्थत्वान्नियोज्यत्वानुपपत्तेः । हेयोपादेययोर्हि नियोज्यो नियोक्तव्यः स्यात् । आत्मनस्त्वतिरिक्तं हेयमुपादेयं वा

ननु भ्रान्तेः कुतश्चिन्निवृत्तौ व्यवहारविच्छेदः स्यादित्यत आह—न ह्यस्या इत्यादिना । प्रतता संतता, विशेषो भेदः । अनियोज्यत्वाद्ब्रह्मविदः शास्त्रानर्थक्यमिष्टमित्याह— न तस्येति । नियोगविषयद्वैताभावादात्मन्यसाध्ये नियोगानुपपत्तेर्न ब्रह्मविन्नियोज्य इत्यर्थः । नन्वामुष्मिकफलहेतुके कर्मणि देहभिन्नात्मविवेकिन एवाधिकारो वाच्यः । तथाच ब्रह्मविन्नियोज्यः, विवेकित्वात्, कर्माधि-

---

अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धाज्ज्योतिरादिवत् (ललिता)

इस पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि ऋतु काल में 'भार्याभिगमन करे' ऐसी विधि, 'गुरुपत्नी का स्पर्श न करे' ऐसा निषेध, 'अग्निसोमीय पशु का आलभन करे' ऐसी विधि और 'किसी प्राणी की हिंसा न करे' ऐसा निषेध; ये सब देहसम्बन्ध को लेकर बन जायेंगे। ऐसे ही लोक में भी, मित्र के पास बैठो-यह विधि, शत्रु से दूर रहो-यह निषेध; ये सब के सब एकात्मवाद पक्ष में भी देहसम्बन्ध के कारण विधि-निषेध बन जायेंगे। एक ही चेतन आत्मा के देहों के साथ सम्बन्ध को 'देहसम्बन्ध' पद से सूत्रकार ने कहा है। वह आखिर है क्या ? यह देहादि संघात मैं ही हूँ, इस प्रकार आत्मा में जो विपरीत प्रत्यय की उत्पत्ति है वह भ्रान्ति ही देहसम्बन्ध है, जो सभी प्राणियों में—मैं जाता हूँ, मैं आता हूँ, मैं अन्धा हूँ, मैं अन्धा नहीं हूँ, मैं मूढ़ हूँ, मैं अमूढ़ हूँ,—इन व्यवहारों में देखी गयी है। इस भ्रान्ति का निवारक तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त अन्य साधन नहीं है, तत्त्वज्ञान से पूर्व सभी प्राणियों में यह भ्रान्ति फैली हुई है। इस प्रकार अविद्यानिमित्तक देहादि उपाधिसम्बन्ध के कारण जो भेद भासता है उसी से जीव-ब्रह्म को अभिन्न मानने पर भी विधि-निषेध बन जायेंगे। पूर्वपक्ष—तब तो तत्त्वज्ञानी के लिए विधि-निषेध व्यर्थ हो गया। सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं। कृतार्थ हो जाने के कारण तत्त्वज्ञानी में नियोज्यत्व नहीं रह जाता, क्योंकि हेय और उपादेय में जो नियोज्य है उसी को नियुक्त किया जा सकता है, किन्तु आत्मा से भिन्न हेय अथवा उपादेय वस्तु को न देखने वाला तत्त्वज्ञ पुरुष कैसे

---

१. व्याप्ता ।

वस्त्वपश्यन्कथं नियुज्येत । न चात्मात्मन्येव नियोज्यः स्यात् । शरीरव्यतिरेकदर्शिन एव नियोज्यत्वमिति चेत् । न । तत्संहतत्वाभिमानात् । सत्यं व्यतिरेकदर्शिनो नियोज्यत्वं तथापि व्योमादिवद्देहाद्यसंहतत्वमपश्यत एवात्मनो नियोज्यत्वाभिमानः । नहि देहाद्यसंहतत्वदर्शिनः कस्यचिदपि नियोगो दृष्टः । किमुतैकात्म्यदर्शिनः । नच नियोगाभावात्सम्यग् दर्शिनो यथेष्टचेष्टाप्रसङ्गः । सर्वत्राभिमानस्यैव प्रवर्तकत्वादभिमानाभावाच्च सम्यग्दर्शिनः । तस्माद्देहसम्बन्धादेवानुज्ञापरिहारौ । ज्योतिरादिवत् । यथा ज्योतिष एकत्वेऽप्यग्निः क्रव्यात्परिह्रियते नेतरः । यथाच प्रकाश एकस्यापि सवितुरमेध्यदेशसम्बद्धः परिह्रियते नेतरः शुचिभूमिष्ठः । यथा भौमाः प्रदेशा वज्रवैडूर्यादय उपादीयन्ते । भौमा अपि सन्तो नरकलेवरादयः परिह्रियन्ते । यथा मूत्रपुरीषं गवां पवित्रतया परिगृह्यते तदेव जात्यन्तरे परिवर्ज्यते तद्वत् ॥४८॥

कारिवदिति शङ्कते—शरीरव्यतिरेकेति । **परोक्षविवेकस्यापरोक्षभ्रमाविरोधित्वात्कर्मिणो देहाभेदभ्रमोऽस्ति, तथाच भ्रम उपाधिरिति परिहरति**—नेत्यादिना । **यथा व्योम देहाद्भिन्नं तद्वदहमित्यपश्यतः भ्रान्तस्येत्यर्थः । ब्रह्मविन्न नियोज्यः, अभ्रान्तत्वात्, सुषुप्तवदित्याह**—नहीति । **देहादिष्वसंहतत्वदर्शिनः संहतत्वदर्शनशून्यस्य भेदभ्रान्तिरहितस्य सुषुप्तस्येति यावत् । अज्ञस्यापि भ्रान्त्यभावकाले नियोज्यत्वं न दृष्टं किमु वाच्यमात्मविद इत्यर्थः । अनियोज्यत्वे बाधकमाशङ्क्य परिहरति**—नचेति । **विषयवैराग्यस्य ज्ञानार्थमभ्यस्तस्य ज्ञानानन्तरमनुवृत्त्या विषयेषु प्रवर्तकरागनिवृत्तेर्नातिप्रसङ्ग इत्यर्थः । तदुक्तं भगवता 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इति । एवमनुज्ञाविप्रसङ्गेनानियोज्यं विदुष उक्त्वा प्रकृतमुपसंहरति**—तस्मादिति । **एकस्याप्युपाधिभेदादनुज्ञापरिहारयोर्दृष्टान्तमाह**—ज्योतिरिति । **क्रव्यं मांसमत्तीति क्रव्यादशुचिः श्मशानाग्निरित्यर्थः ॥४८॥**

नियुक्त किया जायेगा । आत्मा स्वयं अपने में ही नियोज्य नहीं होता । पूर्वपक्षी—शरीर से भिन्न आत्मदर्शी में ही मीमांसकों ने भी नियोज्यत्व माना है । सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि संघातभिन्न आत्मदर्शी को भी उस संघात में अभिमान बना रहता है अर्थात् देहभिन्न आत्मदर्शी में नियोज्यत्व कहना यद्यपि सत्य है किन्तु आकाश की भाँति देहादि संघात से सर्वथा पृथक् आत्मा को न जानने वाले परोक्ष आत्मदर्शी में नियोज्यत्व का अभिमान होता है । पर देहादिसंघात से भिन्न आत्मदर्शी का किसी के ऊपर नियोग नहीं देखा गया है फिर भला एकात्मदर्शी पर नियोग कैसे लागू हो सकेगा । पूर्वपक्ष—नियोग के अभाव में तत्त्वज्ञानी स्वेच्छाचारी हो जायेगा । सिद्धान्ती—ऐसा नहीं कह सकते । सर्वत्र अभिमान ही प्रेरक होता है, तत्त्वज्ञानी में उस अभिमान का अभाव हो गया है । अतः उसमें स्वेच्छाचार की आशङ्का उचित नहीं है । तात्पर्य यह है कि ज्योतिरादि की भाँति विधि-निषेध देहसम्बन्ध के कारण ही सुसङ्गत हो जाते हैं । जैसे अग्नि के एक होने पर भी शव से स्पृष्ट श्मशान अग्नि का परित्याग करते हैं, दूसरी का नहीं और जैसे एक सविता का ही प्रकाश अपवित्र देश से सम्बन्ध रहने पर त्याग दिया जाता है, पवित्र भूमि से सम्बन्ध रखने पर त्याज्य नहीं होता और जैसे पार्थिव वज्र वैडूर्यादि मणि ग्राह्य माने जाते हैं किन्तु मृत मनुष्य का शरीर पार्थिव होता हुआ भी स्पर्श के योग्य नहीं माना जाता और जैसे गौ के मूत्र एवं गोबर पवित्र होने से ग्रहण किये जाते हैं किन्तु मनुष्यादि जाति के मूत्र-पुरीष त्याज्य होते हैं; वैसे ही देहसम्बन्ध के कारण विधि-निषेध सुसङ्गत हो जायेंगे ॥४८॥

(२६५) असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥४९॥

(२६६) आभास एव च ॥५०॥

स्यातां नामानुज्ञापरिहारावेकस्याप्यात्मनो देहविशेषयोगात् । यस्त्वयं कर्मफलसम्बन्धः स चैकात्म्याभ्युपगमे व्यतिकीर्येत स्वाम्येकत्वादिति चेत् । नैतदेवम् । असंततेः । नहि कर्तुर्भोक्तुश्चात्मनः संततः सर्वैः शरीरैः सम्बन्धोऽस्ति । उपाधितन्त्रो हि जीव इत्युक्तम् । उपाध्यसंतानाच्च नास्ति जीवसंतानः । ततश्च कर्मव्यतिकरः फलव्यतिकरो वा न भविष्यति ॥४९॥

आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः । न स एव साक्षात् । नापि वस्त्वन्तरम् । अतश्च यथा नैकस्मिञ्जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं

शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रं व्याचष्टे—स्यातामित्यादिना । यद्यपि स्थूलदेहसंबन्धावुपादानपरित्यागौ स्यातां तथाप्यन्यकृतकर्मफलमितरेणापि भुज्येतेति कर्मफलव्यतिकरः सांकर्यं स्याद्देहविशिष्टस्य स्वर्गादिभोगायोगेनाविशिष्टात्मन एकस्यैव भोक्तृत्वात् । तस्मात्स्वर्गी नरकी चेति व्यवस्थासिद्धये आत्मस्वरूपभेदो वाच्य इति शङ्कार्थः । भवेत्तदा सांकर्यं यद्यनुपहितात्मन एव भोक्तृत्वं स्यात् । न त्वेतदस्ति । 'तद्गुणसारत्वात्' इत्यत्र 'मोक्षस्यापि, बुद्ध्युपहितस्यैव कर्तृत्वादिस्थापनात्, तथाच बुद्धेः परदेहासंबन्धात्तदुपहितजीवस्य नास्ति परदेहसंबन्ध इति बुद्धिभेदेन भोक्तृभेदान्न कर्मादिसांकर्यमिति । समाधानार्थः ॥४९॥

अंशेत्याद्यसूत्रे जीवस्यांशत्वं घटाकाशस्येवोपाध्यवच्छेदबुद्ध्योक्तं, सम्प्रति एवकारेणावच्छेदपक्षारुचिं सूचयन् 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इत्यादिश्रुतिसिद्धं प्रतिबिम्बपक्षमुपन्यस्यति भगवान् सूत्रकारः—आभास एव चेति । परमात्मैवानुपहितो जीवो न भवति, उपाध्यनुभवात् । नापि ततो भिन्नः, 'स एष इह प्रविष्टः' इत्याद्यभेदश्रुतिस्मृतिविरोधात् । तस्मादविद्यातत्कार्यबुद्ध्यादिप्रतिबिम्ब एव जीव इत्यर्थः । अस्मिन् पक्षे बुद्धिप्रतिबिम्बभेदात्स्वर्गी नारकीत्यादिव्यवस्था जीवत्वस्याविद्यकत्वाद्विद्यया मोक्षश्चेत्युपपद्यत इत्याह—अतश्चेत्यादिना । यस्त्वयं 'भास्करस्य प्रलापः प्रतिबिम्बस्य नोपाधिसम्-

---

असन्ततेश्चाव्यतिकरः (ललिता)

पूर्वपक्ष—इस प्रकार विधि-निषेध दोनों ही एक आत्मा में भी देहविशेष के सम्बन्ध से बन जायेंगे, ऐसा मान भी लिया जाय; किन्तु एकात्मवाद पक्ष में कर्मफलसांकर्य तो हो ही जायेगा, क्योंकि सभी देहों में देहस्वामी एक है । सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो आत्मा कर्ता और भोक्ता है उसका सभी शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं है, कर्ता-भोक्ता जीव उपाधितन्त्र है, ऐसा कहा जा चुका है । उपाधि का सांकर्य न होने के कारण उपहित जीव का भी सांकर्य नहीं होगा, तत्पश्चात् कर्मसांकर्य और फलसांकर्य भी नहीं होगा ॥४९॥

आभास एव च (ललिता)

जैसे जल में सूर्यादि का प्रतिबिम्ब पड़ता है ऐसे ही परमात्मा का अन्तःकरण और बुद्धि में पड़ा हुआ आभास ही जीव है, वह न साक्षात् परमात्मस्वरूप है और न अन्य वस्तु है । इसीलिए जैसे एक जलसूर्य के हिलने पर दूसरा जलसूर्य नहीं हिलता, ऐसे ही एक जीव में कर्मफलसम्बन्ध होने

---

१. मुक्तस्वरूपस्यापि जीवस्य । ३. भट्टभास्करः सर्वसंकरवादी ।

कम्पते, एवं नैकस्मिञ्जीवे कर्मफलसंबन्धिनि जीवान्तरस्य तत्संबन्धः। एवमप्यव्यतिकर एव कर्मफलयोः। आभासस्य[1] चाविद्याकृतत्वात् तदाश्रयस्य संसारस्याविद्याकृतत्वोपपत्तिरिति। [2]तद्व्युदासेन च पारमार्थिकस्य ब्रह्मात्मभावस्योपदेशोपपत्तिः।

येषां तु बहव आत्मानस्ते च सर्वे सर्वगतास्तेषामेवैष व्यतिकरः प्राप्नोति। कथम्? बहवो विभवश्चात्मानश्चैतन्यमात्रस्वरूपा निर्गुणा निरतिशयाश्च तदर्थं साधारणं प्रधानं तन्निमित्तैषां भोगापवर्गसिद्धिरिति सांख्याः। सति बहुत्वे विभुत्वे च घटकुड्यादिसमाना द्रव्यमात्रस्वरूपाः स्वतोऽचेतना आत्मानस्तदुपकरणानि चाणूनि मनांस्यचेतनानि। तत्रात्मद्रव्याणां मनोद्रव्याणां

ष्टतया कल्पितत्वं किंतु स्वरूपेणैव, अतः कल्पितप्रतिबिम्बस्य मुक्तौ '[3]स्थित्ययोगान्न जीवत्वमिति स सिद्धान्तरहस्याज्ञानकृत इत्युपेक्षणीयः। यदि दर्पणे मुखं शुक्तौ रजतवत्कल्पितं स्यात्तदा नेदं रजतमिति स्वरूपबाधवन्नेदं मुखमिति बाधः स्यात्। अतो नास्ति दर्पणे मुखमिति संसर्गमात्रबाधान्मदीयं मुखमेवेदमित्यबाधितमुखाभेदानुभवात्संसृष्टत्वेनैव कल्पितत्वं प्रवेशवाक्यैश्चाविकृतब्रह्मण एव प्रतिबिम्बभावाख्यप्रवेशोक्तेर्न स्वरूपकल्पना, '[4]पराक्रान्तं चात्र दर्पणटीकायामाचार्यैरित्युपरम्यते। एवं स्वमते स्वरूपैक्येऽप्युपहितजीवभेदादसांकर्यमुक्तं, संप्रति सूत्रे चकारसूचितं परेषां सांकर्यं वक्तुमुपक्रमते— येषामित्यादिना। बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावना नवात्मविशेषगुणाः, सन्निधानादीत्यादिपदादौदासीन्यमुक्तम्।

पर दूसरे जीव का कर्मफल के साथ सम्बन्ध नहीं होता है। इस प्रकार कर्म एवं फल के सांकर्यदोष का वारण हो जाता है। यह भी स्मरण रहे कि आभास अविद्याकृत है, इसलिए तदाश्रित संसार अविद्याकृत ही उत्पन्न होता है। अतएव उपाधि के हटा देने से पारमार्थिक ब्रह्मभाव का उपदेश युक्तियुक्त हो जाता है।

किन्तु जिनके मत में आत्मा अनेक हैं और वे सब व्यापक हैं, उनकी मान्यता के अनुसार कर्मफलसांकर्य होगा ही। कैसे? उन्होंने अनेक विभु आत्मा चैतन्यमात्रस्वरूप निर्गुण निरतिशय माना है। उन सभी आत्माओं के लिए प्रधान एक साधारण है जो पुरुष के भोग-अपवर्ग की सिद्धि करता रहता है, यह सांख्यों की मान्यता है। काणादों की मान्यता यह है कि अनेक और विभु होने पर भी आत्मा घट एवं दीवार की भाँति द्रव्यमात्रस्वरूप हैं, वे सभी आत्मा अचेतन हैं, उनके उपकरण मन अणुपरिमाण है और वे भी अचेतन हैं। वहाँ पर आत्मद्रव्य और मनोद्रव्य के संयोग से बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना ये नौ विशेष गुण आत्मा में उत्पन्न होते हैं। वे गुण बिना संक्रमण किये ही प्रत्येक आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं वही संसार है वे नौ आत्मा के गुण जब सर्वथा उत्पन्न नहीं होते उस अवस्था का नाम ही मोक्ष है। उपर्युक्त दोनों मान्यताओं में से सांख्यों के मत में सभी आत्मा चैतन्यस्वरूप होने के कारण सभी का सन्निधान एक जैसा है। अतः एक आत्मा में सुख-दुःख का सम्बन्ध होने पर सभी आत्माओं के साथ सुख-दुःख का सम्बन्ध हो जायेगा। इस पर सांख्य शङ्का करता है कि प्रधान की महदादिरूप से प्रवृत्ति पुरुष के मोक्षार्थ

१. आभास। २. उपाधि। ३. मुकुरान्वयायोगात्। ४. खण्डितं भास्करमतमिति शेषः।

च संयोगान्नवेच्छादयो वैशेषिका आत्मगुणा उत्पद्यन्ते । ते [1]चाव्यतिकरेण प्रत्येकमात्मसु समवयन्ति स संसारः । तेषां नवानामात्मगुणानामत्यन्तानुत्पादो मोक्ष इति काणादाः ।

तत्र सांख्यानां तावच्चैतन्यस्वरूपत्वात्सर्वात्मनां सन्निधानाद्यविशेषाच्चैकस्य सुखदुःखसम्बन्धे सर्वेषां सुखदुःखसम्बन्धः प्राप्नोति । स्यादेतत् । प्रधानप्रवृत्तेः पुरुषकैवल्यार्थत्वाद्व्यवस्था भविष्यति । अन्यथा हि स्वविभूतिख्यापनार्था प्रधानप्रवृत्तिः स्यात् । तथाचानिर्मोक्षः प्रसज्येतेति । नैतत्सारम् । न ह्यभिलषितसिद्धिनिबन्धना व्यवस्था शक्या विज्ञातुम् । उपपत्त्या तु कयाचिद्व्यवस्थोच्येत । असत्यां पुनरुपपत्तौ कामं मा भूदभिलषितं पुरुषकैवल्यं, प्राप्नोति तु व्यवस्थाहेत्वभावाद्व्यतिकरः। काणादानामपि यदैकेनात्मना मनः संयुज्यते तदात्मान्तरैरपि नान्तरीयकः संयोगः स्यात्संनिधानाद्यविशेषात् । ततश्च हेत्वविशेषात्फलाविशेष इत्येकस्यात्मनः सुखदुःखयोगे सर्वात्मनामपि समानं सुखदुःखित्वं प्रसज्येत ॥५०॥

स्यादेतत् । अदृष्टनिमित्तो नियमो भविष्यतीति । नेत्याह—

सांख्यः स्वाभिप्रायं शङ्कते—स्यादेतदिति । **सर्वेषां पुंसां प्रकृतिसांनिध्याद्यविशेषेऽपि प्रकृतिरेव प्रतिपुरुषं नियमेन भोगापवर्गार्थं प्रवर्तते, तथा चोद्देश्यपुरुषार्थनियता प्रधानप्रवृत्तिरिति भोगादिव्यवस्था, अन्यथा नियतप्रवृत्त्यनङ्गीकारे स्वमाहात्म्यख्यापनार्था प्रधानस्य प्रवृत्तिरित्युद्देश्यविघातः स्यादित्यर्थः । जडप्रधानस्योद्देश्यविवेकाभावात्पुरुषार्थस्याप्यनागतस्याचेतनस्यानियामकत्वान्न व्यवस्था, मानयुक्तिशून्यत्वादित्याह**—नैतदिति । **यो हि नियामकाभावेनोद्देश्यविघातमापादयति तं प्रति तस्यैवापादन[2]मिष्टमिति भावः । तार्किकमतेऽपि भोगादिसांकर्यमित्याह**—काणादानामिति । **हेतुर्मनःसंयोगः, फलं सुखादि, यदात्माद्दृष्टकृतो मनःसंयोगः स तदात्मन एव सुखादिहेतुरिति व्यवस्थां शङ्कते**—स्यादेतदिति । **सूत्रेण परिहरति**—नेत्याहेति ॥५०॥

मान लेने से व्यवस्था बन जायेगी । अन्यथा अपनी विभूतिख्यापनार्थ प्रधान की प्रवृत्ति मानने पर मोक्षाभाव का प्रसङ्ग आ जायेगा, क्योंकि प्रधान अपनी विभूतिख्यापनार्थ सदा महदादिरूप से प्रवृत्त होता रहेगा; ऐसी स्थिति में संसार बना ही रहेगा, मोक्ष नहीं मिल सकता ।

सिद्धान्ती—सांख्यों की यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार वे अभीष्ट सिद्धि करने वाली व्यवस्था नहीं कर पायेंगे, किसी युक्ति से व्यवस्था करेंगे तो पुनः युक्ति के अभाव में पुरुष का कैवल्य जो अभीष्ट है वह नहीं सिद्ध हो सकेगा और व्यवस्था का कारण न रहने पर कर्मफल सुखःदुःखादि का सांकर्य तो होगा ही । वैशेषिकों के मतानुसार जब एक आत्मा के साथ मनःसंयोग होगा तो व्यापक अन्य आत्माओं के साथ भी संयोग का होना अनिवार्य है, क्योंकि सन्निधान सभी के लिए एक जैसा है । जब कारण एक जैसा है तो फल भी समान ही होगा । अतः सब आत्मा में सुख-दुःख का संयोग होने पर सभी आत्माओं में समानरूप से सुख-दुःख का प्रसङ्ग आ धमकेगा ॥५०॥

काणाद—सुख-दुःखसांकर्य का नियामक अदृष्ट हो जायेगा क्योंकि वह सभी जीवों का भिन्न-भिन्न है, इसका उत्तर अग्रिम सूत्र से दिया गया है कि—

---

१. असांकर्य्येण । २. इष्टमस्माकमिति शेषः ।

(२६७) अदृष्टानियमात् ॥५१॥

(२६८) अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् ॥५२॥

बहुष्वात्मस्वाकाशवत्सर्वगतेषु प्रतिशरीरं बाह्याभ्यन्तराविशेषेण संनिहितेषु मनोवाक्कायैर्धर्माधर्मलक्षणमदृष्टमुपार्ज्यते । सांख्यानां तावत्त[1]दन[2]त्मसमवायि [3]प्रधानवर्ति प्रधानसाधारण्यान्न प्रत्यात्मं सुखःदुखोपभोगस्य नियामकमुपपद्यते । काणादानामपि पूर्ववत्साधारणेनात्ममनःसंयोगेन निर्वर्तितस्यादृष्टस्याप्यस्यैवात्मन इदमदृष्टमिति नियमे हेत्वभावादेष एव दोषः ॥५१॥

स्यादेतत् । अहमिदं फलं प्राप्नवानीदं परिहराणीत्थं प्रयता इत्थं करवाणीत्येवंविधा अभिसंध्यादयः प्रत्यात्मं प्रवर्तमाना अदृष्टस्यात्मनां च स्वस्वामिभावं नियंस्यन्तीति । नेत्याह—

अभिसंध्यादीनामपि साधारणेनैवात्ममनःसंयोगेन सर्वात्मसंनिधौ क्रियमाणानां नियमहेतुत्वानुपपत्तेरुक्तदोषानुषङ्ग एव ॥५२॥

पूर्ववत् । मनःसंयोगवददृष्टस्यापि सर्वात्मसाधारणत्वान्न व्यवस्थेत्यर्थः । रागादिनियमात्तज्जादृष्टनियम इत्याशङ्कचोत्तरत्वेन सूत्रं गृह्णाति—स्यादेतदित्यादिना ॥५१॥

अनियम उक्तदोषः । आत्मान्तरप्रदेशस्य परदेहे अन्तर्भावाद्व्यवस्थेति शङ्कार्थः ॥५२॥

अदृष्टानियमात् (ललिता)

ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । नाना आत्मा आकाश की भाँति व्यापक है और प्रतिशरीर में बाहर-भीतर सर्वत्र समानरूप से सन्निहित है मन वाणी एवं शरीर से जो शुभाशुभ कर्म होता है तज्जन्य अदृष्ट का उपार्जन होता रहता है वह अदृष्ट सांख्यों के मत में प्रधानजन्य बुद्धिरूप अनात्मा में समावाय सम्बन्ध से रहता है ऐसी स्थिति में प्रत्येक आत्मा के सुख-दुःख उपभोग का नियामक अदृष्ट नहीं बन सकता, क्योंकि वह प्रधान की भाँति सभी जीवों के लिए एक सा है । वैशेषिकों के मत में भी समान आत्म-मनःसंयोग से उत्पन्न अदृष्ट किसी एक आत्मा का ही है अर्थात् यह अदृष्ट अमुक आत्मा का है ऐसा नियम करने में कोई हेतु नहीं दीखता है । अतः कर्मसांकर्यरूप दोष सांख्यों और वैशेषिकों के मत में बना ही रहेगा ॥५१॥

पूर्वपक्ष—मैं इस फल को प्राप्त करूँ, इसको छोड़ूँ, ऐसा प्रयत्न करूँ, ऐसा कर्म करूँ—इस प्रकार की जो अभिसन्धियाँ हैं वे प्रत्येक आत्मा की पृथक्-पृथक् हैं वे ही अदृष्ट और आत्मा में स्व-स्वामिभाव की नियामक हो जायगी । सिद्धान्ती—

अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् (ललिता)

ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि उपर्युक्त अभिसन्धियाँ भी साधारण आत्म-मनःसंयोग से ही सभी आत्माओं में सन्निहित है, ऐसी स्थिति में वे नियामक नहीं हो सकेंगे और पूर्वोक्त कर्मफलसांकर्य दोष ज्यों का त्यों बना ही रहेगा ॥५२॥

---

१. अदृष्टम् । २. आत्मभिन्नसमवायीत्यर्थः । ३. किंसमवायीत्यपेक्षायामाह प्रधानेति ।

(२६९) प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥५३॥

अथोच्येत विभुत्वेऽप्यात्मनः शरीरप्रतिष्ठेन मनसा संयोगः शरीरावच्छिन्न एवात्मप्रदेशे भविष्यत्यतः प्रदेशकृता व्यवस्थाऽभिसंध्यादीनामदृष्टस्य सुखदुःखयोश्च भविष्यतीति । तदपि नोपपद्यते । कस्मात् ? अन्तर्भावात् । विभुत्वाविशेषाद्धि सर्व एवात्मानः सर्वशरीरेष्वन्तर्भवन्ति । तत्र न वैशेषिकैः शरीरावच्छिन्नोऽप्यात्मनः प्रदेशः कल्पयितुं शक्यः । कल्प्यमानोऽप्ययं निष्प्रदेशस्यात्मनः प्रदेशः काल्पनिकत्वादेव न पारमार्थिकं कार्यं नियन्तुं शक्नोति । शरीरमपि सर्वात्मसंनिधावुत्पद्यमानमस्यैवात्मनो नेतरेषामिति न नियन्तुं शक्यम् । प्रदेशविशेषाभ्युपगमेऽपि च द्वयोरात्मनोः समानसुखदुःखभाजोः कदाचिदेकेनैव तावच्छरीरेणोपभोगसिद्धिः स्यात् । समानप्रदेशस्यापि द्वयोरात्मनोरदृष्टस्य संभवात् । तथाहि—देवदत्तो यस्मिन्प्रदेशे सुखदुःखमन्वभूत्तस्मात्प्रदेशादपक्रान्ते तच्छरीरे यज्ञदत्त-

किं मनसा संयुक्तात्म[1]न[2]आत्मनः प्रदेशः । [3]उत कल्पितः । आद्ये सर्वात्मनां सर्वदेहेषु अन्तर्भावादव्यवस्था । द्वितीयं दूषयति—तत्र न वैशेषिकैरिति । सर्वात्मसांनिध्ये सति कस्यचिदेव [4]प्रदेशः कल्पयितुमशक्यः । नियमकाभावादित्यर्थः प्रदेश[5]कल्पनामङ्गीकृत्याप्याह—कल्प्येति । कार्यमभिसंध्यादिक यस्यात्मनो यच्छरीरं तत्र तस्यैव भोग इति व्यवस्थामाशङ्क्याह—शरीरमपीति । प्रदेशपक्षे दोषान्तरमाह—प्रदेशेति । यस्मिन्न[6]आत्मप्रदेशेऽदृष्टोत्पत्तिः स किं चलः स्थितो वा । नाद्यः, अचलेंऽशिन्यंशस्य चलनविभागयोरसंभवादणवात्मवादापाताच्च । द्वितीये तस्मिन्नेव प्रदेशे [7]परस्यापि [8]भोगदर्शनाददृष्टमस्तीत्येकेनापि शरीरेण द्वयोरात्मनोर्भोगप्रसङ्गः । यद्यात्मभेदात्प्रदेशयोर्भेदस्तदापि तयोरेकदेहान्तर्भावाद्भो-

प्रदेशादिति चेन्नान्तभावात् (ललिता)

पूर्वपक्ष—यहाँ पर हम ऐसा कहेंगे कि विभु होने पर भी जिस शरीर में प्रतिष्ठत मन के साथ आत्मा का संयोग होता है, उसी शरीरावच्छिन्न आत्म प्रदेश में आत्ममनःसंयोग होगा, इसीलिए अभिसन्धि आदि की, अदृष्ट का और सुख-दुःख की प्रदेशकृत व्यवस्था हो जायेगी। सिद्धान्ती—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि सभी आत्माओं में विभुत्व एक जैसा है, इसलिए सभी शरीर में सभी आत्मायें अन्तर्भूत हैं। अतः शरीरावच्छिन्न आत्मा के प्रदेश की पृथक्-पृथक् कल्पना वैशेषिक नहीं कर सकते। निष्प्रदेश आत्मा में उक्त रीति से प्रदेश की कल्पना करने पर वह प्रदेश काल्पनिक माना जायेगा। अतः काल्पनिक होने के कारण वह प्रदेश पारमार्थिक कार्य का नियमन नहीं कर सकेगा। और जब सभी आत्मा की सन्निधि में शरीर उत्पन्न हुआ है, तो यह शरीर इस आत्मा का है, दूसरों का नहीं है ऐसा नियम भी नहीं कर सकते हैं। प्रदेशविशेष मानने पर भी समान दुःख एवं सुख के भागी दो आत्माओं में कदाचित् एक शरीर से ही उपभोग सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि दोनों आत्माओं का प्रदेश भी एक है तो अदृष्ट भी एक ही माना जायेगा। फिर तो जिस प्रदेश में देवदत्त ने सुख-दुःख का अनुभव किया, उस प्रदेश से देवदत्त के हटने पर तथा उस प्रदेश में यज्ञदत्त का शरीर

१. कस्यचिदेवात्मनइत्यर्थः २. आत्मन इति जातवेक वचनं आत्मत्वजात्याश्रयाणां सर्वेषामात्मनामित्यर्थः । ३. उत कल्पित इति अथवा मनःसंयुक्तात्मा कस्यचिदेवात्मनो यः प्रदेशः न तु सर्वेषामात्मनां कस्यचिदेवात्मनः यः प्रदेशः सोपि कल्पितो न तु वास्तव इत्यर्थः । ४. स च कल्पितः । ५. कल्पितामिति बोध्यम् । ६. शरीरावच्छिन्ने । ७. यज्ञदत्तादेरपि । ८. लोके इति शेषः ।

शरीरे च तं प्रदेशमनुप्राप्ते [1]तस्यापीतरेण समानः सुखदुःखानुभवो दृश्यते स न स्याद्यदि देवदत्तयज्ञदत्तयोः समानप्रदेशमदृष्टं न स्यात् । स्वर्गाद्यनुपभोगप्रसङ्गश्च प्रदेशवादिनः स्यात् । ब्राह्मणादिशरीर[2]प्रदेशेष्वदृष्टनिष्पत्तेः [3]प्रदेशान्तरवर्तित्वाच्च स्वर्गाद्युपभोगस्य । सर्वगतत्वानुपपत्तिश्च बहूनामात्मनां, दृष्टान्ताभावात् । वद तावत्त्वं के बहवः समानप्रदेशाश्चेति । रूपादय इति चेत् । न । तेषामपि धर्म्यंशेनाभेदाल्लक्षणभेदाच्च । नतु बहूनामात्मनां लक्षणभेदोऽस्ति । अन्त्यविशेषवशाद्भेदोपपत्तिरितिचेत् । न । भेदकल्पनाय ।

गसांकर्यं तदवस्थं सावयवात्मवादप्रसङ्गश्च । किंच यत्तु यत्रात्मनः प्रदेशे शरीरादिसंयोगाददृष्टमुत्पन्नम् [4]तत्तत्रैवाचलप्रदेशे स्थितमिति स्वर्गादिशरीरावच्छिन्नात्मन्यदृष्टाभावाद्भोगो न स्यादतः प्रदेशभेदो न व्यवस्थापकः । [5]यत्त्वत्रोत्पन्नमदृष्टं [6]स्वाश्रये यत्र क्वचिद्भोगहेतुरिति स्वर्गादिभोगसिद्धिरिति । तन्न । भोगशरीराद्दूरस्थादृष्टे मानाभावादिति भावः । यदपि केचिदाहुः—मनस एकत्वेऽप्यात्मनां भेदेन संयोगव्यक्तीनां भेदात्कयाचित्संयोगव्यक्त्या कस्मिंश्चिदेवात्मन्यदृष्टादिकमित्यसांकर्यमिति । तन्न । संयोगव्यक्तीनां वैजात्याभावेन सर्वासामेवैकदेहान्तःस्थसर्वात्मस्वदृष्टहेतुत्वापत्तेः । तथाच सर्वात्मनामेकस्मिन् देहे भोक्तृत्वं दुर्वारम् । किंच बहूनां विभुत्वमङ्गीकृत्य सांकर्यमुक्तं, संप्रति कर्तॄणां विभुत्वमसिद्धमहमिहैवास्मि इत्यल्पत्वानुभवान्मानाभावाच्चेत्याह—सर्वगतत्वानुपपत्तिश्चेति । किंच बहूनां विभुत्वे समानदेशत्वं वाच्यं, तच्चायुक्तमदृष्टत्वादित्याह—वदेति । ननु रूपरसादीनामेकघटस्थत्वं दृष्टमिति चेत्, नायमस्मत्संमतो दृष्टान्तः । रूपस्य तेजोमात्रत्वाद्रसस्य जलमात्रत्वाद् गन्धस्य पृथिवीमात्रत्वादित्येव तत्तद्गुणस्य स्वस्वधर्म्यंशेनाभेदात्तेजआदिधर्म्यतिरिक्तघटाभावात् । किंचात्मनां बहुत्वमप्यसिद्धं, आत्मत्वरूपलक्षणस्याभेदात्, तथाच देवदत्तात्मा यज्ञदत्तात्मनो न भिन्नः

आने पर उसको भी देवदत्त के समान हो जो सुख दुःख का अनुभव देखा जाता है, वह नहीं हो सकेगा। यदि देवदत्त और यज्ञदत्त का प्रदेश एक नहीं है, अदृष्ट भी समान नहीं है, तो प्रदेशवादी के मत में स्वर्गादि के अनुपभोग का प्रसङ्ग आ जायेगा । ब्राह्मणादि शरीरप्रदेश में कर्मजनित अदृष्ट उत्पन्न हुआ, जो स्वर्गादि से भिन्न प्रदेशवर्ती है, ऐसी स्थिति में स्वर्गादि का उपभोग सर्वव्यापक आत्मा में सिद्ध नहीं हो सकेगा । साथ ही व्यापक अनेक आत्मा के मानने में दृष्टान्त भी नहीं दीखता है । आप ही बतलाइये कि वे कौन-कौन अनेकों व्यक्ति हैं जो समान प्रदेश में रहते हैं। काणाद—घट प्रदेश में रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि अनेकों गुण देखे जाते हैं । सिद्धान्ती—यह दृष्टान्त ठीक नहीं है क्योंकि रूपादि का धर्मी अंश के साथ अभेद हम मानते हैं और उन सब के लक्षणों में भेद भी मानते हैं । तैजस परमाणु रूप है, वायवीय परमाणु स्पर्श है, जलीय परमाणु रस है और पार्थिव परमाणु गन्ध है; इन सभी के लक्षणों में भेद है और ये भिन्न-भिन्न देश में रहते हैं, किन्तु अनेक आत्माओं के लक्षण में भेद नहीं है क्योंकि आत्मत्व लक्षण सभी आत्माओं का समान है। वैशेषिक—नित्यद्रव्यवृत्तिविशेष सब के भिन्न-भिन्न हैं, इससे आत्मा में भेद सिद्ध हो जायेगा।

१. देवदत्तेन । २. शरीरावच्छिन्नप्रदेशे । ३. स्वर्गादिशरीरावच्छिन्नप्रदेशवर्तित्वादित्यर्थः । ४. अदृष्टम् । ५. एतच्छरीरावच्छिन्नात्मप्रदेशे । ६. अदृष्टाश्रये प्रदेशे ।

अन्त्यविशेषकल्पनायाश्चेतरेतराश्रयत्वात् । आकाशादीनामपि विभुत्वं ब्रह्मवादिनोऽसिद्धं कार्यत्वाभ्युपगमात् । तस्मादात्मैकत्वपक्ष एव सर्वदोषाभाव इति सिद्धम् । ।।५३।।

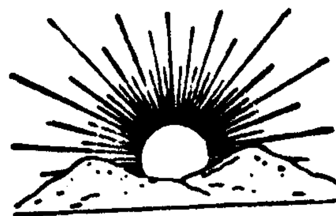
इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।३।।

आत्मत्वात्, यज्ञदत्तात्मवत् । अत्र वैशेषिकः शङ्कते—अन्त्यविशेषेति । नित्यद्रव्यमात्रवृत्तयो विशेषास्ते च स्वयं स्वाश्रयव्यावर्तका एव न स्वेषां व्यावर्तकमपेक्षन्त इत्यन्त्या उच्यन्ते । तथाच विशेषरूपलक्षणभेदाद्भूवत्यात्मभेद इत्यर्थः । न तावदात्मन्यनात्मनः सकाशाद्भेदज्ञानार्था विशेषकल्पना, आत्मत्वादेवानात्मभेदसिद्धेः । नाप्यात्मनां मिथो भेदज्ञानार्थं तत्कल्पना, आत्मभेदस्याद्याप्यसिद्धेः । नच विशेषभेदकल्पनावेवात्मभेदकल्पना युक्ता, आत्मभेदज्ञप्तावात्मसु विशेषभेदसिद्धिस्तत्सिद्धौ तज्ज्ञप्तिरित्यन्योन्याश्रयादिति परिहारार्थः । यत्तु बहूनां विभुत्वे आकाशदिक्कालदृष्टान्त इति सोऽप्यसंमत इत्याह—आकाशादीनामिति । विभुत्वस्यैकवृत्तित्वे लाघवाच्च विभुभेदः । यथैकस्मिन्नाकाशे भेरीवीणादिभेदेन तारमन्द्रादिशब्दव्यवस्था एवमेकस्मिन्नप्यात्मनि बुद्ध्युपाधिभेदेन सुखादिव्यवस्थोपपत्तेरात्मभेदेऽपि व्यवस्थानुपपत्तेरुक्तत्वान्मुधा भेदकल्पनेत्युपसंहरति—तस्मादिति । एवं भूतभोक्तृश्रुतीनां विरोधाभावाद्ब्रह्मण्यद्वये समन्वय इति सिद्धम् ।।५३।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ
श्रीमच्छारीरकमीमांसाव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां
द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।३।।

सिद्धान्ती—ऐसा मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि भेदकल्पना अन्त्यविशेषकल्पना के ऊपर आधारित है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आने लग जायेगा । इसके अतिरिक्त ब्रह्मवादियों ने आकाशादि में विभुत्व माना ही नहीं है क्योंकि उनमें भी कार्यत्व स्वीकार किया है । कार्य अपने कारण की अपेक्षा से परिच्छिन्न ही होता है । अतः आत्मैकत्व पक्ष में ही सभी दोषों का अभाव सिद्ध होता है, नानात्मवाद पक्ष में नहीं, यह सिद्ध हुआ ।।५३।।

द्वितीयाध्याय तृतीय पाद समाप्तः । इस प्रकार ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य
द्वितीयाध्याय तृतीयपाद की श्री कैलासपीठाधीश्वर
आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द
गिरिजी महाराज
द्वारा रचित ललिता व्याख्या
सम्पूर्ण हुई ।



द्वितीयाध्याये चतुर्थः पाद

१. प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् (सू० १-४)

(२७०) तथा प्राणाः ॥१॥

किमिन्द्रियाण्यनादीनि सृज्यन्ते वा परात्मना । सृष्टेः प्रागृषिनाम्नैषां सद्भावोक्तेरनादिता ॥
एकबुद्ध्या सर्वबुद्धेर्भौतिकत्वाज्जनिश्रुतेः । उत्पद्यन्तेऽथ सद्भावः प्रागवान्तरसृष्टितः ॥

वियदादिविषयः श्रुतिविप्रतिषेधस्तृतीयेन पादेन परिहृतः । चतुर्थेनेदानीं 'प्राणविषयः परिह्रियते । तत्र तावत् 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६-२-३) इति, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २-१-१) इति चैवमादिषूत्पत्तिप्रकरणेषु प्राणानामुत्पत्तिर्ना-

पूर्वाधिकरणे कर्तुः स्वरूपं विचार्य तदुपकरणानामिन्द्रियाणामुत्पत्तिं साधयति—तथा प्राणाः । **भूतभोक्तृविचारानन्तरं भौतिकप्राणविचार इति हेतुहेतुमद्भावं पादयोः संगतिमाह**—वियदादीति । **तमेव विप्रतिषेधमाह**—तत्रेत्यादिना । **यद्यपि प्राणानामनुत्पत्तौ एकविज्ञानप्रतिज्ञानुपपत्तेर्वियदधि-**

द्वितीय अध्याय-चतुर्थ पाद

भौतिक इन्द्रियों की उत्पत्ति, सख्या और तत्वादिविषयक श्रुतियों के परस्पर विरोध का परिहार चतुर्थ पाद से किया गया है ।

१. प्राणोत्पत्त्यधिकरण

१. **संगति**—पूर्व अधिकरण द्वारा कर्तृत्वस्वरूपावधारण किया गया, अब जीवात्मा के उपकरण इन्द्रियाँ आदि बुद्धिस्थ हैं; उनकी उत्पत्ति बतलाने के लिए बुद्धिस्थ सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. **विषय**—प्राणोत्पत्ति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—क्या वागादि इन्द्रियाँ अनादि हैं अथवा परमात्मा के द्वारा रचे गये हैं ?

४. **पूर्वपक्ष**—सृष्टि से पूर्व ऋषि नाम से कही गयी इन इन्द्रियों का अस्तित्व सुना जाता है। अतः इन्द्रियाँ अनादि हैं ।

५. **सिद्धान्त**—एक के ज्ञान से सर्वज्ञान की प्रतिज्ञा, इन्द्रियों के भौतिकत्व का प्रमाण और उत्पत्तिश्रुति की विद्यमानता को देखते हुए इन्द्रियों की उत्पत्ति मानना ही युक्तिसंगत है। सृष्टि से पूर्व इन्द्रियों का सद्भाव तो अवान्तर सृष्टि को लेकर कहा गया है ।

तथा प्राणाः (ललिता)

पूर्वाधिकरण में कर्ता के स्वरूप का विचारकर अब उसके उपकरण इन्द्रियों की उत्पत्ति आदि बतलाने के लिए चतुर्थ पाद प्रारम्भ किया जा रहा है । दोनों पादोंकी हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति मानी गयी है अर्थात् आकाशादिविषयक जो श्रुतियों का परस्पर विरोध था उसका परिहार तृतीय पाद से किया गया, अब चतुर्थ पाद से इन्द्रियविषयक श्रुतिप्रतिषेध का परिहार किया जाता है। वहाँ पर यह विचार उत्पन्न होता है कि 'उसने तेज की सृष्टि की', 'उस आत्मा से आकाश को उत्पन्न हुआ' इन उत्पत्ति प्रकरणों में प्राण की उत्पत्ति नहीं कही गयी है और कहीं-कहीं पर उनकी अनुत्पत्ति ही

१. इन्द्रिय ।

म्नायते । क्वचिच्चानुत्पत्तिरेवैषामाम्नायते । 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २-७), 'तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत् । तदाहुः के ते ऋषय इति । प्राणा वा ऋषयः' इत्यत्र प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावश्रवणात् । अन्यत्र तु प्राणानामप्युत्पत्तिः पठ्यते—'यथाऽग्नेर्ज्वलतः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' इति 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २-१-३) इति, 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मु० २-१-८) इति, 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नम्' (प्र० ६-४) इति चैवमादिप्रदेशेषु तत्र तत्र श्रुतिविप्रतिषेधादन्यतरनिर्धारणकारणानिरूपणाच्चाप्रतिपत्तिः प्राप्नोति । अथवा प्रागुत्पत्तेः सद्भावश्रवणाद्गौणी प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिरिति प्राप्नोति । अत उत्तरमिदं पठति—'तथा प्राणाः' इति ।

कथं पुनरत्र तथेत्यक्षरानुलोम्यं प्रकृतोपमानाभावात् । सर्वगतात्मबहुत्ववादिदूषणमतीतानन्तरपादान्ते प्रकृतं तत्तावन्नोपमानं संभवति, सादृश्याभावात् । सादृश्ये हि सत्युपमानं स्यात् । यथा सिंहस्तथा बलवर्मेति । [1]अदृष्टसाम्यप्रतिपादनार्थमिति यद्युच्येत यथाऽदृष्टस्य

करणन्यायात्तेषामुत्पत्तिः सिध्यति तथापि प्रलये प्राणसद्भावश्रुतेर्गतिकथनार्थमेतदधिकरणमित्यपौनरुक्त्यम् । अत्र प्राणाः विषयाः । ते किमुत्पद्यन्ते न वेति श्रुतीनां विप्रतिपत्त्या संशये तासां समबलत्वादनिर्णय इत्यप्रामाण्यमिति पूर्वपक्षफलं, तत्र गौणवादी समाधानमाह— अथवेति । प्राणानां प्रलये सद्भावश्रुतेर्निरवकाशत्वेन बलीयस्त्वादुत्पत्तिश्रुतिर्जीवोत्पत्तिश्रुतिवद्गौणीत्यविरोध इत्यर्थः । अप्रमाणपक्षवद्गौणपक्षोऽपि मुख्यसिद्धान्तिनः पूर्वपक्ष एवेति ज्ञापनार्थमथवेत्युक्तम् । मुख्यसिद्धान्त्याह— अत इति ।

तथाशब्दमाक्षिपति— कथमिति । आनुलोम्यं सामञ्जस्यमित्यर्थः । साम्यं स्फुटयति—यथाऽदृ-

बतलायी गयी है 'सृष्टि से पहले असत् ही था ।' उस पर किसी ने शङ्का की कि वह असत् क्या था, उत्तर मिला—वे ऋषि थे, उन्हीं को असत नाम से कहा गया है । वे ऋषि कौन-कौन थे, उत्तर मिला—वे ऋषि प्राण ही थे' इस श्रुति में उत्पत्ति से पूर्व इन्द्रियों का सद्भाव सुना जाता है । किन्तु अन्यत्र 'जैसे जलती हुई अग्नि से क्षुद्र चिंगारियाँ निकलती हैं ऐसे ही इस आत्मा से सभी प्राण निकले' 'उस परमात्मा से प्राण उत्पन्न हुआ, मन और सभी इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं', 'उस परमेश्वर से सात प्राण उत्पन्न होते हैं', 'उस परमेश्वर ने प्राण की सृष्टि की; प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन्द्रियाँ मन और अन्न को बनाया' इन स्थलों में इन्द्रियों को उत्पत्ति भी कही गयी है । अतः स्थल-स्थल पर श्रुतियों का विरोध होने पर और किसी एक पक्ष का निश्चायक प्रमाण न मिलने पर इसका यथार्थ बोध नहीं होता है । अथवा उत्पत्ति से पूर्व प्राणों का सद्भाव सुने जाने के कारण प्राणों की उत्पत्ति श्रुति गौणी है । ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सूत्रकार भगवान् बादरायण 'तथा प्राणाः' इस वाक्य से उत्तर देते हैं ।

पूर्वपक्ष—इस सूत्र में 'तथा' इस पद का अन्वय कैसे किया जायेगा क्योंकि इस प्रसङ्ग में कोई उपमान दीखता नहीं है । पिछले अधिकरण में आत्मा की सर्वव्यापकता और अनेकता आदि दोष अन्त में बतलाया गया था, वह तो उपमान हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसके साथ सादृश्य नहीं है; सादृश्य रहने पर ही उपमान होता है, यथा 'जैसा सिंह वैसा बलवर्मा' इत्यादि । यदि कहो कि अदृष्ट

१. अदृष्टस्य धर्माधर्मादेः साम्यमदृष्टसाम्यम् ।

सर्वात्मसंनिधावुत्पद्यमानस्यानियतत्वमेवं प्राणानामपि सर्वात्मनः प्रत्यनियतत्वमिति । तदपि 'देहानियमेनैवोक्तत्वात्पुनरुक्तं भवेत् । नच जीवेन प्राणा उपमीयेरन् सिद्धान्तविरोधात् । जीवस्य ह्यनुत्पत्तिराख्याता । प्राणानां तूत्पत्तिर्व्याचिख्यासिता । तस्मात्तथेत्यसंबद्धमिव प्रतिभाति । न । उदाहरणोपात्तेनाप्युपमानेन संबन्धोपपत्तेः । अत्र प्राणोत्पत्तिवादिवाक्यजातमुदाहरणम्—'एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि च व्युच्चरन्ति' (बृ० २-१-२०) इत्येवंजातीयकम् । तत्र यथा लोकादयः परस्माद्ब्रह्मण उत्पद्यन्ते तथा प्राणा अपीत्यर्थः । तथा—'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' (मु० २-१-३) इत्येवमादिष्वपि खादिवत्प्रा-

ष्टस्येति । 'दूषणवत्प्राणा इत्यनन्वितम् । यद्यप्यदृष्टवत्प्राणा अप्यनियता इति सूत्रमन्वेति तथापि पुनरुक्तम् । जीववत्प्राणा नोत्पद्यन्त इति सूत्रार्थश्चेदपसिद्धान्त इत्याक्षेपार्थः । समाधत्ते—न । उदाहरणेति । दृष्टान्तो दार्ष्टान्तिकसंनिहितो वाच्य इत्यङ्गीकृत्यैकवाक्यस्थत्वेन सांनिध्यमुक्तम् । संप्रति नायं नियमः । जैमिनिना भगवता व्यवहिताव्यवहितदृष्टान्तस्याश्रितत्वादित्याह—अयवेति । अस्ति तृतीयाध्यायेऽश्वप्रतिग्रहेष्टयधिकरणं, तस्यैवं विषयवाक्यं, 'यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्' इत्येतदुत्तराधिकरणे किमियं वारुणीष्टिर्दातुरुत प्रतिग्रहीतुरिति विशये 'प्रतिगृह्णीयात्' इति श्रुतेः प्रतिग्रहीतुरित्याशङ्क्य ''प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्' इत्युपक्रमे दातृकीर्तनाल्लिङ्गादश्वदातुरेवेति स्थास्यति, अतः प्रतिगृह्णीयादित्यस्य पदस्याऽश्वान् यः प्रतिग्राहयेदित्यर्थः । दद्यादिति यावत् । 'योऽश्वदाता स वारुणीमिष्टिं कुर्यात्' इति वाक्यार्थे क्रियते चिन्ता—अश्वदाननिमित्तेयमिष्टिः किं लौकिकेऽश्वदाने वैदिके वेति । तत्र 'न केसरिणो ददाति' इति निषिद्धलौकिकाश्वदाने दोषसम्भवात्तन्निरासार्थेयमिष्टिरिति दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्यादिति सूत्रेण प्राप्ते सिद्धान्तः—अत्र हि वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति' इति दातुर्दोषं संकीर्त्येष्टिर्विहिता । वरुणशब्दो जलोदरा-

धर्माधर्मादि की समानता बतलायी गयी है अर्थात् जिस प्रकार सभी आत्मा की सन्निधि में उत्पद्यमान अदृष्ट अनियत है ऐसे ही इन्द्रियाँ भी सभी आत्माओं के लिए अनियत हैं, पर यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि देह के अनियम से ही प्राणों का अनियत होना बतला दिया गया, उसे पुनः कहने पर पुनरुक्ति होने लग जायेगी । वैसे ही जीव भी प्राण का उपमान नहीं हो सकता, क्योंकि सिद्धान्त का विरोध होने लग जायेगा । श्रुति में जीव की अनुत्पत्ति कही गयी है, किन्तु इन्द्रियों की उत्पत्ति बतलाना ही श्रुति को अभीष्ट है । इसलिए 'तथा' यह उपमानवाचक शब्द असम्बद्ध सा प्रतीत होता है । सिद्धान्त —उदाहरण वाक्य में आये हुए उपमान के साथ सम्बन्ध बन जाता है । इस प्रसङ्ग में प्राणों की उत्पत्ति बतलाने वाले श्रुतिवाक्यों का उदाहरण दिया जाता है कि 'इस परमात्मा से सभी प्राण सभी लोक, सभी देव और सभी भूत उत्पन्न होते हैं' इत्यादि । वहाँ पर जैसे परब्रह्म से लोकादि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही प्राणपदवाच्य इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं । वैसे ही इस परमेश्वर से प्राण उत्पन्न हुआ, मन और सभी इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं, आकाश, वायु, अग्नि, जल और सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न हुई' इन श्रुतिवाक्यों में भी आकाशादि की उत्पत्ति की भाँति इन्द्रियों की उत्पत्ति

१. शरीरमपि सर्वात्मसन्निधावुत्पद्यमानमस्यैवात्मनो नेतरेषामिति नियन्तुमशक्यमिति देहानियमेनोक्तत्वात् ।

२. अदृष्टानियतत्वद्दूषणवत् । ३. यजमानः ।

णानामुत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम् । अथवा 'पानव्यापच्च तद्वत्' (जै० अ० ३-४-१५) इत्येवमादिषु व्यवहितोपमानसबन्धस्याप्याश्रितत्वात् । यथाऽतीतानन्तरपादाद्युक्ता वियदादयः परस्य ब्रह्मणो विकाराः समधिगतास्तथा प्राणा अपि परस्य ब्रह्मणो विकारा इति योजयितव्यम् ।

कः पुनः प्राणानां विकारत्वे हेतुः, 'श्रुतत्वमेव । ननु केषुचित्प्रदेशेषु न प्राणानामुत्पत्तिः श्रूयत इत्युक्तं तदयुक्तम्, प्रदेशान्तरेषु श्रवणात् । नहि क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं

ध्यरोगे रूढः । नच लौकिकेऽश्वदानेऽयं रोगो भवति इति प्रसिद्धम् । नचानेनैव वाक्येन प्रसिद्धिः । दाने दोषस्तन्निरासार्था चेष्टिरितिवदतोऽर्थभेदे वाक्यभेदात् । नच वृणोतीति व्युत्पत्त्या वरुणशब्दो निषेधातिक्रमकृतदोषानुवादक इति युक्तं, रूढित्यागापातात् । तत्त्यागे च वैदिकेऽपि दानेऽश्वत्यागजन्यदुःखं प्राप्तमुक्तव्युत्पत्त्या शक्नोत्यनुवदितुं, तस्मात्प्राप्तानुवाद्यर्थवादोऽयमिति यज्ञसंबन्धिन्यश्वदाने इयमिष्टिरित्येवं विचार्योक्तम्—पानव्यापच्च तद्वदिति । सोमपाने क्रियमाणे व्यापद्वमनं यदि स्यात्तदा 'एतं सोमेन्द्रं श्यामाकं चरुं निवपेत्' इति श्रूयते । तत्राऽश्वप्रतिग्रहेष्टचधिकरणपूर्वपक्षन्यायो बहुसूत्रव्यवहितस्तद्वदिति परामृश्यते, तद्वल्लौकिके धातुसाम्यार्थं पीतसोमस्य वमनेऽयं चरुः स्याद्वमननिमित्तेन्द्रियशोषाख्यदोषस्य दृष्टस्य 'इन्द्रियेण वीर्येण बाध्यते, यः सोमं वमति' इत्यनुवादादिति पूर्वपक्षसूत्रार्थः । वैदिके तु सोमपाने [2]शेषप्रतिपत्तेर्जातत्वाद्वमनेऽपि न दोष इति प्राप्ते सिद्धान्तः । लोके वमनकृतेन्द्रियशोषस्य धातुसाम्यकरत्वेन गुणत्वान्न दोषता । वेदे तु 'मा मे वाङ्नाभिमतिगाः' इति सम्यग् जरणार्थमन्त्रलिङ्गाद्वमने कर्मवैगुण्यात्तस्य दोषता । तस्माद्वैदिकसोमवमने सौमेन्द्रश्चरुरिति स्थितमित्येवमादिषु सूत्रेष्वित्यर्थः ॥१॥

भी समझना चाहिए। अथवा पूर्वमीमांसा के तृतीय अध्याय में **'अश्वप्रतिग्रह इष्ट्यधिकरण'** में **'पानव्यापच्च तद्वत्'** इत्यादि सूत्रों में व्यवहित उपमान सम्बन्ध का भी आश्रय जैसे लिया गया है उसी प्रकार पिछले तृतीय पाद में आकाशादि कार्य परब्रह्म के विकार जिस प्रकार माने गये हैं वैसे ही इन्द्रियाँ भी परब्रह्म के विकार हैं, ऐसी योजना कर लेनी चाहिए। यहाँ पर यह विशेष स्मरण रखने का है कि वारुणी इष्टि अश्वदान करने वाले को करनी चाहिए अथवा दान लेने वाले को करनी चाहिए, ऐसा संशय होने पर **'प्रतिगृह्णीयात्'** इस श्रुति के बल से दान लेने वाले के लिए वारुणी इष्टि का अनुष्ठान प्राप्त होता है किन्तु इस पद में णिच् प्रत्यय अन्तर्भूत होने के कारण जो प्रतिग्रह कराता है अर्थात् देता है उस अश्वदाता को वारुणी इष्टि करनी चाहिए। वहाँ पर सोमपान करने से यदि वमन हो जाता हो, तो सोम एवं इन्द्र देवतासम्बन्धी श्यामाक चरु निर्वाप का विधान सुना जाता है, वह जैसे अनेक सूत्रों से व्यवहित है वैसे ही आकाशादि की उत्पत्तिप्रसङ्ग अनेक सूत्रों से व्यवहित रहने पर भी इस सूत्र में आये 'तथा' पद से अन्वित हो जायेगा।

इन्द्रियाँ ब्रह्म के विकार हैं, इसमें हेतु क्या है, ऐसा प्रश्न होने पर श्रुति ही कारण कही जायेगी। पूर्वपक्ष—कुछ स्थलों में प्राणों की उत्पत्ति नहीं सुनी जाती है, ऐसा भी तो कहा है। सिद्धान्त—वह ठीक नहीं है क्योंकि अन्य प्रदेश में प्राण की उत्पत्ति सुनी जाती है। अतः कहीं सुना गया अन्यत्र सुने गये

---

१. एतस्माज्जायते प्राण इत्यादिश्रवणमेव । २. शेषस्यावशिष्टस्य प्रतिपत्त्याख्यकर्मणो जातत्वात्परिनिष्पन्नत्वात् ।

(२७१) गौण्यसम्भवात् ॥२॥

निवारयितुमुत्सहते । तस्माच्छ्रुतत्वाविशेषादाकाशादिवत्प्राणा अप्युत्पद्यन्त इति सूक्तम् ॥१॥

यत्पुनरुक्तं प्रागुत्पत्तेः सद्भावश्रवणात्गौणी प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिरिति । तत्प्रत्याह—'गौण्यसम्भवात्' इति । गौण्या असम्भवो गौण्यसम्भवः । नहि प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी सम्भवति प्रतिज्ञाहानिप्रसङ्गात् । 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु०१-१-३) इति ह्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तत्साधनायेवमाम्नायते—'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु० २-१-३) इत्यादि । सा च प्रतिज्ञा प्राणादेः समस्तस्य जगतो ब्रह्मविकारत्वे सति प्रकृतिव्यतिरेकेण विकाराभावात्सिध्यति। गौण्यां तु प्राणानामुत्पत्तिश्रुतौ प्रतिज्ञेयं हीयते । तथाच प्रतिज्ञातार्थमुपसंहरति—'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्' (मु० २-१-१०) इति, 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिद वरिष्ठम्' (मु० २-२-११) इति च । तथा 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' इत्येवंजातीयकासु श्रुतिष्वेषैव प्रतिज्ञा योजयितव्या । कथं पुनः प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावश्रवणम्, नैतन्मूलप्रकृति-

---

ननु प्रतिज्ञापि गौणी किं न स्यादित्यत आह—तथाच प्रतिज्ञातार्थमिति । उपक्रमोपसंहाराभ्यां प्रतिपिपादयिषिताद्वितीयत्वप्रतिज्ञानुरोधेन प्राणोत्पत्तिर्मुख्यैवेति भावः । मुण्डकवच्छ्रुत्यन्तरेऽपि प्रतिज्ञादर्शनात्सा मुख्येत्याह—तथेति । एषा प्रतिज्ञा प्राणोत्पत्तिमुख्यत्वे हेतुत्वेन द्रष्टव्येत्यर्थः । इदानीं प्रलये प्राणसत्त्वश्रुतेर्गतिं प्रश्नपूर्वकमाह—कथमित्यादिना । नेदं वाक्यं महाप्रलये परमकारणस्य ब्रह्मणः

का वारण नहीं कर सकता । इसलिए आकाश में जैसे श्रुतत्व है वैसे ही इन्द्रियों की उत्पत्ति में भी श्रुतत्व होने के कारण इन्द्रियों की भी उत्पत्ति होती है, ऐसा मानना ही उचित होगा ॥१॥

गौण्यसम्भवात् (ललिता)

और जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि उत्पत्ति से पूर्व इन्द्रियों का सद्भाव सुना जाता है । अतः इन्द्रियों की उत्पत्ति श्रुति गौणी है; उसका उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं कि प्राणों की उत्पत्ति श्रुति को गौणी कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि 'हे भगवन् ! किसे जान लेने पर यह सब कुछ विज्ञात हो जाता है' इस वाक्य द्वारा एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञाकर उसकी सिद्धि के लिए यह पाठ किया गया है कि 'इस परमात्मा से प्राण उत्पन्न हुआ ।' वह प्रतिज्ञा प्राणादि समस्त जगत् को ब्रह्म का विकार मानने पर ही पूर्ण हो सकती है क्योंकि कारण से भिन्न कार्य का अस्तित्व नहीं देखा गया है; किन्तु इन्द्रियों की उत्पत्तिश्रुति को गौणी मानने से यह प्रतिज्ञा भङ्ग हो जायेगी अर्थात् प्रतिज्ञाहानि का प्रसङ्ग आ जायेगा । अतः प्रतिज्ञात अर्थ का उपसंहार 'यह सम्पूर्ण विश्व, कर्म, तप, ब्रह्म और परामृत सब पुरुष ही तो है', 'यह सम्पूर्ण विश्व एवं यह वरिष्ठ ब्रह्मादि प्रशासक ब्रह्म ही तो हैं' इन वाक्यों द्वारा किया गया है । वैसे ही 'अरे मैत्रेयि ! निःसन्देह आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन से यह सब कुछ विदित हो जाता है' इस प्रकार की श्रुतियों में इसी प्रतिज्ञा को जोड़ लेना चाहिए । पूर्वपक्ष—तो फिर उत्पत्ति से पूर्व इन्द्रियों का सद्भाव श्रुतियों में क्यों सुना गया है ।

विषयम् । 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः' (मु० २-१-२) इति मूलप्रकृतेः प्राणादिसमस्तविशेषरहितत्वावधारणात् । अवान्तरप्रकृतिविषयं त्वेतत्स्वविकारापेक्षं प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावावधारणमिति द्रष्टव्यम् । व्याकृतविषयाणामपि भूयसीनामवस्थानां श्रुतिस्मृत्योः प्रकृतिविकारभावप्रसिद्धेः ।

वियदधिकरणे हि 'गौण्यसंभवात्' इति पूर्वपक्षसूत्रत्वाद्गौणी 'जन्मश्रुतिरसंभवादिति व्याख्यातम् । प्रतिज्ञाहान्या च तत्र सिद्धान्तोऽभिहितः । इह तु सिद्धान्तसूत्रत्वाद्गौण्या जन्मश्रुतेरसंभवादिति व्याख्यातम् । तदनुरोधेन त्विहापि गौणी जन्मश्रुतिरसंभवादिति व्याचक्षाणैः प्रतिज्ञाहानिरुपेक्षिता स्यात् ॥२॥

प्राणसत्त्वपरं किन्त्ववान्तरप्रलये हिरण्यगर्भाख्यावान्तरप्रकृतिरूपप्राणसद्भावपरमित्यर्थः । ननु हिरण्यगर्भरूपविकारस्य सत्त्वे कथं तदा विकारासत्त्वकथनं, तत्राह—स्वविकारेति । स्वस्य कार्यब्रह्मणो यत्कार्यं ²स्थूलं तस्योत्पत्तिरित्यर्थः । ननु यथाश्रुति महाप्रलये प्राणसद्भावरूपं लिङ्गं प्राणानुत्पत्तिसाधकं किमित्यवान्तरप्रलयपरतया नीयत इति चेत् 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादि प्रबलजन्म³श्रुतिबलादिति वदामः । ननु विकारस्य ब्रह्मणः कथं प्रकृतित्वमित्यत आह—व्याकृतेति । 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इत्यादिश्रुतौ 'आदिकर्ता स भूतानां' इत्यादि स्मृतौ च विकारात्मनामपि मूलकारणावस्थारूपाणां ब्रह्मविराडादीनां प्रकृतिविकारभावेन प्रसिद्धिरस्ति । ⁴पूर्वापेक्षया विकारस्याप्युत्तरापेक्षया प्रकृतित्वमित्यर्थः ।

केचिद्वियदधिकरणानुरोधेनेदं सूत्रं व्याचक्षते तान्दूषयति—वियदिति ॥२॥

सिद्धान्ती—यह श्रुतिवाक्य मूलप्रकृति को विषय नहीं करता, क्योंकि 'जगत् का मूलकारण परमात्मा प्राणरहित, मनरहित, शुद्ध एवं अक्षर से भी अत्यन्त पर है' इस वाक्य द्वारा मूलप्रकृति को समस्त प्राणादि विशेषों से रहित बतलाया है । उत्पत्ति से पूर्व प्राणादि का सद्भाव बतलाने वाला श्रुतिवाक्य तो अवान्तर हिरण्यगर्भादि प्रकृति को विषय करता है, अपने विकार की अपेक्षा उत्पत्ति से पूर्व प्राणों के सद्भाव का अवधारण होता है, ऐसा समझना चाहिए । व्याकृत जगत् में भी पदार्थों की अनेक अवस्थायें श्रुति-स्मृति में सुनी जाती हैं, उनमें कार्य-कारणभाव भी प्रसिद्ध है । उत्पद्यमान सभी पदार्थ उत्पत्ति से पूर्व अपने कारणरूप से विद्यमान ही रहते हैं ।

'**वियदधिकरण**' में जो '**गौण्यसम्भवात्**' सूत्र आया है वह तो पूर्वपक्ष सूत्र है, जिसकी व्याख्या की गयी कि थी मुख्यजन्म मानना असम्भव होने के कारण आकाश की उत्पत्तिश्रुति गौणी है । सिद्धान्त की ओर से वहाँ भी कहा गया है कि आकाश की उत्पत्ति मुख्यरूप से न मानने पर एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा भङ्ग होने लग जायेगी । किन्तु यहाँ पर सिद्धान्त सूत्र होने के कारण गौणी जन्मश्रुति कहना असम्भव है, ऐसी व्याख्या की जाती है । तदनुसार यहाँ भी गौणी जन्मश्रुति मानने पर प्रतिज्ञाहानि उपेक्षित हो जायेगी, ऐसी व्याख्या करना उचित ही है । वियदधिकरण के अनुरोध से इस सूत्र की व्याख्या जो लोग करते हैं उनके पक्ष का खण्डन उक्त रीति से किया गया है ॥२॥

---

१. मुख्य जन्मेति शेषः । २. विराड् । ३. लिंगाच्छ्रुतेर्बलीयस्त्वात् । ४. परमकारणपेक्षया ब्रह्मविराडादेरपीत्यर्थः ।

(२७२) तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥३॥

(२७३) तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥४॥

इतश्चाकाशादीनामिव प्राणानामपि मुख्यैव जन्मश्रुतिः। यज्जायत इत्येकं जन्मवाचि पदं प्राणेषु प्राक्श्रुतं सदुत्तरेष्वप्याकाशादिष्वनुवर्तते। 'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु० २-१-३) इत्यत्राकाशादिषु मुख्यं जन्मेति प्रतिष्ठापितं, तत्सामान्यात्प्राणेष्वपि मुख्यमेव जन्म भवितुमर्हति। न ह्येकस्मिन्प्रकरण एकस्मिंश्च वाक्य एकः शब्दः सकृदुच्चरितो बहुभिः संबध्यमानः क्वचिन्मुख्यः क्वचिद्गौण इत्यध्यवसातुं शक्यम्। वैरूप्यप्रसङ्गात्। तथा 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्र० ६-४) इत्यत्रापि प्राणेषु श्रुतः सृजतिः परेष्वप्युत्पत्तिमत्सु श्रद्धादिष्वनुषज्यते। यत्रापि पश्चाच्छ्रुत उत्पत्तिवचनः शब्दः पूर्वैः संबध्यते तत्राप्येष एव न्यायः। यथा 'सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' इत्ययमन्ते पठितो व्युच्चरन्तिशब्दः पूर्वैरपि प्राणादिभिः संबध्यते ॥३॥

यद्यपि 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६-२-३) इत्येतस्मिन्प्रकरणे प्राणानामुत्पत्तिर्न पठ्यते,

---

तस्य जायत इति परस्याकाशादिषु मुख्यस्य पाठापेक्षया प्राचीनेषु प्राणेषु श्रुतेर्मुख्यं जन्मेति सूत्रयोजना—तत्सामान्यादिति। तेनाकाशादिजन्मना सामान्यमेकशब्दोक्तत्वं तस्मादित्यर्थः। एकस्मिन्वाक्ये एकस्य शब्दस्य क्वचिन्मुख्यत्वं क्वचिद्गौणत्वमिति वैरूप्यं न युक्तमिति न्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—यत्रापि पश्चाच्छ्रुत इति ॥३॥

यच्चोक्तं छान्दोग्येऽपि प्राणानामुत्पत्तिर्न श्रूयत इति, तत्राह—तत्पूर्वकत्वाद्वाच इति। अत्र सूत्रे

तत्प्राक्श्रुतेश्च (ललिता)

आकाशादि की भाँति इन्द्रियों की उत्पत्तिश्रुति इसलिए भी मुख्य ही मानी जायेगी, क्योंकि 'जायते' यह जन्मवाचक एक ही पद पहले प्राणों में सुना गया और बाद में उसकी अनुवृत्ति आकाशादि में हुई है। जब 'एतस्माज्जायते प्राणः' इसमें आकाशादि का मुख्य जन्म माना जायगा, तो तदनुसार प्राणादि का भी जन्म मुख्य ही मानना चाहिए। एक ही प्रकरण में, एक ही वाक्य में, एक बार उच्चारण किया गया एक शब्द अनेकों के साथ सम्बन्ध रखता हो तो उसे कहीं पर मुख्य और कहीं पर गौण कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि ऐसा मानने पर वैरूप्य का प्रसङ्ग आ जायेगा। वैसे ही 'उस परमेश्वर ने प्राण की सृष्टि की, प्राण से श्रद्धा को बनाया' इस वाक्य में भी प्राण में सुना गया 'सृजति' शब्द आगे उत्पन्न होने वाले श्रद्धादि में भी अन्वित होता है, जो सर्वत्र समानार्थक ही है। जहाँ भी उत्पत्तिवाचक शब्द बाद में सुना गया है जिसका सम्बन्ध पूर्ववर्ती शब्दों के साथ होना भी अभीष्ट है वहाँ भी यही न्याय लगेगा। जैसे कि 'सभी भूत निकलते हैं' इस वाक्य के अन्त में पढ़ा गया 'व्युच्चरन्ति' शब्द पूर्वपठित प्राणादि के साथ भी सम्बन्ध रखता है, जिसे समानार्थक मानना ही उचित होगा ॥३॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः (ललिता)

और 'उस परमेश्वर ने तेज की सृष्टि की' इस छान्दोग्य प्रकरण में यद्यपि इन्द्रियों की उत्पत्ति

तेजोऽबन्नानामेव च त्रयाणां भूतानामुत्पत्तिश्रवणात् । तथापि ब्रह्मप्रकृतिकतेजोऽबन्नपूर्वकत्वाभिधानाद्वाक्प्राणमनसां तत्सामान्याच्च सर्वेषामेव प्राणानां ब्रह्मप्रभवत्वं सिद्धं भवति । तथाहि—अस्मिन्नेव प्रकरणे तेजोबन्नपूर्वकत्वं वाक्प्राणमनसामाम्नायते—'अन्नमयं हि सोम्यमन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' (छा० ६-५-४) इति । तत्र यदि तावन्मुख्यमेवैषामन्नादिमयत्वं ततो वर्तत एव ब्रह्मप्रभवत्वम् । अथ भाक्तं तथापि ब्रह्मकर्तृकायां नामरूपव्याक्रियायां श्रवणात् 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६ १-३) इति चोपक्रमात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६-८-७) इति चोपसंहाराच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धेश्च ब्रह्मकार्यत्वप्रपञ्चनार्थमेव मनआदिनामन्नादिमयत्ववचनमिति गम्यते । तस्मादपि प्राणानां ब्रह्मविकारत्वसिद्धिः ।।४।।

वाक्पदं प्राणमनसोरुपलक्षणम् । वाक्प्राणमनसां तेजोबन्नपूर्वकत्वोक्तेरश्रवणमसिद्धमिति योजना । तैर्वागादिभिश्चक्षुरादीनां सामान्यं करणत्वं तत्सामान्यादित्यर्थः । अत्र मयड्विकारे मुख्य इति पक्षे वर्तत एव प्राणानां ब्रह्मकार्यत्वं तेजोबन्नानां ब्रह्मविकारत्वात् । यदि प्राणस्य वायोर्जलविकारत्वायोगात्तदधीनस्थितिकत्वमात्रेण भाक्तस्तथापि प्राणानां विकारत्वे भूताधीनस्थितिकत्वं लिङ्गं मयटोक्तमिति सिद्धं ब्रह्मकार्यत्वं 'स प्राणमसृजत' इत्यादिश्रुत्यन्तरे स्पष्टं ब्रह्मकार्यत्वोक्तेश्च । तस्मात्प्राणानामुत्पत्तिश्रुतीनां सद्भावश्रुत्यविरोधात्कारणे ब्रह्मणि समन्वय इति सिद्धम् । लिङ्गशरीरविचारात्मकाधिकरणानां [2]लिङ्गात्त्वंपदार्थभेदधीः फलमिति द्रष्टव्यम् ।।४।।

नहीं पढ़ी गयी है; वहाँ पर अग्नि, जल और पृथ्वी इन तीनों भूतों की ही उत्पत्ति सुनी जाती है, फिर भी ब्रह्म जिसका कारण है ऐसे अग्नि जल और पृथ्वी की उत्पत्तिकथनपूर्वक वाक्, प्राण एवं मन की उत्पत्ति का अभिधान है । सादृश्य को लेकर भी सभी प्राणों में ब्रह्मप्रभवत्व सिद्ध होता है । उसी प्रकार छान्दोग्य प्रकरण में 'हे सोम्य ! मन अन्न का विकार है, प्राण जल का कार्य है और वाणी तेज का कार्य है' इस वाक्य द्वारा वाणी, प्राण एवं मन की उत्पत्ति का कथन कारणीभूत तेज, जल एवं पृथ्वीपूर्वक ही किया है । वहाँ पर यदि वागादि में अन्नादिमयत्व मुख्य ही है इसीलिए वे ब्रह्म के कार्य है, उनमे ब्रह्मप्रभवत्व है और यदि वागादि में अन्नादिमयत्व गौण है तो भी परमेश्वरनिर्मित नाम-रूप सृष्टि में सुने जाने के कारण 'जिसके सुन लेने पर अश्रुत श्रुत हो जाता है' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'यह सम्पूर्ण दृश्यमान् जगत् ब्रह्म में तादात्म्य है' इस उपसंहार वाक्य से और अन्य श्रुति में प्रसिद्ध होने से ब्रह्मकार्यत्व विस्तारपूर्वक बतलाने के लिए ही मन आदि में अन्नादिमयत्व का कथन है ऐसा जान पड़ता है, इसलिए भी इन्द्रियों में ब्रह्मविकारत्व की सिद्धि हो जाती हैं । अतः प्राणों की उत्पत्तिश्रुति का सद्भावश्रुति के साथ विरोध न होने से कारणब्रह्म में सबका समन्वय निश्चित हो जाता है ।।४।।

१. तेजआद्युत्पत्तिप्रकरणे । २. लिङ्गशरीरात् ।

२. सप्तगत्यधिकरणम् (सू० ५-६)

(२७४) सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥५॥

सप्तैकादश वाऽक्षाणि सप्त प्राणा इति श्रुतेः । सप्त स्युर्मूर्धनिष्ठेषु छिद्रेषु च विशेषणात् ।
अशीर्षण्यस्य हस्तादेरपि वेदे समीरणात् । ज्ञेयान्येकादशाक्षाणि तत्तत्कार्यानुसारतः ।

उत्पत्तिविषयः श्रुतिविप्रतिषेधः प्राणानां परिहृतः । संख्याविषय इदानीं परिह्रियते । तत्र 'मुख्यं प्राणमुपरिष्टाद्वक्ष्यति । सम्प्रति तु कतीतरे प्राणा इति सम्प्रधारयति । श्रुतिविप्रतिपत्तेश्चात्र विशयः । क्वचित्सप्त प्राणाः संकीर्त्यन्ते—'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मु० २-१-८) इति । क्वचिच्चाष्टौ प्राणा ग्रहत्वेन गुणेन संकीर्त्यन्ते—'अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः' (बृ० ३-२-१) इति । क्वचिन्नव—'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वाव-

एवं जन्मलब्धसत्ताकानां प्राणानामुपजीव्योपजीवकत्वसङ्गत्या संख्यां निर्णेतुं श्रुतीनां विरोधात्संशये पूर्वपक्षयति—सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च । विशयः संशयः । इन्द्रियाण्यत्र विषयः । पञ्च धीन्द्रियाणि वाङ्मनश्चेति सप्त प्राणा एत एव हस्तेन सहाष्टौ । ग्रहत्वं बन्धकत्वं । गृह्णन्ति बध्नन्तीति ग्रहा इन्द्रियाणि तेषां बन्धकत्वं विषयाधीनमित्यतिग्रहाः । ग्रहानतिक्रान्ता विषया इत्यर्थः । द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे घ्राणे वाक्चेति सप्त शीर्ष्णि भवाः प्राणा द्वाववाञ्चौ पायूपस्थौ चेति नव, ज्ञानकर्मेन्द्रि-

२. सप्तगत्यधिकरण

१. **सङ्गति**—पूर्व अधिकरण द्वारा इन्द्रियों की उत्पत्तिश्रुतिविरोध का परिहार किया गया, अब उनसे भिन्न जीवात्मा का विवेक करना है। अतः इन्द्रियों की संख्या का निर्णय करने के लिए आश्रयाश्रयिभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. **विषय**—वागादि इन्द्रियों की संख्या का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. **संशय**—इन्द्रियाँ सात हैं अथवा एकादश हैं?

४. **पूर्वपक्ष—'सप्तप्राणाः'** (मु० २-१-८) इस श्रुति के बल से मस्तकस्थ सात छिद्रों में रहने वाली इन्द्रियों की संख्या सात ही है।

५. **सिद्धान्त**—शीर्षस्थ छिद्र से भिन्न हस्तादि का इन्द्रियों का भी वर्णन वेद में मिलता है। अतः इन्द्रियाँ एकादश हैं, जिनके व्यापार पृथक्-पृथक् देखे जाते हैं।

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च (ललिता)

इन्द्रियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्रुतिविरोध का परिहार किया गया; अब इन्द्रियविषयक संख्या के सम्बन्ध में जो श्रुतिविरोध भासता है, उसका परिहार किया जाता है। उनमें से मुख्य प्राण के सम्बन्ध में उक्त विचार बाद में किया जायेगा। इस समय तो कितने प्राण हैं, ऐसा निश्चय करना है। श्रुतियों की विप्रतिपत्ति को देखते हुए यहाँ इन्द्रियों की संख्या के सम्बन्ध में संशय होता है। कहीं पर **'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्'** इस वाक्य द्वारा सात प्राण कहे जाते हैं, कहीं पर आठ ग्रह और आठ अतिग्रह' इस वाक्य द्वारा आठ प्राण ग्रहत्वरूप गुण के द्वारा बतलाये जाते हैं, कहीं पर 'सात मस्तकस्थ प्राण और दो मूत्र-पुरीष त्यागने के निम्नवर्ती प्राण' मिलाकर नौ कहे

१. श्रेष्ठश्चेत्यत्र । २. लिंगशरीरात् ।

वाञ्चौ' (तै० सं० ५-१-७-१) इति । क्वचिद्दश—'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' इति । क्वचिदेकादश—'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' (बृ० ३-९-४) इति । क्वचिद्द्वादश—'सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम् (बृ २-४-११) इत्यत्र । क्वचित्त्रयोदश 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' (प्र० ४-८) इत्यत्र । एवं हि विप्रतिपन्नाः प्राणेयत्तां प्रति श्रुतयः । किं तावत्प्राप्तम् । सप्तैव प्राणा इति । कुतः गतेः ? यतस्तावन्तोऽवगम्यते—'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् (मु० २-१-८) इत्येवंविधासु श्रुतिषु । विशेषिताश्चैते 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' इत्यत्र । ननु 'प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त' (मु० २-१-८) इति वीप्सा श्रूयते, सा सप्तभ्योऽतिरिक्तान्प्राणान्गमयतीति । नैष दोषः । पुरुषभेदाभिप्रायेयं वीप्सा प्रतिपुरुषं सप्त सप्त प्राणा इति, न तत्त्वभेदाभिप्राया सप्त सप्तान्येऽन्ये प्राणा इति । नन्वष्टत्वादिकापि संख्या प्राणेषूदाहृता कथं सप्तैव स्युः । सत्यमुदाहृता । विरोधात्त्वन्यतमा संख्याध्यवसातव्या । तत्र स्तोककल्पनानुरोधात्सप्तसंख्याध्यवसानम् । वृत्तिभेदापेक्षं च संख्यान्तरश्रवणमिति मन्यते ॥५॥

याणि दशेमे पुरुषे देहे प्राणाः आत्मा मन एकादशः प्राण इति सिद्धान्तकोटिरुक्ता । एत एव हृदयास्थया बुद्ध्या सह द्वादश । अहंकारेण सह त्रयोदश । श्रुतितः सप्तत्वावगतेर्यं शीर्षण्याः सप्त ते प्राणा इति शीर्षण्योद्देशेन प्राणत्वविशेषणाद्वा शीर्षण्यानां प्राणत्वशब्दिता, इन्द्रियत्वपरिसंख्यया सप्तैव प्राणा इति सूत्रयोजना । सप्तत्वं वीप्साविरुद्धमिति शङ्कते—नन्विति । गुहायां हृदये शेरत इति गुहाशयाः । स्वस्थानेषु निहिता निक्षिप्ता इत्यर्थः । चित्तेन चतुर्दशत्वं मन्तव्यम् । पूर्वपक्षी परिहरति—नैष दोष इति ॥५॥

गये हैं। पुरुष के शरीर में नौ प्राण हैं और दशम नाभि है' इस वाक्य द्वारा कहीं दश प्राण माने गये हैं। कहीं 'मनुष्य के शरीर में दश प्राण और ग्यारहवाँ मन है' इस वाक्य द्वारा एकादश इन्द्रियाँ बतलायी गयी हैं और 'सभी स्पर्शों का एकायन त्वचा है' इस श्रुतिवाक्य में द्वादश प्राण कहे गये हैं। कहीं पर '**चक्षुश्च द्रष्टव्यं च**' इस वाक्य द्वारा त्रयोदश इन्द्रियाँ बतलायी गयी हैं। इस प्रकार प्राण की संख्या बतलाने वाली श्रुतियाँ परस्पर विरुद्ध बोलती हैं। इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि इन्द्रियाँ तो सात ही हैं क्योंकि '**सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्**' इस प्रकार श्रुतियों में सात संख्या ही जानी जाती है। '**सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः**' इस वाक्य में शिरःस्थ सात विशेषण भी लगाये गये हैं। शङ्का—'बुद्धिरूप गुफा में रहने वाले सात-सात' इस वाक्य में जो सप्त शब्द में वीप्सा सुनी जाती है वह तो सात से अतिरिक्त प्राणों का भी बोध कराती है। पूर्वपक्ष—यह कोई दोष नहीं है, पुरुषभेद की अपेक्षा से यह वीप्सा कही गयी है अर्थात् प्रत्येक पुरुष में सात-सात प्राण हैं। वस्तुभेद के अभिप्राय से भिन्न-भिन्न सात-सात प्राण नहीं कहे गये हैं। शङ्का—इन्द्रियों के सम्बन्ध में अष्टत्वादि संख्या भी कही जा चुकी है फिर इन्द्रियाँ सात ही कैसे हो सकेंगी। पूर्वपक्ष—ठीक है, कहा तो है किन्तु विरोध होने के कारण उनमें से किसी एक संख्या का निर्णय लेना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में स्तोक (अल्प) कल्पना के अनुरोध से सात संख्या निश्चय करना ही उचित है, सात से भिन्न संख्या का श्रवण उनके व्यापार के भेद से होता है, ऐसा जाना जाता है ॥५॥

---

१. वस्तु ।

(२७५) हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥६॥

अत्रोच्यते—

हस्तादयस्त्वपरे सप्तभ्योऽतिरिक्ताः प्राणाः श्रूयन्ते—'हस्तो वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्रहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति' (बृ० ३-२-८) इत्येवमाद्यासु श्रुतिषु । स्थिते च सप्तत्वातिरेके सप्तत्वमन्तर्भावाच्छक्यते संभावयितुम् । हीनाधिकसंख्याविप्रतिपत्तौ ह्यधिका संख्या संग्राह्या भवति, तस्यां हीनान्तर्भवति, न तु हीनायामधिका । अतश्च नैवं मन्तव्यं स्तोककल्पनानुरोधात्सप्तैव प्राणाः स्युरिति । उत्तरसंख्यानुरोधात्त्वेकादशैव ते प्राणाः स्युः । तथा चोदाहृता श्रुतिः—'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' (बृ० ३-९-४) इति । आत्मशब्देन चात्रान्तःकरणं परिगृह्यते, ¹करणाधिकारात् । नन्वेकादशत्वादप्यधिके द्वादशत्रयोदशत्वे उदाहृते । सत्यमुदाहृते । नत्वेकादशभ्यः कार्यजातेभ्योऽधिकं कार्यजातमस्ति यदर्थमधिकं करणं कल्प्येत । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयाः पञ्च बुद्धिभेदास्तदर्थानि पञ्च बुद्धी-

---

सिद्धान्तिनाप्येकादशसु मनोवृत्तिभेदान्निश्चयात्मिकाः बुद्धिः, गर्वात्मकोऽहंकारः, स्मरणात्मकं चित्तमिति द्वादशादिसंख्यान्तर्भावनीया । ततो वरं प्राथमिकसप्तस्वेवऽन्तर्भाव: लाघवादिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—अत्रेति । आदानेन कर्मणा गृहीतः संबद्धः । संबन्धमेवाह—हस्ताभ्यामिति । अतोऽधिकसंख्याया न्यूनायामन्तर्भावायोगात्सप्तैव प्राणाः स्युर्लाघवानुरोधादित्येवं न मन्तव्यमित्यन्वयः । तर्हि कतीन्द्रियाणीत्याकाङ्क्षायामाह—उत्तरेति । 'श्रुतीनां मिथो विरोधे सति मानान्तरानुगृहीता श्रुतिर्बलीयसी' इति न्यायेन कार्यलिङ्गानुमानानुगृहीतैकादशप्राणश्रुत्यनुसारेणान्याः श्रुतयो नेया इत्यभिसंधायाह—सत्यमिति । एकादशकार्यलिङ्गान्याह—शब्देति । त्रयः कालास्त्रैकाल्यं तद्विषया वृत्तिर्यस्य

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् (ललिता)

सिद्धान्ती—

इस पर सिद्धान्ती कहता है कि हस्तादि सात से अतिरिक्त 'निःसन्देह हाथ ग्रह है, वह कर्मरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि हाथों से मनुष्य काम करता है' इत्यादि श्रुतियों में इन्द्रियाँ सुनी जाती हैं । जब सात से अतिरिक्त इन्द्रियों का निश्चय हो गया तो उसी में सात के अन्तर्भाव की सम्भावना कर सकते हैं क्योंकि न्यून और अधिक संख्या की विप्रतिपत्ति होने पर अधिक संख्या का संग्रह होता है, उसमें न्यून संख्या का अन्तर्भाव सम्भव है; किन्तु न्यून संख्या में अधिक संख्या का अन्तर्भाव करना सम्भव नहीं है । अतः स्तोक कल्पना के अनुरोध से सात ही इन्द्रियाँ हैं, ऐसा नहीं मान सकते । उत्तर संख्या के अनुरोध से तो इन्द्रियों की संख्या एकादश मानना ही उचित है । इसीलिए तो श्रुति का उदाहरण दिया जा चुका है कि 'पुरुष के शरीर में ये दश इन्द्रियाँ है और ग्यारहवाँ मन है ।' इस श्रुति में आये हुए 'आत्म' शब्द से इन्द्रियों का प्रकरण होने के कारण अन्तःकरण का ही ग्रहण होता है । पूर्वपक्ष—एकादश से भी अधिक द्वादश एवं त्रयोदश का भी तो उदाहरण दिया जा चुका है । सिद्धान्ती–ठीक है, उदाहरण दिये गये हैं किन्तु एकादश कार्यसमुदाय से अधिक कार्य नहीं हैं जिनके लिए अधिक इन्द्रियों की कल्पना की जा सके । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध–ये पाँच विषयबुद्धि के भेद से माने गये है, इन पाँचों को ग्रहण कराने

---

१. प्रकरणात् ।

न्द्रियाणि। वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः पञ्च कर्मभेदास्तदर्थानि च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। सर्वार्थविषयं त्रैकाल्यवृत्ति मनस्त्वेकमनेकवृत्तिकम् । तदेव वृत्तिभेदात् क्वचिद्भिन्नवद्व्यपदिश्यते--'मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं च' इति । तथा च श्रुतिः कामाद्या नानाविधा वृत्तीरनुक्रम्याह--'एतत्सर्वं मन एव' (बृ० १-५-३) इति । अपिच सप्तैव शीर्षण्यान्प्राणानभिमन्यमानस्य चत्वार एव प्राणा अभिमताः स्युः । स्थानभेदाद्ध्येते चत्वारः सन्तः सप्त गण्यन्ते 'द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे नासिके एका वाक्' इति । नच तावतामेव वृत्तिभेदा इतरे प्राणा इति शक्यते वक्तुं, हस्तादिवृत्तीनामत्यन्तविजातीयत्वात् । तथा 'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' इत्यत्रापि देहच्छिद्रभेदाभिप्रायेणैव दश प्राणा उच्यन्ते, न प्राणतत्त्वभेदाप्रायेण । नाभिर्दशमीति वचनात् । नहि नाभिर्नाम कश्चित्प्राणः प्रसिद्धोऽस्ति । मुख्यस्य तु प्राणस्य भवति, नाभिरप्येक विशेषायतनमित्यतो नाभिर्दशमीत्युच्यते । क्वचिदुपासनार्थं कतिचित्प्राणा गण्यन्ते, क्वचित्प्रदर्शनार्थम् । तदेवं विचित्रे प्राणेयत्ताम्नाने सति क्व किं परमाम्नानमिति विवेक्तव्यम् । कार्यजातवशात्त्वेकादशत्वाम्नानं प्राणविषयं प्रमाणमिति स्थितम् ।

तत्त्रैकाल्यवृत्ति । इन्द्रियान्तराणां वर्तमानमात्रग्राहित्वादतीतादिज्ञानाय मनोऽङ्गीकार्यमित्यर्थः । विशेषितत्वादित्युक्तं निरस्यति—अपिच सप्तेति । नच तावतामिति । आदानादीनां श्रोत्रादिभ्योऽत्यन्तवैजात्यादित्यर्थः । 'तेषां तद्वृत्तित्वे बधिरादीनामादानादि न स्यादिति भावः । कथं तर्हि छिद्रे प्राणशब्द इत्याशङ्क्य लक्षणयेत्याह—मुख्यस्य त्विति । 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति' इत्युपासनार्थम् । 'अष्टौ ग्रहाः' इति श्रुतिस्तूपलक्षणार्था । पायूपस्थपादानामपि बन्धकत्वाविशेषादिति विवेक्तव्यम् ।

के लिए पञ्च इन्द्रियाँ मानी गयी हैं । वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द-ये पाँच कर्म के भेद हैं, इनके लिए पाँच कर्मेन्द्रियां मानी गयी हैं । ये दोनों ही वर्तमान काल में काम करती हैं किन्तु त्रैकालिक व्यापार करने वाली, सभी विषयों को जानने वाली इन्द्रिय मन है जिसके अनेक व्यापार हैं। इस व्यापार के भेद से मन का भेद 'मन बुद्धि अहंकार और चित्त' ऐसा बतलाया गया है। ऐसा ही श्रुति ने कामादि नाना प्रकार की वृत्तियों को बतला देने के बाद 'एतत्सर्वं मन एव' ऐसा कहा है। तथा जो शीर्षस्थ सात इन्द्रियों के होने का आग्रह करते हैं उनके मतानुसार चार ही प्राण माने जायेंगे, स्थान के भेद से वे चार ही सात गिने जाते हैं–दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो नासिका और एक वाक् । इन सातों के ही व्यापारविशेष अन्य प्राण हैं ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि हस्तादि इन्द्रियों के व्यापार अत्यन्त विलक्षण हैं। वैसे ही 'पुरुष में नौ इन्द्रियाँ हैं और दशवीं नाभि है' इस वाक्य में भी देह के छिद्रभेद के अभिप्राय से नाभि दशवीं कह दी गयी है, क्योंकि नाभिनामक कोई इन्द्रिय प्रसिद्ध नहीं है। मुख्य प्राण का ही नाभि भी एक स्थानविशेष है इसीलिए नाभि दशवीं कही गयी है। कहीं-कहीं पर उपासना के लिए कुछ प्राण गिनाये गये हैं और कहीं पर उपलक्षण के लिए। इस प्रकार इन्द्रियों की संख्या का कथन विचित्र होने पर कहाँ क्या मानना उचित होगा, ऐसा विवेक करते समय कार्य को देखते हुए प्राणविषयक एकादशत्व वचन प्रमाण है, यह निश्चत होता है ।

---

१. सप्तानाम् । २. व्यापारे । ३. वस्तु । ४. उपलक्षणार्थम् । ५. आदानादीनां श्रोत्रादिवृत्तित्वे ।

इयमपरा सूत्रद्वययोजना । सप्तैव प्राणाः स्युर्यतः सप्तानामेव गतिःश्रूयते—'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४-४-२) इत्यत्र । ननु सर्वशब्दोऽप्यत्र पठ्यते, तत्कथं सप्तानामेव गतिः प्रतिज्ञायत इति । विशेषितत्वादित्याह । 'सप्तैव हि प्राणाश्चक्षुरादयस्त्वक्पर्यन्ता विशेषिताः इह प्रकृताः', 'स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति' (बृ० ४-४-१) 'एकीभवति न पश्यतीत्याहुः' (बृ० ४-४-२) इत्येवमादिनानुक्रमणेन । प्रकृतगामी च सर्वशब्दो भवति । यथा सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इति ये निमन्त्रिताः प्रकृता ब्राह्मणास्त एव सर्वशब्देनोच्यन्ते नान्ये । एवमिहापि ये प्रकृताः सप्त प्राणास्त एव सर्वशब्देनोच्यन्ते नान्य इति । नन्वत्र विज्ञानमष्टममनुक्रान्तं, कथं सप्तानामेवानुक्रमणम् । नैष दोषः । मनोविज्ञानयोस्तत्त्वाभेदाद्वृत्तिभेदेऽपि सप्तत्वोपपत्तेः ।

नन्विदं सूत्रव्याख्यानमसंगतं, पञ्चधीन्द्रियवाङ्मनसां सप्तत्वावगतिः शीर्षण्यानां चतुर्णां विशेषितत्वमिति हेतोर्वैयधिकरण्याद्युक्तपरिसंख्यादोषाच्चेत्यरुचेराह—इयमपरेति । इन्द्रियाणि कतीति संदेहे पूर्वपक्षसूत्रं योजयति—सप्तेति । तं जीवात्मानं ये प्राणाः सह गच्छन्ति तेषामेव भोगहेतुत्वादिन्द्रियत्वमित्यर्थः। विपन्नावस्थायामेष चाक्षुषश्चक्षुषि स्थितोऽनुग्राहकसूर्यांशरूपः पुरुषः पराङ्पर्यावर्तते 'बहिर्देशात्स्वांशिनं सूर्यं प्रतिगच्छति । अथ तदानीमयं 'मुमूर्षुररूपज्ञो भवति । देवांशे देवं प्रविष्टे 'लिङ्गांशश्चक्षुर्हृदये मनसैकीभवति तदायं न पश्यतीति पार्श्वस्था आहुरित्यर्थः । आदिपदात् 'न जिघ्रति न वदति न रसयते न शृणोति, न मनुते न स्पृशति, न विजानाति' इति गृह्यते ।

इन दोनों सूत्रों की योजना दूसरी भी है— इन्द्रियाँ सात ही माननी चाहिए क्योंकि 'उस जीव के उत्क्रमण के पीछे मुख्य प्राण उत्क्रमण करता है और प्राण उत्क्रमण के पीछे सभी इन्द्रियाँ उत्क्रमण कर जाती हैं' इस प्रसङ्ग में सात की ही गति सुनी जाती है । शङ्का—यहाँ पर 'सर्व' शब्द का पाठ भी मिलता है फिर भला सात ही की गति की प्रतिज्ञा आप कैसे कर रहे हैं । पूर्वपक्ष—चक्षु से लेकर त्वक् पर्यन्त सात ही इन्द्रियाँ विशेषरूप से यहाँ बतलायी गयी हैं । 'जहाँ पर यह चाक्षुष पुरुष विषय से उपरत होता है तब वह रूप को नहीं जानता' 'क्योंकि वह एकीभूत हो गया है इसीलिए लोग कहते हैं कि यह देखता नहीं' ऐसे अनुक्रमण के आधार पर चक्षु से लेकर त्वचापर्यन्त सात इन्द्रियाँ ही विशेषरूप से कही गयी हैं । सव शब्द प्रकृतानुगामी होता है जैसे किसी ने कहा कि सभी ब्राह्मणों को भोजन करा दो तो ऐसा सुनने पर जो निमन्त्रित ब्राह्मण हैं वे ही सर्व शब्द से कहे जाते हैं, अन्य नहीं । ऐसे ही यहाँ पर भी जो प्रकृत सात प्राण हैं ही वे 'सर्व' शब्द से कहे जाते हैं, अन्य नहीं । शङ्का—यहाँ पर अनुक्रमण करने वाला अष्टमविज्ञान भी जान पड़ता है फिर भला सात का ही अनुक्रमण होता है, यह आप कैसे कह रहे हैं । पूर्वपक्षी—यह दोष नहीं है । मन और बुद्धि को तत्वतः अभिन्न मानकर व्यापार भेद के रहने पर भी सप्तत्व की सिद्धि हो जाती है । अतः इन्द्रियाँ सात ही हैं ।

---

१. स्वरूप । २. गोलकात् । ३. मरणोन्मुखः । ४. सूक्ष्मोऽध्यात्मांशः ।

तस्मात्सप्तैव प्राणा इति, एवंप्राप्ते ब्रूमः—हस्तादयस्त्वपरे सप्तभ्योऽतिरिक्ताः प्राणाः प्रतीयन्ते—'हस्तौ वै ग्रहः' (बृ० ३-२-८) इत्यादिश्रुतिषु । ग्रहत्वं च 'बन्धनभावो गृह्यते, बध्यते क्षेत्रज्ञोऽनेन ग्रहसंज्ञकेन बन्धनेनेति । स च क्षेत्रज्ञो 'नैकस्मिन्नेव शरीरे बध्यते, शरीरान्तरेष्वपि तुल्यत्वाद्बन्धनस्य । तस्माच्छारीरान्तरसंचारीदं ग्रहसंज्ञकं बन्धनमित्यर्थादुक्तं भवति । तथा च स्मृतिः—'पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते । तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन च ॥' इति प्राङ्मोक्षाद्ग्रहसंज्ञकेनानेन बन्धनेनावियोगं दर्शयति । आथर्वणे च विषयेन्द्रियानुक्रमणे 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' इत्यत्र तुल्यवद्धस्तादीनीन्द्रियाणि सविषयाण्यनुक्रामति—'हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च' (प्र० ४-८) इति । तथा 'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति' (बृ० ३-९-४) इत्येकादशानां प्राणानामुत्क्रान्ति दर्शयति । सर्वशब्दोऽपि च प्राणशब्देन सम्बध्यमानोऽशेषान्प्राणानभिदधानो न प्रकरणवशेन सप्तस्वेव व्यवस्थापयितुं शक्यते, 'प्रकरणाच्छब्दस्य च बलीयस्त्वात् । सर्वे ब्राह्मणा

सप्तानामेव जीवेन सह गतिरित्यसिद्धं, ग्रहत्वश्रुत्या हस्तादीनामपि गतिप्रतीतेरिति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना । हस्तादिबन्धस्य प्राङ्मोक्षात्सहगतौ स्मृतिमाह—पुर्यष्टकेनेति । प्राणादिपञ्चकं भूतसूक्ष्मपञ्चकं ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकमन्तःकरणचतुष्टयमविद्या कामः कर्म चेति पुर्यष्टकमात्मनो ज्ञापकत्वाल्लिङ्गं सति संभवे सर्वश्रुतिसंकोचो न युक्त इत्याह—सर्वशब्दोऽपीति । तस्मात्संख्याश्रुतीनामविरोधादेकादशेन्द्रियकारणे ब्रह्मणि समन्वय इति सिद्धम् ॥६॥

इस प्रकार उक्त पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि 'हस्तो वं ग्रहः' इत्यादि श्रुति के आधार पर सात से अतिरिक्त हस्तादि इन्द्रियाँ भी प्रतीत होती हैं। इनमें बन्धनभाव ही ग्रहत्व है, क्योंकि इसी ग्रहनामक बन्धन से क्षेत्रज्ञ जीव बँध जाता है। वह क्षेत्रज्ञ एक ही शरीर में नहीं बँधता अपितु समानरूप से शरीरान्तर में भी इसे बँधते देखा गया है। इसीलिए शरीरान्तरसञ्चारी ग्रहनामक बन्धन अर्थतः उक्त हो जाता है। ऐसे ही स्मृति भी 'प्राणादि पञ्चक, भूतसूक्ष्मपञ्चक, ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, कर्मेन्द्रियपञ्चक, अन्तःकरण चतुष्टय, अविद्या, काम और कर्म; इन पुर्यष्टक लिङ्ग से जीव युक्त होता है, उससे बँधे हुए का बन्धन रहता है और उससे मुक्त हुए को मोक्ष मिल जाता है' मोक्ष से पहले इस ग्रहनामक बन्धन से अवियोग बतलाती है। अथर्ववेद में विषय एवं इन्द्रियों के अनुक्रमण प्रसङ्ग पर 'चक्षु और द्रष्टव्य रूप' इत्यादि वाक्य द्वारा विषय के सहित हस्तादि इन्द्रियों का भी अनुक्रमण बतलाते हैं, वहाँ पर 'हाथ और ग्रहण करने योग्य वस्तु, उपस्थ और आनन्दप्रद वस्तु, पायु एवं विसर्जनीय वस्तु, पाद और गन्तव्य मार्ग' इन वाक्यों द्वारा विषयसहित हस्तादि इन्द्रियों का अनुक्रमण बतलाया गया है। वैसे ही 'पुरुष के शरीर में दश इन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन, ये जब इस मर्त्यशरीर से उत्क्रमण करते हैं तब परिवारजनों को रुलाते हैं' इस वाक्य द्वारा श्रुति एकादश इन्द्रियों की उत्क्रान्ति बतलाती है। प्राण शब्द से सम्बद्ध सर्व शब्द भी अशेष प्राणों को कहता है, न कि प्रकरण के बल से सात में ही उसकी व्यवस्था दिखला सकते हैं क्योंकि प्रकरण से सर्वशब्द-

---

१. बंधनत्वम् । २. तस्य बंधनस्य सहगमनमाह नैकेति । ३. सर्वश्रुतेः ।

३. प्राणाणुत्वाधिकरणम् (सू० ७)

(२७६) अणवश्च ॥७॥

व्यापीन्यणूनि वाऽक्षाणि सांख्या व्यापित्वमूचिरे। वृत्तिलाभस्तत्र तत्र देहे कर्मवशाद्भवेत् ॥
देहस्थवृत्तिमद्भागेष्वेवाक्षत्वं समाप्यताम्। उत्क्रान्त्यादिश्रुतेस्तानि ह्यणूनि स्युरदर्शनात् ॥

भोजयितव्या इत्यत्रापि सर्वेषामेवावनिवर्तिनां ब्राह्मणानां ग्रहणं न्याय्यं, सर्वशब्द-सामर्थ्यात्। सर्वभोजनासम्भवात्तु तत्र निमन्त्रितमात्रविषया सर्वशब्दस्य वृत्तिराश्रिता। इह तु न किंचित्सर्वशब्दार्थसंकोचने कारणमस्ति। तस्मात्सर्वशब्देनात्र शेषाणां प्राणानां परिग्रहः। [1]प्रदर्शनार्थं च सप्तानामनुक्रमणमित्यनवद्यम्। तस्मादेकादशैव प्राणाः शब्दतः कार्यतश्चेति सिद्धम् ॥६॥

अधुना प्राणानामेव स्वभावान्तरमभ्युच्चिनोति। अणवश्चैते प्रकृताः प्राणाः [2]प्रतिप-

---

अणवश्च। 'प्राणाः सर्वेऽनन्ताः' इति श्रुतेरिन्द्रियाणां विभुत्वात्तेषामुत्क्रान्तिरसिद्धा किंतु तत्तद्देहे [4]तेषामभिव्यक्तिरूपाः [5]प्रादेशिक्यो वृत्तयः सन्ति न तासामुत्क्रान्त्यादिरिति सांख्यानामाक्षेपः, तत्संगत्या प्राणाः किंपरिमाणा इति संदेहे सिद्धान्तयति—अधुनेत्यादिना। उत्पत्तिसंख्यानिर्णयानन्तरं

श्रुति बलवान मानी जाती है। सभी ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए, यहाँ पर भी पृथ्वी के सभी ब्राह्मणों को सर्वशब्दसामर्थ्य से ग्रहण करना उचित होगा किन्तु सब का भोजन सम्भव न होने पर निमन्त्रितमात्र को सर्व शब्द से ग्रहण किया जाता है। पर यहाँ तो सर्व शब्द के अर्थसंकोच में कोई कारण नहीं दीखता है। अतः सर्व शब्द से यहाँ पर शेष सभी इन्द्रियों का परिग्रह समझना चाहिए। सात का अनुक्रमण तो उपलक्षणार्थ है यही पक्ष निर्दोष है। इसलिए शब्दतः और कार्यतः इन्द्रियाँ एकादश ही हैं, यह सिद्ध हुआ ॥६॥

३. प्राणाणुत्वाधिकरण

१. **सङ्गति**—अपरिच्छिन्न अहंकारजन्य होने के कारण इन्द्रियाँ भी अपरिच्छिन्न (विभु) हैं फिर भला उनका शरीर से उत्क्रमण किस प्रकार हो सकता है, ऐसी आक्षेपसङ्गति के कारण इस अधिकरण की रचना हुई है।

२. **विषय**—इस अधिकरण में इन्द्रियों के परिमाण का विचार किया गया है।

३. **संशय**—इन्द्रियाँ अणुपरिमाण हैं अथवा व्यापक हैं?

४. **पूर्वपक्ष**—सांख्यों ने इन्द्रियों को व्यापक माना है। तत्तद देह में पूर्वकर्मानुसार इन्द्रियों का व्यापार होता रहता है। अतः इन्द्रियाँ विभु हैं।

५. **सिद्धान्त**—देह में होने वाले व्यापारविशिष्ट भागों में ही इन्द्रियाँ परिच्छिन्न रहती हैं। अतः इन्द्रियाँ विभु नहीं हैं। साथ ही, मृत शरीर से इन्द्रियों का उत्क्रमण भी सुना और देखा जाता है। अतिसूक्ष्म होने के कारण वे इन्द्रियाँ देखी नहीं जाती। अतः परिच्छिन्न ही हैं, विभु नहीं।

अणवश्च (ललिता)

अब इन्द्रियों के ही अन्य स्वभाव का विचार करते हैं। जिन इन्द्रियों का प्रसङ्ग चल रहा था

---

१. उपलक्षणार्थम्। २. निश्चेतव्याः। ३. अपरिच्छिन्ना व्यापका इति यावत्। ४. यथा नित्यत्वादिविशिष्टं सामान्यं तत्तद्व्यक्त्युत्पत्तावाविर्भवति तद्वत्। ५. श्रोत्रादितत्तत्प्रदेशस्था इत्यर्थः।

४. प्राणश्रैष्ठ्याधिकरणम् (सू० ८)

मुख्यः प्राणः स्यादनादिर्जायते वा न जायते। आनीदिति प्राणचेष्टा प्राक्सृष्टेः श्रूयते यतः ॥
आनीदिति ब्रह्मसत्त्वं प्रोक्तं वातनिषेधनात्। एतस्माज्जायते प्राण इत्युक्तेरेष जायते ॥

तव्याः। अणुत्वं चैषां सौक्ष्म्यपरिच्छेदौ न परमाणुतुल्यत्वं कृत्स्नदेहव्यापिकार्यानुपपत्तिप्रसङ्गात्। सूक्ष्मा एते प्राणाः स्थूलाश्चेत्स्युर्मरणकाले शरीरान्निर्गच्छन्तो बिलादहिरिवोपलभ्येरन्म्रियमाणस्य पार्श्वस्थैः। परिच्छिन्नाश्चैते प्राणाः सर्वगताश्चेत्स्युरुत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिव्याकोपः स्यात्। तद्गुणसारत्वं च जीवस्य न सिध्येत्। सर्वगतानामपि वृत्तिलाभः शरीरदेशे स्यादिति चेत्। न। वृत्तिमात्रस्य करणत्वोपपत्तेः। यदेव ह्युपलब्धिसाधनं वृत्तिरन्यद्वा तस्यैव नः करणत्वं, संज्ञामात्रे विवाद इति करणानां व्यापित्वकल्पना निरर्थिका। तस्मात्सूक्ष्माः परिच्छिन्नाश्चैते प्राणा इत्यध्यवस्यामः ॥७॥

परिमाणं निरूप्यत इत्यर्थः। अनुद्भूतरूपस्पर्शत्वं सूक्ष्मत्वम्। परिच्छेदोऽल्पत्वम्। बुद्ध्यादीनां विभुत्वे तदुपाधिकमात्मनोऽणुत्वादिकं न सिध्येदित्युक्तन्यायविरोधमाह—तद्गुणसारत्वमिति। उक्ताक्षेपमनूद्य निरस्यति—सर्वगतानामिति। आनन्त्यश्रुतेरुपासनार्थत्वान्नोत्क्रान्त्यादिश्रुतीनां तया विरोध इति सिद्धम् ॥७॥

इन प्रकृत इन्द्रियों को अणुपरिमाणवाला समझना चाहिए। इनके अणुत्व का तात्पर्य सूक्ष्मत्व और परिच्छिन्नत्व है, न कि परमाणुतुल्यत्व। यदि इन्हें परमाणुतुल्य माना जायेगा तो सम्पूर्ण-शरीरव्यापी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकेगी, इसलिए ये प्राण सूक्ष्म हैं। यदि इन्हे स्थूल माना जाय तो मरणकाल में शरीर से निकलते हुए इन इन्द्रियों को मरणासन्न व्यक्ति के निकट बैठे लोग वैसे ही देख सकेंगे जैसे बिल से निकलते हुए सर्प को देखते हैं। इन परिच्छिन्न प्राणों को व्यापक माना जाय, तो उत्क्रान्ति, गति और आगति श्रुति का व्याकोप होने लग जायेगा। साथ ही, जीव में तदगुणसारत्व भी सिद्ध न हो सकेगा। पूर्वपक्ष—सर्वव्यापक में भी व्यापारलाभ शरीरप्रदेश में ही माना जाय तो आप की शङ्का का समाधान हो जायेगा। सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, व्यापारमात्र को ही तो करण कहते हैं अर्थात् जो उपलब्धिसाधन व्यापार है अथवा अन्य कुछ है, उसी को हमारे सिद्धान्त में करण कहा गया है। अतः करण कहो या व्यापार कहो, इससे नाममात्र में विवाद माना जायेगा। ऐसी स्थिति में इन्द्रियों में व्यापित्व की कल्पना निरर्थक ही मानी जायेगी। इसलिए ये इन्द्रियाँ सूक्ष्म और परिच्छिन्न हैं, ऐसा हम निश्चय करते हैं ॥७॥

४ प्राणश्रैष्ठ्याधिकरण

१. **सङ्गति**—पिछले अधिकरणों में इन्द्रियों की सृष्ट्यादि का प्रतिपादन किया गया, अब मुख्य प्राण में भी प्रथमाधिकरणन्याय का अतिदेश करते हैं। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसको अतिदेश सङ्गति है।

२. **विषय**—मुख्य प्राण की उत्पत्ति का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. **संशय**—मुख्य प्राण अनादि है अथवा उत्पन्न होता है ?

४. **पूर्वपक्ष**—सृष्टि से पूर्व प्राण की चेष्टा 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' (ऋ० सं० ८-७-१७) इस श्रुति में सुनी गई है। अतः मुख्य प्राण अनादि है।

(२७७) श्रेष्ठश्च ॥८॥

मुख्यश्च प्राणःइतरप्राणवद्ब्रह्मविकार इत्यतिदिशति । तच्चाविशेषेणैव सर्वप्राणानां ब्रह्मविकारत्वमाख्यातम् । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २-१-३) इति सेन्द्रियमनोव्यतिरेकेणापि प्राणस्योत्पत्तिश्रवणात् । 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६-४) इत्यादिश्रवणेभ्यश्च । किमर्थः पुनरतिदेशः । अधिकाशङ्कापाकरणार्थः । 'नासदासीये हि ब्रह्मप्रधाने सूक्ते मन्त्रवर्णो भवति 'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः । आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास' (ऋ० सं० ८-७-१७) इति । आनीदिति प्राणकर्मोपादानात्प्रागुत्पत्तेः सन्तमिव प्राणं सूचयति । तस्मादजः प्राण इति जायते

श्रेष्ठश्च । अतिदेशत्वान्न संगत्याद्यपेक्षा । 'तथा प्राणाः' इत्युक्तन्यायोऽत्रातिदिश्यते । ननु प्राणो जायते न वेति संशयाभावादतिदेशो न युक्त इत्याक्षिपति—किमर्थ इति । निश्चितमहाप्रलये प्राणसद्भावश्रुत्याऽधिकां शङ्कामाह—नासदासीये हीति । 'नासदासीत्' इत्यारभ्याधीत इत्यर्थः । तर्हि तदा प्रलयकाले मृत्युर्मारको मृत्युमत्कार्यं वा नासीत्, अमृतं च देवभोग्यं नासीत्, रात्र्याः प्रकेतश्चिह्नरूपश्चन्द्रः अह्नः प्रकेतः सूर्यश्च नास्तां, स्वधया सहेत्यन्वयः । पितृभ्यो देयमन्नं स्वधा ।

५. सिद्धान्त—'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु० २-१-३) इस मुण्डक श्रुति के आधार पर इतर प्राणों की भाँति मुख्य प्राण की भी उत्पत्ति सुनी जाती है। अतः 'आनीत्' शब्द उत्पत्ति से पूर्व प्राण के सद्भाव का सूचक नहीं है क्योंकि वहाँ पर 'अवातम्' ऐसा भी विशेषण है। उस श्रुति का मूलप्रकृति में प्राणादि समस्त विशेष का अभाव दिखलाना अभीष्ट है। अतः उस श्रुति के साथ प्राण उत्पत्ति श्रुति का कोई विरोध नहीं है।

श्रेष्ठश्च (ललिता)

इतर प्राण के समान श्वास-निःश्वासरूप मुख्य प्राण भी ब्रह्म का कार्य है, ऐसा अग्रिम सूत्र से अतिदेश करते हैं। शङ्का—तब तो अविशेषरूप से ही सभी प्राणों को ब्रह्म का विकार 'इस परमात्मा से प्राण उत्पन्न हुआ, सभी इन्द्रियों के सहित मन उत्पन्न हुआ' इस वाक्य द्वारा, इन्द्रियों के सहित मन से भिन्न मुख्य प्राण की उत्पत्ति सुने जाने के कारण, व्याख्यात हो चुका है। वैसे हो 'उस परमेश्वर ने प्राण की सृष्टि की' इत्यादि श्रुति से भी ऐसा ही सिद्ध हो चुका है। फिर भला अतिदेश सूत्र का प्रयोजन क्या है ? समाधान—अधिक आशङ्का की निवृत्ति के लिए अतिदेश सूत्र की रचना आवश्यक है, क्योंकि ब्रह्मप्रधान जो नासदाय सूत्र है उसमें मन्त्रवर्ण है कि 'सृष्टि से पूर्व न मृत्यु था, न अमृत ही था, उस समय रात्रि का परिचायक चन्द्र और दिन का परिचायक सूर्य भी नहीं था। उस समय तो स्वधा के सहित एकमात्र अवातरूप ब्रह्म ही था, उससे भिन्न कुछ भी नहीं था।' इस मन्त्र में 'आनीत्' इस पद में प्राण व्यापार का उपादान होने से उत्पत्ति से पूर्व कर्म की सत्ता को मन्त्रवर्ण

१. एतन्नामधेये ।

कस्यचिन्मतिः । तामतिदेशेनापनुदति । आनीच्छब्दोऽपि न प्रागुत्पत्तेः प्राणसद्भावं सूचयति । अवातमिति विशेषणात् । 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इति च मूलप्रकृतेः प्राणादिसमस्तविशेषरहितत्वस्य दर्शितत्वात् । तस्मात्कारणसद्भावप्रदर्शनार्थ एवायमानीच्छब्द इति ।

श्रेष्ठ इति च मुख्यं प्राणमभिदधाति—'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छा० ५-१-१) इति श्रुतिनिर्देशात् । ज्येष्ठश्च प्राणः शुक्रनिषेककालादारभ्य तस्य वृत्तिलाभात् । न चेत्तस्य तदानीं वृत्तिलाभः स्याद्योनौ निषिक्तं शुक्रं पूयेत । न संभवेद्वा । श्रोत्रादीनां तु कर्णशष्कुल्यादिस्थानविभागनिष्पत्तौ वृत्तिलाभान्न ज्येष्ठत्वम् । श्रेष्ठश्च प्राणो गुणाधिक्यात्, 'न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुम्' (बृ० ६-१-१३) इति श्रुतेः ॥८॥

यद्वा स्वेन धृता माया स्वधा तया सह तदेकं ब्रह्मानीदासीदिति परमार्थः । अत्रानीदिति 'तच्चेष्टां[1] कृतवदिति पूर्वपक्षार्थः । तस्माद्ब्रह्मणः परः परमुत्कृष्टमन्यच्च किमपि न बभूवेत्यर्थः । परिहारः सुबोधः ।

ननु श्रेष्ठशब्दस्य प्राणे प्रसिद्ध्यभावात्कथं सूत्रमिति, तत्राह—श्रेष्ठ इति चेति । श्रुतिं व्याचष्टे—ज्येष्ठश्च प्राण इत्यादिना । पूयेत पूयं भवेत् । न संभवेत्तद्गर्भो न भवेदित्यर्थः । वागादिजीवनहेतुत्वं प्राणस्य गुणः । एवमानीच्छ्रुत्यविरोधात्प्राणोत्पत्तिश्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वय इति सिद्धम् ॥८॥

सूचित करता सा जान पड़ता है । अतः किसी की यह धारणा बन सकती है कि प्राण अजन्मा है उस धारणा का अपनोदन (निवृत्ति) अतिदेश सूत्र से करते हैं कि 'आनीत्' शब्द भी उत्पत्ति से पूर्व प्राण के सद्भाव को सूचित नही करता, क्योंकि 'अवात' विशेषण दिया गया है । साथ ही 'वह परमात्मा प्राण से रहित और मन से रहित शुद्ध था' इस वाक्य द्वारा मूलप्रकृति में प्राणादि समस्त विशेष का अभाव दिखलाया गया है । अतः कारणसद्भाव बतलाने के लिए ही उक्त मन्त्र में 'आनीत्' शब्द आया है ।

'निःसन्देह प्राण आयु में ज्येष्ठ और गुणों में श्रेष्ठ है' इस श्रुतिनिर्देश के कारण सूत्रस्थ श्रेष्ठ शब्द मुख्य प्राण को बतला रहा है । अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा प्राण इसलिए ज्येष्ठ है क्योंकि गर्भाधान काल से ही उसका व्यापार होने लग जाता है । यदि गर्भाधान काल में उसका व्यापार न हो तो स्त्री की योनि में सिञ्चित शुक्र सड़ जायेगा या उसकी वृद्धि नहीं होगी । किन्तु श्रोत्रादि इन्द्रियों का व्यापार तो करणगोलकादि स्थानविशेष के बन जाने पर होता है । अतः श्रोत्रादि इन्द्रियों की अपेक्षा मुख्य प्राण में ज्येष्ठत्व है । वैसे ही गुणों की अधिकता के कारण प्राण श्रेष्ठ है क्योंकि वागादि इन्द्रियों के पराजित हो जाने पर सभी ने मुख्य प्राण से कहा कि 'इस देह से आप के निकल जाने पर हम 'जीवित नहीं रह सकेंगे' ऐसी श्रुति है । अतः 'आनीत्' श्रुति के साथ विरोध न होने के कारण मुख्य प्राण उत्पत्ति श्रुति का समन्वय ब्रह्म में सिद्ध हो जाता है ॥८॥

---

१. ब्रह्मचेष्टा च प्राणधर्म अतः प्राणसहितं तदासीदिति निश्चीयते ।

५. न वायुक्रियाधिकरणम् (सू० ९–१२)

(२७८) न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥९॥

वायुर्वाऽक्षक्रिया वाऽन्यो वा प्राणः श्रुतितोऽनिलः । सामान्येन्द्रियवृत्तिर्वा सांख्यैरेवमुदीरणात् ॥
भाति प्राणो वायुनेति भेदोक्तेरेकताश्रुतिः । वायुजत्वेन सामान्यवृत्तिर्नाक्षिष्वतोऽन्यता ॥

स पुनर्मुख्यः प्राणः किंस्वरूप इतीदानीं जिज्ञास्यते । तत्र प्राप्तं तावच्छ्रुतेर्वायुः प्राण इति । एवं हि श्रूयते—'यः प्राणः स वायुः स एष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः' इति । अथवा तन्त्रान्तरीयाभिप्रायात्समस्तकरण[1]वृत्तिः प्राण इति प्राप्तम् । एवं हि तन्त्रान्तरीया आचक्षते— सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्चेति । अत्रोच्यते—

इन्द्रियाणि विचार्य तद्व्यापारात्प्राणं पृथक्कर्तुमुत्पत्तिरतिदिष्टा । संप्रत्युत्पन्नप्राणस्वरूपं पृथक्करोति—न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् । मुख्यः प्राणः किं वायुमात्रमुत करणानां साधारणव्यापार[2] आहोस्वित्तत्त्व[3]ान्तरमिति वायुप्राणयोर्भेदाभेदश्रुतीनां मिथोविरोधात्संशये पूर्वपक्षमाह—तत्रेति । द्वितीयं सांख्यपूर्वपक्षमाह—अथवेति । सिद्धान्तत्वेन सूत्रमादत्ते—अत्रोच्यत इति । मनोरूपब्रह्मणो वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्रैश्चतुष्पात्त्वं श्रुतावुक्तं, तत्र प्राणो वायुनाधिदैविकेन भात्यभिव्यज्यते अभिव्यक्तः संस्तपति

५. न वायुक्रियाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार प्राण उत्पत्ति का विचारकर अब उसका स्वरूप बतलाने के लिए प्रसङ्ग सङ्गति कारण यह अधिकरण कहते हैं ।

२: विषय—मुख्य प्राण का स्वरूप इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—मुख्य प्राण क्या वायु है, इन्द्रियों का व्यापार है अथवा वायुविशेष है ?

४. पूर्वपक्ष—श्रुति के आधार पर वायु ही प्राण है अथवा इन्द्रियों के सामान्य व्यापार को प्राण मानना चाहिए क्योंकि ऐसा ही सांख्यों ने प्राण को माना है ।

५. सिद्धान्त—'बाह्यवायु से प्राण प्रवृत्त होता है' इस श्रुति द्वारा प्राण और बाह्यवायु में भेद बतलाया गया है, एकताश्रुति ने तो तत्त्वदृष्टि से अभेद बतलायी है । मन की भांति इन्द्रियव्यापार का सामान्यरूप से प्रेरक प्राण भी है, जो इन्द्रियों से पृथक् है ।

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् (ललिता)

इन्द्रियों का विचारकर उनके व्यापार से मुख्य प्राण को पृथक् करने के लिए उसमें उत्पत्ति का अतिदेश किया गया है । अब उत्पन्न प्राण का स्वरूप पृथक् बतलाते हैं कि वह मुख्य प्राण किस रूपवाला है, ऐसी जिज्ञासा यहाँ पर होती है । पूर्वपक्ष—वहाँ पर 'जो प्राण है वह वायु है, वह वायु पाँच प्रकार का है जो प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान नामवाला है' इस श्रुति के आधार पर प्राण और वायु एक ही वस्तु जान पड़ती है अथवा अन्य तन्त्र के अभिप्राय से समस्त इन्द्रियव्यापार ही प्राण है । ऐसा ही 'जो सामान्य करणव्यापार है वह प्राणादि पाँच भेदवाला वायु ही है' इस वाक्य द्वारा अन्य तन्त्र मानने वाले लोग समस्त करणव्यापार को प्राण कहते हैं । सिद्धान्ती—प्राण न वायु है और

१. व्यापारः । २. श्रोत्रादीनां श्रवणादिरसाधारणो व्यापारः समष्टिश्रोत्रादिकरणानां साधारणो व्यापारस्तु प्राण इत्यर्थः । ३. वस्त्वन्तरम् ।

न वायुः प्राणो नापि करणव्यापारः। कुतः ? पृथगुपदेशात्। वायोस्तावत्प्राणस्य पृथगुपदेशो भवति—'प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च' (छा० ३-१८-४) इति। नहि वायुरेव सन् वायोः पृथगुपदिश्येत। तथा करणवृत्तेरपि पृथगुपदेशो भवति, वागादीनि करणान्यनुक्रम्य तत्र तत्र पृथक्प्राणस्यानुक्रमणात्। वृत्तिवृत्तिमतोश्चाभेदान्नहि करणव्यापार एव सन् करणेभ्यः पृथगुपदिश्येत। तथा 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुः' (मु० २-१-३) इत्येवमादयोऽपि वायोः करणेभ्यश्च प्राणस्य पृथगुपदेशा अनुसर्त्तव्याः। नच समस्तानां करणानामेका वृत्तिः संभवति, प्रत्येकमेकैकवृत्तित्वात्समुदायस्य चाकारकत्वात्।

ननु पञ्जरचालनन्यायेनैतद्भविष्यति यथैकपञ्जरवर्तिन एकादश पक्षिणः प्रत्येकं प्रतिनियतव्यापाराः सन्तः संभूयैकं पञ्जरं चालयन्ति, एवमेकशरीरवर्तिनः एकादश प्राणाः प्रत्येकं प्रतिनियतवृत्तयः सन्तः संभूयैकां प्राणाख्यां वृत्तिं प्रतिलप्स्यन्त इति। नेत्युच्यते।

कार्यक्षमो भवतीत्यर्थः। श्रुतिषु तत्र तत्र प्राणस्य वागादीनां च मिथः संवादलिङ्गेन पृथगुत्पत्तिलिङ्गेन चेन्द्रियतदभिन्नव्यापारेभ्योऽपि भिन्नत्वमित्याह—तथेति। प्राणस्येन्द्रियवृत्तित्वं श्रुत्या निरस्य युक्त्यापि निरस्यति—नच समस्तानामिति। या चक्षुःसाध्या वृत्तिः सैव न श्रोत्रादिसाध्या, करणानां प्रत्येकमेकैकरूपग्रहादिवृत्तावेव हेतुत्वात्।

नच समुदायस्य वृत्तिः संभवति तस्या[१]सत्त्वादित्यर्थः। प्रमाणाभावादिति। श्रोत्रादीनामेकप्राणना यवृत्त्यनुकूलपरिस्पन्देषु मानाभावात्, श्रवणादीनामपरिस्पन्दत्वेन विजातीयानां, परिस्पन्दरूप-

---

न करणव्यापार ही हैं क्योंकि इन दोनों से पृथक् प्राण का उपदेश मिलता है। 'ब्रह्म का चतुर्थ पाद प्राण ही है, वह वायुरूप ज्योति से भासित होता है और तपता है' इस वाक्य में वायु से ही वायु को पृथक् कहा गया है, ऐसा नहीं मान सकते। वैसे ही, करणव्यापार का भी पृथक् उपदेश मिलता है। वागादि करणों को बतला देने के बाद उन स्थलों में प्राण का प्रसङ्ग पृथक् आता है। व्यापार और व्यापारवाले का सदा अभेद ही माना जाता है, तदनुसार करणव्यापार का करणों से पृथक् उपदेश नहीं कह सकते। इसी प्रकार 'उस परमेश्वर से प्राण उत्पन्न हुआ, सभी इन्द्रियों के सहित मन उत्पन्न हुआ, आकाश और वायु उत्पन्न हुए' यह श्रुतिवाक्य भी वायु और करण से पृथक् प्राण का उपदेश कर रहे हैं, ऐसा समझना चाहिए। समस्त इन्द्रियों की एक वृत्ति हो भी नहीं सकती है। प्रत्येक इन्द्रियाँ एक-एक व्यापार करती हैं, मिलकर व्यापार करता नहीं देखी जाती हैं और न ऐसा करना सम्भव ही है।

पूर्वपक्ष—जैसे एक पिंजरे में रहने वाले एकादश पक्षी में से प्रत्येक नियत व्यापार करते हुए मिलकर एक पिंजरे (जाल) को चलाते हैं, वैसे ही एक शरीरवर्ती इन्द्रियों में से प्रत्येक इन्द्रिय नियत व्यापार करती हुई मिलकर एक प्राणाख्य व्यापार कर लेगी। इस प्रकार पञ्जरचालन न्याय से समस्त इन्द्रियों का एक व्यापार हो जायेगा। सिद्धान्त—ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि वहाँ पर प्रत्येक पक्ष में

---

१. समुदाय्यतिरिक्तसमुदायासत्त्वात्।

युक्तं तत्र प्रत्येकवर्तिभिरवान्तरव्यापारैः पञ्जरचालनानुरूपैरेवोपेताः पक्षिणः संभूयैकं पञ्जरं चालयेयुरिति । तथा दृष्टत्वात् । इह तु श्रवणाद्यवान्तरव्यापारोपेताः प्राणा न संभूय प्राण्युरिति युक्तम्, प्रमाणाभावात् । अत्यन्तविजातीयत्वाच्च श्रवणादिभ्यः प्राणनस्य । तथा प्राणस्य श्रेष्ठताद्युद्घोषणं गुणभावोपगमश्च तं प्रति वागादीनां, न करणवृत्तिमात्रे प्राणेऽवकल्पते । तस्मादन्यो वायुक्रियाभ्यां प्राणः । कथं तर्हीयं श्रुतिः 'यः प्राणः स वायुः' इति । उच्यते—वायुरेवायमध्यात्ममापन्नः पञ्चव्यूहो विशेषात्मनाऽवतिष्ठमानः प्राणो नाम भण्यते न तत्त्वान्तरं नापि वायुमात्रम् । अतश्चोभे अपि भेदाभेदश्रुती न विरुध्येते ॥९॥

स्यादेतत् । प्राणोऽपि तर्हि जीववदस्मिञ्शरीरे स्वातन्त्र्यं प्राप्नोति । श्रेष्ठत्वाद्गुणभावोपगमाच्च तं प्रति वागादीनामिन्द्रियाणाम् । तथा ह्यनेकविधा विभूतिः प्राणस्य श्राव्यते—'सुप्तेषु वागादिषु प्राण एकोहि जागर्ति प्राण एको मृत्युनाऽनाप्तः प्राणः

प्राणनानुकूलत्वादवान्तरव्यापाराभावान्न समस्तकरणवृत्तिः प्राण इत्यर्थः । किंच प्राणस्य वृत्तित्वे वागादीनामेव प्राधान्यं वाच्यं, नैतदस्तीत्याह—तथा प्राणस्येति । यथा मृदो घटो न वस्त्वन्तरं[1] नापि मृण्मात्रं तद्विकारत्वात्, तथा वायोर्विकारः प्राण इत्यभेदश्रुतेर्गतिमाह—उच्यत इति । देहं प्राप्तः पञ्चावस्थो विकारात्मना स्थितो वायुरेव प्राण इत्यर्थः ॥९॥

प्राणस्य करणवृत्तित्वाभावे जीववद्भोक्तृत्वं स्यादिति शङ्कते—स्यादेतदिति ।

पञ्जरचालनानुकूल जब अवान्तर व्यापार होते हैं तब वैसे व्यापार से युक्त पक्षी मिलकर एक पञ्जर को चला पाते हैं, ऐसा देखा गया है। किन्तु यहाँ पर श्रवणादि अवान्तर व्यापार से युक्त वागादि प्राण मिलकर प्राणन नहीं करते। अतः प्रमाणाभाव के कारण आप का कथन ठीक नहीं है। साथ ही, शब्दश्रवणादि की अपेक्षा श्वास निःश्वासरूप प्राणनव्यापार अत्यन्त विलक्षण देखा जाता है। इसके अतिरिक्त मुख्य प्राण में श्रेष्ठत्व आदि का उद्घोष और उसके प्रति इन्द्रियों का गुणभाव होकर जाना, इन कारणों से वागादि इन्द्रियों में करणव्यापारमात्र प्राण की कल्पना नहीं कर सकते। अतः वायु और इन्द्रियों की क्रिया से प्राणतत्त्व भिन्न है। पूर्वपक्ष—तो फिर 'जो प्राण है वह वायु है' ऐसा यह श्रुति क्यों कह रही है? सिद्धान्त—यह वायु ही अध्यात्मभावापन्न हो पाँच आकार धारणकर विशेषरूप से जब अवस्थित होता है तब वह प्राण नाम से कहा जाता है। वह तत्त्वान्तर नहीं है और न आधिभौतिक वायुमात्र है। अतः दोनों ही भेद और अभेद बतलाने वाली श्रुति उक्त रीति से विरुद्ध नहीं है ॥९॥

तब तो प्राण भी जीवात्मा की भाँति इस शरीर में श्रेष्ठ होने के कारण स्वतन्त्र हो जायेगा और वागादि इन्द्रियाँ प्राण के लिए गौण हो जायेंगी। प्राण की विभूतियाँ अनेक प्रकार से सुनी जाती है—'वागादि के सो जाने पर केवल प्राण ही जगता रहता है अकेला प्राण ही मृत्युग्रस्त नहीं हुआ संवर्गरूप प्राण अन्य वागादि प्राणों की वैसे ही रक्षा करता है जैसे माता पुत्रों की रक्षा करती

---

१. वस्त्वन्तरम् ।

(२७६) चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥१०॥

संवर्गो वागादीन्संवृङ्क्ते प्राण इतरान्प्राणान्रक्षति मातेव पुत्रान्' इति । तस्मात्प्राणस्यापि जीववत्स्वातन्त्र्यप्रसङ्गः, तं परिहरति—

तुशब्दः प्राणस्य जीववत्स्वातन्त्र्यं व्यावर्तयति । यथा चक्षुरादीनि राज[1]प्रकृतिवज्जीवस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च प्रत्युपकरणानि न स्वतन्त्राणि । तथा मुख्योऽपि प्राणो राजमन्त्रिवज्जीवस्य सर्वार्थकरत्वेनोपकरणभूतो न स्वतन्त्रः । कुतः ? तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः । तैश्चक्षुरादिभिः सहैव प्राणः [2]शिष्यते प्राणसंवादादिषु । समानधर्मणां च सहशासनं युक्तं बृहद्रथंतरादिवत् । आदिशब्देन संहतत्वाचेतनत्वादीन्प्राणस्य स्वातन्त्र्यनिराकरणहेतून्दर्शयति ॥१०॥

स्यादेतत् । यदि चक्षुरादिवत्प्राणस्य जीवं प्रति करणभावोऽभ्युपगम्येत, [3]विषयान्तरं रूपादिवत्प्रसज्येत । रूपाद्यालोचनादिभिर्वृत्तिभिर्यथास्वं चक्षुरादीनां जीवं प्रनि करण-

---

प्राणो न भोक्ता, भोगोपकरणत्वात्, चक्षुरादिवदिति सूत्रार्थमाह—तुशब्द इत्यादिना । यथा बृहद्रथन्तरयोः सर्वत्र सहप्रयुज्यमानत्वेन सामत्वेन वा साम्यात्सहपाठस्तथा करणैः सहोपकरणत्वेन साम्यात्प्राणस्य पाठ इति न हेत्वसिद्धिरित्यर्थः । किंच प्राणो न भोक्ता, सावयवत्वात् जडत्वाद्भौतिकत्वाच्च, देहवत् ॥१०॥

ननु [4]यद्भोगोपकरणं तत्सविषयं दृष्टं यथा चक्षुरादिकं, प्राणस्य तु निर्विषयत्वादसाधारणकार्याभावाच्च नोपकरणत्वमिति शङ्कते—स्यादेतदिति ।

है ।' अतः जीव की भाँति प्राण में भी स्वतन्त्रता आ जायेगी । इस आक्षेप का परिहार अग्रिम सूत्र से करते हैं—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहसिष्ट्यादिभ्यः (ललिता)

इस सूत्र में 'तु' शब्द जीवात्मा की भाँति प्राण में स्वातन्त्र्य का वारण करता है । जैसे राजा की सेवा उसके भृत्य और प्रजा करते हैं वैसे ही चक्षुरादि इन्द्रियाँ जीवात्मा के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के प्रति उपकरण हैं, ये स्वतन्त्र नहीं हैं । और जिस प्रकार मन्त्री राजा के समस्त कार्यभार को संभालता है वैसे ही मुख्य प्राण भी जीवात्मा का सर्वार्थसाधक होने से उपकरणरूप है, यह स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ प्राणसंवादादि प्रसङ्ग में प्राण का भी उपदेश सुना जाता है । बृहत्, रथन्तरादि साम की भाँति एक साथ चक्षुरादि प्राण और मुख्य प्राण का उपदेश सुना जाता है अर्थात् सर्वत्र बृहत् एवं रथन्तर साम का प्रयोग एक साथ देखा जाता है वैसे ही करणों के साथ प्राण का भी उपकरणत्वेन पाठ सुना जाता है । सूत्र में आये हुए 'आदि' शब्द से प्राण की स्वतन्त्रता का निराकरण करने वाले संहतत्व और अचेनत्व को दिखलाते हैं । अर्थात् प्राण भोक्ता नहीं है; सावयव, जड़, एवं भौतिक होने के कारण; स्थूल शरीर की भाँति ॥१०॥

यदि चक्षुरादि की भाँति प्राण को भी जीव का करण मानोगे तो इसका भी कोई स्वतन्त्र विषय मानना पड़ेगा । जैसे चक्षु करण है तो रूप उसका विषय है, ऐसे ही प्राण को जीव का करण मानने

---

१. सुहृत्कोश राष्ट्रदुर्गबलादीनि प्रकृतिपदवाच्यानि । २. उपदिश्यते । ३. शब्दाद्येकादशभ्योऽन्यं प्राणस्य विषयनिश्चयं ।४. प्राणो न भोगोपकरणं निर्विषयत्वाद साधारणकार्याभावाच्च व्यतिरेके चक्षुरादिवत् ।

(२८०) अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति ॥११॥

भावो भवति। अपिचैकादशैव कार्यजातानि रूपालोचनादीनि परिगणितानि यदर्थमेकादश प्राणाः संगृहीताः न तु द्वादशमपरं कार्यजातमधिगम्यते यदर्थमयं द्वादशः प्राणः प्रतिज्ञायेतेति। अत उत्तरं पठति—

न तावद्विषयान्तरप्रसङ्गो दोषः। अकरणत्वात्प्राणस्य। नहि चक्षुरादिवत्प्राणस्य विषयपरिच्छेदेन करणत्वमभ्युपगम्यते। न चास्यैतावता कार्याभाव एव। कस्मात्? तथाहि श्रुतिः[२]प्राणान्तरेष्वसंभाव्यमानं मुख्यप्राणस्य वैशेषिकं कार्यं दर्शयति प्राणसंवादादिषु—'अथ ह प्राणा अहम् श्रेयसि व्यूदिरे' इत्युपक्रम्य 'यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठः' (छा० ५-१-६,७) इति चोपन्यस्य प्रत्येक वागाद्युत्क्रमणेन तद्वृत्तिमात्रहीनं यथापूर्वं जीवनं मुख्यप्राणस्य वैशेषिकं कार्यं दर्शयित्वा प्राणोच्चिक्रमिषायां वागादिशैथिल्यापत्ति शरीरपातप्रसङ्गं च दर्शयन्ती श्रुतिः प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियस्थिति

उत्क्रान्तेः शरीरे ऽव्यभिचाराद्देहेन्द्रियधारणोत्क्रान्त्याद्यसाधारणकार्यसत्त्वाच्च निर्विषयस्यापि प्राणस्य शरीरवद्भोगोपकरणत्वमक्षतं न तु चक्षुरादिवज्ज्ञानकर्मकरणत्वमस्ति येन सविषयत्वं स्यादिति परिहरति—न तावदित्यादिना। अहंश्रेयसि स्वस्य श्रेष्ठतानिमित्तम्। व्यूदिरे विवादं चक्रिरे—

पर उसका कोई स्वतन्त्र विषय होना चाहिए। अब तक रूपदर्शनादि परिगणित एकादश कार्य देखे गये हैं जिसके लिए पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन, इस प्रकार एकादश प्राण संग्रहीत हैं। किन्तु बारहवाँ तो कोई कार्य ही नहीं है, जिसके लिए बारह प्राण होने की प्रतिज्ञा की जाय। इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से दिया गया हैं कि—

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति (ललिता)

विषयान्तर की प्राप्तिरूप दोष नहीं है क्योंकि हम प्राण को करण नहीं मानते हैं अर्थात् चक्षुरादि की भाँति विषयपरिच्छेदकरूप में हमने प्राण में करणत्व नहीं माना है और न इतने मात्र से प्राण के कार्य का अभाव ही सिद्ध होता है, क्योंकि चक्षुरादि प्राणों में जिस कार्य का होना सम्भव नहीं है ऐसा कार्य मुख्य प्राण का होना दिखलाया गया है। प्राणसंवादादि प्रसङ्ग में कहा है, कि एक बार 'अपनी श्रेष्ठता के लिए इन्द्रियों में विवाद छिड़ गया' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर और प्रजापति के 'तुममें से जिसके निकलने पर यह शरीर अत्यन्त अपवित्र हो जायेगा वही तुममें श्रेष्ठ है' इस आदेश का उपन्यास करके कहा है कि प्रत्येक वागादि इन्द्रियों ने देह से क्रमशः उत्क्रमण किया, जिससे केवल उस इन्द्रिय का ही व्यापार बन्द हुआ, जीवन तो पूर्व की भाँति बना ही रहा। यह जीवन ही मुख्य प्राण का विशेष कार्य है। इस कार्य को दिखलाने के बाद जब प्राण ने देह से उत्क्रमण करना चाहा तब वागादि इन्द्रियों में शैथिल्यापत्ति और शरीरपात का प्रसङ्ग बतलाती हुई श्रुति प्राणनिमित्तक शरीर-इन्द्रियस्थिति दिखलाती है। 'उन चक्षुरादि प्राणों से वरिष्ठ प्राण ने कहा था कि तुम सब मोह

---

१. निर्विषयत्वेन। २. चक्षुरादिषु।

(२८१) पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥१२॥

दर्शयति । 'तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' इति चैतमेवार्थं श्रुतिराह—'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्' (बृ० ४-३-१२) इति च सुप्तेषु चक्षुरादिषु प्राणनिमित्तां शरीररक्षां दर्शयति । 'यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति' (बृ० १-३-१९) । 'तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान्प्राणानवति' इति च प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियपुष्टिं दर्शयति ॥ "कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि' इति, "स प्राणमसृजत' इति च प्राणनिमित्ते जीवस्योत्क्रान्तिप्रतिष्ठे दर्शयति ॥११॥

इतश्चास्ति मुख्यस्य प्राणस्य वैशेषिकं कार्यं, यत्कारणं पञ्चवृत्तिरयं व्यपदिश्यते श्रुतिषु "प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः' (बृ० १-५-३) इति । वृत्तिभेदश्चायं कार्यभेदापेक्षः । प्राणः प्राग्वृत्तिरुच्छ्वासादिकर्मा । अपानोऽवाग्वृत्तिर्निश्वासादिकर्मा । व्यानस्तयोः संधौ वर्तमानो वीर्यवत्कर्महेतुः । उदान ऊर्ध्ववृत्तिरुत्क्रान्त्यादिहेतुः । समानः समं सर्वेष्वङ्गेषु

तद्वृत्तिमात्रहीनमिति । मूकादिभावेन स्थितमित्यर्थः । अवरं नीचं, कुलायं देहाख्यं गृहं, प्राणेन रक्षञ्जीवः स्वपितीत्यर्थः । तदेव तदानीमेव । तेन प्राणेन यदश्नाति जीवस्तेन प्राणकृताशनेनेति यावत् । एवंश्रुतेः प्राणस्यासाधारणं कार्यमस्तीत्युक्तम् ॥११॥

तत्रैव हेत्वन्तरार्थं सूत्रं व्याचष्टे—इतश्चेत्यादिना । वृत्तिरवस्था । अग्निमन्थनादिकं वीर्य-

---

को प्राप्त मत होओ, मैं ही अपने को पाँच भागों में विभक्तकर इस शरीर को आश्रय देकर धारण करता हूँ' यह श्रुति भी इसी अर्थ को कहती है । "इस नीच शरीरगृह की निद्रादि अवस्था में प्राण के द्वारा रक्षा करता है' इन वाक्य द्वारा चक्षुरादि इन्द्रियों के निर्व्यापार हो जाने पर श्रुति शरीर की रक्षा प्राणनिमित्तक बतलाती है । 'जिस किसी अङ्ग से प्राण जब निकलता है तब वह अङ्ग सूख जाता है' इस वाक्य द्वारा शरीर और इन्द्रियों की पुष्टि प्राण के कारण से ही श्रुति बतलाती है । 'किसके उत्क्रमण करने पर मैं उत्क्रान्त हो जाऊँगा और किसके प्रतिष्ठित होने पर मैं प्रतिष्ठित होऊँगा', "उस परमेश्वर ने प्राण की सृष्टि की' इन वाक्यों द्वारा जीव की उत्क्रान्ति और प्रतिष्ठा प्राण के कारण से ही श्रुति बतलाती है ॥११॥

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते (ललिता)

इसलिए भी मुख्य प्राण का विशेष कार्य है जिसका कारण अग्रिम सूत्र से दिखलाया जाता है । श्रुतियों में प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान; ऐसा पाँच व्यापार प्राण का सुना जाता है । यह व्यापारभेद कार्यभेद की अपेक्षा से है । प्राण सदा श्वास-उच्छ्वास कर्म करता हुआ नासिप्रदेश से नासिकादि द्वारा व्यापारगत दीखता है । अपान निःश्वासादि कर्म करता हुआ अधोव्यापारवाला है । इन दोनों की सन्धि में वर्तमान शक्तिशाली कर्म का निमित्त व्यान है । ऊर्ध्ववृत्ति उत्क्रान्ति आदि का कारण उदान है तथा सभी अङ्गों में जो अन्नरस को समानरूप से पहुँचाता है

६. श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् (सू० १३)

प्राणोऽयं विभुरल्पो वा विभुः स्यात्प्लुष्युपक्रमे । हिरण्यगर्भपर्यन्ते सर्वदेहे समोक्तितः ।।
समष्टिव्यष्टिरूपेण विभुरेवाधिदैवकः । आध्यात्मिकोऽल्पः प्राणः स्याददृश्यश्च यथेन्द्रियम् ।।

योऽन्नरसान्नयतीति । एवं पञ्चवृत्तिः प्राणो मनोवत् । यथा मनसः पञ्चवृत्तयः एवं प्राणस्यापीत्यर्थः । श्रोत्रादिनिमित्ताः शब्दादिविषया मनसः पञ्च वृत्तयः प्रसिद्धाः । न तु कामः सङ्कल्प इत्याद्याः परिपठिताः परिगृह्येरन् । पञ्चसंख्यातिरेकात् । नन्वत्रापि श्रोत्रादिनिरपेक्षा भूतभविष्यदादिविषयाऽपरा मनसो वृत्तिरस्तीति समानः पञ्चसंख्यातिरेकः । एवं तर्हि 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' इति न्यायादिहापि योगशास्त्रप्रसिद्धा मनसः पञ्चवृत्तयः परिगृह्यन्ते 'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः' (पा० यो० सू० १-१-६) नाम । बहुवृत्तित्वमात्रेण वा मनः प्राणस्य निदर्शनमिति द्रष्टव्यम् । जीवोपकरणत्वमपि प्राणस्य पञ्चवृत्तित्वान्मनोवदिति योजयितव्यम् ।।१२।।

वत्कर्म । कामादिवृत्तिवज्ज्ञानेऽपि पञ्चत्वनियमो नास्तीत्यरुचि स्वयमेवोद्भाव्य पक्षान्तरं गृह्णाति—नन्वत्रापीत्यादिना । प्रमाणं प्रमितिः, विपर्ययो भ्रमः । शशविषाणादिज्ञानं विकल्पः । तामसी वृत्तिर्निद्रा । स्मृतिः प्रसिद्धा । भ्रमनिद्रयोरविद्यावृत्तित्वान्न मनोवृत्तित्वमित्यरुच्या स्वमतमाह—बह्विति । सूत्रस्यार्थान्तरमाह—जीवेति । तदेवं प्राणवायोर्भेदाभेदश्रुत्योरविरोध इति सिद्धम् ।।१२।।

वह समान है । इस प्रकार प्राण वैसे ही पाँच व्यापारवाला है. जैसे मन की पाँच वृत्तियाँ हैं । जो श्रोत्रादि के कारण से शब्दादि विषयों को ग्रहण करने वाली मन की पाँच वृत्तियाँ प्रसिद्ध हैं उन्हीं का ग्रहण यहाँ पर करना चाहिए, काम-संकल्पादि जो मन की वृत्तियाँ कही गयी हैं उनका परिग्रह यहाँ नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे पञ्च संख्या से अतिरिक्त भी हैं । शङ्का—यहाँ पर श्रोत्रादि-निरपेक्ष भूत, भविष्यादि विषयों को ग्रहण करने वाली मन की अन्य वृत्तियाँ भी जान पड़ती हैं । अतः यहाँ भी पञ्च संख्या से अतिरिक्त संख्या दीखती है । समाधान—तब तो पातञ्जल मतानुसार 'उनसे अनुमत और अप्रतिसिद्ध विषय भी हैं जो युक्ति से सिद्ध है ।' यहाँ भी योगशास्त्रप्रसिद्ध 'प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृतिरूप' मन की पाँच वृत्तियों का परिग्रह कर लेना चाहिए । इस पक्ष में अरुचि के कारण भाष्यकार स्वमतानुसार बतलाते हैं कि अथवा बहुवृत्तित्वमात्र के कारण प्राण के लिए मन का दृष्टान्त समझना चाहिए । मन की भाँति पाँच प्रकार के व्यापार-वाला होने से प्राण भी जीव का उपकरण है, ऐसी योजना कर लेनी चाहिए ।।१२।।

६. श्रेष्ठाणुत्वाधिकरण

१. **सङ्गति**—प्राण की उत्पत्ति और स्वरूप पिछले दो अधिकरणों में बतलाये गये, अब उसका परिमाण बतलाने के लिए अतिदेश सङ्गति से यह अधिकरण प्रारम्भ होता है ।

२. **विषय**—प्राण के परिमाण का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—क्या प्राण विभु है अथवा परिच्छिन्न है ?

४. **पूर्वपक्ष**—क्षुद्र जन्तु से लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त सभी देह में समानरूप से रहने के कारण प्राण को विभु मानना ही उचित होगा ।

(२८२) अणुश्च ॥१३॥

अणुश्चायं मुख्यः प्राणः प्रत्येतव्य इतरप्राणवत् । अणुत्वं चेहापि सौक्ष्म्यपरिच्छेदौ न परमाणुतुल्यत्वम् । पञ्चभिर्वृत्तिभिः कृत्स्नशरीरव्यापित्वात् । सूक्ष्मः प्राण उत्क्रान्तौ पार्श्वस्थेनानुपलभ्यमानत्वात् । परिच्छिन्नश्चोत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिभ्यः । ननु विभुत्वमपि प्राणस्य समाम्नायते—'समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण' (बृ० १-३-२२) इत्येवमादिप्रदेशेषु तदुच्यते—आधिदैविकेन समष्टिव्यष्टिरूपेण हैरण्यगर्भेण प्राणात्मनैवैतद्विभुत्वमाम्नायते । नाध्यात्मिकेन । अपिच समः प्लुषिणेत्यादिना साम्यवचनेन प्रतिप्राणिवर्तिनः प्राणस्य परिच्छेद एव प्रदर्श्यते तस्माददोषः ॥१३॥

एवं मुख्यप्राणस्योत्पत्ति स्वरूपं चोक्त्वा परिमाणसन्देहेऽणुत्वमुपदिशति—अणुश्चेति । अधिकाशङ्कामाह—ननु विभुत्वमपीति । प्लुषिर्मशकादपि सूक्ष्मो जन्तुः पुत्तिकेत्युच्यते । नागो हस्ती । प्राण उत्क्रामतीति श्रुत्याल्पत्वं प्राणस्य भाति, समोऽनेन सर्वेणेति, श्रुत्या विभुत्वमिति विरोधे आध्यात्मिकप्राणस्याल्पत्वमाधिदैविकस्य विभुत्वमिति विषयभेदाच्छ्रुत्योरविरोध इति समाधत्ते—तदुच्यत इति । किंचोपक्रमे प्राणस्य प्लुष्यादिसमत्वेनाल्पत्वोक्तेः सम एभिस्त्रिभिर्लोकैरिति विराड्देहसाम्यम् । समोऽनेनेति सूत्रात्मत्वमिति विषयव्यवस्था सुस्थेत्याह—अपिचेति । अणवश्चेत्यत्र सर्वेऽनन्ता इति इन्द्रियानन्त्यमुपासनार्थमिति समाहितम्, अत्र तु प्राणविभुत्वमाधिदैविकमिति समाधानान्तरोक्तेरपौनरुक्त्यम् । अन्ये तु प्रसङ्गात्तत्र सांख्याक्षेपो निरस्तः, अत्र तु श्रुतिविरोधो निरस्त इत्यपौनरुक्त्यमाहुः ॥१३॥

---

५. सिद्धान्त—समष्टिरूप से आधिदैविक वायु विभु है और व्यष्टिरूप से आध्यात्मिक वायु परिच्छिन्न है । इन्द्रियों की भाँति प्राण भी अतीन्द्रिय है ।

अणुश्च (ललिता)

चक्षुरादि प्राणों की भाँति मुख्य प्राण को भी अणु परिमाण मानना चाहिए । यहाँ भी अणुत्व शब्द का अर्थ सूक्ष्मत्व और परिच्छिन्नत्व ही है, न कि परमाणुतुल्यत्व । क्योंकि पाँच प्रकार के व्यापार द्वारा यह मुख्य प्राण सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है । इसे हम सूक्ष्म इसीलिए कहते हैं क्योंकि निकटवर्ती लोग शरीर से प्राण के निकलते समय देख नहीं पाते हैं । यदि यह प्राण स्थूल होता, तो बिल से निकलते हुए सर्पदर्शन की भाँति शरीर से निकलते हुए प्राण को भी लोग देख पाते । वैसे ही उत्क्रान्ति, गति और आगति श्रुति के आधार पर प्राण को परिच्छिन्नपरिमाण मानना पड़ता है क्योंकि विभुपरिमाणवाले में उत्क्रान्त्यादि सम्भव नहीं है । शङ्का—'यह प्राण मच्छर से भी छोटा है, अर्थात् 'पुत्तिका के समान, मशक के समान, हाथी के समान और इन तीनों लोकों के समान है, सभी के तुल्य है' इन श्रुतियों में प्राण में विभुपरिमाणत्व भी सुना जाता है । समाधान—आधिदैविक समष्टि-व्यष्टिरूप से हिरण्यगर्भात्मक प्राणरूप में इसे विभु कहा गया है, आध्यात्मिक प्राणरूप में नहीं । इसके अतिरिक्त 'समः प्लुषिणा' इत्यादि वाक्य द्वारा साम्यवचन से प्रतिप्राणी में रहने वाले प्राण का परिच्छेद ही दीखता है, अतः विभुत्व की शङ्का दोषावह नहीं है ॥१३॥

७. ज्योतिराद्यधिकरणम् (सू० १४-१६)

(२८३) ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥१४॥

स्वतन्त्रा देवतन्त्रा वा वागाद्याः स्युः स्वतन्त्रता । नो चेद्वागादिजो भोगो देवानां स्यान्न चात्मनः ।
श्रुतमग्न्यादितन्त्रत्वं भोगोऽन्यादेस्तु नोचितः । देवदेहेषु सिद्धत्वाज्जीवो भुङ्क्ते स्वकर्मणा ॥

ते पुनः प्रकृताः प्राणाः किं स्वमहिम्नैव स्वस्मै स्वस्मै कार्याय प्रभवन्त्याहोस्विद्देवताधिष्ठिताः प्रभवन्तीति विचार्यते—तत्र प्राप्तं तावद्यथा स्वकार्यशक्तियोगात्स्वमहिम्नैव प्राणाः प्रवर्तेरन्निति । अपिच देवताधिष्ठितानां प्राणानां प्रवृत्तावभ्युपगम्यमानायां तासामेवा-

---

पूर्वं प्राणस्याध्यात्मिकाधिदैविकविभागेनाप्यणुत्वविभुत्वव्यवस्थोक्ता, तत्प्रसङ्गेनाध्यात्मिकानां प्राणानामाधिदैविकाधीनत्वमाह—ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् । 'वाचा हि नामान्यभिवदति चक्षुषा रूपाणि पश्यति' इति तृतीयाश्रुत्याऽन्वयव्यतिरेकवत्या वागादीनां निरपेक्षसाधनत्वोक्तिविरोधात्, 'अग्निर्वाग्भूत्वा' इत्यादिश्रुतिस्तेषामचेतनाग्न्याद्युपादानकत्वपरा न तु तेषामधिष्ठातृदेवतापरा । नच स्वकार्ये शक्तानामपि वागादीनामचेतनत्वादधिष्ठात्रपेक्षा न विरुध्यत इति वाच्यं, जीवस्याधिष्ठातृत्वात् । किंच देवतानामधिष्ठातृत्वे जीववद्भोक्तृत्वमस्मिन् देहे स्यात्, तथा चैकत्रानेकभोक्तॄणां विरोधाद्दुर्बलस्य जीवस्य भोक्तृत्वं न स्यादिति पूर्वपक्षार्थः ।

---

७. ज्योतिराद्यधिकरण

१. **सङ्गति**—पिछले अधिकरण में मुख्य प्राण को अध्यात्मदृष्टि से परिच्छिन्न और अधिदैवदृष्टि से विभु बतलाया गया, अब इस अधिकरण में प्राणप्रसङ्ग के कारण अधिदैवकादि से अधिष्ठित इन्द्रियों की चेष्टा बतलाना अभीष्ट है । अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी प्रसङ्ग सङ्गति है ।

२. **विषय**—चक्षुरादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—क्या चक्षुरादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति दैवाधीन है अथवा दैवनिरपेक्ष, स्वतन्त्र है ?

४. **पूर्वपक्ष**—इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्वतन्त्र ही है, दैवाधीन नहीं क्योंकि दैवाधीन मानने पर देवताओं का ही भोग माना जायेगा, आत्मा का नहीं ।

५. **सिद्धान्त**—वागादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति दैवाधीन मानने पर भी भोग देवताओं का मानना उचित नहीं है क्योंकि देवताओं का भोग तो देवशरीर में ही सिद्ध होता है, अन्य शरीरों में तो अपने कर्मानुसार जीव ही भोक्ता माना गया है जो उचित ही है ।

पहले आध्यात्मिक प्राण को अणु और आधिदैविक प्राण को विभु बतलाकर व्यवस्था दी गयी थी । उसी प्रसङ्ग में आध्यात्मिक प्राण को आधिदैविक प्राण के आधीन बतलाने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ होता है ।

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् (ललिता)

क्या वे वागादि प्राण अपनी महिमा से ही अपने-अपने कार्य करने में समर्थ होते हैं या वे देवता से अधिष्ठित हो कार्य करते हैं ऐसा विचार यहाँ पर प्रारम्भ होता है । पूर्वपक्ष—अपने कार्यशक्तिसम्बन्ध से अपनी महिमा के कारण ही प्राण प्रवृत्त होते हैं । यदि देवता से अधिष्ठित

धिष्ठात्रीणां देवतानां भोक्तृत्वप्रसङ्गाच्छारीरस्य भोक्तृत्वं प्रलीयेत । अतः स्वमहिम्नैवैषां प्रवृत्तिरिति ।

एवं प्राप्त इदमुच्यते—'ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु' इति । तुशब्देन पूर्वपक्षो व्यावर्त्यते । ज्योतिरादिभिरग्न्याद्यभिमानिनीभिर्देवताभिरधिष्ठितं वागादि करणजातं स्वकार्येषु प्रवर्तत इति प्रतिजानीते । हेतुं व्याचष्टे—तदामननादिति । तथाह्यामनन्ति—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० २-४) इत्यादि । अग्नेश्चायं वाग्भावो मुखप्रवेशश्च देवतात्मनाऽधिष्ठातृत्वमङ्गीकृत्योच्यते । नहि देवतासंबन्धं प्रत्याख्यायाग्नेर्वाचि मुखे वा कश्चिद्विशेषसंबन्धो दृश्यते । तथा 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' (ऐ० २-४) इत्येवमाद्यपि योजयितव्यम् । तथान्यत्रापि 'वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सो[1]ऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च' (छा० ३-१८-३) इत्येवमादिना वागादीनामग्न्यादिज्योतिष्ट्वादिवचनेनैतमेवार्थं द्रढयति । 'स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्' (बृ० १-३-१२) इति चैवमादिना वागादीनामग्न्यादिभावापत्तिवचनेनैतमेवार्थं द्योतयति ।

सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इत्यादिना । अग्निर्वाग्भूत्वादित्यश्चक्षुर्भूत्वेति च तद्भावोऽत्राग्न्यादिदेवताधिष्ठेयत्वरूप एव संबन्धो न तदुपादानकत्वरूपो दूरस्थादित्यमण्डलादेर्मुखस्थचक्षुराद्युपादानत्वासंभवादित्याह—अग्नेश्चायमिति । वायुः प्राणाधिष्ठाता भूत्वा नासापुटे प्राविशदिति व्याख्येयमित्याह—तथेति । भाति दीप्यते, तपति स्वकार्यं करोतीत्यर्थः । एतस्मिन्नधिष्ठात्रधिष्ठेयत्वरूपार्थे लिङ्गान्तरमाह—स वै वाचमिति । स प्राणो वाचं प्रथमामुद्गीथकर्मणि प्रधानामनृतादिपाप्मरूपं मृत्युमतीत्यावहन्मृत्युना मुक्तां कृत्वा अग्निदेवतात्मत्वं प्रापितवानित्यर्थः । किंच मृतस्याग्नि

प्राण की प्रवृत्ति मानोगे तो उन अधिष्ठातृ देवता में ही भोक्तृत्व का प्रसङ्ग आ जायेगा, जीवात्मा का भोक्तृत्व समाप्त हो जायेगा । अतः अपनी महिमा से ही इन इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है ।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर अग्रिम सिद्धान्त सूत्र कहते हैं । सूत्रस्थ 'तु' शब्द से पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति हो जाती है । अग्न्यादि अभिमानी देवता से अधिष्ठित वागादि इन्द्रियसमुदाय अपने कार्य में प्रवृत्त होता है, ऐसी प्रतिज्ञा सूत्र द्वारा की जाती है । उस प्रतिज्ञा में 'तदामननात्' इस वाक्य द्वारा हेतु बतलाते हैं । वहाँ पर कहते है कि 'अग्नि वाणी होकर मुख में प्रवेश कर गयी' इत्यादि । अग्नि का वाणीरूप से होना और मुख में प्रवेश होना देवात्मरूप से अधिष्ठातृत्व को मानकर ही कहा गया है, देवतासम्बन्ध न मानने पर अग्नि का वाणी और मुख में कोई विशेष सम्बन्ध दीखता नहीं । वैसे ही 'वायु प्राण बनकर घ्राण में प्रविष्ट हो गया' इत्यादि वाक्यों की भी योजना कर लेनी चाहिए । उसी प्रकार 'ब्रह्म का चतुर्थ पाद वाणी ही है जो अधिदैव[2] अग्निरूप ज्योति से दीप्त होता है और अपना कार्य करता है' इत्यादि वाक्यों द्वारा अन्यत्र भी वागादि को अग्न्यादि ज्योतिरूप कथन से इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं । 'उस मुख्य प्राण ने सर्वप्रथम वाणी का अतिवहन किया, वह वाणी जब मृत्यु को पार कर गयी तब वह अग्निरूप हो गयी' इत्यादि वाक्य द्वारा वागादि के अग्न्यादिभावापत्तिकथन से

---

१. वागात्मकः पादः । मनोरूपब्रह्मणो वाक्प्राणचक्षुः श्रोत्रैश्च तुष्पादत्वं श्रुतावुक्तम् । २. अधिदैवेन ।

(२८४) प्राणवता शब्दात् ॥१५॥

सर्वत्र चाध्यात्माधिदैवतविभागेन वागाद्यग्न्याद्यनुक्रमणमनयैव प्रत्यासत्त्या भवति। स्मृतावपि—'वागध्यात्ममिति प्राहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः। वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम्।' इत्यादिना वागादीनामग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्वं सप्रपञ्चं दर्शितम्। यदुक्तं स्वकार्यशक्तियोगात्स्वमहिम्नैव प्राणाः प्रवर्तेरन्निति। तदयुक्तम्। शक्तानामपि शकटादीनमनडुहाद्यधिष्ठितानां प्रवृत्तिदर्शनात्। उभयथोपपत्तौ चागमाद्देवताधिष्ठितत्वमेव निश्चीयते ॥१४॥

यदप्युक्तं देवतानामेवाधिष्ठात्रीणां भोक्तृत्वप्रसङ्गो न शारीरस्येति तत्परिह्रियते—

सतीष्वपि प्राणानामधिष्ठात्रीषु देवतासु प्राणवता कार्यकरणसंघातस्वामिना शारीरेणैवैषां प्राणानां सम्बन्धः श्रुतेरवगम्यते। तथाहि श्रुतिः—'अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं

वागप्येति वातं प्राणः, चक्षुरादित्यमित्यादिश्रुतिरप्यधिष्ठात्रधिष्ठेयत्वसंबन्धं द्योतयतीत्याह—सर्वत्रेति। ननु शकटादीनां बलीवर्दादिप्रेरितानां प्रवृत्तिर्दृष्टा, क्षीरादीनां त्वनधिष्ठितानामपि दध्यादिप्रवृत्तिर्दृश्यते, तथा चोभयथासंभवे कथं निश्चयः, तत्राह—उभयथोपपत्तौ चेति ॥१४॥

उक्तदोषान्तरनिरासाय सूत्रमवतारयति—यदपीति। शारीरेणैवेति। भोक्त्रेति शेषः। संबन्धो भोक्तृभोग्यभावः। अथ देहे प्राणप्रवेशानन्तरं यत्र गोलके एतच्छिद्रमनुप्रविष्टं चक्षुरिन्द्रियं तत्र [1]चक्षुष्यभिमानी स आत्मा चाक्षुषः [2]तस्य रूपदर्शनाय [3]चक्षुः। यद्यप्यात्मा करणान्यपेक्षते तथापि

इसी अर्थ को द्योतित करते हैं। सभी स्थलों में अध्यात्म और अधिदैव विभाग से वागादि के अग्न्यादि का अनुक्रमण इस प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) से ही सिद्ध हो जाता है। स्मृति में भी 'तत्त्वदर्शी ब्राह्मणों ने वाणी को अध्यात्म, वक्तव्य को अधिभूत और वह्नि को वहाँ पर अधिदैव कहा है' ऐसे वाक्यों द्वारा विस्तारपूर्वक उक्त विभाग का प्रदर्शन किया गया है। और जो आप ने कहा था कि स्वकार्यशक्तियोग से अपनी महिमा के कारण ही इन्द्रियाँ अपने कार्य में प्रवृत्त हो जायेंगी, अधिष्ठातृ देव की क्या आवश्यकता है? ऐसा कहना असङ्गत है क्योंकि बोझ उठाने एवं खींचने में समर्थ भी शकटादि को बलिवर्द से अधिष्ठित होने पर ही प्रवृत्ति देखी जाती है। यद्यपि रथादि की प्रवृत्ति बैलों के कारण और दुग्धादि की प्रवृत्ति दध्यादिरूप में अधिष्ठान के बिना ही देखी जाती है। इस प्रकार उभयथा प्रवृत्ति देखने पर आगम के बल से वागादि को अग्न्यादि देवता से अधिष्ठित मानने का ही निश्चय करना चाहिए ॥१४॥

और जो आप ने अधिष्ठातृ देवता में ही भोक्तृत्व का प्रसङ्ग आ जायेगा, जीवात्मा में भोक्तृत्व नहीं रह जायेगा? ऐसा आक्षेप किया था उसका परिहार अग्रिम सूत्र से करते हैं कि—

प्राणवता शब्दात् (ललिता)

इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता मान लेने के बाद भी कार्यकरणसंघात स्वामी प्राणवाले जीवात्मा के साथ ही इन प्राणों (इन्द्रियों) का सम्बन्ध श्रुति से जाना जाता है। 'इसके बाद जहाँ पर आकाश के

---

१. विश्वसंज्ञकः। २. जीवात्मनः। ३. अपेक्षते इति शेषः।

(२८५) तस्य च नित्यत्वात् ॥१६॥

चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय 'घ्राणम्' (छा० ८-१२-४) इत्येवंजातीयका शारीरेणैव प्राणानां सम्बन्धं श्रावयति । अपिचानेकत्वात्प्रतिकरणमधिष्ठात्रीणां देवतानां न भोक्तृत्वमस्मिञ्शरीरेऽवकल्पते । एको ह्येवमस्मिञ्शरीरे शारीरो भोक्ता प्रतिसन्धानादिसम्भवादवगम्यते ॥१५॥

तस्य च शारीरस्यास्मिञ्शरीरे भोक्तृत्वेन नित्यत्वं पुण्यपापोपलेपसम्भवात्सुखदुःखोपभोगसम्भवाच्च न देवतानाम् । ता हि परस्मिन्नैश्वर्ये पदेऽवतिष्ठमाना न हीनेऽस्मिञ्शरीरे भोक्तृत्वं प्रतिलब्धुमर्हन्ति । श्रुतिश्च भवति—'पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान्पापं गच्छति' (बृ० १-५-३) इति शारीरेणैव च नित्यः प्राणानां सम्बन्ध उत्क्रान्त्यादिषु तदनुवृत्तिदर्शनात् । 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रा-

---

ज्ञयज्ञानतदाश्रयाहंकारान्यो वेद स आत्मा चिद्रूप एव, करणानि तु गन्धादिप्रवृत्तयेऽपेक्ष्यन्ते[1] न चैतन्याश्रुत्यर्थः । किंच योऽहं रूपमद्राक्षं स एवाहं शृणोमीति प्रतिसंधानादेकः शारीर एव भोक्ता न बहवो देवा इत्याह—अपिचेति ॥१५॥

कदाचिद्देवानामत्रभोक्तृत्वं कदाचिज्जीवस्येत्यनियमोऽस्त्वित्याशङ्क्य स्वकर्मार्जिते देहे जीवस्य भोक्तृत्वनियमान्मैवमित्याह सूत्रकारः—तस्य चेति । उत्क्रमणादिषु जीवस्य प्राणाव्यभिचारात्तस्यैव प्राणस्वामित्वं, देवतानां तु परस्वामिकरथसारथिवदधिष्ठातृत्वमात्रमिति व्याख्यान्तरमाह—शारीरेणैव च नित्य इति । यथा प्रदीपादिः करणोपकारकतया करणपक्षस्यान्तर्गतस्तथा देवाः करणोपकारिण

पीछे चक्षु अनुगत होता है तब वह चाक्षुष पुरुष रूप देखने के लिए चक्षु की सहायता लेता है और मैं गन्ध को सूंघू, ऐसी आकांक्षा करता है तब वह जीव गन्धग्रहण के लिए घ्राण की अपेक्षा करता है' इस प्रकार की श्रुतियाँ जीवात्मा के साथ ही इन्द्रियों का सम्बन्ध बतलाती हैं। साथ ही प्रत्येक इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता अनेक हैं, अतः इस शरीर में देवताओं को भोक्ता कहोगे तो अनेक भोक्ता होने लग जायेंगे । किन्तु इस शरीर में शारीर (जीवात्मा) भोक्ता एक है । **'योऽहं आदर्शं सोऽहं अद्य स्पृशामि'** इससे दर्शन एवं स्पर्श का कर्ता एक ही सिद्ध होता है । अतः प्रतिसन्धानादि सम्भव होने के कारण इस शरीर में भोक्ता जीव एक ही सिद्ध होता है, अनेक नहीं ॥१५॥

तस्य च नित्यत्वात् (ललिता)

इस शरीर में उस जीवात्मा का भोक्तृत्व होने से नित्यत्व एवं पुण्य-पाप का सम्बन्ध होने से सुख-दुःख उपभोग का होना भी सम्भव हो जाता है जो देवताओं में सम्भव नहीं है। उत्कृष्ट, समृद्ध पद पर बैठे हुए देवता भला इस क्षुद्र शरीर में भोक्ता क्यों बनने लग जायें। श्रुति कहती भी है कि 'देवताओं को पुण्य ही मिलता है, निःसन्देह देवताओं को पाप नहीं लगता' इत्यादि । तथा जीवात्मा के साथ ही इन्द्रियों का नित्य सम्बन्ध बतलाया गया है क्योंकि उत्क्रान्त्यादि में जीवात्मा के साथ प्राण का अनुवर्तन देखा जाता है। 'उस जीवात्मा के देह से निकलने के पीछे मुख्य प्राण निकलता है

---

१. अपेक्षते इति शेषः ।

८. इन्द्रियाधिकरणम् (सू० १७-१९)

(२८६) त इन्द्रियाणि [1]तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥१७॥

प्राणस्य वृत्तयोऽक्षाणि प्राणात्तत्त्वान्तराणि वा । तद्रूपत्वश्रुतेः प्राणनाम्नोक्तत्वाच्च वृत्तयः ॥
श्रमाश्रमादिभेदोक्तेर्गौणे तद्रूपनामनी । आलोचकत्वेनान्यानि प्राणो नेताक्षदेहयोः ।

मन्ति' (बृ०४-४-२) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तस्मात्सतोष्वपि करणानां नियन्त्रीषु देवतासु न शारीरस्य भोक्तृत्वमपगच्छति । करणपक्षस्यैव हि देवता न भोक्तृपक्षस्येति ॥१६॥

मुख्यश्चैक इतरे चैकादश प्राणा अनुक्रान्ताः । तत्रेदमपरं संदिह्यते । किं मुख्यस्यैव

एव न भोक्तार इत्यर्थः । जीवस्यादृष्टद्वारा करणाधिष्ठातृत्वाद्रथस्वामिवद्भोक्तृत्वं, देवानां तु करणोपकाराभिज्ञतया सारथिवदधिष्ठातृत्वमिति न जीवेन[2]ऽन्यथासिद्धिः । देवानामधिष्ठातृत्वेनास्मिन्देहे [3]भोक्तृत्वानुमानं तु 'न ह वै देवान् पापं गच्छति' इत्युक्तश्रुतिबाधितम् । तस्मात् 'चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति' इति श्रुतेः साधनत्वमात्रबोधित्वादग्निर्वाग्भूत्वेत्याद्यधिष्ठातृदेवतापेक्षाबोधकश्रुतिभिरविरोध इति सिद्धम् ॥१६॥

सत्स्विन्द्रियेषु तदधिष्ठातृदेवताचिन्ता, तान्येव प्राणवृत्तिव्यतिरेकेण न सन्तीत्याक्षेपं प्रत्याह— त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् । प्राणादिन्द्रियाणां भेदाभेदश्रुतिभ्यां संशयं वदन् पूर्वपक्षयति—

और प्राण के पीछे सभी इन्द्रियां निकल जाती हैं' इत्यादि श्रुतियों से इन्द्रियों का सम्बन्ध जीवात्मा के साथ ही नित्य माना गया है । अतः इन्द्रियों के नियामक देवता के रहते हुए भी उनमें भोक्तृत्व नहीं आता है और जीवात्मा से भोक्तृत्व हटता भी नहीं है क्योंकि देवता करण के ही पक्षपाती होते हैं, भोक्तृत्व के नहीं ॥१६॥

८. इन्द्रियाधिकरण

१ सङ्गति—मुख्य प्राण से भिन्न जब इन्द्रियों की सत्ता ही नहीं है फिर उसके अधिष्ठातृदेव की चिन्ता ही क्यों की जाय, इस प्रकार आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है । अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है ।

२. विषय—इन्द्रियों के अस्तित्व का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—क्या इन्द्रियां प्राण के ही व्यापारविशेष हैं अथवा प्राण से भिन्न इन्द्रियां तत्त्वान्तर हैं ?

४. पूर्वपक्ष—वागादि इन्द्रियों में प्राणरूपत्व सुना गया है, प्राण नाम से ही वागादि इन्द्रियों को कहा जाता है । अतः प्राण के ही व्यापारविशेष वागादि इन्द्रियां हैं, वे स्वतन्त्र नहीं हैं ।

५. सिद्धान्त—वागादि इन्द्रियों का श्रान्त होना कहा गया हैं, किन्तु मुख्य प्राण का नहीं । अतः इन्द्रियों के वागादि रूप और प्राण नाम गौण हैं, आलोचक होने के कारण अन्य इन्द्रियां प्राण नाम से कही गयी हैं । अतः प्राण देह और इन्द्रियों का नेता है ।

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् (ललिता)

प्राण से इन्द्रियों का भेद और अभेद बतलाने वाली श्रुतियां कहती हैं कि एक मुख्य प्राण और दूसरे

---

१. अन्यत्र । २. ज्योतिरादीति सूत्रभाष्यटीकायामुद्भाविता याऽन्यथासिद्धिः सा नेत्यर्थः । ३. देवा भोक्तारोऽधिष्ठातृत्वे जीववदित्यनुमानं तु ।

प्राणस्य वृत्तिभेदा इतरे प्राणा आहोस्वित् 'तत्त्वान्तराणीति । किं तावत्प्राप्तं मुख्यस्यैवेतरे वृत्तिभेदा इति । कुतः ? श्रुतेः । तथाहि श्रुतिर्मुख्यमितरांश्च प्राणान्सन्निधाप्य मुख्यात्मतामितरेषां ख्यापयति—'हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' (बृ० १-५-२१) इति । प्राणैकशब्दत्वाच्चैकत्वाध्यवसायः इतरथा ह्यन्याय्यमनेकार्थत्वं प्राणशब्दस्य प्रसज्येत । एकत्र वा मुख्यत्वमितरत्र वा लाक्षणिकत्वमापद्येत । तस्माद्यथैकस्यैव प्राणस्य प्राणाद्याः पञ्चवृत्तय एवं वागाद्या अप्येकादशेति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तत्त्वान्तराण्येव प्राणाद्वागादीनीति । कुतः ? व्यपदेशभेदात् । कोऽयं व्यपदेशभेदः । ते प्रकृताः प्राणाः 'श्रेष्ठं वर्जयित्वावशिष्टा एकादशेन्द्रियाणीत्युच्यन्ते । श्रुतावेवं व्यपदेशदर्शनात् । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २-१-३) इति ह्येवंजातीयकेषु प्रदेशेषु पृथक्प्राणो व्यपदिश्यते पृथक्चेन्द्रियाणि । ननु मनसोऽप्येवं

मुख्यश्चेत्यादिना । हन्त इदानीमस्यैव मुख्यप्राणस्य सर्वे वयं स्वरूपं भवामेति संकल्प्य ते वागादयस्तथाभवन्नित्यभेदश्रुत्यर्थः । ते प्राणादभिन्नाः, प्राणपदवाच्यत्वात्, प्राणवदित्याह—प्राणेति ।

ते प्राणाः श्रेष्ठादन्यत्र अन्ये इति प्रतिज्ञार्थत्वेन पदत्रयं व्याचष्टे—तत्त्वान्तराण्येवेति । तद्व्यपदेशादित्यत्र तच्छब्दः प्रतिज्ञातान्यत्वं परामृशति । प्राणा इन्द्रियाणीत्यपर्यायशब्दाभ्यामन्यत्वोक्तेरिति हेतूपपादनार्थत्वेन पुनस्तानि सूत्रपदानि योजयति—क इत्यादिना । सूत्रस्य विश्वतोमुखत्वादुभयार्थत्वमलंकार एव न दूषणम् । एतेन प्रतिज्ञाध्याहारः तच्छब्दस्याप्रकृतभेदपरामर्शित्वं चेति दोषद्वयमपास्तम् । शब्दभेदाद्वस्तुभेदसाधनेऽतिप्रसङ्गं शङ्कते—नन्विति । प्राणवन्मनसोऽपि इन्द्रियेभ्यो भेदः

एकादश प्राण सभी जीवात्मा के पीछे उत्क्रमण करते हैं । वहाँ यह सन्देह होता है कि इन्द्रियाँ मुख्य प्राण के ही व्यापारविशेष हैं अथवा वे तत्त्वान्तर हैं । पूर्वपक्ष—मुख्य प्राण के ही व्यापारविशेष इतर प्राण हैं क्योंकि श्रुति ऐसा ही कहती है । मुख्य प्राण एवं इतर प्राण दोनों को अपनी सन्निधि में करके श्रुति अन्यों की अपेक्षा एक में मुख्यता बतलाती है । वहाँ पर कहा है कि 'प्रसन्नता की बात है, इस मुख्य प्राण के ही रूप वागादि सभी हो जाते हैं ।' इसके अतिरिक्त एक प्राण शब्द का प्रयोग दोनों के ही लिए होने से दोनों में एकत्व का निश्चय होता है अन्यथा प्राण शब्द का अनेकार्थ मानना अन्याय हो जायेगा अथवा एक में मुख्यत्व और दूसरे में लाक्षणिकत्व आने लग जायेगा । अतः जिस प्रकार एक ही प्राण के प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान; ये पाँच व्यापार होते हैं ऐसे ही वागादि एकादश व्यापार भी इस मुख्य प्राण के ही माने जायेंगे ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि वागादि इन्द्रियाँ मुख्य प्राण से भिन्न तत्त्व हैं क्योंकि व्यपदेश भिन्न देखे जाते हैं । यह व्यपदेश भेद क्या है ? वे प्रसङ्गागत प्राण, मुख्य प्राण को छोड़कर शेष एकादश इन्द्रियाँ इस नाम से कहे जाते हैं, श्रुति में इसी प्रकार का व्यपदेशभेद देखा जाता है । 'इस परमात्मा से प्राण उत्पन्न हुआ, मन और इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं' ऐसे स्थलों में प्राण और इन्द्रियों का व्यपदेश पृथक्-पृथक् सुना जाता है । पूर्वपक्ष—तब तो इस प्रकार मन को भी पृथक्

---

१. वस्त्वन्तराणि २. मुख्यं प्राणम् ।

(२८७) भेदश्रुतेः ॥१८॥

सति वर्जनमिन्द्रियत्वेन प्राणवत्स्यात्, 'मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति पृथग्व्यपदेशदर्शनात्। सत्यमेतत्। स्मृतौ त्वेकादशेन्द्रियाणीति मनोऽपीन्द्रियत्वेन श्रोत्रादिवत्संगृह्यते। प्राणस्य त्विन्द्रियत्वं न श्रुतौ स्मृतौ वा प्रसिद्धमस्ति। व्यपदेशभेदश्चायं तत्त्वभेदपक्षे उपपद्यते। तत्त्वैकत्वे तु 'स एवैकः सन्प्राण इन्द्रियव्यपदेशं लभते न लभते च' इति विप्रतिषिद्धम्। तस्मात्तत्त्वान्तरभूता मुख्यादितरे ॥१७॥

कुतश्च तत्त्वान्तरभूताः—

भेदेन वागादिभ्यः प्राणः सर्वत्र श्रूयते—'ते ह वाचमूचुः' (बृ० १-३-२) इत्युपक्रम्य

स्यादित्यर्थः। अपर्यायसंज्ञाभेदात्स्वतन्त्रसंज्ञिवस्तुभेद इत्युत्सर्गः। 'स च 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' इत्यादिस्मृतिबाधान्मनस्य'पोह्यते, प्राणे तु बाधकाभावादुत्सर्गसिद्धिरिति समाधत्ते—सत्यमित्यादिना। 'मन इन्द्रियाणि चेति भेदोक्तिर्गोबलीवर्दन्यायेन नेया। सिद्धान्ते मनसः प्रमोपादानत्वादात्मवदनिन्द्रियत्वमिष्टं ततो नोत्सर्गबाध इति केचित्। किञ्च 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति पृथग्जन्मव्यपदेशात्स्वतन्त्रवस्तुभेद इत्याह—व्यपदेशभेदश्चायमिति। एकस्मिन् वाक्ये प्राण इन्द्रियशब्दमेवयाल्लभते पुनरुक्तिभयान्न लभते चेति व्याघात इत्यर्थः ॥१७॥

एवं 'भेदेनापर्यायसंज्ञाभ्यामुक्तेः पृथग्जन्मोक्तेश्चेति तद्व्यपदेशाविति हेतुर्व्याख्यातः। भेदश्रुतेरिति सूत्रेण प्रकरणभेदो हेतुरुक्त इति न पौनरुक्त्यम्। ते ह देवाः शास्त्रीयेन्द्रियमनोवृत्तिरूपा असुराणां पापवृत्तिरूपाणां जयार्थमुद्गीथकर्मणि प्रथम व्यापृतां वाचमूचुस्तत्र उद्गायासुरनाशार्थमिति तथास्त्वित्यङ्गीकृत्योद्गायन्तीं वाचमनृतादिदोषेण विध्वंसितवन्तोऽसुरा इत्येवं क्रमेण सर्वेष्विन्द्रियेषु पापग्रस्तेषु पश्चादथेति प्रकरणं विच्छिद्य प्रसिद्धमास्ये भवमासन्यं मुख्यं प्राणमूचुस्तत्र उद्गायेति तेन प्राणेनोद्गात्रा निर्विषयतया सङ्गदोषशून्येनासुरा नष्टा इत्यसुराणां विध्वंसिनो मुख्यप्राणस्योक्तेर्भेदसिद्धिरित्याह—ते हेति। तानि त्रीण्यन्यान्यात्मने स्वार्थं प्रजापतिः कृतवानित्यर्थः ॥१८॥

मानना पड़ेगा, इन्द्रियत्वेन, प्राण की भांति, क्योंकि 'मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इस वाक्य द्वारा पृथक् व्यपदेश देखा जाता है अर्थात् इन्द्रियों से भिन्न जैसे प्राण है ऐसे ही मन को मानना पड़ेगा। सिद्धान्त—ठीक है, किन्तु स्मृति 'एकादश इन्द्रियाँ' इस वाक्य से श्रोत्रादि की भांति मन को भी इन्द्रियरूप से संग्रह किया गया है, पर प्राण में इन्द्रियत्व श्रुति अथवा स्मृति में कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। यह व्यपदेशभेद तत्त्वभेद पक्ष में युक्तियुक्त सिद्ध होता है। तत्त्व को एक मानने पर 'वही एक प्राण होता हुआ इन्द्रियव्यपदेश का भागी होता है और नहीं भी होता है' ऐसा विरोध आने लग जायेगा। इसलिए मुख्य प्राण से इतर प्राण भिन्न तत्त्व हैं ॥१७॥

मुख्य प्राण से इतर प्राण तत्त्वान्तर कैसे माने जायें, इसका उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं—

भेदश्रुतेः (ललिता)

वागादि से प्राण सर्वत्र भिन्न ही सुना जाता है—'उन चक्षुरादि प्राणों ने वाणी से कहा' यहाँ

---

१. वस्तु। २. उत्सर्गः। ३. त्यज्यते। ४. श्रुताविति शेषः। ५. प्राणा इन्द्रियाणीत्यपर्यायशब्दाभ्यामन्यत्वोक्तेरित्यर्थः।

(२८८) वैलक्षण्याच्च ॥१९॥

वागादीनसुरपाप्मविध्वस्तानुपन्यस्योपसंहृत्य वागादिप्रकरणम्, 'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः' इत्यसुरविध्वंसिनो मुख्यस्य प्राणस्य पृथगुपक्रमात् । तथा 'मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुत' इत्येवमाद्या अपि भेदश्रुतय उदाहर्तव्याः । तस्मादपि तत्त्वान्तरभूता मुख्यादितरे ॥१८॥

कुतश्च तत्त्वान्तरभूताः—

वैलक्षण्यं च भवति मुख्यप्राणस्येतरेषां च सुप्तेषु वागादिषु मुख्य एको जागर्ति स एव चैको मृत्युनाऽनाप्तः आप्तास्त्वितरे। तस्यैव प्राणस्यावस्थित्युत्क्रान्तिभ्यां देहधारणपतनहेतुत्वं नेन्द्रियाणाम् । विषयालोचनहेतुत्वं चेन्द्रियाणां न प्राणस्येत्येवंजातीयको भूयाँल्लक्षणभेदः प्राणेन्द्रियाणाम् । तस्मादप्येषां तत्त्वान्तरभावसिद्धिः । यदुक्तम्—'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' (बृ० १-५-२१) इति श्रुतेः प्राण एवेन्द्रियाणीति, तदयुक्तम् । तत्रापि पौर्वापर्यालोचनाद्भेदप्रतीतेः । तथाहि—'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे' (बृ० १-५-२१) इति

विरुद्धधर्मवत्त्वाच्च भेद इत्याह—वैलक्षण्याच्चेति । मृत्युरासङ्गदोषःवाग्दध्रे व्रतं धृतवतीत्यर्थः । बहुभिर्भेदलिङ्गैर्विरोधाद्वागादीनां प्राणरूपभवनं प्राणाधीनस्थितिकत्वरूपं व्याख्येयम् । एतदेव प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लक्षणाबीजं श्रुतौ 'तस्मादेत एतेनाख्यायन्त' इति परामृष्टम्, इति न भेदाभेदश्रुत्योर्विरोध इति सिद्धम् ॥१९॥

से प्रसङ्ग प्रारम्भकर वागादि को असुरों के पाप से विद्ध बतलाकर वागादि प्रकरण को समाप्तकर 'इस मुखान्तरवर्ती प्राण से सभी इन्द्रियों ने कहा' इस वाक्य द्वारा असुरविध्वंसक मुख्य प्राण का पृथक् प्रकरण कहा गया है। वैसे ही 'मन, वाणी और प्राण ये तीनों अन्न आत्मा के लिए बनाया' इस प्रकार भेदबोधक अन्य श्रुतियों का उदाहरण भी समझ लेना चाहिए। इससे भी मुख्य प्राण से इतर वागादि प्राण भिन्न तत्त्व सिद्ध होते हैं ॥१८॥

मुख्य प्राण से इतर प्राण तत्त्वान्तर क्यों है, इसका उत्तर अग्रिम सूत्र से दिया गया है—

वैलक्षण्याच्च (ललिता)

वागादि प्राण के सो जाने पर अकेला मुख्य प्राण जागता रहता है और वह मृत्यु से ग्रस्त नहीं होता, ऐसा भेद मुख्य प्राण और वागादि में बतलाया गया है; पर वागादि प्राण तो मृत्यु से ग्रस्त हो जाते हैं। देह में मुख्य प्राण के रहने पर देहधारण और उत्क्रान्ति करने पर देह के पतन होता है, पर इन्द्रियाँ देहधारण एवं पतन की हेतु नहीं है। उन इन्द्रियों में विषयानुभवहेतुत्व तो है जो प्राण का काम नहीं है, ऐसे अनेकों लक्षणें में भेद प्राण इन्द्रियों और मुख्य प्राण के देखे जाते हैं। इससे भी वागादि में तत्त्वान्तर की सिद्धि होती है। और जो आप ने कहा था कि 'इस मुख्य प्राण के ही वागादि सभी रूप हैं' इस श्रुति के बल से वागादि इन्द्रियाँ प्राणस्वरूप ही हैं ? ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ भी पूर्वापर की आलोचना करने पर भेद ही सिद्ध होता है। 'जब वाणी ने व्रत लिया कि मैं

९. संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् (सू० २०-२२)

नामरूपव्याकरणे जीवः कर्ताथवेश्वरः । अनेन जीवेनेत्युक्तेर्व्याकर्ता जीव इष्यते ।।
जीवान्वयः प्रवेशेन सन्निधेः सर्वसर्जने । जीवोऽशक्तः शक्त ईश उत्तमोक्तिस्तथेक्षितुः ।।

वागादीनीन्द्रियाण्यनुक्रम्य 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्' इति च श्रमरूपेण मृत्युना ग्रस्तत्वं वागादीनामभिधाय 'अथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणः' (बृ० १-५-२१) इति पृथक्प्राणं मृत्युनानभिभूतमनुक्रामति । 'अयं वै नः श्रेष्ठः' (बृ० १-५-२१) इति च श्रेष्ठतामस्यावधारयति । तस्मात्तदविरोधेन वागादिषु परिस्पन्दलाभस्य प्राणायत्तत्वं तद्रूपभवनं वागादीनामिति मन्तव्यं न तु तादात्म्यम् । अत एव च प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकत्वसिद्धिः । तथाच श्रुतिः—'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन् । तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणाः' (बृ० १-५-२१) इति मुख्यप्राणविषयस्यैव प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकीं वृत्तिं दर्शयति । तस्मात्तत्त्वान्तराणि प्राणाद्वागादीन्द्रियाणीति ।।१९।।

बोलती ही रहूंगी' इस वाक्य द्वारा वागादि इन्द्रिय का प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'उन्हें मृत्यु ने श्रम बनकर घेर लिया' इत्यादि वाक्य से वाणी का श्रान्त होना कहा है अर्थात् श्रमरूप मृत्यु से वागादि का ग्रस्त होना बतलाया है । 'केवल इस प्राण को ही मृत्यु व्याप्त न कर सका जो यह शरीरमध्यवर्ती है' इस वाक्य द्वारा मृत्यु से अनभिभूत प्राण को पृथक् बतलाया है । और 'निःसन्देह यह प्राण ही हम सब में श्रेष्ठ है' इस वाक्य द्वारा प्राण की श्रेष्ठता का निश्चय होता है । अतः इन सभी श्रुतियों के अविरोध को देखते हुए वागादि में चेष्टा प्राणाधीन है, इसीलिए वागादि को प्राणरूप कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए । पर उनमें अभेद नहीं है, इसीलिए प्राण शब्द का प्रयोग इन्द्रियों में लाक्षणिक सिद्ध होता है । ऐसा ही श्रुति भी कहती है कि 'वे वागादि सभी प्राण के ही रूप हैं, इसीलिए वागादि इन्द्रियां प्राण शब्द से कही जाती है ।' इस प्रकार प्राण शब्द मुख्य प्राण को शक्तिवृत्ति से और इन्द्रियों को लक्षणा से बतलाता है; इसीलिए वागादि मुख्य प्राण से भिन्न तत्त्व माने जाते हैं ।।१९।।

९. संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरण

१. **सङ्गति**—पिछले अधिकरण में नाम-रूप के भेद से प्राण और इन्द्रियों में भेद कहा गया था, अब प्रसङ्गवशात् नाम-रूपव्याकरणहेतु दिखलाने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ होना है । अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी प्रसङ्ग सङ्गति है ।

२. **विषय**—नाम-रूप के कर्ता का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—नाम-रूप का व्याकरणकर्ता जीव है अथवा ईश्वर है ?

४. **पूर्वपक्ष**—सृष्टि के बाद जीवरूप से परमेश्वर का प्रवेश कहा गया है, अतः नाम-रूप का कर्ता जीव ही है ।

५. **सिद्धान्त**—नाम-रूप व्याकरण का कर्ता परमेश्वर को ही मानना चाहिए जो सम्पूर्ण सृष्टि में प्रवेशकर सन्निधिमात्र से सबके साथ जुड़ा हुआ है । सम्पूर्ण जगत् की रचना में जीव असमर्थ है, ईश्वर ही समर्थ है । '**नामरूपे व्यकरवाणि**' (छा० ६-३-२) इस श्रुति द्वारा उत्तम पुरुष का कथन तो आवेक्षणमात्र ही है, अन्य कुछ भी नहीं है ।

(२८९) संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥२०॥

सत्प्रक्रियायां तेजोऽबन्नानां सृष्टिमभिधायोपदिश्यते—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानु प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति । तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति' (छा० ६-३-२) । तत्र संशयः—किं जीवकर्तृकमिदं नामरूपव्याकरणमाहोस्वित्परमेश्वरकर्तृकमिति । तत्र प्राप्तं तावज्जीवकर्तृकमेवेदं नामरूपव्याकरणमिति । कुतः ? 'अनेन जीवेनात्मना' इति विशेषणात् । यथा लोके चारेणाहं परसैन्यमनुप्रविश्य संकलयानीत्येवंजातीयके प्रयोगे चारकर्तृकमेव सत्सैन्यसंकलनं हेतुकर्तृत्वाद्राजात्मन्यध्यारोपयति संकलयानीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण, एवं जीवकर्तृकमेव सन्नाम-

उत्पत्तिरुत्पादनेति च कार्यकर्त्रोर्व्यापारौ प्रसिद्धौ तत्र जगदुत्पत्तिश्रुतिविरोधः अतीतेन पादद्वयेन निरस्तः, संप्रत्युत्पादनश्रुतिविरोधो निरस्यते । तत्रापि सूक्ष्मभूतोत्पादनं पारमेश्वरमेवेति श्रुतिष्वविप्रतिपन्नं, स्थूलभूतोत्पादने त्वस्ति श्रुतिविप्रतिपत्तिरिति तन्निरासार्थमाह—संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् । नामरूपभेदात्करणभिन्नः प्राण इत्युक्तं, तत्प्रसङ्गेन स्थूलनामरूपक्लृप्तिः किंकर्तृकेति चिन्त्यत इत्यवान्तरसंगतिः । प्रक्रिया प्रकरणं । ईक्षणमेवाह—हन्तेत्यादिना । हन्त इदानीं देवताः सूक्ष्मा अनुप्रविश्येति संबन्धः । तासां तिसृणां देवतानामेकैकां देवतां तेजोबन्नात्मना त्र्यात्मिकां करिष्यामीति श्रुतिः पञ्चीकरणोपलक्षणार्था । छान्दोग्येऽप्याकाशवाय्वोरुपसंहारस्योक्तत्वात् । एवं स्थूलीकृतेषु भूतेषु प्राणिनां व्यवहारः सेत्स्यतीति परदेवतायास्तात्पर्यम् । जीवेनेतिपदस्य व्याकरवाणीत्यनेन संबन्धसंभवासंभवाभ्यां संशयमाह—तत्रेति । पूर्वपक्षे जीवस्यैव भौतिकस्रष्टृत्वाद्ब्रह्मणः सर्वस्रष्टृत्वासिद्धिः सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलम् । जीवेनेत्यस्य व्याकरवाणीतिप्रधानक्रियापदेन संबन्ध इति पूर्वपक्षमाह—तत्र प्राप्तमिति । परदेवताया अकर्तृत्वे कथमुत्तमपुरुषप्रयोग इत्याशङ्क्य प्रयोजकत्वात्कर्तृत्वोपचार इत्याह—यथा लोक इति ।

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् (ललिता)

कार्य की उत्पत्ति होती है और कर्ता उसका उत्पादनकर्ता है, यह लोक में प्रसिद्ध है । उनमें से पिछले दो पादों द्वारा जगदुत्पत्तिश्रुतिविरोध का परिहार कर दिया गया है, अब उत्पादनश्रुतिविरोध का परिहार किया जाता है । उनमें भी सूक्ष्मभूत उत्पादन परमेश्वर का निर्विवाद कर्म है किन्तु स्थूलभूत उत्पादन में श्रुतियों का विरोध दीखता है जिसका परिहार करने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

सत् प्रकरण में तेज, जल और पृथ्वी की सृष्टि बतलाने के बाद कहा है कि 'उस देवता ने ईक्षण किया कि अब मैं इन अग्न्यादि तीनों देवताओं में जीवात्मरूप से प्रवेशकर नाम-रूप को बनाऊँ (ऐसा संकल्प करने के बाद), उनमें से एक-एक को त्रिवृत्-त्रिवृत् करूँ ।' वहाँ पर यह संशय होता है कि यह नामरूपव्याकरण जीवकर्तृक है या परमेश्वरकर्तृक है । इस पर पूर्वपक्ष में कहा गया है कि इस नाम-रूप का व्याकर्ता जीव ही है क्योंकि **'अनेन जीवेनात्मना'** ऐसा विशेषण व्याकर्ता के लिए **दिया गया है** । जैसे लोक में गुप्तचर के माध्यम से शत्रुसैन्य में प्रवेशकर मैं उसके बल की थाह लगाऊँ,

रूपव्याकरणं हेतुकर्तृकत्वाद्देवतात्मन्यध्यारोपयति व्याकरवाणीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण। अपिच डित्थडवित्थादिषु नामसु घटशरावादिषु च रूपेषु जीवस्यैव व्याकर्तृत्वं दृष्टम् । तस्माज्जीवकर्तृकमेवेदं नामरूपव्याकरणमित्येवं प्राप्तेऽभिधत्ते—'संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु' त्रिवृत्कुर्वत इति ।

तुशब्देन पक्षं व्यावर्तयति । संज्ञामूर्तिक्लृप्तिरिति नामरूपव्याक्रियेत्येतत् । त्रिवृत्कुर्वत इति परमेश्वरं लक्षयति, त्रिवृत्करणे तस्य निरपवादकर्तृत्वनिर्देशात् । येयं संज्ञाक्लृप्तिर्मूर्तिक्लृप्तिश्चाग्निरादित्यश्चन्द्रमा विद्युदिति, तथा कुशकाशपलाशादिषु पशुमृगमनुष्यादिषु च प्रत्याकृति प्रतिव्यक्ति चानेकप्रकारा, सा खलु परमेश्वरस्यैव तेजोबन्नानां निर्मातुः कृतिर्भवितुमर्हति । कुतः ? उपदेशात् । तथाहि—'सेयं देवतैक्षत' इत्युपक्रम्य 'व्याकरवाणि' इत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण परस्यैव ब्रह्मणो व्याकर्तृत्वमिहोपदिश्यते ।

ननु जीवेनेति विशेषणाज्जीवकर्तृकत्वं व्याकरणस्याध्यवसितम् । नैतदेवम् जीवेनेत्येतदनुप्रविश्येत्यनेन संबध्यते आनन्तर्यात्, न व्याकरवाणीत्यनेन । तेन हि संबन्धे व्याकर-

---

सिद्धान्तयति—तुशब्देनेत्यादिना । प्रत्याकृति प्रतिजातीत्यर्थः । अनेन स्थूलसर्वसर्गे जीवस्यासामर्थ्यं द्योतितम् । तथा च पदान्वयस्य पदार्थयोग्यताधीनत्वाज्जीवरूपेण प्रविश्याहमेव व्याकरवाणीत्यन्वयः । न तु जीवेन व्याकरवाणीति ।

ननु तर्हि प्रवेशक्रिया जीवकर्तृका व्याकरणमीश्वरकर्तृकमिति कर्तृभेदात् क्त्वाप्रत्ययो न स्यादित्यत आह–नच जीवो नामेति। वस्तुतस्तु सूर्यो जले प्रविष्ट इति प्रतिबिम्बभावाख्यप्रवेशे सूर्यस्येव

ऐसे प्रयोग में गुप्तचर के द्वारा किये गये शत्रुसैन्यसङ्कलन को उसका प्रेरक राजा अपने में आरोप करता है कि उत्तम पुरुष प्रयोग के माध्यम से मैं सङ्कलन करूँ; ऐसे ही जीवकर्तृक नामरूपव्याकरण को प्रेरक होने के कारण परमेश्वर अपने में आरोप करता है, इसीलिए 'व्याकरवाणि' इस क्रिया पद में उत्तम पुरुष का प्रयोग किया गया है । इसके अतिरिक्त लौकिक डित्थ, डवित्थादि नाम और घट, शरावादि रूप में व्याकर्तृत्व जीव का ही देखा जाता है । अतः जगत् में स्थूल नामरूपव्याकरण का कर्ता जीव ही है । ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती अग्रिम सूत्र से कहता है—

सूत्रस्थ 'तु' शब्द से पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करते है । नामरूपव्याक्रिया त्रिवृत् के कर्ता परमेश्वर को ही लक्षित कर रही है, त्रिवृत्करण में परमेश्वर का कर्तृत्व निर्विवाद है । जो यह अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत ऐसे नाम हैं एवं कुश, काश, पलाशादि तथा पशु, मृग, मनुष्यादि में प्रत्येक की आकृति भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ती है जो अनेक प्रकार की है; वह तेज, जल एवं पृथ्वी के निर्माता परमेश्वर की ही कृति हो सकती है क्योंकि ऐसा ही उपदेश मिलता है । वहाँ पर 'सेयं देवता' इस वाक्य द्वारा प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'व्याकरवाणि' इसमें उत्तम पुरुष का प्रयोग होने के कारण व्याकरणकर्तृत्व परब्रह्म का ही बतलाया गया है, अन्य का नहीं ।

पूर्वपक्षी—'जीवेन' ऐसा विशेषण होने के कारण व्याकरण का कर्ता जीव ही निश्चित हुआ है । सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'जीवेन' इस पद का 'अनुप्रविश्य' के साथ सम्बन्ध होता है, पश्चाद्भावी 'व्याकरवाणि' क्रिया के साथ 'जीवेन' पद का सम्बन्ध नहीं होता । जीव के साथ

वाणीत्यनेन । तेन हि संबन्धे व्याकरवाणीत्ययं देवताविषय उत्तमपुरुष औपचारिकः कल्प्येत । न च गिरिनदीसमुद्रादिषु नानाविधेषु नामरूपेष्वनीश्वरस्य जीवस्य व्याकरणसामर्थ्यमस्ति । येष्वपि चास्ति सामर्थ्यं तेष्वपि परमेश्वरायत्तमेव तत् । नच जीवो नाम परमेश्वरादत्यन्तभिन्नश्चार इव राज्ञः, आत्मनेति विशेषणात् । उपाधिमात्रनिबन्धनत्वाच्च जीवभावस्य । तेन तत्कृतमपि नामरूपव्याकरणं परमेश्वरकृतमेव भवति । परमेश्वर एव च नामरूपयोर्व्याकर्तेति सर्वोपनिषत्सिद्धान्तः । 'आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' (छा० ८-१४-१) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तस्मात्परमेश्वरस्यैव त्रिवृत्कुर्वतः कर्म नामरूपयोर्व्याकरणम् । त्रिवृत्करणपूर्वकमेवेदमिह नामरूपव्याकरण विवक्ष्यते, प्रत्येकं नामरूपव्याकरणस्य तेजोबन्नोत्पत्तिवचनेनैवोक्तत्वात् । तच्च त्रिवृत्करणमग्न्यादित्यचन्द्रविद्युत्सु श्रुतिर्दर्शयति— 'यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' (छा० ६-४-१) इत्यादिना । तत्राग्निरितीदं रूपं व्याक्रियते । सति च रूपव्याकरणे विषयप्रतिलम्भादग्निरितीदं नाम

कर्तृत्वप्रयोगाज्जीवात्मना प्रवेशेऽपीश्वर एव कर्तेति बत्वाश्रुतिर्युक्तेति बोध्यम् । नन्वभेदश्चेज्जीव एव व्याकर्ता किं न स्यादित्याशङ्क्य कल्पनया भिन्नस्य तस्याशक्तत्वाच्छ्रुतिविरोधाच्च मैवमित्याह —परमेश्वर इति । प्रत्येकं महाभूतसर्गस्य प्रागुक्तत्वादिह व्याकरणवाक्ये यत्नपूर्वकं स्थूलभौतिकसर्ग उच्यत इति पाठव्यत्ययेन सूत्रसूचितं श्रुत्यर्थमाह—त्रिवृत्करणपूर्वकमिति । ईश्वरकृतं त्र्यात्मत्वमिति क्व दृष्टमित्यत आह—तच्चेति । इदानीं नामरूपव्याकरणे क्रममाह—तत्राग्निरिति । यद्यपि 'अतः प्रभवात्' इत्यत्र वेदशब्दपूर्विकार्थसृष्टिरुक्ता तथाप्यव्यक्तात्स्मृताच्छब्दादर्थसृष्टौ सत्यां स्फुटनामसंबन्धाभिव्यक्तिरत्रोक्तेत्यविरोधः । नन्वग्न्यादीनां तैजसानामेव श्रुतावुदाहरणाद्भूजलयोस्त्र्यात्म-

---

सम्बन्ध मानने पर '**व्याकरवाणि**' इस देवताविषयक उत्तम पुरुष में औपचारिकता की कल्पना करनी पड़ेगी । इसके अतिरिक्त पर्वत, नदी, समुद्रादि नाना प्रकार के नाम-रूप का कर्ता अनीश्वर जीव हो भी नहीं सकता क्योंकि ऐसा करने में उसकी शक्ति नहीं है और जिन कार्यों के करने में जीव का सामर्थ्य है वहाँ भी वह सामर्थ्य परमेश्वराधीन ही है । राजा से सर्वथा भिन्न उसका गुप्तचर होता है, वैसा परमेश्वर से सर्वथा भिन्न जीव नहीं है; इसीलिए तो 'आत्मना' यह विशेषण दिया गया है । परमेश्वर के जीवभावप्राप्ति में उपाधिमात्र कारण है । अतः जीवकर्तृक नामरूपव्याकरण परमेश्वर का किया हुआ ही माना जाता है और इसीलिए नाम-रूप का व्याकर्ता परमेश्वर ही सभी उपनिषदों में प्रसिद्ध है । 'सभी नाम-रूप का निर्वहनकर्ता वह प्रसिद्ध चिदाकाश ही है' इन श्रुतियों से उक्त अर्थ सिद्ध होता है । अतः त्रिवृत्कर्ता परमेश्वर का ही कर्म नामरूपव्याकरण भी है । इस श्रुति में त्रिवृत्करणपूर्वक ही नामरूपव्याकरण बतलाना अभीष्ट है क्योंकि प्रत्येक नाम-रूप का व्याकरण अग्नि, जल एवं पृथ्वी की उत्पत्तिकथन से ही कह दिया गया है । अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा और विद्युत में उस त्रिवृत्करण को श्रुति बतलाती है कि 'जो अग्नि में लालरूप है वह तेज का है, जो शुक्ल रूप है वह जल का है और जो कृष्ण रूप है वह पृथ्वी का है ।' इस वाक्य से 'अग्नि' पद द्वारा रूप का व्याकरण और तत्पश्चात् 'अग्नि' ऐसे नाम का व्याकरण भी कहा जाता है । नाम का व्याकरण रूप बन जाने के बाद ही होता है,

(२९०) मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ।।२१।।

व्याक्रियते। एवमेवादित्य चन्द्रविद्युत्स्वपि द्रष्टव्यम् । अनेन चाग्न्याद्युदाहरणेन भौमाम्मसतैजसेषु त्रिष्वपि द्रव्येष्वविशेषेण त्रिवृत्करणमुक्तं भवति । उपक्रमोपसंहारयोः साधारणत्वात् । तथाह्यविशेषेणैवोपक्रमः—'इमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति' (छा० ६-३-४) इति। अविशेषेणैव चोपसंहारः—'यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपम्' इत्येवमादिः, 'यदविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समास इति' (छा० ६-४-६, ७) एवमन्तः ।।२०।।

तासां तिसृणां देवतानां बहिस्त्रिवृत्कृतानां सतीनामध्यात्ममपरं त्रिवृत्करणमुक्तम्— इमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति' (छा० ६-४-७) इति । तदिदानीमाचार्यो यथाश्रुत्यैवोपदर्शयत्याशङ्कितं कंचिद्दोषं परिहरिष्यन्—

भूमेस्त्रिवृत्कृतायाः पुरुषेणोपभुज्यमानाया मांसादि कार्यं यथाशब्दं निष्पद्यते । तथा हि श्रुतिः—'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः' (छा० ६-५-१) इति । त्रिवृत्कृता भूमिरेवैषा व्रीहियवाद्यन्न-

---

कत्वं न विवक्षितमित्यत आह—अनेन चेति । उपक्रमे तासां मध्य इति शेषः । यत्कपोतरूपादिकं कृष्णत्वादिविशेषाकारेण विज्ञातमिव भवति तद्देवतानां समुदायरूपमित्यर्थः ।।२०।।

बाह्यं त्रिवृत्करणमुक्त्वाध्यात्मिकमपरं पूर्वोक्तविलक्षणं वदन्नुत्तरसूत्रमवतारयति—तासामित्यादिना । पुरुषशरीरं प्राप्यैकैका त्रिवृद्भवति कार्यत्रयात्मना भवतीत्यर्थः । उत्तरसूत्रेणाशङ्कितं दोषं निरसितुमादौ शङ्काविषयमाध्यात्मिकत्रिवृत्करणं दर्शयतीति भाष्यार्थः ।

नन्वन्नमयं मांसादि कथं भौममित्यत आह—त्रिवृत्कृता भूमिरेवेति । प्राणस्य वायोरत्कार्यत्वमौपचारिकं द्रष्टव्यम् ।।२१।।

ऐसा लोक में प्रसिद्ध है । ऐसा ही आदित्य, चन्द्र और विद्युत में भी समझना चाहिए । इस अग्न्यादि उदाहरण द्वारा भौम (पार्थिव), जलीय एवं तैजस इस त्रिविध द्रव्य में समानरूप से त्रिवृत्करण उक्त हो जाता है। क्योंकि उपक्रम सामान्यरूप से कहा गया है । उपक्रम में 'ये तीनों देवता प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हैं' ऐसा अविशेषरूप से कहा गया है और उपसंहार में भी 'जो यह लाल रूप जैसा था वह तेज का है' ऐसा आदि में और 'जो अविज्ञात के जैसा था वह इन तीनों देवताओं का समासरूप है' ऐसा अन्त में अविशेषरूप से ही कहा गया है । ऐसे सभी उदाहरणों से उक्त अर्थ सिद्ध होता है ।।२०।।

देह से बहिर्भूत त्रिवृत्कृत उन तेज आदि तीनों देवताओं का स्वरूप बतला देने के बाद अध्यात्मपरक दूसरा त्रिवृत्करण भी श्रुति में कहा गया है कि 'ये पृथिव्यादि तीनों देवता पुरुष को प्राप्तकर प्रत्येक देवता तीन-तीन भाग में विभक्त हो जाते हैं' इत्यादि । आचार्य भगवान् बादरायण उसी को, कुछ आशङ्कित दोषों का परिहार करते हुए, श्रुति के आधार पर ही बतलाते हैं—

त्रिवृत्कृत भूमि का उपयोग अन्नादि रूप में जब पुरुष करता है तब उसका मांसादि कार्य यथाशास्त्र निष्पन्न होता है । ऐसा ही श्रुति ने कहा है खाया हुआ अन्न तीन भागों में विभक्त हो जाता है; उसका जो स्थूलतम भाग है वह पुरीष हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह मांस को पुष्ट करता है और जो अतिसूक्ष्म भाग है वह मन को पुष्ट करता है' अर्थात् त्रिवृत्कृत भूमि ही जब व्रीहियवादि

(२६१) वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥२२॥

रूपेणाद्यत इत्यभिप्रायः। तस्याश्च स्थविष्ठं रूपं पुरीषभावेन बहिर्निर्गच्छति। मध्यम-मध्यात्मं मांसं वर्धयति। अणिष्ठं तु मनः। एवमितरयोरप्तेजसोर्यथाशब्दं कार्यमवगन्तव्यम्। एवं मूत्रं लोहितं प्राणश्चापां कार्यम्। अस्थि मज्जा वाक्तेजस इति ॥२१॥

अत्राह— यदि सर्वमेव त्रिवृत्कृतं भूतभौतिकमविशेषश्रुतेः 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्' इति। किं कृतस्तर्ह्ययं विशेषव्यपदेशः 'इदं तेज इमा आप इदमन्नम्' इति। तथा 'अध्यात्ममिदमन्नस्याशितस्य कार्यं मांसादि। इदमपां पीतानां कार्यं लोहितादि। इदं तेजसोऽशितस्य कार्यमस्थ्यादि' इति। अत्रोच्यते—

तुशब्देन चोदितं दोषमपनुदति। विशेषस्य भावो वैशेष्यम्। भूयस्त्वमिति यावत्। सत्यपि त्रिवृत्करणे क्वचित्कस्यचिद्भूतधातोर्भूयस्त्वमुपलभ्यते 'अग्नेस्तेजोभूयस्त्वमुदकस्याब्भूयस्त्वं पृथिव्या अन्नभूयस्त्वम्' इति। व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं चेदं त्रिवृत्करणम्। व्यवहारश्च त्रिवृत्कृतरज्जुवदेकत्वापत्तौ सत्यां, न भेदेन भूतत्रयगोचरो लोकस्य प्रसिध्येत्।

एवं विषयमुक्त्वा दोषं शङ्कते—अत्राहेति।

तदुत्तरत्वेन सूत्रं व्याचष्टे—तुशब्देनेति। स्वभावाधिक्यं वैशेष्यं किमर्थंकृतमित्यत आह—व्यवहार-

---

अन्नरूप से पुरुष द्वारा खायी जाती है तब उसका स्थूलतम भाग पुरीष बनकर शरीर से बाहर निकल जाता है, मध्यम भाग अध्यात्म मांस का बढ़ाता है, किन्तु सूक्ष्मतम भाग मन को पुष्ट करता है। ऐसे ही जल के तीन भाग मूत्र, रक्त और प्राण एवं तेज के तीन भाग अस्थि, मज्जा और वाक् इस देह में दीखते हैं। इस प्रकार तेज और जल का कार्य भी श्रुति के अनुसार इस शरीर में समझ लेना चाहिए ॥२१॥

इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि 'इन सभी भूतों में से एक-एक का परमेश्वर ने त्रिवृत्करण किया' इस अविशेषश्रुति के आधार पर यदि सभी भूत-भौतिक पदार्थ त्रिवृत्कृत ही हैं तो भला 'यह तेज है, यह जल है, यह अन्न है' ऐसा विशेष व्यपदेश किस कारण से होता है। वैसे ही अध्यात्म में भी 'यह अन्न है जिसके खाने पर मांसादि कार्य निष्पन्न होते हैं, पिये हुए जल के लोहितादि कार्य और खाये हुए तेज के अस्थ्यादि कार्य हैं' ऐसा किस आधार पर विभक्त किया जायेगा अर्थात् सभी भूत में सभी भूत मिलित हैं तो फिर यह तेज है, यह जल है, यह पृथ्वी है; ऐसा व्यवहार किस आधार पर हो सकेगा ? इस पर सिद्धान्ती अग्रिम सूत्र कहता है—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः (ललिता)

सूत्रस्थ 'तु' शब्द से पूर्वोक्त शङ्का का परिहार करते हैं। विशेष के भाव को वैशिष्य कहते हैं अर्थात् भूयस्त्व। सभी पदार्थ त्रिवृत्कृत होने पर भी किसी भूत में किसी का अंश अधिक दीखता है— 'अग्नि में तेज का भाग अधिक है, उदक में जल का भाग अधिक है और पृथ्वी में अन्नभूयस्त्व है।' जिसमें जो भाग अधिक होता है उसे उसी नाम से व्यवहार करते हैं, व्यवहार की प्रसिद्धि के लिए ही यह त्रिवृत्करण है। जैसे त्रिवृत्कृत रज्जु में एकत्व प्राप्त हो जाने पर इयं रज्जुः, ऐसा व्यवहार होता है, वहाँ भेद नहीं भासता; वैसे ही भूतत्रय का विषय लोक में भिन्नरूप से प्रसिद्ध नहीं होता।

तस्मात्सत्यपि त्रिवृत्करणे वैशेष्यादेव तजोऽबन्नविशेषवादो भूतभौतिकविषय उपपद्यते । तद्भावस्तद्भाव इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥२२॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसासूत्रभाष्ये श्रीशङ्करभगवत्पादकृतौ
द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥
इति विरोधाख्योऽध्यायः ॥२॥

प्रसिद्ध्यर्थ मिति । एवं स्मृतिन्यायमतान्तरश्रुतिभिरविरोधो ब्रह्मणि वेदान्ततात्पर्यस्येति सिद्धम् ॥२२॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ
श्रीमच्छारीरिकमीमांसाव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां
द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थ पादः ॥४॥

अतः सर्वत्र त्रिवृत्करण रहने पर भी अधिकता को लेकर ही यह तेज है, यह जल है और यह पृथ्वी है ऐसा भूत-भौतिक विशेष व्यवहार सिद्ध होता है । 'तद्भावस्तद्भावः' यह पदाभ्यास अध्यायसमाप्ति का द्योतक है । इस प्रकार स्मृति, न्याय, मतान्तर और श्रुति से उपस्थापित विरोध का परिहार कर देने पर ब्रह्म में वेदान्त का तात्पर्य सुस्थिर हो जाता है ॥२२॥

इस प्रकार ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य विरोधाख्यद्वितीयाध्याय चतुर्थपाद को
कैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज
द्वारा रचित ललिता
व्याख्या पूर्ण हुई ।

॥ श्री शङ्करः प्रीयताम् ॥





॥ श्री मदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

॥ श्रीबादरायणविरचितम् ॥

॥ ब्रह्मसूत्रम् ॥

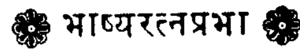


॥ सटिप्पणशाङ्करभाष्यरत्नप्रभाललिताव्याख्यायुतम् ॥

* * *

अथ तृतीयोऽध्यायः

॥ प्रथमः पादः ॥



१. तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् (सू० १-७)

अवेष्टितो वेष्टितो वा भूतसूक्ष्मैः पुमान् व्रजेत् । भूतानां सुलभत्वेन यात्यवेष्टित एव सः ।
बीजानां दुर्लभत्वेन निराधारेन्द्रियागतेः । पञ्चमाहुतियुक्तेश्च जीवस्तैर्याति वेष्टितः ॥

❁ भाष्यरत्नप्रभा ❁

यं हि वैराग्यसंपन्नास्तत्त्वमर्थविवेकिनः ।
लभन्ते साधनैर्दान्तास्तं सीतानायकं भजे ॥

॥ दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः ॥

॥ तृतीयोऽध्यायः प्रथमः पादः ॥

❁ ललिताख्या व्याख्या ❁

साधनाख्य तृतीय अध्याय में सभी साधनों का विचार किया जायेगा इसके प्रथम पाद में जीव के परलोक गमनागमन की चिन्ता वैराग्य सम्पादनार्थ की जायेगी ।

प्रथमाध्याय के द्वारा ब्रह्म में जो श्रुतियों का समन्वय बतलाया गया था; उस समन्वय का स्मृति, न्याय एवं श्रुति के साथ जब परस्पर विरोध आया तब उस विरोध का द्वितीय अध्याय में निराकरण-कर अनिश्चयात्मक, अप्रामाण्य का निषेध कर दिया गया । अब तृतीय अध्याय में साधनों का विचार करना है इसीलिए पूर्व अध्याय के साथ इसकी हेतु-हेतुमद्भावसङ्गति है ।



१. तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरण

१. सङ्गति—इससे पूर्व अधिकरण में जीव की उपाधियों का विचार किया गया, अब इस अधिकरण में तदुपजीव्य इस उपाधि से उपहित जीवात्मा में वैराग्यसम्पादनार्थ विचार करना है; इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की उपजीव्य-उपजीवकभाव सङ्गति है ।

(२९२) तदन्तरप्रतिपत्तौ

रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥१॥

द्वितीयेऽध्याये [1]स्मृतिन्यायविरोधो वेदान्तविहिते ब्रह्मदर्शने परिहृतः। [2]परपक्षाणां चानपेक्षत्वं प्रपञ्चितम्। [3]श्रुतिविप्रतिषेधश्च परिहृतः। तत्र च जीवव्यतिरिक्तानि तत्त्वानि जीवोपकरणानि ब्रह्मणो जायन्त इत्युक्तम्। अथेदानीमुपकरणोपहितस्य जीवस्य संसारगतिप्रकारस्तदवस्था[4]न्तराणि ब्रह्मसतत्त्वं विद्याभेदाभेदौ गुणोपसंहारानुपसंहारौ सम्यग्दर्शना-

---

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्। वृत्तमनूद्य तृतीयाध्यायार्थमाह—द्वितीय इत्यादिना। अविरुद्धे वेदान्तार्थे तज्ज्ञान[5]साधनचिन्तावसर इत्यनयोर्हेतुहेतुमद्भावः। लिङ्गोपाधिसिद्धौ तदुपहितजीवसंसारचिन्तेति पादयोरपि तद्भावसङ्गतिः। अत्र प्रथमपादे वैराग्यम्। द्वितीये स्वप्नाद्यवस्थोक्त्या त्वंपदार्थो ब्रह्मतत्त्वं चोच्यते। तृतीये वाक्यार्थस्तदर्थमुपासनाश्च विचार्यन्ते।

---

२. **विषय**—सोपाधिक जीव की गत्यागति का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. **संशय**—क्या भूतसूक्ष्म से अपरिवेष्टित जीव परलोक में जाता है अथवा परिवेष्टित जाता है?

४. **पूर्वपक्ष**—जीवात्मा के साथ इन्द्रियों का जाना जैसा सुना गया है, वैसा भूतों का जाना नहीं सुना गया है क्योंकि पञ्चभूत तो सर्वत्र सुलभ हैं। अतः भूत से अपरिवेष्टित हो जीव परलोक में जाता है।

५. **सिद्धान्त**—जीवात्मा के शरीरारम्भक बीज दुर्लभ होने से भूतसूक्ष्म के साथ ही जीवात्मा का शरीरान्तर ग्रहण के लिए गमन होता है। भूतसूक्ष्म का आधार लिए बिना जीवात्मा एवं उसके इन्द्रियों की गति हो भी नहीं सकती और पञ्चम आहुति की पूर्ति के लिए भी जीवात्मा भूतों से परिवेष्टित हो शरीरान्तर ग्रहण के लिए जाता है, ऐसा मानना उचित होगा।

१. तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् (ललिता)

वेदान्तार्थ में विरोधपरिहार कर देने पर उसके ज्ञान के साधन वैराग्य आदि का विचार करना समीचीन होता है। अतः द्वितीय अध्याय के साथ इस तृतीय अध्याय की हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति है। वैसे ही लिङ्ग उपाधि की सिद्धि हो जाने पर उससे उपहित जीव के संसार की चिन्ता का प्रसङ्ग उपस्थित होता है, इस प्रकार पूर्वपाद के साथ इस पाद की भी हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति है। द्वितीय अध्याय में वेदान्तप्रतिपादित ब्रह्मदर्शन में जो वादियों की ओर से स्मृति और न्याय का विरोध खड़ा किया गया था, उसका परिहार किया गया। साथ ही द्वितीय पाद में परपक्ष का अनपेक्षत्व भी विस्तार से बतलाया गया, तत्पश्चात् तृतीय एवं चतुर्थ पाद द्वारा श्रुतियों के परस्पर विरोध का परिहार किया गया। वहाँ पर यह भी कहा गया था कि जीव के उपकरण प्राणादि (जो जीव से भिन्न तत्त्व हैं, वे) ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं। अब उन प्राणादि उपकरणों से उपहित जीव की संसारगति का प्रकार तृतीय अध्याय के प्रथम पाद से बतलायगे। द्वितीय पाद से उसके अवस्थान्तर एवं तत्त्व के सहित ब्रह्म का निरूपण होगा। तृतीय पाद द्वारा उपासना के भेदाभेद का एवं गुणोपसंहार का निरूपण किया

---

१. प्रथमपादे। २. द्वितीयपादे। ३. तृतीयचतुर्थयोः पादयोः। ४. स्वप्नादीनि। ५. वैराग्यादि।

त्पुरुषार्थसिद्धिः सम्यग्दर्शनोपायविधिप्रभेदो मुक्तिफलानियमश्चेत्येतदर्थजातं तृतीयेऽध्याये निरूपयिष्यते प्रसङ्गागतं च किमप्यन्यत् ।

तत्र प्रथमे तावत्पादे पञ्चाग्निविद्यामाश्रित्य संसारगतिप्रभेदः प्रदर्श्यते, वैराग्यहेतोः । 'तस्माज्जुगुप्सेत' इति चान्ते श्रवणात् । जीवो मुख्यप्राणसचिवः सेन्द्रियः समनस्कोऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञापरिग्रहः पूर्वदेहं विहाय देहान्तरं प्रतिपद्यत इत्येतदवगतम् । 'अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति' इत्येवमादेः 'अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते' (बृ० ४-४-१,४) इत्येवमन्तात्संसारप्रकरणस्थाच्छब्दात्, धर्माधर्मफलोपभोगसंभवाच्च । 'स किं देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैरसंपरिष्वक्तो गच्छत्याहोस्वित्संपरिष्वक्त इति चिन्त्यते । किं तावत्प्राप्तम् असंपरिष्वक्त इति । कुतः ? करणोपादानवद्भूतोपादानस्याश्रुतत्वात् । 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानः' (बृ० ४-४-१) इति ह्यत्र तेजोमात्राशब्देन करणानामुपादानं संकीर्त-

---

चतुर्थपादार्थमाह—सम्यग्दर्शनादिति । दर्शनोपायाः संन्यासादयः । मुक्तिरूपफलस्य स्वर्गवत्तारतम्यनियमाभावः एकरूपत्वमिति यावत् । प्रसङ्गागत देहात्मदूषणम् ।

पञ्चसु द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्स्वग्नित्वध्यानं पञ्चाग्निविद्या । यस्मात् कर्मणा गत्यागतिरूपोऽनर्थस्तस्मात् कर्मफले जुगुप्सां घृणां विरक्तिं कुर्वीतेति पञ्चाग्निविद्योपसंहारे श्रवणाद्वैराग्यार्थं प्रदर्श्यते इत्यन्वयः । शास्त्रादिसूत्रे नित्यानित्यविवेककृतं वैराग्यमुक्तम्, इह तद्दार्ढ्याय गत्यागतिक्लेशभावनाकृतं तदुच्यत इत्यपौनरुक्त्यम् । अधिकरणविषयमाह—जीव इति । अविद्या प्रसिद्धा । विद्येति पाठे उपासना ग्राह्या । कर्म धर्माधर्माख्यं, पूर्वप्रज्ञा जन्मान्तरसंस्कारः । अथ मरणकाले प्राणा हृदये जीवेनैकीभवन्तीत्यर्थः । रूपं शरीरं, पञ्चीकृतभूतभागाः उत्तरदेहपरिणामिनो भूतसूक्ष्माः ।

जायेगा और चतुर्थ पाद द्वारा सम्यग्ज्ञान से पुरुषार्थ की सिद्धि, तत्त्वज्ञान के उपायविधि का प्रभेद, मुक्तिफल का अनियम; ये सभी बातें तृतीय अध्याय में बतलायी जायेंगी और प्रसङ्गवश देहात्मवाद का खण्डन भी किया जायेगा ।

उनमें से प्रथम पाद में पञ्चाग्नि विद्या का आश्रय लेकर जीव की संसारगति का भेद-प्रभेद वैराग्य उत्पादनार्थ दिखलाया जाता है क्योंकि 'इसलिए संसार से घृणा करे' ऐसा उसके अन्त में सुना जाता है । मुख्य प्राण जीव का सचिव है, इन्द्रियाँ और मन भी साथ ही रहते हैं, विद्या, धर्माधर्माख्य कर्म, जन्मान्तरीय संस्कार; इन सभी को लेकर जीव पूर्व शरीर का परित्यागकर शरीरान्तर में जाता है । यह बात 'ये सभी इन्द्रियाँ जीवात्मा के पास सभी ओर से आ जाती हैं' इस श्रुति से जानी जाती है । 'वर्तमान देह को छोड़कर दूसरा नूतन, सुन्दर शरीर धारण करता है' संसारप्रकरणस्थ इस वाक्य से भी उक्त बात जानी जाती है । साथ ही, धर्माधर्म के फल का उपभोग भी सम्भव होता है । वहाँ पर यह सन्देह होता है कि देहान्तर आरम्भक भूतसूक्ष्म से असम्परिष्वक्त हो जीवात्मा देहान्तर में जाता है अथवा सम्परिष्वक्त होकर जाता है । इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि जीवात्मा देहान्तर आरम्भक भूतों असम्परिष्वक्त ही जाता है, क्योंकि इन्द्रियों का ग्रहण जैसे बतलाया गया है, वैसे भूत का ग्रहण नहीं सुना जाता है । 'वह जीव इन तेजोमात्रा को लेकर जाता है' इस वाक्य में तेजोमात्रा शब्द से करणों का ही ग्रहण होता है, क्योंकि वाक्यशेष में पश्यति, जिघ्रति इन शब्दों से

---

१. उक्तविशेषणो जीवः । २. गमने स्वीकारवत् ।

यति । वाक्यशेषे चक्षुरादिसंकीर्तनात् । नैवं भूतमात्रोपादानसंकीर्तनमस्ति । सुलभाश्च सर्वत्र भूतमात्राः । यत्रैव देह आरब्धव्यस्तत्रैव सन्ति ततश्च तासां नयनं निष्प्रयोजनम् । तस्मादसंपरिष्वक्तो यातीति ।

एवं प्राप्ते पठत्याचार्यः— तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्त इति । तदन्तरप्रतिपत्तौ देहाद् देहान्तरप्रतिपत्तौ देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहति गच्छतीत्यवगन्तव्यम् । कुतः ? प्रश्ननिरूपणाभ्याम् । तथाहि प्रश्नः—'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५-३-३) इति । निरूपणं च प्रतिवचनं द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्टयन्नरेतोरूपाः पञ्चाहुतीर्दर्शयित्वा 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५-९-१) इति । तस्माद‌द्भिः परिवेष्टितो जीवो रंहति व्रजतीति गम्यते ।

वेदान्तार्थज्ञानसाधनविचारत्वात् सर्वाधिकरणानां, श्रुतिशास्त्राध्यायसङ्गतयः, वैराग्यफलकत्वादेतत्पादसङ्गतिः । पूर्वाधिकरणे व्यवहारार्थं पञ्चीकरणमुक्तं स व्यवहारोऽत्र निरूप्यत इति फलफलिभावोऽवान्तरसङ्गतिः ।

अत्र पूर्वपक्षे निराश्रय[1]प्राणगत्यभावात् न वैराग्यं, सिद्धान्ते भूताश्रयप्राणगतेर्वैराग्यमिति फलभेदः । तेजोमात्राश्चक्षुरादयः, पश्यति जिघ्रतीति वाक्यशेषात् । आपः पञ्चस्वग्निषु हुताः पञ्चम्यामाहुतौ हुतायां यथा पुरुषशब्दवाच्याः पुरुषात्मना परिणमन्ते तथा किं त्वं वेत्थेति श्वे[2]तकेतुं प्रति राज्ञः प्रवाहणस्य प्रश्नः, 'तस्य चोत्तराज्ञाने तत्पितरं प्रति राजोवाच (छा० १-४-१) "असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तत्र श्रद्धाख्या आपः आहुतिः पर्जन्याग्नौ सोमरूपा, 'इह खल्वग्निहोत्रे श्रद्धया हुता, दध्यादिरूपा आपो यजमानसंलग्नाः स्वर्गलोकं[3] प्राप्य सोमाख्यदिव्यदेहात्मना स्थिताः, कर्मान्ते हुताः पर्जन्ये हूयन्ते ततो वृष्टिरूपाः पृथिव्यामन्नरूपाः पुरुषे रेतोरूपाः योषिति हुताः आपः पुरुषशब्दवाच्याः पुमात्मका भवन्ति' इति निरूपणं कृतम् ।

चक्षुरादि का संकीर्तन देखा जाता है । इस प्रकार भूतमात्रा का उपादान नहीं किया गया है और भूतमात्रा सर्वत्र सुलभ भी हैं, जहाँ भी शरीर बनेगा वहाँ पर पृथिव्यादि सभी भूत प्राप्त हैं । इसलिए देहान्तर निर्माण के लिए उनका वहाँ पर साथ ले जाना निष्प्रयोजन है । अतः जीवात्मा देहान्तरारम्भक भूतों से असम्परिष्वक्त होकर जाता है ।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर आचार्य बादरायण यह सूत्र पढ़ते हैं । वर्तमान देह से देहान्तरप्राप्ति के समय उसके आरम्भक सूक्ष्मभूत से सम्परिष्वक्त ही जीव जाता है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि 'पञ्चम आहुति में यह जल पुरुष संज्ञा को प्राप्त हो जाता है, इसे जानते हो ?' ऐसा राजा का प्रश्न है और उत्तर में द्युलोक में श्रद्धा, पर्जन्य में सोम, पृथ्वी में वर्षा पुरुष में अन्न और स्त्री में रेतरूप आहुति को दिखाकर अन्त में कहा है पाँचवी आहुति में जल पुरुष संज्ञा को प्राप्त हो जाता है । इससे यह जाना जाता है, कि जल से परिवेष्टित जीव देहान्तर में जाता है ।

---

१. प्राणशब्देन लिंगाख्यं पुर्यष्टकम् । २. श्वेतकेतोः । ३. स्वर्गः । ४. अत्र लोके । ५. राज्ञैवेति शेषः ।

नन्वन्या श्रुतिर्जलूकावत्पूर्वदेहं न मुञ्चति यावन्न देहान्तरमाक्रमतीति दर्शयति इति—'तद्यथा तृणजलायुका' (बृ० ४-४-३) इति 'तत्राप्य'परिवेष्टितस्यैव जीवस्य कर्मोपस्थापितप्रतिपत्तव्यदेहविषयभावनादीर्घीभावमात्र जलूकयोपमीयत इत्यविरोधः। एवं श्रुत्युक्ते देहान्तरप्रतिपत्तिप्रकारे सति याः पुरुषमतिप्रभवाः प्रकल्पनाः व्यापिनां करणानामात्मनश्च देहान्तरप्रतिपत्तौ कर्मवशाद्'वृत्तिलाभस्तत्र भवति। केवलस्यैव 'वात्मनो वृत्तिलाभस्तत्र भवति। इन्द्रियाणि तु देहवदभिनवान्येव तत्र तत्र भोगस्थान उत्पद्यन्ते। मन एव वा केवलं भोगस्थानमभिप्रतिष्ठेत। जीव एवोत्प्लुत्य देहाद्देहान्तरं प्रतिपद्यते शुक इव वृक्षाद्वृक्षान्तरम्। इत्येवमाद्याः सर्वा एवानादर्तव्याः श्रुतिविरोधात् ॥१॥

नन्वेतद्देहं त्यक्त्वाऽद्भिः सह गतस्य पश्चाद्देहान्तरप्राप्तिरित्ययुक्तम्। यथा तृणजलायुका तृणान्तरं गृहीत्वा पूर्वतृणं त्यजति तथा जीवो देहान्तरं गृहीत्वा पूर्वदेहं त्यजतीति श्रुतिविरोधादिति शङ्कते—नन्वन्येति। इहैव कर्मायत्तभाविदेहं देवोऽहमित्यादिभावनया गृहीत्वा पूर्वदेहं त्यजतीति श्रुत्यर्थः, अतो न विरोध इति समाधत्ते—तत्रापीति। भावनाया दीर्घीभावो भाविदेहविषयत्वम्। घटाकाशवदुपहितो जीवः सूक्ष्मोपाधिगत्या लोकान्तरं गच्छतीति पञ्चाग्निश्रुत्युक्तः प्रकारस्तद्विरोधादन्याः कल्पनाः सर्वा अनादर्तव्या इत्यन्वयः। साङ्ख्यकल्पनामाह—व्यापिनामिति। 'सुगतकल्पनामाह—केवलस्येति। निर्विकल्पकज्ञान'सन्तानरूपस्यात्मनो देहान्तरे शब्दादिसविकल्पकज्ञानाख्यवृत्तिलाभो भवतीत्यर्थः। काणादकल्पनामाह—मन इति। देहान्तरं प्रति मनोमात्रं गच्छति, इन्द्रियाणि तु नूतनान्येवारभ्यन्ते। दिगम्बरकल्पनामाह—जीव इति ॥१॥

पूर्वपक्ष—दूसरी श्रुति 'तृणजलूका की भाँति जीवात्मा जब तक देहान्तर को प्राप्त नहीं करता तब तक पूर्वशरीर को नहीं छोड़ता' ऐसा कहती है। सिद्धान्ती—'**तद्यथा तृणजलायुका**' इस वाक्य में भी जल से असम्परिवेष्टित जीवात्मा का ही कर्मों से उपस्थापित भावीशरीरविषयक भावना को को लम्बायमानमात्र जलायुका की उपमा से बतलाया गया है, अतः कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार देहान्तरप्राप्ति का प्रकार श्रुति से सिद्ध हो जाने पर जो भिन्न-भिन्न प्रकार से अपनी बुद्धि के अनुसार लोगों ने कल्पना की है कि इन्द्रियाँ और आत्मा दोनों व्यापक हैं इसलिए देहान्तर की प्राप्ति में कर्मवशात् वृत्तिलाभ ही वहाँ पर होता है, कुछ लोग केवल आत्मा में वृत्तिलाभ बतलाते हैं, इन्द्रियाँ तो देह की भाँति अभिनव उत्पन्न होती हैं जहाँ जीवात्मा का भोग के लिए शरीर उत्पन्न होता है। कुछ लोग भोगस्थान में केवल मन ही जाता है और कुछ लोग जिस प्रकार शुक पक्षी एक वृक्ष से उड़कर दूसरे वृक्ष पर चला जाता है वैसे ही जीवात्मा वर्तमान देह से उड़कर देहान्तर में जाता है; ऐसी अनेकधा कल्पनायें वादियों ने कर रखी हैं, वे सब को सब श्रुतिविरुद्ध होने के कारण आदरणीय नहीं ॥१॥

---

१. वर्तमानदेहे। २. अद्भिः। ३. स्वरूपलाभः गोत्वादिजातिवत्। ४. तत्रापि विज्ञानवादी। ५. आलयविज्ञान।

(२९३) त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥२॥

ननूदाहृताभ्यां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां केवलाभिरद्भिः संपरिष्वक्तो रंहतीति । अप्शब्दश्रवणसामर्थ्यात् । तत्र कथं सामान्येन प्रतिज्ञायते सर्वैरेव भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहतीति । अत उत्तरं पठति—

तुशब्देन चोदितामाशङ्कामुच्छिनत्ति । त्र्यात्मिका ह्यापस्त्रिवृत्करणश्रुतेः । तास्वारम्भिकास्वभ्युपगतास्वितरदपि भूतद्वयमवश्यमभ्युपगन्तव्यं भवति । त्र्यात्मकश्च देहस्त्रयाणामपि तेजोबन्नानां तस्मिन्कार्योपलब्धेः पुनश्च त्र्यात्मकस्त्रिधातुत्वात्त्रिभिर्वातपित्तश्लेष्मभिः । न स भूतान्तराणि प्रत्याख्याय केवलाभिरद्भिरारब्धुं शक्यते । तस्माद्भूयस्त्वापेक्षोऽयमापः पुरुषवचस इति । प्रश्नप्रतिवचनयोरप्शब्दो न कैवल्यापेक्षः । सर्वदेहेषु हि रसलोहितादिद्रवद्रव्यभूयस्त्वं दृश्यते । ननु पार्थिवो धातुर्भूयिष्ठो देहेषूपलक्ष्यते । नैष दोषः । इतरापेक्षयाप्यपां बाहुल्यं भविष्यति । दृश्यते च शुक्रशोणितलक्षणेऽपि

ननु पाकस्वेदगन्धरूपकार्यत्रयोपलब्धेस्त्र्यात्मको देह इत्ययुक्तम् ।

प्राणावकाशयोरप्युपलब्ध्या देहस्य पञ्चभूतात्मत्वादित्यरुच्या व्याख्यान्तरमाह—पुनश्चेति । देहधारकत्वाद्वातत्रोस्तैस्त्रिधातुकत्वात्त्र्यात्मक इत्यन्वयः । देहस्य केवलाब्जत्वे वातं पित्तं च वायव्यं

पिछले सूत्र में प्रश्न एवं प्रतिवचन का उदाहरण जो दिया गया था, उससे तो केवल जल से सम्परिष्वक्त जीव देहान्तर के लिया जाता है, बस इतना ही सिद्ध होता है, क्योंकि **'आपः पुरुषवचसो भवन्ति'** इस वाक्य में अप् शब्द सुना गया है, वहाँ पर सामान्यतः सभी सूक्ष्म भूतों से सम्परिष्वक्त जीव जाता है, ऐसा आप कैसे कह रहे हैं ? इसका उत्तर अग्रिम सूत्र द्वारा सिद्धान्त पक्ष से सूत्रकार देते हैं—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् (ललिता)

सूत्रस्थ 'तु' शब्द से उत्थापित शङ्का का उच्छेद करते हैं । त्रिवृत्करण श्रुति से जल त्रयात्मक ही सिद्ध होता है । देहान्तर आरम्भक जिस जल को स्वीकार किया गया है, उसमें पृथ्वी एवं तेज इन दो भूतों को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा । देह त्रयात्मक है, क्योंकि उसमें तेज, जल तथा पृथ्वी इन तीनों भूतों के कार्य दीखते हैं । शङ्का—देह पञ्चभूतात्मक है क्योंकि इसमें पाक, स्वेद, गन्ध, प्राण और अवकाश भी उपलब्ध होते हैं । समाधान—इस अरुचि के कारण दूसरी व्याख्या भाष्यकार करते हैं कि वात, पित्त और श्लेष्मा—ये तीन धातु देह को धारक हैं, इसीलिए देह त्रयात्मक कहा जाता है । अन्य भूतों को छोड़कर केवल जल से शरीर नहीं बन सकता । अतः **'आपः पुरुषवचसो भवन्ति'** इस वाक्य में जल की अधिकता के कारण प्रश्न और प्रतिवचन में अप् शब्द आया है । केवल जल की अपेक्षा करके अप् शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, क्योंकि सभी शरीरों में रस, रक्तादि द्रव का आधिक्य दीखता है । पूर्वपक्ष—शरीरों से पार्थिव धातु भी अधिक दिखाई पड़ता है । सिद्धान्त—यह कोई दोष नहीं है । आप को भूतों की अपेक्षा जल का बाहुल्य शरीर में मानना ही पड़ेगा

---

१. आपः पुरुषवचसोभवन्तीत्यादिप्रश्नप्रतिवचनयोः । २. देहान्तरम् । ३. देहः ।

(२९४) प्राणगतेश्च ॥३॥

(२९५) अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥४॥

देहबीजे द्रवबाहुल्यम् । कर्म च निमित्तकारणं देहान्तरारम्भे । कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि सोमाज्यपयःप्रभृतिद्रवद्रव्यव्यपाश्रयाणि 'कर्मसमवायिन्यश्चापः श्रद्धाशब्दोदिताः सह कर्मभिर्द्युलोकाख्येऽग्नौ हूयन्त इति वक्ष्यति । तस्मादप्पां बाहुल्यप्रसिद्धिः । बाहुल्याच्चाप्शब्देन सर्वेषामेव देहबीजानां भूतसूक्ष्माणामुपादानमिति निरवद्यम् ॥२॥

प्राणानां च देहान्तरप्रतिपत्तौ गतिः श्राव्यते—'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणोऽनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४-४-२) इत्यादिश्रुतिभिः । सा च प्राणानां गतिर्नाश्रयमन्तरेण संभवतीत्यतः [२]प्राणगतिप्रयुक्ता तदाश्रयभूतानामपामपि भूतान्तरोपसृष्टानां गतिरवगम्यते । नहि निराश्रयाः प्राणाः क्वचिद्गच्छन्ति तिष्ठन्ति वा जीवतोऽदर्शनात् ॥३॥

स्यादेतत् । नैव प्राणा देहान्तरप्रतिपत्तौ सह जीवेन गच्छन्ति अग्न्यादिगतिश्रुतेः ।

तैजसं न स्यातामिति भावः । पृथिवीतरभूतापेक्षयापां बाहुल्यम् । किंच देहनिमित्तानां कर्मणामब्बाहुल्यात्ताभिर्भूतान्तराण्युपलक्ष्यन्त इत्याह—कर्म चेत्यादिना ॥२॥

उत्क्रान्तौ प्राणा देहबीजपञ्चभूताश्रयाः प्राणत्वाज्जीवद्देहस्थप्राणवदित्याह—प्राणगतेश्चेति ॥३॥

प्राणानां गतिरसिद्धेत्याशङ्क्य निषेधति—अग्न्यादीति । अदर्शनादोषधिवनस्पतिगमनस्येति

क्योंकि देह से बीजभूत शुक्र एवं शोणित में द्रवबाहुल्य दीखता है। देह का निमित्त कारण कर्म है, अतः देहान्तरारम्भक निमित्त अग्निहोत्रादि कर्म सोम, घृत, दुग्धादि द्रव द्रव्य के आश्रित हैं और इन्हीं से निष्पन्न होते हैं। कर्म के निष्पादक जल को श्रद्धा शब्द से कहा गया है, वह श्रद्धापदवाच्य जल कर्म के साथ द्युलोकनामक अग्नि में हवन किया जाता है, ऐसा आगे आचार्य कहेंगे, इसलिए भी जल के बाहुल्य की प्रसिद्धि है। बाहुल्य के कारण अप् शब्द से देह के बीजरूप सभी भूतसूक्ष्म का ग्रहण किया गया है, जो सर्वथा निर्दोष है ॥२॥

प्राणगतेश्च (ललिता)

देहान्तर की प्राप्ति में प्राणों की गति 'उस जीव के उत्क्रमण के पीछे प्राण निकलता है और प्राण के पीछे सभी प्राण निकलते हैं' इत्यादि श्रुतियों से सुनी जाती है। प्राणों की वह गति आश्रय के बिना सम्भव नहीं है। अतः प्राणगतिप्रयोजक उसके आश्रयभूत भूतान्तर से युक्त जल की भी गति जानी जाती है क्योंकि निराश्रित प्राण कहीं जाते नहीं और न कहीं ठहरते हैं, जीवित शरीर में कहीं भी ऐसा नहीं देखा गया है ॥३॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् (ललिता)

पूर्वपक्ष—देहान्तर की प्राप्ति में प्राण जीवात्मा के साथ नहीं जाते हैं क्योंकि मरणकाल में वागादि प्राण अग्न्यादि देवता में मिल जाते हैं, ऐसा अग्न्यादि उपकारक देवताओं में वागादि का

---

१. तन्निर्वर्तिकाः । २. प्रयोजकानाम् ।

(२९६) प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥५॥

तथाहि श्रुतिर्मरणकाले वागादयः प्राणा अग्न्यादीन्देवान्गच्छन्तीति दर्शयति—'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणः' (बृ० ३-२-१३) इत्यादिनेति चेत्। न, भाक्तत्वात्। वागादीनामग्न्यादिगतिश्रुतिर्गौणी लोमसु केशेषु चादर्शनात्। 'ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशाः' (बृ० ३-२-१३) इति हि तत्राम्नायते। नहि लोमानि केशाश्चोत्प्लुत्यौषधीर्वनस्पतींश्च गच्छन्तीति संभवति। नच जीवस्य प्राणोपाधिप्रत्याख्याने गमनमवकल्प्यते। नापि प्राणैर्विना देहान्तर उपभोग उपपद्यते। विस्पष्टं च प्राणानां सह जीवेन गमनमन्यत्र श्रावितम्। अतो वागाद्यधिष्ठात्रीणामग्न्यादिदेवतानां वागाद्युपकारिणीनां मरणकाल उपकारनिवृत्तिमात्रमपेक्ष्य वागादयोऽग्न्यादीन्गच्छन्तीत्युपचर्यते ॥४॥

स्यादेतत्। कथं पुनः 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५-३-३) इत्येतन्निर्धारयितुं पार्यते। यावता नैव प्रथमेऽग्नावपां श्रवणमस्ति। इह हि द्युलोकप्रभृतयः पञ्चाग्नयः पञ्चानामाहुतीनामाधारत्वेनाधीताः तेषां च 'प्रमुखे 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः'

शेषः। लोमान्यपि यन्तीत्यर्थः। प्राणानामग्न्यादिषु लयस्य मुख्यत्वे जीवस्य गतिभोगयागयोरयोगात् 'सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' इति विस्पष्टश्रुतेर्लोमादिगौणलयपाठाच्च गौणत्वमित्यर्थः ॥४॥

भूतान्तरयुक्तानामपां गतिमुक्त्वा पुरुषवचस्त्वं तासामाक्षिप्य समाधत्ते—प्रथम इति। ननु प्रथमपदं

मिलना श्रुति बतलाती है। 'उस मरे हुए पुरुष की वाणी अग्नि में मिल जाती है और प्राण वायु में मिल जाता है' ऐसी श्रुति है। अतः देहान्तरप्राप्ति में जीवात्मा के साथ प्राण की गति सिद्ध नहीं होती। सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि 'ओषधि में लोम और वनस्पति में केश मिल जाते हैं' इन श्रुतियों में जिस प्रकार लोम और केश का ओषधि तथा वनस्पति में लीन होना गौण है, वैसे ही वागादि का अग्न्यादि देवता में लीन होना बतलाने वाली श्रुति भी गौण है। मृत शरीर से उछलकर लोम औषधि में नहीं जाते और न केश वनस्पति में ही जाते हैं, क्योंकि ऐसा होना सम्भव नहीं है। साथ ही, प्राणोपाधि का निराश कर देने पर जीव का गमन नहीं होता और न इन्द्रियों के बिना देहान्तर में जीव का उपभोग ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त जीव के साथ प्राणों का गमन अन्यत्र बतलाया जा चुका है। अतः वागादि के अधिष्ठातृ अग्न्यादि देवता जो वागादि प्राणों के उपकारक हैं उनका उपकार मरणकाल में निवृत्त हो जाता है। इसीलिए वागादि प्राण अग्न्यादि में चले जाते हैं, ऐसा औपचारिक दृष्टि से कहा गया है ॥४॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः (ललिता)

पूर्वपक्ष—जब प्रथम द्युलोकात्मक अग्नि में ही जल का श्रवण नहीं हो रहा है तो भला पञ्चम आहुति में जल पुरुष संज्ञा को प्राप्त हो जाता है, यह निर्णय कैसे कर पायेंगे। इस श्रुति में द्युलोकादि पांच अग्नियां पांच आहुतियों के आधाररूप से बतलायी गयी हैं, उन पांचों में सर्वप्रथम 'हे गौतम!

---

१. आदौ।

(छा० ५-४-१) इत्युपन्यस्य 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति' (छा० ५-४-२) इति श्रद्धा होम्यद्रव्यत्वेनावेदिता। न तत्रापो होम्यद्रव्यतया श्रुताः। यदि नाम पर्जन्यादिषूत्तरेषु चतुर्ष्वग्निष्वपां होम्यद्रव्यता परिकल्प्येत परिकल्प्यतां नाम, तेषु होतव्यतयोपात्तानां सोमादीनामब्बहुलत्वोपपत्तेः। प्रथमे त्वग्नौ श्रुतां श्रद्धां परित्यज्याश्रुता आपः परिकल्प्यन्त इति साहसमेतत्। श्रद्धा च नाम प्रत्ययविशेषः प्रसिद्धिसामर्थ्यात्। तस्मादयुक्तः पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषभाव इति चेत्।

नैष दोषः। यतस्तत्रापि प्रथमेऽग्नौ ता एवापः श्रद्धाशब्देनाभिप्रेयन्ते। कुतः—उपपत्तेः। एवं ह्यादिमध्यावसानसंगानादनाकुलमेतदेकवाक्यमुपपद्यते। इतरथा पुनः पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वप्रकारे पृष्टे प्रतिवचनावसरे प्रथमाहुतिस्थाने यद्यनपो होम्यद्रव्यं श्रद्धां नामावतारयेत्ततोऽन्यथा प्रश्नोऽन्यथा प्रतिवचनमित्येकवाक्यता न स्यात्। 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इति चोपसंहरन्नेतदेव दर्शयति।

व्यर्थमुत्तराग्निष्वप्यपामश्रवणादित्याशङ्क्य सोमवृष्ट्यन्नरेतसामब्रूपत्वादुत्तरत्रतासां श्रवणमस्ति, न प्रथम इत्याह—यदि नामेति। पञ्चाग्निष्वपामाहुतित्वे सिद्धे [1]तासां पञ्चम्यमाहुतौ पुरुषवचस्त्वं भवेन्न तत्सिद्धं प्रथमाग्नौ [2]तासामनाहुतित्वादिति शङ्कार्थः।

एवं हि श्रद्धाशब्देनापां ग्रहे सति प्रश्नोत्तरोपसंहाराणां संगानादेकार्थत्वादेकवाक्यतोपपद्यते, अग्रहे तु चतुर्ष्वग्निष्वेवापामाहुतित्वाच्चतुर्थ्यामाहुताविति वाच्यं, अतः प्रश्नोपसंहारयोः पञ्चम्यामिति श्रवणात्, प्रथमाग्नावप्याप एव ग्राह्या इति समाधानार्थः। अनपः अद्भ्योऽन्यतः। एतदेवेति। श्रद्धा-

---

वह द्युलोक अग्नि है' ऐसा कहने के बाद 'उस अग्नि में देवता श्रद्धा की आहुति करते हैं' इस वाक्य द्वारा होम्यद्रव्यरूप से श्रद्धा बतलायी गयी है, वहाँ पर होम्यद्रव्यरूप से जल नहीं सुना जाता है। ऐसी स्थिति में यदि पर्जन्य आदि बाद की चार अग्नियों में जल की होम्यद्रव्यता की कल्पना करें तो कीजिए क्योंकि वहाँ पर होतव्यरूप से गृहीत सोमादि में जल की बहुलता है, किन्तु प्रथम अग्नि में होम्यरूप से सुनी गयी श्रद्धा का परित्यागकर अश्रुत जल की कल्पना करते हैं तो यह साहसमात्र ही माना जायेगा। प्रसिद्धि के बल से श्रद्धा अन्तःकरण की एक वृत्तिविशेष है। अतः पञ्चम आहुति में जल का पुरुषभाव हो जाना जो कहा जाता है वह असङ्गत है?

सिद्धान्ती—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि वहाँ पर प्रथम अग्नि में भी श्रद्धा शब्द से जल को ही बतलाना अभीष्ट है, साथ ही श्रद्धा शब्द से जल को बतलाना युक्तिसङ्गत भी है। इस प्रकार आदि, मध्य और अन्त में सङ्गति बैठ जाने के कारण यह वाक्य निर्विरोध सिद्ध होता है, अन्यथा पञ्चम आहुति में जल में पुरुषवचस्त्वप्रकार राजा के द्वारा पूछे जाने पर उत्तर देते समय प्रथम आहुति-स्थान में जल से भिन्न होम्यद्रव्य को श्रद्धा नाम से कहा जाय तो प्रश्न कुछ और प्रतिवचन कुछ ही होने लग जायेगा, इनकी एकवाक्यता सिद्ध न हो सकेगी। इसीलिए पञ्चम आहुति में जल पुरुष संज्ञा को प्राप्त हो जाता है, ऐसा उपसंहार करते हुए श्रुति कहती हैं। श्रद्धा का कार्य सोम, वृष्ट्यादि

---

१. राज्ञा। २. स्वयं राजा। ३. अपाम्। ४. अपाम्।

(२९७) अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥६॥

श्रद्धाकार्यं च सोमवृष्टयादि स्थूलीभवदब्बहुलं लक्ष्यते । सा च श्रद्धाया अप्त्वे युक्तिः । कारणानुरूपं हि कार्यं भवति । नच श्रद्धाख्यः प्रत्ययो मनसो जीवस्य वा धर्मः सन्धर्मिणो निष्कृष्य होमायोपादातुं शक्यते पश्वादिभ्य इव हृदयादीनीत्याप एव श्रद्धाशब्दा भवेयुः । श्रद्धाशब्दश्चाप्सूपपद्यते, वैदिकप्रयोगदर्शनात् 'श्रद्धा वा आपः' इति । तनुत्वं श्रद्धासारूप्यं गच्छन्त्य आपो देहबीजभूता इत्यतः श्रद्धाशब्दाः स्युः । यथा सिंहपराक्रमो नरः सिंहशब्दो भवति । श्रद्धापूर्वककर्मसमवायाच्चाप्सु श्रद्धाशब्द उपपद्यते । मञ्चशब्द इव पुरुषेषु । श्रद्धाहेतुत्वाच्च श्रद्धाशब्दोपपत्तिः 'आपो हास्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्मणे' इति श्रुतेः ॥५॥

अथापि स्यात्प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां नामापः श्रद्धादिक्रमेण पञ्चम्याहुतौ पुरुषाकारं प्रति-

---

शब्दस्याबर्थकत्वं दर्शयतीत्यर्थः । उपपत्तेरित्यस्यार्थान्तरमाह—श्रद्धाकार्यमिति । तस्याः श्रद्धाहुतेः सोमः संभवतीत्यादिना 'श्रद्धासोमादीनां पूर्वपूर्वपरिणामत्वं श्रुतं ततो द्रवपरिणामत्वात् श्रद्धाया अप्त्वं प्रत्ययात्मक मुख्यश्रद्धाया आहुतित्वायोगाच्चेत्यर्थः । श्रद्धाशब्दस्याप्सु सूक्ष्मत्वगुणेन वृत्तिमुक्त्वा लक्षणां वक्तुं श्रद्धाया अद्भिरेककर्मयोगित्वं हेतुत्वं वा सबन्धमाह—श्रद्धापूर्वकेति । अस्मै यजमानाय स्नानाद्यर्थमापः श्रद्धां संनमन्ते जनयन्तीति श्रुत्यर्थः ॥५॥

अपां गतिमुपेत्याद्भिः सह जीवानां गतिमाश्रित्य समाधत्ते—अथापीत्यादिना । द्युलोकाग्नौ

स्थूल होते हुए जलबहुल उपलक्षित होते हैं। श्रद्धा का जल होने में यही तर्क है क्योंकि कार्य सदा कारणानुरूप ही होता है । साथ ही श्रद्धानामक अन्तःकरणपरिणाम को चाहे मन का धर्म मानें अथवा जीव का धर्म मानें, दोनों ही विकल्प में धर्मी से पृथक् करके होम के रूप में उसका उपादान नहीं कर सकते । जैसे पशु आदि के हृदयादि अवयवों को उखाड़कर आहुति डालते हैं वैसा मनोधर्म या जीव के धर्म श्रद्धानामक प्रत्यय का उपादान नहीं कर सकते । जल ही जब श्रद्धाशब्दवाच्य होगा तब श्रद्धा शब्द में भी जल प्रयुक्त किया जा सकता है क्योंकि 'निःसन्देह श्रद्धा जलरूप ही है' ऐसा वैदिकप्रयोग देखा जाता है । श्रद्धा के समान सूक्ष्मता को जब देह के बीजभूत जल प्राप्त करते हैं, तब उस जल को श्रद्धा शब्द से कहा जाता है । जैसे सिंह के पराक्रम वाला मनुष्य सिंहशब्दवाच्य होता है, वैसे ही श्रद्धापूर्वक कर्म होने के कारण जल में श्रद्धा शब्द का प्रयोग "मञ्चाः क्रोशन्ति" इस वाक्य की भाँति पुरुष में युक्तियुक्त है । श्रद्धा का कारण होने से भी जल में श्रद्धा शब्द का प्रयोग करना युक्तिसङ्गत है. क्योंकि 'यजमान के लिए स्नानादि कार्यसिद्धि हेतु जल पुण्यकर्म के निमित्त श्रद्धा का रूप धारण कर लेता है' ऐसी श्रुति है अर्थात् स्नानादि कार्य के लिए इस यजमान के पास जल श्रद्धा बनकर जाता है ॥५॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः (ललिता)

पूर्वपक्षी—यदि प्रश्न और प्रतिवचन द्वारा पाँचवी आहुति में जल पुरुष संज्ञा को प्राप्त कर

---

१ आपो बहुला यस्मिन् । २. ज्ञायतेऽनुमीयते इति यावत् । ३. सा चेति अनुमितिरित्यर्थः तथाहि श्रद्धाऽब्बहुला तत्कार्यं सोमवृष्टयादौ तद्बाहुल्य दर्शनात् मृद्घटादिवत् । ४. तद्वाच्याः । ५. तद्वाच्यो भवति । ६. निष्पादनात् । ७. यद्यपि । ८. मध्ये । ९. द्रव्यं सोमादि परिणामो यस्याः । १०. यथापां कर्माङ्गत्वं तथा श्रद्धाया अपीति भावः । ११. स्वीकृत्य ।

पद्येरन् । न तु तत्संपरिष्वक्ता जीवा रंहेयुः । अश्रुतत्वात् । न ह्यत्रापामिव जीवानां श्रावयिता कश्चिच्छब्दोऽस्ति । तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इत्ययुक्तमिति चेत् । नैष दोषः । कुतः ? इष्टादिकारिणां प्रतीतेः । 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति' (छा० ५-१०-६) इत्युपक्रम्येष्टादिकारिणां धूमादिना पितृयाणेन पथा चन्द्रप्राप्तिं कथयति—'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा'(छा० ५-१०-४) इति । त एवेहापि प्रतीयन्ते 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' (छा० ५-४-२) इति श्रुतिसामान्यात् । [1]तेषां चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मसाधनभूता दधिपयःप्रभृतयो द्रवद्रव्यभूयस्त्वात्प्रत्यक्षमेवापः सन्ति । ता आहवनीये हुताः सूक्ष्मा आहुत्योऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिण आश्रयन्ति । तेषां च शरीरं नैधनेन विधानेनान्त्ये[2]ऽग्नावृत्विजो जुह्वति 'असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा' इति । ततस्ताः श्रद्धापूर्वककर्म[3]समवायिन्य आहुतिमय्य आपोऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिणो जीवान्[4]परिवेष्टयामुं लोकं फलदानाय नयन्तीति यत्तदत्र जुहोतिनाभिधीयते—'श्रद्धां जुह्वति'

श्रद्धाहुतेः सोमो राजा संभवतीत्युक्त्वा वाक्यशेषे धूमादिमार्गेण आकाशाच्चन्द्रमसं प्राप्ता इष्टादिकारिणएष सोमो राजेत्युक्ताः, अतः सोमराजशब्दसामान्यादिष्टादिकारिणां जीवानां श्रद्धाशब्दितात्भिः सह गतिरिह श्रद्धाहुतिवाक्ये प्रतीयत इत्यर्थः । तेषां सूक्ष्माभिर्द्रव्यापूर्वरूपाभिः पञ्चीकृताभिरद्भिः सम्बन्धं वदन् सहगतिं विवृणोति—तेषां चाग्निहोत्रेति । निधनं मरणं तन्निमित्तकमन्त्येष्टि-

जायेंगे, ऐसा मान भी लिया जाय, पर उस जल से सम्परिष्वक्त जीव देहान्तरप्राप्ति के लिए जाता है, यह नहीं मान सकते, क्योंकि यहाँ पर जल की भाँति जीव का गमन बतलाने वाला कोई शब्द नहीं है। अतः जल से सम्परिष्वक्त हो जीव देहान्तरप्राप्ति के लिए जाता है, यह कथन असङ्गत है ? सिद्धान्ती—यह दोष नहीं है क्योंकि 'जो ग्राम में रहकर इष्टापूर्त एवं दत्त का अनुष्ठान करते हैं वे सभी धूममार्ग को प्राप्त करते हैं' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर इष्टादि कर्म करने वाले को धूमादि पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक की प्राप्ति बतलाने वाला श्रुतिवाक्य है—'आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त करता है, वहाँ यह सोम राजा बन जाता है।' वे ही यहाँ पर भी प्रतीत होते हैं क्योंकि 'उसी अग्नि में देवता श्रद्धा की आहुति करते हैं और उस आहुति से सोम राजा उत्पन्न होते हैं' ऐसी सामान्य श्रुति है। उन इष्टादि कर्म करने वाले के पास अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासादि कर्म के साधनभूत दधि, दुग्धादि द्रवद्रव्य अधिक होने के कारण प्रत्यक्षतः जल हैं, वे ही जल आहवनीय अग्नि में आहुति दे दिये जाने पर सूक्ष्म आहुतियाँ अपूर्वरूप बनकर उन इष्टादि कर्म करने वाले के आश्रित हो जाती हैं। उनके शरीर को अन्त्येष्टि क्रिया द्वारा श्मशानाग्नि में ऋत्विज् लोग **'असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा'** इस मन्त्र से जला डालते हैं। उसके बाद श्रद्धापूर्वक कर्म से सम्बद्ध आहुतिमय वह जल उन इष्टादि कर्म करने वाले जीवों को परिवेष्टितकर फल देने के लिए द्युलोक में ले जाते हैं, इसीलिए यहाँ पर **'जुहोति'** नहीं कहा जाता है अपितु 'श्रद्धा की आहुति करते हैं' ऐसा कहा जाता है। हुतद्रव्यरूप जल के गमन में अन्य

१. इष्टादिकारिणाम् । २. श्मशानाग्नौ । ३. निर्वर्त्याः । ४. द्युलोकम् । ५. इष्टादिकारिणाम् ।

(बृ० ६-२-९) इति । तथाचाग्निहोत्रे षट्प्रश्नीनिर्वचनरूपेण वाक्यशेषेण 'ते वा एते आहुतो हुते उत्क्रामतः' इत्येवमादिनाग्निहोत्राहुत्योः फलारम्भाय लोकान्तरप्राप्तिः प्रदर्शिता । तस्मादाहुतिमयीभिरद्भिः संपरिष्वक्ता जीवा रंहन्ति स्वकर्मफलोपभोगायेति श्लिष्यते ।।६।।

कथं पुनरिदमिष्टादिकारिणां स्वकर्मफलोपभोगाय रंहणं प्रतिज्ञायते । यावता तेषां 'धूमप्रतीकेन वर्त्मना चन्द्रमसमधिरूढानामन्नभावं दर्शयति—'एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति' (छा० ५-१०-४) इति 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति' (बृ० ६-२-१६) इति च समानविषयं श्रुत्यन्तरम् । नच व्याघ्रादिभिरिव देवैर्भक्ष्यमाणानामुपभोगः संभवतीति अत उत्तरं पठति—

विधानं, असौ यजमानः, स्वर्गाय गच्छत्विति मन्त्रार्थः । हुतद्रव्यरूपाणामपां गमने श्रुत्यन्तरमाह—तथाचेति । अग्निहोत्रप्रकरणे जनकेन याज्ञवल्क्यं प्रति 'नत्वेवैनयोः सायंप्रातराहुत्योस्त्वमुत्क्रान्तिं न गतिं न प्रतिष्ठां न तृप्तिं न पुनरावृत्तिं न लोकं प्रत्युत्थायिनं वेत्थ' इति षट् प्रश्नाः कृतास्तेषां निर्वचनमपि राज्ञैव 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः तेऽन्तरिक्षद्वारा दिवं गच्छतस्ते दिवमेवाहवनीयं प्रतिष्ठां कुर्वाते दिवं तर्पयतस्ते ततः पुनरावर्तेते ततः पृथिव्यां पुरुषे योषिति च हुते पुरुषरूपेणोत्तिष्ठतः' इति वाक्यशेषेण कृतम् ।।६।।

संप्रत्युत्तरसूत्रव्यावर्त्यं शङ्कते—कथमित्यादिना । अत्र सोमाख्यचन्द्रस्यान्नत्वमुक्तं नेष्टादिकारिणामिति भ्रान्तिनिरासार्थं श्रुत्यन्तरमाह—ते चन्द्रमिति । यथा यज्ञे चमसस्थं सोममृत्विज आप्यायस्वेति क्रियावृत्तौ लोट् पुनः पुनराप्याय्य पुनः पुनरपक्षय्य भक्षयन्ति । एवमेनानिष्टादिकारिणोऽन्नरूपान् भक्षयन्ति देवा इत्यर्थः ।

श्रुति भी प्रमाण है, इसीलिए अग्निहोत्र प्रकरण में जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा है और उन छः प्रश्नों के निर्वचनरूप वाक्यशेष से बतलाया गया है कि 'वे दी हुई आहुतियाँ उत्क्रमण कर जाती हैं और अन्तरिक्ष द्वारा द्युलोक में जाती हैं।' इन वाक्यों के द्वारा भी अग्निहोत्र की आहुतियों को लोकान्तर-प्राप्ति फलारम्भ के लिए बतलायी गयी हैं। अतः आहुतिमयी जल समारिष्वक्त हो जीव अपने कर्मफलोपभोग के लिए जाते हैं, यह अर्थ सिद्ध हुआ ।।६।।

पूर्वपक्ष—इष्टादि कर्म करने वालों के, अपने कर्मफलोपभोग के लिए, स्वर्ग जाने की प्रतिज्ञा आप कैसे कर रहे हैं; जब कि धूमोपलक्षित मार्ग से चन्द्रलोक में पहुँचे हुए उन इष्टादि कर्मकारियों को वहाँ के देवताओं का अन्न होना श्रुति बतलाती है—यह सोम राजा है, वह देवताओं का अन्न है। उसे देवता लोग खाते हैं।' "ये इष्टादि कर्म करने वाले चन्द्रलोक प्राप्तकर अन्न हो जाते है, उन्हें वहाँ के देवता लोग वैसे ही भक्षण करते हैं जैसे यज्ञ में चमस पात्र में स्थित सोमरस को ऋत्विज् लोग 'आप्यायस्व अपक्षीयस्व' ऐसा कहकर पीते हैं" ऐसी समानविषयक श्रुत्यन्तर भी है। जैसे व्याघ्र आदि के द्वारा खाये हुए व्यक्ति का सुखजनक उपभोग नहीं होता, वैसे ही देवताओं के द्वारा खाये गये इष्टादि कर्म करने वालों को भी कोई सुखजनक उपभोग का होना सम्भव नहीं है ? इस प्रश्न का उत्तर सिद्धान्त अग्रिम सूत्र से देते हैं—

१. तदुपलक्षितेन ।

(२९८) भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ॥७॥

वाशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः। भाक्तमेषामन्नत्वं न मुख्यम्। मुख्ये ह्यन्नत्वे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयकाधिकारश्रुतिरुपरुध्येत। चन्द्रमण्डले चेदिष्टादिकारिणामुपभोगो न स्यात्किमर्थमधिकारिण इष्टाद्यायासबहुलं कर्म कुर्युः। अन्नशब्दश्चोपभोगहेतुत्वसामान्यादनन्नेऽप्युपचर्यमाणो दृश्यते। यथा विशोऽन्नं राज्ञां पशवोऽन्नं विशामिति। तस्मादिष्टस्त्रीपुत्रमित्रभृत्यादिभिरिव गुणभावोपगतैरिष्टादिकारिभिर्यत्सुखविहरणं देवानां तदेवैषां भक्षणमभिप्रेतं न मोदकादिवच्चर्वणं निगरणं वा। 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' (छा० ३-६-१) इति च देवानां चर्वणादिव्यापारं वारयति। तेषां चेष्टादिकारिणां देवान्प्रति गुणभावोपगतानामप्युपभोग उपपद्यते राजोपजीविनामिव परिजनानाम्। अनात्मवित्त्वाच्चेष्टादिकारिणां देवोपभोग्यभाव उपपद्यते। तथाहि श्रुतिरनात्मविदां देवोपभोग्यतां दर्शयति—'अथ [1]योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्' (बृ० १-४-१०) इति। स चास्मिन्नपि लोके इष्टादिभिः कर्मभिः प्रीणयन्पशुवद्देवानामुपकरोत्यमुष्मिन्नपि लोके तदुपजीवी 'तदादिष्टं

अधिक्रियते पुरुषो विधिना संबध्यतेऽनेनेत्यधिकारः फलकामना। शास्त्रानर्थक्यवारणाय अन्नत्वं गौणमित्याह। केन दोषेण तेषां देवभोग्यतेत्यत आह—अनात्मवित्त्वाच्चेति। यथा पशुर्भोग्य

भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति (ललिता)

सूत्रस्थ 'वा' शब्द उत्थित दोष की व्यावृत्ति के लिए है। इष्टादि कर्मकर्ताओं में अन्नत्व गौण है, मुख्य नहीं है क्योंकि उनमें मुख्य अन्नत्व मानने पर 'स्वर्गकामो यजेत' ऐसी अधिकारबोधक श्रुति का विरोध होने लग जायेगा। यदि चन्द्रमण्डल में इष्टादि कर्म करने वालों का उपभोग नहीं होता, तो फिर भला वे अधिकारी बहुलपरिश्रमसाध्य इष्टादि कर्म क्यों करेंगे। उपभोगहेतुत्वसामान्य के कारण अन्न शब्द अन्न से भिन्न अर्थ में भी औपचारिक दृष्टि से प्रयुक्त होता देखा जाता है, जैसे राजाओं का अन्न वैश्य है और वैश्यों का अन्न पशु है। अतः गुणभाव को प्राप्त इष्ट स्त्री-पुत्र और मित्रादि की भाँति इष्टादि कर्म करने वालों के साथ जो सुखपूर्वक देवताओं का विहरण होता है वही उनका भक्षण अभिप्रेत है, न कि मोदक के समान स्वर्गस्थ देवता इष्टादि कर्म करने वाले को चबाते हैं, अथवा निगलते हैं। वास्तव में 'न देवता खाते है न पीते हैं, वे तो इस अमृत को देखकर तृप्त रहते हैं' यह वाक्य देवताओं में चर्वणादि व्यापार का वारण करता है। अतः राजा की उपजीवी प्रजा को जैसे राजा का उपभोग कहा गया है, वैसे ही देवताओं के प्रति गुणभाव को प्राप्त होने वाले इष्टादि कर्म करने वालों में भी उपभोग सिद्ध होता है। इष्टादि कर्म करने वालों में देवोपभोग्यत्व का कारण है अनात्मवित्त्व। श्रुति ने भी अनात्मवित् पुरुष का देवता का उपभोग कहा है—'जो अनात्मज्ञ भेददर्शी पुरुष देवता को अपने से भिन्न मानकर उपासना करता है, वह देव अन्य है, मैं अन्य हूँ, ऐसा अज्ञ पुरुष वस्तुतः जानता नहीं है, वह तो देवताओं का भरण-पोषण करने वाले पशु के तुल्य हो है।' वह इस लोक में रहते हुए भी इष्टादि कर्मों द्वारा पशु की भाँति देवताओं को प्रसन्न करता हुआ उपकार

---

1. देवैर्दत्तम्।

फलमुपभुञ्जानः पशुवद्देवानामुपकरोतीति गम्यते ॥

अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयतीत्यस्यापरा व्याख्या—अनात्मविदो ह्येते केवलकर्मिण इष्टादिकारिणो न [1]ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायिनः । पञ्चाग्निविद्यामिहात्मविद्येत्युपचरन्ति प्रकरणात् । पञ्चाग्निविज्ञानविहीनत्वाच्चेदमिष्टादिकारिणां गुणवादेनान्नत्वमुद्भाव्यते पञ्चाग्निविज्ञानप्रशंसायै । पञ्चाग्निविद्या हीह विधित्सिता । वाक्यतात्पर्यावगमात् । तथाहि श्रुत्यन्तरं चन्द्रमण्डले भोगसद्भावं दर्शयति—'स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते' (प्र० ५-४) इति । तथान्यदपि श्रुत्यन्तरम् 'अथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते' (बृ० ४-३-३३) इतीष्टादिकारिणां देवैः सह संवसतां भोगप्राप्तिं दर्शयति । एवं भाक्तत्वादन्नभाववचनस्येष्टादिकारिणोऽत्र जीवा रंहन्तीति प्रतीयते । तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इति युक्तमेवोक्तम् ॥७॥

एवमन्नः सचि भेदयोमान् देवतानां भोग्य इत्यर्थः ।

आत्मशब्दस्य मुख्यत्वबलेन सूत्रांशं व्याख्याय प्रकृतपञ्चाग्नयः सूत्रकृतात्मत्वेनोपचरिता इति व्याख्यान्तरमाह—अनात्मेत्यादिना । विद्यास्तुत्यर्थमन्नत्वं न मुख्यमित्यत्र श्रुत्यन्तरार्थं सूत्रशेषं व्याचष्टे—तथाहीति । एवं गतिपर्यालोचनया वैराग्यमिति सिद्धम् ॥७॥

करता है और मरने पर उस लोक में भी देवाश्रित जीने वाला देवता से प्राप्त इष्ट फल का उपभोग करता हुआ पशु की भाँति ही देवताओं का उपकार करता है, ऐसा जाना जाता है ।

'अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति' इस सूत्रांश की दूसरी व्याख्या भी है कि ये केवल इष्टादि कर्म करने वाले अनात्मवित् ही हैं क्योंकि ये ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायी नहीं हैं अर्थात् यहाँ पर पञ्चाग्नि विद्या को ही प्रकरणानुसार औपचारिक दृष्टि से आत्मविद्या कह रहे हैं । पञ्चाग्नि विद्या से हीन होने के कारण इन इष्टादि कर्म करने वालों में गौण दृष्टि से पञ्चाग्नि विद्या की प्रशंसा के लिए अन्नत्व का उद्भावन करते हैं । वाक्यतात्पर्य के अवगम से यहाँ पर पञ्चाग्नि विद्या का विधान करना ही इष्ट है । वैसा ही श्रुत्यन्तर चन्द्रमण्डल में इष्टादि कर्म करने वालों का भोगसद्भाव दिखलाती है कि 'वह चन्द्रलोक में विभूति का अनुभवकर पुनः संसार में लौट आता है ।' यह वाक्य तथा 'लोकजित् पितरों के जो सौ आनन्द हैं वह गन्धर्वलोक का एक आनन्द है और जो गन्धर्व लोक के सौ आनन्द हैं वह कर्मदेवों का एक आनन्द है जो श्रौतादि कर्मों द्वारा देवत्व को प्राप्त करते हैं' यह अन्य श्रुति भी देवताओं के साथ सहवास करने वाले इष्टादि कर्मकारियों में भोगप्राप्ति दिखलाती है । इस प्रकार इष्टादि कर्म करने वालों में अन्नभाव बतलाने वाला वाक्य गौण होने के कारण देहान्तरप्राप्ति के लिए जीव जाते है, यह अर्थ सिद्ध हुआ । अतएव देहान्तर आरम्भ के लिए जीव भूतसूक्ष्म से सम्परिष्वक्त ही जाता है, यह पूर्वोक्त अर्थ युक्तियुक्त ही है । इस प्रकार जीवात्मा की गति की समीक्षा से वैराग्य सिद्ध होता है ॥७॥

---

१. उपासना ।

२. कृतात्ययाधिकरणम् (सू० ८-११)

(२९९) कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ।।८।।

स्वर्गावरोही क्षीणानुशयः सानुशयोऽथवा । यावत्सपातवचनात् क्षीणानुशय इष्यते ।।
जातमात्रस्य भोगित्वादेकभव्ये विरोधतः । चरणश्रुतितः सानुशयः कर्मान्तरैरयम् ।।

इष्टादिकारिणां धूमादिना वर्त्मना चन्द्रमण्डलमधिरुढानां भुक्तभोगानां ततः प्रत्यवरोह आम्नायते—'तस्मिन्[1] यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्' (छा०

इदानीं गत्यन्तरभाविनीमागतिं निरूपयति—कृतात्यय इति । **भोक्तव्यकर्मसमाप्त्यानन्तर्यमथशब्दार्थः । यथेतमित्यारभ्य श्वादियोनिमित्यन्तं वाक्यं यावत्तावदाम्नायत इति योजना । अत्र यावत्सं-**

---

२. कृतात्ययाधिकरण

१. **सङ्गति**—यागादि क्रिया से सम्बद्ध जल पाँचवीं आहुति में पुरुष संज्ञा के रूप में परिणत हो जाता है, इस हेतु का आश्रय लेकर जलादि भूतसूक्ष्म से परिवेष्टित जीव का चन्द्रलोक से नीचे आना युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि उस समय जीवात्मा में कर्म का अभाव हो जाता है। इस प्रकार आक्षेप होने पर इस अधिकरण को प्रारम्भ किया गया है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. **विषय**—इस अधिकरण में स्वर्ग से लौटने वाले जीवात्मा की गति का विचार किया गया है।

३. **संशय**—स्वर्ग से लौटने वाला जीव सम्पूर्ण कर्मफल भोगकर मर्त्यलोक में आता है अथवा कर्म के साथ ही लौटता है ?

४. **पूर्वपक्ष**—**'यावत्सम्पातम्'** इस वाक्य के आधार पर प्रारब्धकर्मभोगपर्यन्त जीवात्मा का स्वर्ग में रहना माना गया है, तत्पश्चात् निरनुशय जीव ही स्वर्ग से मर्त्यलोक में लौटता है।

५. **सिद्धान्त**—जिन कर्मों का फल भोगने के लिए जीवात्मा स्वर्गलोक में जाता है उन्हीं कर्मों का फल वहाँ रहकर भोगता है, शेष कर्म बने रहते हैं, जिनका भोग मर्त्यलोक में आकर करना पड़ता है। इन शेष कर्मों का फलभोग एक जन्म में हो भी नहीं सकता। साथ ही **'रमणीयचरणाः'** इस श्रुति के आधार पर भी अन्य कर्मों से परिवेष्टित ही जीव लौटता है, निरनुशय नहीं, क्योंकि समस्त कर्मफलभोग हो जाने पर तो जन्म हो ही नहीं सकता।

गतिनिरूपण के बाद आगति का निरूपण अग्रिम सूत्र से करते हैं—

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च (ललिता)

धूमादि मार्ग से चन्द्रमण्डल में गये इष्टादि कर्म करने वाले जब वहाँ के भोगों को भोग लेते हैं तब उनके लिए 'उस चन्द्रमण्डल में कर्मफलभोगपर्यन्त वास करके फिर इसी मार्ग से लौटते है जिससे गये थे' यहाँ से प्रारम्भकर 'रमणीय चरण वाले ब्राह्मणादि रमणीय योनि को प्राप्त करते हैं और मलिन कर्मवाले कुत्ते आदि मलिन योनि को प्राप्त करते हैं' इन वाक्यों से लौटना कहा गया है। वहाँ

---

१. चन्द्रमण्डले । २. पूर्वपक्षे यावच्छब्दः साकल्यार्थः सिद्धान्ते मानार्थ इति भेदः ।

५-१०-५) इत्यारभ्य यावद्रमणीयचरणा ब्राह्मणादियोनिमापद्यन्ते कपूयचरणाः श्वादियोनिमिति। तत्रेदं विचार्यते—किं निरनुशया भुक्तकृत्स्नकर्माणोऽवरोहन्त्याहोस्वित्सानुशया इति। किं तावत्प्राप्तम्। निरनुशया इति। कुतः?—यावत्संपातमिति विशेषणात्। संपातशब्देनात्र कर्माशय उच्यते—संपतन्त्यनेनास्माल्लोकादमुं लोकं फलोपभोगायेति। यावत्संपातमुषित्वेति च कृत्स्नस्य तस्य कृतस्य तत्रैव भुक्ततां दर्शयति। 'तेषां यदा तत्पर्यवैति' (बृ० ६-२-१६) इति च श्रुत्यन्तरेणैव एवार्थः प्रदर्श्यते। स्यादेतत्। यावदमुष्मिंल्लोक उपभोक्तव्यं कर्म तावदुपभुङ्क्त इति कल्पयिष्यामीति। नैवं कल्पयितुं शक्यते यत्किंचेत्यन्यत्र परामर्शात्। 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४-४-६) इति ह्यपरा श्रुतिर्यत्किंचेत्यविशेषपरामर्शेन कृत्स्नस्येह कृतस्य कर्मणस्तत्र क्षयिततां दर्शयति। अपि च प्रायणमनारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकम्। प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्याभिव्यक्त्यनुपपत्तेः। 'तच्चाविशेषा-

---

पातमिति विशेषणाद्रमणीयचरणा इति वाक्याच्च संशयमाह—तत्रेति। अनुशयः कर्म, अत्र पूर्वपक्षे कर्माभावेनागतेरनियमाद्वैराग्यादाढर्यं, सिद्धान्ते कर्मसत्त्वेनागतिनियमाद्वैराग्यदाढर्यमिति भेदः। तेषामिष्टादिकारिणां यदा तत्कर्म पर्यवैति विपरिक्षीणं भवति तदा पुनरावर्तन्त इति श्रुत्यन्तरेणापि कृत्स्नकर्मणश्चन्द्रलोके भुक्तत्वमुच्यत इत्यर्थः। यावत्पदसङ्कोचो न युक्तः श्रुत्यन्तरविरोधादित्याह—नैवमिति। अयं नरो यत्किंचिदिह लोके कर्म करोति तस्यान्तं फलं परलोके प्राप्य कर्मार्थं पुनरायातीति श्रुत्यर्थः। कर्माभावे श्रुतिमुक्त्वा युक्तिमाह—अपिचेति। अभिव्यक्तिः फलोन्मुखता, मरणेनाभिव्यक्तस्य सर्वस्य कर्मणः परलोकभोगस्यावश्यंभावात्कर्माभाव इत्यर्थः।

पर यह विचार होता है कि सम्पूर्ण कर्मफल भोग करने वाले जीव निरनुशय लौटते हैं अथवा सानुशय लौटते हैं। फिर आप क्या मानते हैं? इस पर पूर्वपक्ष कहता है कि निरनुशय जीव स्वर्ग से लौटते हैं क्योंकि 'यावत्संपातम्' ऐसा विशेषण वहाँ लगाया गया है। यहाँ पर संपात् शब्द से कर्मसंस्कार कहा जाता है अर्थात् इस लोक से फलभोग के लिए उस लोक में जिस निमित्त से जाता है उसे संपात् कहते हैं। इस प्रकार भोग देने वाले कर्म के रहने तक वहाँ पर वास करके जो लौटने की बात कही गयी है, इससे सम्पूर्ण कर्मों का भोग स्वर्ग में ही श्रुति दिखलाती है। 'उन प्राणियों का जब वहाँ से पर्यावर्तन होता है' इस श्रुत्यन्तर द्वारा भी यही अर्थ प्रदर्शित किया गया है। मध्यस्थ—ठीक है, जब तक स्वर्गलोक में उपभोक्तव्य कर्म है तब तक वहाँ पर भोगता है, ऐसी कल्पना मैं करूंगा। पूर्वपक्षी—ऐसी कल्पना नहीं कर सकते क्योंकि अन्यत्र 'इस लोक में यह जीव जो कुछ कर्म करता है उस कर्म का अन्तकर उस लोक से इस लोक में कर्म करने के लिए आता है' ऐसा यत्किंच का परामर्श दीखता है। इस प्रकार यह दूसरी श्रुति भी 'यत्किंच' इस अविशेष परामर्श द्वारा यहाँ पर किये हुए कर्म का स्वर्ग में नाश हो जाना बतलाती है। स्वर्ग से लौटने वाले जीवात्मा में कर्म का अभाव इसलिए भी मानना चाहिए, क्योंकि मरण[1] अनारब्धफलवाले कर्म का अभिव्यञ्जक है, जो मरने से पूर्व आरब्धफलवाले कर्म द्वारा प्रतिबद्ध था, इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पा रही

---

१. मरणम्।

द्यावत्किंचिदनारब्धफलं तस्य सर्वस्याभिव्यञ्जकम् । नहि साधारणे निमित्ते नैमित्तिकमसाधारणं भवितुमर्हति, न ह्यविशिष्टे प्रदीपसंनिधौ घटोऽभिव्यज्यते न पट इत्युपपद्यते । तस्मान्निरनुशया अवरोहन्तीति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—कृतात्ययेऽनुशयवानिति । येन कर्मवृन्देन चन्द्रमसमारूढाः फलोपभोगाय तस्मिन्नुपभोगेन क्षपिते तेषां यदम्मयं शरीरं 'चन्द्रमस्युपभोगायारब्धं तदुपभोगक्षयदर्शनशोकाग्निसंपर्कात्प्रविलीयते । सवितृकिरणसंपर्कादिव हिमकरकाः । हुतभुगर्चिःसंपर्कादिव च घृतकाठिन्यम् । ततः कृतात्यये कृतस्येष्टादेः कर्मणः फलोपभोगेनोपक्षये सति सानुशया एवेममवरोहन्ति । केन हेतुना ? दृष्टस्मृतिभ्यामित्याह । तथाहि प्रत्यक्षा श्रुतिः सानुशयानामवरोहं दर्शयति—'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा' (छा० ५-१०-७) इति । चरणशब्देनानुशयः सूच्यत इति वर्णयिष्यति । दृष्टश्चायं जन्मनैव

चरणाख्यशीलमात्रादवरोह इति प्राप्ते सिद्धान्तप्रतिज्ञां व्याचष्टे—येनेत्यादिना । तत् तत्रावरोहतां जीवानां मध्ये ये केचिदिह कर्मभूमौ रमणीयचरणाः पुण्यकर्माणः पुण्ययोनिभाज इति यत् तत् अभ्याशो ह अवश्यं हीत्यर्थः । कपूयं पापम् । दृष्टशब्दस्य श्रुत्यर्थमुक्त्वार्थान्तरमाह—दृष्टश्चेति । 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृ: ४-४-५) इत्यादिशास्त्रेण सुखदुःखयोर्धर्माधर्महेतुकत्वमवगतम् । ततश्च जन्मारभ्य दृष्टो भोगः कर्महेतुकः भोगत्वात्, स्वर्गभोगवदित्यनुशयसिद्धिः

थी । अविशेषरूप से जो कुछ भी अनारब्धफलवाला कर्म है, वह मरण उन सभी का अभिव्यञ्जक है । साधारण निमित्त के उपस्थित होने पर नैमित्तिक असाधारण नहीं हो सकता । सामान्यतः प्रदीप की सन्निधि में घट तो दीखेगा पर पट नहीं दीखेगा, ऐसा तर्क कोई दे नहीं सकता । अतः स्वर्गस्थ जीव के सभी कर्मों के फलभोग हो जाने पर वे जीव निरनुशय स्वर्ग से लौटते हैं ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं, कि जिस कर्मसमुदाय से जीव फलभोग के लिए चन्द्रलोक में जाते हैं उसका भोग से नाश हो जाने पर उन स्वर्गस्थ प्राणियों का अम्मय शरीर जो चन्द्रलोक में स्वर्गोपभोग के लिए बना था, वहाँ पर उपभोग के क्षयदर्शन से उनके मन में जो शोकाग्नि उत्पन्न होती है उसके सम्पर्क से, वह शरीर वैसे ही लीन हो जाता है जैसे सूर्यकिरण के सम्पर्क से बर्फ पिघल जाती है और अग्नि की ज्वाला के सम्पर्क से जैसे घृतकाठिन्य नष्ट हो जाता है । तत्पश्चात् किये हुए इष्टादि कर्म के फलोपभोग द्वारा नाश होने पर सानुशय जीव ही इस लोक में लौटते हैं, ऐसा हम दृष्टि और स्मृति के आधार पर मानते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष श्रुति सानुशय जीव का ही अनुरोह बतलाती है—'जो अच्छे कर्मवाले हैं वे अवश्य ही अच्छी योनि—ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य योनि—में जायेंगे और जो मलिन कर्मवाले हैं वे अवश्य कुत्ते, सूअर और चाण्डाल जैसी बुरी योनियों में जायेंगे । 'चरण' शब्द में यहाँ पर अनुशय अर्थ सूचित होता है, ऐसा आचार्य कहेंगे । यह

---

१. तल्लोके ।

प्रतिप्राण्युच्चावचरूप उपभोगः प्रविभज्यमान आकस्मिकत्वासंभवादनुशयसद्भावं सूचयति, अभ्युदयप्रत्यवाययोः सुकृतदुष्कृतहेतुत्वस्य सामान्यतः शास्त्रेणावगमितत्वात् । स्मृतिरपि 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' । इति सानुशयानामेवावरोहं दर्शयति ।

कः पुनरनुशयो नामेति । केचित्तावदाहुः—स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषः कश्चिदनुशयो नाम भाण्डानुसारिस्नेहवत् । यथाहि स्नेहभाण्डं रिच्यमानं न सर्वात्मना रिच्यते भाण्डानुसार्येव कश्चित्स्नेहशेषोऽवतिष्ठते तथाऽनुशयोऽपीति । ननु कार्यविरोधित्वादृष्टस्य न भुक्तफलस्यावशेषावस्थानं न्याय्यम् । नायं दोषः । नहि सर्वात्मना भुक्तफलत्वं कर्मणः प्रतिजानीमहे । ननु निरवशेषकर्मफलोपभोगाय चन्द्रमण्डलमारूढः । बाढम् । तथापि स्वल्पकर्मावशेषमात्रेण तत्रावस्थातुं न लभ्यते । यथा किल कश्चित्सेवकः सकलैः सेवोप-

'विपक्षे च हेत्वभावात् भोगस्याकस्मिकत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । स्मृतावाश्रमाः आश्रमिणः प्रेत्य मृत्वा लोकान्तरे कर्मफलं भुक्त्वा ततः शेषेण भुक्तादन्येन कर्मणा अनुशयाख्येन पुनर्जन्म प्रतिपद्यन्ते इति संबन्धः । विशिष्टा देशादयो मेधान्ता दश गुणा येषु ते तथोक्ताः । श्रुतं ज्ञानं, वृत्तं आचारः ।

स्वाभिमतानुशयं वक्तुं पृच्छति—कः पुनरिति । कृतस्य कर्मणः स्वर्गे भोगे सति भुक्तस्य कर्मणो लेशोऽनुशयस्तद्वानवरोहति भाण्डे स्नेहलेशस्य दृष्टत्वात्, ततः शेषेणेति स्मृतेश्चेत्येकदेशिव्याख्यामाह—केचिदित्यादिना । रिच्यमानं स्नेहेन वियुज्यमानम् । ननु भोगनाश्यत्वात् कर्मणो लेशो न युक्त इति शङ्कते—नन्विति । कृत्स्नकर्मणो भोगे जाते नाशः स्यात्, न तु भोगो जात इति परिहारार्थः भोगो न जायत इत्युक्तमिति शङ्कते—नन्विति । भोगः सावशेषो जात इति समाधत्ते—बाढमित्यादिना ।

देखा भी गया है कि कुछ प्राणी जन्म से ही उच्चतम भोग और कुछ जन्म से ही निम्नतम भोग प्राप्त करते हैं, इसे आकस्मिक कहना ठीक नहीं । अतः इससे कर्म का सद्भाव सूचित होता है, क्योंकि अभ्युदय और प्रत्यवाय जैसे अदृष्ट का हेतु सुकृत-दुष्कृत है, इसे सामान्यतः शास्त्र से ही जाना जाता है । 'अपने कर्म में निष्ठ सभी वर्ण और आश्रम वाले मरकर कर्मफल का अनुभव करने के बाद शेष बचे हुए कर्म से विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, ज्ञान, आचार एवं मेधा से युक्त हो जन्म ग्रहण करते हैं' इस वाक्य द्वारा स्मृति भी सानुशय जीव का ही अवरोह बतलाती है ।

अनुशय क्या पदार्थ है ? ऐसा प्रश्न होने पर कुछ लोगों ने कहा है कि स्वर्गफलप्रापक कर्म का भोग हो जाने पर उसी के अवशेष को अनुशय कहते हैं, जैसे तेल के बर्तन को खाली करने पर वह सर्वथा रिक्त नहीं होता, उस तैलपात्र में चिकनाहट बनी रहती है । इस तेल में चिकनाहट के समान ही कुछ स्वर्गफलक कर्म का शेष रह जाता है, उसी को अनुशय कहते हैं । शङ्का—भोग से नाश हो जाने के कारण भुक्तफल अदृष्ट का शेष रह जाता है, यह कहना अनुचित है । केचित्—यह दोष नहीं है । हम स्वर्गप्रद कर्म का फलभोग सर्वात्मना नहीं मानते हैं । शङ्का—आखिर निरवशेष कर्मफलभोग के लिए ही चन्द्रमण्डल में प्राणी जाते हैं । केचित्—आप का कहना ठीक है, किन्तु स्वल्पकर्मावशेषमात्र वे वहाँ रह नहीं सकते जैसे कोई सेवक सभी सेवा उपकरणों के साथ राजकुल में गया हो पर चिरकाल

१. भोगनाश्यत्वात् । २. भोगस्य कर्महेतुकत्वानभ्युपगमे ।

करणं राजकुलमुपसृप्तश्चिरप्रवासात्परिक्षीणबहूपकरणश्छत्रपादुकादिमात्रावशेषो न राजकुलेऽवस्थातुं शक्नोति । एवमनुशयलेशमात्रपरिग्रहो न चन्द्रमण्डलेऽवस्थातुं शक्नोतीति ।

न चैतद्युक्तमिव । नहि स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषानुवृत्तिरुपपद्यते कार्यविरोधित्वादित्युक्तम् । नन्वेतदप्युक्तम्—न स्वर्गफलस्य कर्मणो निखिलस्य भुक्तफलत्वं भविष्यतीति । तदेतदपेशलम्[1] । स्वर्गार्थं किल कर्म स्वर्गस्थस्यैव स्वर्गफलं निखिलं न जनयति स्वर्गच्युतस्यापि कंचित्फललेशं जनयतीति, न शब्दप्रमाणकानामीदृशी कल्पनाऽवकल्पते । स्नेहभाण्डे तु स्नेहलेशानुवृत्तिर्दृष्टत्वादुपपद्यते । तथा सेवकस्योपकरणलेशानुवृत्तिश्च दृश्यते । न त्विह तथा स्वर्गफलस्य कर्मणो लेशानुवृत्तिर्दृश्यते नापि कल्पयितुं शक्यते, स्वर्गफलत्वशास्त्रविरोधात् । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । न स्वर्गफलस्येष्टादेः कर्मणो भाण्डानुसारिस्नेहवदेकदेशोऽनुवर्तमानोऽनुशय इति । यदि हि येन सुकृतेन कर्मणेष्टादिना स्वर्गमन्वभूवंस्तस्यैव कश्चिदेकदेशोऽनुशयः कल्प्येत ततो रमणीय एवैकोऽनुशयः स्यान्न विपरीतः । तत्रेयमनुशयविभागश्रुतिरुपरुध्येत—'तद्य इह रमणीयचरणा अथ

इदमेकदेशिव्याख्यानं दूषयति—नचेति । 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिशास्त्रेण स्वर्गभोगार्थं कर्म चोदितं, तच्छेषस्य मर्त्यभोगहेतुत्वे शास्त्रविरोध इत्यर्थः । किंच स्वर्गहेतुकर्मशेषादवरोहे कपूययोन्यापत्तिश्रुतिविरोध इत्याह—अवश्यं चेति । स्वाभिमतमनुशयमाह—तस्मादिति ।

वहाँ रहने के बाद जब उसके बहुत से उपकरण क्षीण हो गये और छत्र एवं पादुका ही शेष रह गये हो, तो उस दशा में वह सेवक राजकुल में नहीं रह सकता, ऐसे ही अनुशय के लेशमात्र रह जाने पर वह स्वर्गस्थ पुरुष भी चन्द्रमण्डल में नहीं रह सकता है।

एकदेशी व्याख्यान का खण्डन सिद्धान्ती करते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि स्वर्गार्थ कर्म का फल भोग लेने पर उसके अवशेष का बना रहना बतलाना युक्तियुक्त नहीं है। भोग से कर्म का नाश हो जाता है, ऐसा हम कह आये हैं। एकदेशी—हम भी यह कह चुके हैं कि स्वर्गप्रद सम्पूर्ण कर्मों का फलभोग नहीं होता। सिद्धान्ती—पर एकदेशी का यह कथन अपेशल है कि स्वर्गस्थ व्यक्ति का कर्म सम्पूर्ण स्वर्गफल को उत्पन्न नहीं करता, स्वर्ग से च्युत होने पर भी कुछ फललेश उत्पन्न करता ही है, ऐसी कल्पना श्रुतिप्रमाण वाले हम लोग नहीं कर सकते। तैलपात्र में चिकनाहट बनी रहती है यह तो प्रत्यक्ष से देखा गया है। अतः उसे मानते हैं। वैसे ही राजसेवक के उपकरणों का लेश रहना भी प्रत्यक्ष से दीखता है, किन्तु यहाँ पर स्वर्ग देने वाले फल का शेष रहना दीखता नहीं है, न कल्पना ही कर सकते हैं; अतः स्वर्गफलत्व-शास्त्र के साथ विरोध होने लग जायेगा। इसलिए यह अवश्य मानना ही पड़ेगा कि स्वर्गफलप्रद इष्टादि कर्म के, तैलपात्र में बची चिकनाहट की भाँति, शेष रहने को अनुशय नहीं कह सकते। यदि यह मान भी लिया जाय कि जिस इष्टादि पुण्यकर्म से स्वर्ग का अनुभव किया था उसी के एकदेश को अनुशय कहा जाता है तो उस स्थिति में केवल रमणीय संस्कार ही शेष रहेगा, तद्विपरीत कपूय संस्कार का शेष मानना उचित नहीं होगा। वहाँ पर संस्कार के विभाग को बतलाने वाली श्रुति बाधित होने लग जायेगी जो 'तद्य इह रमणीयचरणा, अथ य इह

१. अकौशलम् । २. श्रुति ।

य इह कपूयचरणाः' (छा० ५-१०-७) इति। तस्मादामुष्मिकफले कर्मजात उपभुक्तेऽवशिष्टमैहिकफलं कर्मान्तरजातमनुशयस्तद्वन्तोऽवरोहन्तीति।

यदुक्तं यत्किंचेत्यविशेषपरामर्शात्सर्वस्येह कृतस्य कर्मणः फलोपभोगेनान्तं प्राप्य निरनुशया अवरोहन्तीति। नैतदेवम्। अनुशयसद्भावस्यावगमितत्वात्। यत्किंचिदिह कृतमामुष्मिकफलं कर्मारब्धभोगं तत्सर्वं फलोपभोगेन क्षपयित्वेति गम्यते। यदप्युक्तं प्रायणमविशेषादनारब्धफलं कृत्स्नमेव कर्माभिव्यनक्ति, तत्र केनचित्कर्मणाऽमुष्मिँल्लोके फलमारभ्यते केनचिदस्मिन्नित्ययं विभागो न सम्भवतीति। तदप्यनुशयसद्भावप्रतिपादनेनैव प्रत्युक्तम्। अपिच केन हेतुना प्रायणमनारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकं प्रतिज्ञायत इति वक्तव्यम्। आरब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तेस्तदुपशमात्प्रायणकाले वृत्त्युद्भवो भवतीति यद्युच्येत, ततो वक्तव्यम्। यथैव तर्हि प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा

पूर्वपक्षबीजमनूद्य दूषयति—यदित्यादिना। क्षपयित्वा पुनरागच्छन्तीति प्राप्यान्तमिति वाक्येन गम्यत इति योजना। जन्मारभ्य दृष्टभोगलिङ्गानुगृहीतया रमणीयकपूयचरणश्रुत्यैहिकानुशयाख्यकर्मविशेषपरया विरोधात् यत्किंचेति यावत्सम्पातमिति च सामान्यशब्दयोरामुष्मिकविषयत्वेन सङ्कोचो न्याय्य इति भावः। मरणं कृत्स्नकर्माभिव्यञ्जकमित्ययुक्तम्, उक्तानुशयश्रुतिविरोधादित्याह—तदपीति। बलवदनारब्धकर्मप्रतिबन्धाच्च न कृत्स्नकर्माभिव्यक्तिरित्याह—अपिचेत्यादिना। तस्य कृत्स्नकर्मव्यञ्जकत्वे हेतुर्नास्तीति भावः। प्रश्नं मत्वोत्तरं शङ्कते—आरब्धेति। आरब्धवदनारब्धस्यापि बलवतः प्रतिबन्धकत्वान्न सर्वकर्मणः फलदानायाभिव्यक्तिरिति समाधत्ते—यथेति।

कपूयचरणाः' इत्यादि हैं क्योंकि स्वर्गप्रद पुण्यकर्म का शेष तो रमणीय ही हो सकता है, कपूय नहीं हो सकता। अतः स्वर्गफल देने वाले पुण्यकर्म का उपभोग हो जाने पर अवशिष्ट ऐहिकफलप्रद कर्मान्तरसमुदाय को अनुशय कहना उचित होगा। ऐसे संस्कारयुक्त जीव स्वर्ग से लौटते हैं, यही सिद्धान्त पक्ष है।

और जो आप ने कहा था कि 'यत्किंच' इस विशेष परामर्श के कारण यहाँ पर किये हुए सभी कर्मों के फल भोग से अन्त कर देने के बाद स्वर्ग से निरनुशय जीव लौटते हैं, तो उस पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है। अनुशय का सद्भाव बतला दिया गया है। 'यत्किंच' इस विशेष परामर्श से तो इतना ही अर्थ प्रतीत होता है, कि इस मानवलोक में जो आमुष्मिक फलवाला कर्म किया था जिसने अपना फल स्वर्ग में प्रारम्भ कर दिया था, ऐसे सभी कर्मों का फल भोगकर समाप्त कर देने के बाद जीव लौटता है। और जो आप ने कहा था कि मरण अविशेषरूप से सभी अनारब्ध फलवाले कर्मों का अभिव्यञ्जक है, वहाँ पर किसी कर्म से स्वर्ग में फलारम्भ होता है और किसी कर्म से इस लोक में फल मिलता है, यह विभाग सम्भव नहीं है? यह विकल्प भी अनुशय के सद्भावप्रतिपादन द्वारा ही निरस्त हो गया। इसके अतिरिक्त मरण को किस कारण से अनारब्ध फलवाले कर्म का अभिव्यञ्जक होने की प्रतिज्ञा आप करते हैं, उसे बतलाना पड़ेगा। यदि कहें कि आरब्ध फलवाले कर्म से प्रतिबद्ध इतर कर्म की वृत्ति का उदय न होने के कारण उसका उपशम हो रहा था उसी का मरणकाल में वृत्ति उद्भव होता

प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्युद्भवानुपपत्तिरित्येवं प्रायणकालेऽपि विरुद्धफलस्यानेकस्य कर्मणो युगपत्फलारम्भासंभवाद्बलवता प्रतिबद्धस्य दुर्बलस्य वृत्युद्भवानुपपत्तिरिति । न ह्यनारब्धफलत्वसामान्येन जात्यन्तरोपभोग्यफलमप्यनेकं कर्मैकस्मिन्प्रायणे युगपदभिव्यक्तं सदेकां जातिमारमत इति शक्यं वक्तुं, प्रतिनियतफलत्वविरोधात् । नापि कस्यचित्कर्मणः प्रायणेऽभिव्यक्तिः कस्यचिदुच्छेद इति शक्यते वक्तुम् । ऐकान्तिकफलत्वविरोधात् । नहि प्रायश्चित्तादिभिर्हेतुभिर्विना कर्मणामुच्छेदः संभाव्यते । स्मृतिरपि विरुद्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्य कर्मान्तरस्य चिरमप्यवस्थानं दर्शयति—'कदाचित्सुकृतं कर्म कूटस्थमिह तिष्ठति । मज्जमानस्य संसारे यावद्दुःखाद्विमुच्यते' इत्येवंजातीयका । यदि च कृत्स्नमनारब्धफलं कर्मैकस्मिन्प्रायणेऽभिव्यक्तं सदेकां जातिमारमेत ततः स्वर्गनरकतिर्यग्योनिष्वधिकारानव-

---

अनारब्धफलत्वाविशेषात्सर्वकर्मणामभिव्यक्तिमाशङ्क्य मिथोविरुद्धस्वर्गनरकादिदेहफलानामेकदेहारम्भकत्वासंभव उक्तस्तं विवृणोति—नहीति । अस्तु तर्हि दुर्बलस्य कर्मणो नाश इत्यत आह—नापीति । नाभुक्तं क्षीयते कर्मेत्येकान्त उत्सर्गः स च प्रायश्चित्तब्रह्मज्ञानध्यानैर्बाध्यते न मरणमात्रेणेत्यर्थः । मरणेन दुर्बलकर्माविनाशे मानमाह—स्मृतिरिति । कर्मनाशपक्षं निरस्य प्रकृतकृत्स्नकर्माभिव्यक्तिपक्षे दोषान्तरमाह—यदि चेति । कृत्स्नकर्मणामेकस्मिन् देवादिजन्मनि भोगेन क्षयान्न जन्मान्तरं स्यात्, ज्ञानाभावान्न मुक्तिरित्यज्ञदेवस्य कष्टान्तरालदशा स्यादित्यर्थः ।

'श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोऽजाविमृगपक्षिणाम् ।
चण्डालपुल्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥'

है तो यहाँ पर बतलाना पड़ेगा कि जिस प्रकार मरण से पूर्व आरब्धफलवाले कर्म से इतर कर्म प्रतिबद्ध होने के कारण उसकी वृत्ति नहीं बन रही थी, ऐसे हि मरणकाल में भी विरुद्धफलवाले अनेक कर्म एक साथ फल नहीं दे सकते । अतः बलवान कर्म से दुर्बल कर्म प्रतिबद्ध हो जाने के कारण उसकी वृत्ति का उद्भव नहीं होगा । अनारब्धफलत्व सभी में समान है, इतने मात्र से भिन्न-भिन्न जाति में उपभोग के योग्य फलवाले भी अनेक कर्म एक मरण निमित्त को पाकर एक साथ अभिव्यक्त हो जायेंगे और वे एक जन्म को देंगे, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि सभी कर्मों का फल सुनिश्चित होने के कारण उनका परस्पर विरोध है । यदि कहो कि मरने पर कुछ कर्म की अभिव्यक्ति होती है और कुछ कर्म का उच्छेद हो जाता है अर्थात् भोग के बिना ही नाश हो जाता है ? तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐकान्तिकफल बतलाने वाले शास्त्र के साथ आप की इस मान्यता का विरोध होगा । प्रायश्चित्तादि कारणों के बिना कर्मों का उच्छेद सम्भव नहीं है । 'इस संसार में निमग्न प्राणी को जब तक दुःखों से मुक्ति नहीं मिल जाती तब तक कदाचित् उसके पुण्यकर्म कूटस्थरूप से बने रहते हैं' यह स्मृति भी विरुद्धफलवाले कर्म से प्रतिबद्ध हुए कर्मान्तर का चिरकाल तक अवस्थान मानती है । यदि सम्पूर्ण अनारब्धफलक कर्म एक मरण निमित्त को प्राप्तकर अभिव्यक्त होकर एक जन्म दे दें तो स्वर्ग-नरक एवं तिर्यग् योनियों में अधिकार का बोध न होने से धर्माधर्म की अनुत्पत्ति में निमित्ताभाव

गमाद्धर्माधर्मानुत्पत्तौ निमित्ताभावान्नोत्तरा जातिरुपपद्येत । ब्रह्महत्यादीनां चैकैकस्य कर्मणोऽनेकजन्मनिमित्तत्वं स्मर्यमाणमुपरुध्येत । नच धर्माधर्मयोः स्वरूपफलसाधनादिसमधिगमे शास्त्रादतिरिक्तं कारणं शक्यं संभावयितुम् । नच दृष्टफलस्य कर्मणः कारीर्यादेः प्रायणमभिव्यञ्जकं संभवतीत्येषा[1]ऽपीयं प्रायणस्याभिव्यञ्जकत्वकल्पना ।

प्रदीपोपन्यासोऽपि कर्मबलाबलप्रदर्शनेनैव प्रतिनीतः । स्थूलसूक्ष्मरूपाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिवच्चेदं द्रष्टव्यम् । यथाहि प्रदीपः समानेऽपि संनिधाने स्थूलं रूपमभिव्यनक्ति न सूक्ष्मम् । एवं प्रायणं समानेऽप्यनारब्धफलस्य कर्मजातस्य प्राप्तावसरत्वे बलवतः कर्मणो वृत्तिमुद्भावयति न दुर्बलस्येति । तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायविरोधादश्लिष्टोऽयमशेषकर्माभि-

इत्यादिस्मृतिविरोधाच्च न सर्वकर्मणामेकजन्मारम्भकत्वमित्याह—ब्रह्मेति । नन्वेकस्य कर्मणः कथमनेकजन्मफलकत्वम्, अदृष्टत्वादित्याह—नचेति । किंच व्यञ्जकत्वेऽपि मरणस्य किं सर्वकर्मव्यञ्जकत्वं कल्प्यते उत यत्किंचित्कर्मव्यञ्जकत्वम् । नाद्यः, इह कृतकारीर्यादेरत्रैव फलहेतोर्मरणव्यङ्ग्यत्वासंभवादित्याह—नचेति ।

द्वितीयं निरस्यन् परोक्तं दृष्टान्तं विघटयति—प्रदीपेति । रूपाणां प्रदीपवत्, मरणं न कस्यचिदपि कर्मणो व्यञ्जकं किंतु प्रबलकर्मप्रतिबन्धाभावे दुर्बलं व्यज्यत इत्यर्थः । एवं मरणस्य व्यञ्जकत्वानङ्गीकारेण प्रदीपदृष्टान्तो निरस्तः, अङ्गीकारेऽप्यनुकूलो दृष्टान्त इत्याह—स्थूलेति । सूक्ष्ममनुद्भूतरूपमिति मरणे सर्वकर्माभिव्यक्त्यसिद्धिरिति शेषः । एवं सर्वकर्मसङ्घ एकजन्मारम्भक इत्यैकभविकः कर्माशय इति मतनिरासमुपसंहरति—तस्मादिति । चरणश्रुत्या 'ततः शेषेण' इत्यादिस्मृत्या 'प्रबलप्रतिबन्धात्' इतिन्यायेन चानभिव्यक्तकर्मसद्भावादित्यर्थः । ननु मुक्त्यनुपपत्त्याऽङ्गी-

के कारण आगे का जन्म होगा ही नहीं । ब्रह्महत्यादि पाप में से एक-एक कर्म अनेक जन्म दिलाने वाले होते हैं, यह स्मृतिकथित व्यवस्था भी बाधित होने लग जायेगी । धर्म एवं अधर्म का स्वरूप, फल तथा साधन आदि का यथार्थबोध शास्त्र से भिन्न प्रमाण द्वारा होना सम्भव नहीं है । साथ ही, दृष्टफलक कारीरि आदि कर्म का अभिव्यञ्जक मरण नहीं हो सकता, इसलिए भी मरण में अभिव्यञ्जकत्व की कल्पना निष्प्रयोजन ही है ।

और जो आप ने कहा था कि प्रदीप के निकट जैसे घट का प्रकाश होता है ऐसे ही पट का प्रकाश भी होता है क्योंकि प्रदीप घट-पटादि सभी का अभिव्यञ्जक है ? आप का यह कथन भी कर्म बलाबलप्रदर्शन से ही खण्डित हो गया । प्रदीपप्रकाश की सन्निधि में स्थूल पदार्थ दीखता है किन्तु सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतरादि पदार्थ नहीं दीखते हैं । अतः प्रदीपप्रकाश के स्थूल एवं सूक्ष्म रूपाभिव्यक्ति की भाँति भी मरण को सभी कर्मों का अभिव्यञ्जक नहीं कह सकते । इस प्रकार अनारब्धफलवाले कर्मसमुदाय को समानरूप से अभिव्यक्ति का अवसर प्राप्त होने पर भी मरण बलवान कर्म की वृत्ति का उद्भव करता है, दुर्बल कर्म की वृत्ति का उद्भव नहीं करता । अतः श्रुति, स्मृति एवं युक्ति से विरुद्ध होने

१. कापीति काक्वा योजनीयं न कापीत्यर्थः । २. स्वयमेव । ३. न दुर्बलस्येतीत्यनेनतरम् ।

(३००) चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥९॥

व्यक्त्यभ्युपगमः। शेषकर्मसद्भावेऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्ययमप्यस्थाने संभ्रमः। सम्यग्दर्शनादशेषकर्मक्षयश्रुतेः। तस्मात्स्थितमेतदेवानुशयवन्तोऽवरोहन्तीति। ते चावरोहन्तो यथेतमनेवं चावरोहन्ति। यथेतमिति यथागतमित्यर्थः। अनेवमिति तद्विपर्ययेणेत्यर्थः। धूमाकाशयोः पितृयाणेऽध्वन्युपात्तयोरवरोहे संकीर्तनाद्यथेतंशब्दाच्च यथागतमिति प्रतीयते। रात्र्याद्यसंकीर्तनादभ्राद्युपसंख्यानाच्च विपर्ययोऽपि प्रतीयते ॥८॥

अथापि स्यात्। या श्रुतिरनुशयसद्भावप्रतिपादनायोदाहृता–'तद्य इह रमणीयचरणाः' (छा० ५-१०-७) इति सा खलु चरणाद्योन्यापत्तिं दर्शयति नानुशयात्। अन्यच्चरणमन्योऽ-

---

कार्यं ऐकभविक इत्यत आह—शेषेति। सूत्रशेषं व्याचष्टे—ते चेत्यादिना। अवरोहमार्ग इत्थं श्रूयते —'तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वा अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति तद्य इह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते' इति। धूमाद्यध्वना यथेतं यथागतं तथेतमध्वानं पुनरायान्तीत्युक्त्वा धूमादिरूपपितृमार्गस्थरात्र्यादिकं नोक्तमधिकं चाभ्रादिकमुक्तमिति मत्वा सूत्रकृतोक्तं यथेतमनेवं चेति। अवशिष्टश्च त्वर्थोऽग्रे स्फुटीभविष्यति ॥८॥

संप्रति श्रुतिस्थचरणशब्दमाक्षेपपूर्वकं सूत्रकृद् व्याचष्टे—चरणादिति चेदिति।

'अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधाः'॥

इति स्मृतावुक्ताऽद्रोहादयः शास्त्रार्थज्ञानरूपं शीलं सर्वकर्माङ्गमुक्तं [१]तद्बोधकं चरणपदमङ्गिनः श्रौतादि कर्मणो लक्षकं, कर्मण एवोत्तरावस्था धर्माधर्माख्यापूर्वमिति कर्मलक्षणयैव [२]तदभिन्नापूर्वाख्यानुशयसिद्धिरिति कार्ष्णाजिनिमतम् ॥९॥

के कारण अशेषकर्माभिव्यक्ति की मान्यता असङ्गत है। शेष कर्म मानने पर अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग आ जायेगा, यह सम्भ्रम भी उचित नहीं है ? क्योंकि श्रुति सम्यग्ज्ञान से अशेषकर्म का नाश बतलाती है। अतः यह निश्चित हो गया कि स्वर्ग से जीव अनुशययुक्त लौटते हैं। वे लौटने वाले जीव जिस क्रम से मार्ग का अनुसरण करते हुए स्वर्ग पहुँचते है उसके विपरीत क्रम से उनका अवरोह होता है। स्वर्ग जाते समय पितृयान मार्ग में रात्रि आदि का वर्णन है, किन्तु लौटते समय धूम एवं आकाशादि का नाम आता है। इसीलिए सूत्र में **'यथेतमनेवं च'** ऐसा कहा है। लोक में हरिद्वार से रेल द्वारा मुम्बई प्रस्थान करने वाला व्यक्ति प्रथम जिस स्टेशन पर पहुँचता है, मुम्बई से लौटते समय वह स्टेशन प्रथम नहीं आता; ऐसे ही स्वर्गारोहण और अवरोहण की गति भी है ॥८॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः (ललिता)

पूर्वपक्ष—आप ने अनुशय के सद्भावप्रतिपादन के लिए **'तद्य इह रमणीयचरणाः'** इत्यादि जिस श्रुति का उदाहरण दिया है वह तो चरण से योनि की प्राप्ति कहती है, अनुशय से नहीं बतलाती।

---

१. शील। २. कर्म।

(३०१) आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥१०॥

नुशयः। चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्यनर्थान्तरम्। अनुशयस्तु भुक्तफलात्कर्मणोऽतिरिक्तं कर्माभिप्रेतम्। श्रुतिश्च कर्मचरणे भेदेन व्यपदिशति—'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' (बृ० ४-४-५) इति 'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि' (तै० १-११-२) इति च। तस्माच्चरणाद्योन्यापत्तिश्रुतेर्नानुशयसिद्धिरिति चेत्, नैष दोषः। यतोऽनुशयोपलक्षणार्थैवैषा चरणश्रुतिरिति काष्र्णाजिनिराचार्यो मन्यते ॥९॥

स्यादेतत्। कस्मात्पुनश्चरणशब्देन श्रौतं शीलं विहाय लाक्षणिकोऽनुशयः प्रत्याय्यते। ननु शीलस्यैव तु श्रौतस्य विहितप्रतिषिद्धस्य साध्वसाधुरूपस्य शुभाशुभयोन्यापत्तिः फलं भविष्यति। अवश्यं च शीलस्यापि किंचित्फलमभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा ह्यानर्थक्यमेव शीलस्य प्रसज्येतेति चेत्, नैष दोषः। कुतः ? तदपेक्षत्वात्। इष्टादि हि कर्मजातं

'तदेव शङ्कासमाधानाभ्यामाह—आनर्थक्यमिति चेदित्यादिना सूत्रेण। चरणशब्दवाच्यस्यैव ग्रहणसंभवान्न लक्षणा युक्तेति शङ्कितैव ब्रूते—नन्विति। प्रतिषिद्धं शीलं क्रोधानृतादिरूपम्। किंच शीलस्य निष्फलत्वायोगाच्छुभयोन्यापत्तिस्तस्यैव फलं नानुशयस्येत्याह—अवश्य चेति। वेदास्तदर्थकर्माण्याचारं विना न फलन्तीति स्मृत्या शीलस्य कर्माङ्गत्वान्न पृथक्फलापेक्षा, अङ्गिफलेनार्थवत्त्वात्। न चाङ्गमात्राद्योन्यापत्तिः फलमिति वाच्यम्। अङ्गस्य फलासंभवेन मुख्यार्थस्याचारस्य ग्रहणायोगाल्लक्षणा युक्तेति समाधानार्थः। यद्वाचारस्य स्नानादिवत् पुरुषसंस्कारतया पुरुषार्थत्वं

चरण, चरित्र, आचार एवं शील ये सब पर्याय हैं, पर अनुशय शब्द का अर्थ भिन्न ही होता है। भुक्तफलवाले कर्म के अतिरिक्त कर्म को अनुशय कहना अभिप्रेत है। श्रुति भी कर्म और चरण, इन दोनों को भिन्न ही कहती है इसीलिए तो 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' और जो हमारे निर्दुष्ट कर्म हैं उनका सेवन तुझे करना चाहिए, दुष्टकर्म का नहीं और जो हमारे अच्छे आचरण हैं उन्हीं की उपासना तुझे करनी चाहिए' इन वाक्यों में कर्म एवं आचार को भिन्न कहा है। अतः चरण से योनि बतलाने वाली श्रुति द्वारा अनुशय की सिद्धि नहीं होती ? सिद्धान्त—ऐसा कहना दोष नहीं है क्योंकि यह चरणश्रुति अनुशय के उपलक्षणार्थ है, ऐसा काष्र्णाजिनि आचार्य मानते हैं ॥९॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् (ललिता)

पूर्वपक्ष—चरण शब्द से शक्यार्थ शील को छोड़कर लाक्षणिक अनुशय अर्थ का बोध कैसे करा रहे हैं, चरण शब्द का वाच्य अर्थ ग्रहण करना सम्भव है तो लक्षणा की क्या आवश्यकता है। विहित—प्रतिषिद्ध, साधु—असाधुरूप शक्यार्थ शील से ही शुभाशुभ योनि की प्राप्तिरूप फल हो जायेगा और शील का भी कुछ फल अवश्य मानना ही पड़ेगा अन्यथा उसमें आनर्थक्य आने लग जायेगा ? सिद्धान्ती—यह दोष नहीं है क्योंकि कर्म को शील की अपेक्षा होती है। इष्टादि कर्म समुदाय

---

१. उक्तमतमेव।

(३०२) सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ।।११।।

चरणापेक्षम् । नहि सदाचारहीनः कश्चिदधिकृतः स्यात्—'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' इत्यादिस्मृतिभ्यः । पुरुषार्थत्वेऽप्याचारस्य नानर्थक्यम् । इष्टादौ हि कर्मजाते फलमारभमाणे [1]तदपेक्ष एवाचारस्त[2]त्रैव कंचिदतिशयमारप्स्यते । कर्म च सर्वार्थकारीति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः । तस्मात्कर्मैव शीलोपलक्षितमनुशयभूतं योन्यापत्तौ कारणमिति कार्ष्णाजिनेर्मतम् । नहि कर्मणि संभवति शीलाद्योन्यापत्तिर्युक्ता । नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हतीति ।।१०।।

बादरिस्त्वाचार्यः सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्देन प्रत्याय्येते इति मन्यते । चरणमनुष्ठानं कर्मेत्यनर्थान्तरम् । तथाहि—अविशेषेण कर्ममात्रे चरतिः प्रयुज्यमानो दृश्यते । यो हीष्टादिलक्षणं पुण्यं कर्म करोति तं लौकिका आचक्षते धर्मं चरत्येष महात्मेति । आचारोऽपि च धर्मविशेष एव । भेदव्यपदेशस्तु कर्मचरणयोर्ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनाप्युपपद्यते ।

तदाप्यविरोध इत्याह—पुरुषार्थत्वेऽपीति । **अङ्गावबद्धोपास्तिवदाचारोऽर्थवानित्यर्थः । अस्तु तर्हि शीलाख्याचारादेव योन्यापत्तिरित्याशङ्क्य 'पुण्यो वै पुण्येनकर्मणा' इत्यादि श्रुत्या विरोधान्नैवमित्याह**—कर्म चेति । **पारयमाणः शक्तः ।।१०।।**

यद्यप्यक्रोधादिरूपं शीलं साधारणधर्मात्मकं विशेषरूपात् **कर्मणोऽभिन्नं** तथापि **चरणाचारशब्दौ कर्मवाचिनावेव न शीलवाचकाविति न लक्षणावसर इति बादरिमतं मुख्यसिद्धान्तमाह**—सुकृतेति । **चरणशब्दार्थमुपसंहरति**—आचारोऽपीति । **कर्मण एवाचारत्वे यथाकारीत्यादिभेदोक्तिः कथमित्यत आह**—भेदव्यपदेश इति । **निरुपपदाचारशब्दात् सदाचाररूपो विशेषो भाति । अतस्[3]तत्समभिव्याहृतः**

चरण की अपेक्षा रखते हैं । निःसन्देह सदाचारहीन कोई भी व्यक्ति कर्म का अधिकारी नहीं होता, ऐसा 'आचारहीन को वेद पवित्र नहीं करते' इस स्मृति में भी कहा है । आचार पुरुषार्थ होने पर भी अनर्थक नहीं है क्योंकि इष्टादि कर्मसमुदाय में अपने फल देने में, कर्म की अपेक्षा रखने वाला आचार भी, कुछ अतिशय अर्थात् वैशिष्ट्यसम्पादन करेगा ही । कर्म सर्वार्थकारी है, ऐसा श्रुति-स्मृति में प्रसिद्ध ही है, उसी में वैशिष्ट्यसम्पादन करना आचार का काम है । अतः शीलोपलक्षित कर्म ही अनुशयरूप होकर योनिप्राप्ति का कारण है, ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्य का मत है । कर्म के रहते शील से योनि की प्राप्ति कहना उचित नहीं है क्योंकि पैरों से भागने में समर्थ व्यक्ति घुटनों से नहीं चलता है ।।१०।।

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः (ललिता)

किन्तु बादरि आचार्य-चरण शब्द से पुण्य-पाप का ही बोध होता है, ऐसा मानते हैं । चरण, अनुष्ठान और कर्म ये समानार्थक हैं, अतः सामान्यतः कर्ममात्र में चरति शब्द का प्रयोग देखा जाता है, क्योंकि जो इष्टादिरूप पुण्यकर्म करता है, उसे लोग कहते हैं कि यह महात्मा धर्म का आचरण कर रहा है । आचार भी धर्मविशेष ही है । आचार एवं धर्म में भेदव्यपदेश तो ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय

---

१. कर्मणोऽपेक्षितः । २. फले । ३. सदाचाररूपविशेषार्थकयथाचारीशब्दसमभिव्याहृतवदित्यर्थः ।

३. अनिष्टादिकार्यधिकरणम् (सू० १२-२१)

(३०३) अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥१२॥

चन्द्रं याति नवा पापी ते सर्वे इति वाक्यतः । पञ्चमाहुतिलाभार्थं भोगाभावेऽपि यात्यसौ ॥
भोगार्थमेव गमनमाहुतिर्व्यभिचारिणी । सर्वश्रुतिः सुकृतिनां याम्ये पापिगतिः श्रुता ॥

तस्माद्रमणीयचरणाः प्रशस्तकर्माणः कपूयचरणा निन्दितकर्माण इति निर्णयः ॥११॥

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसं गच्छन्तीत्युक्तम् । ये त्वितरेऽनिष्टादिकारिणस्तेऽपि किं चन्द्रमसं गच्छन्त्युत न गच्छन्तीति चिन्त्यते । तत्र तावदाहुः—इष्टादिकारिण एव चन्द्रमसं गच्छन्तीत्येतन्न । कस्मात् ? यतोऽनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रमण्डलं गन्तव्यत्वेन श्रुतम् ।

कर्मसामान्यवाचको यथाकारीति शब्दस्[1]तदितरविशेषपरः । एवमनवद्यानि कर्माणीति सामान्यतः, अस्माकं सुचरितानीति विशेष इति विवेकः । तस्मादनुशयबलादागत्यवश्यंभावानुसन्धानाद्वैराग्यमिति सिद्धम् ॥११॥

एवं पुण्यात्मनां गत्यागतिचिन्तया वैराग्यं निरूप्य पापिनां तच्चिन्तया तन्निरूपयति—अनिष्टादिकारिणामपीति । 'ये वै के च' इत्यविशेषश्रुतेः, 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्' इति श्रुतेश्च संशये

से भी युक्तियुक्त हो जाता है । अतः रमणीय चरणाः का अर्थ होता है प्रशस्त कर्म करने वाले और कपूय चरणाः का अर्थ होता है निन्दित कर्म करने वाले, यह निर्णय हो गया । यह सब वैराग्य उत्पादन के लिए कहा गया है, यह सिद्ध हो गया ॥११॥

३. अनिष्टादिकार्यधिकरण

१. **सङ्गति**—केवल इष्टादि कर्म करने वाले ही चन्द्रलोक जाते हैं, ऐसी बात नहीं है; किन्तु उनसे भिन्न कर्म करने वाले का भी चन्द्रलोकगमन सम्भव है । इस प्रकार की आक्षेप सङ्गति पूर्वाधिकरण के साथ इसकी है ।

२. **विषय**—जो इष्टादि कर्म नहीं करते, ऐसे को चन्द्रलोकयात्रा इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—पापी चन्द्रलोक जाता है या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—'ते सर्वे गच्छन्ति' इस वाक्य के द्वारा सभी का चन्द्रलोकगमन सुना गया है, अन्तर इतना ही है कि इष्टादिकारियों का चन्द्रलोक में भोग भी होता है और दूसरों का भोग नहीं होता । भोग न होने पर भी पञ्चम आहुति की पूर्ति के लिए पापियों का भी चन्द्रलोकगमन युक्तिसङ्गत है ।

५. **सिद्धान्त**—चन्द्रलोकगमन भोग के लिए ही होता है । सर्वश्रुति पुण्यात्माओं के लिए ही कही गयी है, पापियों की तो यमलोक में यातना ही सुनी जाती है ।

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् (ललिता)

इस प्रकार पुण्यात्माओं की गति और आगति की चिन्ता से वैराग्य का निरूपणकर अब पापियों की गति-आगति की चिन्ता द्वारा वैराग्य का निरूपण इस अधिकरण से करते हैं । पूर्वाधिकरण में, इष्टादि कर्म करने वाले चन्द्रलोक जाते हैं, ऐसा कहा गया था । इसलिए अब यह प्रश्न होता है कि जो

---

१. सदाचाररूपार्थविशेषादितरत्सामान्यकर्मतत्परइत्यर्थः ।

(३०४) संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥१३॥

तथाह्यविशेषेण कौषीतकिनः समामनन्ति—'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषी० १-२) इति। देहारम्भोऽपि च पुनर्जायमानानां नान्तरेण चन्द्रप्राप्तिमवकल्पते। पञ्चम्यामाहुताविर्त्याहुतिसंख्यानियमात्। यस्मात्सर्व एव चन्द्रमसमासीदेयुः। इष्टादिकारिणामितरेषां च समानगतित्वं न युक्तमिति चेत्। न। इतरेषां चन्द्रमण्डले भोगाभावात् ॥१२॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्तीति। एतत्कस्मात्? यतो भोगायैव हि चन्द्रारोहणं न निष्प्रयोजनम्। नापि प्रत्यवरोहायैव। यथा कश्चिद्वृक्षमारोहति

प्रथमाधिकरणेन सिद्धनियमाक्षेपसंगत्या पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे—तथेत्यादिना। यमराजं पापिजनानां सम्यग्गम्यं, हविषा प्रीणयतेति श्रुत्यर्थः। पूर्वपक्षे पुण्यवतामेव चन्द्रगतिरिति नियमाभावात् पुण्यवैयर्थ्यं पापाद्वैराग्यादार्ढ्यं चेति फलम्। सिद्धान्ते पापिनां चन्द्रलोकदर्शनमपि नास्तीति पुण्यार्थवत्त्वं वैराग्यदार्ढ्यञ्चेति फलं, पञ्चमाग्नौ देहारम्भ इति नियमात्पापिनामपि प्रथमद्युलोकाग्निप्राप्तिर्वाच्येत्याह—देहारम्भ इति। पापिनां स्वर्गभोगाभावेऽपि मार्गान्तराभावाच्चन्द्रगतिरिति भावः ॥१२॥

सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—तुशब्द इत्यादिना। संयमने यमलोके यमकृता यातनाः अनुभूयावरोह-

---

इष्टादि कर्म करने वाले नहीं हैं वे पापी भी चन्द्रलोक जाते हैं या नहीं, ऐसा विचार यहाँ पर किया जाता है। इस पर पूर्वपक्षी ने कहा है कि इष्टादि कर्म करने वाले ही चन्द्रलोक जाते हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि अनिष्टादिकारी पापी का भी चन्द्रमण्डल गन्तव्यरूप में सुना गया है। ऐसा ही अविशेषरूप से कौषीतकि उपनिषद् कहती है कि 'निःसन्देह जो भी कोई इस लोक से प्रस्थान करते हैं वे सभी चन्द्रलोक ही जाते हैं' इत्यादि। पुनर्जन्म लेने वाले के देहारम्भ की कल्पना भी चन्द्रप्राप्ति के बिना नहीं कर सकते क्योंकि देहारम्भ के लिए पञ्चमी आहुति संख्या का नियम बतलाया गया है। अतः मरने वाले सभी जीव चन्द्रलोक जायगे ही। यदि कोई कहता हो कि इस प्रकार इष्टादि कर्म करने वाले और उनसे भिन्न मृतात्मा की समान गति मानना युक्त नहीं हैं, तो यह शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि अनिष्टादि कर्मकर्ता पापियों का चन्द्रलोक में भोग नहीं होता, मार्गान्तर का अभाव होने से चन्द्रलोक की प्राप्ति तो होती है, ऐसा अभिप्राय है ॥१२॥

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्तसूत्र कहते हैं—

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् (ललिता)

इस सूत्र में आया हुआ 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है। सभी चन्द्रलोक जाते हैं, यह कहना ठीक नहीं है और यह मानना भी ठीक नहीं है कि चन्द्रलोक जाने पर भी पापियों का वहाँ भोग नहीं होता, क्योंकि स्वर्गसुखोपभोग के लिए ही चन्द्रलोक का आरोहण होता है, निष्प्रयोजन नहीं और न वहाँ जाकर लौटने के लिए ही चन्द्रलोकारोहण होता है। जैसे वृक्ष पर कोई चढ़ता है तो

(३०५) स्मरन्ति च ॥१४॥

पुष्पफलोपादानायैव न निष्प्रयोजनं नापि पतनायैव । भोगश्चानिष्टादिकारिणां चन्द्रमसि नास्तीत्युक्तम् । तस्मादिष्टादिकारिण एव चन्द्रमसमारोहन्ति नेतरे । ते तु संयमनं यमालयमवगाह्य स्वदुष्कृतानुरूपा यामीर्यातनाः अनुभूय पुनरेवेमं लोकं प्रत्यवरोहन्ति । एवंभूतौ तेषामारोहावरोहौ भवतः । कुतः ? तद्गतिदर्शनात् । तथाहि यमवचनस्वरूपा श्रुतिः प्रयतामनिष्टादिकारिणां यमवश्यतां दर्शयति—'न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनःपुनर्वशमापद्यते मे' (क० २-६) इति । 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्' इत्येवंजातीयकं च बह्वेव यमवश्यताप्राप्तिलिङ्गं भवति ॥१३॥

अपिच मनुव्यासप्रभृतयः शिष्टाः संयमने पुरे यमायत्तं कपूयकर्मविपाकं स्मरन्ति नाचिकेतोपाख्यानादिषु ॥१४॥

भतीत्येवमारोहावरोहाविति योजना सूत्रस्य ज्ञेया । प्रयतां मृत्वा गच्छताम् । सम्यक् परस्तात्प्राप्यत इति संपरायः परलोकः, तदुपायः सांपरायः, बालमज्ञं, विशेषतो वित्तरागेण मूढं मोहात्प्रमादं कुर्वन्तं प्रति न भाति । स च बालोऽयं स्त्रीवित्तादिलोकोऽस्ति न परलोकोऽस्तीति मानी स मे मम यमस्य वशमाप्नोतीत्यर्थः । पापिनां यमवश्यतावाविविशेषश्रुतिस्मृतिबलात् 'ये वै के च' (कौषी० १-२) इत्यविशेषश्रुतिरिष्टादिकारिविषयत्वेन व्याख्येयेति भावः ॥१३॥

पुष्प-फल ग्रहण के लिए हो, निष्प्रयोजन नहीं और न चढ़कर गिर जाने के लिए ही वृक्षारोहण करता है । आप ने अनिष्टकारी पापियों का चन्द्रलोक में भोग नहीं कहा है, ऐसी स्थिति में उनका चन्द्रलोकारोहण निष्प्रयोजन अथवा पतन के लिए ही मानना पड़ेगा जो युक्तिसङ्गत नहीं है । अतः इष्टादि कर्म करने वाले ही चन्द्रलोक जाते हैं, पापी नहीं जाते हैं, वे तो यमालय जाकर अपने पाप के अनुसार यम-यातना का अनुभवकर पुनः इसी लोक में लौट आते हैं । इस प्रकार उनका आरोह और अवरोह होता है, क्योंकि उनकी गति श्रुति में देखी गयी है । ऐसा ही यमाचार्य की वचनस्वरूपा श्रुति मरने वाले अनिष्टकारियों के लिए यमराज की अधीनता बतलाती है—'मोह के कारण प्रमाद करने वाले वित्तमोह से विमूढ़ अज्ञानी को परलोक साधन नहीं दीखता; उन्हें तो स्त्रीवित्तादि यह लोक यह लोक ही भासता है, परलोक नहीं भासता, ऐसी मान्यता वाले बार-बार मेरी अधीनता को प्राप्त होते रहते हैं ।' तथा 'पापीजनों को सूर्यपुत्र यमराज का संगमन प्राप्त होता है' ऐसे अनेकों वचन पापियों के लिए यमराज की अधीनता के परिचायक लिङ्ग हैं ॥१३॥

स्मरन्ति च (ललिता)

मनु, व्यासादि शिष्टपुरुष यमलोक में पापकर्म के फलस्वरूप यमाधीनता को नाचिकेत उपाख्यान आदि में बतलाते हैं ॥१४॥

---

१. त्वयैवेति शेषः ।

(३०६) अपिच सप्त ॥१५॥

(३०७) तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥१६॥

(३०८) विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७॥

अपिच सप्त नरका रौरवप्रमुखा दुष्कृतफलोपभोगभूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैः। तानिष्टादिकारिणः प्राप्नुवन्ति। कुतस्ते चन्द्रं प्राप्नुयुरित्यभिप्रायः ॥१५॥

ननु विरुद्धमिदं यमायत्ता यातनाः पापकर्माणोऽनुभवन्तीति। यावता तेषु रौरवादिष्वन्ये चित्रगुप्तादयो नानाधिष्ठतारः स्मर्यन्त इति। नेत्याह—

तेष्वपि सप्तसु नरकेषु तस्यैव यमस्याधिष्ठातृत्वव्यापाराभ्युपगमादविरोधः। यमप्रयुक्ता एव हि ते चित्रगुप्तादयोऽधिष्ठातारः स्मर्यन्ते ॥१६॥

पञ्चाग्निविद्यायाम् 'वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५-३-३) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे श्रूयते—'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि

सूत्रत्रयस्य भाष्यं सुबोधम् ॥ १४ ॥ ॥ १५ ॥ १६ ॥

यदुक्तं मार्गान्तराभावात् पापिनामपि चन्द्रगतिरिति। तन्न। तृतीयमार्गश्च तैरित्याह—विद्याकर्मणोरिति। मार्गद्वितयोक्त्यनन्तरं तृतीयमार्गोक्तिप्रारम्भार्थः श्रुतावथशब्दः। एतयोर्विद्याकर्मणोः पथिद्वयसाधनयोरन्यतरेणापि साधनेन ये नरा न युक्तास्ते जन्ममरणावृत्तिरूपतृतीयमार्गस्थानि भूतानि

अपि च सप्त (ललिता)

रौरवादि प्रधान सात नरकों को दुष्कर्मफलभोग के स्थानरूप से पौराणिकों ने कहा है, उन्हीं नरकों को अनिष्टादि कर्म करने वाले पापी प्राप्त करते हैं। ऐसी स्थिति में वे चन्द्रलोक कैसे प्राप्त सकेंगे, यह इसका अभिप्राय है ॥१५॥

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः (ललिता)

पूर्वपक्ष—पापी यमयातना का अनुभव करते हैं, ऐसा कहना विरुद्ध है क्योंकि उन्हीं ग्रन्थों में यह भी कहा गया है कि उन रौरवादि नरकों के चित्रगुप्तादि अनेक अधिष्ठाता हैं। सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि उन रौरवादि सप्त नरकों में भी उसी यमराज का अधिष्ठातृत्व व्यापार मान लेने से विरोध नहीं रहता। चित्रगुप्तादि अधिष्ठाता यमराज से प्रयुक्त हो उन लोकों में कार्य करते सुने जाते हैं ॥१६॥

पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि मार्गान्तर का अभाव होने के कारण पापियों का भी चन्द्रलोकगमन होता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि तृतीय मार्ग भी सुना जाता है; इसी बात को अग्रिम सूत्र से सूत्रकार कहते हैं—

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् (ललिता)

पञ्चाग्नि विद्या में 'क्या जानते हो वह स्वर्गलोक जिस कारण से नहीं भरता ?' इस प्रश्न का उत्तर देते समय वहाँ पर सुना जाता है कि 'उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गों में से किसी भी मार्ग

भूतानि भवन्ति । जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते' (छा० ५-१०-८) इति । तत्रैतयोः पथोरिति विद्याकर्मणोरित्येतत् । कस्मात्? प्रकृतत्वात् । विद्याकर्मणी हि देवयानपितृयाणयोः पथोः प्रतिपत्तौ प्रकृते । 'तद्य इत्थं विदुः' इति विद्या तया प्रतिपत्तव्यो देवयानः पन्थाः प्रकीर्तितः । 'इष्टापूर्ते दत्तम्' (छा० ५-१०-१,३) इति कर्म तेन प्रतिपत्तव्यः पितृयाणः पन्थाः प्रकीर्तितः । तत्प्रक्रियायाम्—अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन' इति श्रुतम् । एतदुक्तं भवति—येच न विद्यासाधनेन देवयाने पथ्यधिकृता नापि कर्मणा पितृयाणे तेषामेष क्षुद्रजन्तुलक्षणोऽसकृदावर्ती तृतीयः पन्था भवतीति । तस्मादपि नानिष्टादिकारिभिश्चन्द्रमाः प्राप्यते ।

स्यादेतत् । तेऽपि चन्द्रबिम्बमारुह्य ततोऽवरुह्य क्षुद्रजन्तुत्वं प्रतिपत्स्यन्त इति । तदपि नास्ति । आरोहानर्थक्यात् । अपिच सर्वेषु प्रयत्सु चन्द्रलोकं प्राप्नुवत्स्वसौ लोकः प्रयद्भिः सम्पूर्येतेत्यतः प्रश्नविरुद्धं प्रतिवचनं प्रसज्येत । तथा हि प्रतिवचनं दातव्यं यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यते । अवरोहाभ्युपगमादसम्पूर्णोपपत्तिरिति चेत् । न । अश्रुतत्वात् । सत्यमवरो-

भवन्ति, 'क्रियावृत्तौ लोट्, तेन पापिनां चन्द्रगत्यभावाच्चन्द्रलोको न सम्पूर्यत इति श्रुत्यर्थः । प्रतिपत्ताविति । प्राप्तिसाधने इत्यर्थः । अपिच पापिनां चन्द्रगतौ असौ लोकः संपूर्येत 'अतश्च न संपूर्यते' इत्येतत्प्रतिवचनं विरुद्धं प्रसज्येतेत्यन्वयः ।

अवरोहादसंपूरणमश्रुतं न कल्प्यं श्रुतहान्यापत्तेरित्याह—न अश्रुतत्वादिति । अवरोह एवं तृतीयं

से गमन के जो अधिकारी नहीं हैं उनके लिए बार बार जन्मना और मरना यही तीसरा मार्ग है, इसीलिए वह लोक भरता नहीं है ।' इस श्रुति में 'एतयोः पथोः' इस वाक्य द्वारा विद्या और कर्म का ग्रहण होता है क्योंकि उन्हीं का प्रकरण चल रहा है । देवयानप्राप्ति का साधन विद्या और पितृयान-प्राप्ति का साधन कर्म है; उनमें से 'जो इस प्रकार उपासना करते हैं' इस वाक्य के द्वारा उपासना का वर्णन किया गया है, उस उपासना से प्राप्तव्य देवयान मार्ग कहा गया है । 'यागादि इष्ट, वापीकूप-तड़ागादिनिर्माण पूर्त्त और वेदी से बाहर दिया गया दान दत्त कहलाता है', इन्हें कर्म कहा गया है इस कर्म से प्राप्तव्य पितृयान मार्ग कहा गया है । उसी प्रकरण में 'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन' यह वाक्य सुना गया है, जिसका अभिप्राय है कि जो उपासना करके देवयान मार्ग में अधिकृत नहीं है और न कर्मानुष्ठान से पितृयान मार्ग में ही अधिकृत है, उनके लिए क्षुद्रजन्तुरूप से बार-बार जन्मना ही तीसरा मार्ग है । इसीलिए अनिष्टकारी चन्द्रलोक प्राप्त नहीं करते हैं ।

पूर्वपक्षी—वे अनिष्टकारी पापी भी चन्द्रलोक में जाकर वहाँ से लौटने पर क्षुद्रजन्तुत्व को प्राप्त करेंगे, ऐसा कहें तो? सिद्धान्ती—यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि इस स्थिति में चन्द्रलोक में आरोहण अनर्थक हो जायेगा । इसके अतिरिक्त सभी प्रस्थान करने वाले यदि चन्द्रलोक जाते ही हैं तो ऐसी स्थिति में इन प्रस्थान करने वालों से वह लोक भर जायेगा । अतः यहाँ पर जो उत्तर दिया गया है वह प्रश्न के विरुद्ध होने लग जायेगा । उस स्थिति में यह उत्तर देना चाहिए था कि जैसे वह लोक नहीं भरता है उसका कारण तृतीय स्थान है । पूर्वपक्षी—हमने चन्द्रलोक जाने वाले पापियों का लौटना स्वीकार किया है, यही असम्पूर्णता में तर्क है । सिद्धान्ती—ऐसा मानना भी ठीक नहीं है

१. तृतीयः पन्थाः । २. उपासना । ३. जायस्व म्रियस्वेत्यत्र ।

(३०९) न तृतीये तथोपलब्धेः ॥१८॥

हादप्यसम्पूरणमुपपद्यते । श्रुतिस्तु तृतीयस्थानसंकीर्तनेनासम्पूरणं दर्शयति—'एतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते' (छा० ५-१०-८) इति । तेनानारोहादेव सम्पूरणमिति युक्तम् । अवरोहस्येष्टादिकारिष्वप्यविशिष्टत्वे सति तृतीयस्थानोक्त्यानर्थक्यप्रसङ्गात् । तुशब्दस्तु [1]शाखान्तरीयवाक्यप्रभवामशेषगमनाशङ्कामुच्छिनत्ति । एवं सत्यधिकृतापेक्षः [2]शाखान्तरीये वाक्ये सर्वशब्दोऽवतिष्ठते । 'ये वै केचिदधिकृता अस्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' इति ॥१७॥

यत्पुनरुक्तं देहलाभोपपत्तये सर्वे चन्द्रमसं गन्तुमर्हन्ति, पञ्चम्यामाहुतावित्याहुति-संख्यानियमादिति । तत्प्रत्युच्यते—

न तृतीये स्थाने देहलाभाय पञ्चसंख्यानियम आहुतीनामादर्तव्यः । कुतः ? तथोपलब्धेः । तथाह्यन्तरेणैवाहुतिसंख्यानियमं वर्णितेन प्रकारेण तृतीयस्थानप्राप्तिरुपलभ्यते 'जायस्व-

---

स्थानं श्रुत्युक्तमित्यत आह—अवरोहस्येति । इममध्वानं पुनर्निवर्तन्त इति इष्टादिकारिणामवरोहोक्ते-रनिष्टादिकारिणामपि अवरोहस्यार्थसिद्धत्वात् पुनरुक्तिर्व्यर्थेत्यर्थः । अथैतयोरिति मार्गान्तरोपक्रम-बाधस्तृतीयशब्दबाधश्चेत्यतः स्थानशब्दो मार्गलक्षक इति द्रष्टव्यम् ॥१७॥

एवमविशेषश्रुतेर्मार्गान्तराभावाच्चेति पूर्वपक्षबीजद्वयं निरस्य तृतीयबीजनिरासार्थं सूत्रमादत्ते—यत्पुनरित्यादिना । विद्याकर्मशून्यानां कृमिकीटादिभावेन जायस्वेत्यादिश्रुत्या (छा. ५-१०-८) निरन्तर-जन्ममरणोपलब्धेर्नाहुतिसंख्यादर इत्यर्थः ।

क्योंकि यह श्रौत अर्थ नहीं है । ठीक है, लौटने के कारण भी वह लोक नहीं भरता है ऐसी युक्ति दी जा सकती है किन्तु श्रुति ने तो 'यह तीसरा स्थान है, इसीलिए वह लोक नहीं भरता' इस वाक्य के द्वारा तृतीय स्थान कह करके ही लोक को असम्पूर्ण बतलाया है । इसलिए चन्द्रलोक के न भरने का कारण है–पापियों का अनारोह, यह पक्ष ही युक्तियुक्त है तथा अवरोह तो इष्टादिकारियों में भी समान ही है । एसी स्थिति में तृतीय स्थान का कथन अनर्थक होने लग जायेगा । सूत्रस्थ 'तु' शब्द कौषीतकि शाखीय वाक्यजनित सभी प्राणियों के चन्द्रलोकगमन की आशङ्का का उच्छेद करता है । इस प्रकार अधिकारी की अपेक्षाकर कौषीतकि शाखा में सर्व शब्द का प्रयोग किया गया है कि 'जो कोई भी अधिकारी इस लोक से प्रस्थान करते हैं वे सभी कर्मी चन्द्रलोक में ही जाते हैं ।' यह वाक्य उस मार्ग के अधिकारियों की अपेक्षा करके ही कहा गया है ॥१७॥

और जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि देहप्राप्ति के लिए सभी चन्द्रलोक जायेंगे ही, क्योंकि **'पञ्चम्या-माहुतौ'** इस वाक्य द्वारा आहुति संख्या का नियम सुना जाता है, इसका प्रत्युत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं–

न तृतीये तथोपलब्धेः (ललिता)

तृतीय स्थान में देहाप्राप्ति के लिए आहुति की पञ्च संख्या का नियम आदरणीय नहीं है क्योंकि ऐसा ही देखा जाता है । आहुति संख्या नियम के बिना ही वहाँ बतलाये गये प्रकार से **'जायस्व-**

---

१. कौषीतकीय । २. कौषीतकीये सर्वे गच्छन्तीत्यविशेषश्रुतेः ।

(३१०) स्मर्यतेऽपिच लोके ॥१९॥

म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्' (छा० ५-१०-८) इति । अपिच 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५-३-३) इति मनुष्यशरीरहेतुत्वेनाहुतिसंख्या संकीर्त्यते न कीटपतङ्गादिशरीरहेतुत्वेन पुरुषशब्दस्य मनुष्यजातिवचनत्वात् । अपि च पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वमुपदिश्यते नापञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचस्त्वं प्रतिषिध्यते वाक्यस्य द्व्यर्थता-दोषात् तत्र येषामारोहावरोहौ सम्भवतस्तेषां पञ्चम्यामाहुतौ देह उद्भविष्यति । अन्येषां तु विनैवाहुतिसंख्यया भूतान्तरोपसृष्टाभिरद्भिर्देह आरप्स्यते ॥१८॥

अपिच स्मर्यते लोके । द्रोणधृष्टद्युम्नप्रभृतीनां सीताद्रौपदीप्रभृतीनां चायोनिजत्वम् । तत्र द्रोणादीनां योषिद्विषयैकाहुतिर्नास्ति । धृष्टद्युम्नादीनां तु योषित्पुरुषविषये द्वे अप्याहुती न स्तः । यथा च तत्राहुतिसंख्यानादरो भवत्येवमन्यत्रापि भविष्यति । बलाकाप्यन्तरेणैव रेतः सेकं गर्भं धत्त इति लोकरूढिः ॥१९॥

पुरुषशब्दाच्चैवमित्याह—अपिचेति । मनुष्यदेहस्यापि नाहुतिसङ्ख्यानियम इत्याह—अपिचेत्यादिना । विधिनिषेधरूपार्थद्वये वाक्यभेदः स्यादित्यर्थः ॥१८॥

अनियमे स्मृतिसंवादार्थं सूत्रम्—स्मर्यतेऽपीति । लोक्यतेऽनेनेति लोको भारतादिरुक्तः । मुख्यार्थमप्याह—बलाकेति ॥१९॥

म्रियस्व' यह तीसरा स्थान प्राप्त होते देखा जाता है । यह भी स्मरण रहे कि 'पाँचवीं आहुति में जल पुरुष संज्ञा को प्राप्त हो जाता है' इस वाक्य द्वारा मनुष्यशरीरप्राप्ति के लिए आहुति संख्या बतलायी गयी है, कीटपतंगादि शरीरप्राप्ति के लिए नहीं । पुरुष शब्द मनुष्य जाति का वाचक है । इसके अतिरिक्ति पञ्चम आहुति में जल को पुरुष संज्ञा की प्राप्ति का उपदेश श्रुति करती है, इससे पञ्च संख्या के बिना मनुष्यशरीर प्राप्त नहीं होता ऐसा निषेध तो नहीं है । और यदि इस वाक्य का अर्थ ऐसा किया जायेगा कि पञ्चम आहुति में जल पुरुष संज्ञा को प्राप्त कर जाता है एव पञ्चम आहुति के बिना जल पुरुष संज्ञा को प्राप्त नहीं करता, इस प्रकार एक वाक्य से दो अर्थ मानने पर वाक्यभेद होने लग जायेगा । अतः वहाँ पर जिनका आरोह और अवरोह सम्भव है उन्हीं का पञ्चमी आहुति हो जाने पर देह उत्पन्न होगा, किन्तु दूसरे का आहुतिसंख्या के बिना ही भूतान्तर उपसृष्ट जल से शरीर बन जाता है, ऐसा मानना उचित होगा ॥१८॥

अनियम पक्ष में स्मृतिसंवादार्थ अग्रिम सूत्र कहते हैं—

स्मर्यतेऽपि च लोके (ललिता)

महाभारतादि लोक में द्रोण, धृष्टद्युम्न, सीता और द्रौपदी इत्यादि के जन्म अयोनिज बतलाते हैं । इनमें द्रोणादि का योषितविषयिका एक आहुति नहीं सुनी जाती है, किन्तु धृष्टद्युम्न आदि के तो योषित और पुरुषविषयक दोनों ही आहुति नहीं सुनी जाती है । अतः जैसे उनके जन्म में आहुतिसंख्या का आदर नहीं है, ऐसा ही अन्यत्र भी हो जायेगा । बलाका (मयूरी) भी रेतसेक के बिना ही गर्भ धारण करती है, ऐसी लोक में प्रसिद्धि है ॥१९॥

---

१. अनिष्टादिकारिणामपीत्यर्थः ।

(३११) दर्शनाच्च ॥२०॥

(३१२) तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥२१॥

अपिच चतुर्विधे भूतग्रामे जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जलक्षणे स्वेदजोद्भिज्जयोरन्तरेणैव ग्राम्यधर्ममुत्पत्तिदर्शनादाहुतिसंख्यानादरो भवति। एवमन्यत्रापि भविष्यति ॥२०॥

ननु तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति 'अण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६-३-१) इति। अत्र त्रिविध एव भूतग्रामः श्रूयते कथं चतुर्विधत्वं भूतग्रामस्य प्रतिज्ञातमिति अत्रोच्यते—

'अण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६-३-१) इत्यत्र तृतीयेनोद्भिज्जशब्देनैव स्वेदजोपसंग्रहः कृतः प्रत्येतव्यः। उभयोरपि स्वेदजोद्भिज्जयोर्भूम्युदकोद्भेदप्रभवत्वस्य तुल्यत्वात्। स्थावरोद्भेदात्तु विलक्षणो जङ्गमोद्भेद इत्यन्यत्र स्वेदजोद्भिज्जयोर्भेदवाद इत्यविरोधः ॥२१॥

'अण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि च' इतिश्रुत्यवष्टम्भेन सूत्रं व्याचष्टे—अपि चेति। अन्यत्राप्यनिष्टादिकारिष्वित्यर्थः ॥२०॥

अनया श्रुत्या चातुर्विध्यं कथमुक्तं श्रुत्यन्तरे त्रीण्येवेत्यवधारणविरोधादिति शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रमादत्ते—नन्वित्यादिना।

जीवजं जरायुजं मनुष्यादि, भूमिमुद्भिद्य जायते वृक्षादिकं, उदकं भित्त्वा जायते यूकादि जङ्गममिति भेदः। संशोकः स्वेदः ॥२१॥

दर्शनाच्च (ललिता)

जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्जरूप चतुर्विध भूतसमुदाय लोक में दिखाई पड़ता है। उनमें से पसीना फोड़कर और भूमि फोड़कर उत्पन्न होने वाले स्वेदज और उद्भिज्ज का ग्राम्यधर्म (मैथुन) के बिना ही जन्म देखा जाता है। अतः सभी देहाधारी के लिए आहुतिसंख्या आदरणीय नहीं है। ऐसे ही अन्यत्र भी आहुतिसंख्या का नियम आदरणीय नहीं होगा ॥२०॥

पूर्वपक्ष—'सभी भूतों की उत्पत्ति के तीन ही कारण हैं—'**आण्डज, जीवज और उद्भिज्ज**' इस श्रुति में भूतसमुदाय तीन प्रकार का ही सुना जाता है, फिर भला आप ने भूतसमुदाय में चतुर्विधत्व की प्रतिज्ञा कैसे की है ? इसका उत्तर अग्रिम सूत्र से दिया जाता है—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य (ललिता)

'**आण्डज, जीवज और उद्भिज्ज**' इस श्रुतिवाक्य में तृतीय उद्भिज्ज शब्द से ही स्वेदज का उपसंग्रह समझ लेना चाहिए क्योंकि इन दोनों में एक जल को फोड़कर और दूसरा भूमि को फोड़कर उत्पन्न होता है, ऐसा सादृश्य देखा गया है। स्थावर उद्भेद से जङ्गमोद्भेद विलक्षण है। इसीलिए अन्यत्र स्वेदज और उद्भिज्ज को भिन्न-भिन्न माना है। अतः त्रिविधत्व और चतुर्विधत्व बतलाने वाली श्रुतियों का परस्पर विरोध नहीं है ॥२१॥

४. साभाव्यापत्त्यधिकरणम् (सू० २२)

(३१३) साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥२२॥

वियदादिस्वरूपत्वं तत्साम्यं वावरोहिणः । वायुर्भूत्वेत् ।दिवाक्यात् तत्तद्भावं प्रपद्यते ॥
भवत्सूक्ष्मो वायुवशो युक्तो धूमादिभिर्भवेत् । अन्यस्यान्यस्वरूपत्वं न मुख्यमुपपद्यते ॥

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसमारुह्य 'तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वा ततः सानुशया अवरोहन्तीत्युक्तम्' । अथावरोहप्रकारः परीक्ष्यते । तत्रेयमवरोहश्रुतिर्भवति 'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति' (छा० ५-१०-५) इति । तत्र संशयः—किमाकाशादिस्वरूपमेवावरोहन्तः प्रतिपद्यन्ते किंवाकाशादिसाम्यमिति । तत्र प्राप्तं

एवं पापिनां गत्यागती विचार्य संप्रतीष्टादिकारिणामवरोहे विशेषमाह—साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः । यथेतमनेवं चेत्युक्तरीत्या यथागतं धूमाद्यध्वानं पुनर्निवर्तन्ते, निवृत्ताश्चानुशयिनः कर्मान्ते द्रुतदेहाः आकाशं गताः आकाशसदृशा भवन्ति । आकाशसादृश्यानन्तरं पिण्डीकृता अतिसूक्ष्मलिङ्गोपहिताः वायुनेतस्ततश्च नीयमाना वायुसमा भवन्ति । सोऽनुशयी संघो वायुसमो भूत्वा धूमसंगतस्तत्समो भवति, धूमसमो भूत्वाऽभ्रसमो भवति । अपो बिभर्तीत्यभ्रं, मेहति सिञ्चतीति वृष्टिकर्ता मेघस्तत्समो

---

४. साभाव्यापत्त्यधिकरण

१. **सङ्गति**—इस प्रकार मार्गद्वय के वर्णनसामर्थ्य से 'तृतीयं स्थानम्' इस श्रुति में आया हुआ स्थान शब्द मार्ग का उपलक्षक है, वैसा यहाँ पर '**तद्य इह**' इस श्रुति में सादृश्य का उपलक्षक कुछ भी नहीं है और इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण भी नहीं मिलता है; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. **विषय**—श्रुति के मुख्यार्थ-गौणार्थ का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. **संशय**—स्वर्ग से लौटने वाले जीवात्मा को आकाशादिस्वरूपत्व की प्राप्ति होती है अथवा साम्य की ?

४. **पूर्वपक्ष**—स्वर्ग से लौटने वाला जीवात्मा '**वायुर्भूत्वा**' इत्यादि वाक्य से तत्तद्भाव को प्राप्त करता है।

५. **सिद्धान्त**— आकाशादि के समान सूक्ष्मरूप वायु के वशीभूत धूमादि से युक्त जीव रहता है, मुख्यरूप से नहीं, क्योंकि अन्य अन्य का मुख्य नहीं हो सकता, वह तो गौण ही रहता है।

इस प्रकार पापियों की गति और आगति का विचारकर अब इष्टादिकारियों के अवरोह में कुछ वैशिष्ट्य बतलाने के लिए अग्रिम सूत्र कहते हैं—

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः (ललिता)

इष्टादिकारी चन्द्रलोक जाकर वहाँ पर पुण्यकर्मफलभोग तक निवास करने के बाद वहाँ से सानुशय (संस्कारयुक्त) जीव लौटते हैं, ऐसा सिद्धान्ती ने पहले कहा था। अब अवरोहप्रकार की परीक्षा की जाती है। वहाँ पर 'जिस मार्ग से पुण्यात्मा पुरुष स्वर्ग जाते हैं उसी मार्ग से पुनः लौटते हैं। चन्द्रलोक से लौटते समय आकाश के सदृश हो जाते हैं, तत्पश्चात् वायु के सदृश, वायु के बाद धूम के सदृश, तत्पश्चात् अभ्र होकर मेघ और मेघ होकर बरसते हैं' यह श्रुति देखी जाती है। इसमें संशय होता

तावदाकाशादिस्वरूपमेव प्रतिपद्यन्त इति । कुतः ? एवं हि श्रुति'र्भवति । इतरथा लक्षणा स्यात् । श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा । तथाच वायुर्भूत्वा धूमो भवतीत्येवमादीन्यक्षराणि तत्तत्स्वरूपोपपत्तावाञ्जस्येनावकल्पन्ते । तस्मादाकाशादिस्वरूपप्रतिपत्तिरिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आकाशादिसाम्यं प्रतिपद्यन्त इति । चन्द्रमण्डले यदम्मयं शरीरमुपभोगार्थमारब्धं तदुपभोगक्षये सति प्रविलीयमानं सूक्ष्ममाकाशसमं भवति ततो वायोर्वशमेति ततो धूमादिभिः संपृच्यत इति । तदेतदुच्यते—'यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुम्' (छा०५-१०-५) इत्येवमादिना । कुतः एतत् ? उपपत्तेः । एवं ह्येतदुपपद्यते । न ह्यन्यस्यान्यभावो मुख्य उपपद्यते । आकाशस्वरूपप्रतिपत्तौ च वाय्वादिक्रमेणावरोहो नोपपद्यते । ²विभुत्वाच्चाकाशेन ³नित्यसंबन्धवत्त्वान्न तत्सादृश्यापत्तेरन्यस्तत्संबन्धो घटते । श्रुत्यसंभवे च

भूत्वा वर्षधाराद्वारा पृथिवीं प्रविश्य व्रीहियवादिरूपो भवतीति सिद्धान्तगत्या श्रुत्यर्थः । पूर्वोत्तरयुक्तिद्वयं संशयबीजं मन्तव्यं, पूर्वत्र मार्गद्वयमुक्त्वा तृतीयस्थोक्तेर्युक्तं स्थानशब्दस्य मार्गलक्षकत्वमिह तु दुग्धं दधि भवतीत्यादिप्रयोगे भवति श्रुतेर्विकारस्वरूपापत्तौ मुख्यत्वात् सादृश्यापत्तिलक्षणाबीजं नास्तीति प्रत्युदाहरणसङ्गतिः । श्रुतिमुख्यत्वं फलमिति पूर्वपक्षः ।

अनुशयिनां पूर्वसिद्धाकाशादिस्वरूपापत्त्ययोगाल्लक्षणेति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना । समानो भावो धर्मो यस्य तद्भावः साभाव्यं साम्यमिति सूत्रपदार्थः । एवं ह्येतदिति । एतद्वचनमेवंसादृश्यरूपमेवोपपद्यत इत्यर्थः । अनुशयिनामाकाशादिभ्यो निर्गमनान्यथानुपपत्त्यापि सादृश्यलक्षणेत्याह—आकाशस्वरूपेति । ⁴संयोगलक्षणामाशङ्क्याह—विभुत्वादिति । भवति श्रुत्या संयोगलक्षणायामनुवादः

है कि वहाँ से लौटने वाले पुण्यात्मापुरुष क्या आकाशादि के स्वरूप बन जाते हैं अथवा उसके सदृश बनते हैं ? इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि चन्द्रलोक से लौटने वाले जीव आकाशादि के स्वरूप ही बन जाते हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर श्रौतार्थ होता है, अन्यथा लक्षणा करनी पड़ेगी। श्रौतार्थ या लक्ष्यार्थग्रहण के विषय में संशय हो तो श्रौतार्थग्रहण ही उचित है, लक्षणा उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में 'वायु होकर धूम होता है' इत्यादि वचन वायु आदि स्वरूपप्राप्ति में ही युक्तियुक्त सिद्ध होते हैं। अतः आकाशादि स्वरूप की प्राप्ति होती है।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि चन्द्रलोक से लौटने वाले सानुशय जीव आकाशादि के सदृश होते हैं। चन्द्रलोक में जो उनका अम्मय शरीर वहाँ के उपभोग के लिए बना था, वह शरीर वहाँ के भोग समाप्त होते ही लीन हो जाता है और वह आकाश के समान सूक्ष्म हो जाता है। उसके बाद वह वायु की अधीनता को प्राप्त करता है, तत्पश्चात् उसका धूमादियों के साथ सम्पर्क होता है। इसी को वहाँ पर 'जिस मार्ग से गया था उसी मार्ग से जीव लौटता है। पहले आकाश के सादृश्य को, तत्पश्चात् वायुसादृश्य को प्राप्त करता हैं।' इत्यादि वाक्य द्वारा कहा गया है क्योंकि ऐसा मानना युक्तियुक्त है। अन्य वस्तु का अन्य रूप प्रधानतः बन जाना युक्तिसङ्गत नहीं है और कदाचित् आकाशस्वरूप की प्राप्ति मान लें, तो फिर वायु आदि क्रम से उनका अवरोह कहना भी तर्कसङ्गत नहीं है। विभु होने के कारण आकाश के साथ वायु का नित्यसम्बन्ध है, ऐसी स्थिति में वायुसादृश्यापत्ति से भिन्न

१. भवतिश्रुतेर्मुख्यत्वं सिध्यति । २. चो हेतौ । ३. वायोरिति शेषः । ४. भवतिश्रुतेरिति शेषः ।

५. नातिचिराधिकरणम् (सू० २३)

(३१४) नातिचिरेण विशेषात् ॥२३॥

व्रीह्यादे: प्राग्विलम्बेन त्वरया वाऽवरोहति । तत्रानियम एव स्यान्नियामकविवर्जनात् ।
दु:खं व्रीह्यादिनिर्माणमिति तत्र विशेषित: । विलम्बस्तेन पूर्वत्र त्वरार्थादवसीयते ॥

लक्षणाश्रयणं न्याय्यमेव । अत आकाशादितुल्यतापत्तिरेवात्राकाशादिभाव इत्युपचर्यते ॥२२॥

तत्राकाशादिप्रतिपत्तौ प्राग्व्रीह्यादिप्रतिपत्तेर्भवति 'विशयः । किं दीर्घं दीर्घं कालं पूर्वपूर्वसादृश्येनावस्थायोत्तरोत्तरसादृश्यं गच्छन्त्युताल्पमल्पमिति । तत्रानियमो नियमकारिणः

स्यादित्यर्थः । विविधभूतसाम्यमवरोहे भवतीत्यनुसंधानाद्वैराग्यमुपसंहरति—अत इति ॥२२॥

नातिचिरेण । **उक्तं सादृश्यमुपजीव्य लोके गन्तॄणां चिराचिरगतिदर्शनात्संशयं वदन् पूर्वपक्षयति—तत्रेत्यादिना । अनियमात् कदाचिद्विलम्बेन योन्यापत्तिरिति पूर्वपक्षफलं, सिद्धान्ते तु व्रीहियवादि-**

कोई सम्बन्ध वहाँ घटता नहीं है । और जहाँ श्रौतार्थ सम्भव न हो वहाँ लक्षणा का आश्रय लेना उचित ही है । अत: औपचारिक दृष्टि से आकाशादि भावापत्ति का अर्थ आकाशादितुल्यतापत्ति ही करना चाहिए ॥२२॥

५. नातिचिराधिकरण

१. **सङ्गति**—इस प्रकार पूर्वाधिकरण में स्वर्ग से लौटने वाले जीवात्मा की सादृश्यापत्ति बतलायी गयी थी, अब उसी को उपजीव्य बनाकर अन्य बातों का भी विचार करना है । अत: पूर्व अधिकरण के साथ इसकी उपजीव्योपजीवकभावसङ्गति है ।

२. **विषय**—आकाशसादृश्यापत्तिकाल का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—व्रीहि आदि भावप्राप्ति से पूर्व विलम्ब से अवरोहण होता है अथवा त्वरित गति से ?

४. **पूर्वपक्ष**—नियामक शास्त्र के अभाव में आकाशादि के साथ सादृश्यापत्ति विलम्ब अथवा अविलम्ब के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं किया जा सकता ।

५. **सिद्धान्त**—व्रीह्यादि में प्रविष्ट हो जाने के बाद वहाँ से निष्क्रमण कष्टकारक है, ऐसा विशेषण दिया गया है । अत: उससे पूर्व आकाशादि के साथ सादृश्यापत्ति शीघ्रता से होती है, ऐसा निश्चय करना चाहिए, क्योंकि व्रीहि आदि के बाद विलम्ब से निष्क्रमण कहा गया है ।

उक्त सादृश्य को उपजीव्य बनाकर लोक में गमन करने वालों की अल्प एवं दीर्घकाल गति देखी जाती है जिसे देखकर संशय होता है । इसी के समाधान के लिए अग्रिम सूत्र है—

नातिचिरेण विशेषात् (ललिता)

वहाँ पर आकाशादि की प्राप्ति से लेकर व्रीहि-यवादिप्राप्ति से पूर्व तक की स्थिति के विषय में संशय होता है, कि चन्द्रमण्डल से लौटने वाले जीव दीर्घकाल तक पूर्व-पूर्व के सादृश्यरूप से स्थित रहने के बाद उत्तरोत्तर सादृश्य को प्राप्त करते हैं अथवा अल्प-अल्प काल ? ऐसा संशय होने पर

---

१. संशय: ।

६. अन्याधिष्ठिताधिकरणम् (सू० २४-२७)

व्रीह्यादौ जन्म तेषां स्यात्संश्लेषो वा जनिर्भवेत् । जायन्त इति मुख्यत्वात्पशुहिंसादिपापतः ।
वैधात्र पापसंश्लेषः कर्मव्यापृत्यनुक्तितः । श्वविप्रादौ मुख्यजनौ चरणव्यापृतिः श्रुता ।।

शास्त्रस्याभावादिति । एवं प्राप्त इदमाह—नातिचिरेणेति । अल्पमल्पं कालमाकाशादिभावेनावस्थाय वर्षधाराभिः सहेमां भुवमापतन्ति । कुत एतत् । विशेषदर्शनात् । तथाहि व्रीह्यादिभावापत्तेरनन्तरं विशिनष्टि—'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' (छा० ५-१०-६) इति । तकार एकश्छान्दस्यां प्रक्रियायां लुप्तो मन्तव्यः । दुर्निष्प्रपततरं दुर्निष्क्रमतरं दुःखतरमस्माद्व्रीह्यादिभावान्निःसरण भवतीत्यर्थः । तदत्र दुःखं निष्प्रपतनं प्रदर्शयन्पूर्वेषु सुखं निष्प्रपतनं दर्शयति । सुखदुःखताविशेषश्चायं निष्प्रपतनस्य कालाल्पत्वदीर्घत्वनिमित्तः । [१]तस्मिन्नवधौ शरीरानिष्पत्तेरुपभोगासंभवात् । तस्माद्व्रीह्यादिभावापत्तेः प्रागल्पेनैव कालेनावरोहः स्यादिति ।।२३।।

भावादनुशयिनां विलम्बेन निर्गमनमिति विशेषादाकाशादिभावाच्छीघ्रं निर्गम इत्यविलम्बेन योन्यापत्तिरित्यनुसंधानाद्वैराग्यदार्ढ्यमिति विवेकः । नन्वाकाशादिष्वनुशयिनां सुखं व्रीहियवादिषु दुःखमिति दुःशब्दाद्भाति न चिराचिरनिर्गमनमित्यत आह—सुखदुःखताविशेषश्चायमिति । **अवधिः कालः ।।२३।।**

पूर्वपक्ष का कहना है कि वहाँ पर नियामक शास्त्र के अभाव में अनियम है ? इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती समाधान देते हैं कि अल्प-अल्पकाल आकाशादि रूप से रहकर वर्षाधारादि के साथ इस पृथ्वी में स्वर्गावरोही आ जाते हैं, क्योंकि ऐसा ही व्रीह्यादिभावप्राप्ति के बाद विशेष देखा जाता है—'इसके के बाद निःसरण दुष्कर होता है ।' इस वाक्य में छान्दस प्रक्रिया के कारण एक तकार का लोप माना गया है '**दुर्निष्प्रपतरम्**' का अर्थ दुर्निष्क्रमतरम् है अर्थात् निःसरण दुःखतरम् होता है । उस व्रीह्यादिभाव के बाद वहाँ से जीवात्मा का निःसरण कष्टकारक है इस प्रकार यहाँ पर निष्प्रपतन को दुःखकारक बतलाते हुए इससे पूर्व स्थिति में सुखद कहा गया है । सुख और दुःखताविशेष जो कहा गया है उसका कारण काल का अल्पत्व और दीर्घत्व ही है क्योंकि कि वहाँ तक उस अवधि में स्वर्गावरोही का स्थूल शरीर बना नहीं है । अतः वस्तुतः सुख-दुःख भोग का होना सम्भव नहीं है । इसलिए व्रीह्यादि भावापत्ति से पूर्व अल्पकाल में ही अवरोह मानना उचित है ।।२३।।

६. अन्याधिष्ठिताधिकरण

१. **सङ्गति**—यद्यपि '**दुर्निष्प्रपतरम्**' शब्द से व्रीह्यादि में चिरकाल तक रहना लक्षित होता है, फिर भी प्रकृत में तिलमाषादिभाव से जो जीवात्मा का जन्म होता है, वह जीव का जन्म मुख्य नहीं कहा जा सकता; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. **विषय**—स्वर्ग से लौटने वाले जीवात्मा की व्रीह्यादि जन्मप्राप्ति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—स्वर्गावरोही जीव का व्रीह्यादि में जन्म संश्लेषमात्र है अथवा मुख्यरूप है ?

---

१. न तु तस्मिन्काले मुख्या सुखदुःखता तत्र हेतुमाह तस्मिन्नवधाविति ।

(३१५) अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥२४॥

तस्मिन्नेवावरोहे प्रवर्षणानन्तरं पठ्यते—'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' (छा० ५-१०-६) इति । तत्र संशयः—किमस्मिन्नवरो स्थावरजात्यापन्नाः स्थावरसुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्त्याहोस्वित्क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितेषु स्थावरशरीरेषु संश्लेषमात्रं गच्छन्तीति । किं तावत्प्राप्तम् । स्थावरजात्यापन्नास्तत्सुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्तीति । कुत एतत् ? जनेर्मुख्यार्थत्वोपपत्तेः स्थावरभावस्य च श्रुतिस्मृत्योरुपभोगस्थानत्वप्रसिद्धेः । पशुहिंसादियोगाच्चेष्टादेः कर्मजातस्यानिष्टफलत्वोपपत्तेः ।

अन्याभिलापात् । श्रुतिक्रमात् अर्थक्रमाच्चाधिकरणानां क्रमो बोध्यः । इह भूमौ वर्षधाराद्वारा पतितास्तेऽनुशयिनो व्रीह्यादिसाम्येन जायन्त इति श्रुत्यर्थः । अत्र जायन्त इति श्रुतेः पूर्वत्राकाशादिवर्षान्तसादृश्योक्तेश्च संशयमाह—तत्रेति । अस्मिन्नवरो वर्षसादृश्यानन्तरमित्यर्थः । दुर्निष्प्रपतरशब्देन चिरनिर्गमनलक्षणोक्ता न युक्ता, दुःखेन निर्गमनमिति मुख्यसंभवादित्याक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्षयति—किं तावदित्यादिना । अत्र पूर्वपक्षे स्थावरत्वनिवृत्तयेऽधिकारिणां यत्नगौरवं, सिद्धान्ते व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं परिहर्तुं यत्नलाघवमर्थवच्चेति विवेकः । ननु देहोत्पत्त्या जीवानां जन्म स्यान्न स्वतः, व्रीह्यादेस्तु न देहत्वमित्यत आह—स्थावरभावस्येति । 'स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति' इत्याद्या श्रुतिः । 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः' इत्याद्या स्मृतिः । ननु स्वर्गिणां पापाभावात्कथं स्थावरत्वं, तत्राह—पश्विति । सोमाद्युच्छिष्टभक्षणसुराग्रहादादिशब्दार्थः । क्रत्वर्थहिंसादेरपि हिंसात्वादिसामान्येन प्रवृत्तेर्न हिंस्यादित्यादिशास्त्रनिषिद्धत्वाकारेण दुरितापूर्वकारित्वमविरुद्धमिति साङ्ख्या आहुः ।

---

४. **पूर्वपक्ष**—'**जायन्ते**' इस श्रुति के आधार पर उसका व्रीह्यादि योनि में मुख्य जन्म ही मानना चाहिए; क्योंकि स्वर्गप्राप्ति के लिए यागादि का अनुष्ठान करते समय पशुहिंसादि पाप हो जाने के कारण उनके भोग के लिए स्वर्गारोही जीव का व्रीह्यादि योनियों में जन्म लेना मुख्य ही है ।

५. **सिद्धान्त**—विहित कर्म से पाप नहीं लगता और व्रीह्यादि योनिप्राप्ति बतलाते समय किसी कर्मव्यापार का कथन नहीं है । हाँ, उसके बाद कुत्ते, ब्राह्मणादि योनियों में जो जन्म होता है, उसमें चरणव्यापार का उल्लेख '**रमणीयचरणा**' '**कपूयचरणाः**' इन वाक्यों द्वारा किया गया है । अतः वे जन्म मुख्य माने जाते हैं; किन्तु व्रीह्यादि के साथ तो स्वर्गावरोही का संश्लेषमात्र ही होता है ।

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् (ललिता)

उसी अवरोहक्रम में वर्षा के बाद पाठ मिलता है–'वे स्वर्गावरोही सानुशयी जीव इस भूमि में व्रीहि, जो, ओषधि, वनस्पति, तिल, उड़द रूप में उत्पन्न होते हैं ।' इस पर संशय होता है, कि इस अवधि में स्थावर योनि में गये सानुशयी जीव स्थावर शरीर से होने वाले सुख-दुःख के भागी होते हैं अथवा दूसरे जीव में अधिष्ठित स्थावर शरीरों में वे संश्लेषमात्र को प्राप्त करते हैं । इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि स्वर्गावरोही सानुशयी जीव व्रीह्यादि स्थावर योनि प्राप्तकर वहाँ के सुख-दुःखादि के भागी हो जाते हैं, क्योंकि '**जायन्ते**' इस क्रिया में जन् धातु का प्रयोग हुआ है जिसका मुख्यार्थ उक्त रीति से घट जाता है । श्रुति-स्मृति में स्थावर शरीर उपभोगस्थान प्रसिद्ध ही है । इष्टादि कर्मसमुदाय में पशुहिंसा का सम्बन्ध रहने के कारण अनिष्ट फल स्थावर योनि मानना युक्तिसङ्गत ही है । इसीलिए

---

१. स्थावरजात्यात्मकवैधर्म्याभावाच्च तेषामित्यर्थः ।

तस्मान्मुख्यमेवेदमनुशयिनां व्रीह्यादिजन्म । श्वादिजन्मवत् । यथा श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वेति मुख्यमेवानुशयिनां श्वादिजन्म तत्सुखदुःखान्वितं भवति । एवं व्रीह्यादिजन्माप्नोति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अन्यैर्जीवैरधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनः प्रतिपद्यन्ते न तत्सुखदुःखभाजो भवन्ति । पूर्ववत् । यथा वायुधूमादिभावोऽनुशयिनां तत्संश्लेषमात्रम् । एवं व्रीह्यादिभावोऽपि जातिस्थावरैः संश्लेषमात्रम् । कुत एतत् ? तद्वदेवेहाप्यभिलापात् । कोऽभिलापस्य तद्वद्भावः । कर्मव्यापारमन्तरेण संकीर्तनम् । यथाकाशादिषु प्रवर्षणान्तेषु न कंचित्कर्मव्यापारं परामृशत्येवं व्रीह्यादिजन्मन्यपि । तस्मान्नास्त्यत्र सुखदुःखभाक्त्वमनुशयिनाम् । यत्र तु सुखदुःखभाक्त्वमभिप्रैति परामृशति तत्र कर्मव्यापारं रमणीयचरणाः कपूयचरणाः इति च ।

अत्रोऽत्र व्रीह्यादिभावोऽनुशयिनां न जन्मरूपः कर्मविशेषपरामर्शं विनात्रोक्तत्वात्, पूर्वोक्ताकाशादिभाववदिति सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इत्यादिना । पूर्ववदिति पदं दृष्टान्तत्वेन हेत्वंशत्वेन च व्याख्यातं, यदत्र प्रकरणे कर्मविशेषपरामर्शपूर्वकमुच्यते तज्जन्मेति व्यतिरेकदृष्टान्तमप्याह—यत्र त्विति ।

श्वादिजन्म जैसे भोग के लिए है, ऐसे ही स्वर्गावरोही सानुशयी जीवों का व्रीह्यादिभावापत्ति मुख्य जन्म ही है । जिस प्रकार श्रुति ने 'श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा' इन वाक्यों द्वारा सानुशयी जीव का श्वादिजन्म मुख्य ही है और वह सुख-दुःखादि से युक्त भी है, ऐसे ही व्रीह्यादिजन्म उनका मुख्य है एवं सुख-दुःख से युक्त है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं, कि अन्य जीवों से अधिष्ठित व्रीह्यादि में चन्द्रलोकावरोही सानुशयी जीव संसर्गमात्र प्राप्त करते हैं, वहाँ पर उन्हे पूर्व की भाँति सुख-दुःखादि का भोग नहीं होता । जैसे वायु-धूमादिभाव उन अनुशयी जीवों का वहाँ पर उनके साथ संश्लेषमात्र माना गया है, ऐसे ही व्रीह्यादिभाव भी स्थावर जाति के साथ संश्लेमात्र ही मानना चाहिए, क्योंकि वहाँ पर वैसा ही कथन देखा जाता है । उस कथन का ऐसा अभिप्राय कैसे मानते हैं ? (तो) जिस प्रकार आकाशादि से वर्षापर्यन्त स्थलों में रमणीय-कपूय कर्मव्यापार के बिना ही तद्भावापत्ति का वर्णन है, वैसे ही व्रीह्यादिजन्म में भी किसी कर्मव्यापार का परामर्श नहीं है । इसीलिए यहाँ पर उन स्वर्गावरोही अनुशयी का सुख-दुःखभोग नहीं होता । इसके विपरीत जहाँ पर सुख-दुःख का होना अभिप्रेत है वहाँ पर 'रमणीयचरणाः' 'कपूयचरणाः' इन वाक्यों द्वारा कर्मव्यापार का भी परामर्श होता है ।

---

१. पूर्ववत्पदं हेत्वंशत्वेनापि व्याचष्टे तद्वदित्यादिना । २. रमणीयकपूयकर्मणोर्व्यापारं विनैव तद्भावसंकीर्तनम् । ३. व्रीह्यादिषु अनुशयिनो न मुख्यजन्मवन्तः कर्मव्यापारापरामर्शाद्वायुधूमादिवद् व्यतिरेके रमणीयादियोनिवदिति बोध्यम् ।

(३१६) अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥२५॥

अपिच मुख्येऽनुशयिनां व्रीह्यादिजन्मनि व्रीह्यादिषु लूयमानेषु कण्ड्यमानेषु पच्यमानेषु भज्यमानेषु भक्ष्यमाणेषु च तदभिमानिनोऽनुशयिनः प्रवसेयुः[1] । योहि जीवो यच्छरीरमभिमन्यते स तस्मिन्पीड्यमाने प्रवसतीति प्रसिद्धम् । तत्र व्रीह्यादिभावाद्रेतःसिग्भावोऽनुशयिनां नाभिलप्येत[2] । अतः संसर्गमात्रमनुशयिनामन्याधिष्ठतेषु व्रीह्यादिषु भवति । एतेन[3] जनेर्मुख्यार्थत्वं प्रतिब्रूयादुपभोगस्थानत्वं च स्थावरभावस्य । नच वयमुपभोगस्थानत्वं स्थावरभावस्यावजानीमहे । भवत्वन्येषां जन्तूनामपुण्यसामर्थ्येन स्थावरभावमुपगतानामेतदुपभोगस्थानम् । चन्द्रमसस्त्ववरोहन्तोऽनुशयिनो न स्थावरभावमुपभुञ्जत इत्याचक्ष्महे ॥२४॥

यत्पुनरुक्तं पशुहिंसादियोगादशुद्धमाध्वरिकं कर्म तस्यानिष्टमपि फलमवकल्पत इत्यतो मुख्यमेवानुशयिनां व्रीह्यादिजन्मास्तु तत्र गौणी कल्पनाऽनर्थिकेति तत्परिह्रियते ।

अपिच 'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः स्त्रियां सिञ्चति तद्भूय एव भवति' इति वाक्यशेषे व्रीह्यादिषु प्रविष्टस्यानुशयिसंघस्यान्नद्वारा रेतःसिक्पुरुषयोगः श्रुतस्तदन्यथानुपपत्त्यापि जन्मश्रुतिर्न मुख्येत्याह—अपिचेत्यादिना । व्रीह्यादिरूपदेहनाशे देहिनामुत्क्रान्तेरवश्यंभावाद्रेतःसिग्योगो न स्यादित्यर्थः । एतेनेति । उक्तानुमानार्थापत्तिभ्याम् । जायत इति श्रुतेर्मुख्यार्थत्वमनुशयिभोगायतनत्वं च व्रीह्यादेः प्रतिब्रूयादित्यर्थः । ननु व्रीह्यादेर्भोगायतनत्वानङ्गीकारे पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिबाध इत्यत आह—नचेति ॥२४॥

इसके अतिरिक्त स्वर्गावरोही अनुशयी का व्रीह्यादि जन्म मुख्य मानने पर व्रीह्यादि के काटने, मलने, भूनने, पकाने और भक्षण के समय उनमें अहं अभिमान रखने वाले अनुशयी भी दुःख के भागी होने लग जायेंगे, क्योंकि जो जीव जिस शरीर में अभिमान करता है, वह जीव उस शरीर के पीड़ित होने पर दुःखी होता है, ऐसी प्रसिद्धि है, फिर तो वाक्यशेष में व्रीह्यादिभाव के पश्चात उन अनुशयी जीवों का रेतःसिग्भाव अन्यरेतसेक्ता के साथ नहीं बतलाते । अतः अन्य जीवों से अधिष्ठित व्रीह्यादि में उन स्वर्गावरोही अनुशयी जीवों का संसर्गमात्र ही होता है, मुख्य जन्म नहीं होता । उक्त अनुमान और अर्थापत्ति के आधार पर जन् धातु के मुख्यार्थत्व का और स्थावर शरीर में भोगस्थानत्व का प्रत्याख्यान हो गया । हम स्थावर शरीर को भोगस्थान नहीं मानते हैं, ऐसी बात नहीं है । किन्तु वह अन्य जीवों के पापसामर्थ्य से प्राप्त स्थावर शरीर उन्हीं का भोगस्थान है, चन्द्रलोक से लौटने वाले जीव उस स्थावर शरीर में सुख-दुःख का भोग नहीं करते, ऐसा हम कहते हैं ॥२४॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् (ललिता)

और जो आप ने कहा था कि यागादि कर्म पशुहिंसादि से युक्त होने के कारण अशुद्ध है, उसका अनिष्ट फल भी माना जाता है । अतः इस लोक में अनुशयी जीव का व्रीह्यादिजन्म मुख्य ही माना

---

१. प्रवासं कुर्युर्गच्छेयुरिति यावत् । २. अभिलपति वेदयतः पूर्वत्र शेषः । ३. अर्थापत्तेरित्यर्थः ।

न, शास्त्रहेतुत्वाद्धर्माधर्मविज्ञानस्य । अयं धर्मोऽयमधर्म इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम् । अतीन्द्रियत्वात्तयोः अनियतदेशकालनिमित्तत्वाच्च । यस्मिन्देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्मो भवति । तेन शास्त्रादृते धर्माधर्मविषयं विज्ञानं न कस्यचिदस्ति । [1]शास्त्राच्च हिंसानुग्रहाद्यात्मको ज्योतिष्टोमो धर्म इत्यवधारितः स कथमशुद्ध इति शक्यते वक्तुम् ।

ननु 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति शास्त्रमेव भूतविषयां हिंसामधर्म इत्यवगमयति । बाढम् । उत्सर्गस्तु सः । अपवादः 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति । उत्सर्गापवादयोश्च व्यवस्थितविषयत्वम् । तस्माद्विशुद्धं कर्मवैदिकं, [2]शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वादनिन्द्यमानत्वाच्च ।

वैदिकं कर्माशुद्धं न भवति शास्त्रविहितत्वादिति सूत्रार्थं प्रपञ्चयति—अयं धर्म इत्यादिना । शुचौ देशे प्रातःसायंकाले जीवनादिनिमित्ते कृतमग्निहोत्रं धर्मो भवति स एवाशुचिदेशे मध्यरात्रे मरणादिनिमित्ते कृतः सन्नधर्मो भवतीति निर्णयः शास्त्रैकसाध्य इत्यर्थः । ततः किं तत्राह—शास्त्राच्चेति ।

ननु या हिंसा सोऽधर्म इत्युत्सर्गस्य विशेषविधिना बाधोऽत्र न युक्तः । नाभिचरेदिति निषिद्धश्येनस्य पुरुषार्थत्ववत् निषिद्धहिंसादेरपि क्रतूपकारकत्वाविरोधादिति, तत्राह—उत्सर्गापवादयोरिति । अयमर्थः—काम्ये कर्मणि सर्वत्र करणांशे रागतः प्रवृत्तिः, अङ्गेषु विधित इति स्थितिः । तथाच श्येनाख्ये कर्मणि निषेधेऽपि रागप्राबल्यात् प्रवृत्तिः स्यात् क्रत्वङ्गहिंसादौ तु विधित एव प्रवृत्तिर्वाच्या । [4]स च विधिर्यद्युत्सर्गप्राप्तमनर्थहेतुत्वं न बाधेत तर्हि प्रवर्तको न स्यात्, प्रवर्तकत्वे वा विधिरनर्थाय स्यात्, अतो निरवकाशो विधिः सावकाशमुत्सर्गमविहितहिंसादिषु स्थापयतीति । इदं च निषेधशास्त्रस्य हिंसात्वादिसामान्येन प्रवृत्तिमङ्गीकृत्योक्तम् । [5]वस्तुतस्तस्य रागप्राप्तहिंसाविषयत्वाद्वैध-

---

जायेगा ? वहाँ पर गौणी कल्पना अनर्थक है ? उसका प्रति-उत्तर दिया जाता है कि धर्माधर्म का विज्ञान शास्त्र से होता है । यह धर्म है और यह अधर्म है, ऐसे अतीन्द्रिय अर्थ के विज्ञान में शास्त्र ही प्रमाण है । इसमें अपनी कल्पना काम नहीं करेगी क्योंकि यह निर्णय शास्त्रैक्यसाध्य है । धर्माधर्म नियत देश काल और निमित्त को लेकर होते हैं; जिस देश, काल और निमित्त में जो धर्म अनुष्ठित होता हैं वही अनुष्ठीयमान धर्म अन्य देश, काल, निमित आने पर अधर्म हो जाता है । अतः शास्त्र के बिना धर्माधर्मविषयक विज्ञान किसी को नहीं होता । ज्योतिष्टोमादि हिंसा एवं अनुग्रहाद्यात्मक धर्म है, इसे शास्त्र से निश्चय किया गया है, वह अशुद्ध कैसे कहा जा सकता है ।

पूर्वपक्षी—'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' यह शास्त्र ही भूतविषयक हिंसा को अधर्म बतलाता है । सिद्धान्ती—ठीक है किन्तु वह शास्त्र उत्सर्ग है और 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' यह अपवाद है । एक उत्सर्गरूप और दूसरा अपवादरूप है, इस प्रकार उन दोनों में व्यवस्थितविषयत्व है । अतः शिष्टपुरुषों से अनुष्ठीयमान एवं अनिन्द्यमान होने के कारण वैदिक यज्ञादि कर्म शुद्ध हैं । उस वैदिक कर्म से

---

१. पश्वादेर्हिंसा इन्द्रादिदेवोपरि हविरादिदानेनानुग्रहः । २. जपयज्ञादिवत् । ३. जप यज्ञवत् । ४. प्रकृते न हिंस्यादित्युत्सर्गप्राप्तं हिंसाया अनर्थहेतुत्वमिति ज्ञेयम् । ५. निषेधस्य ।

तृतीयोऽध्याये द्वितीयः पादः

१. सन्ध्याधिकरणम् (सू० १-६)

(३१९) सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥१॥

सत्या मिथ्याथवा स्वप्नसृष्टिः सत्या श्रुतीरणात । जाग्रद्देशा विशिष्टत्वादीश्वरणैव निर्मिता ॥
देशकालाद्यनौचित्याद्बाधितत्वाच्च सा मृषा । अभावोक्तेर्द्वैतमात्रसाम्याज्जीवानुवादतः ॥

अतिक्रान्ते पादे पञ्चाग्निविद्यामुदाहृत्य जीवस्य संसारगतिप्रभेदः प्रपञ्चितः, इदानीं तु तस्यैव[1] अवस्थाभेदः[2] प्रपञ्च्यते । इदमामनन्ति—'स यत्र प्रस्वपिति' (बृ० ४-३-९)

सन्ध्ये सृष्टिराह हि । **उक्तवैराग्यसाध्यस्तत्त्वंपदार्थविवेको वाक्यार्थज्ञानसाधनमस्मिन् पादे निरूप्यत इति पादयोर्हेतुसाध्यभावसंगतिमाह**—अतिक्रान्त इति । **साधनविचारत्वादेवास्य पादस्या-**

तृतीय अध्याय द्वितीय पाद

इस पाद के पूर्वभाग में 'त्वम्' पदार्थ का और उत्तरभाग में 'तत्' पदार्थ का शोधन बतलाया गया है ।

पिछले पाद में पञ्चाग्नि विद्या का उदाहरण देकर जीव की गति-आगति का विचार किया गया था । अब इस द्वितीय पाद में कर्मफल से विरक्त मुमुक्षु को महावाक्यार्थज्ञान कराने के लिए **'तत्त्वम्'** पदार्थ का शोधन बतलाया जाता है । अतः पूर्वपाद के साथ इस पाद की हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति है ।

१. सन्ध्याधिकरण

१. सङ्गति—भिन्न पाद होने के कारण पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण को सङ्गति बतलाना आवश्यक नहीं ।

२. विषय—स्वप्नसृष्टि सत्य है अथवा मिथ्या ? जीव का स्वरूप इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—स्वप्नसृष्टि सत्य है अथवा मिथ्या ?

४. पूर्वपक्ष—**'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथानरथयोगान्पथः सृजते'** इस प्रमाणभूत श्रुति के आधार पर स्वप्नसृष्टि को सत्य ही मानना चाहिए । जाग्रद् देश के समान ही स्वप्न भी ईश्वर द्वारा निर्मित होने से सत्य ही है ।

५. सिद्धान्त—शरीर के भीतर सूक्ष्म नाड़ियों में दीखने वाले स्वप्नदृश्य का होना उचित नहीं जान पड़ता और जगने पर स्वप्नदृश्य का बाध भी हो जाता है । साथ ही **'न तत्र रथाः'** इस श्रुति से स्वप्न में रथादि का अभाव भी बतलाया गया है । द्वैतमात्र की समानता को लेकर जीव का अनुवाद किया गया है अतः स्वप्न का स्रष्टा ईश्वर नहीं है, वह तो वासनामय जीव के द्वारा कल्पित है ।

सन्ध्ये सृष्टिराह हि (ललिता)

तत्त्व पदार्थ का विवेक वैराग्यसाध्य है, इसीलिए पिछले पाद में पञ्चाग्नि विद्या का उदाहरण देकर जीव की संसारगति के भेद-प्रभेद का विस्तार से वर्णन किया गया है । अब उसी जीव के

१. जीवस्यैवेत्यर्थः । २. स्वप्नादि ।

इत्युपक्रम्य 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४-३-१०) इत्यादि। तत्र संशयः—किं प्रबोध इव स्वप्नेऽपि 'पारमार्थिकी सृष्टि-राहोस्विन्मायामयीति। तत्र तावत्प्रतिपद्यते संध्ये तथ्यरूपा सृष्टिरिति। संध्यमिति स्वप्नस्थानमाचष्टे वेदे प्रयोगदर्शनात् 'संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' (बृ० ४-३-९) इति। द्वयोर्लोकस्थानयोः प्रबोधसंप्रसादस्थानयोर्वा संधौ भवतीति संध्यम्। तस्मिन्संध्ये स्थाने

स्मिन्नध्याये संगतिः। 'अस्मिन् पादे 'न स्थानतोऽपि' इत्यतः 'प्रागुद्देश्यत्वेन प्रथमं जिज्ञासितत्वंपदार्थो-'ऽवस्थाद्वारा विविच्यते, तदारभ्यापादसमाप्तेर्विधेयतत्पदार्थविवेकः, तत्र पूर्वं गत्यागतिचिन्तया जाग्रद-वस्था निरूपिता तदनन्तरभाविनीं स्वप्नावस्थां श्रुत्युक्तां विषयीकृत्य तत्र स्वप्ने रथादिसृष्टयुक्ते-स्तदभावोक्तेश्च संशयं वदन् पूर्वपक्षसूत्रं योजयति—तत्र संशय इत्यादिना। स्वप्नरथादयो जाग्रद्रथा-दिवत् व्यावहारिकसत्ताका उत शुक्तिरजतवत् प्रातीतिका इति संशयार्थः। आरम्भणाधिकरणे प्रपञ्चस्य पारमार्थिकत्वनिषेधादिति मन्तव्यम्। अत्र पूर्वपक्षे जाग्रद्वत् स्वप्नाज्जीवस्य विवेकासिद्धिः। सिद्धान्ते प्रातीतिकदृश्यसाक्षितया विवेकात् स्वयंज्योतिष्ट्वसिद्धिरिति फलम्। 'मुमूर्षोः सर्वेन्द्रियोप-संहारादेतल्लोकाननुभवे सति वासनामात्रेण इमं लोकं स्मरतः कर्मबलाद्धृदये मानसपरलोकस्फूर्ति-रूपः स्वप्नो भवति, सोऽयं लोकद्वयसन्धौ भवतीति संध्यः स्वप्नः। तथाच श्रुतिः—'तस्मिन् संध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यति इदं च परलोकस्थानं च' इति। अयं स्वप्नः कादाचित्क इत्यरुच्या नित्यस्वप्नस्य प्रबोधसंप्रसादसंधिभवत्वमुक्तम्। अन्ये तु मर्त्यचक्षुराद्यजन्यरूपादिसाक्षात्कारवत्त्वं परलोकलक्षणं, दैवचक्षुराद्यजन्यतद्वत्त्वं मर्त्यलोकलक्षणं च स्वप्नेऽस्तीति लक्षणतो लोकद्वयस्पर्शित्वात्

स्वप्नादि अवस्थाविशेष का विस्तार से वर्णन किया जाता है। तत्त्वं पदार्थ का विवेक वाक्यार्थज्ञान का कारण है जिसका निरूपण इस पाद में किया जाता है, अतः पिछले पाद के साथ इस पाद की साध्य-साधनभाव सङ्गति है। इस पाद में 'न स्थानतोऽपि' इस सूत्र से पूर्व उद्देश्यरूप से पहले जिज्ञासित त्वम् पदार्थ का विचार किया जाता है जो चार अधिकरणों में विभक्त है, तत्पश्चात् पादसमाप्तिपर्यन्त तत् पदार्थ का विवेक कराया जायेगा। स्वप्न अवस्था के प्रसङ्ग में यह मन्त्र है 'वह जीव जहाँ सोता है' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'स्वप्न में न रथ होते हैं, न रथ के घोड़े होते हैं और न मार्ग ही होता है किन्तु रथ, रथ के घोड़ों और मार्गों की सृष्टि कर लेता है' इत्यादि वाक्य कहे गये हैं। वहाँ पर संशय होता है कि जैसे जाग्रदवस्था में व्यावहारिकी सृष्टि है वैसे ही स्वप्न में भी व्यावहारिकी सृष्टि है अथवा मायामयी है? ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष सूत्र में कहा जाता है कि स्वप्नावस्था में सृष्टि तथ्यरूपा है। स्वप्नस्थान को सन्ध्य शब्द से कहा जाता है क्योंकि 'तृतीय स्वप्नस्थान सन्ध्य है' ऐसा वेद में प्रयोग देखा जाता है। दो लोक के अथवा जाग्रत् एवं सुषुप्ति दो स्थान के मध्य में जो होता है, उस स्वप्न को सन्ध्य कहते हैं। उस स्वप्नावस्था में होने वाली सृष्टि को व्यावहारिकी ही माननी

१. व्यावहारिकीत्यर्थः। २ ब्र.सू. ३-२-११। ३. तत्त्वमसीत्यत्र त्वंपदार्थमुद्दिश्य तत्पदार्थो विधीयत इत्यतस्त्वेव त्वंपदार्थस्योद्देश्यत्वम्। ४. स्वप्नादि। ५. मरणोन्मुखस्य।

(३२०) निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥२॥

तथ्यरूपैव सृष्टिर्भवितुमर्हति । कुतः ? यतः प्रमाणभूता श्रुतिरेवमाह 'अथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४-३-१०) इत्यादि। स हि कर्तेति चोपसंहारादेवमेवावगम्यते ॥१॥

अपि चैके शाखिनोऽस्मिन्नेव संध्ये स्थाने कामानां निर्मातारमात्मानमामनन्ति—'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' (क० ५-८) इति । पुत्रादयश्च तत्र कामा अभिप्रेयन्ते काम्यन्त इति । ननु कामशब्देनेच्छाविशेषा एवोच्येरन् । न । 'शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व' (क० १-२३) इति प्रकृत्यान्ते 'कामानां त्वा कामभाजं करोमि' (क० १-२४) इति प्रकृतेषु तत्र तत्र पुत्रादिषु कामशब्दस्य प्रयुक्तत्वात् । प्राज्ञं चैनं निर्मातारं प्रकरणवाक्यशेषाभ्यां प्रतीमः । प्राज्ञस्य हीदं प्रकरणम् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २-१४) इत्यादि । तद्विषय एव च वाक्यशेषोऽपि—'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन' (क० ५-८) इति । प्राज्ञकर्तृका च सृष्टि-

---

नित्यस्वप्नस्यैव लोकद्वयसंध्यत्वं ग्रामद्वयस्पर्शिमार्गस्य तत्संध्यत्ववदिति व्याचक्षते । न केवलं श्रुत्या स्वप्नार्थानां व्यावहारिकसत्यत्वं किंतु 'सकर्तृकत्वादपीत्याह—स हि कर्तेति ॥१॥

किंच स्वप्नार्थाः सत्याः, प्राज्ञनिर्मितत्वात्, आकाशादिवदिति सूत्रार्थमाह—अपि चेत्यादिना । रूढिमाशङ्क्य प्रकरणान्निरस्यति—नन्वित्यादिना । यः सुप्तेषु निर्व्यापारेषु करणेषु जागर्ति तदेव शुक्रं

चाहिए क्योंकि प्रमाणभूत श्रुति ने 'रथ, रथ के घोड़ों और मार्गों की सृष्टि कर लेता है' इस वाक्य द्वारा कहा है । साथ ही उपसंहार में यह भी कहा है कि 'उसका कर्ता वही है' अतः उपसंहार को देखते हुए भी स्वप्नसृष्टि व्यावहारिकी जान पड़ती है ॥१॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च (ललिता)

इसके अतिरिक्त एक शाखावाले इसी स्वप्नावस्था में प्रतीत होने वाले भोगों का निर्माता आत्मा को ही कहा है—'जो चक्षुरादि इन्द्रियों के सो जाने पर जगता रहता है वह पुरुष भोगों का निर्माता है ।' इस श्रुति में **काम्यन्ते इति कामाः** इस व्युत्पत्ति के आधार पर जो इच्छा के विषय पुत्रादि हैं उन्हीं को काम पद से बतलाना अभीष्ट है । शङ्का—काम शब्द से दाम्पत्यसुखाभिलाषाविशेष को ही कहा गया है न कि पुत्रादि भोग्यवस्तु को । समाधान (पूर्वपक्ष)—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि कठ श्रुति में 'सौ सौ वर्ष की आयुवाले पुत्र एवं पौत्रों को माँग ले' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'इन भोगों के मध्य में मैं तुझे यथेष्ट भोगनेवाला बना देता हूँ' इस प्रकृतवाक्य में वहाँ पर पुत्रादि अर्थ में काम शब्द का प्रयोग किया गया है । अतः प्रकरण एवं वाक्यशेष के आधार पर हम स्वप्नभोग्य के निर्माता ईश्वर को मानते हैं क्योंकि नचिकेता ने कहा है—'जो धर्म और अधर्म से भिन्न है उसे आप हमें बतलायें' यह प्रकरण परमेश्वर का ही है, उसी के सम्बन्ध में 'वही शुद्ध है वह ब्रह्म है और वही अमृत कहा गया है । उसी में सब भूरादि लोक आश्रित हैं, उसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकता' यह वाक्यशेष भी है । इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर की बनाई हुई सृष्टि तथ्यरूपा है, जैसे जाग्रत्

---

१. घटादिवत् । २. प्राज्ञः परः सर्वेश्वरः ।

(३२१) मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥३॥

स्तथ्यरूपा समधिगता जागरिताश्रया तथा स्वप्नाश्रयापि सृष्टिर्भवितुमर्हति । तथाच श्रुतिः—'अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्तः' (बृ० ४-३-१४) इति स्वप्नजागरितयोः समानन्यायतां श्रावयति । तस्मात्तथ्यरूपैव संध्ये सृष्टिरिति ॥२॥

एवं प्राप्ते प्रत्याह—

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति यदुक्तं संध्ये सृष्टिः पारमार्थिकीति । मायैव संध्ये सृष्टिर्न परमार्थगन्धोऽप्यस्ति । कुतः? कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् । नहि कात्स्न्र्येन परमार्थवस्तुधर्मेणाभिव्यक्तस्वरूपः स्वप्नः । किं पुनरत्र कात्स्न्र्यमभिप्रेतं देशकालनिमित्तसंपत्तिरबाधश्च । नहि परमार्थवस्तुविषयाणि देशकालनिमित्तान्यबाधश्च स्वप्ने

स्वप्रकाशं ब्रह्मेत्यर्थः । स्वप्नस्य जाग्रदर्थैः समानदेशत्वश्रुतेरभेदश्रुतेश्च सत्यत्वे तात्पर्यमित्याह—अथो खल्वाहुरिति ॥२॥

स्वप्नरथादयः प्रातीतिका जाग्रद्रथादौ क्लृप्तसामग्रीं विना दृष्टत्वाच्छुक्तिरूप्यादिवदिति सिद्धान्तयति—तुशब्द इत्यादिना । चिन्मात्रनिष्ठाऽविद्या चित्त्वावच्छेदेन जीवेऽपि स्थिता रथाद्याकारा मायेति सूत्रभाष्ययोरुक्तमायाविद्ययोरभेदज्ञापनाय मात्रपदेन तु सति प्रमातर्यबाध्यत्वरूपस्य व्यावहारिकसत्यत्वस्य निरास उक्तः । कात्स्न्र्यमत्र जाग्रति या क्लृप्तसामग्री, तज्जन्यत्वं परमार्थवस्तुनो

सृष्टि तथ्यरूपा है वैसे ही स्वप्नाश्रितसृष्टि व्यावहारिकी और तथ्यरूपा है । ऐसी ही अन्य श्रुति भी है 'इस स्वप्नपुरुष का देश जाग्रद् देश ही है, ऐसा अनुभवी पुरुषों ने कहा है क्योंकि जिन वस्तुओं को जाग्रत में यह जीव देखता है उन्हीं को स्वप्न में भी पुनः देखता है' इस वाक्य द्वारा स्वप्न एवं जाग्रदवस्था में समानता सुनी जाती है । अतः स्वप्नावस्था में दीखने वाली सृष्टि तथ्यरूपा ही है ॥२॥

मायामात्रं तु कात्स्न्यनानभिव्यक्तस्वरूपतत्वात् (ललिता)

स्वप्नरथादि प्रातिभासिक है क्योंकि जाग्रत्रथादि के लिए क्लृप्त सामग्री के बिना ही वे देखे जाते हैं, शुक्तिरजत की भाँति इस अनुमान के द्वारा पूर्वपक्षी के दिए हुए अनुमान को बाँधने के लिए सिद्धान्ती ने प्रत्युत्तर सूत्र बनाया जिसमें 'तु' शब्द पूर्वपक्ष का व्यावर्तक है अर्थात् आप ने स्वप्न की सृष्टि जो पारमार्थिकी कही थी, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि स्वप्न की सृष्टि मायामयी ही है, उसमें परमार्थ की गन्ध भी नहीं है । जाग्रत् में रथादिनिर्माण के लिए जो देश, काल, निमित्त एवं सामग्री अभीष्ट है; उनमें से एक भी स्वप्न के रथादिनिर्माण में सहकारीरूप से नहीं देखे जाते हैं । सम्पूर्ण व्यावहारिकी वस्तुनिर्माणसामग्री से स्वप्न की सृष्टि अभिव्यक्त नहीं होती, इस सूत्र में कात्स्न्र्य पद से कौन सा अर्थ अभिप्रेत है, ऐसा प्रश्न होने पर भाष्य में कहा गया है कि देश, काल एवं निमित्त की प्राप्ति तथा बाधाभाव, ये सब पारमार्थवस्तुनिर्माण के लिए सर्वसम्मत सामग्री माने गये हैं किन्तु व्यावहारिकी वस्तु के साधन देश, काल, निमित और अबाध स्वप्न में सम्भव नहीं है । सर्वप्रथम

१. स्वप्नस्य । २. व्यावहारिकीत्यर्थः ।

संभाव्यन्ते । न तावत्स्वप्ने रथादीनामुचितो देशः संभवति । नहि संवृते देहदेशे रथादयोऽवकाशं लभेरन् ।

स्यादेतत् । बहिर्देहात्स्वप्नं द्रक्ष्यति देशान्तरितद्रव्यग्रहणात् । दर्शयति च श्रुतिर्बहिर्देहात्स्वप्नम्—'बहि[1] कुलायाद[2] मृतश्चरित्वा । स ईयतेऽमृतो यत्र[3] कामम्' (बृ० ४-३-१२) इति स्थितिगतिप्रत्ययभेदश्च नानिष्क्रान्ते जन्तौ सामञ्जस्यमश्नुवीतेति । नेत्युच्यते । नहि सुप्तस्य जन्तोः क्षणमात्रेण योजनशतान्तरितं देशं पर्येतु विपर्येतुं च ततः सामर्थ्यं संभाव्यते । क्वचिच्च प्रत्यागमनवर्जितं स्वप्नं श्रावयति कुरुष्वहमद्य शयानो निद्रयाऽभिप्लुतः स्वप्ने पञ्चालानभिगतश्चास्मिन्प्रतिबुद्धश्चेति । देहाच्चेदपेयात्पञ्चालेषु प्रतिबुध्येत तानसावभिगत इति कुरुष्वेव तु प्रतिबुध्यते । येन चायं देहेन देशान्तरमश्नुवानो मन्यते तमन्ये पार्श्वस्थाः शयनदेश एव पश्यन्ति । यथाभूतानि चायं देशान्तराणि स्वप्ने पश्यति न तानि तथाभूतान्येव भवन्ति । परिधावंश्चेत्पश्येज्जाग्रद्वद्वस्तुभूतमर्थमाकलयेत् । दर्शयति च

जाग्रदर्थस्य कार्यस्य धर्मः । सत्यत्वव्यापकः तदभावं स्वप्ने विवृणोति—न तावदित्यादिना । संवृते सङ्कीर्णे ।

पर्येतुं गन्तुं, विपर्येतुमागन्तुं, श्रावयति प्रबुद्धो जनः, पार्श्वस्थान्प्रतीति शेषः । एतत्स्वप्नं यथा

रथादि के लिए जो उचित देश चाहिए वह स्वप्न में नहीं है, सङ्कीर्ण देह की सूक्ष्म नाड़ि में रथादि अवकाश प्राप्त नहीं कर सकते ।

पूर्वपक्ष—ऐसा मान लिया जाय कि देह से बाहर निकलकर देशान्तरित द्रव्य का ग्रहण होने से जीवात्मा उस देश में जाकर स्वप्न देखेगा । श्रुति भी देह से बाहर जाकर स्वप्न देखने को बात कहती है—'देह से बाहर निकलकर अविनाशी आत्मा जहाँ-कहीं भी घूमकर पुनः अपने स्थान पर लौट आता है ।' स्थित और गति की प्रतीतिविशेष शरीर से निकले बिना जीव में घटता नहीं है, इसलिए देह से बाहर निकलकर जीवात्मा स्वप्न देखता है, ऐसा मानना उचित होगा । सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि सोया हुआ जीव क्षणमात्र में सैकड़ों जोजन दूर देश में जाता है और वहाँ से लौट आता है, ऐसा सामर्थ्य उस सुषुप्त पुरुष में सम्भव नहीं है । और कहीं-कहीं पर प्रत्यागमन-रहित स्वप्न को लोक बतलाता है–'कुरुदेश में मैं सोया हुआ निद्रा से व्याप्त था उस समय स्वप्न में पञ्चाल देश में गया हुआ था, पर जगने पर कुरुदेश में ही अपने को पाया ।' यदि देह से निकलकर पञ्चाल में गया होता तो पञ्चाल में ही उस व्यक्ति को जगना चाहिए था किन्तु वह पूर्व के शयन-स्थान कुरु देश में ही जगता है और जिस देह से वह देशान्तर का अनुभव करता हुआ मानता है उस देह को निकटवर्ती लोक शयनदेश में ही देखते हैं । साथ ही यह सुषुप्त पुरुष उस स्वप्नावस्था में देशान्तर को जिस रूप में देखता है वह देशान्तर वस्तुतः वैसा नहीं है । और यदि वह दौड़ता हुआ देशान्तर में पदार्थों को देखेगा जैसा कि जाग्रदवस्था में देशान्तरीय वस्तु को देखता है, तब तो वहाँ के वास्तविक व्यावहारिक वस्तु को ही देखेगा । किन्तु विचार करने पर यह अर्थ सिद्ध नहीं होता ।

---

१. देहात् । २. आत्मा । ३. विहरतीत्यर्थः । ४. यथेष्टम् ।

श्रुतिरन्तरेव देहे स्वप्नम्——'स यत्रैतत्स्वप्नया चरति' इत्युपक्रम्य 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' (बृ० २-१-१८) इति । अतश्च श्रुत्युपपत्तिविरोधाद्बहिष्कुलायश्रुतिर्गौणी व्याख्यातव्या बहिरिव कुलायादमृतश्चरित्वेति । यो हि वसन्नपि शरीरे न तेन प्रयोजनं करोति स बहिरिव शरीराद्भवतीति । स्थितिगतिप्रत्ययभेदोऽप्येवं सति विप्रलम्भ एवाप्युपगन्तव्यः । कालविसंवादोऽपि च स्वप्ने भवति रजन्यां सुप्तो वासरं भारते वर्षे मन्यते । तथा मुहूर्तमात्रप्रवर्तिनि स्वप्ने कदाचिद्बहून्वर्षपूगानतिवाहयति । निमित्तान्यपि च स्वप्ने न बुद्धये[1] कर्मणे वोचितानि विद्यन्ते । करणोपसंहाराद्धि नास्य रथादिग्रहणाय चक्षुरादीनि सन्ति । रथादिनिर्वर्तनेऽपि कुतोऽस्य निमेषमात्रेण सामर्थ्यं दारूणि वा, बाध्यन्ते चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः प्रबोधे । स्वप्न एव चैते सुलभबाधा भवन्ति । आद्यन्तयोर्व्यभिचारदर्शनात् । रथोऽयमिति हि कदाचित्स्वप्ने निर्धारितः क्षणेन मनुष्यः

स्यात्तथा यत्र काले स्वप्नयया वृत्त्या चरति तदा स्वशरीरे यथेष्टं चरतीत्यर्थः । वहिरिवेति । कुलायाद्देहात् बहिरिवामृत आत्मा चरित्वा यत्र कामं यथेष्टमीयते विहरतीत्यर्थः । गुणमाह—यो हीति । देहाभिमानहीनत्वगुणेन बहिष्ठवद्देहस्थोऽपि बहिरित्युक्त इत्यर्थः । एवं सति श्रुतियुक्तिभ्यां अन्तरेव स्वप्ने सतीत्यर्थः । विप्रलम्भो विभ्रमः । योग्यदेशाभावमुक्त्वा कालाभावमाह—कालेति । अत्र रात्रिसमयेऽपि केतुमालादिवर्षान्तरे[2] वासरो भवति इति भारत इत्युक्तम् । पूर्वपक्षानुमानानां जाग्रदर्थ-दृष्टान्ते क्लृप्तसामग्रीजन्यत्वमबाधयोग्यत्वं चोपाधिरिति सूत्रतात्पर्यम् ॥३॥

इसके अतिरिक्त श्रुति शरीर के भीतर ही स्वप्न को बतलाती है—'जिस समय स्वप्नवृत्ति से वह स्वप्नद्रष्टा विचरण करता है, वह अपने शरीर के भीतर ही यथेष्ट विचरण करता है' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भ करके 'अपने शरीर में ही उस समय स्वप्नपुरुष यथेष्ट घूमता है' इस वाक्य द्वारा भी शरीर के भीतर ही विहरण बतलाया गया है । अतः श्रुति और युक्ति से विरोध होने के कारण '**बहिष्कुलाय**' यह श्रुति गौणी समझनी चाहिए जिसका तात्पर्य है कि अमर जीव शरीर से बाहर निकलकर विचरण करता सा प्रतीत होता है । जो शरीर में रहता हुआ भी उस शरीर से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करता है वह शरीर से बाहर गया सा माना जाता है । स्थिति-गति-प्रतीतिविशेष भी इस प्रकार भ्रम ही समझना चाहिए । स्वप्नावस्था में देश की भाँति काल का भी विसंवाद देखा जाता है भारत वर्ष में रात्रि में सोया हुआ पुरुष भारतवर्ष में ही दिन मानता है, वैसे ही मुहूर्त-मुहूर्तमात्र में होने वाले स्वप्न को अनेक वर्ष बीता जैसा अनुभव करता है । स्वप्न में ज्ञान तथा कर्म के लिए उचित निमित्त भी नहीं दीखते हैं क्योंकि सभी इन्द्रियों का सुषुप्त पुरुष में उपसंहार हो जाता है, उस समय रथादि को देखने के लिए चक्षुरादि इन्द्रियाँ नहीं होती और रथादिनिर्माण के लिए क्षणमात्र में इतनी शक्ति उसमें कहाँ से आ गयी, काष्ठादि सामग्री भी तो उसके पास नहीं है । स्वप्न में देखे गये रथादि जागते ही बाधित भी तो हो जाते हैं । इतना ही नहीं, स्वप्न में ही वे बाधित देखे जाते हैं क्योंकि आदि और अन्त में उनका व्यभिचार दिखाई पड़ता है अर्थात् यह रथ है ऐसा कभी निश्चय किया पर क्षणमात्र में वही रथ मनुष्य बन जाता है अथवा यह मनुष्य है ऐसा निश्चय किया तो क्षणमात्र

१. ज्ञानाय । २. वर्षे ।

(३२२) सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥४॥

सम्पद्यते मनुष्योऽयमिति वा निर्धारितः क्षणेन वृक्षः । स्पष्टं चाभावं रथादीनां स्वप्ने श्रावयति शास्त्रम्—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति' (बृ० ४-३-१०) इत्यादि । तस्मान्मायामात्रं स्वप्नदर्शनम् ॥३॥

मायामात्रत्वात्तर्हि न कश्चित्स्वप्ने परमार्थगन्धोऽस्तीति । नेत्युच्यते । सूचकश्च हि स्वप्नो भवति भविष्यतोः साध्वसाधुनोः । तथाहि श्रूयते—'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने' इति (छा० ५-२-९) । तथा 'पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्येवमादिभिः स्वप्नैरचिरजीवित्वमावेद्यत इति श्रावयति । आचक्षते च स्वप्नाध्यायविदः—'कुञ्जरारोहणादीनि स्वप्ने धन्यानि खरयानादीन्यधन्यानि' इति । मन्त्रदेवताद्रव्यविशेषनिमित्ताश्च केचित्स्वप्नाः 'सत्यार्थगन्धिनो भवन्तीति मन्यन्ते । तत्रापि भवतु नाम सूच्यमानस्य वस्तुनः सत्यत्वं, सूचकस्य तु स्त्रीदर्शनादेर्भवत्येव वैतथ्यं बाध्यमानत्वादित्यभिप्रायः । तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम् ।

स्वप्नस्य भ्रान्तिमात्रत्वे तत्सूचितोऽप्यर्थः सत्यो न स्यादिति शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रान्तरं व्याचष्टे—मायेत्यादिना । मन्त्रेण देवतानुग्रहेणौषधिसेवया वा स्वप्नाः सत्यसूचकाश्चेत् सत्याः स्युरित्यत आह—तत्रापि भवतु नामेति । सत्यहर्षहेतोरपि शुक्तिरूप्यस्य सत्यत्वादर्शनादिति भावः ।

में वही वृक्षरूप में दीखने लग जाता है । इसके अतिरिक्त स्वप्न में 'न वहाँ रथ हैं, न घोड़े हैं और न मार्ग ही है' यह शास्त्र स्वप्नावस्था में रथादि का अभाव भी बतलाता है । अतः स्वप्नदर्शन मायामात्र है ॥३॥

सूचकश्च हि श्रुतेराक्षते च तद्विदः (ललिता)

स्वप्न को भ्रममात्र मानोगे तो उससे सूचित अर्थ भी सत्य नहीं हो सकेगा, इस शङ्का के उत्तररूप में अग्रिम सूत्र कहते हैं कि सिद्धान्ती ने स्वप्न को मायामात्र कहा था, तब तो स्वप्न में परमार्थ की कुछ गन्ध भी नहीं है । यह शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि स्वप्न को हम भावी भले-बुरे अर्थ का सूचक मानते हैं । उसी प्रकार 'जब सकाम कर्म करते समय स्वप्न में वह यजमान सौभाग्यवती स्त्री को देखता है तो वह अपने कर्म को समृद्ध समझे, उस स्वप्न दर्शन में अपने कर्म को सफल समझे' ऐसी श्रुति भी है और 'जब स्वप्न में काले दाँत वाले पुरुष को देखता है तो वह इसको मार डालता है' इन स्वप्नबोधक वाक्यों द्वारा अचिरजीवत्व का बोध भी शास्त्र कराता है । स्वप्नशास्त्र के तत्ववेत्ता लोग कहते हैं कि 'स्वप्न में हस्ति पर आरोहणादि मंगलप्रद है और गर्दभारोहण आदि अमंगलसूचक है ।' ऐसे ही कुछ स्वप्न मन्त्रजाप, देवता अनुग्रह एवं द्रव्यविशेष के निमित्त से भी होते हैं । वे सत्यार्थगन्धी होते हैं, ऐसा भी स्वप्नाध्यायी विद्वान् मानते हैं । वहाँ भी सूच्यमान वस्तु में सत्यत्व मान भी लिया जाय, किन्तु सूचक स्त्रीदर्शनादि में तो मिथ्यात्व ही है क्योंकि उनका बाध देखा जाता है । अतः स्वप्न में मायामात्रत्व सिद्ध हुआ ।

---

१. सूचकाः ।

यदुक्तम् 'आह हि' इति तदेवं सति भाक्तं व्याख्यातव्यम् । यथा लाङ्गलं 'गवादीनुद्वहतीति निमित्तमात्रत्वादेवमुच्यते न तु प्रत्यक्षमेव लाङ्गलं गवादीनुद्वहति । एवं निमित्तमात्रत्वात्सुप्तो रथादीन्सृजते स हि कर्तेति चोच्यते । न तु प्रत्यक्षमेव सुप्तो रथादीन्सृजति । निमित्तत्वं त्वस्य रथादिप्रतिभाननिमित्तमोदत्रासदर्शनात्त 'न्निमित्तभूतयोः सुकृतदुष्कृतयोः कर्तृत्वेनेति वक्तव्यम् । अपिच जागरिते विषयेन्द्रियसंयोगादादित्यादिज्योतिर्व्यतिकराच्चात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं द्रष्टुर्दुर्विवेचनमिति तद्विवेचनाय स्वप्न उपन्यस्तः । तत्र यदि रथादिसृष्टिवचनं श्रुत्या नीयेत तदा स्वयंज्योतिष्ट्वं न निर्णीतं स्यात् । तस्माद्रथाद्यभाववचनश्रुत्या रथादिसृष्टिवचनं तु भक्त्येति व्याख्येयम् । एतेन 'निर्माणश्रवणं व्याख्यातम् ।

यदप्युक्तम्––'प्राज्ञमेनं निर्मातारमामनन्ति' इति । तदप्यसत् । श्रुत्यन्तरे 'स्वयं विहत्य

यथा कृषिद्वारा लाङ्गलस्य गवादिजीवननिमित्तत्वं तथा स्वप्नभोक्तुरदृष्टद्वारा स्वप्नसृष्टिनिमित्तत्वं न तु कुम्भं प्रति कुम्भकारस्येव साक्षात् स्वप्नकर्तृत्वं सामग्र्यभावबाधयोरुक्तत्वादित्याह—यदुक्तमित्यादिना । तथा च स्वप्नस्य सकर्तृकत्वं मुख्यं नास्तीति हेत्वसिद्धिरिति भावः । श्रुतितात्पर्यविरोधाच्च न स्वप्नसत्यतेत्याह—अपिचेति । व्यतिकरः संकरः, श्रुत्या तत्परतयेत्यर्थः । जागरितादविशेषादिति भावः । फलितमाह—तस्मादिति । एतेनेति । भाक्तत्वेनेत्यर्थः ।

द्वितीयसूत्रोक्तप्राज्ञकर्तृकत्वहेतुरपि स्वप्नस्य किं श्रुतिसिद्धः उत प्राज्ञस्य सर्वेश्वरत्वात् सिद्धः, नाद्य इत्याह—यदप्युक्तमित्यादिना । स्वयं विहत्य जाग्रद्देहं निश्चेष्टं कृत्वा, स्वयं वासनया देहं निर्माय,

और जो आप ने इस पाद के प्रथम सूत्रस्थ 'आह हि' इस वाक्यांश द्वारा कहा था तो इस प्रकार उसे भी गौण मान लेना चाहिए। जैसे हल गवादि का निर्वाहक है, इस वाक्य में गवादि के जीवन का निमित्तमात्र हलादि को कहते हैं, न कि प्रत्यक्ष से हल गवादि का जीवन होता दीखता है अर्थात् हल से कृषि द्वारा अन्न और चारे उत्पन्न होते हैं जिनसे गवादि का जीवन चलता है। इस प्रकार गवादि के लिए हल में निर्वाहकत्व गौण माना गया है। ऐसे ही निमित्तमात्र होने के कारण सुप्तपुरुष रथादि की रचना करता है, वह बनाने वाला है ऐसा कहा जाता है। किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से सोया हुआ पुरुष रथादि की रचना करते नहीं देखा जाता है; हाँ, स्वप्नरथादि के निर्माण में वह स्वाप्नपुरुष निमित्त अवश्य है। रथादि का बोध होने पर हर्ष और भय देखे जाते हैं, इसलिए उसके निमित्तकारण पुण्य और पाप के कर्तारूप में स्वप्नद्रष्टा को निमित्त कहना चाहिए। इसके अतिरिक्त जाग्रदवस्था में विषय, इन्द्रियाँ और उनके संयोग से आदित्यादि ज्योतियों का आत्मज्योति के साथ सांकर्य हो जाता है, अतः आत्मा का स्वयंज्योतिष्ट्व को दिखलाना कठिन है; इसीलिए आत्मा के स्वयंज्योतिष्ट्व का बोध कराने हेतु स्वप्न का वर्णन किया गया है। वहाँ पर यदि रथादिसृष्टिवाचक शब्द का श्रौतार्थ लोगे तो आत्मा के स्वयंज्योतिष्ट्व का निर्णय नहीं हो सकेगा। अतः **'न तत्र रथाः'** इस रथादि के अभाववाचक श्रुति के बल से रथादि-सृष्टिकथन गौण है, ऐसा व्याख्यान कर लेना चाहिए। रथादिनिर्माणश्रुति को पूर्वोक्त भाक्तत्व के कारण गौण ही कहा गया है।

'इस चेतन परमात्मा को जगत् का निर्माता कहते हैं' इस श्रुति के बल से जो पूर्वपक्षी ने

१. निर्वहतीत्यर्थः। २. मोदादिनिमित्त। ३. सर्जनश्रवणम्।

स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति' (बृ० ४-३-९) इति जीवव्यापारश्रवणात्। इहापि 'य एष सुप्तेषु जागर्ति' (क० ५-८) इति प्रसिद्धानुवादाज्जीव एवायं कामानां निर्माता संकीर्त्यते। [1]तस्य तु वाक्यशेषेण तदेव शुक्रं तद्ब्रह्मेति जीवभावं व्यावर्त्य ब्रह्मभाव उपदिश्यते---'तत्त्वमसि' (छा० ६-९-४) इत्यादिवदिति न ब्रह्मप्रकरणं विरुध्यते। न चास्माभिः स्वप्नेऽपि प्राज्ञव्यवहारः प्रतिषिध्यते, तस्य सर्वेश्वरत्वात्सर्वास्वप्यवस्थास्वधिष्ठातृत्वोपपत्तेः [2]पारमार्थिकस्तु नायं संध्याश्रयः सर्गो [3]वियदादिसर्गवदित्येतावत्प्रतिपाद्यते। नच वियदादिसर्गस्याप्यात्यन्तिकं सत्यत्वमस्ति। प्रतिपादितं हि 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २-१-१४) इत्यत्र समस्तस्य प्रपञ्चस्य मायामात्रत्वम्। प्राक्तु ब्रह्मात्मत्वदर्शनाद्वियदादिप्रपञ्चो व्यवस्थितरूपो भवति। संध्याश्रयस्तु प्रपञ्चः प्रतिदिनं बाध्यत इति। अतो वैशेषिकमिदं संध्यस्य मायामात्रत्वमुदितम् ॥४॥

स्वेन भासा स्वीयबुद्धिवृत्त्या स्वेन ज्योतिषा स्वरूपचैतन्येन च स्वप्नमनुभवतीत्यर्थः। न केवलं बृहदारण्यके जीवस्य स्वप्नकर्तृत्वं श्रुतं किंतु काठकेऽपीत्याह—इहापीति। जीवोक्तौ ब्रह्मप्रकरणविरोध इत्यत आह—तस्य त्विति। एवं हेतोः श्रुतिसिद्धत्वं निरस्य द्वितीयमङ्गीकरोति—न चास्माभिरिति। तर्हि हेतुसिद्धेः स्वप्नस्य सत्यत्वमित्याशङ्क्य सत्यत्वं व्यावहारिकं पारमार्थिकं वेति विकल्प्य व्यवहारकाले बाधदर्शनात्, नाद्य इत्याह—पारमार्थिकस्त्विति। द्वितीये दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यमित्याह—नचेति। कस्तर्हि स्वप्नस्य जाग्रतो विशेषोऽत्र कथ्यत इत्याशङ्क्य प्रातिभासिकत्वमित्याह—प्रागिति ॥४॥

परमेश्वर को स्वप्न का स्रष्टा कहा था वह भी ठीक नहीं है क्योंकि अन्य श्रुति में 'जीव इस शरीर को निश्चेष्टकर अपनी वासना से देह का निर्माणकर अपनी ही बुद्धिवृत्ति द्वारा स्वयंज्योति आत्मा स्वप्न का अनुभव करता है' इस वाक्य द्वारा स्वप्नसृष्टि का कर्ता जीव सुना जाता है। कठ श्रुति में भी 'करणों के सो जाने पर यह जीव जागता रहता है' इस लोकसिद्ध अवस्था का अनुवादकर जीव को ही स्वप्नभोगों का निर्माता कहा गया है, किन्तु उसी जीव का उपदेश 'वह शुद्ध है, वह ब्रह्म है' इस वाक्य द्वारा जीवभाव को व्यावृत्तिकर ब्रह्मभाव का उपदेश किया गया है। जैसे 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में जीव-ब्रह्म का अभेदप्रतिपादन किया गया है वैसे ही इस कठ श्रुति में भी किया गया है, अतः ब्रह्मप्रकरणत्व का भी विरोध नहीं है। हम सिद्धान्ती स्वप्नसृष्टि में भी ईश्वरव्यापार का निषेध नहीं करते हैं, उसमें सर्वेश्वरत्व होने के कारण सभी अवस्थाओं में अधिष्ठातृत्व युक्तियुक्त सिद्ध है। किन्तु जैसे वियदादि सृष्टि व्यावहारिक है वैसी स्वप्नसृष्टि नहीं है, मेरे कहने का यह तात्पर्य है। वियदादिसृष्टि में भी आत्यन्तिक सत्यत्व (पारमार्थिकत्व) नहीं है, ऐसा हम 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इस सूत्र के भाष्य में कह आये हैं, वहाँ पर सम्पूर्ण प्रपञ्च को मायामात्र बतलाया गया है। स्वप्न और जाग्रत में अन्तर इतना ही है कि ब्रह्मात्मदर्शन से पूर्व वियदादि प्रपञ्च व्यवस्थितरूप रहता है, किन्तु स्वाप्नप्रपञ्च प्रतिदिन बाधित होता रहता है, अतः स्वप्नसृष्टि में यही मायामात्रत्वरूप विशेष बतलाया गया है ॥४॥

---

१. जीवस्य। २. व्यावहारिकास्त्वेत्यर्थः। ३. व्यतिरेकेऽयं दृष्टांतः।

(३२३) पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥५॥

[1]अथापि स्यात्परस्यैव तावदात्मनोंऽशो जीवोऽग्नेरिव विस्फुलिङ्गः। तत्रैवं सति यथाग्निविस्फुलिङ्गयोः समाने दहनप्रकाशनशक्ती भवत एवं जीवेश्वरयोरपि ज्ञानैश्वर्यशक्ती, ततश्च जीवस्य ज्ञानैश्वर्यवशात्सांकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिर्भविष्यतीति। अत्रोच्यते—सत्यपि जीवेश्वरयोरंशांशिभावे प्रत्यक्षमेव जीवस्येश्वरविपरीतधर्मत्वम्। किं पुनर्जीवस्येश्वरसमानधर्मत्वं नास्त्येव? न नास्त्येव। विद्यमानमपि तत्तिरोहितमविद्यादिव्यवधानात्। तत्पुनस्तिरोहितं सत्परमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य तिमिरतिरस्कृतेव दृक्शक्तिरौषधवीर्यादीश्वरप्रसादात्संसिद्धस्य कस्यचिदेवाविर्भवति न स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम्। कुतः?—ततो हीश्वराद्धेतोरस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ

पूर्वं क्लृप्तसामग्र्यभावात् स्वप्नो मायेत्युक्तमयुक्तं सत्यसङ्कल्पमात्रेणापि सत्यसृष्टिसंभवादिति शङ्कां कृत्वा परिहरन् सूत्रं व्याचष्टे—अथापि स्यादित्यादिना। सत्यसंकल्पस्य हि संकल्पात्सृष्टिः सत्या भवति जीवस्य त्वसत्यसंकल्पत्वं प्रत्यक्षमिति परिहारार्थः। तर्हि विरुद्धधर्मवत्त्वाज्जीवस्येश्वरत्वं[2] नास्त्येवेति शङ्कते—किमिति। नास्तीति न किंत्वावृतमस्ति तत्पुनरीश्वरप्रसादात्कस्यचिद् व्यज्यत इत्याह—न नास्तीति। विधूतध्वान्तस्य निष्पापस्य संसिद्धस्याणिमादिविशिष्टस्येत्यर्थः। ब्रह्मैवाहमिति देवं ज्ञात्वा साक्षात्कृत्य सर्वपाशानामविद्यादिक्लेशानामपहानिरपक्षयस्तद्रूपो भवति। क्षीणैश्च क्लेशै-

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ (ललिता)

यद्यपि जीव परमात्मा का ही अंश है जैसे अग्नि का अंश विस्फुलिङ्ग है। वहाँ पर अग्निविस्फुलिङ्ग में दहन एवं प्रकाशन शक्ति समान है, ऐसे ही जीव और ईश्वर में भी ज्ञान एवं ऐश्वर्य शक्ति समान ही है। ऐसी स्थिति में ऐश्वर्य के बल से जीव को साङ्कल्पिकी स्वप्नवाली रथादिसृष्टि सत्य मानी जायेगी? इस पर हम सिद्धान्ती का कहना है कि जीव और ईश्वर में अंशांशिभाव रहने पर भी ईश्वर से विपरीत धर्मत्व जीव में प्रत्यक्ष दीखता है। पूर्वपक्ष—तो क्या जीव में ईश्वरसमान धर्मत्व नहीं ही है? सिद्धान्ती—हम ऐसा नहीं कहते किन्तु ईश्वर के समान धर्मत्व जीव में होता हुआ भी अविद्या के कारण तिरोहित है, वह तिरोहित ऐश्वर्य भी परमेश्वर का ध्यान करने वाले यत्नशील किसी-किसी निष्पाप जीव में प्रकट होता है। जैसे तिमिर दोष के कारण से दृक्शक्ति तिरस्कृत होती हुई भी औषधि के बल एवं परमेश्वर की कृपा से प्रकट हो जाती है ऐसे ही संसिद्ध किसी किसी साधक में ही ईश्वराराधना के कारण ऐश्वर्य प्रकट होता है, सभी जन्तुओं में स्वभावतः प्रकट नहीं होता। अतः ईश्वराराधना के कारण से जीव को मोक्ष मिलता है, उसके अभाव में बन्धन बना रहता है अर्थात् ईश्वर को आत्मरूप से साक्षात् न करने के कारण बन्धन और आत्मरूप से साक्षात् कर लेने पर मोक्ष मिलता है। ऐसे ही 'परमेश्वर को आत्मभाव से जानकर सम्पूर्ण बन्धनों का क्षय हो जाता है, अविद्यादि

१. यद्यपि क्लृप्तसामग्र्यभावात्स्वप्नो मायेत्युक्तं तथापि इत्यर्थः। २. ईश्वरत्वम्।

(३२४) देहयोगाद्वा सोऽपि ॥६॥

भवतः । ईश्वरस्वरूपापरिज्ञानाद्बन्धस्तत्स्वरूपपरिज्ञानात्तु मोक्षः । तथाच श्रुतिः—'ज्ञात्वा-देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः । तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः' (श्वे० १-११) इत्येवमाद्या ॥५॥

कस्मात्पुनर्जीवः परमात्मांश एव संस्तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यो भवति । युक्तं तु ज्ञानैश्वर्य-योरतिरस्कृतत्वं विस्फुलिङ्गस्येव दहनप्रकाशनयोरिति । उच्यते । सत्यमेवैतत् । सोऽपि तु जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद्देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादियोगा-द्भवति । अस्ति चात्रोपमा यथाग्नेर्दहनप्रकाशनसंपन्नस्याप्यरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहिते भवतो यथा वा भस्मच्छन्नस्य । एवमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतदेहाद्यु-पाधियोगात्तदविवेकभ्रमकृतो जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावः । वाशब्दो जीवेश्वरयोरन्य-त्वाशङ्काव्यावृत्त्यर्थः ।

नन्वन्य एव जीव ईश्वरादस्तु तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यत्वात्किं देहयोगकल्पनया । नेत्युच्यते ।

एतत्कार्यजन्ममरणात्मकबन्धध्वंस इति निर्गुणविद्याफलमुक्तम् । सगुणविद्याफलमाह—तस्येति । परस्याभिमुख्येनाहंग्रहेण ध्यानाद्बन्धमोक्षापेक्षया मन्त्रोक्तहानिद्वयापेक्षया वा तृतीयं विश्वैश्वर्यमणिमादि-रूपं मर्त्यदेहपाते सति सिद्धदेहे भवति तद्भोगानन्तरमात्मज्ञानात्केवलो द्वैतशून्य आप्तकामः प्राप्तस्वयं-ज्योतिरानन्दो भवतीति क्रममुक्तिरित्यर्थः ॥५॥

उक्तैश्वर्यतिरोभावे देहाभिमानो हेतुरिति कथनार्थं सूत्रं, तन्निरस्याशङ्कामाह—कस्मादिति । सत्यावरणं नास्तीत्यङ्गीकृत्य कल्पितावरणं साधयति—उच्यत इत्यादिना ।

जीवस्येश्वरत्वमङ्गीकृत्यावरणकल्पनातो वरमन्यत्वकल्पनेत्याशङ्कामुद्भाव्य श्रुत्या निरस्यति—नन्वित्यादिना । स्वप्नेऽप्यालोकादेः सत्यत्वे जाग्रतोवात्मनः स्वप्रकाशत्वमस्फुटं स्यात्, प्रातिभासिकत्वे

क्लेश के क्षीण होते ही जन्त-मृत्यु का भी सर्वथा नाश हो जाता है। परमेश्वर के ध्यान से बन्धन एवं मोक्ष की अपेक्षा तृतीय अणिमादि सम्पूर्ण ऐश्वर्य को भी मर्त्यदेह के गिरने पर और सिद्ध देह के प्राप्त हो जाने पर जीव प्राप्त कर लेता है फिर तो वह द्वैतशून्य, आप्तकाम, स्वयंज्योति, आनन्द-स्वरूप हो जाता है।' अन्य श्रुति में क्रममुक्ति बतलायी गयी है ॥५॥

देहयोगाद्वा सोऽपि (ललिता)

पूर्वपक्ष—परमात्मा का अंश होता हुआ भी जीव तिरस्कृत ज्ञान-ऐश्वर्य वाला क्यों हो जाता है, उसमें तो चिंगारी में दहन-प्रकाशन सामर्थ्य जैसे अतिरस्कृत रहता है ऐसे ही ज्ञान-ऐश्वर्य अतिरस्कृत रहना चाहिए। सिद्धान्ती—आप का यह कथन सत्य ही है किन्तु जीव में ज्ञान-ऐश्वर्य का तिरोभाव देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं विषयवेदन आदि के साथ सम्बन्ध होने के कारण रहता है। इस विषय में यहाँ पर उदाहरण भी प्रत्यक्ष दीखता है—जैसे काष्ठागत दहन-प्रकाशन में समर्थ अग्नि में भी दहन-प्रकाशनसामर्थ्य तिरोहित रहता है अथवा भस्माच्छन्न अग्नि का दहन-प्रकाशनसामर्थ्य तिरोहित रहता है ऐसे ही अविद्याप्रत्युपस्थापित नामरूपकृत देहादि उपाधि के साथ सम्बन्ध रहने के कारण अज्ञान से उत्पन्न भ्रम का किया हुआ ज्ञान-ऐश्वर्य का तिरोभाव जीव में रहता है। सूत्रस्थ **'वा'** शब्द जीव-ईश्वर में भेदशङ्कानिवर्तक है।

पूर्वपक्ष—ईश्वर से जीव भिन्न ही है क्योंकि उसमें ज्ञान-ऐश्वर्य तिरस्कृत है ऐसा मानना चाहिए,

२. तदभावाधिकरणम् (सू० ७-८)

नाडीपुरीतद्ब्रह्माणि विकल्प्यन्ते सुषुप्तये । समुच्चितानि वैकार्थ्याद्विकल्प्यन्ते यवादिवत् ।।
समुच्चितानि नाडीभिरुपसृप्य पुरीतति । हृत्स्थे ब्रह्मणि शायंकत्रं विकल्पे स्वष्टदोषता ।।

न ह्यन्यत्वं जीवस्येश्वरादुपपद्यते 'सेयं देवतैक्षत' (छा० ६-३-२) इत्युपक्रम्य 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' (छा० ६-३-२) इत्यात्मशब्देन जीवस्य परामर्शात् । 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६-८-४) इति च जीवायोपदिशतीश्वरात्मत्वम् । अतोऽनन्य एवेश्वराज्जीवः सन्देहयोगात्तिरोहितज्ञानैश्वर्यो भवति । अतश्च न सांकल्पिकी जीवस्य स्वप्ने रथादिसृष्टिर्घटते । यदि च सांकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिः स्यान्नैवानिष्टं कश्चित्स्वप्नं पश्येत् । नहि कश्चिदनिष्टं संकल्पयते ।

यत्पुनरुक्तं जागरितदेशश्रुतिः स्वप्नस्य सत्यत्वं ख्यापयतीति न तत्साम्यवचनं सत्यत्वाभिप्रायं स्वयंज्योतिष्ट्वविरोधात् । श्रुत्यैव च स्वप्ने रथाद्यभावस्य दर्शितत्वात् । जागरितप्रभववासनानिर्मितत्वात्तु स्वप्नस्य तत्तुल्यनिर्भासत्वाभिप्रायं तत् । तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम् ।।६।।

स्वालोकेन्द्रियाद्यसत्त्वेऽप्यर्थापरोक्ष्यमात्मज्योतिष एवेति स्फुटं सिध्यति । तस्माद्देशादिसाम्यवचनं स्वप्नस्य जाग्रत्तुल्यभानाभिप्रायमित्यर्थः ।।६।।

देहसम्बन्धकल्पना से क्या लाभ है । सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वर से जीव का भिन्नत्व सिद्ध नहीं होता है । 'उस देवता ने संकल्प किया' यहाँ से प्रसंग प्रारम्भकर 'इस जीवात्मरूप से देह में प्रवेशकर' इस वाक्य द्वारा आत्म शब्द से जीव का ही बोध कराया गया है । 'वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु ! वही तू है' इस वाक्य द्वारा भी जीव के ईश्वरात्मत्व का उपदेश श्रुति करती है । अतः जीव ईश्वर से अभिन्न ही है किन्तु देह के साथ सम्बन्ध हो जाने के कारण उसका ज्ञान एवं ऐश्वर्य तिरोहित हो गया है, इसीलिए स्वप्न में जीव की रथादिसृष्टि विवेकपूर्वक साङ्कल्पिक नहीं घटती । यदि स्वप्नसृष्टि को सांकल्पिक माना जाय तो कोई भी स्वाप्न पुरुष अनिष्ट स्वप्न को नहीं देखे क्योंकि कोई अपना अनिष्ट संकल्प तो करता ही नहीं है ।

और जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि जाग्रतदेशश्रुति स्वप्न में सत्यत्व बतलाती है वह सत्यत्व वचन साम्य अर्थ का वाचक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर स्वयंज्योतिष्ट्व का विरोध होने लग जायेगा और स्वप्न में रथादि के अभाव को श्रुति ने ही बतला दिया है । वह साम्यवचन, जाग्रत् अवस्था में उत्पन्न वासना के निमित्त से स्वप्नसृष्टि होने के कारण जाग्रत् के सदृश स्वप्न भासता है, इस अभिप्राय से कहा गया है । अतः स्वप्न में मायामात्रत्व सिद्ध हुआ ।।६।।

२. तदभावाधिकरण

१. सङ्गति—जीव को स्वयंप्रकाश बतलाने के लिए स्वप्न को मिथ्या कहा गया है; अब ब्रह्म के साथ अभिन्न होने योग्य सुषुप्त पुरुष कहाँ रहता है, इस बात पर विचार इस अधिकरण में किया जायेगा । अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी एकाधिकारत्व सङ्गति है ।

---

१. साम्यवचनम् ।

(३२५) तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥७॥

स्वप्नावस्था परीक्षिता सुषुप्तावस्थेदानीं परीक्ष्यते । तत्रैताः सुषुप्तिविषयाः श्रुतयो भवन्ति । क्वचिच्छ्रूयते —'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८-६-३) इति । अन्यत्र तु नाडीरेवानुक्रम्य श्रूयते—'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (बृ० २-१-१६) इति । तथान्यत्र नाडीरेवानुक्रम्य 'तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' (कौषी० ४-१६) इति । तथान्यत्र 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' (बृ० २-१-१७) इति । तथान्यत्र

एवं बाह्यकरणोपरमे सति मनोवासनोद्दीपिताविद्याविलासात्मकं स्वप्नमात्मनः साक्षिणः स्वयंज्योतिष्ट्वार्थं विचार्य प्रतियोग्यनुयोगिभावसङ्गत्या स्वप्नावस्थमनोलयात्मिकां सुषुप्तिं विचारयति—तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च । तदेतत्स्वप्नं यथा स्यात्तथा, यत्र काले सुप्तः सुषुप्तः समस्तो निरस्तबाह्यकरणो मनोलयात्सम्यक्प्रसन्न इत्यर्थः । स्वापे नाडीस्थानमुक्त्वा नाडीपुरीततोर्नाडीपरमात्मनोश्च समुच्चयश्रुती आह—अन्यत्रेति । परमात्ममात्रश्रुतीराह—तथान्यत्रेत्यादिना । नाडीपुरीतद्-

---

२. विषय—छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में जीव का सुषुप्ति स्थान भिन्न-भिन्न बतलाया गया है, इस अधिकरण का यही विचारणीय विषय है ।

३. संशय—क्या नाड़ियों में, पुरीतत् में एवं ब्रह्म में जीव की सुषुप्ति विकल्प से होती है अथवा इन स्थानों का समुच्चय है ।

४. पूर्वपक्ष—उक्त अनेक प्रमाणभूत श्रुतियों को आधार मानकर इन स्थानों में जीव की सुषुप्ति विकल्प से माननी चाहिए । जिस प्रकार 'व्रीहिभिर्यजेत' 'यवैर्वायजेत' इन दोनों श्रुतियों के आधार पर याग का अनुष्ठान व्रीहि और जौ विकल्पपूर्वक ही होता है वैसे ही अनेक स्थानों में से जीव स्वेच्छा से कहीं भी शयन कर सकता है ।

५. सिद्धान्त—नाड़ियों से निकलकर पुरीतत् में और वहाँ से निकलकर हृदयस्थ ब्रह्म में जीव का शयन समुच्चयपूर्वक ही होता है । ब्रह्म में प्रवेश के लिये नाड़ियाँ एवं पुरीतत् तो द्वारमात्र हैं, सुषुप्ति स्थान तो एक ब्रह्म ही है । विकल्प मानने पर आठ दोष भी आते हैं ।

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च (ललिता)

स्वप्नवास्था की परीक्षा की गयी, अब सुषुप्तावस्था की परीक्षा करते हैं । सुषुप्त के विषय में ये सब श्रुतियाँ हैं—कहीं पर सुना जाता है कि 'जिस समय यह सोया हुआ पुरुष बाह्य करणों के निरस्त हो जाने से समस्त और मनोलय हो जाने के कारण सम्प्रसन्न हो स्वप्न को नहीं जानता है उस समय वह नाड़ियों में प्रविष्ट हो जाता है ।' किन्तु अन्यत्र 'उन[1] नाड़ियों से निकलकर पुरीतत् में सोता है' इस वाक्य द्वारा नाड़ियों का अनुक्रमणकर पुरीतत् में जीव का शयन बतलाया गया है । वैसे ही अन्यत्र भी नाड़ियों का ही अनुक्रमणकर 'तब उस समय नाड़ियों में जीव होता है जब सोया हुआ वह किसी स्वप्न को नहीं देखता, इसीलिए प्राणरूप परमात्मा में अभिन्न हो जाता है' इस वाक्य द्वारा प्राण में जीव का शयन बतलाया गया है । उसी प्रकार अन्यत्र भी 'जो यह हृदय के भीतर आकाश है

---

१. नाडीषु । २. परमात्मनि ।

'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति 'स्वमपीतो भवति' (छा० ६-८-१) इति। तथा 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृ० ४-३-२१) इति च । तत्र संशयः— किमेतानि नाड्यादीनि परस्परनिरपेक्षाणि भिन्नानि सुषुप्तिस्थानान्याहोस्वित्परस्परापेक्षयैकं सुषुप्तिस्थानमिति ।

किं तावत्प्राप्तं भिन्नानीति । कुतः ? एकार्थत्वात् । नह्येकार्थानां क्वचित्परस्परापेक्षत्वं दृश्यते व्रीहियवादीनाम् । नाड्यादीनां त्वेकार्थता सुषुप्तौ दृश्यते—नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८-६-३), 'पुरीतति शेते' (बृ० २-१-१९) इति च तत्र तत्र सप्तमीनिर्देशस्य तुल्यत्वात् । ननु नैवं सति सप्तमीनिर्देशो दृश्यते—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६-८-१) इति । नैष दोषः । तत्रापि सप्तम्यर्थस्य गम्यमानत्वात् । वाक्यशेषो हि 'तत्रायतनैषी जीवः सदुपसर्पति' इत्याह—'अन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते'

ब्रह्मसु सप्तमीश्रुतेः समुच्चयश्रुतेश्च संशयमाह—तत्रेति ।

पूर्वपक्षे स्थानविकल्पाज्जीवस्य ब्रह्मैक्यानिर्णयः, सिद्धान्ते नाडीभिः पुरीततं गत्वा तर्हि ब्रह्मण्येव शेत इति समुच्चयात् तन्निर्णय इति विवेकः । एकपुरोडाशार्थत्वं व्रीहियवयोर्दृष्टं नाड्यादीनामेकस्मिन् स्वापरूपार्थे निरपेक्षस्थानत्वं तु कुत इत्यत आह—नाड्यादीनां चेति । सति ब्रह्मणि तृतीयाश्रुतेर्न सप्तमीति शङ्कार्थः । आयतनशब्दात्सप्तम्यर्थः आधारत्वं गम्यत इत्याह-नैष दोष इति । अन्यत्रावस्थाद्वये श्रान्तो जीवो विश्रान्तिस्थानं प्राणाख्यं सद्ब्रह्मोपसर्पति सुषुप्तावित्यर्थः । सप्तमीश्रुत्या निरपेक्षाधारत्वभानाद्विकल्प आस्थेयः । कदाचित्समुच्चित्यापि नाड्यादीनां स्थानत्वमिति न समुच्चयश्रुतिविरोध इति पूर्वपक्षार्थः ।

उसमें जीव सोता है' इस वाक्य द्वारा तथा 'हे सोम्य ! उस समय सत् के साथ जीव सम्पन्न हो जाता है और आत्मस्वरूपापन्न हो जाता है' एवं 'चेतन परमात्मा के साथ अभिन्न होता हुआ जीव न बाह्य किसी वस्तु को जानता है, न आन्तर वस्तु को जानता है' इन वाक्यों द्वारा भी परमात्मा में ही जीव का शयन सुना जाता है इसलिए वहाँ पर यह संशय होता है कि ये नाड्यादि परस्पर भिन्न सुषुप्ति स्थान हैं अथवा परस्पर की अपेक्षा से एक सुषुप्ति स्थान है।

इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि ये सभी स्थान परस्पर निरपेक्ष एवं भिन्न हैं क्योंकि सभी का प्रयोजन एक ही है, '**व्रीहिभिर्यजेत**', '**यवैर्वा यजेत**' एक प्रयोजन वाले व्रीहि और यव में कहीं भी परस्परापेक्षत्व नहीं दीखता है । नाड़ी आदि भी सुषुप्तिरूप एक प्रयोजन के लिए ही देखे जाते हैं इसीलिए '**नाड़ीषु सृप्तो भवति**', '**पुरीतति शेते**' इन सभी श्रुतियों में सप्तमी विभक्ति का निर्देश एक जैसा दीखता है । शङ्का—नहीं-नहीं, सर्वत्र सप्तमी निर्देश नहीं दीखता है । '**सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति**' इस श्रुति में सप्तमी का निर्देश नहीं है । समाधान (पूर्वपक्ष)—यह दोष नहीं है, वहाँ पर भी सप्तमी विभक्ति का अर्थ प्रतीत होता है क्योंकि वाक्यशेष में वहाँ पर 'आयतन चाहने वाला जीव सत् में प्रविष्ट हो जाता है' ऐसा कहा गया है। 'अन्यत्र

---

१. आत्मस्वरूपमापन्नो भवतीत्यर्थः ।

(छा० ६-८-२) इति प्राणशब्देन तत्र प्रकृतस्य सत उपादानात् । आयतनं च सप्तम्यर्थः । सप्तमीनिर्देशोऽपि तत्र वाक्यशेषे दृश्यते—'सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामहे इति' (छा० ६-९-२) । सर्वत्र च विशेषविज्ञानोपरमलक्षणं सुषुप्तं न विशिष्यते । तस्मादेकार्थत्वान्नाड्यादीनां विकल्पेन कदाचित्किंचित्स्थानं स्वापायोपसर्पतीति ।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—तदभावो नाडीष्वात्मनि चेति । तदभाव इति तस्य प्रकृतस्य स्वप्नदर्शनस्याभावः सुषुप्तमित्यर्थः । नाडीष्वात्मनि चेति समुच्चयेनैतानि नाड्यादीनि स्वापायोपैति न विकल्पेनेत्यर्थः । कुतः ? तच्छ्रुतेः । तथाहि—सर्वेषामेव नाड्यादीनां तत्र तत्र सुषुप्तिस्थानत्वं श्रूयते तच्च समुच्चये संगृहीतं भवति । विकल्पे ह्येषां पक्षे बाधः स्यात् ।

नन्वेकार्थत्वाद्विकल्पो नाड्यादीनां व्रीहियवादिवदित्युक्तम् । नेत्युच्यते । न ह्येकविभक्तिनिर्देशमात्रेणैकार्थत्वं विकल्पश्चापतति । नानार्थत्वसमुच्चययोरप्येकविभक्तिनिर्देशदर्शनात्-

सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इति । सूत्रे चकारः पुरीततसमुच्चयार्थः । यदा नाड्यः सुषुप्तिस्थानं तदा पुरीतत्स्थानं न भवतीति श्रुतस्थानत्वस्य पक्षे बाधः स्यात्, स न युक्त इत्याह—विकल्पे ह्येषामिति ।

व्रीहियवयोस्त्वगत्या विकल्प इति भावः । यत्तु सप्तमीश्रुत्या नाड्यादीनामेकफलकत्वमिति, तन्नेत्याह—न ह्येकेति । प्रासादस्य पर्यङ्कधारणमर्थः पर्यङ्कस्य तु शयनमिति फलभेदेऽप्येकविभक्तिर्दृश्यते,

आयतन न देखकर प्राण का ही आश्रय जीव लेता है' इस श्रुति में प्राण शब्द से प्रकृत सत् तत्त्व का ही ग्रहण होता है और आयतन शब्द भी सप्तमी के अर्थ में ही है । इसके अतिरिक्त वहां वाक्यशेष में 'सत् को प्राप्तकर ये जीव नहीं जानते कि हम सत् में सम्पन्न हुए हैं' ऐसा सप्तमीनिर्देश दीखता है । तात्पर्य यह कि विशेषविज्ञान-उपरमरूप सुषुप्त सर्वत्र एक जैसा है । अतः नाड्यादि एक प्रयोजन-वाले होने के कारण विकल्प से कदाचित् किसी स्थान में जीव शयन के लिए जाता है, ऐसा विकल्प मानना उचित ही है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि स्वप्न का अभावरूप सुषुप्ति नाड़ियों और आत्मा में समुच्चयपूर्वक ही है । प्रकृत स्वप्नदर्शनाभावरूप सुषुप्ति को सूत्रस्थ **'तदभाव'** पद से कहा गया है । नाड़ियों तथा आत्मा में समुच्चयपूर्वक इन नाड्यादि स्थानों में शयन के लिए जीव जाता है, विकल्प से नहीं जाता । ऐसी ही श्रुति भी है कि सभी नाड्यादि सुषुप्तिस्थान जहां कहीं भी सुने जाते हैं वे सभी समुच्चय पक्ष में संगृहीत हो जाते हैं, इनके विकल्प मानने पर एक पक्ष में बाध होने लग जायेगा अर्थात् नाड़ी सुषुप्तिस्थान मानने पर पुरीतत् एवं परमात्म अर्थ का बाध होगा, पुरीतत् को शयनस्थान मानने पर नाड़ी एवं परमात्म अर्थ का बाध होगा और परमात्मा को सुषुप्तिस्थान मानने पर नाड़ी तथा पुरीतत् का बाध होने लग जायेगा जो उचित नहीं है ।

पूर्वपक्ष—**'व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्वा यजेत'** इस स्थान में एक प्रयोजन के लिए ही दोनों होने के कारण जैसे विकल्प होता है ऐसे ही एक प्रयोजन के लिए कहे गये नाड्यादि का भी विकल्प मानना

१. जीवः ।२. जीवः ।

प्रासादे शेते पर्यङ्के शेत इत्येवमादिषु । तथेहापि नाडीषु पुरीतति ब्रह्मणि च स्वपितीत्येतदुपपद्यते समुच्चयः । तथाच श्रुतिः—'तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' (कौषी० ४-१९) इति समुच्चयं नाडीनां प्राणस्य च सुषुप्तौ श्रावयत्येकवाक्योपादानात् । प्राणस्य च ब्रह्मत्वं समधिगतम्—'प्राणस्तथानुगमात् (ब्र० सू० १-१-२८) इत्यत्र । यत्रापि निरपेक्षा इव नाडीः सुप्तिस्थानत्वेन श्रावयति—'आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८-६-३) इति । तत्रापि प्रदेशान्तरप्रसिद्धस्य ब्रह्मणोऽप्रतिषेधान्नाडीद्वारेणैव ब्रह्मण्येवावतिष्ठत इति प्रतीयते । नचैवमपि नाडीषु सप्तमी विरुध्यते, नाडीद्वारापि ब्रह्मोपसर्पन्सृप्त एव नाडीषु भवति । यो हि गङ्गया सागरं गच्छति गत एव स गङ्गायां भवति । अपि चात्र रश्मिनाडीद्वारात्मकस्य ब्रह्मलोकमार्गस्य विवक्षितत्वान्नाडीस्तुत्यर्थं सृप्तिसंकीर्तनम् । 'नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८-६-३) इत्युक्त्वा 'तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति' (छा० ८-६-३) इति ब्रुवन्नाडीः प्रशंसति । ब्रवीति च पाप्मस्पर्शाभावे हेतुम्—'तेजसा हि तदा संपन्नो भवति' (छा० ८-६-३) इति । तेजसा

व्यवधानाव्यवधानाभ्यां शयनसाधनत्वात् समुच्चयइव, तथेहापि नाडीपुरीततोर्जीवस्य संचारद्वारा ब्रह्मण्येव सुप्तिरिति समुच्चय इत्यर्थः । नाडीनां प्राणस्य च एकेन वाक्येनोपादानान्मिथः समुच्चय इत्याह—एकवाक्येति । आधारत्वमात्रं सप्तम्यर्थो न निरपेक्षत्वमतो न समुच्चयस्य सप्तम्या बाध इत्याह—न चैवमपीति । समुच्चयेऽपीत्यर्थः । अत्र नाडीश्रुतौ नाडीषु भोक्तुः सुप्तिर्न विवक्षिता रश्मिसंबन्धनाडीरूपमार्गस्तुत्यर्थत्वादित्याह—अपिचेति । पित्तेन विषयेक्षणाभावे सुखदुःखयोरभावात् तद्धेतुधर्माधर्मात्मकपाप्मास्पर्श इत्यर्थः ।

चाहिए, ऐसा हम कह आये हैं । सिद्धान्ती—आप का यह कथन ठीक नहीं है । एक विभक्ति के निर्देशमात्र से एकार्थत्व और विकल्प नहीं आ जाता है नाना प्रयोजन एवं समुच्चय स्थल में भी एक विभक्ति का निर्देश देखा गया है । प्रासाद में सोता है, प्रकोष्ट में सोता है और पलङ्ग में सोता है; ऐसे प्रयोगों में उक्त न्याय देखा गया है । वैसे ही यहाँ पर भी नाड़ियों में, पुरीतत् में और ब्रह्म में सोता है; यह कथन समुच्चय पक्ष में उपपन्न हो जाता है । वैसा ही 'तब जीव नाड़ियों में होता है जब सोया हुआ किसी स्वप्न को नहीं देखता, उस समय परमात्मा में ही एकीभूत हो जाता है' यह श्रुति नाड़ियों एवं परमात्मा का सुषुप्ति में समुच्चय बतलाती है । साथ ही 'उस समय उन नाड़ियों में प्रविष्ट रहता है' इस श्रुति में प्रदेशान्तर में प्रसिद्ध ब्रह्म का प्रतिषेध न करने के कारण नाड़ी द्वारा ब्रह्म में ही स्थित रहता है, यह अर्थ प्रतीत होता है । इस प्रकार भी नाड़ी पद में सप्तमी विभक्ति का निर्देश विरुद्ध नहीं है क्योंकि नाड़ी द्वारा भी ब्रह्म में प्रविष्ट होता हुआ नाड़ियों में प्रविष्ट होता ही है । जो गंगा के मार्ग से सागर जाता है वह गंगा मे भी गया हुआ माना जाता है । इसके अतिरिक्त यहाँ पर रश्मि एवं नाड़ीद्वारात्मक ब्रह्मलोक मार्ग का बतलाना अभीष्ट होने के कारण नाड़ी की स्तुति के लिए नाड़ियों में प्रवेश कहा गया है । 'नाड़ियों में प्रविष्ट होता है' ऐसा कहने के बाद यह भी कहा गया है कि 'उस नाड़ी में प्रविष्ट पुरुष को कोई पाप स्पर्श नहीं करता' ऐसा कहती हुई श्रुति नाड़ी की प्रशंसा करती है । 'उस समय जीव तेज से सम्पन्न हो जाता है' यह श्रुति पापस्पर्शाभवा में हेतु बतलाती है

नाडीगतेन पित्ताख्येनाभिव्याप्तकरणो न बाह्यान्विषयानीक्षत इत्यर्थः ।

अथवा तेजसा इति ब्रह्मण एवायं निर्देशः श्रुत्यन्तरे—'ब्रह्मैव तेज एव' (बृ० ४-४-७) इति तेजःशब्दस्य ब्रह्मणि प्रयुक्तत्वात् । ब्रह्मणा हि तदा संपन्नो भवति नाडीद्वारेणातस्तं न कश्चन पाप्मा स्पृशतीत्यर्थः । ब्रह्मसंपत्तिश्च पाप्मस्पर्शाभावे हेतुः समधिगतः—'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः' (छा० ८-४-२) इत्यादिश्रुतिभ्यः । एवं च सति प्रदेशान्तरप्रसिद्धेन ब्रह्मणा सुषुप्तिस्थानेनानुगतो नाडीनां समुच्चयः समधिगतो भवति । तथा पुरीततोऽपि ब्रह्मप्रक्रियायां संकीर्तनात्तदनुगुणमेव सुप्तिस्थानत्वं विज्ञायते—'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' (बृ० २-१-१७) इति हृदयाकाशे सुप्तिस्थाने प्रकृत इदमुच्यते 'पुरीतति शेते' (बृ० २-१-१९) इति । पुरीतदिति हृदयपरिवेष्टनमुच्यते । तदन्तर्वर्तिन्यपि हृदयाकाशे शयानः शक्यते पुरीतति शेत इति वक्तुम् । प्राकारपरिक्षिप्तेऽपि पुरे वर्तमानः प्राकारे वर्तत इत्युच्यते । हृदयाकाशस्य च ब्रह्मत्वं समधिगतम्—'दहर उत्तरेभ्यः' (ब्र० सू० १-३-१४) इत्यत्र । तथा नाडीपुरीततसमुच्च-

---

अपहतपाप्मब्रह्मसंपत्त्या वा पाप्मास्पर्श इत्याह—अथवेति । अस्मिन् व्याख्याने लाभमाह—एवं च सतीति । 'तासु तदा भवत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' इति श्रुतेः समुच्चय आश्रितो भवतीत्यर्थः । नाडीब्रह्मणोर्गुणप्रधानभावेन सुप्तौ समुच्चयवत्पुरीतद्ब्रह्मणोरपीत्याह—तथेत्यादिना । आकाशे ब्रह्मणि शेत इत्युपक्रम्य ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेत इत्युक्तं, तथाच नाडीद्वारा पुरीततं गत्वा ब्रह्मणि शेत इति समुच्चयः सिद्ध इत्याह—तथा नाडीति । सता संपन्नो भवति प्राज्ञेन संपरि-

---

कि नाड़ीगत पित्तनामक तेज से इन्द्रियों के अभिव्याप्त होने से जीव बाह्यविषयों को नहीं देखता है, यह उक्त श्रुति का अर्थ है । ऐसी स्थिति में उस सुषुप्त पुरुष को पाप कैसे स्पर्श करेगा ।

अथवा 'तेजसः' इस पद से ब्रह्म का ही निर्देश श्रुत्यन्तर में किया गया है । **'ब्रह्मैव तेज एव'** इस वाक्य में तेज शब्द ब्रह्म अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है क्योंकि सुषुप्त पुरुष सुषुप्तावस्था में ब्रह्म के साथ नाड़ी द्वारा सम्पन्न हो जाता है, इसीलिए उसको पाप स्पर्श नहीं करता । इस प्रकार पापस्पर्शाभाव में ब्रह्मसम्पत्ति हेतु सिद्ध होता है । 'इस ब्रह्मनिष्ठा के पास से सभी पाप दूर हट जाते हैं क्योंकि यह ब्रह्मलोक पुण्य-पाप से रहित है' इत्यादि श्रुतियों से भी यही अर्थ प्रतीत होता है । इस प्रकार प्रदेशान्तरप्रसिद्ध सुषुप्तिस्थान ब्रह्म के साथ नाड़ी का अनुगत समुच्चय सिद्ध हो जाता है । वैसे ही ब्रह्मप्रकरण में पुरीतत् का भी वर्णन होने से पुरीतत् द्वारा ही ब्रह्म में सुषुप्तिस्थानत्व जाना जाता है । 'जो यह हृदय के भीतर आकाश है उसमें जीव सोता है' इस श्रुतिवाक्य से सुषुप्तिस्थान प्रकृत हृदयाकाश में **'पुरीतति शेते'** यह श्रुति शयन बतलाती है । हृदयपरिवेष्टन को पुरीतत् शब्द से कहा जाता है, उसके अन्तवर्ती आकाश में भी सोता है, इस शयन को **'पुरीतति शेते'** ऐसा कहा जा सकता है । जैसे परकोटा से घिरे नगर में रहने वाले को परकोटे में रहता है, ऐसा कहा जाता है; ऐसे ही पुरीतत् नाड़ीवर्ती हृदयाकाश में सोने वाले को 'पुरीतत् में सोता है' ऐसा कहना भी उचित ही है । **'दहर उत्तरेभ्यः'** इस सूत्र से हृदयाकाश में ब्रह्मत्व सिद्ध ही है । ऐसे ही 'नाड़ियों से निकलकर

---

१. पुरीतद्द्वारैव । २. ब्रह्मण इति शेषः । ३. परिवेष्टिते ।

श्योऽपि—'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (बृ० २-१-१६) इत्येकवाक्योपादानादवगम्यते। सत्प्राज्ञयोश्च प्रसिद्धमेव ब्रह्मत्वम्। एवमेतासु श्रुतिषु त्रीण्येव सुषुप्तिस्थानानि संकीर्तितानि नाड्यः पुरीतद्ब्रह्म चेति। तत्रापि द्वारमात्रंनाड्यः पुरीतच्च ब्रह्मैव त्वेकं सुषुप्तिस्थानम्।

अपिच नाड्यः पुरीतद्वा जीवस्योपाध्याधार एव भवति तत्रास्य करणानि वर्तन्त इति। नह्युपाधिसंबन्धमन्तरेण स्वत एव जीवस्याधारः कश्चित्संभवति, ब्रह्माव्यतिरेकेण स्वमहिमप्रतिष्ठतत्वात्। ब्रह्माधारत्वमप्यस्य सुषुप्ते नैवाधाराधेयभेदाभिप्रायेणोच्यते कथं तर्हि, तादात्म्याभिप्रायेण। यत आह—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवती स्वमपीतो भवति' (छा० ६-८-१) इति। स्वशब्देनात्माभिलप्यते स्वरूपमापन्नः सुप्तो भवतीत्यर्थः। अपिच न कदाचिज्जीवस्य ब्रह्मणा संपत्तिर्नास्ति स्वरूपस्यानपायित्वात्। स्वप्नजागरितयोस्तूपाधि-

ष्वक्त इति सत्प्राज्ञयोः श्रुतेः पञ्च सुप्तिस्थानानीत्यत आह—सत्प्राज्ञयोरिति।

किंच प्रकृतदर्शादिसाधनैकपुरोडाशनिष्पत्तौ मिथोऽनपेक्षतया समर्थत्वाद्युक्तो व्रीहियवयोर्विकल्पः, नाड्यादीनां तु ब्रह्मनिरपेक्षतया सुषुप्तजीवाधारत्वासामर्थ्यान्न विकल्प इत्याह—अपिच नाड्य इति। उपाधिलिङ्गाश्रयनाडीपुरीततोरुपहितजीवाश्रयत्वं परम्परया वाच्यं, तदपि सुषुप्तौ न संभवति, उपाधिलयादित्यर्थः। ननु ब्रह्मापि जीवस्य न मुख्यं स्थानं अभेदादित्यत आह—ब्रह्माधारत्वमिति। जीवस्य ब्रह्मण्यभेदेनावस्थानं नाडीपुरीततोस्तु लीनोपाधेर्जीवस्य स्थितिरेव न संभवतीत्येकार्थसामर्थ्याभावान्न विकल्प इत्यर्थः। सुषुप्तौ जीवस्य भेदकोपाधिलयाच्चौत्सर्गिकब्रह्माभेदस्य विकल्पो न युक्त इत्याह—अपिचेति।

पुरीतत् में सोता है' इस एक वाक्य में गृहीत होने के कारण नाड़ी और पुरीतत् का समुच्चय भी अवगत हो जाता है। 'सता सम्पन्नो भवति', प्राज्ञेन सम्परिष्वक्तः' इन श्रुतियों में सत् और प्राज्ञ का श्रवण होने से सुषुप्तिस्थान पाँच जान पड़ते हैं, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि सत् और प्राज्ञ में ब्रह्मत्व प्रसिद्ध ही है ऐसी स्थिति में इन श्रुतियों में सुषुप्तिस्थान तीन ही कहे गये हैं—नाड़ी, पुरीतत् और ब्रह्म। ये तीन ही स्थान विचारणीय हैं। उनमें भी नाड़ी और पुरीतत् ब्रह्म तक पहुँचने के लिए द्वारमात्र हैं, सुषुप्तिस्थान तो स्थिर एकमात्र ब्रह्म ही है।

इसके अतिरिक्त नाड़ी अथवा पुरीतत् जीव की उपाधि लिङ्ग शरीर का ही आधार है क्योंकि वहाँ पर इस जीव के बाह्याभ्यन्तर करण रहते हैं। उपाधिसम्बन्ध के विना स्वतः ही जीव का कोई आधार नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण जीव अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है। सुषुप्ति के समय इस जीव का आधार जो ब्रह्म को कहा गया है वह आधार-आधेय के अभिप्राय से नहीं कहा गया है किन्तु तादात्म्यअभिप्राय से 'हे सोम्य! उस समय जीव सत् के साथ सम्पन्न हो जाता है, अपने स्वरूप में लीन हो जाता है' इस वाक्य द्वारा कहा गया है। श्रुति में स्व शब्द से आत्मा को कहते हैं अर्थात् सुषुप्त पुरुष स्वरूपापन्न हो जाता है। सत्य पूछो तो जीव ब्रह्म के साथ कभी सम्पन्न नहीं होता है, ऐसी बात नहीं है क्योंकि अपना रूप होने के कारण ब्रह्म जीव से कभी दूर रहता ही नहीं

१. स्थाने।

संपर्कवशात्पर¹रूपापत्तिमिवापेक्ष्य तदुपशमात्सुषुप्ते स्वरूपापत्तिर्वक्ष्यते । अतश्च सुप्तावस्थायां कदाचित्सता संपद्यते कदाचिन्न सम्पद्यत इत्ययुक्तम् ।

अपिच स्थानविकल्पाभ्युपगमेऽपि विशेषविज्ञानोपशमलक्षणं तावत्सुषुप्तं न क्वचिद्विशिष्यते । तत्र सति सम्पन्नस्तावत्तदेकत्वान्न विजानातीति युक्तम् 'तत्केन कं विजानीयात्' (बृ० २-४-१४) इति श्रुतेः । नाडीषु पुरीतति च शयानस्य न किञ्चिदविज्ञाने कारणं शक्यं विज्ञातुं, ³भेदविषयत्वात् 'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्' (बृ० ४-३-३१) इति श्रुतेः । ननु भेदविषयस्याप्यतिदूरा⁴दिकारणमविज्ञाने स्यात् । बाढम् । एवं स्याद्यदि जीवः स्वतःपरिच्छिन्नोऽभ्युपगम्येत यथा विष्णुमित्रः प्रवासी स्वगृहं न पश्यति । न तु जीवस्योपाधिव्यतिरेकेण परिच्छेदो विद्यते । उपाधिगतमेवातिदूरादिकारणमविज्ञान इति यद्युच्येत तथाप्युपाधेरुपशान्तत्वात्सत्येव सम्पन्नो न विजानातीति युक्तम् । नच वयमिह

किंच 'नाड्यादीनामन्यतमस्थाने क्वचित्सुप्तिवादिनापि सुषुप्तं न विशिष्यत इति वक्तव्यं, तच्च वक्तुं न शक्यत इत्याह—अपिच स्थानेति । भेदाभावो हि भेदज्ञानाभावे हेतुः, नाडीपुरीतद्गतस्य तु जीवस्य भेदावस्थात्वाद्भेदाविज्ञाने कारणं नास्तीत्यर्थः । द्वैतावस्थस्यापि द्वैताज्ञाने हेतुं शङ्कते—ननु भेदेति । द्रष्टुर्दृश्याद्दूरस्थत्वं स्वाभाविकमौपाधिकं वा । तत्राद्यं सदृष्टान्तमनूद्य प्रत्याह—बाढमित्यादिना । द्वितीयमनूद्य दूषयति—उपाधिगतमेवेति । उपाधिसंभिन्नस्यैव नाड्यादौ स्वापे कतिपयसंनिकृष्टार्थज्ञानप्रसङ्गात् सुषुप्तिव्याघातः स्यात् । उपाधिलये त्वग्यत्र जीवस्य स्थित्ययोगाद्ब्रह्मण्येव स्वाप आस्थेय इत्यर्थः । एवं विकल्पं निरस्य नाडीपुरीततोर्ब्रह्मणा सह तुल्यवत्समुच्चयमफलत्वेन दूषयन् गुणप्रधानत्वेन समुच्चयमुपसंहरति—नच वयमित्यादिना ॥७॥

है । किन्तु स्वप्न और जाग्रत में उपाधि के साथ सम्पर्क होने के कारण उपाधिरूपापत्ति सी प्रतीत होती है, उस उपाधि के उपशम हो जाने से सुषुप्तावस्था में जीव की स्वरूपापत्ति 'स्वमपीतो भवति' इस वाक्य से बतलाना अभीष्ट है । अतः सुषुप्तवस्था में कभी सत् के साथ सम्पन्न होता है, कभी नहीं होता है; यह पूर्वपक्षी का कथन असङ्गत है ।

इसके अतिरिक्त स्थान का विकल्प मानने पर भी विशेषविज्ञान-उपशमरूप सुषुप्ति कहीं पर विशेष नहीं है, वहाँ पर सत् में सम्पन्न हो जाता है; इसीलिए अभिन्न हो जाने के कारण 'वहाँ कौन किसको किससे जानेगा' इस श्रुतिवाक्य द्वारा जीव-ब्रह्म का अभेद हो जाने से वहाँ जानता नहीं है, ऐसा कहना उचित ही है । नाड़ियों और पुरीतत् में शयन करने वाले के अविज्ञान में कोई कारण नहीं बतला सकते क्योंकि उस समय जीव भेद को विषय कर रहा है, ऐसा 'जहाँ पर भेद जैसा होगा वहाँ दूसरा दूसरे को देखेगा' इस श्रुति से जाना जाता है । शङ्का—भेदविषय भी अतिदूरादि कारणों से अविज्ञात रह जाता है । समाधान—आप का कहना ठीक है यदि जीव स्वतः परिच्छिन्न माना जाय तो जैसे प्रवासी विष्णुमित्र अपना घर नहीं देखता, यह प्रयोग अपने घर से दूरस्थ प्रवासी विष्णुमित्र के लिये किया जाता है; किन्तु उपाधि के बिना जीव में परिच्छेद तो है ही नहीं । यदि कहो कि उपाधिगत अतिदूरादि अविज्ञान में कारण है, तब तो उपाधि के शान्त होते ही सत् में सम्पन्न हुआ वह जीव बाह्यवस्तु को नहीं जानता, यह कहना युक्त ही है । और हम यहाँ ब्रह्म के साथ समानरूप

१. उपाधि । २. उपाधि । ३. जीवस्य । ४. भेदाविज्ञाने । ५. मध्ये ।

(३२६) अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥८॥

तुल्यवन्नाड्यादिसमुच्चयं प्रतिपादयामः । नहि नाड्यः सुप्तिस्थानं पुरीतद्वेत्यनेन विज्ञानेन किंचित्प्रयोजनमस्ति । न ह्येतद्विज्ञानप्रतिबद्धं किंचित्फलं श्रूयते । नाप्येतद्विज्ञानं फलवतः कस्यचिदङ्गमुपदिश्यते । ब्रह्म त्वनपायि सुप्तिस्थानमित्येतत्प्रतिपादयामः । तेन तु विज्ञानेन प्रयोजनमस्ति, जीवस्य ब्रह्मात्मत्वावधारणं स्वप्नजागरितव्यवहारविमुक्तत्वावधारणं च । तस्मादात्मैव सुप्तिस्थानम् ॥७॥

यस्माच्चात्मैव सुप्तिस्थानमत एव च कारणान्नित्यवदेवास्मादात्मनः प्रबोधः स्वापाधिकारे शिष्यते—'कुत एतदागात्' (बृ० २-१-१६) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' (बृ० २-१-२०) इत्यादिना । 'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' (छा० ६-१०-२) इति च विकल्प्यमानेषु तु सुषुप्तिस्थानेषु कदाचिन्नाडीभ्यः प्रतिबुध्यते कदाचित्पुरीततः कदाचिदात्मन इत्यशासिष्यत् । तस्मादप्यात्मैव सुप्तिस्थानमिति ॥८॥

किंच ब्रह्मणः सकाशाज्जीवस्योत्थानश्रुतेर्ब्रह्मैव सुषुप्तिस्थानमित्याह सूत्रकारः—अतः प्रबोध इति । नाडीपुरीततोः क्वाप्युत्थानापादानत्वाश्रवणान्न सुषुप्तिस्थानत्वमित्यर्थः, तस्मादुपाधिलये जीवस्य ब्रह्माभेदादौपाधिक एव भेद इति विवेकाद्वाक्यार्थभेदसिद्धिरिति स्थितम् ॥८॥

में नाड्यादि समुच्चय नहीं बतलाते हैं क्योंकि सुषुप्तिस्थान नाड़ी और पुरीतत् है, ऐसा जानने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है और न इस विज्ञान से सम्बद्ध कोई फल ही सुना जाता है तथा यह विज्ञान किसी फलवत् का अङ्ग भी नहीं बतलाया गया है । पर हम तो ब्रह्म का स्थायी सुषुप्तिस्थान बतलाते हैं इस विज्ञान से प्रयोजन भी है, वह है जीव में ब्रह्मात्मत्वावधारण और स्वप्न-जाग्रत व्यवहार से विमुक्तत्वावधारण अर्थात् जीव ब्रह्मस्वरूप है और वह जाग्रत् तथा स्वप्न व्यवहार से सर्वथा दूर है, ऐसा निश्चय हो जाना उक्त विज्ञान का प्रयोजन है । अतः सुषुप्तिस्थान परमात्मा ही है ॥७॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् (ललिता)

जब कि आत्मा ही सुषुप्तिस्थान है इसीलिए सदा आत्मा से ही जीव का जागरण होता है, ऐसा 'सुषुप्त पुरुष कहाँ से जगा है' इस प्रश्न का उत्तर देते समय 'जैसे अग्नि से छोटी-छोटी चिंगारियाँ निकलती हैं ऐसे ही इस आत्मा से सभी प्राण निकलते हैं', 'प्रतिदिन जाग्रदवस्था में सत् से आकर भी ये जीव नहीं जान पाते कि इस सद्ब्रह्म से सुषुप्तावस्था में तादात्म्यभावापन्न होकर जाग्रत् में आये हैं' इन सभी श्रुतिवाक्यों द्वारा परमात्मा में ही जीव का शयन और उसी से जागरण बतलाया गया है । सुषुप्तिस्थान के विकल्प मानने पर कदाचित् नाड़ियों से, कदाचित् पुरीतत् से और कदाचित् परमात्मा से जीव का जागरण बतलाते; किन्तु ऐसा उपदेश नहीं है । इसलिए भी आत्मा ही सुषुप्तिस्थान है, यह निश्चित हुआ ॥८॥

---

१. उपदिश्यते ।

३. कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् (सू० ९)

(३२७) स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥९॥

यः कोऽप्यनियमेनात्र बुध्यते सुप्त एव वा । उदबिन्दुरिवाशक्तेर्नियन्तुं कोऽपि बुध्यते ।
कर्मविद्यापरिच्छेदादुदबिन्दुविलक्षणः । स एव बुध्यते शास्त्रात्तदुपाधेः पुनर्भवात् ।

तस्याः पुनः सत्संपत्तेः प्रतिबुध्यमानः किं य एव सत्सम्पन्नः स एव प्रतिबुध्यत उत स वाऽन्यो वेति चिन्त्यते । तत्र प्राप्तं तावदनियम इति । कुतः ?—यदा हि जलराशौ कश्चिज्जलबिन्दुः प्रक्षिप्यते जलराशिरेव स तदा भवति पुनरुद्धरणे च स एव जलबिन्दुर्भवतीति दुःसम्पादम् । तद्वत्सुप्तः परेणैकत्वमापन्नः संप्रसीदतीति न स एव पुनरुत्थातु-

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । सुषुप्तौ उपाधिनाशात् कर्मानुस्मृत्यादेर्दर्शनाच्च संशये सत्यस्माद्ब्रह्मणो जीवस्योत्थानश्रुतेर्ब्रह्मैव सुषुप्तिस्थानमित्युक्तमयुक्तम् । सुप्तादन्यस्याप्युत्थानसंभवेन सुषुप्तस्य नाड्यादिस्थानत्वसम्भवादित्याक्षेपसंगत्या नियामकाभावादनियम इति पूर्वपक्षमाह—तस्याः पुनरित्यादिना । पूर्वपक्षे ज्ञानवैयर्थ्यं सुषुप्तवदपुनरावृत्तिरूपमुक्तिसिद्धेः, सिद्धान्ते तु अज्ञातब्रह्मात्मना स्थितस्याज्ञानबलेन पुनस्तस्यैवोत्थानावश्यंभावादज्ञाननाशाय ज्ञानापेक्षेति फलम् । ईश्वरो वेत्यनियमवादर्थायोक्तम् । स वान्यो वेत्येव पूर्वपक्षः । ज्ञानं विना बुद्ध्याद्युपाधेरत्यन्तनाशाभावाद्यया बुद्ध्यो-

३. कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण

१. **सङ्गति**—पिछले अधिकरण में ब्रह्म को जीव का स्वापस्थान बतलाया था, वह ठीक नहीं है। ऐसा मानने पर सोने वाला जीव दूसरा और जागने वाला दूसरा हो जायेगा। अतः ब्रह्म से भिन्न भी जीव का स्वापस्थान सम्भव है, ऐसी आक्षेप सङ्गति पूर्व के साथ इस अधिकरण की है।

२. **विषय**—सोने वाले एवं जागने वाले जीव का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. **संशय**—क्या पहले दिन सोया हुआ जीव ही दूसरे दिन नियमतः जागता है अथवा कोई अन्य जीव ?

४. **पूर्वपक्ष**—जलाशय में डाला हुआ जल ही फिर से घट में नियमतः नहीं आता, ऐसे ही सुषुप्तावस्था में ब्रह्म को प्राप्त हुआ जीव ही जगता है ऐसा कोई नियामक नहीं है।

५. **सिद्धान्त**—सोया हुआ जीव ही जगता है यह बात कर्म, प्रत्यभिज्ञा, स्मृति, शब्द तथा विधिशास्त्र से सिद्ध होता है। जिस प्रकार जल से परिपूर्ण घट को जलाशय में रख दिया जाय, उल्टा न जाय तो पहले का रखा हुआ जल ही उस घट में आता है; ऐसे ही अविद्यादि उपाधि से उपहित हो जीव सुषुप्ति में ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है, इसलिए जगने पर अपने व्याघ्रादि स्वभाव से युक्त हो जगता है।

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः (ललिता)

उस परमात्मप्राप्ति के बाद जगने वाला जीव कौन है ? जो सोया था वही जगता है (अथवा वह या अन्य भी) अथवा अन्य कोई जगता है ? पूर्वपक्ष—वहाँ पर पूर्वपक्ष में कोई नियम नहीं कहा गया है क्योंकि जब जलागार सरोवर में कोई जलबिन्दु छोड़ दिया जाता है तब वह जलबिन्दु जलराशि ही हो जाता है, पुनः जलपात्र में जल को लेने पर वही जलबिन्दु आता है ऐसा कहना कठिन है। वैसे ही सोया हुआ पुरुष परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्तकर जब सम्प्रसन्न हो जाता है तो पुनः

मर्हति । तस्मात्स एवेश्वरो वाऽन्यो वा जीवः प्रतिबुध्यत इत्येवं प्राप्त इदमाह—स एव जीवः सुप्तः स्वास्थ्यं गतः पुनरुत्तिष्ठति नान्यः । कस्मात् ? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । विभज्य हेतुं दर्शयिष्यामि ।

कर्मशेषानुष्ठानदर्शनात्तावत्स एवोत्थातुमर्हति नान्यः । तथाहि—पूर्वेद्युरनुष्ठितस्य कर्मणोऽपरेद्युः शेषमनुतिष्ठन्दृश्यते । न चान्येन सामिकृतस्य कर्मणोऽन्यः शेषक्रियायां प्रवर्तितुमर्हति । अतिप्रङ्गात् । तस्मादेक एव पूर्वेद्युपरेद्युश्चैकस्य कर्मणः कर्तेति गम्यते ।

इतश्च स एवोत्तिष्ठति यत्कारणमतीतेऽहन्यहमदोऽद्राक्षमिति पूर्वानुभूतस्य पश्चात्स्मरणमन्यस्योत्थाने नोपपद्यते । न ह्यन्यदृष्टमन्योऽनुस्मर्तुमर्हति । सोऽहमस्मीति चात्मानुस्मरणमात्मान्तरोत्थाने नावकल्पते ।

शब्देभ्यश्च तस्यैवोत्थानमवगम्यते । तथाहि—'पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव' (बृ० ४-३-१६) 'सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति'

पहितो जीवः सुषुप्तौ कारणात्मना स्थितस्तथैव नानाकर्मानुभवसंस्कारवत्योपहित उत्तिष्ठतीति सिद्धान्तयति—स एव त्वित्यादिना । सामिकृतस्यार्धकृतस्य एकस्यैव ज्योतिष्टोमादेरनेकयजमानकत्वापातोऽतिप्रसङ्गः ।

स्मृतिमुक्त्वानुशब्दसूचितां प्रत्यभिज्ञामाह—सोऽहमिति । अयनं गमनं आयः । योनिः तत्तदिन्द्रियस्थानम् । प्रतिनियतं गमनं यथा भवति तथा प्रतियोन्यागच्छति जागरणायेति

जाग्रत में वही नहीं उठता । अतः वही जगता है, ईश्वर जगता है अथवा कोई अन्य जीव जगता है । सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहता है कि वही सुषुप्त पुरुष पुनः उठता है, दूसरा नहीं; इसमें कर्म, अनुस्मृति, शब्द और विधि–ये चार कारण हैं जिन हेतुओं को विभागकर हम दिखलायेंगे ।

॥ **प्रथम** ॥ कर्मशेषानुष्ठान देखते हुए वही जीव उठता है, दूसरा नहीं अथात् पहले दिन जिस कर्म का अनुष्ठान किया था, दूसरे दिन सोकर उठा हुआ व्यक्ति उसी कर्म के शेष का अनुष्ठान करते देखा जाता है । यदि दूसरे दिन अन्य कोई उठा हो तो किसी दूसरे के द्वारा अनुष्ठित आधे कर्म की शेष क्रिया में दूसरा प्रवृत्त नहीं हो सकता और ऐसा मानने पर अतिप्रसंग भी आ जायेगा । अतः एक कर्म का कर्ता पहले और दूसरे दिन एक ही है, ऐसा निश्चित हो जाता है ।

॥ **द्वितीय** ॥ इसलिए भी वही जीव उठता है क्योंकि पहले दिन जिसे देखा था उस पूर्वानुभूत व्यक्ति का दूसरे दिन स्मरणकर कहता है कि कल मैंने इसे देखा था । उठने वाले को भिन्न माना जाय तो यह अनुस्मरण सम्भव नहीं होगा क्योंकि दूसरे के द्वारा देखी गयी वस्तु का दूसरे को स्मरण नहीं होता । साथ ही वही मैं हूँ, ऐसी आत्मप्रत्यभिज्ञा अन्य आत्मा का उत्थान मानने पर सिद्ध नहीं हो सकेगी ।

॥ **तृतीय** ॥ शब्दों से भी उसी सोये हुए पुरुष का उत्थान निश्चित होता है तथा 'प्रतिदिन नियतरूप से गमन और आगमन जो होता है अर्थात् सोकर ये जीव जगते हैं दूसरा नहीं', 'ये सभी जीव प्रतिदिन इस ब्रह्मलोक में जाते हैं किन्तु अज्ञान से आवृत होने के कारण उसे प्राप्त नहीं करते'

(छा० ८-३-२) 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वावराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वामशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तदाभवन्ति' (छा० ६-९-३) इत्येवमादयः शब्दाः स्वापप्रबोधाधिकारे पठिता नात्मान्तरोत्थाने सामञ्जस्यमीयुः ।

कर्मविद्याविधिभ्यश्चैवमेवावगम्यते । अन्यथा हि कर्मविद्याविधयोऽनर्थकाः स्युः । अन्योत्थानपक्षे हि सुप्तमात्रो मुच्यत इत्यापद्येत । एवं चेत्स्याद्वद किं कालान्तरफलेन कर्मणा विद्यया वा कृतं स्यात् । अपिचान्योत्थानपक्षे यदि तावच्छरीरान्तरे व्यवहरमाणो जीव उत्तिष्ठेत्तत्रत्यव्यवहारलोपप्रसङ्गः स्यात् । अथ तत्र सुप्त उत्तिष्ठेत्कल्पनानर्थक्यं स्यात् । यो हि यस्मिञ्शरीरे सुप्तः स तस्मिन्नोत्तिष्ठत्यन्यस्मिञ्शरीरे सुप्तोऽन्यस्मिन्नुत्तिष्ठतीति कोऽस्यां कल्पनायां लाभः स्यात् । अथ मुक्त उत्तिष्ठेदन्तवान्मोक्ष आपद्येत । निवृत्ताविद्यस्य च पुनरुत्थानमनुपपन्नम् । एतेनेश्वरस्योत्थानं प्रत्युक्तम् । नित्यनिवृत्ताविद्यत्वात् । अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशौ च दुर्निवारावन्योत्थानपक्षे स्याताम् । तस्मात्स एवोत्तिष्ठति नान्य इति ।

श्रुत्यर्थः । न विन्दन्तीत्यज्ञानसत्त्वात्सुप्तस्योत्थाननियम उक्तः । इह पूर्वप्रबोधे ये भवन्ति त एव तदोत्तरप्रबोधे भवन्तीत्यर्थः ।

विधिं व्याचष्टे—कर्मेति । स एवोत्तिष्ठतीति निश्चीयते इत्यर्थः । अत्रैवोत्सूत्रं युक्त्यन्तरमाह—अपिचेत्यादिना । अन्योत्थाने सुखादेर्न पूर्वकर्मकार्यतेत्यकृतसुखाद्यागमः पूर्वसुप्तजीवकृतकर्मनाशश्चेत्यर्थः ।

'जगने पर वे व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, सूकर, कीट, पतङ्ग, दंश और मसक पहले की भाँति ही अपने को समझते हैं' ये सभी शब्द जो स्वाप एवं प्रबोधाधिकार में पढ़े गये हैं वे अन्य आत्मा का उत्थान मानने पर सुसंगत नहीं हो सकेंगे ।

।। चतुर्थ ।। कर्मविधि और उपासना विधि से भी ऐसी ही निश्चित होता है अन्यथा कर्म और उपासना का विधान अनर्थक हो जायेगा। अन्य जीव का उत्थान मानने पर शयनमात्र से जीव मुक्त हो जायेगा। यदि ऐसा मान लिया जाय तो कालान्तरभावी कर्म और उपासना से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त अन्य का उत्थान यदि माना जाय तो शरीरान्तरवर्ती जीव शरीरान्तर में उठकर व्यवहार करेगा, ऐसी स्थिति में व्यवहार का लोप होने लग जायेगा। यदि कहो कि दूसरे शरीर के भीतर सोकर अन्य शरीर में उठता है तो यह कल्पना भी अनर्थक ही होगी। जो जिस शरीर में सोता है वह उसी में उठता है, दूसरे शरीर में सोया हुआ जीव दूसरे शरीर में उठता है ऐसी कल्पना करने में लाभ भी क्या होगा। यदि कहो कि मुक्त पुरुष जगता है, तब तो मोक्ष अनित्य होने लग जायेगा। जिसकी अविद्या नष्ट हो चुकी है उसका पुनरुत्थान कहना भी असंगत है। इससे ईश्वर-उत्थान पक्ष भी निरस्त हो गया क्योंकि ईश्वर की अविद्या सदा से निवृत्त होने के कारण वह नित्य-मुक्त है। अन्य जीव का उत्थान मानने पर अकृताभ्यागम एवं कृतविप्रणाश दोष का वारण भी कठिन हो जायेगा। अतः वही जीव जगता है, दूसरा नहीं, यह सिद्ध हो गया।

४. मुग्धेऽर्धसंपत्त्यधिकरणम् (सू० १०)

किं मूर्च्छैका जाग्रदादौ किं वाऽवस्थान्तरं भवेत् । अन्यावस्था न प्रसिद्धा तेनैका जाग्रदादिषु ।
न जाग्रत्स्वप्नयोरेका द्वैताभानान्न सुप्तता । मुखादिविकृतेस्तेनावस्थाऽन्या लोकसंमता ।

यत्पुनरुक्तं यथा जलराशौ प्रक्षिप्तो जलबिन्दुर्नोद्धर्तुं शक्यत एवं सति संपन्नो जीवो नोत्पतितुमर्हतीति । तत्परिह्रियते । युक्तं तत्र विवेककारणाभावाज्जलबिन्दोरनुद्धरणम् । इह तु विद्यते विवेककारणं कर्म चाविद्या चेति वैषम्यम् । दृश्यते च दुर्विवेचयोरप्यस्मज्जातीयैः क्षीरोदकयोः संसृष्टयोर्हंसेन विवेचनम् । अपिच न जीवो नाम कश्चित्परस्मादन्यो विद्यते यो जलबिन्दुरिव जलराशेः सतो विविच्येत । सदेव तूपाधिसंपर्काज्जीव इत्युपचर्यत इत्यसकृत्प्रपञ्चितम् । एवं सति यावदेकोपाधिगता बन्धानुवृत्तिस्तावदेकजीवव्यवहारः । उपाध्यन्तरगतायां तु बन्धानुवृत्तौ जीवान्तरव्यवहारः । स एवायमुपाधिः स्वापप्रबोधयोर्बीजाङ्कुरन्यायेनेत्यतः स एव जीवः प्रतिबुध्यत इति युक्तम् ॥९॥

पूर्वपक्षयुक्तं दृष्टान्तं वैषम्येण दूषयति—यत्पुनरित्यादिना । अस्मदाद्यशक्यमपि विवेचनं प्राप्यदृष्टापेक्ष ईश्वरः करोतीति मत्वा दृष्टान्तमाह—दृश्यते चेति । ब्रह्माभेदाच्च जीवस्य जलबिन्दुवैषम्यमित्याह—अपिचेति । अभेदे 'स वान्यो वोत्तिष्ठति' इति चिन्तानवकाश इत्याशङ्क्य बुद्धिभेदेन जीवभेदाच्चिन्तेत्याह—एवं सतीति । सुषुप्तौ बुद्धिनाशेन प्रत्यहं बुद्ध्युपाधिभेदादेकजीवस्य व्यवहारो न स्यादित्यत आह—स एवायमिति । स्थूलसूक्ष्मात्मना तिष्ठत्येकोपाधिरित्यर्थः ॥९॥

और जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि सरोवर में जलबिन्दु को छोड़ देने पर पुनः जलपात्र से उसका उद्धार नहीं हो सकता, इस प्रकार सोया हुआ जीव नहीं उठता है ? इस आक्षेप का भी परिहार किया जाता है कि सरोवर में डाले हुए जलबिन्दु का पुनरुद्धार नहीं होता है, वहाँ पर विवेक का कारण नहीं है; किन्तु यहाँ पर भेद का कारण विद्यमान है—वह है कर्म और अविद्या । अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है । लोक में देखा जाता है कि मिले हुए दूध और पानी को हम लोग पृथक् नहीं कर सकते हैं, पर हंस पृथक् कर देता है; वह दूध पी जाता है और जल छोड़ देता है । इसके अतिरिक्त यह भी एक रहस्य की बात है कि परमात्मा से जीव कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, वह सद्ब्रह्म से पृथक् नहीं है जैसे जलराशि से जलबिन्दु पृथक् हो; किन्तु सद्ब्रह्म ही उपाधिसम्पर्क से जीवभाव में भासता है ऐसा उपचार होता है, इसे हम अनेक बार विस्तार से कह आये हैं । इस प्रकार जब तक उपाधिगत बन्धन भासता रहेगा तब तक एक जीव व्यवहार होता है, दूसरी उपाधि में बन्ध की अनुवृत्ति न होने पर जीवान्तर का व्यवहार होता है । वही अन्तःकरणादि उपाधि निद्रावस्था में बीज की भाँति और जाग्रत् अङ्कुर की भाँति रहती है । अतः स्थूल और सूक्ष्मरूप से उपाधि के विद्यमान होने के कारण वही सोया हुआ जीव जगता है, यह निश्चित हो गया है ॥९॥

४. मुग्धेऽर्धसम्पत्त्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण में कर्मादि पाँच हेतुओं से सोने वाले और जागने वाले जीव में ऐक्य बतलाया गया था, वैसे ही सुषुप्ति और मूर्च्छा में भी प्रत्यभिज्ञा के बल से ऐक्य मानना चाहिए । अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त सङ्गति है ।

(३२८) मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥१०॥

अस्ति मुग्धो नाम यं मूर्च्छित इति लौकिकाः कथयन्ति । स तु किमवस्थ इति परीक्षायामुच्यते । तिस्रस्तावदवस्थाः शरीरस्थस्य जीवस्य प्रसिद्धा जागरितं स्वप्नः सुषुप्तमिति । चतुर्थी शरीरादपसृप्तिः । न तु पञ्चमी काचिदवस्था जीवस्य श्रुतौ स्मृतौ वा प्रसिद्धास्ति । तस्माच्चतसृणामेवावस्थानामन्यतमावस्था मूर्च्छेत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावन्मुग्धो जागरितावस्थो भवितुमर्हति । न ह्ययमिन्द्रियैर्विषयानीक्षते । स्यादेतत् । इषुकारन्यायेन मुग्धो भविष्यति । यथेषुकारो जाग्रदपीष्वासक्तमनस्तया नान्यान्विषयानीक्षत एवं मुग्धो मुसलसंपातादिजनितदुःखानुभवव्यग्रमनस्तया जाग्रदपि नान्यान्विषयानीक्षत

अवस्थात्रयादात्मानं विविच्य मूर्छातो विवेचयति—मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् । मूर्छा प्रसिद्धावस्थान्तर्गता वा पञ्चमावस्था वेति । अवस्थाचतुष्टयसिद्धेर्मुग्धस्य तद्वैलक्षण्याच्च संशये सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञयोत्थितस्य सुप्ताभेदवद्विशेषज्ञानाभावाविशेषेण लिङ्गेन सुषुप्तिरेव मूर्छेति प्रत्यभिज्ञानात्सुषुप्त्यन्तर्गता मूर्छेति दृष्टान्तसंगत्या पूर्वपक्षमाह—तिस्रस्तावदिति । पूर्वपक्षे प्रसिद्धावस्थातः पृथगात्मनो मूर्छातो विवेकार्थं यत्नासिद्धिः फलं, सिद्धान्ते पृथग्यत्नध्रौव्यमिति भेदः । परिशेषं दर्शयन् सिद्धान्तयति—न तावदित्यादिना । जग्रदपि जागरावस्थोऽपीत्यर्थः । ऐन्द्रियकमर्थज्ञानं देहधारणं च

---

२. **विषय**—स्वाप एवं मूर्च्छा में जीवाभिन्नत्व इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—क्या सुषुप्ति ही मूर्च्छा है अथवा मूर्च्छा सुषुप्ति से भिन्न अवस्था है।

४. **पूर्वपक्ष**—मूर्च्छा को सुषुप्ति के अन्तर्गत ही मानना चाहिए क्योंकि बाह्यविषयों की संज्ञा का अभाव दोनों अवस्थाओं में तुल्य ही है।

५. **सिद्धान्त**—जाग्रदादि चार अवस्थाओं में से स्वप्न एवं जाग्रत् में मूर्च्छा का अन्तर्भाव नहीं कह सकते क्योंकि मूर्च्छा में संज्ञा नहीं रहती। मूर्च्छाग्रस्त व्यक्ति को मरा हुआ भी नहीं मान सकते क्योंकि उसके शरीर में प्राण एवं ऊष्मा विद्यमान रहती है। सुषुप्ति में भी मूर्च्छा का अन्तर्भाव नहीं कर सकते क्योंकि मूर्च्छाग्रस्त व्यक्ति के शरीर में कम्पन, उसकी मुखाकृति भयानक एवं नेत्र विस्फारित (फटे हुए) दिखाई देते हैं। परिशेषतः मूर्च्छा को अर्धसुषुप्ति मानना चाहिए।

मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् (ललिता)

जिसे लोक मूर्छित कहते हैं उस मूर्छाग्रस्त को मुग्ध कहा गया है, वह मुग्ध पुरुष किस अवस्था वाला है ऐसी परीक्षा होने पर कहते हैं कि शरीरस्थ जीव की तीन अवस्थायें प्रसिद्ध हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। इन तीनों से भिन्न चतुर्थी मरणावस्था भी है, किन्तु जीव की श्रुति अथवा स्मृति में कहीं भी पञ्चमावस्था प्रसिद्ध नहीं है। अतः इन्हीं चारों अवस्थाओं में कोई एक अवस्था मूर्छा है। ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि मूर्छित व्यक्ति को जाग्रत् अवस्था वाला नहीं कह सकते क्योंकि उस समय यह जीव इन्द्रियों के द्वारा विषयों को नहीं देखता है। पूर्वपक्ष—जैसे बाण बनाने वाला जगा हुआ रहने पर भी बाण में आसक्तमन होने के कारण उस समय दूसरे विषयों को नहीं देखता, ऐसे ही मूर्छाग्रस्त व्यक्ति दण्डप्रहारादि से दुःखानुभवग्रस्त

---

१. मरणम्।

इति । न, अचेतयमानत्वात् । इषुकारो हि व्यापृतमना ब्रवीतीषुमेवाहमेतावन्तं कालमुपलभमानोऽभूवमिति । मुग्धस्तु लब्धसंज्ञो ब्रवीत्यन्धे तमस्यहमेतावन्तं कालं प्रक्षिप्तोऽभूवं न किंचिन्मया चेतितमिति । जाग्रतश्चैकविषयविषक्तचेतसोऽपि देहो विध्रियते । मुग्धस्य तु देहो धरण्यां पतति । तस्मान्न जागर्ति नापि स्वप्नान्पश्यति [1]निःसंज्ञकत्वात् । नापि मृतः प्राणोष्मणोर्भावात् । मुग्धे हि जन्तौ मृतोऽयं स्यान्न वा मृत इति संशयाना ऊष्मास्ति नास्तीति हृदयदेशमालभन्ते निश्चयार्थं प्राणोऽस्ति नास्तीति च नासिकादेशम् । यदि प्राणोष्मणोरस्तित्वं नावगच्छन्ति ततो मृतोऽयमित्यध्यवसाय दहनायारण्यं नयन्ति । अथ तु प्राणमूष्माणं वा प्रतिपद्यन्ते ततो नायं मृत इत्यध्यवसाय संज्ञालाभाय भिषज्यन्ति । पुनरुत्थानाच्च न दिष्टं गतः । नहि यमराष्ट्रात्प्रत्यागच्छति ।

अस्तु तर्हि सुषुप्तो निःसंज्ञानत्वादमृतत्वाच्च । न, वैलक्षण्यात् । मुग्धः कदाचिच्चिर-

---

तस्याऽस्ति न मुग्धस्येति वैधर्म्योक्त्या दूषयति—नेत्यादिना । मूर्छाया जागराद्भेदमुक्त्वा स्वप्नमृतिभ्यां भेदमाह—नापीत्यादिना । आलभन्ते स्पृशन्ति । दिष्टं मरणम् ।

सुषुप्तिमूर्च्छयोः किंचित्सारूप्येऽपि बहुवैलक्षण्याद्भेद इत्याह—नेति । लक्षणभेदमुक्त्वा निमित्त-

---

होने के कारण जगा हुआ भी अन्य विषयों को नहीं देखता है । सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि मूर्छाग्रस्त व्यक्ति चेतनाशून्य है । वाण बनाने वाला व्यापार में संलग्न रहने के कारण बोलता है कि इतनी देर तक मैं केवल वाण का ही अनुभव करता रहा, किन्तु मूर्छित व्यक्ति संज्ञा प्राप्त करने के बाद कहता है कि इतनी देर तक मैं घोर तम में पड़ा हुआ था इसीलिए मुझे कुछ भी चेतना नहीं रही । जगे हुए व्यक्ति का किसी एक विषय में जब चित्त संलग्न रहता है तब उसका शरीर एक रूप में सीधा रहता है, किन्तु मूर्छाग्रस्त व्यक्ति का शरीर पृथ्वी पर पड़ जाता है इसीलिए मूर्छित व्यक्ति न जागता है और न स्वप्न ही देखता है क्योंकि उस समय उसे विशेष संज्ञा नहीं होती । उसके शरीर में प्राण और ऊष्मा के विद्यमान होने के कारण उसे मरा हुआ भी नहीं कह सकते । मूर्छित व्यक्ति के विषय में यह मर गया या नहीं मरा है, ऐसा संशय होने पर उसके शरीर में ऊष्मा है या नहीं, इसके लिए उसके हृदयदेश को स्पर्श करते हैं जिससे उसकी वास्तविकता का निश्चय हो जाय । वैसे ही प्राण है या नहीं, इस बात के निश्चय के लिए उस मूर्छित व्यक्ति के नासिकपुट को देखते है । यदि प्राण और ऊष्मा का अस्तित्व नहीं पाते तो यह मर गया, ऐसा निश्चयकर जलाने के लिए श्मशान में ले जाते हैं । किन्तु जब प्राण और ऊष्मा को विद्यमान देखते हैं तो यह मरा नहीं है, ऐसा मानकर उसे होश में लाने के लिए औषधादि का उपचार करते हैं । मूर्छित व्यक्ति पुनः उठता है इसलिए मरा नहीं है और न यमालय से लौटा है क्योंकि यम को प्राप्तकर कोई लौटता नहीं है । अतः मूर्छा का मरण में अन्तर्भाव नहीं कर सकते ।

पूर्वपक्ष—तो फिर मूर्छित पुरुष संज्ञाहीन और अमृत होने के कारण सोया हुआ है, ऐसा मानना चाहिए । सिद्धान्ती—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि मूर्छा और निद्रा में वैलक्षण्य सुस्पष्ट भासता

---

१. विशेषज्ञानाभावात् ।

मपि नोच्छ्वसिति सवेपथुरस्य देहो भवति भयानकं च वदनं विस्फारिते नेत्रे सुषुप्तस्तु प्रसन्नवदनस्तुल्यकालं पुनः पुनरुच्छ्वसिति निमीलिते अस्य नेत्रे भवतः । न चास्य देहो वेपते । पाणिपेषणमात्रेण च सुषुप्तमुत्थापयन्ति न तु मुग्धं मुद्गरघातेनापि । निमित्तभेदश्च भवति मोहस्वापयोः मुसलसंपातादिनिमित्तत्वान्मोहस्य श्रमादिनिमित्तत्वाच्च स्वापस्य । नच लोकेऽस्ति प्रसिद्धिर्मुग्धः सुप्त इति । परिशेषादर्धसंपत्तिर्मुग्धतेत्यवगच्छामः । निःसंज्ञत्वात्संपन्न [1]इतरस्माद्वैलक्षण्यादसंपन्न इति । कथं पुनरर्धसंपत्तिर्मुग्धतेति शक्यते वक्तुम् । यावता सुप्तं प्रति तावदुक्तं श्रुत्या—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६-८-१) इति । अत्र 'स्तेनोऽस्तेनो भवति' (बृ० ४-३-२२), 'नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम्' (छा० ८-४-१) इत्यादि । जीवे हि सुकृतदुष्कृतयोः प्राप्तिः सुखित्वदुःखित्वप्रत्ययोत्पादनेन भवति । नच सुखित्वप्रत्ययो दुःखित्वप्रत्ययो वा सुषुप्ते विद्यते मुग्धेऽपि तौ प्रत्ययौ नैव विद्येते । तस्मादुपाध्युपशमात्सुषुप्त-

भेदमाह—निमित्तेति । [2]प्रत्यभिज्ञाप्यसिद्धेत्याह—नचेति । उक्तसारूप्यवैरूप्याभ्यामर्धसंपत्तिः सर्वैः सुषुप्तिधर्मैरसंपन्नो मुग्धः सुषुप्तो न भवति, सर्वैर्मरणावस्थाधर्मैरसंपत्तेर्मृतोऽपि न किंतु अवस्थान्तरं गत इति सूत्रार्थः । अत्र सूत्रे जीवस्य ब्रह्मणार्धसंपत्तिरुक्तेति भ्रान्तः शङ्कते—कथमिति । यत्सुप्तं प्रति सत्संपन्नत्वं श्रुतं तदुपाध्यभावाभिप्रायम् । उपाध्यभावश्च मुग्धस्यापि सम इति यतस्तस्मात् कृत्स्नसंपत्तिरेवेत्यर्थः । सुषुप्तिकाले कर्मासंबन्धे पुनरुत्थानं कथमित्याशङ्क्य तत्कार्याभावात्तदसंबन्धोक्तिरित्याह—जीवे हीति । ब्रह्मणा कृत्स्नसंपत्तिमङ्गीकृत्य परिहरति—न ब्रूम इति । मुग्धत्वं

है । मूर्छाग्रस्त व्यक्ति कभी-कभी देर तक उच्छ्वास नहीं लेता, उसका शरीर कम्पनयुक्त रहता है, मुख भयानक प्रतीत होता है और आँखें फटी दीखती हैं । इसके विपरीत सोये हुए पुरुष का मुख प्रसन्न दीखता है, नियमितरूप से बार-बार श्वास लेता है, उसकी आँखें बन्द रहती हैं और उसका शरीर काँपता नहीं है । हाथ के स्पर्शमात्र से सोये हुए को उठा देते हैं किन्तु मूर्छित व्यक्ति को दण्डप्रहार से भी नहीं जगा सकते । इसके अतिरिक्त मूर्छा एवं सुषुप्ति के निमित्त भी भिन्न हैं, दण्डप्रहारादि के कारण व्यक्ति मूर्छित हो जाता है और परिश्रम के कारण व्यक्ति सो जाता है । लोक में मूर्छित को, सो गया, ऐसा कहते भी नहीं हैं । परिशेषात् मूर्छा अर्धसुषुप्ति है, ऐसा हम मानते हैं अर्थात् संज्ञाहीन होने के कारण सम्पन्न है और मरण से विलक्षण होने के कारण असम्पन्न है । पूर्वपक्ष—मूर्छा को अर्धसुषुप्ति कैसे कहते हो क्योंकि सोये हुए के विषय में 'हे सोम्य ! उस समय जीव सत् के साथ सम्पन्न हो जाता है', 'यहाँ पर चोर अचोर हो जाता है', 'इस सेतु (मर्यादा) का दिन-रात अतिक्रमण नहीं कर सकते, न जरा, न मृत्यु, न शोक, न पुण्य और न पाप ही इसे स्पर्श कर सकते हैं' इन वाक्यों द्वारा श्रुति ऐसा कहती है । जीव में सुख-दुःखप्रतीति कराने के कारण पुण्य-पाप की प्राप्ति मानते है, किन्तु सुषुप्त पुरुष में सुख अथवा दुःख की प्रतीति नहीं होती है । वैसे ही मूर्छित व्यक्ति में भी सुख-दुःख का भान नहीं होता है । अतः उपाधि के उपशम हो जाने के कारण सुषुप्त पुरुष की भाँति

१. मरणात् । २. अत्र प्रत्यभिज्ञा लोकप्रसिद्धिः ।

५. उभयलिंगाधिकरम् (सू० ११-२१)

ब्रह्म किं रूपि चारूपि भवेन्नीरूपमेव वा । द्विविधश्रुतिसद्भावादब्रह्म स्यादुभयात्मकम् ।
नीरूपमेव वेदान्तैः प्रतिपाद्यमपूर्वतः । रूपं त्वनूद्यते भ्रान्तमुभयत्वं विरुध्यते

न्मुग्धेऽपि कृत्स्नसंपत्तिरेव भवितुमर्हति नार्धसंपत्तिरिति । अत्रोच्यते—न ब्रूमो मुग्धेऽर्धसंपत्तिर्जीवस्य ब्रह्मणा भवतीति । किं तर्ह्यर्धेन सुषुप्तपक्षस्य भवति मुग्धत्वमर्धेनावस्थान्तरपक्षस्येति ब्रूमः । दर्शिते च मोहस्य स्वापेन साम्यवैषम्ये । द्वारं[1] चैतन्मरणस्य । यदास्य सावशेषं कर्म भवति तदा वाङ्मनसे प्रत्यागच्छतः । यदा तु निरवशेषं कर्म भवति तदा प्राणोष्माणावपगच्छतः । तस्मादर्धसंपत्तिं ब्रह्मविद इच्छन्ति । यत्तूक्तं न पञ्चमी काचिदवस्था प्रसिद्धास्तीति । नैष दोषः । कादाचित्कीयमवस्थेति न प्रसिद्धा स्यात् । प्रसिद्धा चैषा लोकायुर्वेदयोः । अर्धसंपत्त्यभ्युपगमाच्च न पञ्चमी गण्यत इत्यनवद्यम् ॥१०॥

हि सुषुप्तस्यार्धेन निःसंज्ञत्वादिधर्मेण साम्येन संपन्नं भवति, मरणस्यार्धेन कम्पादिना संपन्नमित्यर्धसंपत्तिरित्यर्थः । इतोऽपि सुषुप्तिवैषम्यमित्याह—द्वारं चेति । अप्रसिद्धिमङ्गीकृत्योक्तं प्रसिद्धिरप्यस्तीत्याह—प्रसिद्धा चेति । आयुर्वेदो वैद्यशास्त्रम् । प्रसिद्धौ कथं विवाद इत्याशङ्क्य पञ्चमत्वेनाप्रसिद्धेरित्याह—अर्धेति । सुषुप्तिमृतिधर्मार्धसंपत्त्या तदन्तर्भावबुद्धिर्लोकानामित्यर्थः ॥१०॥

मूर्छाग्रस्त व्यक्ति में भी सम्पूर्णरूप से ब्रह्मसम्पत्ति कह सकते हैं, अर्धसम्पत्ति मानना ठीक नहीं। सिद्धान्ती—इस पर हम कहते हैं कि जीव की ब्रह्म के साथ मूर्छावस्था में अर्धसम्पत्ति ही होती है अर्थात् उस समय अर्धभाग से सुषुप्त पक्ष का समर्थन और अर्धभाग से अवस्थान्तर का समर्थन होता है। मूर्छा का स्वाप के साथ साम्य और वैषम्य हम दिखला चुके हैं। यह तो मरण का द्वार है। जब उस मूर्छित व्यक्ति का कर्म सावशेष रहता है तब मन और वाणी लौट आते हैं और जब कर्म निरवशेष हो जाता है तब प्राण और ऊष्मा भी नहीं रह जाते, इसीलिए ब्रह्मवित् पुरुष इस मूर्छा को अर्धसम्पत्ति ही मानते हैं। और जो आप ने कहा था कि पञ्चम अवस्था कोई प्रसिद्ध नहीं है, तो यह कोई दोष नहीं है। यह मूर्छा कभी-कभी और किसी-किसी को होती है इसीलिए यह प्रसिद्ध नहीं है और सत्य पूछो तो लोक और आयुर्वेद में मूर्छा को भी प्रसिद्धि है अर्थात् मूर्छा को अर्धसम्पत्ति मानने के कारण पञ्चम अवस्था नहीं मानी जाती है, यह पक्ष सर्वथा निर्दुष्ट है ॥१०॥

५. उभयलिङ्गाधिकरण

१. **सङ्गति**—इस प्रकार तत्-त्वम् पदार्थ में से पहले त्वम् पदार्थ का विचार किया गया जो उद्देश्य है। वह स्वप्रकाश, चिद्रूप एवं सभी अवस्थाओं से अतीत है। ऐसा बतला देने के बाद अब विधेय तत् पदार्थ प्रतिपादन का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की अवसर सङ्गति है।

२. **विषय**—ब्रह्म के स्वरूप का अवधारण इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

---

१. सुषुप्त पुनर्द्वारं जीवनस्य।

(३२९) न [1]स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥११॥

येन ब्रह्मणा सुषुप्त्यादिषु जीव उपाध्युपशमात्सम्पद्यते तस्येदानीं स्वरूपं श्रुतिवशेन निर्धार्यते । सन्त्युभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० ३-१४-२) इत्येवमाद्याः सविशेषलिङ्गाः । 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३-८-८) इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः । किमासु श्रुतिषूभयलिङ्गम् ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमुतान्यतरलिङ्गम् । यदाप्यन्यतरलिङ्गं तदापि किं सविशेषमुत निर्विशेषमिति मीमांस्यते ।

सर्वाभिरवस्थाभिरलिप्तस्त्वमर्थ इति विचार्यापादसमाप्तेस्तत्पदार्थं निरूपयितुकामः प्रथमं तस्य निर्विशेषत्वमाह—न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि । **उद्देश्यत्वम्पदार्थजिज्ञासोपरमानन्तरं तत्स्वरूपब्रह्मविचारस्यावसरसंगतिमाह**—येनेति । **निर्विशेषत्वं सविशेषत्वं चेत्युभयं लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते याभिस्ता उभयलिङ्गाः श्रुतयः संशयबीजत्वेन सन्तीत्यर्थः । यथा विरुद्धसुषुप्तिमरणोभयरूपं मुग्धत्वं तथा श्रुतिप्रामाण्यादुभयरूपं ब्रह्म ध्येयमिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षः ।**

३: **संशय**—ब्रह्म रूपवान है अथवा निरूप है ? उभय प्रकार की श्रुतियों के कारण ऐसा संशय होता है ।

४. **पूर्वपक्ष**—**'तदेतच्चतुष्पाद ब्रह्म'** इस श्रुति ने ब्रह्म को रूपवान कहा है तथा **'अस्थूलमनणु'** इस श्रुति ने ब्रह्म को निरूप कहा है । प्रमाणभूत ऐसी दो श्रुतियों के कारण ब्रह्म को उभयात्मक मानना चाहिए ।

५. **सिद्धान्त**—वेदान्तशास्त्रप्रतिपाद्य ब्रह्म निरूप ही है क्योंकि यह मानान्तर से सिद्ध न होने के कारण अपूर्व है । जगत्कर्तृत्वादि धर्म से युक्त ब्रह्म का क्षित्यादिकं सकर्तृकम् कार्यत्वात् इस अनुमान से भी जाना जाता है । अतः उपासना के लिए सविशेष ब्रह्म का अनुवाद किया गया है, उसमें श्रुति का तात्पर्य नहीं है । उभयरूप मानना परस्पर विरुद्ध होने के कारण भ्रान्त है, वस्तुतः ब्रह्म निरूप ही है ।

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि (ललिता)

सभी अवस्थाओं में त्वम् पदार्थ अलिप्त है, ऐसा निर्णय हो जाने के बाद अब इस पाद की समाप्तिपर्यन्त तत् पदार्थ बतलाने के लिए पहले उसका निर्विशेष स्वरूप कहते हैं कि परमात्मा की उभयरूपता न स्वतः है और न उपाधिकृत है क्योंकि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादक सभी वाक्यों में ब्रह्म को समस्त विशेषों से रहित ही बतलाया गया है । सुषुप्त्यादि अवस्थाओं में उपाधि के उपशम हो जाने पर जिस ब्रह्म के साथ जीव अभिन्न हो जाता है उस ब्रह्म का स्वरूप अब श्रुति के बल से निश्चित करते हैं । ब्रह्मविषयक श्रुतियाँ दोनों प्रकार की हैं, उनमें से 'सभी कर्म, सभी कामना, सभी गन्ध और सभी रस से युक्त परमात्मा है' ये सब सविशेष ब्रह्म के बोधक हैं और 'वह ब्रह्म स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं और न दीर्घ ही है' ये सब श्रुतियाँ निर्विशेष ब्रह्म को बोधक हैं । वहाँ पर संशय होता है कि उक्त श्रुतियों में ब्रह्म को उभयलिङ्गात्मक मानना चाहिए अथवा अन्यतर लिङ्गवाला ? अन्यतर लिङ्गवाला मानने पर भी यह प्रश्न होगा कि ब्रह्म सविशेष है अथवा निर्विशेष है, इस प्रकार ब्रह्म के विषय में मीमांसा होती है ।

---

१. उपाधितोपि ।

(३३०) न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥१२॥

तत्रोभयलिङ्गश्रुत्यनुग्रहादुभयलिङ्गमेव ब्रह्मेत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावत्स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमुपपद्यते । न ह्येकं वस्तु स्वत एव रूपादिविशेषोपेतं तद्विपरीतं चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात् । अस्तु तर्हि स्थानतः पृथिव्याद्युपाधियोगादिति । तदपि नोपपद्यते । नह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः संभवति । नहि स्वच्छः सन्स्फटिकोऽलक्तकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति, भ्रममात्रत्वादस्वच्छताभिनिवेशस्य । उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात् । अतश्चान्यतरलिङ्गपरिग्रहेऽपि समस्तविशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद्विपरीतम् । सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (क० ३।१५ मुक्तिको० २।७२) इत्येवमादिष्वपास्तसमस्तविशेषमेव ब्रह्मोपदिश्यते ॥११॥

अथापि स्याद्युक्तं निर्विकल्पकमेकलिङ्गमेव ब्रह्म नास्य स्वतः, स्थानतो

निर्विशेषमेकरूपमेव ज्ञयमिति सिद्धान्तयति—एवमिति । किमुभयरूपत्वं स्वतः, उत स्वतो निर्गुणस्य सर्वगन्धत्वादिविशेष उपाधितः सत्यः, आहोस्वित्स्वतः सविशेषमेव ब्रह्मेति । तत्राद्यं निरस्य द्वितीयमनूद्य दूषयति—अस्तु तर्हीति । स्थानमुपाधिः । ब्रह्मणि विशेषः कल्पितः, औपाधिकत्वात्स्फटिकलौहित्यवदित्यर्थः । उपाधेः सत्यत्वेऽपि तत्कृतं मिथ्येति दृष्टं ब्रह्मणि तूपाधीनां मिथ्यात्वात्तत्कृतो विशेषो मिथ्येति किमु वाच्यमित्याह—उपाधीनामिति । तृतीयं निरस्यति—अतश्चेति । सर्वस्य विशेषस्य कल्पितत्वादेवेत्यर्थः । निषेधश्रुतेश्चैवमित्याह—सर्वत्र हीति ॥११॥

भिद्यत इति भेदो विशेषः, निर्विशेषत्वश्रुतावपि विशेषस्यापि श्रुतेरुभयरूपत्वं स्यादिति शङ्कां व्याचष्टे—अथापि स्यादिति । पूर्वोक्तं विरोधं स्मारयति—ननूक्तमिति । भेदश्रुतिप्रामाण्यार्थमौपाधिक-

वहाँ पर उभयलिङ्गश्रुति को देखते हुए उभयलिङ्ग ही ब्रह्म को मानना चाहिए, ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि परब्रह्म का उभयरूप स्वतः ही होना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि एक ही वस्तु स्वतः रूपादिविशेष से युक्त हो और उससे रहित भी हो, ऐसा विरोध होने के कारण स्वीकार करना शक्य नहीं है। यदि कहो कि पृथिव्यादि उपाधि के सम्बन्ध से ब्रह्म को उभयरूपवाला माना जा सकता है, तो ऐसा मानना भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि उपाधि के कारण से अन्य प्रकार की वस्तु अन्य स्वभाववाली नहीं हो सकती। स्फटिक स्वच्छ होता है, वह जपाकुसुम के सम्बन्ध से अस्वच्छ नहीं हो जाता, अस्वच्छता की प्रतीति तो भ्रममात्र है और उपाधियाँ अविद्या से उपस्थापित हैं। अतः अन्यतर लिङ्ग स्वीकार करने पर भी समस्त विशेष से रहित निर्विकल्पक ही ब्रह्म को समझना चाहिए, उससे विपरीत नहीं समझना चाहिए क्योंकि 'वह अव्यय ब्रह्म शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित है' इन ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादक सभी श्रुतिवाक्यों में समस्तविशेष से रहित ही ब्रह्म का उपदेश किया गया है ॥११॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् (ललिता)

पूर्वपक्ष—निर्विकल्पक एकलिङ्गवाला ही ब्रह्म है, ऐसा जो आप ने कहा था और स्वतः या

१. तत्कृतः सर्वगन्धत्वादिविशेषो मिथ्यैव न सत्यः । २. सविशेषमित्यर्थः । १. निष्प्रपंचम् । २. उपाधितः ।

(३३१) अपि चैवमेके ॥१३॥

बोभयलिङ्गत्वमस्तीति । तन्नोपपद्यते । कस्मात् ? भेदात् । भिन्ना हि 'प्रतिविद्यं ब्रह्मण आकारा उपदिश्यन्ते । 'चतुष्पाद्ब्रह्म षोडशकलं ब्रह्म' 'वामनीत्वादिलक्षणं ब्रह्म त्रैलोक्यशरीरवैश्वानरशब्दोदितं ब्रह्म' इत्येवंजातीयकाः । तस्मात्सविशेषत्वमपि ब्रह्मणोऽभ्युपगन्तव्यम् । ननूक्तं नोभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणः सम्भवतीति । अयमप्यविरोधः उपाधि'कृतत्वादाकारभेदस्य । अन्यथा हि निर्विषयमेव भेदशास्त्रं प्रसज्येतेति चेत् । नेति ब्रूमः । कस्मात् ? प्रत्येकमतद्वचनात् । प्रत्युपाधिभेदं ह्यभेदमेव ब्रह्मणः श्रावयति शास्त्रम्— 'यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा' (बृ० २-५-१) इत्यादि । अतश्च न 'भिन्नाकारयोगो ब्रह्मणः शास्त्रीय इति शक्यते वक्तुम् । भेदस्योपासनार्थत्वादभेदे तात्पर्यात् ॥१२॥

अपिचैवं भेददर्शननिन्दापूर्वकमभेददर्शनमेवैके शाखिनः समामनन्ति—'मनसैवेदमाप्तव्यं

रूपभेदस्वीकारादविरोध इति समाध्यर्थः । किमुपाधिगत एव रूपभेदो ब्रह्मण्युपचर्यते ध्यानार्थमुतोपाधियोगात्सत्यविरुद्धरूपवत्तया ब्रह्मणो भेदो भवतीति । आद्येऽस्मदिष्टसिद्धिः, द्वितीयमभेदश्रुत्या दूषयति—नेति ब्रूम इति ॥१२॥

द्वैतनिन्दापूर्वकमद्वैतोक्तेश्च निर्विशेषं तत्त्वमिति सूत्रार्थमाह—अपिचेति । भोक्ता जीवो भोग्यं शब्दादि तयोः प्रेरितारमीश्वरं च मत्वा विचार्य मे मम प्रोक्तं तत्सर्वं त्रिविधं ब्रह्मैवेति जानीयादित्यर्थः ॥१३॥

उपाधितः उभयरूप ब्रह्म नहीं हो सकता, ऐसा भी कहा था, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म के आकार प्रतिविद्या में भिन्न-भिन्न बतलाये गये हैं। चतुष्पाद् ब्रह्म, षोडशकलावाला ब्रह्म, वामनीत्वादिरूप ब्रह्म और त्रैलोक्यशरीर वैश्वानरशब्दवाच्य ब्रह्म, ऐसे अर्थ के बोधक श्रुतिवाक्य भिन्न-भिन्न हैं इसीलिए ब्रह्म में सविशेषत्व भी मानना चाहिए। सिद्धान्ती—ब्रह्म में उभयलिङ्गत्व सम्भव नहीं है, ऐसा हम कह आये हैं। पूर्वपक्ष—यह विरोध भी नहीं है क्योंकि आकार उपाधि के कारण से है अन्यथा भेदशास्त्र निर्विषय होने लग जायेगा। सिद्धान्ती—आप का यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि उपाधिभेद रहने पर भी शास्त्रों ने ब्रह्म को अभिन्न ही बतलाया है। 'जो यह पृथ्वी में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो अध्यात्म में शारीर तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह आत्मा है' इत्यादि शास्त्र प्रत्येक उपाधि में ब्रह्म को अभिन्न बतलाते हैं। अतः ब्रह्म में भिन्न आकार का सम्बन्ध शास्त्रीय नहीं कह सकते। शास्त्रों में उपासना के लिए भेद कहा गया है, शास्त्र का तात्पर्य तो अभेदबोधन में ही है ॥१२॥

अपि चैवमेके (ललिता)

दोनों प्रकार की श्रुतियों के रहने पर भी ब्रह्म के निर्विशेषत्व का नियामक अग्रिम सूत्र से बतलाते हैं कि एक शाखावाले भेददर्शन की निन्दा करते हुए अभेददर्शन ही बतलाते हैं—'यह ब्रह्म मन

---

१. प्रत्युपासनम् । २. विद्या कर्म फलं वाममवामं नयतीति वामनी । ३. यद्यप्युपाधिकृतस्तथापि सत्य इत्यभिप्रायः । ४. भिन्नाकारैः संबंधः ।

(३३२) अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (क० ४-११) इति । तथान्येऽपि 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मेतत्' (श्वे० १-१२) इति समस्तस्य भोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मैकस्वभावतामधीयते ॥१३॥

कथं पुनराकारवदुपदेशिनीष्वनाकारोपदेशिनीषु च ब्रह्मविषयासु श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते न पुनर्विपरीतमिति । अत उत्तरं पठति—

रूपाद्याकाररहितमेव हि ब्रह्मावधारयितव्यं न रूपादिमत् । कस्मात् ? तत्प्रधानत्वात् । 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३-८-८), 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (क० ३-१५-मुक्ति० २-७२), 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' (छा०८-१४-१) । 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २-१-२), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्ममयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २-५-१९) इत्येवमादीनि हि वाक्यानि निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वप्रधानानि नार्थान्तरप्रधानानीत्येतत्प्रतिष्ठापितं 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १-१-४) इत्यत्र । तस्मादेवंजातीयकेषु वाक्येषु यथाश्रुतं निराकारमेव ब्रह्मावधारयितव्यम् । इतराणि त्वाकारवद्ब्रह्मविषयाणि वाक्यानि न तत्प्रधानानि । उपासना-

---

द्विविधश्रुतिषु सतीषु निर्विशेषत्वे किं नियामकमिति शङ्कते—कथं पुनरिति । तत्परातत्परविरोधे तत्परं बलवदिति न्यायो नियामक इत्याह—अरूपवदेवेति । उपासनापरवाक्येषु

से प्राप्त करने योग्य है, यहाँ पर कुछ भी भेद नहीं है और जो इसमें भेद देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है अर्थात् बार-बार मरता है ।' ऐसे ही अन्य शाखावाले भी 'भोक्ता, भोग्य और प्रेरयिता को जानकर ये तीनों ब्रह्म ही हैं, ऐसा निश्चय कर लेता है' इस प्रकार समस्त भोग्य, भोक्ता एवं नियन्तारूप प्रपञ्च को एकब्रह्मस्वभाव बतलाते हैं ॥१३॥

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् (ललिता)

शङ्का—साकार एवं निराकार ब्रह्मबोधक श्रुतियों के रहते-रहते ब्रह्म निराकार ही है, साकार नहीं है, ऐसा निश्चय कैसे कर सकते हैं ? इसका समाधान अग्रिम सूत्र से देते हैं कि—

रूपादि आकाररहित ही ब्रह्म है, ऐसा निश्चय करना चाहिए । ब्रह्म रूपादियुक्त नहीं है क्योंकि निर्विशेषब्रह्मबोधक श्रुति प्रधान है—'ब्रह्म स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं, ह्रस्व एवं दीर्घ नहीं है'; 'शब्द, स्पर्श, रूपादि से रहित ब्रह्म अव्यय है'; 'समस्त नाम-रूप का निर्वाहक निःसन्देह आकाश ही है, वे नाम-रूप जिसके भीतर हैं वह ब्रह्म है'; 'वह परमात्म पुरुष दिव्य, अमूर्त, अजन्मा, बाह्याभ्यन्तर सर्वत्र है'; 'वह ब्रह्म कार्यकारणभाव से रहित, बाह्याभ्यन्तरभावशून्य आत्मस्वरूप सभी का प्रकाशक है' ऐसे सभी निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वबोधक श्रुतिवाक्य प्रधान हैं, ये अर्थान्तरप्रधान नहीं हैं ऐसा हम **'तत्तु समन्वयात्'** इस सूत्र की व्याख्या में बतला आये हैं । अतः ऐसे ही वाक्यों में यथाश्रुत निराकार ब्रह्म का ही निश्चय करना चाहिए । इनसे भिन्न साकारब्रह्मबोधक वाक्य प्रधान नहीं हैं, वे तो उपासना

(३३३) प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम् ॥१५॥

विधिप्रधानानि हि तानि, तेष्वसति विरोधे यथाश्रुतमाश्रयितव्यम् । सति तु विरोधे तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसि भवन्तीति । एष विनिगमनायां हेतुः । येनोभयोष्वपि श्रुतिषु सतोऽप्यनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते न पुनर्विपरीतमिति ॥१४॥

का तर्ह्याकारवद्विषयाणां श्रुतीनां गतिरित्यत आह—

यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद्व्याप्यावतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसंबन्धात्तेष्वृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तद्भावमिव प्रतिपद्यते, एवं ब्रह्मापि पृथिव्याद्युपाधिसंबन्धात्तदाकारतामिव प्रतिपद्यते तदालम्बनो ब्रह्मण आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते । एवमवैयर्थ्यमाकारवद्ब्रह्मविषयाणामपि वाक्यानां भविष्यति । न हि वेदवाक्यानां कस्यचिदर्थवत्त्वं कस्यचिदनर्थवत्त्वमिति युक्तं प्रतिपत्तुं प्रमाणत्वाविशेषात् ।

आकारे तात्पर्याभावेऽपि देवताविग्रहादिवदाकारसिद्धिमाशङ्क्य निष्प्रपञ्चपरश्रुतिविरोधान्मैवमित्याह—तेष्वसतीति ॥१४॥

कल्पितद्वैते सावकाशत्वाच्च सप्रपञ्चत्वश्रुतयो दुर्बला इत्याह—प्रकाशवच्चेति । नन्वाकारवाक्यानामुपाधिकल्पितसर्वगन्धत्वादिनार्थवत्त्वं किमिति वर्ण्यते वैयर्थ्यमेवोच्यताम्, तत्राह—नहि वेदवाक्यानामिति ।

विधिप्रधान हैं । उनमें विरोध न रहने पर यथाश्रुत का आश्रय लेना ही उचित है, किन्तु विरोध होने पर अतत्प्रधान श्रुतियों की अपेक्षा तत्प्रधान श्रुतियाँ बलवान मानी जाती हैं । बस विनिगमना में वे ही कारण हैं जिससे कि उभयबोधक श्रुतियों के रहते हुए भी निराकार ब्रह्म का निश्चय होता है, उससे विपरीत का निश्चय नहीं होता ॥१४॥

कल्पित द्वैत में सप्रपञ्चत्व श्रुतियाँ सावकाश होने के कारण दुर्बल हैं, ऐसा अग्रिम सूत्र से कहते हैं—

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम् (ललिता)

यदि निष्प्रपञ्च ब्रह्मबोधक श्रुति प्रबल है तो साकारब्रह्मविषयक श्रुतियों की क्या गति होगी, ऐसा प्रश्न होने पर अग्रिम सूत्र से कहते हैं कि जैसे सूर्य अथवा चन्द्र का प्रकाश आकाश को व्याप्तकर स्थित रहता है और अँगुली इत्यादि उपाधियों के सम्बन्ध से वे ऋजुवक्रादिकभाव को प्राप्त होते हैं तब तद्भावापन्न प्रकाश भी ऋजु-वक्रादि दीखता है, ऐसे ही पृथिव्यादि उपाधि सम्बन्ध से निराकार ब्रह्म भी तदाकारता को प्राप्त जैसा भासता है । उक्त रीति से पृथिव्यादि आकार का आलम्बन करने वाले ब्रह्म में आकारविशेष का उपदेश उपासना के लिए किया गया है, अतः विरुद्ध नहीं है । इस प्रकार साकारब्रह्मविषयक श्रुतिवाक्यों में भी अवैयर्थ्य सिद्ध हो जायेगा । सभी श्रुतियों में प्रमाणत्व समान है, अतः किन्हीं वेदवाक्यों को सार्थक और किन्हीं को निरर्थक कहना उचित नहीं होगा ।

---

१. उपाधि ।

(३३४) आह च तन्मात्रम् ॥१६॥

नन्वेवमपि यत्पुरस्तात्प्रतिज्ञातं नोपाधियोगादप्युभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणोऽस्तीति तद्विरुध्यते । नेति ब्रूमः । उपाधिनिमित्तस्य वस्तुधर्मत्वानुपपत्तेः । उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात् । सत्यामेव च [1]नैसर्गिक्यामविद्यायां लोकवेदव्यवहारावतार इति तत्र तत्रावोचाम ॥१५॥

आह च श्रुतिश्चैतन्यमात्रं विलक्षणरूपान्तररहितं निर्विशेषं ब्रह्म—'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४-५-१३) इति । एतदुक्तं भवति न तस्यात्मनोऽन्तर्बहिर्वा चैतन्यादन्यद्रूपमस्ति, चैतन्यमेव तु निरन्तरमस्य स्वरूपम् । यथा सैन्धवघनस्यान्तर्बहिश्च लवणरस एव निरन्तरो भवति न रसान्तरं तथैवेति ॥१६॥

नन्वेवमपीति । उक्तरीत्योभयरूपत्वाङ्गीकारेण श्रुतीनां व्यवस्थितत्वेऽपीत्यर्थः । उपाधीनां कल्पितत्वादौपाधिकस्य सत्यत्वानुपपत्तेर्न सत्यमुभयरूपत्वमिति पूर्वमुक्तं, संप्रति सत्यं निर्विशेषत्वं मिथ्या सविशेषत्वमित्युच्यत इत्युभयरूपत्वाङ्गीकारेऽपि न पूर्वापरविरोध इत्याह—नेति ब्रूम इति । द्वैतस्य मिथ्यात्वे ज्ञानेन बाधावुपासनादिव्यवहारो न स्यादित्याशङ्क्य बाधात्प्रागेव स इत्याह—सत्यामिति ॥१५॥

यतः श्रुतिश्चिन्मात्रमाहातश्च विशेषो मिथ्येति सूत्रार्थमाह—आह चेति । सैन्धवघनो लवणपिण्डः ॥१६॥

पूर्वपक्षी—ऐसा कहने पर पूर्वप्रतिज्ञा का विरोध होने लग जायेगा क्यों पहले आप ने कहा था कि उपाधिसम्बन्ध से भी ब्रह्म में उभयलिङ्गत्व नहीं माना जा सकता। सिद्धान्ती—हमारा कहना ऐसा नहीं है जैसा आप समझ रहे हैं। उपाधिनिमित्तक धर्म वास्तविक नहीं होता क्योंकि उपाधि अविद्याप्रत्युपस्थापित होती है। नैसर्गिक अविद्या के रहने पर ही लोक एवं वेद व्यवहार होता है जो बाध से पूर्व ही होता है, ऐसा हम स्थल-स्थल पर कह आये हैं ॥१५॥

आह च तन्मात्रम् (ललिता)

श्रुति ने विलक्षण, रूपान्तररहित, निर्विशेष, चिन्मात्र ब्रह्म को कहा है—'जैसे लवणपिण्ड बाहर-भीतर सभी ओर से सर्वथा रसघन ही होता है, ऐसे ही यह आत्मा बाहर-भीतर सभी ओर से चैतन्यघन ही है।' इसका तात्पर्य यह है कि इस चैतन्य आत्मा के बाहर और भीतर उससे भिन्न रूप नहीं है, बाह्याभ्यन्तरभाव से रहित चैतन्य ही इसका रूप है। जैसे लवणपिण्ड बाहर-भीतर सभी ओर से लवणरस ही है, अन्य रस नही है; वैसे ही यह आत्मा भी सभी ओर से चिन्मात्र ही है ॥१६॥

---

१. स्वाभाविक्याम् ।

(३३५) दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥१७॥

दर्शयति च श्रुतिः 'पररूपप्रतिषेधेनैव ब्रह्म निर्विशेषत्वात्—'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २-३-६) इति, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (के० १-३)', 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २-४-१) इत्येवमाद्या। बाष्कलिना च बाध्वः पृष्टः सन्नवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचेति श्रूयते—'स होवाचाधीहि भगवो ब्रह्मेति स तूष्णीं बभूव तं ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि। उपशान्तोऽयमात्मा' इति। तथा स्मृतिष्वपि परप्रतिषेधेनैवोपदिश्यते—'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते। अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते' (भ० गी० १३-१२) इत्येवमाद्यासु। तथा विश्वरूपधरो नारायणो नारदमुवाचेति स्मर्यते—'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैव मां ज्ञातुमर्हसि' (म० भा० शा० १२-३३९) इति ॥१७॥

किञ्च श्रुतिस्मृत्योः [1]परनिषेधेन ब्रह्मोपदेशान्निष्प्रपञ्चं ब्रह्मेत्याह—दर्शयति चेति। अथ द्वैतोक्त्यनन्तरं ज्ञानहेतुत्वान्नेति नेति उपदेशः क्रियत इत्यर्थः। अपि अन्यत् पुनः पुनरधीहि भो इति निर्बन्धकारिणं तं द्वितीये तृतीये च प्रश्ने तूष्णींभावं त्यक्त्वोवाच। उपशान्तो निरस्तद्वैतः। अतस्तस्य तूष्णींभाव एवोत्तरमिति सौत्रश्च अथोशब्दस्तथार्थकः। आदिमत्कार्यं तन्न भवतीत्यनादिमत्। सत् इन्द्रियवेद्यम्। असत् परोक्षं च न स्वप्रकाशत्वादित्यर्थः। सर्वभूतगुणैर्दिव्यगन्धादिभिर्युक्तं मां मूर्तिमन्तं पश्यसीति यत्सा माया, अत एव सद्वैतो भगवानिति मां द्रष्टुं नार्हसि, वस्तुतो द्वैतातीतत्वादित्यर्थः ॥१७॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते (ललिता)

पररूपप्रतिषेधपूर्वक निष्प्रपञ्च ब्रह्म का उपदेश श्रुति एवं स्मृति में किया गया है, इसे अग्रिम सूत्र से दिखलाते है—'ब्रह्म के दो रूप बतलाने के बाद नेति-नेति वाक्य द्वारा श्रुति ने सर्वोत्कृष्ट उपदेश किया है', 'वह ब्रह्मचैतन्य विदित वस्तु से भिन्न ही है और अविदित से भी भिन्न है', 'जहां से मन के सहित वाणी बिना प्राप्त किये ही लौट आती है' ये सभी श्रुतियाँ द्वैतनिषेधपूर्वक निर्विशेष ब्रह्म को बतलाती हैं। वाष्कलि के द्वारा पूछे जाने पर बाध्व ऋषि ने तूष्णीभाव से ही ब्रह्म का उपदेश किया है—'वाष्कलि ने जब कहा कि हे भगवन्! आप मुझे ब्रह्म का उपदेश करें, तब वह बाध्व चुप्पी साध लेते हैं; पुनः दूसरी तीसरी बार पूछने पर उसका उत्तर दिया है कि हम इतनी देर तक तुम्हारे प्रश्न का ही उत्तर दे रहे थे, तुम उसे समझ नहीं पाये हो अर्थात् यह आत्मा उपशान्तस्वरूप है जिसमें द्वैत है ही नहीं, फिर भला उसका निर्वचन वाणी से कैसे हो सकता है।' वैसे ही 'जो ज्ञातव्य वस्तु है उसे मैं अच्छी प्रकार से कहूँगा जिसे जानकर ज्ञानी अमरत्व प्राप्त कर लेता है, वह परब्रह्म कार्य नहीं है और न सत् एवं असत् शब्द से ही कहा जा सकता है' इन स्मृतियों में भी द्वैतप्रतिषेधपूर्वक ही ब्रह्म का उपदेश किया गया है। इसी प्रकार विश्वरूपधारी नारायण ने नारद से कहा है कि 'हे नारद! जिस साकार रूप को तुम देखते हो यह मेरी माया है जिसकी सृष्टि मैंने की है जो सभी दिव्यगन्धादि भूतगुणों से युक्त है, पर मुझे ऐसा न समझो क्योंकि मैं द्वैत से परे हूँ। द्वैत तो मायिक है और मैं माया से सर्वथा असम्बद्ध हूँ ॥१७॥

---

१. प्रपंच। २. अध्यस्त।

(३३६) अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥१८॥

(३३७) अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥१९॥

यत एवं चायमात्मा चैतन्यरूपो निर्विशेषो वाङ्मनसातीतः परप्रतिषेधेनोपदेश्योऽत एव चास्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यकादिवदित्युपमोपादीयते मोक्षशास्त्रेषु—'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा' इति। 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' (ब्र० बि० १२) इत्येवमादिषु ॥१८॥

अत्र प्रत्यवस्थीयते—

न जलसूर्यकादितुल्यत्वमिहोपपद्यते, तद्वदग्रहणात्। सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्यः पृथग्भूतं

किञ्च यथा जलाद्युपाधिकल्पितः सूर्यचन्द्रादेर्भेदचलनादिर्धर्म एवमात्मन इति दृष्टान्तात् श्रुतेश्च निर्विशेषं तत्त्वमित्याह—अत एव चोपमेति। जलस्थप्रतिबिम्बत्वाकारेण सूर्यस्याभासत्वद्योतनाय सूर्यकेति कप्रत्ययः। यथायं ज्योतिर्मयो विवस्वान्स्वत एकोऽपि घटभेदेन भिन्नाः अपोऽनुगच्छन् बहुधा क्रियते एवमजोऽयमात्मा देवः स्वप्रकाश एकोऽप्युपाधिना मायया क्षेत्रेष्वनुगच्छन् भेदरूपः क्रियत इति योजना ॥१८॥

इहात्मन्युक्तदृष्टान्तवैषम्यशङ्कासूत्रम्—अम्बुवदिति। आत्मनो नीरूपत्वाद्दूरस्थोपाध्यभावाच्च मायया बुद्ध्यादिषु प्रतिबिम्बभेदो न युक्त इत्यर्थः ॥१९॥

सूर्य-चन्द्रादि का भेद और चलनादि धर्म जैसे जलादि उपाधि के कारण से भासते हैं, ऐसे ही आत्मा में सभी संसारधर्म उपाधि से भासते है; वह आत्मा वस्तुतः निर्विशेष है, इसे अग्रिम सूत्र से कहते हैं—

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् (ललिता)

क्योंकि यह आत्मा चैतन्यस्वरूप, निर्विशेष, मन-वाणी से अतीत, द्वैतप्रतिषेधपूर्वक उपदेश के योग्य है इसीलिए इसमें भासने वाली विशेषवत्ता उपाधि के कारण अपारमार्थिक है, इसी अभिप्राय से मोक्षशास्त्र में जलसूर्यकादि की भाँति बतलाकर उपमा दी गयी है—'जैसे ज्योतिस्वरूप सूर्य एक होता हुआ भी जल के भेद से अनेक भासता है, ऐसे ही इन देवशरीरों में यह अजन्मा आत्मा उपाधि के कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है', 'सभी भूतों में व्यवस्थित अन्तरात्मा एक ही है, वह एक ही आत्मा जलचन्द्र की भाँति बहुधा दीखता है' इन सभी मोक्षशास्त्रों में जलसूर्यकादि दृष्टान्त द्वारा भेद को मिथ्या और अभेद को पारमार्थिक कहा गया है ॥१८॥

पूर्वपक्षी पूर्वोक्त दृष्टान्त में वैषम्य की आशङ्का करता है कि—

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् (ललिता)

जलसूर्यादि की समानता इस आत्मा में कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जल की भाँति आत्मा का ग्रहण नहीं होता। सूर्यादि मूर्त पदार्थों से दूरस्थ पृथक् मूर्त वस्तु जल गृहीत होता है, उसमें सूर्यादि के

(३३८) वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥२०॥

विप्रकृष्टदेशं मूर्तं जलं गृह्यते तत्र युक्तः सूर्यादिप्रतिबिम्बोदयः । न त्वात्माऽमूर्तो न [1]चास्मात्पृथग्भूता विप्रकृष्टदेशाश्चोपाधयः, सर्वगतत्वात्सर्वानन्यत्वाच्च । तस्मादयुक्तोऽयं दृष्टान्त इति ॥१९॥

अत्र प्रतिविधीयते—

युक्त एव त्वयं दृष्टान्तो विवक्षितांशसंभवात् । नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः क्वचित्-किञ्चिद्विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते, सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात् । नचेदं स्वमनीषया जलसूर्यकादिदृष्टान्तप्रणयनम् । शास्त्र-प्रणीतस्य त्वस्य प्रयोजनमात्रमुपन्यस्यते । किं पुनरत्र विवक्षितं सारूप्यमिति । तदु-च्यते —वृद्धिह्रासभाक्त्वमिति । जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते जलह्रासे ह्रसति जलचलने चलति जलभेदे भिद्यत इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति, न तु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति । एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद्भजत

उपाध्यन्तर्भावेन [2]तत्कल्पितधर्मवत्त्वमत्र विवक्षितांशस्तेन साम्येन समाधानसूत्रम्—वृद्धिह्रासेति । दृष्टान्तसाम्येऽपि नीरूपात्मनः प्रतिबिम्बः स्वबुद्ध्या कथं कल्प्यत इत्यत आह—न चेदमिति । श्रूयते न कल्प्यत इत्यर्थः । श्रुतदृष्टान्तस्य 'सूर्यकादिवत्, इत्युपन्यासेन किं फलमित्यत आह—शास्त्रेति । आत्मनो निर्विशेषत्वं फलमित्यर्थः । अविरोध इति न वैषम्यमित्यर्थः । आत्मा प्रतिबिम्बशून्यः, नीरूपद्रव्यत्वात्, वायुवदित्यनुमाने आकाशे व्यभिचारः । अल्पजलेऽविदूराकाशप्रतिबिम्बदर्शनादुपाधिदूरस्थत्वमपि क्वचिदनपेक्षितमिति भावः ॥२०॥

प्रतिबिम्ब का उदय बतलाना युक्तिसङ्गत है; किन्तु आत्मा मूर्त नहीं है और न उससे पृथक् दूरदेशस्थ उपाधियाँ हैं क्योंकि आत्मा सर्वव्यापक है और सबसे अभिन्न भी है । अतः पूर्वसूत्रोक्त दृष्टान्त असङ्गत है ॥१९॥

इस पर सिद्धान्ती समाधान देता है कि यह दृष्टान्त युक्त ही है क्योंकि—

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् (ललिता)

विवक्षित अंश का ग्रहण करना सम्भव है । कहीं भी दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्त में कुछ विवक्षित अंश को छोड़कर सर्वथा सारूप्य कोई भी दिखला नहीं सकता और यदि दृष्टान्त-दार्ष्टान्त में सर्वथा सारूप्य हो जाय तो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभाव का उच्छेद होने लग जायेगा । हमने अपनी बुद्धि से इस जलसूर्यकादि दृष्टान्त को खड़ा नहीं किया है, हमने तो शास्त्रोक्त इस दृष्टान्त का प्रयोजनमात्र ही कहा है । यहाँ पर विवक्षित सारूप्य क्या है, इसे अग्रिम सूत्र से कहते हैं—

जल की वृद्धि होने पर जलगत प्रतिबिम्ब बढ़ा हुआ भासता है और जल के ह्रास से प्रतिबिम्ब ह्रस्व भासता है, जल के चलने से प्रतिबिम्ब चलता सा और जल के भेद से प्रतिबिम्ब भिन्न सा जल-धर्मानुगामी दीखता है; किन्तु सूर्य में परमार्थतः वैसा नहीं है । वैसे ही परमार्थतः निर्विकार एकरूप ब्रह्म, देहादि उपाधि के अन्तर्भूत होने के कारण वृद्धि-ह्रास आदि उपाधि धर्मों को धारण करता

१. संग्रहवाक्य विवृणोति न चास्मादिति । २. उपाधि ।

(३३९) दर्शनाच्च ॥२१॥

इवोपाधिधर्मान्वृद्धिह्रासादीन् । एवमुभयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सामञ्जस्यादविरोधः ॥२०॥

दर्शयति च श्रुतिः परस्यैव ब्रह्मणो देहादिषूपाधिष्वन्तरनुप्रवेशम्—'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः'। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्' (बृ० २-५-१८) इति। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' (छा० ६-३-२) इति च। तस्माद्युक्तमेतत्—'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' (ब्र० सू० ३-२-१८) इति। तस्मान्निर्विकल्पकैकलिङ्गमेव ब्रह्म नोभयलिङ्गं विपरीतलिङ्गं चेति सिद्धम्।

अत्र केचित्द्वे अधिकरणे कल्पयन्ति। प्रथमं तावत्–किं प्रत्यस्तमिताशेषप्रपञ्चमेकाकारं ब्रह्मोत प्रपञ्चवदनेकाकारोपेतमिति। द्वितीयं तु—स्थिते प्रत्यस्तमितप्रपञ्चत्वे

प्रवेशश्रुतेश्चोक्तानुमानबाध इत्याह सूत्रकारः—दर्शनाच्चेति। द्विपदः पुरो मनुष्यादिदेहांश्चक्रे चतुष्पदः पुरः पशून्कृत्वा पुरश्चक्षुराद्यभिव्यक्तेः पुरस्तात् स ईश्वरः पक्षी लिङ्गशरीरी भूत्वा पुर उक्तानि शरीराण्याविशत्, स च प्रविष्टोऽपि पुरुषः पूर्ण एवेत्यर्थः। तैत्तिरीयके लिङ्गस्य पक्ष्याद्युक्तेः पक्षित्वं मन्तव्यम्। एवं प्रतिबिम्बभावेन भेदादेः कल्पितत्वात् निर्विशेषं ब्रह्मेति स्वमतमुपसंहरति—तस्मादिति।

एकदेशिव्याख्यामुत्थापयति—अत्रेति। न स्थानतोऽपीत्याद्येकमधिकरणं, तत्र ब्रह्मणो निष्प्रपञ्चत्वे स्थिते किंलक्षणं ब्रह्मेति सदेहे प्रकाशवच्चेत्यादिद्वितीयमधिकरणं प्रवृत्तं, 'न सद्रूपमेव ब्रह्म किंतु प्रकाशवच्च चिद्रूपं च। कुतः? अवैयर्थ्यात्। सत्यं ज्ञानं सदेव सोम्येत्युभयश्रुतेर्द्विरूपे ब्रह्मण्यर्थवत्त्वादिति पूर्वपक्षे सिद्धान्तः—आह च तन्मात्रम्। सन्मात्रं ब्रह्म श्रुतिराह, । 'ज्ञानस्य सत्तानतिरेकात्'

सा जान पड़ता है। इस प्रकार इन दोनों दृष्टान्त-दार्ष्टान्त में सामञ्जस्य हो जाने के कारण कोई विरोध नहीं है ॥२०॥

दर्शनाच्च (ललिता)

आत्मा प्रतिबिम्बशून्य है, नीरूप द्रव्य होने के कारण, वायु की भाँति इस अनुमान में व्यभिचार दिखता है क्योंकि अल्प जल में विदूर आकाशप्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। साथ ही प्रवेशश्रुति से इस अनुमान का बाध भी हो जाता है जिसे अग्रिम सूत्र से बतलाते हैं मनुष्यादि दो पैर वालों को परमेश्वर ने बनाया, पुनः चार पैर वाले पशुओं को बनाया और इनमें चक्षुरादि अभिव्यक्ति से पूर्व ईश्वर लिङ्गशरीरवाला बनकर प्रवेश कर गया वह प्रविष्ट पुरूष भी पूर्ण ही है' जगत् रचना के बाद इस जीवरूप से उसमें प्रवेशकर निखिल नाम-रूप सृष्टि का संकल्प परमेश्वर ने किया' यह श्रुति देहादि उपाधियों में परब्रह्म का ही अन्तरनुप्रवेश बतलाती है इसलिए **'अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्'** इस सूत्र द्वारा जो कुछ भी कहा गया है वह युक्तियुक्त है। अतः निर्विकल्पक एकलिङ्ग ही ब्रह्म है, उभयालिङ्ग नहीं है और न सप्रपञ्च ही है, यह सिद्ध हुआ।

एकदेशी मत का उत्थापन **'अत्र केचित्'** ग्रन्थ से भाष्यकार करते हैं कि कुछ लोग पिछले ग्यारह सूत्रों में दो अधिकरणों की कल्पना करते हैं। प्रथम अधिकरण में अशेषप्रपञ्चरहित एकाकार ब्रह्म है अथवा प्रपञ्चयुक्त अनेकाकार है, इसका विचार किया गया है। द्वितीय अधिकरण में

---

१. निष्प्रपंच। २. पूर्वपक्षमाह न सदिति।

किं सल्लक्षणं ब्रह्मेत बोधलक्षणमुतोभयलक्षणमिति । अत्र वयं वदामः—सर्वथाप्यानर्थक्यमधिकरणान्तरारम्भस्येति । यदि तावदनेकलिङ्गत्वं परस्य ब्रह्मणो निराकर्तव्यमित्ययं प्रयासस्तत्पूर्वेणैव 'न स्थानतोऽपि' इत्यनेनाधिकरणेन निराकृतमित्युत्तरमधिकरणं 'प्रकाशवच्च' एतद्व्यर्थमेव भवेत् । नच सल्लक्षणमेव ब्रह्म न बोधलक्षणमिति शक्यं वक्तुम् । विज्ञानघन एवेत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । कथं वा निरस्तचैतन्यं ब्रह्म चेतनस्य जीवस्यात्मत्वेनोपदिश्येत । नापि बोधलक्षणमेव ब्रह्म न सल्लक्षणमिति शक्यं वक्तुम्, 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (क० ६-१३) इत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । कथं वा निरस्तसत्ताको बोधोऽभ्युपगम्येत । नाप्युभयलक्षणमेव ब्रह्मेति शक्यं वक्तुम् । पूर्वाभ्युपगमविरोधप्रसङ्गात् । सत्ताव्यावृत्तेन च बोधेन बोधव्यावृत्तया च सत्तयोपेत ब्रह्म प्रतिजानानस्य तदेव पूर्वाधिकरणप्रतिषिद्धं सप्रपञ्चत्वं ब्रह्मणः प्रसज्येत ।

इति । इदं द्वितीयाधिकरणं दूषयति—अत्र वयमिति । द्वितीयाधिकरणस्य किं ब्रह्मणोऽनेकरूपत्वनिरासः फलम्, उत बोधरूपत्वनिरास आहोस्वित्सत्तानिरास इति विकल्प्य सर्वथाप्यानर्थक्यं प्रपञ्चयस्तद्धे गतार्थतामाह—यदि तावदिति । नहि द्वितीय इत्याह—नचेति । ब्रह्मणो बोधरूपत्वनिरासे जडत्वाज्जीवाभेदश्रुतिबाधश्च स्यादित्याह—कथं वेति । न तृतीय इत्याह—नापीति । सत्तानिरासे बोधस्य तुच्छत्वं च स्यादित्याह—कथमिति । नच बोधस्य सत्तानतिरेकान्न तुच्छतेति वाच्यम् । सद्बोधपदयोर्व्याख्यानातिरेके पर्यायत्वप्रसङ्गात् । एवं सिद्धान्तं फलाभावेन दूषयित्वा पूर्वपक्षं दूषयति—नापीति । प्रसङ्गमेवाह—सत्तेति । व्यावृत्तत्वं भिन्नत्वम् । निष्प्रपञ्चैकरूपत्वसिद्धान्तविरोधात् भिन्नोभयरूपत्वपूर्वपक्षानुत्थानमित्यर्थः ।

पूर्व अधिकरण द्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्म का निश्चय हो जाने पर संशय किया गया है कि क्या ब्रह्म सद्रूप है अथवा चिद्रूप है या उभयरूप है। इस एकदेशी मत के ऊपर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि अधिकरणान्तर का आरम्भ करना सर्वथा निरर्थक ही है। द्वितीय अधिकरण द्वारा ब्रह्म में अनेकरूपत्व का निरास करना आप को अभीष्ट है अथवा बोधरूपत्व का निरास करना या सत्तारूपत्व का निरास करना अभीष्ट है। प्रथम कल्प में प्रयास व्यर्थ होगा क्योंकि **'न स्थानतोऽपि'** इत्यादि सूत्र द्वारा प्रथम अधिकरण से ही उस प्रश्न का उत्तर हो चुका है। ऐसी स्थिति में **'प्रकाशवच्च वैयर्थ्यात'** यह उत्तराधिकरण व्यर्थ ही हो जायेगा। वैसे ही सद्रूप ही ब्रह्म है, बोधरूप नहीं है ऐसी द्वितीय कल्पना कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि **'विज्ञानघन एव'** इत्यादि श्रुति में वैयर्थ्यप्रसंग आ जायेगा। साथ ही चेतनाशून्य सन्मात्ररूप ब्रह्म चेतन जीव का आत्मा भी कैसे कहा जा सकेगा। तृतीय कल्प में चिद्रूप ही ब्रह्म है, सद्रूप नहीं है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इस कल्प में **'अस्तीत्येव उपलब्धः'** इत्यादि श्रुति में वैयर्थ्यप्रसंग आ जायेगा। सत्ताहीन तत्त्व को बोधरूप भी कैसे मान सकोगे। इस प्रकार द्वितीय अधिकरण में कोई फल न होने के कारण उसकी रचना निरर्थक ही है। उभयरूप भी ब्रह्म को नहीं कह सकते हो क्योंकि पूर्वाधिकरण से सिद्ध अर्थ का विरोध होने लग जायेगा। सत्ताहीन, चिन्मात्र और बोधरहित सन्मात्र ब्रह्म की प्रतिज्ञा का पूर्वाधिकरण से प्रतिषेध हो जाने पर ब्रह्म में सप्रपञ्चत्व भी आ जायेगा। अतः पूर्वपक्ष का उत्थापन असंगत प्रतीत होता है।

श्रुतत्वाददोष इति चेत् । न, एकस्यानेकस्वभावत्वानुपपत्तेः । अथ सत्तैव बोधो बोध एव च सत्ता नानयोः परस्परव्यावृत्तिरस्तीति यद्युच्येत तथापि किं सल्लक्षणं ब्रह्मोत बोधलक्षणमुतोभयलक्षणमित्ययं विकल्पो निरालम्बन एव स्यात् । सूत्राणि त्वेकाधिकरणत्वेनैवास्माभिर्नीतानि । अपि च ब्रह्मविषयासु श्रुतिष्वाकारवदनाकारप्रतिपादनेन विप्रतिपन्नास्वनाकारे ब्रह्मणि परिगृहीतेऽवश्य वक्तव्येतरासां श्रुतीनां गतिः । [1]तादर्थ्येन प्रकाशवच्चेत्यादीनि सूत्राण्यर्थवत्तराणि संपद्यन्ते । यदप्याहुराकारवादिन्योऽपि श्रुतयः प्रपञ्चप्रविलयमुखेनानाकारप्रतिपत्त्यर्था एव न पृथगर्था इति तदपि न समीचिनमिव लक्ष्यते । कथम् ? ये हि परविद्याधिकारे केचित्[2]प्रपञ्चा उच्यन्ते यथा—'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै

उभयश्रुतिबलादुत्थानमिति शङ्कते—श्रुतत्वादिति । मेरुविन्ध्यवत्परस्परं भिन्नसत्ताबोधयोरेकब्रह्माभेदशङ्का श्रुतिशतेनापि न युक्तेत्याह—नेति । सद्बोधयोर्भेदोऽस्ति न वा । आद्ये श्रुतेरपि विरुद्धार्थत्वानुपपत्तेर्न पूर्वपक्षोत्थानमित्युक्तम् । सम्प्रति द्वितीयं शङ्कते—अथ सत्तैवेति । सद्बोधपदयोर्वाच्यभेदेऽपि लक्ष्यैक्योपपत्तिरखण्डार्थस्वीकारादित्यर्थः । [3]अखण्डार्थस्य पूर्वपक्षत्वं न स्यात्सिद्धान्तत्वात् । किञ्चात्र संशयोऽप्ययुक्त इत्याह—तथापीति । एकाधिकरणपक्षे सूत्राणि कथं नेयानीत्यत आह—सूत्राणीति । स्वपक्षे सूत्रसामञ्जस्यं चेत्याह—अपिचेति । अवश्यापेक्षितगत्यर्थत्वेनोत्तरसूत्राणां पूर्वैकवाक्यत्वान्नाधिकरणभेद इति भावः । आकारश्रुतीनां कल्पिताकारो गतिरिति स्वमतमुक्तं, प्रपञ्चविलयवादिनस्तु 'मनोमयः प्राणशरीरः सत्यकामः' इत्याद्याकारश्रुतीनां तदितराकारप्रविलयो गतिरित्याहुः । मनोमय इति कोऽर्थः, मनोऽतिरिक्तोपाधिशून्य इत्यर्थः । एवं प्राणशरीरपदेन प्राणातिरिक्तोपाधिनिषेधान्मनसोऽप्यभावसिद्धिः, एवं सर्व शब्दा अनाकारब्रह्मपरा एवेति तन्मतमनूद्य दूषयति—यदपीत्यादिना । किं ज्ञेयब्रह्मप्रकरणस्थानामाकारशब्दानां निषेधपरत्वमुतोपासनाप्रकरणस्थानामपि तत्राद्यमङ्गीकरोति—ये हीति । अस्य जीवभाव प्राप्तस्येश्वरस्य दश हरयो विषया हरणाद्दशे-

पूर्वपक्ष—उभयश्रुति के बल से ब्रह्म का उभयरूप मानना कोई दोष नहीं है । सिद्धान्त—ऐसा कहना भी ठीक नहीं । एक ब्रह्म को अनेक स्वभाववाला कहना युक्तियुक्त नहीं है । यदि कहो कि सत्ता ही बोध है और बोध ही सत्ता है, इन दोनों में परस्पर भेद नहीं तो इस पर हम पूछेंगे कि ब्रह्म सद्रूप है, बोधरूप है अथवा उभयरूप है ऐसा विकल्प निराधार ही हो जायेगा । हमने इस अधिकरण के सभी सूत्रों को एकाधिकरण में ही लगाया है और ऐसा मानने पर सूत्रों का सामञ्जस्य भी होता है । साकार और निराकार प्रतिपादन द्वारा जब श्रुतियां प्रतिपन्न दीखती हैं तो उस स्थिति में ब्रह्म को निराकार मान लेने पर साकारबोधक श्रुतियों की गति अवश्य बतलानी ही पड़ेगी जो कल्पित आकार को बतलाती हैं और इस प्रकार **'प्रकाशवच्च'** इत्यादि सूत्र अत्यन्त सार्थक हो जाता है । इनमें निष्प्रपञ्चब्रह्मबोधक प्रकरण में आयी हुई साकारब्रह्मबोधक श्रुतियाँ आकारप्रविलय द्वारा निराकार को बतलाती हैं और उपासना प्रकरण में साकारब्रह्मबोधक श्रुतियाँ विभिन्न प्रयोजन वाली मानी गयी हैं । अतः जो आप ने कहा था कि आकारबोधक सभी श्रुतियाँ प्रपञ्चप्रविलय द्वारा निराकार बोध के लिए ही है पृथक् उनका कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि साकारबोधक कुछ श्रुतियाँ परविद्या प्रकरण में हैं । 'जीवभाव को प्राप्त ईश्वर की इन्द्रियाँ प्राणीभेद से सौ एवं दश है, ऐसे ही सहस्र तथा अनन्त भी है' ये सब

१. तासां गत्यर्थत्वेन । २. आकारविस्ताराः । ३. सिद्धोतो दूषयति अखण्डेति ।

हरयोऽयं वै दश च शतानि सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च' (बृ० २·५·१९) इत्येवमाद्यस्ते भवन्ति प्रविलयार्थाः 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २·५·१९) इत्युपसंहारात्। ये पुनरुपासनाविधानाधिकारे प्रपञ्चा उच्यन्ते 'यथा मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३-१४-२) इत्येवमादयो न तेषां प्रविलयार्थत्वं न्याय्यम्। 'स क्रतुं कुर्वीत' (छा० ३-१४-१) इत्येवंजातीयकेन प्रकृतेनैवोपासनविधिना तेषां सम्बन्धात्। श्रुत्या चैवंजातीयकानां गुणानामुपासनार्थत्वेऽवकल्प्यमाने न लक्षणया प्रविलयार्थत्वमवकल्पते। सर्वेषां च साधारणे प्रविलयार्थत्वे सति 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' (ब्र० सू० ३·२·१४) इति विनिगमनकारणवचनमनवकाशं स्यात्। फलमप्येषां यथोपदेशं क्वचिद्दुरितक्षयः क्वचिदैश्वर्यप्राप्तिः क्वचित्क्रममुक्तिरित्यवगम्यत एवेत्यतः पार्थगर्थ्यमेवोपासनावाक्यानां ब्रह्मवाक्यानां च न्याय्यं नैकवाक्यत्वम्।

कथं चैषामेकवाक्यतोत्प्रेक्ष्यत इति वक्तव्यम्। एकनियोगप्रतीतेः प्रयाजदर्शपूर्णमास-

न्द्रियाणि प्राणिभेदापेक्षया शतानि सहस्राणि च तेषामीश्वराद्भेदमाशङ्क्याह—अयमिति। ईश्वर एव हरय इत्यर्थः। द्वितीयं दूषयति—ये पुनरिति। मनोमयादिशब्दानां मुख्यवृत्त्या गुणपरत्वसंभवे निषेधलक्षणापि न युक्तेत्याह—श्रुत्या चेति। किं चाकारानाकारश्रुतिद्वैविध्ये सति ब्रह्मानाकारमेवेत्यत्र किं विनिगमकमिति शङ्कोत्थानादस्थूलादिश्रुतीनां निराकारतात्पर्यं नियामकमिति कथनार्थमिदं सूत्रमर्थवद्भवति। सर्वश्रुतीनां निषेधार्थत्वे तु शङ्कानुत्थानान्नियामकसूत्रं व्यर्थं स्यादित्याह—सर्वेषां चेति। ननुपासनाऽर्थवाक्यानां स्वार्थे फलाभावात् सफलनिषेधवाक्यशेषत्वमित्याशङ्क्य फलस्य श्रुतत्वान्नान्यशेषतेत्याह—फलमपीति।

अर्थैक्याभावाच्च नैकवाक्यतेत्याह—कथं चेति। अर्थैक्यं शङ्कते—एकेति। यथा फलवत्परमा-

आकारबोधक वाक्य प्रविलय के लिए माने जायेंगे क्योंकि 'वह ब्रह्म कार्यकारणभाव से रहित बाह्याभ्यन्तरभावशून्य है' इस वाक्य द्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्म में उनका उपसंहार देखा जाता है। पर उपासनाप्रसङ्ग में जो प्रपञ्च कहे जाते हैं, जैसे 'मनोमय प्राणशरीर भारूप' इत्यादि, उन्हें प्रविलयार्थ मानना उचित नहीं है क्योंकि 'साधक उसको उपासना करे' इस प्रसंगागत उपासनाविधि के साथ उन प्रपञ्चबोधक श्रुतिवाक्यों का सम्बन्ध है, श्रुति ने ऐसे गुणों का निरूपण उपासना के लिए किया है। ऐसी स्थिति में लक्षणा द्वारा उनका प्रविलय मानना उचित नहीं और सभी साकारबोधक श्रुतियों को सामान्यतः प्रविलयार्थ ही मानोगे तो 'अरूपवदेव तत्प्रधानत्वात्' इस सूत्र द्वारा विनिगमनकारणकथन निरवकाश हो जायेगा। उपासना प्रकरण में कही गयी इन श्रुतियों का फल भी प्रसंगानुसार कहीं पर पापक्षय है, कहीं ऐश्वर्यप्राप्ति है और कहीं पर क्रममुक्ति भी जान पड़ती है। अतः उपासना प्रकरण में आये हुए साकारब्रह्मबोधक वाक्यों का एवं परविद्या प्रसङ्ग में आये हुए साकारब्रह्मबोधक श्रुतिवाक्यों का पृथक् प्रयोजन बतलाना ही उचित है, इन दोनों की एकवाक्यता नहीं होती है।

इनमें एकवाक्यता की कल्पना भी कैसे करोगे, इसे बतलाना होगा। पूर्वपक्ष—जैसे प्रयाज एवं

१. कारणशून्यं कार्यशून्यं जातिशून्यं विशेषशून्यम्। २. शङ्कया। ३. अरूपवदेव हीति सूत्रम्।

वाक्यवदिति चेत् । न, ब्रह्मवाक्येषु नियोगाभावात् । वस्तुमात्रपर्यवसायीनि हि ब्रह्मवाक्यानि न नियोगोपदेशीनीत्येतद्विस्तरेण प्रतिष्ठापितम् 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १-१-४) इत्यत्र । किंविषयश्चात्र नियोगोऽभिप्रेयत इति वक्तव्यम् । पुरुषो हि नियुज्यमानः कुर्विति स्वव्यापारे कस्मिंश्चिन्नियुज्यते । ननु द्वैतप्रपञ्चप्रविलयो नियोगविषयो भविष्यति । अप्रविलापिते हि द्वैतप्रपञ्चे ब्रह्मतत्त्वावबोधो न भवत्यतो ब्रह्मतत्त्वावबोधप्रत्यनीकभूतो द्वैतप्रपञ्चः प्रविलाप्यः । यथा स्वर्गकामस्य यागोऽनुष्ठातव्य उपदिश्यत एवमपवर्गकामस्य प्रपञ्चप्रविलयः । यथा च तमसि व्यवस्थितं घटादि[1]तत्त्वमवबुभुत्समानेन तत्प्रत्यनीकभूतं तमः प्रविलाप्यत एवं ब्रह्मतत्त्वमवबुभुत्समानेन तत्प्रत्यनीकभूतः प्रपञ्चः प्रविलाप-

पूर्वाख्यनियोगैक्यादङ्गप्रधानवाक्यानामेकवाक्यता तथा तत्त्वावबोधकामस्य प्रपञ्चप्रविलयविषयक एको नियोगरूपोऽर्थोऽस्तीत्याकारानाकारवाक्यानां सर्वेषामेकवाक्यतेत्यर्थः । नियोगासिद्ध्या दूषयति —नेति । विषयं शङ्कते—ननु द्वैतेति । प्रत्यनीकं प्रतिबन्धकम् । ननु प्रपञ्चविलये ब्रह्मलयः स्याद-

दर्शपूर्णमास वाक्य की एकवाक्यता फलवत् परमापूर्वनामक नियोग के कारण हो जाती है ऐसे ही तत्त्वबोध के लिए प्रपञ्चप्रविलयविषयक एकनियोगरूप अर्थ इन श्रुतिवाक्यों में भी मान लेना चाहिए अर्थात् दर्शपूर्णमास के छः प्रधान यागों से पूर्व प्रत्येक प्रधान याग अनुष्ठान के लिए पहले पञ्चप्रयाज का अनुष्ठान करना पड़ता है, उससे उत्पन्न अङ्गापूर्व प्रधानयागानुष्ठान से उत्पन्न होने वाले प्रधानापूर्व की उत्पत्ति में सहायक होता है। दर्श के तीन यागों से उक्तरीत्या तीन प्रधानापूर्व बनते हैं और पूर्णमास के तीन प्रधान यागों द्वारा भी तीन प्रधानापूर्व बनते हैं। इस प्रकार तीन-तीन प्रधानापूर्व के दो समुदाय बन जाते हैं, उन दोनों समुदायों से पुनः स्वर्गादिफलजनक एक परमापूर्व उत्पन्न होता है जिसे यहाँ पर नियोग कहा गया है। इसी नियोग में पूर्वोक्त अङ्ग एवं प्रधान वाक्य की एकवाक्यता मानी जाती है। वैसे ही ब्रह्मतत्त्वावबोध चाहने वाले व्यक्ति को प्रपञ्चप्रविलय करना पड़ेगा जिससे एक नियोग उत्पन्न होगा, इसी नियोग में सभी प्रपञ्चबोधक श्रुतिवाक्यों की एकवाक्यता माननी चाहिए, ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। सिद्धान्त—इस प्रकार एक नियोग की कल्पना भी ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्मवाक्य में नियोग है ही नहीं, वे तो वस्तुमात्रपर्यवसायी होते हैं, नियोग को नहीं बतलाते, यह बात हम 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्र के भाष्य में विस्तारपूर्वक कह आये हैं। साथ ही यह भी आप को बतलाना पड़ेगा कि आप को नियोग पद से क्या अर्थ अभिप्रेत है क्योंकि नियुज्यमान पुरुष-करो-ऐसा सुनकर किसी अपने व्यापार में नियुक्त होता है जो ब्रह्मवाक्य में सम्भव नहीं है। पूर्वपक्ष—द्वैतप्रपञ्च का प्रविलय नियोग का विषय हो जायेगा क्योंकि द्वैतप्रपञ्च का विलय न करने पर ब्रह्मतत्त्व का बोध हो नहीं होता है। अतः ब्रह्मतत्त्वावबोध के प्रतिबन्धक द्वैतप्रपञ्च का प्रविलय करना ही पड़ेगा। जैसे स्वर्गकाम पुरुष को यागानुष्ठान का उपदेश किया जाता है, ऐसे ही अपवर्गकाम पुरुष को प्रपञ्चविलय का उपदेश किया जाता है। और जैसे अँधेरे में रखे हुए घटादि स्वरूप की जानने की इच्छावाला उसके विरोधी तम को पहले नष्ट करता है, ऐसे ही ब्रह्मतत्त्व के जिज्ञासुओं को ब्रह्मतत्त्वबोध के प्रतिबन्धक द्वैतप्रपञ्च का प्रविलाप करना ही चाहिए। ऐसा करने पर

१. वस्तु।

यितव्य:। ब्रह्मस्वभावो हि प्रपञ्चो न प्रपञ्चस्वभावं ब्रह्म तेन नामरूपप्रपञ्च-प्रविलापनेन ब्रह्मतत्त्वावबोधो भवतीति।

अत्र वयं पृच्छाम:—कोऽयं प्रपञ्चप्रविलयो नाम। किमग्निप्रतापसंपर्काद्घृतकाठिन्य-प्रविलय इव प्रपञ्चप्रविलय: कर्तव्य आहोस्विदेकस्मिंश्चन्द्रे तिमिरकृतानेकचन्द्रप्रपञ्चवद-विद्याकृतो ब्रह्मणि नामरूपप्रपञ्चो विद्यया प्रविलापयितव्य इति। तत्र यदि तावद्विद्य-मानोऽयं प्रपञ्चो देहादिलक्षण आध्यात्मिको बाह्यश्च पृथिव्यादिलक्षण: प्रविलापयितव्य इत्युच्येत स पुरुषमात्रेणाशक्य: प्रविलापयितुमिति तत्प्रविलयोपदेशोऽशक्यविषय एव स्यात्। एकेन चादिमुक्तेन पृथिव्यादिप्रविलय: कृत इतीदानीं पृथिव्यादिशून्यं जगद-भविष्यत्। अथाविद्याध्यस्तो ब्रह्मण्येकस्मिन्नयं प्रपञ्चो विद्यया प्रविलाप्यत इति ब्रूयात्, ततो ब्रह्मैवाविद्याध्यस्तप्रपञ्चप्रत्याख्यानेनावेदयितव्यम्[1]। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म,' 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७) इति तस्मिन्नावेदिते[2] विद्या स्वयमेवोत्पद्यते तया

भेदादित्यत आह—ब्रह्मस्वभावो हि प्रपञ्च इति। कारणं हि कार्यस्य स्वरूपमत: कार्यनाशेऽपि कारणस्य न लय:, घटनाशेऽपि मृद्दर्शनादित्यर्थ:।

प्रपञ्चस्य सत्यस्य कल्पितस्य वा लये विधिरिति विकल्प्याद्यं दूषयति—तत्र यदि तावदिति। सत्यस्य ज्ञानादध्वस्ते: मुसलादिना च कृत्स्नद्वैतध्वंसायोगात् नभोग्रसनविधिवदशक्यविषयोऽयं विधि:, किञ्च शुकादिमुक्त्या सर्वमुक्ति: स्यादित्यर्थ:। द्वितीयमनूद्य दूषयति—अथेत्यादिना। उपदेशजन्यज्ञाना-

ब्रह्म का विलय नहीं होता है क्योंकि ब्रह्म में कल्पित होने के कारण प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप है, परन्तु ब्रह्म पारमार्थिक सत्य होने के कारण प्रपञ्चस्वरूप नहीं है इसीलिए उस नाम-रूप प्रपञ्च के प्रविलय द्वारा ब्रह्मतत्त्व का बोध होता है।

सिद्धान्त—यहां पर हम सिद्धान्ती आप से पूछते हैं कि प्रपञ्चविलय पदार्थ क्या है जिसके लिये आप विधान करना चाहते हैं। क्या अग्नि के तापसम्पर्क से घृतकाठिन्य का जैसे प्रविलय होता है वैसे ही प्रपञ्च का प्रविलय करना चाहते हैं अथवा एक चन्द्र में तिमिरदोष के कारण अनेक चन्द्र दीखने लग जाता है, चन्द्रैक्यबोध द्वारा उसके अनेक चन्द्रप्रतीति का एवं अनेक चन्द्र का प्रविलय होता है, ऐसे ही ब्रह्म में अविद्या के कारण नाम-रूप प्रपञ्च भासते हैं जिसे विद्या द्वारा प्रविलय करने का आग्रह आप रखते हैं इनमें से प्रथम पक्ष मानने पर यदि विद्यमान यह देहात्मरूप आध्यात्मिक प्रपञ्च एवं पृथिव्यादिरूप बाह्यप्रपञ्च के प्रविलय का आग्रह आप रखते हों तो यह कार्य पुरुषमात्र से होना सम्भव नहीं है ऐसी स्थिति में प्रलय का उपदेश अर्थात् विधान निर्विषय ही हो जायेगा। साथ ही किसी शुकदेव आदि एक पुरुष के मुक्त होने पर पृथिव्यादि प्रपञ्च का प्रलय हो गया होता तो आज यह जगत् पृथिव्यादिशून्य हो जाता। द्वितीय कल्प में यदि आप यह मानते हों कि एक ब्रह्म में यह अविद्या से अध्यस्त द्वैतप्रपञ्च विद्या के द्वारा प्रविलीन कर दिया जाय, इसका तात्पर्य यह है कि अविद्या से कल्पित द्वैतप्रपञ्च के प्रत्याख्यान द्वारा आप ब्रह्म का ही बोध कराना चाहते हैं' यही बात, **एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि**' इत्यादि वाक्य द्वारा बतलाना आप को अभीष्ट है। इस प्रकार उस ब्रह्म का प्रति-

१. प्रतिपादयितव्यम्। २. उपदिष्टे।

चाविद्या बाध्यते ततश्चाविद्याध्यस्तः सकलोऽयं नामरूपप्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत्प्रविलीयते। [१]अनावेदिते तु ब्रह्मणि ब्रह्मविज्ञानं कुरु प्रपञ्चप्रविलयं चेति शतकृत्वोऽप्युक्ते न ब्रह्मविज्ञानं प्रपञ्चप्रविलयो वा जायते।

नन्वावेदिते ब्रह्मणि तद्विज्ञानविषयः प्रपञ्चविलयविषयो वा नियोगः स्यात्। न। निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वावेदनेनैवोभयसिद्धेः। रज्जुस्वरूपप्रकाशनेनैव हि तत्स्वरूपविज्ञानमविद्याध्यस्तसर्पादिप्रपञ्चप्रविलयश्च भवति। नच कृतमेव पुनः क्रियते।

नियोज्योऽपि च प्रपञ्चावस्थायां योऽवगम्यते जीवो नाम स प्रपञ्चपक्षस्यैव वा स्याद्ब्रह्मपक्षस्यैव वा। प्रथमे विकल्पे निष्प्रपञ्चब्रह्मतत्त्वप्रतिपादनेन पृथिव्यादिवज्जीवस्यापि प्रविलापितत्वात्कस्य प्रपञ्चविलये नियोग उच्येत कस्य वा नियोगनिष्ठतया मोक्षोऽवाप्तव्य उच्येत। द्वितीयेऽपि ब्रह्मवानियोज्यस्वभावं जीवस्य स्वरूपं जीवत्वं

देवाविद्यातज्जन्यप्रपञ्चलयसिद्धेर्नियोगो वृथैवेत्यर्थः। किंच ब्रह्मज्ञानादौ विधिः किं ब्रह्मण्यज्ञाते ज्ञाते वा। नाद्यः, अशक्यत्वादित्याह—अनावेदिते त्विति।

द्वितीयं शङ्कते—नन्विति। उपदेशादेव ज्ञाते ब्रह्मणि साक्षात्कारद्वैतबाधयोः सिद्धेर्विधिवैयर्थ्यं सिद्धस्य विधिना कर्तुमयोगादित्याह—नेति।

एवं विषयाभावान्नियोगाभावमुक्त्वा नियोज्याभावात्तदभावमाह—नियोज्योऽपि चेति। प्रपञ्चान्तर्भूतो ब्रह्म वेत्यर्थः। आद्ये जीवनाशाद्विध्ययोगः, द्वितीये नियोज्यासिद्धिः, तर्हि ज्ञाने विधि-

पादन करने पर विद्या स्वयं ही उत्पन्न होगी उससे अविद्या बाधित हो जायेगी तत्पश्चात् स्वप्न से जगे हुए व्यक्ति को जैसे स्वप्नप्रपञ्च नहीं भासता है वैसे ही अविद्या से अध्यस्त यह सम्पूर्ण नाम-रूप प्रपञ्च बाधित हो जायेगा। उस तत्त्ववित् पुरूष को ये प्रपञ्च सत्य नहीं भासेंगे किन्तु उक्त रीति से ब्रह्म का प्रतिपादन न करने पर ब्रह्मविज्ञान करो और प्रपञ्च का प्रविलय करो ऐसा सौ बार कहने पर भी न ब्रह्म का विज्ञान होगा और न प्रपञ्च का विलय ही होगा।

पूर्वपक्ष–ब्रह्म का प्रतिपादन करने पर ब्रह्मविज्ञानविषयक और प्रपञ्चविलयविषयक नियोग उत्पन्न होगा। सिद्धान्त–ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि निष्प्रपञ्च ब्रह्मात्मतत्व के बोध से दोनों ही कार्य हो जायेंगे जैसे रज्जुस्वरूप के बोध से ही रज्जुस्वरूप का विज्ञान और अविद्या से अध्यस्त सर्पादि प्रपञ्च का प्रविलय होता है वैसे ही निष्प्रपञ्चब्रह्म के बोध से ही ब्रह्म के ज्ञात होने पर साक्षात्कार एवं द्वैतप्रपञ्च का बाध दोनों ही हो जायेंगे,फिर तो विधान व्यर्थ ही हो जायेगा। तत्त्वबोध से जो काम हो गया वही कार्य पुनः विधि के द्वारा करना उचित नहीं है।

इस प्रकार विषयाभाव के कारण नियोग का अभाव बतलाने के बाद नियोज्याभाव के कारण भी नियोग का अभाव ही मानना उचित होगा। प्रपञ्चावस्था में जो भी जीव नियोज्यरूप से भासता है वह प्रपञ्च के अन्तःपाती है अथवा ब्रह्म के अन्तर्गत है। प्रथम पक्ष में निष्प्रपञ्च ब्रह्मतत्त्वप्रतिपादन द्वारा ही जैसे पृथिव्यादि का प्रविलय हो जाता है वैसे ही प्रपञ्चान्तःपाती जीव का भी प्रविलय हो जायेगा, फिर भला प्रपञ्च के विलय होने में नियोग किसके आश्रित रहेगा और नियोग के कारण मोक्ष भी किसे प्राप्त कराना आप को अभीष्ट है, यह बतलाना पड़ेगा। द्वितीय कल्प में भी जीव का

१. अज्ञाते।

त्वविद्याकृतमेवेते प्रतिपादिते ब्रह्मणि नियोज्याभावान्नियोगाभाव एव । द्रष्टव्यादिशब्दा अपि परविद्याधिकारपठितास्तत्त्वाभिमुखीकरणप्रधाना न तत्त्वावबोधविधिप्रधाना भवन्ति । लोकेऽपीदं पश्येदमाकर्णयेति चैवंजातीयकेषु निर्देशेषु प्रणिधानमात्रं कुर्वित्युच्यते न साक्षाज्ज्ञानमेव कुर्विति । ज्ञेयाभिमुखस्यापि ज्ञानं कदाचिज्जायते कदाचिन्न जायते तस्मात्तं प्रति ज्ञानविषय एव दर्शयितव्यो ज्ञापयितुकामेन । तस्मिन्दर्शिते स्वयमेव यथा-विषयं यथा-प्रमाणं च ज्ञानमुत्पद्यते । नच प्रमाणान्तरेणान्यथाप्रसिद्धेऽर्थेऽन्यथाज्ञानं नियुक्तस्याप्युपपद्यते । यदि पुनर्नियुक्तोऽहमित्यन्यथाज्ञानं कुर्यान्न तु तज्ज्ञानं किं तर्हि मानसी सा क्रिया । 'स्वयमेव चेदन्यथोत्पद्येत भ्रान्तिरेव स्यात् । ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं यथाभूतविषयं च न तन्नियोगशतेनापि कारयितुं शक्यते । नच प्रतिषेधशतेनापि वारयितुं शक्यते । नहि तत्पुरुषतन्त्रं वस्तुतन्त्रमेव हि तत् । अतोऽपि नियोगाभावः । किंचान्यन्नियोगनिष्ठतयैव पर्यवस्यत्या-

प्रत्ययानां का गतिरित्यत आह—द्रष्टव्यादिशब्दा इति । ननु श्रुतं ज्ञानं त्यक्त्वा तत्साधनव्यापारविधिकिमिति कल्प्यत इत्याशङ्क्य ज्ञानस्य पुरुषकृत्यसाध्यत्वादित्याह—ज्ञेयाभिमुखस्यापीति । किंच ज्ञान-विधिवादिना ज्ञेयं ब्रह्मावश्यं वेदान्तैर्ज्ञापनीयं विषयानवबोधे विधिबोधायोगात् । तथाच वेदान्तैरेव ज्ञानोत्पत्तेर्विध्यानर्थक्यमित्याह—तस्मादिति । तं ज्ञानार्थिनं प्रतीत्यर्थः ननूत्पन्नं ज्ञानमन्यथाकर्तुं विधिरर्थवानिति, नेत्याह—नचेति । नन्वनग्निर्योषिदिति प्रत्यक्षप्रमाणादुत्पन्नमपि ज्ञानं तामग्निं ध्यायेदिति विधिनान्यथाकृतं दृश्यत इत्यत आह—यदीति । अन्यथाधीः कृतिसाध्या चेत् क्रियैव, कृतिं विनैव चेद्भ्रान्तिरेवातो मानं विना विधितो ज्ञानासिद्धेर्मानवस्तुतन्त्रे ज्ञाने विधिर्म्[?]त्यर्थः । वेदान्तेषु विधिवादिनोऽन्यच्च दूषणमस्तीत्याह—किंचान्यदिति । ब्रह्मात्मैक्ये नियोगे च वेदान्तवाक्यस्य

स्वरूप अनियोज्य ब्रह्म ही तो है, जीवत्व तो केवल अविद्या के कारण है । ऐसा प्रतिपादन करने पर ब्रह्म में नियोज्य न रहने के कारण नियोगाभाव ही सिद्ध होगा 'द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' ये शब्द जो परविद्या अधिकार में पढ़ गये हैं उनका तात्पर्य तत्त्वाभिमुखी करने में है, वे तव्यत् प्रत्यय तत्त्वावबोधविधिप्रधान नहीं हैं । लोक में भी जब कोई कहता है—यह देखो, यह सुनो, तो इस प्रकार के निर्देश में प्रणिधानमात्र करो अर्थात् सावधान हो जाओ, ऐसा बतलाने में ही उसका तात्पर्य है । साक्षात् ज्ञान कराने में ही उसका तात्पर्य नहीं है क्योंकि ज्ञान पुरुषकृतिसाध्य नहीं है । ज्ञेयाभिमुख पुरुष को भी कदाचित् ज्ञान होता है और कदाचित् नहीं होता है, अतः उसके लिए बोध कराने की इच्छा से ज्ञान के विषय को उपदेशक बतलाना चाहता है । उस ज्ञान के विषय को बतला देने पर विषयानुरूप और प्रमाणानुरूप ज्ञान स्वयं ही उत्पन्न होता है । प्रमाणान्तर से अन्यथाप्रसिद्ध वस्तु में अन्यथाज्ञान नियुक्त पुरुष को भी नहीं होता है । यदि मैं नियुक्त हूँ, ऐसा मानकर वह विपरीत ज्ञान करने लग जाय, उस स्थिति में वह ज्ञान नहीं रह जायेगा किन्तु वह मानसिक क्रिया हो जायेगी । और यदि प्रयत्न के बिना ही स्वतः अन्यथाज्ञान उत्पन्न होता हो तो वह भ्रम ही माना जायेगा क्योंकि ज्ञान तो प्रमाणजन्य और विषयानुरूप ही होता है; वह ज्ञान सौ नियोग से भी नहीं कराया जा सकता और न शतप्रतिषेध से उसे हटाया जा सकता है क्योंकि ज्ञान पुरुषतन्त्र नहीं है, वह तो वस्तुतन्त्र ही है । इसलिए वहाँ पर नियोग का अभाव सिद्ध होता है । वेदान्त में विधिवादियों के ऊपर एक अन्य दोष

१. कृतिमंतरेणैव । २. द्रष्टव्य इत्यादौ प्रकृत्यर्थभूतं प्रकृत्या श्रूयमाणम् ।

म्नाये यदभ्युपगतमनियोज्यब्रह्मात्मत्वं जीवस्य तदप्रमाणकमेव स्यात् । अथ शास्त्रमेवानियोज्यब्रह्मात्मत्वमप्याचक्षीत तदवबोधे च पुरुषं नियुञ्जीत ? ततो ब्रह्मशास्त्रस्यैकस्य द्व्यर्थपरता विरुद्धार्थपरता च प्रसज्येयाताम् । नियोगपरतायां च श्रुतहानिरश्रुतकल्पना कर्मफलवन्मोक्षस्यादृष्टफलत्वमनित्यत्वं चेत्येवमादयो दोषा न केनचित्परिहर्तुं शक्याः । तस्मादवगतिनिष्ठान्येव ब्रह्मवाक्यानि न नियोगनिष्ठानि । अतश्चैकनियोगप्रतीतेरेकवाक्यतेत्ययुक्तम् ।

अभ्युपगम्यमानेऽपि च ब्रह्मवाक्येषु नियोगसद्भावे तदेकत्वं निष्प्रपञ्चोपदेशेषु सप्रपञ्चोपदेशेषु चासिद्धम् । नहि शब्दान्तरादिभिः प्रमाणैर्नियोगभेदेऽवगम्यमाने सर्वत्रैको नियोग इति शक्यमाश्रयितुम् । प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्येषु त्वधिकारांशेनाभेदाद्युक्तमेकत्वम्[1] । न त्विह सगुणनिर्गुणचोदनासु कश्चिदेकत्वाधिकारांशोऽस्ति । नहि भारूपत्वादयो गुणाः

प्रामाण्यमाशङ्क्यार्थभेदाद्वाक्यभेदो विरुद्धार्थत्वादप्रामाण्यं चेति दूषयति—अथेत्यादिना । किंच श्रुतं ब्रह्म न श्रुतो विधिर्वेदान्तेषु तत्कल्पने च कर्मजन्यत्वान्मोक्षस्यानित्यत्वसातिशयत्वादिप्रसङ्ग इत्याह—नियोगपरतायां चेति । फलितमाह—अतश्चेति ।

इदानीं प्रौढवादेन नियोगमङ्गीकृत्य तदेकत्वं खण्डयति—अभ्युपगम्यमानेऽपीति । भिन्नक्रियावाचिशब्दः शब्दान्तरं यथा यजति ददातीति तथेहापि वेदोपासीतेति शब्दभेदः । निर्गुणसगुणरूपभेदः प्रकरणभेदः मुक्त्यभ्युदयफलभेद इत्येतैः प्रमाणैर्निर्गुणज्ञानसगुणोपासनाविषयकनियोगभेद इत्यर्थः । कथं तर्ह्यङ्गाङ्गिवाक्येषु नियोगैक्यं, तत्राह—प्रयाजेति । एकस्यैव स्वर्गकामस्य साङ्गप्रधानाधिकारात्तत्साध्यफलापूर्वैक्यादेकवाक्यतेत्यर्थः । इहापि निर्गुणसगुणविद्ययोरेकाधिकारात् नियोगैक्यमस्तु, नेत्याह—न त्विहेति । मुक्त्यभ्युदयार्थिभेदान्मियो विरुद्धार्थविद्ययोरङ्गाङ्गित्वायोगाच्च न नियोगैक्यम् ।

भी आता है, वेद में नियोगनिष्ठा ही केवल मानी जाय तो जीव का सर्वसम्मत अनियोज्यब्रह्मात्मत्व सिद्धान्त अप्रामाणिक हो जायेगा। यदि कहो कि शास्त्र ही अनियोज्य ब्रह्मात्मत्व को भी कहता है और उस ब्रह्म के बोध में पुरुष को नियुक्त भी करता है, तो ऐसी स्थिति में एक ब्रह्मशास्त्र द्व्यर्थपरक और विरुद्धार्थपरक होने लग जायेगा। नियोगपरक मानने पर श्रुतहानि एवं अश्रुतकल्पना भी होने लग जायेगी। साथ ही कर्मफल की भाँति मोक्षफल में भी दृष्टफलत्व एवं अनित्यत्व इत्यादि दोष आने लग जायगे जिनका परिहार कोई कर नहीं सकता। अतः ब्रह्मबोधक वाक्य ज्ञाननिष्ठ ही है, नियोगनिष्ठ नहीं है इसलिए एक नियोगप्रतीति के आधार पर सम्पूर्ण वेदान्तवाक्य में एकवाक्यता का आग्रह असंगत ही है।

ब्रह्मबोधक वाक्य में नियोग का सद्भाव मान लेने पर भी निष्प्रपञ्च उपदेश अथवा सप्रपञ्च उपदेश में आप के कथनानुसार एकत्व सिद्ध नहीं ही होगा क्योंकि यजति, ददादि, जुहोति की भाँति वेद, उपासीत इत्यादि शब्दान्तरादि प्रमाणों से नियोगभेद जान लेने पर सर्वत्र एक ही नियोग है ऐसा नहीं मान सकते। प्रयाज एवं दर्शपूर्णमास वाक्य में जो एक नियोग माना गया है उसका कारण तो अधिकारी का अभेद है अर्थात् एक ही स्वर्गकाम पुरुष प्रयाजादि अङ्गों का तथा दर्श आदि प्रधान याग का अनुष्ठाता है, इसीलिए वहाँ पर एक नियोग माना गया है जिसे परमापूर्व कहते हैं और वही स्वर्गादि फल का जनक है, किन्तु यहाँ पर सगुण तथा निर्गुण श्रुतिवाक्य में कोई एक अधिकारी

1. नियोगैकत्वम् ।

६. प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम् (सू० २२-३०)

ब्रह्मापि नेति नेतीति निषिद्धमथवा नहि । द्विरुक्त्या ब्रह्मजगती निषिध्येते उभे अपि ।।
वीप्सेयमितिशब्दोक्ता सर्वदृश्यनिषिद्धये । अनिदं सत्यसत्यं च ब्रह्मैक शिष्यतेऽवधिः ।।

प्रपञ्चप्रविलयोपकारिणः । नापि प्रपञ्चविलयो भारूपत्वादिगुणोपकारी परस्परविरोधित्वात् । नहि कृत्स्नप्रपञ्चप्रविलापनं प्रपञ्चैकदेशापेक्षणं चैकस्मिन्धर्मिणि युक्तं समावेशयितुम् । तस्मादस्मदुक्त एव विभाग आकारवदनाकारोपदेशानां युक्ततर इति ।। २१ ।।

नच निर्गुणविद्यानियोग एक एव सगुणविद्यानङ्गीकारादिति वाच्यम् । अहो विपरीतं पाण्डित्यमायुष्मतः, विध्ययोग्यविद्यायां विधिर्विधियोग्यायामविधिरिति, तस्मात्साकारवाक्यानामाकारलयद्वारा निर्गुणवाक्यैकवाक्यतागतिरसद्गतिरेव, किंतु तेषां कल्पिताकारो गतिस्तदुपासनयाभ्युदयसिद्धेः, निर्गुणवाक्यानां तु परमार्थालम्बनत्वमित्यस्मदुक्त एव विभागः साधीयानित्युपसंहरति—तस्मादिति ।।२१।।

नहीं है जिससे कि एक नियोग माना जाय। भारूपत्वादि गुण प्रपञ्चप्रविलय के उपकारक नहीं हैं और न प्रपञ्चविलय भारूपत्वादि गुणों के उपकारक हैं, ये दोनों ही परस्पर विरोधी हैं। एक धर्मी में सम्पूर्ण प्रपञ्च का प्रविलापन और प्रपञ्च के एकदेश की अपेक्षा का समावेश नहीं कर सकते। अतः साकारबोधक वाक्यों का आकारप्रलय द्वारा निर्गुणवाक्य के साथ एकवाक्यता का आग्रह दुराग्रह ही है। साकारवाक्य का फल प्रकरणानुसार भिन्न-भिन्न अभ्युदय की सिद्धि है किन्तु निर्गुण वाक्यों का परमार्थावलम्बन ही फल है, यह जो हम पहले विभाग कर आये हैं वही युक्तियुक्त है, इसके विपरीत कल्पना विवेकियों को मान्य नहीं होगी ।।२१।।

६. प्रकृतैतावत्त्वाधिकरण

१. सङ्गति—निषेधश्रुति के बल से जैसे ब्रह्म में निर्विशेषत्व कहा गया है वैसे ही निषेधश्रुति के बल से ही ब्रह्म का निषेध क्यों न मान लिया जाय, ऐसा आक्षेप होने के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—ब्रह्म का अस्तित्वावधारण इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' यहाँ से प्रसंग प्रारम्भकर 'अथात आदेशो नेति नेति' इस श्रुति से प्रपञ्च एवं ब्रह्म दोनों का निषेध किया गया है अथवा एक का ?

४. पूर्वपक्ष—अन्यतरनिषेध में विनिगमक नहीं दीखता, अतः एक 'नेति' से प्रपञ्च का निषेध और दूसरे 'नेति' शब्द से ब्रह्म का निषेध किया गया है।

५. सिद्धान्त—प्रपञ्च एवं ब्रह्म दोनों का निषेध कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर शून्यवाद का प्रसंग आ जायेगा। रज्जुसर्पादि का निषेध लोक में निरवधिक नहीं देखा गया है। 'इति' शब्द से उक्त निषेधवाचक नकार सर्वदृश्यनिषेध के लिए वीप्सा (व्यापक) अर्थ में कहा गया है। जो सत्य का भी सत्य है, जिसका निर्देश इदम् शब्द से हो नहीं सकता उस ब्रह्म का निषेध सम्भव नहीं। अतः निषेध की अवधि में वही शेष रहता है, केवल मूर्त एवं अमूर्त प्रपञ्चरूप का ही 'नेति नेति' शब्द से निषेध किया गया है।

(३४०) प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥२२॥

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' (बृ० २।३।१) इत्युपक्रम्य पञ्चमहाभूतानि द्वैराश्येन प्रविभज्यामूर्तरसस्य च पुरुषशब्दोदितस्य माहारजनादीनि रूपाणि दर्शयित्वा पुनः पठ्यते—'अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति' (बृ० २-३-६) इति। तत्र कोऽस्य प्रतिषेधस्य विषय इति जिज्ञासामहे। न ह्यत्रेदं तदिति विशेषितं किंचित्प्रतिषेध्यमुपलभ्यते। इतिशब्देन त्वत्र प्रतिषेध्यं किमपि समर्प्यते नेति नेतीतिशब्दपरत्वान्नञ्प्रयोगस्य। इतिशब्दश्चायं सन्निहितालम्बन एवंशब्दसमानवृत्तिः प्रयुज्यमानो दृश्यते 'इति ह स्मोपाध्यायः कथयति' इत्येवमादिषु। सन्निहितं चात्र प्रकरणसामर्थ्या-

---

ब्रह्मणो निर्विशेषचिन्मात्रत्वमुक्त्वा सर्वनिषेधावधित्वेन सद्रूपत्वमाह—प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय इति। पृथिव्यप्तेजोभूतत्रयं मूर्तं वाय्वाकाशद्वयममूर्तमिति राशिद्वयमुक्त्वा भूतद्वयस्यामूर्तस्य सारः 'करणात्मा हिरण्यगर्भो य एष एतस्मिन् सूर्यमण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षिणि पुरुषः' इत्युक्तः, तस्य वासनामयानि स्वप्नरूपाणि 'तद्यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपः' इत्युपमाभिरुक्तानि विचित्राणि, तत्र महारजनं हरिद्रा तया लिप्तं वस्त्रं माहारजनं, पाण्ड्वाविकमिति धवलं कम्बलादि। केचित्तु श्रुतिमुपलक्षणं कृत्वा सूक्ष्मपञ्चभूतान्यमूर्तानि पञ्चीकृतानि मूर्तानि ततश्चामूर्तरसत्वोक्त्या करणानां पाञ्चभौतिकत्वसिद्धिरिति व्याचक्षते। अथ 'सत्यदात्मकप्रपञ्चोक्त्यनन्तरं, अत उक्तारोपस्य निषेधार्थत्वान्नेति नेतीति निषेधेनोपदेशः क्रियत इत्यर्थः। नेतिशब्दार्थमाह—नहीति। एतस्मादात्मनोऽन्यन्नास्तीति नेतीत्युच्यत इत्यर्थः। शून्यतानिरासार्थं परं ब्रह्मास्तीत्युक्तमिति सिद्धान्तरीत्या श्रुत्यर्थः। अत्र निषेध्यविशेषानुपलम्भात्संशयमाह—तत्र कोऽस्येत्यादिना। नञ्प्रयोगस्य नकारस्येतिशब्दोपस्थापितवस्तुनिषेधकत्वा-

---

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः (ललिता)

पिछले अधिकरण द्वारा ब्रह्म के निर्विशेष, चिन्मात्र स्वरूप को बतला देने के बाद अब इस अधिकरण से सर्वनिषेधावधि होने के कारण ब्रह्म का सद्रूपत्व बतलाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में 'निःसन्देह ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त। मूर्तरूप मर्त्य है, स्थिर और सत् है एवं अमूर्त अमृत, गतिशील और त्यत्' यहाँ से प्रसंग प्रारम्भकर पञ्चमहाभूतों को दो राशि में विभक्तकर अमूर्तसार पुरुषशब्दवाच्य वस्तु को माहारजनादि रूप दिखलाने के बाद पुनः पाठ करते हैं–'सत् पदात्मक प्रपञ्च-कथनानन्तर उक्त आरोप के निषेध के लिए नेति नेति शब्द से आदेश सर्वोत्तम उपदेश किया जाता है, इस आत्मा से भिन्न और श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।' वहाँ पर हमें जिज्ञासा होती है कि इस निषेध का विषय क्या है क्योंकि यहाँ पर निषेध्य वस्तु का इदं–तत् इत्यादि रूप से भान नहीं होता है। हाँ, यहाँ पर इति शब्द से कुछ प्रतिषेध्य अवश्य प्रतीत होता है क्योंकि 'न' शब्द के आगे 'इति' शब्द जुड़ा हुआ है, यह इति शब्द सन्निहित पदार्थ का आलम्बन करता है। 'ऐसा उपाध्याय ने कहा था' इत्यादि प्रयोगों में एवं शब्द के समानार्थक इति शब्द देखा गया है। प्रसंग को देखते हुए यहाँ पर प्रपञ्च के सहित ब्रह्म के दो रूप सन्निहित हैं अर्थात् ब्रह्म वह है जिसके मूर्त एवं अमूर्त ये दोनों रूप हैं। वहाँ

---

१. स्थूलसूक्ष्म।

द्रूपद्वयं सप्रपञ्चं ब्रह्मणस्तच्च ब्रह्म, यस्यैते द्वे रूपे । तत्र नः संशय उपजायते—किमयं प्रतिषेधो रूपे रूपवच्चोभयमपि प्रतिषेधति आहोस्विदेकतरम् । यदाप्येकतरं तदापि किं ब्रह्म प्रतिषेधति रूपे परिशिनष्ट्याहोस्विद्रूपे प्रतिषेधति ब्रह्म परिशिनष्टीति । तत्र प्रकृतत्वाविशेषादुभयमपि प्रतिषेधतीत्याशङ्कामहे द्वौ चैतौ प्रतिषेधौ द्विर्नेतिशब्दप्रयोगात् । तयोरेकेन सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं प्रतिषिध्यतेऽपरेण रूपवद्ब्रह्मेति भवति मतिः । अथवा ब्रह्मैव रूपवत्प्रतिषिध्यते, तद्धि वाङ्मनसातीतत्वादसंभाव्यमानसद्भावं प्रतिषेधार्हम् न तु रूपप्रपञ्चः प्रत्यक्षादिगोचरत्वात्प्रतिषेधार्हः । अभ्यासस्त्वादरार्थ इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते शून्यवादप्रसङ्गात् । किंचिद्धि परमार्थमालम्ब्यापरमार्थः प्रतिषिध्यते यथा रज्ज्वादिषु सर्पादयः । तच्च परिशिष्यमाणे कस्मि-

---

न्नित्यर्थः । इतिशब्दान्निषेध्यसामान्यसमर्पणे विशेषाकाङ्क्षायां प्रकरणाद्रूपद्वयस्य रूपिब्रह्मणश्च निषेध्यत्वभानात्संशयमुक्त्वा पूर्वोक्तं निर्विशेषं ब्रह्म नास्तीत्याक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्षयति—तत्र प्रकृतत्वेति । पूर्वपक्षे तत्पदार्थाभावाद्वाक्यार्थमिद्धासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलम् । निरधिष्ठाननिषेधादर्शनात्सर्वनिषेधो न युक्त इत्यरुच्या प्रपञ्चे ब्रह्मनिषेध इत्याह—अथवेति । एकब्रह्मण एव निषेधे नकारद्वयस्य पौनरुक्त्यमित्यत आह—अभ्यासस्त्विति ।

उत्सूत्रमेव तावत्सिद्धान्तमुपक्रमते—एवमिति । शून्यप्रसङ्ग इष्ट इति वदन्तं प्रत्याह-किंचिद्धीति । तच्चेति प्रतिषेधनमित्यर्थः । अधिष्ठानानवशेषे तत्प्रमारूपहेत्वभावात् निषेधवाक्यार्थः प्रमा न स्यात्, 'इदमत्र नास्ति' इति लोके निषेधस्य साधिष्ठानस्यैव प्रमितिदर्शनादित्यर्थः । किंच यद्भाति तत्सदित्युत्सर्गस्य भानार्थाभावाधिष्ठानप्रमितिरपवादस्तया पूर्वभानस्य भ्रमत्वनिश्चयेनार्थसत्त्वापलापात् ।

पर हमें यह संशय होता है कि क्या यह उन दोनों रूपों का एवं रूपवाले उभयपदार्थ का निषेध करता है अथवा किसी एक का निषेध करता है । दोनों में से किसी एक पक्ष में भी यह संशय होता है कि यह प्रतिषेध ब्रह्म का निषेध करता है और दोनों रूपों को परिशेष रख लेता है अथवा उक्त दोनों रूपों का निषेध करता है और ब्रह्म को परिशेष रख लेता है । वहाँ प्रकरण दोनों का एक जैसा है, अतः दोनों का ही निषेध करता है ऐसा हमें सन्देह होता है क्योंकि निषेधार्थक 'नेति' शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है । इसलिए उन दोनों में से एक 'नेति' शब्द द्वारा सप्रपञ्चब्रह्मरूप का निषेध होता है और दूसरे 'नेति' शब्द द्वारा रूपवान ब्रह्म का निषेध होता है, ऐसा जान पड़ता है । अथवा रूपवान ब्रह्म का ही निषेध उक्त वाक्य से किया गया है क्योंकि मन-वाणी से अतीत होने के कारण उसका अस्तित्व असम्भव है इसीलिए वह ब्रह्म निषेध के योग्य है, किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय होने के कारण रूपप्रपञ्च प्रतिषेध के योग्य नहीं है । 'नेति' शब्द का दो बार उच्चारण आदरार्थ किया गया है ।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि रूप तथा रूपवान, दोनों का प्रतिषेध मानना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर शून्यवाद का प्रसङ्ग आ जायेगा । किसी परमार्थ का आलम्बनकर अपरमार्थ का प्रतिषेध देखा जाता है, जैसे रज्जु आदि में सर्पादि का प्रतिषेध होता है । ऐसा प्रतिषेध किसी भाववस्तु को परिशेष रख लेने पर ही होता है, सभी का प्रतिषेध करने पर दूसरा

---

१. अधिष्ठानज्ञानंहि निषेधवाक्यार्थज्ञाने कारणमित्यत्र लोकप्रसिद्धिमाह इदमत्रेति ।

भ्रिन्द्वावेऽवकल्प्यते । कृत्स्नप्रतिषेधे हि कोऽन्यो भावः परिशिष्येत, अपरिशिष्यमाणे चान्यस्मिन्य इतरः प्रतिषेद्धुमारभ्यते तस्य प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्तस्यैव परमार्थत्वापत्तेः प्रतिषेधानुपपत्तिः । नापि ब्रह्मप्रतिषेध उपपद्यते 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (बृ० २·१·१) इत्याद्युपक्रमविरोधात् । 'असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत्' (तै० २·६·१) इत्यादिनिन्दाविरोधात् । 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (क० ६·१३) इत्यवधारणविरोधात् । सर्ववेदान्तव्याकोपप्रसङ्गाच्च । वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधीयते । नहि महता परिकरबन्धेन 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २·१·१) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २·१·१) इत्येवमादिना वेदान्तेषु ब्रह्म प्रतिपाद्य तस्यैव पुनरभावोऽभिलप्येत । 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति हि न्यायः । प्रतिपादनप्रक्रिया त्वेषा 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह' (तै० २·४·१) इति । एतदुक्तं भवति—वाङ्मनसातीतमविषयान्तःपाति प्रत्यगात्मभूतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्मेति । तस्माद्ब्रह्मणो रूपं

अपवादानङ्गीकारे तूत्सर्गतः प्रपञ्चस्य सत्यत्वापत्तेर्निषेधानुपपत्तिरित्याह—अपरिशिष्यमाणे चेति । अधिष्ठानसत्त्वं विना भ्रान्तिनिषेधयोरयोगाच्छून्यवादो न युक्त इत्युक्त्वा पूर्ववादिनः पक्षान्तरं दूषयति—नापीति । देहात्माभिमानवल्लौकिकमानप्राप्तत्वं तस्य निषेधो युक्तो न वेदान्तप्रमितब्रह्मण इति भावः । यदुक्तं वाङ्मनसातीतत्वात् निषेधार्हं ब्रह्म इति तत्राह—वाङ्मनसेति । ब्रह्मणो वागाद्यतीतत्वं न चेत् किमर्थं निषेधार्थं तदुक्तिरित्यत आह—प्रतिपादनेति । उक्तार्थे सूत्रं योजयति—तदेतदित्यादिना । 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' इति रूपद्वयस्यैव प्राधान्येन प्रकृतत्वान्नेतीति निषेध इत्यर्थः ।

कौन सा भावपदार्थ शेष रह जाता है । किसी अन्य परिशेष को न मानने पर जो तद्भिन्न पदार्थ का प्रतिषेध होता है वह तो सम्भव ही नहीं है । ऐसी स्थिति में जो निषेध की अवधिरूप से शेष रह जाता है वह परमार्थ वस्तु है, उसका प्रतिषेध हो ही नहीं सकता । साथ ही ब्रह्म का प्रतिषेध तो असंगत ही है क्योंकि बालाकि ने अजातशत्रु से जो कहा है कि 'तुझे मैं ब्रह्म का उपदेश करूं' इस उपक्रमवाक्य के साथ विरोध आने लग जायेगा । 'यदि, ब्रह्म असत् है, ऐसा कोई समझता हो तो वह स्वयं ही असत् हो जाता है' इत्यादि निन्दावाक्य के साथ विरोध आने के कारण भी ब्रह्म का प्रतिषेध कहना युक्तियुक्त नहीं है । 'परमात्मा है, ऐसा मानकर उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए' इस अवधारणवाक्य के साथ भी विरोध आयेगा । इतना ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण वेदान्त का व्याकोपप्रसंग भी आ जायेगा । मन-वाणी से अतीत जो ब्रह्म को कहा गया है वह अभावाभिप्राय से नहीं क्योंकि 'ब्रह्मज्ञानी पर को प्राप्त कर लेता है', 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान एवं अपरिच्छिन्न है इत्यादि वाक्य द्वारा वेदान्तग्रन्थों में महान् प्रयत्नपूर्वक ब्रह्म का प्रतिपादनकर पुनः उसी का निषेध करने लग जाय तो 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' (कीचड़ में फंसकर धोने की अपेक्षा उससे दूर रहना ही अच्छा है) यह न्याय आ खड़ा होता है । ब्रह्मप्रतिपादनप्रक्रिया तो ऐसी है कि 'मन के सहित वाणी जहाँ लौट आती है वह ब्रह्म है' अर्थात् मन-वाणी से अतीत विषयों के अन्तःपाती प्रत्यगात्मभूत ब्रह्म नहीं है, वह तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है । इसलिए 'नेति' वाक्य ब्रह्म के

प्रपञ्चं प्रतिषेधति परिशिनष्टि ब्रह्मेत्यभ्युपगन्तव्यम् । तदेतदुच्यते प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधतीति ।

प्रकृतं यदेतावदियत्तापरिच्छिन्नं मूर्तामूर्तलक्षणं ब्रह्मणो रूपं 'तदेष शब्दः प्रतिषेधति । तद्धि प्रकृतं प्रपञ्चितं च पूर्वस्मिन्ग्रन्थेऽधिदैवतमध्यात्मं च तज्जनितमेव च वासनालक्षण-मपरं रूपममूर्तरसभूतं पुरुषशब्दोदितं लिङ्गात्मव्यपाश्रयं महारजनाद्युपमाभिर्दर्शितम् । अमूर्तरसस्य पुरुषस्य चक्षुर्ग्राह्यरूपयोगित्वानुपपत्तेः । तदेतत्सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं संनिहि-तालम्बनेनेति करणेन प्रतिषेधकं नञं प्रत्युपनीयत इति गम्यते । ब्रह्म तु रूपविशेषणत्वेन षष्ठया निर्दिष्टं पूर्वस्मिन्ग्रन्थे न स्वप्रधानत्वेन । प्रपञ्चिते च तदीये रूपद्वये रूपवतः स्वरूपजिज्ञासायामिदमुपक्रान्तम् 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति । 'तत्र कल्पितरूपप्रत्याख्यानेन ब्रह्मणः स्वरूपावेदनमिदमिति निर्णीयते । तदास्पदं हीदं समस्तं कार्यं नेति नेतीति प्रतिषिद्धम् । युक्तं च कार्यस्य वाचारम्भणशब्दादिभ्योऽसत्त्वमिति नेति

ननु 'आदित्यमण्डले पुरुष' इति ब्रह्माप्यत्र प्राधान्येनोक्तमित्याशङ्क्य पुरुषो लिङ्गात्मा अमूर्त-रसत्वश्रुत्या मूर्तजनितत्वभानात् स्वप्नरूपवत्त्वश्रुतेश्चेत्याह—तज्जनितमेवेति । रूपरूपिणोरभेद उक्तः । ननु वासनामयं रूपमेव किमित्युपमीयते प्रसिद्धरूपमेव किं न स्यादित्यत आह—अमूर्तरसस्येति । रूपद्वयस्यैव प्राधान्येन प्रकृतत्वे फलितमाह—तदिति । प्रतियोगित्वेन समर्प्यत इत्यर्थः । न चार्थतः प्राधान्याद् ब्रह्मणो निषेधः, राज्ञो भृत्यो नास्तीत्यत्र राजनिषेधप्रसङ्गादिति भावः । किंचात्र ब्रह्मणः प्रतिपाद्यत्वात् न निषेध इत्याह—प्रपञ्चिते चेति । ननु ब्रह्मणि निषिद्धस्या-प्यन्यत्र स्थितिसंभवात् कथं कल्पितत्वमित्यत आह—तदास्पदमिति । उपादाने निषिद्धस्यान्यत्र न स्थितिरित्यर्थः । यत्तु द्वैतनिषेधे प्रत्यक्षादिविरोध इति, तत्राह—युक्त चेति । स्थापितं हि आरम्भ-

के प्रपञ्चरूप का प्रतिषेध करता है, ब्रह्म को परिशेष रख लेता है, ऐसा समझना चाहिए । इसी को अग्रिम सूत्र से सूत्रकार कहते हैं—

इयत्तापरिच्छिन्न, मूर्तामूर्तरूप ब्रह्म का प्रसङ्ग है, उसी का निषेध 'नेति' शब्द करता है क्योंकि निषेध से पूर्वग्रन्थ में अधिदैव, अध्यात्म एव तज्जनित वासना अपररूप प्रपञ्च का प्रसंग था जो अमूर्त, रसरूप पुरुषशब्दवाच्य लिङ्गात्मा के आश्रित था जिसे महारजनादि उपमा से दिखलाया गया था । अमूर्तरस पुरुष में चक्षुर्ग्राह्य रूपयोगित्व सिद्ध नहीं होता, ब्रह्म का वही रूप सप्रपञ्च यहाँ पर सन्निहित है, उसी का आलम्बन 'इति' शब्द के द्वारा करते हुए प्रतिषधक नञ् के प्रति उपस्थापित किया है, ऐसा जान पड़ता है । रूप के विशेषणभाव से षष्ठी विभक्ति द्वारा पूर्वग्रन्थ में स्वप्रधानरूप से ब्रह्म का निर्देश किया जा चुका है, उन्हीं दोनों रूपों के आधारभूत रूपवान ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा होने पर 'अथात आदेशो नेति नेति' वाक्य द्वारा प्रसंग प्रारम्भ किया गया है । अतः इस निषेधवाक्य द्वारा कल्पित रूप का प्रत्याख्यानकर ब्रह्म के स्वरूप का बोध कराया गया है, ऐसा निर्णय होता है । उसी के आश्रित यह सम्पूर्ण कार्यजगत् है जिसका निषेध 'नेति नेति' पद से किया गया है । वाचा-रम्भण शब्दादि के द्वारा काय में असत्त्व बतलाना उचित ही है जिसे 'नेति नेति' शब्द से भी कहा

१. नेति नेतीति शब्दः । २. कार्यरूपम् । ३. सूक्ष्मभूतसाररूपम् । ४. ब्रह्मणि । ५. कार्यब्रह्मापि ।

नेतीति प्रतिषेधनम् । ननु ब्रह्मणः सर्वकल्पनामूलत्वात् । न चात्रेयमाशङ्का कर्तव्या । कथं हि शास्त्रं स्वयमेव ब्रह्मणो रूपद्वयं दर्शयित्वा स्वयमेव पुनः प्रतिषेधति—'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति । यतो नेदं शास्त्रं प्रतिपाद्यत्वेन ब्रह्मणो रूपद्वयं निर्दिशति । लोकप्रसिद्धं चिदं रूपद्वयं । ब्रह्मणि कल्पितं परामृशति प्रतिषेध्यत्वाय शुद्धब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनाय चेति निरवद्यम् । द्वौ चैतौ प्रतिषेधौ यथासंख्यन्यायेन द्वे अपि मूर्तामूर्ते प्रतिषेधतः । यद्वा पूर्वः प्रतिषेधो भूतराशिं प्रतिषेधत्युत्तरो वासनाराशिम् । अथवा 'नेति नेति' (बृ० २-३-६) इति वीप्सेयमितीति यावत्किंचिदुत्प्रेक्ष्यते तत्सर्वं न भवतीत्यर्थः । परिगणितप्रतिषेधे हि क्रियमाणे यदि नैतद्ब्रह्म किमन्यद्ब्रह्म भवेदिति जिज्ञासा स्यात् । वीप्सायां तु सत्यां समस्तस्य विषयजातस्य प्रतिषेधादविषयः प्रत्यगात्मा ब्रह्मेति जिज्ञासा निवर्तते । तस्मात्प्रपञ्चमेव ब्रह्मणि कल्पितं प्रतिषेधति परिशिनष्टि ब्रह्मेति निर्णयः । इतश्चैष एव निर्णयः ।

णाधिकरणे प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं न 'तत्त्वावेदकमिति, अतस्तत्त्वतो निषेधान्न विरोध इति भावः । ननु वस्तुत्वाद्द्वैतवद्ब्रह्मणोऽपि निषेधोऽस्तु, नेत्याह—न त्विति । द्वैतभावाभावसाक्षित्वावशेषयो निषेध इत्यर्थः । न चेत्यादि स्पष्टार्थम् । यच्चोक्तं निषेधाभ्यां रूप रूपि ब्रह्म च निषिध्यत इति, तत्राह—द्वौ चैताविति । उद्देश्यविधेयार्थानां संख्यासाम्ये यथाक्रमं सम्बन्ध इतिन्यायः । 'यथासङ्ख्यमनुनदेशः समानाम्' इति पाणिनिसूत्रसिद्धस्तेनात्र रूपद्वयोद्देशेन निषेधद्वयविधिरित्यर्थः । वीप्सापक्षे सर्वदृश्यनिषेधाज्जिज्ञासाशान्तिरिति विशेषमाह—परिगणितेति । मूर्तं नामूर्तं नेत्येवं विशिष्यनिषेधे जिज्ञासा न शाम्यतीत्यर्थः । सूत्रशेषं व्याचष्टे—इतश्चेति । प्रतिषेधानुपपत्त्या ब्रह्मास्तीत्यवगतं, भूयः पुनः, परमस्तीति श्रुतिः साक्षादपि ब्रवीतीत्यर्थः ।

है, किन्तु ब्रह्म का निषेध करना उचित नहीं है क्योंकि वह ब्रह्म सम्पूर्ण कल्पनाओं का अधिष्ठान है । यहाँ पर यह शङ्का तो कर ही नहीं सकते कि स्वयं ही शास्त्र ब्रह्म के रूपद्वय को बतलाकर पुनः उसका निषेध कैसे करता है, ऐसा करना तो कीचड़ में फँसकर उसे धोने के समान माना जायेगा, किन्तु कीचड़ में फँसकर धोने की अपेक्षा उससे दूर रहना अच्छा माना जाता है ।' उक्त शङ्का इसलिए उचित नहीं है क्योंकि यह शास्त्र ब्रह्म के दोनों रूपों को प्रतिपाद्यरूप से नहीं बतलाता, ये दोनों रूप तो लोकप्रसिद्ध हैं जो ब्रह्म में कल्पित हैं, उसका परामर्श यहाँ पर प्रतिषेध्य के लिए किया गया है और साथ ही शुद्ध ब्रह्मस्वरूपबोध कराने के लिए किया गया है, यह निर्दुष्ट पक्ष है । 'नेति नेति' ये दोनों प्रतिषेध यथासंख्यन्याय से मूर्तामूर्त दोनों ही रूप का करते हैं । अथवा पूर्व 'नेति' शब्द भूतराशि का प्रतिषेध करता है और दूसरा 'नेति' शब्द वासनाराशि का प्रतिषेध करता है । अथवा 'नेति नेति' शब्द वीप्सा के लिए है जिसका तात्पर्य है कि जो कुछ भी देखते हो वह सब वस्तुतः नहीं है । परिगणित दो बार प्रतिषेध किये जाने पर यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ये दोनों रूप ब्रह्म नहीं है तो कुछ अन्य पदार्थ ब्रह्म होगा; किन्तु वीप्सा अर्थ में द्वित्व मानने पर सम्पूर्ण विषयसमुदाय का प्रतिषेध हो जाने के कारण प्रत्यगात्मा अविषय ब्रह्मस्वरूप है, ऐसा मानने पर उक्त जिज्ञासा शान्त हो जाती है । इसलिए उक्त 'नेति' वाक्य से ब्रह्म में कल्पित प्रपञ्च का ही निषेध किया गया है, ब्रह्म परिशिष्ट रह जाता है, यही निर्णय होता है ।

---

१. न तु पारमार्थिकं प्रामाण्यम् । २. न तु व्यवहारतः ।

(३४१) तदव्यक्तमाह हि ॥२३॥

यतस्ततः प्रतिषेधाद्भूयो ब्रवीति 'अन्यत्परमस्ति' (बृ० २-३-६) इति । अभावावसाने हि प्रतिषेधे क्रियमाणे किमन्यत्परमतस्तीति ब्रूयात् । तत्रैषाक्षरयोजना—नेति नेतीति ब्रह्मादिश्य तमेवादेशं पुनर्निर्वक्ति । नेति नेतीत्यस्य कोऽर्थः ? न ह्येतस्माद्ब्रह्मणो व्यतिरिक्तमस्तीत्यतो नेति नेतीत्युच्यते न पुनः स्वयमेव नास्तीत्यर्थः । तच्च दर्शयत्यन्यत्परमप्रतिषिद्धं ब्रह्मास्तीति। यदा पुनरेवमक्षराणि योज्यन्ते न ह्येतस्मादिति नेति नेति । नहि प्रपञ्चप्रतिषेधरूपादादेशनादन्यत्परमादेशनं ब्रह्मणोऽस्तीति । तदा 'ततो ब्रवीति च भूय' इत्येतन्नामधेयविषयं योजयितव्यम् । अथ नामधेयम्—'सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' (बृ० २-१-२०) इति हि ब्रवीतीति। तच्च ब्रह्मावसाने प्रतिषेधे समञ्जसं भवति । अभावावसाने तु प्रतिषेधे किं सत्यस्य सत्यमित्युच्येत । तस्माद्ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधो नाभावावसान इत्यध्यवस्यामः ॥२२॥

यत्प्रतिषिद्धात्प्रपञ्चजातादन्यत्परं ब्रह्म तदस्ति चेत्कस्मान्न गृह्यत इति । उच्यते—

तच्चेति । अवशिष्टं ब्रह्मेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥२२॥

नन्वग्राह्यत्वाद्ब्रह्म नास्तीति शङ्कानिरासार्थं सूत्रं व्याचष्टे—यत्प्रतिषिद्धादिति । रूपाद्यभावादव्यक्तमिन्द्रियाग्राह्यं न त्वसत्त्वादित्यर्थः । अन्यैर्देवैरिन्द्रियान्तरैर्न गृह्यतइत्यन्वयः ॥२३॥

इसलिए भी यह निर्णय मानना उचित है क्योंकि उस प्रतिषेध के बाद पुनः श्रुति कहती है कि 'अन्य वस्तु परमात्मा ही है।' अभावान्त प्रतिषेध किये जाने पर अन्य वस्तु परमात्मा क्या है, ऐसा कहना चाहिए था। वहाँ पर अक्षरों की योजना इस प्रकार करनी चाहिए कि 'नेति नेति' शब्द द्वारा ब्रह्म का आदेश कर उस आदेश का पुनः निर्वचन जब 'नेति-नेति' शब्द से श्रुति करती है तब इसका तात्पर्य क्या है क्योंकि इस ब्रह्म से भिन्न तो कुछ है ही नहीं जिसे 'नेति-नेति' शब्द से कहा जाता है। स्वयं ब्रह्म ही नहीं है' ऐसा इसका अर्थ कभी भी नहीं करना चाहिए क्योंकि 'अन्य वस्तु से पृथक् अप्रतिषिद्ध ब्रह्म है, उसे श्रुति पुनः बतलाती है। जब इस प्रकार अक्षरों को योजना करते हैं कि इस ब्रह्म से भिन्न वस्तु का निषेध 'नेति-नेति' शब्द से कर दिया गया है, तब इस प्रपञ्चप्रतिषेधरूप उपदेश से भिन्न श्रेष्ठ ब्रह्मोपदेश नहीं है। ब्रह्म का निर्वचन पुनः श्रुति करती है इसीलिए 'ततो ब्रवीति च भूयः' इस नामधेयविषय ब्रह्म की योजना आगे की गयी है, उसका नाम है, सत्यस्य सत्यम्, निःसन्देह ये प्राण सत्य है—उनमें सत्यत्व का प्रयोजक यह परमात्मा सत्य है' ऐसा श्रुति कहती है। इस प्रतिषेध के अन्त में ब्रह्म को शेष रखने पर निषेध सुसंगत हो जायेगा, अभावान्त निषेध करने पर तो सत्य का सत्य क्या है, यह आकांक्षा बनी रहेगी। अतः यह प्रतिषेध ब्रह्म में पूर्ण होता है, अभाव में नहीं, ऐसा हम निश्चय करते हैं ॥२२॥

तदव्यक्तमाह हि (ललिता)

प्रतिषिद्ध प्रपञ्चसमुदाय से भिन्न जो है वही परब्रह्म है, ऐसा यदि मानो तो फिर उस ब्रह्म का ग्रहण क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से दिया गया है कि सम्पूर्ण दृश्य का साक्षी होने

(३४२) अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्॥२४॥

तदव्यक्तमनिन्द्रियग्राह्यं सर्वदृश्यसाक्षित्वात् । आह ह्येवं श्रुतिः 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा' (मु० ३-१-८), 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' (बृ० ३-९-२६), 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' (मु० १-१-६), 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने' (तै० २-७-१) इत्याद्या । स्मृतिरपि—'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' (गी० २-२५) इत्याद्या ॥२३॥

अपिचैनमात्मानं निरस्तसमस्तप्रपञ्चमव्यक्तं संराधनकाले पश्यन्ति योगिनः । संराधनं च भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानम् । कथं पुनरवगम्यते संराधनकाले पश्यन्तीति । प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । तथाहि श्रुतिः पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' (क० ४-१) इति । 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः'

तर्हि कदा ग्राह्यमिति शङ्कोत्तरं सूत्रं व्याख्याति—अपि चैनमिति । चस्त्वर्थः । इन्द्रियैर्न गृह्यते अपि तु संराधनेन शास्त्रसंस्कृतमनसेत्यर्थः । भक्तिध्यानाभ्यां प्रत्यगात्मनश्चित्ते प्रकर्षेण निधानं स्थापनं प्रणिधानं । जपनमस्कारादिरादिशब्दार्थः । स्वयंभूरीश्वरः । खानीन्द्रियाणि । पराञ्चयनात्मग्राहकाणि कृत्वा व्यतृणत् नाशितवान् । स हि तेषां नाशो यदसमर्थग्राहितया[1] सर्जनं तस्मात्तेषां 'तथा सृष्टत्वात्, सर्वो लोकः परागर्थमेव पश्यति नान्तरात्मानम् । कश्चित्तु धीरो धीमानावृत्तचक्षुर्निरुद्धेन्द्रियः शुद्धे चेतसि प्रत्यगात्मनं शास्त्रेण पश्यति मोक्षार्थीत्यर्थः । ततः कर्मणा विशुद्धचित्तो ज्ञाना-

---

के कारण ब्रह्म इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है, ऐसा 'न चक्षु से वह गृहीत होता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से, न तप से और न कर्म से ही वह ब्रह्म जाना जाता है', 'वह ब्रह्मस्वरूप आत्मा नेति नेति शब्द द्वारा प्रपञ्च का निषेध करके ही जाना जाता है', 'वह ग्रहणयोग्य नहीं इसीलिए ग्रहण नहीं किया जाता', 'जब इस अदृश्य, अनात्म्य, अनिरुक्त एवं अनिलय ब्रह्म में यह साधक प्रतिष्ठा प्राप्त करता है', ये सब श्रुतियाँ ब्रह्म को इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य बतलाती हैं । 'यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य कहा जाता है' ऐसी स्मृति भी है ॥२३॥

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् (ललिता)

फिर भला वह ब्रह्म कब ग्राह्य होता है, इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं कि जिसमें सम्पूर्ण प्रपञ्च निरस्त हो गया है इस अव्यक्त आत्मा को योगी लोग संराधन काल में देखते हैं। भक्ति,ध्यान द्वारा प्रत्यगात्मा को विशेषरूप से स्थापित करने को संराधन कहते है । संराधन काल में योगी लोग परमात्मा को देखते है, यह कैसे आप समझा ? श्रुति एवं स्मृति के द्वारा हमने ऐसा समझा है क्योंकि 'परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर जीव को हिंसित कर डाला इसीलिए यह जीव बाहर देखता है, अन्तरात्मा को नहीं । अमरत्व की इच्छावाला कोई धीर पुरुष ही इन्द्रियों को बहिर्मुखता को रोककर प्रत्यगात्मा को देखता है', 'ज्ञान की निर्मलता से विशुद्ध अन्तःकरण वाला पुरूष ध्यान करता हुआ अवयवभेद से रहित आत्मा को देखता है' इत्यादि श्रुतियाँ ऐसा ही कहती हैं । ऐसे ही

---

१. असमर्थग्राहितया ।

(३४३) प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ।।२५।।

(३४४) अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् ।।२६।।

(मु० ३-१-८) इति चैवमाद्या । स्मृतिरपि—'यं विनिद्रा जितश्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः । ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ।। योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्' इति चैवमाद्या ।।२४।।

ननु संराध्यसंराधकभावाभ्युपगमात्परेतरात्मनोरन्यत्वं स्यादिति । नेत्युच्यते—

यथा प्रकाशाकाशसवितृप्रभृतयोऽङ्गुलिकरकोदकप्रभृतिषु कर्मसूपाधिभूतेषु सविशेषा इवावभासन्ते नच स्वाभाविकीमविशेषात्मतां जहति । एवमुपाधिनिमित्त एवायमात्मभेदः स्वतस्त्वैकात्म्यमेव । तथाहि—वेदान्तेष्वभ्यासेनासकृज्जीवप्राज्ञयोरभेदः प्रतिपाद्यते ।।२५।।

अतश्च स्वाभाविकत्वादभेदस्याविद्याकृतत्वाच्च भेदस्य विद्ययाऽविद्यां विधूय जीवः

ध्यसस्वोत्कर्षेण संध्यायस्तं 'निष्कलं पश्यतीत्यर्थः । विनिद्राः वितमस्काः, तत्र हेतुर्जितश्वासत्वं प्राणायामनिष्ठत्वं, युञ्जाना ध्यायिनः । योगलभ्यः आत्मा योगात्मा ।।२४।।

यथा प्रकाशादय उपाधिषु भिद्यन्ते न स्वतः, एवं प्रकाशश्चिदात्मापि ध्यानादिकर्मण्युपाधौ भिद्यते स्वतस्तस्यावैशेष्यमेकरसत्वमेव तत्त्वमसीत्यभ्यासादिति सूत्रयोजना ।।२५।।

जीवस्य ब्रह्मात्मत्वफलश्रुतिरूपलिङ्गादपि भेद औपाधिक एवेत्याह सूत्रकारः—अतोऽनन्तेनेति । ।।२६।।

'निद्रा और श्वास-निःश्वास पर विजय प्राप्त करने वाले, सर्वथा सन्तुष्ट, संयत इन्द्रिय, युञ्जान पुरुष जिस ज्योति को देखते हैं उस योगात्मा को नमस्कार है', 'उस सनातन भगवान् को योगी लोग देखते है' स्मृतियां भी कहती हैं ।।२४।।

शङ्का—पूर्वसूत्रोक्त कथनानुसार जीव एवं ईश्वर में संराध्यसंराधकभाव मानने पर भेद सिद्ध हो जायेगा । समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि—

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् (ललिता)

जैसे प्रकाश, आकाश और सवितादि उपाधिरूप कर्म में भिन्न की भाँति भासते हुए भी वस्तुतः एक ही है; वैसे ही ध्यानादि उपाधिनिमित्त को लेकर आत्मभेद भासता है, वस्तुतः उस ब्रह्म में एकरूपत्व ही है, भेद नहीं है । अंगुली, कमण्डलु, उदकादि कमरूप उपाधियों में प्रकाश, आकाश और सूर्यादि सविशेष भासते हैं फिर भी वे अपनी स्वाभाविक अविशेषता को नहीं छोड़ते; ऐसे ही उपाधिनिमित्तक ही यह आत्मभेद है, वास्तव में अभेद ही है इसीलिए वेदान्त में जीव और ब्रह्म का पुनः पुनः अनेक बार अभेदप्रतिपादन किया जाता है ।।२५।।

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् (ललिता)

अभेद स्वाभाविक है और भेद अविद्याकृत है, उस भेद का, विद्या के द्वारा अविद्या का विधूननकर

---

२. निरवयवम् ।

(३४५) उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥२७॥

परेणानन्तेन प्राज्ञेनात्मनैकतां गच्छति। तथाहि लिङ्गम्—'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३-२-९), 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४-४-६) इत्यादि ॥२६॥

तस्मिन्नेव संराध्यसंराधकभावे मतान्तरमुपन्यस्यति स्वमतविशुद्धये। क्वचिज्जीवप्राज्ञयोर्भेदो व्यपदिश्यते 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः (मु० ३-१-८) इति ध्यातृध्यातव्यत्वेन द्रष्टृद्रष्टव्यत्वेन च। 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु० ३-२-८) इति गन्तृगन्तव्यत्वेन। 'यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति' इति नियन्तृनियन्तव्यत्वेन। क्वचित्तु तयोरेवाभेदो व्यपदिश्यते 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १-४-१०), 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३-४-१),एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३-७-३) इति। तत्रैवमुभयव्यपदेशे सति यद्यभेद एवैकान्ततो गृह्येत भेदव्यपदेशो निरालम्बन एव स्यात्। अत उभयव्यपदेशदर्शनादहिकुण्डलवदत्र तत्त्वं भवितुमर्हति। यथाहिरित्यभेदः कुण्डलाभोगप्रांशुत्वादीनीति तु भेद एवमिहापीति ॥२७॥

भेदाभेदपूर्वपक्षसूत्रद्वयस्य सङ्गतिमाह—तस्मिन्नेवेति। यथाऽहित्वेनाभेदः। कुण्डलाख्यस्य सर्पावस्थाविशेषस्य कुण्डलत्वेन भेदः। तथा जीवस्य ब्रह्मत्वेनाभेदो जीवत्वेन भेदः। यद्वा सूर्यप्रकाशयोरेकतेजस्त्वधर्मावच्छेदेन भेदाभेदवज्जीवपरयोरपि एकेनैवात्मत्वधर्मेण भेदाभेदौ श्रुतिबलात्स्वीकार्याविति सूत्रद्वयार्थः। कुण्डलत्वं वलयाकारत्वं, आभोगत्वं वक्राकारत्वं, प्रांशुत्वं दीर्घदण्डाकारत्वं उद्गतमुखत्वमादिशब्दार्थः ॥ २७ ॥ २८ ॥

जीव परमात्मा के साथ एकता प्राप्त कर लेता है। क्योंकि 'निःसन्देह जो भी मुमुक्षु परब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है', 'ब्रह्म होता हुआ ही वह प्रारब्धक्षय के बाद निर्विशेष ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है' इत्यादि श्रुतिरूप लिङ्गप्रमाण से भी भेद औपाधिक ही सिद्ध होता है ॥२६॥

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् (ललिता)

भेदाभेदपूर्वपक्षरूप सूत्रद्वय की संगति अग्रिम सूत्र के भाष्य से भाष्यकार कहते हैं। उसी संराध्य परमात्मा और संराधक जीवात्मा के विषय में अपने मत की विशुद्धि के लिए मतान्तर का उपन्यास करते हैं। कहीं पर जीव-ब्रह्म का भेद भी कहा गया है—'निष्कल ब्रह्म का ध्यान करने वाला साधक अन्त में उसका साक्षात्कार कर लेता है' इस वाक्य द्वारा ध्याता-ध्येयरूप से और द्रष्टा-द्रष्टव्यरूप से एवं 'हिरण्यगर्भादि परदेवता से भी श्रेष्ठ दिव्य पुरुष को मुमुक्षु प्राप्त करता है' इस वाक्य द्वारा गन्ता-गन्तव्य रूप से और 'जो सभी प्राणियों के भीतर रहकर सबका नियामक है' इस वाक्य द्वारा नियन्ता-नियम्यरूप से भेद कहा गया है। किन्तु कहीं 'तुम ब्रह्म हो', 'मैं ब्रह्म हूँ', 'यह तेरी आत्मा सर्वान्तर है', 'यह तेरी आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है' इन वाक्यों द्वारा जीव-ब्रह्म का अभेद भी बतलाया गया है। इस प्रकार श्रुति में भेद और अभेद उभयप्रकार से उपदेश रहने पर यदि सर्वथा अभेद ही माना जाय तो भेद उपदेश निरालम्ब हो जायेगा। अतः उभयव्यपदेश देखते हुए अहि-कुण्डल की भाँति दोनों ही मानना उचित होगा। जैसे वलयाकार सर्प में कुण्डलत्व, वक्राकार सर्प में आभोगत्व, दीर्घदण्डाकार में प्रांशुत्व और फन फैलाये हुए सर्प में उद्गतमुखत्व के कारण भेद भासता है किन्तु सर्पत्वेन सभी में अभेद है; वैसे ही जीव और ब्रह्म में औपाधिक भेद है, वास्तव में अभेद ही है ॥२७॥

(३४६) प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥२८॥

(३४७) पूर्ववद्वा ॥२९॥

अथ वा प्रकाशाश्रयवदेतत्प्रतिपत्तव्यम् । यथा प्रकाशः सावित्रस्तदाश्रयश्च सविता नात्यन्तभिन्नावुभयोरपि तेजस्त्वाविशेषात् । अथ च भेदव्यपदेशभाजौ भवत एवमिहापीति ॥२८॥

यथा वा पूर्वमुपन्यस्तं प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमिति तथैव तद्भवितुमर्हति । तथा ह्यविद्याकृतत्वाद्बन्धस्य विद्यया मोक्ष उपपद्यते । यदि पुनः परमार्थत एव बद्धः कश्चिदात्माऽहिकुण्डलन्यायेन वा परस्यात्मनः संस्थानभूतः प्रकाशाश्रयन्यायेन चैकदेशभूतोऽभ्युपगम्येत ततः पारमार्थिकस्य बन्धस्य तिरस्कर्तुमशक्यत्वान्मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यं प्रसज्येत, न चात्रोभावपि भेदाभेदौ श्रुतिस्तुल्यवद्व्यपदिशति । अभेदमेव हि, प्रतिपाद्यत्वेन निर्दिशति श्रुतिः, भेदं तु पूर्वप्रसिद्धमेवानुवदत्यर्थान्तरविवक्षया । तस्मात्प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमित्येष एव सिद्धान्तः ॥२९॥

सिद्धान्तसूत्रम्—पूर्ववद्वेति । धर्मभेदेनैकधर्मेण वा भेदाभेदस्वीकारे भेदस्य सत्यत्वादभेदवन्निवृत्तिः स्यात् । एकत्रैव भेदाभेदस्वीकारे लोके विरोधकथोच्छेद इत्यपि द्रष्टव्यं, तस्मात् निष्प्रपञ्चं चिदेकरसं ब्रह्म तत्पदलक्ष्यमस्तीति सिद्धम् ॥ २९ ॥ ३० ॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् (ललिता)

अथवा प्रकाश और आश्रय की भाँति जीव और ब्रह्म में भेदाभेद समझना चाहिए। जैसे सूर्य का प्रकाश और उसका आश्रय सूर्य दोनों में अत्यन्त भेद नहीं है क्योंकि तेजस्त्व दोनों में समान ही है फिर भी भेदव्यवहार होता है, ऐसे ही जीव और ब्रह्म में भी भेद एवं अभेद मानना चाहिए ॥२८॥

पूर्ववद्वा (ललिता)

धर्मभेद से और एक धर्म के कारण भेदाभेद मानोगे तो भेद में सत्यत्व आ जायेगा, फिर तो अभेद की भाँति उस भेद की भी निवृत्ति नहीं हो सकेगी। अतः '**प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम्**' इस सूत्र के द्वारा जैसी व्यवस्था पहले दी गयी है वैसी ही व्यवस्था माननी चाहिए कि बन्धन अविद्या के कारण है और विद्या से मोक्ष मिलता है। यदि परमार्थतः ही कोई आत्मा बद्ध है अथवा परमात्मा का ही संस्थानविशेष प्रकाशाश्रयन्याय से एकदेशरूप जीव है, ऐसा मानोगे तो पारमार्थिक बन्धन की निवृत्ति नहीं हो सकेगी। उस स्थिति में मोक्षशास्त्र व्यर्थ होने लग जायेगा। साथ ही, यहाँ पर भेदाभेद दोनों का उपदेश श्रुति समान रूप से नहीं करती है क्योंकि प्रतिपाद्यरूप से श्रुति अभेद को ही बतलाती है। इसी अभेद प्रतिपादन की विवक्षा से पूर्वसिद्ध भेद का अनुवाद श्रुति करती है, इसलिए '**प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम्**' सूत्र से जो सिद्धान्त किया गया है वही ठीक है ॥ २९ ॥

१. अभेद विवक्षया। २. ब्रह्मत्वजीवत्वरुपेण। ३. आत्मत्वेन।

७. पराधिकरणम् (सू० ३१-३७)

(३४८) प्रतिषेधाच्च ॥३०॥

अस्त्यन्यद्ब्रह्मणो नो वा विद्यते ब्रह्मणोऽधिकम् । सेतुत्वोन्मानवत्त्वाच्च सम्बन्धाद्भेदवत्त्वतः ।
धारणात्सेतुतोन्मानमुपास्त्यै भेदसङ्गती । उपाध्युद्भवनाशाभ्यां नान्यदन्यनिषेधतः ॥

इतश्चैष एव सिद्धान्तः । यत्कारणं परस्मादात्मनोऽन्यं चेतनं प्रतिषेधति शास्त्रम्—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३-७-२३) इत्येवमादि । 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २-३-६), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २-५-१९) इति च ब्रह्मव्यतिरिक्तप्रपञ्चनिराकरणाद्ब्रह्ममात्रपरिशेषाच्चैष एव सिद्धान्त इति गम्यते ॥३०॥

प्रतिषेधाच्च (ललिता)

इसलिए भी यही सिद्धान्त मानना उचित होगा क्योंकि 'इस परमात्मा से भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है' इत्यादि शास्त्र परमात्मा से भिन्न चेतन का निषेध करता है । 'अब इसके बाद सर्वोत्कृष्ट उपदेश यह है कि यह प्रपञ्च कुछ भी नहीं है', 'ब्रह्म कार्यकारणभाव से रहित बाह्याभ्यन्तरभावशून्य है' इन सभी शास्त्रवचनों द्वारा ब्रह्मभिन्न प्रपञ्च का निषेध करने के कारण एवं ब्रह्ममात्र को परिशेष रखने के कारण यही सिद्धान्त सुनिश्चित जान पड़ता है । अतः निष्प्रपञ्च चिन्मात्ररूप ब्रह्म 'तत्' पद का लक्ष्य है, यह सिद्ध हुआ ॥ ३० ॥

७. पराधिकरण

१. **सङ्गति**—पिछले अधिकरण में 'नेति नेति' शब्द द्वारा प्रपञ्च का निषेधकर ब्रह्म को शेष में रखा, यह ठीक नहीं है क्योंकि सेतुत्व, उन्मानादि का व्यपदेश होने से वस्त्वन्तर की सत्ता भी जान पड़ती है; ऐसा आक्षेप होने पर इस अधिकरण को प्रारम्भ किया गया है, अतः पूर्व के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है ।

२. **विषय**—ब्रह्मभिन्न प्रपञ्च का निषेधकर ब्रह्म में अद्वितीयत्व का निर्धारण इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—सेतु, उन्मानादि श्रुति एवं अद्वैत श्रुति के कारण संशय होता है कि ब्रह्म से भिन्न तात्त्विक वस्तु है या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—ब्रह्म से भिन्न भी तात्त्विक वस्तु है क्योंकि उसमें सेतुत्व, उन्मानादि का व्यपदेश देखा जाता है । सम्बन्ध भेद में ही हुआ करता है, अतः ब्रह्म सद्वितीय सिद्ध होता है ।

५. **सिद्धान्त**—ब्रह्म में सेतुत्व मुख्य नहीं है, ब्रह्म को मुख्य सेतु मानने पर उसमें मृत्-दारुमयत्व का भी प्रसंग आने लगेगा । विधारकत्वमात्र बतलाना अभीष्ट है, सद्वितीयत्व नहीं और वह भी उपासना के लिए । भेद व्यपदेश औपाधिक है, पारमार्थिक नहीं है । ब्रह्म से भिन्न सभी उत्पत्तिविनाशशील होने के कारण पारमार्थिक नहीं है, उन सबका निषेधकर अद्वैत निश्चय कराने में ही श्रुति का तात्पर्य है ।

(३४६) परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥३१॥

यदेतन्निरस्तसमस्तप्रपञ्चं ब्रह्म निर्धारितमस्मात्परमन्यत्तत्त्वमस्ति नास्तीति श्रुतिविप्रतिपत्तेः संशयः, कानिचिद्धि वाक्यान्यापातेनैव प्रतिभासमानानि ब्रह्मणोऽपि परमन्यत्तत्त्वं प्रतिपादयन्तीव । तेषां हि परिहारमभिधातुमयमुपक्रमः क्रियते । परमतो ब्रह्मणोऽन्यत्तत्त्वं भवितुमर्हति । कुतः ? सेतुव्यपदेशाद् उन्मानव्यपदेशात्सम्बन्धव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशाच्चेति । सेतुव्यपदेशस्तावत्—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' (छा० ८-४-१) इत्यात्मशब्दाभिहितस्य ब्रह्मणः सेतुत्वं सङ्कीर्तयति । सेतुशब्दश्च हि लोके जलसन्तानविच्छेदकारके मृद्दार्वादिप्रचये प्रसिद्धः । इह तु सेतुशब्दः आत्मनि प्रयुक्त इति लौकिकसेतोरिवात्मसेतोरन्यस्य वस्तुनोऽस्तित्वं गमयति । 'सेतुं तीर्त्वा' (छा० ८-४-२) इति च तरतिशब्दप्रयोगात् । यथा लौकिकं सेतुं तीर्त्वा जाङ्गलमसेतुं प्राप्नोत्येवमात्मानं सेतुं तीर्त्वाऽनात्मानमसेतुं प्राप्नोतीति गम्यते । उन्मानव्यपदेशश्च भवति 'तदेतद्' ब्रह्म चतुष्पादष्टाशफं

यदुक्तं नेति नेतीत्यादिश्रुतिभिः ब्रह्मातिरिक्तं वस्तु निषिध्यत इति, तदयुक्तम् । सेत्वादिश्रुतिभिर्वस्त्वन्तरास्तित्वभानादित्याक्षिपति—परमत इति । यद्यपि द्युभ्वाद्यधिकरणे सेतुशब्दो विधारकत्वेन गौणो व्याख्यातस्तथाप्युन्मानादिश्रुतीनां गतिमजानतोऽयं पूर्वपक्षः, तत्रोन्मानादिश्रुतीनां मुख्यत्वात्, सद्वयं ब्रह्मेति फलं, सिद्धान्ते तूक्ताद्वितीयतत्त्वलक्ष्यसिद्धिरिति विवेकः । ब्रह्म सद्वयं, सेतुत्वात्, लौकिकसेतुवत् । तीर्णत्वश्रुतेश्चेत्याह—सेतुं तीर्त्वेति । जाङ्गलं वातभूयिष्ठमिति वैद्योक्तेः वातप्रचुरो देशो जाङ्गलं, इह तु देशमात्रं ग्राह्यम् । दिशश्चतस्रः कलाः प्रकाशवान्नाम पादः, पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः समुद्र इत्यनन्तवान्नाम पादः, अग्निः सूर्यश्चन्द्रो विद्युदिति ज्योतिष्मान्नाम पादः चक्षुः श्रोत्रं वाङ्मन इत्यायतनवान्नाम पाद इति चतुष्पाद्ब्रह्मेति पादानामर्धानि अष्टौ शफा अस्येत्यष्टाशफं, पादेषु चतुर्षु प्रत्येकं चतस्रः

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः (ललिता)

सिद्धान्ती ने 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्मभिन्न वस्तु का निषेध किया था वह युक्त नहीं है, ऐसा अग्रिम सूत्र से कहते हैं कि आपने जो निष्प्रपञ्च ब्रह्म का निश्चय कराया था उस पर, इससे भिन्न तत्त्व है या नहीं, ऐसा संशय इसलिए होता है क्योंकि दोनों प्रकार की श्रुतियाँ मिलती हैं अर्थात् आपाततः प्रकाशक कुछ वाक्य ब्रह्म से भिन्न तत्त्व का भी प्रतिपादन करते हुए से जान पड़ते हैं । उनका परिहार बतलाने के लिए यह प्रसंग प्रारम्भ होता है कि ब्रह्म से भिन्न तत्त्व भी हो सकता है क्योंकि सेतु, उन्मान, सम्बन्ध और भेद का व्यपदेश देखा जाता है । इनमें से प्रथम सेतु व्यपदेश हम बतला रहे हैं—'यह जो आत्मा है वह सेतुविधृति है' यह श्रुतिवाक्य आत्म शब्द से कहे गये ब्रह्म में सेतुत्व बतलाता है । लोक में जलप्रवाह के विच्छेदक मृत्तिका, काष्ठादि से बने अर्थ में सेतु शब्द प्रसिद्ध है । इस श्रुति में सेतु शब्द का प्रयोग आत्मा अर्थ में हुआ है । ऐसी स्थिति में लौकिक सेतु से भिन्न वस्तु का अस्तित्व जैसे प्रसिद्ध है वैसे ही आत्मसेतु से भिन्न वस्तु के अस्तित्व का बोध होता है । 'सेतुं तीर्त्वा' इस वाक्य में तरति शब्द का प्रयोग भी देखा जाता है । जैसे लौकिक सेतु को पारकर वायुप्रधान देश असेतु को प्राप्त करता है ऐसे ही आत्मसेतु को पारकर असेतु अनात्मा को जीव प्राप्त करता है, ऐसा अर्थ जान पड़ता है । 'वह ब्रह्म चतुष्पाद् अष्ट शफ और षोडश कलावाला है' इस

---

१. उपक्रमोपसंहाराद्य विवेकेनैवेत्यर्थः । २. उन्मानत्वं परिच्छिन्नत्वम् ।

षोडशकलमिति । यच्च लोक उन्मितमेतावदिदमिति परिच्छिन्नं कार्षापणादि ततोऽन्यद्वस्त्वस्तीति प्रसिद्धम् । तथा ब्रह्मणोऽप्युन्मानात्ततोऽन्येन वस्तुना भवितव्यमिति गम्यते ।

तथा सम्बन्धव्यपदेशोऽपि भवति—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६-८-१) इति 'शारीर आत्मा' (तै० २-३-१), प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' (बृ० ४-३-२१) इति च । 'अमितानां च [1]मितेन सम्बन्धो दृष्टो यथा नराणां नगरेण । जीवानां च ब्रह्मणा सम्बन्धं व्यपदिशति सुषुप्तौ । अतस्[2]ततः परमन्यदमितमस्तीति गम्यते । भेदव्यपदेशश्चतमेवार्थं गमयति, तथाहि—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः । पुरुषो दृश्यते' (छा० १-६-६) इत्यादित्याधारमीश्वरं व्यपदिश्य ततो भेदेनाक्ष्याधारमीश्वरं व्यपदिशति—'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० १-७-५) इति । अतिदेशं चास्यामुना रूपादिषु करोति

कला इति षोडशकलमित्यर्थः । षोडशपणपरिमितं ताम्रं कार्षापणसंज्ञं भवति तद्वत्सद्वयं ब्रह्म, परिमितत्वादित्यर्थः ।

संबन्धित्वाच्च नगरवदित्याह—तथा संबन्धेति । अन्यदमितमिति असङ्ख्यातमित्यर्थः । अन्यस्पर्शे अल्पत्वेन मितत्वनियमादिति मन्तव्यम् । भेदेनोक्तत्वाच्च घटवदित्याह—भेदव्यपदेशश्चेति ।

वाक्य द्वारा उन्मान का व्यपदेश भी मिलता है । लोक में यह इतना है, ऐसा मापा हुआ पदार्थ कार्षापणादि परिच्छिन्न होता है, उससे भिन्न वस्तु का अस्तित्व भी प्रसिद्ध है । वैसे ही ब्रह्म में भी उन्मान आदि का व्यपदेश होने के कारण उससे भिन्न वस्तु भी होनी चाहिए, ऐसा जान पड़ता है । चार दिशारूपी कलावाला प्रकाशवान् नामक एक पाद; पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समुद्र ऐसे चार कलावाला अनन्तवान् नामक दूसरा पाद; अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत ऐसे चार कलावाला ज्योतिष्मान् नामक तृतीय पाद और चक्षु, श्रोत्र, वाणी और मन ऐसे चार कलावाला आयतनवान् नामक चतुर्थ पाद ब्रह्म के हैं । पाद के आधे भाग को शफ कहते हैं, इस प्रकार चार पाद के आठ शफ हैं और चारों पादों में से प्रत्येक की चार-चार कलाओं के मिलाने पर षोडश कलायें होती हैं, इसीलिए ब्रह्म को षोडशकल कहा गया है ।

वैसे ही 'हे सोम्य ! सुषुप्तावस्था में यह जीव ब्रह्म के साथ सम्पन्न हो जाता है', 'यह जीवात्मा शरीर के भीतर है', 'निद्रावस्था में यह जीव परमात्मा के साथ जुड़ जाता है' इन सभी श्रुतियों में सम्बन्ध का व्यपदेश देखा जाता है । जैसे अमित नरों का मित नगर के साथ सम्बन्ध देखा गया है वैसे ही असंख्य अपरिमित जीवों का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध भी सुषुप्तावस्था मे श्रुति बतलाती है । अतः उस ब्रह्म से भिन्न असंख्य जीव और जगत् का अस्तित्व जान पड़ता है । उसी प्रकार भेदव्यपदेश भी इसी अर्थ का बोधक है—'जो यह आदित्य के भीतर हिरण्यमय पुरुष दिखाई पड़ता है' इस वाक्य द्वारा आदित्य आधारवाले पुरुष का उपदेश करने के पश्चात् 'जो नेत्र के भीतर पुरुष दीखता है' इस वाक्य द्वारा नेत्रस्थ ईश्वर का पृथक् उपदेश देखा जाता है । शरीरस्थ पुरुष का आदित्यमण्डलस्थ

१. असंख्यतानाम् । २. वस्तु परिच्छेदेवता सद्वयेनेति यावत् । ३. ब्रह्मणः ।

(३५०) सामान्यात्तु ॥३२॥

'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं 'यावमुष्य गेष्णौ तौ यन्नाम तन्नाम' (छा० १-७-५) इति । सावधिकं चेश्वरत्वमुभयोर्व्यपदिशति—'ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च' (छा० १-६-८) इत्येकस्य । 'ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च' (छा०१-७-६) इत्येकस्य । यथेदं मागधस्य राज्यमिदं वैदेहस्येति ॥३१॥

एवमेतेभ्यः सेत्वादिव्यपदेशेभ्यो ब्रह्मणः परमस्तीत्येवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—

तुशब्देन प्रदर्शितां प्राप्तिं निरुणद्धि । न ब्रह्मणोऽन्यत्किंचिद्भवितुमर्हति प्रमाणाभावात् । न ह्यन्यस्यास्तित्वे किंचित्प्रमाणमुपलभामहे । सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य जन्मादि ब्रह्मणो भवतीति निर्धारितम् । अनन्यत्वं च कारणात्कार्यस्य । नच ब्रह्मव्यतिरिक्तं किंचिदजं संभवति 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६-२-१)

अस्याक्षिस्थस्यामुनादित्यस्थेन सहेति यावत् । आधारतोऽतिदेशतश्च भेदमुक्त्वावधितोऽपि तमाह—सावधिकं चेति ॥ ३१ ॥

सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—तुशब्देनेत्यादिना । यदन्यत्तत्किं साद्यनादि वा, नाद्यः मानाभावात्, कार्यस्य ब्रह्मानन्यत्वनिर्णयाच्चेत्युक्त्वा न द्वितीयः प्रागुत्पत्तेरद्वयत्वावधारणादित्याह—नच ब्रह्मव्यतिरिक्तमिति । उक्तानुमानानामागमबाध इति भावः ।

पुरुष के साथ श्रुति रूपादि में अतिदेश भी करती है, वहाँ छान्दोग्य में कहा है कि 'नेत्रस्थ पुरुष का वही रूप है जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष का रूप है और जो उसके पर्व[1] हैं वे हो नेत्रस्थ पुरुष के भी हैं, दोनों का नाम भी समान ही है।' इसके अतिरिक्त अध्यात्म और अधिदेव दोनों स्थानों में सावधिक ईश्वरत्व बतलाया गया है, वहाँ पर 'उस आदित्यमण्डल से ऊपर जो लोक हैं वहाँ पर देवत्व प्राप्त करने की इच्छावालों का शासन चलता है' ऐसा एक के विषय में कहा गया हैं और दूसरे के विषय में कहा गया है कि 'इससे नीचे के जो भी लोक हैं, उनमें मनुष्यकाम पुरुष का शासन चलता है।' जिस प्रकार मागध राजा का यह राज्य है और वैदेह राजा का यह राज्य है, ऐसा लोक में प्रयोग देखा जाता है वैसे ही शास्त्र में भी प्रयोग देखा जाता है। अतः पूर्वोक्त सेतुत्वादि चतुर्धा व्यपदेश को देखते हुए ब्रह्मभिन्न वस्तु का अस्तित्व सिद्ध होता है ॥३१॥

सामान्यात्तु (ललिता)

इस प्रकार पूर्वसूत्रोक्त इन सेत्वादि व्यपदेश के कारण ब्रह्म से भिन्न वस्तु है, ऐसा पूर्वपक्ष होने पर अग्रिम सूत्र से सिद्धान्ती कहते हैं।

इस सूत्र में आये हुए 'तु' शब्द के द्वारा पूर्वसूत्रोक्त शङ्का का निषेध किया जाता है कि प्रमाण न होने के कारण ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं मान सकते क्योंकि अन्य वस्तु का अस्तित्व मानने में कोई प्रमाण हम नहीं देखते हैं। उत्पत्तिशील सभी वस्तुओं के जन्मादि ब्रह्म से ही होते हैं, ऐसा निश्चय पूर्वग्रन्थों में कराया गया है। कार्य कारण से अभिन्न होता है, यह निश्चित हो चुका है। ब्रह्म से भिन्न कोई अजन्मा पदार्थ सम्भव नहीं है क्योंकि हे सोम्य ! सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य एक अद्वैत वस्तु ही सृष्टि से पूर्व थी' ऐसा निश्चय कराया गया है। साथ ही, एक के

---

१. अगुष्ट पर्वणी ।

इत्यवधारणात् । एकविज्ञानेन च सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानान्न च ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्त्वस्तित्वमवकल्पते ।

ननु सेत्वादिव्यपदेशाः ब्रह्मव्यतिरिक्तं सत्त्वं सूचयन्तीत्युक्तम् । नेत्युच्यते । सेतुव्यपदेशस्तावन्न ब्रह्मणो बाह्यस्य सद्भावं प्रतिपादयितुं क्षमते । 'सेतुरात्मेति ह्याह न पुनस्ततः परमस्ति' इति । तत्र परस्मिन्नसति सेतुत्वं नावकल्पत इति परं किमपि कल्प्येत । न चैतन्न्याय्यं हठो ह्यप्रसिद्धकल्पना । अपिच सेतुव्यपदेशादात्मनो लौकिकसेतुनिदर्शनेन सेतुबाह्यवस्तुतां प्रसञ्जयता मृद्दारुमयतापि प्रासङ्क्ष्यत । न चैतन्न्याय्यम् । अजत्वादिश्रुतिविरोधात् । सेतुसामान्यात्तु सेतुशब्द आत्मनि प्रयुक्त इति श्लिष्यते । जगतस्तन्मर्यादानां च विधारकत्वं सेतुसामान्यमात्मनः । अतः सेतुरिव सेतुरिति प्रकृत आत्मा स्तूयते । सेतुं तीर्त्वेत्यपि तरतेरतिक्रमासंभवात्प्राप्नोत्यर्थ एव वर्तते । यथा व्याकरणं तीर्ण इति प्राप्त इत्युच्यते नातिक्रान्तस्तद्वत् ॥३२॥

उक्तं स्मारयित्वा हेतूनामसिद्धिमाह—ननु सेत्वित्यादिना । किं सेतुश्रुत्या परसिद्धिरर्थाद्वा, नाद्य इत्युक्त्वा द्वितीयं शङ्कते—तत्र परस्मिन्निति । सेतुत्वलिङ्गेनाद्वितीयत्वश्रुतिबाधनमन्याय्यमित्याह—नचेति । लिङ्गं चासिद्धमित्याह—अपिचेति । विधारकत्वं तु कल्पितद्वितीयापेक्षयापि युज्यत इति भावः । तीर्णत्वहेतुरप्यसिद्ध इत्याह—सेतुं तीर्त्वेति ॥ ३२ ॥

विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा भी की गयी है, इससे भी ब्रह्मभिन्न वस्तु का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता ।

पूर्वपक्ष—सेत्वादि व्यपदेश ब्रह्मभिन्न वस्तु को सूचित कर रहे हैं, ऐसा हम पहले कह आये हैं । सिद्धान्ती—यह शङ्का ठीक नहीं । सर्वप्रथम सेतु व्यपदेश ब्रह्म से भिन्न वस्तु का सद्भाव बतला नहीं सकता क्योंकि 'आत्मा सेतु है' ऐसा आचार्य ने कहा और फिर कहा कि 'इससे भिन्न वस्तु नहीं है । शङ्का—भिन्न वस्तु के न रहने पर ब्रह्म में सेतुत्व की कल्पना नहीं कर सकते, अतः ब्रह्मभिन्न वस्तु की कल्पना ही करनी चाहिए । सिद्धान्त—यह अप्रसिद्ध कल्पना आप को हठपूर्वक है जो उचित नहीं है । लिङ्ग असिद्ध है क्योंकि सेतु व्यपदेश के आधार पर आत्मा में लौकिक सेतु के दृष्टान्त द्वारा सेतु से बाह्य वस्तु की सत्ता मानोगे तो आत्मा में मृत्तिका तथा काष्ठरूपता भी आ जायेगी जो अजत्वादि श्रुति के साथ विरोध आने के कारण युक्तियुक्त नहीं होगा । किन्तु सेतु के सदृश होने के कारण आत्मा में सेतु शब्द का प्रयोग हुआ है, ऐसा मानना युक्तियुक्त जान पड़ता है । जगत् एवं उसकी मर्यादाओं का विधारक परमात्मा है इसलिए उसे सेतु कहा गया है । अतः सेतु की भाँति आत्मा भी सेतु है, ऐसा कहने पर प्रकृत आत्मा की स्तुति हो जाती है । 'सेतुं तीर्त्वा' इस वाक्य में भी तृधातु का अर्थ अतिक्रमण करना उचित नहीं है, इसलिए आत्मसेतु को यह जीव प्राप्त करता है, ऐसा अर्थ मानना चाहिए । जैसे यह विद्यार्थी व्याकरण पार कर गया; इस वाक्य का अर्थ, व्याकरण को प्राप्त कर गया, करना पड़ता है, न कि अतिक्रमण कर गया, ऐसा अर्थ किया जाता है । वैसे ही मुमुक्षु आत्मसेतु को पार करता है, ऐसा अर्थ करना चाहिए, न कि अतिक्रमण कर जाता है ऐसा अर्थ करना चाहिए ॥३२॥

(२५१) बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥३३॥

यदप्युक्तमुन्मानव्यपदेशादस्ति परमिति । तत्राभिधीयते—उन्मानव्यपदेशोऽपि न ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वप्रतिपत्त्यर्थः । किमर्थस्तर्हि बुद्ध्यर्थः, उपासनार्थ इति यावत् । चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलमित्येवंरूपा बुद्धिः । कथं नु नाम ब्रह्मणि स्थिरा स्यादिति विकारद्वारेण ब्रह्मण उन्मानकल्पनैव क्रियते । न ह्यविकारेऽनन्ते ब्रह्मणि सर्वैः पुंभिः शक्या बुद्धिः स्थापयितुं, मन्दमध्योत्तमबुद्धित्वात्पुंसामिति पादवत् । यथा मनआकाशयोरध्यात्ममधिदैवतं च ब्रह्मप्रतीकयोराम्नातयोश्चत्वारो वागादयो मनःसंबन्धिनः पादाः कल्प्यन्ते, चत्वारश्चाग्न्यादय आकाशसंबन्धिन आध्यानाय तद्वत् । अथवा पादवदिति यथा कार्षापणे पादविभागो व्यवहारप्राचुर्याय कल्प्यते । नहि सकलेनैव कार्षापणेन सर्वदा सर्वे जना व्यवहर्तुमीशते क्रयविक्रयपरिमाणानियमात्तद्वदित्यर्थः ॥३३॥

परिमितत्वमप्यसिद्धमित्याह—बुद्ध्यर्थ इति । वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्राणि मनसः पादा अग्निवाय्वादित्यदिश आकाशस्य पादा ध्यानार्थं कल्पितास्तद्वद्ब्रह्मण उन्मानमित्यर्थः । लौकिकं दृष्टान्तमाह—अथवेति । पादकल्पनां विनापि व्यवहारः किं न स्यादित्यत आह—नहीति । कार्षापणस्य व्यवहाराय पादकल्पनावत् मन्दधियां ध्यानव्यवहाराय ब्रह्मण उन्मानकल्पनेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

बुद्ध्यर्थः पादवत् (ललिता)

और जो पूर्वपक्षी ने उन्मान व्यपदेश के कारण ब्रह्म से भिन्न पदार्थ का अस्तित्व माना था, उस पर हमें यह कहना है कि उन्मान व्यपदेश भी ब्रह्म से भिन्न वस्तु के अस्तित्वबोध कराने के लिए नहीं कहा गया है, किन्तु उपासना के लिए कहा गया है। वाणी, प्राण, चक्षु और श्रोत्र ये चारों मन के पाद हैं एवं अग्नि, वायु, आदित्य और दिशायें ये आकाश के पाद हैं, इन्हीं में आठ शफ और षोडश कलायें अन्तर्भूत हैं—ऐसी बुद्धि ब्रह्म में किस प्रकार स्थिर हो, एतदर्थ विकार द्वारा ब्रह्म में उन्मान की कल्पना करते हैं क्योंकि निर्विकार अपरिच्छिन्न ब्रह्मतत्त्व में सभी पुरुष बुद्धि स्थिर नहीं कर सकते; पुरुष तो मन्द, मध्यम और उत्तम बुद्धिवाले भी होते हैं। इस प्रकार अध्यात्म में मन और अधिदैव में आकाश ब्रह्म उपासना के लिए प्रतीक कहे गये हैं; उनमें मनसम्बन्धी पूर्वोक्त वागादि चार पाद की कल्पना की जाती है और आकाशसम्बन्धी अग्न्यादि चार पाद की कल्पना की जाती है, ये सब ध्यान के लिए है, वैसे ही उपासना के लिए ब्रह्म में उन्मान की कल्पना है। 'अथवा' इत्यादि ग्रन्थ से लौकिक दृष्टान्त द्वारा भी इसे समझाते हैं कि जैसे व्यवहारप्राचुर्य के लिए मापविशेष कार्षापण में पादविभाग की कल्पना की जाती है; वैसे ही मन्दबुद्धि साधक के ध्यानव्यवहार के लिए ब्रह्म में उन्मान की कल्पना की जाती है क्योंकि सभी मनुष्य सदा सम्पूर्ण कार्षापण से व्यवहार नहीं करते, कारण कि क्रय-विक्रय में परिमाण का नियम नहीं है। वैसे ही मन्दबुद्धि पुरुष ब्रह्म का ध्यान सरलता से नहीं कर सकता, उस ध्यानव्यवहार की सिद्धि के लिए ब्रह्म में उन्मान की कल्पना की गयी है ॥३३॥

(३५२) स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥३४॥
(३५३) उपपत्तेश्च ॥३५॥

इह सूत्रे द्वयोरपि संबन्धभेदव्यपदेशयोः परिहारोऽविधीयते। यदप्युक्तं संबन्धव्यपदेशाद्-भेदव्यपदेशाच्च परमतः स्यादिति तदप्यसत्। यत एकस्यऽपि 'स्थानविशेषापेक्षयैतौ व्यपदेशावुपपद्येते। संबन्धव्यपदेशे तावदयमर्थः। बुद्ध्याद्युपाधिस्थानविशेषयोगादुद्[2]भूतस्य विशेषविज्ञानस्योपाध्यु[3]पशमे य उपशमः स परमात्मना सम्बन्ध इत्युपाध्यपेक्षयैवोपचर्यते न परिमितत्वापेक्षया। तथा भेदव्यपदेशोऽपि ब्रह्मण उपाधिभेदापेक्षयैवोपचर्यते न स्वरूपभेदापेक्षया। प्रकाशादिवदित्युपमोपादानम्। यथैकस्य प्रकाशस्य सौर्यस्य चान्द्रमसस्य वोपाधियोगादुपजातविशेषस्योपाध्युपशमात्संबन्धव्यपदेशो भवत्युपाधिभेदाच्च भेदव्यपदेशः। यथा वा सूचीपाशाकाशादिषूपाध्यपेक्षयैवैतौ संबन्धभेदव्यपदेशौ भवतस्तद्वत् ॥३४॥

उपपद्यते 'चात्रेदृश एव संबन्धो नान्या[5]दृशः। यथा "स्वमपीतो भवति"(छा० ६-८-१)इति

सम्बन्धभेदौ कल्पितौ न सत्यद्वितीयसाधकावित्याह—स्थानेति। स्थानमुपाधिर्बुद्ध्यादिः। एकस्यैवोपाधिना भिन्नस्योपाधिशान्तौ सत्यां संबन्ध उपचर्यते। यथा सौरालोकादेरङ्गुल्याद्युपाधिना भिन्नस्योपाधिवियोगे महालोकाद्यात्मना संबन्धोपचारस्तद्वत् तथाक्षित्यचक्षुषोः स्थानयोर्भेदाद्धिरण्मयपुरुषभेदकल्पनेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

मुख्यावेव संबन्धभेदौ किं न स्यातामित्यत्र सूत्रम्—उपपत्तेश्चेति ॥ ३५ ॥

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् (ललिता)

कल्पित सम्बन्ध और भेद भी सत्य द्वैत के साधक नहीं हो सकते, इसी बात को इस सूत्र से बतलाते हैं अर्थात् सम्बन्ध व्यपदेश और भेद व्यपदेश दोनों ही आक्षेपों का परिहार इस सूत्र में किया गया है। सम्बन्धव्यपदेश और भेदव्यपदेश के कारण ब्रह्म से भिन्न वस्तु का अस्तित्व भी जो पूर्वपक्षी ने माना था वह भी ठीक नहीं है क्योंकि एक वस्तु में भी स्थानविशेष की अपेक्षा से ये दोनों व्यपदेश कहे जा सकते हैं। उनमें से सम्बन्धव्यपदेश में यह अर्थ सिद्ध होता है कि बुद्ध्यादि उपाधिविशेष के योग से जो विशेषविज्ञान उद्बुद्ध हुआ था उस विशेषविज्ञान का उपाधि के उपशम होते ही जो उपशम हो जाता है वही परमात्मा के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध है जो उपाधि की अपेक्षा से औपचारिक रूप में कहा गया है, परिमितत्व की अपेक्षा से नहीं कहा गया है। वैसे ही उपाधिभेद की अपेक्षा से ही ब्रह्म में भेदव्यपदेश भी औपचारिक ही है, स्वरूपभेद की अपेक्षा से भेद नहीं है। इस अर्थ की सिद्धि के लिए 'प्रकाशवत्' इस सूत्रांश द्वारा उपमा दी गयी है अर्थात् जिस प्रकार एक ही सौर अथवा चान्द्रप्रकाश का उपाधियोग से उत्पन्न विशेष का उपाधि शान्त होते ही सम्बन्धव्यपदेश होता है और उपाधि के भेद से भेदव्यपदेश होता है अथवा जैसे सूची और पाश उपाधि के कारण सूच्याकाश और पाशाकाश व्यवहार होता है, वैसे ही बुद्ध्यादि उपाधि के कारण भेद भासता है और औपचारिक दृष्टि से सम्बन्ध भी भासता है ॥३४॥

उपपत्तेश्च (ललिता)

यहाँ पर ऐसा ही सम्बन्ध युक्तियुक्त सिद्ध होता है, अन्य प्रकार का नहीं। जैसे 'स्वमपीतो

१. उपाधि। २. जाग्रदादौ। ३. सुषुप्तौ। ४. गौणः। ५. मुख्यः। ६. स्वमात्म स्वरूपमापन्नः सुषुप्तो भवतीत्यर्थः।

(३५४) तथान्यप्रतिषेधात् ॥३६॥

हि स्वरूपसंबन्ध[1]मेनमामनन्ति । स्वरूपस्य चानपायित्वात् । न नरनगरन्यायेन संबन्धो घटते । उपाधिकृतस्वरूपतिरो[4]भावात्—"स्वमपीतो भवति' (छा० ६-८-१) इत्युपपद्यते । तथा भेदोऽपि नान्यादृशः संभवति । बहुतरश्रुतिप्रसिद्धैकेश्वरत्वविरोधात् । तथाच श्रुति-रेकस्याप्याकाशस्य स्थानकृतं भेदव्यपदेशमुपपादयति—'योऽयं बहिर्द्धा पुरुषादाकाशः' (छा० ३-१२-७), 'योऽयमन्तः पुरुष आकाशः' (छा० ३-१२-८), 'योऽयमन्तर्हृदय आकाशः' (छा० ३-१२-९), इति च ॥३५॥

एवं सेत्वादिव्यपदेशान्परपक्षहेतूनुन्मथ्य सम्प्रति स्वपक्षं हेत्वन्तरेणोपसंहरति । तथान्य-प्रतिषेधादपि न ब्रह्मणः परं वस्त्वन्तरमस्तीति गम्यते । तथाहि—'स एवाधस्तात्' (छा० ७-२५-१), 'अहमेवाधस्तात्' (छा० ७-२५-१), 'आत्मैवाधस्तात्' (छा० ७-२५-२), 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० २-४-६), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्', 'आत्मैवेदं सर्वम्', (छा० ७-२५-२), 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४-४-१९), 'यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित्' (श्वे० ३-९), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २-५-१९)

स्वरूपेण ब्रह्मणा जीवस्य संबन्धो भेदनिवृत्तिरूपो युज्यते न मुख्यः संयोगादिः वस्तुद्वयासत्त्वात्, तथा भेदोऽपि न स्वत एकत्वश्रुतेरित्यर्थः ॥३६॥

भवति' यह श्रुति स्वरूपसम्बन्ध को बतलाती है। वस्तु का स्वरूप सदा विद्यमान रहता है, वह नरनगरन्याय का अनुसरण नहीं करता क्योंकि नर और नगर दोनों स्वतन्त्र व्यावहारिक हैं, अतः उनका सम्बन्ध व्यावहारिक ही होता है । किन्तु जीवात्मा का औपाधिक रूप उपाधि के हटते ही तिरोहित हो जाता है, उस स्थिति में यह कहते हैं कि वह जीव 'अपने में लीन हो गया।' भेद भी औपाधिक ही है, अन्य प्रकार का नहीं अन्यथा बहुतर श्रुति में प्रसिद्ध एक ईश्वरवाद का विरोध होने लग जायेगा। एक आकाश में भी स्थानविशेष के कारण श्रुति वैसा ही भेद बतलाती है—'जो यह पुरुष से बाहर आकाश है' ,'जो यह पुरुष के भीतर आकाश है' और 'जो यह हृदय में आकाश है' इत्यादि अर्थात् जो यह पुरुष के बाहर आकाश है वही पुरुष के भीतर है और हृदय में भी वही है। इस प्रकार भेद स्वाभाविक नहीं है अपितु औपाधिक है, स्वाभाविक तो ब्रह्म में एकत्व है जो श्रुतिसिद्ध है ॥३५॥

तथान्यप्रतिषेधात् (ललिता)

इस प्रकार परपक्षीय सेत्वादिव्यपदेश हेतुओं का उन्मथनकर अब हेत्वन्तर से स्वपक्ष का उपसं-हार इस सूत्र से करते हैं। तथा अन्य वस्तु के प्रतिषेध से भी ब्रह्मभिन्न वस्त्वन्तर का अस्तित्व सिद्ध नही होता, ऐसा जान पड़ता है। 'वही ऊपर है, वही नीचे है', 'मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही नीचे हूँ', 'आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही नीचे है', 'सभी उसे पराहत कर देते हैं जो आत्मा से भिन्न सबको देखता है', 'यह सब कुछ ब्रह्म ही है', 'यह सब आत्मा ही है', 'यहाँ पर नाना कुछ भी नहीं है', 'जिससे पर और अपर कुछ भी नहीं है', 'वह ब्रह्म कारण से भिन्न, कार्य से भिन्न एवं अन्तरबाह्यशून्य है' इस प्रकार

---

१. जीवम् । २. जाग्रदादौ । ३. सुषुप्तादौ । ४. उपाधि ।

(३५५) अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥३७॥

इत्येवमादिवाक्यानि स्वप्रकरणस्थान्यन्यार्थत्वेन परिणेतुमशक्यमानानि ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरं वारयन्ति । सर्वान्तरश्रुतेश्च न परमात्मनोऽन्योऽन्तरात्मास्तीत्यवधार्यते ॥३६॥

अनेन सेत्वादिव्यपदेशनिराकरणेनान्यप्रतिषेधसमाश्रयणेन च सर्वगतत्वमप्यात्मनः सिद्धं भवति । अन्यथा हि तन्न सिध्येत् । सेत्वादिव्यपदेशेषु हि मुख्येष्वङ्गीक्रियमाणेषु परिच्छेद आत्मनः प्रसज्येत, सेत्वादीनामेवमात्मकत्वात्[1] । तथान्यप्रतिषेधेऽप्यसति वस्तु[2] वस्त्वन्तरा-[3]द्व्यावर्तेत इति परिच्छेद एवात्मनः प्रसज्येत । सर्वगतत्वं चास्यायामशब्दादिभ्योविज्ञायते । आयामशब्दो व्याप्तिवचनः शब्दः 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' (छा० ८-१-३), 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'ज्यायान्दिवः' (छा० ३-१४-३) 'ज्यायानाकाशात्' 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' (भ० गी० २-२४) इत्येवमाद्यो हि श्रुतिस्मृतिन्यायाः सर्वगतत्वमात्मनोऽवबोधयन्ति ॥३७॥

ननु द्वितीयाभावे सर्वगतत्वश्रुतिविरोध इत्यत आह—अनेन सर्वगतत्वमिति । द्वितीयं सत्वं चेत्सेत्वादिवद् ब्रह्मणोऽल्पता स्यात् 'यत्रान्यत्पश्यति तदल्पम्' इति श्रुतेः । किञ्च निरवयवासंगब्रह्मणः सत्यप्रपञ्चसंबन्धायोगात्तथैव सर्वगतत्वश्रुतिविरोध इति भावः । अधिष्ठानेनाध्यस्तं जगद्व्याप्तमध्यस्तत्वात् रज्ज्वा व्याप्तसर्पवत्, इति न्यायः ॥३७॥

स्वप्रकरणस्थ इन सभी वाक्यों को भेदबोधकरूप में परिणत नहीं कर सकते, अतः ये सभी श्रुतिवाक्य ब्रह्म भिन्न वस्त्वन्तर का निषेध करते हैं। सर्वान्तर श्रुति से भी परमात्मा से भिन्न जीवात्मा नहीं है, यह निश्चित होता है ॥३६॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः (ललिता)

इस सेत्वादिव्यपदेश के निराकरण एवं अन्यवस्तुप्रतिषेध के समाश्रयण से आत्मा में सर्वगतत्व भी सिद्ध होता है। उन दोनों युक्तियों का आश्रय लिए बिना आत्मा में सर्वव्यापकत्व सिद्ध नहीं होता क्योंकि सेत्वादिव्यपदेश को मुख्य मानने पर आत्मा में परिच्छिन्नत्व आ जायेगा, इस प्रकार सेत्वादि भी आत्मस्वरूप ही है । वैसे ही अन्य वस्तु का प्रतिषेध न करने पर भी एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न हो जाती है और इस रीति से आत्मा में परिच्छेद आयेगा ही । आयाम शब्दादि हेतुओं से भी आत्मा में सर्वव्यापकत्व अवगत होता है, आयाम शब्द व्याप्ति का वाचक है । 'जितना बड़ा यह बाह्य आकाश है उतना ही हृदय के भीतर भी आकाश है', 'आत्मा आकाश की भांति व्यापक और नित्य है', 'वह आत्मा द्युलोक से बड़ा और आकाश से भी बड़ा है, 'यह आत्मा नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, अचल और सनातन है' इन सभी श्रुति-स्मृतियों से आत्मा में सर्वव्यापकत्व सिद्ध होता है । सम्पूर्ण अध्यस्तजगत् अधिष्ठान से व्याप्त है, अध्यस्त होने के कारण, रज्जु से व्याप्त सर्प की भांति; यह न्याय भी आत्मा में सर्वव्यापकत्व का बोध कराता है, इसी न्याय का संकेत भाष्य में किया गया है ॥३७॥

---

१. परिच्छिन्नात्मकत्वात् । २. आत्मवस्तु । ३. अनात्मवस्तुनः ।

८. फलाधिकरणम् (सू० ३८-४१)

(३५६) फलमत उपपत्तेः ॥३८॥

कर्मैव फलदं यद्वा कर्माराधित ईश्वरः । अपूर्वावान्तरद्वारा कर्मणः फलदातृता ॥
अचेतनात्फलासूतेः शास्त्रीयात्पूजितेश्वरात् । कालान्तरे फलोत्पत्तेर्नापूर्वपरिकल्पना ॥

तस्यैव हि ब्रह्मणो व्यावहारिक्यामीशित्रीशितव्यविभागावस्थायामयमन्यः स्वभावो वर्ण्यते । यदेतदिष्टानिष्टव्यामिश्रलक्षणं कर्मफलं संसारगोचरं त्रिविधं प्रसिद्धं जन्तूनां,

---

एवं तत्पदलक्ष्यं संशोध्य वाच्यार्थमाह—फलमत उपपत्तेः । निर्विशेषत्वादन्यः स्वभावः फलहेतुत्वाख्यः । इष्टं सुखं देवादीनां, अनिष्टं दुःखं नारकीणां, व्यामिश्रं मनुष्याणां, संसारो जन्ममृतिप्रवाहः गोचरः आश्रयो यस्य तत्संसारगोचरम् । अत्र कर्मेश्वरयोः फलहेतुत्वश्रुतेः संशयमाह—किमिति । अत्र पूर्वपक्षे फलदातुरीश्वरस्य तत्पदवाच्यस्यासिद्धेर्लक्ष्यासिद्धिः सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलभेदः । पूर्वोक्तनिर्विशेषत्वमुपजीव्य फलदातृत्वमपीश्वरस्य नास्तीति पूर्वपक्षोत्थानात्संगतिः । यद्यपि सर्वगतत्ववत्फलदातृत्वं व्यवहारदशायां सिध्यति तथापि कर्मण एव फलदातृत्वमिति शङ्कानिरासेनोक्तलक्ष्यार्थ-

---

८. फलाधिकरण

१. **सङ्गति**—ब्रह्मभिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च का निषेधकर निर्विशेष ब्रह्म का अवधारण पिछले अधिकरण में किया गया है, ऐसी स्थिति में उसमें फलदातृत्व नहीं रह जायेगा; ऐसा आक्षेप होने पर इस अधिकरण का आरम्भ हुआ है, अतः पूर्व के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है ।

२. **विषय**—ब्रह्म में फलदातृत्व का निश्चय कराना, इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—जीव को संसार में त्रिविध कर्मफल भोगते देखा गया है, वह फल स्वतन्त्र कर्म से मिलता है अथवा ईश्वर से मिलता है ? ऐसा संशय होता है ।

४. **पूर्वपक्ष**—शुभाशुभ कर्म अदृष्ट द्वारा फल देने में समर्थ है, ऐसी स्थिति में ईश्वर को कर्मफलदाता मानना युक्तियुक्त नहीं है ।

५. **सिद्धान्त**—अचेतन कर्म अथवा तज्जन्य अपूर्व फल नहीं दे सकता । लोक में सेवादि का फल देते अचेतन को नहीं देखा गया है, प्रत्युत सेवा से पूजित राजादि पुरुष फलदाता माने गये हैं । शास्त्रसिद्ध ईश्वर को काल्पनिक कहना भी ठीक नहीं, अतः साधुकर्म एवं असाधुकर्म का फल जीव को ईश्वर ही देता है । कर्मसापेक्ष फलदातृत्व ईश्वर में मानने के कारण उसमें वैषम्यादि दोष की कल्पना भी नहीं कर सकते ।

इस प्रकार पहले चार अधिकरणों द्वारा '**त्वम्**' पदार्थ का शोधन किया गया था; तत्पश्चात् चार अधिकरणों द्वारा ब्रह्म में निरूपत्व, निषेधाविषयत्व, अद्वितीयत्व एवं व्यवहारदशा में फलदातृत्व कहकर '**तत्**' पदार्थ का संशोधन भी हो गया ।

फलमत उपपत्तेः (ललिता)

इस प्रकार तत्पदलक्ष्यार्थ संशोधनकर वाच्यार्थ बतलाने के लिए उसी ब्रह्म की ईशिता-ईशितव्य-विभागवाली व्यवहारिकी अवस्था में अन्य स्वभाव का वर्णन किया जाता है । यह जो संसार में इष्ट,

किमेतत्कर्मणो भवत्याहोस्विदीश्वरादिति भवति विचारणा । तत्र तावत्प्रतिपद्यते फलमतः ईश्वराद्भवितुमर्हति । कुतः ? उपपत्तेः ।

स हि सर्वाध्यक्षः सृष्टिस्थितिसंहारान्विचित्रान्विदधद्देशकालविशेषाभिज्ञत्वात्कर्मिणां कर्मानुरूपं फलं संपादयतीत्युपपद्यते । कर्मणस्त्वनुक्षणविनाशिनः कालान्तरभावि फलं भवतीत्यनुपपन्नम् । अभावाद्भावानुत्पत्तेः । स्यादेतत्कर्म विनश्यत्स्वकालमेव स्वानुरूपं फलं जनयित्वा विनश्यति, तत्फलं कालान्तरितं कर्त्रा भोक्ष्यत इति । तदपि न परिशुध्यति, प्राग्भोक्तृसंबन्धात्फलत्वानुपपत्तेः । यत्काले हि यत्सुखं दुःखं वात्मना भुज्यते तस्यैव लोके फलत्वं प्रसिद्धम् । न ह्यसंबद्धस्यात्मना सुखस्य दुःखस्य वा फलत्वं प्रतियन्ति लौकिकाः । अथोच्येत मा भूत्कर्मानन्तरं फलोत्पादः । कर्मकार्यादपूर्वात्फलमुत्पत्स्यत इति । तदपि नोप-

---

निर्वाहकवाच्यार्थनिर्णयार्थमस्याधिकरणस्यारम्भ इति मत्वा सिद्धान्तं तावदाह—तत्र तावदिति । स्वर्गादिकं विशिष्टदेशकालकर्माभिज्ञदातृकं, कर्मफलत्वात् सेवाफलवदित्युपपत्तिः ।

यागादिक्रियाख्यं कर्म तावत् क्षणिकं तत्किं स्वनाशात् फलं जनयत्युत फलमुत्पाद्य नश्यति, आहोस्विदपूर्वात्फलसिद्धिः, नाद्य इत्याह—अभावादिति । द्वितीयं शङ्कते—स्यादिति । कर्मनाशक्षणमारभ्यामभिव्यक्तस्वर्गसुखादिसत्त्वे मानं नास्तीति दूषयति—तदपीत्यादिना । तृतीयं शङ्कते—अथेति । अपूर्वं किं स्वतन्त्रमेव फलदानाय प्रवर्तते, चेतनाधिष्ठितं वा' नाद्य इत्याह—तदपीति । द्वितीये त्वदृष्टानभिज्ञजीवस्याधिष्ठातृत्वायोगादीश्वरस्याधिष्ठातृत्वसिद्धिरिति भावः । प्रौढवादेनापूर्वं नास्ती-

---

अनिष्ट एवं मिश्रित त्रिविध फल प्राणियों का प्रसिद्ध है, क्या यह कर्म से मिलता है अथवा ईश्वर से प्राप्त होता है, इसी बात पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

उस पर सिद्धान्तानुसार ईश्वर से ही वह त्रिविध फल प्राप्त होता है क्योंकि ईश्वर सर्वाध्यक्ष है; वह सृष्टि-स्थिति-संहार जैसे विचित्र कार्य का विधान करने वाला और विशेष देश-काल को जानता भी है, अतः कर्मी प्राणी के कर्मानुरूप फल का सम्पादन वह ईश्वर ही करता है, यह युक्ति-सिद्धि है। अनुक्षण विनाशी कर्म से कालान्तरभावी फल प्राप्त होता है, यह कल्पना असंगत है क्योंकि अभाव से भाव को उत्पत्ति नहीं होती। यदि कहो कि कर्म नष्ट होता हुआ अपने स्थितिकाल में ही स्वानुरूप फल को उत्पन्नकर नष्ट होता है, उसी कालान्तरित फल को कर्ता भोगेगा ? तो यह कहना भी ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि भोक्तृसम्बन्ध से पूर्व उसमें फलत्व ही सिद्ध नहीं होता। लोक में जिस समय जिस सुख-दुःख का भोग जीव करता है उसी में फलत्व प्रसिद्ध है, जीवात्मा से असम्बद्ध सुख अथवा दुःख को कोई भी लौकिक पुरुष फल नहीं समझते हैं। यदि कहो कि कर्म के अव्यवहित उत्तरक्षण में फल उत्पन्न नहीं होता किन्तु कर्म के कार्य अपूर्व द्वारा फल उत्पन्न हो जायेगा ? तो ऐसा कहना भी युक्ति-संगत नहीं है क्योंकि पत्थर-ढेले के समान जड़ अपूर्व में चेतन द्वारा प्रेरणा के बिना प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती; साथ ही, अपूर्व के अस्तित्व में प्रमाण भी नहीं है। यदि कहो कि स्वर्गादि फल की साधनता यागादि में अनुपपन्न होकर यागसाधन और स्वर्गादि फल

(३५७) श्रुतत्वाच्च ॥३९॥

(३५८) धर्मं जैमिनिरत एव ॥४०॥

पद्यते । अपूर्वस्याचेतनस्य काष्ठलोष्टसमस्य चेतनेनाप्रवर्तितस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । तदस्तित्वे च प्रमाणाभावात् । अर्थापत्तिः प्रमाणमिति चेत्, न, ईश्वरसिद्धेरर्थापत्तिक्षयात् ॥३८॥

न केवलमुपपत्तेरेवेश्वरं फलहेतुं कल्पयामः किं तर्हि श्रुतत्वादपीश्वरमेव फलहेतुं मन्यामहे। तथाच हि श्रुतिर्भवति—'स वा एष महानज आत्मान्नादो वसुदानः' (बृ० ४-४-२४) इत्येवंजातीयका ॥३९॥

जैमिनिस्त्वाचार्यो धर्मं फलस्य दातारं मन्यते । अत एव हेतोः श्रुतेरुपपत्तेश्च । श्रूयते तावदयमर्थः—'स्वर्गकामो यजेत' इत्येवमादिषु वाक्येषु । तत्र च विधिश्रुतेर्विषयभावोपगमाद्यागः स्वर्गस्योत्पादक इति गम्यते । अन्यथा ह्यननुष्ठातृको याग आपद्येत तत्रास्योपदेशवैयर्थ्यं स्यात् । नन्वनुक्षणविनाशिनः कर्मणः फलं नोपपद्यत इति परित्यक्तोऽयं

त्याह—तदस्तित्व इति। क्षणिकयागादेः श्रुतस्वर्गादिहेतुत्वानुपपत्त्या स्थाय्यपूर्वसिद्धिरिति चेत्, न, कर्मभिराराधितादीश्वरादेव स्थायिनः फलसिद्धेरित्यर्थः । न केवलतर्केणापूर्वं सिध्यतीति भावः ॥३८॥

'कृतात्ययेऽनुशयवान्' इत्यत्रोदाहृताभिः 'य इह रमणीयचरणाः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिरपूर्वसिद्धिश्चेत्ताभिरीश्वरस्यापि फलदातृत्वं स्वीकार्यमित्याह—श्रुतत्वाच्चेति सूत्रकारः। अन्नमासमन्तात्प्राणिभ्यो ददातीत्यन्नादः, वसुदानो धनदाता, कर्मणोऽपूर्वस्य वा जडत्वेनोपकरणमात्रत्वात्स्वतन्त्र ईश्वर एव फलदातेति सिद्धान्तो दर्शितः ॥३९॥

इदानीं पूर्वपक्षयति-धर्ममिति । विधिश्रुतिर्विध्यर्थः, तस्य लिङर्थस्य प्रेरणात्मनो यागो विषयस्तद्भावावगमाद्यागः स्वर्गसाधनमिति गम्यते । यागस्येष्टसाधनत्वाभावे प्रेरणानुपपत्तेरित्यर्थः ।

के मध्यवर्ती अपूर्व की सिद्धि में अर्थापत्ति प्रमाण हो जायेगा ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कर्म से आराधित ईश्वर द्वारा ही जब स्थायीफल की सिद्धि हो जायेगी तो फिर अर्थापत्ति मानने की क्या आवश्यकता है। अतः केवल तर्क से अपूर्व की सिद्धि नहीं होती ॥३८॥

श्रुतत्वाच्च (ललिता)

हम केवल युक्ति से ईश्वर को फल का हेतु नहीं मानते किन्तु श्रुति प्रमाण से भी ईश्वर को ही फलदाता मानते हैं। 'वह परमात्मा अजन्मा, सभी प्राणियों को अन्न देने वाला तथा धन का दाता है' इस प्रकार की श्रुति उपर्युक्त ईश्वर को फलदाता बतलाती है ॥३९॥

धर्मं जैमिनिरत एव (ललिता)

अब पूर्वपक्ष कहते हैं—किन्तु जैमिनि आचार्य धर्माधर्मरूप कर्म को ही फल का दाता मानते हैं, इन्होंने भी श्रुति एवं पूर्वोक्त युक्ति से ही ऐसा माना है। '**स्वर्गकामो यजेत**' इत्यादि वाक्यों में विधिश्रुति द्वारा विषयभावरूप में यागादि कर्म का स्वर्गफल जनक निश्चित होता है, यदि यागादि स्वर्गफल का जनक न हो तो उसके अननुष्ठान का प्रसंग आ जायेगा एवं उसका उपदेश भी व्यर्थ होने लग जायेगा। शङ्का—अनुक्षण विनाशी कर्म से फल उत्पन्न हो सकता इसलिये पूर्वपक्षी का यह पक्ष परित्यक्त हो

(३५९) पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥४१॥

पक्षः । नैष दोषः । श्रुतिप्रामाण्यात् । श्रुतिश्चेत्प्रमाणं यथाऽयं कर्मफलसम्बन्धः श्रुत उपपद्यते तथा कल्पयितव्यः, न चानुत्पाद्य किमप्यपूर्वं कर्म विनश्यत्कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोत्यतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वं नामास्तीति तर्क्यते । उपपद्यते चायमर्थ उक्तेन प्रकारेण । ईश्वरस्तु फलं ददातीत्यनुपपन्नम् । 'अविचित्रस्य कारणस्य विचित्रकार्यानुपपत्तेर्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात् तदनुष्ठानवैयर्थ्यापत्तेश्च । तस्माद्धर्मादेव फलमिति ॥४०॥

बादरायणस्त्वाचार्यः पूर्वोक्तमेवेश्वरं फलहेतुं मन्यते । केवलात्कर्मणोऽपूर्वाद्वा केवलात्फलमित्ययं पक्षस्तुशब्देन व्यावर्त्यते । कर्मापेक्षादपूर्वापेक्षाद्वा यथातथास्त्वीश्वरात्फलमिति सिद्धान्तः । कुतः ? हेतुव्यपदेशात् । धर्माधर्मयोरपि हि कारयितृत्वेनेश्वरो हेतुर्व्यपदिश्यते । फलस्य च दातृत्वेन 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते ।

अपूर्वद्वारा कर्मणः फलमुपपद्यत इत्युक्त्वा सिद्धान्तं दूषयति—ईश्वरस्त्विति । ईश्वरः किं कर्मानपेक्षः फलं ददाति तत्सापेक्षो वा, आद्य आह—अविचित्रस्येत्यादिना । द्वितीये संवेष्टनसंस्कारमात्रात्कटादौ वेष्टनवत्कर्मापूर्वादेव फलसिद्धेः किमीश्वरेणेति भावः । अत्र वयं वदामः—चन्दनकण्टकादिदृष्टसंपत्त्यैव सुखादिसंभवे कृतं धर्माधर्माभ्यामिति श्रुतिस्मृतिबलात्तदपेक्षायामीश्वरेण किमपराद्धम् । अतः ईश्वरानपेक्षात्केवलात्कर्मणः फलमित्ययुक्तमिति ॥४०॥

सिद्धान्तयति—पूर्वं त्विति । अचेतनस्य कर्मणः स्वतःप्रवृत्त्ययोगात्सेवादिदृष्टान्तानुसारि-

जाता है । पूर्वपक्ष (समाधान)–ऐसा कहना दोष नहीं है क्योंकि हमारे पक्ष का साधक श्रुतिप्रमाण है । कर्मफलसम्बन्ध को जब श्रुति प्रमाण कह रहा है तो फिर हम कल्पना क्यों करे । किसी अपूर्व को उत्पन्न किये बिना ही नाशवान कर्म कालान्तरित फल को नहीं दे सकता, अतः कर्म से सूक्ष्म कोई अवस्था बनती है जो अवस्था फल की पूर्ववर्ती मानी जाती है, उसी का अपूर्व है ऐसा तर्क किया जाता है । यह अर्थ युक्ति से जब सिद्ध है तो ईश्वर को फलदाता मानना युक्तिविरुद्ध है । कारण अविचित्र हो, उससे विचित्र कार्य की उत्पत्ति नहीं कह सकते । अविचित्र कारण से विचित्र कार्य की उत्पत्ति मानने पर वैषम्यनैर्घृण्य दोष भी आने लग जायेगा और ईश्वर को फलदाता मानने पर कर्मानुष्ठान व्यर्थ होने लग जायगे । अतः कर्म से ही जीव को फल प्राप्त होता है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं ॥४०॥

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् (ललिता)

किन्तु बादरायण आचार्य पूर्वोक्त ईश्वर को ही फलदाता मानते हैं । सूत्र में आये हुए 'तु' शब्द से केवल कर्म अथवा तज्जन्य केवल अपूर्व से फलप्राप्तिपक्ष की व्यावृत्ति हो जाती है । हां, कर्म अथवा अपूर्व की अपेक्षाकर ईश्वर प्राणियों को फल देता है, यह सिद्धान्त पक्ष है क्योंकि धर्माधर्म के कारयितारूप में ईश्वर को ही श्रुति में कहा है और फलदाता भी ईश्वर को ही श्रुति बतलाती है—'यह ईश्वर उस व्यक्ति से साधुकर्म कराता है जिसे इन लोकों से ऊपर उठाना चाहता है, यही ईश्वर उस

१. एकरूपस्येश्वरस्य ।

एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इति । स्मर्यते चायमर्थो भगवद्गीतासु—'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते । लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान्' (७-२१) इति । सर्ववेदान्तेषु चेश्वरहेतुका एव सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते । तदेव चेश्वरस्य फलहेतुत्वं यत्स्वकर्मानुरूपाः प्रजाः सृजतीति । विचित्रकार्यानुपपत्त्यादयोऽपि दोषाः कृतप्रयत्नापेक्षत्वादीश्वरस्य न प्रसज्यन्ते ।।४१।।

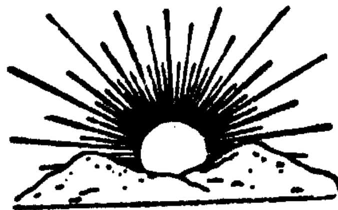
इति श्रीमच्छारीरकमीमांसासूत्रभाष्ये श्रीशङ्करभगवत्पादकृतौ
तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।२।।

'श्रुतेर्बलीयस्त्वात्सर्ववेदान्तेष्वीश्वरस्य जगद्धेतुत्वश्रुतेश्चेश्वराधिष्ठितात्कर्मणो जगदन्तःपातिफलसिद्धिरिति समुदायार्थः ।।४१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पादकृतौ
श्रीमच्छारीरकमीमांसाख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां
तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

व्यक्ति से असाधुकर्म करवाता है जिसे नीचे ढकेलना चाहता है।' भगवद्गीता में भी 'जो जो भक्त श्रद्धापूर्वक जिस-जिस रूप की अर्चना चाहता है, उस-उस भक्त की श्रद्धा को उसी रूप में दृढ़ कर देता हूँ। उस श्रद्धा से युक्त हुआ भक्त पुनः उसका आराधन करता है और तत्पश्चात् मेरे द्वारा ही विहित फल को प्राप्त करता है।' इसी अर्थ को बतलाया है। ऐसे सभी वेदान्तवाक्यों में सृष्टि भी ईश्वरकर्तृक कही गयी है; वही ईश्वर फल का कारण भी है, अतः प्राणियों के कर्मानुरूप प्रजा की सृष्टि करता है और फल देता है। हमारे इस सिद्धान्त पक्ष में विचित्रकार्यानुपपत्त्यादि दोष भी नहीं आते है क्योंकि ईश्वर प्राणियों के कर्म की अपेक्षा करके ही सृष्टिरचना करता है और तदनुरूप फल भी देता है ।।४१।।

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य तृतीयाध्याय द्वितीय पाद की
श्रीकैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज
द्वारा रचित ललिता व्याख्या
सम्पूर्ण हुई।



---

१. अप्रादो वसुदानः ।

तृतीयाऽध्याये तृतीयः पादः

(३६०) सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥१॥

१. सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् (सू० १-४)

सर्ववेदेष्वनेकत्वमुपास्तेरथवैकता । अनेकत्वं कौथुमादिनामधर्मविभेदतः ॥
विधिरूपफलैकत्वादेकत्व नाम न श्रुतम् । शिरोव्रताख्यधर्मस्तु स्वाध्याये स्यान्न वेदने ॥

व्याख्यातं विज्ञेयस्य ब्रह्मणस्तत्त्वम् । इदानीं तु [1]प्रतिवेदान्तं [2]विज्ञानानि भिद्यन्ते

मार्तण्डं ध्वान्तनाशाय तिलकस्वामिनं मुदे ।
विघ्नेशं विघ्नविध्वस्त्यै प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

ब्रह्मस्वरूपं निर्धार्य तज्ज्ञानसाधनोपासनास्वरूपमाह—सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषादिति । पादसङ्गतिमाह—व्याख्यातमिति । पूर्वपादे तत्त्वंपदार्थविवेकः कृतः । इह तत्फलं वाक्यार्थज्ञान-

---

तृतीय अध्याय तृतीय पाद

विगत पाद में वाक्यार्थज्ञान के लिए तत्-त्वम् पदार्थ का निरूपण किया गया, अब वाक्यार्थ-निर्णय के लिए हेतुहेतुमद्भाव सगति के कारण यह तृतीय पाद प्रारम्भ हो रहा है। इस पाद के अन्तगत निर्गुण ब्रह्म में नानाशाखापठित पुनरुक्ति का उपसंहार किया गया है। प्रसंगतः सगुण उपासना में कहीं पर शाखान्तरीय गुणों का उपसंहार और कहीं पर अनुपसंहार भी बतलाया जायेगा, इससे चित्त की एकाग्रतापूर्वक निर्गुणवाक्यार्थज्ञान में सामथ्य उत्पन्न होगा।

१. सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण

१. **सङ्गति**—पाद भिन्न होने के कारण पिछले अधिकरण के साथ इस अधिकरण की सङ्गति अपेक्षित नहीं है।

२. **विषय**—बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य में पढ़ी गयी पञ्चाग्नि विद्या का विचार इस अधिकरण में किया गया है। छान्दोग्य में आयी हुई उपासनाओं का नाम कौथुमम् है और बृहदारण्यक उपनिषद्गत उपासनाओं का नाम वाजसनेयक है, पञ्चाग्नि विद्या के अतिरिक्त तद्गत उपासनाओं का नाम भी ऐसा ही रहेगा।

३. **संशय**–सभी श्रुतियों में आयी हुई पञ्चाग्नि विद्या आदि उपासनायें एक हैं अथवा भिन्न हैं ?

४. **पूर्वपक्ष**—कौथुमादि नाम और शिरोव्रतादि धर्म के भेद से उपासनायें भिन्न हैं।

५. **सिद्धान्त**—शाखाभेद रहने पर भी विधिरूप एवं फल का अभेद होने के कारण ऐसी उपासनायें अभिन्न मानी जाती हैं। छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में **'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद'** ऐसी विधि एक सी है, पञ्चाग्नि रूप भी समान ही है एवं ज्येष्ठत्व-श्रेष्ठत्व की प्राप्तिरूप फल भी एक जैसा ही है, अतः उपासनायें अभिन्न हैं। शिरोव्रतादिनामक धर्म स्वाध्याय का अङ्ग है, उपासना का अङ्ग नहीं है। अतः अभेद का कारण विद्यमान रहने से और भेद के सिद्ध न होने के कारण शाखाभेद से ऐसी उपासनायें भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् (ललिता)

ब्रह्मस्वरूप का निर्धारण पिछले पाद में किया गया, अब इस पाद में ब्रह्मज्ञान के साधन

---

१. प्रतिशाखम् । २. उपासनानि ।

न वेति विचार्यते–

ननु विज्ञेयं ब्रह्म 'पूर्वा[२]परादिभेदरहितमेकमेकरसं सैन्धवघनवदवधारितं, तत्र कुतो विज्ञानभेदाभेदचिन्तावतारः। नहि कर्मबहुत्ववद् ब्रह्मबहुत्वमपि वेदान्तेषु प्रतिपिपादयिषितमिति शक्यं वक्तुम्। ब्रह्मण एकत्वादेकरूपत्वाच्च। न चैकरूपे ब्रह्मण्यनेकरूपाणि विज्ञानानि संभवन्ति। नह्यन्यथार्थोऽन्यथा ज्ञानमित्यभ्रान्तं भवति। यदि पुनरेकस्मिन्ब्रह्मणि बहूनि विज्ञानानि वेदान्तान्तरेषु प्रतिपिपादयिषितानि तेषामेकमभ्रान्तं भ्रान्तानीतराणीत्यनाश्वासप्रसङ्गो वेदान्तेषु, तस्मान्न तावत्प्रतिवेदान्तं ब्रह्मविज्ञानभेद आशङ्कितुं शक्यते। नाप्यस्य चोदनाद्यविशेषादभेद उच्यते। ब्रह्मविज्ञानस्याचोदनालक्षणत्वात्। अविधिप्रधानैर्हि वस्तुपर्यवसायिभिर्ब्रह्मवाक्यैर्ब्रह्मविज्ञानं जन्यत इत्यवोचदाचार्यः 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १-१-४) इत्यत्र। तत्कथमिमां भेदाभेदचिन्तामारभत इति। तदुच्यते–सगुणब्रह्मविषया प्राण[३]ादिविषया चेयं विज्ञानभेदाभेदचिन्तेत्य-

मानन्दादयः प्रधानस्येति सूत्रेणापुनरुक्तापेक्षिततत्पदतद्वाच्यार्थोपसंहारेण निर्धार्यत इति फलफलिभावः सङ्गतिः। सगुणवाक्यार्थविद्याचिन्ता तु तद्विद्यानां चित्तैकाग्र्यद्वारा निर्गुणज्ञानसाधनत्वात्क्रियत इति मन्तव्यम्।

संप्रति निर्गुणज्ञानं भेदाभेदविचाराविषयत्वेनोक्तमिति मन्वान आक्षिपति—नन्विति। वेद्यभेदे विद्याभेदचिन्ता स्यात्, ब्रह्मणस्तु वेद्यस्यैक्यान्न चिन्तावसर इत्यर्थः। ब्रह्मैक्येऽपि धर्मभेदाच्चिन्तेत्यत आह—एकरूपत्वाच्चेति। निर्धर्मत्वादित्यर्थः। एकरूपेऽपि ब्रह्मण्यनेकप्रकारसंभवाद्भेदशङ्का इत्यत आह—नचेत्यादिना। पूर्वपक्षे ज्ञानभेदशङ्कानुपपत्तिमुक्त्वा चोदनाद्यभेदाज्ज्ञानाभेद इति सिद्धान्तोऽप्ययुक्त इत्याह—नाप्यस्येति। एवं पादारम्भमाक्षिप्य समाधत्ते—तदुच्यत इति। सगुण-

उपासना का स्वरूप कहते हैं। विज्ञेय ब्रह्म का तत्त्व बतला दिया गया, किन्तु अब प्रत्येक वेदान्त में ब्रह्मोपासना भिन्न है अथवा अभिन्न है, इसका विचार इस पाद में किय जाता है।

शङ्का—कारणकार्यादिभेदरहित विज्ञेय ब्रह्म एक और सैन्धवघन की भाँति एकरस है, ऐसी स्थिति में उस ब्रह्म के विषय में उपासनाभेदाभेद की चिन्ता का प्रसङ्ग ही कहाँ आता है। कर्मबहुत्व की भाँति वेदान्त में ब्रह्म का बहुत्व बतलाना अभीष्ट नहीं है क्योंकि ब्रह्म एक है और एकरूप है, एकरूप ब्रह्म में अनेक विज्ञान का होना सम्भव नहीं है। और यदि उसका अनेक विज्ञान मानें तो वह भ्रम कहा जायेगा क्योंकि अन्य प्रकार की वस्तु को अन्य मानना यथार्थ बोध नहीं कहा जा सकता। यदि एक ब्रह्म में वेदान्त द्वारा अनेक विज्ञान बतलाये जाँय तो उनमें से एक यथार्थ होगा और दूसरे सभी भ्रान्त माने जायेंगे, ऐसी स्थिति में वेदान्त में अविश्वास का प्रसङ्ग आ जायेगा। अतः प्रतिवेदान्त ब्रह्मउपासनाभेद की आशङ्का नही कर सकते और न विधिवाक्यादि के अविशेष होने के कारण उनका अभेद ही कह सकते हैं क्योंकि ब्रह्मज्ञान विधिरूप नहीं है। ब्रह्मबोधक वाक्य विधिप्रधान नहीं हैं, वे तो वस्तु-प्रधान हैं, ऐसे वाक्यों से ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा 'तत्तु समन्वयात्' सूत्र में आचार्य कह आये हैं। ऐसी स्थिति में ब्रह्मविज्ञान के इस भेदाभेद की चिन्ता ही कैसे हो रही है? समाधान—इस पर कहते हैं कि सगुणब्रह्मविषयक प्राणादि उपासनाओं की चिन्ता की गयी है, यही विज्ञानभेदाभेद की चिन्ता यहाँ

१. कारण। २. कार्य। ३. आदिना पंचाग्निदहरशाण्डिल्यादयो गृह्यन्ते।

दोषः। 'अत्र हि कर्मवदुपासनानां भेदाभेदौ सम्भवतः, कर्मवदेव चोपासनानि दृष्टफलान्यदृष्टफलानि चोच्यन्ते। क्रममुक्तिफलानि च कानिचित्सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण। तेष्वेषा चिन्ता संभवति। किं प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद आहोस्विन्नेति। तत्र पूर्वपक्षहेतवस्तावदुपन्यस्यन्ते।

नाम्नस्तावद्भेदप्रतिपत्तिहेतुत्वं प्रसिद्धं ज्योतिरादिषु। अस्ति चात्र वेदान्तान्तरविहितेषु विज्ञानेष्वन्यदन्यन्नाम तैत्तिरीयकं वाजसनेयकं कौथुमकं कौषीतकं शाट्यायनकमित्येवमादि। तथा [२]रूपभेदोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादकः प्रसिद्धो वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनमित्येव-

विद्यास्वेव भेदाभेदः चिन्ता क्रियते निर्गुणविद्यायां त्वैक्यं सिद्धमिति वाक्यार्थरूपगुणोपसंहारमात्रं क्रियते वाक्यार्थनिर्णयायेति भावः। पञ्चाग्निप्राणदहरशाण्डिल्यवैश्वानरादिविद्या मिथोभिन्ना इति 'नानाशब्दादिभेदात्' इत्यत्र वक्ष्यते। अत्र तु मिथोभिन्नास्ताः किं प्रतिशाखं भिद्यन्ते न वेति 'नामादिभेदाच्चोदनाद्यविशेषाच्च संशयः।

पूर्वपक्षे विद्याभेदाद् गुणानुपसंहारः सिद्धान्ते त्वभेदादुपसंहार इति फलभेदः। पूर्वतन्त्रे शाखान्तराधिकरणपूर्वपक्षसूत्रं 'नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरे कर्मभेदः स्यादिति।' तत्रोक्ता हेतवो नामादयो विद्याभेदार्थमिहोच्यन्ते 'अथैष ज्योतिरथैष सर्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत' इत्यत्र प्रकृतज्योतिष्टोमानुवादेन सहस्रदक्षिणाख्यगुणविधिमाशङ्क्य ज्योतिरितिपदस्य कर्मान्तरनामत्वसंभवे ज्योतिष्टोमलक्षकत्वायोगात्वथेति प्रकरणविच्छेदाच्च ज्योतिष्टोमात्कर्मान्तरं विशिष्टदक्षिणाकं विधीयत इति नाम्नः कर्मभेदकत्वमुक्तम्। ज्योतिरादिष्वित्यादिपदेनाध्वर्यवं हौत्रमिति संज्ञाभेदात्कर्मभेदो ग्राह्यः। तप्तं क्षीरं दध्ना कठिनमामिक्षा, तत्र द्रवं जलरूपं वाजिनमिति भेदः, 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इत्यत्र वैश्वदेव्यामिक्षायागे वाजिनाख्यगुणविधिः वाजिभ्य इति विश्वेदेवानुवादादित्याशङ्क्यामिक्षां प्रत्युपसर्जनत्वेनोक्तविश्वेदेवानां वाजिभ्य इत्यनुवादायोगादुत्पत्तिशिष्टामिक्षावरुद्धे कर्मणि वाजिन-

पर अभीष्ट है, अतः कोई दोष नहीं है क्योंकि कर्म की भाँति यहाँ पर उपासनायें भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। जैसे कर्म के फल दृष्ट और अदृष्ट दोनों ही होते हैं, ऐसे ही उपासनायें भी दृष्ट और अदृष्टफलक उभयप्रकार की कही गयी हैं। उनमें से कुछ उपासनायें सम्यग्ज्ञान उत्पत्ति द्वारा क्रममुक्ति फल देनेवाली कही गयी हैं, उनमें यह चिन्ता सम्भव हो जाती है कि प्रतिवेदान्त ब्रह्मविज्ञान भिन्न है अथवा नहीं। इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्ष के कारण पहले बतलाते हैं।

पूर्वपक्ष—ज्योतिरादि याग में नाम के कारण भेद प्रसिद्ध हुआ है; ऐसे ही यहाँ पर भी अन्य उपनिषदों में विहित उपासनाओं में तैत्तिरीयक, वाजसनेयक, कौथुमक, कौषीतक और शाट्यायन ऐसे भिन्न-भिन्न नाम सुने जाते हैं, वैसे ही रूपभेद भी कर्मभेद का प्रतिपादक प्रसिद्ध है। गर्म दूध में छाछ डालने पर जो कठिन भाग होता है उसे आमिक्षा कहते हैं और जो तरल भाग होता है उसे वाजिन कहते हैं, द्रव्य और देवता ये दोनों याग के रूप माने जाते हैं 'आमिक्षा विश्वदेवों को दिया जाय और वाजिन द्रव्य वाजिदेवता को दिया जाय' ऐसे यहाँ पर कर्मभेदक ये दोनों रूप कर्मकाण्ड में प्रसिद्ध हैं। उसी प्रकार कुछ शाखावाले पञ्चाग्नि विद्या में प्रसिद्ध षष्ठ अग्नि का भी पाठ करते

१. सोपाधिक ब्रह्मणि। २. कर्मस्वरूप। ३. आदिना रूप धर्मादिग्रहः।

मादिषु । अस्ति चात्र रूपभेदः । तद्यथा—'केचिच्छाखिनः पञ्चाग्निविद्यायां षष्ठमपरमग्निम'[1]मनन्त्य'परे पुनः पञ्चैव पठन्ति । तथा प्राणसंवादादिषु 'केचिदूनान्'[3]वागादीनामनन्ति 'केचिद'[4]धिकान् । तथा धर्मविशेषोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादक आशङ्कितः कारीर्यादिषु । अस्ति चात्र धर्मविशेषः । यथाथर्वणिकानां शिरोव्रतमिति । एवं पुनरुक्त्यादयोऽपि भेदहेतवो

द्रव्यस्यानाकाङ्क्षितस्य विध्ययोगाद्वाजिदेवताको वाजिनयागः कर्मान्तरमिति द्रव्यदेवताख्यरूपभेदात् कर्मभेदः सिद्धान्तितः । आदिपदात् 'ऐन्द्रं दध्यैन्द्रं पयः' इति द्रव्यभेदाद्यागभेदो ग्राह्यः । एवमिहापि पञ्चाग्निषडग्निरूपभेदाद्विद्याभेदो वाजिच्छन्दोगयोः । तथा रेतोन्यूना वागादयश्छान्दोग्ये, तत्सहिता वाजिनामिति प्राणविद्याभेदः, कारीरिवाक्याध्ययने तैत्तिरीयकाणां भूमौ भोजनं धर्मविशेषो नान्येषां, अग्न्यध्ययने केषांचिदुपाध्यायार्थमुदकमाहरणं धर्मो नान्येषां, अश्वमेधाध्ययनेऽश्वाघासानयनं केषांचिदेव नान्येषां, न च तान्येव कारीर्यादीनि कर्माणि धर्मविशेषमपेक्षन्ते नापेक्षन्ते चेति युक्तं, अतो धर्मविशेषाच्छाखान्तरे कर्मभेदः शङ्कितस्तथात्रापि मुण्डकाध्ययने केषांचिदेव शिरस्यङ्गारपात्रधारणरूपं व्रतं नान्येषामिति विद्याभेदः स्यात् । पुनरुक्तिरभ्यासः । यथा 'समिधो यजति तनूनपातं यजति' इति, यजत्यभ्यासात्प्रयाजानां भेद उक्तस्तथा 'शाखान्तरेऽभ्यासाद्विद्याभेदः । आदिपदान्निन्दादिग्रहः, 'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम्' इत्यनुदितहोमस्य 'यदुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयाद्यथातिथये प्रद्रुताय शून्यायावसथायाहार्यं हरन्ति तादृगेव तत्' इत्युदितहोमस्य च निन्दाश्रुतेर्भेदः, एकस्यैवोदितेऽनुदिते चानुष्ठानायोगात् तथोदितानुदितहोमातिक्रमकृतप्रायश्चित्ताद्प्यग्निहोत्रभेदः शङ्कितः, एते निन्दाप्रायश्चित्ते वेदान्तविद्यासु न विद्येते इति नोदाहृियेते । यथा सर्वशाखाविहितस्य कर्मणो ज्ञातुं कर्तुं चाऽशक्तेर्भेदस्तथा सर्ववेदान्ताध्ययनज्ञानाद्यशक्तेस्तत्तद्वेदान्तविद्याभेदः स्यात्, तथा शाखानां सर्वासामेकरूपा समाप्तिर्नोच्यते किंतु कस्याश्चित्क्वचित्कर्मणि समाप्तिरतः समाप्तिवचनभेदात्प्रतिशाखं कर्मभेदः शङ्कितः, तथा कस्यचिद्वेदान्तस्योङ्कारसार्वात्म्ये समाप्तिः कस्यचिदन्यत्रेति विद्याभेदः, अन्यार्थदर्शनमर्थवादस्तद्भेदात् कर्मभेदवद्विद्याभेद इति पूर्वपक्षसूत्रोक्ता हेतवो दर्शितास्ते केचित्सिद्धान्ते पूर्वपक्षे चात्रोपयुज्यन्त इति । तथा शब्दान्तराभ्याससंख्यागुणप्रक्रियानामधेयानि कर्मभेदकानि, तत्र नामधेयं गुणो 'रूपमभ्यासश्चेति त्रयं व्याख्यातं, यजेद्दद्याज्जुहुयादिति प्रकृतिशब्दभेदेन धात्वर्थभेदात्सदवच्छिन्नभावनाख्यकर्मभेद उक्तस्तथाऽत्र वेदोपास्त इत्यादिशब्दभेदाद्विद्याभेदः, 'तिस्र आहुतीर्जुहोति' इति संख्यया कर्मभेदवत् 'वायुप्राणौ द्वौ संवर्गौ' इति द्वित्वसंख्यया संवर्गविद्याभेदः स्यात् । नित्याग्निहोत्रप्रकरणात्प्रकरणान्तरे कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुह्वति' इति श्रुतमग्निहोत्रं प्रकरणा-

हैं, किन्तु दूसरी शाखावाले प्रसिद्ध अग्नि का पाठ न कर केवल पाँच अग्नि का ही पाठ करते हैं । वैसे ही प्राणसंवादादि प्रसङ्ग में कुछ लोग वागादि अल्प वस्तु को ही बतलाते हैं और कुछ लोग उसकी अपेक्षा अधिक इन्द्रियों का वर्णन करते हैं । उसी प्रकार कारीरी आदि याग में कर्मभेद के प्रतिपादक धर्मविशेष की भी आशङ्का की गयी है । यहाँ पर उपासना में भी धर्मविशेष सुना जाता है, जैसे आथर्वणिकों के यहाँ शिरोव्रत का वर्णन है । ऐसे ही भेद के कारण पुनरुक्ति आदि भी अन्य

१. वाजसनेयिनः । २. तस्याग्निरेवाग्निर्भवतीत्यादिना । ३. छन्दोगाः । ४. छन्दोगाः । ५. वाक्चक्षुःश्रोत्रमनांसि । ६. वाजसनेयिनः । ७. प्रजापति सहितानुक्तान् । ८. यथा यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेदेत्यादौ वेदादिपदाभ्यासः । ९. गुण पदार्थमाह रूपमिति ।

यथासम्भवं वेदान्तान्तरेषु योजयितव्याः। तस्मात्प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—सर्ववेदान्तप्रत्ययानि विज्ञानानि तस्मिंस्तस्मिन्वेदान्ते तानि तान्येव भवितुमर्हन्ति। कुतः ? चोदनाद्यविशेषात्। आदिग्रहणेन [1]शाखान्तराधिकरणसिद्धान्तसूत्रोदिता अभेद-हेतव इहाकृष्यन्ते। संयोगरूपचोदनाख्याविशेषादित्यर्थः। यथैकस्मिन्नग्निहोत्रे शाखा-भेदेऽपि पुरुषप्रयत्नस्[2]तादृश एव चोद्यते [3]जुहुयादिति। एवम् 'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद' (बृ० ६-१-१ छा० ५-१-१) इति वाजसनेयिनां छन्दोगानां च [4]तादृश्येव चोदना। [5]प्रयोजनसंयोगोऽप्यविशिष्ट एव 'ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च च [6]स्वानां भवति' (बृ० ६-१-१) इति। रूपमप्युभयत्र तदेव विज्ञानस्य यदुत ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणविशेषणान्वितं प्राणतत्त्वम्। यथा च द्रव्यदेवते यागस्य रूपमेवं [7]विज्ञेयं रूपं विज्ञानस्य [8]तेन हि [9]त[10]द्रूप्यते। समाख्याऽपि सैव

न्तरस्थत्वात्कर्मान्तरमिति सिद्धान्तितम्। तथात्र वेदान्तभेदे प्रकरणभेदादुपास्तिभेद इति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तयति—एवमिति। सर्ववेदान्तैः प्रतीयन्त इति सर्ववेदान्तप्रत्ययानि तैर्विहितानीत्यर्थः। उक्त-नामादिभिरग्निहोत्रादिकर्मणां प्रतिशाखं भेदे प्राप्ते शाखान्तराधिकरणसिद्धान्तसूत्रं 'एकं वा संयोग-[11]रूपचोदनाख्याविशेषात्' इति। तत्र चोदनाविधायकः शब्दश्चोदितः प्रयत्नो वा। तस्याः अविशेषमाह—यथैकस्मिन्निति। एकधात्वर्थहोमावच्छिन्नप्रयत्नैक्यवदुपास्तियत्नैक्यमित्यर्थः। [यथा ज्येष्ठत्वादिगुणक-प्राणविद्या सर्वशाखास्वेका तथा पञ्चाग्निविद्याप्येका फलसंयोगाद्यविशेषात्, तथान्यापि विद्याऽभिन्ने-

---

वेदान्त में यथासम्भव जोड़ लेना चाहिए। अतः प्रतिवेदान्त उपासना में भेद है। सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रतिवेदान्त उपासना भिन्न नहीं है क्योंकि सभी उपनिषदों में विधायकशब्दरूप चोदना एक जैसे ही दीखते हैं। सूत्रस्थ 'आदि' शब्द से शाखान्तर अधिकरण सिद्धान्त सूत्र में जो अभेद के कारण कहे गये हैं उनका अनुकर्षण होता है अर्थात् संयोग, रूप और विधि सर्वत्र समान ही दीखते हैं। जैसे एक अग्निहोत्र में शाखाभेद रहने पर भी 'जुहुयात्' यह पुरुषप्रयत्न एक सा ही दीखता है, ऐसे ही 'निःसन्देह जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है' इस वाक्य में कही गयी 'वेद' शब्दरूप चोदना बृहदारण्यक और छान्दोग्य में एक जैसी ही दीखती है एवं 'अपने सम्बन्धियों में वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है' ऐसा प्रयोजनरूप संयोग भी एक जैसा ही दीखता है। ज्येष्ठ-श्रेष्ठादि गुणविशेषण से युक्त प्राणतत्त्व दोनों ही स्थलों में एक जैसा ही दीखता है। जैसे द्रव्य और देवता याग के रूप होते हैं वैसे ही उपासना का रूप विज्ञेय ही होता है क्योंकि उन्हीं के द्वारा उनका निरूपण होता है। वही प्राणविद्या है, यह नाम भी सर्वत्र एक जैसा ही सुना जाता है। अतः उपसनायें सभी उपनिषदों में एक ही हैं। उक्त प्राणविद्या की भाँति

---

१. पूर्वकाण्ड। २. एकरूप एव। ३. जुहुयादिति विधायकशब्दोऽप्येकरूप एव। ४. वेदेत्युपासनाविधायकः शब्द एकरूप एव। ५. फल। ६. ज्ञातीनां मध्ये। ७. उपास्यम्। ८. विज्ञानेन। ९. विज्ञेयम्। १०. प्रकाश्यते। ११. सयोगः कर्मफलसम्बन्धः कर्मणो रूपं द्रव्यदेवते।

(३६१) भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥२॥

प्राणविद्येति । तस्मात्सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं विज्ञानानाम् । एवं पञ्चाग्निविद्या वैश्वानर-विद्या शाण्डिल्यविद्येत्येवमादिषु योजयितव्यम् । ये तु नामरूपादयो भेदहेत्वाभासास्ते प्रथम एव काण्डे 'न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वात्' इत्यारभ्य परिहृताः ॥१॥

[1]इहापि कंचिद्विशेषमाशङ्क्य परिहरति—

स्यादेतत् । [2]सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं [3]विज्ञानानां गुणभेदान्नोपपद्यते । तथाहि—वाजसनेयिनः पञ्चाग्निविद्यां प्रस्तुत्य षष्ठमपरमग्निमामनन्ति 'तस्याग्निरेवाग्निर्भवति' (बृ० ६-२-१४) इत्यादिना । छन्दोगास्तु तं नामनन्ति पञ्चसंख्ययैव च त उपसंहरन्ति 'अथ ह य एतानेवं

स्याह—एवं पञ्चाग्नीति । पूर्वपक्षहेतून्निराचष्टे—ये त्विति । काठकमित्यादिनाम्ना कर्मभेदो न युक्तः, कुतः अचोदनाभिधानत्वात्काठकादिशब्दानां ग्रन्थनामतया कर्मवाचित्वाभावादतो भिन्ननामक-शाखाग्रन्थभेदेऽपि तद्विहितं कर्मैकमेव, अल्प[4]रूपभेदोऽपि न कर्मैक्यविरोधी, धर्मविशेषस्त्वध्ययनाङ्गं न कर्माङ्गमतो न कर्मभेदकं, शाखाभेदे पुनरुक्तिरसिद्धा, निन्दान्यार्थदर्शनयोरपि न भेदकत्वं तत्तद्विधि-स्तुतिमात्रत्वाद्बहुशाखाध्ययनाशक्तावपि स्वशाखानुक्तविशेषस्यापेक्षितस्यान्यतो ग्रहणसंभवादशक्तिर-भेदिका, एकस्मिन्नपि कर्मण्यङ्गलोपादिना प्रायश्चित्तं संभवति । एवं समाप्तिवचनभेदो[5]ऽप्यप्रयोजक इत्येवं कर्मभिदप्रमाणप्राबल्ये भेदहेतवः परिहृता इत्यर्थः ॥१॥

तर्हि शाखान्तरन्यायेनैव कर्मैक्यवद्विद्यैक्यसिद्धेः पुनरुक्तिरित्यत आह—इहापीति । रूपस्योत्पत्ति-शिष्टत्वं विशेषः ।

पञ्चाग्नीन्वेदेत्याद्युपासनोत्पत्तिविधिस्थपञ्चाग्न्यादिरूपभेदादुपासनाभेदः स्यादामिक्षावाजिन-रूपभेदात्कर्मभेदवदित्यधिकाशङ्कानिरासार्थत्वान्न पौनरुक्त्यमस्याधिकरणस्येति मत्वा शङ्कां व्याचष्टे—स्यादित्यादिना । अस्य पृथक्शास्त्रत्वात्कर्मन्यायानां मानसविद्यासु विना सूत्रं दुर्योग-

---

पञ्चाग्नि विद्या, वैश्वानर विद्या और शाण्डिल्य विद्या इत्यादि उपासनाओं में भी उक्त योजना का अन्वय कर लेना चाहिए। किन्तु भेद के कारण नाम-रूप आदि जो पूर्वपक्षी ने कहा था वे हेतु नहीं हैं अपितु हेत्वाभास हैं ऐसा पूर्वमीमांसा में 'न नाम्ना स्यात्' इत्यादि सूत्र से प्रसङ्ग प्रारम्भकर बतलाया जा चुका है ॥१॥

तब तो शाखान्तरन्याय से ही कर्मैक्य की भाँति विद्यैक्य सिद्ध हो जाने पर पुनरुक्ति होने लग जायेगी, अतः यहाँ भी किसी विशेष की आशङ्का उठाकर उसका परिहार करते हैं—

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि (ललिता)

सभी श्रुतियों में उपासना के गुणों का भेद होने पर एक प्रत्ययत्व सिद्ध नहीं होता। वाजसनेय शाखावाले पञ्चाग्नि विद्या का प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'उस उपासना में यह प्रसिद्ध अग्नि ही अग्नि है' इस वाक्य के द्वारा अन्य षष्ठ अग्नि का पाठ करते हैं, किन्तु छान्दोग्य शाखावाले उस प्रसिद्ध अग्नि का पाठ नहीं करते अपितु पञ्च संख्या से ही 'जो इन पाँच अग्नियों को इस प्रकार जानता है' इस वाक्य

---

१. स्वकीयशास्त्रेपि । २. तैरेकधा प्रतीयमानत्वम् । ३. उपासनानाम् । ४. पंचषष्ठादिरूपः । ५. एकस्मिन्नपि कर्मणि कस्यचिदङ्गस्य समाप्तौ समाप्तिवचनसम्भवात् ।

पञ्चाग्नीन्वेद' (छा० ५-१०-१०) इति । येषां च 'सगुणोऽस्ति येषां च नास्ति कथमुभयेषामेका विद्योपपद्येत । न चात्र गुणोपसंहारः शक्यते प्रत्येतुं पञ्चसंख्याविरोधात् । तथा प्राणसंवादे श्रेष्ठादन्यांश्चतुरः प्राणान्वाक्चक्षुःश्रोत्रमनांसि छन्दोगा आमनन्ति । वाजसनेयिनस्तु पञ्चममप्यामनन्ति 'रेतो वै प्रजापतिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद' (बृ० ६-१-६) इति । आवापोद्वापभेदाच्च वेद्यभेदो भवति वेद्यभेदाच्च विद्याभेदो द्रव्यदेवताभेदादिव यागस्येति चेत् ।

नैष दोषः । यत एकस्यामपि विद्यायामेवंजातीयको गुणभेद उपपद्यते । यद्यपि षष्ठस्याग्नेरुपसंहारो न सम्भवति तथापि द्युप्रभृतीनां पञ्चानामग्नीनामुभयत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्न विद्याभेदो भवितुमर्हति । नहि षोडशिग्रहणाग्रहणयोरतिरात्रो भिद्यते । पठ्यतेऽपि च षष्ठोऽग्निश्छन्दोगैः—'तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति' (छा० ५-९-२ इति) ।

त्वाच्च पुनरुक्तिगन्धोऽपि नास्तीति मन्तव्यम् । ननु तस्य मृतस्य दाहार्थमग्निरन्त्येष्टिगतः षष्ठो यः प्रसिद्धवद्वाजिभिरुक्तः स छान्दोग्ये उपसंहार्य इति न रूपभेदः, तत्राह—न चात्रेति । अस्तु प्रजननगुणवतो रेतसो वाजिनामावापश्छन्दोगानां च तस्योद्वापस्ततः किमित्यत आह—आवापेति ।

छान्दोग्ये षष्ठाग्न्यभावमङ्गीकृत्याल्परूपभेदो न विद्यैक्यविरोधीति परिहरति—नैष इत्यादिना । अङ्गीकारं त्यजति—पठ्यतेऽपीति । इतोऽस्माल्लोकाद्दिष्टं लोकान्तरं प्रेतं गतं ज्ञातयोऽग्नये हरन्तीत्यर्थः । ननु छान्दोग्येऽग्निमात्रं श्रुते वाजिभिस्तु समिदादिविशेषः पठ्यते इति रूपभेदस्तदवस्थः,

द्वारा उपसंहार कर देते हैं । ऐसी स्थिति में जिनके पक्ष में वह प्रसिद्ध अग्निरूप गुण है और जिनके पक्ष में नहीं है, भला उन दोनों को विद्या एक कैसे सिद्ध हो सकेगी । बृहदारण्यक के प्रसिद्ध षष्ठाग्नि का उपसंहार छान्दोग्य में नहीं दिखा सकते, ऐसा करने पर पञ्च संख्या के साथ विरोध होने लग जायेगा । वैसे ही प्राणसंवाद में मुख्य प्राण से भिन्न चार वाक्, चक्षु श्रोत्र और मन रूप प्राण को छान्दोग्य शाखावाले पढ़ते हैं, किन्तु वाजसनेय शाखावाले 'निःसन्देह प्रजापति रेतरूप से उत्पन्न होता है, इस प्रकार जो जानता है वह प्रजा और पशुओं से सम्पन्न होता है' इस वाक्य द्वारा पञ्चम रेतरूप प्राण का भी पाठ करते हैं । साथ ही, प्रजनन गुणवाले रेत का आवाप वाजसनेय शाखावाले करते हैं किन्तु छान्दोग्य शाखावाले उसका उद्वाप करते हैं । ऐसे अवाप-उद्वाप के भेद से वेद्य में भेद आता है और वेद्य के भेद से विद्या में भेद वैसे ही आता है जैसे द्रव्य और देवता के भेद से याग में भेद आता है ।

ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहता है तो इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि यह कोई दोष नहीं है क्योंकि एक विद्या में भी इस प्रकार का गुणभेद युक्तियुक्त सिद्ध होता है । यद्यपि बृहदारण्योक्त षष्ठ अग्नि का उपसंहार छान्दोग्य में सम्भव नहीं है फिर भी द्युलोकादि पाँच अग्नियों का उभयत्र प्रत्यभिज्ञान होने के कारण विद्या में भेद मानना ठीक नहीं । षोडशी पात्र के ग्रहण करने और न करने पर अतिरात्र यज्ञ भिन्न नहीं हो जाता और छान्दोग्य शाखावालों ने भी 'इस लोक से लोकान्तर गये हुए मृत पुरुष को सम्बन्धीजन अन्त्येष्टि के लिए श्मशान में ले जाते हैं' इस वाक्य के द्वारा षष्ठ अग्नि

१. षष्ठाग्निरूपः । २. मुख्यप्राणात् । ३. अल्परूभेदः । ४. पंचसंख्या विरोधात् । ५. विद्यायामंगीकारः । ६. तत्रास्वीकारः ।

(३६२) स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥३॥

वाजसनेयिनस्तु सांपादिकेषु पञ्चस्वग्निष्वनुवृत्तायाः समिद्धूमादिकल्पनाया [1]निवृत्तये '[2]तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समित्' (बृ० ६-२-१४) इत्यादि समामनन्ति स नित्यानुवादः। अथाप्युपासनार्थ एष वादस्तथापि स गुणः शक्यते छन्दोगैरप्युपसंहर्तुम्। न चात्र पञ्चसंख्याविरोध आशङ्क्यः। सांपादिकाग्न्यभिप्राया ह्येषा पञ्चसंख्या नित्यानुवादभूता न [3]विधिसमवायिनीत्यदोषः। एवं प्राणसंवादेष्वप्यधिकस्य गुणस्येतरत्रोपसंहारो न विरुध्यते। न चावापोद्वापभेदाद्वेद्यभेदो विद्याभेदश्चाशङ्क्यः। कस्यचिद्वेद्यांशस्यावापोद्वापयोरपि भूयसो वेद्यराशेरभेदावगमात्। तस्मादेकविद्यमेव ॥२॥

[4]यदप्युक्तमाथर्वणिकानां विद्यां प्रति [5]शिरोव्रताद्यपेक्षणादन्येषां च तदनपेक्षणाद्विद्याभेद

तत्राह—वाजसनेयिनस्त्विति। षष्ठाग्नेस्तद्विशेषस्य चानुवादमात्रत्वेनानुपास्यत्वात्पञ्चाग्नय एवोपास्या उभयत्रेति न रूपभेद इत्यर्थः। सविशेषस्य षष्ठाग्नेरुपास्यत्वेऽपि न रूपभेद इत्याह—अथापीति। द्युलोकादीनां पञ्चानामनग्नीनामग्नित्वसंपत्ति[6]विधिनैवार्थात्पञ्चत्वं संपत्तिकल्पिताग्नीनां सिद्धमनूद्यते न ध्येयत्वेन विधीयत इत्यर्थः। छन्दोगैर्वाजिशाखास्थं रेत उपसंहर्तव्यमित्युक्त्वाऽनुपसंहारेऽपि न विद्याभेद इत्याह—न चावापेति ॥२॥

एवं रूपभेदो न विद्याभेदक इत्युक्त्वा धर्मविशेषोऽपि न भेदक इत्याह—स्वाध्यायस्येति। गोदानवदध्ययनाङ्गत्वेन शिरोव्रतमाथर्वणिकानां सूत्रे विहितं न विद्याङ्गमित्यर्थः। अधिकाराच्चेति व्या-

---

का पाठ करते ही हैं। केवल वाजसनेय शाखावाले उपासना के योग्य पाँच अग्नियों में अनुवर्तमान समिधा-धूमादिकल्पना की निवृत्ति के लिए 'उस उपासक के लिए प्रसिद्ध अग्नि ही अग्नि है और प्रसिद्ध समिधा ही समिधा है' इस वाक्य द्वारा षष्ठाग्नि का पाठ करते हैं, वह नित्यानुवाद है। यदि उपासना के लिए यह षष्ठ अग्नि हो तो भी छान्दोग्य शाखावाले उसका उपसंहार कर ही सकते हैं। यहाँ पर पञ्चसंख्याविरोध की शङ्का नहीं कर सकते हैं क्योंकि साम्पादिक अग्नि के अभिप्राय से पञ्चसंख्या कही गयी है जो नित्यानुवादरूप है, वह विधि से सम्बन्ध नहीं रखती है, अतः यह दोष नहीं है। ऐसे ही प्राणसंवाद आदि प्रसङ्ग में भी तत्र-तत्र कहे गये अधिक गुण का उपसंहार अन्यत्र मानना विरुद्ध नहीं है। और अवाप-उद्वाप के भेद से वेद्य में भेद होता है और तत्पश्चात् विद्या में भी भेद आ जाता है, ऐसी शङ्का भी नहीं कर सकते क्योंकि किसी-किसी वेद्य अंश का अवाप-उद्वाप होने पर भी वेद्य और वेदिता अंश में अधिकाधिक अभेद ही जान पड़ता है। अतः वहाँ पर उपासना एक ही है, भिन्न नहीं है ॥२॥

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः (ललिता)

और जो आप ने कहा था कि आथर्वणिकों को उपासना के लिए शिरोव्रतादि की अपेक्षा होती है,

---

१. षष्ठेऽग्नाविति शेषः। २. षष्ठाग्नेः। ३. न ध्येयविध्यन्वयिनीत्यर्थः। ४. व्यावर्त्यं चोद्यमनुवदति यदपीति। ५. शिरोव्रतं शिरस्यग्निधारणमादिनाऽऽतपावस्थानादि गृह्यते। ६. समिद्धूमादेः। ७. विधिनैवेत्यस्यानूद्यत इत्युत्तरेणान्वयः।

इति, [1]तत्प्रत्युच्यते । स्वाध्यायस्यैष धर्मो न विद्यायाः। [2]कथमिदमवगम्यते । [3]यतस्तथात्वेन स्वाध्यायधर्मत्वेन समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे आथर्वणिका [4]इदमपि वेदव्रतत्वेन व्याख्यातमिति समामनन्ति । 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीयते' (मु० ३-२-११) इति चाधिकृतविषया-देतच्छब्दादध्ययन [5]शब्दाच्च स्वोपनिषदध्ययनधर्म एवैव इति निर्धार्यते । ननु च 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्' (मु० ३-२-१०) इति ब्रह्मविद्यासंयोग[6]श्रवणादेकैव सर्वत्र ब्रह्मविद्येति सकोर्येतैष धर्मः । न, तत्राप्येतामिति प्रकृतपरामर्शात् । प्रकृतत्वं च ब्रह्मविद्याया ग्रन्थविशेषापेक्षमिति ग्रन्थविशेषसंयोग्येवैष धर्मः । सववच्च तन्नियम इति निदर्शननिर्देशः । यथा च सवाः सप्त सौर्यादयः शतौदनपर्यन्ता वेदान्तरोदितत्रेताग्न्यनभिसंबन्धादाथर्वणोदितैकाग्न्यभिसंबन्धाच्चाथर्वणिकानामेव नियम्यन्ते तथैवायमपि धर्मः स्वाध्यायविशेषसंबन्धात्तत्रैव नियम्यते [9]तस्मादप्यनवद्यं विद्यैकत्वम् ॥३॥

चष्टे—नैतदिति । एतत्प्रकृतं मुण्डकमननुष्ठितशिरोव्रतो नरो नाधीत इति श्रुतेर्मुण्डकाध्ययनाङ्गमेव [1]शिरोव्रतमित्यर्थः । ननु विद्याङ्गत्वेनापि इदं व्रतं श्रुतमिति शङ्कते—नन्विति । सर्वशाखासु ब्रह्मविद्यैकैव चेद्विद्यासंयुक्तं व्रतमपि सर्वत्र सम्बध्येत । नच सम्बध्यत इति विद्याभेद इत्यर्थः । प्रकृतग्रन्थवाच्यैतच्छब्दबलाद्ब्रह्मप्रकाशग्रन्थपरो ब्रह्मविद्याशब्द इति परिहरति—नेति । तस्य शिरोव्रतस्य मुण्डकाध्ययने नियम इत्यत्र सववदिति निदर्शन[8]निर्देशः । सवा होमाः । आथर्वणैः स्वसूत्रे उदित एकोऽग्निरेकर्षिसंज्ञया प्रसिद्धस्तस्मिन्नग्नौ कार्या इति यथा नियम्यन्ते तथेत्यर्थः ॥३॥

दूसरों को अपेक्षा नहीं होती, अतः विद्या का भेद है, उसका उत्तर सुन लीजिए कि यह शिरोव्रत धर्म स्वाध्याय का अङ्ग है, उपासना का नहीं है । यह कैसे जान पड़ता है ? क्योंकि वेदव्रत-उपदेशपरक ग्रन्थ में आथर्वणिक स्वाध्याय के अङ्गरूप से ही 'अचीर्णव्रत पुरुष इसका अध्ययन न करे' इस वाक्य द्वारा शिरोव्रत को बतलाते हैं । यहाँ पर अधिकृतविषयक 'एतद्' शब्द और 'अध्ययन' शब्द आये हैं जिससे स्वशाखीय उपनिषद् अध्ययन का ही अङ्ग शिरोव्रत निश्चित होता है । पूर्वपक्ष—'उन्हीं को इस ब्रह्मविद्या का उपदेश करे जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत का अनुष्ठान किया हो, इस वाक्य द्वारा ब्रह्मविद्या के साथ शिरोव्रत का सम्बन्ध सुना जाता है और ब्रह्मविद्या सर्वत्र एक ही कही जाती है, अतः यह शिरोव्रत धर्म विद्या का ही अङ्ग है । सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, वहाँ पर भी प्रकृत का परामर्शक 'एताम्' पद है । प्रकरण ब्रह्मविद्या के ग्रन्थविशेष की अपेक्षा करता है, उसी ग्रन्थविशेष से सम्बद्ध यह शिरोव्रत धर्म है अर्थात् मुण्डक शाखा का अध्ययन करते समय ही शिरोव्रत का अनुष्ठान अपेक्षित है, अन्य शाखीय मन्त्रों के पढ़ते समय नहीं और न मुण्डकोक्त ब्रह्मविद्या का अनुष्ठान करते समय ही शिरोव्रत धर्म का अनुष्ठान अपेक्षित है । इस पक्ष की सिद्धि के लिए दृष्टान्त देते हैं कि जैसे सौर्यादि शतौदनपर्यन्त सात होम अथर्ववेद में कहे गये एकाग्नि से ही सम्बन्ध रखते हैं, अन्य वेदान्त में बतलाये गये त्रेताग्नि से सम्बन्ध नहीं रखते ऐसा नियम है वैसे ही यह शिरोव्रत धर्म भी मुण्डक शाखोक्त मन्त्रविशेष के अध्ययन काल से सम्बन्ध रखता है, वहीं पर इसका नियम मानना चाहिए । अतः ब्रह्मविद्या सभी उपनिषदों में एक ही निर्दुष्ट सिद्ध होती है ॥३॥

१. चोद्योत्तरत्वेन सूत्रमवतार्य व्याचष्टे तदिति । २. स्वाध्यायाङ्गत्वेन श्रुत्यादिभिरविनियोगेन तदङ्गतेति शङ्कते कथमिति । ३. तथात्वेनेत्यादिनोत्तरमाह यत इति । ४. शिरोव्रतम् । ५. अधीत इत्यध्ययनवाचकाच्छब्दाच्चेत्यर्थः । ६. तया सहोक्तव्रतस्य संबन्धश्रवणात् । ७. नामादिवद्धर्म भेदस्यापि भेदकत्वायोगात् । ८. न विद्याङ्गमित्येनकारार्थः । ९. ततश्चशिरोव्रतस्य संकरो नेति चकारार्थ इति शेषः ।

(३६३) दर्शयति च ॥४॥

दर्शयति च वेदोऽपि विद्यैकत्वं, सर्ववेदान्तेषु वेद्यैकत्वोपदेशात् 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (क० २-१५) इति, तथैतमेव 'बह्वृचा 'महत्युक्थे 'मीमांसन्त एतमग्ना'वध्वर्यव एवं 'महाव्रते 'छन्दोगा इति च। तथा 'महद्भयं 'वज्रमुद्यतम्' इति काठके (६-२) उक्तस्येश्वरगुणस्य भयहेतुत्वस्य तैत्तिरीयके भेददर्शननिन्दायै परामर्शो दृश्यते। 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते 'अथ तस्य भयं भवति।' 'त'वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' (तै० २-७-१) इति। यथा 'वाजसनेयके प्रादेशमात्रसंपादितस्य वैश्वानरस्य छान्दोग्ये सिद्धवदुपादानम् 'यस्त्वेतमेवं "प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' (छा० ५-१८-१)

किंच "वेद्यैक्येन निर्गुणब्रह्मविद्यैक्यं तावच्छ्रुतिर्दर्शयति, तत्संनिधिपाठात्सगुणविद्यानामपि सर्वशाखास्वैक्यसिद्धिरित्याह सूत्रकारः—दर्शयति चेति। सगुणमप्येकं वेदत्रये वेद्यं दर्शयतीत्याह—तथेति। किंच शाखान्तरोक्तपदार्थस्य शाखान्तरे सिद्धवत्परामर्शो विद्यैक्यं दर्शयतीत्याह—तथा महद्भयमित्यादिना। एष नर एतस्मिन्नद्वयेऽल्पमप्यन्तरं भेदं यदा पश्यत्यथ तदा तस्य संसारभयं भवत्येव, यस्माद्विदुषो नरस्य भेददर्शिनस्तदेव ब्रह्म भयंकरं भवति, ब्रह्मैवाहमित्यमन्वानस्येत्यर्थः। प्रादेशमात्रमुपास्त इति सिद्धवदुपादानं वैश्वानरविद्यैक्यं दर्शयतीत्याह—तथेति। किंच सर्वेषु वेदान्तेषूक्थादीनां प्रतीयमानत्वेन हेतुनैतदवगम्यते-अन्यत्रोक्तानां "तेषामन्यत्रोपास्त्यर्थमुपादानमिति। ततस्त-

---

दर्शयति च (ललिता)

सभी श्रुतियों में वेद्य वस्तु एक है, ऐसा स्वयं श्रुति दिखलाती है—'सभी वेद जिस पद को बतलाते हैं' और वैसे ही 'इसी का बह्वृच शाखावाले महान उक्थ में विचार करते हैं, यजुर्वेदीय ऋत्विज् इसी का विचार अग्नि में और छान्दोग्य शाखावाले इसी का विचार महाव्रत में करते हैं।' उसी प्रकार काठकोपनिषद् में उस परब्रह्म को 'महान भयदायक उद्यतवज्र' कहा है। भय के कारण पूर्वोक्त ईश्वरगुण का तैत्तिरीय उपनिषद् में भेददर्शन की निन्दा के लिए परामर्श देखा जाता है वहाँ पर कहा है कि 'जिस समय यह पुरुष इस ब्रह्मतत्त्व मे थोड़ा भेद करता है तब उसे भय होता है। मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा न मानने वाले भेददर्शी को वह ब्रह्म भयंकर प्रतीत होता है।' वैसे ही वाजसनेयक में प्रादेशमात्रसम्पादित वैश्वानर को छान्दोग्य में निर्विवाद की भाँति ग्रहण कर लिया है कि 'जो भी इस प्रकार प्रादेशमात्र अच्छी प्रकार परिमित वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है।' इससे सर्वत्र विद्यैक्य सिद्ध होता है। उसी प्रकार सभी श्रुतियों में ब्रह्मविद्यात्वेन अन्यत्र विहित उक्थादि का उपासनाविधान के लिए अन्यत्र उपादान होने के कारण प्रायदर्शनन्याय से सभी उपासनाओं में भी

---

१. ऋगध्येतारः। २. तन्नामके स्तोत्रे। ३. ध्यायन्ति। ४. यजुः। ५. शास्त्रविशेषे। ६. सामगाः। ७. षष्ठीवल्ली मंत्र २। ८. भेददर्शितोभयकारणमाह-तत्त्वेवेति। ९. बृ. ४-२-२. १०. एत सर्वात्मकमेवं यथोक्तगु मूर्द्धादिविशिष्टं प्रादेशमात्रम् प्रदेशैर्द्युमूर्द्धादिभिः प्रत्यगात्मतया मीयते ज्ञायते इति तथा तमभिविमानम् प्रत्यगात्मतया सर्वैः प्राणिभिर्मीयतेऽसौ तथा तं वैश्वानरम्। सर्वात्मकत्वाद्विश्वश्चासौ नरश्च सर्वकारणत्वेन विश्वेषां वाऽयं नरः सर्वेश्वरत्वाद्विश्वे वा नरा नियम्या यस्यासौ विश्वानरः स एव वैश्वानरस्तमुपास्ते। ११. वेद्यन्निर्गुणं ब्रह्म। १२. उक्थादीनाम्।

२. उपसंहाराधिकरणम् (सू० ५)

एकोपास्तावनाहार्या आहार्या वा गुणाः श्रुतौ । अनुक्तत्वादनाहार्या उपकारः श्रुतैर्गुणैः ॥
श्रुतत्वादन्यशाखायामाहार्या अग्निहोत्रवत् । विशिष्टविद्योपकारः स्वशाखोक्तगुणैः समः ॥

(३६४) उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥५॥

इति । तथा सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वेनान्यत्र विहितानामुक्थादीनामन्यत्रोपासनविधानायोपादानप्रायदर्शनन्यायेनोपासनानामपि सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वसिद्धिः ॥४॥

[1]इदं प्रयोजनसूत्रम् । स्थिते चैव [2]सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वे सर्वविज्ञानानामन्यत्रोदितानां

बुपास्तीनामपि सर्ववेदान्तप्रमाणकत्वेनैक्यं बाहुल्येन सिध्यतीत्याह—तथेति । ब्रह्मविद्यैक्यवदुक्थादिविद्यैक्यमित्यर्थः ॥४॥

सर्वशाखासु विद्यैक्यचिन्तायाः [3]फलमाह—उपसंहार इति । शाखाभेदेन समानविद्यायां श्रुता गुणा यथाश्रुति व्यवस्थिता उत एकत्राश्रुता इतरशाखात उपसंहर्तव्या इति संदेहे विद्यैक्येऽपि तत्र तत्रोक्तैरेव गुणैर्विद्योपकारसिद्धेः शाखाभेदेन गुणा व्यवस्थिता इति पूर्वपक्षः, तत्र प्रकृतविद्यैक्यचिन्तानैष्फल्यमिति फलम् । सिद्धान्तत्वेन [4]सूत्रं व्याचष्टे—स्थिते चेत्यादिना । गुणानां गुण्यविनाभावादेत-

---

सर्ववेदान्तप्रत्ययत्व की सिद्धि होती है अर्थात् ब्रह्मविद्या को एकता की भाँति उक्थादि विद्या में भी ऐक्य है ॥४॥

२. उपसंहाराधिकरण

१. **सङ्गति**—सभी शाखाओं में उपासना के अभेद से फल में भी अभेद ही होता है, यह बतलाने के लिए फलफलोभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. **विषय**—उपासनाओं के फल में भेदाभेद का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. **संशय**—क्या सर्वत्र उपासना में एकत्व सिद्ध हो जाने पर एक शाखागत उपासना के गुणों का अन्यशाखीय उपासना में उपसंहार करना चाहिए या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—वाजसनेयक के प्राण उपासना में रेतनामक गुण अधिक पढ़ा गया है जो छान्दोग्यगत प्राणोपासना में उपसंहरणीय नहीं है, उपासना का उपकार तो स्वशाखागत गुणों से ही हो जायेगा।

५. **सिद्धान्त**—एक शाखागत गुणों का दूसरी शाखा में श्रवण न होने पर भी परस्पर गुणों का उपसंहार होना चाहिए। जैसे अग्निहोत्रादि अनुष्ठान में शाखान्तरीय गुणों का उपसंहार होता है वैसे ही उपासना में भी करना चाहिए। स्वशाखागत गुणों से जिस प्रकार उपासना का उपकार होता है ऐसे ही शाखान्तरीय गुणों के चिन्तन से भी उपासना का उपकार होगा।

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च (ललिता)

सभी शाखाओं में विद्या एक है, इस निर्णय का फल अग्रिम सूत्र से बतलाते हैं कि जब इस

---

१. एतेन सक्षेपतोऽधिकरणतात्पर्यं प्रदर्शितम् । २. सर्ववेदान्तैः प्रतीयमानत्वे । ३. फलमिति पूर्वविचारफलमनेन सूत्रेणोच्यते तेन तद्वदेवास्य पादादिसङ्गतिरिति भावः । ४. सूत्रं समाने चेति सूत्रभागमित्यर्थः ।

३. अन्यथात्वाधिकरणम् (सू० ६-८)

एका भिन्नाथवोद्गीथविद्या छान्दोग्यकाण्वयोः । एका स्यान्नामसामान्यात्संग्रामादिसमत्वतः ।
उद्गीथावयवोंकार उद्गातेत्युभयोर्भिदा । वेद्यभेदेऽर्थवादादिसाम्यमत्राप्रयोजकम् ।

[1]विज्ञानगुणानामन्यत्रापि समाने विज्ञान उपसंहारो भवति । अर्थाभेदात् । [2]य एव हि तेषां गुणानामेकत्रार्थो विशिष्टज्ञानोपकारकः स एवान्यत्रापि । [3]उभयत्रापि हि तदेवैकं विज्ञानं [4]तस्मादुपसंहारः । विधिशेषवत् । यथाहि विधिशेषाणामग्निहोत्रादिधर्माणां तदेवैकमग्निहोत्रादि कर्म सर्वत्रेत्य[5]र्थाभेदादुपसंहरणमेवमिहापि । यदि हि विज्ञानभेदो भवेत्ततो विज्ञानान्तरनिबद्धत्वाद् गुणानां प्रकृतिविकृतिभावाभावाच्च न स्यादुपसंहारः । विज्ञानैकत्वे तु नैवमिति । अस्यैव तु प्रयोजनसूत्रस्य प्रपञ्चः [7]सर्वाभेदादित्यारभ्य भविष्यति ॥५॥

एकशाखास्था विद्या शाखान्तरोक्ततद्विद्यागुणवती, तदभिन्नत्वात्, तद्विद्यावदित्यनुमानाद्विद्यैक्ये गुणोपसंहारसिद्धिरित्यर्थः । प्रधानैक्ये तत्तदुपकारकाणामङ्गानामुपसंहारे दृष्टान्तमाह—विधिशेषवदिति । उक्तमेव व्यतिरेकमुखेनाह—यदि हीति । नन्वाग्नेययागाव[8]रुद्धानां गुणानां ततोऽभिन्ने सोमे प्राप्तिवद्विद्यान्तरस्थगुणानां विद्यान्तरे प्राप्तिः किं न स्यादित्यत आह—प्रकृतीति । प्रकृतिगुणानां विकारे प्राप्तिर्युक्ता विद्यानां तु प्रकृतिविकृतिभावासिद्धेर्न तत्प्राप्तिरित्यर्थः—नैवमिति । गुणानुपसंहारो नेत्यर्थः । उत्तरसूत्राणामनेन सूत्रेण पौनरुक्त्यं वारयति—अस्यैवेति ॥५॥

प्रकार सभी श्रुतियों में विद्यैक्य निश्चित हो गया तो अन्यत्र कथित सभी उपासनाओं के गुणों का उपसंहार अन्यत्र बतलाती गयी समान उपासना में कर लेनी चाहिए क्योंकि इनका प्रयोजन एक ही तो है अर्थात् उन गुणों का एकत्रप्रयोजन जो विशिष्टविज्ञान का उपकारक कहा गया है वही प्रयोजन अन्यत्र भी जब सिद्ध हो रहा है तो दोनों ही स्थलों में वही एक विज्ञान है, इसलिए गुणों का उपसंहार विधिशेष की भाँति कर लेना चाहिए । जैसे विधिशेष अग्निहोत्रादि धर्मों का उपसंहार तब किया जाता है जब निश्चित होता है कि वही अग्निहोत्रादि कर्म यहाँ भी है; ऐसे ही भिन्न-भिन्न शाखाओं में कही गयी उपासना एक है ऐसा निश्चित हो जाने पर एक स्थान में कहे गये गुणों का उपसंहार अन्यत्र कही गयी उसी उपासना में कर लेना निर्विवाद है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है । यदि उपासनाओं में भेद सिद्ध हो जाय तो उस उपासना से निबद्ध होने के कारण गुणों का उपसंहार नहीं होगा क्योंकि उन दोनों में प्रकृतिविकृतिभाव नहीं है, किन्तु उपासनाओं में अभेद निश्चित हो जाने पर अनुपसंहार का प्रसङ्ग नहीं आता । यह प्रयोजन सूत्र है, इसी का विस्तार 'सर्वाभेदादन्यत्रेमे' (ब्र० सू० ३-३-५-१०) इस सूत्र से लेकर पूरे पाद में किया जायेगा ॥५॥

३. अन्यथात्वाधिकरण

१. सङ्गति—विधि आदि की समानता से उपसना में एकत्व पहले कहा गया था, ऐसे ही 'उद्गीथविद्या' ऐसी समाख्या की समानता से भी विद्या में अभेद सिद्ध होगा । अतः पूर्व अधिकरण के साथ दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ होता है ।

१. विद्यागुणानाम् । २. प्रयोजनैक्यादित्यर्थस्तदेवाह य एवेति । ३. कथं व्यवस्थाया श्रुतानां गुणानामुपकारैक्यं तत्राह उभयत्रापीति । ४. गुणिद्वारा गुणानामपि प्रत्यभिज्ञायमानत्वात । ५. तद्धर्माणां तदुपकारकत्वरूपप्रयोजनैक्यात् । ६. एवं न उपसंहाराभावो नेत्यर्थः । सिद्धान्तिसमाप्त्यर्थं इति शब्दः । ७. ३-३-१० । ८. तद्यागगतानाम् ।

(३६५) अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥६॥

वाजसनेयके 'ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति' (बृ० १-३-१), 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति' (बृ० १-३-२) इति प्रक्रम्य वागादीन्प्राणानासुरपाप्मविद्धत्वेन निन्दित्वा मुख्यप्राणपरिग्रहः पठ्यते—"अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्' (बृ० १-३-७) इति । तथा छान्दोग्येऽपि—'तद्ध देवा उद्गीथ-

---

पूर्वं चोदनाद्यविशेषादुत्सर्गतो विद्यैक्यमुक्तं तस्यापवादं वक्तुमाह—अन्यथात्वमिति । अत्र वाजिना-मुद्गीथब्राह्मणं छन्दोगानमुद्गीथाध्यायं च विषयमाह—वाजेत्यादिना । "ते ह देवाः सात्त्विकवृत्तयः प्राणा अन्योन्यमुचुर्हन्तेदानीम'स्मिन्यज्ञे 'उद्गीथेनौद्गात्रेण कर्मणा रजस्तमोवृत्तिरूपानसुरानतीत्य देव-त्वं गच्छामः' इति ते चैवं निर्दोषमुद्गीथकर्तारमुपास्यं निर्धारयितुं कृतसंवादाः प्रथमं वाच्चं परीक्षित-वन्तस्त्वमौद्गात्रं नोऽस्माकं कुर्विति तया त्वनृतं कृतं तथा घ्राणचक्षुःश्रोत्रमनांस्यपि 'कामेनासुरपाप्मना ग्रस्तानीति निन्दित्वा आसन्यमास्ये 'भवं मुखमध्यस्थं प्राणमुपास्यं निर्धारितवन्त इत्यर्थः । 'तत्त्रान्योन्या-भिभवात्मके युद्धे प्रवृत्ते देवाः पूर्ववदुद्गीथमाहृतवन्तः, अनेनोग्दीथेने'नानसुराञ्जयेमेत्यर्थः ।'भेदाभेदमा-

---

२. **विषय**—उद्गीथविद्या के भेदाभेद का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—छान्दोग्य तथा बृहादारण्यक में आयी हुई **उद्गीथविद्या** भिन्न है अथवा अभिन्न है ?

४. **पूर्वपक्ष**—उद्गीथ नाम एवं देवासुर संग्रामादि आख्यान की समानता को देखते हुए दोनों शाखाओं की **उद्गीथविद्या** एक ही माननी चाहिए ।

५ **सिद्धान्त**—छान्दोग्य में उद्गीथावयव ॐकार की प्राणदृष्टि से उपासना कही गयी है, किन्तु बृहदारण्यक में सम्पूर्ण उद्गीथ भक्ति की उपासना बतलायी गयी है; अतः वेद्य के भेद से उपासना भिन्न है । संग्रामादि की समानता उपासना के अभेद का प्रयोजक नहीं है क्योंकि वह अर्थवाद है; अतः दोनों शाखाओं में **उदगीथविद्या** भिन्न ही है, एक नहीं है ।

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्

'चोदनाद्यविशेषात्' इस सूत्र से उत्सर्गतः उपासना में ऐक्य पहले कहा गया था, उसी का अप-वाद अग्रिम सूत्र से बतलाते हैं। सात्त्विकवृत्तियाँरूप उन देवताओं ने कहा कि इस यज्ञ में औद्गात्र कर्मरूप उद्गीथ के द्वारा हम रजस्तमोवृत्तिरूप असुरों को जीतकर देवत्व प्राप्त कर लेंगे' ऐसा निश्चय करके 'उन देवताओं ने वाणी से कहा कि तू हमारे लिए उद्गान कर, वाणी ने स्वीकार कर लिया' इस वाक्य द्वारा वाजसनेयक में प्रसङ्ग प्रारम्भकर वागादि इन्द्रियों को आसुरपापविद्ध बतलाकर उनकी निन्दा करते हुए मुख्य प्राण का परिग्रह पढ़ा गया है, वहाँ पर कहा है कि 'वागादि इन्द्रियों के असुरों से परास्त होने के बाद इस मुख के भीतर चलने वाले मुख्य प्राण से उन देवताओं ने कहा कि तू हमारे लिए उद्गान कर, मुख्य प्राण ने उनके आवेदन को स्वीकार कर लिया और उसने उन इन्द्रियों की विजय के लिए उद्गान किया भी ।' वैसे ही छान्दोग्य में भी 'इन्द्रियाँरूप देवताओं ने उद्गीथ का

---

१. वागादीनामनुपास्यत्वनिश्चयानन्तरम् । २. प्रकृता वागादयः प्राणाः । ३. अभिचारिके । ४. उद्गीथाख्य-भक्तिलक्षणेन । ५. स्वस्वविषयेण । ६. मुखान्तर्बिलस्थं मुख्यप्राणाभिमानि नींदेवतामिति यावत् । ७. छांन्दोग्यवाक्यं व्याचष्टे तदिति । ८. उद्गीथं तल्लक्षितं कर्म एनानस्वाभाविकेन्द्रियवृत्तिलक्षणानित्यर्थः ।

माजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम:' (छा० १-२-१) इति प्रक्रम्येतरान्प्राणानासुरपाप्मविद्धत्वेन निन्दित्वा तथैव मुख्यप्राणपरिग्रहः पठ्यते—'अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे' (छा० १-२-७) इति । उभयत्रापि च प्राणप्रशंसया प्राणविद्याविधिरध्यवसीयते । तत्र संशयः—किमत्र विद्याभेदः स्यादाहोस्विद्विद्यैकत्वमिति ।

किं तावत्प्राप्तं पूर्वेण न्यायेन विद्यैकत्वमिति । ननु न युक्तं विद्यैकत्वं प्रक्रमभेदात् । [1]अन्यथा हि प्रक्रमन्ते वाजसनेयिनोऽन्यथा छन्दोगाः '[2]त्वं न उद्गाय' (बृ० १-३-२) इति वाजसनेयिन [3]उद्गीथस्य कर्तृत्वेन प्राणमामनन्ति । छन्दोगास्तू[4]द्गीथत्वेन 'तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे' (छा० १-२-७) इति । तत्कथं विद्यैकत्वं स्यादिति चेत् । नैष दोषः । [5]न ह्ये[6]ता-

---

नाभ्यां संशयमाह—तत्रेति । अत्र पूर्वाधिकरणसिद्धान्तन्यायेनोद्गीथविद्येति संज्ञैक्येन विद्यैक्यमिति पूर्वपक्षे मिथोगुणोपसंहारः फलं, सिद्धान्ते संज्ञैक्येऽपि विद्यैक्यापवादादनुपसंहार इति ।

एवं यत्र पूर्वन्यायेन पूर्वपक्षः तत्रापवादिकी संगतिरिति मन्तव्यम् । सूत्रस्थसिद्धान्तिशङ्काभागं व्याचष्टे—ननु न युक्तमिति । संपूर्णोद्गीथकर्मकर्ता प्राणो वाजिनामुपास्यः, उद्गायेति कर्तृशब्दाच्छन्दोगानां तूद्गीथावयव ॐकारः प्राणदृष्टचोपास्यः, ॐमित्येतदक्षरमुद्गीथमित्युपक्रम्य [7]प्राणमुद्गीथमिति कर्मरूपत्वशब्दात् तथा च कर्तृकर्मणोरुपास्ययोर्भेदाद्विद्ययोरन्यथात्वं भेद इति शङ्कार्थः । उद्गीथत्वेनेति ॐकारत्वेनेत्यर्थः । अल्परूपभेदो न विद्यैक्यविरोधीत्युक्तन्यायेन पूर्वपक्षी परिहरति—नैष इति । असुरात्ययाभिप्रायः असुरजयार्थं संवादः, यथाऽश्मानं प्राप्य लोष्टो विध्वंसते तथा प्राणं हन्तुमागता असुरास्तस्य वीर्येण स्वयमेव ध्वस्ता इति श्रुतमुभयत्रेत्यर्थः । अल्परूपभेदमङ्गीकृत्यापि

आयोजन किया कि हम इसके द्वारा अपने इन शत्रुओं को पराभूत कर डालेंगे' इस वाक्य द्वारा प्रसङ्ग प्रारम्भकर वागादि इतरप्राण का आसूरपापविद्धत्व बतलाकर निन्दा करते हुए वाजसनेयक की भाँति ही 'तत्पश्चात् जो यह मुख्य प्राण है, उद्गीथ मानकर उसी की उपासना सभी ने की' इस वाक्य द्वारा मुख्य प्राण का परिग्रह कहा है। दोनों ही स्थल में मुख्य प्राण की प्रशंसा से यह निश्चित हो जाता है कि यहाँ पर प्राण उपासना का विधान है। वहाँ पर संशय होता है कि इन दोनों स्थलों में उपासना भिन्न है अथवा अभिन्न है।

इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि पूर्वोक्त न्याय से दोनों ही स्थलों में उपासना अभिन्न जान पड़ती है । शङ्का—प्रक्रमभेद के कारण उक्त स्थलों में उपासना अभिन्न मानना ठीक नहीं क्योंकि वाजसनेय शाखावाले अन्य प्रकार से प्रसङ्ग प्रारम्भ करते हैं तथा छान्दोग्य शाखावाले और प्रकार से प्रसङ्ग प्रारम्भ करते हैं । उनमें से वाजसनेय शाखावालों ने 'तू हमारे लिए उद्गान कर' इस वाक्य से उद्गीथ के कर्तारूप में प्राण को बतलाते हैं, किन्तु छान्दोग्य शाखावाले 'उस उद्गीथ की उपासना की' इस वाक्य द्वारा उद्गीथत्वेन प्राण को बतलाते हैं। ऐसी स्थिति में दोनों को एक उपासना कैसे कह सकोगे । समाधान (पूर्वपक्ष)—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि इतना भेद रहने

---

१. तद्भेदमेव प्रदर्शयति अन्यथेति । २. प्रक्रमान्यथात्वमेव स्फोरयति त्वमिति । ३. सर्वस्याः भक्तेः । ४. उद्गीथावयवो योऽयमोकारस्तथात्वेन । ५. अविशेषादिति हेतुभागं व्याचष्टे न हीति । ६. एतावतेति क्वचित्कर्मत्वेनोपास्यत्वमन्यत्र कर्तृत्वेनेत्येतावन्मात्रेण । ७. तमुद्गीममुपासाभित्यत्र तमिति प्राणा परामर्शादाह प्राणेति ।

(३६६) न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥७॥

वता विशेषेण विद्यैकत्वमपगच्छति । अविशेषस्यापि बहुतरस्य प्रतीयमानत्वात् । [1]तथाहि—देवासुरसंग्रामोपक्रमत्वमसुरात्ययाभिप्राय उद्गीथोपन्यासो वागादिसंकीर्तनं तन्निन्दया मुख्यप्राणव्यपाश्रयस्तद्वीर्याच्चासुरविध्वंसनमश्ममृल्लोष्टनिदर्शनेनेत्येवं बहवोऽर्था उभयत्राप्यविशिष्टाः प्रतीयन्ते । वाजसनेयकेऽपि चोद्गीथसामानाधिकरण्यं प्राणस्य श्रुतम्—'[2]एष उ वा उद्गीथः' (बृ० १-३-२३) इति । [3]तस्माच्छान्दोग्येऽपि कर्तृत्वं [4]लक्षयितव्यम् । [5]तस्माच्च विद्यैकत्वमिति ॥६॥

[6]न वा विद्यैकत्वम[7]त्र न्याय्यं विद्याभेद एवात्र न्याय्यः । कस्मात् ? प्रकरणभेदादिति । प्रक्रमभेदादित्यर्थः । [8]तथाहि—[9]इह प्रक्रमभेदो दृश्यते । छान्दोग्ये तावत्—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १-१-१) इत्येवमुद्गीथावयस्योंकारस्योपास्यत्वं प्रस्तुत्य रसतमा-

विद्यैक्यमुक्तं "सोऽपि नास्तीत्याह—वाजेति । उद्गीथकर्तृरूपत्वेन प्राणस्योभयत्र श्रुतत्वादेकत्र श्रुतं कर्तृत्वमप्युभयत्र द्रष्टव्यमित्यर्थः ॥६॥

बहुविरुद्धरूपभेदात् न विद्यैक्यमिति सिद्धान्तयति—न वेति । अक्षरं विशिनष्टि—उद्गीथमिति । "तदवयवमित्यर्थः । "पृथिव्यादिरसानां रसतम ॐकारः, आप्तिः समृद्धिरिति गुणानुक्त्वा गुणवत्यो-

मात्र से उपासना का एकत्व दूर नहीं होता, अनेकों विशेषण दोनों ही स्थल में समान प्रतीत होते हैं । देवासुर संग्राम से प्रसङ्ग प्रारम्भ करना, असुरों का पराभूत करने का अभिप्राय, उद्गीथ का वर्णन, वागादि का संकीर्तन, उनकी निन्दापूर्वक मुख्य प्राण का आश्रय लेना और मुख्य प्राण की शक्ति से असुरों का विध्वंस होना, एतदर्थ पत्थर और ढेले का उदाहरण; ऐसे अनेकों अर्थ दोनों स्थल में समान प्रतीत होते हैं । इसके अतिरिक्त 'निःसन्देह यही प्राण उद्गीथ है' इस वाक्य द्वारा वाजसनेय में भी प्राण का उद्गीथ के साथ सामानाधिकरण्य कहा गया है । अतः छान्दोग्य में भी प्राण में कर्तृत्व की लक्षणा कर लेनी चाहिए । इसलिए दोनों ही स्थलों में उपासना का एकत्व सिद्ध होता है ॥६॥

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्

पूर्वोक्त पूर्वपक्ष पर सिद्धान्ती अग्रिम सूत्र से कहता है कि यहाँ पर उपासनैकत्व मानना ठीक नहीं प्रत्युत उपासना में भेद मानना ही उचित होगा क्योंकि प्रक्रम का भेद दीखता है । छान्दोग्य में 'ॐ इस उद्गीथावयवरूप अक्षर की उपासना करे' इस वाक्य द्वारा प्रसङ्ग प्रारम्भ किया गया है

१. बहुतरां विशेषप्रतीतिमेव स्पष्टयति तथा हीति । २. प्राणः बृ० १-३-१३ । ३. उद्गीथत्वेन श्रुतेरुभयत्राविशेषाद्यदेकत्र कर्तृत्वं तदितरत्रापि लक्ष्यं तथा च प्राणस्य कर्तृत्वेन कर्मत्वेन च ध्यानं शास्त्रात् । ४. उपसंहर्तव्यम् । ५. उभयत्रापि वेद्यरूपाविशेषात् । ६. वा शब्दस्यावधारणार्थत्वमुपेत्य प्रतिज्ञां विभजते न वेति । ७. अत्र प्रकृत शाखाद्वये । ८. शाखाद्वये प्रक्रमभेद दर्शयति तथा हि । ९. शाखाद्वये । १०. अल्परूप भेदोपीत्यर्थः । ११. ॐकार मति यावत् । १२. पृथिव्यादिति भूत्पृथिव्योषधि पुरुषं वागृक्सासामानां पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरमुत्तरं सारतयोक्त्वा तेषामोङ्कारं सारतमत्वे नोपदिश्यतमेव पुनराप्ति समृद्ध्यादि गुणकत्वेनोपदिश्य ध्येयमाख्यापिकया निर्धायोद्गीथोपास्ति ख्यातारितेति भावः ।

विगुणो'पव्याख्यानं च तत्र कृत्वा 'अथ 'खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' (छा० १-१-१०) इति पुनरपि तमेवोद्गीथावयवम् ॐकारमनुवर्त्य देवासुराख्यायिकाद्वारेण ''तम् प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे' (छा० १-२-२) इत्याह। 'तत्र यद्युद्गीथशब्देन सकला सामभक्तिरभिप्रेयेत 'तस्याश्च 'कर्तोद्गात'त्विक्तत उपक्रम'श्चोपरुध्येत, लक्षणा च प्रसज्येत। उपक्रमानुरोधेन चैकस्मिन्वाक्ये उपसंहारेण भवितव्यम्। 'तस्माद''त्र तावदुद्गीथावयवे ॐकारे प्राणदृष्टिरुपदिश्यते' वाजसनेयके तु उद्गीथशब्देनावयवग्रहणे ''कारणाभावात्सकलैव भक्तिरावेद्यते।

ङ्कारे प्राणदृष्टिविधानायाख्यायिका प्रस्तुतेत्याह—रसतमेति। ननु वाजिवाक्यैकवाक्यत्वार्थं छान्दोग्योपक्रमस्थमुद्गीथपदं संपूर्णसामभक्तिपरमस्तु, प्राणमुद्गीथमित्यत्राप्युद्गीथकर्ता प्राण उपास्य इति व्याख्यायतामित्यत आह—तत्र यद्युद्गीथेति। ॐकारोपास्त्युपक्रमभङ्ग उद्गीथपदे कर्तृलक्षणा चेति दोषद्वयं स्यादित्यर्थः। ननु सिद्धान्तेऽपि ''तत्पदेऽवयवलक्षणा स्वीकार्या ततो वरं कर्तृलक्षणा ''श्रुत्यन्तरानुग्रहात्तथा चोपसंहारे कर्तृप्राणोपास्तिनिश्चयादुपक्रमेऽपि तन्निश्चय इत्यत आह—उपक्रमेति। संदिग्धोपक्रमो हि वाक्यशेषान्निश्चीयते। यथा 'अक्ताः शर्कराः' इत्यत्राञ्जनद्रव्यसंदेहे 'तेजो घृतम्' इति शेषान्निश्चयः। इह तूपक्रमेऽक्षरस्योपास्यत्वं निश्चितं, तत्समानाधिकरणोद्गीथपदस्यावयवलक्षणा च विनिश्चितेति प्राणमुद्गीथमित्युपसंहारस्तदेकार्थतया नेय इत्यर्थः। एवं छान्दोग्ये ॐकार उपास्य उक्त इतरत्र तु प्राण इत्युपास्यभेदाद्विद्याभेद इत्याह—वाजेति। यदुक्तं वाजिश्रुतावपि प्राणस्योद्गीथरू-

ओर उद्गीथावयव ॐकार को उपास्य बतलाकर रसतमादि गुणोपव्याख्यान के बाद कहा है कि 'इस अक्षर ॐकार का ही उपव्याख्यान किया जाता है।' तत्पश्चात उसी उद्गीथावयव ॐकार का अनुवर्तनकर देवासुर आख्यायिका द्वारा कहा है कि 'उस प्राण उद्गीथ की उपासना सभी देवताओं ने की।' वहाँ पर यदि उद्गीथ शब्द से सकल सामभक्ति ग्रहण करना अभिप्रेत होता तो उसका कर्ता उद्गाता ऋत्विक् प्राण माना जाता, उससे उपक्रम का उपरोध भी हो जाता एवं लक्षणा का प्रसङ्ग भी उपस्थित हो सकता था। एक वाक्य में उपक्रमानुरोध से उपसंहार की सङ्गति लगायी जाती है। अतः यहाँ पर उद्गीथावयव ॐकार में प्राणदृष्टि का उपदेश किया है, किन्तु वाजसनेयक में उद्गीथ शब्द

१. उपास्योपकारकाणां रसतमत्वादिगुणानां विस्पष्टमाख्यानं चोक्तोपास्ये कृत्वेत्यर्थः। २. इत्येवं खलूपासनोपयुक्तरसतमत्वादिगुणविशिष्टस्यैवाक्षरस्य विस्पष्ट व्याख्यानम्भवतीत्यर्थः। ३. ते देवाः तं प्राणम्। नासिकाभिमानिन देवमुद्गीथम् तदवयवमोङ्कार नासिक्यप्राणदृष्ट्योपासितवन्त इत्यर्थः। ४. तत्रेति छान्दोग्योपक्रमवाक्य इत्यर्थः। ५. भक्तेः। ६. गानकर्ता। ७. उदगातृकर्मकर्तोदगाथाख्यः प्राण ऋत्विक् उच्येतेति शेषः। ८. वक्ष्यमाणदोषसमुच्चयार्थश्चकारः। ९. तस्मादिति उपसंहारस्योपक्रमाधीनत्वात्। १०. अत्र ओमित्येतदक्षरमुदगीथमुपासीतेत्यत्र। ११. कारणाभावादिति ओमित्येतदक्षरमित्युपक्रमस्यावयवार्थत्वात्तमुदगीथमुपासामित्यत्रोदगीथशब्देनावयवो गृहीतः, उदगीथेनात्ययामेतीत्यत्र तु तथा हेत्वदृष्टत्वात्सकलविभक्तिविषयत्वमेव तस्येत्यर्थः। १२. उद्गीथ। १३. एष उ वा उद्गीथ इत्युक्तं श्रुत्यन्तरम्।

"त्वं न उद्गाय" (बृ० १-३-२) इत्यपि तस्याः कर्तोद्गातर्त्विक्प्राणत्वेन निरूप्यत इति [१]प्रस्थानान्तरम्। यदपि [२]तत्रोद्गीथसामानाधिकरण्यं प्राणस्य तदप्युद्गातृत्वेनैव दिदर्शयिषितस्य सर्वात्मत्वप्रतिपादनार्थमिति न विद्यैकत्वमावहति सकलभक्तिविषय एव च [३]तत्रा[४]प्युद्गीथशब्द इति [५]वैषम्यम्। नच प्राणस्योद्गातृत्वमसंभवेन हेतुना परित्यज्यत उद्गीथभाववदुद्गातृभावस्याप्युपासनार्थत्वेनोपदिश्यमानत्वात् [८]प्राणवीर्येणैव चोद्गातौद्गात्रं कर्म करोतीति नास्त्यसम्भवः। [८]तथाच तत्रै[९]व श्रावितम्—"[१०]वाचा च ह्येव स [११]प्राणेन [१२]चोदगायत्" (बृ० १-३-२४) इति। नच [१३]विवक्षितार्थभेदेऽवगम्यमाने वाक्यच्छाया[१४]नुकारमात्रेण समानार्थत्वमध्यवसातुं युक्तम्। तथाह्य[१५]भ्युदयवाक्ये [१६]पशुकामवाक्ये च—'त्रेधा

पत्वश्रुतेरुपास्यैक्यमिति तद्दूषयति—यदपीत्यादिना। तत्रोद्गीथ उपास्यतया नोक्तः, किन्तु प्राणस्योपास्यस्य गुणतयेत्यर्थः। किंचोद्गीथ ॐकारश्छान्दोग्येऽत्र तु भक्तिरित्युपास्यभेद इत्याह—सकलेति। प्राणस्य जडत्वान्नोद्गातृत्वं किंतूद्गीथत्वमेव वाजिभिरपि ग्राह्यमित्यैक्यमाशङ्क्याह—नचेति। स उद्गाता वाग्विशिष्टप्राणेनौद्गात्रं कृतवानिति श्रुतेरसंभवोऽपि नेत्यर्थः। यदुक्तं बहुतरार्थाविशेषाद्धि विद्यैक्यमिति, तत्राह—नचेति। [१७]एकत्रोद्[१८]गाता प्राण उपास्योऽ[१९]न्यत्रोङ्कार इत्यन्तरङ्गोपास्यरूपभेदे स्पष्टे सति बहिरङ्गार्थवादसाम्यमात्रेण नोपासनैक्यं युक्तमित्यर्थः। वाक्यसाम्यमात्रेणार्थैक्यं नास्तीत्यत्र दृष्टान्तमाह—तथाहीति। 'वि वा एतं प्रजया पशुभिरर्धयति

से उद्गीथावयव ग्रहण करने में कोई कारण नहीं दीखता है, इसीलिए सम्पूर्ण सामभक्ति उद्गीथ अर्थ का ही बोध होता है। 'तू हमारे लिए उद्गान कर' इस वाक्य द्वारा उस सामभक्ति उद्गीथ का कर्ता उद्गाता ऋत्विक् प्राणरूप से बतलाया गया है। वहाँ पर भी प्राण में उद्गीथसामानाधिकरण्य जो कहा गया है वह भी उद्गाता के रूप में ही प्राण को बतलाने के लिए है क्योंकि प्राण को सर्वात्मा बतलाना श्रुति को अभीष्ट है। अतः दोनों ही स्थलों में श्रुति उपासनैकत्व नहीं कहती और उस समानाधिकरण में भी सम्पूर्ण सामभक्ति को ही उद्गीथ शब्द विषय करता है, अतः दोनों स्थलों में साम्य नहीं है। असम्भव होने के कारण जड़ प्राण में उद्गातृत्व का परित्याग नहीं कर सकते, उस जड प्राण में जैसे उद्गीथभाव उपासना के लिए कहा गया है वैसे ही उद्गातृत्व भी उपासना के लिए ही कहा गया है। आखिर उद्गाता औद्गात्र कर्म प्राण की शक्ति से ही तो करता है, अतः जड प्राण में उद्गातृत्व असम्भव नहीं है। इसीलिए श्रुति ने वहाँ पर ही सुनाया कि 'वाणी और प्राण के द्वारा उसने उद्गान किया।' और इस प्रकार जब विवक्षितार्थभेद अवगत हो रहा है तो वाक्यछाया अनुकरणमात्र से बृहदारण्यक और छान्दोग्य में समानार्थत्व का निश्चय करना उचित नहीं है, इसलिए तो

१. यदुक्तमिहापि नोद्गातुरास्त धीरिति तत्राह त्वमिति। २. तत्त्वं चोभयत्र विद्यानानात्वम्। ३. तत्र वाजसनेयके। ४. एष उ वा उद्गीथ इत्यत्र। ५. उद्गीथेनात्ययामेति वाक्यदृष्टान्तार्थोऽपिशब्दः। ६. वैषम्यमुभयत्र विद्यानानात्वम्। ७. असम्भवमुपेत्य वाचनिक मुद्गातृत्वमित्युक्तमिदानीमसम्भवोपि नास्तीत्याह प्राणेति। ८. औद्गात्रमुदगाता प्राणवीर्येण करोतीत्येतदेवं कथं तत्राह तथा चेति। ९. उद्गीथप्रकरण एव। १०. प्राणप्रधानया वाचा। ११. आत्मभूतेन प्राणेन। १२. औद्गात्रं कृतवान्। वाग्विशिष्टप्राणेनौद्गात्रं कर्म कृतवानिति श्रुतेरसम्भवोऽपिनेत्यर्थः। १३. विवक्षितार्थ स्यान्तरङ्गोपास्य स्वरूपस्य भेदेऽवगम्यमाने इत्यर्थः। १४. सादृश्यमात्रेण। १५. अभ्युदयवाक्य इति चन्द्रमाः पश्चादभ्युदेतीति पदघटितवाक्ये। १६. पशुकामेति पशुकामस्येष्टिविधायके वाक्य इत्यर्थः। १७. वाजसनेयके। १८. तत्कर्म कर्ता। १९. छान्दोग्ये।

तण्डुलान्विभजेद् 'ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात्' इत्यादिनिर्देशसाम्येऽप्युपक्रमभेदादभ्युदयवाक्ये देवतापनयोऽध्यवसितः, पशुकामवाक्ये तु यागविधिः। तथेहाप्युपक्रमभेदाद्विद्याभेदः। परोवरीयस्त्वादिवत्। यथा परमात्मदृष्ट्य[1]ध्याससाम्येऽपि 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' (छा० १-९-१) 'स एष परोवरीयानुद्गीथः

वर्धयत्यस्य भ्रातृव्यं यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति' 'त्रेधा तण्डुलान्विभजेद्ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्याद्ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुं 'येऽणिष्ठास्तान्विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्' इत्यभ्युदयवाक्यम्। अस्यार्थः—यस्य यजमानस्य चतुर्दश्यामेवामावास्याभ्रान्त्या दर्शकर्मार्थं प्रवृत्तस्य पुरस्तात्पूर्वं हविस्तण्डुलदधिपयोरूपं निरुप्तं दर्शदेवताभ्योऽग्न्यादिभ्यः सङ्कल्पितं चन्द्रमाश्च पश्चाद[3]भ्युदेति तमेतं यजमानं कालव्यत्ययापराधात्तदेव निरुप्तं हविः प्रजादिनाऽवर्धयति वियोजयति शत्रुं चास्य वर्धयति यस्मात्कालभ्रान्तिमान्[4]यजमानः, ये मध्यमादिभावेन त्रेधा भूतास्तण्डुला दध्यादिसहिता निरुप्तास्तान्विभजेद[5]ग्न्यादिभ्यो वियोजयेद्वियोज्य च दातृत्वादिगुणकाग्न्यादिभ्यो दर्शदेवभिन्नेभ्यो निर्वपेदिति दधन् दधानि स्थविष्ठतण्डुलचरुं शृते दुग्धेऽणिष्ठचरुमित्यर्थः। अत्र [7]कालापराधे [8]देवान्तरयुक्तं प्रायश्चित्तरूपं दर्शाद्भिन्नं कर्म विधीयत इति प्राप्ते तण्डुलत्रेधात्वाद्यनुवादेन विभजेदिति हविषः प्रकृतदेववियोगेन तस्मिन्नेव दर्शकर्मणि देवतान्तरसंबन्धमात्रविधानं न कर्मान्तरमिति सिद्धान्तितम्। एवमभ्युदयवाक्ये कालापराधेनोपक्रमाद्दर्शकर्मण्येव हविषः पूर्वदेवताभ्योऽपनयो वियोगोऽध्यवसितः, पशुकामवाक्ये तु यद्यपि ये स्थविष्ठास्तानग्नये सनिमतेऽष्टाकपालं निर्वपेद्य मध्यमास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुं ये क्षोदिष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुमिति निर्देशोऽभ्युदयवाक्येन समोऽस्ति, तथापि यः पशुकामः स्यात्सोऽमावास्यामिष्ट्वा वत्सानपाकुर्यादिति नित्यं दर्शकर्म समाप्य पुनर्दोहार्थं वत्सापाकरणविध्युपक्रमात्पशुकामस्य यागान्तरविधिरेव नाभ्युदयवाक्येनार्थैक्यमिति तथा प्रकृतेऽपि निर्देशसाम्यं न विद्यैक्यप्रयोजकमित्यर्थः। वत्सानपकुर्यान्मातृदेशाद्देशान्तरं नयेदित्यर्थः। सूत्रोक्तं दृष्टान्तं व्याचष्टे—परोवरीयस्त्वादिवदिति। पर इति सकारान्तं परस्मात् परश्चासौ वराच्च वरतर इति परोवरीयानित्येकं पदम्। अनन्तश्च आकाशाख्यः परमात्मा तद्दृष्ट्यालम्बनत्वादुद्गीथस्तथोक्त

अभ्युदय वाक्य और पशुकाम वाक्य में 'तीन भागों में तण्डुल का विभाग करे उनमें जो मध्यम भाग है उसे फलदाता अग्नि देवता के लिए अष्टकपाल पुरोडाश बनाव' इत्यादि निर्देश समान रहने पर भी उपक्रमभेद रहने के कारण अभ्युदयवाक्य में देवता का अपनय (वियोग) निश्चित किया गया है किन्तु पशुकामवाक्य में याग का विधान है, देवतावियोग नहीं है। वैसे ही छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक में उपक्रम के भेद से उद्गीथ उपासना में भेद ही मानना चाहिए। इस सिद्धान्त पक्ष को समझाने के लिए परोवरीयस्त्वादि दृष्टान्त दिया गया है अर्थात् जिस प्रकार 'इन सभी पदार्थों से आकाश श्रेष्ठ है, वही सबका अन्तिम विलयस्थान है' और 'वह सर्वश्रेष्ठ उद्गीथ है, वह अनन्त है' इन वाक्यों द्वारा

---

१. अध्याससाम्येऽपीति आकाशे आदित्यादौ च परमात्मदृष्टेरारोपादुद्गीथोपास्तिसाम्येऽपि अक्ष्यादित्यगतहिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशिष्टोद्गीथोपासनतः परोवरीयस्त्वादिगुणविशिष्टोद्गीथोपासनं भिन्नं तथेहापीत्यर्थः। २. ये क्षोदिष्टातानिति पाठान्तरम्। ३. आभिमुख्येनोदेति। ४. यजमान इत्यनन्तरं तथा चासौ भ्रान्त इतिशेषः। ५. दर्शदेवताभ्यः। ६. अभ्युदयवाक्ये। ७. कालातिक्रमाप। ८. दर्शे प्रकृता येऽग्न्यादयो देवास्तेभ्योऽन्यदेवयुक्तमित्यर्थः।

(३६७) संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥८॥

स एषोऽनन्तः' (छा० १-९-२) इति परोवरीयस्त्वगुणविशिष्टमुद्गीथो[1]पासनमक्ष्यादित्यादिगतहिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणशिष्टोद्गीथोपासनाद्भिन्नम् । [2]न चेतरेतरगुणोपसंहार [3]एकस्यामपि शाखायां तद्वच्छाखान्तरस्थेष्वप्येवंजातीयकेषूपासनेष्विति ॥७॥

अथोच्येत संज्ञैकत्वाद्विद्यैकत्वम[4]त्र न्याय्यमुद्गीथविद्येति ह्यु[5]भयत्राप्येका संज्ञेति[6]तदपि नोपपद्यते। [7]उक्तं ह्ये[8]तत्—न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्' (ब्र० सू० ३-३-७) इति । [9]तदे[10]वचात्र न्याय्यतरं श्रुत्यक्षरा[11]नुगतं हि [12]तत्संज्ञैकत्वं तु श्रुत्यक्षराबाह्यमु[13]द्गीथशब्दमात्रप्रयोगाल्लौकिकैर्व्यवहर्तृ[14]भिरुप[15]चर्यते। [16]अस्ति चैतत्संज्ञैकत्वं प्रसिद्धभेदेष्वपि परोवरीयस्त्वाद्युपासनेषूद्गीथविद्येति। [17]तथा प्रसिद्धभेदानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां काठकैकग्रन्थपरि-

---

इत्यर्थः । आकाशात्मना हिरण्यश्मश्रुपुरुषात्मना चोद्गीथोपासितसाम्येऽपि विद्याभेदवदिहापि भेद इत्यर्थः ॥७॥

संज्ञैक्यं पूर्वपक्षबीजमुद्भाव्य दूषयति—संज्ञात इति । उपास्यरूपभेदाद्विद्यानानात्वं यदुक्तं तच्छ्रुत्यक्षरानुगतं बलवत् संज्ञा तु पौरुषेयो दुर्बलेत्यर्थः । संज्ञैक्यं कर्मैक्यव्यभिचारि चेत्याह—अस्ति

आकाशपदवाच्य परमात्मदृष्टि का आरोपकथन समान रहने पर भी परोवरीयस्त्वादि गुणविशिष्ट उद्गीथ उपासना नेत्र तथा आदित्यगत हिरण्यश्मश्रुत्वादि गुणविशिष्ट उद्गीथ उपासना से भिन्न ही है । इसीलिए एक शाखा होने पर भी इन दोनों में परस्पर गुणों का उपसंहार नहीं होता वैसे ही शाखान्तरस्थ ऐसी उपासनाओं में भी भेद मानना ही उचित है ॥७॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि (ललिता)

नाम का एकत्व जो पूर्वपक्ष उत्थापन का बीज है उसका उद्भावनकर अग्रिम सूत्र से खण्डन करते हैं । यदि कहो कि वाजसनेयक और छान्दोग्य उभयत्र उद्गीथविद्या एक ही नाम है, अतः नाम के एकत्व से यहाँ पर कही गयी विद्या में एकत्व मानना उचित है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है । इसका उत्तर 'न वा परोवरीयस्त्वात्' इस सूत्र से दे आये हैं । अतः वही विद्याभेद पक्ष लेना यहाँ पर उचित होगा क्योंकि उसी में श्रुतिवाक्य अनुगत होता है, नाम का एकत्व तो श्रुत्यक्षर से बाह्य है । लौकिक व्यवहार करने वाले पुरुष उद्गीथ शब्दमात्र प्रयोग द्वारा उपचार मानते हैं । परोवरीयस्त्वादि उपासनाओं में भेद प्रसिद्ध है, फिर भी उनमें संज्ञैकत्व देखा जाता है । वैसे ही कठ शाखा-

---

१. उद्गीथे आत्मन उपासनम् । २. दृष्टान्तेऽपि अधिकगुणानामन्योन्यत्रोपसंहाराद्विद्यैक्यमित्याशङ्क्याह न चेति । ३. पुनरुक्तया विद्याभेदख्यातिस्पष्टत्वं हेतुं मत्वोक्तमेकस्यामिति । ४. शाखाद्वये । ५. पूर्वसूत्रस्थ नञ्पदं तच्छेषं संयोज्य परिहरति तदपीति । ६. पूर्वसूत्रोक्तपरिहारस्य बाधकत्वाच्चोद्याभासोऽयमित्याह उक्तं हीति । ७. समाख्याविशेषादभेदो गम्यते रूप भेदाच्च भेदस्तथा सति किमत्रन्याय्य तत्राह तदेवेति । ८. प्रक्रमादिभेदाद्विद्याभिन्नत्वम् । ९. अनुरूपम् । १०. विद्याभिन्नत्वम् । ११. कथं संज्ञैक्य श्रुत्याक्षर बाह्य तत्राह उद्गीथशब्दमात्रेति । १२. व्यवह्रियते । १३. अस्तीत्यादि व्याकरोति अस्ति चेति । १४. अपि शब्दोपात्तमुदाहरणान्तरमाह तथेति ।

४. व्याप्त्यधिकरणम् (सू० ९)

किमध्यासोऽथवा बाध ऐक्यं वाथ विशेष्यता। अक्षरस्यात्र नास्त्यैक्यं नियतं हेत्वभावतः ॥
वेदेषु व्याप्त ओंकार उद्‌गीथेन विशिष्यते। अध्यासादौ फलं कल्प्यं संनिकृष्टांशलक्षणा ॥

पठितानां काठकसंज्ञकत्वं दृश्यते [1]तथेहापि भविष्यति। [2]यत्र तु नास्ति कश्चिदेवंजातीयको [3]भेदहेतुस्तत्र भवतु संज्ञैकत्वाद्विद्यैकत्वं [4]यथा संवर्गविद्यादिषु ॥८॥

चेति। **किं संज्ञैक्यं सर्वत्राप्रमाणमेव नेत्याह—यत्र** त्विति। **असति बाधके संज्ञैक्यमपि मानं यथा संवर्गविद्येति संज्ञैक्यात्सर्वशाखासु तद्विद्यैक्यं, तथा पञ्चाग्न्यादि[5]विद्यैक्यमित्याद्यसूत्रे दर्शितमित्यर्थः ॥८॥**

ग्रन्थ में पढ़े गये प्रसिद्ध भेदवाले अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास आदि सभी कर्मों का एक ही काठक नाम देखा जाता है। ठीक उसी प्रकार उद्‌गीथावयव ॐकार की उपासना और समग्र उद्‌गीथ उपासना को यहाँ भी उद्‌गीथ नाम से कहा जायेगा। जहाँ पर इस प्रकार भेद बतलाने वाला कोई कारण नहीं है ऐसे संवर्गविद्या, पञ्चाग्निविद्या आदि स्थलों में नाम की एकता से उपासना में एकत्वमानना निर्विवाद है ॥८॥

४. व्याप्त्यधिकरण

१. **सङ्गति—'ओमित्येतदक्षरमुद्‌गीथमुपासीत्** (छा० १-१-१) इस वाक्य में ॐकार तथा उद्‌गीथ में विशेषणविशेष्यभाव मानकर प्रक्रम के भेद से उपासना में भेद कहा गया था, वह ठीक नहीं है; ऐसी आक्षेप सङ्गति पूर्व अधिकरण के साथ इसकी है।

२. **विषय**—इस अधिकरण में ॐकार तथा उद्‌गीथ में सामानाधिकरण्य विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—क्या नाम ब्रह्म की भाँति ॐकार तथा उद्‌गीथ में सामानाधिकरण्य अध्यासार्थ है अथवा अपवादरूप है या द्विजोत्तमो ब्राह्मणो भूसुरः की भाँति मुख्यार्थक है अथवा नीलं उत्पलं की भाँति विशेषण-विशेष्य को बतलाता है ?

४. **पूर्वपक्ष**—ॐकार तथा उद्‌गीथ में अभेद नियत नहीं है क्योंकि उसका कोई कारण नहीं दीखता, अतः उक्त चारों पक्षों में से किसी भी एक पक्ष का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

५. **सिद्धान्त**—सम्पूर्ण वेद में ॐकार व्याप्त है जिसमें उद्‌गीथ विशेषण लगा दिया गया है, अतः ॐकार एवं उद्‌गीथ में विशेषणविशेष्यभावरूप सामानाधिकरण्य मानना ही उचित है। अध्यास पक्ष में लक्षणा करनी पड़ेगी, अपवाद पक्ष में फलान्तरकल्पना का प्रसङ्ग आयेगा और अभेद पक्ष में शब्दद्वय का उच्चारण व्यर्थ हो जायेगा। परिशेषतः विशेषणविशेष्यभाव पक्ष ही श्रेष्ठ है। जब सभी वेदों में ॐकार व्याप्त है तो हम किस ॐकार की उपासना करें, ऐसा संशय होने पर **'ओमित्येतदक्षरमुद्‌गीथमुपासीत'** इस श्रुतिवाक्य द्वारा सामभक्ति उद्‌गीथ के अवयवरूप से ॐकार को विशेषित किया गया है। अतः ॐकार विशेष्य है और उद्‌गीथ उसका विशेषण है अर्थात् उद्‌गीथावयवरूप ॐकार की ही उपासना करनी चाहिए, ऐसा विशेषणविशेष्यभाव ॐकार एवं उद्‌गीथ में मानना उचित होगा।

१. संज्ञैक्येपि न चेत्तत्रैक्यं तर्हि संज्ञैक्यमुद्‌गीथज्ञानेप्य प्रयोजकमित्याह तथेहेति। २. संज्ञैक्यस्य व्यभिचारित्व प्रथमसूत्रैतस्यैक्ये हेतुत्वं कथमुक्तमित्याशङ्क्य तुशब्दसूचितमर्थमाह यत्रेति। ३. प्रक्रमभेदादिकल्पोविद्या भेदहेतुः। ४. असति बलवति बाधके संज्ञैक्यमपि साधकमित्यत्र दृष्टान्तमाह यथेति। ५. वैश्वानरविद्यादिकमादि पदेन गृह्यते।

(३६८) व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥९॥

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १-१-१) इत्यत्राक्षरोद्गीथशब्दयोः सामानाधिकरण्ये श्रूयमाणेऽध्यासापवादैकत्वविशेषणपक्षाणां प्रतिभासनात्कतमोऽत्र पक्षो न्याय्यः स्यादिति विचारः।

तत्राध्यासो नाम द्वयोर्वस्तुनोरनिर्वर्तितायामेवान्यतरबुद्धावन्यतरबुद्धिरध्यस्यते यस्मिन्नितरबुद्धिरध्यस्यतेऽनुवर्तत एव तस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यस्तेतरबुद्धावपि। यथा नाम्नि ब्रह्मबुद्धावध्यस्यमानायामप्यनुवर्वत एव नामबुद्धिर्न ब्रह्मबुद्ध्या निवर्तते। यथा वा प्रतिमादिषु विष्ण्वादिबुद्ध्यध्यासः। एवमिहाप्यक्षर उद्गीथबुद्धिः अध्यस्यते उद्गीथे वाक्षरबुद्धिरिति।

अपवादो नाम यत्र कस्मिंश्चिद्वस्तुनि पूर्वनिविष्टायां मिथ्याबुद्धौ निश्चितायां पश्चादुपजायमाना यथार्था बुद्धिः पूर्वनिविष्टाया मिथ्याबुद्धेर्निवर्तिका भवति। यथा देहेन्द्रियसंघात आत्मबुद्धिरात्मन्येवात्मबुद्ध्या पश्चाद्भाविन्या 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७) इत्यनया यथार्थबुद्ध्या निवर्त्यते। यथा वा दिग्भ्रान्तिबुद्धिर्दिग्याथात्म्यबुद्ध्या निवर्त्यते।

व्याप्तेश्च समञ्जसम्। सामानाधिकरण्यं विषयीकृत्य संशयमाह—ओमित्येतदिति।

अध्यासादिपदार्थान्व्याचष्टे—तत्राध्यास इत्यादिना। बुद्धिपूर्वकाभेदारोपोऽध्यासः, बाधोऽपवादः, एकत्वं वास्तवाभेदः विशेषणं व्यावर्तकमिति विवेकः।

व्याप्तेश्च समञ्जसम् (ललिता)

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इस वाक्य में अक्षर और उद्गीथ दोनों ही पद में समान विभक्ति होने के कारण सामानाधिकरण्य सुना जाता है जिससे अध्यास, अपवाद, एकत्व और विशेषण ऐसे चार पक्ष प्रतीत होते हैं अर्थात् यह सामानाधिकरण्य अध्यास अर्थ में है, अपवाद, एकत्व या विशेषण अर्थ में है। इनमें से कौन सा पक्ष ग्रहण करना चाहिए, ऐसा विचार करना आवश्यक हो जाता है।

॥ प्रथम ॥ दो वस्तुओं में से एक वस्तु अनिर्वर्तित बुद्धिवाली है, उसमें अन्यतर बुद्धि का आरोप होता है अर्थात् बुद्धिपूर्वक अभेद आरोप को अध्यास कहते हैं। जिसमें जो बुद्धि अध्यस्त होती है उस अध्यास का आधारभूत पदार्थ दीखता रहता है फिर भी उसमें अन्य बुद्धि का आरोप किया जाता है। जैसे इतरबुद्धिविषय नाम में ब्रह्मदृष्टि करने पर भी नामबुद्धि बनी रहती है, वह नामबुद्धि ब्रह्मबुद्धि से निवृत्त नहीं होती और जैसे प्रतिमादि में विष्णु आदि दृष्टि का अध्यास करने पर भी प्रतिमादि दीखते ही रहते है, वे निवृत्त नहीं हो जाते; क्या ऐसे ही यहाँ पर भी ॐकार अक्षर में उद्गीथदृष्टि करनी चाहिए अथवा सामभक्ति उदगीथ में ॐकार दृष्टि करनी चाहिए।

॥ द्वितीय ॥ जहाँ किसी वस्तु में पहले से मिथ्याबुद्धि बनी हो वहाँ पश्चाद्भावी यथार्थबुद्धि पूर्वनिविष्ट मिथ्याबुद्धि को निवृत्त कर डालती है, जिस प्रकार देह-इन्द्रिय संघात में सर्वसामान्य की नैसर्गिक आत्मबुद्धि बनी हुई है वह 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य द्वारा आत्मा में ही होने वाली यथार्थ आत्मबुद्धि से निवृत्त हो जाती है अथवा जिस प्रकार दिग्भ्रान्तबुद्धि दिग्याथार्थबुद्धि से मिट जाती है, ऐसे ही यहाँ भी अक्षरबुद्धि से उद्गीथबुद्धि निवृत्त हो जायेगी या उद्गीथबुद्धि से अक्षरबुद्धि निवृत्त हो जायेगी।

एवमिहाप्यक्षरबुद्धयोद्‌गीथबुद्धिर्निवर्त्येत उद्‌गीथबुद्धया वाक्षरबुद्धिरिति । एकत्वं[1] त्वक्षरोद्‌गीथशब्दयोरनतिरिक्तार्थवृत्तित्वम् । यथा द्विजोत्तमो ब्राह्मणो भूमिदेव इति ।

विशेषणं पुनः सर्ववेदव्यापिन ओमित्येतस्याक्षरस्य ग्रहणप्रसङ्ग औद्‌गात्र[1]विशेषस्य समर्पणम् । यथा नीलं यदुत्पलं तदानयेति । एवमिहाप्युद्‌गीथो य ॐकारस्तमुपासीतेति ।

एवमेतस्मिन्सामानाधिकरण्यवाक्ये विमृश्यमान एते पक्षाः प्रतिभान्ति तत्रान्यतमनिर्धारणकारणाभावादनिर्धारणप्राप्ताविदमुच्यते—व्याप्तेश्च समञ्जसमिति । चशब्दोऽयं तुशब्दस्थाननिवेशी पक्षत्रयव्यावर्तनप्रयोजनः । तदिह त्रयः पक्षाः [2]सावद्या इति पर्युदस्यन्ते । विशेषणपक्ष एवैको [3]निरवद्य इत्युपादीयते । तत्राध्यासे तावद्या बुद्धिरितरत्राध्यस्यते तच्छब्दस्य लक्षणावृत्तित्वं प्रसज्येत तत्फलं च कल्प्येत । श्रूयत एव फलम्

पूर्वमुद्‌गातृकर्मात्मकोद्‌गीथावयवत्वमोङ्कारस्य ध्येयस्य विशेषणं सिद्धवत्कृत्य ध्येयभेदाद्विद्याभेदः सिद्धान्तितः स न युक्त इत्याक्षेपसंगत्या पूर्वपक्षयति—तत्रेति । अत्र पूर्वपक्षे पूर्वोक्तसिद्धान्तासिद्धिः फलं सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति मत्वा सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—चशब्द इत्यादिना । पक्षत्रयस्य दुष्टत्वं प्रतिज्ञायाध्यासपक्षे दोषमाह—तत्राध्यास इति । यस्योद्‌गीथस्य बुद्धिरोङ्कारेऽध्यस्यते [4]तद्वाचकोद्‌गीथशब्दस्योङ्कारे लक्षणा स्या[5]त्तद्बुद्धि[6]विषयत्वगुणपरात्पास्तथा संबन्धोऽप्यसिद्धः कल्पनीयः, प्रतीकोपास्तेः फलं च कल्प्यमिति गौरवं स्यादित्यर्थः । फलं न कल्प्यमिति शङ्कते—श्रूयत इति । आप्त्यादिति ।

॥ तृतीय ॥ अक्षर और उद्‌गीथ शब्द समानार्थक होने पर पर्याय माने जायेंगे तो वहाँ पर एकत्व बतलाना अभीष्ट होता; जैसे द्विजोत्तम, ब्राह्मण और भूदेव ये तीनों ही शब्द समानार्थक होने के कारण एक ही अर्थ के बोधक हैं ।

॥ चतुर्थ ॥ सर्ववेदव्यापी ॐ इस अक्षर के ग्रहण का प्रसङ्ग आने पर उद्‌गीथ विशेषण औद्‌गात्रविषयक ॐकार का समर्पक होता है अर्थात् सामवेद में कहे गये ॐकार की ही उपासना करो । जैसे नील जो कमल है उसे लाओ, यहाँ पर नील और उत्पल में विशेषणविशेष्यभाव है; ऐसे ही यहाँ भी सामवेदीय जो ॐकार है जिसे उद्‌गीथावयव भी कहते हैं उसकी उपासना करो ।

इस प्रकार इस सामानाधिकरण्य वाक्य का विचार करने पर इतने पक्ष यहाँ पर उपस्थित होते हैं । उनमें किसी एक पक्ष के निर्धारण में कारण नहीं दीखता है । अतः अनिश्चय दशा में '**व्याप्तेश्च समञ्जसम्**' यह सिद्धान्त सूत्र निर्णय के लिए कहा गया है । इसमें 'च' शब्द तु शब्द के अर्थ में आया है जो पूर्वोक्त तीन पक्षों का व्यावर्तक है, वे तीनों ही पक्ष दोषयुक्त हैं इसलिए उनका परित्याग करें । केवल निर्दुष्ट विशेषण पक्ष का उपादान करे । इनमें प्रथम अध्यास पक्ष में यह दोष है कि जो बुद्धि अन्यत्र अध्यस्त है तदवाचक शब्द में लक्षणा का प्रसङ्ग आ जायेगा और फल की कल्पना भी करनी पड़ेगी अर्थात् ॐकार में उद्‌गीथ का अध्यास जब करेंगे तब उद्‌गीथ शब्द की ओंकार में लक्षणा करनी पड़ेगी और इस प्रतीक उपासना के फल की कल्पना करने पर गौरव भी होगा । यदि कहो कि 'वह उपासक सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कराने वाला हो जाता है' ऐसा फल सुना ही जाता है अतः फलकल्पना की आवश्यकता नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उसका फल तो अन्य ही है ।

१. ॐ मित्येतस्येत्यनेनान्वयः । २. सदोषाः । ३. निर्दोषः । ४. स्वार्थ । ५. यथोद्‌गीथबुद्धिग्राह्यत्वगुणः सकलोद्‌गीथे वर्तते तथा तदवयवे ओंकारेपि वर्तत एवेति तदबुद्धिविषयत्वगुणपरत्वं स्पष्टमेव । ६. ग्राह्यत्व ।

'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १-१-७) इत्यादीति चेत् । न, तस्यान्यफलत्वात् । आप्त्यादिदृष्टिफलं हि तन्नोद्गीथाध्यासफलम् । अपवादेऽपि समानः फलाभावः । मिथ्याज्ञाननिवृत्तिः फलमिति चेत् । न, पुरुषार्थोपयोगानवगमात् । नच कदाचिदप्योंकारादोंकारबुद्धिर्निवर्तत उद्गीथाद्वोद्गीथबुद्धिः । न चेदं वाक्यं वस्तुतत्त्वप्रतिपादनपरम् । उपासनाविधिपरत्वात् । नाप्येकत्वपक्षः संगच्छते । निष्प्रयोजनं हि तदा शब्दद्वयोच्चारणं स्यात् । एकेनैव विवक्षितार्थसमर्पणात् । नच हौत्रविषये वाऽऽध्वर्यवविषये वाऽक्षरे ॐकारशब्दवाच्ये उद्गीथशब्दप्रसिद्धिरस्ति । नापि सकलायां साम्नो द्वितीयायां भक्तावुद्गीथशब्दवाच्यायामोंकारशब्दप्रसिद्धिर्येनानतिरिक्तार्थता स्यात् । परिशेषाद्विशेषणपक्षः परिगृह्यते । व्याप्तेः सर्ववेदसाधारण्यात् । सर्वव्याप्त्यक्षरमिह मा प्रसञ्जीत्यत उद्गीथशब्देनाक्षरं विशेष्यते । कथं नामोद्गीथावयवभूत ॐकारो गृह्येतेति । नन्वस्मिन्नपि

'ओङ्कार आप्तिः समृद्धिरिति', 'य उपास्ते स कामानाप्नोति' इति श्रुतं फलं नाध्यासस्येत्यर्थः । उद्गीथोङ्कारयोरन्यतरबुद्ध्यान्यतरबुद्ध्यपवादमङ्गीकृत्यान्यतरमिथ्याबुद्धिनिवृत्तिर्वं फलत्यमुक्तं संप्रत्यन्यतरबुद्धेरभ्रान्तित्वान्नापवाद इत्याह—नच कदाचिदपीति । भ्रान्तिश्चेत् निवर्तेत न तु निवर्तत इत्यभ्रान्तिरित्यर्थः । किंच तत्त्वबोधकाद्वाक्याद्भ्रान्त्यपवादो भवति नेदं वाक्यं तत्त्वपरमित्याह—नचेति । घटकुम्भशब्दयोरिवोङ्कारोद्गीथशब्दयोः पर्यायत्वपक्षं दूषयति—नापीति । पर्यायत्वमपि नास्तीत्याह–नचेति । परिशिष्टविशेषणपक्षे सूत्रं योजयति–व्याप्तेरिति । ओमित्यक्षरमुपासीत' इत्युक्ते सर्ववेदव्याप्योङ्कार इहोपास्तौ प्रसज्येत तन्निरासार्थमुद्गीथावयवत्वं विशेषणं समञ्जसमित्यर्थः । अध्यासपक्षे तद्बुद्धिविषयत्वगुणयोगरूपः संबन्धः कल्प्य इति विप्रकृष्टा लक्षणा, अवयवलक्षणा तु संनिकृष्टा अवयवावयविसंबन्धस्य क्लृप्तत्वात्, पटावयवे दग्धे पटो दग्ध इति लोके प्रयोगाच्च ।

---

१. आप्ति आदि दृष्टि का फल है न कि वह ॐकार में उद्गीथ दृष्टि अध्यास का फल है । २. फलाभाव अपवाद पक्ष में भी पहले के जैसा ही है । यदि कहो कि मिथ्याज्ञाननिवृत्ति अपवाद का फल है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि यहाँ पर पुरुषार्थ में कोई उपयोग नहीं दीखता । कभी भी ॐकार से ॐकारबुद्धि निवृत्त नहीं होती और न उद्गीथ से उद्गीथबुद्धि निवृत्त होती है । साथ ही यह वाक्य उपासनाविधायक होने के कारण वस्तुतत्त्वप्रतिपादक नहीं है । ३. एकत्व पक्ष भी असंगत है क्योंकि उसमें शब्दद्वय का उच्चारण निरर्थक हो जायेगा । एक ही शब्द से विवक्षित अर्थ का बोध हो जाने पर उसके पर्याय शब्द का उच्चारण निष्प्रयोजन माना जाता है । तथा ऋग्वेदीय अथवा यजुर्वेदीय ॐकारशब्दवाच्य अक्षर में उद्गीथ की प्रसिद्धि भी नहीं है और न साम शब्द से कही गयी उद्गीथ शब्दवाच्य सम्पूर्ण द्वितीय भक्ति में ही ॐकारशब्द की प्रसिद्धि है जिससे कि ॐकार और उद्गीथ शब्द को समानार्थक माना जाय । ४. परिशेषतः सर्ववेदसाधारण होने के कारण विशेषण पक्ष ग्रहण करना ही उचित है । सर्ववेदव्यापी अक्षर की उपासना का प्रसङ्ग न आ जाये अतः ॐकार अक्षर को उद्गीथ शब्द से विशेषित किया गया है अर्थात् उद्गीथावयवभूत ॐकार को साधक कैसे ग्रहण करे एतदर्थ यह सामानाधिकरण्य माना गया है । शङ्का—इस विशेषण पक्ष में भी लक्षणा तो समान

५. सर्वाभेदाधिकरणम् (सू० १०)

वसिष्ठत्वाद्यनाहार्यमाहार्ये वैवमित्यतः । उक्तस्यैव परामर्शादनाहार्यमनुक्तितः ।
प्राणद्वारेण बुद्धिस्थं वसिष्ठात्वादि नेतरत् । एवंशब्दपरामर्शयोग्यमाहार्यमिष्यते ।

पक्षे समाना लक्षणा । उद्गीथशब्दस्यावयवलक्षणार्थत्वात् । सत्यमेवमेतत् । लक्षणायामपि तु संनिकर्षविप्रकर्षौ भवत एव । अध्यासपक्षे ह्यर्थान्तरबुद्धिरर्थान्तरे निक्षिप्यत इति विप्रकृष्टा लक्षणा विशेषणपक्षे त्ववयविवचनेन शब्देनावयवः समर्प्यत इति संनिकृष्टा । समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि प्रवर्तमाना दृष्टाः पटग्रामादिषु । अतश्च व्याप्तेर्हेतोरोमित्येतदक्षरमित्येतस्योद्गीथमित्येतद्विशेषणम् इति समञ्जसमेतन्निरवद्यमित्यर्थः ॥९॥

नामादौ ब्रह्मशब्दस्य त्वगत्या ब्रह्मबुद्धिग्राह्यत्वगुणलक्षणाश्रिता तत्र प्रतीकोपास्तेर्विवक्षितत्वात् । इह तु प्रतीकोपास्तिविधिकल्पने आप्त्यादिगुणकोङ्कारे प्राणदृष्टिविधाने च वाक्यभेदः स्यादतः सर्ववेदव्याप्योङ्कारनिरासेनोङ्कारे प्राणदृष्टिविधानार्थं विशेषणमेव समञ्जसं कल्पनालाघवादिति सिद्धम् ॥९॥

ही माननी पड़ेगी, उद्गीथ शब्द का उद्गीथवयव अर्थ लक्षणा से ही कर सकोगे । समाधान—ऐसा कहना ठीक ही है किन्तु लक्षणा में भी सन्निकर्ष और विप्रकर्ष तो आ ही जाता है । अध्यास पक्ष में अन्य वस्तु में अन्य बुद्धि करने पर विप्रकृष्ट लक्षणा मानी जयेगी,किन्तु विशेषण पक्ष में अवयवी उद्गीथवाचक शब्द से उसके अवयव ॐकार को जब बतलाते हैं तब सन्निकृष्ट लक्षणा मानी जाती है । समुदाय में प्रवृत्त शब्द पट, ग्रामादि अवयव अर्थ में भी प्रयुक्त होते देखे गये हैं अर्थात् तन्तुसमुदाय को पट कहते हैं और गृहसमुदाय को ग्राम कहते हैं । अतः व्याप्तिरूप हेतु के कारण ॐ इस अक्षर' को 'उद्गीथ' ऐसे विशेषण से विशेषित करना युक्तियुक्त और निर्दुष्ट है ॥९॥

५. सर्वाभेदाधिकरण

१. **सङ्गति**—पूर्व अधिकरण की भाँति **'एवं विद्वान्'** इस वाक्य द्वारा प्रकृत गुणमात्रग्राहक **'एवम्'** शब्द से शाखान्तरीय गुणों की व्यावृत्ति हो जाती है, अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त सङ्गति है ।

२. **विषय**—वाजसनेयक तथा छान्दोग्य में आयी हुई प्राण उपासना के भेदाभेद पर यहाँ विचार किया है ।

३. **संशय**—क्या प्राण उपासना के वसिष्ठत्वादि गुणों का उक्त दोनों शाखागत प्राण उपासना में उपसंहार करना चाहिए या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—**'य एवं वेद'** इस वाक्य में **'एवं'** शब्द से स्वशाखागत गुणों का ही परामर्श होता है, अतः प्राण उपासना में तत्तद्शाखीय गुणों का ही चिन्तन करना चाहिए ।

५. **सिद्धान्त**—प्राण द्वारा बुद्धिस्थ वसिष्ठत्वादि सर्वशाखीय गुणों का **'एवम्'** शब्द से परामर्श होता है क्योंकि उसमें ऐसी शक्ति है । अतः **'एवम्'** शब्द से परामर्शयोग्य समस्त गुणों का उपसंहार प्राणोपासना में उभयशाखा के अनुसार करना चाहिए ।

(३६९) सर्वभेदादन्यत्रेमे ॥१०॥

वाजिनां छन्दोगानां च प्राणसंवादे श्रैष्ठ्यगुणान्वितस्य प्राणस्योपास्यत्वमुक्तम् । वागादयोऽपि हि तत्र वसिष्ठत्वादिगुणान्विता उक्ताः । ते च गुणाः प्राणे पुनः प्रत्यर्पिताः—'यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि' (बृ० ६-१-१४) इत्यादिना । अन्येषामपि तु शाखिनां कौषीतकिप्रभृतीनां प्राणसंवादेषु 'अथातो निःश्रेयसादानम्', 'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' (कौ० २-१४) इत्येवंजातीयकेषु प्राणस्य श्रैष्ठ्यमुक्तं न त्विमे वसिष्ठत्वादयोऽपि गुणा उक्ताः । तत्र संशयः—किमिमे वसिष्ठत्वादयो गुणाः क्वचिदुक्ता अन्यत्राप्यस्येरन्नुत नास्येरन्निति । तत्र प्राप्तं तावन्नास्येरन्निति । कुतः ? एवंशब्दसंयोगात् । 'अथो य एवं विद्वान्प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' इति तत्र तत्रैवंशब्देन वेद्यं वस्तु निवेद्यते । एवंशब्दश्च संनिहितावलम्बनो न शाखान्तरपठितमेवंजातीयकं गुणजातं शक्नोति निवेदयितुम् । तस्मात्स्वप्रकरणस्थैरेव गुणैर्निराकाङ्क्षत्वमिति ।

सर्वभेदादन्यत्रेमे । **विषयं वक्तुं संमतमर्थमाह**—वाजिनामिति । **वाचो 'वसिष्ठत्वं गुणो वाग्मिनः सुखवासदर्शनात् । चक्षुषः प्रतिष्ठा गुणः चक्षुष्मतः** पादप्रतिष्ठादर्शनात् । **श्रोत्रं संपद्गुणकं श्रवणात्सर्वार्थसंपत्तेः । मन आयतनत्वगुणं तस्य वृत्तिद्वारा सर्वभोग्याश्रयत्वात् । ते च गुणाः प्राणस्य श्रैष्ठ्यं निश्चित्य वागादिभिस्तस्मिन्नर्पिता इति शाखाद्वयसंमतोऽर्थः । विषयमाह**—अन्येषामित्यादिना । **निःश्रेयसस्य श्रैष्ठ्यस्यादानं निर्धारणं प्रस्तूयतः इत्यर्थः । देवता वागादयोऽहंश्रेयसे स्वश्रैष्ठ्यायेत्यर्थः एवंशब्दाच्छ्रैष्ठ्यगुणकप्राणप्रत्यभिज्ञानाच्च संशयमाह**–तत्रेति । **गुणानामनुपसंहारोपसंहारावेव पूर्वोत्तरपक्षयोः फलम् । उद्गीथत्वविशेषणादोङ्कारस्य सर्ववेदव्याप्तिव्यावृत्तिवत्प्रकृतगुणमात्रग्राहकैवंशब्दाच्छाखान्तरगुणव्यावृत्तिरिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति**—तत्र प्राप्तमिति । **यथा वागादिभ्यः प्राणश्रैष्ठ्यं सिद्धमथो तथा य एवं श्रैष्ठ्यगुणं विद्वानुपास्ते स प्राणे श्रैष्ठ्यं विदित्वा श्रेष्ठो भवतीति श्रुत्यर्थः ।**

सर्वभेदादन्यत्रेमे (ललिता)

वाजसनेय और छान्दोग्य शाखावालों के प्राणसंवाद में श्रेष्ठत्वादि गुणयुक्त प्राण को उपास्य कहा है और वहाँ पर यह भी कहा है कि वसिष्ठत्वादि गुण जो वागादि में कहे गये हैं वे गुण 'जो मैं वसिष्ठ हूँ अब तो उस गुण से युक्त आप ही माने जायँगे' इत्यादि वाक्य द्वारा प्राण में अर्पित किये गये हैं। किन्तु कौषीतकि आदि अन्य शाखाओं में प्राणसंवाद में 'निःश्रेयस आदान के लिए सभी इन्द्रियाँरूप देवता श्रेष्ठत्व के लिए विवाद कर बैठे ।' ऐसे वाक्यों में प्राण का श्रेष्ठत्व तो कहा है किन्तु वहाँ पर वसिष्ठत्वादि गुण नहीं कहे हैं। अतः ऐसे प्रसङ्ग पर संशय होता है कि ये वसिष्ठत्वादि गुण जो कहीं बतलाये गये हैं उनका अन्यत्र भी उपसंहार होना चाहिए या नहीं। इस पर पूर्वपक्षी ने कहा है कि अनुक्त स्थल में उन गुणों का उपसंहार नहीं करना चाहिए क्योंकि 'जो भी ऐसा उपासक प्राण में निःश्रेयस को जानकर उपासना करता है' इस वाक्य में 'एवं' शब्द का प्रयोग किये जाने से स्थल-स्थल पर 'एवं' शब्द से निवेदित गुणों का ही चिन्तन वहाँ होना चाहिए। सन्निहितावलम्बी 'एवं' शब्द शाखान्तरपठित ऐसे गुणसमुदाय को ग्रहण नहीं कर सकता, अतः स्वप्रकरणस्थ गुणों से ही वहाँ की उपासना का विधान निराकांक्ष हो जाता है।

---

१. प्रशस्तवाक्त्वम् ।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अस्येरन्निमे गुणाः क्वचिदुक्ता वसिष्ठत्वादयोऽन्यत्रापि । कुतः? सर्वाभेदात् । सर्वत्रैव हि तदेवैकं प्राणविज्ञानमभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते । प्राणसम्वादादिसारूप्यात् । अभेदे च विज्ञानस्य कथमिमे गुणाः क्वचिदुक्ता अन्यत्र नास्येरन् । नन्वेवंशब्दस्तत्र तत्र भेदेनैवंजातीयकं गुणजातं वेद्यत्वाय समर्पयतीत्युक्तम् । अत्रोच्यते—यद्यपि कौषीतकिब्राह्मणगतेनैवंशब्देन वाजसनेयिब्राह्मणगतं गुणजातमसंशब्दितमसंनिहितत्वात्तथापि तस्मिन्नेव विज्ञाने वाजसनेयिब्राह्मणगतेनैवंशब्देन [1]तत्संशब्दितमिति न [2]परशाखागतमप्यभिन्नविज्ञानावरुद्धं गुणजातं [3]स्वशाखागताद्विशिष्यते । न चैवं सति श्रुतहानिरश्रुतकल्पना वा भवति । एकस्यामपि हि शाखायां श्रुता गुणाः श्रुता एव सर्वत्र भवन्ति गुणवतो भेदाभावात् । नहि देवदत्तः शौर्यादिगुणत्वेन स्वदेशे प्रसिद्धो देशान्तरं गतस्तद्देश्यैरविभावितशौर्यादिगुणोऽप्यतद्गुणो भवति । यथाच तत्र परिचयविशेषाद्देशान्तरेऽपि देवदत्तगुणा

एवंजातीयकविद्यैक्यात्प्राप्तमार्थिकं वसिष्ठत्वादिगुणजातमेवंशब्दो न गृह्णाति श्रुतावलम्बित्वादिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—अस्येरन्निति । वाजसनेयिब्राह्मणे तावदेवंशब्देन वसिष्ठत्वादिगुणजातस्य प्राणविद्यासंबन्धः सिद्धः सैव विद्या कौषीतकिश्रुतौ प्रत्यभिज्ञायते, तथा च गुणानां गुण्यविनाभावेनार्थतः प्राप्तानामपि श्रुतगुणैरविरोधात्सहैव श्रुतमार्थं च गुणजातं श्रुत्यर्थाभ्यां संनिहितत्वाविशेषात्कौषीतकिगतेनैवंशब्देन परामृश्यत इत्याह—तथापीति । कौषीतकिश्रुतिस्थः प्राणो वसिष्ठत्वादिगुणकः, श्रेष्ठप्राणत्वात्, वाजिश्रुतिस्थप्राणवदित्यश्रुतगुणानुमाने सति श्रुतहानिर्नास्ति, अविरोधादित्युक्तं स्पष्टयति—न चैवं सतीति । अपरिगणिता अपि गुणाः श्रुता एवेत्यत्र दृष्टान्तमाह—नहीति ।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती प्रत्युत्तर देता है कि कहीं कहे गये वसिष्ठत्वादि गुणों का उपसंहार अन्यत्र अनुक्त स्थल में भी होना चाहिए क्योंकि वही एक प्राणोपासना अभिन्न है ऐसी प्रत्यभिज्ञा सर्वत्र हो रही है। प्राणसंवादादि का सारूप्य होने के कारण प्राण उपासना में अभिन्नत्व निश्चित होने पर कहीं पढ़े गये इन वसिष्ठत्वादि गुणों का अन्यत्र उपसंहार क्यों नहीं होगा। शङ्का—स्थल-स्थल पर 'एवं' शब्द का प्रयोग हुआ है जो भेदपुरस्सर ऐसे गुणसमुदाय को उपास्य में समर्पण के लिए बतलाता है, ऐसा हम कह आये हैं। समाधान—ठीक है। यद्यपि कौषीतकि ब्राह्मण में एवं शब्द से वाजसनेय ब्राह्मणगत गुणसमुदाय गृहीत नहीं होता है क्योंकि वे असन्निहित हैं फिर भी उसी उपासना में वाजसनेय ब्राह्मणगत एवं शब्द से उसका वर्णन हो जायेगा। परशाखीय अभिन्न उपासना से सम्बद्ध गुणसमुदाय स्वशाखीय उपासनोक्त गुण से विशेषित (भिन्न) नहीं होता है; ऐसा होने पर श्रुतहानि और अश्रुत की कल्पना भी नहीं कही जा सकती क्योंकि एक शाखा में भी सुने गये गुण उसी उपासना में श्रुत ही माने जाते हैं, गुणी का भेद वहाँ नहीं माना जाता। शूरतादि गुणों के कारण देवदत्त अपने देश में प्रसिद्ध है तो वह अन्य देश में जाने पर तद्देशस्थ गुणों से अविभावित शौर्यादि गुणवाला देवदत्त पूर्वोक्त गुणों से हीन नहीं हो जाता। जैसे परिचयविशेष के कारण देशान्तर में भी देवदत्त अपने शूरतादि गुणों से युक्त ही रहता है, ऐसे ही अभियोगविशेष के कारण शाखान्तर में भी वे उपास्य गुण उपसंहृत किये

---

१. गुणजातम् । २. वाजस॰ । ३. कौषित॰ । ४. प्राणश्रैष्ठ्यात्मक ।

६. आनन्दाद्यधिकरणम् (सू० १३)

नाहार्या उत बाह्यार्या । आनन्दाद्या अनाहृतिः । वामनीसत्यकामादेरिवैतेषां व्यवस्थितेः ॥
विधीयमानधर्माणां व्यवस्था स्याद्यथाविधि । प्रतिपत्तिफलानां तु सर्वशाखासु संहृतिः ॥

(३७०) आनन्दादयः प्रधानस्य ॥११॥

विभाव्यन्ते । एवमभियोगविशेषाच्छाखान्तरेऽप्युपास्या गुणाः शाखान्तरेऽध्यस्येरन् । तस्मादेकप्रधानसंबद्धा धर्मा एकत्राप्युच्यमानाः सर्वत्रैवोपसंहर्तव्या इति ॥१०॥

ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरासु श्रुतिष्वानन्दरूपत्वं विज्ञानघनत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमित्येवंजातीयका ब्रह्मणो धर्माः क्वचित्केचिच्छ्रूयन्ते । तेषु संशयः—किमानन्दादयो

फलितमाह—तस्मादिति ॥१०॥

आनन्दादयः प्रधानस्य । **ब्रह्मणो ज्ञेयस्यैक्यान्निर्विशेषत्वाच्च संशयमाह**—तेषु संशय इति ।

जायेंगे ही । अतः एक प्रधान उपास्य के साथ सम्बन्ध रखने वाले धर्म एकत्र पढ़े जाने पर भी सर्वत्र उपसंहार के योग्य माने हो जाते हैं, इसमें कोई आपत्ति नहीं है ॥१०॥

६. आनन्दाद्यधिकरण

१. **सङ्गति**—सविशेष प्राण की उपासना में शाखान्तरीय वसिष्ठत्वादि गुणों का उपसंहार भले ही कर लें किन्तु निर्विशेष ब्रह्म के स्वशाखागत धर्म से ही प्रमाज्ञान हो जाने के कारण शाखान्तरीय आनन्दादि गुणों का उपसंहार करना उचित नहीं है, ऐसो प्रत्युदाहरण संगति के कारण इस अधिकरण का आरम्भ हुआ है ।

२. **विषय**—निर्विशेष ब्रह्म के आनन्दादि गुणों के उपसंहार-अनुपसंहार का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—निर्गुणब्रह्मप्रतिपादक श्रुतियों में कहीं आनन्दरूपत्व, कहीं विज्ञानघनत्व, कहीं सर्वव्यापकत्व और कहीं सर्वात्मकत्व धर्म सुने जाते हैं । वे धर्म जहाँ जितने सुने गये हैं उतने का हो चिन्तन तत्शाखागत निर्गुण उपासना में करना चाहिए अथवा शाखान्तरीय गुणों का भी चिन्तन करना चाहिए ?

४. **पूर्वपक्ष**—वामनित्व, सत्यकामत्वादि की भांति स्वशाखागत आनन्दरूपत्वादि गुणों के चिन्तन से ही निर्गुण उपासना पूर्ण हो जाती है, अतः शाखान्तरीय धर्म का चिन्तन अनावश्यक है ।

५. **सिद्धान्त**—वामनित्वादि धर्म ध्येयरूप से विधान किये गये हैं, उनका चिन्तन भले ही स्वशाखीय गुणों से पूर्ण हो जाता है पर आनन्दरूपत्वादि धर्म का प्रतिपादन ब्रह्मबोध के लिए किया गया है, उपासना के लिए नहीं । अतः व्यवस्थापक विधि के अभाव में सर्वत्र निर्गुण उपासनाओं में शाखान्तरीय आनन्दरूपत्वादि समस्त गुणों का चिन्तन करना हो चाहिए ।

आनन्दादयः प्रधानस्य

ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादक श्रुतियों में आनन्दरूपत्व, विज्ञानघनत्व, सर्वगतत्व, सर्वात्मकत्व इत्यादि ब्रह्म के कुछ धर्म कहीं-कहीं पर सुने जाते हैं । वहाँ संशय होता है कि आनन्दादि ब्रह्मधर्म

---

१. उपासकस्योपास्येन सह परिचयविशेषात् ।

ब्रह्मधर्मा यत्र यावन्तः श्रूयन्ते तावन्त एव तत्र प्रतिपत्तव्याः किंवा सर्वे सर्वत्रेति । तत्र यथाश्रुतिविभागं धर्मप्रतिपत्तौ प्राप्तायामिदमुच्यते—आनन्दादयः प्रधानस्य ब्रह्मणो धर्माः सर्वे सर्वत्र प्रतिपत्तव्याः । कस्मात् ? सर्वाभेदादेव । सर्वत्र हि तदेवैकं प्रधानं विशेष्यं ब्रह्म न भिद्यते । तस्मात्सार्वत्रिकत्वं ब्रह्मधर्माणां तेनैव पूर्वाधिकरणोदितेन देवदत्तशौर्यादिनिदर्शनेन ॥११॥

नन्वेवं सति प्रियशिरस्त्वादयोऽपि धर्माः सर्वे सर्वत्र संकीर्येरन् । तथाहि—तैत्तिरीयक आनन्दमयमात्मानं प्रक्रम्याम्नायते—'तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २-५) इति ।

पूर्वपक्षे सत्यादिपदानुपसंहाराद्वाक्यार्थानवधारणं, सिद्धान्ते त्ववधारणमिति फलम् । प्राणस्य सविशेषत्वाद्युक्तः शाखान्तरीयवसिष्ठत्वाद्युपसंहारः, ब्रह्मणस्तु निर्विशेषत्वात्स्वशाखागतपदैरेव प्रमितिसिद्धव्यर्थः पदान्तरोपसंहार इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षः । सिद्धान्तमाह—इदमिति । आनन्दत्वसत्यत्वज्ञानत्वादि[1]सामान्यानि ब्रह्मणि कल्पिता धर्मास्तेषां[2] सर्वशाखासूपसंहारो नाम [3]तद्वाचकानन्दादिपदानामेकवाक्यतयोच्चारणं आनन्दः सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म शुद्धमद्वयमात्मेति । तानि च समानाधिकरणानि पदानि विरुद्धधर्मत्यागेन सर्वाधिष्ठानभूतामेकामखण्डव्यक्तिं लक्षयन्ति । न चकेनैव पदेन लक्ष्यसिद्धेः पदान्तरं व्यर्थमिति वाच्यं, एकस्मिन्पदे विरोधाभावेन लक्षणानवतारात् । यद्यपि पदद्वयेऽपि लक्षणावतरति तथाप्यानन्दो ब्रह्मेत्युक्ते दुःखत्वाल्पत्वभ्रान्तिनिरासेऽप्यसत्त्वजडत्वादिभ्रमो भवेदतस्तन्निरासार्थं सत्यज्ञानादिपदानि प्रयोक्तव्यानि । नच भ्रमस्यानवधित्वाद्वाक्यमपर्यवसितं स्यादिति वाच्यम् । सच्चिदानन्दात्मकं सर्वधर्मशून्यमद्वयमविकल्पं ब्रह्माहमिति विशेषदर्शने सर्वभ्रमनिरासात् । तच्च विशेषदर्शनं यावद्भिः पदैर्भवति तावन्ति पदान्युपसंहर्तव्यानीति भावः ॥११॥

जितने जहाँ पर सुने जाते हैं उतने का ही वहाँ चिन्तन करना चाहिए या सभी धर्मों का सर्वत्र चिन्तन करना चाहिए इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि धर्मप्रतिपत्ति श्रुतियों के विभागानुसार ही होना चाहिए अर्थात् जिस श्रुति में ब्रह्म के जितने धर्म पढ़े गये हैं उस शाखा के अनुसार ब्रह्म उपासना करने वाले को उतने ही गुणों का चिन्तन करना चाहिए। इस पर वहाँ यह सिद्धान्त किया गया है कि आनन्दादि प्रधान ब्रह्म के धर्म हैं, उनका चिन्तन सर्वशाखीय ब्रह्मोपासना में होना चाहिए क्योंकि वही एक प्रधान विशेष्य ब्रह्म है, भिन्न नहीं है। ऐसा अभेद ही भासता है । इसलिए ब्रह्मधर्म सार्वत्रिक है, यह बात पूर्वाधिकरणोक्त देवदत्त के शौर्यादि दृष्टान्त से ही सुस्पष्ट हो जाती है ॥११॥

शङ्का—तब तो प्रियशिरस्त्वादि सभी धर्म सर्वत्र ब्रह्मोपासना में उपासनीय हो जायेंगे क्योंकि तैत्तिरीय उपनिषद् में आनन्दमय आत्मा का प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'उसका प्रिय वृत्ति ही शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द धड़ है और ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा है' इस वाक्य द्वारा ब्रह्म के धर्म प्रियशिरस्त्वादि कहे गये हैं। पुत्रदशन से जो सुख होता है उसे प्रिय कहते है, उसके साथ वार्तादि से होने वाले सुख को मोद कहते हैं, उसमें विद्यादि के अतिशय जानने पर उत्पन्न सुख को प्रमोद कहते हैं; ये सभी धर्म जब ब्रह्म के कहे गये हैं तो उनका भी चिन्तन ब्रह्म उपासना में होना चाहिए।

---

१. जातयः । २. धर्माणाम् । ३. आनन्दत्वादिधर्मं ।

(३७१) प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥१२॥

अतः उत्तरं पठति—

प्रियशिरस्त्वादीनां धर्माणां तैत्तिरीयक आम्नातानां नास्त्यन्यत्र प्राप्तिः। यत्कारणं प्रियं मोदः प्रमोद आनन्द इत्येते परस्परापेक्षया भोक्त्रन्तरापेक्षया चोपचितापचितरूपा उपलभ्यन्ते। उपचयापचयौ च सति भेदे सम्भवतः। निर्भेदं तु ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६-२-१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। न चैते प्रियशिरस्त्वादयो ब्रह्मधर्माः [1]कोशधर्मास्त्वेत इत्युपदिष्टमस्माभिः 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० १-१-१२) इत्यत्र। अपिच परस्मिन्ब्रह्मणि चित्तावतारोपायमात्रत्वेनैते परिकल्प्यन्ते न द्रष्टव्यत्वेन। एवमपि सुतरामन्यत्राप्राप्तिः प्रियशिरस्त्वादीनाम्। [2]ब्रह्मधर्मांस्त्वेतान्कृत्वा[3] न्यायमात्रमिदमाचार्येण प्रदर्शितं प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरिति। स च न्यायोऽन्येषु निश्चितेषु [4]ब्रह्मधर्मेषूपासनायोपदिश्यमानेषु नेतव्यः संयद्वामादिषु सत्यकामादिषु च। तेषु हि सत्यप्युपास्यस्य ब्रह्मण एकत्वे प्रक्रम-

---

ब्रह्मैक्याच्चेदानन्दत्वादिधर्माणां सर्वत्र प्राप्तिस्तर्हि सगुणब्रह्मविद्यागतधर्मप्राप्तिरपि स्यादिति शङ्कानिरासार्थं सूत्रं व्याचष्टे—प्रियेति। पुत्रदर्शनसुखं प्रियं तद्वार्तादिना मोदस्तस्य विद्याद्यतिशये प्रमोद इत्येवं तारतम्यवन्तो धर्मास्त्वद्वये ज्ञेये न प्राप्नुवन्ति तेषामब्रह्मस्वरूपाणां ब्रह्मज्ञानानुपयोगादिति भावः। तेषां ब्रह्मधर्मत्वं चासिद्धमित्याह—न चैत इति। ब्रह्मणि चित्तावतारोपायत्वेऽपि तेषां प्राप्तिः स्यादित्याशङ्क्याह—एवमपीति। अज्ञेयत्वादेषां न ज्ञेये ब्रह्मणि प्राप्तिरित्यर्थः। किमर्थं [5]तर्हि सूत्रमित्यत आह—ब्रह्मधर्मानिति। कृत्वाचिन्ताफलमाह—स चेति। ज्ञेये ब्राह्मधर्माणामनुपयोगादप्राप्तिरिति न्यायात्संयद्वामत्वादीनामप्राप्तिरिति सूत्रं व्याख्येयमित्यर्थः। ज्ञानानुपयोगेऽपि ध्याने तेषां धर्माणामुपयोगादुपास्यब्रह्मैक्यात्प्राप्तिरन्योन्यविद्यासु स्यादित्याशङ्क्याह—तेषु हीति। ध्यानविधिपरतन्त्राणां धर्माणां यथाविधि व्यवस्थेत्यर्थः॥१२॥

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे (ललिता)

समाधान—उक्त शङ्का का उत्तर अग्रिम सूत्र से सिद्धान्ती देता है कि तैत्तिरीय उपनिषद् में पढ़े गये प्रियशिरस्त्वादि धर्मों की अन्यत्र प्राप्ति नहीं है क्योंकि प्रिय, मोद, प्रमोद और आनन्द ये एक दूसरे की अपेक्षा से भी न्यूनाधिक देखे जाते हैं। भेद रहने पर ही न्यूनाधिकभाव सम्भव होता है, पर **'एकमेवाद्वितीयम्'** इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म तो निर्भेद ही भासता है। और प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्म के धर्म भी नहीं हैं, ये तो आनन्दमयकोश के धर्म हैं, ऐसा हम 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इस सूत्र में कह आये हैं। यह भी स्मरण रखें कि परब्रह्म में चित्त लगाने के लिए उपायरूप से उनकी कल्पना की गयी है। ये धर्म द्रष्टव्य नहीं हैं, इसलिए भी प्रियशिरस्त्वादि धर्मों की अन्यत्र ब्रह्मोपसना में प्राप्ति नहीं है। आचार्य वेदव्यास जी ने इन्हें आपाततः ब्रह्मधर्म मानकर प्रियशिरस्त्वादि की अप्राप्ति न्यायमात्र कहा है। इस न्याय को उपासना के लिए उपदिश्यमान् निश्चित अन्य ब्रह्मधर्म भी लगाना चाहिए। जैसे संयद्वामत्व और सत्यकामत्वादि धर्म हैं जो केवल उपासना के लिए कहे गये हैं, वे धर्म

---

१. कार्यब्रह्मधर्मा अप्येते न सन्ति। २. कार्यब्रह्म। ३. अभ्युपेत्य। ४. कार्य। ५. यद्येषां कार्यब्रह्मधर्मतापि नास्ति तर्हीत्यर्थः।

७. आध्यानाधिकरणम् (१४-१५)

(३७२) इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥१३॥

सर्वा परम्पराक्षादेर्ज्ञेया पुरुष एव वा । ज्ञेया सर्वा श्रुतत्वेन वाक्यानि स्युर्बहूनि हि ॥
पुमर्थः पुरुषज्ञानं तत्र यत्नः श्रुतोमहान् । तद्बोधाय श्रुतोक्षादिर्वेद्य एकः पुमांस्ततः ॥

भेदादुपासनाभेदे सति नान्योन्यधर्माणामन्योन्यत्र प्राप्तिः । यथा च द्वे नार्यावेकं नृपतिमुपासाते छत्रेणैका चामरेणान्या तत्रोपास्यैकत्वेऽप्युपासनाभेदो धर्मव्यवस्था च भवत्येवमिहापीति । उपचितापचितगुणत्वं हि सति भेदव्यवहारे सगुणे ब्रह्मण्युपपद्यते न निर्गुणे परस्मिन्ब्रह्मणि, अतो न सत्यकामत्वादीनां धर्माणां क्वचिच्छ्रुतानां सर्वत्र प्राप्तिरित्यर्थः ॥१२॥

इतरे त्वानन्दादयो धर्माः ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनायैवोच्यमाना अर्थसामान्यात्प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणो धर्मिण एकत्वात्सर्वे सर्वत्र प्रतीयेरन्निति वैषम्यं, प्रतीपत्तिमात्रप्रयोजना हि त इति ॥१३॥

संयद्वामत्वादिधर्मेभ्य आनन्दादीनां वैषम्यं ज्ञानोपयोगित्वादित्याह—इतरे त्विति । सत्यज्ञानानन्दात्मब्रह्मशब्दाः पञ्च सर्वत्रोपसंहर्तव्या इति सिद्धम् ॥१३॥

भी उपास्य ब्रह्म के एक निश्चित हो जाने पर भी प्रक्रम के भेद से उपासना में भेद निश्चित होने पर एक स्थान में पढ़े गये गुणों का अन्यत्र ब्रह्म उपासना में भेद निश्चित होने से एक स्थान में पढ़े गये गुणों का अन्यत्र ब्रह्म उपासना में उपसंहार नहीं करना चाहिए । जैसे एक राजा की दो पत्नियाँ एक चँवर से और दूसरी छत्र से उपासना करती है, वहाँ उपास्य एक रहने पर भी उपासनप्रकार में भेद हो जाने के कारण धर्म को व्यवस्था होती है ऐसे ही यहाँ भी समझना चाहिए । सगुण ब्रह्म में भेदव्यवहार होने पर न्यूनाधिक गुण हो सकते हैं, किन्तु निर्गुण परब्रह्म में पूर्वोक्त न्यूनाधिकभाव नहीं है । अतः किसी स्थल में सत्यकामत्वादि सुने गये धर्मों को सवत्र प्राप्ति नहीं होती है, यह सिद्ध हुआ ॥१२॥

इतरे त्वर्थसामान्यात् (ललिता)

किन्तु आनन्दादि इतर धर्म ब्रह्मस्वरूपबोध के लिए कहे गये हैं, उनके प्रतिपाद्य ब्रह्म धर्मी के अभिन्न होने से सभी आनन्दादि धर्म सर्वत्र उपसंहरणीय हैं । अतः सत्य, ज्ञान, आनन्द, आत्मा और ब्रह्म शब्द ये पाँचों सर्वत्र उपसंहार के योग्य हैं । इसीलिए प्रियशिरस्त्वादि एवं आनन्दादि धर्मों में वैषम्य है । ये तो ब्रह्मस्वरूपमात्र के बोध के लिए कहे गये हैं, इनका प्रयोजन अन्य कुछ भी नहीं है ॥१३॥

७. आध्यानाधिकरण

१. सङ्गति—आनन्दादि धर्म ब्रह्मस्वरूप होने के कारण उपसंहार के योग्य थे क्योंकि वे ब्रह्मज्ञान के उपाय हैं, किन्तु जो ब्रह्मस्वरूप होते हुए भी उपसंहार के योग्य नहीं है ऐसा अर्थादिपरत्वरूप आत्मधर्म भी आत्मज्ञान का उपाय है । अतः पूव अधिकरण के साथ इसकी एकफलत्व सङ्गति है ।

(३७३) आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥१४॥

काठके हि पठ्यते—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिः' (क० ३-१०) इत्यारभ्य 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (क० ३-११) इति । तत्र संशयः—किमिमे सर्वे एवार्थादयस्ततस्ततः परत्वेन प्रतिपाद्यन्त उत पुरुष एवैभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यत इति । तत्र तावत्सर्वेषामेवैषां परत्वेन प्रतिपादनमिति भवति मतिः । तथाहि श्रूयते—'इदमस्मात्परमिदमस्मात्परम्' । इति । ननु बहुष्वर्थेषु परत्वेन प्रतिपिपादयिषितेषु वाक्यभेदः स्यात् । नैष दोषः, वाक्यबहुत्वोपपत्तेः । बहून्येव ह्येतानि वाक्यानि प्रभवन्ति बहूनर्थान्परत्वोपेतान्प्रतिपादयितुम् । तस्मात्प्रत्येकमेषां परत्वप्रतिपादनमिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पुरुष एव ह्येभ्यः सर्वेभ्यःपरः प्रतिपाद्य इति युक्तं,न प्रत्येकमेषां परत्व-

---

आध्यानाय वाक्यभेदाभेदानवधारणात्संशयमाह—तत्रेति । पूर्वपक्षे वाक्यभेदाद्विद्याभेदः, सिद्धान्ते वाक्यैक्याद्विद्यैक्यमिति फलम् । पूर्वत्र ब्रह्मस्वभावानामानन्दादीनामुपसंहार्याणां ब्रह्मज्ञानफलोपायत्वमुक्तम्, अत्र त्वब्रह्मस्वभावस्यार्थादिपरत्वस्यानुपसंहार्यस्य तदुपायत्वमुच्यत इत्येकफलकत्वं संगतिः । तत्तत्परत्वविशिष्टत्वेनार्थादीनामपूर्वतया प्रतिपाद्यानां भेदाद्वाक्यभेदो न दोष इति पूर्वपक्षः ।

उत्सूत्रसिद्धान्तं प्रतिज्ञाय सौत्रं हेतुं व्याचष्टे—पुरुष एवेति । फलवत्त्वे सत्यपूर्वत्वात्पुरुषस्यैव

---

२. **विषय**—काठकोपनिषद् के **'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था'** इत्यादि वाक्य में पढ़े गये परत्व का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—क्या ये वाक्य भिन्न-भिन्न हैं अथवा आत्मपरक होने के कारण एक ही वाक्य है ?

४. **पूर्वपक्ष**—प्रत्येक वाक्य में परत्व का प्रतिपादन होने के कारण ये वाक्य भिन्न-भिन्न ही हैं ।

५. **सिद्धान्त**—सम्यग्ज्ञान के लिए अर्थादि सभी से परे आत्मा का प्रतिपादन किया है, वहाँ पर प्रत्येक अर्थादि परत्वेन प्रतिपाद्य नहीं है क्योंकि उसमें कोई फल नहीं है । **'निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते'** इस वाक्य द्वारा इन्द्रियादियों से परे आत्मज्ञान होने पर केवल मोक्षसिद्धि प्रयोजन सुना जाता है । अतः प्रतिपाद्य के ऐक्य से इन वाक्यों का अभेद मानना ही उचित है ।

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् (ललिता)

कठोपनिषद् में 'इन्द्रियों से परे अर्थ, अर्थ से परे मन' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'पुरुष से परे कुछ नहीं है, वह पुरूष अन्तिम है और परागति है' ऐसा पाठ मिलता है । वहाँ पर संशय होता है कि क्या ये अर्थादि सभी परत्वेन प्रतिपाद्य हैं अथवा इन सभी से पर पुरुषमात्र प्रतिपाद्य है । इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि वहाँ पर इन सभी को परत्वेन पृथक-पृथक प्रतिपादन करना अभीष्ट है क्योंकि यह इससे पर है,यह इससे पर है ऐसा वहां पर सुना जाता है । शङ्का-परत्वेन अनेक अर्थप्रतिपादन इष्ट होने पर वाक्यभेद होने लग जायेगा । समाधान(पूर्वपक्षी)—वाक्यबहुत्व का होना कोई दोष नहीं है क्योंकि यहाँ पर अनेकों वाक्य परत्वयुक्त अनेक अर्थ को बतलाने में सक्षम है इसीलिए इनमें से प्रत्येक में परत्व प्रतिपादन करना इष्ट ही है ।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि इन सभी से पुरुष को ही पर श्रुति बतलाती है, यह मानना ही युक्तिसंगत होगा । इनमें से प्रत्येक में परत्व बतलाना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि उसमें

(३७४) आत्मशब्दाच्च ॥१५॥

प्रतिपादनम् । कस्मात् ? प्रयोजनाभावात् । नहीतरेषु परत्वेन प्रतिपन्नेषु किञ्चित्प्रयोजनं दृश्यते श्रूयते वा । पुरुषे त्विन्द्रियादिभ्यः परस्मिन्सर्वानर्थव्रातातीते प्रतिपन्ने दृश्यते प्रयोजनं मोक्षसिद्धिः । तथाच श्रुतिः—'निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' (क० ३-१५) इति । अपिच परप्रतिषेधेन काष्ठाशब्देन च पुरुषविषयमादरं दर्शयन्पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैव पूर्वापरप्रवाहोक्तिरिति दर्शयति—आध्यानायेति । आध्यानपूर्वकाय सम्यग्दर्शनायेत्यर्थः । सम्यग्दर्शनार्थमेव हीहाध्यानमुपदिश्यते न त्वाध्यानमेव स्वप्रधानम् ॥१४॥

इतश्च पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैवेयमिन्द्रियादिप्रवाहोक्तिः । यत्कारणम् 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (क० ३-१२) इति प्रकृतं पुरुषमात्मेत्याह । अतश्चानात्मत्वमितरेषां विव[१]क्षितमिति गम्यते, तस्यैव च दुर्विज्ञानतां सुसंस्कृतमतिगम्यतां च दर्शयति । तद्विज्ञानायैव च 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' (क० ३-१३) इत्याध्यानं विदधाति । तद्व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० सू० १-४-१) इत्यत्र । एवम-

प्राधान्येन प्रतिपाद्यत्वमफलार्थादीनां परत्वं तु तच्छेषत्वेनोच्यत इत्यर्थः । किंच 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा' इति वेदः परनिषेधलिङ्गेन सर्वबाधावधित्वलिङ्गेन च पुरुषे तात्पर्यं दर्शयन्पूर्वस्मादपरस्यापरस्य परत्वोक्तिस्त'दर्थेति दर्शयतीत्याह—अपिचेति । अर्थादीनामत्रोक्तिराध्यानाय तत्तत्परत्वध्यानपूर्वकं पुरुषदर्शनायैव स्वतः प्रयोजनाभावादिति सूत्रं योजयति—आध्यानायेति ॥१४॥

आत्मत्वादिलिङ्गैश्च पुरुष एव प्रतिपाद्य इत्याह—आत्मशब्दाच्चेति । किंच 'तद्विष्णोः परमं पदं,

कोई प्रयोजन नहीं दीखता है । अन्य वस्तुओं को परत्वेन जान लेने पर भी वहाँ पर न कोई फल दीखता है और न सुना जाता है । किन्तु इन्द्रियादियों से पर सभी अनर्थसमुदाय से अतीत पुरूष को जान लेने पर मोक्षप्राप्तिरूप प्रयोजन सिद्ध होता है, ऐसा ही 'उस आत्मा का साक्षात्कारकर तत्त्वज्ञानी मृत्यु के मुख से छट जाता है' इस वाक्य से श्रुति कहती है । साथ ही '**परप्रतिषेध**' और '**काष्ठा**' आदि शब्द से पुरूषविषयक ज्ञान को आदर देते हुए पुरूषबोध के लिए पूर्वापरप्रवाह का कथन हैं ऐसा भी श्रुति कहती है । वहाँ पर आध्यानपूर्वक यथार्थबोध के लिए यह प्रसंग है । अतः सम्यग्दर्शन ही प्रधान है, एतदर्थ ही यहाँ पर आध्यान का उपदेश है किन्तु आध्यान स्वप्रधान नहीं है ॥१४॥

आत्मशब्दाच्च (ललिता)

इन्द्रियादिप्रवाहपरत्व का कथन इसलिए भी पुरूषबोधार्थ ही है क्योंकि 'इन सभी भूतों में यह आत्मा छिपा हुआ है इसलिए सर्वसामान्य को प्रकाशित नहीं होता, किन्तु सूक्ष्मदर्शियों द्वारा पैनी की हुई सूक्ष्मबुद्धि से यह देखा जाता है' इस वाक्य द्वारा प्रकृत पुरूष को श्रुति ने आत्मा कहा है । इससे तत्रस्थ इतर पदार्थों में अनात्मत्व बतलाना भी अभीष्ट जान पड़ता है । उसी आत्मा की दुर्विज्ञानता और विशुद्ध बुद्धिगम्यता को श्रुति बतलाती है एवं उसके बोध के लिए ही 'विवेकी साधक वागादि इन्द्रियों को मन में समाहित करे' इस वाक्य द्वारा आध्यान का विधान करती है जिसका व्याख्यान '**आनुमानिकमप्येकेषाम्**' इस सूत्र में किया जा चुका है । इस प्रकार श्रुति के अनेकों आशयातिशय हैं जो पुरूष में

१. पुरुषस्वरूपज्ञानार्था ।

८. आत्मगृहीत्यधिकरणम् (सू० १६-१७)

आत्मा वा इदमित्यत्र विराट् स्यादथवेश्वरः । भूतासृष्टेर्नेश्वरः स्याद्गवाद्यानयनाद्विराट् ॥
भूतोपसंहृतेरीशः स्याददैताववधारणात् । अर्थवादो गवाद्युक्तिर्ब्रह्मात्मत्वं विवक्षितम् ॥

नेकप्रकार आशयातिशयः श्रुतेः पुरुषे लक्ष्यते नेतरेषु । अपिच 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (क० ३·९) इत्युक्ते किं तदध्वनः पारं विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकाङ्क्षायामिन्द्रियाद्यनुक्रमणात्परमपदप्रतिपत्त्यर्थ एवायमायास इत्यवसीयते ॥१५॥

पुरुषान्न परं किंचित्' इत्युपक्रमोपसंहारयोरेकरूप्यात्क्लृप्तफलवदेकपुरुषपरत्वेनैकवाक्यत्वनिश्चये सति वाक्यभेदफलभेदकल्पना न युक्ता गौरवादित्याह—अपिचेति ॥१५॥

ही लक्षित होते हैं, इतर पदार्थ में नहीं। इसके अतिरिक्त 'संसार के अन्तिम छोर पर जो विष्णु का परम पद है उसे साधक जान लेता है' इस वाक्य से प्रतिपादन करने पर यह आकांक्षा होती है कि संसारमार्ग से पर विष्णु का परम पद क्या वस्तु है; इसी कौतूहल को शान्त करने के लिए इन्द्रियादि के अनुक्रमण से परम पद-बोध के लिए ही श्रुति का यह आयास है, यह निश्चित हो जाता है ॥१५॥

८. आत्मगृहीत्यधिकरण

(प्रथम वर्णक)

१. **सङ्गति**—पूर्व अधिकरण में वाक्य भेद के भय से अर्थादि प्रत्येक में पृथक् प्रतिपाद्यत्व नहीं है ऐसा माना गया था। वैसे ही ऐतरेय के पूर्ववाक्य में हिरण्यगर्भ का प्रसङ्ग होने के कारण वाक्यभेद के भय से उसी का आत्म शब्द से अभिधान मानना उचित होगा, ऐसी दृष्टान्त सङ्गति पिछले अधिकरण के साथ इसकी है।

२. **विषय**—'**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्**' (ऐत० १-१) इस वाक्य में आये हुए आत्म शब्द का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. **संशय**—क्या यहाँ पर आत्म शब्द से हिरण्यगर्भ को कहा है अथवा परमात्मा को?

४. **पूर्वपक्ष**—**आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः** (बृ०१-४-१) इस श्रुति और '**स वै शरीरी प्रथमः**' इस स्मृति के अनुसार परमेश्वराधीन किसी दूसरे पुरुष के द्वारा लोकसृष्टि का अवधारण होता है। '**स ईक्षत लोकान्नु सृजा**' (ऐ० १-१) इस वाक्य में लोकस्रष्टा हिरण्यगर्भ सुना गया है, भूतसृष्टि नहीं सुनी गयी है। गवादि का आनयन भी सुना जाता है। अतः हिरण्यगर्भ ही आत्म शब्द का अर्थ है।

५. **सिद्धान्त**—इस सृष्टिवाक्य में आत्मशब्द से परमात्मा को ही कहा गया है। जैसे—'**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः**' (तै० २-१ १) इन अन्य सृष्टिवाक्यों में परमात्मा का ही ग्रहण आत्म शब्द से होता है ऐसे ही यहाँ पर भी मानना चाहिए। भूतसृष्टि का यहाँ पर उपसंहार कर लेने पर परमात्मा का ही ग्रहण उचित होता। गवादि आनयन तो अर्थवाद है, आत्मत्व का प्रतिपादन करना ही शास्त्र को अभीष्ट है।

(३७५) आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।।१६।।

द्वयोर्वस्त्वन्यदेकं वा काण्वच्छान्दोग्यषष्ठयोः । उभयत्र पृथग्वस्तु सदात्मभ्यामुपक्रमात् ।।

साधारणोऽयं सच्छब्दः स आत्मा तत्त्वमित्यतः । वाक्यशेषादात्मवाची तस्माद्वस्त्वेकमेतयोः ।।

ऐतरेयके श्रूयते—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' (ऐ० १-१), 'स इमाँल्लोकानसृजताम्भो मरीचीर्मरमापः' (ऐ० १-२) इत्यादि। तत्र संशयः—किं पर एवात्मेहात्मशब्देनाभिलप्यत उतान्यः कश्चिदिति । किं तावत्प्राप्तं

आत्मगृहीतिः । मिषत् [1]चलत् । लोकानाह—अम्भ इति । अम्भः स्वर्गः, मरीचयोऽन्तरिक्षलोकः, मरो मर्त्यलोकः, आपः पाताललोक इत्यर्थः । आत्मशब्दस्य ब्रह्मणि सूत्रात्मनि च प्रयोगात्संशयमाह—तत्रेति । अत्र पूर्वपक्षे वाक्यस्य सूत्रोपास्तिपरत्वात्परब्रह्मधर्माणामानन्दादीनामैतरेयकेऽनुपसंहारः, सिद्धान्ते ब्रह्मपरत्वादुपसंहार इति फलम् । पुरुषवाक्याद्भेदप्रसङ्गादर्थादिवाक्यानां नार्थादिप्रतिपादकत्वमित्युक्तं तद्वदिहापि प्रजापते [2]रेतो देवा इति पूर्वस्मात्प्रजापतिवाक्याद्भेदप्रसङ्गादात्मा वा इत्यादि

(द्वितीय वर्णक)

१. **सङ्गति**—वाक्य की एकवाक्यता के बल से केवल आत्मा में अर्थादिपरत्व मानकर आप ने पूर्व अधिकरण में विद्यैकत्व कहा था, किन्तु वाजसनेय और छान्दोग्य में उपक्रम के भेद से वाक्यभेद होने के कारण दोनों स्थल पर एक विद्या मानना उचित नहीं है; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति पूर्व अधिकरण के साथ इसकी है ।

२. **विषय**—वाजसनेय तथा छान्दोग्य में आये 'आत्म' एवं 'सत्' शब्द का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—'**कतम आत्मा**' (बृ० ४-३-७) इस श्रुति के द्वारा बृहदारण्यक में 'आत्म' शब्द से जिसे कहा गया है क्या उसी को छान्दोग्य में '**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्**' (छा० ६-२-१) इस उपक्रमस्थ सद्वस्तु से कहा है अथवा भिन्न वस्तु से ?

४. **पूर्वपक्ष**—'सत्' शब्द और 'आत्म' शब्द लोक में समानार्थक नहीं देखे गये हैं, अतः दोनों के अर्थ में भेद होने से वस्तु भिन्न है ।

५. **सिद्धान्त**—सच्छब्द आत्मा एवं अनात्मा दोनों अर्थ में प्रयुक्त होता है । अतः उपक्रमवाक्य में जब सत् शब्द के अर्थ में सन्देह हुआ तो '**स आत्मा तत्त्वमसि**' इस वाक्यशेष में सुना गया आत्मवाची शब्द ही शब्दार्थ अर्थात् सदर्थ का वाचक है, दोनों में भेद नहीं है ।

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् (ललिता)

ऐतरेयक में 'निःसन्देह सृष्टि से पहले केवल एक आत्मा ही था, उससे भिन्न गतिशील पदार्थ दूसरा कुछ भी नहीं था । उसने संकल्प किया कि मैं लोकों की सृष्टि करूँ और तत्पश्चात् अम्भ, मरीची, मर और आप इन लोकों को सृष्टि कर डाली ।' इत्यादि सुना जाता है । वहाँ पर यह संशय होता है कि इस श्रुति में आत्म शब्द से परमात्मा ही कहा जाता है या अन्य कोई पदार्थ । पूर्वपक्ष—

१. स्वतन्त्रव्यापारवत् । २. रेतः कार्यमिति यावत् ।

न परमात्मेहात्मशब्दाभिलप्यो भवितुमर्हतीति । कस्मात् ? वाक्यान्वयदर्शनात् । ननु वाक्यान्वयः सुतरां परमात्मविषयो दृश्यते प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणात् । ईक्षणपूर्वकस्रष्टृत्ववचनाच्च । नेत्युच्यते । लोकसृष्टिवचनात् । परमात्मनि हि स्रष्टरि परिगृह्यमाणे महाभूतसृष्टिरादौ वक्तव्या लोकसृष्टिस्त्विहादावुच्यते । लोकाश्च महाभूतसंनिवेशविशेषाः तथाचाम्भःप्रभृतींल्लोकत्वेनैव निर्ब्रवीति—'अदोऽम्भः परेण दिवम्' (ऐ० १२)इत्यादिना । लोकसृष्टिश्च परमेश्वराधिष्ठितेनापरेण केनचिदीश्वरेण क्रियत इति श्रुतिस्मृत्योरुपलभ्यते । तथाहि श्रुतिर्भवति—'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः' (बृ० १-४-१)इत्याद्या । स्मृतिरपि 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते । आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत' इति । ऐतरेयिणोऽपि 'अथातो रेतसः सृष्टिः प्रजापते रेतो देवाः' इत्यत्र पूर्वस्मिन्प्रकरणे प्रजापतिकर्तृकां

वाक्यस्य न ब्रह्मपरत्वमिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—न परमात्मेत्यादिना । 'वाक्यस्य प्रजापतौ तात्पर्यदर्शनादित्यर्थः । पूर्वपक्षमाक्षिप्य लोकस्रष्टृत्वलिङ्गात्प्रजापतौ वाक्यान्वय इत्याह—नन्वित्यादिना । लोका एव महाभूतानीत्यत आह—लोकाश्चेति । लोकशब्दस्य महाभूतेष्वरूढत्वाद्भौतिका एव लोकाः । निर्वचनाच्चेत्याह-तथाचेति । अम्भो मरीचीर्मरमाप इति सूत्रयित्वा स्वयमेव श्रुतिर्व्याचष्टे-परेण दिवं, दिवः परस्तादिति प्रतिष्ठितश्चन्द्रोऽम्भसा व्याप्तो यो लोकः तदम्भः, अन्तरिक्षं मरीचयः, पृथिवी मरः, या अधस्तात्ता आप इति । ननु लोकसृष्टिरपीश्वरादेवास्तु नेत्याह—लोकेति । पुरुषविधो नराकारः । आत्मा हिरण्यगर्भः, आपिपीलिकाभ्यः सर्वमसृजतेत्यर्थः । भूतानां लोकानामित्यर्थः। प्रकरणादपि लोकस्रष्टा प्रजापतिरित्याह—ऐतरेयिणोऽपीति । रेतः कार्यमिति यावत् । ब्रह्मलिङ्गानि प्रजापतौ

इस श्रुति में आत्मशब्दवाच्य परमात्मा को बतलाना अभीष्ट नहीं है क्योंकि तत्रस्थ वाक्यों का अन्वय ऐसा ही देखा जाता है । शङ्का—उत्पत्ति से पूर्व आत्मैकत्व का अवधारण और ईक्षणपूर्वक स्रष्टृत्व का कथन, इन दोनों से परमात्मा अर्थ में तत्रस्थ वाक्यों का अन्वय सुस्पष्ट भासता है । समाधान (पूर्वपक्षी)—लोकसृष्टि का वचन होने से ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि परमात्मा को स्रष्टा मानने पर पहले महाभूतों की सृष्टि कहनी चाहिए, वैसा न कहकर यहाँ पर सर्वप्रथम लोकसृष्टि कही गयी है। महाभूतों के सन्निवेशविशेष को लोक कहते हैं। ऐसा हो 'द्युलोक से परे वह अम्भपदवाच्य स्वर्गलोक है' इन वाक्यों द्वारा श्रुति ने अम्भ आदि का लोक शब्द से निर्वचन किया है। लोकसृष्टि परमेश्वराधीन किसी अन्य अधिकारी ईश्वर के द्वारा होती है, ऐसा श्रुति और स्मृति में उपलब्ध होता है। वैसा ही 'लोकसृष्टि से पूर्व पुरुषाकार यह आत्मा ही था' ऐसा श्रुति कहती है और 'वही हिरण्यगर्भ प्रथम शरीरधारी था, वही पुरुष शब्द से कहा जाता है। वह भूतों का आदिकर्ता है, उसे ब्रह्मा कहते हैं और वही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ था।' ऐसी स्मृति भी है। प्रकरण को देखते हुए भी लोकस्रष्टा प्रजापति ही जान पड़ता है। ऐतरेय आरण्यकवाले भी 'अब इससे आगे रेत की सृष्टि कही जायेगी, ये देवता प्रजापति के ही कार्य हैं।' इत्यादि पूर्वप्रकरण में विचित्र सृष्टि का

---

१. आत्मा वा इदमेकेति वाक्यस्य ।

विचित्रां सृष्टिमामनन्ति । आत्मशब्दोऽपि तस्मिन्प्रयुज्यमानो दृश्यते—'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः' (बृ० १-४-१) इत्यत्र । एकत्वावधारणमपि प्रागुत्पत्तेः स्वविकारापेक्षमुपपद्यते । ईक्षणमपि तस्य चेतनत्वाभ्युपगमादुपपन्नम् । अपि च ताभ्यो गामानयत्ताभ्योऽश्वमानयत्ताभ्यः पुरुषमानयत् ताश्चाब्रुवन्नित्येवंजातीयको भूयान्व्यापारविशेषो लौकिकेषु विशेषवत्स्वात्मसु प्रसिद्ध इहानुगम्यते । तस्माद्विशेषवानेव कश्चिदिहात्मा स्यादिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पर एवात्मेहात्मशब्देन गृह्यत इतरवत् । यथेतरेषु सृष्टिश्रवणेषु 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २-१-१) इत्येवमादिषु परस्यात्मनो ग्रहणम् । यथा चेतरस्मिँल्लौकिकात्मशब्दप्रयोगे प्रत्यगात्मैव मुख्य आत्मशब्देन गृह्यते तथेहापि भवितुमर्हति । यत्र तु 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' (बृ० १-४-१) इत्येवमादौ 'पुरुषविधः' (बृ० १-४-१) इत्येवमादि विशेषणान्तरं श्रूयते भवेत्तत्र विशेषवत आत्मनो ग्रहणम् । अत्र पुनः परमात्मग्रहणानुगुणमेव विशेषणमप्युत्तरमुपलभ्यते 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा

योजयति—आत्मशब्दोऽपीत्यादिना । किंच प्रजाः सृष्ट्वा ताः प्रति भोगार्थं गामानयल्लोकस्रष्टा तथाऽश्वमानयत् । तास्तु गवाश्वप्राप्त्या न तृप्तास्ततः पुरुषशरीरे आनीते ता अब्रुवंस्तृप्ताः स्म इति । अयं च व्यवहारो लोकस्रष्टुः प्रजापतित्वे लिङ्गमित्याह—अपिचेति ।

आत्मशब्दस्य चिदात्मनि मुख्यत्वान्मुख्यग्रहे बाधकाभावादुत्तरस्येक्षणादेरनुकूलत्वात्परमात्मग्रहणमिति सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इति । महाभूतसृष्टिपूर्वकं लोकानसृजतेति श्रुतिर्व्याख्येयेति भावः ॥१६॥

कर्ता प्रजापति को ही कहते हैं । 'सृष्टि से पहले नराकृतिवाला एकमात्र आत्मा ही था' इस वाक्य से प्रजापति अर्थ में आत्म शब्द का प्रयोग भी देखा जाता है । एवकार अव्यय से एकत्वावधारण भी उत्पत्ति से पूर्व अपने विकार की अपेक्षाकर युक्तियुक्त ही है । हिरण्यगर्भ को चेतन माना गया है इसलिए ईक्षण भी उसमें हो ही सकता है । इसके अतिरिक्त 'प्रजासृष्टि के बाद उनके लिए स्रष्टा गौ लाया, अश्व लाया और पुरुष आकृति को लाया' इन सभी बातों को कहते हुए इस प्रकार के अनेक व्यापार वैसे ही अनुगत होते हैं जैसे लौकिक विशेषव्यापारवाले संसार में अपने परिवारजनों के लिए गवानयन आदि देखा जाता है । अतः इस ऐतरेय श्रुति में विशेषवान ही कोई आत्मा लोकस्रष्टा जान पड़ता है ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि इस ऐतरेय उपनिषदारम्भ में आत्म शब्द से परमात्मा अर्थ ही लिया जाता है । जैसे 'उसी प्रकृत आत्मा से सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ' इत्यादि अन्य सृष्टिश्रवणस्थलों में आत्म शब्द से परमात्मा अर्थ का ग्रहण होता है और जैसे अन्य लौकिक आत्म शब्दप्रयोग में आत्म शब्द से मुख्य आत्मा का ही ग्रहण होता है, वैसे ही इस ऐतरेय उपनिषद् में भी आत्म शब्द से परमात्मा अर्थ का ही ग्रहण होगा, अन्य अर्थ का नहीं । किन्तु 'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः' इत्यादि वाक्यों में जहाँ पर 'पुरुषविधः' ऐसा विशेषणान्तर सुना जाता है वहाँ ऐसे विशेषण से विशिष्ट आत्मा का ग्रहण हो सकता है । यहाँ पर तो परमात्मग्रहणानुकूल ही विशेषण आगे ग्रन्थ में भी उपलब्ध होता है—'उसने ईक्षण किया कि मैं लोकों की

(३७६) अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥१७॥

इति' (ऐ० १-१)', 'स इमाँल्लोकानसृजत' (ऐ० १-२) इत्येवमादि। तस्मात्तस्यैव ग्रहणमिति न्याय्यम् ॥१६॥

'वाक्यान्वयदर्शनान्न परमात्मग्रहणमिति पुनर्यदुक्तं तत्परिहर्तव्यमिति। अत्रोच्यते—स्यादवधारणादिति। भवेदुपपन्नं परमात्मनो ग्रहणम्। कस्मात्? अवधारणात्। परमात्मग्रहणे हि प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणमाञ्जसमवकल्पते। अन्यथा ह्यनाञ्जसं तत्परिकल्पेत। लोकसृष्टिवचनं तु ³श्रुत्यन्तरप्रसिद्धमहाभूतसृष्ट्यनन्तरमिति योजयिष्यामि। यथा 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६-२-३) इत्येतच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धवियद्वायुसृष्ट्यनन्तरमित्ययूयुजमेवमिहापि। श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो हि समानविषयो विशेषः श्रुत्यन्तरेषूपसंहर्तव्यो भवति। योऽप्ययं व्यापारविशेषानुगमस्ताभ्यो गामानयदित्येवमादिः सोऽपि विवक्षितार्थावधारणानुगुण्येनैव

पूर्वपक्षबीजमनूद्य दूषयति—अन्वयादिति। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इति 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इति चोपक्रमोपसंहारस्थात्मब्रह्मश्रुतिभ्यामेकत्वावधारणात्प्रवेशादिलिङ्गैश्च लोकस्रष्टृत्वादिलिङ्गबाधेन प्रत्यग्ब्रह्म ग्राह्यमिति भावः। स परमेश्वरः। एतमेव सीमानं मूर्ध्नः केशविभागावसानं विदार्य छिद्रं कृत्वा एतया ब्रह्मरन्ध्राख्यया द्वारा लिङ्गविशिष्टः प्रविष्टवानित्यर्थः। मां विना यदि वागादिभिः स्वस्वव्यापारः कृतः, अथ तदाहं क इति त्वपदार्थं विचार्य स्वप्रमेतमेव शोधितमात्मानं ब्रह्म ततमं व्याप्ततममपश्यत्। तकारलोपश्छान्दसः। प्रज्ञा चिदात्मा नेत्र नीयतेऽनेनेति नियामकं यस्य तत् प्रज्ञानेत्रं चिदात्मनियम्यमित्यर्थः।

सृष्टि करूँ', 'तत्पश्चात् उसने इन लोकों की सृष्टि कर डाली' इत्यादि। अतः इस स्थल पर आत्म शब्द से परमात्म अर्थ का ही ग्रहण करना उचित है ॥१६॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् (ललिता)

प्रथम वर्णक—और जो आप ने कहा था कि तत्रस्थ वाक्यों का अन्वय हिरण्यगर्भ में दीखता है, अतः आत्म शब्द से परमात्म अर्थ का ग्रहण करना उचित नहीं है, इस शङ्का का समाधान करने के लिए **'स्यादवधारणात्'** यह सूत्रांश है कि यहाँ पर परमात्मा का ग्रहण करना ही युक्तियुक्त है क्योंकि उपक्रम-उपसंहार से आत्मा और ब्रह्म का एकत्व निश्चित होता है। परमात्मा अर्थ ग्रहण करने पर ही उत्पत्ति से पूर्व आत्मैकत्व का अवधारण सरल जान पड़ता है, अन्यथा द्राविड़ प्राणायाम की कल्पना करनी पड़ेगी। अन्य श्रुतियों में प्रसिद्ध महाभूतसृष्टि के बाद लोकों की सृष्टि उस परमेश्वर ने की, ऐसा योजना मैं करूँगा। जैसे तैत्तिरीय श्रुति में आकाश और वायु की सृष्टि प्रसिद्ध है, उस प्रसिद्ध सृष्टि को लेकर छान्दोग्य श्रुति में **'तत्तेजोऽसृजत'** इस वाक्य द्वारा तेज की सृष्टि कही है। ऐसे ही श्रुत्यन्तर में प्रसिद्ध भूतसृष्टि को लेकर मैं यहाँ अन्वय करूँगा कि भूत-भौतिक सृष्टि के बाद परमेश्वर ने लोकों की सृष्टि की। समानविषयक विशेष जो श्रुत्यन्तर में प्रसिद्ध है उसका उपसंहार श्रुत्यन्तर में करना चाहिए, यह एक सामान्य नियम है। और जो उन देवताओं के लिए गवानयन इत्यादि व्यापारविशेष का अनुगम होता है, वह भी विवक्षितार्थनिर्णय के अनुरूप ही समझना चाहिए क्योंकि

---

१. आत्मा वा इदमेकेति वाक्यस्य प्रजापतौ तात्पर्यदर्शनात्। २. तात्त्विकम् तत्त्वे त्वद्धाऽञ्जसा द्वयमित्यमरः। ३. तस्माद्वा एतस्मादित्यादि श्रुत्यन्तरम्।

ग्रहीतव्यः। न ह्ययं सकलः कथाप्रबन्धो विवक्षित इति शक्यते वक्तुं तत्प्रतिपत्तौ पुरुषार्थाभावात्। ब्रह्मात्मत्वं त्विह विवक्षितम्। तथा ह्यम्भःप्रभृतीनां लोकानां लोकपालानां चाग्न्यादीनां सृष्टिं शिष्ट्वा करणानि करणायतनं च शरीरमुपदिश्य स एव स्रष्टा 'कथं न्विदं मदृते स्यात्' (ऐ० ३-११) इति वीक्ष्येदं शरीरं प्रविवेशेति दर्शयति—'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ० ३-१२) इति। पुनश्च 'यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितम्' (ऐ० ३-११) इत्येवमादिना करणव्यापारविवेचनपूर्वकम् 'अथ कोऽहम्' (ऐ० ३-११) इति वीक्ष्य 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्' (ऐ० ३-१३) इति ब्रह्मात्मत्वदर्शनमवधारयति। तथोपरिष्टात् 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' (ऐ० ५३) इत्यादिना समस्तभेदजातं सह महाभूतैरनुक्रम्य 'सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ० ५-३) इति ब्रह्मात्मत्वदर्शनमेवावधारयति तस्मादिहात्मगृहीतिरित्यनपवादम्।

अपरा योजना—आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्। वाजसनेयके 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४-३-७) इत्यात्मशब्देनोपक्रम्य तस्यैव सर्वसङ्गविनिर्मुक्तत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मात्मतामवधारयति। तथा ह्युपसंहरति—'स वा एष

उक्तव्याख्याने गुणोपसंहारस्यास्फुटत्वान्न पादसंगतिरिति मत्वैव व्याख्यान्तरमाह—अपरेति।

वहाँ की विस्तृत कथा विवक्षित है, ऐसा नहीं कह सकते। उसे जान लेने पर कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है। यहाँ तो ब्रह्मात्मत्व बतलाना अभीष्ट है इसीलिए अम्भ आदि लोकों और अग्न्यादि लोकपालों की सृष्टि करने के बाद इन्द्रियों और उनके आयतन गोलक शरीर का उपदेशकर वही स्रष्टा यह सोचने लग गया कि 'ये सब मेरे बिना कैसे जीवित रह सकेंगे' और ऐसा विचारकर इस शरीर में वह प्रवेश कर गया, इसीलिए 'मस्तकस्थ इस सीमा को ही चीरकर उसके द्वारा जगत्स्रष्टा परमात्मा देह में प्रवेश कर गया' ऐसा श्रुति बतलाती है। फिर वहाँ 'यदि वाणी से भाषण व्यापार होता और यदि प्राण से अभिप्राणन होता' इत्यादि वाक्य द्वारा करणव्यापारपूर्वक विवेचनकर तत्पश्चात् 'मैं कौन हूँ' ऐसा विचारकर 'उस स्रष्टा परमेश्वर ने इसी व्यापक ब्रह्मपुरुष को आत्मरूप से जाना' इस वाक्य द्वारा श्रुति ब्रह्मात्मत्व दर्शन का अवधारण बतलाती है। तत्पश्चात् 'यह ब्रह्मा हैं, यह इन्द्र है' इत्यादि वाक्य द्वारा महाभूतों के सहित सम्पूर्ण द्वैत को बतलाकर 'वह सम्पूर्ण जगत् प्रज्ञा से नियन्त्रित है और प्रज्ञान में ही प्रतिष्ठित है, अतः लोक प्रज्ञानेत्र है, प्रज्ञा सबकी प्रतिष्ठा है और वह प्रज्ञान ब्रह्मस्वरूप ही है' इस वाक्य द्वारा श्रुति ब्रह्मात्मत्व दर्शन का ही अवधारण श्रुति कराती है। अतः इस स्थल में आत्म शब्द से परमात्मा अर्थ का ग्रहण करना निर्दुष्ट है।

द्वितीय वर्णक—अब दूसरी योजना 'आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्' इस सूत्र की बतलाते हैं। वाजसनेयक में 'आत्मा कौन है ?' इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि 'जो यह प्राणों के मध्य हृदय के भीतर विज्ञानमय अन्तर्ज्योति पुरुष है।' इस वाक्य में आत्म शब्द से प्रसङ्ग प्रारम्भकर उसी को सर्वसङ्ग से विनिर्मुक्त बतलाते हुए ब्रह्मात्मता का निश्चय श्रुति कराती है। 'वह यह महान् आत्मा

महाजन आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४-४-२५) इति । छान्दोग्ये तु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६-२-१) इत्यन्तरेणैवात्मशब्दमुपक्रम्योदर्के 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७) इति तादात्म्यमुपदिशति । तत्र संशयः—तुल्यार्थत्वं किमनयोर्[१]आम्नानयोः स्यादतुल्यार्थत्वं वेति । अतुल्यार्थत्वमिति तावत्प्राप्तमतुल्यत्वादाम्नानयोः । नह्याम्नानवैषम्ये सत्यर्थसाम्यं युक्तं प्रतिपत्तुमाम्नानतन्त्रत्वादर्थपरिग्रहस्य । वाजसनेयके चात्मशब्दोपक्रमादात्मतत्त्वोपदेश इति गम्यते । छान्दोग्ये तूपक्रमविपर्ययादुपदेशविपर्ययः । ननु छन्दोगानामप्यस्त्युदर्के तादात्म्योपदेश इत्युक्तम् । सत्यमुक्तम् । उपक्रमतन्त्रत्वादुपसंहारस्य [२]तादात्म्यसम्पत्तिः सेति मन्यते ।

तथा प्राप्तेऽभिधीयते—आत्मगृहीतिः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६-२-१)

उदर्क उपसंहारः । [३]सच्छब्दस्यात्मानात्मसाधारण्यात्संशयमाह—तत्रेति । पूर्वपक्षे सत्तासामान्ये ब्रह्मात्मत्वसंपदुपास्तिश्छान्दोग्ये, वाजश्रुतौ निर्गुणविद्येति भेदान्मिथोगुणानुपसंहारः । सिद्धान्ते तूभयत्र निर्गुणविद्यैक्यादुपसंहार इति फलभेदः । पदानां जातौ शक्तिग्रहात्सच्छब्दोऽपि सत्ताजातिवाचीत्युपक्रमस्य निश्चितार्थत्वादसंजातविरोध्युपक्रमबलेन तादात्म्योपदेशः संपत्तिपरतया नेय इति पूर्वपक्षनिष्कर्षः । पूर्वत्र वाक्यैक्यादर्थादिपरत्वं त्यक्त्वा विद्यैक्यमुक्तमिह तु सदात्मशब्दाभ्यां जात्यात्मवाचिभ्यामुपक्रमभेदाद्वाक्यभेदे सति विद्याभेद इति प्रत्युदाहरणसंगतिः । न चात्मशब्दो जातिवाचकः, आत्मव्यक्त्यैक्याज्जात्यभावात्किंतु सर्वान्तरवस्तुवाचकः । कल्पितजातिवाचित्वेऽप्युपक्रमभेदः स्फुट एव सत्तात्मत्वयोर्भेदादिति मन्तव्यम् ।

सिद्धान्तयति—तथेत्यादिना । उपक्रमान्वयादिति । उपक्रमाधीनत्वादुपसंहारस्येत्यर्थः । तच्चाव-

---

अजन्मा, जरामरणरहित, अमृत और अभय ब्रह्मस्वरूप ही है' इस वाक्य द्वारा उक्त प्रसङ्ग का उपसंहार करती है। किन्तु छान्दोग्य में 'हे सौम्य ! सृष्टि से पूर्व सजातीय–विजातीय–स्वगतभेदशून्य सत् ही था' इस वाक्य द्वारा आत्म शब्द के बिना ही प्रसङ्ग प्रारम्भकर उपसंहार में 'वह आत्मा है और वही तू है' इस वाक्य द्वारा श्रुति आत्मतादात्म्य का उपदेश करती है। इसलिए वहाँ पर संशय होता है कि ये दोनों ही पाठ तुल्यार्थक हैं अथवा अतुल्यार्थक हैं। इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि इन दोनों में अतुल्यार्थता ही है। पाठ के वैषम्य रहने पर अर्थ की समानता मानना उचित नहीं है, पाठ के अनुरूप ही अर्थ ग्रहण किया जाता है। वाजसनेयक में आत्म शब्द से प्रसङ्ग प्रारम्भकर आत्मतत्त्व का उपदेश किया है, ऐसा जान पड़ता है; किन्तु छान्दोग्य में प्रारम्भिक प्रसङ्ग उससे विपरीत जान पड़ता है, अतः अर्थ भी विपरीत ही है। शङ्का—छन्दोग शाखावालों के यहाँ भी उपसंहार में तादात्म्य उपदेश है ही, ऐसा कहा जा चुका है। समाधान—ठीक कहा है किन्तु उपसंहार का अर्थ उपक्रम के अनुसार किया जाता है, तदनुरूप ही वह तादात्म्यसम्पत्ति मानी जायेगी।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहता है कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस वाक्य में

---

१. पुरुषयोः । २. न तु तादात्म्यप्रतिपत्तिः संपदुपासना सेत्यर्थः । ३. अनात्मनि सामान्येऽपि प्रसिद्धः सच्छब्दः तार्किकसमये ।

इत्यत्र छन्दोगानामपि भवितुमर्हतीतरवत् । यथा 'कतम आत्मा' (बृ० ४-३-७) इत्यत्र वाजसनेयिनामात्मगृहीतिस्तथैव । कस्मात् ? उत्तरात्तादात्म्योपदेशात् । अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् । यदुक्तमुपक्रमान्वयादुपक्रमे चात्मशब्दश्रवणाभावान्नात्मगृहीतिरिति तस्य कः परिहार इति चेत्सोऽभिधीयते स्यादवधारणादिति । भवेदुपपन्नेहात्मगृहीतिः, अवधारणात् । तथाहि—'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्'(छा० ६-१-३) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमवधार्य तत्संपिपादयिषया 'सदेव—'—इत्याह । तच्चात्मगृहीतौ सत्यां सम्पद्यते । अन्यथा हि योऽयं मुख्य आत्मा स न विज्ञात इति नैव सर्वविज्ञानं सम्पद्यते । तथा प्रागुत्पत्तेरेकत्वावधारणं जीवस्य चात्मशब्देन परामर्शः स्वापावस्थायां च तत्स्वभावसंपत्तिकथनं परिचोदनापूर्वकं च पुनःपुनः 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७) इत्यवधारणमिति च सर्वमेतत्तादात्म्यप्रतिपादनायामेवावकल्पते न तादात्म्यसम्पादनायाम् । न चात्रोपक्रमतन्त्रत्वोपन्यासो न्याय्यः । न ह्युपक्रमेः आत्मत्वसंकीर्तनमनात्मत्व संकीर्तनं वास्ति । सामान्योपक्रमश्च न वाक्यशेषगतेन विशेषेण

धारणं सत्पदेनात्मगृहीतौ सत्यां युज्यत इत्याह—तच्चेति । सदेकमेवेत्यवधारणं, अनेन जीवेनात्मनेति सद्देवताकर्तृको जीवस्यात्मशब्देन परामर्शः, सुप्तौ जीवः सता संपन्नो भवतीति कथनं । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति परिचोदना । सदितिपदेन सत्ताश्रय उच्यते न जातिमात्रं, कर्तृवाचिशतृप्रत्ययान्तत्वात् । तथा चोपक्रमे सत्ताश्रयसामान्योक्तौ क आश्रय इत्याकाङ्क्षायां वाक्यशेषादात्मेति निश्चीयत इत्याह—नचेति । सच्छब्दस्यात्मानात्मसाधारण्यमुपेत्योक्त तदपि नास्ति 'आत्मपदवत्सत्-

---

छन्दोग शाखावालों ने भी आत्मा को ही बतलाया है । जैसे वाजसनेयियों ने 'कतम आत्मा' इस स्थल में आत्मा का ग्रहण किया है वैसे ही उपसंहार में तादात्म्य को देखते हुए उपक्रम में आये 'सत्' शब्द का अर्थ आत्मा ही करना चाहिए । और जो आप ने कहा था कि उपक्रम में आत्म शब्द का श्रवण न होने के कारण आत्मा अर्थ ग्रहण करना ठीक नहीं है, उसका क्या समाधान है ? इस पर हम कहते हैं कि सत् शब्द का आत्मा अर्थ लेना ही युक्तियुक्त है क्योंकि 'जिसके सुनने, मनन करने और जान लेने पर अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है' इस वाक्य के द्वारा एकविज्ञान से सर्वविज्ञान का निश्चयकर उसी का बोध कराने के लिए 'सदेव' इत्यादि प्रसङ्ग प्रारम्भ किया गया है । वह प्रसङ्ग 'सत्' शब्द का अर्थ कराने पर ही सम्पन्न होगा अन्यथा जो यह मुख्य आत्मा सर्वाधिष्ठान है वह विज्ञात नहीं हुआ तो सर्वविज्ञान भी नहीं हो सकेगा । वैसे ही उत्पत्ति से पूर्व जीव का एकत्वावधारण 'आत्म' शब्द से ही किया गया है । सुषुप्तावस्था में उस परमात्मस्वभाव की प्राप्ति का कथन, प्रश्न उत्थापनपूर्वक बारम्बार 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य द्वारा 'तत्-त्वम्' पदार्थ का एकत्वावधारण इत्यादि ये सब कुछ आत्मा-परमात्मा के तादात्म्यबोध के लिए ही बतलाये जाते हैं, न कि तादात्म्य उपासना के लिए । उपक्रम में आत्मत्व का संकीर्तन या अनात्मत्व का संकीर्तन नहीं है, वह उपक्रम तो सामान्यरूप से बतलाया गया है जो वाक्यशेषगत

---

१. अवधारणाम् । २. आत्मानात्मसाधारणम् । ३. साधारण्यमपि । ४. आकाशपद इति पाठान्तरम् ।

६. कार्याख्यानाधिकरणम् (सू० १८)

अनग्नबुद्ध्याचमने विधेये बुद्धिरेव वा । उभे अपि विधीयेते द्वयोरत्र श्रुतत्वतः ॥
स्मृतेराचमन प्राप्तं प्रायत्यार्थमनूद्य तत् । अनग्नतामतिः प्राणविदोऽपूर्वा विधीयते ॥

विरुध्यते विशेषाकाङ्क्षित्वात्सामान्यस्य । सच्छब्दार्थोऽपि च पर्यालोच्यमानो न मुख्यादात्मनोऽन्यः सम्भवत्य[१]तोऽन्यस्य वस्तुजातस्यारम्भणशब्दादिभ्योऽनृतत्वोपपत्तेः । आम्नानवैषम्यमपि नावश्यमर्थवैषम्यमावहति । आहर पात्रं पात्रमाहरेत्येवमादिष्वर्थसाम्येऽपि [२]तद्दर्शनात् । तम्मादेवंजातीयकेषु वाक्येषु प्रतिपादनप्रकारभेदेऽपि प्रतिपाद्यार्थाभेद इति सिद्धम् ॥१७॥

पदस्य व्यक्तिवाचित्वाद्व्यक्तिश्च बाधायोग्या चिदात्मवेति न वाजिछन्दोगयोरुपक्रमवैषम्यमित्याह—सच्छब्देति । **वैषम्यमुपेत्याप्याह**—आम्नानेति । **वाजिवाक्ये त्वमर्थस्य तदर्थपर्यन्तस्य लक्ष्यस्य प्रतिपादनं छान्दोग्यवाक्ये तु तदर्थस्य त्वमर्थपर्यन्तस्य प्रतिपादनमिति प्रकारभेदेऽपि वाक्यार्थैक्याद्विद्यैक्यमिति फलितमाह**—तस्मादिति ॥१७॥

विशेष के साथ विरुद्ध नहीं पड़ता है क्योंकि सामान्य को विशेष की आकांक्षा सदा रहती है । विचार करने पर **'सत्'** शब्द का अर्थ भी मुख्य आत्मा से भिन्न नहीं है, अतः अन्य वस्तुमात्र को आरम्भण शब्दादि के द्वारा अनृतत्व के कथन से आम्नानवैषम्य भी अर्थवैषम्य का साधक अवश्य नहीं हो सकता । **'आहर पात्रम् पात्रमाहर'** इन प्रयोगों में अर्थ की समानता रहने पर भी पाठवैषम्य देखा जाता है । अतः ऐसे वाक्यों में प्रतिपादनप्रकार का भेद रहने पर भी जीव-ब्रह्म का ऐक्य अर्थ जो वेदान्त का प्रतिपाद्य है उसका अभेद ही रहता है, यह सिद्ध हुआ ॥१७॥

६. कार्याख्यानाधिकरण

१. **सङ्गति**—जैसे पूर्व अधिकरण में उपसंहार वाक्यानुसार संदिग्ध **'सत्'** शब्द से प्रारम्भ किया गया वाक्य आत्मपरक है, वैसे ही **'आचामेत'** इस वाक्यशेष के बल से **'आचामन्ति'** इस वर्तमान लकार से कही गयी संदिग्ध विधि में विधित्व का निर्णय कर लेना चाहिए इस प्रकार पूर्व अधिकरण के निर्णय को दृष्टान्त बनाकर इसका उत्थापन हुआ है ।

२. **विषय**—भोजन से पूर्व और पश्चात् किये जाने वाले आचमन का विचार इस अधिकरण का विषय है ।

३. **संशय**—छान्दोग्य तथा वाजसनेयक में कहा है कि **'तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेत्, अशित्वा चाचामेत् । एतमेव तदनग्नं कुरुते'** (अतः प्राणोपासक भोजन से पूर्व और पश्चात् आचमन करे, इस प्रकार वह उपासक प्राण को अनग्न करता है) । यहाँ पर आचमन और प्राण में अनग्नता का चिन्तन, ऐसे दो अर्थ प्रतीत होते हैं । दोनों का विधान करने पर वाक्यभेद हो जायेगा और एक का विधान मानने पर सन्देह होता है कि क्या आचमन विधेय है अथवा अनग्नताचिन्तन विधेय है ?

४. **पूर्वपक्ष**—जब दोनों का विधान सुना जा रहा है तब आचमन तथा प्राण का अनग्नताचिन्तन, दोनों को ही विधेय मानना चाहिए ।

५. **सिद्धान्त**—'अप्राप्त अर्थ में ही शास्त्र सार्थक माना जाता है' इस न्याय से **'द्विजो नित्यमुपस्पृशेत्'** इस स्मृतिवाक्य द्वारा सभी अनुष्ठान में शुद्धि के लिए आचमन तो प्राप्त ही है, उसी का यहाँ

---

१. आत्मनः सकाशात् । २. आम्नानवैषम्यस्य ।

(३७७) कार्याख्यानादपूर्वम् ॥१८॥

छन्दोगा वाजसनेयिनश्च प्राणसंवादे श्वादिमर्याद प्राणस्यान्नमाम्नाय तस्यैवापो वास आमनन्ति। अनन्तरं च छन्दोगा आमनन्ति—'तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति' (छा० ५-२-२) इति। वाजसनेयिनस्त्वामनन्ति—'तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते' (बृ० ६-१-१४), 'तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते' इति। तत्र त्वाचमनमनग्नताचिन्तनं च प्राणस्य प्रतीयते तत्किमुभयमपि विधीयत उताचमनमेवोतानग्नताचिन्तनमेवेति विचार्यते। किं तावत्प्राप्तमुभयमपि विधीयत इति।

कार्याख्यानादपूर्वम्। 'मे किमन्नं किं वासः' इति प्राणेन पृष्टा वागादयः ऊचुः, 'यदिदं किंचाश्वभ्य आकृमिभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वासः' इति सर्वं प्राणिभिर्भुज्यमानं यदिदं प्रसिद्धं श्वादिपर्यन्तमन्नं तत्प्राणस्य तथान्नमाप आच्छादनमित्युपासकेन चिन्तनीयमित्यर्थः। शाखाद्वयेऽप्यविशेषश्रुतिमुक्त्वा विशेषश्रुतिभेदमाह—अनन्तर चेति। तस्मादपां प्राणवस्त्रत्वादशिष्यन्तोऽशनं कुर्वन्तः श्रोत्रिया एतत्कुर्वन्ति। किं तत्, भोजनात्पूर्वमूर्ध्वं चाचामन्तीति यत्तदद्भिः प्राणं परिदधत्याच्छादयन्तीत्यर्थः। पूर्वोत्तराचमनसंबन्धिनीष्वप्सु प्राणवासस्त्वचिन्तनरूपमनग्नताध्यानं कार्यमिति भावः। तत् तस्मादित्युक्तार्थं[1] यतः पूर्वं विद्वांसोऽशनात्प्रागूर्ध्वं चाचामन्त एतमेवानं प्राणं तत्तेनाचमनेनानग्नमाच्छादितं कुर्वन्तो मन्यन्ते चिन्तयन्ति, तस्मादेवंविदिदानींतनोऽप्युपासक एवं कुर्यादिति वाजिश्रुत्यर्थः। अत्रोभयोरप्यपूर्वत्वात्संशयमाह—तत्किमिति। सदिग्धसदुपक्रमस्य वाक्यशेषान्निर्णयवदाचामन्तीति पदस्य विधित्वसंदेहे आचामेदिति वाक्यशेषाद्विधित्वनिर्णय इति दृष्टान्तसंगत्या पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति। ज्ञानसाधनोपासनाङ्गविधिविचारात्पादसङ्गतिर्बोध्या। पूर्वपक्षे प्राणविद्याङ्गत्वेनापूर्वाचमनं विहित-

पर अनुवादकर प्राणोपासना में अनग्नताचिन्तन का विधान किया गया है। आचमन पूर्व से प्राप्त है, उसका अनुवादकर प्राणोपासक के लिए अपूर्व अनग्नताचिन्तनमात्र का विधान करना अभीष्ट है, अतः दोनों विधेय नहीं है।

कार्याख्यानादपूर्वम् (ललिता)

छन्दोग तथा वाजसनेयि शाखावाले प्राण संवाद प्रसङ्ग में प्राण के अन्न कुत्ते तक बतला देने के बाद उसी प्राण का वस्त्र जल को कहते हैं, यहाँ तक दोनों की सहमति है। तत्पश्चात् छन्दोग शाखावाले बतलाते हैं कि 'इसीलिए भोजनारम्भ से पूर्व और पश्चात् जल के द्वारा प्राण को आच्छादित करते हैं।' वाजसनेयि शाखावाले कहते हैं कि 'श्रोत्रिय प्राण उपासक खाते समय और खाने के बाद आचमन करते हैं ऐसा करके वे मानते है कि हम इसी प्राण को अनग्न करते हैं अर्थात् वस्त्र दे रहे हैं।' 'इसीलिए यह उपासक खाना चाहता है तब और खाने के बाद भी आचमन करे, ऐसा करने से इस प्राण को वह अनग्न करता है अर्थात् वस्त्र से युक्त करता है।' वहाँ पर यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि आचमन और अनग्नताचिन्तन जो प्राण के विषय में प्रतीत होते हैं, क्या उक्त वाक्यों से दोनों का विधान है या केवल आचमन का अथवा केवल अनग्नताचिन्तन का? ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष का कहना है कि दोनों ही अर्थ का बोध होने के कारण दोनों का विधान यहाँ

१. अपां प्राणस्य वस्त्रत्वादित्यर्थः।

कुतः ? —उभयस्याप्यवगम्यमानत्वात् । उभयमपि चैतदपूर्वत्वाद्विध्यर्हम् । अथवाचमनमेव विधीयते विस्पष्टा हि तस्मिन्विधिविभक्तिस्तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदिति । तस्यैव स्तुत्यर्थमनग्नतासङ्कीर्तनमिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नाचमनस्य विधेयत्वमुपपद्यते कार्याख्यानात् । प्राप्तमेव हीदं कार्यत्वेनाचमनं प्रायत्यार्थं स्मृतिप्रसिद्धमन्वाख्यायते[1] । नन्वियं श्रुतिस्तस्याः स्मृतेः मूलं स्यात् । नेत्युच्यते । विषयनानात्वात् । सामान्यविषया हि स्मृतिः पुरुषमात्रसम्बद्धं प्रायत्यार्थमाचमनं[2] प्रापयति । श्रुतिस्तु प्राणविद्याप्रकरणपठिता तद्विषयमेवाचमनं विदधती विदध्यात् । नच भिन्नविषययोः श्रुतिस्मृत्योर्मूलमूलिभावोऽवकल्पते । नचेयं श्रुतिः प्राण-

मन्यत्रोपसंहर्तव्यमिति फलं, सिद्धान्ते तस्याविधेयत्वान्नाङ्गत्वेनोपसंहार इति विवेकः । उभयविधाने वाक्यभेदः स्यादित्यरुच्या पक्षान्तरमाह—अथवेति । प्रशस्तं हीदमाचमनं यस्मादनेन प्राणमनग्नं मन्यन्त इति स्तुतिः ।

प्रसिद्धानुवादेनाप्रसिद्धं विधेयमिति न्यायेन सिद्धान्तयति—एवमिति । प्रयतस्य प्रयत्नवतो भावः प्रायत्यं शुद्धिस्तदर्थमित्यर्थः । स्मृत्या शुद्ध्यर्थं कार्यत्वेन [3]विहितसकलकर्माङ्गतया प्राप्ताचमनानुवादेनापूर्वमनग्नताध्यानमेव विधीयत इति सूत्रार्थः । स्मार्तमाचमनं श्रुत्या नानूद्यते किं त्वनया श्रुत्या विहितं स्मृत्यानूद्यत इति शङ्कते—नन्विति । श्रुतिस्मृत्योरनयोर्न मूलमूलिभावो भिन्नविषयत्वादिति परिहरति—नेति । 'द्विजो नित्यमुपस्पृशेत्' इत्याद्या स्मृतिः । [4]आचमनान्तरविधिमुपेत्य मूलमूलित्वं निरस्तं, संप्रति विधिरसिद्ध इत्याह—नचेयं श्रुतिरिति । अत एवेति । आचमनविध्यभावादेवेत्यर्थः । अप्सु

पर किया गया है क्योंकि दोनों ही अपूर्व होने के कारण विधान के योग्य हैं अथवा आचमन का ही विधान यहाँ पर मानना चाहिए क्योंकि उसी अर्थबोध के लिए विस्पष्ट विभक्ति यहाँ पर दीखती हैं । अतः 'ऐसा उपासक खाना चाहता है तब और खाकर भी आचमन करे' इस वाक्य द्वारा उसी आचमन की स्तुति के लिए अनग्नताचिन्तन कहा गया है ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि इस स्थल में प्राप्त-आचमन का आख्यान होने के कारण उस आचमन में विधेयत्व सिद्ध नहीं होता क्योंकि कर्तव्यरूप से आचमन शुद्धि के लिए स्मृति में प्रसिद्ध ही है । 'द्विजो नित्यमुपस्पृशेत्' इस स्मृतिवाक्य द्वारा सभी कार्यों के आरम्भ में आचमन का विधान किया जा चुका है, उसी विहित आचमन का अनुवादकर उक्त श्रुति द्वारा उसमें अनग्नता चिन्तन का विधान किया गया है । शङ्का—यह श्रुति उस स्मृति का मूल है, न कि श्रुति का मूल स्मृति है । श्रुति से विहित का स्मृति से अनुवाद तो उचित होता है किन्तु स्मृति से विहित का अनुवाद श्रुति करने लग जाय, यह युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता । समाधान—भिन्न विषय होने के कारण उक्त श्रुति-स्मृति में मूल-मूलीभाव नहीं है । 'द्विज सदा सभी कार्यों के आरम्भ में आचमन करे' यह स्मृति सामान्य विषयक है जो पुरुषमात्र से सम्बद्ध शुद्धि के लिए आचमन बतलाती है, किन्तु प्राण उपासना प्रकरण में पढ़ी गयी श्रुति उस शुद्धयर्थ आचमन में ही केवल अनग्नताचिन्तन कहती है । इस प्रकार भिन्नविषयक श्रुति-स्मृति में मूलमूली-भाव की कल्पना नहीं कर सकते । यह श्रुति जो प्राण उपासना प्रकरण में

१. श्रुत्याऽनूद्यत इत्यर्थः । २. शुद्ध्यर्थम् । ३. आचमने विहिते सति । ४. इतरकर्माङ्गभूताचमनादन्यत्प्राणविषयमाचमनमाचमनांतरं तद्विधायिकेयं श्रुतिरित्यभ्युपेत्येत्यर्थः ।

विद्यासंयोग्यपूर्वमाचमनं विधास्यतीति शक्यमाश्रयितुम्। [1]पूर्वस्यैव पुरुषमात्रसंयोगिन आचमनस्येह [2]प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। अत एव च नोभयविधानम्। उभयविधाने च वाक्यं भिद्येत। तस्मात्प्राप्तमेवाशिशिषतामशितवतां चोभयत आचमनमनूद्य एतमेव 'तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यते' (बृ० ६-१-१४) इति प्राणस्यानग्नताकरणसङ्कल्पोऽनेन वाक्येनाचमनो[3]यास्वप्सु प्राणविद्यासम्बन्धित्वेनापूर्व उपदिश्यते। न चायमनग्नतावाद आचमनस्तुत्यर्थ इति न्याय्यम्। आचमनस्याविधेयत्वात्। स्वयं चानग्नतासङ्कल्पस्य विधेयत्वप्रतीतेः। न चैवं सत्येकस्याचमनस्योभयार्थताऽभ्युपगता भवति प्रायत्यार्थता परिधानार्थता चेति। क्रियान्तरत्वाभ्युपगमात्। [4]क्रियान्तरमेव ह्याचमनं नाम प्रायत्यार्थं पुरुषस्याभ्युपगम्यते [5]तदीयासु त्वप्सु वासः सङ्कल्पनं नाम [6]क्रियान्तरमेव परिधानार्थं प्राणस्याभ्युपगम्यत इत्यनवद्यम्। अपिच 'यदिदं किंचाश्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतंगेभ्यस्तत्तेऽन्नम्' (बृ०६-१-१४) इत्यत्र तावन्न सर्वान्नाभ्यवहारश्चोद्यत इति शक्यं वक्तुम्, अशब्दत्वादशक्यत्वाच्च। सर्वं तु प्राणस्यान्नमितीयमन्नदृष्टिश्चोद्यते तत्साहचर्याच्चापो वास इत्यत्रापि नापामाचमनं

प्राणवासस्त्वध्यानाख्यः सकल्पः प्राणविद्याङ्गत्वेन विधीयत इत्याह—तस्मादिति। स्वयं चेति अपूर्वत्वादित्यर्थः। शुद्ध्यर्थं विनियुक्तस्याचमनस्य प्राणाच्छादनार्थत्वं विरुद्धमित्याशङ्क्याह—न चैवं सतीति। आचमनस्याच्छादनार्थत्वमसिद्धमित्यर्थः। किंच यथा पूर्ववाक्ये प्राणस्यान्नध्यानमङ्गं विहितं तथात्राप्सु वासोध्यानं विधीयते अन्यथाचमनविधौ पूर्वत्र ध्यानविधिरुत्तरत्र क्रियाविधिरित्यर्धवैशसं स्यादित्याह—अपिचेति। भक्षयेदिति शब्दाभावाच्छ्वाद्यन्नस्य सर्वस्य मनुष्येणोपासकेन भोक्तुमशक्यत्वाच्च न

कही गयी है वह अपूर्व आचमन का विधान करेगी, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि पुरुषमात्र के साथ सम्बन्ध रखने वाले स्मृतिविहित पूर्वआचमन की ही इस श्रुति में प्रत्यभिज्ञा होती है। इसलिए आचमन और अनग्नताचिन्तन, दोनों का विधान श्रुति से नहीं कह सकते। उभयविधान मानने पर वाक्यभेद भी होने लग जायेगा। अतः भोजन के इच्छुक और भोजन किये हुए, दोनों के लिए प्राप्त आचमन का अनुवादकर 'उसी प्राण को अनग्न करने वाले माने जाते हैं' इस वाक्य के द्वारा प्राण को अनग्न करने का संकल्प उस प्राण उपासना के साथ सम्बन्ध रखने वाले आचमनीय जल में अपूर्व अर्थ का उपदेश किया जाता है। यह अनग्नताकथन आचमनस्तुति के लिए अर्थवाद मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि इस श्रुतिवाक्य में आचमन विधेय है ही नहीं, स्वयं अनग्नतासंकल्प में ही विधेयत्व प्रतीत होता है। इस प्रकार एक ही आचमन में उभयार्थता नहीं मानी जा रही है, शुद्ध्यर्थता और परिधानार्थता ये दोनों भिन्न क्रिया मानी गयी है। आचमन भिन्न क्रिया है जो पुरुष की शुद्धि के लिए मानी जाती है; उस आचमन प्रयोजन को सिद्धि के लिए जल में वस्त्रसंकल्प, यह भिन्न क्रिया है जो प्राण के परिधानार्थ मानी जाती है, यह निर्दुष्ट पक्ष है। और 'जो यह कुत्ते, कीड़े एवं कीट-पतंग के लिए अन्न प्रसिद्ध हैं वे सब उस प्राण के अन्न हैं' इस वाक्य में सर्वान्नभक्षण का विधान नहीं है क्योंकि भक्षयेत ऐसा शब्द वहाँ पर नहीं है और न उपासक मनुष्य सभी अन्न को खा सकता है, किन्तु ये सब प्राण के अन्न हैं, ऐसी दृष्टि कर सकता है। उस साहचर्य से यह मान सकते

१. स्मृतिविहितस्यैव। २. श्रुतौ। ३. आदावते च। ४. वाह्यं हस्तक्रियारूपम्। ५. आचमनार्थासु। ६. आन्तर मानसव्यापाररूपम्।

चोद्यते प्रसिद्धास्वेव त्वाचमनीयास्वप्सु परिधानदृष्टिश्चोद्यत इति युक्तम् । न ह्यर्धवैशसं सम्भवति । अपिचाचामन्तीति वर्तमानापदेशित्वान्नायं शब्दो विधिक्षमः । ननु मन्यन्त इत्यपि समानं वर्तमानापदेशित्वम् । सत्यमेवमेतत् । अवश्यविधेये त्वन्यतरस्मिन्वासः कार्याख्यानादपां वासःसंकल्पनमेवापूर्वं विधीयते नाचमनं पूर्ववद्धि तदित्युपपादितम् ।

यदप्युक्तं विस्पष्टा चाचमने विधिविभक्तिरिति तदपि [1]पूर्ववत्त्वेनैवाचमनस्य प्रत्युक्तम् । अत एवाचमनस्याविधित्सितत्वादेतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्त इत्यत्रैव काण्वाः पर्यवस्यन्ति नामनन्ति तस्मादेवंविदित्यादि । तस्मान्माध्यंदिनानामपि पाठ आचमनानुवादेनैवंवित्त्वमेव [2]प्रकृतप्राणवासोविधित्व विधीयत इति प्रतिपत्तव्यम् । योऽप्ययमभ्युपगमः क्वचिदाचमनं विधीयते क्वचिद्वासोविज्ञानमिति सोऽपि न साधुः । आपो वास इत्यादि—

पूर्ववाक्ये क्रियाविधिरित्यर्थः । इतश्चाचमनमत्र न विधेयमित्याह—अपिचेति । अनग्नं मन्यन्त इत्यत्र वासस्त्वध्यानमपि न विधेयं दोषसाम्यादिति शङ्कते—नन्विति । उभयोरप्यनुवादत्वे वैफल्यादवश्यमेकानुवादेनैकं विधेयं तच्च विधेयं वासोध्यानमेव वासःकार्यस्यानग्नत्वस्याख्यानादपूर्वत्वाच्चेति समाधानार्थः । पूर्ववदिति स्मृत्या प्राप्तमित्यर्थः ।

आचामेदिति न विधिः किंतु विष्णुरुपांशु यष्टव्य इतिवदनुवाद इत्यत्र लिङ्गमाह—अत एवेति । तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदिति वाक्यस्याविधित्वे काण्वैरपठनं लिङ्गमित्यर्थः । तर्हि पाठबलान्माध्यन्दिने आचमनविधिः काण्वे ध्यानविधिरिति कस्यचिन्मतं निराकरोति । योऽपीति ॥१८॥

हैं कि 'जल उसका वस्त्र है' इस वाक्य में भी उस जल में अपूर्व आचमन का विधान नहीं मान सकते, किन्तु स्मृतिविहित जल में ही परिधानदृष्टि का विधान करती है, ऐसा मानना उचित है। अर्धवैशस कहना भी सम्भव नहीं है। 'आचामन्ति' ऐसा वर्तमान उपदेश होने के कारण भी यह शब्द विधान करने में समर्थ नहीं है। शङ्का—'अनग्नं मन्यन्ते' इस क्रिया में भी वर्तमान उपदेश तो समान ही है। समाधान—यह कहना आप का सत्य है पर किसी एक में विधेयत्व मानना आवश्यक है। अतः स्मृतिविहित आचमनीय जल में वस्त्रसंकल्प ही अपूर्व वस्तु है जिसका विधान उक्त श्रुति से किया गया है, आचमन का विधान नहीं है यह पहले भी बतलाया जा चुका है।

और जो आप ने कहा था कि 'आचामेत' इस क्रियावाचक आचमन पद में विधि विभक्ति विस्पष्ट भासती है, यह आक्षेप भी पूर्वरीति से आचमन के विषय में निरस्त हो जाता है। अतः आचमन का विधान करता अभीष्ट न होने के कारण 'एतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते' (इसी प्राण को अनग्न करने वाले वे उपासक माने जाते हैं) इस अर्थ में ही काण्व शाखावाले विश्राम लेते हैं, 'तस्मादेवं वेत्ति' इत्यादि वाक्य में नहीं पढ़ते हैं और इसीलिए माध्यन्दिन शाखावालों के भी पाठ में आचमन अनुवाद के द्वारा एवंवित्व ही प्रकृत प्राणों में वस्त्रसंकल्प का विधान किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। और यह जो मानते हैं कि कहीं पर आचमन का विधान किया गया है और कहीं पर वस्त्रपरिधानसंकल्प का विधान किया गया है, ऐसा अर्थ करना भी ठीक नहीं है क्योंकि 'आपोवासः'

---

१. अनुवादत्वेनैव । २. एवंवित्वमेवाह प्रकृतेति ।

१०. समानाधिकरणम् (सू० १९)

(३७८) समान एवं चाभेदात् ॥१९॥

शाण्डिल्यविद्या काण्वानां द्विविधैकविधाऽथवा। द्विरुक्तेरेकशाखायां द्वैविध्यमिति गम्यते ॥
एका मनोमयत्वादिप्रत्यभिज्ञानतो भवेत्। विद्याया विधिरेकत्र स्यादन्यत्र गुणे विधिः ॥

कायां वाक्यप्रवृत्तेः सर्वत्रैकरूप्यात्। तस्माद्वासोविज्ञानमेवेह विधीयते नाचमनमिति न्याय्यम् ॥१८॥

वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यनामाङ्किता विद्याविज्ञाता तत्र च गुणाः श्रूयन्ते 'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम्' इत्येवमादयः। तस्यामेव शाखायां

समान एवं चाभेदात्। **शाण्डिल्येन दृष्टा तन्नाम्नाऽङ्किता, अन्तर्हृदयेव्रोह्यादिवत्सूक्ष्मस्तिष्ठतीत्यर्थः।**

(जल वस्त्र है) ऐसी वाक्यप्रवृत्ति सर्वत्र एकरूप ही देखी गयी है। इसलिए जल में वस्त्रपरिधानसंकल्प ही यहाँ पर विहित है, आचमन का विधान नहीं है, ऐसा मानना न्यायसङ्गत है ॥१८॥

१०. समानाधिकरण

१. **सङ्गति**—पूर्व अधिकरण में स्मृतिप्रसिद्ध आचमन का अनुवादकर अनग्नताचिन्तनमात्र को विधेय कहा गया था, अब एक ही शाखा में अध्येता और वेदिता का भेदाभाव होने से पौनरुक्ति का परिहार नहीं कर सकते। अतः विप्रकृष्टदेशस्थ वाक्य में से एक को विधायक और दूसरे को अनुवादक कहना उचित नहीं होगा। ऐसी स्थिति में स्वप्रदेशस्थ गुणों से विशिष्ट विद्या का विधान मानना उचित है, ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ होता है।

२. **विषय**—वाजसनेयक के अग्निरहस्य में **'स आत्मानमुपासीत'** इस वाक्य से शाण्डिल्यविद्या प्रतीत होती है, उसी शाखा के बृहदारण्यक में **'मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यः'** ऐसा पाठ मिलता है। इन दोनों में प्रतिपादित विद्या के भेदाभेद का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. **संशय**—क्या दोनों स्थलों में विद्या एक है और गुणों का उपसंहार होता है, ऐसा माना जाय अथवा विद्या का भेद एवं गुणों का अनुपसंहार माना जाय? ऐसा संशय होता है।

४. **पूर्वपक्ष**—विप्रकृष्टदेशस्थ होने के कारण दोनों स्थलों में विद्या एक नहीं है और समान गुणों का पाठ होने से गुणोपसंहार भी अनावश्यक है।

५. **सिद्धान्त**—जैसे भिन्न शाखाओं में विद्या का अभेद और गुणों का उपसंहार होता है ऐसे ही एक शाखा में भी विद्या का एकत्व और गुणों का उपसंहार मानना ही उचित है। समान गुणों का पाठ देखकर पुनरुक्ति की आशङ्का न करे, एकत्र विद्या का विधानकर अन्यत्र उसका अनुवाद करते हुए सत्यत्वादि गुणों का विधान मानना उचित ही है। **'अग्निहोत्रं जुहोति'** इस वाक्य से विहित होम का अनुवादकर **'दध्ना जुहोति'** इस वाक्य द्वारा दधि गुणमात्र का विधान जिस प्रकार मानते हैं, वैसे ही यहाँ सिद्धान्त में एक ही शाण्डिल्यविद्या है, दो नहीं। एक स्थान पर उपासना का विधान है तथा दूसरे स्थान पर विहित उपासना के गुणमात्र का विधान है।

समान एवं चाभेदात् (ललिता)

वाजसनेय शाखा के अग्नि रहस्य में शाण्डिल्य नाम से जो विद्या विख्यात है उसमें 'वह मनोमय प्राणमय तथा भारूप आत्मा की उपासना करे' इत्यादि गुण सुने जाते हैं। उसी शाखा के बृहदारण्यक में

बृहदारण्यके पुनः पठ्यते—'मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच' (बृ० ५-६-१) इति। तत्र संशयः—किमियमेका विद्याग्निरहस्यबृहदारण्यकयोर्गुणोपसंहारश्चोत द्वे इमे विद्ये गुणानुपसंहारश्चेति। किं तावत्प्राप्तम्। विद्याभेदो गुणव्यवस्था चेति। कुतः? पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्। भिन्नासु हि शाखास्वध्येतृवेदितृभेदात्पौनरुक्त्यपरिहारमालोच्य विद्यैकत्वमध्यवसायैकत्रा[1]तिरिक्ता गुणा इतरत्रोपसंह्रियन्ते प्राणसंवादादिष्वित्युक्तम्। एकस्यां पुनः शाखायामध्येतृवेदितृभेदाभावादशक्यपरिहारे पौनरुक्त्ये न विप्रकृष्टदेशस्थैका विद्या भवितुमर्हति। न चात्रैकमाम्नानं विद्याविधानार्थमपरं गुणविधानार्थमिति विभागः सम्भवति। तदा ह्य[2]तिरिक्ता एव गुणा इतरत्रेतरत्र चाम्नायेरन् 'असमानाः। समाना अपि तूभयत्राम्नायन्ते मनोमयत्वादयः। तस्मान्नान्योन्यं गुणोपसंहार इति।

अभ्यासप्रत्यभिज्ञानाभ्यां संशयमाह—तत्रेति। गुणानुपसंहारोपसंहारौ पूर्वोत्तरपक्षयोः फलम्। पूर्वत्र प्राप्तावमनानुवादेनानन्तताध्यानविधिरुक्तः। इह त्वेकशाखायां विप्रकृष्टदेशस्थवाक्ययोरेकस्य विधित्वमन्यस्यानुवादत्वमित्यनिश्चयाद्द्वयोरपि विद्याविधित्वमिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयति—किं तावदिति। यत्पुनरुक्तं, तद्विद्यान्तरमिति न व्याप्तिः प्राणसंवादादिविद्यासु व्यभिचारादित्याशङ्क्य शाखाभेदे पुनरुक्तिरसिद्धेत्युक्तमित्याह—भिन्नास्विति। यथाऽग्निहोत्रवाक्ये कर्मविधिः, 'दध्ना जुहोति' इति वाक्ये गुणविधिस्तथात्राप्यस्तु न विद्याभेद इत्याशङ्क्याह—नचात्रैकमिति। उक्तगुणानां पुनरुक्तिर्वृथा स्याददतोऽभ्यासाद्विद्याभेदः[4]प्रयाजभेदवदिति भावः।

पाठ मिलता है कि 'यह पुरुष मनोमय है, भारूप एवं सत्य है। वह हृदय में है, जैसे व्रीहि अथवा जौ सूक्ष्म है ऐसा वह पुरुष है, वही पुरुष सम्पूर्ण जगत् का शासक है और सबका अधिपति है। यह जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम संसार है सभी का शासन वही पुरुष करता है' इत्यादि। वहाँ अभ्यास एवं प्रत्यभिज्ञा के कारण यह संशय होता है कि अग्निरहस्य एवं बृहदारण्यक में क्या यह एक ही विद्या है और परस्पर गुणों का उपसंहार नहीं होता। इस स्थिति में क्या निर्णय लेना चाहिए। इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि यह विद्या एक नहीं है और गुणों का उपसंहार न होने के कारण गुणव्यवस्था भी है अर्थात् जिस प्रसङ्ग में जितने गुण पढ़े गये हैं उन्हीं का चिन्तन वहाँ करना चाहिए, अन्यथा पुनरुक्ति का प्रसङ्ग आ जायेगा क्योंकि भिन्न शाखाओं में अध्येता एवं वेदिता का भेद रहने पर पौनरुक्त्यपरिहार को आलोचनाकर विधकत्व का निश्चय किया जाता है और प्राण सम्वादादि में जैसे एक स्थान पर पढ़े गये गुणों का उपसंहार अन्यत्र होता है वैसे ही यहाँ भी होने लग जायेगा। एक शाखा में अध्येता और उपासक का भेद न रहने पर समान गुणों का पाठ करते समय जब पुनरुक्ति आती है तब उसका वारण करना अशक्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में दूर देश में पढ़ी गयी विद्या एक नहीं हो सकती। अतः अग्नि रहस्य एवं बृहदारण्यक में से एक स्थान पर उपासनाविधान के लिए पाठ है और दूसरे स्थान पर गुण-विधान के लिए पाठ है, ऐसा विभाग करना सम्भव नहीं है। उस स्थिति में गुण पृथक्-पृथक् स्थानों में भिन्न ही पढ़े जायेंगे, समान गुण नहीं; किन्तु यहाँ पर उभयत्र मनोमयत्वादि समान गुण भी पढ़े जाते हैं, अतः अन्योन्य गुणों का उपसंहार मानना ठीक नहीं है।

१. अधिका विलक्षणा असमाना इति यावत्। २. विलक्षणाः। ३. अतिरिक्तपदार्थमाह असमाना इति।
४. समिधो यजति तनूनपातं यजतीत्यादिवत्।

एवं प्राप्ते ब्रूमहे—यथा भिन्नासु शाखासु विद्यैकत्वं गुणोपसंहारश्च भवत्येवमेकस्यामपि शाखायां भवितुमर्हति। उपास्याभेदात्। तदेव हि ब्रह्म मनोमयत्वादिगुणकमुभयत्राप्युपास्यमभिन्नं प्रत्यभिजानीमहे। उपास्यं च रूपं विद्यायाः। नच विद्यमाने रूपाभेदे विद्याभेदमध्यवसातुं शक्नुमः। नापि विद्याभेदे गुणव्यवस्थानम्। ननु पौनरुक्त्यप्रसङ्गाद्विद्याभेदोऽध्यवसितः। नेत्युच्यते। अर्थविभागोपपत्तेः। [1]एकं ह्याम्नानं विद्याविधानार्थम[2]परं गुणविधानार्थमिति न किंचिन्नोपपद्यते। नन्वेवं सति यदपठितमग्निरहस्ये तदेव बृहदारण्यके पठितव्यम् 'स एष सर्वस्येशानः' इत्यादि। यत्तु पठितमेव मनोमय इत्यादि तन्न पठितव्यम्। नैष दोषः। तद्बलेनैव प्रदेशान्तरपठितविद्याप्रत्यभिज्ञानात्। समानगुणाम्नानेन हि विप्रकृष्टदेशां शाण्डिल्यविद्यां प्रत्यभिज्ञाप्य तस्यामीशानत्वाद्युपदिश्यते। अन्यथा हि कथं तस्यामयं गुणविधिरभिधीयते। अपि चाप्राप्तांशो[3]पदेशेनार्थवति वाक्ये संजाते प्राप्तांशपरामर्शस्य नित्यानुवादतयाऽप्युपपद्यमानत्वान्न तद्बलेन प्रत्यभिज्ञोपोहितुं शक्यते। तस्मादत्र समानायामपि शाखायां विद्यैकत्वं गुणोपसंहारश्चेत्युपपन्नम् ॥१६॥

उक्तगुणोक्तिर्न वृथा कतिपयगुणविशिष्टोपास्याभेदप्रत्यभिज्ञानार्थत्वादत उपास्यरूपाभेदाद्भिन्नशाखास्विव समानशाखायामपि विद्यैक्यमिति सिद्धान्तसूत्रं योजयति—यथेति। सौत्रश्चकारोऽप्यर्थो व्याख्यातः। यत्र बहवो गुणाः श्रुतास्तत्र प्रधानविधिरन्यत्र तदनुवादेन गुणविधिरिति निश्चयादग्निरहस्ये प्रधानविधिवदुत्तरत्र गुणविधिरिति भावः ॥१६॥

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि जैसे भिन्न शाखाओं में उपासना एक होती है और गुणों का उपसंहार भी होता है, ऐसे ही उपास्य का भेद न रहने पर एक शाखा में भी उपासना का एकत्व और गुणों का उपसंहार मानना चाहिए क्योंकि यहां दोनों ही स्थल में मनोमयत्वादि गुणविशिष्ट वही एक ब्रह्म उपास्य है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा हम करते हैं। उपासना का रूप उपास्य ही होता है, उपास्यरूप के एक रहने पर उपासना में भेद का निश्चय हम नहीं कर सकते हैं और न उपासना का भेद सिद्ध हो जाने पर गुणों की व्यवस्था ही हो सकती है। शङ्का—पौनरुक्त्यप्रसङ्ग के भय से उपासना में भेद का निश्चय होता है। समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि एक पाठ उपासनाविधान के लिए और दूसरा गुणविधान के लिए है, ऐसा विभाग मान लेने पर कोई अनुपपत्ति नहीं रह जाती है। शङ्का—तब तो जो अग्निरहस्य में नहीं पढ़ गये थे उन्हीं 'स एष सर्वस्येशानः' इत्यादि गुणों का ही पाठ बृहदारण्यक में करना चाहिए था और जो मनोमयत्वादि पढ़े जा चुके हैं उनका पाठ नहीं करना चाहिए था। समाधान—यह दोष नहीं है क्योंकि समान गुणों के पाठ से ही देशान्तरपठित विद्या की प्रत्यभिज्ञा होती है। समान गुणों के पाठ के कारण दूरस्थ शाण्डिल्यविद्या की प्रत्यभिज्ञाकर उसमें ईशानत्वादि का उपदेश किया जाता है, अन्यथा उस शाण्डिल्यविद्या में ईशानत्वादि गुणों का विधान कैसे किया जा सकता। इसके अतिरिक्त अप्राप्तांश के उपदेश के कारण वाक्य के सार्थक हो जाने पर प्राप्तांश का परामर्श नित्यानुवादरूप है, ऐसा मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है; उसके आधार पर प्रत्यभिज्ञा की उपेक्षा नहीं कर सकते। अतः यहां पर समान शाखा में भी शाण्डिल्यविद्या एक है और गुणों का उपसंहार होता है, यह सिद्ध हुआ ॥१६॥

---

१. अग्निरहस्य एवम्। २. बृहदारण्यकएवम्। ३. सर्वेशानत्वादि।

११. सम्बन्धाधिकरणम् (सू० २०-२२)

(३७९) सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥२०॥

संहारः स्याद्व्यवस्था वा नाम्नोरहरह त्विति । विद्यैकत्वेन संहारः स्यादध्यात्माधिदैवयोः ॥

तस्योपनिषदित्येवं भिन्नस्थानत्वदर्शनात् । स्थितासीनगुरूपास्त्योरिव नाम्नोर्व्यवस्थितिः ॥

बृहदारण्यके 'सत्यं ब्रह्म' (५-५-१) इत्युपक्रम्य 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चाय दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० ५-५-२) इति तस्यैव सत्यस्य ब्रह्मणो-

---

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि । **सद्भूतत्रयं त्यद्वाय्वाकाशात्मकं, सत्यं परोक्षभूतात्मकं हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्मोपक्रम्य, तदुक्तं यत्सत्यं तत् स योऽसावादित्यः किं मण्डलं न तत्र स्थाने पुरुषः करणात्मकः स एवाध्यात्ममक्षिस्थानस्थ इत्युपदिश्य 'तस्य भूरिति शिरो भुव इति बाहुः स्वरिति पादौ' इति व्याहृतिरूपं शरीरमुक्त्वा द्वे उपनिषदौ रहस्यदेवतानामनी उपदिश्येते तस्यादित्यमण्डलस्थस्याहरिति**

---

११. सम्बन्धाधिकरण

१. **सङ्गति**—एक शाखा के अग्निरहस्य और बृहदारण्यक में एक वाक्य से विद्या का विधान और दूसरे वाक्य से विहित विद्या का अनुवादकर गुणमात्र का विधान जैसे पिछले अधिकरण में कहा गया, वैसे ही सत्यविद्या के एक होने पर 'अहः' और 'अहम्' ऐसे दो नामों का अनुष्ठान कर लेना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति पूर्व के साथ इसकी है।

२. **विषय**—बृहदारण्यक की सत्यविद्या इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—**'सत्यं ब्रह्म'** बृहदारण्यक की इस सत्यविद्या में अधिदैवदृष्टि से 'अहः' इस नाम का और अध्यात्मदृष्टि से **'अहम्'** इस नाम का ध्यान का उपदेश किया गया है। वहाँ सन्देह होता है कि दोनों स्थलों में विद्या के एक होने पर दोनों नामों का चिन्तन करना चाहिए अथवा एक-एक नाम का ?

४. **पूर्वपक्ष**—जैसे शाण्डिल्यविद्या में विभागपूर्वक पढ़े जाने पर भी एक विद्या सिद्ध हो जाने के कारण गुणों का उपसंहार माना है, वैसे ही एक विद्या से सम्बन्ध रखने के कारण 'अहः' और **'अहम्'** इन दोनों नामों का अनुसन्धान करना चाहिए।

५. **सिद्धान्त**—आधिदैविक के लिए **'तस्योपनिषदहः'** इस नाम का और आध्यात्मिक सत्यविद्या में **'तस्योपनिषदहम्'** इस नामविशेष का उपदेश किया गया है। अतः वेद्यवस्तु सत्य ब्रह्म के एक होने पर भी स्थानविशेष में पृथक्-पृथक् नाम का पाठ होने से दोनों स्थानों पर दोनों नामों का चिन्तन नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार लोक में गुरु के एक होने पर भी गुरु के खड़े रहने और बैठ जाने पर पृथक्-पृथक् रीति से उपासना का विधान है वैसे ही यहाँ भी व्यवस्थापूर्वक दोनों नामों का चिन्तन करना चाहिए।

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि (ललिता)

बृहदारण्यक उपनिषद् में सद्रूप पृथ्वी, जल, तेज एवं त्यद्रूप वायु तथा आकाशात्मक परोक्षभूत हिरण्यगर्भाख्य ब्रह्म का प्रसङ्ग **'सत्यं ब्रह्म'** इस वाक्य से प्रारम्भकर 'वह जो सत्य है वही आदित्य है और जो उस मण्डल में पुरुष है एवं जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है' इस वाक्य द्वारा उसी सत्य

ऽधिदैवतमध्यात्मं चायतनविशेषमुपदिश्य व्याहृतिशरीरत्वं च संपाद्य द्वे उपनिषदावुपदिश्येते । तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतम् । तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम् । तत्र संशयः—किमविभागेनैवोभे अप्युपनिषदावुभयत्रानुसंधातव्ये उत विभागेनैकाधिदैवतमेकाध्यात्ममिति ।

तत्र सूत्रेणैवोपक्रमते—

यथा शाण्डिल्यविद्यायां विभागेनाप्यधीतायां गुणोपसंहार उक्त एवमन्यत्राप्येवंजातीयके विषये भवितुमर्हति । एकविद्याभिसम्बन्धात् । एका हीयं सत्यविद्याऽधिदैवमाध्यात्मं चाधीता । उपक्रमाभेदाद्व्यतिषक्तपाठाच्च । कथं तस्यामुदितो धर्मस्तस्यामेव न स्यात् । यो ह्याचार्ये कश्चिदनुगमनादिराचारश्चोदितः स ग्रामगतेऽरण्यगते च तुल्यवदेव भवति । तस्मादुभयोरप्युपनिषदोरुभयत्र प्राप्तिरिति ।।२०।।

एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

नाम प्रकाशकत्वात्तस्याक्षिस्थस्याहमिति नाम प्रत्यक्त्वादिति । इदं नामद्वयं विषयस्तत्र नामिनः सत्याख्यस्य ब्रह्मण एकत्वात्स्थानभेदोक्तेश्च संशयमाह—तत्रेति । पूर्वपक्षे प्रतिस्थानं नामद्वयानुष्ठानं सिद्धान्ते यथाश्रुत्येकैकनामानुष्ठानमिति फलम् ।

दृष्टान्तसंगत्या पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे—यथेति । यथा विद्यैक्यादुप[1]संहार उक्त एवमन्यत्राप्येकविद्यायामुपसंहारो भवितुमर्हतीत्यर्थः । सत्यं ब्रह्मेत्युपक्रमाभेदस्तावेतावक्ष्यादित्यपुरुषावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ, आदित्यरश्मीनां चक्षुषि चक्षुषश्चादित्ये प्रतिष्ठानादिति व्यतिषक्तपाठो मिथः संश्लेषपाठस्ताभ्यां विद्यैक्यसिद्धिः । विद्यैक्येऽपि किं स्यात्तत्राह—कथमिति । विद्यैक्येऽपि स्थानभेदादुपनिषदोरसंकरः स्यादित्याशङ्कां दृष्टान्तेन परिहरति—यो हीति ।।२०।।

ब्रह्म के अधिदैवत और आयतनविशेष का उपदेशकर व्याहृति-शरीर का वर्णन करने के बाद उसके दो रहस्यपूर्ण नामों का कथन है । उनमें से आदित्यमण्डलस्थ पुरुष का रहस्यमय नाम 'अहः' है जिसे अधिदेवत कहते हैं और उसी का रहस्यमय अध्यात्म में 'अहम्' नाम है । वहाँ पर संशय होता है कि विभाग किये बिना ही क्या दोनों ही रहस्यमय नामों का दोनों स्थानों में चिन्तन करना चाहिए अथवा विभागपूर्वक एक नाम का अधिदैव में और दूसरे नाम का अध्यात्म में चिन्तन करना चाहिए ।

ऐसा संशय होने पर अग्रिम सूत्र से ही पूर्वपक्ष करते हैं—

जैसे शाण्डिल्य विद्या विभागपूर्वक पढ़े जाने पर भी अन्योन्य गुणों का उपसंहार कहा गया था, वैसे ही ऐसे प्रसङ्ग पर अन्यत्र भी एक विद्या का सम्बन्ध होने के कारण दोनों नामों का अनुसन्धान दोनों ही स्थानों में होना चाहिए क्योंकि सत्यविद्या के उपक्रम का अधिदेव एवं अध्यात्म आयतन में अभेद है और दोनों का परस्पर संश्लेष पाठ भी देखा जाता है । ऐसी स्थिति में उसी सत्यविद्या में कहे गये धर्म का उसमें ही अनुष्ठान क्यों न हो क्योंकि आचार्य के सम्बन्ध में जो भी कोई अनुगमादि आचारविहित होता है वह आचार्य के ग्राम में जाने पर अथवा अरण्य में रहने पर एक सा ही होता है । ऐसे ही सत्य ब्रह्म के अधिदेव और अध्यात्मसम्बन्धी दोनों ही नामों का अनुष्ठान समान रूप से होना चाहिए इसीलिए उक्त 'अहः' और 'अहम्' रहस्यपूर्ण दोनों नामों का अनुसन्धान दोनों स्थानों में प्राप्त है ।।२०।।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती समाधान देता है—

---

१. गुणानाम् ।

(३८०) न वा विशेषात् ॥२१॥

नैवोभयोरुभयत्र प्राप्तिः । कस्मात् ? विशेषात् । उपासनस्थानविशेषोपनिबन्धादित्यर्थः । कथं स्थानविशेषोपनिबन्ध इत्युच्यते—'य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः'(बृ० ५-५-३) इति ह्याधिदैविकं पुरुषं प्रकृत्य तस्योपनिषदहरिति श्रावयति । 'योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० ५-५-४) इति ह्याध्यात्मिकं पुरुषं प्रकृत्य तस्योपनिषदहमिति । तस्येति चैतत्संनिहितावलम्बनं सर्वनाम तस्मादायतनविशेषव्यपाश्रयेणैवैते उपनिषदावुपदिश्येते । कुतः ? उभयोरुभयत्र प्राप्तिः ।

नन्वेक एवायमधिदैवतमध्यात्मं च पुरुषः, एकस्यैव सत्यस्य ब्रह्मण आयतनद्वयप्रतिपादनात् । सत्यमेवमेतत् । एकस्याऽपि त्ववस्थाविशेषोपादानेनैवोपनिषद्विशेषोपदेशात्तदवस्थस्यैव सा भवितुमर्हति । अस्ति चायं दृष्टान्तः सत्यप्याचार्यस्वरूपानपाये यदाचार्यस्यासोनस्यानुवर्तनमुक्तं न तत्तिष्ठतो भवति । यच्च तिष्ठत उक्तं न तदासीनस्येति । ग्रामारण्ययो-

नाम्यैक्यात् नामसंकरो युक्तः, तथा चाक्षस्थोऽहरिति नामवान् सत्यब्रह्मत्वादादित्यस्थवदिति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रं योजयति—नवेति । नाम्नोरुपासनस्थानविशिष्टसंबन्धित्वादित्यर्थः । तस्योपनिषदहरहमिति च वाक्यद्वयेन तच्छब्दपरामृष्टयोः संनिहितस्थानविशिष्टयोः पुरुषयोर्नामसम्बन्धपरेणोपसंहारानुमानं बाध्यमिति भावः ।

विशेष्यैक्यान्नामसंकर इत्याशङ्क्य स्थानभेदेन विशिष्टपुरुषभेदान्नामव्यवस्थामाह—नन्वित्यादिना । विशिष्टसंबन्धे दृष्टान्तमाह—अस्तीति । प्रतिदृष्टान्तस्य स्वरूपसंबन्धित्वाद्विशिष्टे ध्येये प्रकृते दृष्टान्तत्वं नास्तीत्याह—ग्रामेति ॥२१॥

न वा विशेषात् (ललिता)

उक्त दोनों नामों का अनुष्ठान दोनों स्थानों में प्राप्त नहीं है क्योंकि ये नाम उपासनास्थानविशेष से सम्बद्ध हैं । स्थानविशेष से सम्बद्ध वे नाम किस प्रकार हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर 'जो यह आदित्यमण्डल में पुरुष है' इस वाक्य द्वारा आधिदैविक पुरुष का प्रसङ्ग प्रारम्भकर श्रुति उसका रहस्यमय नाम 'अहः' बतलाती है और 'जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है' इस वाक्य से आध्यात्मिक पुरुष का प्रसङ्ग प्रारम्भकर श्रुति ने उसका रहस्यमय नाम 'अहम्' कहा है क्योंकि 'तस्य' यह सर्वनाम सन्निहित का आलम्बन करता है । इसलिए आयतनविशेष का आश्रय करने के कारण ये दोनों हो औपनिषद् नाम जो कहे गये हैं उनकी प्राप्ति दोनों ही स्थानों में की जायेगी ।

शङ्का—अध्यात्म और अधिदैवत यह पुरुष तो एक ही है, उस एक ही सत्य ब्रह्म के आयतन दो बतलाये गये हैं, इतने मात्र से भेद कैसे कह रहे हैं । समाधान—इस प्रकार आप का यह कहना ठीक ही है, पर एक की अवस्थाविशेष होने से ही रहस्यमय नाम पृथक्-पृथक् हो जायेंगे । उसी ब्रह्म के ये दोनों नाम अवस्थाविशेष से सम्बद्ध हैं । इस विषय में यह दृष्टान्त है कि आचार्य का स्वरूप एक रहने पर भी बैठे हुए आचार्य का अनुवर्तन जिस प्रकार करने के लिए कहा गया है वैसा उनके उठने पर नहीं कहा है और खड़े हुए आचार्य के साथ अनुवर्तन का जो विधान है वह बैठने पर नहीं किया जाता । और जो आप ने–ग्राम तथा अरण्य में रहने पर आचार्य के स्वरूप का परिवर्तन नहीं

१. उभयत्रेति शेषः । २. अध्यात्माद्यवस्था । ३. उपनिषत् । ४. तस्य स्वरूपोपाधावुक्तत्वाद्युक्त तुल्यत्वमिह तु विशिष्टोपाधावुक्तेर्व्यवस्थेत्यर्थः ।

१२. सम्भृत्यधिकरम् (सू० २३)

(३८१) दर्शयति च ॥२२॥

आहार्या वा न वान्यत्र संभृत्यादिविभूतयः। आहार्या ब्रह्मधर्मत्वाच्छाण्डिल्यादाववारणात् ॥
असाधारणधर्माणां प्रत्यभिज्ञाऽत्र नास्त्यतः। अनाहार्या ब्रह्ममात्रसम्बन्धोऽतिप्रसङ्गकः ॥

स्त्वाचार्यस्वरूपानपायात्त्स्वरूपानुबद्धस्य च धर्मस्य ग्रामारण्यकृतविशेषाभावादुभयत्र तुल्यवद्भाव इत्यदृष्टान्तः सः। तस्माद्व्यवस्थाऽनयोरुपनिषदोः ॥२१॥

अपि चैवंजातीयकानां धर्माणां व्यवस्थितिलिङ्गदर्शनं भवति—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्यरूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नामतन्नाम' (छा० १-७-५) इति। कथमस्य लिङ्गत्वमिति तदुच्यते, अक्ष्यादित्यस्थानभेदभिन्नान्धर्माननन्योन्यस्मिन्ननुपसंहार्यान्पश्यन्निहातिदेशेनादित्यपुरुषगतान्रूपादीनक्षिपुरुष उपसंहरति—'तस्यैतस्य तदेव रूपम्' (छा० १-७-५) इत्यादिना। तस्माद्व्यवस्थिते एवैते उपनिषदाविति निर्णयः ॥२२॥

उक्तनामव्यवस्थायामतिदेशो लिङ्गमित्याह—दर्शयति चेति। विद्यैक्यादेवोपसंहारसिद्धावतिदेशो वृथा स्यात्तस्मादेकविद्यायामपि स्थानभेदेनोक्तगुणानां विनातिदेशमनुपसंहार इति सिद्धम् ॥२२॥

होता, अतः स्वरूपानुबद्ध धर्म ग्राम तथा अरण्य में एक जैसा ही होता है, वहाँ कोई भेद नहीं रहता –इस दृष्टान्त के आधार पर अधिदेव और अध्यात्म आयतन में उपास्य ब्रह्म के दोनों नामों का अनुसन्धान बतलाया था, वह दृष्टान्त यहाँ पर अनुरूप नहीं है। अतः दोनों ही रहस्यमय नामों का अनुसन्धान व्यवस्थापूर्वक ही होना चाहिए, जैसा हम कह आये हैं ॥२१॥

दर्शयति च (ललिता)

इसके अतिरिक्त ऐसे धर्मों की व्यवस्था का परिचायक शास्त्रवचन है। 'उसका अध्यात्म में जो रूप है वही अधिदेव में है और जो पर्व अधिदेव में हैं वे ही अध्यात्म में हैं, जो नाम उसका है वही नाम इसका है।' यह शास्त्र वचन उक्त व्यवस्था का परिचायक है। शङ्का—इस वचन में परिचायकत्व कैसे है। समाधान—नेत्र और आदित्य स्थानभेद से परस्पर भिन्न, उपसंहार के अयोग्य धर्मों को देखते हुए श्रुति अतिदेश द्वारा आदित्यपुरुषगत रूपादि का उपसंहार अक्षिपुरुष में 'उसका वही नाम है' इस वाक्य द्वारा बतलाती है। अतः 'अहः' और 'अहम्' ये दोनों रहस्यपूर्ण नाम व्यवस्थापूर्वक ही अनुष्ठेय हैं; दोनों का दोनों ही स्थानों में अनुसन्धान नहीं करना चाहिए, यह निश्चित हो गया ॥२२॥

१२. संभृत्यधिकरण

१. **सङ्गति**—पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की अतिदेश सङ्गति है।

२. **विषय**—राणायनीयों के खिलकाण्ड में सम्भृत्यादि विभूति पढ़ी गयी है और शाण्डिल्यादि, दहरादि विद्या में आध्यात्मिक हृदयान्तरवर्ती ब्रह्म उपास्यरूप से सुना जाता है; इसी का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. **संशय**—सम्भृत्यादि विभूति अन्यत्र आहार्य (उपसंहार्य) है या नहीं?

---

१. आचार्य। २. गमनात्स्यस्य।

(३८२) सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥२३॥

'ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान' इत्येव राणायनीयानां[1] खिलेषु वीर्यसम्भृतिद्युनिवेशप्रभृतयो ब्रह्मणो विभूतयः पठ्यन्ते । तेषामेव चोपनिषदि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतयो[2] ब्रह्मविद्याः पठ्यन्ते । तासु ब्रह्मविद्यासु ता ब्रह्मविभूतय उपसंह्रियेरन्न वेति विचारणायां ब्रह्मसम्बन्धादुपसंहारप्राप्तावेवं पठति ।

सम्भृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयो विभूतयः शाण्डिल्यविद्याप्रभृतिषु नोपसंहर्तव्याः । अतः एव

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः । ब्रह्मैव ज्येष्ठं कारणं येषां तानि ब्रह्मज्येष्ठानि, निलोपश्छान्दसः, वीर्याणि पराक्रमविशेषा आकाशोत्पादनादयः, तानि च वीर्याणि संभृतानि निर्विघ्नं समृद्धानि, सर्वनियन्तुः कार्ये विघ्नकर्तुरसत्वात् । तच्च ज्येष्ठं ब्रह्माग्रे देवाद्युत्पत्तेः प्रागेव दिवं स्वर्गमाततान व्याप्तवत्सदा सर्वव्यापकमित्यर्थः । सर्वप्राथम्यं स्पर्धानर्हत्वमिति वाक्यशेषस्था गुणाः प्रभृतिपदग्राह्याः । खिलेष्विति । विधिनिषेधशून्यवाक्येष्वित्यर्थः । ब्रह्मसंबन्धाद्विद्याभेदभानाच्च संशयमाह—तास्विति । अनारभ्याधीतब्रह्मविभूतीनां ब्रह्मसबन्धेन सर्वब्रह्मविद्यासु प्रत्यभिज्ञानादुपसंहार इति पूर्वपक्षः ।

सिद्धान्तमाह—संभृतीति । संभृतिश्च द्युव्याप्तिश्च संभृतिद्युव्याप्ति तदपि सर्वत्र नोपसंहर्तव्यमुपद्ध्वोरिव व्यवस्थापकविशेषयोगादिति सूत्रयोजना ।

---

४. पूर्वपक्ष—ब्रह्म एक है, अतः सम्भृत्यादि गुणों का उपसंहार शाण्डिल्य एवं दहरादि विद्या में सर्वत्र होना चाहिए ।

५. सिद्धान्त—सम्भृत्यादि गुणों में से जब एक भी गुण शाण्डिल्यादि विद्या में नहीं देखा जाता है तो फिर विद्यैकत्व की प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी और गुणों का उपसंहार भी कैसे हो सकेगा । ब्रह्म एक है, इतने मात्र से गुणों का उपसंहार मानेंगे तो अतिप्रसङ्ग होने लग जायेगा । अतः सम्भृत्यादि गुणों का उपसंहार नहीं है ।

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः(ललिता)

'जिन गुणों का कारण ब्रह्म है उन्हें ब्रह्मज्येष्ठा कहा गया है, आकाशादि की उत्पत्ति उसके पराक्रमविशेष हैं जिसे वीर्य पद से कहा गया है; ये सभी गुण ब्रह्म के साथ सम्बद्ध हैं । ('ज्येष्ठा' और 'वीर्या' पद में 'नि' लोप छान्दस माना गया है ।)सर्वनियन्ता के कार्य में विघ्नकर्ता नहीं है इसीलिए उन्हें संभृत्ति कहते हैं । वह ब्रह्म देवादि की उत्पत्ति से पूर्व ही स्वर्ग में व्याप्त था क्योंकि वह सदा सर्वव्यापक है । (सर्वप्रथम होने के कारण उसके साथ कोई स्पर्धा नहीं रख सकता, ऐसे वाक्यशेषस्थ गुणों का ग्रहण प्रभृति पद से कर लेना चाहिए ।) इस प्रकार राणायनीय शाखा वालों के विधिनिषेधशून्य वाक्यों में वीर्य, संभृति, द्युलोकव्याप्ति आदि ब्रह्म को विभूतियाँ पढ़ी गयी हैं । और उन्हीं के उपनिषद् में शाण्डिल्यविद्यादि ब्रह्मविद्यायें भी पढ़ी जाती हैं । उन ब्रह्म उपासनाओं में खिलकाण्डोक्त ब्रह्मविभूति का उपसंहार करना चाहिए या नहीं, ऐसे विचार का प्रसङ्ग आने पर ब्रह्म से सम्बन्धित होने के कारण उपसंहार की प्राप्ति जब पूर्वपक्ष ने कही तब यह सूत्र कहते हैं कि—

सम्भृति द्युलोकव्याप्ति आदि विभूतियाँ शाण्डिल्यविद्या में उपसंहृत नहीं की जायेंगी क्योंकि उनका

---

१. राणायनीयानाम् । २. दहरोपकोशलादयः प्रभृतिपदग्राह्याः ।

चायतनविशेषयोगात् । तथाहि शाण्डिल्यविद्यायां हृदयायतनत्वं ब्रह्मण उक्तम्—'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' (छा० ३-१४-३) इति । तद्वदेव दहरविद्यायामपि 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८-१-१) इति उपकोसलविद्यायां त्वक्ष्यायतनत्वम् 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ४-१५-१) इति । एवं तत्र तत्र तत्तदाध्यात्मिकमायतनमेतासु विद्यासु प्रतीयते । आधिदैविक्यस्त्वेता विभूतयः सम्भृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयस्तासां कुत एतासु प्राप्तिः ।

नन्वेतास्वप्याधिदैविक्यो विभूतयः श्रूयन्ते—'ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छा० ३-१४-३), 'एष उ एव भामनी[1]रेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' (छा० ४-१५-४) 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छा० ८-१-३) इत्येवमाद्याः । सन्ति [2]चान्या आयतनविशेषहीना अपीह ब्रह्मविद्याः षोडशकलाद्याः । सत्यमेवमेतत् । तथाप्यत्र विद्यते विशेषः सम्भृत्याद्यनुपसंहारहेतुः ।

आध्यात्मिकायतनविशेषयुक्तासु विद्यास्वाधिदैविकविभूतीनां प्रत्यभिज्ञाने हेत्वभावान्न प्राप्तिरित्युक्ते हेतुं शङ्कते—नन्वेतास्विति । आधिदैविकत्वसाम्यादाध्यात्मिकायतनहीनत्वसाम्याद्वा तत्तद्विद्यासु सभृत्यादिनां प्राप्तिरिति शङ्कार्थः । उक्तहेतुद्वयं न गुणप्रापकमाधिदैविकविद्यानां शाण्डिल्यदहरादीनामायतनहीनविद्यानां च मिथोगुणसांकर्यप्रसङ्गात्, तस्मात् कतिपयसमानगुणविशिष्टोपास्यरूपैक्यं विद्यैक्यमावहद्गुणप्राप्तिहेतुस्तदभावान्न प्राप्तिरिति परिहरति—सत्यमित्यादिना । स्थानविशिष्टभेदान्नान्नोर्व्यवस्थावत्संभृत्यादिगुणविशिष्टस्य ब्रह्मणः शाण्डिल्यादिविद्योक्तगुणविशिष्टब्रह्मणश्च

सम्बन्ध आयतनविशेष के साथ है । 'यह मेरी आत्मा हृदय के भीतर है' इस वाक्य द्वारा शाण्डिल्य विद्या में ब्रह्म का आयतन हृदय कहा गया है । वैसे ही दहरविद्या में भी 'हृदय के भीतर एक छोटा सा कमल है, उसके भीतर छोटा सा आकाश है' इस वाक्य द्वारा आयतनविशेष का वर्णन है । किन्तु उपकोसलविद्या में 'जो यह नेत्र के भीतर पुरुष दिखाई पड़ता है' इस वाक्य द्वारा ब्रह्म का आयतन नेत्र को कहा है । इस प्रकार स्थल-स्थल पर इन विद्याओं में आध्यात्मिक आयतन प्रतीत होता है किन्तु सम्भृति द्युलोकव्याप्ति आदि विभूतियां आधिदैविक हैं, उनकी प्राप्ति अध्यात्म उपासना में कैसे हो सकती है ।

पूर्वपक्ष—इन आध्यात्मिक उपासनाओं में भी 'वह परमात्मा द्युलोक से बड़ा है और इन लोकों से भी बड़ा है', 'क्योंकि वह सभी भूतों में प्रकाश देता है इसलिए उसे प्रकाश कहते हैं', 'जितना बड़ा यह बाह्य आकाश है उतना ही हृदय के भीतर भी आकाश है, इसी में द्युलोक और पृथ्वीलोक समाहित हैं' इनवाक्यों से आधिदैविक विभूतियाँ बतलायी गयी हैं, कुछ षोडशकलादि ब्रह्मविद्यायें आयतनविशेषशून्य भी हैं । ऐसी स्थिति में एकत्र पठित विभूतियों का उपसंहार अन्यत्र ब्रह्मविद्या में होना उचित ही है । सिद्धान्त—आधिदैविकत्व और आध्यात्मिक आयतनहीनत्व की समानता रहने पर भी सम्भृति आदि गुणों के अनुपसंहार का कुछ विशेष कारण यहाँ पर है । समान गुणों के पाठ से दूरस्थ विद्या की उपस्थिति होने पर भी दूरस्थ गुणों का उपसंहार करना युक्तिसङ्गत है । किन्तु शाण्डिल्यादि वाक्यविषयक सम्भृत्यादि विभूति परस्पर भिन्न रूप होने के कारण प्रदेशान्तरवर्ती विद्या के प्रत्युपस्थापक

---

१. एष उ एवेत्यादेरर्थः 'स्वयमेवाह वेद एष ही'ति । २. राणायनीया नामेव खिलेषु ।

१३. पुरुषविद्याधिकरणम् (सू० २४)

पुंविद्यैका विभिन्ना वा तैत्तिरीयकताण्डिनोः। मरणावभृथत्वादिसाम्यादेकेति गम्यते ॥
बहुना रूपभेदेन किंचित्साम्यस्य बाधनात्। न विद्यैक्यं तैत्तिरीये ब्रह्मविद्याप्रशंसनात् ॥

समानगुणाम्नानेन हि प्रत्युपस्थापितासु विप्रकृष्टदेशास्वपि विद्यासु विप्रकृष्टदेशा गुणा उपसंह्रियेरन्निति युक्तम्। सम्भृत्यादयस्तु शाण्डिल्यादिवाक्यगोचराश्च मनोमयत्वादयो गुणाः परस्परव्यावृत्तस्वरूपत्वान्न प्रदेशान्तरवर्तिविद्याप्रत्युपस्थापनक्षमाः। नच ब्रह्मसम्बन्धमात्रेण प्रदेशान्तरवर्तिविद्याप्रत्युपस्थापनमित्युच्यते विद्याभेदेऽपि तदुपपत्तेः। एकमपि हि ब्रह्म विभूतिभेदैरनेकधोपास्यत इति स्थितिः। परोवरीयस्त्वादिवद्भेददर्शनात्। तस्माद्वीर्य-सम्भृत्यादीनां शाण्डिल्यविद्यादिष्वनुपसंहार इति ॥२३॥

मिथो भेदेन रूपभेदात्सभृत्यादीनां नोपसहार इत्युक्तन्यायातिदेशत्वादस्य न संगत्याद्यपेक्षा यथैकस्मिन्नु[1]द्‌गीथे परोवरीयस्त्वादि[2]गुणोपास्तेर्हिरण्यश्म[3]श्रुत्वाद्युपास्तिर्भिद्यते तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि विद्याभेदो[4]पपत्तेः ब्रह्मप्रत्यभिज्ञा न गुणप्रापिकेत्याह—परोवरीयस्त्वादिवदिति। **तस्मात्संभृत्यादिगुणविशिष्टविद्यान्तरविधिरिति सिद्धम् ॥२३॥**

नहीं हो सकते। ब्रह्म के साथ सम्बन्धमात्र से प्रदेशान्तरवर्ती विद्या का प्रत्युपस्थापन कहना उचित नहीं है क्योंकि उपासना भिन्न रहने पर भी ब्रह्मसम्बन्ध हो जाता है। एक ब्रह्म भी अनेक विभूतिभेद के कारण अनेक प्रकार से उपास्य देखा गया है; जैसे एक उद्‌गीथविद्या में परोवरीयस्त्वादि गुण उपासना से हिरण्यश्मश्रुत्वादि उपासना भिन्न ही मानी जाती है, वैसे ही एक ब्रह्म में भी विद्याभेद से ब्रह्म-प्रत्यभिज्ञा गुणों का प्रापक नहीं हो सकती। अतः वीर्य, सम्भृत्यादि विभूतियों का उपसंहार शाण्डिल्य-विद्या में नहीं हो सकता है ॥२३॥

१३. पुरुषविद्याधिकरण

१. **सङ्गति**—इस प्रकार असाधारण गुणों की प्रत्यभिज्ञा न होने के कारण सम्भृत्यादि गुणों से विशिष्ट विद्या में भेद पिछले अधिकरण में कहा गया था, फिर भी असाधारण मरणावभृथ गुणों से विशिष्ट पुरुष और यज्ञ के एकत्व की प्रत्यभिज्ञा होने से यहाँ पर विद्या में एकत्व मानना चाहिए; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति पिछले अधिकरण के साथ इसकी है।

१. **विषय**—ताण्डि और पैङ्गि रहस्य ब्राह्मण के पुरुष यज्ञ का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. **संशय**—तैत्तिरीयक और ताण्डि में पुरुषविद्या एक है अथवा भिन्न है।

४. **पूर्वपक्ष**—**'यन्मरणं तदवभृथः' 'मरणमेवावभृथः'** इन दोनों ही स्थलों में मरणत्वभृथत्वादि की समानता होने से विद्या एक है।

५. **सिद्धान्त**—वेद्यरूप का बहुधा भेद होने के कारण किञ्चित् साम्य बाधित हो जायेगा, अतः ताण्डि और पैङ्गि की पुरुषविद्या एक नहीं है। इसीलिए विद्या के भेद से शाखान्तरीय पठित पुरुष-विद्या के धर्म आशोर्मन्त्रादि को तैत्तिरीयक में प्राप्ति नहीं है, अतः विद्यैकत्व की शङ्का भी यहाँ नहीं करनी चाहिए।

१. वाजसनेयिशाखास्थशाण्डिल्यविद्यायां यथा। २. तदवयवे ओंकारे। ३. तद्‌गुण विशिष्टात्मोपास्तेः। ४. तद्विशिष्टात्मोपास्तिः। ५. गुणभेदात्।

(३८३) पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥२४॥

अस्ति ताण्डिनां पैङ्गिनां च रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्या। तत्र पुरुषो यज्ञः कल्पितः। तदीयमायुस्त्रेधा विभज्य सवनत्रयं कल्पितम्। अशिशिषादीनि च दीक्षादिभावेन कल्पितानि। अन्ये च धर्मास्तत्र समधिगता आशीर्मन्त्रप्रयोगादयः। तैत्तिरीयका अपि कंचित्पुरुषयज्ञं कल्पयन्ति—'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी' (ना० उ० ८०) इत्येतेनानुवाकेन। तत्र संशयः—किं य इतरत्रोक्ताः पुरुषयज्ञस्य धर्मास्ते तैत्तिरीयकेषूपसंहर्तव्याः किंवा नोपसंहर्तव्या इति। पुरुषयज्ञत्वाविशेषादुपसंहारप्राप्तावाचक्ष्महे—नोपसंहर्तव्या इति। कस्मात्? तद्रूपप्रत्यभिज्ञानाभावात्। तदाहाचार्यः—पुरुषविद्यायामिवेति।

पुरुषविद्यायां छान्दोग्यस्थां विद्यामाह—अस्तीति। 'पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातःसवनमथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनमथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयं सवनम्' इति प्रसिद्धयज्ञसाम्यार्थं सवनत्रयं कल्पितं, 'स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता दीक्षा अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते ता उपसदः अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति तानि स्तुतशस्त्राणि अथ यत्तपोदानादि सा दक्षिणा मरणमेवावभृथः, वस्वादिरूपा मे प्राणा इदं सवनत्रयं यावदायुरनुसंतनुते' इत्याशीः, 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसि' इति मन्त्रत्रयप्रयोगः। षोडशाधिकशतवर्षजीवित्वं फलमिति दर्शितम्। संशयार्थं शाखान्तरीयपुरुषविद्यामाह—तैत्तिरीयका इति। अत्र विदुषो यज्ञस्येति षष्ठ्योः सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यानिश्चयात्संशयमाह—तत्रेति। उपसंहारानुपसंहारावेव फलम्। पूर्वत्रासाधारणगुणप्रत्यभिज्ञानाभावात्सम्भृत्यादौ विद्याभेद उक्तः। इह त्वसाधारणमरणावभृथगुणविशिष्टपुरुषयज्ञरूपैक्यप्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैक्यमिति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते सिद्धान्तयति—नोपसंहर्तव्या इति। तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा' इति बहुतरधर्मवैलक्षण्यान्न रूपैक्यप्रत्यभिज्ञेत्यर्थः। वेदः कुशमुष्टिः शमयिता दमो दक्षिणेत्यन्वयः।

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् (ललिता)

ताण्डि एवं पैङ्गी शाखावालों के रहस्यब्राह्मण में पुरुषविद्या कही गयी है, उसमें पुरुष को यज्ञ कहा है और उसकी आयु को तीन भागों में विभक्तकर सवनत्रय की कल्पना की गयी है। अशिशिषति और पिपासति (खाने की इच्छा और पीने की इच्छा) को दीक्षा के रूप में माना है। वहाँ पर आशीर्मन्त्रप्रयोग आदि अन्य धर्म भी देखे जाते हैं। तैत्तिरीय शाखावाले भी किसी पुरुषयज्ञ की कल्पना करते हैं—'उस विद्वान् उपासक के यज्ञ का यजमान आत्मा है, श्रद्धा पत्नी है।' इस अनुवाक द्वारा पुरुषयज्ञ की कल्पना प्रतीत होती है। वहाँ पर संशय होता है कि क्या अन्यत्र कहे गये पुरुषयज्ञ के धर्म तैत्तिरीय शाखा के पुरुषयज्ञ में उपसंहरणीय है या नहीं। इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि जब पुरुषयज्ञ एक है तो गुणों का उपसंहार प्राप्त ही है। सिद्धान्ती—ऐसे स्थल पर गुणों का उपसंहार हम नहीं मानते क्योंकि वहाँ पर रूपप्रत्यभिज्ञा का अभाव है। इसी बात को अग्रिम सूत्र से भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

---

१. तांडिपैंगिरहस्य ब्राह्मणे। २. उपासना। ३. यज्ञान्तर्गताल्पेष्टयः। ४. स्तुतिकरणमंत्राः। ५. यज्ञावसानम्।

यथैकेषां शाखिनां ताण्डिनां पैङ्गिनां च पुरुषविद्यायामाम्नानं नैवमितरेषां तैत्तिरीयाणामाम्नानमस्ति। तेषां हीतरविलक्षणमेव यज्ञसम्पादनं दृश्यते पत्नीयजमानवेदवेदिबर्हिर्यूपाज्यपशुवृत्विगाद्यनुक्रमणात्। यदपि सवनसम्पादनं तदपीतरविलक्षणमेव 'यत्प्रातर्मध्यंदिनं सायं च तानि सवनानि' (ना०उ० ८) इति। यदपि किंचिन्मरणावभृथत्वादिसाम्यं तदप्यल्पीयस्त्वाद्भूयसा वैलक्षण्येनाभिभूयमानं न प्रत्यभिज्ञापनक्षमम्। नच तैत्तिरीयके पुरुषस्य यज्ञत्वं श्रूयते। विदुषो यज्ञस्येति हि न चैते समानाधिकरणे षष्ठ्यौ विद्वानेव यो यज्ञस्तस्येति। नहि पुरुषस्य मुख्यं यज्ञत्वमस्ति। व्यधिकरणे त्वेते षष्ठ्यौ विदुषो यो यज्ञस्तस्येति। भवति हि पुरुषस्य मुख्यो यज्ञसम्बन्धः। सत्यां च गतौ मुख्य एवार्थ आश्रयितव्यो न भाक्तः। आत्मा यजमान इति च यजमानत्वं पुरुषस्य निब्रुवन्वैयधिकरण्येनैवास्य यज्ञसम्बन्धं दर्शयति। अपिच तस्यैवंविदुष इति सिद्धवदनुवादश्रुतौ सत्यां पुरुषस्य यज्ञभावमात्मादीनां च

किंच छान्दोग्ये त्रिधाविभक्तायुषि सवनत्वकल्पना, अत्र तु सायंकालादाविति वैरूप्यमाह— यदपीति। यन्मरणं तदवभृथो यद्रमते तदुपसद इति तित्तिरिश्रुतौसारूप्यमपि भातीत्यत आह—यदपि किंचिदिति। गजोष्ट्रयोश्चतुष्पात्त्वसारूप्यवदिदं सारूप्यं नैक्यप्रयोजकमित्यर्थः। किंच छान्दोग्ये पुरुषयज्ञयोरैक्यं श्रुतमत्र तु भेद इति वैरूप्यान्तरमाह—नचेति। यद्यपि निषादस्थपतिन्यायेन सामानाधिकरण्यं षष्ठ्योर्युक्तं तथाप्यप्रसिद्धैक्यकल्पनागौरवाद्यज्ञस्यात्मेति भेदोक्तेरेकस्यैव यज्ञत्वयजमानत्वविरोधादात्मविदो यो यज्ञः प्रसिद्धस्तस्येति वैयधिकरण्यमेव युक्तम्। किंच विद्वत्संबन्धियज्ञरूपविशेष्यानुवादेन विद्वदङ्गैरङ्गसंपद्विधावेकवाक्यता प्रतीयते तस्यां सत्यां विशेष्यस्याङ्गानां च पृथग्विधिवादिनस्तव वाक्यभेददोषः स्यादित्यर्थः। किंच सत्यादिभ्यो न्यास एवापरे च यदिति संन्यास-

जैसे एक शाखा ताण्डी और पङ्गी की पुरुषविद्या में पाठ है वैसा पाठ दूसरी तैत्तिरीय शाखावालों के यहाँ नहीं देखा जाता। उनका यज्ञसम्पादन विलक्षण ही देखा जाता है—पत्नी, यजमान, कुशमुष्टिरूप वेद, वेदी, बर्हि, यूप, घृत, पशु, ऋत्विज् आदि का क्रमशः पाठ मिलता है। जो सवनसम्पादन है वह भी 'सायं, प्रातः और माध्यन्दिन, ऐसे तीन सवन हैं' इस वाक्य द्वारा अन्यों की अपेक्षा विलक्षण ही बतलाया गया है। और जो मरणरूप अवभृथत्वादि सामान्य दीखता है वह भी अत्यन्त अल्प होने के कारण अधिक विलक्षणता से अभिभूत होकर प्रत्यभिज्ञा कराने में सक्षम नहीं है। साथ ही, तैत्तिरीयक में पुरुष में यज्ञत्व भी नहीं सुना जाता है। 'विदुषो यज्ञस्य' इन दोनों पदों में षष्ठी सामानाधिकरण्य में नहीं है अर्थात् 'विद्वान् ही जो यज्ञ है उसका' ऐसा अर्थ उस वाक्य का नहीं कर सकते क्योंकि पुरुष में मुख्य यज्ञत्व नहीं है। उक्त दोनों पदों में व्यधिकरण षष्ठी है अर्थात् 'विद्वान् का जो यज्ञ, उसकी आत्मा यजमान और श्रद्धा यजमानी है' ऐसा अर्थ करना उचित होगा। पुरुष का यज्ञ के साथ सम्बन्ध मुख्यरूप से माना जाता है; ऐसी गति के रहते-रहते मुख्य अर्थ ही मानना चाहिए, गौण नहीं। 'आत्मा यजमान है' इस वाक्य के द्वारा पुरुष में यजमानत्व बतलाते हुए श्रुति वैयधिकरण्यरूप से पुरुष के साथ यज्ञ के सम्बन्ध को दर्शाती है। इसके अतिरिक्त 'तस्यैवं विदुषः' इस वाक्य में

१. तैत्तिरीयाणाम्। २. तांड्यादि। ३. तैत्तिरीयके। ४. तांड्यादि। ५. विदुष इति कर्तरि षष्ठी तत्कर्तृको यो यज्ञः। ६. एकवाक्यतायामिति शेषः। ७. निषादस्थपतीत्यत्र समानाधिकरणानुरोधे न कर्मधारय एव कृतो मीमांसकैः।

१४. वेधाद्यधिकरणम् (सू० २५)

वेधमन्त्रप्रवर्ग्यादि विद्याङ्गमथवा नतु । विद्यासंनिधिपाठेन विद्याङ्गे मन्त्रकर्मणी ॥
लिङ्गेनान्यत्र मन्त्रणां वाक्येनापि च कर्मणाम् । विनियोगात्संनिधिस्तु बाध्योऽतो नाङ्गता तयोः ।

यजमानादिभावं प्रतिपित्समानस्य वाक्यभेदः स्यात् । अपिच ससंन्यासामात्मविद्यां पुरस्तादुपदिश्यानन्तरं तस्यैवंविदुष इत्याद्यनुक्रमणं पश्यन्तः पूर्वशेष एवैष आम्नायो न स्वतन्त्र इति प्रतीमः । तथाचैकमेव फलमुभयोरप्यनुवाकयोरुपलभामहे 'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' (ना० उ० ८०) इति । इतरेषां त्वनन्यशेषः पुरुषविद्याम्नायः । आयुरभिवृद्धिफलो ह्यसौ 'स ह—षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद' (छा० ३-१६-७) इति समभिव्याहारात् । तस्माच्छाखान्तराधीतानां पुरुषविद्याधर्माणामाशीर्मन्त्रादीनामप्राप्तिस्तैत्तिरीयके ॥२४॥

मुक्त्वा सर्वः सर्वमिदं जगदित्येवं तमात्मानं ज्ञात्वा भूयो न मृत्युमुपयाति विद्वानिति संन्याससाध्यात्मविद्यां पुरस्तात्प्राजापत्यानुवाके उपदिश्यानन्तरानुवाके तस्यैवं विदुष इत्युक्तात्मविद्यानुवादेन प्रशंसार्थत्वेन, तच्छेषतया यज्ञसंपत्तिः क्रियते फलैक्यश्रुतेः, छन्दोगानां तु स्वतन्त्रविद्याविधिरित्याह—अपिच ससंन्यासामिति । चिन्ताफलमाह—तस्मादिति ॥२४॥

निर्विवाद की भाँति अनुवादक श्रुति के रहते-रहते पुरुष में यज्ञभाव एवं आत्मादि में यजमानादिभाव के प्रतिपादक वाक्य में वाक्यभेद होने लग जायेगा । यह भी स्मरण रहे कि इससे पूर्व संन्याससहित आत्मविद्या का उपदेश किया जा चुका है, इसके बाद 'तस्यैव विदुषः' इत्यादि वाक्य द्वारा क्रमशः प्रतिपादन को देखते हुए इस पाठ को पूर्व का शेष ही मानते हैं, स्वतन्त्र नहीं मानते । और दोनों अनुवाकों का 'ऐसा समझनेवाला ब्रह्म की महिमा को प्राप्त कर लेता है' ऐसा एक ही फल हम देखते हैं । अन्य शाखावालों के यहाँ पुरुषविद्या का पाठ अनन्यशेष है, उसका फल आयु की वृद्धि है जिसे 'ऐसा चिन्तन करने वाला एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहता है' इस वाक्य द्वारा समभिव्याहार होने के कारण पुरुष की आयुवृद्धि ही इस उपासना का फल कहा गया है । अतः आशीर्मन्त्रादि पुरुषविद्या के धर्म जो शाखान्तर में पठित है उनकी प्राप्ति तैतिरीयकविद्या में सर्वथा नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥२४॥

१४ वेधाद्यधिकरण

१. **सङ्गति**—जैसे आत्मविद्या के सन्निहित होने से पुरुष यज्ञ आत्मविद्या का शेष माना गया है, ऐसे ही सन्निहित होने के कारण मन्त्र और कर्म को भी तत् तद् विद्या का शेष मानना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. **विषय**—विद्या के समीपवर्ती वेधादि मन्त्र और प्रवर्ग्यादि कर्म इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—क्या आथर्वणिकों के उपनिषदारम्भ में सर्वं प्रविध्य '**हृदयं प्रविध्य**' इत्यादि आभिचारिक मन्त्र और काण्वों के उपनिषदारम्भ में पढ़ा गया प्रवर्ग्यादि कर्म विद्या के अङ्ग हैं या नहीं ?

---

१. छदोगानाम् । २. स्वतन्त्रः ।

(३८४) वेधाद्यर्थभेदात् ॥२५॥

अस्त्याथर्वणिकानामुपनिषदारम्भे मन्त्रसमाम्नायः—'सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोऽभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्तः' इत्यादिः। ताण्डिनाम्—'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' इत्यादिः। शाठ्यायनिनाम्—'श्वेताश्वो हरितनीलोऽसि' इत्यादिः। कठानां तैत्तिरीयाणां च—'शं नो मित्रः शं वरुणः' (तै० १-१-१) इत्यादिः। वाजसनेयिनां तूपनिषदारम्भे प्रवर्ग्यब्राह्मणं पठ्यते—'देवा ह वै सत्रं निषेदुः' इत्यादि। कौषीतकिनामप्यग्निष्टोमब्राह्मणम्—'ब्रह्म वा अग्निष्टोमो ब्रह्मैव तदहर्ब्रह्मणैव ते ब्रह्मोपयन्ति

वेधाद्यर्थभेदात्। देवतामभिचारकर्ता प्रार्थयते—सर्वमिति। हे देवते, मद्रिपोः सर्वमङ्गं प्रविध्य विदारय विशेषतश्च हृदयं भिन्धि धमनीः [1]शिराः प्रवृंजय त्रोटय शिरश्चाभितो नाशय, एवं त्रिधा विपृक्तो विश्लिष्टो भवतु मे शत्रुरित्यर्थः। हे देव सवितः, यज्ञं तत्पतिं च प्रसुव निर्वर्तयेत्यर्थः। उच्चैःश्रवाः श्वेतोऽश्वो यस्येन्द्रस्य स त्वं हरिततृणवन्नीलोऽसीत्यर्थः। नोऽस्माकं शं सुखकरो भवत्वित्यर्थः। अग्निष्टोमो ब्रह्मैव स यस्मिन्नहनि क्रियते तदपि ब्रह्म तस्माद्य एतदहःसाध्यं कर्मोपयन्त्यनु-

---

४. पूर्वपक्ष—विद्याप्रधान उपनिषद् ग्रन्थ के समीप में पढ़े जाने के कारण वेधादि मन्त्र और प्रवर्ग्यादि कर्म को विद्या का अङ्ग मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—लिङ्ग प्रमाण से मन्त्रों का विनियोग आभिचारिक कर्म में हो चुका है और वाक्य प्रमाण से प्रवर्ग्यादि कर्म का विनियोग अग्निष्टोम में हो चुका है, अतः लिङ्ग और वाक्य प्रमाण सन्निधिरूप प्रकरण प्रमाण से बलवान होने के कारण वेधादि मन्त्र और प्रवर्ग्यादि कर्म को विद्या का अङ्ग नहीं मान सकते।

वेधाद्यर्थभेदात् (ललिता)

आथर्वणिकों के उपनिषदारम्भ में अभिचार करनेवाला देवता से प्रार्थना करता है—'हे देवता! मेरे शत्रु के सम्पूर्ण अङ्गों को फाड़ डालो, विशेष रूप से हृदय को वेध डालो, उसकी नसों को तोड़ डालो और उसके शिर को सभी ओर से नाश कर डालो। इस प्रकार तीन भागों में विभक्त मेरा शत्रु नष्ट हो जाय' इत्यादि मन्त्रपाठ मिलता है। ताण्डी शाखावालों के यहाँ वह पाठ इस प्रकार है—'हे सविता देव! यज्ञ और यज्ञपति को आप सम्पन्न कर दो' इत्यादि। शाठ्यायनी शाखावालों के यहाँ कहा है—'उच्चैश्रवा श्वेत अश्व जिस इन्द्र के पास है वह इन्द्रदेव तुम हरित तृण की भाँति नील हो जाओ' इत्यादि। कठ एवं तैत्तिरीय शाखावालों के यहाँ 'मित्र देवता हमें सुखकारक हो और वरुण देवता भी हमें सुखकारक हो' ऐसा पाठ देखा जाता है। किन्तु वाजसनेयी शाखावालों के उपनिषदारम्भ में प्रवर्ग्यब्राह्मण का पाठ है—देवताओं ने एक बार सत्र किया था' इत्यादि। उसी प्रकार कौषीतकि शाखावालों के यहाँ भी 'निःसन्देह अग्निष्टोम ब्रह्मस्वरूप ही है, उसका अनुष्ठान जिस दिन करता है वह भी ब्रह्म ही है। अतः जो भी यजमान इस साध्यकर्म का अनुष्ठान करते हैं वे ब्रह्मसाधन के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त कर जाते हैं अर्थात् वे क्रमशः अमृतत्व प्राप्त कर लेते हैं।' इस

---

१. नाडयः।

तेऽमृतत्वमाप्नुवन्ति' य एतदहरुपयन्ति इति । किमिमे सर्वे प्रविध्यादयो मन्त्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि विद्यासूपसंह्रियेरन्किंवा नोपसंह्रियेरन्निति मीमांसामहे ।

किं तावन्नः प्रतिभाति । उपसंहार एवैषां विद्यास्विति । कुतः ? विद्याप्रधानानामुपनिषद्ग्रन्थानां समीपे पाठात् । नन्वेषां विद्यार्थतया विधानं नोपलभामहे । बाढम् । अनुपलभमाना अपि त्वनुमास्यामहे संनिधिसामर्थ्यात् । नहि संनिधेरर्थवत्त्वे सम्भवत्यकस्मादसावनाश्रयितुं युक्तः । ननु नैषां मन्त्राणां विद्याविषयं किंचित्सामर्थ्यं पश्यामः । कथं च प्रवर्ग्यादीनि कर्माण्यन्यार्थत्वेनैव विनियुक्तानि सन्ति विद्यार्थत्वेनापि प्रतिपद्येमहीति । नैष दोषः । सामर्थ्यं तावन्मन्त्राणां विद्याविषयमपि किंचिच्छक्यं कल्पयितुं, हृदयादिसंकीर्तनात् । हृदयादीनि हि प्रायेणोपासनेष्वायतनादिभावेनोपदिष्टानि तद्द्वारेण च

तिष्ठन्ति ते ब्रह्मणैव साधनेन ब्रह्मोपयन्ति ते च क्रमेणामृतत्वमाप्नुवन्तीति योजना । मन्त्रादिषु तत्तदुपनिषद्विद्याशेषत्वे प्रमाणभावाभावाभ्यां संशयमाह—किमिति । फलं पूर्ववत् ।

ननु तेषां शेषत्वे मानाभावान्नोपसंहार इति शङ्कते—नन्वेषामिति । मन्त्रादयस्तत्तद्विद्याशेषाः फलवद्विद्यासंनिहितत्वात्तैत्तिरीयकगतपुरुषयज्ञवदिति समाधत्ते—बाढमिति । तथाच दृष्टान्तसंगतिः । सिद्धान्तिपक्षे सन्निधिवैयर्थ्यं बाधकमाह—नहीति । अफलमन्त्रादीनां फलवच्छेषत्वबोधनं संनिधेरर्थवत्त्वं तत्संभवे सत्यकस्मादर्थशून्यत्वेनासौ संनिधिराश्रयितुं नहि युक्त इत्यर्थः । नञ्पाठेत्वकस्माद्धेतुं विनाऽसावर्थो नाश्रयितुं नहि युक्त इत्यर्थः । ननु मन्त्राणां विद्यासमवेतार्थप्रकाशनसामर्थ्याभावान्न विद्याशेषत्वमिति शङ्कते—नन्विति । पुरस्तादुपसदां प्रवर्ग्येण प्रचरन्तीति वाक्येन प्रवर्ग्यस्य क्रतुशेषत्वं श्रुतं, अग्निष्टोमादेश्च तत्तद्वाक्येन स्वर्गाद्यर्थत्वमतो न विद्यार्थत्वमित्याह—कथं चेति । मन्त्राणां विद्यासमवेतहृदयनाड्यादिप्रकाशकत्वमस्तीत्याह—नैष इति । उपास्तिषु मन्त्रप्रयोगः क्वापि

वाक्य द्वारा अग्निष्टोमब्राह्मण कहा गया है । क्या इन 'प्रविध्य' इत्यादि सभी मन्त्रों का और प्रवर्ग्यादि सभी कर्मों का विद्या में उपसंहार करना चाहिए या नहीं, ऐसा हम यहाँ पर विचार करते हैं ।

इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि पूर्वोक्त मन्त्रों एवं कर्मों का उपसंहार विद्या में करना चाहिए, ऐसा हमें प्रतिभासित होता है क्योंकि उक्त सभी पाठ विद्याप्रधान उपनिषद् ग्रन्थ के समीप में मिलते हैं । शङ्का—हम इन सभी मन्त्रों और कर्मों का विद्यार्थरूप से विधान नहीं देखते हैं । समाधान—ठीक है, न देखते हुए भी सन्निधि के सामर्थ्य से हम अनुमान कर सकते हैं क्योंकि इस प्रकार सन्निधि की सार्थकता जब सम्भव है तो अकस्मात् उसका आश्रय न लेना युक्तियुक्त नहीं है । शङ्का—इन मन्त्रों का सामर्थ्य हम विद्या के विषय में कुछ भी नहीं देखते हैं । प्रवर्ग्य कर्म यज्ञशेष सुना गया है और अग्निष्टोम आदि तत्रस्थ वाक्य द्वारा स्वर्गार्थ है, अतः वे विद्या के लिए नहीं हैं । जब प्रवर्ग्यादि कर्म अन्यार्थरूप से ही विनियुक्त हो चुके हैं तो उपासना के लिए भी उनका उपयोग हम कैसे समझ सकते हैं । समाधान—यह कोई दोष नहीं है । विद्या के विषय में भी मन्त्रों के सामर्थ्य की कल्पना हम कर सकते है क्योंकि मन्त्र में हृदयादि का वर्णन भी है । उपासना में प्रायशः हृदयादि का उपदेश

हृदयं प्रविध्येत्येवंजातीयकानां मन्त्राणामुपपन्नमुपासनाङ्गत्वम् । दृष्टश्चोपासनेष्वपि मन्त्रविनियोगः 'भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना' (छा० ३-१५-३) इत्येवमादिः । तथा प्रवर्ग्यादीनां कर्मणामन्यत्रापि विनियुक्तानां सतामविरुद्धो विद्यासु विनियोगो वाजपेय इव बृहस्पतिसवस्येति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः——नैषामुपसंहारो विद्यास्विति । कस्मात् ? वेधाद्यर्थभेदात् । हृदयं प्रविध्येत्येवंजातीयकानां हि मन्त्राणां येऽर्थाः हृदयवेधादयो भिन्नाः, अनभिसम्बद्धास्त

न दृष्ट इत्यत आह—दृष्टश्चेति । पुत्रस्य दीर्घायुष्यार्थं छान्दोग्ये त्रैलोक्यस्य कोशत्वेनोपास्तिरुक्ता तत्र पितुरयं प्रार्थनामन्त्रः । तत्रामुनेति पुत्रस्य त्रिर्नाम गृह्णाति अमुना पुत्रेण सह भूरितोमं लोकममुं च प्रपद्ये न मे पुत्रवियोगः स्यादित्यर्थः । तत्तद्वाक्येनान्यत्र विनियुक्तानामपि कर्मणां संनिधिना विद्यासु विनियोगो न विरुध्यत इत्यत्र दृष्टान्तमाह—वाजपेय इति । 'ब्रह्मवर्चसकामो बृहस्पतिसवेन यजेत' इति वाक्येन ब्रह्मवर्चसफले विनियुक्तस्यापि बृहस्पतिसवस्य 'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत' इति वाजपेयप्रकरणस्थवाक्येन वाजपेयोत्तराङ्गतया विनियोगवदविरोध इत्यर्थः । यद्यप्येकेन वाक्येन प्रकरणान्तरस्थबृहस्पतिसवस्य प्रत्यभिज्ञानमङ्गत्वविधानं च कर्तुमयुक्तं वाक्यभेदप्रसङ्गादतो मासाग्निहोत्रवत्कर्मान्तरमेव बृहस्पतिसवाख्यमङ्गतया विधीयत इति न विनियुक्तस्य विनियोग इति भट्टगुरुतन्त्रद्वयसिद्ध, तथापि यथा नित्याग्निहोत्रस्याश्वमेधप्रकरणे वाग्यतस्यैतां रात्रिमग्निहोत्रं जुहोतीति नाम्ना प्रत्यभिज्ञा, वाक्येन विधानम् यथा वा दर्शपूर्णमासविकृतीष्टावाज्यभागौ यजतीत्येकस्मिन्वाक्ये प्रकृतिस्थाज्यभागयोः पदेन प्रत्यभिज्ञानं वाक्येन विधानं तथात्रापि बृहस्पतिसवपदेन प्रत्यभिज्ञानं वाक्येनाङ्गताविधानं किं न स्यात्, न च साध्यभावार्थविधायकाख्यातपरतन्त्रं नामपदं सिद्धकर्मप्रत्यभिज्ञाक्षममिति वाच्यं, सिद्धस्याप्यङ्गतया पुनः साध्यत्वसंभवेऽन्यथासिद्धाख्यातस्यैव प्रसिद्धार्थकानामपारतन्त्र्योपपत्तेः । न चैवं सति कुण्डपायिसत्रेऽप्यङ्गत्वेन नित्याग्निहोत्रस्यैव विधिः स्यादिति वाच्यं, इष्टत्वात् । नच पूर्वतन्त्रविरोधः उत्तरतन्त्रस्य बलीयस्त्वात् । पूर्वतन्त्रस्य स्वतन्त्रपरतन्त्रभावनाभेदे तात्पर्याच्च । तस्मादेकस्यैव बृहस्पतिनामकस्य धात्वर्थस्य ब्रह्मवर्चसे विनियुक्तस्यापि वाजपेयाङ्गतया विनियोग इति भगवत्पादतात्पर्यम् । अस्ति च विनियुक्तस्य विनियोगे सर्वसंमतमुदाहरणं खादिरत्वादिकं तस्य क्रतौ विनियुक्तस्य वीर्यादिफलेऽपि विनियोगात् ।

तथा मन्त्रकर्मणामन्यत्र विनियुक्तानां विद्याशेषत्वमिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—नैषामित्यादिना ।

आयतनरूप से किया गया है इसलिए **'हृदयं प्रविध्य'** इत्यादि मन्त्रों में उपासनादि का अङ्गत्व सिद्ध हो जाता है क्योंकि **'भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना'** इस वाक्य द्वारा उपासना में भी मन्त्र का विनियोग देखा गया है। वैसे ही क्रत्वर्थ विनियुक्त प्रवर्ग्यादि कर्मों का विद्या में विनियोग बतलाना उसी प्रकार अविरुद्ध है जैसे ब्रह्मवर्चस् फल में विनियुक्त बृहस्पतिसव का **'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत'** इस वाजपेय प्रकरणस्थ वाक्य द्वारा वाजपेय के उत्तराङ्गरूप से बृहस्पतिसव का विनियोग विरुद्ध नहीं है, ऐसा हम पूर्वपक्षी मानते हैं।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि इन मन्त्रों और कर्मों का उपसंहार विद्या में नहीं करना चाहिए क्योंकि **'हृदयं प्रविध्य'** इत्यादि मन्त्रों का जो हृदयवेधादि भिन्न अर्थ हैं

उपनिषदुदिताभिर्विद्याभिः तेषां न ताभिः संगन्तुं सामर्थ्यमस्ति ।। ननु हृदयस्योपासनेष्व-प्युपयोगात् तद्द्वारक उपसनासम्बन्ध उपन्यस्तः । नेत्युच्यते । हृदयमात्रसङ्कीर्तनस्य ह्येव-मुपयोगः । कथंचिदुत्प्रेक्ष्येत, नच हृदयमात्रमत्र मन्त्रार्थः । हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्जये-त्येवंजातीयको हि न सकलो मन्त्रार्थो विद्याभिरभिसम्बध्यते । आभिचारिकविषयो ह्येषो-ऽर्थस्तस्मादाभिचारिकेण कर्मणा सर्वं प्रविध्येत्येतस्य मन्त्रस्याभिसम्बन्धः । तथा 'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' इत्यस्य यज्ञप्रसवलिङ्गत्वाद्यज्ञेन कर्मणाभिसम्बन्धः । तद्विशेषसम्बन्धस्तु प्रमाणान्तरादनुसर्तव्यः । एवमन्येषामपि मन्त्राणां केषांचिल्लिङ्गेन केषांचिद्वचनेन केषांचि-त्प्रमाणान्तरेणेत्येवमर्थान्तरेषु विनियुक्तानां रहस्यपठितानामपि सतां न संनिधिमात्रेण विद्याशेषत्वोपपत्तिः । दुर्बलो हि संनिधिः श्रुत्यादिभ्य इत्युक्तं प्रथमे तन्त्रे 'श्रुतिलिङ्ग-

विद्यासु हृदयादिसबन्धेऽपि वेधाद्यर्थानामसंबन्धात्कृत्स्नमन्त्रार्थानामभिचारादिसम्बन्धलिङ्गेन सनि-धेर्बलीयसाऽभिचारादावेव मन्त्राणां विनियोग इत्यर्थः । 'देव सवितः प्रसुव' इति प्रदक्षिणतोऽग्नि पर्युक्षेदिति वाक्यादग्निपर्युक्षणे 'सावित्रं जुहोति कर्मणः पुरस्तात्सवने सवने जुहोति' इति वाक्या-द्वाजपेये कर्मविशेषे संबन्धोऽस्य मन्त्रस्येत्याह—तद्विशेषेति । उक्तन्यायं श्वेताश्व इत्यादिष्वतिदिशति —एवमन्येषामिति । प्रमाणान्तरं प्रकरणादिकम् । ननु लिङ्गादिभिरन्यत्र विनियुक्तानामपि संनिधिना विद्यास्वपि विनियोगोऽस्त्वविरोधादित्युक्तं, तत्राह—दुर्बलो हीति । समवाये समानविषयत्वेन द्वयो-र्विरोधे, परस्य दौर्बल्यं, कुतः अर्थविप्रकर्षात्, स्वार्थबोधने परस्य पूर्वव्यवधानेन प्रवृत्तेरित्यर्थः । अयमा-शयः—एकत्र विनियुक्तस्य निराकाङ्क्षत्वादन्यत्र विनियोगो विरुद्ध एव परंतु विनियोजकप्रमाणयोः सम-बलत्वेऽन्यतरविनियोगत्यागायोगादगत्याकाङ्क्षोत्पादनेन विनियुक्तविनियोगः स्वीक्रियते 'यथा खादिरो यूपो भवति', 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्' इति वाक्याभ्यां क्रतौ विनियुक्तस्य खादिरत्वस्य-वीर्यफले विनियोगः । यत्र तु प्रमाणयोरतुल्यत्वं तत्र न स्वीक्रियते प्रबलप्रमाणेन दुर्बलविनियोग-बाधात् । यथा 'कदाचनस्तरीरसि' इत्यस्या ऋच ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठत इति तृतीयाविभक्तिः

वे उपनिषद् में कही गयी विद्या के साथ सम्बन्ध नहीं रखते हैं इसीलिए उन मन्त्रों का तत्रोक्त विद्याओं के साथ सामर्थ्यबोध नहीं होता है। शङ्का—उपासनाओं में हृदय का उपयोग होने से हृदय द्वारा इन मन्त्रों का सम्बन्ध उपासना के साथ बतलाया गया है। समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं। हृदय-मात्र संकीर्तन का कथञ्चित् इस प्रकार उपयोग की कल्पना भले ही की जाय, पर यहाँ पर हृदयमात्र इस मन्त्र का अर्थ नहीं है। 'हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य' इत्यादि सम्पूर्ण मन्त्रार्थ उपासना के साथ सम्बन्ध नहीं रखता है, यह मन्त्रार्थ आभिचारिक कर्म के साथ सम्बन्ध रखता है, अतः आभिचारिक कर्म के द्वारा 'सर्वं प्रविध्य' इस मन्त्र का सम्बन्ध मानना ही उचित होगा। वैसे ही 'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' इस मन्त्र में यज्ञनिर्वर्तन-लिङ्ग को देखते हुए यज्ञकर्म के साथ इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है, विशेष सम्बन्ध तो प्रमाणान्तर से समझना पड़ेगा। इस प्रकार किन्हीं अन्य मन्त्रों का भी लिङ्ग प्रमाण से, वचन प्रमाण से और प्रमाणान्तर से अर्थान्तर में विनियोग सिद्ध हो जाने पर उनके उपनिषद् में पढ़े जाने पर भी सन्निधिमात्र से विद्या का शेष नहीं मान सकते। सन्निधि का अर्थ प्रकरण होता है जो श्रुत्यादि प्रमाणों की अपेक्षा दुर्बल कहा गया है। 'श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण,

१. भो इन्द्र कदाचिदपि घातको न भवसि किं त्वाहुतिं दत्तवते यजमानाय प्रीयसे इति मन्त्रार्थः।

वाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३-३-१३) इत्यत्र। तथा कर्मणामपि प्रवर्ग्यादीनामन्यत्र विनियुक्तानां न विद्याशेषत्वोपपत्तिः। न ह्येषां विद्याविभिः सहैकार्थ्यं किंचिदस्ति। वाजपेये तु बृहस्पतिसवस्य स्पष्टं विनियोगान्तरम्—'वाजपेयेनेष्टवा बृहस्पतिसवेन यजेत' इति। अपि चैकोऽयं प्रवर्ग्यः सकृदुत्पन्नो

श्रुत्यान्यनिरपेक्षया गार्हपत्योपस्थानशेषत्वबोधिकया ऐन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपलिङ्गप्राप्तमिन्द्रशेषत्वं बाध्यते। लिङ्गं हि न साक्षाच्छेषत्वं बोधयति किंत्विन्द्रप्रकाशनमात्रं करोति, तेन च लिङ्गेनानेन मन्त्रेण इन्द्र उपस्थापयितव्य इति श्रुतिः कल्पनीया, तया शेषत्वबोध इति श्रुतिव्यवधानेन शेषत्वबोधकं लिङ्गं झटिति स्वार्थबोधकश्रुत्या बाध्यम्। तथा लिङ्गेन वाक्यं बाध्यं यथा 'स्योनं ते सदनं करोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि', 'तस्मिन्सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः' इति मन्त्रभागयोः प्रत्येकं सदनकरणे पुरोडाशासादने च तत्प्रकाशनसामर्थ्यलिङ्गेन श्रुतिद्वारा विनियोगे सति प्रतीतमेकवाक्यत्वं बाध्यते, तस्य कृत्स्नेऽपि मन्त्रे सदनकरणप्रकाशनसामर्थ्यं पुरोडाशासादनप्रकाशनसामर्थ्यं च लिङ्गं कल्पयित्वा श्रुतिकल्पनयोभयत्र कृत्स्नमन्त्रविनियोगबोधने द्वाभ्यां लिङ्गश्रुतिभ्यां व्यवधानेन श्रुत्येकव्यवहितक्लृप्तलिङ्गाद् दुर्बलत्वात्। नच सामर्थ्यं न कल्प्यमिति वाच्यं, असमर्थस्य विनियोगायोगात्, अत एव गङ्गापदस्य तीरबोधविनियोगे लक्षणारूपं सामर्थ्यं कल्प्यते। तथा वाक्येन प्रकरणं बाध्यं यथा साह्नप्रकरणाम्नातद्वादशोपसत्तां द्वादशाहीनस्येति वाक्येनाहीनाङ्गत्वबोधकेन प्रकरणप्राप्तसाह्नाङ्गत्वबाधादुत्कर्षः। प्रधानस्याङ्गाकाङ्क्षारूपं प्रकरणं तस्याङ्गप्रधानवाक्यैकवाक्यतासामर्थ्यश्रुतिभिः कल्प्यमानाभिः स्वार्थविनियोगप्रमितौ व्यवधानेनाङ्गसामर्थ्यश्रुत्योर्द्वयोः कल्पकवाक्याद्दुर्बलत्वात्। तथा प्रकरणेन सन्निधिर्बाध्यः। यथा राजसूयप्रकरणेन तदन्तर्गताभिषेचनीयाख्यसोमयागविशेषसंनिधिपाठप्राप्तं शुनःशेपोपाख्यानादेरभिषेचनीयशेषत्वं बाधित्वा कृत्स्नराजसूयशेषत्वमापादितं संनिधेः प्रकरणादिकल्पकत्वेन क्लृप्तप्रकरणाद् दुर्बलत्वात् तथा संनिधिना समाख्या बाध्यते। तथाहि—पौरोडाशिकसमाख्याके काण्डे आग्नेयपुरोडाशादिकर्मणां क्रमेण मन्त्रा आम्नातास्तत्र दधिपयोरूपसान्नाय्यसन्निधौ 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' इति मन्त्र आम्नातस्तत्र समाख्याबलेनास्य मन्त्रस्य पुरोडाशपात्रशुन्धनशेषत्वं प्राप्तं सन्निधिना बाधित्वा सान्नाय्यपात्रशुन्धनशेषत्वमापाद्यते। पुरोडाशसंबन्धिकाण्डं पौरोडाशिकमिति पौरुषसमाख्यायाः काण्डान्तर्गतमन्त्रस्य पुरोडाशसंबन्धसामान्यबोधकत्वेऽपि शेषशेषिभावरूपविनियोगबोधकत्वे संनिध्याद्यपेक्षत्वेन दुर्बलत्वादिति। एवं विरोधे सति श्रुतिर्बाधिकैव समाख्या बाध्यैव, मध्यस्थानां तु चतुर्णां पूर्वबाध्यत्वं परबाधकत्वं चेति श्रुतिलिङ्गसूत्रार्थः। तस्माल्लिङ्गादिनान्यत्र विनियुक्तानां मन्त्राणां दुर्बलसंनिधिना न विद्यासु विनियोग इति सिद्धम्। तथा कर्मणामिति। कर्मणां विद्योपकारकत्वे ताभिः सहैकफलत्वे च मानं किंचिन्नास्ती-

स्थान और समाख्या का समान विषय में समवाय होने पर अर्थविप्रकर्ष के कारण पर पर में दौर्बल्य माना जाता है' पूर्व मीमांसा के इस सूत्र में उत्तरोत्तर प्रमाण को पूर्व की अपेक्षा दुर्बल कहा है। वैसे ही अन्यत्र विनियुक्त प्रवर्ग्यादि कर्मों में भी विद्याशेषत्व सन्निधिमात्र से सिद्ध नहीं होता क्योंकि विद्या के साथ इन प्रवर्ग्य कर्मों का कुछ भी एकार्थत्व नहीं है। बृहस्पतिसव का वाजपेय में स्पष्ट विनियोग सुना जाता है। 'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत' इस श्रुति के द्वारा ब्रह्मवर्चस फल में विनियुक्त बृहस्पतियज्ञ का पुनः वाजपेययज्ञ में विनियोग बतलाना युक्तियुक्त ही है, किन्तु यहाँ पर

१५. हान्यधिकरणम् (सू० २६)

उपायनमनाहार्यं हानायाह्रियतेऽथवा । अश्रुतत्वादनाक्षेपाद्विद्याभेदाच्च नाहृतिः ।
विद्याभेदेऽप्यर्थवाद आहार्यः स्तुतिसाम्यतः । हानस्य प्रत्यभिज्ञानादेकविशादिवादवत् ।।

बलीयसा प्रमाणेनान्यत्र विनियुक्तो न दुर्बलेन प्रमाणेनान्यत्रापि विनियोगमर्हति । अगृह्यमाणविशेषत्वे हि प्रमाणयोरेतदेवं स्यान्न तु बलवदबलवतोः प्रमाणयोरगृह्यमाणविशेषता सम्भवति बलवदबलवत्वविशेषादेव । तस्मादेवंजातीयकानां मन्त्राणां कर्मणां वा न संनिधिपाठमात्रेण विद्याशेषत्वमाशङ्कितव्यम् । अरण्यानुवचनत्वादिधर्मसामान्यात्तु संनिधिपाठ इति संतोष्टव्यम् ।।२५।।

स्यर्थः । अपि चेत्युक्तार्थम् । ननु तर्हि वेधादिवाक्यानामुपनिषद्भिः सह पाठस्य का गतिस्तामाह—अरण्येति । तस्माद्वेधादिमन्त्रकर्मणां विद्यास्वनुपसंहार इति सिद्धम् ।।२५।।

वह बात नहीं है। इसके अतिरिक्त यह प्रवर्ग्य एक है जो अभी-अभी उत्पन्न हुआ है एवं बलवान प्रमाण से अन्यत्र विनियुक्त हो चुका है, ऐसी स्थिति में दुर्बल सन्निधि प्रमाण से अन्यत्र भी उसका विनियोग नहीं हो सकता। जहाँ दो प्रमाणों में विशेष का ग्रहण नहीं होता वहाँ पर ही उक्त रीति से निर्णय लिया जा सकता है, किन्तु एक बलवान और दूसरे दुर्बल प्रमाणों में विशेषभाव का ग्रहण न होने पर पूर्वपक्षी का कहा हुआ प्रकार सम्भव नहीं है क्योंकि बलवत्ता और अबलवत्ताविशेष का ग्रहण यहाँ हो ही जाता है। अतः ऐसे मन्त्रों और कर्मों के सन्निधिपाठमात्र से विद्याशेषत्व की आशङ्का नहीं करनी चाहिए, किन्तु अरण्यानुवचनत्वादि धर्मसामान्य के कारण सन्निधिपाठ सफल हो जाता है। इसलिए वेधादि मन्त्र और प्रवर्ग्यादि कर्मों का उपसंहार विद्या में नहीं करना चाहिए, बस इस निर्णय को मानकर सन्तोष रखना चाहिए ।।२५।।

१५. हान्यधिकरण
(प्रथम वर्णक)

१. **सङ्गति**—पिछले अधिकरण में विद्यासन्निहित भी मन्त्रों का, अनावश्यक होने से, उपासना में उपसंहार नहीं बतलाया गया था; वैसे ही अनावश्यक होने से हान की सन्निधि में पढ़े गये उपादान को भी हान का अङ्ग नहीं मानना चाहिए अर्थात् उपादान के बिना भी हान का होना सम्भव है। अतः उपादान का उपसंहार अनावश्यक है, ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ होता है।

२. **विषय**—इस अधिकरण में ज्ञानी के पुण्यपापादि कर्मों के हानोपादान पर विचार किया गया है।

३. **संशय**—शाठ्यायनी में कहा गया है कि 'ज्ञानी के पुत्रस्थानीय सभी प्राणी उसके वित्तस्थानीय कर्म को यथायोग्य ग्रहण कर लेते हैं।' ताण्डी में कहा है कि 'जैसे घोड़ा अपने शरीर के रोयें को झाड़ देता है और जैसे राहु के मुख से चन्द्रमा मुक्त हो जाता है ऐसे ही ज्ञानी सम्पूर्ण पुण्य-पाप को छोड़ देता है।' उसी प्रकार आथर्वणिकों ने कहा है कि 'उस समय ज्ञानी पुण्य-पाप दोनों का परित्यागकर, भावीजन्म के कारण से रहित हो परमसाम्य को प्राप्त करता है।' यहाँ पर सन्देह होता है कि ज्ञानी के पुण्य-पाप का हान एवं उपादान सभी स्थलों पर समानरूप से होता है या नहीं होता?

(३८५) हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दःस्तुत्यु-पगानवत्तदुक्तम् ॥२६॥

विधूननं चालनं स्याद्धानं वा चालनं भवेत् । दोधूयन्ते ध्वजाग्राणीत्यादौ चालनदर्शनात् ।
हानमेव भवेद्वाक्यशेषेऽन्योपायनश्रवात् । कर्त्रा न ह्यपरित्यक्तमन्यः स्वीकर्तुमर्हति ।

अस्ति ताण्डिनां श्रुतिः—'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि' (छा० ८-१३-१) इति । तथाथर्वणिकानाम् 'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु० ३-२-८) इति ।

हानौ तूक्तम् । यथा अश्वो रजोयुक्तानि जीर्णरोमाणि त्यक्त्वा निर्मलो भवति तथाहमपि पापं विधूय कृतात्मा निर्मलीकृतचित्तः सन् यथा वा राहुग्रस्तश्चन्द्रो राहुमुखात्प्रमुच्य स्पष्टो भवति तथा शरीरं धूत्वा त्यक्त्वा देहाभिमानान्मुक्तः सन्नकृतं कूटस्थ ब्रह्मात्मकं लोकं अभि प्रत्यक्त्वेन संभवामीत्यर्थः । यथा नद्यः समुद्रं प्राप्य नामरूपे त्यजन्ति तथा विद्वानित्यर्थः । निरञ्जनः [1]शुद्धः साम्यं ब्रह्म,

४. **पूर्वपक्ष**—अश्रुत होने से, आक्षेप अनावश्यक होने के कारण और विद्या के भेद से सर्वत्र हानोपादान का उपसंहार नहीं होता।

५. **सिद्धान्त**—विद्याभेद होने पर भी स्तुति की समानता के कारण अर्थवाद के रूप में उपसंहार करना चाहिए क्योंकि हान की प्रत्यभिज्ञा तो सर्वत्र होती ही है। इसीलिए अर्थवाद होने पर भी उपादान उपसंहार के योग्य है।

(द्वितीय वर्णक)

१. **सङ्गति**—पहले विद्या की सन्निधि में पढ़े गये मन्त्रादि को जैसे अकिञ्चित्कर कहा था, वैसे ही विधूनन शब्द उपायन शब्द की सन्निधि में अप्रयोजक होने से अकिञ्चित्कर है; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति पिछले अधिकरण के साथ इसकी है।

२. **विषय**—विधूनन शब्द के अर्थ का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. **संशय**—क्या विधूनन शब्द का अर्थ चालन है अथवा हान है ?

४. **पूर्वपक्ष**—**'दोधूयन्ते ध्वाजाग्राणि'** इस वाक्य में धूञ् धातु का अर्थ चालन होने से विधूनन का अर्थ चालन ही मानना चाहिए।

५. **सिद्धान्त**—विधूनन शब्द का अर्थ हान ही करना चाहिए क्योंकि वाक्यशेष में अन्य के द्वारा उसका ग्रहण करना सुना गया है। जब तक कोई त्याग नहीं करता तो उसका ग्रहण दूसरा कैसे कर सकता है। अतः विधूनन शब्द का अर्थ त्याग ही करना चाहिए।

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाछन्दः स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् (ललिता)

प्रथम वर्णक—ताण्डी शाखावालों की श्रुति है कि 'जैसे धूलधूसरित जीर्ण रोम को अश्व त्यागकर निर्मल हो जाता है वैसे ही मैं भी पाप को छोड़कर कृतार्थ हो जाऊँगा और जैसे राहुग्रस्त चन्द्रमा राहु के मुख से छूटकर स्पष्ट भासित होता है ऐसे ही शरीर को छोड़कर देहाभिमान से मुक्त हुआ नित्यब्रह्मात्मक लोक को प्रत्यगात्मरूप से प्राप्त कर जाऊँगा।' वैसे ही आथर्वणिकों को श्रुति है कि 'जैसे नदियाँ समुद्र को प्राप्तकर अपने नाम-रूप को छोड़ बैठती हैं वैसे ही विद्वान् पुण्य-पाप को

१. असंगः ।

तथा [1]शाट्यायनिनः पठन्ति 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्त पापकृत्याम्' इति । तथैव कौषीतकिनः 'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्' (कौ० १-४) इति । तदिह [2]क्वचित्सुकृतदुष्कृतयोर्हानं श्रूयते [3]क्वचित्त[4]योरेव विभागेन प्रियैरप्रियैश्चोपायनं [5]क्वचित्तूभयमपि हानमुपायनं च तद्यत्रोभयं श्रूयते तत्र तावन्न किंचिद्वक्तव्यमस्ति । यत्राप्युपायनमेव श्रूयते न हानं तत्राप्यर्थादेव हानं संनिपतति । अन्यैरात्मीययोः सुकृतदुष्कृतयोरुपेयमानयोरावश्यकत्वात्तद्धानस्य । यत्र तु हानमेव श्रूयते नोपायनं तत्रोपायनं संनिपतेद्वा न वेति विचिकित्सायामश्रवणादसंनिपातः । [6]विद्यान्तरगोचरत्वाच्च [7]शाखान्तरीयस्य श्रवणस्य । अपिचात्मकर्तृकं सुकृतदुष्कृतयोर्हानं परकर्तृकं तूपायनं तयोरसत्यावश्यकभावे कथं हानेनोपायनमाक्षिप्येत । तस्मादसंनिपातो हानावुपायनस्येति ।

तस्य मृतस्य विदुषः, दायं धनं, तत्तेन 'विद्याबलेन सुकृतदुष्कृते त्यजतीत्यर्थः । उपायनं ग्रहणं तस्य त्यागपूर्वकत्वात्, अत्यक्तयोर्ग्रहणायोगात्त्यागोऽर्थादायाति । यत्र तु त्याग एव श्रुतः तत्र हानोपायनयोः सहभावस्यावश्यकत्वानावश्यकत्वाभ्यां संशयमाह—यत्र त्विति । अत्र पूर्वपक्षे स्तुतिप्रकर्षासिद्धिः सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलम् । यद्यपि ताण्ड्याथर्वणश्रुत्योर्निर्गुणविद्यार्थयोः कर्महानमेव श्रुतं नोपायनं तथापि कौषीतकिश्रुतौ पर्यङ्कस्थसगुणब्रह्मविद्यायामुपायनं श्रुतमत्रोपसंहर्तव्यमित्याशङ्क्य विद्याभेदान्नोपसंहार इत्याह—विद्यान्तरेति ।

छोड़कर शुद्ध हो परमसाम्य ब्रह्म को प्राप्त कर जाता है। उसी प्रकार शाठ्यायिनी शाखावाले कहते हैं कि 'उस मृतात्मा विद्वान् के धन को पुत्र ले लेते हैं, उसके पुण्यकर्म को सुहृद और पापकर्म को द्वेषी प्राप्त करते हैं।' वैसे ही कौषीतकी शाखावाले कहते हैं कि 'विद्याके बल से वह ज्ञानी पुण्य-पाप को त्याग देता है, उसके प्रियजन पुण्य को लेते हैं और अप्रियजन पाप को लेते हैं।' इस प्रकार इन श्रुतियों में कहीं पर पुण्य-पाप का हान सुना जाता है; कहीं पर दोनों में से विभागपूर्वक प्रिय एवं अप्रियजन एक-एक को ग्रहण करते हैं, ऐसा कहा गया है और कहीं-कहीं पर हान एवं उपादान दोनों ही सुने जाते हैं। इनमें से जहाँ पर दोनों ही सुने जाते हैं वहाँ पर कुछ भी कहना आवश्यक नहीं है। जहाँ पर उपायन ही सुना जाता है, हान नहीं; वहाँ भी अर्थतः हान आ ही जाता है क्योंकि अपने उपेय पुण्य-पाप का हान होने पर किसी अन्य के द्वारा ग्रहण करना आवश्यक समझा जाता है। किन्तु जहाँ पर केवल हान ही सुना जाता है वहाँ पर भी उपायन आता है या नहीं आता है? ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष का कहना है कि ऐसे स्थल पर उपायन का श्रवण न होने के कारण और शाखान्तरीय श्रवण अन्य उपासना के साथ सम्बद्ध होने के कारण उपायन की प्राप्ति नहीं होती। इसके अतिरिक्त पुण्य-पाप का त्याग स्वयं करता है किन्तु ग्रहण दूसरों से होता है, इन दोनों का सम्बन्ध आवश्यक न होने पर हान से उपादान का आक्षेप कैसे हो सकेगा। अतः केवल पुण्य-पाप के हान स्थल में उपादान का सम्बन्ध नहीं होता।

---

१. अत्र ताण्डिश्रुतिरथर्वश्रुतिश्च निर्गुणविद्यापरा शाटी कौषीतकी च सगुणपरेति विवेकः । २. आद्ययोः श्रुत्योः । ३. तृतीय श्रुतौ । ४. सुकृतदुष्कृतयोः । ५. चतुर्थश्रुतौ ६. सगुणविद्याविषयत्वात् । ७. कौषीतकी । ८. उपासना ।

अस्यां प्राप्तौ पठति हानौ त्विति । हानौ त्वेतस्यां केवलायामपि श्रूयमाणायामुपायनं संनिपतितुमर्हति । तच्छेषत्वात् । हानशब्दशेषो ह्युपायनशब्दः समधिगतः कौषीतकिरहस्ये । तस्मादन्यत्र केवलहानशब्दश्रवणेऽप्युपायनानुवृत्तिः । यदुक्तमश्रवणाद्विद्यान्तरगोचरत्वादनावश्यकत्वाच्चासंनिपात इति तदुच्यते । भवेदेषा व्यवस्थोक्तिर्यद्यनुष्ठेयं किञ्चिदन्यत्र श्रुतमन्यत्र निनीष्येत । न त्विह हानमुपायनं वाऽनुष्ठेयत्वेन संकीर्त्यते विद्यास्तुत्यर्थं त्वनयोः संकीर्तनम् । इत्थं महाभागा विद्या यत्सामर्थ्यादस्य विदुषः सुकृतदुष्कृते संसारकारणभूते विधूयेते ते चास्य सुहृद्द्विषत्सु निविशेते इति । स्तुत्यर्थे चास्मिन्संकीर्तने हानानन्तरभावित्वेनोपायनस्य क्वचिच्छ्रुतत्वादन्यत्रापि हानश्रुतावुपायनानुवृत्तिं मन्यते स्तुतिप्रकर्षलाभाय । प्रसिद्धा चार्थवादान्तरापेक्षार्थवादान्तरप्रवृत्तिः —'एकविंशो वा इतोऽसावादित्यः' (छा० २-१०-५) इत्येवमादिषु । कथं ह्येहैकविं-

किंच यथा मन्त्रकर्मणामनावश्यकत्वाद्विद्यास्वनुपसंहार उक्तः तथा परैरुपादानं विनापि हानसंभवेनोपादानस्यानावश्यकत्वान्न प्राप्तिरिति दृष्टान्तसंगत्या प्राप्ते सिद्धान्तयति—हानौ त्वित्यादिना । उपायनशब्दस्य शेषत्वाद्धानशब्देनापेक्षितत्वादिति सूत्रार्थः । अश्वरोमदृष्टान्तेन विधूतयोः पुण्यपापयोः परत्रावस्थानसापेक्षत्वात्परैरुपादानं वाच्यमिति भावः । विद्याभेदे गुणानुपसंहार इति व्यवस्थाऽनुष्ठानविषया न स्तुतिविषयेत्याह—तदुच्यते इति । मन्यते सूत्रकार इत्यर्थः । ननु श्रुतहानार्थवादेनापि स्तुतिसिद्धौ किमर्थमुपायनार्थवाद आनीयते, तत्राह—स्तुतिप्रकर्षलाभायेति । नन्वर्थवादस्य विधिना संबन्धः प्रसिद्धो नार्थवादान्तरेणेत्यत आह—प्रसिद्धा चेति । इतो भूलोकादित्यर्थः । हेमन्तशिशिरयोरैक्यात्पञ्चर्तवः । यज्ञस्य पुरुषरूपकल्पनायां सेन्द्रियत्वाय त्रिष्टुभौ भवत इत्युक्तं बह्वृचब्राह्मणे, तत्र त्रिष्टुभश्छन्दोमात्रत्वात्कथमिन्द्रियत्वकल्पनेत्याकाङ्क्षायां यजुर्वाक्यं संवाद्यत इत्यर्थः ।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त की ओर से सूत्रपाठ करते हैं कि केवलहानश्रवणस्थल में भी उपादान होता ही है क्योंकि उपायन शब्द हान शब्द का शेष है, ऐसा कौषीतकि उपनिषद् से जाना जाता है। अतः कौषीतकी से भिन्न स्थल में केवल हान शब्द का श्रवण होने पर भी उपादान की अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। और जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि ऐसे स्थल में उपायन का श्रवण न होने, विद्यान्तर के साथ सम्बद्ध होने और अनावश्यक होने के कारण उपादान का सन्निपात नहीं होता, इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि यदि अन्यत्र सुने गये किसी अनुष्ठेय को अन्यत्र ले जाना अभीष्ट होता तो ऐसी व्यवस्था बनाई जा सकती थी; किन्तु यहाँ पर हान अथवा उपादान अनुष्ठेयरूप से नहीं कहे गये हैं, इन दोनों का कथन तो उपनिषद् में विद्या की स्तुति के लिए है अर्थात् यह महाभागा विद्या ऐसी है कि जिसके सामर्थ्य से इस ज्ञानी के संसारकारणभूत पुण्य-पाप नष्ट हो जाते हैं और वे इसके सुहृद् एवं द्वेषी में प्रवेश कर जाते हैं। स्तुति के लिए बतलाये गये इस हान-उपादान का निष्कर्ष यह निकलता है कि यदि हान के पश्चात् होनेवाले उपादान का कहीं भी श्रवण हुआ हो तो उससे अन्यत्र भी केवलहानश्रुति में उपादान की अनुवृत्ति मानते हैं, इससे ब्रह्मविद्या की स्तुति में प्रकर्ष आ जाता है। अर्थवादान्तर की अपेक्षा अर्थवादान्तर की प्रसिद्धि 'निःसन्देह वह आदित्य भूलोक से ऊपर इक्कीस संख्यावाला है' इन स्थलों में देखी गयी है। शङ्का—आदित्य की इक्कीस संख्या कैसे कह

शतादित्यस्याभिधीयेतानपेक्ष्यमाणेऽर्थवादान्तरे 'द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः, इत्येतस्मिन्। तथा 'त्रिष्टुभौ भवतः सेन्द्रियत्वाय' इत्येवमादिवादेषु 'इन्द्रियं वै त्रिष्टुप्' इत्येवमाद्यर्थवादान्तरापेक्षा दृश्यते। विद्यास्तुत्यर्थत्वाच्चास्योपायनवादस्य कथमन्यदीये सुकृतदुष्कृते अन्यैरुपेयेते इति नातीवाभिनिवेष्टव्यम्। उपायनशब्दशेषत्वादिति हेतौ तु शब्दं समुच्चारयन्स्तुत्यर्थमेव हानावुपायनानुवृत्तिं सूचयति। गुणोपसंहारविवक्षायां ह्युपायनार्थस्यैव हानावनुवृत्तिं ब्रूयात्। तस्माद्गुणोपसंहारविचारप्रसङ्गेन स्तुत्युपसंहारप्रदर्शनार्थमिदं सूत्रम्। कुशाछन्दःस्तुत्युपगानवदित्युपमोपादानम्। तद्यथा

नन्वमूर्तयोः पुण्यपापयोः उपादानस्यासंभवादनुपसंहार इत्यत आह—विद्यास्तुत्यर्थत्वाच्चेति। विद्वन्निष्ठयोरेव तयोः फलं परे प्राप्नुवन्ति विद्यासामर्थ्यादित्युपयन्तिपदेनोच्यत इत्यर्थः। नन्वन्यनिष्ठकर्मणोरन्यत्र फलसंचारः कथम्। ननु वचनबलादिति चेत्, न, फलमुपयन्तीत्यश्रुतेः। नच यथा पुत्रकृतश्राद्धस्य पितृषु फलं तथात्रेति वाच्यं, 'यस्य फलमुद्दिश्य यत्कर्म विहितं 'तस्य तत्फलमिति न्यायेन पितृणां तृप्त्युद्देशेन कृतकर्मणो व्यधिकरणफलत्वेऽपि विदुषः कर्मकालेऽनुद्दिष्टव्यधिकरणफलायोगात्। किंच विदुषो देहपाते कर्मणोऽसत्त्वाद्या'वज्जीवं विद्वत्सेवकस्य तद्द्वेषिणो वा फलं स्यादित्यत आह—नातीवाभिनिवेष्टव्यमिति। विद्वत्सेवाद्वेषाभ्यां विद्वन्निष्ठपुण्यपापतुल्ये पुण्यपापे सेवकद्वेषिणोर्जायेते जातयोः फलतः स्वीकार उपायनमिति परिहारस्य सुलभत्वादनाग्रह इत्यर्थः। उपायनादेः स्तुतित्वे लिङ्गमाह—उपायनेति। 'उपायनविवक्षायामु'पायनस्यैवोपसंहारं सूत्रकारो ब्रूयादतः शब्दस्य 'तं ब्रुवन्स्तुतिं सूचयतीत्यर्थः। विद्याविचारात्मके पादे स्तुतिविचारस्य का संगतिरित्यत आह—तस्मादिति। शाखान्तरस्थो विशेषः शाखान्तरेऽपि ग्राह्य इत्यत्र दृष्टान्तमाह—कुशेति। कुशा उद्गातॄणां

रहे हैं। समाधान—निरपेक्ष अर्थवादान्तर में द्वादश मास, हेमन्त और शिशिर को एक मानकर पाँच ऋतु, भूरादि तीनों लोक और वह आदित्य; इन सभी को मिलाकर इक्कीस संख्या होती है। वैसे ही यज्ञ की पुरुषरूप से कल्पना करने पर उस यज्ञ में 'सेन्द्रियत्व के लिए दो त्रिष्टुभ माने जाते हैं' ऐसा बह्वृच ब्राह्मण में भ 'इन्द्रियं वै त्रिष्टुप्' इत्यादि वाक्य द्वारा एक अर्थवाद को दूसरे अर्थवाद की अपेक्षा देखी जाती है। साथ ही यह उपायनवाद विद्यास्तुति के लिए कहा गया है अन्यथा दूसरे के पुण्य-पाप को दूसरा कैसे ग्रहण कर सकता है, इस सम्बन्ध में अधिक अभिनिवेश (आग्रह) नहीं करना चाहिए। 'उपायनशब्दशेषत्वात्' इस हेतु को 'तु' शब्द का उच्चारण करते हुए स्तुति के लिए ही माना है अर्थात् हान प्रसङ्ग में उपायन का अनुवर्तन करना चाहिए, इस बात को यह श्रुति सूचित कर रही है। गुणोपसंहार की विवक्षा मानने पर उपायन अर्थ की ही अनुवृत्ति हान प्रसङ्ग में करना चाहिए, अतः गुणोपसंहार विचार प्रसङ्ग में स्तुति के उपसंहारप्रदर्शन के लिए यह सूत्र रचा गया है इसलिए विद्याविचारात्मक पाद में स्तुतिविचार की सङ्गति क्या है, यह प्रश्न नहीं होता। शाखान्तरस्थ-विशेष शाखान्तर में भी ग्रहण करना चाहिए, इस सम्बन्ध में सूत्रकार ने चार दृष्टान्त दिए हैं। १. भाल्लवि शाखा में कहा गया है कि उद्गाता को स्तोत्रगणनार्थ काष्ठ की बनी हुई शलाका होती है, उन शलाकाओं से यजमान प्रार्थना करता है कि 'हे वानस्पत्य कुशा! आप मेरी रक्षा करें।'

१. हेताविति पाठः हेतोरिति पाठे तु षष्ठ्यर्थः। दिति च शब्द समुच्चारयन्निति पाठान्तरम्।
२. पित्रादेः। ३. पित्रादेः। ४. न तु मरणानंतरम्। ५. तदर्थविवक्षया। ६. तदर्थस्यैव।
७. उपसहारम्।

भाल्लविनाम्—'कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मा पात' इत्येतस्मिन्निगमे कुशानामविशेषेण वनस्पतियोनित्वेन श्रवणे शाट्यायनिनामौदुम्बराः कुशा इति विशेषवचनादौदुम्बर्यः कुशा आश्रीयन्ते। यथाच क्वचिद्देवासुरच्छन्दसामविशेषेण पौर्वापर्यप्रसङ्गे 'देवच्छन्दांसि पूर्वाणि' इति पैङ्ग्याम्नायात्प्रतीयन्ते। यथाच षोडशिस्तोत्रे केषांचित्कालाविशेषप्राप्तौ 'समयाध्युषिते सूर्ये' इत्याचंश्रुतेः कालविशेषप्रतिपत्तिः। यथैव चाविशेषेणोपगानं केचित्समामनन्ति विशेषेण भाल्लविनः। यथैतेषु कुशादिषु श्रुत्यन्तरगतविशेषान्वय एवं हानावप्युपायनान्वय इत्यर्थः। श्रुत्यन्तरकृतं हि विशेषं श्रुत्यन्तरेऽनभ्युपगच्छतः सर्वत्रैव

स्तोत्रगणनार्थाः शलाका दारुमय्यः, भो कुशाः, यूयं वानस्पत्याः वनस्थमहावृक्षो वनस्पतिः तत्प्रभवाः स्थ ता इत्थंभूता यूयं मा पात मां रक्षतेति यजमानप्रार्थना। अत्र ता इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशादौदुम्बर्य इति 'भाष्याच्च शलाकासु कुशाशब्दस्य स्त्रीत्वं मन्तव्यं दर्भविषयस्य न स्त्रीत्वं, अस्त्री कुशमित्यनुशासनात्। छन्दोदृष्टान्तं व्याचष्टे—यथाचेति। नवाक्षराणि छन्दांसि आसुराण्यन्यानि दैवानि तेषां क्वचिच्छन्दोभिः स्तुवत इत्यत्राविशेषप्राप्तौ पैङ्गिवाक्याद्विशेषग्रह इत्यर्थः। स्तुतिं विवृणोति—यथेति। अतिरात्रे षोडशिनो ग्रहस्याङ्गभूतं स्तोत्रं कदेति छन्दोगादीनामाकाङ्क्षायामुदयसमयाविष्टे सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमित्यार्चश्रुतेः कालविशेषग्रह इत्यर्थः। ऋत्वोऽधोयत इत्यार्चाः। उपगानं विभजते—यथेति। 'ऋत्विज उपगायन्ति' इत्यविशेषश्रुतेः 'नाध्वर्युरुपगायति' इति श्रुत्यन्तरादध्वर्युभिन्ना ऋत्विज उपगायन्तीति विशेषग्रह इत्यर्थः। ननु कुशादिवाक्यानामपि किमिति विशेषश्रुत्यन्तरैकवाक्यताऽभ्युपगम्यते, तत्राह—श्रुत्यन्तरकृतं हीति। सामान्यविशेषयोरेकवाक्यतारूपायां गतौ सत्यां वाक्यभेदं कृत्वा नाध्वर्युरिति निषेधादविशेषश्रुतेश्चाध्वर्युरुपगायति नोपगायति चेत्येवं सर्वत्र विकल्पो न युक्तः, व्रीहियवयोस्त्वगत्या विकल्प आश्रित इत्यर्थः। विकल्पस्यान्याय्यत्वमष्टदोषदुष्टत्वात्। तथाहि—

दर्भवाचक कुशा शब्द पुल्लिङ्ग होता है किन्तु यहाँ पर औदुम्बर्यः कुशा शब्द का प्रयोग होने के कारण स्त्रीलिङ्ग भी माना गया है। इस निगमवाक्य में अविशेषरूप से भाल्लवि शाखा में वनस्थ महावृक्ष से निर्मित शलाका कही गयी है, किन्तु शाठ्यायिनी शाखा में औदुम्बराः कुशाः ऐसा विशेष वचन होने के कारण उदुम्बर काष्ठ की बनी हुई कुशा मानी जाती है। २ और जैसे कहीं-कहीं पर देव एवं असुर छन्दों का अविशेषरूप से पौर्वापर्य का प्रसङ्ग बतलाया गया है किन्तु 'देवच्छन्दांसि पूर्वाणि' इस पैङ्गि पाठ के आधार पर देव छन्द का प्रयोग पहले होता है। ३. जैसे अतिरात्र में षोडशी पात्र के अङ्गभूत स्तोत्र का गान किस समय करना चाहिए, ऐसा कालविशेष नहीं बतलाया गया है किन्तु 'समयाध्युषिते सूर्ये' (आधे सूर्य के अस्त होने पर) षोडशी स्तोत्र का गान करना चाहिए, ऐसा आच-श्रुति के आधार पर निश्चित होता है। ४. और जिस प्रकार 'ऋत्विज उपगायन्ति' इस श्रुति में सभी ऋत्विजों के उपगान का सामान्यतः वर्णन है किन्तु 'नाध्वर्युरुपगायति' इस भाल्लवि श्रुतिविशेष के आधार पर अध्वर्यु से भिन्न ऋत्विज के द्वारा उपगान का निश्चय होता है। इस प्रकार इन कुशादियों में श्रुत्यन्तरगतविशेष का अन्वय होता है ऐसे ही हान में भी उपादान का अन्वय करना चाहिए। एक श्रुति में कहे गये विशेष को श्रुत्यन्तर में न मानने पर सर्वत्र ही विकल्प होने लग जायेगा जो गति के रहते-रहते उचित नहीं होगा क्योंकि विकल्प अष्टदोषग्रस्त होता है। 'व्रीहिभि-

१. शाबर।

विकल्पः स्यात् । स चान्याय्यः सत्यां गतौ । तदुक्तं द्वादशलक्षण्याम्—'अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात्प्रतिषेधे विकल्पः स्यात्' (जै० १०-८-१५)इति ।

अथ वैतास्वेव विधूननश्रुतिष्वेतेन सूत्रेणैतच्चिन्तयितव्यम् । किमनेन विधूननवचनेन

यदि व्रीहिवाक्यमाश्रीयते तदा यववाक्यस्येष्टप्रामाण्यत्यागः, अनिष्टाप्रामाण्यस्वीकारः, कदाचिद्यववाक्याश्रयणे त्यक्तप्रामाण्यस्वीकारः, स्वीकृताप्रामाण्यत्यागश्चेत्येकस्मिन्यववाक्ये चत्वारो दोषा भवन्ति । एवं व्रीहिवाक्येऽपि चत्वारो दोषा इत्येवं दुष्टविकल्पपरिहाराय भिन्नशाखाश्रुत्योरप्येकवाक्यता जैमिनिसंमतेत्याह—तदुक्तमिति । ज्योतिष्टोमप्रकरणे 'दीक्षितो न जुहोति,' इति श्रुतं 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इति चान्यत्र श्रुतं, तत्र यदि नदीक्षितवाक्यं होमप्रतिषेधकं स्यात्तदा क्रत्वर्थत्वान्निषेधोऽनुष्ठेयः, यावज्जीवविधिना होमो वानुष्ठेय इति विकल्पः स्यात्, स चान्याय्यः । अपि तु यावज्जीववाक्यं प्रति नदीक्षितवाक्यस्य शेषत्वान्नकार इतरपर्युदासार्थकः स्याद्दीक्षितान्यलक्षकः स्यात्, न होमप्रतिषेधकः, तस्माददीक्षितो यावज्जीवं जुहुयादित्येकवाक्यतेति नदीक्षिताधिकरणसिद्धान्तसूत्रार्थः । अत्र भगवत्पादैः सूत्रमेव पठितं, मिश्रस्तु पर्युदासाधिकरणसिद्धान्तसूत्रं 'अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्' इति स्थितमत्रार्थतः पठितमित्युक्तं तच्चिन्त्यम् । सूत्रार्थस्तु यज्ञमात्रे ये यजामहे इति प्रयोक्तव्यमिति श्रुतं, नानुयाजेषु ये यजामहं करोतीत्यऽपि श्रुतं, तत्र नकारस्य निषेधकत्वेऽप्यतिरात्रे षोडशिग्रहणाग्रहणयोरिवानुयाजेषु यज्ञत्वाविशेषात्प्रयोक्तव्यं निषेधान्न प्रयोक्तव्यमिति विकल्पः स्यात्, तस्यान्याय्यत्वात् येयजामहविधेरेव नानुयाजवाक्यमेकदेशः स्यात्, पर्युदासवृत्त्या विधिवाक्यशेषः स्यादिति यावत् । तथा चानुयाजभिन्नेषु यागेषु ये यजामह इति प्रयोक्तव्यमित्येकवाक्यतेति ।

वर्णकान्तरमाह—अथ वेति । पूर्वत्र विधूननं कर्महानिरिति सिद्धवत्कृत्य उपायनोपसंहार उक्तः, अत्र सैव साध्यत इति भेदः । उभयत्र लक्षणासाम्यात्संशयमाह—किमिति । विधूननस्य हि फलद्वयम-

---

यंजेत यवैर्वा यजेत' इस स्थल में व्रीहिवाक्य का आश्रय करने पर यववाक्यनिष्ठ प्रामाण्य का त्याग होता है, अनिष्ट अप्रामाण्य को मानना पड़ता है। और कदाचित् यववाक्य के आश्रयण में त्यक्तप्रामाण्य को स्वीकार करना पड़ता है, स्वीकृत अप्रामाण्य का त्याग भी करना पड़ता है। इस प्रकार यववाक्य में चार दोष आते हैं। ऐसे ही व्रीहिवाक्य में भी चार दोष आते हैं। इस दुष्टविकल्पपरिहार के लिए भिन्नशाखीय श्रुतियों में भी जैमिनि महर्षि ने पूर्वमीमांसा में एकवाक्यता मानी है। ज्योतिष्टोम प्रकरण में **'दीक्षितो न जुहोति'** ऐसा सुना जाता है और अन्यत्र **'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्'** ऐसा सुना जाता है। वहाँ पर दीक्षितवाक्य यदि होमप्रतिषेधक न माना जाय तो क्रत्वर्थ होने के कारण निषेध भी अनुष्ठेय होगा अथवा यावज्जीवनविधि के आधार पर होम भी अनुष्ठेय होगा। इस प्रकार विकल्प अष्टदोषग्रस्त होने के कारण न्यायसङ्गत नहीं है। अतः यावज्जीववाक्य के प्रति दीक्षितवाक्य शेष होने के कारण तत्रस्थ न कार इतरपर्युदास के लिए है जो दीक्षित से भिन्न अर्थ का लक्षक है, होमप्रतिषेधक नहीं है। अतः अदीक्षित यजमान यावज्जीवन होम करें, ऐसी एकवाक्यता मीमांसा दर्शन के **'नदीक्षिताधिकरण'** में सिद्धान्त पक्ष से कही गयी है जिस सिद्धान्त सूत्र का पाठ भगवान् भाष्यकार ने यहाँ कर रखा है।

द्वितीय वर्णक—अथवा इन्हीं विधूनन श्रुतियों के आधार पर इस सूत्र से यहाँ विचार करना चाहिए कि इस विधूननवाक्य के द्वारा पुण्य-पाप का त्याग बतलाया जाता है या अर्थान्तर (चालन),

सुकृतदुष्कृतयोर्हानमभिधीयते किं वाऽर्थान्तरमिति । तत्र चैवं प्रापयितव्यम् । न हानं विधूननमभिधीयते किंवाऽर्थान्तरमिति । तत्र चैवं प्रापयितव्यम् । न हानं विधूननमभिधीयते 'धूञ् कम्पने' इति स्मरणात् । दोधूयन्ते ध्वजाग्राणीति च वायुना चाल्यमानेषु ध्वजाग्रेषु प्रयोगदर्शनात् । तस्माच्चालनं विधूननमभिधीयते । चालनं तु सुकृतदुष्कृतयोः कंचित्कालं फलप्रतिबन्धनादित्येवं प्राप्त्य प्रतिवक्तव्यम् ।

हानावेवैष विधूननऽशब्दोवर्तितुमर्हति । उपायनशब्दशेषत्वात् । नहि 'परपरिग्रहभूतयोः सुकृतदुष्कृतयोरप्रहीणयोः परैरुपायनं सम्भवति । यद्यपीदं परकीययोः सुकृतदुष्कृतयोः परैरुपायनं नाञ्जसं सम्भाव्यते तथापि तत्संकीर्तनात्तावत्तदानुगुण्येन हानमेव विधूननं नामेति निर्णेतुं शक्यते । क्वचिदपि चेदं विधूननसंनिधावुपायनं श्रूयमाणं कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवद्विधूननश्रुत्या सर्वत्रापेक्षमाणं सार्वत्रिकं निर्णयकारणं संपद्यते । नच

श्वरोमादिषु दृष्टं पूर्वस्वभावात् च्युतिरन्यत्र संक्रान्तिश्चेति । तत्र संक्रान्तिरूपहानिर्लक्षणीया किंवा च्युतिरिति संशयार्थः । तत्र विधूननशब्दस्य कम्पनं मुख्यार्थ इति तावत्सर्वसंमतम् । तच्चामूर्तयोः पुण्यपापयोर्न संभवति । अतस्तयोर्यः स्वभावः फलदातृत्वशक्तिस्ततश्चालनं विद्यया प्रतिबन्धाच्च्युतिः सा लक्षणीया न हानिरमूर्तयोरन्यत्र संक्रान्त्ययोगादन्यसापेक्षत्वाच्चेति पूर्वपक्षार्थः ।

सिद्धान्तयति—हानावेवेति । यदि च्युतिमात्रं लक्ष्यं तदोपयन्तीत्यनन्वितं स्यात् । नच यत्र धुनोतेरुपायनशब्दसांनिध्यं तत्र हानिर्लक्ष्यते न केवलधुनोतेर्हानिश्चान्यत्र विदुषः सेवकादौ तुल्यकर्मसंक्रान्तिरिति नासंभव इति वाच्यं, केवलधुनोतेरपि मुख्यार्थासंभवेनान्यत्र लक्ष्यतया बुद्धिस्थहानिलक्षणाया एव युक्तत्वादिति भावः । उपायनस्यामुख्यत्वान्न क्वापि हानिलक्षणाबीजत्वमिति शङ्कित्वा पुण्यपापयोः फलतः स्वीकारात्मकमुपायनं हानिं विनानुपपन्नं सल्लक्षणानिर्णायकमिति परिहरति—यद्यपीत्यादिना । यथान्यत्रश्रुतमौदुम्बरत्वादिकं कुशादिनिर्णायकं तथेदमुपायनं विधूननस्य हानत्वे निश्चायकमित्याह—क्वचिदपीति । विधूननं मुख्यं किमिति नोच्यते, तत्राह—नचेति । तथापि हानं

ऐसा सन्देह होने पर पूर्वपक्ष में कहा गया है कि 'धूञ् कम्पने' इस पाणिनी स्मृति के आधार पर विधूनन शब्द का त्याग अर्थ नहीं है और वायु से चलाये गये ध्वजा के अग्रभाग के लिए '**दोधूयन्ते ध्वजाग्राणि**' ऐसा प्रयोग देखा जाता है, अतः विधूनन शब्द का अर्थ चालन करना चाहिए। यहाँ पर सुकृत-दुष्कृत का कुछ काल तक फल प्रतिबद्ध हो जाने के कारण चालन अर्थ घटता भी है।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त की ओर से यह सूत्र कहा गया है कि हान अर्थ में ही विधूनन शब्द का प्रयोग यहाँ पर उचित प्रतीत होता है क्योंकि यह उपायन शब्द का शेष है। दूसरे के परिगृहीत पुण्य-पाप त्यागे बिना दूसरे के द्वारा उनका ग्रहण किया जाना सम्भव नहीं है। यद्यपि परकीय पुण्य-पाप त्यागे बिना दूसरों से ग्रहण करना सरलतया सम्भव नहीं है तथापि श्रुति में कहे जाने के कारण तदनुरूप हान ही विधूनन शब्द का अर्थ निश्चित किया जाता है। और कहीं पर विधूनन शब्द की सन्निधि में उपायन सुना भी जाता है; कुशा, छन्द, स्तुति और उपगान की भाँति विधूनन श्रुति से सर्वत्र अपेक्षा रखने वाला सार्वत्रिक निर्णयकारण सिद्ध होता है। साथ ही ध्वजा के अग्र की भाँति पुण्य-पाप का मुख्य अर्थ चालन सम्भव भी नहीं है क्योंकि

१. विद्वत् ।

चालनं ध्वजाग्रवत्सुकृतदुष्कृतयोर्मुख्यं सम्भवति । अद्रव्यत्वात् । अश्वश्च रोमाणि विधून्वानस्त्यजन्रजः[1] सहैव 'तेन रोमाण्यपि जीर्णानि शातयति 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' (छा० ८-१३-१) इति च ब्राह्मणम् । अनेकार्थत्वाभ्युपगमाच्च धातूनां नस्मरण विरोधः । तदुक्तमिति व्याख्यातम् ॥२६॥

कथं लक्ष्यत इत्याशङ्क्य मुख्यसंबन्धादित्याह—अश्वश्चेति । **अनुपपत्तिसंबन्धौ लक्षणाबीजरूपावुक्त्वा लक्षकं पदं निर्दिशति**—अश्व इवेति । **विधूयेति पदं दृष्टान्ते** हानपर्यन्तं **सद्दार्ष्टान्तिकेऽपि हानलक्षकमित्यर्थः । यद्वा हानवाचकमेवास्तु न च धूञ् कम्पन इति धातुपाठविरोधस्तस्योपलक्षणत्वार्थत्वादित्याह**—अनेकेति । शाखान्तरस्थमुपायनं विधूननस्य हानत्वनिश्चायकमित्यत्र जैमिनिसूत्रं तदुक्तमिति गृहीतं **पूर्वं व्याख्यातमित्यर्थः । एवं विधूननस्य हानित्वसिद्धेः केवलहानावुपायनोपसंहार इति सिद्धम्** ॥२६॥

द्रव्य का चालन होता है, तद्भिन्न का नहीं। पुण्य-पाप द्रव्य नहीं है जिसका चालन सम्भव हो। घोड़ा जब अपने रोंयें को कँपाता है तो उससे धूल के सहित ही जीर्ण-शीर्ण रोंयें को भी भूमि पर गिरा देता है, इसीलिए तो **'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्'** ऐसा ब्राह्मणवचन है। **'धूञ् कम्पने'** इस पाणिनि स्मृति के साथ कोई विरोध इसलिए भी नहीं है क्योंकि धातु अनेकार्थक माने गये हैं। **'तदुक्तम्'** इस सूत्रांश का व्याख्यान प्रथम वर्णक में किया जा चुका है। इस प्रकार विधूनन शब्द का अर्थ हान निश्चित हो जाने पर केवल हान स्थल में भी उपादान का उपसंहार करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥२६॥

१६. साम्परायाधिकरणम् (सू०२७-२८)

कर्मत्यागो मार्गमध्ये यदि वा मरणात्पुरा । उत्तीर्य विरजां त्यागस्तथा कौषीतकिश्रुतेः ।
कर्मप्राप्यफलाभावान्मध्ये साधनवर्जनात् । ताण्डिश्रुतेः पुरात्यागो बाध्यः कौषीतकिक्रमः ।

१६. साम्परायाधिकरण

१. **सङ्गति**—यदि विद्या कर्मनाश का हेतु होती तो केवल हानश्रवणस्थल में भी उपायन का उपसंहार किया जा सकता था, पर अभी तक विद्या में कर्मनाशहेतुत्व की सिद्धि नहीं हो सकी है; इस प्रकार आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ करते हैं, इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. **विषय**—विद्यासामर्थ्य का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. **संशय**—पर्यङ्क विद्या में पर्यङ्क उपासक के लिए सुकृतादि का विधूनन सुना जाता है, क्या वह विरजा नदी सन्तरण के बाद आधे मार्ग में होता है अथवा देहत्याग से पूर्वकाल में होता है?

४. **पूर्वपक्ष**—**'स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते'** (वह ब्रह्मलोक का यात्री विरजा नदी के पास आता है और उसे मन से ही पार कर जाता है, तत्पश्चात् वहाँ पर वह पुण्य-पाप को छोड़ देता है) इस श्रुति के आधार पर विरजा नदी सन्तरण के बाद ही पुण्य-पाप का परित्याग वह यात्री करता है।

५. **सिद्धान्त**—ब्रह्मलोक मार्ग के मध्य में ब्रह्मप्राप्ति से भिन्न पुण्य-पाप के द्वारा प्राप्तव्य कोई फल नहीं दीखता है, फिर भला उन पुण्य-पापों को विरजानदीपर्यन्त वह ब्रह्मलोकयात्री निरर्थक क्यों

१. रजसा।

(३८६) सांपराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥२७॥

देवयानेन पथा पर्यङ्कस्थं ब्रह्माभिप्रस्थितस्य व्यध्वनि सुकृतदुष्कृतयोर्वियोगं कौषीतकिनः पर्यङ्कविद्यायामामनन्ति 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति' (कौ० १-३) इत्युपक्रम्य 'स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते' (कौ० १-४) इति । तत्किं यथाश्रुत व्यध्वन्येव वियोगवचनं प्रतिपत्तव्यमाहोस्विदादावेव देहादपसर्पण इति विचारणायां श्रुति प्रामाण्याद्यथाश्रुतप्रतिपत्तिप्रसक्तौ पठति सांपराय इति । सांपराये गमन एव देहादपसर्पण इदं विद्यासामर्थ्यात्सुकृतदुष्कृतहानं भवतीति प्रतिजानीते । हेतुं चाचष्टे तर्तव्याभावादिति । नहि विदुषः संपरेतस्य विद्यया ब्रह्म संप्रेप्सतोऽन्तराले सुकृतदुष्कृताभ्यां

साम्पराये अन्ये । व्यध्वनि अर्धमार्गे । पूर्वोक्त विधूननस्य हानत्वमुपजीव्य हानस्य नदीतरणानन्तर्यश्रुतेरश्व इव रोमाणीत्यादौ देहत्यागात्प्राक्का लत्वश्रुतेश्च संशयमाह—तत्किमिति । ब्रह्मलोकमार्गमध्ये विरजाख्यां नदीमत्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुत इत्यत्र तदिति सर्वनामश्रुत्यास्तेनेस्यर्थतया संनिहितनदीतरणस्य कर्महानिहेतुत्वोक्तेरर्धपथे कर्मक्षय इति पूर्वपक्षः । तत्र विद्यायाः कर्मक्षयहेतुत्वासिद्धिः पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति मत्वा सिद्धान्तयति—सांपराय इति । मरणात्प्रागित्यर्थः । संपरेतस्य मृतस्य कंचित्कालं कर्मसत्त्वे फलाभावाद्देवयानमार्गप्रवेशायोगाच्चादावेव क्षय इत्यर्थः ।

ले जायेगा । साथ ही, मरण से पूर्व जिस पुण्य-पाप का परित्याग कर चुका है उनके, मार्ग के मध्य में, पुनः परित्याग का साधन भी सम्भव नहीं है । उस समय उसका स्थूल शरीर नहीं है जिससे कि किसी साधन का अनुष्ठान कर सके । यदि कहो कि मरण से पूर्व पुण्य-पाप के त्यागने में प्रमाण नहीं दीखता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि **'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्'** यह ताण्डि श्रुति ही उक्त विषय में प्रमाण है, अतः उक्त श्रुति से नदीसन्तरण के बाद पुण्य-पाप का परित्यागरूप कर्म कौषीतकि श्रुति ने जो बतलाया है उसका बाध समझना चाहिए । इसलिए मरण से पूर्व ही उपास्य का साक्षात्कार हो जाने पर पुण्य-पाप का परित्याग निश्चित होता है ।

साम्पराये तर्तव्याभावात्तथाह्यन्ये (ललिता)

पर्यङ्कविद्या में कौषीतकि शाखावाले, देवयान मार्ग से पर्यङ्कस्थ ब्रह्म की ओर प्रस्थान करने वाला उपासक मार्ग के मध्य में पुण्य-पाप का परित्याग करता है, ऐसा कहते हैं । वहाँ पर 'वह उपासक इस देवयान मार्ग को प्राप्तकर अग्नि लोक में जाता है' यहां से प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'वह विरजा नदी को मन से ही पार कर जाता है, तत्पश्चात् पुण्य-पाप का परित्याग करता है' ऐसा कहा है । यहाँ पर ऐसा संशय होता है कि यथाश्रुत मार्ग के मध्य में पुण्य-पाप का परित्याग मानना चाहिए अथवा देहत्याग से पूर्व प्रारम्भ में ही पुण्य-पाप का परित्याग मानना चाहिए । ऐसा विचार होने पर पूर्वपक्ष का कहना है कि श्रुतिप्रामाण्य के आधार पर यथाश्रुत अर्थ लेना ही उचित है अर्थात् विरजा नदी सन्तरण के बाद ब्रह्मलोक का यात्री पुण्य-पाप का परित्याग करता है । ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त पक्ष से अग्रिम सूत्र कहा गया है कि देह से अपसर्पण करते समय यह ब्रह्म-उपासक विद्यासामर्थ्य से पुण्य-पाप का परित्याग कर डालता है, ऐसी प्रतिज्ञा के बाद सूत्रांश हेतुवाचक वाक्य से तर्तव्याभावात् का अर्थ होता है—कर्तव्याभावात् । विद्या से ब्रह्मभाव प्राप्त करने वाले मृत मुमुक्षु का अन्तराल में पुण्य-पाप से कुछ प्राप्तव्य नहीं है जिसके लिए कुछ क्षण पुण्य-पाप को बनाये रखने की कल्पना की

१. उपासकः । २. कर्मसत्वे चेति शेषः ।

(३८७) छन्दत उभयाविरोधात् ॥२८॥

किंचित्प्राप्तव्यमस्ति यदर्थं कतिचित्क्षणानक्षीणे ते [1]कल्प्येयाताम् । [2]विद्याविरुद्धफलत्वात्तु विद्यासामर्थ्येन [3]तयोः क्षयः [4]स च यदैव विद्या फलाभिमुखी तदैव [5]भवितुमर्हति । तस्मात्प्रागेव सन्नयं सुकृतदुष्कृतक्षयः पश्चात्पठ्यते । तथा ह्यन्येऽपि शाखिनस्ताण्डिनः शाट्यायनिनश्च प्रागवस्थायामेव सुकृतदुष्कृतहानमामनन्ति 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' (छा० ८-१३-१) इति, तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति च ॥२७॥

यदि च देहादपसृप्तस्य देवयानेन पथा प्रस्थितस्यार्धपथे सुकृतदुष्कृतक्षयोऽभ्युपगम्येत । ततः पतिते देहे यमनियमविद्याभ्यासात्मकस्य सुकृतदुष्कृतक्षयहेतोः पुरुषप्रयत्नस्येच्छातोऽनुष्ठानानुपपत्तेरनुपपत्तिरेव तद्धेतुकस्य सुकृतदुष्कृतक्षयस्य स्यात् । तस्मात्[6]पूर्वमेव साधका-

---

क्षयहेतोर्विद्याया मध्येमार्गमसत्त्वाच्चेत्याह—विद्याविरुद्धेति । नदीतरणानन्तरपाठस्तु बाध्यः, अर्थविरोधादित्याह—तस्मादिति । तदिति सर्वनाम्नापि प्रकृतविद्वं बोध्यत इति भावः ॥२७॥

किंच मृतस्य छन्दतो यथाकामं विद्यानुष्ठानानुपपत्तेरुभयोर्विद्याकर्मक्षययोः श्रुतौ हेतुफलभावो विरुध्यते । किंच सति पुष्कलहेतौ न कार्यविलम्ब इति न्यायोपेतताण्ड्यादिश्रुतिविरोधस्तव स्याद-

---

जाय किन्तु विद्याविरुद्ध फल होने के कारण विद्यासामर्थ्य से पुण्य पाप का क्षय उसी समय हो जाता है जब वह विद्या के फल की प्राप्ति के लिए ब्रह्मलोक की ओर उन्मुख होता है। अतः पुण्य-पाप का क्षय देहत्याग से पूर्व ही हो जाता है, श्रुति केवल उसे पश्चात् पढ़ती हैं। ऐसा ही ताण्डि और शाट्यायिनी शाखावाले देहत्याग से पूर्वावस्था में ही पुण्य-पाप का क्षय मानते हैं कि 'अश्व जिस प्रकार रोयें को झाड़ देता है, ऐसे ही ज्ञानी पाप को नष्ट कर डालता है।' और 'उस मृत ज्ञानी पुरुष की सम्पत्ति पुत्र लेते हैं, सुहृद पुण्यकर्म को और द्वेषी पापकर्म को लेते हैं ॥२७॥

छन्दत उभयाविरोधात् (ललिता)

यदि देह त्यागकर गये हुए देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक की ओर प्रस्थान करने वाले का मध्य मार्ग में पुण्य-पाप का क्षय होना स्वीकार करोगे तो देह त्यागने के बाद पुण्य-पाप क्षय के कारण यम-नियम-विद्याभ्यासरूप पुरुषप्रयत्न इच्छापूर्वक होना सम्भव नहीं है, ऐसी स्थिति में पुण्य-पाप का क्षय भी नहीं हो सकेगा। अतः देहत्याग से पूर्व ही साधकावस्था में स्वेच्छा से यम-नियमादि का अनुष्ठान कर सकेगा और उसके फलस्वरूप पुण्य-पाप का हान भी देहत्याग से पूर्व ही मानना चाहिए। इस प्रकार पुण्यपापक्षय का निमित्त विद्याभ्यास है और पुण्य-पाप का क्षय नैमित्तिक है, इस निमित्त एवं नैमित्तिक कार्य को बतलाने वाली ताण्डि एवं शाठ्यायिनी श्रुति को

---

१. ते सुकृतदुष्कृते किंचित्कालं न क्षीणे स्थिते कल्प्येयातामित्यन्वयः । २. विद्याविरुद्धेति सुकृतदुष्कृतयोः इति शेषः । ३. सुकृतदुष्कृतयोः । ४. क्षयः । ५. भवितुमर्हतीति अनाकृतपापस्य देवयानेन यथा गमनायोगाज्जीवत एव विदुषो विद्यासामर्थ्यात्पापहानमित्यर्थः । ६. मरणात् ।

१७. गतेरर्थवत्त्वाधिकरणम् (सू० २९-३०)

(३८८) गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥२९॥

उपास्तिबोधयोर्मार्गः समो यद्वा व्यवस्थितः । सम एवोत्तरो मार्ग एतयोः कर्महानवत् ।
देशान्तरफलप्राप्त्यै युक्तो मार्ग उपास्तिषु । आरोग्यवद्बोधफलं तेन मार्गो व्यवस्थितः ।

वस्थायां छन्दतोऽनुष्ठानं तस्य स्यात् । तत्पूर्वकं च सुकृतदुष्कृतहानमिति द्रष्टव्यम् । एवं निमित्तनैमित्तिकयोरुपपत्तिस्ताण्डि[1]शाट्यायनिश्रुत्योश्च[2] संगतिरिति ॥२८॥

क्वचित्पुण्यपापहानसंनिधौ देवयानः पन्थाः श्रूयते क्वचिन्न । तत्र संशयः— किं हानाव-

---

स्मत्पक्षे त्वविरोध इत्याह—छन्दत इति । **तस्मात्कर्महानस्य विद्याफलत्वात्केवलहानावुपायनोपसंहारो विद्यास्तुतय इति सिद्धम्** ॥२८॥

गतेरर्थवत्त्वम् **क्वचित्सगुणविद्यायां मार्गः श्रूयते निर्गुणविद्यायां न श्रूयते । [3]तत्र हानसंनिधौ**

सङ्गति भी युक्तियुक्त सिद्ध होती है । इसीलिए कर्मक्षय विद्या का फल होने से केवल हान स्थल में भी उपादान का उपसंहार विद्यास्तुति के लिए सिद्ध हो गया, ऐसा मानना चाहिए ॥२८॥

१५. गतेरर्थवत्त्वाधिकरण

१. **सङ्गति**—विद्या से कर्महान विषय प्रासङ्गिक था जिसे बतला देने के बाद, जिस प्रकार हान की सन्निधि में कहीं-कहीं पर सुने गये उपायन का सर्वत्र उपसंहार बतला दिया गया वैसे ही हान की सन्निधि में सुने गये क्वचित्क देवयान मार्ग का सर्वत्र उपसंहार करना चाहिए, ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ करते हैं ।

२. **विषय**—देवयान मार्ग के उपसंहार स्थल का विचार इस अधिकरण का विषय है ।

३. **संशय**—उपासना और ज्ञानमार्ग दोनों ही में देवयान मार्ग की व्यवस्था है अथवा केवल उपासना में ही है ?

४. **पूर्वपक्ष**—देवयान मार्ग सगुण ब्रह्म उपासक और निर्गुण ब्रह्मज्ञानी दोनों के लिए समान रूप से बतलाया गया है । जैसे पुण्य-पाप कर्म का हान दोनों के लिए समान है, ऐसे ही देवयान मार्ग भी दोनों के लिए तुल्य ही है ।

५. **सिद्धान्त**—उपासना से ब्रह्मलोक फल प्राप्त होता है जो देशान्तरवर्ती है, अतः वहाँ पर देवयान मार्ग की आवश्यकता है । किन्तु रोगनिवृत्ति की भाँति ब्रह्मज्ञान का फल अविद्यानिवृत्तिमात्र है, वहाँ मार्ग का कोई प्रयोजन नहीं है । अतः उपासक के लिए ही देवयान मार्ग है, ब्रह्मज्ञानी के लिए नहीं; ऐसी व्यवस्था समझनी चाहिए ।

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः (ललिता)

सगुणविद्या में मार्ग सुना जाता है, निर्गुण में नहीं । सगुणविद्या में भी पुण्य-पाप के हान की सन्निधि में देवयान मार्ग कहीं पर सुना जाता है और कहीं पर नहीं । वहाँ यह संशय होता है कि

---

१. अश्व इव रोमाणीत्यादि । २. तस्य पुत्रा दायमुपयंतीत्यादि । ३. अविरोधः । ४. सगुणविद्यायाम् ।

(३८९) उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥३०॥

विशेषेणैव देवयानः पन्थाः संनिपतेदुत विभागेन क्वचित्संनिपतेत्क्वचिन्नेति। यथा तावद्धानाविशेषेणैवोपायनानुवृत्तिरुक्तैवं देवयानानुवृत्तिरपि भवितुमर्हतीत्यस्यां प्राप्तावाचक्ष्महे।

गतेर्देवयानस्य पथोऽर्थवत्त्वमुभयथा विभागेन भवितुमर्हति क्वचिदर्थवती गतिः। क्वचिन्नेति नाविशेषेण। अन्यथा ह्यविशेषेणैवैतस्यां गतावङ्गीक्रियमाणायां विरोधः स्यात्। 'पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० ३-१-३) इत्यस्यां श्रुतौ देशान्तरप्रापणी गतिर्विरुध्येत। कथं हि निरञ्जनोऽगन्ता देशान्तरं गच्छेत्। गन्तव्यं च परमं साम्यं न देशान्तरप्राप्त्यायत्तमित्यानर्थक्यमेवात्र गतेर्मन्यामहे ॥२९॥

उपपन्नश्चायमुभयथाभावः क्वचिदर्थवती गतिः क्वचिन्नेति। तल्लक्षणार्थोपलब्धेः। गति कारणभूतो ह्यर्थः पर्यङ्कविद्यादिषु सगुणेषूपासनेषूपलभ्यते। तत्र हि पर्यङ्कारोहणं

मार्गस्य [2]श्रुतत्वाद[3]नपेक्षितत्वाच्च संशये दृष्टान्तसंगत्या पूर्वपक्षमाह—यथा तावदिति। उपायनवन्मार्गस्यापि क्वचिच्छ्रुतत्वात्सर्वत्रोपसंहार इत्यर्थः। अत्र निर्गुणविदोऽपि मुक्त्यर्थं मार्गापेक्षा पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते त्वनपेक्षेति फलम्।

देशादिव्यवहितवस्तुप्राप्तौ मार्गस्यापेक्षेतिन्यायानुगृहीतश्रुतिविरोधान्नोपसंहार इति सिद्धान्तः। निरञ्जनोऽसङ्गः, साम्यं ब्रह्म ॥२९॥

ननु तर्हि सगुणविद्यायामपि मार्गो व्यर्थ इत्यत आह—उपपन्न इति। सा गतिर्लक्षणं कारणं यस्यार्थस्य स तल्लक्षणार्थः ॥३०॥

हानश्रवणस्थल में अविशेषरूप से ही देवयान मार्ग का सन्निपात होगा अथवा विभागपूर्वक कहीं होगा और कहीं नहीं होगा। इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि हानश्रवणस्थल में अविशेषरूप से ही उपादान की अनुवृत्ति जैसी बतलायी गयी है ऐसे ही देवयान मार्ग की अनुवृत्ति भी होनी चाहिए।

ऐसा प्रसङ्ग उपस्थित होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं की देवयान मार्ग की सार्थकता में दोनों ही बात है अर्थात कहीं पर गति अर्थवती है और कहीं नहीं है, इसलिए अविशेषरूप से देवयान मार्ग का उपसंहार सर्वत्र नहीं होगा। अन्यथा अविशेषरूप से इस गति को उपासना का अङ्ग मानने पर विरोध होने लग जायेगा। 'विद्वान् पुण्य-पाप को छोड़कर असंग हो परम साम्यब्रह्म को प्राप्त करता है' इस श्रुति में देशान्तर प्राप्त कराने वाली गति विरुद्ध हो जायेगी क्योंकि मायारहित, असंग, गतिशून्य आत्मा देशान्तर को कैसे प्राप्त करेगा; उसका गन्तव्य तो परम साम्य ब्रह्म ही है, वह देशान्तरप्राप्ति के आधीन नहीं है। ऐसी स्थिति में वहाँ पर हम मार्ग को निरथक मानते हैं ॥२९॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् (ललिता)

तब तो सगुणविद्या में भी मार्ग निरर्थक ही होने लग जायेगा, इस आक्षेप का समाधान अग्रिम सूत्र से करते हैं कि गति के विषय में उभयथाभाव युक्तियुक्त है। कहीं पर गति अर्थवती है क्योंकि

---

१. फलभूत इति फलित कथनम्। २. श्रुतत्वादिति हानाविशेषेण सन्निपतेदिति प्रतिभाति। ३ अनपेक्षितत्वाच्चेति-निर्गुणविद्यायामिति शेषः विभागेनैव विपतेत् इति प्रतिभातीति भावः।

१८. अनियमाधिकरणम् (सू० ३१)

मार्गः श्रुतस्थलेष्वेव सर्वोपास्तिषु वा भवेत्। श्रुतेष्वेव प्रकरणात् द्विःपाठोऽस्य वृथान्यथा।
प्रोक्तो विद्यान्तरे मार्गो ये चेम इति वाक्यतः। तेन बाध्यं प्रकरणं द्विःपाठश्चिन्तनाय हि

पर्यङ्कस्थेन ब्रह्मणा संवदनं विशिष्टगन्धादिप्राप्तिश्चेत्येवमादि बहु देशान्तरप्राप्त्यायत्तं फलं श्रूयते तत्रार्थवती गतिः। नहि सम्यग्दर्शने तल्लक्षणार्थोपलब्धिरस्ति। न ह्यात्मैकत्वदर्शिनामाप्तकामानामिहैव दग्धाशेषक्लेशबीजानामारब्धभोगकर्माशयक्षपणव्यतिरेकेणापेक्षितव्यं किंचिदस्ति तत्रानर्थिका गतिः। लोकवच्चैष विभागो द्रष्टव्यो यथा लोके ग्रामप्राप्तौ देशान्तरप्रापणः पन्था अपेक्ष्यते नारोग्यप्राप्तावेवमिहापीति। भूयश्चैनं विभागं चतुर्थाध्याये निपुणतरमुपपादयिष्यामः ॥३०॥

उसके फलस्वरूप गन्तव्य की प्राप्ति होती है। सगुण उपासना पर्यङ्कविद्यादि में गति का प्रयोजन दीखता है क्योंकि अर्चिरादि मार्ग से चलकर ब्रह्मलोक में वह मुमुक्षु पर्यङ्कारोहण करता है और पर्यङ्कस्थ ब्रह्मा के साथ संवाद करता है एवं विशिष्ट गन्धआदि की प्राप्ति भी करता हैं, ऐसे देशान्तरप्राप्ति के आधीन अनेकों फल सुने जाते हैं; वहाँ पर गति सार्थक है, किन्तु तत्त्वज्ञान हो जाने पर उसके फल विदेहकैवल्यप्राप्ति के लिए गति की कोई आवश्यकता नहीं रहती। आत्मैकत्वदर्शी आप्तकाम पुरुष का तो जीवनदशा में ही अशेषक्लेशबीज का दाह हो जाता है, उनके लिए प्रारब्धभोग देनेवाला कर्मसंस्कार क्षय के अतिरिक्त किसी की भी अपेक्षा नहीं रखता, केवल प्रारब्धकर्मक्षय की ही अपेक्षा होती है। अतः उस जीवनमुक्त तत्त्ववेत्ता की विदेहकैवल्यप्राप्ति के लिए गति अनर्थक ही मानी जायेगी। जैसे लोक में ग्रामप्राप्ति के लिए देशान्तरप्राप्ति करानेवाला मार्ग अपेक्षित होता है किन्तु आरोग्यप्राप्ति के लिए नहीं ऐसे ही यहाँ भी ब्रह्मलोकप्राप्ति के लिए मार्ग की अपेक्षा है, विदेहकैवल्यप्राप्ति के लिए नहीं। इस विभाग का हम चतुर्थ अध्याय में पुनः निपुणतर उपपादन करेंगे ॥३०॥

१८ अनियमाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार जैसे सगुणविद्या में मार्ग की सार्थकता है, निर्गुणविद्या में नहीं; वैसे ही सगुणविद्या में भी कहीं मार्ग सुना जाता है, कहीं नहीं सुना जाता है। ऐसी स्थिति में इसकी व्यवस्था होनी चाहिए, अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण में सभी सगुण उपासनाओं में मार्ग की आवश्यकता पर विचार किया गया है।

३. संशय—छान्दोग्य की पञ्चाग्निविद्या और उपकोसलविद्या में देवयान मार्ग पढ़ा गया है, किन्तु शाण्डिल्य और वैश्वानर विद्या में देवयान मार्ग नहीं पढ़ा गया है। ऐसी स्थिति में यह सन्देह होता है कि यथाश्रुतस्थल में ही मार्ग का नियम है अथवा अश्रुतस्थल में भी मार्ग का उपसंहार करना चाहिए?

४. पूर्वपक्ष—यदि सभी सगुणविद्याओं में मार्ग का उपसंहार करना अभीष्ट होता तो एक स्थान पर मार्ग का पाठ रहने मात्र से ही सर्वत्र उपसंहार सम्भव था. दो विद्या में मार्ग का पाठ निरर्थक हो जाता। अतः यथाश्रुतस्थल में ही मार्ग का चिन्तन करना चाहिए, सर्वत्र नहीं।

(३९०) अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥३१॥

सगुणासु विद्यासु गतिरर्थवती न निर्गुणायां परमात्मविद्यायामित्युक्तम् । सगुणास्वपि विद्यासु कासुचिद्गतिः श्रूयते 'यथा पर्यङ्कविद्यायामुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां दहरविद्यायाम्'इति । नान्यासु 'यथा मधुविद्यायां शाण्डिल्यविद्यायां षोडशकलविद्यायां वैश्वानरविद्यायाम्'इति। तत्र संशयः—किं यास्वेवैषा गतिः श्रूयते तास्वेव नियम्येतोतानियमेन सर्वाभिरेवैवंजातीयकाभिर्विद्याभिरभिसम्बध्येतेति । किं तावत्प्राप्तं नियम इति । यत्रैव श्रूयते तत्रैव भवितुमर्हति प्रकरणस्य नियामकत्वात् । यद्यन्यत्र श्रूयमाणाऽपि गतिर्विद्यान्तरं गच्छेच्छ्रुत्यादीनां प्रामाण्यं हीयेत, सर्वस्य सर्वार्थत्वप्रसङ्गात् । अपि चार्चिरादिकैकैव गतिरुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च तुल्यवत्पठ्यते, तत्सर्वार्थत्वेऽनर्थकं पुनर्वचनं स्यात् । तस्मान्नियम इति ।

अनियमः सर्वासां । अत्राप्यर्चिरादिमार्ग एव विषयस्तत्र विद्याविशेषप्रकरणाद्[1]विशेषश्रुतेश्च संशये पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति । सगुणनिर्गुणविद्यासु मार्गस्य भावाभावव्यवस्थावत्सगुणास्वपि व्यवस्थेति दृष्टान्तेन 'प्राप्तौ सिद्धान्ते व्यवस्थापवादात्'संगतिर्नियमोऽनियम उभयत्र फलम् । नियमे प्रकरणमुक्त्वा पुनरुक्तिं लिङ्गमाह—अपि चेति । एकत्रोक्तगतेरन्यत्र प्राप्तौ पुनरुक्तिर्वृथा स्यादित्यर्थः ।

५. सिद्धान्त—पञ्चाग्निविद्या-वाक्यशेष में उसके उपासक के लिए उत्तरमार्ग बतलाती हुई श्रुति ने अन्य विद्या के उपासकों के लिए भी कण्ठतः अर्चिरादि (देवयान) मार्ग का कथन किया है अर्थात् 'जो इस प्रकार उपासना करते हैं और जो अरण्य में रहकर श्रद्धा एवं तप की उपासना करते हैं वे सभी अर्चि को प्राप्त करते हैं' इस मार्गप्रतिपादक वाक्य से प्रकरण को बाध लेना चाहिए : उपास्य के गुणों का चिन्तन करते समय उपासना के फल की प्राप्ति के लिए मार्ग का चिन्तन भी अनिवार्य कहा गया है, अतः सभी सगुण उपासनाओं में देवयान मार्ग का उपसंहार करना चाहिए ।

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् (ललिता)

सगुण विद्या में गति सार्थक है, निर्गुण ब्रह्मविद्या में नहीं, ऐसा पिछले अधिकरण में बतलाया गया था । सगुण विद्या में भी किसी में गति सुनी जाती है—जैसे पर्यङ्क विद्या पञ्चाग्निविद्या, उपकोसल विद्या और दहर विद्या में; किन्तु मधु विद्या, शाण्डिल्य विद्या, षोडशकलविद्या और वैश्वानर विद्या में गति का श्रवण नहीं है । अतः वहाँ पर संशय होता है कि क्या जिन विद्याओं में गति सुनी जाती है उन्हीं में उनका नियमतः सम्बन्ध होता है अथवा ऐसी समस्त सगुण विद्याओं के साथ नियम के बिना ही गति का सम्बन्ध होता है । इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि नियमपूर्वक गति का सम्बन्ध मानना चाहिए अर्थात् जहाँ गति सुनी जाती है वहीं पर उसका विनियोग होता है क्योंकि प्रकरण उसका नियामक है । यदि अन्यत्र सुनी गयी गति का उपसंहार विद्यान्तर में किया जायेगा तो श्रुत्यादि का प्रामाण्य नष्ट हो जायेगा, उस स्थिति में सभी सबके लिए होने लग जायेंगे । इसके अतिरिक्त एक ही अर्चिरादि मार्ग उपकोसल विद्या और पर्यङ्क विद्या में एक जैसा बतलाया गया है, यदि इसे सर्वार्थ मानेंगे तो पुनर्वचन अनर्थक हो जायेगा । अतः नियम मानना ही उचित होगा ।

१. आदिना लिंगादिपरिग्रहः । २. तद्य इत्थं विदुरिति वक्ष्यमाणविशेषश्रुतेः । ३. पूर्वपक्षः । ४. वाप-वादिकीति शेषः ।

एवं प्राप्ते पठति—अनियम इति। सर्वासामेवाभ्युदयप्राप्तिफलानां सगुणानां विद्यानामविशेषेणैषा देवयानाख्या गतिर्भवितुमर्हति। नन्वनियमाभ्युपगमे प्रकरणविरोधः उक्तः। नैषोऽस्ति विरोधः। शब्दानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। तथाहि श्रुतिः—'तद्य इत्थं विदुः' (छा० ५-१०-१) इति पञ्चाग्निविद्यावतां देवयानं पन्थानमवतारयन्ती 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५-१०-१) इति विद्यान्तरशीलिनामपि पञ्चाग्निविद्याविद्भिः समानमार्गतां गमयति। कथं पुनरवगम्यते विद्यान्तरशीलिनामियं गतिरिति। ननु श्रद्धातपःपरायणानामेव स्यात्तन्मात्रश्रवणात्। नैष दोषः। नहि केवलाभ्यां श्रद्धातपोभ्यामन्तरेण विद्याबलमेषा गतिर्लभ्यते 'विद्यया तदारहोन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः' इति श्रुत्यन्तरात्। तस्मादिह श्रद्धातपोभ्यां विद्यान्तरोपलक्षणम्

वाजसनेयिनस्तु पञ्चाग्निविद्याधिकारेऽधीयते—'य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां

सिद्धान्तयति—सर्वासामिति। अभ्युदयो ब्रह्मलोकः। अविशेषश्रुत्यादिना प्रकरणबाधो न दोष इत्याह—नैष इति। तत्तत्र अधिकृतानां मध्ये य इत्थं पञ्चाग्नीन्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते श्रद्धातपउपलक्षितं ब्रह्म ध्यायन्ति तेऽर्चिषमभिसंभवन्तीत्यन्वयः। ननु श्रद्धातपोमात्रश्रुतेस्ताभ्यामेवार्चिरादिगमनं स्यान्न वैश्वानरादिविद्याशीलानामिति शङ्कते—कथं पुनरिति। अविदुषां गतिनिषेधाच्छ्रद्धातपःशब्दाभ्यां तत्साध्यब्रह्मविद्यालक्षणेति परिहरति—नैष दोष इति। तत् ब्रह्मलोकस्थानं, परागताः परावृत्ताः, कामक्रोधदोषा न सन्तीति यावत्। दक्षिणाः केवलकर्मिणस्तपस्विनोऽप्यविद्वांसो न गच्छन्तीत्यर्थः।

लक्षणाबोधहीनं वाक्यमाह—वाजसनेयिनस्त्विति। किञ्च विद्याकर्मलक्षणमार्गद्वयभ्रष्टानामधोगति-

---

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहता है कि अभ्युदयप्राप्ति फलवाली सभी सगुण विद्याओं में अविशेषरूप से देवयाननामक मार्ग का होना उपयुक्त है। शङ्का—नियम न मानने पर प्रकरण का विरोध होगा, ऐसा हम कह आये हैं। समाधान—यह विरोध नहीं है क्योंकि श्रुति-स्मृति से ऐसा ही सिद्ध होता है, तदनुसार 'जो इस प्रकार पञ्चाग्नि विद्या की उपासना करते हैं' वे देवयान मार्ग प्राप्त करते हैं 'और जो अरण्य में रहकर श्रद्धा एवं तप की उपासना करते हैं' इन वाक्यों से श्रुति विद्यान्तरशील का भी पञ्चाग्नि विद्या के समान ही देवयान मार्ग का अनुसरण कराती है। शङ्का—विद्यान्तर का अनुसरण करने वालों के लिए यह गति-श्रुति है, ऐसा आप को किस प्रकार जान पड़ा। प्रत्युत श्रद्धा और तप के पारायण के लिए ही, तन्मात्रश्रवण होने के कारण, यह देवयान मार्ग मानना चाहिए। समाधान—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि विद्याबल के बिना केवल श्रद्धा और तप से यह गति प्राप्त नहीं होती इसीलिए विद्या से उस ब्रह्मलोक स्थान को प्राप्त करते हैं जहाँ कामक्रोधादि दोष नहीं हैं। वहाँ दक्षिणायन मार्ग से चलनेवाले केवल कर्मी और उपासनारहित तपस्वी नहीं जाते और न विद्याहीन तपस्वी हो जाते हैं' ऐसा अन्य श्रुति कहती है। अतः यहाँ श्रद्धा और तप विद्यान्तर का उपलक्षण है।

वाजसनेय शाखावाले पञ्चाग्निविद्याप्रसङ्ग में कहते हैं कि 'जो इस प्रकार इस पञ्चाग्नि विद्या

सत्यमुपासते' (बृ० ६-२-१५) इति । तत्र श्रद्धालवो ये सत्यं ब्रह्मोपासत इति व्याख्येयम् । सत्यशब्दस्य ब्रह्मण्यसकृत्प्रयुक्तत्वात् । पञ्चाग्निविद्याविदां चेत्थंवित्त्वयैवोपात्तत्वाद्विद्यान्तरपरायणानामेवैतदुपादानं न्याय्यम् । 'अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्' (बृ० ६-२-१६) इति च मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टामधोगतिं गमयन्ती श्रुतिर्देवयानपितृयाणयोरेव[1] नान्तर्भावयति । [2]तत्रापि विद्याविशेषादेषां देवयानप्रतिपत्तिः । स्मृतिरपि—'शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते । एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः' (गी० ८-२६) इति। यत्पुनर्देवयानस्य पथो द्विराम्नानमुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च तदुभयत्राप्यनुचिन्तनार्थम् । तस्मादनियमः ॥३१॥

श्रुतेः वैश्वनराद्युपासकानामर्चिरादिमार्गप्राप्तिरित्याह—अथ य एताविति । दन्दशूकः सर्पः । किञ्च 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः' इत्यविशेषेणोपासकानामर्चिरादिगतिमुक्त्वोपसंहारस्मृतेश्च तेषां तत्प्राप्तिरित्याह—स्मृतिरिति । शुक्ला गतिरर्चिरादिका, कृष्णा धूमादिका, जगतो विद्याकर्माधिकृतस्य, शाश्वते ध्रुवे संमते। तत्रैकया शुक्लया पुनरावृत्तिवर्जं कार्यं ब्रह्म गच्छति; अन्यया स्वर्गं गत्वा पुनरायातीत्यर्थः । पुनरुक्तिदोषं दूषयति—यत्पुनरिति । यत्र तत्र मार्गश्रुतिरन्वहं मार्गचिन्तनार्थं, प्रकरणेन मार्गध्यानस्य विद्याङ्गत्वावगमात् । तथाच वक्ष्यति सूत्रकारः—[3]'तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च' इति । येषां न श्रुतौ मार्गस्ते मार्गध्यानं विनापि विद्यासामर्थ्यान्मार्गं लभन्त इति ज्ञापनार्था पुनरुक्तिरित्यर्थः । तस्मात्सर्वोपासनासु प्रतीकभिन्नास्वर्चिरादिप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥३१॥

की उपासना करते हैं और जो साधक अरण्य में रहकर श्रद्धा एवं सत्य की उपासना करते हैं।' इस श्रुति में जो श्रद्धालु सत्य-ब्रह्म की उपासना करते हैं, ऐसी व्याख्या कर लेनी चाहिए क्योंकि सत्य शब्द का प्रयोग ब्रह्म अर्थ में अनेक बार हो चुका है। पञ्चाग्नि विद्या के उपासकों के लिए इत्थंवित् शब्द से पहले कहा जा चुका है, अतः इस श्रुति में सत्य शब्द से विद्यान्तर के पारायण का ही उपादान करना उचित होगा। और 'जो इन उत्तरायण-दक्षिणायन मार्ग के अधिकारी नहीं हैं वे कीट, पतङ्ग, डँसनेवाले सर्प आदि योनियों में जाते हैं' इस श्रुति द्वारा उक्त दोनों मार्गों से भ्रष्ट कष्टप्रद गति बतलाने वाली श्रुति देवयान एवं पितृयान मार्ग में ही अन्य सभी सगुण उपासकों का अन्तर्भाव करती है। वहां पर भी विद्याविशेष के फलस्वरूप इन उपासकों का देवयान (मार्ग) की ही प्राप्ति होती है। 'संसार में शुक्ल एवं कृष्ण मार्ग, ये दोनों ही शाश्वत माने गये हैं। उनमें से एक शुक्ल मार्ग से जाने वाले लौटते नहीं हैं और दूसरे कृष्ण मार्ग से जाने वाले पुनः लौट आते हैं।' ऐसा गीता स्मृति भी कहती है। और जो देवयान अर्चिरादि मार्ग का उपकोसल विद्या एवं पञ्चाग्नि विद्या में दो बार पाठ किया गया है वह अनावश्यक नहीं है, किन्तु उन दोनों ही विद्याओं के उपासकों के मार्गचिन्तन के लिए पाठ किया गया है अन्य सगुण ब्रह्म के उपासकों को मार्गचिन्तन नहीं करना पड़ता। अतः प्रतीकभिन्न सभी उपासनाओं में नियम के बिना ही अर्चिरादि मार्ग की प्राप्ति होती है, यह सिद्ध हुआ ॥३१॥

---

१. उपासकान् । २. मार्गद्वयमध्येपि । ३. ब्र० सू० ४-२-१७ ।

१९. यावदधिकाराधिकरणम् (सू० ३२)

(३९१) यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥३२॥

ब्रह्मतत्त्वविदां मुक्तिः पाक्षिकी नियताऽथवा । पाक्षिक्यपान्तरतमःप्रभृतेर्जन्मकीर्तनात् ॥
नानादेहोपभोक्तव्यमीशोपास्तिफलं बुधाः । मुक्त्वाधिकारिपुरुषा मुच्यन्ते नियता ततः ॥

विदुषो वर्तमानदेहपातानन्तरं देहान्तरमुत्पद्यते न वेति चिन्त्यते—ननु विद्यायाः साधनभूतायाः संपत्तौ कैवल्यनिर्वृत्तिः स्यान्न वेति। नेयं चिन्तोपपद्यते। नहि पाकसाधनसम्प-

---

यावदधिकारम् । **निर्गुणविद्यायां गतिर्व्यर्था मुक्तिफलत्वात्, सगुणविद्यासु सर्वत्रार्थवती ब्रह्मलोकफलत्वादिति व्यवस्था कृता, सा न युक्ता, तत्त्वज्ञानिनामपीतिहासादौ पुनर्जन्मदर्शनेन ज्ञानस्य मुक्तिफलत्वाभावादित्याक्षेपात्संगतिः। ज्ञानिनां पुनर्जन्मदर्शनं संशयबीजं भाष्ये दर्शितम्। पूर्वपक्षे ज्ञानान्मुक्तिश्रुतीनां ज्ञानस्तुतिमात्रत्वेन ज्ञानस्य मुक्तिफलत्वाभावे सति ब्रह्मलोकफलत्वाविशेषादर्चिरादिमार्गोप-**

---

१९. यावदधिकाराधिकरण

१. **सङ्गति**—निर्गुण ब्रह्मविद्या का फल मोक्ष है इसलिए उसमें मार्ग व्यर्थ ही है, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि इतिहासादि में कुछ ब्रह्मज्ञानियों की भी देहान्तर उत्पत्ति देखी जाती है। अतः निर्गुण ब्रह्मविद्या को मोक्ष का साधन कहना ठीक नहीं है, इस प्रकार आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. **विषय**—निर्गुण ब्रह्मविद्या की फलप्राप्ति के लिए देवयान मार्ग की आवश्यकता पर इस अधिकरण में विचार किया जाता है।

३. **संशय**—ब्रह्मज्ञानियों की मुक्ति वैकल्पिक है अथवा निश्चित है ?

४. **पूर्वपक्ष**—पुराणों में अपान्तरतमानामक वेदप्रवर्तक आचार्य विष्णु की आज्ञा से द्वापर के अन्त में कृष्णद्वैपायनरूप से शरीर धारण करते देखे जाते हैं। वैसे ही सनत्कुमार स्कन्धरूप से उमा-महेश्वर के घर में जन्म लेते हैं। इसी प्रकार वसिष्ठादि तत्त्वज्ञानी होते हुए भी कहीं शाप से, कहीं स्वेच्छा से भी शरीर धारण करते देखे जाते हैं। इससे निर्गुणब्रह्मज्ञानियों की मुक्ति वैकल्पिक सिद्ध होती है।

५. **सिद्धान्त**—पूर्वपक्षी ने जिन पुरुषों का उदाहरण दिया है वे सब जगन्निर्वाहक अधिकारी माने जाते हैं जिन्होंने पूर्वकल्प में महान् तपश्चर्या द्वारा ईश्वर की उपासनाकर इस कल्प में नानादेह से उपभोगयोग्य अधिकारपद को प्राप्त किये हैं, यह उनके प्रारब्ध है, इस प्रारब्ध के क्षीण होने पर वे भी मुक्त हो जायेंगे। अनारब्ध कर्मों का नाश तत्त्वज्ञान से हो जाता है और प्रारब्ध कर्म का नाश भोग से होता है, तत्पश्चात् निर्गुणब्रह्मज्ञानी की मुक्ति सुनिश्चित ही होती है।

यावदाधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् (ललिता)

निर्गुण विद्या में गति अनावश्यक है क्योंकि उसका फल मोक्ष है, किन्तु सगुण विद्या में सर्वत्र गति की सार्थकता है क्योंकि उनका फल ब्रह्मलोक की प्राप्ति है; ऐसी व्यवस्था इससे पहले दी जा चुकी है। इस पर यह प्रश्न होता है कि विद्वान् का वर्तमान देह छोड़ने के बाद देहान्तर उत्पन्न होता है या नहीं। शङ्का—साधनरूप विद्या की प्राप्ति हो जाने पर मोक्ष मिलता है या नहीं, यह चिन्ता

त्तावोदनो भवेन्न वेति चिन्ता सम्भवति नापि भुञ्जानस्तृप्येन्न वेति चिन्त्यते। उपपन्ना त्वियं चिन्ता ब्रह्मविदामपि केषांचिदितिहासपुराणयोर्देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात्। तथा ह्यपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुराणर्षिर्विष्णुनियोगात्कलिद्वापरयोः संधौ कृष्णद्वैपायनः संबभूवेति स्मरन्ति। वसिष्ठश्च ब्रह्मणो मानसः पुत्रः सन्निमिशापादपगतपूर्वदेहः पुनर्ब्रह्मादेशान्मित्रावरुणाभ्यां संबभूवेति। भृग्वादीनामपि ब्रह्मण एव मानसपुत्राणां वारुणे यज्ञे पुनरुत्पत्तिः श्रूयते। सनत्कुमारोऽपि ब्रह्मण एव मानसः पुत्रः स्वयं रुद्राय वरप्रदानात्स्कन्दत्वेन प्रादुर्बभूव। एवमेव दक्षनारदप्रभृतीनां भूयसी देहान्तरोत्पत्तिः कथ्यते तेन तेन निमित्तेन स्मृतौ। श्रुतावपि मन्त्रार्थवादयोः प्रायेणोपलभ्यते। ते च केचित्पतिते पूर्वदेहे देहान्तरमाददते, केचित्तु स्थित एव तस्मिन्योगैश्वर्यवशादनेकदेहादानन्यायेन। सर्वे चैते समधिगतसकलवेदार्थाः स्मर्यन्ते। तदेतेषां देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात्प्राप्तं ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमहेतुत्वं वेति।

अत उत्तरमुच्यते, न। तेषामपान्तरतमःप्रभृतीनां वेदप्रवर्तनादिषु लोकस्थितिहेतुष्व-

---

संहारः फलं, सिद्धान्ते तूक्तव्यवस्थासिद्धिरिति विवेकः। श्रुतावपीति। मेधातिथेर्मेषेतिमन्त्रे इन्द्रस्य मेषजन्मोपलभ्यते। वसिष्ठ उर्वशीपुत्रो जात इत्येवमर्थो वहुवार्थवाद इत्यर्थः। पाक्षिकमित्यापाततः। अहेतुत्वमेवेति पूर्वपक्षः।

ज्ञानस्य मुक्त्यहेतुत्वं नेति सिद्धान्तयति–ते चेति। लोकव्यवस्थासु स्वामित्वमधिकारः, तत्प्रापकं

बनती ही नहीं है। इस प्रकार की चिन्ता तो वैसे ही है जैसे कोई कहता हो कि पाक के साधन सम्पन्न हो जाने पर भात पकता है या नहीं और भोजन करनेवाला तृप्त होता है या नहीं, ऐसी चिन्ता अनावश्यक है। समाधान—उक्त चिन्ता युक्तियुक्त सिद्ध होती है क्योंकि कुछ ब्रह्मज्ञानियों की भी देहान्तर की उत्पत्ति इतिहास पुराणादि में देखी जाती है। एक वेदाचार्य, पुराण के प्रवक्ता अपान्तरतम नाम के ऋषि हुए हैं, विष्णु की आज्ञा से कलियुग और द्वापर की सन्धि में कृष्णद्वैपायनरूप से प्रकट हुए; ऐसा स्मृति में सुना जाता है। ब्रह्मा के मानस पुत्र होते हुए भी वसिष्ठ निमि के शाप से पूर्वदेह का परित्यागकर पुनः ब्रह्मा के आदेश से मित्रा एवं वरुण द्वारा जन्म ग्रहण किए। ब्रह्मा के ही मानस पुत्र भृगु आदि भी वारुण यज्ञ में पुनः उत्पन्न हुए, ऐसी स्मृति है। ब्रह्मा के ही मानस पुत्र सनत्कुमार भी स्वय रुद्र को वरप्रदान के कारण स्कन्द रूप से प्रकट हुए। ऐसे ही दक्ष, नारदादि की भी देहान्तर उत्पत्ति की अनेकों कथायें भिन्न-भिन्न निमित्त से स्मृति में मिलती हैं। श्रुति में भी मन्त्र तथा अर्थवाद में प्रायशः ऐसा ही सुना जाता है। उनमें से कुछ तो पूर्वदेह का परित्याग करने पर देहान्तर ग्रहण करते हैं और कुछ उस देह में रहते हुए ही योग-ऐश्वर्य के कारण अनेकदेहकरणन्याय से देहान्तर ग्रहण करते हैं। ये सब के सब सकल वेदार्थ के तत्त्व को जाननेवाले सुने जाते हैं। ऐसी स्थिति में इनको देहान्तर उत्पत्ति देखने के कारण ब्रह्मविद्या का फल पाक्षिक जान पड़ता है अर्थात् ब्रह्मविद्या में मोक्षहेतुत्व है अथवा अहेतुत्व है, ऐसा संशय होता है।

सिद्धान्ती इसका उत्तर देता है कि ज्ञान में मुक्ति के अहेतुत्व की शङ्का ठीक नहीं है। अपान्तरतम आदि आचार्यों को वेदप्रवर्तन एवं लोकस्थिति के लिए अधिकार दिया गया था, इसलिए उन अधिकारों

धिकारेषु नियुक्तानामधिकारतन्त्रत्वात्स्थितेः । यथासौ भगवान्सविता सहस्रयुगपर्यन्तं जगतोऽधिकारं चरित्वा तदवसान उदयास्तमयवर्जितं कैवल्यमनुभवति, 'अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता' (छा० ३-११-१) इति श्रुतेः । यथा च वर्तमाना ब्रह्मविदः प्रारब्धभोगक्षये कैवल्यमनुभवन्ति । 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छा० ६-१४-२) इति श्रुतेः । एवमपान्तरतमःप्रभृतयोऽपीश्वराः परमेश्वरेण तेषु तेष्वधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः सत्यपि सम्यग्दर्शने कैवल्यहेतावक्षीणकर्माणो यावदधिकारमवतिष्ठन्ते । तदवसाने चापवृज्यन्त इत्यविरुद्धम् । सकृत्प्रवृत्तमेव हि तेऽधिकार फलदानाय कर्माशयमतिवाहयन्तः स्वातन्त्र्येणैव गृहादिव गृहान्तरमन्यमन्यं देहं संचरन्तः स्वाधिकारनिर्वर्तनायापरिमुषितस्मृतय एव देहेन्द्रियप्रकृतिवशित्वान्निर्माय

प्रारब्धं यावदस्ति तावत्कालं जीवन्मुक्तत्वेनाधिकारिकाणामवस्थितिः, प्रारब्धक्षये प्रतिबन्धकाभावाद्विदेहकैवल्यमित्यत्र मानमाह—अथेति । अथ प्रारब्धक्षयानन्तरम् । ततः पश्चादूर्ध्वो विलक्षणः केवलः ब्रह्मस्वरूपः सन् उदेत्योद्गम्य देहं त्यक्त्वेति यावत् । एकल एव अद्वितीयः, मध्ये उदासीनात्मकस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः । ननु ज्ञानिनामपि जन्मान्तरं चेत्कथं मुक्तिरित्यत आह—सकृत्प्रवृत्तमिति । यदि ज्ञानिनां प्रारब्धातिरिक्तकर्माधीनं जन्मान्तरं स्यात्तदा ज्ञानान्मुक्त्यभावः स्यात् । नैतदस्ति । किंतु बहुजन्मफलाय सकृदुद्भूतं प्रारब्धं ते क्षपयन्ति, जन्मग्रहणेऽपि ज्ञानयोगबलान्न शोचन्ति प्रारब्धसमाप्तौ मुच्यन्त इत्यर्थः । [1]ज्ञानिनां जन्मान्तरस्य पूर्वजन्महेतुप्रारब्धाधीनतायामलुप्तस्मृतित्वं हेतुः । यो ह्यजातिस्मरत्वे सति कर्मान्तराधीनजन्मान्तरवान् स लुप्तस्मृतिरिति व्याप्तेः । [2]ज्ञानिषु [3]व्यापकाभावाद्विशिष्टव्याप्याभावसिद्धिः । ननु तेषां जातिस्मरत्वादलुप्तस्मृतित्वमन्यथासिद्धमित्यत आह—

में नियुक्त उन ऋषियों का जीवन अधिकार के अधीन रहा है । जैसे यह सूर्य भगवान् सहस्रयुगपर्यन्त जगत् के अधिकार को चलाने के बाद उसकी समाप्ति में उदय एवं अस्त से रहित कैवल्य का अनुभव करते हैं, ऐसा 'प्रारब्धक्षयान्तर केवल ब्रह्मस्वरूप हो, देह का त्याग करके, अकेले अद्वितीयरूप हो, उदासीन आत्मस्वरूप में सूर्य स्थित हो जाते हैं' श्रुति कहती है । जैसे वर्तमान ब्रह्मज्ञानी प्रारब्धभोग के क्षय होने पर 'उसे विदेह कैवल्य प्राप्त करने में उतनी ही देर है जब तक प्रारब्धभोग समाप्त नहीं होता, प्रारब्धभोग समाप्त होते ही वह विदेहकैवल्य को प्राप्त करता है' इस श्रुति के अनुसार विदेहकैवल्य का अनुभव करते हैं । ऐसे ही अपान्तरतम आदि ऋषि भी ईश्वरकोटि के हैं जो विश्वनियन्ता परमात्मा के द्वारा उन-उन अधिकारों में नियुक्त किये गये हैं, वे सभी मोक्ष के हेतु तत्त्वज्ञान से सम्पन्न होते हुए भी भोगप्रद कर्म के क्षय न होने के कारण अपने अधिकारपर्यन्त बने रहते हैं और उस अधिकार के समाप्त होते ही वे मुक्त हो जाते हैं, ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है । उनका प्रारब्ध अनेक जन्म दिलाने वाला होता है, इसलिए अधिकारफल देने के लिए वे एक बार प्रवृत्त कर्मसंस्कार का अतिवहन करते हुए एक शरीर से दूसरे शरीर में वैसे ही चले जाते हैं जैसे गृहस्वामी स्वेच्छापूर्वक एक घर से दूसरे घर में चला जाता है; उनकी अपने अधिकार को सम्पन्न करने के लिए स्मृति लुप्त नहीं होती है; वे देह, इन्द्रिय और उसके कारण प्रकृति को अपने आधीनकर

---

१ आधिकारिकाख्यानाम् । आधिकारिकजन्मान्तरं पूर्वजन्महेतुप्रारब्धकर्माधीनं जातिस्मरभिन्नत्वे सति अलुप्तस्मृतित्वात् व्यतिरेकेऽस्मदादिजीववत् । २. आधिकारिकेषु । ३. अलुप्तस्मृतित्वाभावाभावात् ।

देहान्युगपत्क्रमेण वाधितिष्ठन्ति । न चैते जातिस्मरा इत्युच्यन्ते 'त[1] एवैते' इति स्मृतिप्रसिद्धेः । यथा हि 'सुलभा नाम ब्रह्मवादिनी जनकेन विवदितुकामाऽव्युदस्य स्वयं देहं जानकं देहमाविश्य व्युद्य तेन पश्चात्स्वमेव देहमाविवेश' इति स्मर्यते । यदि ह्यु[2]पयुक्ते सकृत्प्रवृत्ते कर्मणि कर्मान्तरं देहान्तरारम्भकारणमाविर्भवेत्ततोऽन्यदप्यदग्धबीजं कर्मान्तरं तद्वदेव प्रसज्येतेति ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमहेतुत्वं वाशङ्क्येत, न त्वियमाशङ्का युक्ता, ज्ञानात्कर्मबीजदाहस्य श्रु[3]तिस्मृतिप्रसिद्धत्वात् । तथाहि श्रु तिः—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मु० २-२-८) इति । 'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७-२६-२) इति चैवमाद्या । स्मृतिरपि—'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (गी० ४-३७),

न चैत इति । तथाच तेषामजातिस्मरत्वरूपविशेषणे सति 'विशेष्याभावादेव विशिष्टाभावसिद्धि-रित्यर्थः । पूर्वदेहनामप्रत्यभिज्ञानहीनाः परतन्त्राः साभिमाना जातिस्मराः, आधिकारिकास्तु पूर्वनामानः स्वतन्त्रा निरभिमाना इति वैषम्यम् । तेन जनकेन सह व्युद्य विवादं कृत्वेत्यर्थः । विदुषः प्रारब्धातिरिक्तकर्माभावान्न बन्धः । निमित्ताभावे नैमित्तिकाभाव इति न्यायानुगृहीतानां ज्ञानान्मुक्तिश्रुतीनां न स्तुतिमात्रत्वमितीममर्थमुपपादयति—यदि ह्युपयुक्त इत्यादिना । श्रुतिस्मृत्युक्तार्थे युक्तिमप्याह—

अनेक शरीर का निर्माण एक साथ अथवा क्रमशः करके अधिष्ठित रहते हैं । इन्हें जातिस्मर नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनके विषय में 'वे ही ये हैं' ऐसी प्रत्यभिज्ञा प्रसिद्ध है । जातिस्मर पुरुष तो पूर्वदेह और नाम की प्रत्यभिज्ञा से हीन, परतन्त्र और अभिमानवाले होते हैं; किन्तु कारक पुरुष पूर्वनाम वाले, स्वतन्त्र और निरभिमान होते हैं, ऐसा जातिस्मर एवं कारक पुरुष में भेद है । जैसे जनक के साथ विवाद करने की इच्छावाली सुलभा नाम की एक ब्रह्मवादिनी अपने देह का परित्यागकर जनक के देह में प्रवेश कर जाती है और जनक के साथ विवाद करने के पश्चात् पुनः अपने शरीर में आकर प्रविष्ट हो जाती है' ऐसा स्मृति में कहा गया है । यदि सकृत्प्रवृत्त कर्म का भोग होने पर देहान्तरारम्भककारण कर्मान्तर का आविर्भाव हो तो बीज दग्ध न होने के कारण उसी प्रकार अन्य कर्म का भी शेष रहना माना जायेगा, ऐसी स्थिति में ब्रह्मविद्या मोक्ष का कारण पाक्षिक मानी जायेगी अथवा कारण ही नहीं मानी जायेगी, ऐसी शङ्का कर सकते थे; किन्तु ऐसी शङ्का का उत्थापन ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान से कर्मबीज का दाह होना श्रुति एवं स्मृति में प्रसिद्ध है । 'उस परतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर हृदयस्थ अन्योऽन्याध्यासरूप ग्रन्थि नष्ट हो जाती है, सारे संशय मिट जाते हैं और उस तत्त्वज्ञानी के प्रारब्धातिरिक्त सभी सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं ।' और 'तत्त्वबोध हो जाने पर सभी ग्रन्थियों का सर्वथा नाश हो जाता है' ये सब श्रुतियाँ है । उसी प्रकार 'हे अर्जुन ! जैसे प्रदीप्त अग्नि काष्ठ को भस्म कर डालती है वैसे ही ज्ञानाग्नि प्रारब्धातिरिक्त सभी सञ्चित कर्मों को भस्म कर देती है ।' और 'जैसे अग्नि से भुने हुए बीज पुनः उगते नहीं हैं वैसे ही ज्ञानाग्नि

१. त एवैत इति तन्नामान एवेत्यर्थः पूर्वजन्मनि यस्य यन्नाम जन्मान्तरेपि तस्य तदेव नामजातिस्मरास्तु तन्नामभाजो न भवन्तीति वैषम्यम् । २. उपक्षीणे सति । ३. व्यापकाभावादित्यर्थः ।

'बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः । ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः' इति चैवमाद्या । न चाविद्यादिक्लेशदाहे सति क्लेशबीजस्य कर्माशयस्यैकदेशदाह एकदेशप्ररोहश्चेत्युपपद्यते, न ह्यग्निदग्धस्य शालिबीजस्यैकदेशप्ररोहो दृश्यते । प्रवृत्तफलस्य तु कर्माशयस्य मुक्तेषोरिव वेगक्षयान्निवृत्तिः । 'तस्य तावदेव चिरम्' (छा० ६-१४-२) इति शरीरपातावधि क्षेपकरणात् । तस्मादुपपन्ना यावदधिकारमाधिकारिकाणामवस्थितिः । नच ज्ञानफलस्यानैकान्तिकता । तथाच श्रुतिरविशेषेणैव सर्वेषां ज्ञानान्मोक्षं दर्शयति 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १-४-१०) इति । ज्ञानान्तरेषु[1] चैश्वर्यादिफलेष्वासक्ताः स्युर्महर्षयः । ते पश्चादैश्वर्यक्षयदर्शनेन निर्विण्णाः परमात्मज्ञाने परिनिष्ठाय कैवल्यं प्रापुरित्युपपद्यते । 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' इति स्मरणात् । प्रत्यक्षफलत्वाच्च ज्ञानस्य फलविरहाशङ्कानुपपत्तिः । कर्मफले हि स्वर्गादावनुभवानारूढे

न चाविद्येति । विद्यया क्लेशदाहात्तत्कार्यकर्मक्षयश्चेत्तर्हि प्रारब्धस्य कथं स्थितिः, तत्राह—प्रवृत्तफलस्येति । विदुषो देहपातावधिश्रुतेरनुभवाच्च ज्ञानस्यावरकाज्ञानांशनिवर्तकस्य प्रारब्धविक्षेपस्थित्यनुकूलाज्ञानांशनिवर्तनसामर्थ्याभावसिद्धेर्भोगेनैव प्रारब्धक्षय इति भावः । ज्ञानिनामाधिकारिकत्वं कथमित्याशङ्क्य ज्ञानात्प्राक्कृतोपासनादिवशादित्याह— ज्ञानान्तरेषु चेति । प्रतिसंचरो महाप्रलयः, परस्य

से दग्ध अविद्यादि क्लेशों के कारण जीवात्मा पुनः शरीर नहीं धारण करता है' ये सब स्मृतियाँ भी हैं । अविद्याक्लेश के दग्ध हो जाने पर क्लेशबीज कर्मसंस्कार का एकभाग जल जाता है और एकभाग पुनः जन्म देता है, ऐसी कल्पना ठीक नहीं है क्योंकि अग्नि से दग्ध शालिबीज का एकदेश अंकुरित होता हुआ नहीं दीखता है । किन्तु जो कर्मसंस्कार फल देने के लिए उन्मुख हो चुका है उसकी निवृत्ति तो छोड़े हुए बाण की भाँति वेग के क्षय होने पर ही हो सकती, इसीलिए तो **'तस्य तावदेव चिरम्'** इस श्रुतिवाक्य से शरीरपात की प्रतीक्षा विदेहकैवल्य के लिए बतलायी गयी है । अतः कारक पुरुषों की स्थिति अपने अधिकारसमाप्तिपर्यन्त बनी रहती है । ऐसी स्थिति में ज्ञान के फल में अनेकान्तिकता नहीं कह सकते, इसीलिए समानरूप से ही श्रुति सभी के लिए ज्ञान से मोक्ष बतलाती है-'देवताओं में से जिसने आत्मस्वरूप ब्रह्म को जाना वह ब्रह्म हो गया, वैसे ही ऋषियों और मनुष्यों में भी ब्रह्मतत्त्वदर्शी पुरुष ब्रह्मभाव को प्राप्त कर गया ।' किन्तु जो महर्षि ऐश्वर्यादि फल देनेवाली अन्य उपासनाओं में आसक्त हैं वे बाद में ऐश्वर्यक्षय देखने के कारण खिन्न हो जाते हैं और विरक्त हो परमात्मज्ञान में निष्ठा प्राप्तकर कैवल्य को प्राप्त कर चुके हैं, ऐसा कहना युक्तियुक्त है क्योंकि उपासना के फलस्वरूप ब्रह्मलोक गये हुए उपासक महाप्रलय आने पर हिरण्यगर्भ का अधिकार समाप्त होते ही वे कृतात्मा पुरुष ब्रह्मा के साथ-साथ परम पद में प्रविष्ट हो जाते हैं' ऐसा स्मृतिवाक्य है । ज्ञान का फल प्रत्यक्ष होने के कारण उसके फलाभाव की शङ्का अनुचित है क्योंकि अनुभव में न आनेवाले स्वर्गादिरूप कर्मफल में कदाचित् शङ्का हो सकती है कि स्वर्ग मिलेगा या नहीं,

---

१. तत्त्वज्ञानादितरेषूपासनेषु ।

स्यादपि कदाचिदाशङ्का भवेद्वा न वेति । अनुभवारूढं तु ज्ञानफलम् 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३-४-१) इति श्रुतेः, 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७) इति च सिद्धवदुपदेशात् । नहि 'तत्त्वमसि' इत्यस्य वाक्यस्यार्थस्तत्त्वं मृतो भविष्यसीत्येवं शक्यः परिणेतुं । 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृ० १-४-१०) इति च सम्यग्दर्शनकालमेव तत्फलं सर्वात्मत्वं दर्शयति । तस्मादैकान्तिकी विदुषः कैवल्यसिद्धिः॥३२॥

हिरण्यगर्भस्य, अधिकारान्ते साक्षात्कृतात्मानो मुच्यन्ते इत्यर्थः । ब्रह्मभावफलस्याऽपि भावित्वमाशंक्य तत्त्वमसीति श्रुतिबाधमाह—नहीति । तस्मान्निर्गुणविद्यायां मार्गानुपसहार इति सिद्धम् ॥३२॥

किन्तु अनुभवारूढ़ ज्ञान के फल के विषय में उक्त शङ्का नहीं बनती क्योंकि ब्रह्मतत्त्व साधननिरपेक्ष अपरोक्ष है' ऐसा श्रुति कहती है और 'तत्त्वमसि' इस श्रुति ने निर्विवादरूप से तत्-त्वम् पदार्थ का ऐक्य स्वीकार किया है।'तत्त्वमसि' इस वाक्य का अर्थ, तू मरकर ब्रह्म होगा, ऐसा कोई कर नहीं सकता। इसीलिए तो आत्मतत्त्वदर्शी वामदेव ऋषि ने ऐसा अनुभव किया था कि मैं ही सर्गारम्भ में मनु और सूर्य हुआ था' यह श्रुति तत्त्वदर्शनकाल में ही उसका फल सर्वात्मभाव बतलाती है। अतः ज्ञानी को मोक्ष की प्राप्ति निर्विवाद सिद्ध है, इसीलिए निर्गुण विद्या में मार्ग के उपसंहार की कोई आवश्यकता नहीं है ॥३२॥

२०. अक्षरध्यधिकरणम् (सू० ३३)

निषेधानामसंहारः संहारो वा न संहृतिः । आनन्दादिवदात्मत्वं नैषां संभाव्यते यतः ।
श्रुतानामश्रुतानां च निषेधानां समायतः । आत्मलक्षणता तस्माद्दाढर्यायास्तूपसंहृतिः ॥

२०. अक्षरध्यधिकरण

१. सङ्गति—जैसे धनुष से निकला हुआ बाण अपना काम करके ही रहता है ऐसे ही आधिकारिक पुरुषों के प्रारब्धकर्मवेग से ही देहान्तर की उत्पत्ति होती है, उसमें सञ्चित कर्म को कारण नहीं कहा गया है। उसी प्रकार जहाँ पर जितनी निषेधश्रुतियाँ हैं उन्हीं से उपलक्षणविधया सर्वद्वैतनिषेध सिद्ध हो जायेगा, शाखान्तरीय निषेधों को ब्रह्मबोध का हेतु नहीं मानना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—निषेध श्रुतियों के उपसंहारस्थल पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—सर्वत्रपठित निषेधश्रुति की यथास्थान व्यवस्था होनी चाहिए अथवा सर्वत्र सभी निषेधश्रुतियों का उपसंहार होना चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यादि वाक्य द्वारा गार्गीब्राह्मण में और 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि वाक्य द्वारा कठ श्रुति में जो निषेध करके ब्रह्मावबोध कराया गया है ऐसे ही अन्य श्रुतियाँ भी हैं। इन सभी निषेधश्रुतियों के सर्वत्र उपसहार का कोई प्रयोजन न होने के कारण जहाँ पर जितना निषेध है उसी से उपलक्षणतया सकलद्वैत का निषेध हो जायेगा। अन्यत्र पठित द्वैतनिषेधश्रुति का उपसंहार अन्यत्र निष्प्रयोजन ही है क्योंकि वे आनन्दादि के समान ब्रह्मस्वरूप नहीं हैं।

५. सिद्धान्त—निषेधश्रुतियाँ श्रुत हों अथवा अश्रुत हों, सभी एक जैसी हैं। अतः आत्मबोध की दृढ़ता के लिए द्वैतनिषेधश्रुतियों का उपसंहार सर्वत्र होना चाहिए।

(३९२) अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥३३॥

वाजसनेयके श्रूयते—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहम्' (बृ० ३-८-८) इत्यादि । तथाथर्वणे श्रूयते—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्' (मु० १-१-५) इत्यादि । तथैवान्यत्रापि विशेषनिराकरणद्वारेणाक्षरं परं ब्रह्म श्राव्यते । तत्र च क्वचित्केचिदतिरिक्ता विशेषाः प्रतिषिध्यन्ते । तासां विशेषप्रतिषेधबुद्धीनां किं सर्वासां सर्वत्र प्राप्तिरुत व्यवस्थेति संशये श्रुतिविभागाद्व्यवस्थाप्राप्तावुच्यते—अक्षरविषयास्तु विशेषप्रतिषेधबुद्धयः सर्वाः सर्वत्रावरोद्धव्याः, सामान्यतद्भावाभ्याम्—समानो हि सर्वत्र विशेषनिराकरणरूपो ब्रह्मप्रतिपादनप्रकारः । तदेव च हि सर्वत्र प्रतिपाद्यं ब्रह्माभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते । तत्र किमित्यन्यत्र श्रुता बुद्धयोऽन्यत्र न स्युः । तथाच 'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्र० सू० ३-३-११) इत्यत्र

अक्षरधियाम् । अत्राक्षरब्रह्म[1]प्रमापका निषेधशब्दा विषयाः, तेषु यत्र यावन्तः श्रुतास्तत्र तावतामशेषद्वैतनिषेधकत्वसंभवासंभवाभ्यां संशयमाह—तासामिति । यथा निर्गुणविद्यायां मार्गस्थानपेक्षितत्वादनुपसंहारस्तथा श्रुतनिषेधानामुपलक्षणतया सर्वाद्वैतनिषेधसंभवाच्छ्रुतान्तरीयनिषेधशब्दानामनपेक्षितत्वादनुपसंहार इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षस्तत्र लाघवं फलम् । सिद्धान्ते तु दोषद्वयाभावः फलम् । तथाहि—यदि श्रुतशब्दैरश्रुतनिषेधा लक्ष्यन्ते तदा लक्षणादोषः, यदि न लक्ष्यन्ते तदा सर्वद्वैतनिषेधासिद्धेर्निर्विशेषप्रमित्यभावदोष इति विवेकः । अक्षरे धर्मिणि द्वैतनिषेधधियोऽक्षरधियस्तद्धेतवः शब्दा इति यावत्, तासामवरोध उपसंहार इति सूत्रयोजना । शेषिब्रह्मणः सर्वशाखासु भावात्

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् (ललिता)

वाजसनेयक में 'हे गार्गी ! इसी अक्षर को ब्राह्मण लोग अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह कहते हैं' इत्यादि सुना जाता है। उसी प्रकार आथर्वण में 'अब पराविद्या कही जायेगी जिससे उस अक्षर का अधिगम होता है जो वह अक्षर अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र और अवर्ण है' ऐसा सुना जाता है। वैसे ही अन्य श्रुतियों में भी विशेष के निराकरण द्वारा अक्षरपदवाच्य परब्रह्म का श्रवण होता है। उनमें कहीं-कहीं पर कुछ अतिरिक्त विशेष का भी निषेध किया गया है। ऐसी स्थिति में उन सभी विशेषप्रतिषेधबुद्धि को सर्वत्र प्राप्ति होती है अथवा इसकी व्यवस्था है अर्थात् सभी निषेधों का सर्वत्र चिन्तन करना चाहिए या जितने निषेध जहां बतलाये गये हैं उतने का ही चिन्तन करना चाहिए, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष की ओर से श्रुतिविभाग को देखते हुए व्यवस्था की प्राप्ति बतलायी गयी है। किन्तु सिद्धान्त पक्ष से कहा गया है कि अक्षरब्रह्म के ज्ञान के लिए सभी विशेषप्रतिषेध बुद्धि का सर्वत्र उपसंहार करना चाहिए क्योंकि सर्वत्र विशेषनिराकरणरूप ब्रह्मप्रतिपादनप्रकार समान ही है और वही प्रतिपाद्य ब्रह्म सर्वत्र अभिन्नरूप से प्रत्यभिज्ञात होता है। इस स्थिति में अन्यत्र सुनी गयी निषेधबुद्धि का उपसंहार अन्यत्र क्यों नहीं होगा, ऐसा ही व्याख्यान 'आनन्दादयः

१. प्रमाजनकाः।

व्याख्यातम् । तत्र विधिरूपाणि विशेषणानि चिन्तितानीह प्रतिषेधरूपाणीति विशेषः प्रपञ्चार्थश्चायं चिन्ताभेदः । औपसदवदिति निदर्शनम् । यथा जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु चोदितासु पुरोडाशप्रदानमन्त्राणाम् । 'अग्नेर्वेहोत्रं वेरध्वरम्' इत्येवमादीनामु[1]द्गातृवेदोत्पन्नानामप्यध्वर्युमिरभिसम्बन्धो भवति । अध्वर्युकर्तृकत्वात्पुरोडाशप्रदानस्य, प्रधानतन्त्रत्वाच्चाङ्गानाम् । एवमिहाप्यक्षरतन्त्रत्वात्तद्विशेषणानां यत्र क्वचिदप्युत्पन्नानाम-

---

तत्प्रमितेः समानत्वाच्छेषाणामुपसंहार इति चेत्तर्हि न्यायसाम्यात्पुनरुक्तितादवस्थ्यमित्यत आह—विशेषप्रपञ्चार्थ इति । आनन्दादीनां स्वरूपत्वादस्तूपसंहारः निषेधानामनात्मत्वाद[2]नन्त्याच्चा[3]नुपसंहार इत्यधिकाशङ्कायां तेषामनात्मत्वेऽपि निर्विशेष[4]ब्रह्मप्रमित्यर्थत्वादविद्यातज्जनिषेधत्वेन [5]संग्रहसिद्धेश्च निरपेक्षास्थूलानणुवाक्यस्थतया क्लृप्तनिषेधशब्दानामन्यत्रश्रुतनिषेधवाक्यैकवाक्यतयोपसंहार इति चिन्ता युक्तेत्यर्थः । अन्यत्र श्रुतशेषाणामन्यत्रस्थशेषिसंबन्धे दृष्टान्तं व्याचष्टे—यथेति । 'जमदग्निः पुष्टिकाम[6]श्चतूरात्रेणायजत' इत्युपक्रम्य विहितो जमदग्निना कृतो जामदग्न्यः, अहीनश्चतूरात्रः क्रतुस्तस्मिन्पुरोडाशिन्य उपसदो भवन्तीति पुरोडाशसाध्या इष्टयस्तैत्तिरीयके विहिताः, तासामध्वर्युकर्तृकत्वात्सामवेदोत्पन्नमन्त्राणां [7]तासु विनियोगादध्व[8]र्युणैव प्रयोगो नोद्गात्रेत्यर्थः । वेर्वेगणस्य होत्रं अध्वरं च कर्माग्नेस्त्वत एवेत्यग्न्यामन्त्रणमन्त्रार्थः । उत्पत्तिविधिर्गुणः फलापेक्षत्वादुत्पन्नस्य फले विनियोगविधिर्मुख्यः सफलत्वात् । तथाच मन्त्राणामुद्गातृवेदोत्पन्नत्वादुद्गात्रा प्रयोगः, विनियोगविधिनाध्वर्युणा प्रयोग इति गुणमुख्ययोर्व्यतिक्रमे विरोधे सति मुख्येन बलीयसा मन्त्रात्मकवेदस्याध्वर्युणा संयोग उत्पत्तेर्विनियोगार्थत्वादिति जैमिनिसूत्रार्थः । यद्यपि शाबरभाष्ये वारवन्तीयादिसाम्नामुच्चैःस्वरकसामवेदोत्पन्नत्वादाधानाङ्गत्वेनोच्चैः [9]स्वरप्रयोगः 'य एवं विद्वान्वारवन्तीयं गायति यज्ञायज्ञीयं गायति वामदेव्यं गायति' इत्याधाने तेषां विनियोगविधिना [10]याजुषेण याजुषस्योपांशुस्वरस्य [11]प्रयोग इति गुणमुख्ययोर्विरोधे सत्युत्पत्तेर्विनियोगार्थत्वान्मुख्यविनियोगबलेन साम्नां यजुर्वेदस्वरसंयोग इति सूत्रं व्याख्यातं, तथापि न्यायसाम्यादौपसदमन्त्राः सूत्रविषयत्वेनोदाहृता इत्यविरोधः ॥३३॥

प्रधानस्य' इस सूत्र का किया जा चुका है । वहाँ पर विधिरूप विशेषणों की चिन्ता की गयी है और यहाँ पर निषेधरूप विशेषणों की चिन्ता की जाती है, इस प्रकार यह विशेषविस्तार के लिए चिन्ता-भेद है । 'औपसदवत्' यह दृष्टान्त दिया गया है । जैसे जमदग्नि द्वारा अनुष्ठान किये गये चार रात्रियों में पूर्ण होने वाले अहीननामक सोमयाग में विहित पुरोडाशयुक्त उपसद इष्टियों में 'हे अग्ने ! देवताओं का होत्र और अध्वर कर्म तुमसे हो सम्पन्न होता है' इत्यादि उद्गाता के वेद में उत्पन्न हुए पुरोडाशप्रधान मन्त्रों का भी अध्वर्यु के साथ सम्बन्ध होता है क्योंकि पुरोडाशप्रदान का कर्ता अध्वर्यु कहा गया है और अङ्ग सदा प्रधान के आधीन ही होते हैं । ऐसे ही यहाँ पर भी अक्षर-ब्रह्म के आधीन होने के कारण उसके निषेधविशेषण जहाँ कहीं भी उत्पन्न हुए हों उनका सर्वत्र अक्षर-ब्रह्म के

---

१. सामवेदः । २. आनन्त्याच्चेति निषेध्यानन्त्येनेत्यादौ शेषः । ३. अनुपसंहार इति-उक्तहेतुभ्यां उपसंहारायोगात्किंचिन्निषेधेनान्यलक्षणायां च श्रुतैनैवेष्टसिद्धेरिति भावः । ४. लक्षणयेति शेषः । ५. संग्रहसिद्धेश्चेति निषेध्य द्वैतस्य भू-भूतभौतिकत्वादिरूपस्य मितत्वेन तत्रापि मितिमिति सिद्धेरिति भावः । ६. एतन्नामधेयेन क्रतुना । ७. उदगात्रा प्रयोगे प्राप्ते । ८. अध्वर्युप्रदानकपुरोडाशयुक्तासु । ९. प्राप्त इति शेषः । १०. यजुर्वेदीयेन विधिना । ११. प्राप्त इति पूर्ववत् ।

२१. इयदधिकरणम् (सू०३४)

(३९३) इयदामननात् ॥३४॥

पिबन्तौ द्वा सुपर्णेति द्वे विद्ये अथर्वकता । भोक्तारौ भोक्त्रभोक्तारावितिं विद्ये उभे इमे ।
पिबन्तौ भोक्त्रभोक्तारावित्युक्तं हि समन्वये । इयत्ताप्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैका मन्त्रयोर्द्वयोः ॥

क्षरेण सर्वत्राभिसम्बन्ध इत्यर्थः । तदुक्तं प्रथमे काण्डे—'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः (जै० सू० ३-३-८) इत्यत्र ॥३३॥

'द्वा[1] सुपर्णा सयुजा सखाया समानं [2]वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्[3]यः [4]पिप्पलं स्वाद्वत्त्यन-श्नन्न[5]न्यो 'अभिचाकशीति'(मु० ३-११)इत्यध्यात्माधिकारे मन्त्रमाथर्वणिकाः श्वेताश्वतराश्च

साथ सम्बन्ध माना जायेगा। ऐसा ही प्रथम काण्ड-जैमिनि दर्शन में कहा गया है कि 'गुण और मुख्य का विरोध होने पर मन्त्ररूप वेद का बलवान, मुख्य अध्वर्यु के साथ संयोग होता है क्योंकि उत्पत्ति और स्थिति विनियोग के लिए होती है।' यद्यपि शाबरभाष्य में इस सूत्र का व्याख्यान कुछ अन्य प्रकार से किया गया है फिर भी न्याय तुल्य होने के कारण औपसद मन्त्र सूत्र के विषयरूप से उदाहृत किये गये हैं, ऐसा करने में कोई विरोध नहीं है ॥३३॥

२१. इयदधिकरण

१. सङ्गति—पहले प्रतिपाद्य ब्रह्म की प्रत्यभिज्ञा होने के कारण सर्वत्र निर्गुण ब्रह्मविद्या एक ही है, इसलिए निषधश्रुतियों का सर्वत्र उपसंहार कहा गया था; किन्तु इस अधिकरण में प्रतिपाद्य वस्तु का भेद होने से विद्या भिन्न है, इस प्रकार प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ करते हैं।

२. विषय—मुण्डक तथा कठ श्रुति में कही गयी ब्रह्मविद्या के भेदाभेद पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—**'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** इस मुण्डक श्रुति तथा **'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके'** इस कठ श्रुति में बतलायी गयी विद्या एक है अथवा भिन्न है?

४. पूर्वपक्ष—एक स्थान पर एक भोक्ता और दूसरे स्थान पर दो भोक्ता बतलाये गये हैं, इस इस प्रकार भेद देखे जाने के कारण विद्या भिन्न है।

५. सिद्धान्त—प्रथमाध्याय-द्वितीय पाद के तृतीय अधिकरण में **'पिबन्तौ'** शब्द जीव एवं ब्रह्मपरक होने से उसका भोक्ता और अभोक्ता अर्थ किया गया है, अतः वेद्यवस्तु में भेद नहीं है और द्वित्व संख्या की प्रत्यभिज्ञा उभयत्र समानरूप से होती है, इसलिए उक्त दोनों स्थलों में विद्या एक ही है।

इयदामननात् (ललिता)

'सुन्दर पंखवाले', नियम्यनियामकभाववाले और सदा साथ ही रहने वाले शरीरनामक वृक्ष पर दो पक्षी रहते हैं, उनमें से एक स्वादिष्ट फल का उपभोग करता है और दूसरा फलभोग न करता हुआ केवल उसे प्रकाश देता रहता है' ऐसा अध्यात्मप्रसङ्ग में आथर्वणिक और श्वेताश्वतर

---

१. सुपर्णौ शोभमानपतनौ वृक्षाश्रयणादिश्रवणेन पक्षिसामान्यात्सुपर्णावित्यर्थः सयुजौ सहैव सर्वदा युक्तौ सखायौ समानाख्यानौ समानाभिव्यक्तिकारणौ सतौ समानमविशेषमुपलब्ध्यधिष्ठान तयैकं वृक्ष वृक्षमिवोच्छेदसामान्य च्छरीरं वृक्ष परिषस्वजाते परिष्वक्तवंतौ । २. शरीरम् । ३. क्षेत्रज्ञः । ४. कर्मफलम् । ५. ईश्वरः । ६. प्रेरयति ।

पठन्ति । तथा कठाः—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' (३-१) इति । किमत्र विद्यैकत्वमुत विद्यानानात्वमिति संशयः । किं तावत्प्राप्तं विद्यानानात्वमिति । कुतः ?—विशेषदर्शनात् । द्वा सुपर्णेत्यत्र ह्येकस्य भोक्तृत्वं दृश्यते, एकस्य चाभोक्तृत्वं ऋतं पिबन्तावित्यत्रोभयोरपि भोक्तृत्वमेव दृश्यते, तद्वेद्यरूपं भिद्यमानं विद्यां भिन्द्यादित्येवं प्राप्ते ब्रवीति, विद्यैकत्वमिति ।

कुतः ? यतः उभयोरप्येतयोर्मन्त्रयोरियत्तापरिच्छिन्नं [1]द्वित्वोपेतं वेद्यरूपमभिन्नमामनन्ति । ननु दर्शितो रूपभेदः । नेत्युच्यते । 'उभावप्येतौ मन्त्रौ जीवद्वितीयमीश्वरं प्रतिपादयतो ना[2]र्थान्तरम्, 'द्वा[3] सुपर्णा' इत्यत्र तावत् 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इत्यशनायाद्यतीतः परमात्मा प्रतिपाद्यते, वाक्यशेषेऽपि च स एव प्रतिपाद्यमानो दृश्यते ।

इयदामननात् । मन्त्रद्वयेऽपि प्रतिपादनप्रकारभेदात् ज्ञेयैक्यभानाच्च संशयमाह—किमत्रेति । ऋतपानवाक्ये 'अक्षरं ब्रह्म यत्परम्' इति गुणाः श्रुताः, सुपर्णवाक्येऽनश्नत्वादयस्तेषां मिथोऽनुपसंहार इति पूर्वपक्षफलं, सिद्धान्ते तूपसंसारिब्रह्मस्वरूपवाक्यार्थैक्यादुपसंहार इति विवेकः ।

अस्तु वेद्यैक्यादक्षरधियामुपसंहारः । इह नु वेद्यभेदान्नोपसंहार इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षः । नन्वयं गुहाधिकरणे निरस्त इति चेत्, सत्यं, किंतु पिबत्पदस्य मुख्यार्थत्वाय स्वतः कल्पनया च पानकृत्याश्रयौ बुद्धिजीवौ पिबन्तौ ग्राह्यौ, सुपर्णौ तु जीवेश्वरावित्यधिकाशङ्कायां मन्त्रद्वयेऽपि द्विवचनशब्दसामान्यादौत्पत्तिकद्वित्वविशिष्टतया तुल्यवस्तुद्वयप्रत्यभिज्ञानस्य बाधकाभावात्प्रकरणाद्यनुग्रहाच्च जीवानुवादेनासंसारिब्रह्मणि मन्त्रद्वयतात्पर्यमिति प्रपञ्चार्थमिदं सूत्रमिति भावः ।।३४।।

वाले पाठ करते हैं। वैसे ही 'अपने कर्म के फल को भोगने वाले छाया और आतप के समान परस्पर विलक्षण स्वभाववाले दो तत्त्व शरीरस्थ बुद्धिरूपी गुहा के भीतर प्रकृष्ट ब्रह्मस्थान में प्रविष्ट है ऐसा ब्रह्मवादी लोग कहते हैं जिन्होंने पञ्चाग्नि की उपासना की है और नाचिकेत अग्नि का तीन बार चयन किया है' ऐसा कठ शाखावाले कहते हैं। यहाँ पर यह संशय होता है कि दोनों मन्त्रों में बतलायी गयी विद्या एक है अथवा भिन्न है। इस पर पूर्वपक्ष कहता है कि विद्या नाना है क्योंकि 'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्र में एक भोक्ता और एक अभोक्ता देखा जाता है, किन्तु 'ऋतं पिबन्तौ' इस मन्त्र में दोनों में ही भोक्तृत्व दीखता है। अतः वेद्यरूप भिन्न होने पर विद्या भी भिन्न ही मानी जायेगी।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहता है कि दोनों स्थानों में विद्या एक है क्योंकि इन दोनों ही मन्त्रों में द्वित्वरूप इयत्ता से परिच्छिन्न वेद्य का रूप अभिन्न बतलाते हैं। शङ्का—वेद्य का रूपभेद तो हम दिखला चुके हैं। समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ये दोनों हो मन्त्र जीव से भिन्न द्वितीय ईश्वर को बतलाते हैं, अर्थान्तर को नहीं। 'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्र में 'जीव से भिन्न दूसरा परमात्मा भोग न करता हुआ केवल भोगनेवाले जीव को प्रकाश देता रहता है' इत्यादि द्वारा परमात्मा क्षुधा से अतीत बतलाया गया है। इसके वाक्यशेष में भी वही परमात्मा प्रतिपाद्यरूप से

---

१. इयत्तापरिच्छिन्नमित्येतदेव व्याचष्टे द्वित्वेति । २. जीवम् । ३. जीवानुवादेन तद्याथार्थ्यं परमात्मतत्त्वं प्रतिपाद्यमित्येतदाथर्वणादिमंत्रे साधयति द्वासुपर्णेति ।

२२. अन्तरत्वाधिकरणम् (सू० ३५-३६)

विद्याभेदोऽथ विद्यैक्यं स्यादुषस्तकहोलयो: । समानस्य द्विराम्नानाद्विद्याभेद: प्रतीयते ॥
सर्वान्तरत्वमुभयोरस्ति विद्यैकता तत: । शङ्काविशेषनुत्यै द्वि: पाठस्तत्त्वमसीतिवत् ॥

'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानम्' (श्वे० ४-७) इति । 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यत्र तु जीवे पिबत्यशनायाद्यतीतः परमात्मापि तत्साहचर्याच्छत्रिन्यायेन पिबतीत्युपचर्यते । परमात्मप्रकरणं ह्येतत् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २-१४) इत्युपक्रमात् । तद्विषय एव [1]चात्रापि वाक्यशेषो भवति 'यः [2]सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्' (क०३-२) इति । 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' (ब्र० सू० १-२-११) इत्यत्र चैतत्प्रपञ्चितम् । तस्मान्नास्ति वेद्यभेदस्तस्माच्च विद्यैकत्वम् । अपिच त्रिष्वप्येतेषु वेदान्तेषु पौर्वापर्यालोचने परमात्मविद्यैवावगम्यते तादात्म्यविवक्षयैव जीवोपादानं नार्थान्तरविवक्षया । नच परमात्मविद्यायां भेदाभेदविचारावतारोऽस्तीत्युक्तम् । तस्मात्प्रपञ्चार्थ एवैष योगः । तस्माच्चाधिकधर्मोपसंहार इति ॥३४॥

दीखता है—'जब यह जीव अनेक योगमार्गों से उपासित, देहादि से भिन्न ईश्वर को और उसकी महिमा को देखता है तब वह शोकरहित हो जाता है' इत्यादि । किन्तु **'ऋतं पिबन्तौ'** इस मन्त्र में जीव के फलभोग करने पर क्षुधादि से अतीत परमात्मा भी साहचर्य के कारण छत्रिन्याय से पान करनेवाला कह दिया गया है जो औपचारिक है क्योंकि यह प्रकरण परमात्मा का है—'जो धर्म से भिन्न और अधर्म से भिन्न है' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर उस विषय में ही यहाँ भी वाक्यशेष है कि 'जो यज्ञादि कर्म करने वाले यजमान का सेतु है और जो परब्रह्म अक्षररूप है ।' यही बात **'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि'** इस सूत्र की व्याख्या में विस्तार से कह आये हैं । अत: दोनों ही मन्त्रों में वेद्य का भेद नहीं है और इसलिए विद्या एक ही है । इसके अतिरिक्त इन तीनो वेदान्तवाक्यों पर पौर्वापर्य का विचार करने से परमात्मविद्या हो जान पड़ती है । परमात्मा के साथ जीव का तादात्म्य बतलाने की इच्छा से ही जीव का उपादान किया गया है, अर्थान्तर बतलाने की इच्छा से नहीं । और परमात्मविद्या में जीव-ब्रह्म के भेदाभेद के विचार का प्रसङ्ग नहीं आता है, ऐसा हम पहले कह आये हैं । अत: विस्तार के लिए ही यह प्रसङ्ग आया है और इसीलिए अधिक धर्म का उपसंहार दोनों ही मन्त्रों में करना चाहिए । दोनों ही स्थलों में तुल्यवस्तुद्वय के प्रत्यभिज्ञान का बाधक कोई नहीं दीखता और प्रकरण अनुग्राहक होने से सार्वजनीन अनुभवसिद्ध जीव का अनुवादकर संसारधर्म से अतीत परब्रह्म को बतलाने में मन्त्रद्वय का तात्पर्य है, यह सिद्ध हुआ ॥३४॥

२२. अन्तराधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में **'पिबन्तौ'** इस पद को लाक्षणिक मानकर दोनों ही मन्त्रों में भोक्ता और अभोक्ता अर्थ कर लेने से विद्या एक ही सिद्ध की गयी थी, पर यहाँ अर्थ का अभेद होने पर भी विद्या एक इसलिए नहीं मानी जायेगी क्योंकि पुनरावृत्ति देखी जाती है; इस प्रकार की प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

---

१. काठकेपि । २. ईजानानां यजमानानां कर्मिणां पापतरणार्थत्वात्सेतुरिव सेतुरित्यर्थः ।

(३६४) अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥३५॥

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३-४-१—३-५-१) इत्येवं द्विरु[1]षस्ति-कहोलप्रश्नयोर्नैरन्तर्येण वाजसनेयिनः समामनन्ति । तत्र संशयः—विद्यैकत्वं वा स्याद्विद्यानानात्वं वेति । किं तावत्प्राप्तम् ? विद्यानानात्वमिति, कुत ? अभ्याससामर्थ्यात् । अन्यथा ह्यन्यूनानतिरिक्तार्थं द्विराम्नानमनर्थकमेव स्यात् । तस्माद्यथाभ्यासात्कर्मभेद एवमभ्यासाद्विद्याभेद इति ।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—[2]अन्तराम्नानाविशेषात्स्वात्मनो विद्यैकत्वमिति । सर्वान्तरो हि

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः । घटादिकं चिद्विषयत्वेनापरोक्षम्, ब्रह्म तु साक्षादविषयत्वेनापरोक्षमिति, प्रथमार्थे पञ्चमी । अत्र श्रुतावा[3]त्मधर्मोऽपरोक्षत्वं ब्रह्मण्ययुक्तं, ब्रह्मधर्मः सर्वान्तरत्वमात्मन्युक्तं, तेन तयोरैक्यं दृढीकृतं मन्तव्यं, तन्मे व्याचक्ष्वेत्यु[4]षस्तिप्रश्ने याज्ञवल्क्येन प्राणादिप्रेरको दृष्ट्यादिसाक्षी प्रतिपादितः । तथैव 'यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्व' इति कहोलप्रश्नेऽशनायाद्यतीतः प्रतिपादितः । तत्र ब्राह्मणद्वयेऽपि प्रश्नादभ्यासात्सर्वान्तरत्वप्रत्यभिज्ञानाच्च संशये [5]मन्त्रयोर्वेद्यैक्यादस्तु विद्यैक्यं, इह तु ब्राह्मणयोर्वेद्यैक्येऽपि अभ्यासाद्विद्याभेदः, यजत्यभ्यासात्प्रयाजभेदवदिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षः, तत्र मिथो धर्मानुपसंहारः फलं, सिद्धान्ते तूपसंहार इति विवेकः ।

२. **विषय**—बृहदारण्यक के उषस्त और कहोल ब्राह्मण में प्रतिपादित विद्या के भेदाभेद पर इस अधिकरण में विचार किया गया है ।

३. **संशय**—क्या उषस्त और कहोल ब्राह्मण में प्रतिपादित विद्या एक है अथवा भिन्न है ?

४. **पूर्वपक्ष**—'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म', 'य आत्मा सर्वान्तरः' ऐसा दो बार पाठ एक ही वाजसनेय शाखा के उषस्त एवं कहोल ब्राह्मण में आया है, अतः पुनरुक्तिपरिहार के लिए इन दोनों स्थानों में विद्या भिन्न माननी चाहिए ।

५. **सिद्धान्त**—दोनों स्थानों में सर्वान्तरत्व समानरूप से कहा गया है, अतः वेद्यवस्तु का अभेद होने के कारण विद्या एक है । विशेष शङ्का की निवृत्ति के लिए दो बार पाठ वैसे ही किया गया है जैसे 'तत्त्वमसि' महावाक्य का पाठ नौ बार किया गया है ।

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः (ललिता)

'जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है' और 'जो सर्वान्तर आत्मा है' ऐसा बृहदारण्यक के उषस्त एवं कहोल के प्रश्नों में दो बार, एक के बाद दूसरा, एक जैसा पाठ मिलता है । वहाँ पर संशय होता है कि उक्त दोनों ब्राह्मणों में विद्या एक है अथवा भिन्न है । इस पर पूर्वपक्ष में कहा गया है कि विद्या भिन्न है क्योंकि प्रश्न की पुनरावृत्ति दीखती है । यदि भिन्न विद्या नहीं होती तो ज्यों का त्यों एक जैसा दो बार पाठ अनर्थक ही हो जाता । अतः अभ्यास के भेद से जिस प्रकार कर्म में भेद माना गया है ऐसे ही अभ्यास के कारण यहाँ पर विद्या में भेद ही मानना उचित है ।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त में कहा गया है कि अन्तरात्मा एक जैसा होने के कारण दोनों ब्राह्मण में एक ही विद्या है क्योंकि सर्वान्तर अपना स्वरूप दोनों ही स्थलों पर समान रूप से पूछा

१. उशस्त इति पाठः साधुः । २. पूर्वसूत्रस्थमामननादिति पदमिहानुषक्तमित्यंगीकृत्य स्वात्मनोऽन्तराम्नानाविशेषादित्युक्तं तदेव स्फुटयतिसर्वान्तरेति । ३. त्वं पदार्थधर्मः । ४. उषस्त इति पाठः । ५. द्वा सुपर्णा ऋतं पिबंतावित्यनयोः ।

(३९५) अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥३६॥

स्वात्मोभयत्राप्यविशिष्टः पृच्छ्यते च प्रत्युच्यते च । [1]नहि द्वावात्मानावेकस्मिन्देहे सर्वान्तरौ संभवतः । [2]तदा ह्येकस्याञ्जसं सर्वान्तरत्वमवकल्प्येत । एकस्य तु भूतग्रामवन्नैव सर्वान्तरत्वं स्यात् । यथा च पञ्चभूतसमूहे देहे पृथिव्या आपोऽन्तरा अद्भ्यस्तेजोऽन्तरमिति सत्यप्यापेक्षिकेऽन्तरत्वे नैव मुख्यं सर्वान्तरत्वं भवति तथेहापीत्यर्थः । अथ वा भूतग्रामवदिति श्रुत्यन्तरं निदर्शयति । यथा—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६-११) इत्यस्मिन्मन्त्रे समस्तेषु भूतग्रामेष्वेक एव सर्वान्तर आत्माम्नायते, एवमनयोरपि ब्राह्मणयोरित्यर्थः । तस्माद्वेद्यैकत्वाद्विद्यैकत्वमिति ॥३५॥

अथ यदुक्तमनभ्युपगम्यमाने विद्याभेदे आम्नानभेदानुपपत्तिरिति तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—नायं दोषः । उपदेशान्तरवदुपपत्तेः । यथा ताण्डिनामुपनिषदि षष्ठे प्रपाठके—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६-८-७) इति नवकृत्वोऽप्युपदेशे न विद्याभेदो भवत्येवमिहापि भविष्यति । कथं च नवकृत्वोऽप्युपदेशे विद्याभेदो न, भवति ? उपक्रमोप-

---

द्वयोः सर्वान्तरत्वानुपपत्त्या तावद्ब्राह्मणयोरेकवस्तुपरत्वं सिद्धम् । तथाच वेद्यैक्यान्निर्गुणविद्यैक्ये न विवादः ॥३५॥

ननु अन्यथा विद्यैक्याङ्गीकारे अभ्यासानुपपत्तिरिति चेदुच्यते—स एवाभ्यासः कर्मभेदको यो निरर्थकः, इह तूषस्तिब्राह्मणोक्तात्मन एवाशनायाद्यत्ययरूपविशेषकथनार्थत्वादभ्यासोऽन्यथासिद्धो न विद्याभेदक इति समुदायार्थः ॥३६॥

गया है और प्रतिउत्तर भी एक जैसा है । इसके अतिरिक्त एक शरीर में दो सर्वान्तर आत्मा का रहना सम्भव भी नहीं है, उस स्थिति में एक में मुख्य सर्वान्तरत्व की कल्पना करनो पड़ेगी और दूसरे में भूतग्राम की भाँति सर्वान्तरत्व गौण हो जायेगा । जैसे पञ्चभूतसमुदाय में पृथ्वी के भीतर जल और जल के भीतर तेज माना जाता है, इस प्रकार एक की अपेक्षा दूसरे को अन्तर मानने पर भी उनमें मुख्य सर्वान्तरत्व नहीं है, ऐसे ही यहाँ भी दोनों में मुख्य सर्वान्तरत्व नहीं माना जा सकता । अथवा '**भूतग्रामवत्**' इस वाक्य से सूत्रकार दूसरी श्रुति को दिखलाते हैं कि जिस प्रकार 'सभी भूतों में एक ही परमात्मदेव छिपा हुआ, सर्वव्यापक एवं सवभूतान्तरात्मा है', इस मन्त्र में समस्त भूतसमुदाय में एक ही सर्वान्तर आत्मा कहा जाता है, ऐसे ही उषस्त एवं कहोल ब्राह्मण में भी सर्वान्तर आत्मा एक ही बतलाना इष्ट है । इसलिए वेद्य के एक होने से दोनों में विद्या भी एक हो है ॥३५॥

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् (ललिता)

और जो आप ने कहा था कि विद्या का भेद न मानने पर पाठभेद असङ्गत हो जायेगा, इस आक्षेप का परिहार करना है । अतः इस पर हमें कहना है कि यह दोष नहीं है । जैसे ताण्डिब्राह्मण के उपनिषद् में षष्ठ प्रपाठ में '**स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो**' इस वाक्य के नौ बार उपदेश होने पर भी विद्या का भेद नहीं है, वैसे ही यहाँ पर भी अभ्यास के कारण विद्या में भेद नहीं

---

१. तथापि कथं ब्राह्मणयोरैक्यार्थ्यं तत्राह न हीति । २. द्वयोः सर्वान्तरत्वायुक्तं रुपेभ्य सिद्धे विद्यैक्यमित्यर्थः, कथं पुनर्द्वयोः सर्वान्तरत्वानुपपत्तिर्मनोमयत्वादिवदुपपत्तेस्तत्राह-तदाहीति ।

२३. व्यतिहाराधिकरणम् (सू० ३७)

व्यतिहारे स्वात्मरव्योरेकधा धीरुत द्विधा। वस्त्वैक्यादेकधैक्यस्य दार्ढ्याय व्यतिहारगीः।
ऐक्येऽपि व्यतिहारोक्त्या धीर्द्वेधेशस्य जीवता। युक्तोपास्त्यै वाचनिकी मूर्तिवद्दार्ढ्यमार्थिकम्॥

संहाराभ्यामेकार्थतावगमात्। 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' (छा० ६-५-४) इति चैकस्यैवार्थस्य पुनः पुनः प्रतिपिपादयिषितव्यत्वेनो पक्षेपात्? आशङ्कान्तरनिराकरणेन चासकृदुपदेशोपपत्तेः। एवमिहापि प्रश्नरूपाभेदात्। 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३-४-२–३-५-२) इति च परिसमाप्त्यविशेषादुपक्रमोपसंहारौ तावदेकार्थविषयौ दृश्येते। 'यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३-५-१) इति द्वितीये प्रश्न एवकार प्रयुञ्जानः पूर्वप्रश्नगतमेवार्थमुत्तरत्रानुकृष्यमाण दर्शयति। पूर्वस्मिंश्च ब्राह्मणे कार्यकरणव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः कथ्यते, उत्तरस्मिंस्तु तस्यैवाशनायादिसंसारधर्मातीतत्वं कथ्यते इत्येकार्थतोपपत्तिः। तस्मादेका विद्येति ॥३६॥

जायेगा। उपक्रम-उपसंहार से एकार्थता का बोध होने के कारण नौ बार उपदेश किये जाने पर भी जैसे छान्दोग्य में विद्या का भेद नहीं होता, वैसे ही **'भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु'** इस एकार्थक-वाक्य का पुनः पुनः प्रतिपादन करने के इच्छा से आक्षेप उठाकर अन्य शङ्काओं के निराकरणपूर्वक अनेक बार उपदेश करना युक्तियुक्त है। ऐसे ही यहाँ भी प्रश्नरूप के अभेद होने और **'अतोऽन्यदार्तम्'** (इस आत्मा से भिन्न सब तुच्छ हैं) इस परिसमाप्ति को समानता के कारण उपक्रम–उपसंहार एकार्थक देखे जाते हैं। **'यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'** इस दूसरे प्रश्न में भी एवकार का प्रयोग करते हुए पूर्वप्रश्नगत अर्थ का ही उत्तरप्रश्न में आकर्षण श्रुति बतलाती है। अन्तर इतना ही है कि पूर्व उषस्त ब्राह्मण में कार्य-कारण से भिन्न आत्मा का सद्भाव बतलाया गया है और तदुत्तर कहोल ब्राह्मण में उसी आत्मा को क्षुधा–पिपासादि संसारधर्म से अतीत कहा गया है, इस प्रकार दोनों में एकार्थता की सिद्धि होती है। अतएव विद्या एक है ॥३६॥

२३. व्यतिहाराधिकरण

१. **सङ्गति**—पिछले अधिकरण में विद्या के एक होने पर भी अभ्यास आदरार्थ बतलाया गया था। वैसे ही जीव एवं ईश्वर के परस्पर विशेषण-विशेष्यभावरूप व्यतिहार उपदेश आदरार्थ होने के कारण ऐतरेयक में विद्या एक माननी चाहिए। इस प्रकार दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. **विषय**—ऐतरेयक श्रुति में आये हुए व्यतिहार पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. **संशय**—**'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्'** ऐसा आदित्य पुरुष के प्रसङ्ग में पाठ मिलता है इससे यह संशय होता है कि यहाँ पर व्यतिहाररूपा मनोवृत्ति दो प्रकार की बनानी चाहिए अथवा एक ही प्रकार की?

४, **पूर्वपक्ष**—वस्तु अभिन्न होने के कारण एक प्रकार की ही मनोवृत्ति बनानी चाहिए, व्यतिहार तो केवल दृढ़ता के लिए कहा गया है।

---

१. स्थापनात्।

(३९६) व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥३७॥

यथा—'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्' इत्यादित्यपुरुषं प्रकृत्यैतरेयिणः समामनन्ति, तथा जाबालाः 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि' इति। तत्र संशयः—किमिह व्यतिहारेणोभयरूपा मतिः कर्तव्योतैकरूपैवेति। [1]एकरूपैवेति तावदाह। न ह्यत्रात्मन ईश्वरेणैकत्वं मुक्त्वान्यत्किंचिच्चिन्तयितव्यमस्ति। यदि चैवं चिन्तयितव्यो विशेषः परिकल्प्येत संसारिणश्चेश्वरात्मत्वमीश्वरस्य संसार्यात्मत्वमिति। तत्र संसारिणस्तावदीश्वरात्मत्व उत्कर्षो भवेदीश्वरस्य तु संसार्यात्मत्वे निकर्षः कृतः स्यात्। तस्मादैकरूप्यमेव मतेः। व्यतिहाराम्नायस्त्वेकत्वदृढीकारार्थ इति।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—व्यतिहारोऽयमाध्यानायाम्नायते। इतरवत्। यथेतरे गुणाः सर्वात्मत्वप्रभृतय आध्यानायाम्नायन्ते तद्वत्। तथाहि विशिंषन्ति समाम्नातार उभयोच्चारणेन [2]'त्वमहमस्म्यहं च त्वमसि' इति। [3]तच्चोभयरूपायां मतौ कर्तव्यायामर्थवद्भवति। अन्यथा

व्यतिहारः। जीवेशयोर्मिथो विशेषणविशेष्यभावो व्यतिहारः, [1]तस्य श्रुतत्वात्, उत्कृष्टदृष्टिर्निकृष्टे कृता फलवतीति न्यायाच्च संशये जीवे ईश्वरत्वमतिरेव कार्या उक्तन्यायात्, व्यतिहारश्रुतिस्तु तस्या एव दृढीकरणार्थत्वेनाभ्यासवदन्यथासिद्धेति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षः। तत्र लाघवं फलं, सिद्धान्ते तु श्रुत्यर्थवत्त्वमिति विवेकः।

एकेनैव त्वमहमस्मीत्युच्चारणेनैकत्वमतेः कृतत्वादहं त्वमसि इति वृथा स्यादित्यर्थः। उक्तदोषं

---

५. सिद्धान्त—वस्तु के एक होने पर भी व्यतिहारकथन होने से उपास्यविषयक बुद्धि दो प्रकार से करनी चाहिए। जैसे चतुर्भुज आदि मूर्तियों का चिन्तन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है, ऐसे ही यहाँ भी भिन्न प्रकार से चिन्तन करना चाहिए, दार्ढ्य तो अर्थतः सिद्ध हो जायेगा।

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् (ललिता)

आदित्य पुरुष का प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'जो मैं हूँ वही वह है और जो वह है वह मैं हूँ' इस वाक्य का पाठ ऐतरेय शाखावाले करते हैं। वैसे ही जाबाल शाखावाले 'भगवन! हे देवता! जो तू है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही तुम हो' ऐसा पढ़ते हैं। वहाँ पर संशय होता है कि जीव-ईश्वर के परस्पर विशेषण विशेष्यभावरूप (व्यतिहाररूपा) उभयप्रकार का बुद्धि करनी चाहिए अथवा एकरूपा ही करनी चाहिए। इस पर पूर्वपक्षी एकरूपा ही बुद्धि मानता है क्योंकि जीवात्मा के साथ ईश्वर के एकत्व को छोड़कर और कुछ भी चिन्तनयोग्य नहीं है। यदि चिन्तनीयविशेष की कल्पना करोगे तो संसारी जीव में ईश्वरात्मत्व और ईश्वर में संसारीरूपत्व आने पर, निःसन्देह संसारी जीव का ईश्वर मानने पर उसका उत्कर्ष बढ़ेगा, किन्तु ईश्वर को संसारी मानने पर ईश्वर में न्यूनता आ जायेगा; अतः एकरूपता ही बुद्धि में होनी चाहिए, व्यतिहार पाठ तो एकत्व को दृढ़ करने के लिए आया है।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती प्रत्युत्तर देता है कि यह व्यतिहार पाठ अच्छी प्रकार से ध्यान करने के लिए किया गया है। जैसे सर्वात्मत्वादि अन्य गुण ध्यान के लिए पढ़े जाते हैं वैसे ही व्यतिहार पाठ भी ध्यान के लिए करते हैं। वेद के विद्वान् दोनों ही प्रकार से उच्चारणपूर्वक 'त्वमहमस्म्यहं च

---

१. त्वमहमस्मीत्येवरूपैव नान्मा। २. विशेषेणोभयाम्नानम्। ३. व्यतिहारस्य।

२४. सत्याद्यधिकरणम् (सू० ३८)

द्वे सत्यविद्ये एका वा यक्षरव्यादिवाक्ययोः । फलभेदादुभे लोकजयात्पापहतेः पृथक् ।
प्रकृताकर्षणादेका पापघातोऽङ्गधीफलम् । अर्थवादोऽथवा मुख्यो युक्तोऽधिकृतिकल्पकः ।।

हीदं विशेषेणोभयाम्नानमनर्थकं स्यात् । एकेनैव कृतत्वात् । ननूभयाम्नानस्यार्थविशेषे परिकल्प्यमाने देवतायाः संसार्यात्मत्वापत्तेर्निकर्षः प्रसज्येतेत्युक्तम् । नैष दोषः । ऐकात्म्यस्यैवानेन प्रकारेणानुचिन्त्यमानत्वात् । नन्वेवं सति स एवैकत्वदृढीकार आपद्येत । न वयमेकत्वदृढीकारं वारयामः किं तर्हि व्यतिहारेणेह द्विरूपा मतिः कर्तव्या वचनप्रामाण्यान्नैकरूपेत्येतावदुपपादयामः । फलतस्त्वेकत्वमपि दृढीभवति । यथाध्यानार्थेऽपि सत्यकामादिगुणोपदेशे तद्गुण ईश्वरः प्रसिध्यति तद्वत् । तस्मादयमाध्यातव्यो व्यतिहारः समाने च विषय उपसंहर्तव्यो भवतीति ।।३७।।

स्मारयति— नन्विति । संदिग्धेऽयं न्यायः सावकाशः, इह तु श्रुतत्वादन्योन्यात्मत्वं ध्येयं, **ब्रह्मणि मनोमयत्वादिवज्जीवात्मत्वस्य ध्यानार्थमारोपेऽपि निकर्षप्रसक्त्यभावादिति परिहरति**— नैष दोष इति । **ब्रह्मणि निकर्षं हित्वा जीवतादात्म्यध्याने मदुक्तमेवागतमिति शङ्कते**—नन्वेवमिति । **मतेर्द्विरूपत्वं त्वदनुक्तमस्माभिरुच्यते ध्यानपरं वाक्यमिदमेकत्वं तु मानान्तराविरोधात्सिध्यतीति समाधत्ते**— न वयमिति । **अहंग्रहोपास्तिष्वयं व्यतिहार उपसंहर्तव्य इत्याह**— तस्मादिति ।।३७।।

त्वमसि' ऐसा विशेषण लगाया करते हैं। यह पाठ उभयरूपा बुद्धिवृत्ति करने पर ही सार्थक होता है, अन्यथा विशेषरूप से यह पाठ जो किया गया है वह अनर्थक हो जायेगा क्योंकि एक प्रकार के चिन्तन से ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। शङ्का—उभयपाठ का प्रयोजनविशेष मानने पर देवता में संसारीरूपत्व आ जाने के कारण न्यूनता आ जायेगी, ऐसा हमने कहा था। समाधान—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि इस प्रकरण द्वारा एकात्मता का ही चिन्तन बतलाया गया है। शङ्का—तब तो वही एकत्व दृढ़ करना प्रयोजन आप ने भी बतलाया । समाधान—हम एकत्वदृढ़करण प्रयोजन का निषेध नहीं करते हैं; किन्तु व्यतिहाररूप से ही वचन प्रमाण के आधार पर द्विरूपा बुद्धि करनी चाहिए, एकरूपा नहीं, ऐसा हम बतलाते हैं । फलतः एकत्व भी दृढ़ होता है। जैसे ध्यान के लिए सत्यकामत्वादि गुणों का उपदेश करने पर भी उन गुणों से प्रसिद्ध ईश्वर हो जाता है वैसे ही दो प्रकार से बुद्धि बनाने पर भी जीव-ईश्वर में एकत्व दृढ़ होती ही है। अतः अहंग्रह उपासनाओं में पढ़ा गया यह व्यतिहार जो ध्यातव्य है उसका उपसंहार करना ही चाहिए ।।३७।।

२४. सत्याद्यधिकरण

१. **सङ्गति**—पिछले अधिकरण में जीव-ब्रह्म के व्यतिहार के उपदेशभेद के कारण दो प्रकार की मनोवृत्ति बनाने के लिए कहा था, ऐसे ही यहाँ भी '**जयतीमाँल्लोकान्**' और '**हन्ति पाप्मानम्**' इन श्रुतियों में लोकजय और पापहननरूप फलकथन से विद्या में भेद सिद्ध होता है; इस प्रकार दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. **विषय**—अधिदैव और अध्यात्म स्थल के भेद से सत्यविद्या के भेदाभेद पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

(३९७) सैव हि सत्यादयः ॥३८॥

'स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमज वेद सत्यं ब्रह्म' (बृ० ५-४-१) इत्यादिना वाजसनेयके सत्यविद्यां [1]सनामाक्षरोपासनां विधायानन्तरमाम्नायते—'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० ५-५-२) इत्यादि । तत्र संशयः—किं द्वे एते सत्यविद्ये किंवैकंवेति । द्वे इति तावत्प्राप्तम् । भेदेन हि फलसंयोगो भवति 'जयतीमाँल्लोकान्' (बृ० ५-४-१) इति पुरस्तात् 'हन्ति पाप्मानं जहाति च' (बृ० ५-५-३-४) इत्युपरिष्टात् । प्रकृताकर्षणं तूपास्यैकत्वादिति ।

सैव हि सत्यादयः । स यः कश्चिदधिकारी महद्व्यापकं यक्षं पूज्यं भौतिकेषु प्रथमजमेतत्सच्च तत्त्यच्चेति सत्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं वेदोपास्ते तस्य लोकजयः फलमित्यर्थः । सत्यमिति नाम त्र्यक्षरं सत्यमिति, तत्र प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं, मध्यस्थमक्षरमनृतमुभयतः सत्येन संपुटितत्वात्सत्यप्रायमेव भवतीति नामाक्षरोपासना सत्यविद्याङ्गत्वेनोक्ता । यत्तत्पूर्वप्रकृतं हृदयाख्यं तत्संप्रयुक्तयक्षत्वादिगुणकं, सोऽसावादित्यमण्डलेऽक्षिणि च पुरुषस्तस्याहरित्यहमिति च नामद्वयज्ञानात्पापक्षयः फलमित्यर्थः । अत्र पूर्वोत्तरवाक्ययोः फलभेदश्रुतेः प्रकृताकर्षणाच्च संशयमाह—तत्रेति । पूर्वपक्षे गुणानां व्यवस्थयानुष्ठानं, सिद्धान्ते त्वनुष्ठानैक्यमिति फलम् । यथा जीवेशयोरन्योऽन्यात्मत्व प्रति[2]श्रुतिभेदाद्वैरूप्यमुक्तं, तथात्र फलश्रुतिभेदाद्विद्याभेद इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—द्वे इति ।

---

३. **संशय**—वाजसनेयक में सत्यविद्या विधान के पश्चात् आदित्य मण्डल और दक्षिण नेत्र में जिस सत्यपुरुष की उपासना कही गयी है, इन दोनों स्थलों में उपास्य सत्यपुरुष एक है अथवा भिन्न है ?

४. **पूर्वपक्ष**—फलभेद के कारण विद्या भिन्न माननी पड़ेगी, चाहे उपास्य एक ही हो ।

५. **सिद्धान्त**—सत्यविद्या एक ही है क्योंकि उपास्य हिरण्यगर्भ दोनों स्थानों में अभिन्न है, फलभेद तो अङ्गोपासना का है उसे अर्थवाद भी माना जा सकता है, मुख्य फल हिरण्यगर्भ की प्राप्ति है, वह एक ही है । अतः सत्यविद्या एक होने के कारण सत्यादि गुणों का उपसंहार एक ही सत्यब्रह्म में करना चाहिए ।

सैव हि सत्यादयः (ललिता)

'वह जो कोई अधिकारी भौतिकों में प्रथम उत्पन्न व्यापक अजन्मा पुरुष की उपासना सत्य ब्रह्म इस रूप में करता है' इस वाक्य से वाजसनेयक में नामाक्षरसहित सत्यविद्या का विधानकर बाद में पढ़ते हैं कि 'जो वह सत्य है वह आदित्य है, जो आदित्य मण्डल में पुरुष है और जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है ।' वहाँ पर संशय होता है कि ये सत्य विद्यायें दो हैं अथवा एक ही है । इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि फलसम्बन्ध भिन्न होने के कारण यह विद्या दो है । 'वह इन लोकों पर विजय प्राप्त करता है' ऐसा पहले कहा गया है और बाद में कहा है कि 'जो इस प्रकार उपासना करता है वह पाप को छोड़ देता है ।' यहाँ पर प्रसङ्गागत पदार्थ का आकर्षण उपास्य की एकता के कारण से किया गया है । अतः विद्या भिन्न है ।

---

१. नामघटकाक्षरोपासनाविशिष्टाम् । २. श्रवण ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—एकैवेयं सत्यविद्येति । कुतः ?—'तद्यत्तत्सत्यम्' (बृ० ५-५-२) इति प्रकृताकर्षणात् । ननु विद्याभेदेऽपि प्रकृताकर्षणमुपास्यैकत्वाद्युपपद्यत इत्युक्तम् । नैतदेवम् । यत्र नु विस्पष्टात्कारणान्तराद्विद्याभेदः प्रतीयते तत्रैतदेवं स्यात् । अत्र तूभयथा संभवे तद्यत्तत्सत्यमिति प्रकृताकर्षणात्पूर्वविद्यासंबद्धमेव सत्यमुत्तरत्राकृष्यत इत्येकविद्यात्वनिश्चयः । यत्पुनरुक्तं फलान्तरश्रवणाद्विद्यान्तरमिति । अत्रोच्यते—तस्योपनिषदहरहमिति चाङ्गान्तरोपदेशस्य स्तावकत्वमिदं फलान्तरश्रवणमित्यदोषः । अपि चार्थवादादेव फले कल्पयितव्ये सति विद्यैकत्वे चावयवेषु श्रूयमाणानि बहून्यपि फलान्यवयविन्यामेव विद्यायामुपसंहर्तव्यानि भवन्ति । तस्मात्सैवेयमेका सत्यविद्या तेन तेन विशेषेणोपेताऽऽम्नायतेत्यतः सर्व एव सत्यादयो गुणा एकस्मिन्नेव प्रयोगे उपसंहर्तव्याः ।

विशेष्यब्रह्ममात्राकर्षणमयुक्तं, तद्यत्तदिति सर्वनामभिः पूर्वोक्तगुणविशिष्टं ब्रह्म आकृष्यादित्याक्षिस्थानादिगुणविधानात्, तथाच वाक्यादेव विद्यैक्यसिद्धिरिति सिद्धान्तयति—एकैवेति । यथा दहरशाण्डिल्यविद्ययोर्ब्रह्मैक्यप्रत्यभिज्ञानमात्रं तथात्र नेत्याह—नैतदिति । कारणान्तरं प्रकरणभेदादिकम् । एवं विद्याभेदेऽप्येतदुपास्यैक्यज्ञानं स्यादत्र तूभयथा संभवे विद्यैक्यनानात्वसंशये सत्यमित्युपास्यरूपैक्यज्ञानाद्विद्यैक्यनिश्चय इत्यक्षरार्थः । असत्यपवादकारणे रूपैक्याद्विद्यैक्योत्सर्गसिद्धिर्न च फलभेदादपवादः । अङ्गफलश्रुतेः स्तुतिमात्रतया फलभेदासिद्धिरित्याह—यत्पुनरित्यादिना । किंच यत्र प्रधानविधावेवंकाम इति फलं श्रुतं, तत्र प्रधानफलेनैवाङ्गानां फलाकांङ्क्षानिवृत्तेरङ्गे फलश्रुतेः स्तुतिमात्रत्वं, इह तु प्रथमजं सत्यं ब्रह्मेति वेदेति प्रधानविद्याविधिस्थत्वं लोकजयफलस्याभ्युपेत्यास्माभिर्नामरूपाङ्गस्य फलश्रुतेः स्तुतित्वमुक्तम् । वस्तुतस्तु प्रधानविधावप्येवंकामपदाभावाद्रात्रिसत्रन्यायेन फले कल्पनीये सति प्रधाने तदङ्गे वा यत्किंचित्फलं श्रुतं तस्य सर्वस्यापि श्रुतत्वाविशेषाज्जातेष्टिफलन्यायेन समुच्चित्यैकप्रधानफलत्वकल्पनात्फलभेदोऽसिद्ध इत्याह—अपिचेति । सूत्रं योजयति—तस्मादिति ।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि यह सत्यविद्या एक ही है क्योंकि 'जो वह सत्य है' इस वाक्य द्वारा प्रकृत पदार्थ का ही आकर्षण किया गया है । शङ्का—विद्या में भेद मानने पर भी उपास्य की एकता के कारण प्रकृत पदार्थ का आकर्षण उचित है, ऐसा हमने कहा था । समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि विस्पष्ट कारणान्तर से जहाँ विद्या में भेद भासता है वहाँ ऐसा ही होता है किन्तु जहाँ उभयथा सम्भव है वहाँ पर 'तद्यत्तत्सत्यम्' इस वाक्य द्वारा प्रकृत आकर्षण से विद्यासम्बद्ध सत्य का ही आगे आकर्षण होता है, इससे विद्या में एकत्व निश्चित होता है । और जो आपने कहा था कि फलान्तरश्रवण होने के कारण विद्या भिन्न है, उस पर हमारा कहना है कि 'उस पुरुष का रहस्यमय नाम अहः और अहम् है' इस अङ्गान्तर का उपदेश स्तावकमात्र है जो फलान्तर के रूप में सुना जाता है, अतः यह कोई दोष नहीं है । इसके अतिरिक्त अर्थवाद के आधार पर ही फल की कल्पना करने पर विद्यैकत्व की सिद्धि होती है, उस स्थिति में अवयव में सुने गये अनेकों फल अवयवी विद्या में ही उपसंहार के योग्य मानते हैं । अतः वही एक सत्यविद्या है जिसे भिन्न-भिन्न विशेषणों से युक्त बतलाया गया है, इसलिए सभी सत्यादि गुणों का उपसंहार एक प्रयोग में कर लेना चाहिए ।

---

१. दहरशाण्डिल्यविद्ययोरिव । २. विशिष्टाकर्षणं विशेष्यब्रह्ममात्राकर्षणमित्युभयथा । ३. महद्यक्षत्वादि । ४. अनुष्ठाने । ५. महद्यक्षत्वादि । ६. अपवादकारणम् । ७. अहरहमितिनामात्मकांगस्येत्यर्थः ।

२५. कामाद्यधिकाराधिकरणम् (सू० ३९)

असंहृतिः संहृतिर्वा व्योम्नोर्दहरहार्दयोः उपास्यज्ञेयभेदेन तद्गुणानामसंहृतिः ।
उपास्त्यै क्वचिदन्यत्र स्तुतये चास्तु संहृतिः । दहराकाश आत्मैव हृदाकाशोऽपि नेतरः ॥

केचित्पुनरस्मिन्सूत्र इदं च वाजसनेयकमक्ष्यादित्यपुरुषविषयं वाक्यं, छान्दोग्ये च— 'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १-६-६) अथ 'य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ४-१५-१) इत्युदाहृत्य सैवेयमक्ष्यादित्यपुरुषविषया विद्योभयत्रैकवेति कृत्वा सत्यादीन्गुणान्वाजसनेयिभ्यश्छन्दोगानामुपसंहार्यान्मन्यन्ते । तन्न साधु लक्ष्यते । छान्दोग्ये हि ज्योतिष्टोमकर्मसम्बन्धिनीयमुद्गीथव्यपाश्रया विद्या विज्ञायते । तत्र ह्यादि-मध्यावसानेषु हि कर्मसम्बन्धिचिह्नानि भवन्ति 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १-६-१) इत्यु-पक्रमे, 'तस्यर्क् च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथः' (छा० १-६-८) इति मध्ये, 'य एवं विद्वान्साम गायति' (छा० १-७-९) इत्युपसंहारे । नैवं वाजसनेयके किंचित्कर्मसम्बन्धि चिह्नमस्ति । तत्र प्रक्रमभेदाद्विद्याभेदे सति गुणव्यवस्थैव युक्तेति ॥३८॥

एकदेशिव्याख्यामुद्भाव्य दूषयति—केचिदित्यादिना । छान्दोग्ये कर्माङ्गोद्गीथे हिरण्मयपुरुष-दृष्टिरित्यत्र लिङ्गमाह—तत्रेति । पृथिव्यग्न्यात्मना दृष्टे ऋक्सामे गेष्णौ, तस्मादृक्सामगेष्णत्वात्, पुरुष उद्गीथ इत्येवं विद्वानुद्गाता कर्मफलसमृद्धिसमर्थ इति श्रुत्यर्थः । सत्यविद्या तु न कर्माङ्गाश्रितेत्याह —नैवमिति । अङ्गविद्यातः स्वतन्त्रहिरण्यगर्भविद्याया भेदान्न गुणोपसंहार इत्यर्थः ॥३८॥

कुछ एकदेशी एकसूत्र में अक्षि और आदित्य पुरुषविषयक वाजसनेक वाक्य और छान्दोग्य में 'जो आदित्य के भीतर हिरण्मय पुरुष दिखाई पड़ता है' और 'जो नेत्र में यह पुरुष दीखता है' इत्यादि का उदाहरण देकर वही यह नेत्र और आदित्य पुरुषविषयक विद्या उभयत्र एक ही है, ऐसा मानकर वाजसनेयियों के सत्यादि गुणों को छन्दोग शाखावालों के लिए उपसंहार के योग्य मानते हैं। पर यह ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि छान्दोग्य में ज्योतिष्टोमकर्मसम्बन्धी उद्गीथाश्रित यह विद्या जान पड़ती है, वहाँ आदि, मध्य और अन्त में—'यह पृथ्वी ऋक् है और अग्नि साम है' ऐसा प्रारम्भ में 'उसके ऋक् और साम पूर्व हैं इसलिए वह उद्गीथ है' ऐसा मध्य में और 'जो इस प्रकार जानकर सामगान करता है' ऐसा अन्त में—कर्मसम्बन्धी चिह्न दीखते हैं, किन्तु वाजसनेयक में कोई कर्मसम्बन्धी चिह्न नहीं दीखते। इसीलिए वहाँ पर प्रक्रमभेद के कारण विद्या में भेद सिद्ध हो जाने पर गुणों की व्यवस्था मानना उचित ही है ॥३८॥

२५. कामाद्यधिकाराधिकरण

सङ्गति—पिछले अधिकरण में '**यद्यत्तत्सत्यम्**' इस वाक्य द्वारा प्रसङ्गागत पदार्थ का आकर्षण होने से उपास्यरूप का अभेद सिद्ध हुआ था, इसीलिए अधिदैव एवं अध्यात्म मण्डल में सत्यादि गुणों का उपसंहार कहा गया है; किन्तु यहाँ पर कहीं-कहीं आकाश को उपास्य कहा और कहीं आकाशा-श्रित को ज्ञेय बतलाया गया है। इस प्रकार उपास्य के रूप भिन्न होने से गुणों का उपसंहार अभीष्ट नहीं है, ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति पूर्व अधिकरण के साथ इसकी है।

२. **विषय**—आकाश एवं तदाश्रित विद्या के वेद्यवस्तु पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

(३६०) कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥३६॥

'अथ यदिदमस्मिन्[1]ब्रह्मपुरे [2]दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः'(छा० ८-१-१) इति प्रस्तुत्य छन्दोगा अधीयते—'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८-१-४) इत्यादि । तथा वाजसनेयिनः 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः [3]प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्त-स्मिञ्छेते सर्वस्य वशी' (बृ० ४-४-२२) इत्यादि । तत्र विद्यैकत्वं परस्परगुणयोगश्च किं वा नेति संशये विद्यैकत्वमिति ।

कामादीतरत्र । [4]सगुणनिर्गुणविद्ययोः श्रुताः सत्यकामादयो वशित्वादयश्च गुणा मिथ उपसंहर्तव्या न वेत्युपसंहारस्य फलभावाभावाभ्यां संदेहे सत्यविद्याया एकत्वाद्गुणसांकर्येऽप्यत्र विद्ययोः सगुणनिर्गुण-

---

३. संशय—छान्दोग्य की दहर विद्या में अपहतपाप्मत्वादि गुण पढ़े गये हैं और वाजसनेय के हार्दविद्या में सर्ववशित्वादि गुण पढ़े गये हैं, इन दोनों स्थलों में हार्दविद्या भिन्न है अथवा अभिन्न है ? अभिन्न होने पर भी गुणों का उपसंहार होना चाहिए अथवा नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—उक्त दोनों श्रुतियों में विद्या भिन्न होने के कारण गुणों का उपसंहार नहीं होना चाहिए क्योंकि एकत्र दहराकाश उपास्य है और अन्यत्र हार्दब्रह्म ज्ञेय है ।

५. सिद्धान्त—छान्दोग्य में पठित सत्यकामत्वादि गुणों का वाजसनेयक में और वाजसनेयक में पढ़े गये सर्ववशित्वादि गुणों का उपसंहार करना चाहिए क्योंकि हृदय आयतन, वेद्यवस्तु ब्रह्म, ब्रह्म का सेतुत्व और लोकासम्भेदरूप प्रयोजन इत्यादि दोनों स्थलों पर समानरूप से देखे जाते हैं । एकत्र सगुण उपासना और अन्यत्र निर्गुण उपासना का भेद होने पर भी यहाँ पर विद्या में भेद नहीं है क्योंकि गुणों का उपसंहार यहाँ उपासना के लिए नहीं अपितु स्तुति के लिये कह रहे हैं ।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः

'इस मानवदेहरूप ब्रह्मपुर में एक छोटा सा हृदयकमल स्थान है, उसमें एक छोटा सा आकाश है' ऐसा प्रसङ्ग प्रारम्भ करके छन्दोग शाखावालों ने उसमें 'यह आत्मा निष्पाप, जरारहित, मृत्युरहित, शोकशून्य, क्षुधापिपासा से मुक्त, सत्यकाम एवं सत्यसंकल्प है' इस वाक्य के द्वारा सत्यकामादि गुण बतलाया है । वैसे ही वाजसनेयी शाखावाले 'निःसन्देह वही यह आत्मा महान् अजन्मा है जो प्राणों के मध्य विज्ञानमय है, यह हृदय के भीतर जो आकाश है उसमें सोता है, वह सबको अपने आधीन किये बैठा है' इस वाक्य द्वारा वशित्वादि गुण उस हृदयस्थ आकाश के बतलाये गये हैं । वहाँ पर संशय होता है कि क्या दोनों ही स्थलों में एक विद्या है और इनके गुणों का परस्पर सम्बन्ध होता है अथवा भिन्न है और गुणों का उपसंहार नहीं होता । इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि एक स्थल पर दहराकाश उपास्य है और अन्यत्र हार्दब्रह्म ज्ञेय हैं अतः विद्या भिन्न होने के कारण परस्पर गुणों का उपसंहार नहीं करना चाहिए ।

---

१. शरीरे । २. अल्पम् । ३. प्राणव्यतिरिक्तः । ४. सगुणा छांदोग्यस्था: निर्गुणा अन्या ।

तत्रेवमुच्यते—कामादीति सत्यकामादीत्यर्थः । यथा देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेति । यदेतच्छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य सत्यकामत्वादिगुणजातमुपलभ्यते तदितरत्र वाजसनेयके 'स वा एष महानज आत्मा' इत्यत्र संबध्येत । यच्च वाजसनेयके वशित्वाद्युपलभ्यते तदपीतरत्र च्छान्दोग्ये 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८-१-५) इत्यत्र सबध्यते । कुतः ?—आयतनादिसामान्यात् । समानं ह्युभयत्राऽपि हृदयमायतनं समानश्च वेद्य ईश्वरः, समानं च तस्य सेतुत्वं लोकासंभेदप्रयोजनमित्येवमादि बहुतरं सामान्यं दृश्यते । ननु विशेषोऽपि दृश्यते छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य गुणयोगो वाजसनेयके त्वाकाशाश्रयस्य ब्रह्मणः, इति । न, 'दहर उत्तरेभ्यः' (ब्र० सू० १-३-१४), इत्यत्र च्छान्दोग्येऽप्याकाशशब्दं ब्रह्मैवेति प्रतिष्ठापितत्वात् । अयं त्वत्र विद्यते विशेषः, सगुणा हि ब्रह्मविद्या छान्दोग्ये उपदिश्यते 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान्' (छा० ८-१-६) इत्यात्मवत्कामानामपि वेद्यत्वश्रवणात् । वाजसनेयके तु निर्गुणमेव परं ब्रह्मोपदिश्यमानं दृश्यते 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि' (बृ० ४-३-१४), 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४-३-१५) इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनसमन्वयात् । वशित्वादि तु तत्स्तुत्यर्थमेव गुणजातं वाजसनेयके संकीर्त्यते । तथा चोपरिष्टात् 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३-९-२६) इत्यादिना निर्गुण-

---

रूपभेदेन भेदान्निर्गुणविद्यायां गुणोपसंहारस्य फलाभावाच्चानुपसंहार इति बहिरेव प्राप्ते सिद्धान्तयति—तत्रेदमित्यादिना । एवं विद्याभेदे स्फुटे कथं गुणोपसंहारः, तत्राह—

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि दोनों ही स्थलों में एक ही विद्या है। श्रुति में आये हुये सत्यकामादि के लिए सूत्र में कामादि शब्द का प्रयोग उसी प्रकार किया गया है जैसे लोक में देवदत्त को दत्त और सत्यभामा को भामा भी कहते हैं। अतः छान्दोग्य में हृदयाकाश के लिए जो सत्यकामत्वादि गुणसमुदाय दीखते हैं उनका उपसंहार **'स वा एष महानज आत्मा'** इस बृहदारण्यक में कहे गये आत्मा के साथ होता है । और जो वाजसनेयक में वशित्वादि गुण दीखते हैं उनका सम्बन्ध **'एष आत्माऽपहतपाप्मा'** इस छान्दोग्य में कही गयी विद्या के साथ होता है क्योंकि आयतन आदि समान ही दोनों स्थलों में दीख पड़ते हैं। दोनों ही उपनिषदों में हृदय आयतन एक जैसा कहा गया है और वेद्य ईश्वर भी समान ही है, उसे लोक मर्यादा की रक्षारूप प्रयोजनवाला होने के कारण सेतु भी कहा गया है; ऐसे ही अनेकों सादृश्य दोनों में दीखते हैं। शङ्का—छान्दोग्य में हृदयाकाश के लिए कुछ विशेष गुणयोग भी दीखता है, वैसे ही बृहदारण्यक के आकाशाश्रय ब्रह्म में भी कुछ विशेष गुण दिखाई पड़ते हैं; अतः दोनों में सर्वथा सादृश्य नहीं है । समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं क्योंकि **'दहर उत्तरेभ्यः'** इस सूत्र की व्याख्या में सिद्धान्त किया गया है कि छान्दोग्य में भी आकाश शब्द ब्रह्मवाचक ही है। किन्तु यहाँ पर यह भेद अवश्य है कि छान्दोग्य में सगुण ब्रह्मविद्या का उपदेश है, उसमें 'जो इस मानवशरीर में आत्मा को तथा इन सत्यकामनाओं को जानकर परलोकगामी होते हैं' इस वाक्य द्वारा आत्मा की भाँति कामादि में भी वेद्यत्व सुना जाता है; किन्तु वाजसनेयक में निर्गुण परब्रह्म का ही उपदेश है, वहाँ पर 'इसके आगे मोक्ष के लिए ही आप हमें पुनः उपदेश करें' 'क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है' इत्यादि प्रश्नोत्तर का समन्वय होने के कारण वशित्वादि गुणसमुदाय बृहदारण्यक में इस निर्गुण विद्या की स्तुति के लिए ही कहे गये हैं। इसीलिए **'स एष नेति नेत्यात्मा'** इत्यादि वाक्य द्वारा निर्गुण ब्रह्म में ही उपसंहार किया गया है। उस निर्गुण और सगुण ब्रह्म का

२६. आदराधिकरणम् (सू० ४४)

(३६६) आदरादलोपः ॥४०॥

न लुप्यते लुप्यते वा प्राणाहुतिरभोजने । न लुप्यतेऽतिथेः पूर्वं भुञ्जीतेत्यादरोक्तितः ।
भुज्यर्थान्नोपजीवित्वात्तल्लोपे लोप इष्यते । भुक्तिपक्षे पूर्वभुक्त्यादरोऽप्युपपद्यते ॥

मेव ब्रह्मोपसंहरति । गुणवतस्तु ब्रह्मण एकत्वाद्विभूतिप्रदर्शनायायं गुणोपसंहारः सूत्रितो नोपासनायेति द्रष्टव्यम् ॥३६॥

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रकृत्य श्रूयते—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहा' (छा० ५-१६-१) इत्यादि । तत्र पञ्च

गुणवतस्त्विति । भिन्नविद्यास्थानामपि गुणानामायतनादिसाम्येन निर्गुणस्थले बुद्धिस्थानां स्तुत्यर्थमुपसंहारो युक्तः, ज्ञानस्तुतिप्रकर्षस्याकाङ्क्षितत्वात्, यत्र क्वचिद्दृष्टगुणैः स्तुतेः कर्तुं योग्यत्वात् । यद्यपि सगुणस्थसत्यकामादिषु निर्गुणस्थगुणा अन्तर्भूता एव तथापि नोपसंहारोक्तेर्वैयर्थ्यं निर्गुणस्तावकत्वेन श्रुतगुणानामन्यत्राप्यध्येयत्वमिति शङ्कानिरासेनान्तर्भावदार्ढ्यार्थत्वादित्यनवद्यम् ॥३६॥

एकत्व होने के कारण निर्गुण ब्रह्मविद्या में विभूतिप्रदर्शन के लिए यह गुणोपसंहार बतलाया गया है, उपासना के लिए नहीं, ऐसा समझना चाहिए ॥३६॥

२६. आदराधिकरण

१. **सङ्गति**—जैसे पिछले अधिकरण में सगुण और निर्गुण विद्या का भेद होने पर भी गुणोपसंहार स्तुति के लिये कहा गया था, वैसे ही भोजन के लोप होने पर भी पूर्वभोजन की स्तुति के लिए प्राणाग्निहोत्र का अलोप मानना चाहिए; इस प्रकार पूर्व के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. **विषय**—प्राणाग्निहोत्र के लोप एवं अलोप का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. **संशय**—छान्दोग्य की वैश्वानर विद्या में प्राणाग्निहोत्र सुना जाता है, क्या भोजन के लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप होता है अथवा नहीं होता है ?

पूर्वपक्ष—**'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्'** इस श्रुति में अतिथि भोजन से पूर्व अग्निहोत्र का विधान होने के कारण भोजन के लोप होने पर भी प्राणाग्निहोत्र का लोप नहीं होना चाहिए।

५. **सिद्धान्त**—**'तद्यद्भक्तं प्रथमागच्छेत् तद्धोमीयम्'** इस श्रुति से भोजन के निमित्त उपस्थित भात से ही प्राणाग्निहोत्र बतलाया गया है, अतः किसी कारण से भोजन का लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप ही रहेगा। भोजन पक्ष में आदरवचन प्राणाग्निहोत्र के प्राथम्यविधान के लिए कहा गया है ।

आदरादलोपः (ललिता)

छान्दोग्य में वैश्वानर विद्या का प्रसङ्ग प्रारम्भकर सुना जाता है कि 'भोजन के समय जो अन्न पहले आवे उसका हवन करें। वह भोक्ता जो प्रथम आहुति देवे तो उसे, **प्राणाय स्वाहा**, इस मन्त्र को बोलकर मुख में अन्न डालना चाहिए।' इस वाक्य द्वारा वहाँ पर पञ्च प्राणाहुतियों का विधान है

प्राणाहुतयो विहिताः । तासु च परस्तादग्निहोत्रशब्दः प्रयुक्तः 'य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति' (छा० ५-२४-२) इति, 'यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते । एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते' (छा० ५-२४-५) इति च । तत्रेदं विचार्यते—किं भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्योतालोपः इति । तद्यद्भक्तमिति भक्तागमनसंयोगश्रवणाद्भक्तागमनस्य च भोजनार्थत्वाद्भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्येति । एवं प्राप्ते न लुप्येतेति तावदाह । कस्मात् ? आदरात् । तथाहि वैश्वानरविद्यायामेव जाबालानां श्रुतिः 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात् । यथा ह वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुयादेवं तत्' इत्यतिथिभोजनस्य प्राथम्यं निन्दित्वा स्वामिभोजनं प्रथमं प्रापयन्ती प्राणाग्निहोत्रे आदरं करोति । या हि न प्राथम्यलोपं सहते नतरां सा प्राथम्यवतोऽग्निहोत्रस्यलोपं सहेतेति मन्यते । ननु

आदरादलोपः । अत्र **यच्छब्दाग्निहोत्रशब्दाभ्यां संशयमाह**—तत्रेदं विचार्यत इति । **वैश्वानरोपासकेनातिथिभोजनात्प्राक्कार्यत्वेन विद्याङ्गप्राणाग्निहोत्रविचारात्पादसंगतिः । पूर्वपक्षे भोजनलोपेऽपि द्रव्यान्तरेण प्राणाग्निहोत्रानुष्ठानं, सिद्धान्ते तल्लोप इति भेदः । ननु यद्भक्तमिति यच्छब्देन भोजनाक्षिप्तं भक्तमनूद्य तद्धोमीयमिति** [1]**होमसंयोगविधानादाक्षेपकभोजनलोपे तदाक्षिप्तभक्ताश्रितहोमलोप इति सिद्धान्ती शङ्कते**—तद्यदिति । **निर्गुणस्योपास्तिलोपेऽपि स्तुत्यर्थगुणस्येर्यवद्भोजनलोपेऽपि प्राणाग्निहोत्रस्यादरेण स्तुतिनिर्वाहार्थमलोप इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षसूत्रेण परिहरति**—एवं प्राप्त इति । **एवं तदिति स्वयं प्राणाग्निहोत्रमकृत्वातिथीनां तत्करणमित्यर्थः । उक्तं स्मारयित्वा परिहरति**—नन्वित्यादिना । **यथा कुण्डपायिसत्रगते मासाग्नि**[3]**होत्रेऽग्निहोत्रशब्दाद्गौणान्नित्याग्नि**[4]**होत्रवाचकान्नित्या-**

और आगे चलकर इन पञ्च प्राणाहुतियों को 'जो इसे इस प्रकार जानने वाला अग्निहोत्र करता है' इस वाक्य द्वारा तथा 'इस अग्निहोत्र (वैश्वानर विद्या के उपासक) की उपासना सभी प्राणी उसी प्रकार करते हैं जैसे लोक में क्षुधा से पीड़ित बालक सभी प्रकार से माता की उपासना करते हैं।' इत्यादि वाक्यों द्वारा भी अग्निहोत्र शब्द से कहा गया है । यहाँ पर यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि किसी कारणवश भोजन का लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप होता है या नहीं । वहाँ पर यदि यह कहा जाय कि '**तद्यद्भक्तम्**' इस वाक्य के द्वारा भक्तागमनसंयोग सुने जाने के कारण और भात का आना भोजन के लिए होने से, भोजन का लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप ही मानना चाहिए । ऐसा प्राप्त होने पर पूर्वपक्षी कहता है कि भोजन का लोप होने पर भी प्राणाग्निहोत्र का लोप नहीं होता क्योंकि वैश्वानर विद्या में जाबालश्रुति ने 'वैश्वानर उपासक को अतिथि से पूर्व भोजन करना चाहिए, अन्यथा स्वयं अग्निहोत्र न करके दूसरे का अग्निहोत्र कराने की भाँति यह हो जायेगा' इस वाक्य द्वारा अतिथिभोजन के प्राथम्य की निन्दा कर स्वामीभोजन को प्रथम बतलाती हुई प्राणाग्निहोत्र को आदर दिया है । जो श्रुति प्राथम्यलोप को भी नहीं सहन कर सकती है वह भला प्राथम्यविशिष्ट अग्निहोत्र का लोप कैसे सहन कर सकेगी, ऐसा हम (पूर्वपक्षी) मानते हैं। शङ्का—भोजन के लिए भात आने पर प्राणाग्निहोत्र का विधान होने के कारण भोजन

१. अनुष्ठेयत्वेन । २. होमेन सहासहाभक्तभक्तस्येति शेषः । ३. मासमग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्र ।
४. शक्त्या वृत्त्येति शेषः ।

(४००) उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥४१॥

भोजनार्थभक्तागमन[1]संयोगाद्भोजनलोपे लोपः प्रापितः । न, [2]तस्य द्रव्यविशेषविधानार्थत्वात् । [3]प्राकृते ह्यग्निहोत्रे पयःप्रभृतीनां द्रव्याणां नियतत्वादिहाप्यग्निहोत्रशब्दात्कौण्डपायिनामयनवत्त[4]द्धर्मप्राप्तौ सत्यां भक्तद्रव्यैकतागुणविशेषविधानार्थमिद वाक्यं तद्यद्भक्तमिति । अतो गुणलोपे न मुख्यस्येत्येवं प्राप्तम् । भोजनलोपेऽप्यद्भिर्वाऽन्येन वा द्रव्येणाविरुद्धेन प्रतिनिधानन्यायेन प्राणाग्निहोत्रस्यानुष्ठानमिति ॥४०॥

अत उत्तरं पठति—

उपस्थिते भोजनेऽतस्तस्मादेव भोजनद्रव्यात्प्रथमोपनिपतितात्प्राणाग्निहोत्रं निर्वर्तयितव्यम्, कस्मात् ? तद्वचनात् । तथाहि—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्'

ग्निहोत्रधर्माणां पयोद्रव्यादीनां प्राप्तिस्तथेहापि प्राणाहुतिष्वग्निहोत्रशब्दवशात्पयोद्रव्यादीनामुत्सर्गतः प्राप्तौ सत्यां भोजनार्थभक्तद्रव्यविधिनापवादः कृतः, अतो भक्तविधेरपवादार्थत्वाद्भोजनलोपे भक्ताख्यगुणस्याङ्गस्य लोपेऽपि न मुख्यस्याग्निहोत्रस्य लोपः, अपवादाभावे उत्सर्गप्राप्तपय आदिना [5]तस्य निष्पत्तिसंभवादिति प्राप्तमित्यर्थः । 'गुणलोपे न मुख्यस्य' इति जैमिनिसूत्रम् । आधाने सन्ति [6]पवमानेष्टयस्तत्राग्नये पवमानाय पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेदिति निर्वापः [7]श्रुतस्तदङ्गत्वेनाग्निहोत्रहवण्यां हवींषि निर्वपेदिति दर्शपूर्णमासाख्यप्रकृतौ विहिताग्निहोत्रहवण्यतिदेशेन प्राप्ता आधानकाले चा[8]ग्निहोत्राभावात्तस्या गुणभूताया लोपेऽपि मुख्यस्य निर्वापस्य न लोप इत्यर्थः । आरब्धनित्यादिकर्मणोऽवश्यानुष्ठेयत्वाच्छ्[9]तद्द्रव्यालाभे प्रतिनिहितद्रव्येणापि कर्म कर्तव्यमिति प्रतिनिधिन्यायः ॥४०॥

सिद्धान्तयति—उपस्थितेऽतस्तद्वचनादिति । तद्धोमीयमिति तच्छब्देन भोजनार्थसिद्धभक्तमाश्रित्य होमविधानादित्यर्थः । सिद्धवद्भक्तोपनिपातः प्रकृतभक्तागमनं, तस्य तच्छब्देन परामर्शनेत्यर्थः ।

का लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप ही होगा । समाधान (पूर्वपक्षी)—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि द्रव्यविशेष के विधान के लिए प्राणाग्निहोत्र कहा गया है । प्राकृत अग्निहोत्र में दुग्धादि द्रव्य नियत होने के कारण यहाँ भी अग्निहोत्र शब्द से कुण्डपायियों के अयन के समान उसके धर्म की प्राप्ति होने पर भातद्रव्यरूप गुणविशेष का विधान 'तद्यद् भक्तम्' यह वाक्य कर रहा है । अतः कथंचित् भातरूप गुण के लोप होने पर भी मुख्य पञ्चप्राणाहुति का लोप नहीं होता, यह सिद्ध हुआ । इसलिए भोजन के लोप होने पर भी जल से या अन्य किसी अविरुद्ध द्रव्यरूप प्रतिनिधि से प्राणाग्निहोत्र का विधान कर लेना चाहिए । (यह पूर्वपक्ष सूत्र है) ॥४०॥

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् (ललिता)

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती अग्रिम सूत्र से कहता है कि भोजन के उपस्थित होने पर उसी प्रथमप्राप्त भोजनद्रव्य से प्राणाग्निहोत्र का सम्पादन करना चाहिए क्योंकि ऐसा ही वचन है । 'तद्यद्भक्तं प्रथमागच्छेत्तद्धोमीयम्' इस वाक्य द्वारा श्रुति निर्विवाद की भाँति भात की प्राप्ति बतलाते हुए

---

१. होमेन सह । २. भोजनार्थभक्तद्रव्यसंयोगविधानस्य । ३. प्राकृतत्व मुख्यत्वम् । ४. मुख्याग्निहोत्र । ५. अग्निहोत्रस्य । ६. इमाश्च दर्शपूर्णमासविकृतयः । ७. निर्वाप । ८. अग्निहोत्रहवन्याश्च सुतरामभावात् । ९. घृतव्रीह्यादि ।

(छा० ५-१९-१) इति । सिद्धवद्भुक्तोपनिपातपरामर्शेन [1]परार्थद्रव्यसाध्यतां प्राणाहुतीनां विदधाति । [2]ता अप्रयोजकलक्षणापन्नाः सत्यः कथं भोजनलोपे द्रव्यान्तरं प्रतिनिधापयेयुः । न चात्र प्राकृताग्निहोत्रधर्मप्राप्तिरस्ति । कुण्डपायिनामयने हि मासमग्निहोत्रं जुहोतीति [3]विध्युद्देशगतोऽग्निहोत्रशब्दस्तद्भावं विधापयेदिति युक्ता तद्धर्मप्राप्तिः । इह पुनरर्थवादगतोऽग्निहोत्रशब्दो न तद्भावं विधापयितुमर्हति । तद्धर्मप्राप्तौ चाभ्युपगम्यमानायामग्न्युद्धरणादयोऽपि प्राप्येरन्, नचास्ति सम्भवः । अग्न्युद्धरणं तावद्धोमाधिकरणभावाय, न चा[4]यमग्नौ होमो भोजनार्थताव्याघातप्रसङ्गात् । भोजनार्थोपनीत[6]द्रव्यसंबन्धाच्चास्य एवैष होमः । तथाच जाबालश्रुतिः पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयादित्यास्याधारामेवेमां होमनिर्वृत्तिं दर्शयति । अत एव [7]चेहापि सांपादिकान्येवाग्निहोत्राङ्गानि दर्शयति—'उर एव

आश्रित्य विहिताहुतीनामाश्रयलोप एव न द्रव्यान्तराक्षेपकत्वं, यथा क्रतुप्रयुक्ताऽप्प्रणयनाश्रितस्य गोदोहनस्य क्रतुलोप लोपो न त्वाश्रयान्तरप्रयोजकत्वं तथेति फलितमाह—ता इति । यदुक्तमग्निहोत्रशब्दाद्द्रव्यान्तरप्राप्तिरिति, तत्राह—न चात्रेति । तद्भावो नित्याग्निहोत्रसादृश्यमर्थवादस्थशब्दस्य स्तुतित्वेनोपपत्तेरित्यर्थः । धर्मप्रापकत्वे दोषमाह—तद्धर्मप्राप्तौ चेति । अत एवेति । तद्धर्मप्राप्त्यभावादेवेत्यर्थः प्राप्तौ संपादनं वृथा स्यादिति भावः । मुख्याग्निहोत्राङ्गानि संपाद्यन्ते चेत्कथं तदनङ्ग वेदिरत्र

प्राणाहुति में परार्थद्रव्यसाध्यता बतलाती है। भात की प्राप्ति भोजनार्थ है, न कि प्राणाहुति निमित्त है, अतः भोजन करना होगा तो पात्र में भोजन आयेगा और उस स्थिति में भोजन से पूर्व प्राणाहुति का विधान है। ऐसी स्थिति में वे प्राणाहुतियाँ अप्रयोजक है, वे भोजनलोप होने पर द्रव्यान्तर की उपस्थापक कैसे हो सकेंगी। और यहाँ पर प्राकृत अग्निहोत्र के धर्म की प्राप्ति भी नहीं है क्योंकि कुण्डपायियों के अयन में 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' यह विधि-उद्देशगत अग्निहोत्र शब्द तद्भाव का विधान करा सकता है, इसलिए तद्धर्म की प्राप्ति कहना युक्त है; किन्तु यहाँ पर अर्थवादस्थ अग्निहोत्र शब्द तद्भाव का विधायक नहीं हो सकता। कथञ्चित् अग्निहोत्र धर्म की प्राप्ति स्वीकार करने पर अग्नि-उद्धरणादि धर्म भी प्राप्त होने लग जायेंगे; पर अग्नि-उद्धरण यहाँ प्राणाग्निहोत्र के प्रसङ्ग में सम्भव नहीं है क्योंकि अग्न्याधान होमाधिकरण के लिए होता है अर्थात् जहाँ शाकल्यादि की आहुतियाँ डाली जाती हैं वहाँ पर अग्नि का आधान होता है, किन्तु प्राणाहुति बाह्य-अग्नि में नहीं होती। बाह्य अग्नि में होम मानने पर भोजनार्थता का व्याघात भी होने लग जायेगा, यह प्राणाहुतिरूप होम तो भोजन के लिए प्राप्त द्रव्य से सम्बन्ध रखता है। इसीलिए जाबाल श्रुति 'वैश्वानर विद्या के उपासक अतिथियों से पूर्व भोजन करे' इस प्रकार इस होमसम्पादन का आधार मुख को ही बतलाती है। इसीलिए यहाँ पर साम्पादिक अग्निहोत्राङ्ग को ही श्रुति दिखलाती है—'उर (छाती) ही वेदी है, लोम बर्हि है, हृदय गार्हपत्य अग्नि, मन दक्षिणाग्नि और मुख आहवनीय

१. भोजनार्थभक्ताख्येद्रव्यसाध्यताम् । २. प्राणाहुतयः । ३. विध्यभिन्नचोदनाघटकः । ४. मुख्याग्निहोत्रतुल्यत्वम् । ५. भोजनाख्यो होम । ६. द्रव्यस्य भक्तस्य होमेन सह सबन्धात् । ७. प्राणाग्निहोत्रे ।

२७. तन्निर्धारणाधिकरणम् (सू० ४२)

नित्या अङ्गावबद्धाः स्युः कर्मस्वनियता उत । पर्णवत्क्रतुसम्बन्धो वाक्यान्नित्यास्ततो मताः ।
पृथक्फलश्रुतेर्नैता नित्या गोदोहनादिवत् । उभौ कुरुत इत्युक्तं कर्मोपास्यनुपासिनोः ॥

वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' (छा० ५-१८-२) इति । वेदिश्रुतिश्चात्र स्थण्डिलमात्रोपलक्षणार्था द्रष्टव्या । मुख्याग्निहोत्रे वेद्यभावात् । तदङ्गानां चेह संपिपादयिषितत्वात् । भोजनेनैव च कृतकालेन [1]संयोगान्नाग्निहोत्रकालावरोधसंभवः । एवमन्येऽप्युपस्थानादयो धर्माः केचित्[2]कथंचिद्विरुध्यन्ते । तस्माद्भोजनपक्ष एवैते [3]मन्त्रद्रव्य[4]देवतासंयोगात्पञ्च होमा निर्वर्तयितव्याः । यस्त्वादरदर्शनवचनं तद्भोजनपक्षे प्राथम्यविधानार्थम् । न ह्यस्ति वचनस्यातिभारः । न त्वनेना[5]स्य नित्यता शक्यते दर्शयितुम् । तस्माद्भोजनलोपे लोप एव प्राणाग्निहोत्रस्येति ॥४१॥

संपाद्यते तत्राह—वेदिश्रुतिश्चेति । **मुख्याग्निहोत्रस्याग्न्युद्धरणवत्सायंप्रातःकालद्वयस्यापि न प्राप्ति-रित्याह**—भोजनेनेति । [1]**उपस्थानपरिस्तरणादयोऽप्यग्न्यभावान्न प्राप्नुवन्तीत्याह**—एवमिति । **यस्मात्त-द्धर्मप्राप्त्यभावस्तस्माद्भोजनद्रव्येणैव होम इत्युपसंहारः । प्राणाय स्वाहा इत्यादयो मन्त्राः । ननु स्वामिभोजनस्योत्तरकालत्वं श्रुत्यादिविहितं कथं पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयादिति वचनेन बाध्यते तत्राह**—न ह्यस्तीति । **उपासकान्यस्वामिविषयमुत्तरकालत्वविधानमित्यर्थः । न त्विति प्राथम्यमात्रेणेत्यर्थः । प्राणोपासकस्य प्राप्तेभोजनेप्राथम्यार्थतयादरस्यान्यथासिद्धो फलितमाह**—तस्मादिति ॥४१॥

अग्नि है ।' वेदीश्रुति यहाँ पर स्वाभाविक स्थण्डिलमात्र का उपलक्षण समझना चाहिए क्योंकि मुख में होने वाले अग्निहोत्र में वेदी का अभाव है, केवल उसके अङ्गों का ही यहाँ पर सम्पादन करना इष्ट है । सायं-प्रातः कालद्वय में होने वाली आहुति भी इसमें नहीं होती है, भोजन से ही तदुक्त काल का सम्बन्ध होने के कारण अग्निहोत्र के सदृश कालावरोध भी नहीं है । ऐसे ही उपस्थान, परि-स्तरण, अन्य भी कुछ धर्म इस प्राणाहुति में विरुद्ध ही पड़ते हैं । अतः भोजन पक्ष में ही ये पञ्चप्राणा-हुतियाँ मन्त्र, द्रव्य और देवता संयोग के कारण सम्पादनीय हैं । और जो आप ने कहा था कि प्राणा-ग्निहोत्र के लिए आदरसूचक श्रुति वाक्य है, वह तो भोजनपक्ष में प्राथम्यविधान के लिए है । श्रुति-वचन के लिए कोई अतिभार नहीं है अर्थात् भोजन के लिए यदि भात परोसा जाता हो तो पहले पञ्चप्राणाहुति करनी चाहिए और यदि नहीं परोसा जाता हो अथवा भोजन का लोप हो तो पञ्च-प्राणाहुति का भी लोप ही समझना चाहिए, यही इस श्रुति का तात्पर्य है । इससे प्राणाग्निहोत्र में नित्यता नहीं दिखला सकते । इसीलिए भोजन का लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप होना सुनिश्चित है ॥४१॥

२७. तन्निर्धारणाधिकरण

१. **सङ्गति**—पूर्वाधिकरण में अनित्य भोजनाश्रित प्राणाग्निहोत्र को जैसे अनित्य कहा था ऐसे ही

---

१. प्राणाग्निहोत्रस्येतिशेषः । २. अग्न्यभावादित्यर्थः । ३. भोजनार्थभक्ताख्यं द्रव्यम् । ४. देवता प्राणः । ५. प्राणाग्निहोत्रस्य । ६. स्तवन ।

(४०१) तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ॥४२॥

सन्ति कर्माङ्गव्यपाश्रयाणि विज्ञानानि—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १-१-१) इत्येवमादीनि । किं तानि नित्यान्येव स्युः कर्मसु पर्णमयीत्वादिवदुतानित्यानि गोदोहनादिवदिति विचारयामः । किं तावत्प्राप्तं—नित्यानीति । कुतः ?—प्रयोगवचन-परिग्रहात् । 'अनारभ्याधीतान्यपि ह्येतान्युद्गीथादिद्वारेण क्रतुसम्बन्धात्क्रतुप्रयोगवचने-

तन्निर्धारणा । उभयथा दृष्टान्तदर्शनात्संशयमाह—किं तानीति । यथाऽनारभ्याधीतपर्णमयीत्वं जुहूद्वारा क्रत्वङ्गतया कर्मसु नित्यं प्रयुज्यते, तथाङ्गाश्रितोपासनान्युद्गीथादिद्वाराऽङ्गतया नित्यानि, उत क्रत्वङ्गाप्प्रणयनाश्रयो गोदोहनसंयोगः पशुफलार्थत्वादनित्यत्वेन यथा प्रयुज्यते यथा वा पश्वङ्गयूपाश्रयं बैल्वत्वमन्नाद्यफलत्वादनित्यं तथा कर्मसमृद्ध्यादिफलकत्वादुपासनान्यनङ्गत्वेनानित्यानीति संशयार्थः । पूर्वपक्षे उपासनानां प्रयोगनित्यत्वं, सिद्धान्ते त्वनित्यत्वमिति फलभेदः । अनित्यभोजनाश्रयप्राणाग्निहोत्रस्यानित्यत्ववन्नित्यकर्माङ्गोपास्तीनां नित्यत्वमिति प्रत्युदाहरणदृष्टान्तेन पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति । उपासनानि कर्माङ्गानि, अफलत्वे सति कर्माङ्गाश्रितत्वात्पर्णमयीत्वादिवत् ।

यहाँ पर नित्यकी अङ्गभूत उपासनाओं में नित्यत्व बतलाने के लिए दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ हुआ है ।

२. **विषय**—इस अधिकरण में नित्यकर्माङ्गाश्रित उपासनाओं की नित्यता पर विचार किया गया है ।

३. **संशय**—क्या नित्यकर्माङ्ग उपासना पर्णता की भाँति नित्य हैं अथवा गोदोहन की भाँति अनित्य है ।

४. **पूर्वपक्ष**—अनारभ्याधीत होने के कारण वे कर्माङ्ग उपासनायें नित्य हैं । जिस प्रकार 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' यह वाक्य अनारभ्याधीत होने के कारण सभी क्रतु के साथ पर्णता का सम्बन्ध बतलाता है, ऐसे ही कर्माङ्ग उपासना भी नित्य ही है ।

५. **सिद्धान्त**—नित्यकर्माङ्ग उपासना का फल पृथक् सुना गया है, इसलिए गोदोहनपात्र से जलाहरण की भाँति वह नित्य नहीं है, वह तो उपासक की इच्छा पर आधारित है । उपासना करे या न करे, कर्म तो नित्य करना ही चाहिए । अतः नित्यकर्म के आश्रित उपासना नित्य नहीं है ।

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् (ललिता)

'ॐ इस अक्षर की उद्गीथदृष्टि से उपासना करे' इत्यादि कर्माङ्गाश्रित उपासनायें अनेकों हैं । क्या वे उपासनायें कर्मों में पर्णमयीत्वादि की भाँति नित्य ही हैं या गोदोहन आदि की भाँति अनित्य हैं, ऐसा हम विचार करते हैं । कर्मानुष्ठान के समय जलाहरण के लिए पर्णमयी चमस पात्र का होना अनिवार्य है, किन्तु उसी के मध्य में यजमान यदि पशुफल की आकांक्षा करता हो तो गोदोहन पात्र से जलाहरण का विधान है, ऐसा 'चमसेन अपप्रणयेत् गोदोहनेन पशुकामः' इस वाक्य द्वारा कहा गया है । ऐसे ही अङ्गाश्रित उक्त उपासनाओं के सम्बन्ध में भी विचार उत्पन्न होता है कि पर्णमयीत्व की भाँति ये उपासनायें कर्म के नित्य अङ्ग हैं अथवा गोदोहनादि की भाँति अनित्य हैं । इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि ये उपासनायें नित्यकर्माङ्ग हैं क्योंकि प्रयोगवाक्य ऐसा ही देखा

१. अंगप्रधानसंबन्धबोधकविनियोगविधिना परिग्रहात्तदेवाहानारभ्येति । २. गोदोहनस्य क्रतुना संयोग इत्यर्थः ।

'नैवाङ्गान्तरवत्संस्पृश्यन्ते । यत्त्वेषां स्ववाक्येषु फलश्रवणम् । 'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १-१-७) इत्यादि, तद्वर्तमानापदेशरूपत्वादर्थवादमात्रमेवापापश्लोकश्रवणादिवन्न फलप्रधानम् । तस्माद्यथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' [1]इत्येवमादीनाम[2]प्रकरणपठितानामपि [3]जुह्वादिद्वारेण क्रतुप्रवेशात्स्वप्रकरणपठितवन्नित्यतैवमुद्गीथाद्युपासनानामपीति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तन्निर्धारणानियम इति । यान्येतान्युद्गीथादिकर्मगुणयाथात्म्यनिर्धारणानि रसतम आप्तिः समृद्धिर्मुख्यप्राण आदित्य इत्येवमादीनि नैतानि नित्यवत्कर्मसु नियम्येरन् । कुतः ?—तद्दृष्टेः । तथा ह्यनियतत्वमेवं[4]जातीयकानां दर्शयति श्रुतिः'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' (छा० १-१-१०) इत्यविदुषोऽपि क्रियाभ्यनुज्ञानात् ।

तथा चाङ्गतया प्रयोगविधिना नित्येन प्रयुज्यन्त इति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—यानीत्यादिना । उद्गीथादयः कर्मणां गुणाः अङ्गानि तेषां याथात्म्यं रसतमत्वादिकं तन्निर्धारणान्युपासनानि यानि तानि कर्मसु नित्यपर्णमयीत्वादिवन्न नियम्येरन्नित्यर्थः । एषां कर्माङ्गत्वे तद्धीनस्याविदुषः कर्म न स्यादङ्गलोपात्, तस्मादविदुषोऽपि कर्मकर्तृत्वश्रुति[6]लिङ्गैरङ्गत्वानुमानबाध इत्याह—तद्दृष्टेरिति । तस्यानियमस्य दर्शनादित्यर्थः । तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते व्यपतिष्यतीति चाक्रायणेनर्त्विजा-

---

जाता है । किसी प्रकरणविशेष में न पढ़े जाने के कारण भी ये उपासनायें उद्गीथादि द्वारा क्रतु से सम्बन्धित हैं । जैसे क्रतुप्रयोगवाक्य द्वारा अन्य अङ्गों का सम्बन्ध याग के साथ होता है, ऐसे ही उद्गीथादि द्वारा क्रतु से सम्बन्धित होने के कारण ये उपासनायें भी कर्म से सदा जुड़ी हुई हैं । और जो इन उपासनाओं के बोधकवाक्यों में 'यह उपासक सभी कामनाओं का प्रापक हो जाता है' इत्यादि वाक्य द्वारा इनका फल सुना गया है वह भवति क्रिया में वर्तमान अर्थ का बोधक लट् लकार होने के कारण अर्थवादमात्र ही है । जैसे अपापश्लोक श्रवणादि अर्थवादमात्र है, ऐसे ही इस फलश्रवण को भी अर्थवादमात्र ही समझना चाहिए, फलप्रधान यह वाक्य नहीं है । अतः 'जिस यजमान का जुहू पात्र पर्णमयी होता है वह पापसमुदाय का स्पर्श नहीं करता' इत्यादि बिना किसी प्रकरण के पढ़े हुए विषय का भी जुहू आदि द्वारा क्रतु में प्रवेश हो जाने के कारण अपने प्रकरण में पठित अङ्ग की भाँति जैसे नित्य माने गये हैं, वैसे ही पूर्वोक्त उद्गीथादि उपासनायें भी कर्म के नित्य अङ्ग हैं ।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि जो ये उद्गीथादि कर्म के याथात्म्य का निर्धारण करने वाले 'रसतम की प्राप्ति, समृद्धि, मुख्य प्राण, आदित्य' इत्यादि पदार्थ हैं ये यागादि कर्मों में नित्य अनुष्ठेय नहीं हैं क्योंकि ऐसे पदार्थों को श्रुति अनित्य बतलाती है । इसीलिए श्रुति 'कर्मानुष्ठान दोनों ही करते हैं, जो उपासना करते हैं और जो नहीं करते हैं' इस वाक्य द्वारा अनुपासक के लिए भी

---

१. पर्णतावत् । २. आदिना यदाऽक्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियत इत्यादि गृह्यते । ३. अनारभ्याधीतानाम् । ४. आदिना कर्तृग्रहणम् । ५. कर्माङ्गव्यपाश्रयाणां विज्ञानानाम् । ६. लिङ्गं नु कर्मणांधलवत्व वक्ष्यते ।

'प्रस्तावादिदेवताविज्ञानविहीनानामपि प्रस्तोत्रादीनां याजनाध्यवसानदर्शनात् 'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि' (छा० १-१०-९), 'तां चेदविद्वानुद्गास्यसि' (छा० १-१०-१०), 'तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि' (छा० १-१०-११) इति च। ²अपि चैवंजातीयकस्य कर्मव्यपाश्रयस्य विज्ञानस्य पृथगेव कर्मणः फलमुपलभ्यते कर्मफलसिद्धयप्रतिबन्धस्तत्समृद्धिरतिशयविशेषः कश्चित् 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा०१-१-१०) इति। तत्र नाना त्विति विद्वदविद्वत्प्रयोगयोः पृथक्करणाद्वीर्यवत्तरमिति च तरप्प्रत्ययप्रयोगाद्विद्याविहीनमपि कर्म वीर्यवदिति गम्यते, तच्चानित्यत्वे विद्याया उपपद्यते, नित्यत्वे तु कथं तद्विहीनं कर्म वीर्यवदित्यभ्यनुज्ञायेत, सर्वाङ्गोपसंहारे हि वीर्यवत्कर्मेति स्थितिः। तथा लोकसामादिषु प्रतिनियतानि प्रत्युपासनं फलानि

माक्षिप्तत्वादनुपासकानामपि कर्मप्रयोगोऽस्तीत्याह—प्रस्तावादीति। उपास्तीनां कर्मफलात् पृथक्फलश्रुतेर्न कर्माङ्गत्वमित्याह—अपि चेति। तेनोमित्यक्षरेण यश्चैतदक्षरमेवं रसतमत्वादिरूपेण वेदोपास्ते यश्च न वेद तावुभौ कर्म कुरुत एव यद्यपि तथापि तु विद्याविद्ययोर्नानात्वं भिन्नफलत्वम्। दृष्टं हि मणिविक्रये ज्ञानाज्ञानाभ्यां वणिक्³शबरयोः फलवैषम्यं, तस्माद्यदेव कर्म विद्ययोद्गीथाद्युपास्त्या श्रद्धयास्तिक्यबुद्ध्योपनिषदा रहस्यदेवताध्यानेन करोति तदेव कर्म फलातिशयवदित्यर्थः। कर्मणो वीर्यवत्त्वं नाम फलवत्त्वं विद्याहीनस्यापि गम्यमानं विद्याया अनङ्गत्वे लिङ्गमिति भावः। साम्नि लोकादिदृष्ट्युपासनेषु कर्मसमृद्ध्यतिरिक्तलोकादिफलश्रुतेश्च नाङ्गत्वमित्याह—तथेति। अस्मै विदुषे

यागादि क्रिया की अनुज्ञा देती है। प्रस्तावादि के देवता के विज्ञान से शून्य भी प्रस्तोतादि ऋत्विजों को यागानुष्ठान कार्य कराते देखा गया है—'उषस्ति चाक्रायण ने कहा कि 'हे प्रस्तोता! जो देवता प्रस्तावभक्ति में अनुगत है यदि उन्हें जाने बिना ही तुम प्रस्ताव करोगे', 'उन्हें जाने बिना यदि उद्गान करोगे' और 'उन्हें जाने बिना यदि प्रतिहार करोगे' (तो तुम्हारा मस्तक गिर जायेगा) इन वाक्यों से अनुपासक का भी याजनादि में अधिकार सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त ऐसे कर्माश्रित उपासना का कर्मफलसिद्धि में प्रतिबन्धाभाव, कर्म की समृद्धि इत्यादि कुछ अतिशयविशेष पृथक् ही फल देखा जाता है। इसीलिए तो कहा है कि 'दोनों ही प्रकार के साधक कर्म करते हैं जो इस प्रकार जानकर उपासना करते हैं और जो नहीं करते हैं क्योंकि कर्म और उपासना नाना है, जो श्रद्धा, रहस्यज्ञान और उपासनासहित कर्म करता है उसके द्वारा किया गया कर्म अधिक शक्तिशाली होता है।' वहाँ पर 'नाना तु' इस विशेषण द्वारा उपासक और अनुपासक के प्रयोग का पृथक् बतलाने के कारण उपासनासहित किये गये कर्म को वीर्यवत्तर कहा है। इस वाक्य में तरप् प्रत्यय का प्रयोग होने से उपासनारहित कर्म भी वीर्यवत् जान पड़ता है। इससे कर्माङ्ग उपासनाओं में अनित्यत्व सिद्ध होता है, इन उपासनाओं को नित्य मानने पर तो उपासनाहीन कर्म को वीर्यवत कहकर कैसे सम्बोधित कर सकते हैं क्योंकि सभी अङ्गों का पूर्णरूप से अनुष्ठान करने पर ही कर्मवीर्यवत् होता है ऐसी कर्मशास्त्र की मर्यादा है। वैसे ही लोकसामादियों में प्रत्येक उपासनाओं के प्रतिनियत फल कहे गये

---

१. प्रस्तावःसामभक्तिरादिनोद्गीथ प्रतिहारयोर्ग्रहः तासां देवताः प्राणादित्यान्नाख्याः। २. अवशिष्टसूत्रावयवं व्याचष्टे अपि चेति। ३. भिल्ल।

'शिष्यन्ते 'कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' (छा०२-२-३) इत्येवमादीनि। न चेदं फलश्रवणमर्थवादमात्रं युक्तं प्रतिपत्तुम्, तथा हि गुणवाद आपद्येत, फलोपदेशे तु मुख्यवादोपपत्तिः, प्रयाजादिषु त्वितिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य क्रतोः प्रकृतत्वात्तादर्थ्ये सति युक्तं फलश्रुतेरर्थवादत्वम्, तथाऽनारभ्याधीतेष्वपि पर्णमयीत्वादिषु, नहि पर्णमयीत्वादीनामक्रियात्मकानामाश्रयमन्तरेण फलसंबन्धोऽवकल्पते, गोदोहनादीनां हि प्रकृताप्प्रणयनाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः। तथा बल्वादीनामपि प्रकृतयूपाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः, न तु पर्णमयीत्वादिष्वेवंविधः कश्चिदाश्रयः प्रकृतोऽस्ति, वाक्येनैव

कल्पन्ते भोगाय समर्था भवन्ति भूमेरूर्ध्वा लोका आवृता अधस्तनाश्चेत्यर्थः। तथा हि गुणवाद इति। फलश्रुतेरर्थवादमात्रत्वे स्तुतिलक्षणा स्यात, सा न युक्ता, मुख्यवृत्त्या फलपरत्वसंभवात्। प्रयाजानुयाजकर्मणां तु प्रकरणाद्दर्शाद्यङ्गत्वलाभाद्भ्रातृव्याभिभूतिफलश्रुतेरगत्या स्तुतिलक्षकत्वं, यद्यपि पर्णमयीत्वादीनामङ्गत्वबोधकं प्रकरणं नास्ति तथापि तेषु फलश्रुतेः स्तुतित्वं, तेषामक्रियात्वेन क्रियासबन्धं विना फलहेतुत्वानुपपत्तेरतस्तेषां फलार्थक्रियापेक्षितत्वात्क्रतोश्च जुहूप्रकृतिद्रव्याकाङ्क्षितत्वात्पर्णमयी जुहूरित्यादिवाक्येनैव प्रकृतिद्रव्यार्पकेण जुहूद्वारा संनिहितक्रत्वङ्गत्वसिद्धेर्युक्तं फलश्रुतेरर्थवादत्वमिति भावः। अक्रियात्मकगोदोहनादेरपि फलश्रुतिरर्थवादः स्यादत आह—गोदोहनादीनां हीति। यदप्पः प्रणयेत्तत्पशुकामस्य सतो गोदोहनेन ब्रह्मवर्चसकामस्य कांस्येनेतिफलार्थविधिरेव नार्थवादः गोदोहनादेः क्रत्वनाकाङ्क्षितत्वेनाङ्गत्वाभावात्, चमसेन निराकाङ्क्षक्रियासंबन्धितया स्वफलसाधकत्वसंभवात्। तथा 'खादिरत्वेन निराकाङ्क्षक्रत्वङ्गयूपमाश्रित्य बल्वमन्नाद्यकामस्य खादिरं वीर्यकामस्येति फलार्थविधिरेवार्थः। पर्णमयीत्वादिषु फलविधिः किं न स्यादत आह—न त्विति। एवंविधो यूपादिवन्निराकाङ्क्ष इत्यर्थः। जुहूरेवाश्रय इत्यत आह—वाक्येनेति। जुह्वाः प्रकृतिद्रव्यापेक्षित्वादनेनैव वाक्येन क्रत्वङ्गतया जुहूप्रकृतिद्रव्यसंबन्धो विधेयः पश्चान्निराकाङ्क्ष जुहूमाश्रित्य

हैं कि 'उस उपासक के लिए ऊपर और नीचे के सभी लोक फल देने में समर्थ हो जाते हैं' इत्यादि और इस फलश्रवण को अर्थवादमात्र कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर यह फलबोधक वाक्य गौण हो जायेगा, वास्तविक फलोपदेश मानने पर तो मुख्यवाद की सिद्धि होती है। हाँ, प्रयाजादि में इतिकर्तव्यताक अङ्गवाले यज्ञ का प्रसङ्ग चलता रहता है, अतः वहाँ की श्रुति को अर्थवाद मान सकते हैं। वैसे ही पर्णमयीत्वादि जो अनारभ्याधीत हैं उनमें भी फलश्रुति का अर्थवादत्व है। अक्रियारूप पर्णमयीत्वादि का आश्रय के बिना फलसम्बन्ध नहीं बन सकता क्योंकि प्रसङ्गागत जलप्रणयन आदि आश्रय मिल जाने के कारण गोदोहनादि में फल बतलाना सार्थक हो जाता है। उसी प्रकार सामान्यतः यूप खदिर काष्ठ का होता है किन्तु कोई यजमान अन्नादिकाम हो जाय तो वह बिल्वकाष्ठ का भी यूप बना सकता है जिसका फल है अन्नाद्य की प्राप्ति। इस प्रकार प्रकृत यूप का आश्रय मिल जाने के कारण बिल्वादि काष्ठ का फलविधान भी सार्थक हो जाता है, किन्तु पर्णमयीत्वादि में इस प्रकार का कोई फलाश्रय नहीं दीखता है। केवल वाक्य प्रमाण से ही जुहू को उसका आश्रय बतलाने पर फल में भी विधि बतलानी होगी और इस स्थिति में वाक्यभेद होने लग जायेगा। पर यह सब

१. उपदिश्यन्ते। २. आदिना यदोक्ते यत्प्रयाजानुयाजा इत्यादिग्रहः। ३. गोदोहनादीरित्याकृष्यते। ४. औदुम्बरत्वेनेति पाठः साधुः।

२८. प्रदानाधिकरणम् (सू० ४३)

एकीकृत्य पृथग्वा स्याद्वायुप्राणानुचिन्तनम् । तत्त्वाभेदात्तयोरेकीकरणेनानुचिन्तनम् ।
अवस्थाभेदतोऽध्यात्ममधिदैवं पृथक्श्रुतेः । प्रयोगभेदो राजादिगुणकेन्द्रप्रदानवत् ।

तु जुह्वाद्याश्रयतां विवक्षित्वा फलेऽपि विधिं विवक्षतो वाक्यभेदः स्यात्, उपासनानां तु क्रियात्मकत्वाद्विशिष्टविधानोपपत्तेरुद्गीथाद्याश्रयाणां फले विधानं न विरुध्यते, तस्माद्यथा क्रत्वाश्रयाण्यपि गोदोहनादीनि फलसंयोगादनित्यान्येवमुद्गीथाद्युपासनान्यपीति द्रष्टव्यम् । अत एव च कल्पसूत्रकारा नैवंजातीयकान्युपासनानि क्रतुषु कल्पयांचक्रुः ।।४२।।

तस्यैव प्रकृतिद्रव्यस्य फलसंयोगो विधेय इति वाक्यभेद इत्यर्थः । पर्णतादिवैलक्षण्यमुपासनानामाह—उपासनानां त्विति । स्वयं क्रियात्वाद्यागादिवत्फलविशिष्टत्वेन विधानोपपत्तिरित्यर्थः । तस्मादिति अङ्गत्वावेदकमानाभावादित्यर्थः । अत एवेति, अनङ्गत्वादेवेत्यर्थः तस्मादङ्गोपास्त्यभावेऽपि कर्माधिकार इति सिद्धम् ।।४२।।

विचार कर्मकाण्ड में किया गया है । उपासना तो मानस व्यापार होने के कारण क्रियास्वरूप ही हैं; अतः उसका विशिष्टविधान युक्तियुक्त है और इसीलिए उद्गीथादि के आश्रित उपासनाओं का फलविधान व्यर्थ नहीं है । अतएव यागाश्रित होते हुए भी गोदोहनादि पशुफल से सम्बन्धित होने के कारण अनित्य हैं, ठीक ऐसे ही उद्गीथादि उपासनायें भी अनित्य ही हैं जिनका कर्मानुष्ठान के समय करना या न करना उपासक की इच्छा पर आधारित है । इसीलिए कल्पसूत्रों में सूत्रकार ने ऐसी उपासनाओं का सम्बन्ध किसी याग के साथ नहीं माना है । अतः अङ्ग की उपासना के अभाव में भी कर्म का अधिकार है, यह सिद्ध हुआ ।।४२।।

२८. प्रदानाधिकरण

१. **सङ्गति**—पहले फलभेद से कर्माङ्ग उपासनाओं का नित्यानित्यरूप प्रयोगभेद कहा था, किन्तु इस अधिकरण में वायु और प्राण का तत्त्वतः अभेद होने के कारण और उनकी प्राप्तिरूप फल के ऐक्य के कारण ध्यानप्रयोग में भी एकता है; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति पूर्व के साथ इसकी है ।

२. **विषय**—वाजसनेयक में 'वाणी ने घोषणा की—मैं बोलती ही रहूँगी' इस वाक्य द्वारा वागादि से प्राण को श्रेष्ठ कहा है । वैसे ही अग्न्यादि से वायु को श्रेष्ठ कहा है । इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् की संवर्ग विद्या में प्राण और वायु को श्रेष्ठता कही गयी है । इस पर विचार करके निर्णय लेना इस अधिकरण का विषय है ।

३. **संशय**—क्या इस विद्या में वायु एवं प्राण के प्रयोग का अभेद है, अथवा भेद है ?

४. **पूर्वपक्ष**—वायु और प्राण में तत्त्वतः अभेद होने के कारण दोनों का एकरूप में चिन्तन करना चाहिए ।

---

१. विज्ञानानाम् । २. कर्माङ्गव्यपाश्रयाणि ।

(४०२) प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥४३॥

वाजसनेयके—'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे' (बृ० १·५·२१) इत्यत्राध्यात्मं वागादीनां प्राणः श्रेष्ठोऽवधारितोऽधिदैवतमग्न्यादीनां वायुः। तथा छान्दोग्ये—'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४-३-१) इत्यत्राधिदैवतमग्न्यादीनां वायुः संवर्गोऽवधारितः 'प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४-३-२) इत्यत्राध्यात्मं वागादीनां प्राणः। तत्र संशयः—किं पृथगेवेमौ वायुप्राणावुपगन्तव्यौ स्यातामपृथग्वेति। अपृथगेवेति तावत्प्राप्तं तत्त्वाभेदात्, नह्यभिन्ने तत्त्वे पृथगनुचिन्तनं न्याय्यम्। दर्शयति च श्रुतिरध्यात्ममधिदैवतं च तत्त्वाभेदम्—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० २·४) इत्यारभ्य, तथा 'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' (बृ० १·५·१३) इत्याध्यात्मिकानां प्राणानामाधिदैविकीं विभूतिमात्मभूतां

प्रदानवदेव तदुक्तम्। वायुप्राणयोर्भेदाभेदवाक्याभ्यां संशयमाह—तत्रेति। अस्तु कर्माङ्गानां तत्संबद्धोपास्तीनां च फलभेदान्नित्यत्वानित्यत्वरूपः प्रयोगभेदः, इह तु वायुप्राणयोः स्वरूपाभेदात्तत्स्वरूपप्राप्तिलक्षणफलैक्याच्च ध्यानप्रयोगैक्यमिति पूर्वपक्षयति—अपृथगिति। 'अग्निर्वाग्भूत्वा' इत्यारभ्य 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' इत्यभेदं दर्शयतीत्यर्थः। 'यतश्चोदेति सूर्यस्तं वद' इति प्रश्ने सूत्रात्मकवायुर्वाच्यो वायुस्थाने प्राणं वदन्नेकत्वं तयोर्दर्शयतीत्याह—तथेति। किंच यदि वायुप्राणयोः पृथग्ध्यानं स्यात्तर्हि ध्यानाङ्गव्रतभेदोऽपि स्यादिह तु प्राणापाननिरोधात्मकव्रतैक्यश्रुते-

५. सिद्धान्त—अवस्थाभेद से एवं पृथक् श्रुति को देखते हुए अध्यात्म प्राण और अधिदैव वायु का चिन्तन पृथक्-पृथक् करना चाहिए। जिस प्रकार इन्द्रदेवता के एक होने पर भी राजा इन्द्र के लिए एकादश कपालवाले पुरोडाश का निर्वाप बतलाया है, उससे भिन्न अधिराज इन्द्र और स्वराज इन्द्र के लिए पृथक् पुरोडाश का निर्वाप कहा गया है; वैसे ही तत्वतः एक होने पर भी वायु एवं प्राण का स्थानभेद से पृथक्-पृथक् चिन्तन करना चाहिए।

प्रदानवदेव तदुक्तम् (ललिता)

वाजसनेयक में 'वाणी ने व्रत लिया कि मैं बोलती ही रहूँगी' ऐसे अध्यात्म प्रसङ्ग पर वागादि इन्द्रियों के मध्य प्राण को श्रेष्ठ निर्धारित किया गया है और अधिदैव में अग्न्यादि के मध्य वायु को श्रेष्ठ निश्चित किया गया है। वैसे ही छान्दोग्य में 'निःसन्देह वायु संवर्ग देवता है' यहाँ अधिदैव प्रसंग पर अग्न्यादि के मध्य वायु को संवर्ग निर्धारित किया गया है और 'निःसन्देह प्राण संवर्ग है' इस अध्यात्म प्रसङ्ग में वागादि इन्द्रियों के मध्य प्राण को संवर्ग निश्चित किया गया था। वहाँ पर यह सन्देह होता है कि वायु और प्राण का पृथक्-पृथक् ही चिन्तन करना चाहिए अथवा अपृथक्रूप से चिन्तन करना चाहिए क्योंकि तत्त्वतः इन दोनों का अभेद है। तत्त्व के अभिन्न रहने पर पृथक् चिन्तन उचित नहीं जान पड़ता। 'अग्नि वाग् बनकर मुख में प्रवेश कर गयी' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर श्रुति अध्यात्म और अधिदेव का तत्त्वतः अभेद बतलाती है। वैसे ही सूत्रात्मक वायु के ही ये सब समानरूप हैं' और ये सभी अनन्त हैं' इन वाक्यों के द्वारा आध्यात्मिक प्राणों की आत्मस्वरूपा आधिदैविकी विभूति भी श्रुति बतलाती है। और उसी प्रकार अन्यत्र भी

१. ध्यातव्यौ। २. स्वरूपाभेदात्।

दर्शयति । तथान्यत्रापि तत्रतत्राध्यात्ममधिदैवतं च बहुधा तत्त्वाभेददर्शनं भवति । क्वचिच्च 'यः प्राणः स वायुः' इति विस्पष्टमेव वायुं प्राणं चैकं करोति । तथोदाहृतेऽपि वाजसनेयिब्राह्मणे 'यतश्चोदेति सूर्यः' (बृ० १-५-२३) इत्यस्मिन्नुपसंहारश्लोके 'प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति' (बृ० १-५-२३) इति प्राणेनैवोपसंहरन्नेकत्वं दर्शयति । 'तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च' (बृ० १-५-२३) इति च प्राणव्रतेनैवैकेनोपसंहरन्नेतदेव द्रढयति । तथा छान्दोग्येऽपि परस्तात् । 'महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपाः' (छा० ४-३-६) इत्येकमेव संवर्गं गमयति न ब्रवीत्येक एकेषां चतुर्णां संवर्गोऽपरोऽपरेषामिति, तस्मादपृथक्त्वमुपगमनस्येति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पृथगेव वायुप्राणावुपगन्तव्याविति । कस्मात् । पृथगुपदेशात् । आध्यानार्थो ह्ययमध्यात्माधिदैवविभागोपदेशः सोऽसत्याध्यानपृथक्त्वेऽनर्थक एव स्यात् ।

ध्यानैक्यमित्याह—तस्मादिति । व्रतैक्यस्य प्रशस्तत्वादित्यर्थः । किंच वायुप्राणौ संवर्गौ भेदेनोपक्रम्य परस्ताद्वाक्यशेषे संवर्गदेवैक्यश्रुतेः प्रयोगैक्यमित्याह—तथेति । महात्मनः इति द्वितीयाबहुवचनम् । चतुरश्चतुःसंख्याकानग्निसूर्योदकचन्द्रानपरांश्च वाक्चक्षुःश्रोत्रमनोरूपानेको देवः कः प्रजापतिः, जगार गीर्णवानुपसंहृतवानित्यर्थः । न ब्रवीति भेदमिति शेषः ।

यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्युत्पन्नाग्निहोत्रस्यैकस्यैव दधितण्डुलादिगुणभेदेन सायंप्रातःकालभेदेन प्रयोगभेदस्तथा 'अन्नादो भवति य एवं वेद' इत्युत्पन्नायाः संवर्गविद्याया एकत्वेऽप्युत्पन्नशिष्टवायुप्राणाख्यगुणभेदात्प्रयोगभेद इत्युत्सूत्रं सिद्धान्तयति—पृथगेवेति । 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ' इत्यु-

अध्यात्म एवं अधिदैव स्थलों में वायु तथा प्राण का बहुधा तत्त्वतः अभेद ही दीखता है ! कहीं-कहीं पर तो 'जो प्राण है वही वायु है' ऐसे वाक्यों द्वारा स्पष्टरूप से प्राण तथा वायु को अभिन्न कहा है । ठीक उसी प्रकार उदाहृत वाजसनेयी ब्राह्मण में भी 'जहाँ से सूर्योदय होता है' इस उपसंहार श्लोक में 'प्राण से सूर्य उदय होता है और प्राण में ही अस्त होता है, इस वाक्य से प्राण के द्वारा उपसंहार करते हुए वायु एवं प्राण में एकत्व श्रुति बतलाती हैं । इसी को 'इसलिए एक ही व्रत का अनुष्ठान करे अर्थात् स्वास और परस्वास लेवे' इस वाक्य से एक प्राणव्रत के द्वारा प्रसङ्ग का उपसंहार करते हुए श्रुति इस पक्ष को ही दृढ़ कर रही है । छान्दोग्य में भी वायु और प्राण को संवर्ग बतला देने के बाद 'अग्नि, सूर्य, जल और चन्द्रमा एवं वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मनरूप चार चार संख्यावाले देवताओं में एक देव प्रजापति है जो इन सब को निगल जाता है, इस प्रकार इनका रक्षक है' इस वाक्य द्वारा संवर्ग को श्रुति एक ही बतलाती है ।' प्रथम चार में से एक संवर्ग और दूसरे चार में से दूसरा संवर्ग नहीं है किन्तु संवर्ग एक ही है । इससे यह निश्चित होता है कि इनका चिन्तन अपृथक् रूप से ही करना चाहिए ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि वायु और प्राण का चिन्तन पृथक् पृथक् ही करना चाहिए क्योंकि इनका पृथक्-पृथक् उपदेश है । यह अध्यात्म और अधिदैव विभागोपदेश पृथक् चिन्तन के लिए ही तो किया गया है, पृथक् चिन्तन न मानने पर तो उक्त विभागोपदेश अनर्थक ही हो जायेगा । शङ्का—तत्त्वतः दोनों का अभेद होने से अपृथक् चिन्तन की बात हम कह

१. ध्यानैक्यम् । २. ध्यानस्य ।

ननूक्तं न पृथगनुचिन्तनं तत्त्वाभेदादिति । नैष दोषः । तत्त्वाभेदेऽप्यव[1]स्थाभेदादुपदेशभेद-वशेनानुचिन्तनभेदोपपत्तेः । श्लोकोपन्यासस्य च तत्त्वाभेदाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानस्य पूर्वोदितध्येयभेदनिराकरणसामर्थ्याभावात् । 'स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुः' (बृ० १-५-२२) इति चोपमानो[2]पमेयकरणात् ।

एतेन व्रतोपदेशो व्याख्यातः । 'एकमेव व्रतम्' (बृ० १-५-२३) इति चैवकारो वागादिव्रतनिवर्तनेन प्राणव्रतप्रतिपत्त्यर्थः । भग्नव्रतानि हि वागादीन्युक्तानि 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे' (बृ० १-५-२१) इति श्रुतेः । न वायुव्रतनिवृत्त्यर्थः 'अथातो व्रतमीमांसा' (बृ० १-५-२१) इति प्रस्तुत्य तुल्यवद्वायुप्राणयोरभग्नव्रतत्वस्य निर्धारितत्वात् । 'एकमेव व्रतं

पास्यभेदवाक्यस्य प्रयोगभेदपरत्वाद्वाक्यादेव भेदसिद्धिरित्यर्थः । पूर्वपक्ष्युक्तमनूद्य प्रत्याह—ननूक्तमित्यादिना । उपास्यतया प्रधानभूतसंवर्गगुणविशिष्टोपास्य[3]भेदवाक्यविरोधादनुपास्यवायुतत्त्वैक्यवचनं न प्रयोगैक्यप्रापकमिति भावः । सूर्योदयास्तमययोर्वाय्वधीनत्वात्त[4]दभेदाभिप्रायेण प्राणात्तावुक्तौ । ततोऽध्यात्माधिदैवावस्थाभेदेनोक्तस्य ध्येयभेदस्य निरासे 'यतश्चोदेति' इति श्लोकस्य न शक्तिरित्याह—श्लोकेति । असामर्थ्ये लिङ्गमाह—स यथेति ।

श्लोकोपन्यासवद्व्रतैक्योपन्यासोऽपि तत्त्वाभेदाभिप्रायेणेत्याह—एतेनेति । नन्वेवकाराद्वायुव्रतनिवृत्तेः प्राण एवैको ध्येयो भातीत्यत आह—एकमेवेति । वदनदर्शनादीनि वाक्चक्षुरादीनां व्रतानि श्रमरूपमृत्युना भग्नानीत्युक्त्वा प्राणस्याभग्नव्रतत्वं निर्धारितं, तथा ज्वलनतापादीन्यग्न्यादित्यादीनां व्रतानि भग्नानीत्युक्त्वा वायोरभग्नव्रतत्वं निर्धारितं, 'स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राणः स्थिरव्रतः एवमेतासां देवतानां वायुर्म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषानस्तमिता देवता यद्वायुः' इति श्रुतेः । अतो भग्नव्रतनिरासार्थ एवकारो न वायुव्रतनिवृत्त्यर्थ इत्यर्थः । अत्रैवार्थे लिङ्गमाह—एकमिति । उकारश्चार्थः । तेन व्रतेन वायोः सायुज्य[5]समानदेहत्वं सलोकतां च

आये हैं । समाधान—यह कोई दोष नहीं है । तत्त्वतः अभेद रहने पर भी अवस्थाभेद के कारण उपदेश विभागपूर्वक किया गया है इसीलिए इन दोनों का पृथक्-पृथक् चिन्तन करना युक्तियुक्त है । तत्त्व में अभेद बतलाने के अभिप्राय से श्लोक का उपन्यास युक्तिसङ्गत होने पर भी पूर्वोक्त उपास्यभेद का निराकरण करने की शक्ति उसमें नहीं है । 'जैसे इन इन्द्रियों के मध्य प्राण श्रेष्ठ है वैसे ही इन देवताओं के मध्य वायु श्रेष्ठ है', इस वाक्य के द्वारा वायु एवं प्राण में उपमान-उपमेयभाव दिखलाया गया है, इससे भी दोनों का पृथक् चिन्तन निश्चित होता है ।

इससे व्रतोपन्यास का व्याख्यान भी हो गया । तत्त्वतः अभेद के अभिप्राय से ही '**एकमेव व्रतम्**' ऐसा कहा है, इसमें एवकार वागादि व्रतानुष्ठान को निवृत्त करते हुए प्राणव्रत का बोध कराता है क्योंकि वागादि के व्रत भग्न हो चुके हैं ऐसा 'उस वागादि को मृत्यु ने श्रम बनकर घेर लिया' इस श्रुति के द्वारा वागादि भग्नव्रत कहे गए हैं । वायुव्रत की निवृत्ति के लिए यह प्रसङ्ग नहीं कहा गया है क्योंकि '**अथातो व्रतमीमांसा**' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर वायु एवं प्राण का अभग्नव्रतत्व एक जैसा निश्चित किया गया है । 'एक ही व्रत का आचरण करे' ऐसा कहकर 'इससे इस देवता के समानदेहत्व और

---

१. अध्यात्मादि । २. तत्त्वाभेदे वाध्येतेति शेषः । ३. तौ वा एतौ द्वौ संवर्गावित्यादिवाक्य । ४. तयोर्वायुप्राणयोः स्वरूपाभेदाभिप्रायेण । ५. व्यापक ।

चरेत्' (बृ० १-५-२३) इति चोक्त्वा 'तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' (बृ० १-५-२३) इति वायुप्राप्तिं फलं ब्रुवन्वायुव्रतमनिवर्तितं दर्शयति। देवतेत्यत्र वायुः स्यादपरिच्छिन्नात्मकत्वस्य प्रेप्सितत्वात्। पुरस्तात्प्रयोगाच्च 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः'(बृ०१-५-२२) इति। तथा 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु' (छा० ४-३-४) इति भेदेन व्यपदिशति 'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' (छा० ४-३-८) इति च भेदेनैवोपसंहरति। तस्मात्पृथगेवोपगमनम्। प्रदानवत्। यथेन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायाधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञ इत्यस्यां त्रिपुरोडाशिन्यामिष्टौ सर्वेषामभिगमयन्नवद्यत्यच्छं वट्कारमिति। अतो वचनादिन्द्राभेदाच्च सहप्रदानाशङ्कायां राजादिगुणभेदाद्याज्यानुवाक्याव्यत्यासविधानाच्च यथान्यासमेव देवतापृथक्त्वात्प्रदान-

जयतीत्यर्थः। नन्वत्र वायुप्राप्तिर्न श्रुतेत्यत्राह—देवतेति। तस्मात्तत्त्वाभेददृष्ट्या व्रतैक्यमिति स्थितं, संप्रति पूर्वोक्तं पृथगुपदेशं विवृणोति—तथा तौ वा इति। सौत्रं दृष्टान्तं व्याचष्टे—प्रदानवदिति। त्रयः पुरोडाशा अस्यां सन्तीति त्रिपुरोडाशिनीष्टिस्तस्यां किं सहप्रदानमुत भेदेनेति संदेहे पूर्वपक्षमाह—सर्वेषामिति। सर्वेषां देवानामाभिमुख्येन प्रापयन्हविरवद्यति गृह्णाति, अच्छ वट्कारं वषट्काराख्यदेवभागमित्यर्थः। यद्वा सर्वदेवार्थे युगपदवदानं कार्यमित्यत्र हेतुरच्छं वट्कारमिति अव्यर्थत्वायेत्यर्थः। एकार्थमवत्ते हविषि शेषो यागानर्हतया वृथा स्यादिति भावः। एवं सहावदानश्रुतेर्देवैक्याच्च पुरोडाशानां सहप्रक्षेपे प्राप्ते पृथक्प्रक्षेप इति सिद्धान्तमाह—राजेति। राजाधिराजस्वराजगुणभेदेन

समान लोकत्व पर साधक विजय प्राप्त कर लेता है' इस वाक्य द्वारा वायु की प्राप्तिरूप फल बतलाते हुए वायुव्रत का निवृत्त होना श्रुति नही कहती है क्योंकि यहाँ पर वायु ही देवता है जिसे अपरिच्छिन्न आत्मरूप में प्राप्त करना इष्ट है और 'यह देवता कभी अस्त नहीं होता जो वायु है' इस वाक्य द्वारा पहले भी वायु को अनस्तमित देवता कहा है। इस प्रकार 'ये दो संवर्ग हैं, देवताओं में वायु संवर्ग है और इन्द्रियों में प्राण संवर्ग है' इस वाक्य से बतलाया गया भेदव्यपदेश भी पृथक् चिन्तन का ही संकेत करता है। 'अध्यात्म में पाँच और अधिदैव में पाँच हैं, ये दानों ही मिलकर दश हो जाते हैं जो कृतरूप हैं' इस वाक्य द्वारा अध्यात्म एवं अधिदैव का उपसंहार भी भेदपूर्वक ही किया गया है। अतः प्राण और वायु का पृथक्-पृथक् ही चिन्तन करना चाहिए। जैसे इन्द्र देवता एक है फिर भी अधिराज और स्वराजरूप उपाधिभेद मानकर उसे एकादशकपाल पुरोडाश भिन्न-भिन्न रूप से त्रिपुरोडाशिनी इष्टि में देते हैं। 'सभी देवताओं को आभिमुख्येन प्राप्त कराना, सभी के लिए हवि का अवदान करना और सभी के लिए वषट्काराख्य देवभाग को ग्रहण करना' इस वाक्य द्वारा पृथक्-पृथक् ही अवदान बतलाया गया है। अतः इस वचन से और इन्द्र देवता का अभेद होने से सहप्रदान की आशङ्का होने पर (सिद्धान्त कहते हैं कि) राजादि गुणों का भेद रहने के कारण और याज्या एवं अनुवाक्या का व्यात्यासविधान होने से न्यास के अनुरूप ही देवतापृथक्कत्व को देखते हुए प्रदान भी पृथक् ही होता है। ऐसे ही वायु और प्राण में तत्त्वाभेद रहने पर भी चिन्तनीय अंश पृथक् होने के कारण इनका पृथक् चिन्तन ही शास्त्रसम्मत है। ऐसा ही देवताकाण्ड में महर्षि जैमिनि ने 'राजादि गुण-भेद

१. ध्यानम्। २. गृहीते।

२९. लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् (सू० ४४)

कर्मशेषाः स्वतन्त्रा वा मनश्चित्प्रमुखाग्नयः । कर्मशेषाः प्रकरणाल्लिङ्गं त्वन्यार्थदर्शनम् ।
उन्नेयविधिगाल्लिङ्गादेव श्रुत्या च वाक्यतः । बाध्यं प्रकरणं तस्मात्स्वतन्त्र वह्निचिन्तनम् ।।

पृथक्त्वं भवति । एवं तत्त्वाभेदेऽप्या ध्येयांशपृथक्त्वादाध्यानपृथक्त्वमित्यर्थः । तदुक्तं संकर्षे 'नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात्' इति । तत्र तु द्रव्यदेवताभेदाद्यागभेदो विद्यते नैवमिह विद्याभेदोऽस्ति । उपक्रमोपसंहाराभ्यामध्यात्माधिदैवोपदेशेष्वेकविद्याविधानप्रतीतेः । विद्यैक्येऽपि त्वध्यात्माधिदैवभेदात्प्रवृत्तिभेदो भवति । अग्निहोत्र इव सायंप्रातःकालभेदात् । इत्येतावदभिप्रेत्य प्रदानवदित्युक्तम् ।।४३।।

विशिष्टदेवताभेदादित्यर्थः । किंचाध्वर्युणा यजेति प्रैषे कृते होत्रा यो मन्त्रः पठ्यते सा याज्या, अनुब्रूहीति प्रैषानन्तरमन्त्रः पुरोऽनुवाक्येति भेदोऽस्ति, तत्रास्यामिष्टौ प्रथमपुरोडाशप्रदाने या क्लृप्ता याज्या सा द्वितीयप्रदाने पुरोऽनुवाक्या, या च पूर्वानुवाक्या, सा पश्चाद्याज्येति व्यत्यासमन्वाहेति श्रुत्या विधानात्, यथाश्रुति प्रक्षेपपृथक्त्वमित्याह—याज्येति । संकर्षो देवताकाण्डम् । वाशब्दोऽवधारणे, नानैव देवता राजादिगुणभेदेन भेदावगमादिति सूत्रार्थः । दृष्टान्ते देवताभेदात्कर्मभेदवद्विद्याभेदः स्यादित्यत आह—तत्र त्विति । कर्मोत्पत्तिवाक्यस्थदेवताभेदः कर्मभेदे हेतुरिह त्वन्नादो भवति य एवं वेदेत्युत्पत्तावेकत्वेन ज्ञातविद्यायाः पश्चाच्छ्रुतवायुप्राणभेदो न भेदकः, अग्निहोत्रस्येव दध्यादिद्रव्यभेद इत्यर्थः तर्हि केनांशेन प्रदानस्य दृष्टान्तत्वमित्यत आह—विद्यैक्येऽपीति । अवस्थाभेदाद्देवताभेदः प्रयोगभेदश्चेत्यंशेनायं दृष्टान्त इत्यर्थः ।।४३।।

के कारण देवता पृथक्-पृथक् हैं इसीलिए इनकी उपासना भी पृथक् करनी चाहिए' इस वाक्य द्वारा कर्मभेद की भाँति उपासना में भी भेद ही माना है। किन्तु वहाँ पर द्रव्य और देवता का भेद होने से याग में भी भेद ही रहता है, वैसा यहाँ पर उपासना में भेद उपक्रम-उपसंहार के आधार पर नहीं सिद्ध होता क्योंकि अध्यात्म एवं अधिदैव उपदेश में एक विद्या का विधान प्रतीत होता है। विद्या के एक होने पर भी अध्यात्म एवं अधिदैव भेद के कारण चिन्तन में भेद अवश्य होता है, जिस प्रकार नित्याग्निहोत्र एक है फिर भी सायं-प्रातः भेद के कारण उसमें प्रवृत्तिभेद होता है। इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने 'प्रदानवत्' यह दृष्टान्त दिया है ।।४३।।

२९. लिङ्गभूयस्त्वाधिकरण

१. **सङ्गति**—पिछले अधिकरण में एक प्रयोग का होना असम्भव होने के कारण वायु एवं प्राण का भिन्नरूप में चिन्तन कहा गया था, तब तो मनश्चिदादि अग्नियों का कर्माङ्गरूप से अभिन्नरूप में चिन्तन करना उचित होगा; इस प्रकार प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण कहा गया है।

२. **विषय**—वाजसनेयक अग्निरहस्य में मन के अधिकार में 'छत्तीस हजार अग्नियाँ सुनी जाती हैं जो मनोमय हैं।' वैसे ही वाक्चित् प्राणचित् चक्षुश्चित्, श्रोत्रचित्, कर्मचित् और अग्निचित् भी सुनी जाती है। इस अधिकरण में इनके स्वरूप तथा चयन पर विचार किया गया है।

३. **संशय**—क्या मनश्चिदादिरूप कर्माङ्गभूत अग्नि केवल उपासना के लिए है, अथवा स्वतन्त्र है ?

---

१. अध्यात्माद्यवस्थाभेदविशिष्ट आध्येयांशः।

(४०३) लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥४४॥

वाजसनेयिनोऽग्निरहस्ये—'नैव वा इदमग्रे सदासीत्' इत्येतस्मिन्ब्राह्मणे मनोऽधिकृत्याधीयते 'तत्षट्त्रिंशत्सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मनश्चितः' इत्यादि। तथैव 'वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचितः' इति पृथगग्नीनामनन्ति साम्पादिकान्। तेषु संशयः—किमेते मनश्चिदादयः क्रियानुप्रवेशिनस्तच्छेषभूता उत स्वतन्त्राः केवलविद्यात्मका इति।

तत्र प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशे प्राप्ते स्वातन्त्र्यं तावत्प्रतिजानीते लिङ्गभूयस्त्वादिति।

लिङ्गभूयस्त्वात्। उत्पत्तेः प्रागिदं सर्वं नैव सदासीन्नाप्यसदित्युपक्रम्य मनःसृष्टिमुक्त्वा तन्मन आत्मानमैक्षतेतीक्षणपूर्वकमग्नीनपश्यदिति मनोऽधिकृत्य पठन्तीत्यर्थः। पुरुषायुष्ट्वेन क्लृप्तशतवर्षान्तर्गतैः षट्त्रिंशत्सहस्रैरहोरात्रैरविच्छिन्नतया मनोवृत्तीनामसङ्ख्येयानामपि षट्त्रिंशत्सहस्रत्वम्। ताभिरिष्टकात्वेन कल्पिताभिर्मनसैव संपादिता अग्नयो मनश्चितस्तानर्कान्पूज्यान्मनोमयान्मनोवृत्तिषु संपादितानात्मनः स्वस्य संबन्धित्वेन मनोऽपश्यत्, तथा वाक्प्राणादयोऽपि स्वस्ववृत्तिरूपानग्नीनपश्यन्नित्याह—तथेति। प्राणो घ्राणं कर्मेन्द्रियेण हस्तादिना चितः कर्मचितः अग्निस्त्वक् 'पूर्वत्राग्निचयनप्रकरणात्किमेतेऽग्नयः क्रत्वर्था उत 'प्राधान्यज्ञापकलिङ्गादिभूयस्त्वात्पुरुषार्था वेति संशयमाह—तेष्विति। केवलविद्यात्मकाः क्रियाङ्गत्वं विना 'भावनामया इत्यर्थः।

एकप्रयोगासंभवाद्वायुप्राणयोर्ध्यानप्रयोगभेदोऽस्तु, इह तु मनश्चिदाद्यग्नीनां प्रकरणात्कर्माङ्गत्वेनैकप्रयोगत्वमिति 'प्राप्य सिद्धान्तमुपक्रमते—तत्रेत्यादिना। पूर्वपक्षे भावनाग्नीनां क्रत्वङ्गत्वमिष्टं

४. **पूर्वपक्ष**—प्रकरण को देखते हुए क्रियानुप्रवेशी मनश्चिदादि अग्नियाँ कर्माङ्ग ही हैं।

५. **सिद्धान्त**—पूर्वोक्त मनश्चिदादि अग्नियाँ स्वतन्त्र हैं, इनके बोधक अनेक लिङ्ग हैं। प्रकरण प्रमाण से लिङ्ग प्रमाण बलवान होता है, ऐसा पूर्वमीमांसा में कहा गया है। अतः मनश्चित् आदि अग्नियों का स्वतन्त्ररूप से ही चिन्तन करना चाहिए, कर्माङ्गरूप में नहीं।

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि (ललिता)

वाजसनेय शाखा के अग्निरहस्य में 'उत्पत्ति से पूर्व यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् न सत् था, न असत् ही था' इस मन के अधिकारप्रसङ्ग पर पाठ मिलता है कि 'उस मन ने अपने को देखा और ईक्षणपूर्वक अग्नियों की सृष्टि की।' मनुष्य की आयु सौ वर्ष होती है, उसके अन्तर्गत छत्तीस हजार दिन-रात होते हैं जो अविच्छिन्नरूप से चलते रहते हैं, उन असंख्य मनोवृत्तियों को छत्तीस हजार में अन्तर्भूत कर दिया गया है। वे ईंटों के समान हैं और इन्हीं के द्वारा जाज्वल्यमान सूर्य के तुल्य मनोमय अग्नियों का चयन होता है। वैसे ही वाक्चित्, प्राणचित्, चक्षुश्चित्, श्रोत्रचित्, कर्मचित्, अग्निचित्—ये सब पृथक्-पृथक् अग्निचयनप्रसङ्ग साम्पादिक बतलाये गये हैं। उनके सम्बन्ध में यह संशय होता है कि क्या ये मनश्चिदादि अग्नियाँ क्रियानुप्रवेशी बनकर कर्माङ्ग हैं अथवा केवल विद्यारूप होने के कारण स्वतन्त्र हैं। इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि प्रकरण प्रमाण के बल इन्हें क्रियानुप्रवेशी मानना चाहिए।

पर सिद्धान्ती का कहना है कि ये अग्नियाँ स्वतन्त्र हैं और केवल उपासना के लिए हैं क्योंकि

१. षट्त्रिंशतमित्यतः प्रागाग्नि रहस्य एवेत्यर्थः। २. स्वातंत्र्यम्। ३. मनसा ध्येयाः। ४. पूर्वपक्षम्।

(४०४) पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ॥४५॥

भूयांसि हि लिङ्गान्यस्मिन्ब्राह्मणे केवलविद्यात्मकत्व मेषामुपोद्बलयन्ति दृश्यन्ते 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा सङ्कल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः' इति 'तान्हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति चैवंजातीयकानि । तद्धि लिङ्गं प्रकरणाद्बलीयः, तदप्युक्तं पूर्वस्मिन्काण्डे—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३-३-१३) इति ॥४४॥

नैतद्युक्तं स्वतन्त्रा एतेऽग्नयोऽनन्यशेषभूता इति । पूर्वस्य क्रियामयस्याग्नेः प्रकरणात्तद्विषय एवायं विकल्पविशेषोपदेशः स्यान्न स्वतन्त्रः । ननु प्रकरणाल्लिङ्गं बलीयः । सत्यमेवमेतत् । लिङ्गमपि त्वेवंजातीयकं न प्रकरणाद्बलीयो भवति । अन्यार्थदर्शनं

तेषां 'क्रियाग्निना विकल्पः समुच्चयो वास्तु । सिद्धान्ते पुरुषार्थत्वमिति फलम् । तत्तत्र सर्वप्राणिमनोवृत्तिभिर्मम सदाग्नयः चीयन्त इति ध्यानदार्ढ्ये सति सर्वभूतानि यत्किंचित् मनसा संकल्पयन्ति 'तेषामेवाग्नीनां सा कृतिः 'करणमित्येकं लिङ्गं, क्रियाङ्गस्य यत्किंचित्करणेन सिद्ध्यदर्शनादित्याह—तद्यदिति । 'एवंविदे स्वपते जाग्रतेऽपि तदीयाग्नीन्भूतानि सर्वदा चिन्वन्तीति लिङ्गान्तरं, क्रियाङ्गस्य चोदितकालानुष्ठेयस्य सदा सर्वैरनुष्ठीयमानत्वायोगादित्यर्थः । षट्त्रिंशत्सहस्रत्वसंख्याप्यनङ्गत्वे लिङ्गं एवंजातीयकपदेनोक्तम् ॥४४॥

एवं सिद्धान्तमुपक्रम्य पूर्वपक्षयति—पूर्वेति । पूर्वस्येष्टकाभिरग्निं चिनुत इत्युक्तस्य स एष विष्टकाग्निरिति संनिहितस्यायं विकल्पविशेषोपदेशः संकल्पमयत्वाख्यप्रकारभेदोपदेशः क्रियाग्निवत्सांकल्पिकाग्नयोऽप्यङ्गमिति यावत् । किं विधिवाक्यस्थं लिङ्गं प्रकरणाद्बलीयः, अर्थवादस्थं वा । आद्यमङ्गीकरोति—सत्यमिति । न द्वितीय इत्याह—लिङ्गमिति । मानसाग्निविध्यर्थवादस्थलिङ्गानां स्वार्थ-

इन अग्नियों की स्वतन्त्र उपासना बतलाने वाले अनेकों लिङ्ग दीखते हैं । ये सभी प्राणी जो मन से संकल्प करते हैं वह उस उपासक की ही कृति है' और 'ऐसा उपासक पुरुष सोता हो अथवा जागता हो, दोनों ही दशा में मन से इनका चयन करता ही रहता है; ऐसे उपासक के लिए सदा सभी प्राणी चयन करने वाले ही माने जाते हैं' ये सभी लिङ्ग प्रमाण उन अग्नियों के और उपासनायोग्य अर्थ के बोधक हैं । वह लिङ्ग प्रकरण से बलवान् होता है, यह बात पूर्व काण्ड के 'श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या जैसे प्रमाणों के एकविषय में उपस्थित होने पर अर्थविप्रकर्ष के कारण परस्पर में दौर्बल्य माना गया है, इस सूत्र द्वारा स्पष्ट किया गया है ॥४४॥

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रिया मानसवत् (ललिता)

पूर्वसूत्र से सिद्धान्त का उपक्रमकर पूर्वपक्षी कहता है कि इन अग्नियों को स्वतंत्र कहना और किसी कर्म का शेष न मानना उचित नहीं है क्योंकि इससे पूर्व क्रियामय अग्नि का प्रकरण चल रहा था, उसी के विषय में यह विकल्प विशेषरूप से कहा गया है, अतः यह स्वतन्त्र नहीं है । शङ्का—

१. अग्नीनाम् । २. उपष्टम्भयंति । ३. अर्थवादस्थम् । एवं जातीयकमिति सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वंतीत्याद्यर्थवादस्थमिति यावदिति आनंदगिरिः । ४. मानसाग्निसंपादनार्थम् । ५. ऋत्वंगभूतान्हननीयादिना । ६. ममाग्नीनामेव । ७. संपादनम् । ८. सर्वप्राणि मनोवृत्तिभिर्ममसदाग्नयश्चीयंत इत्येवंविद इत्यर्थः ।

ह्येतत् । साम्पादिकाग्निप्रशंसारूपत्वात् । [1]अन्यार्थदर्शनं चासत्याम[2]न्यस्यां प्राप्तौ गुणवादेनाप्युपपद्यमानं न प्रकरणं बाधितुमुत्सहते । [3]तस्मात्सांपादिका अप्येतेऽग्नयः प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशिन एव स्युः । मानसवत् । यथा दशरात्रस्य दशमेऽहन्यविवाक्ये पृथिव्या पात्रेण समुद्रस्य सोमस्य प्रजापतये देवतायै गृह्यमाणस्य ग्रहणासादनहवनाहरणोपह्वानभक्षणानि मानसान्येवाम्नायन्ते । स च मानसोऽपि ग्रहकल्पः क्रियाप्रकरणात्क्रियाशेष एव भवत्ये[4]वमयमप्य[5]ग्निकल्प इत्यर्थः ॥४५॥

प्रापकमानाभावाद्दौर्बल्यमित्यर्थः । सूत्रस्थक्रियापदं व्याचष्टे—तस्मादिति । ननु अक्रियारूपाग्नीनां ध्यानमयानां कथं क्रियाङ्गत्वं तत्राह—मानसवदिति । द्वादशाहस्याद्यन्ताहर्द्वयं त्यक्त्वा मध्यस्थदशरात्रस्यैव द्विरात्रादिषु प्रकृतित्वं, तद्धर्माणामेव तेष्वतिदेशात्तस्य मध्यदशरात्रस्य दशमेऽहन्यर्थादेकादशेऽहनि मानसग्रहः श्रूयते—'अनया त्वा पात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनोग्रहं गृह्णाति' इति । अनया [6]रसया पृथिव्या पात्रेण समुद्रं त्वां प्रजापतिदेवताकं मनोग्रहं गृह्यते इति ग्रहः सोमरसः, मनसा रसत्वेन [7]भावितमध्वर्युर्गृह्णातीत्यर्थः । अत एवर्त्विजां ध्यायितया विविधवाक्योच्चारणाभावादविवाक्यसंज्ञा अह्नः प्राप्ता । ग्रहणं नाम सोमपात्रस्योपादानं, गृहीतस्य स्वस्थाने स्थापनमासादनं, सोमस्य होमो हवनं हुतशेषादानमाहरणं शेषभक्षणार्थर्त्विजां मिथोऽनुज्ञानकरणमुपह्वानं ततो भक्षणमित्येतानि मानसान्येवेत्यर्थः । स च मानसो ग्रहो द्वादशाहादहर[8]न्तरं स्वतन्त्रमित्याशङ्क्य द्वादशाहसंज्ञाविरोधान्नाहरन्तरं किंतु प्रकरणादविवाक्यस्याह्नोऽङ्गमिति सिद्धान्तमाह—स चेति । कल्पः कल्पनाप्रकारः । केचित्त्वत्र भाष्ये दशरात्रशब्दो विकृतिपरः, तत्रापि दशमेऽहन्यविवाक्यसंज्ञके मानसग्रहस्यातिदेशप्राप्ततयाङ्गत्वादित्याहुः ॥४५॥

प्रकरण से लिङ्ग बलवान् होता है इसलिए इन्हें उपासना के लिए स्वतन्त्र मानना उचित होगा । समाधान—ठीक ही है, किन्तु ऐसा लिङ्ग भी प्रकरण से बलवान नहीं होता है, साम्पादिक अग्नि की प्रशंसारूप होने के कारण यह भिन्न प्रयोजनवाला है । अन्य प्रयोजन न होने पर इस लिङ्ग को गुणवाद के रूप में भी माना जायेगा जो प्रकरण प्रमाण को नहीं बाध सकता है । अतः उपास्यरूप होते हुए भी ये अग्नियाँ प्रकरण प्रमाण के बल से कर्माङ्ग मानी ही जायेंगी । जैसे द्वादशरात्र याग के दशवें दिन अविवाक्य में पृथ्वी पात्र द्वारा समुद्र के सादृश परिमाण वाला सोमरस जब प्रजापति देवता के लिए गृह्यमाण होता हैं तब सोमपात्र का उपादानरूप ग्रहण, गृहीत सोम का अपने स्थान में स्थापनरूप आसादन, सोम का होम और हुतशेष का आदानरूप आहरण, शेषभक्षण के लिए ऋत्विजों का परस्पर अनुज्ञाकरणरूप उपह्वान, तदनन्तर उनका भक्षण; ये सब के सब मानस ही कहे गये हैं । वह मानसग्रह भी क्रियाप्रकरण के कारण पात्र के सदृश है एवं क्रियाशेष ही माना जाता है, ठीक ऐसे ही यह मानसाग्नि भी बाह्य अग्नि के सदृश ही है । अतएव ये मनश्चिदादि अग्नि कर्माङ्ग माने जाते हैं ॥४५॥

१. अन्यार्थदर्शनानामपि स्वार्थप्रापकत्वमाशङ्क्य मूलप्रमाणसत्त्वे तथात्वेऽपि प्रकृते तदभावान्नैवमित्याहान्यार्थेति । २. असति मूलप्रमाणे । ३. प्रकृतलिङ्गस्य प्रकरणाबाधकत्वे फलितमाह तस्मादित्यादिना । ४. अग्निकल्पनाप्रकारः क्रिया शेषः । ५. उक्तदृष्टान्तादग्निसंबंधिकल्पनाभेदोऽपि क्रियाधिकारात्क्रियानुप्रवेशीति दार्ष्टान्तिकमाह एवमिति । ६. एषां भूतानां पृथिवी रस इति छान्दोग्यश्रुतेः । ७. ध्यानमयं ग्रहमिति यावत् । ८. त्रयोदशाहरित्यर्थः ।

(४०५) अतिदेशाच्च ॥४६॥

(४०६) विद्यैव तु निर्धारणात् ॥४७॥

अतिदेशश्चैषामग्नीनां क्रियानुप्रवेशमुपोद्बलयति—'षट्त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्का[1][2]स्तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ 'पूर्वः'[3] इति । [4]सति हि सामान्येऽतिदेशः प्रवर्तते । [5]ततश्च पूर्वेणेष्टकाचितेन क्रियानुप्रवेशिनाऽग्निना साम्पादिकानग्नीनतिदिशन्क्रियानुप्रवेशमेवैषां द्योतयति ॥४६॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । विद्यात्मका एवैते स्वतन्त्रा मनश्चिदादयोऽग्नयः स्युर्न क्रियाशेषभूताः । [6]तथाहि निर्धारयति—'ते हैते विद्याचित एव' इति । "[7]विद्यया हैवंत एवंविदश्चिता भवन्ति' इति च ॥४७॥

मनश्चिदादीनां क्रियाङ्गत्वे प्रकरणमुक्त्वा लिङ्गमाह—अतिदेशाच्चेति । क्रियाङ्गत्वसादृश्यादतिदेश इत्यर्थः ॥४६॥

सिद्धान्तमाह—विद्येति ॥४७॥

अतिदेशाच्च (ललिता)

इन अग्नियों को क्रियानुप्रवेशी बतलाने वाला अतिदेशरूप लिङ्ग भी है—'ये छत्तीस हजार अग्नियाँ सूर्य के समान देदीप्यमान हैं, इनमें एक-एक अग्नि उस परिमाण को है जिस परिमाण को यह दृश्यमान पूर्व अग्नि है ।' सादृश्य रहने पर ही अतिदेश प्रवृत्त होता है । तदनन्तर पूर्वइष्टिकाचित् क्रियानुप्रवेशी अग्नि के द्वारा साम्पादिक छत्तीस हजार अग्नियों का अतिदेश बतलाते हुए श्रुति इन्हें क्रिया का अङ्ग ही द्योतित करता है, स्वतन्त्र नहीं ॥४६॥

विद्यैव तु निर्धारणात् (ललिता)

सूत्रोक्त 'तु' शब्द पूर्वोक्त दो सूत्रों में कहे गये पूर्वपक्ष का व्यावर्तक है । मनश्चिदादि अग्नियाँ उपासना के लिए स्वतन्त्र हैं, कर्म के अङ्ग नहीं हैं क्योंकि 'ये मनश्चिदादि अग्नियाँ निःसन्देह भावना से ही सम्पाद्यमान हैं' और 'इस प्रकार जाननेवाले उपासकों की ये मनश्चिदादि अग्नियाँ भावना से ही सम्पादित होती हैं' ऐसा अवधारण किया गया है । इस प्रकार उक्त दोनों श्रुतियों में निश्चयार्थक एवकार श्रुति कर्म प्रकरण की बाधिका है ॥४७॥

---

१. पूज्याः । २. क्रियामयस्याग्नेर्यावन्माहात्म्यं तावत्तेषां ज्ञानमयानामग्नीनां मध्ये एकैकस्याग्नेरित्यर्थः । ३. क्रियाग्निः । ४. कथं तावता क्रत्वङ्गत्वं तदाह सतीत्यादिना । ५. क्रियानुप्रवेशमन्तरेणान्यदेव सादृश्यमतिदेशकृतमस्त्विति आशङ्क्य तस्य योग्यानुपलम्भान्मैवमित्याह ततश्चेति । ६. हेतुं व्याचष्टे तथा हीति एवकार श्रुत्या प्रकरणं बाध्यमिति भावः । ७. मनश्चिदादीनां विद्यात्मत्वे श्रुतितात्पर्यं वक्तुं श्रुत्याभासं दर्शयन् वाक्यमपि समुच्चिनोति विद्ययेति ।

(४०७) दर्शनाच्च ॥४८॥

(४०८) श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥४९॥

दृश्यते चैषां स्वातन्त्र्ये लिङ्गम् । तत्पुरस्ताद्दर्शितम् 'लिङ्गभूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३-३-४४) इत्यत्र ॥४८॥

ननु [1]लिङ्गमप्यसत्या[2]मन्यस्यां प्राप्ताव[3]साधकं कस्यचिदर्थस्येत्यपास्य 'तत्प्रकरणसामर्थ्यात्क्रियाशेषत्वमध्यवसितमित्यत उत्तरं पठति—

नैवं प्रकरणसामर्थ्यात्क्रियाशेषत्वमध्यवसाय स्वातन्त्र्यपक्षो बाधितव्यः । श्रुत्यादेर्बलीयस्त्वात् । बलीयांसि हि प्रकरणाच्छ्रुतिलिङ्गवाक्यानीति स्थितं श्रुतिलिङ्गसूत्रे । तानि चेह स्वातन्त्र्यपक्षं साधयन्ति दृश्यन्ते । कथम् ? श्रुतिस्तावत् 'ते हैते विद्याचित एव' इति । तथा लिङ्गम् 'सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति । तथा वाक्यमपि 'विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति' इति । 'विद्याचित एव' इति हि सावधारणेयं श्रुतिः

श्रुतिलिङ्गवाक्यैः प्रकरणं बाध्यमिति सूत्रत्रयार्थः ॥४८॥

दर्शनाच्च (ललिता)

और इन अग्नियों की उपासना के लिए स्वातन्त्र्य बतलाने वाला लिङ्ग **'लिङ्गभूयस्त्वात्'** इस सूत्रांश से पहले ही बतला दिया गया है ॥४८॥

शङ्का—तात्पर्यनिर्णायक अन्य श्रुतियों के न रहने पर लिङ्ग प्रमाण भी किसी अर्थ का साधक नहीं होता, अतः लिङ्ग प्रमाण से किसी निर्णय की आशा को छोड़कर प्रकरणसामर्थ्य से मनश्चिदादि अग्नियों को कर्म का अङ्ग मानना चाहिए । समाधान—इस शङ्का के समाधान के लिए आगे का सूत्र पढ़ते हैं कि—

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः (ललिता)

इस प्रकार प्रकरण प्रमाण के सामर्थ्य से मनश्चिदादि अग्नियों को कर्म का शेष मानकर उनके स्वातन्त्र्य पक्ष का बाध नहीं कर सकते क्योंकि प्रकरण से श्रुत्यादि प्रमाण बलवान माने जाते हैं, यह निर्णय जैमिनि दर्शन-पूर्वमीमांसा के **'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'** इस सूत्र में किया जा चुका है । प्रकरण प्रमाण की अपेक्षा श्रुति, लिङ्ग एवं वाक्यप्रमाण बलवान होते हैं, इसीलिए वे यहाँ पर मनश्चिदादि अग्नियों के स्वातन्त्र्यपक्ष को सिद्ध करने वाले दीख पड़ते हैं । कैसे ? सर्वप्रथम 'वे ये अग्नियाँ भावना के द्वारा ही चुनी जाती हैं' इस श्रुति में अवधारणार्थक एवकार पद है । वैसे ही 'उस उपासक के सो जाने पर भी सदा सभी प्राणी उन अग्नियों का चयन करते ही रहते हैं' यह स्वातन्त्र्य का ज्ञापक लिङ्ग प्रमाण है । उसी प्रकार 'ये सब भावना से ही चयनीय हैं, इसीलिए इस उपासक को भावना से ही ये अग्नियाँ चयन की जाती हैं' यह वाक्य प्रमाण भी इन अग्नियों के स्वातन्त्र्य का बोधक है । यदि इन अग्नियों को कर्म का अङ्ग मानोगे तो **'विद्याचित एव'** यह सावधारण श्रुति बाधित होने लग जायेगी । **शङ्का—**

---

१. न श्रुत्यैव प्रकरणं बाध्यं लिंगादपीत्याह दर्शनाच्चेति । २. अर्थवादस्थम् । ३. असति मूलकारणे । ४. क्रिया ।

क्रियानुप्रवेशेऽमीषामभ्युपगम्यमाने [1]पीडिता स्यात् । नन्वबाह्यसाधनत्वाभिप्रायमिदमवधारणं भविष्यति । नेत्युच्यते । तदभिप्रायतायां हि विद्याचित इतीयता विद्यास्वरूपसंकीर्तनेनैव कृतत्वादनर्थकमिदमवधारणं भवेत् । स्वरूपमेव ह्येषामबाह्यसाधनत्वमिति । अबाह्यसाधनत्वेऽपि तु मानसग्रहवत्क्रियानुप्रवेशशङ्कायां तन्निवृत्तिफलमवधारणमर्थवद्भविष्यति । तथा 'स्वपते जाग्रते चैवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतान्येतानग्नींश्चिन्वन्ति' इति सातत्यदर्शनमेषां [2]स्वातन्त्र्येणैव कल्पते । यथा साम्पादिके वाक्प्राणमयेऽग्निहोत्रे 'प्राणं तदा वाचि जुहोति' वाचं तदा प्राणे जुहोति' (कौ० २-५) इति चोक्त्वोच्यते—'एते अनन्ते अमृते आहुती जाग्रच्च स्वपंश्च सततं जुहोति' (कौ० २-५) इति । तद्वत् । क्रियानुप्रवेशे तु क्रियाप्रयोगस्याल्पकालत्वात् न सातत्येनैषां प्रयोगः कल्पेत । न चेदमर्थवादमात्रमिति न्याय्यम् । [3]यत्र हि विस्पष्टो विधायको लिङ्गादिरुपलभ्यते युक्तं

तत्रावधारणश्रुतेरन्यथासिद्धिं शङ्कते—नन्वबाह्येति । विद्याचित इतिपदेनैवाबाह्यसाधनत्वस्य लब्धत्वादवधारणं व्यर्थमित्याह—नेति । तर्हि कथमस्यार्थवत्त्वं तत्राह—अबाह्येति । लिङ्गं व्यनक्ति—तथेति । अग्नीनां सर्वकालव्यापित्वेनानङ्गत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । तदा ध्यानकाल इत्यर्थः । होमे यथा सातत्यमुच्यते तद्वदग्नीनां सातत्यदर्शनमित्यन्वयः । यदुक्तमर्थवादस्थत्वाल्लिङ्गं दुर्बलमिति तन्न । सर्वदा सर्वभूतानि मदर्थमग्नीन् चिन्वन्तीति ध्यायेदित्यपूर्वार्थतया विधिकल्पनात् । तथाच विधिवाक्यस्थत्वाल्लिङ्गं प्रकरणाद्बलवदित्याह—न चेदमित्यादिना । एतेनेति । विधित्वेनेत्यर्थः । वाक्यं

अबाह्यसाधनत्वाभिप्राय के लिए यह अवधारण हो जायेगा, अतः स्वातन्त्र्य पक्ष का समर्थक नहीं होगा । समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं । अबाह्यसाधनत्वाभिप्राय से यदि उक्त श्रुति में अवधारणार्थक एव पद होता तो 'विद्याचितः' इतने विद्यास्वरूप के कथनमात्र से ही वह तात्पर्य सिद्ध हो जाता, ऐसी स्थिति में अवधारणार्थक एव पद निरर्थक हो जाता क्योंकि इन मनश्चिदादि अग्नियों का स्वरूप ही अबाह्यसाधनत्व है । अबाह्यसाधनत्व रहने पर भी मानसग्रह की भाँति क्रियानुप्रवेश की शङ्का होने पर उसकी निवृत्ति के लिए अवधारणार्थक एवकार पद सार्थक हो जायेगा इस प्रकार 'इस उपासक के सोये और जगे रहने पर सभी प्राणी इन अग्नियों का चयन करते ही हैं' इस वाक्य द्वारा सातत्यदर्शन इन अग्नियों के स्वातन्त्र्य का ही समर्थक है । जैसे वाक् एवं प्राणमय साम्पादिक अग्निहोत्र में 'ध्यान के समय साधक वाणी में प्राण की आहुति करे और प्राण में वाणी की आहुति करे' ऐसा कहने के बाद पुनः कहते हैं कि 'ये आहुतियाँ अन्तहीन अमरत्व प्रदान करने वाली हैं, इनका अनुष्ठान जाग्रत् और निद्रा में भी साधक सदा करता रहता है; वैसे ही मनश्चिदादि अग्नियाँ भी स्वतन्त्र उपासना के लिए हैं कर्माङ्ग नहीं है, कर्माङ्ग मानने पर क्रिया का प्रयोग अल्पकाल होने के कारण उनका सतत प्रयोग नहीं हो सकेगा । इन अग्नियों के सातत्य का अर्थवाद मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ विधायक लिङ् आदि शब्द विस्पष्ट उपलब्ध होता हो वहाँ पर ऐसे कथन में अर्थवादत्व आता है, किन्तु यहाँ पर विस्पष्ट विधायक पद उपलब्ध न होने के कारण

१. बाधितेति पाठान्तरम् । २. स्वातन्त्र्येणैवकल्पते इति पाठः सांप्रदायिकः । ३. अपूर्वार्थवादितया भासमानानां द्योतकत्वमात्रांगीकारेण गुणवादाश्रयणायोगादिति मत्वा आह यत्र हीति ।

(४०९) अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥५०॥

तत्र सङ्कीर्तनमात्रस्यार्थवादत्वम् । इह तु विस्पष्टविध्यन्तरानुपलब्धेः सङ्कीर्तनादेवैषां विज्ञानानां विधानं कल्पनीयम् । तच्च यथासङ्कीर्तनमेव कल्पयितुं शक्यत इति सातत्यदर्शना[१]त्तथाभूतमेव कल्प्यते । ततश्च सामर्थ्यादेषां स्वातन्त्र्यसिद्धिः । [२]एतेन 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा सङ्कल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः' इत्यादि व्याख्यातम् । तथा वाक्यमपि एवंविदे' इति पुरुषविशेषसंबन्धमेवैषामाचक्षाणं न क्रतुसम्बध[३]मृष्यते । [४]तस्मात्स्वातन्त्र्यपक्ष एव ज्यायानिति ॥४९॥

इतश्च प्रकरणमुपमृद्य स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनां प्रतिपत्तव्यम् । यत्क्रिया[५]वयवान्मनआदिव्यापारेष्वनुबध्नाति 'ते मनसैवाधीयन्त मनसैवाचीयन्त मनसैव ग्रहा अगृह्यन्त मनसाऽस्तुवन्मनसाऽशंसन्यत्किंच यज्ञे कर्म क्रियते यत्किंच [७]यज्ञीयं कर्म मनसैव तेषु तन्मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमेवक्रियते' इत्यादिना । [८]संपत्फलो ह्ययमनुबन्धः । [९]नच प्रत्यक्षाः क्रिया-

विवृणोति—तथेति ॥४९॥

संपद्रूपास्त्वयं मनोवृत्तिषु क्रियाङ्गानां योजनमनुबन्धः श्रुत्या क्रियते तदन्यथानुपपत्त्याप्यग्नीनां पुरुषार्थत्वं क्रत्वर्थत्वेनाङ्गानां सिद्धत्वेन संपादनानुपपत्तेरित्याह—इतश्चेत्यादिना । ते अग्नयः, आधीयन्त तेषामाधानं मनसैव कुर्यादित्यर्थः । कालस्य छन्दस्यनियमात् । अचीयन्त इष्टकाश्च तथा इत्यर्थः । ग्रहाः पात्राणि, अस्तुवन् उद्गातारः स्तुवन्ति, अशसन् होतारः शंसन्ति, किं बहूक्त्या यत्किंचि[१०]यज्ञे कर्मारादुपकारकं [११]यज्ञियं यज्ञस्वरूपोत्पादकं च तत्सर्वं मनोमयं कुर्यादिति श्रुत्यर्थः । वृत्तिष्वग्निध्यानस्य

संकीर्तनमात्र से ही इन उपासनाओं के विधान की कल्पना करनी पड़ेगा । जैसा वह शब्द है तदनुरूप ही अर्थ करना चाहिए, अतः सातत्य दीखने के कारण तदनुरूप ही कल्पना की जाती है । इसलिए सामर्थ्य से इन मनश्चिदादि अग्नियों में स्वातन्त्र्य की सिद्धि होती है । इससे 'जो भी कुछ ये प्राणी मन से संकल्प करते हैं वह कृति उन अग्नियों की ही है' यह वाक्य भी व्याख्यात हो गया । ऐसे ही 'एवंविदे' इस श्रुति में अग्नियों का पुरुषविशेष के साथ सम्बन्ध बतलाने वाला वाक्य प्रमाण भी यज्ञसम्बन्ध को स्वीकार नहीं करता है । अतः स्वातन्त्र्यपक्ष ही श्रेष्ठ है, यह सिद्ध हुआ ॥४९॥

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् (ललिता)

प्रकरण को बाधकर मनश्चिदादि अग्नियों की स्वतन्त्रता इसलिए भी समझनी चाहिए क्योंकि क्रिया के अवयवों को मन आदि व्यापार में लगाने का संकेत वहाँ मिलता है—'वे अग्नियाँ मन से ही आधान की जाती हैं, मन से ही उनके ईंटों का चयन होता है और मन से ही यज्ञपात्रों का ग्रहण होता है, उद्गाता स्तुति और होता शंसन् भी मन से ही करते हैं, इतना ही नहीं प्रत्युत यज्ञ में जो

१. स्वातंत्र्यमेव । २. उक्तन्यायं वाक्यांतरेपि संचारयति एतेनेति । ३. सहते । ४. श्रुतिलिंगवाक्येभ्यो अग्निप्रकरणे फलितमाह तस्मादिति । ५. अंगान् । ६. वृत्तिषु । ७. यज्ञियमिति पाठः सांप्रदायिकः । ८. किमर्थमिदमनुबन्धकरणं तदाह संपदिति । ९. उपास्त्यर्थेप्यनुबन्धे मनश्चिदादीनां क्रियानंगत्वे किमायातं तदाह न चेति । १०. प्रयाजादि । ११. संनिपत्योपकारकम् ।

वयवाः सन्तः [1]सम्पदा लिप्सितव्याः। न [2]चात्रोद्गीथाद्युपासनवत्क्रियाङ्ग[3]सम्बन्धात्तदनुप्रवेशित्वमाशङ्कितव्यं श्रुतिवैरूप्यात् । न ह्यत्र क्रियाङ्गं किंचिदादाय तस्मिन्नदो नामाध्यासितव्यमिति । वदति । षट्त्रिंशत्सहस्राणि तु मनोवृत्तिभेदानादाय तेष्वग्नित्वं ग्रहादींश्च कल्पयति पुरुषयज्ञादिवत् । संख्या चेयं पुरुषायुषस्याहःसु दृष्टा सती तत्सम्बन्धिनीषु मनोवृत्तिष्वारोप्यत इति द्रष्टव्यम् । एवमनुबन्धात्स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम् । आदिशब्दादतिदेशाद्यपि यथासम्भवं योजयितव्यम् । तथाहि—'तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ [4]पूर्वः' इति क्रियामयस्याग्नेर्माहात्म्यं ज्ञानमयानामेकैकस्यातिदिशन्क्रियायामनादरं दर्शयति । नच सत्येव क्रियासम्बन्धे विकल्पः पूर्वेणोत्तरेषामिति शक्यं वक्तुम् । [5]न हि येन व्यापारेणाहवनीयधारणादिना पूर्वः क्रियायामुपकरोति तेनोत्तर उपकर्तुं शक्नुवन्ति ।

क्रियानङ्गत्वेऽप्युद्गीथध्यानवत्क्रियाङ्गाश्रितत्वं स्यान्नेत्याह—न चात्रोद्गीथेति । अङ्गावबद्धश्रुतितोऽस्याः श्रुतेर्वैरूप्यं स्फुटयति—न हीति । अनङ्गवृत्तिषु साङ्गक्रतुसंपादनं पुरुषस्य यज्ञत्वध्यानवत् स्वतन्त्रमित्यर्थः । अनादरार्थोऽतिदेशो न भवति किंतु विकल्पार्थ इत्यत आह—न चेति । एकस्मिन्साध्ये निरपेक्षसाधनयोर्विकल्पो भवति यथा व्रीहियवयोरत्र तु क्रियाग्नेर्ध्यानाग्नीनां साध्यभेदान्न विकल्प इत्यर्थः । अत एव समुच्चयोऽपि निरस्तः ।

कुछ भी कर्म किये जाते हैं वे सभी यज्ञीय कर्म उस मनोमय अग्नियों में करना चाहिए।' वेद में काल का नियम न होने के कारण 'अचीयन्ते' यह लङ्लकार 'चेतव्याः' इस विधि अर्थ में समझना चाहिए। सम्पद् उपासना के लिए मनोवृत्ति में कर्माङ्गों की योजना को श्रुति अनुबन्ध कहती है, उस सम्पद् उपासना के फल को अनुबन्ध कहा गया है, प्रत्यक्ष क्रिया अवयव सम्पद् उपासना के साथ नहीं जोड़े जा सकते । और न उद्गीथादि उपासना की भाँति कर्माङ्ग से सम्बन्ध रखने के कारण इनमें कर्मानुप्रवेश की आशङ्का ही कर सकते हैं क्योंकि कर्माङ्गावबद्ध श्रुति से इस श्रुति का वैरूप्य दीखता है, इसमें किसी कर्माङ्ग को लेकर उसमें अमुक नाम का अभ्यास करे, ऐसा तो श्रुति कहती नहीं है। किन्तु छत्तीस हजार मनोवृत्तिभेद को लेकर उनमें अग्नित्व एवं पात्रादि की कल्पना पुरुषयज्ञ की भाँति श्रुति करती है । पुरुष की आयु के दिनों की जितनी संख्या है उतनी ही संख्या का आरोप उससे सम्बन्धित मनोवृत्तियों में किया जाता है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार अनुबन्ध के कारण मनश्चिदादि अग्नियों में स्वतन्त्रता निश्चित होती है, कर्माङ्गता नहीं। सूत्र में आये हुए 'आदि' शब्द से यथासम्भव अतिदेशादि अर्थ को भी ले लेना चाहिए। जैसे 'उन अग्नियों में से एक एक उस परिमाण वाली हैं जिस परिमाण वाली पूर्व की कर्माङ्ग अग्नि होती है' इस वाक्य द्वारा क्रियामय अग्नि के माहात्म्य को ज्ञानमय एक एक अग्नि में अतिदेश करता हुआ श्रुतिवाक्य क्रिया में कर्माङ्ग अग्नि का अनादर दिखलाती है, वैसे ही क्रियासम्बन्ध रहने पर ही पूर्व के साथ उत्तर अग्नि का विकल्प नहीं कह सकते क्योंकि आहवनीय अग्नि के धारणरूप जिस व्यापार से पूर्व अग्नि का उपकार होता है उसी व्यापार से उत्तर ज्ञानमय अग्नि का उपकार नहीं कर सकते ।

---

१. तेषां क्रियांगत्वे साक्षादेवाधानादि प्रसिद्धेरनर्थिका संपदित्यर्थः । २. उपासनं सप्तम्यर्थः । ३. मनश्चिदादीनां मनोवृत्तिद्वाराक्रियासम्बन्धादिति तदाशयः । ४. षट्त्रिंशत् । ५. क्रियाग्निः । ६. व्रीहिभिर्यवैर्वा यजेतेति क्रियते यवैरपि तावदिति मुक्तो विकल्पः प्रकृते तु मनश्चिदादीनां तदभावान्नेष्ट काचितेन विकल्पः स्यादित्याह नहीति ।

यत्तु पूर्वपक्षेऽप्यतिदेश उपोद्बलक इत्युक्तं सति हि सामान्येऽतिदेशः प्रवर्तत इति तदस्मत्पक्षेऽग्नित्वसामान्येनातिदेशसम्भवात्प्रत्युक्तम् । अस्ति हि साम्पादिकानामप्यग्नीनामग्नित्वमिति । श्रुत्यादीनि च कारणानि दर्शितानि । एवमनुबन्धादिभ्यः कारणेभ्यः स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम् । [1]प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत् । यथा प्रज्ञान्तराणि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतीनि स्वेन स्वेना[2]नुबन्धेना[3]नुबध्यमानानि पृथगेव कर्मभ्यः प्रज्ञान्तरेभ्यश्च स्वतन्त्राणि भवन्त्येवमिति । दृष्टश्चावेष्टेः राजसूयप्रकरणपठितायाः प्रकरणादुत्कर्षो [4]वर्णत्रया[5]नुबन्धाद्रा[6]जयज्ञत्वाच्च

यदुक्तं क्रियाङ्गत्वसामान्येनातिदेश इति तत्रेत्याह—यत्त्विति । सूत्रे बहुवचनार्थमाह—श्रुत्यादीनि चेति । अनुबन्धातिदेशश्रुतिलिङ्गवाक्येभ्य इत्यर्थः । एवमिति । अथ इति शेषः । मनश्चिदादीनां स्वातन्त्र्ये क्रियाप्रकरणादुत्कर्षः स्यादित्याशङ्क्य स इष्ट इत्याह—दृष्टश्चेति । एकादशे चिन्तितं 'राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत' इति प्रकृत्यावेष्टिर्नाम काचिदिष्टिराम्नाता—'आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा', 'बार्हस्पत्यं चरुं शितिपृष्ठो दक्षिणा', ऐन्द्रमेकादशकपालमृषभो दक्षिणा' इति । तस्यां वर्णभेदेन प्रयोगभेदः श्रूयते—'यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिमाहुतिं हुत्वाभिघारयेद्यदि वैश्यो वैश्वदेवं चरुं मध्ये निदध्याद्यदि राजन्यस्तदैन्द्रम्' इति । आग्नेयैन्द्रपुरोडाशयोर्मध्ये बार्हस्पत्यं चरुं [7]निधायेत्यर्थः । तत्राग्नेयादिचरुषु अङ्गानां [8]तन्त्रेण [9]प्रयोगो भाति मध्ये निधानलिङ्गात्प्रयोगभेदे मध्ये निधानायोगादेतयान्नाद्यकामं याजयेदित्येकवचनाच्च । [10]"स च तन्त्रप्रयोगो राजसूयक्रतु[11]"बाह्यायामन्नाद्यकामवर्णत्रयकर्तृकायामेवावेष्टौ ज्ञेयो न तु क्रत्वन्तर्गतायाम् । ननु किमत्र नियामकं क्रत्वर्थायामप्यवेष्टौ तन्त्रप्रयोगः किं न स्यादिति चेत् । न । वर्णत्रयसंयुक्तायां काम्यायामेवाङ्गतन्त्रैक्यसाधकस्य मध्ये निधानादिलिङ्गस्य सत्त्वादतो [12]लिंगैकवचनाभ्यां तन्त्रैक्ये सति हिरण्यादिका मिलितैव दक्षिणा

और जो पूर्वपक्ष में भी अतिदेश को उपोद्बलक कहा था कि सादृश्य रहने पर ही अतिदेश प्रवृत्त होता है, वह अतिदेश तो हमारे पक्ष में भी अग्नित्वसामान्य के कारण सम्भव है, इसलिए पूर्वपक्ष का तर्क निरस्त हो जाता है क्योंकि साम्पादिक अग्नियों में भी अग्नित्व तो है ही। श्रुति, लिङ्ग एवं वाक्य प्रमाण प्रकरण के बाधक कहे जा चुके हैं। इस प्रकार अनुबन्ध, अतिदेश, श्रुति, लिङ्ग और वाक्यरूप कारणों से मनश्चिदादि अग्नियों में स्वातन्त्र्य है। जैसे शाण्डिल्यविद्यादि उपासनाओं में अपने अपने अनुबन्ध से अनुबद्ध होने के कारण वे शाण्डिल्यादि उपासनायें कर्मों से और अन्य उपासनाओं से भी पृथक् एवं स्वतन्त्र मानी गयी हैं, ऐसे ही मनश्चिदादि अग्नियाँ भी स्वतन्त्र हैं। राजसूयप्रकरण में भी पढ़े गये अवेष्टि में उत्कर्ष इसलिए है क्योंकि वह त्रैवर्णिक से सम्बन्धित है और राजसूय यज्ञ तो एकमात्र राजकर्तृक है। अतः राजमात्रकर्तृक राजसूय यज्ञ में त्रैवर्णिककर्तृक

१. उपासनांतर। २. अंगेन । ३. सम्बध्यमानानि। ४. उत्कर्षे हेतुमाह वर्णेति । ५. आवष्टेरित्याकृष्यते । ६. तथापि राजसूयागत्वयोगादुत्कर्षासिद्धिस्तत्राह राजेति । ७. निर्वपेदिति पाठः । ८. सकृदनुष्ठानम् । ९. तंत्रेण प्रयोगो भातीति अवेष्टौ चैकतंत्र्यं स्याल्लिंग दर्शनाद्वचनात्काम संयोगेन ११-४-८ इति सूत्रांत् । १०. सिद्धान्तमाह स चेति । ११. बाह्यायामिति अस्ति च प्रयोगद्वयम् राजसूयप्रकरणपाठादन्तः प्रयोग एकः । न च राजसूय प्रकरणादुत्कर्षः शक्यः कर्तुमिति वाच्यम् राजसूयांगभूतदिग्व्यवस्थापननिमित्तोन्मादपरिहाररूपेणार्थवादेन तत्संबंधावगमात्तथा च श्रूयते ईश्वरो वा एष दिशोऽनुन्मादतोऽतोयं दिशोऽनुव्यवस्थापयति दिशामवेष्टयो भवंति दिक्ष्वेव प्रतितिष्ठत्यनुन्मादायेति । राजसूयाद्बहिः प्रयोगस्त्वेतयाऽन्नाद्यकामयाजयेदिति विहितः न चासौ राजसूयांतःपाती यदि ब्राह्मण इत्यादिना वर्णसंयोगावगमात् राजसूये च ब्राह्मण वैश्योरनधिकारात् तस्माद्बहिः प्रयोगेंऽगतंत्रम् अन्तः प्रयोगे भेद इति निर्णयः । १२. काम्यायामेव ।

(४१०) न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥५१॥

राजसूयस्य । तदुक्तं प्रथमे काण्डे—'क्रत्वर्थायामिति चेन्न वर्णत्रयसंयोगात्' (जै० सू० ११-४-७-) इति ॥५०॥

यदुक्तं मानसवदिति तत्प्रत्युच्यते । न मानसग्रहसामान्यादपि मनश्चिदादीनां क्रियाशेषत्वं कल्प्यम् । पूर्वोक्तेभ्यः श्रुत्यादिहेतुभ्यः केवलपुरुषार्थत्वोपलब्धेः । नहि किञ्चित्कस्यचित्केनचित्सामान्यं न सम्भवति । नच तावता यथा स्वं वैषम्यं निवर्तते । मृत्युवत् । यथा 'स वा एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः' इति, 'अग्निर्वैमृत्युः' (बृ० ३-२-१०) इति चाग्न्यादित्यपुरुषयोः समानेऽपि मृत्युशब्दप्रयोगे नात्यन्तसाम्यापत्तिः । यथा च 'असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित्' (छा० ५-४-१) इत्यत्र न समिदादिसामान्याल्लोकस्याऽग्निभावापत्तिस्तद्वत् ॥५१॥

देया, अन्यथा प्रयोगैक्यायोगात् । राजमात्रकर्तृकक्रत्वन्तर्गतेष्टौ तु वर्णत्रयसंयोगाभावान्मध्ये निधानादिलिंगं नास्ति ततश्च तन्त्रैक्यसाधकाभावाद्दक्षिणाभेदेन तन्त्रभेद इत्यङ्गानामावृत्तिरेव चरुष्विति सूत्रार्थः । अत्र चैकप्रयोगलिङ्गस्य क्रत्वर्थेष्टावसंभवं काम्येष्टौ च संभवं वदताऽनेन सूत्रेण काम्येष्टेः क्रत्वर्थेष्टिविलक्षणत्वात्क्रतुप्रकरणादुत्कर्ष इति सूचितम् । स चोत्कर्षो युक्त एव, राजमात्रकर्तृकराजसूयक्रतौ वर्णत्रयकर्तृकेष्टेरन्तर्भावायोगादिति स्थितं, तथा मनश्चिदादीनामुत्कर्ष इति भावः ॥५०॥

एवं परोक्तं दृष्टांतं विघटयति—न सामान्यादिति । क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्ववैषम्येऽपि मानसत्व सामान्यं न विरुध्यते विषमयोरपि साम्यदर्शनादित्यर्थः ॥५१॥

इष्टि का अन्तर्भाव जैसे नहीं होता, वैसे ही मनश्चिदादि अग्नियों को कर्माङ्ग नहीं मान सकते; यह बात मीमांसा दर्शन के 'क्रत्वर्थायामिति चेन्न वर्णत्रयसंयोगात्' इस सूत्र में कही जा चुकी है ॥५०॥

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः (ललिता)

पूर्वपक्षी ने मानसवत् शब्द से जो दृष्टान्त कहा था, उसका निराकरण किया जाता है । मानसपात्र के साथ सादृश्य होने पर भी मनश्चिदादि अग्नियों में कर्माङ्ग की कल्पना नहीं कर सकते क्योंकि पूर्वोक्त श्रुत्यादि हेतुओं से उन अग्नियों में केवल पुरुषार्थत्व देखा जाता है । किसी का किसी के साथ कुछ सादृश्य नहीं हो सकता, ऐसी बात नहीं है; किन्तु इतने मात्र सादृश्य के कारण उसमें रहने वाला अपना जो वैषम्य है वह जिस प्रकार निवृत्त नहीं होता वैसे ही मृत्यु की भाँति यहाँ भी समझना चाहिए । अर्थात् जिस प्रकार 'इस सूर्यमण्डल में दीखने वाला जो पुरुष है वह निःसन्देह मृत्यु है', 'निःसन्देह अग्नि मृत्यु है' इन दोनों वाक्यों द्वारा अग्नि और आदित्य पुरुष में समानरूप से मृत्यु शब्द का प्रयोग होने पर भी दोनों में अत्यन्त साम्य सिद्ध नहीं हो सकता । और जिस प्रकार हे गौतम ! वह द्युलोक अग्नि है, आदित्य जिसकी समिधा है' इस स्थल में समिधादि सामान्य रहने पर भी द्युलोक में अग्निभावापत्ति नहीं हो जाती, वैसे ही मानसत्व सामान्य रहने पर भी मनश्चिदादि अग्नि कर्माङ्ग नहीं हो सकते क्योंकि एक क्रत्वर्थ है और दूसरा पुरुषार्थ है । इस वैषम्य के रहने पर भी मानसत्व सामान्य का होना विरुद्ध नहीं है ॥५१॥

---

५. अपिना पारतन्त्र्यस्वातन्त्र्ययोर्ग्रहणम् ।

(४११) परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ।।५२।।

[1]परस्तादपि 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः' इत्यस्मिन्ननन्तरे ब्राह्मणे ताद्विध्यं केवलविद्याविधित्वं शब्दस्य प्रयोजनं [2]लक्ष्यते न शुद्धकर्माङ्गविधित्वम् । [3]तत्र हि 'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः । न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः' इत्यनेन श्लोकेन केवलं कर्म निन्दन्विद्यां च [4]प्रशंसन्निदं गमयति । [5]तथा पुरस्तादपि 'यदेतन्मण्डलं तपति' इत्यस्मिन् ब्राह्मणे विद्याप्रधानत्वमेव लक्ष्यते 'सोऽ[6]मृतो भवति मृत्युर्ह्यस्यात्मा भवति' इति विद्याफलेनैवोपसंहरान्न कर्मप्रधानता [7]तत्सामान्यादिहापि तथात्वम् । [8]भूयांसस्त्वग्न्यवयवाः सम्पादयितव्या विद्यायामित्येतस्मात्कारणादग्निनानुबध्यते विद्या न कर्माङ्गत्वात् । [9]तस्मान्मनश्चिदादीनां केवलविद्यात्मकत्वसिद्धिः ।।५२।।

किञ्च पूर्वोत्तरब्राह्मणयोः स्वतन्त्रविद्याविधानात्तन्मध्यस्थस्यापि ब्राह्मणस्य स्वतन्त्रविद्याविधिपरत्वमित्याह—परेण चेति । **चितेऽग्नौ लोकदृष्टिविधानं स्वतन्त्रमुत्तरत्र गम्यते पूर्वत्र मण्डलपुरुषोपास्तिस्तत्सांनिध्यान्मध्येऽपि मानसाग्नयः स्वतन्त्रा इत्यर्थः । [9]तर्हि क्रियाग्निना सह पाठः किमर्थमित्यत आह**— भूयांसस्त्विति ।।५२।।

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः (ललिता)

इसके अतिरिक्त पूर्व एवं उत्तर ब्राह्मण में स्वतन्त्र विद्या का विधान होने के मध्यवर्ती ब्राह्मण में भी स्वातन्त्र्य मानना पड़ेगा। जैसे 'निःसन्देह यह लोक अग्निचित् है' इस अनन्तर ब्राह्मण में आगे भी केवलविद्याविधित्व उस शब्द का प्रयोजन सिद्ध होता है, शुद्धकर्माङ्गविधित्व सिद्ध नहीं होता। वहाँ पर 'विद्या के द्वारा उपासक वहाँ पहुँचते हैं जहाँ भोगों की पराकाष्ठा है, उस लोक में दक्षिणमार्गगामी नहीं जाते हैं और न उपासनाशून्य साधक हो जाते हैं चाहे वे कितने भी तपस्वी हों' इस वाक्य से केवल कर्म की निन्दा करते हुए विद्या की प्रशंसा का बोध श्रुति कराती है। वैसे ही इससे पूर्व भी 'जो यह मण्डल तपता है' इस ब्राह्मणवाक्य में विद्या का प्रधानत्व ही लक्षित होता है। 'वह अमर हो जाता है, मृत्यु उसकी आत्मा हो जाती है' इस वाक्य से विद्या का फलवर्णन करने में उपसंहार किया गया है, इससे उस प्रसङ्ग में कर्म की प्रधानता नहीं है। वैसे ही यहाँ पर भी कर्म की प्रधानता नहीं माननी चाहिए। अनेकों अग्नि के अवयव अर्थात् गुण उपासना में सम्पादनीय हैं इसलिए अग्नि के साथ उपासना जुड़ी हुई है, न कि कर्माङ्ग के रूप में जुड़ी हुई है। अतः मनश्चिदादि अग्नियों में केवल विद्यात्मकत्व ही सिद्ध होता है, कर्माङ्गत्व सिद्ध नहीं होता ।।५२।।

---

१. सन्दिग्धस्य निर्णयो वाक्यशेषादिति न्यायेन सूत्रावयं व्याकुर्वन्वाक्यशेषमनुसंधत्ते परस्तादिति । २. लभते इति पाठान्तरम् । ३. उत्तरब्राह्मणस्य विद्याप्राधान्ये गमकमाह तत्रेति । ४. ब्राह्मणस्य विद्याप्राधान्यमिदमित्युक्तम् । ५. उपक्रमतन्त्रेणोपसंहारेणैकस्मिन्वाक्ये भवितव्यमिति न्यायेन चकारं व्याकुर्वन्पूर्वमपि ब्राह्मणमनुसंधत्ते तथेति । ६. विद्याप्राधान्ये लिंगमाह सोऽमृत इति । ७. सदंशन्यायेनेत्यर्थः । ८. अनुबन्धातिदेशश्रुतिलिंगवाक्यसंदंशैः सिद्धमर्थमुपसंहरति तस्मादिति । ९. विद्यायाः स्वातन्त्र्ये सति ।

३०. ऐकात्म्याधिकरणम् (सू० ५३-५४)

(४१२) एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥५३॥

आत्मा देहस्तदन्यो वा चैतन्यं मदशक्तिवत् । भूतमेलनजं देहे नान्यत्रात्मा वपुस्ततः ।
भूतोपलब्धिर्भूतेभ्यो विभिन्ना विषयित्वतः । सैवात्मा भौतिकाद्देहादन्योऽसौ परलोकभाक् ॥

इह देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः समर्थ्यते बन्धमोक्षाधिकारसिद्धये । न ह्यसति देहव्यतिरिक्तात्मनि परलोकफलाश्चोदना उपपद्येरन्कस्य वा ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्येत । ननु शास्त्र[1]प्रमुख एव प्रथमे पादे [2]शास्त्रफलोपभोगयोग्यस्य देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्व-मुक्तम् । सत्यमुक्तं [3]भाष्यकृता न तु तत्रात्मास्तित्वे सूत्रमस्ति । इह तु स्वयमेव सूत्रकृता

मनश्चिदादीनां पुरुषार्थत्वमुक्तं तदयुक्तं देहातिरिक्तपुरुषाभावादित्याक्षिपति—एक आत्मनः शरीरे भावात् । सिद्धान्तफलमाह—बन्धेति । पूर्वपक्षे तु परलोकार्थकर्मसु मोक्षार्थविद्यायां चाप्रवृत्तिरिति व्यतिरेकमुखेन फलमाह—न ह्यसतीति । व्यतिरिक्तात्मविचारस्य पूर्वतन्त्रे 'कृतत्वात्पौनरुक्त्यमित्या-शङ्क्य तत्रत्यविचारस्यापीदमेव सूत्रं मूलं जैमिनिसूत्राभावादतः क्व पुनरुक्तिरित्याह—ननु शास्त्रे-त्यादिना । 'यज्ञायुधी यजमानः स्वर्गं लोकमेति' इत्यादिवाक्यस्य भोक्तुरभावादप्रामाण्यप्राप्ताविति

ऐकात्म्याधिकरण

१. सङ्गति—मनश्चिदादि अग्नियों के चिन्तन को पुरुषार्थ मानना उचित नहीं है क्योंकि देहादि से भिन्न उसके फल का भोक्ता पुरुष है ही नहीं, इस प्रकार आक्षेप सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—देहादि से भिन्न आत्मसत्ता का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—क्या आत्मा देहादि से भिन्न है अथवा अभिन्न है ?

४. पूर्वपक्ष—मदशक्ति की भाँति भूतों के सम्मेलन से देह में चैतन्य फूट पड़ता है, अतः शरीर ही आत्मा है, उससे भिन्न आत्मा नहीं है ।

५. सिद्धान्त—पृथिव्यादि भूतों की उपलब्धि उससे भिन्न चैतन्य के द्वारा ही होता है क्योंकि पृथिव्यादि विषय हैं और चैतन्य आत्मा विषयी है जो भौतिक देह से भिन्न है और इस शरीर से किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल लोकान्तर एवं देहान्तर में जाकर भोगता है ।

एक आत्मनः शरीरे भावात् (ललिता)

बन्ध और मोक्ष में अधिकार सिद्ध करने के लिए इस अधिकरण में देह से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का समर्थन करते हैं क्योंकि देह से भिन्न आत्मा सिद्ध न होने पर परलोक में फल देनेवाली विधि असङ्गत हो जायेगी । अथवा देह से भिन्न आत्मा न रहने पर परलोक फलप्रद विधि का उपदेश किसे किया जायेगा, किसे ब्रह्मात्मत्व का उपदेश किया जायेगा । शङ्का—इस शास्त्र में प्रधान प्रथम पाद है, उसमें शास्त्रीय फलोपभोग के योग्य देह से भिन्न आत्मा की सत्ता कही जा चुकी है । समाधान—ठीक है, देह से भिन्न आत्मसत्ता भाष्यकार ने कही है किन्तु उस आत्मा के अस्तित्व में सूत्र तो नहीं है । यहाँ पर स्वयं ही सूत्रकार ने आक्षेपपुरस्सर देह से भिन्न आत्म अस्तित्व प्रतिष्ठापित

१. अत्र शास्त्रपदेन शाबरभाष्यं गृह्यते । २. अत्र शास्त्रपदेन शासनीये विद्याकर्मणी गृह्येते । ३. शबरस्वामिना । भाष्यकृतेति शेषः ।

तदस्तित्वमाक्षेपपुरःसरं प्रतिष्ठापितम् । इत एव चाकृष्याचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम् । अत एव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः । [१]इह चेदं चोदनालक्षणेषूपासनेषु विचार्यमाणेष्वात्मास्तित्वं [२]विचार्यते कृत्स्नशास्त्रशेषत्वप्रदर्शनाय ।

अपिच पूर्वस्मिन्नधिकरणे प्रकरणोत्[३]कर्षाभ्युपगमेन मनश्चिदादीनां पुरुषार्थत्वं वर्णितं कोऽसौ पुरुषो यदर्था एते मनश्चिदादय इत्यस्यां प्रसक्ताविदं देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमुच्यते । तदस्तित्वाक्षेपार्थं चेदमाद्यं सूत्रम् । आक्षेपपूर्विका हि परिहारोक्तिर्विवक्षितेऽर्थे स्थूणानिखननन्यायेन दृढां बुद्धिमुत्पादयति । अत्रैके देहमात्रात्मदर्शिनो लोकायतिका देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽभावं मन्यमानाः समस्तव्यस्तेषु बाह्येषु पृथिव्यादिष्वदृष्टमपि चैतन्यं शरीराकारपरिणतेषु भूतेषु स्यादिति सम्भावयन्तस्तेभ्यश्चैतन्यं मदशक्ति-

एवाकृष्य भोक्तुर्विचारः कृत इत्यत्र वृत्तिकारवचनं लिङ्गमाह—अत एवेति । तत्र सूत्राभावादेवेत्यर्थः । उद्धार उपरमः । अस्याधिकरणस्यास्मिन्वादे प्रसङ्गसंगतिरित्याह—इह चेति । आमुष्मिकफलोपासनानिर्णयप्रसङ्गेन तदपेक्षितात्मास्तित्वमुच्यत इत्यर्थः । एतत्सिद्धवत्कृत्य प्रथमसूत्रेऽथशब्देनाधिकारी चिन्तितस्तस्मादिदमधिकरणम् सर्वशास्त्राङ्गमिति शास्त्रसंगतिमाह—कृत्स्नेति ।

आक्षेपलक्षणामवान्तरसंगतिमाह—अपि चेति । देहातिरिक्त आत्मास्ति न वेति वादिविप्रतिपत्तेः संशये पूर्वपक्षमाह—अत्रैक इति । यद्यपि समस्तेषु मिलितेषु भूतेषु चैतन्यं न दृष्टं तप्तोदकुम्भस्य ज्ञानाभावाद्व्यस्तेषु तु नास्त्येव तथापि देहात्मकभूतेषु स्यादिति तेभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्यं संभावयन्तो मदशक्तिवद्विज्ञानं संघातज तद्विशिष्टसंघात आत्मेत्याहुरित्यन्वयः । यथा मादकद्रव्येषु ताम्बूलपत्रादिषु प्रत्येकमदृष्टापि मदशक्तिस्तत्संघाताज्जायते तद्वदित्यर्थः । ननु देहः स्वयं न चेतनः घटवद्भौति-

किया है । यहाँ से ही प्रसङ्ग को लेकर मीमांसा दर्शन के शबर स्वामी ने प्रमाण लक्षण में देहभिन्न आत्मा का अस्तित्व बतलाया है । सूत्राभाव के कारण ही भगवान् उपवर्ष ने प्रथम तन्त्र में आत्मास्तित्व के वर्णन का प्रसङ्ग आने पर कहा है कि हम शारीरक मीमांसा में आप के इस शङ्का का समाधान करेंगे कि देह से भिन्न आत्मा है । यहाँ पर चोदनालक्षणरूप उपासना के विचारप्रसङ्ग में देहभिन्न आत्मा की सत्ता का जो विचार किया गया है, वह तो सम्पूर्ण शास्त्र के शेषत्व को बतलाने के लिए किया गया है अतः यह प्रसङ्ग अनावश्यक नहीं है ।

इसके अतिरिक्त पूर्व अधिकरण में प्रकरण के उत्कर्ष को स्वीकार करते हुए मनश्चिदादि अग्नियों में पुरुषार्थत्व बतलाया गया है । वहाँ पर यह प्रश्न होता है कि वह पुरुष है कौन, जिसके लिए ये मनश्चिदादि उपास्यरूप में बतलायी गयी हैं । ऐसा प्रश्न होने पर इस अधिकरण में देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व कहा जाता है । उस आत्म अस्तित्व पर आक्षेप के लिए इस अधिकरण का यह पहला सूत्र है क्योंकि आक्षेपपूर्वक किया गया परिहार विवक्षित अर्थ में स्थूणानिखनन्याय से दृढ़बुद्धि को उत्पन्न करता है । इस सम्बन्ध में देहमात्र को आत्मा मानने वाले चार्वाक देह से भिन्न आत्मा का अभाव मानते हैं । उनका कहना है कि पृथिव्यादि बाह्य पृथक् पृथक् सभी भूतों में चाहे चेतनता नहीं भी दीखती हो, किन्तु वे पृथिव्यादि भूत जब शरीराकाररूप से परिणत होंगे तो उसमें

१, अस्मिन्नधिकरणे । प्रसङ्गसङ्गत्येति शेषः । ३, क्रियाप्रकरणात्मनश्चिदादीनां बहिर्निस्सारणाभ्युपगमेन ।

(४१३) व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥५४॥

वद्विज्ञानं। चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति चाहुः[1]। न स्वर्गगमनायापवर्गगमनाय वा समर्थो देहव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति यत्कृतं चैतन्यं देहे स्यात्। देह एव तु चेतनश्चात्मा चेति प्रति-जानते। हेतुं चाचक्षते, शरीरे भावादिति। यद्धि यस्मिन्सति भवत्यसति च न भवति तत्तद्धर्मत्वे नाध्यवसीयते यथाऽग्निधर्मावौष्ण्यप्रकाशौ। प्राणचेष्टाचैतन्यस्मृत्यादयश्चात्मधर्मत्वेनाभिमता आत्मवादिनां तेऽप्यन्तरेव देह उपलभ्यमाना बहिश्चानुपलभ्यमाना असिद्धे देहव्यतिरिक्ते धर्मिणि देहधर्मा एव भवितुमर्हन्ति। तस्मादव्यतिरेको देहादात्मन इति ॥५३॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

न त्वेतदस्ति यदुक्तमव्यतिरेको देहादात्मन इति। व्यतिरेक[2]एवास्य देहाद्भवितु-मर्हति। तद्भावाभावित्वात्। यदि देहभावे भावाद्देहधर्मत्वमात्मधर्माणां मन्येत ततो

कत्वात् किंतु चेतनः कश्चित्स्वर्गादिभोक्ताऽस्ति तत्सांनिध्याद्देहस्य चैतन्यविभ्रम इत्यत आह— न स्वर्गेति। ॥५३॥

मनुष्योऽहं जानामीति देहस्य ज्ञातृतायाः प्रत्यक्षत्वादात्मधर्मत्वेन प्रसिद्धानां धर्माणां देहान्वय-व्यतिरेकानुभवात्तदन्यात्मनि प्रत्यक्षाभावादप्रत्यक्षस्याप्रामाणिकत्वाद्देह एवात्मेति प्राप्ते सूत्रस्थन-ञ्विवतिपदेन सिद्धान्तं प्रतिजानीते—न त्वेतदिति। अनुमानस्य तावत्प्रामाण्य[3]मनिच्छता[4]प्यास्थेयमन्यथा व्यवहारासिद्धेः। न ह्यनागतपाकादाविष्टसाधनतानुमितिं विना प्रवृत्तिः संभवति। तथाच ज्ञानादयो देहव्यतिरिक्ताश्रया देहसत्त्वेऽप्यसत्त्वाद्व्यतिरेकेण देहरूपादिवदित्याह—व्यतिरेक एवास्येति। न चादो

चैतन्य वैसे ही फूट उठेगा जैसे मदिरा के कारण प्रत्येक वस्तु में मादकता न दीखने पर भी संघात में मादकता हो आती है। अतः मदशक्ति की भाँति भूतों के संघातरूप शरीर में चेतनता फूट उठती है, इसीलिए तादृश चैतन्यविशिष्ट शरीर ही जीव है, ऐसा चार्वाक कहते हैं। स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त करने के लिए देह से भिन्न आत्मा समर्थ नहीं है जिसके लिए शरीर में रहने वाले जीवचैतन्य को पृथक् माना जाय। पूर्वोक्त रीति से देह ही चेतन है और वही आत्मा है, यह चार्वाकों की प्रतिज्ञा है। वे इसे सिद्ध करने के लिए तर्क देते हैं कि जिसके रहने पर जो दीखता हो और न रहने पर नहीं दीखता हो उसको उसी का धर्म मानना चाहिए, जैसे अग्नि के रहने पर औष्ण्य और प्रकाश दीखते हैं, वे अग्नि के धर्म हैं। वैसे ही प्राण, चेष्टा, चेतनता, स्मृति इत्यादि आत्मा के धर्मरूप से जो आत्म-वादियों को अभिमत हैं वे सभी देह के भीतर ही दीखते हैं, बाहर नहीं दीखते हैं। इस प्रकार देह से भिन्न धर्मी के सिद्ध न होने पर वे प्राण-चेष्टादि सब देह के ही धर्म हैं, इसीलिए देह से भिन्न आत्मा नहीं है ॥ ३॥

पूर्वोक्त पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं—

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् (ललिता)

पूर्वपक्षी चार्वाक ने जो कहा कि देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व नहीं है, उनका यह कथन ठीक नहीं है। यह आत्मा देह से भिन्न ही है क्योंकि मृत शरीर के रहते हुए भी उसमें चैतन्य आदि आत्म-

---

१. लोकायतिकाः। २. आत्मनः। ३. लोकायतिकेन। ४. अनुमानम्।

देहभावेऽप्यभावादतद्धर्मत्वमेषां किं न मन्येत? देहधर्मवैलक्षण्यात् । ये हि देहधर्मा रूपादयस्ते यावद्देहं [1]भवन्तु । प्राणचेष्टादयस्तु सत्यपि देहे मृतावस्थायां न भवन्ति । देहधर्माश्च रूपादयः परैरप्युपलभ्यन्ते न त्वात्मधर्माश्चैतन्यस्मृत्यादयः । अपि च सति हि तावद्देहे जीवदवस्थायामेषां भावः शक्यते निश्चेतुं न त्वसत्यभावः । पतितेऽपि कदाचिदस्मिन्देहे देहान्तरसंचारेणात्मधर्मा अनुवर्तेरन् । संशयमात्रेणापि परपक्षः प्रतिषिध्यते । किमात्मकं च पुनरिदं चैतन्यं मन्यते यस्य भूतेभ्य उत्पत्तिमिच्छतीति परः पर्यनुयोक्तव्यः । नहि भूतचतुष्टयव्यतिरेकेण [3]लोकायतिकाः किंचित्[4]तत्त्वं प्रतियन्ति । [5]यदनुभवनं भूतभौतिकानां तच्चैतन्यमिति चेत् । त[6]र्हि विषयत्वात्तेषां न तद्धर्मत्वमश्नुवीत [7]स्वात्मनि क्रियाविरोधात् ।

श्यामदेहस्य पश्चाद्रूपान्तरे व्यभिचारः, गुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजात्यवच्छेदेन असत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । देहेऽवस्थिते सदा रूपत्वावच्छिन्नमस्त्येव । ज्ञानत्वावच्छिन्नं तु नास्तीति न ज्ञानं देहधर्मः । किंच एते न देहगुणाः परैरदृश्यत्वादित्याह—देहधर्माश्चेति । किंच देहव्यतिरेके तेषामभावस्य संदिग्धत्वान्न देहधर्मत्वनिश्चय इत्याह–अपि चेति। न चानुपलम्भात्तेषामभावनिश्चयस्तत्रानुपलब्धेरमानत्वात्, तद्धर्म्यात्मनो देहान्तरप्राप्त्याप्यनुपलम्भोपपत्तेश्चेति भावः । उपलब्धिवदिति सूत्रस्थं पदं व्याख्यातुमुपक्रमते—किमात्मकमिति । तत्किं भूतातिरिक्तं तत्त्वमुत रूपादिवद्भूतधर्मः नाद्यः, अपसिद्धान्तादित्युक्त्वा द्वितीयमाशङ्क्य निषेधति—यदनुभवनमित्यादिना । देहात्मकभूतानां चैतन्यं प्रति विषयत्वात्कर्तृकर्म-

---

धर्म नहीं दिखाई पड़ते हैं । यदि चैतन्य आदि देह के धर्म होते तो मृत शरीर में भी उसे दीखना चाहिए था । यदि देह में चेतन्य आदि की उपलब्धि होने से उसे देहधर्म मानोगे तो देह के रहते हुए मृत शरीर में चैतन्य आदि के न दीखने पर उसे देह से भिन्न किसी तत्त्व का धर्म क्यों नहीं माना जायेगा । देहधर्म की विलक्षणता भी चैतन्य में देखी जाती है क्योंकि जो रूपादि देह के धर्म हैं वे तो देह रहने तक मृत शरीर में भी दीखते हैं; किन्तु प्राण, चेष्टादि देह रहने पर भी मृत शरीर में नहीं दीखते हैं । वहाँ पर दूसरे लोग भी देहधर्म रूपादि मृत शरीर में देखते हैं किन्तु चैतन्य-स्मृति आदि आत्मधर्म उस मृत शरीर में नहीं देखते । इसके अतिरिक्त देह रहने तक जीवितावस्था में प्राण चेष्टादि का अस्तित्व जान सकते हैं, पर देह के न रहने पर उसके अभाव का निश्चय नहीं कर सकते हैं । कदाचित् इस देह के न रहने पर भी देहान्तर में, आत्मधर्म चैतन्यादि का अनुवर्तन हो जायेगा । चार्वाक पक्ष संशयमात्र से भी प्रतिषिद्ध हो जाता है । हम उनसे पूछते हैं कि जिस चैतन्य की उत्पत्ति पृथिव्यादि भूतों से मदिरा की मदशक्ति की भाँति आप मानते हैं वह चैतन्य क्या वस्तु है, क्योंकि पृथिव्यादि भूतचतुष्टय से भिन्न किसी भी तत्त्व को चार्वाक मानते नहीं हैं । भूत-भौतिक पदार्थों का जो अनुभव है वही चैतन्य है, ऐसा यदि कहते हो तो उनमें दृश्यत्व होने के कारण उन्हें भूतों

---

१. भवन्तीति पाठः साधुः । २. आकाशस्त्वावरणाभाव एव । ३. लोकायतिकः प्रत्येतीति पाठांतरम् । ४. वस्त्वंतरं चैतन्यम । ५. धर्मधर्मिणोस्तादात्म्याभेदपक्षमवलंबते यदिति । भूतपरिणामत्वाच्चैतन्यस्वरूपादिवद्भूतेभ्योऽर्थान्तरत्वाभावान्न व्यतिरेकापत्तिरिति भावः । ६. भूतपरिणामत्व चैतन्यस्य रूपादि वैषम्योक्त्या प्रत्युक्तमिति मन्वानो दोषांतरमाह तदिति । ७. उक्तरूपं चेच्चैतन्यं तर्हि स्वात्मानं प्रति भूतभौतिकानां विषयत्वान्न तद्धर्मत्वेन तदभेदं प्रतिपद्येतेत्यत्र हेतुमाह स्वात्मनीति । असिधारा स्वात्मानं च्छिनत्तीतिवदेकत्र विषयविषयित्वायोगादिति हेत्वर्थः ।

न ह्यग्निरुष्णः सन्स्वात्मानं दहति । न हि नटः शिक्षितः सन्स्वस्कन्धमधिरोक्ष्यति ¹न हि भूतभौतिकधर्मेण सता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयीक्रियेरन् । ²न हि रूपादिभिः स्वं रूपं पररूपं वा विषयीक्रियते । ³विषयीक्रियन्ते तु बाह्याध्यात्मिकानि भूतभौतिकानि चैतन्येन । अतश्च यथैवास्या भूतभौतिकविषयाया उपलब्धेर्भावोऽभ्युपगम्यते एवं व्यतिरेकोऽप्यस्यास्तेभ्योऽभ्युपगन्तव्यः । ⁴उपलब्धिस्वरूप एव च नः आत्मेत्यात्मनो देहव्यतिरिक्तत्वम् नित्यत्वं चोपलब्धेरैकरूप्यात् । अहमिदमद्राक्षमिति च ⁵वस्थान्तरयोगेऽप्युपलब्धृत्वेन प्रत्यभिज्ञानात्, ⁶स्मृत्याद्युपपत्तेश्च ।

यत्तूक्तं शरीरे भावाच्छरीरधर्म उपलब्धिरिति ⁷तद्वर्णितेन प्रकारेण प्रत्युक्तम् ।

विरोधेन विषयस्य कर्तृत्वायोगान्न भूतकर्तृकत्वं चैतन्यस्येत्यर्थः । किञ्च ज्ञानस्य भूतधर्मत्वे रूपादिवज्जाड्यापत्तेर्न तद्धर्मत्वमित्याह—न हीति । फलितं सूत्र⁸पदार्थमाह—अतश्चेति । या देहातिरिक्ता सद्रूपोपलब्धिः स एवात्मा चेदनित्यः स्यादुपलब्धेर⁹नित्यत्वादित्यत आह—नित्यत्वं चेति । घटः स्फुरति पटः स्फुरतीति सर्वत्र स्फूर्तेरभेदान्नित्यत्वं विषयोपरागनाशे तु नाशभ्रम इत्यर्थः एवमात्मा देहाद्भिन्न उपलब्धिरूपत्वादुपलब्धिवदित्युक्तम्, किञ्च जाग्रत्स्वप्नयोर्देहभेदेऽप्यात्मैकत्वप्रत्यभिज्ञानादात्मभेदे चान्यानुभूतेऽन्यस्य स्मृतीच्छानुपपत्तेः स्वप्नस्मृत्यादिमानात्मा देहाद्भिन्न इत्याह—अहमिति ।

निरस्तमप्यधिकाभिधित्सयानुवदति—यत्तूक्तमिति । उपलब्धेर्देहान्वयव्यतिरेकौ न देहधर्मत्व-

---

का धर्म नहीं मान सकते क्योंकि अपने आप में क्रिया नहीं होती है । अग्नि उष्ण है फिर भी अपने को नहीं जलाती है, कुशल नट अपने ही कन्धों पर नहीं चढ़ता । ठीक ऐसे ही चैतन्य को भूत-भौतिक वस्तु के धर्म मानने पर उस चैतन्य से भूत-भौतिक पदार्थ नही जाने जा सकेंगे । रूपादि से स्वरूप अथवा पररूप विषय नहीं किया जाता है, किन्तु चैतन्य से बाह्य एवं आध्यात्मिक सभी भूत-भौतिक पदार्थ जाने जाते हैं । अतः जैसे इस भूत-भौतिक विषयों की उपलब्धि का भाव माना जाता है, ऐसे ही उनसे इस उपलब्धि को भिन्न मानना पड़ेगा । हमारे मत में आत्मा उपलब्धिस्वरूप ही है, इसलिए आत्मा को हम शरीर से भिन्न मानते हैं । विषय के भिन्न होते हुए भी उपलब्धि एकरूप होने के कारण नित्य है । मैंने इसे देखा था ऐसे अवस्थान्तर का योग हो जाने पर भी उपलब्धिस्वरूप आत्मा की प्रत्यभिज्ञा देखी जाती है और देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व मानने पर ही स्मृति आदि की भी सिद्धि होती है अन्यथा प्रतिक्षण परिणामी शरीर का कालान्तर में स्मरण भी कैसे हो सकेगा ।

और जो आप ने कहा था कि शरीर रहने पर चैतन्य आदि देखा जाता है इसलिए वह शरीर-धर्म ही है, इसका निराकरण पूर्वोक्त कथन से हो गया । इसके अतिरिक्त प्रदीपादि उपकरणों के

---

१. किं यो यस्य धर्मस्स न तत्साधको यथा रूपादिः तथा च चैतन्यस्य भूतभौतिकसाधकत्वादेव तदतिरेकसिद्धिरित्याह न हीति । २. रूपादिदृष्टान्तं स्पष्टयति न हीति । ३. तर्हि चैतन्यस्यापि साधकत्वं मा भूत्तत्राह विषयीमिति । ४. भवतु तर्हि भूतेभ्योऽतिरिक्ता स्वतन्त्रोपलब्धिस्तथापि कथमात्मसिद्धिस्तत्राह उपलब्धीति । ५. स्वप्नावस्थायाम् । ६. स्वप्नेपि स्थूलदेहान्तरस्यैवोपलब्धृत्वमित्याशंक्याह स्मृत्यादीति । ७. तद्भावाभावित्वव्याख्यानेन प्रत्याख्यातमेतदित्युक्तं स्मारयति तदिति । ८. सूत्रस्थोपलब्धिपदार्थम् । ९. क्षणिकत्वात् ।

३१. अङ्गावबद्धाधिकरणम् (सू० ५५-५६)

उक्थादिधीः स्वशाखाङ्गेष्वेवान्यत्रापि वा भवेत् । सांनिध्यात्स्वस्वशाखाङ्गेष्वेवासौ व्यवतिष्ठते ।
उक्थोदगीथादिसामान्यं तत्तच्छब्दैः प्रतीयते । श्रुत्या च संनिधेर्बाधस्ततोऽन्यत्रापि यात्यसौ ।

अपिच सत्सु प्रदीपादिषूपकरणेषूपलब्धिर्भवत्यसत्सु न भवति । न चैतावता प्रदीपादिधर्म एवोपलब्धिर्भवति । एवं च सति देहभावे उपलब्धिर्भवत्यसति च न भवतीति न देहधर्मो भवितुमर्हति । उपकरणत्वमात्रेणापि प्रदीपादिवद्देहोपयोगोपपत्तेः । न चात्यन्तं देहस्योपलब्धावुपयोगोऽपि दृश्यते निश्चेष्टेऽप्यस्मिन्देहे स्वप्ने नानाविधोपलब्धिदर्शनात् । तस्मादनवद्यं देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वम् ।।५४।।

साधको तन्निमित्तत्वेनान्यथासिद्धेरित्यधिकमाह—अपि चेति । उपलब्धिमात्रे देहस्य निमित्तत्वमप्यसिद्धमित्याह—न चात्यन्तमिति । स्वप्नोपलब्धिर्न देहजन्या, देहव्यापारं विनापि भावाद्वृक्षवत् । अत एव 'तन्वभावेऽपि स्वप्नवद्योगिनां भोगं सूत्रकृद्वक्ष्यति । जाग्रदुपलब्धेर्देहजत्वमस्तीत्यन्तमित्युक्तम् । तस्मादुक्तानुमानानुगृहीतान्मम शरीरमिति भेदानुभावादहं मनुष्य इत्यभेदज्ञानं भ्रम इत्युपसंहरति—तस्मादिति ।।५४।।

रहने पर घट-पटादि की उपलब्धि होती है और न रहने पर नहीं होती है, इतने मात्र से वह उपलब्धि प्रदीपादि के धर्म हैं, ऐसा नहीं मान सकते। ऐसे ही देह के रहने पर उपलब्धि दीखती है और नहीं रहने पर नहीं दीखती है, इतने मात्र से वह उपलब्धि देहधर्म नहीं हो सकती । प्रदीपादि उपलब्धि के उपकरण जैसे माने जाते हैं वैसे ही देह भी उपलब्धि के उपकरण कहे जा सकते हैं। उपलब्धि में देह का अत्यन्त उपयोग भी नहीं देखा जाता है क्योंकि स्वप्नावस्था में शरीर चेष्टाहीन पड़ा रहता है, फिर भी नाना प्रकार की उपलब्धि स्वप्न में देखी जाती है। अतः देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व मानना निर्दुष्ट सिद्धान्त है ।।५४।।

३१. अङ्गावबद्धाधिकरण

१. सङ्गति—आत्मा के चैतन्यादि धर्म देह में सम्भव न होने के कारण देह एवं आत्मा का भेद पूर्व अधिकरण में बतलाया गया था, वैसे ही एक शाखागत उद्गीथधर्मों का शाखान्तरीय उद्गीथ से स्वरादि में भेद के कारण अन्यत्र उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, इस प्रकार पूर्व के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त सङ्गति है ।

२. विषय—इस अधिकरण में उद्गीथ कर्म के आश्रित उपासनाओं के शाखाभेद से भेदाभेद का विचार किया गया है ।

३. संशय—अपनी शाखागत कर्मानुष्ठान के साथ ही कर्माङ्ग उद्गीथ उपासना करनी चाहिए अथवा सर्वशाखीय उद्गीथ कर्म में उसकी उपासना करनी चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—स्वशाखागत उद्गीथादि कर्मों में ही उद्गीथ उपासना का विधान किया गया है क्योंकि '**उद्गीथ**' की उपासना करे' ऐसी सामान्य विधि को विशेष की आकांक्षा होने पर सन्निहित स्वशाखागत विशेषण से ही आकांक्षा शान्त हो जाती है। अतः प्रतिशाखा कर्माङ्ग उद्गीथादि उपासना में व्यवस्था ही माननी चाहिए ।

१. "तन्वभावे सध्यवदुपपद्यते" ४-४-२३ ।

(४१४) अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥५५॥

समाप्ता प्रासङ्गिकी कथा, संप्रति तु प्रकृतामेवानुवर्तामहे—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १-१-१), 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २-२-१), 'उक्थ'मुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्थम्', 'इयमेव पृथिवी', 'अयं वाव लोकः एषोऽग्निश्चितः' इत्येवमाद्या य उद्गीथादिकर्माङ्गावबद्धाः प्रत्ययाः प्रतिवेदं शाखाभेदेषु विहितास्ते तच्छाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु भवेयुरथ वा सर्वशाखागतेष्विति विशयः। प्रतिशाखं च स्वरादिभेदादुद्गीथादिभेदमादायायमुपन्यासः। किं तावत्प्राप्तम् ? स्वशाखागतेष्वे-

अङ्गावबद्धाः। उद्गीथावयवोङ्कारे प्राणदृष्टिः, 'पृथ्वी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथं आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनम्' इति हिंकारादिपञ्चविधे साम्नि पृथिव्यादिलोकदृष्टिः, उक्थाख्यशास्त्रे पृथिवीदृष्टिः, 'इष्टकाचिताग्नौ लोकदृष्टिरित्येवं कर्माङ्गाश्रितोपास्तयः सन्ति, तासूद्गीथादिसाधारणश्रुत्या विशेषसंनिधिना च संशयः। ननूद्गीथादीनां सर्वशाखास्वेकत्वादुपास्तयः सर्वत्रेति विद्यैक्यान्निश्चये कथं संशयः इत्यत आह—प्रतिशाखं चेति। यथा देहात्मनोर्भेदादात्मधर्मा देहे न संभवन्ति तथा प्रतिवेदमुद्गीथादीनां भिन्नत्वादेकस्मिन्वेदे विहितोद्गीथाद्युपास्तयो वेदान्तरस्थोद्गीथादिषु न संभवन्तीति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—स्वशाखेति। उद्गीथमुपासीतेति विधिवाक्यस्थोद्गीथत्वसामान्यस्य व्यक्त्यपेक्षत्वात्स्वशाखासंनिहितव्यक्तिग्रह इत्यर्थः।

५. सिद्धान्त—उद्गीथ शब्द मुख्यवृत्ति से सामान्यतः सर्वशाखीय उद्गीथ को बतलाता है, अतः उद्गीथ श्रुति के द्वारा सर्वशाखीय उद्गीथ कर्म में इसकी उपासना प्राप्त है। सन्निधि से श्रुति बलवान मानी गयी है, अतः एक स्थान में विहित कर्माङ्ग उद्गीथ उपासना का चिन्तन सर्वशाखीय उद्गीथ कर्म में करना चाहिए।

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् (ललिता)

प्रासङ्गिकी कथा समाप्त हो गयी, अब प्रकरणागत प्रसङ्ग का ही हम अनुवर्तन करते हैं 'ॐ इस अक्षर उद्गीथ की उपासना करे', 'लोकदृष्टि से पञ्चविध साम की उपासना करे,' 'उक्थ उक्थ ऐसा प्रजायें कहती हैं, वह उक्थ यही है' 'उक्थाख्य शास्त्र में पृथ्वी दृष्टि करे', 'इष्टिका चिदाग्नि में लोकदृष्टि करे' ये सब उपासनायें उद्गीथ कर्म के अङ्ग से सम्बद्ध शाखाभेद से प्रतिवेद में विहित हैं। वहाँ पर संशय होता है कि जिस शाखा में जो उपासनायें आयी हैं उनका अनुष्ठान उस शाखीय कर्म के साथ ही होना चाहिए अथवा सर्वशाखागत सभी उपासनाओं का सर्वत्र अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि स्वरादि भेद से प्रत्येक शाखा में उद्गीथादि भेदों को लेकर ही यह उपन्यास किया गया है। तो फिर मानना क्या चाहिए। इस पर पूर्वपक्ष कहता है कि स्वशाखागत उद्गीथादि कर्म में ही

१. उक्थं कर्मांगशस्त्रं वीप्सया यत्प्रजा वदंति तदिदमेव येयं पृथ्वीत्युक्थे पृथ्वीदृष्टिविधिः। २. संशयः।
३. चितोऽग्निः कर्माङ्गभूतस्तत्रेत्यर्थः।

वोद्गीथादिषु विधीयेरन्निति । कुतः?—संनिधानात् । 'उद्गीथमुपासीत' (छा० १-१-१) इति हि सामान्यविहितानां विशेषाकाङ्क्षायां संनिकृष्टेनैव स्वशाखागतेन विशेषेणाकाङ्क्षादिनिवृत्तेः । तदतिलङ्घनेन शाखान्तरविहितविशेषोपादाने कारणं नास्ति । तस्मात्प्रतिशाखं व्यवस्थेति ।

एवं प्राप्ते ब्रवीत्यङ्गावबद्धास्त्विति । तुशब्दः परपक्षं व्यावर्तयति । नैते प्रतिवेदं स्वशाखास्वेव व्यवतिष्ठेरन् । अपि तु सर्वशाखास्वनुवर्तेरन् । कुतः?—उद्गीथादिश्रुत्यविशेषात् । स्वशाखाव्यवस्थायां ह्युद्गीथमुपासीतेति सामान्यश्रुतिरविशेषप्रवृत्ता सती संनिधानवशेन विशेषे व्यवस्थाप्यमाना पीड़िता स्यात् । न चैतन्न्याय्यम् । [१]संनिधानाद्धि श्रुतिर्बलीयसी । नच सामान्याश्रयः [२]प्रत्ययो नोपपद्यते । [३]तस्मात्स्वरादिभेदे सत्यप्युद्गीथत्वाद्यविशेषात्सर्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिष्वेवंजातीयकाः प्रत्ययाः स्युः ॥५५॥

---

[४]सामान्यश्रुतेः संनिहितव्यक्तिग्रहात्स्वसंकोचस्तत्र कर्तव्यो यत्र व्यक्तिमात्रग्रहो नोपपद्यते, यथा शुक्लां गामानयेत्यत्र गोश्रुतेः संनिहितशुक्लव्यक्तिपरतया संकोचः, अत्र चानुपपत्त्यभावाद्व्यक्तिमात्रसम्बन्ध[५]सामान्यमुपास्यमिति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना ॥५५॥

तदीय उपासनाओं का विधान मानना उचित होगा क्योंकि वही सन्निहित है । 'उद्गीथमुपासीत' इस वाक्य द्वारा सामान्यतः विहित कर्मों में विशेष आकांक्षा होने पर सन्निकृष्ट स्वीय शाखाविशेष से आकांक्षादि निवृत्त हो जाते हैं, उसका उल्लंघनकर शाखान्तरविहित विशेष का ग्रहण करने में कोई कारण नहीं दीखता । अतः इन उपासनाओं की व्यवस्था प्रतिशाखा में भिन्न-भिन्न रूप में कर लेनी चाहिए ।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सूत्रकार 'अङ्गावबद्धास्तु' इत्यादि सूत्र कहते हैं, इसमें 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है कि ये उपासनायें प्रत्येक वेद में स्वीयशाखीय कर्म के साथ ही नहीं की जा सकती अपितु सभी शाखाओं में इनका अनुवर्तन होना चाहिए क्योंकि उद्गीथादि श्रुति सर्वत्र एक जैसी है । यदि स्वशाखा व्यवस्था मानोगे तो 'उद्गीथमुपासीत' यह सामान्यश्रुति जो अविशेषरूप से सुनी गयी है, वह सन्निधान के कारण विशेष में व्यवस्था करने पर पीड़ित होने लग जायेगी । किन्तु ऐसा करना उचित नहीं, 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्या' न्याय से सन्निधान की अपेक्षा श्रुति बलवती मानी जाती है । उपासना सामान्याश्रय नहीं होती है, ऐसा कहना ठीक नहीं है । अतः स्वरादि के भेद रहने पर भी उद्गीथत्वादि समान रहने के कारण सर्वशाखीय उद्गीथत्वादि में ही ऐसी उपासनाओं का अनुष्ठान होना चाहिए ॥५५॥

---

१. स्थानात । २. आकृतिपदार्थपक्षं त्यक्त्वा व्यक्तिपदार्थपक्षस्वीकारात्सामान्यस्योपास्यत्वायोग्यशंकान कार्या । ३. स्थानाच्छ्रुतेः प्राबल्यात् । ४. सिद्धान्तयति । ५. न तु यत्किंचिद्व्यक्तिसंबद्धमेव ।

(४१५) मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥५६॥

अथवा नैवात्र विरोधः शङ्कितव्यः । कथमन्यशाखागतेषूद्गीथादिष्वन्यशाखाविहिताः प्रत्यया भवेयुरिति । मन्त्रादिवदविरोधोपपत्तेः । तथा हि मन्त्राणां कर्मणां गुणानां च शाखान्तरोत्पन्नानामपि शाखान्तर उपसंग्रहो दृश्यते । [1]येषामपि हि [2]शाखिनां कुटरुरसीत्यश्मादानमन्त्रो नाम्नातस्तेषामप्यसौ विनियोगो [3]दृश्यते कुक्कुटोऽसीत्यश्मानमादत्ते कुटरुरसीति वेति । येषामपि [4]समिदादयः प्रयाजा नाम्नातास्तेषामपि तेषु गुणविधिराम्नायते—'ऋतवो वै प्रयाजाः समानमत्र होतव्याः' इति । तथा येषामपि 'अजोऽग्नीषोमीयः' इति जातिविशेषोपदेशो नास्ति तेषामपि तद्विशेषविषयो मन्त्रवर्ण उपलभ्यते—'छागस्य

पूर्वं शाखान्तरविहितोपास्तीनां शाखान्तरस्थाङ्गसंबन्धे यः प्रतीतो विरोधस्तमङ्गीकृत्य [5]संबन्ध उक्तः, संप्रति विरोध एव नास्ति, शाखान्तरविहिताङ्गानां शाखान्तरस्थाङ्गिसंबन्धवदुक्तसंबन्धोपपत्तेरित्याह—अथवेत्यादिना । यद्यपि यजुर्वेदिनां कुक्कुटोऽसीति मन्त्रोऽस्ति कुटरुरसीति नास्ति । तथापि तण्डुलपेषणार्थाश्मादाने मन्त्रद्वयस्य विकल्पेन विनियोगात्सोऽपि प्राप्नोतीत्यर्थः । सूत्रस्थादिपदोपात्तकर्मणामुदाहरणमाह—येषामिति । मैत्रायणीयानामित्यर्थः । हेमन्तशिशिरयोरैक्याद्दतवः पञ्च तद्वत्पञ्चसंख्याकाः प्रयाजाः । समानमत्र तुल्यकर्मस्थले होतव्या इति पञ्चत्वगुणविधानाद् [6]गुणिनः शाखान्तरविहिताः संबध्यन्त इति भावः । गुणमुदाहरति—तथा येषामिति । यजुर्वेदिनामग्नी-

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः (ललिता)

अथवा यहाँ पर विरोध की शङ्का न करे कि अन्यशाखागत उद्गीथादि कर्मों में अन्यशाखीय उद्गीथादि उपासनाओं का अनुष्ठान कैसे होगा ? इसका समाधान प्रकारान्तर से सूत्रकार अग्रिम सूत्र द्वारा देते हैं कि मन्त्र आदि की भाँति उक्त विरोध का परिहार हो जायेगा । शाखान्तर में उत्पन्न मन्त्रों, कर्मों और गुणों का उपसंहार अन्य शाखाओं में देखा जाता है । जिन शाखावालों के 'कुटरुरसि' यह मन्त्र अश्म आदान के लिए नहीं पढ़ा गया है उनके यहाँ भी उस मन्त्र का विनियोग देखा ही जाता है, वहाँ 'कुक्कुटोऽसि' अथवा 'कुटरुरसि' इस मन्त्र को बोलकर अश्म का ग्रहण करते हैं । यज्ञानुष्ठान के समय देवता के निमित्त जिस होमसामग्री को यजमान तैयार करता है, उसके लिए कई बार चक्की-बट्टे जैसी सामग्री की आवश्यकता होती है; वहाँ पर जिस शाखा में चक्की और बट्टे (लोढ़े) को ग्रहण करते समय जिस मन्त्र को पढ़ने के लिए कहा है, उस मन्त्र को अन्यशाखीय कर्मानुष्ठान के लिए भी पढ़ते हैं । ऐसे ही उक्त उपासनाओं में भी मानना चाहिए । इसी प्रकार जिनके लिए समिदादि प्रयाज नहीं पढ़े गये हैं उनके लिए भी वहाँ पर उन अनुष्ठानों में गुणविधान पढ़ा जाता है—'निःसन्देह ऋतु प्रयाज हैं, उनका होम समान देश में होना चाहिए ।' उसीप्रकार जिन शाखावालों के लिए 'अग्नीषोम देवतानिमित्तक अज है' ऐसा जातिविशेष का उपदेश नहीं है, उन शाखावालों के लिए भी तद्विषयक मन्त्र देखा जाता है अर्थात् यजुर्वेदियों के लिए अग्नीषोमीय पशु

१. मन्त्रोदाहरणं दर्शयति एषामिति । २. यजुर्वेदिनाम् । ३. दृश्यत इति प्रयोगसूत्रे इति शेषः, तेन शाखांतरोत्पन्नस्य मन्त्रस्य शाखांतरे संग्रहोऽस्तीत्यर्थः । ४. समिधो यजति । तनूनपातं यजति । इडो यजति । बर्हिर्यजति । स्वाहाकारं यजतीति समिदादयः पंच प्रयाजाः । ५. उद्गीथादिश्रुत्यवष्टभेन यत्र यत्रोद्गीथादिरुक्तस्तत्र तत्र सर्वत्रैव क्वचित्कस्यापि प्रत्ययस्य सम्बन्ध उक्त इत्यर्थः । ६. प्रयाजाः ।

३२. भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् (सू० ५७)

ध्येयो वैश्वानरांशोऽपि ध्यातव्यः कृत्स्न एव वा। अंशेषूपास्तिफलयोरुक्तेरस्त्यंशधीरपि।
उपक्रमावसानाभ्यां समस्तस्यैव चिन्तनम्। अंशोपास्तिफले स्तुत्यै प्रत्येकोपास्तिनिन्दनात्॥

वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' इति। तथा वेदान्तरोत्पन्नानामपि "अग्नेर्वैर्होत्रं वेरध्वरम्' इत्येवमादिमन्त्राणां वेदान्तरे परिग्रहो दृष्टः। तथा बह्वृचपठितस्य सूक्तस्य 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' (ऋ० सं० २-६-७) इत्यस्य 'अध्वर्यवे सजनीयं शस्यम्' इत्यत्र परिग्रहो दृष्टः। ²तस्माद्यथाश्रयाणां कर्माङ्गानां सर्वत्रानुवृत्तिरेवमाश्रितानामपि प्रत्ययानामित्यविरोधः॥५६॥

षोमीयः पशुः **श्रुतो नाज इति जातिविशेषस्तथापि ³प्रैषमन्त्रलिङ्गाज्जातिविशेषसंग्रह इत्यर्थः। मन्त्राणामुदाहरणान्तरमाह**—तथेति। **सामवेदस्थानां यजुर्वेदे परिग्रह इत्यर्थः। तथेति। 'स जनास इन्द्र'** इत्यनेनोपलक्षितं सूक्तं सजनीयं तस्य **याजुषाध्वर्युकर्तृकप्रयोगे शंसनं दृष्टमित्यर्थः। यो जातो बाल एव प्रथमो गुणैः श्रेष्ठो मनस्वान्विवेकवान्स इन्द्र एवंविधो हे जनासो जना इति श्रुत्यर्थः॥५६॥**

सुना जाता है, किन्तु वह आज हो ऐसा नहीं सुना जाता, उनके यहाँ भी तद्विषयक **'छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि'** इत्यादि मन्त्रवर्ण देखा ही जाता है। वैसे ही वेदान्तर उत्पन्न **'अग्नेर्वैर्होत्रं वेरध्वरम्'** इत्यादि मन्त्रों का भी परिग्रह वेदान्तर में देखा गया है। उसी प्रकार बह्वृचपठित **'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्'** इस सूक्त का यजुर्वेद में **'अध्वर्यवे सजनीयं शस्यम्'** यहाँ पर परिग्रह देखा गया है। अतः आश्रय कर्माङ्गों की जैसे सर्वत्र अनुवृत्ति होती है ऐसे ही आश्रित उपासनाओं का भी सर्वत्र अनुवर्तन मानने में कोई विरोध नहीं है॥५६॥

३२. भूमज्यायस्त्वाधिकरण

१. **सङ्गति**—पहले उद्गीथ श्रुति के द्वारा सन्निधि को बाधकर उद्गीथादि उपासनाओं का प्रयोग सर्वशाखीय उद्गीथ कर्म में कहा गया था। वैसे ही यहाँ पर व्यस्त उपासना में भी विधिश्रुति और फलश्रुति को देखते हुए समस्त उपासना समीपवर्ती स्तुत्यर्थ को बाधकर व्यस्त उपासना में विधेयत्व मानना चाहिए। इस प्रकार पूर्व के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त सङ्गति है।

२. **विषय**—छान्दोग्य की वैश्वानर विद्या में 'हे भगवन्! मैं तो द्युलोक की उपासना करता हूँ' इत्यादि वाक्यों द्वारा द्युलोक, सूर्यादि व्यस्त उपासनाओं का वर्णन है और इसके बाद व्यस्त उपासना की निन्दाकर समस्त उपासनाओं का विधान है; इनके स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. **संशय**—क्या वैश्वानर विद्या में द्युलोकादि की व्यस्तरूप से उपासना करनी चाहिए अथवा समस्तरूप से उपासना करनी चाहिए।

४. **पूर्वपक्ष**—व्यस्त उपासनाओं में भी विधि और फल सुने गये हैं, अतः व्यस्त उपासना भी विहित है।

---

१. वेर्देवगणस्य होत्र अध्वरं च कर्माग्नेस्त्व नएवेत्यग्न्यामंत्रणामंत्रार्थः। २. शाखांतरोत्पन्नस्य शाखान्तरेऽनुवृत्तिबाहुल्यदर्शनात्। ३. छागो वा मंत्रवर्णादिति सूत्रेणछागादेर्होमार्थमनुवाक्यं पठ होतरित्यध्वर्युप्रैषार्थं नियमकारणस्य लिंगस्य सत्त्वाच्छागोऽग्निषोमीयः पशुरिति स्थितम्।

(४१६) भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ॥५७॥

'प्राचीनशाल औपमन्यवः' (छा० ५-११-१) इत्यस्यामाख्यायिकायां व्यस्तस्य समस्तस्य च वैश्वानरस्योपासनं श्रूयते। व्यस्तोपासनं तावत् 'ओपमन्यवकं त्वमात्मानमुपास्से, इति, 'दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से' (छा०५-१२१) इत्यादि। तथा समस्तोपासनमपि 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धेव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ' (छा० ५-१८-२) इत्यादि। तत्र संशयः—किमिहोभयथाप्युपासनं स्याद्व्यस्तस्य

भूम्नः क्रतुवत्। द्युलोकादित्यादिषु प्रत्येकं वैश्वानरत्वोपास्तिर्व्यस्तोपास्तिस्तदवयव्युपास्तिः समस्तोपास्तिरिति भेदः। आख्यायिका पूर्वमेव व्याख्याता। अत्रोभयत्र विधिफलयोः श्रवणादेकवाक्यत्वोपपत्तेश्च संशयमाह—तत्रेति। "सैव हि सत्यादयः' इत्यत्र तद्यत्तत्सत्यमिति प्रकृताकर्षाद्धिचैक्यमुक्तं तद्वदत्रैक्यहेत्वभावादगतार्थत्वं मत्वा पूर्वत्रोद्गीथादिश्रुत्या संनिधिबाधेनोद्गीथाद्युपास्तीनां सर्वशाखासूपसंहारवद्व्यस्तोपास्तीनां विधिश्रुतेः फलश्रवणस्य च समस्तोपास्तिसंनिधिप्राप्तं स्तुत्यर्थत्वं बाधित्वा तद्विधेयत्वमिति पूर्वपक्षमाह—प्रत्यवयवमिति। फलानुक्तौ पूर्वोत्तरपक्षसिद्धिरेव फलं मन्तव्यम्। सुतं

---

५. सिद्धान्त—उपक्रम और उपसंहार के द्वारा समस्त उपासना का ही चिन्तन निश्चित होता है, व्यस्त उपासनाओं का फलप्रतिपादन समस्त उपासनाओं की स्तुति के लिए किया गया है। साथ ही, व्यस्त उपासना की निन्दा भी की गयी है। जैसे दर्शपूर्णमासादि याग में अङ्ग के सहित प्रधान का अनुष्ठान बतलाना अभीष्ट है, प्रयाजादि का नहीं; ऐसे ही वैश्वानर विद्या में भी समस्त उपासना का प्रतिपादन ही अभीष्ट है, व्यस्त उपासना का नहीं।

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति (ललिता)

'प्राचीनशाल औपमन्यवः' इत्यादि छान्दोग्य श्रुति की इस आख्यायिका में वैश्वानर की उपासना समस्त तथा व्यस्तरूप से सुनी जाती है। उनमें 'हे औपमन्यव! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो? इस प्रश्न के उत्तर में प्राचीनशाल ने कहा कि मैं द्युलोक को वैश्वानर मानकर उपासना करता हूँ। उसके इस उत्तर को सुनकर राजा कैकय ने कहा कि जिस आत्मा को वैश्वानर मानकर तुम उपासना करते हो, निःसन्देह यह आत्मा सुतेजारूप है।' इस वाक्य से व्यस्त उपासना बतलायी गयी है और 'उसी इस वैश्वानर आत्मा का सुतेजा मूर्धारूप है, विश्वरूप चक्षु है, पृथक् पृथक् मार्ग से चलने वाली हवा प्राण है, विस्तृत आकाश उसका धड़ है, अन्न का कारण जल उसका मूत्राशय है और पृथ्वी ही उसके पाद हैं।' इस वाक्य द्वारा समस्त उपासना भी बतलायी गयी है। वहाँ पर संशय होता है कि इस प्रसङ्ग में विहित समस्त एवं व्यस्त उपासना का दोनों ही प्रकार से अनुष्ठान

---

१. द्युलोकमेव। २. शोभन तेजो यस्य सोऽयं सुतेजा इति प्रसिद्धो वैश्वानर आत्मा पंचमात्मनोऽवयवभूतत्वादात्मानमात्मैकदेशमुपास्से। अस्या श्रुतेः कृत्स्नव्याख्यानं तु वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् १-२-२४। इत्यत्र द्रष्टव्यम्। ३. वे.सू. ३-३-३८।

समस्तस्य चोत समस्तस्यैवेति ? किं तावत्प्राप्तम् । प्रत्यवयवं सुतेजःप्रभृतिषूपास्स इति क्रियापदश्रवणात् 'तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते' (छा० ५-१२-१) इत्यादिफलभेदश्रवणाच्च व्यस्तान्यप्युपासनानि स्युरिति प्राप्तम् ।

ततोऽभिधीयते--भूम्नः पदार्थोपचयात्मकस्य समस्तस्य वैश्वानरोपासनस्य ज्यायस्त्वं प्राधान्यमस्मिन्वाक्ये विवक्षितं भवितुमर्हति, न प्रत्येकमवयवोपासनानामपि । क्रतुवत् । यथा क्रतुषु दर्शपूर्णमासप्रभृतिषु सामस्त्येन साङ्गप्रधानप्रयोग एवैको विवक्ष्यते न व्यस्तानामपि प्रयोगः प्रयाजादीनाम् । नाप्येकदेशाङ्गयुक्तस्य प्रधानस्य तद्वत् । कुत एतद्भूमैव ज्यायानिति । तथा हि श्रुतिर्भूम्नो ज्यायस्त्वं दर्शयति एकवाक्यत्वावगमात् । एकं हीदं वाक्यं वैश्वानरविद्याविषयं पौर्वापर्यालोचनात्प्रतीयते । तथा हि--प्राचीनशालप्रभृतय उद्दालकावसानाः षडृषयो वैश्वानरविद्यायां परिनिष्ठामप्रतिपद्यमाना अश्वपतिं कैकेयं राजानमभ्याजग्मुरित्युपक्रम्यैकैकस्यर्षेरुपास्यं द्युप्रभृतीनामेकैकं श्रावयित्वा 'मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच' (छा० ५-१२-२) इत्यादिना मूर्धादिभावं तेषां विदधाति । 'मूर्धा ते

खण्डितं, सोमद्रव्यं तस्यैव प्रसुतत्वमासमन्तात् सुतत्वमवस्थाभेदः सोमयागसंपत्तिस्तव कुले दृश्यत इति यावत् ।

आत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा इति वाक्यप्रकरणाभ्यां व्यस्तोपास्तीनां समस्तोपास्त्यन्तर्भावेन प्रयाजदर्शवदेकप्रयोगत्वे सिद्धे प्रधानतदङ्गफलानामर्थवादगतानामेकप्रधानफलतयोपसंहाराद्वाक्यभेदो न युक्त इति सिद्धान्त्याशयः ।

करना चाहिए या केवल समस्त उपासना का ही अनुष्ठान करना चाहिए । ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष में कहा गया है कि सुतेजा इत्यादि प्रति अवयवों में 'उपास्से' इस क्रियापद का श्रवण होने से और 'इसलिए तुम्हारे कुल में सुत, प्रसुत और आसुत देखा जाता है' इत्यादि वाक्य से फलभेदका श्रवण होने से व्यस्त उपासना का भी अनुष्ठान करना चाहिए ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती की ओर से यह सूत्र कहा गया है कि पदार्थ उपचयात्मक समस्त वैश्वानर उपासना का प्राधान्य बतलाना इस वाक्य में अभीष्ट है, न कि प्रत्येक अवयवों की उपासना में भी । जैसे दर्शपूर्णमास आदि यागों में समस्त रूप से अङ्गों के सहित एक प्रधान का ही प्रयोग बतलाना अभीष्ट है वहाँ व्यस्त प्रयाजादि का भी अनुष्ठान बतलाना अभीष्ट नहीं है और न एकदेशरूप अङ्ग से युक्त प्रधान को बतलाना अभीष्ट है वैसे ही समस्त वैश्वानर की उपासना बतलाना ही छान्दोग्य की वैश्वानर विद्या में अभीष्ट है क्योंकि समस्त उपासना श्रेष्ठ मानी जाती है । एकवाक्यता के बोध से श्रुति समस्त उपासना को ही श्रेष्ठ बतलाती है । इस प्रसङ्ग के पूर्वापर की आलोचना करने पर वैश्वानरविद्याविषयक यह एक वाक्य जान पड़ता है, उसी में इसकी एकवाक्यता है । प्राचीनशाल से लेकर उद्दालकपर्यन्त छः ऋषि वैश्वानर विद्या में परिनिष्ठा न प्राप्त करने के कारण राजा अश्वपति कैकय के पास गये, यहाँ से इस प्रसङ्ग को प्रारम्भकर उनमें से एक एक ऋषि के उपास्य द्युलोकादि को सुन लेने के बाद अश्वपति कैकय ने उन्हें 'यह तो वैश्वानर आत्मा का शिर है, ऐसा कहा' इत्यादि वाक्य द्वारा श्रुति उसके उपास्यविशेष को मूर्धादिरूप ही बतलाती है

१. सर्वलोकादिषु अन्नादनं प्रधानफलम् । सुतप्रसुतादि अंगफलम् ।

व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्यः' (छा० ५-१२-२) इत्यादिना च व्यस्तोपासनमपवदति । पुनश्च व्यस्तोपासनं व्यावर्त्य समस्तोपासनमेवानुवर्त्य 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति' (छा० ५-१८-१)इति भूमाश्रयमेव फलं दर्शयति । यत्तु प्रत्येकं सुतेजःप्रभृतिषु फलभेदश्रवणं तदेवं [1]सत्यङ्गफलानि प्रधान [2]एवाभ्युपगतानीति द्रष्टव्यम् । तथोपास्स इत्यपि प्रत्यवयवमाख्यातश्रवणं पराभिप्रायानुवादार्थं न व्यस्तोपासनविधानार्थम् । तस्मात्समस्तोपासनपक्ष एव श्रेयानिति ।

केचित्त्वत्र समस्तोपासनपक्षं ज्यायांसं प्रतिष्ठाप्य ज्यायस्त्ववचनादेव किल व्यस्तोपासन पक्षमपि सूत्रकारोऽनुमन्यत इति कथयन्ति । तदयुक्तम् । एकवाक्यतावगतौ सत्यां वाक्यभेदकल्पनस्यान्याय्यत्वात् । 'मूर्धा ते व्यपतिष्यत्, (छा० ५-१२-२) इति चैवमादिनिन्दावचनविरोधात् । स्पष्टे [3]चोपसंहारस्थे समस्तोपासनावगमे तदभावस्य पूर्वपक्षे वक्तुमशक्यत्वात् । सौत्रस्य च ज्यायस्त्ववचनस्य प्रमाणवत्त्वाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानत्वात् ॥५७॥

एकदेशिव्याख्यामनूद्य दूषयति—केचिदिति । यद्युभययोपासनं सिद्धान्तस्तर्हि व्यस्तोपासनमेवेति पूर्वपक्षो वक्तव्यः, स च न संभवतीत्याह—स्पष्टे चेति । कथं तर्हि सूत्रे ज्यायस्त्वोक्तिस्तत्राह—सौत्रस्येति । व्यस्तोपास्तीनामप्रामाणिकत्वद्योतनार्थं तदुक्तिरिति भावः ॥५७॥

और साथ ही साथ 'यदि तुम मेरे पास नहीं आये होते तो तुम्हारा शिर गिर जाता' इत्यादि वाक्य द्वारा व्यस्त उपासना की निन्दा भी करती है। तत्पश्चात् व्यस्त उपासना को छोड़कर समस्त उपासना का ही अनुवर्तनकर 'वह सभी लोकों में, सभी भूतों में और सभी आत्माओं में अन्न का भक्षण करता है' इस वाक्य से भूमाश्रित ही फल को श्रुति दिखलाती है। और जो सुतेजः इत्यादि में प्रत्येक उपासना का फल सुना गया है वह भी इस प्रकार अङ्गफल प्रधान के ही माने गये हैं, ऐसा समझना चाहिए । वैसे ही 'उपास्से' यह प्रति अवयव सुना गया आख्यात भी दूसरे के अभिप्राय के अनुवाद के लिए कहा गया है, व्यस्त उपासनाविधान के लिए नहीं कहा गया है। अतः समस्त उपासना पक्ष ही श्रेष्ठ है।

कुछ लोग यहाँ पर, समस्त उपासना पक्ष को श्रेष्ठ प्रतिष्ठापितकर ज्यायस्त्व वाक्य से ही व्यस्त उपासना पक्ष को भी सूत्रकार ने माना है, ऐसा कहते हैं, वह कथन ठीक नहीं है क्योंकि एकवाक्यता अवगत हो जाने पर वाक्यभेद की कल्पना न्यायसङ्गत नहीं है। साथ ही 'तेरी मूर्धा गिर जाती' इस वाक्य के द्वारा निन्दावचन का 'केचित्' के मत में विरोध भी आने लग जायेगा । और उपसंहारस्थ समस्त उपासना पक्ष का स्पष्टीकरण हो जाने पर पुनः उसके अभाव को पूर्वपक्ष में कहना शक्य नहीं है। सूत्र में ज्यायस्त्वकथन प्रमाणवत्त्व के अभिप्राय से भी युक्तिसङ्गत हो सकता है अर्थात् वह व्यस्त उपासना में अप्रमाणिकत्व बतलाने के लिए कहा गया है। इसलिए समस्त उपासना में एकवाक्यता होने के कारण वही श्रेष्ठ है ॥७॥

---

१. एक वाक्यत्वावगमे सति । २. अभ्युच्चिनोतीति पाठान्तरम् । ३. उपसंहारस्येति पाठान्तरम् ।

३३. शब्दभेदाधिकरणम् (सू० ५८)

(४१७) नाना शब्दादिभेदात् ॥५८॥

न भिन्ना उत भिद्यन्ते शाण्डिल्यदहरादयः। समस्तोपासनश्रैष्ठ्याद्ब्रह्मैक्यादप्यभिन्नता।
कृत्स्नोपास्तेरशक्यत्वाद्गुणैर्ब्रह्म पृथक्कृतम्। दहरादीनि भिद्यन्ते पृथक्पृथगुपक्रमात्॥

पूर्वस्मिन्नधिकरणे सत्यामपि सुतेजःप्रभृतीनां फलभेदश्रुतौ समस्तोपासनं ज्याय इत्युक्तम्। अतः प्राप्ता बुद्धिरन्यान्यपि भिन्नश्रुतीन्युपासनानि समस्योपासिष्यन्त इति। अपिच नैव वेद्याभेदे विद्याभेदो विज्ञातुं शक्यते। वेद्यं हि रूपं विद्याया द्रव्यदैवतमिव यागस्य। वेद्यश्चैक एवेश्वरः श्रुतिनानात्वेऽप्यवगम्यते 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३-१४-२),

नाना शब्दादिभेदात्। शाण्डिल्यादिब्रह्मविद्यैका नाना वा तथा संवर्गादिप्राणविद्यैका नाना वेति 'रूपैक्यभावाभावाभ्यां संशये दृष्टान्तसंगत्या पूर्वपक्षमाह—पूर्वस्मिन्निति। रूपैक्याच्च विद्यैक्यमित्याह—अपिचेति। विद्यैक्यं चेदेकश्रुत्युक्तविद्यायाः श्रुत्यन्तरेऽप्युक्तिर्व्यर्थेत्यत आह—श्रुतिनानात्वेऽपीति।

३३. शब्दभेदाधिकरण

१. सङ्गति—जिस प्रकार व्यस्त उपासनाओं में विधिश्रुति के होते हुए भी पहले समस्त उपासना को श्रेष्ठ कहा था, उसी प्रकार वेद्यवस्तु का अभेद रहने पर प्रत्येक में विधि के रहते हुए भी समस्त उपासना को श्रेष्ठ नहीं कह सकते; अतः विधि के भेद से उपासना में भी भेद माना गया है, इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—सगुणब्रह्मविषयक शाण्डिल्यादि विद्या और प्राणादि विद्या के भेदाभेद का इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—क्या सगुणब्रह्मविषयक शाण्डिल्यादि विद्या और प्राणादि विद्या अभिन्न हैं या भिन्न हैं?

४. पूर्वपक्ष—समस्त उपासना श्रेष्ठ मानी गयी है और उसका विषय ब्रह्म भी एक है, इसीलिए ये सब सगुणब्रह्मविषयक विद्यायें अभिन्न मानी जायेंगी।

५. सिद्धान्त—वेद्य से अभेद रहने पर भी यहाँ पर विद्या भिन्न-भिन्न ही है क्योंकि सभी विद्याओं का अनुष्ठान शक्य नहीं है और गुणों के कारण ब्रह्म का स्वरूप भी पृथक्-पृथक् हो जाता है। अतः वेद्य का अभेद रहने पर भी अनुबन्ध गुण के भेद से वेद्यवस्तु में भी भेद आ जाता है, इसीलिए ये उपासनायें भिन्न भिन्न ही हैं।

नाना शब्दादिभेदात् (ललिता)

पूर्व अधिकरण में सुतेजः इत्यादि उपासनाओं के फलविशेष के सुने जाने पर भी समस्त उपासना श्रेष्ठ है, यह कहा गया था। अतः भिन्न श्रुति में कही गयी अन्यान्य उपासनायें भी समस्तरूप से अनुष्ठित हो सकती हैं, यह प्रसङ्ग प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त वेद्यवस्तु का अभेद रहने पर उपासना को भिन्न नहीं समझ सकते हैं। जैसे याग के भेद बतलाने वाले द्रव्य और देवता हुआ करते हैं वैसे ही उपासना का रूप वेद्य होता है। श्रुति के नाना रहने पर भी 'परमेश्वर मनोमय है और

१. वेद्यैक्येत्यर्थः।

'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४-१०-५), 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८-१-५) इत्येवमादिषु। तथा 'एक एव प्राणः', 'प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४-३-३), 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छा० ५-१-१), 'प्राणो ह पिता प्राणो माता' (छा० ७-१५-१) इत्येवमादिषु। वेद्यैकत्वाच्च विद्यैकत्वम् श्रुतम्, श्रुतिनानात्वमप्यस्मिन्पक्षे गुणान्तरपरत्वान्नानर्थकम्। तस्मात्स्वपरशाखाविहितमेकवेद्यव्यपाश्रयं गुणजातमुपसंहर्तव्यं विद्याकार्त्स्न्यायेति।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते नानेति। वेद्याभेदेऽप्येवजातीयका विद्या भिन्ना भवितुमर्हति। कुतः? —शब्दादिभेदात्। भवति हि शब्दभेदः 'वेद' 'उपासीत' 'स क्रतुं कुर्वीत' (छा० ३१४-१) इत्येवमादिः। शब्दभेदश्च कर्मभेदहेतुः समधिगतः पुरस्ताच्छब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वादिति। आदिग्रहणाद्गुणादयोऽपि यथासम्भवं भेदहेतवो योजयितव्याः। ननु वेदेत्यादिषु शब्दभेद एवावगम्यते न यजतीत्यादिवदर्थभेदः सर्वेषामेवेषां मनोवृत्त्यर्थ-

---

पूर्वपक्षफलमाह—तस्मादिति।

सिद्धान्ते तु गुणानुपसंहार इति मत्वा सूत्रं योजयति—वेद्याभेदेऽपीति। ननु भिन्न[१]भावार्थवाचकशब्दः शब्दान्तरं यथा 'यजति ददाति जुहोति' इति तस्मिञ्शब्दभेदे कर्मशब्दितवि[२]ध्यर्थभावनाया भेदो युक्तस्तस्याः कृतानुबन्धत्वाद्भेदेन स्वीकृतविषयत्वाद्भावार्थभेदादिति यावत्। प्रकृते तु वेदोपासीतेत्यादिशब्दार्थो[३]पास्तेर्यागदानहोमवत्स्वतो भेदाभावात्सिद्धगुणकब्रह्मण एकत्वेन विषयतोऽपि भेदाभावात्कथमुपास्तिभेद इति शङ्कते—नन्विति। अत्र सूत्रे शब्दभेदोऽभ्युच्चयमात्रतयोक्तः, विद्यानानात्वे

प्राण शरीरवाला है', 'ब्रह्म सुखरूप है और ब्रह्म आकाश के समान व्यापक है' 'परमेश्वर सत्यकाम और सत्यसंकल्प है' इन सभी श्रुतियों में वेद्य ईश्वर एक ही जाना जाता है। वैसे ही 'प्राणपदवाच्य ईश्वर एक ही है', 'निःसन्देह प्राण ही संवर्ग है', 'इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्राण सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है', 'प्राण ही पिता है प्राण ही माता है' इन वाक्यों में भी ईश्वर एक ही जाना जाता है। वेद्य के एक होने से विद्या एक है, इस पक्ष में श्रुतियों का नानात्व भी अनर्थक नहीं है, वह गुणान्तरबोधक है। अतः स्वशाखा एवं परशाखाविहित एक वेद्य के आश्रित सकल गुणों का उपसंहार विद्या की सम्पूर्णता के लिए कर लेना चाहिए।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर इस सूत्र से सूत्रकार कहते हैं कि वेद्य के एक रहने पर भी इस प्रकार की उपासनाओं को भिन्न ही माननी चाहिए क्योंकि 'वेद', 'उपासीत', 'स क्रतुं कुर्वीत' इत्यादि श्रुतियों में शब्दादि का भेद देखा जाता है। शब्दभेद कर्मभेद का हेतु पहले जाना जा चुका है, शब्दान्तर में कर्मभेद अनुबन्ध के कारण माना ही जाता है। सूत्रस्थ 'आदि' शब्द से, यथासम्भव गुणादि भी उपासनाभेद के कारण है, ऐसी योजना कर लेनी चाहिए। पूर्वपक्ष—'वेद' इत्यादि वाक्यों में केवल शब्दभेद ही जाना जाता है, 'यजति' 'जुहोति' इत्यादि की भाँति उनमें अर्थभेद नहीं है क्योंकि उन

---

१. एको विद्यागुणविधिरितरे गुणविधय इति भावः। २. पूर्वतन्त्रे। ३. भावार्थो यागदानहोमादिरूपः। ४. शाब्द्यादिभावना। ५. मानसक्रियारूपायाः।

त्वाभेदात् । अर्थान्तरासम्भवाच्च । तत्कथं शब्दभेदाद्विद्याभेद इति । नैष दोषः । मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदेऽप्यनुबन्धभेदाद्वेद्यभेदे सति विद्या भेदोपपत्तेः । एकस्यापीश्वरस्योपास्यस्य प्रतिप्रकरणं व्यावृत्ता गुणाः शिष्यन्ते । तथैकस्यापि प्राणस्य तत्र तत्रोपास्यस्याभेदेऽप्यन्यादृग्गुणोऽन्यत्रोपासितव्योऽन्यादृग्गुणश्चान्यत्रेत्येवमनुबन्धभेदाद् वेद्यभेदे सति विद्याभेदो विज्ञायते । न चात्रैको विद्याविधिरितरे गुणविधय इति शक्यं वक्तुम् । विनिगमनायां हेत्वभावात् । अनेकत्वाच्च प्रतिप्रकरणं गुणानां प्राप्तविद्यानुवादेन गुणविधानानुपपत्तेः । न चास्मिन्पक्षे समानाः सन्तः सत्यकामादयो गुणा असकृच्छ्रावयितव्याः । प्रतिप्रकरणं चेदंकामेनेदमुपासितव्यमिदंकामेन चेदमिति नैराकाङ्क्ष्यावगमान्नैकवाक्यतापत्तिः । न चात्र

सम्यग्घेतवस्त्वादिपदोपात्ता गुणादय एव । तथा हि सिद्धस्यापि गुणस्य कार्यान्वयितया कार्यत्वमस्ति । यथा आरुण्यादिगुणानां क्रयणभावनान्वयितया कार्यत्वं तथाच तत्तत्प्रकरणेषूत्पत्तिशिष्टैरुपासितभावनान्वयितया साध्यैस्तत्तद्गुणैर्विशिष्टतयोपास्यरूपभेदादुपासनाभेदः । यथा छत्रचामरादिगुणभेदेन राजोपास्तिभेदः, यथा वामिक्षावाजिनगुणभेदेन यागभेदस्तद्वत् । तथा प्रतिविद्य फलसंयोगभेदाद्दहरशाण्डिल्यादिसमाख्याभेदाद्भेद इति समाधत्ते—नैष दोष इत्यादिना । यदुक्तं श्रुतिनानात्वं गुणान्तरविध्यर्थमिति तन्नेत्याह—न चात्रैक इति । किंच प्राप्तविद्यानुवादेनाप्राप्तानेकगुणविधाने वाक्यभेदः स्यादित्याह—अनेकत्वाच्चेति । किंच विद्यैक्यपक्षे गुणानां पुनरुक्तिर्वृथा, नच प्रत्यभिज्ञानार्था ब्रह्मैक्यादेव तत्सिद्धेः, विद्यानानात्वपक्षे तु गुणानामप्राप्तेः सा प्राप्त्यर्थेत्याह—न चास्मिन्पक्ष इति । फलभेदाच्चोदनैक्याभावात्सर्वगुणध्यानस्याशक्यत्वाच्च विद्या नानेत्याह—प्रतिप्रकरणं चेत्यादिना ।

'वेद' 'उपासीत' इत्यादि क्रियाओं में मनोवृत्तिरूप अर्थ तो समान हो रहता है, उनमें अर्थान्तर मानना सम्भव भी नहीं है । ऐसी स्थिति में शब्दभेद से उपासना में भेद कैसे माना जा सकता है । सिद्धान्ती—यह दोष नहीं है । मनोवृत्तिरूप अर्थ के एक रहने पर भी अनुबन्ध के भेद से वेद्य में भेद आता है, फिर तो उपासना में भेद सिद्ध ही हो जायेगा । उपास्य एक ईश्वर के भी प्रत्येक प्रकरण में गुण पृथक्-पृथक् देखे जाते हैं । वैसे ही एक उपास्य प्राण के भिन्न-भिन्न उपास्यगुणों का भिन्न-भिन्न स्थानों में भेद देखा जाता है । अतः अनुबन्ध के भेद से वेद्य में भेद आता है, तत्पश्चात् उपासना में भी भेद निश्चित हो जाता है । एक वाक्य विद्या का विधान करता है और दूसरे गुणविधायक हैं, विनिगमकाभाव के कारण ऐसा नहीं कह सकते । प्रतिप्रकरण में अनेक गुण होने से पहले से विहित विद्या का अनुवाद कर गुणमात्र का विधान कहना भी युक्तिसंगत नहीं है । और इस पक्ष में 'सत्यकामादि' गुण समान होते हुए पुनः पुनः श्रवण कराना भी युक्ति नहीं है । इस कामनावाले को इसकी उपासना करनी चाहिए, और इस कामनावाले को इसकी उपासना करनी चाहिए, इस प्रकार नैराकांक्ष्य का बोध होता है, अतः इनमें एकवाक्यता नहीं आती है । वैश्वानर विद्या की भाँति समस्त का विधान यहाँ पर नहीं है जिसके बल से प्रतिप्रकरणवर्ती अवयव उपासनाओं की एकवाक्यता मान सकें । वेद्य के एक होने पर विद्या एक मानी जाती है, यह प्रतिज्ञा सर्वत्र निरंकुश है; ऐसी स्थिति में समस्त गुणों के उपसंहार की प्रतिज्ञा नहीं कर सकते । इसलिए सूत्रकार ने ठीक ही कहा है कि शब्दादि के भेद से उपासनायें भिन्न-भिन्न हैं । विद्या में भेद के सिद्ध

१. गुणसम्बन्ध । २. उपास्त्यर्थमिति पाठान्तरम् । ३. उपदिश्यन्ते । ४. पुनः पुनः वैयर्थ्यादिति भावः । ५. सेयं विद्येति प्रत्यभिज्ञार्था । ६. पुनरुक्तिः ।

३४. विकल्पाधिकरणम् (सू० ५६)

(४१८) विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥५६॥

अहंग्रहेष्वनियमो विकल्पनियमोऽथवा । नियामकस्याभावेन यथाकाम्य प्रतीयताम् ।
ईशसाक्षात्कृतेस्त्वेकविद्ययैव प्रसिद्धितः । अन्यानर्थक्यविक्षेपौ विकल्पस्य नियामकौ ॥

वैश्वानरविद्यायामिव समस्तचोदनाऽपरास्ति यद्बलेन प्रतिप्रकरणवर्तीन्यवयवोपासनानि भूत्वैकवाक्यतामियुः । वेद्यैकत्वनिमित्ते च विद्यैकत्वे सर्वत्र निरङ्कुशे प्रतिज्ञायमाने समस्त-गुणोपसंहारोऽशक्यः प्रतिज्ञायेत । तस्मात्सुष्ठूच्यते नाना शब्दादिभेदादिति । स्थिते चैतस्मिन्नधिकरणे सर्ववेदान्तप्रत्ययमित्यादि द्रष्टव्यम् ॥५८॥

स्थिते विद्याभेदे विचार्यते । किमासामिच्छया समुच्चयो विकल्पो वा स्यात् । अथवा

दहरध्यातुः सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति वैश्वानरध्याता सर्वत्रान्नमत्तीत्यादिफलभेद इत्यर्थः । ननु विद्यानानात्वे सिद्धे पश्चाद्दहरादिविद्या प्रतिवेदान्तमेकाऽनेका वेति चिन्तोचिता तत्कथ'मादौ सा कृतेत्यत आह—स्थिते चेति । विद्यानानात्वाधिकरणं पादादावेव संगतमत्र प्रासङ्गिकमिति भावः ॥५८॥

विकल्पः । विद्यानां स्वरूपमुक्त्वाऽनुष्ठानप्रकारोऽत्र निरूप्यत इत्युपजीव्यत्वसंगतिमाह—स्थित इति । विद्यास्त्रिविधाः अहंग्रहास्तटस्था अङ्गाश्रिताश्चेति । तत्राहंग्रहविद्यासु यथाकाम्य-

---

हो जाने पर दहरादि विद्या प्रतिवेदान्त एक है अथवा अनेक है, यह चिन्ता उचित होती, फिर भला प्रारम्भ में इसकी चिन्ता कैसे की गयी; इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इस अधिकरण के पश्चात् ही **'सर्ववेदान्तप्रत्ययम्'** इत्यादि अधिकरणों को सङ्गति लगानी चाहिए । तात्पय यह है कि **'विद्यानाना-त्वाधिकरण'** इस पाद के प्रारम्भ में ही कहना था जिसे प्रसङ्गवश यहाँ कहा है, ऐसा समझना चाहिए ॥५८॥

३४. विकल्पाधिकरण

१. **सङ्गति**—पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की हेतु-हेतुमद्भाव सङ्गति है ।

१. **विषय**—अहंग्रह उपासना में विकल्प एवं समुच्चय के अनुष्ठान पर इस अधिकरण में विचार किया गया है ।

३. **संशय**—क्या अपनी इच्छा से उपासक सगुणब्रह्मविद्या का अनुष्ठान समुच्चयरूप में करेगा अथवा विकल्परूप में ?

४. **पूर्वपक्ष**—नियामक के अभाव में उपासक इनका यथेच्छ अनुष्ठान कर सकता है ।

५. **सिद्धान्त**—इन विद्याओं का अनुष्ठान विकल्प से ही करना चाहिए, समुच्चयरूप में नहीं क्योंकि उपास्य का साक्षात्काररूप फल सभी का समान रूप से बतलाया गया है । अतः समुच्चय अनुष्ठान विक्षेपकारक और अनावश्यक होने के कारण साक्षात्कारपर्यन्त एक ही उपासना करनी चाहिए ।

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् (ललिता)

विद्याओं का स्वरूप बतलाकर अब अनुष्ठानप्रकार बतलाते हैं । अहंग्रह, तटस्थ एवं अङ्गाश्रित

---

४. प्रकृतपादादौ ।

विकल्प एव नियमेनेति । तत्र स्थितत्वात्तावद्विद्याभेदस्य न समुच्चयनियमे किंचित्कारणमस्ति । ननु भिन्नानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां समुच्चयनियमो दृश्यते । नैष दोषः । नित्यताश्रुतिर्हि तत्र कारणं नैवं विद्यानां काचिन्नित्यताश्रुतिरस्ति । तस्मान्न समुच्चयनियमः । नापि विकल्पनियमः । विद्यान्तराधिकृतस्य विद्यान्तराप्रतिषेधात् । पारिशेष्याद्याथाकाम्यमापद्यते । नन्वविशिष्टफलत्वादासां विकल्पो न्याय्यः । तथा हि—'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३-१४-२), 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म (छा० ४-१०-५), 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८-१-५) इत्येवमाद्यास्तुल्यवदीश्वरप्राप्तिफला लक्ष्यन्ते । नैष दोषः । समानफलेष्वपि स्वर्गादिसाधनेषु कर्मसु याथाकाम्यदर्शनात् । तस्माद्याथाकाम्यप्राप्तावुच्यते विकल्प एवासां भवितुमर्हति न समुच्चयः । कस्मात् ? अविशिष्टफलत्वात् । अविशिष्टं ह्यासां फलमुपास्यविषयसाक्षात्करणम् । एकेन चोपासनेन साक्षात्कृत उपास्ये विषय ईश्वरादौ द्वितीयमनर्थकम् । अपि चासम्भवः एव साक्षात्करणस्य समुच्चयपक्षे चित्त-

---

विकल्पयोर्विद्यानानात्वसाम्यात्संशयमाह—किमिति । पूर्वपक्षे यथेच्छमनुष्ठानमित्यनियमः सिद्धान्ते विकल्पेनानुष्ठानमिति नियम इति फलभेदः । तत्रानियमं साधयति—तत्र स्थितत्वादित्यादिना । एकपुरोडाशफलत्वाद्यथा व्रीहियवयोर्विकल्पस्तथा विकल्पनियम एवासां विद्यानां न्याय्यः, तुल्यफलत्वात् । नच फलभूयस्त्वार्थिनः काम्यकर्मसमुच्चयोऽपि दृष्ट इति वाच्यम्, ईश्वरसाक्षात्कारात्परं फलभेदेऽप्यासामहंग्रहोपास्तीनां साक्षात्कारात्मकफलस्य तुल्यत्वात्, तस्य चैकया कृतत्वे अन्यस्याः कृत्य-

---

—ऐसी तीन प्रकार की उपासनायें बतलायी गयी हैं, क्या इनका स्वेच्छा से या विकल्प से अनुष्ठान होना चाहिए अथवा इनका नियमपूर्वक विकल्प से ही अनुष्ठान होना चाहिए। विद्याभेद निश्चित हो जाने पर समुच्चयनियम में कोई कारण यहाँ नहीं दीखता है। शङ्का—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासादि भिन्न कर्मों का भी समुच्चयनियम दीखता ही है। समाधान—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि वहाँ पर नित्यताश्रुति ही कारण है, पर ऐसी उपासनाओं में कोई नित्यताश्रुति नहीं है; अतः समुच्चयनियम नहीं है और न विकल्प का ही नियम है। एक विद्या में अधिकृत पुरुष का विद्यान्तर में निषेध तो है नहीं, परिशेषन्याय से अधिकारी यथेच्छ उनका अनुष्ठान कर सकता है। शङ्का—सब का फल समान होने के कारण इनका विकल्प से अनुष्ठान करना ही उचित है क्योंकि **'मनोमयः प्राणशरीरः'** **'कं ब्रह्म खं ब्रह्म'**, **'सत्यकामः सत्यसंकल्पः'** इत्यादि ईश्वरप्राप्ति फल बतलाने वाली ये सब श्रुतियाँ एक जैसी जान पड़ती हैं। समाधान—यह दोष नहीं है। समानफलवाले स्वर्गादि के साधन कर्मों में साधक की इच्छा पर आश्रित उनका अनुष्ठान देखा जाता है। इसलिए काम्य उपासना की यथेच्छ प्राप्ति होने पर इनका विकल्प से अनुष्ठान करना ही सिद्धान्त में माना गया है, समुच्चय नहीं क्योंकि सभी उपासनाओं का फल तुल्य बतलाया गया है। उपास्यविषय का साक्षात्कार करना इन सभी उपासनाओं का समान फल बतलाया गया है, ऐसी स्थिति में एक उपासना से उपास्यविषय ईश्वरादि का साक्षात्कार हो जाने पर दूसरे का अनुष्ठान अनर्थक ही है। इसके अतिरिक्त समुच्चय पक्ष में

३५. काम्याधिकरणम् (सू० ६०)

प्रतीकेषु विकल्पः स्याद्याथाकाम्येन वा मतिः। अहंग्रहेष्विवैतेषु साक्षात्कृत्यै विकल्पनम्।
देवो भूत्वेतिवन्नात्र काचित्साक्षात्कृतौ मितिः। याथाकाम्यमतोऽमीषां समुच्चयविकल्पयोः॥

विक्षेपहेतुत्वात्। साक्षात्करणसाध्यं च विद्याफलं दर्शयन्ति श्रुतयः—'यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ति' (छा० ३-१४-४) इति, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' (बृ० ४-१-२) इति चैवमाद्याः। स्मृतयश्च—'सदा तद्भावभावितः' (८-६) इत्येवमाद्याः। तस्मादविशिष्टफलानां विद्यानामन्यतमामादाय तत्परः स्याद्यावदुपास्यविषयसाक्षात्कारणेन तत्फलं प्राप्तमिति॥५९॥

भावाच्चित्तविक्षेपकतया तद्विद्याकृतत्वाच्चेति सिद्धान्तभाष्यार्थः। मास्तु साक्षात्कार इत्यत आह—साक्षात्करणसाध्यं चेति। यस्य पुंसः, अद्धा ईश्वरोऽहमिति साक्षात्कारः स्याद्विचिकित्सा च नास्ति अहमीश्वरो न वेति, तस्यैवेश्वरप्राप्तिरित्यर्थः। जीवन्नेव भावनया देवत्वं साक्षात्कृत्य देहपातोत्तरकालं देवान्प्राप्नोति इति श्रुत्यन्तरार्थः। अहंग्रहाणामनुष्ठानप्रकारमुपसंहरति—तस्मादिति॥५९॥

चित्तविक्षेप होते रहने के कारण उपास्य का साक्षात्कार सम्भव भी नहीं है। साक्षात्कार ही विद्या का फल है, ऐसा 'जिस पुरुष को मैं ईश्वर हूँ, ऐसा साक्षात्कार हो गया उसे मैं ईश्वर हूँ या नहीं, ऐसा संशय नहीं होता', 'देव होकर देव में लीन होता है' ये सब श्रुतियाँ कहती हैं। उसी प्रकार 'सदा तद्-भावभावितः' इत्यादि स्मृतियाँ भी बतलाती हैं। अतः समानफलवाली उपासनाओं में से किसी एक उपासना को लेकर उपास्यविषय के साक्षात्कार के लिए तत्पर हो जाना चाहिए, तभी उसका साक्षात्काररूप फल प्राप्त होगा॥५९॥

३५. काम्याधिकरण

१. सङ्गति—पहले अहंग्रह उपासनाओं का अनुष्ठान विकल्प से कहा गया था, वैसे ही उपासनत्वसामान्य को देखते हुए प्रतीक उपासनाओं का भी क्यों नहीं विकल्प से ही अनुष्ठान माना जाय; इस प्रकार आक्षेप होने पर इस अधिकरण का उत्थापन हुआ है।

२. विषय—'नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७-१-५) इत्यादि वाक्यों से कही गयी प्रतीक उपासनाओं के विकल्प और समुच्चय का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या प्रतीक उपासनायें विकल्प से की जांय अथवा उपासक के इच्छानुरूप विकल्प या समुच्चय माना जाय?

४. पूर्वपक्ष—साक्षात्कार फलवाली अहंग्रह उपासनाओं की भाँति इन प्रतीक उपासनाओं में भी विकल्प ही मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—क्रिया की भाँति अदृष्ट द्वारा फल का जनक होने के कारण इन प्रतीक उपासनाओं का फल इष्ट का साक्षात्कार करना नहीं है, ये तो काम्य उपासनायें हैं। अतः उपासक की इच्छानुसार विकल्प या समुच्चय, दोनों ही प्रकार से ये प्रतीक उपासनायें की जा सकती हैं।

३६. यथाश्रयभावाधिकरणम् (सू० ६१-६६)

(४१९) काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥६०॥

समुच्चयोऽङ्गबद्धेषु याथाकाम्येन वा मतिः । समुच्चितत्वादङ्गानां तद्बद्धेषु समुच्चयः ।
ग्रहं गृहीत्वा स्तोत्रस्यारम्भ इत्यादिवन्न हि । श्रूयते सहभावोऽत्र याथाकाम्य ततो भवेत् ॥

अविशिष्टफलत्वादित्यस्य प्रत्युदाहरणम् । यासु पुनः काम्यासु विद्यासु 'स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति' (छा० ३-१५-२), 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नोगतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७-१-५) इति चैवमाद्यासु क्रियावददृष्टेनात्मनात्मीयं तत्तत् फलं साधयन्तीषु साक्षात्करणापेक्षा नास्ति । ता यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा समुच्चीयेरन्पूर्वहेत्वभावात् । पूर्वस्याविशिष्टफलत्वादित्यस्य विकल्पहेतोरभावात् ॥६०॥

काम्यास्तु । तटस्थोपास्तयोऽत्र विषयस्तासु किं विकल्प उत यथाकाममनुष्ठानमिति पूर्ववत्संशये सत्युपास्तित्वाविशेषादहंग्रहवद्विकल्प इति प्राप्तावपवादं सिद्धान्तयति—अविशिष्टेति । स यः कश्चिदेतं वायुमेव गोत्वेन कल्पितानां दिशां वत्सं वेदोपास्ते नासौ पुत्रमरणनिमित्तं रोदनं रोदिति लभते नित्यमेव जीवत्पुत्रो भवतीत्यर्थः । अहंग्रहदृष्टान्ते साक्षात्कारद्वारत्वमुपाधिरिति भावः ॥६०॥

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् (ललिता)

पिछले अधिकरण में समानफलवाली उपासनाओं का अनुष्ठानप्रकार बतलाया गया, उसका प्रत्युदाहरणरूप यह अधिकरण है कि 'जो दिशा के वत्सरूप इस वायु की इस प्रकार उपासना करता है वह पुत्रवियोगजनित रुदन नहीं करता', 'जो नाम में ब्रह्मदृष्टि करता है उस साधक को वहाँ तक यथेच्छविचरणरूप फल प्राप्त होता है जहाँ तक नाम की गति है' इन श्रुतियों के द्वारा विहित जिन सकाम उपासनाओं में क्रिया की भाँति अदृष्टरूप से ही अपना फल देने की क्षमता है, उनमें साक्षात्कार की अपेक्षा नहीं है । उनका अनुष्ठान उपासक यथेच्छ समुच्चयरूप से करे अथवा समुच्चयरूप से न करे क्योंकि पूर्व की भाँति साक्षात्काररूप फल तो यहाँ है नहीं अर्थात् अविशिष्टफलत्वरूप पूर्वोक्त विकल्प के कारण का यहाँ पर अभाव है ॥६०॥

३६. यथाश्रयभावाधिकरण

१. सङ्गति—पहले जिस प्रकार स्वतन्त्र होने के कारण प्रतीक उपासनाओं का अनुष्ठान यथेच्छ कहा था, अङ्गाश्रित उपासना वैसी स्वतन्त्र नहीं है किन्तु अङ्गतन्त्र है; इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसकी प्रत्युदाहरण सङ्गति है ।

२. विषय—वेदत्रयविहित कर्माङ्ग उद्गीथाश्रित विद्याओं के समुच्चय और विकल्प पर इस अधिकरण में विचार किया गया है ।

३. संशय—क्या कर्माङ्ग उद्गीथाश्रित वेदत्रयविहित उपासनाओं का अनुष्ठान समुच्चयरूप में किया जाय अथवा विकल्परूप में ?

(४२०) अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥६१॥
(४२१) शिष्टेश्च ॥६२॥

कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु य आश्रिताः प्रत्यया वेदत्रयविहिताः किं ते समुच्चीयेरन्किंवा यथाकामं स्युरिति संशये यथाश्रयभाव इत्याह। यथैवेषामाश्रयाः स्तोत्रादयः सम्भूय भवन्त्येवं प्रत्यया अपि। आश्रयतन्त्रत्वात्प्रत्ययानाम् ॥६१॥

यथा चाश्रयाः स्तोत्रादयस्त्रिषु वेदेषु शिष्यन्त एवमाश्रिता अपि प्रत्ययाः नोपदेशकृतोऽपि कश्चिद्विशेषोऽङ्गानां तदाश्रयाणां च प्रत्ययानामित्यर्थः ॥६२॥

संप्रत्यङ्गावबद्धोपास्तीनामनुष्ठानक्रमं वक्तुं पूर्वपक्षयति—अङ्गेष्विति। अङ्गाश्रितत्वात्सफलत्वाच्च, संशयमाह—किमिति। यथा क्रत्वनुष्ठाने तदाश्रिताङ्गानां समुच्चित्यानुष्ठाननियमस्तथाङ्गानुष्ठाने तदाश्रितोपास्तीनां तन्नियम इति सूत्रार्थः। ननु तन्निर्धारणानियम इत्यत्राङ्गाश्रितानां गोदोहनवदनङ्गत्वमुक्तं, तत्कथमनङ्गानामङ्गवत्समुच्चयं शङ्कतेत्युच्यते। अङ्गान्यनुष्ठापयन्प्रयोगविधिर्यद्युपासनानि नानुष्ठापयेत्तर्हि तेषां तदाश्रितत्वं व्यर्थमिति मन्वानस्य शङ्केति भावः ॥६१॥

तर्हि गोदोहनस्यापि समुच्चयः स्यादित्यत आह—शिष्टेश्चेति। शिष्टिः शासनं विधानमिति यावत्। विहितत्वाविशेषात्समुच्चयोऽङ्गवदित्यर्थः। गोदोहनस्य तु नानुष्ठाननियमः, चमसस्थाने विहितत्वात्तन्नियमे चमसविधिवैयर्थ्यात्। उपासनानां तु कस्यचिदङ्गस्य स्थाने विहितत्वमिति समुच्चयनियमो न विरुध्यत इति भावः ॥६२॥

---

४. पूर्वपक्ष—अङ्गावबद्ध उपासनाओं का अनुष्ठान समुच्चयरूप में ही करनो चाहिए। जैसे याग के अङ्गों का अनुष्ठान समुच्चयरूप में किया जाता है, वैसे ही अङ्गाश्रित उपासनाओं का अनुष्ठान भी समुच्चयरूप में करना चाहिए क्योंकि ये भी अपने आश्रय के आधीन हैं।

५. सिद्धान्त—अङ्गों की भाँति अङ्गाश्रित उपासनाओं में सहभाव का नियम नहीं है। अतः 'ग्रहं गृहीत्वा चमसं चोन्नीय स्तोत्रमुपाकुर्यात् स्तुतमनुशंसति' इत्यादि वाक्य में ग्रह, स्तोत्र और शंसनादि का जैसे पौर्वापर्य निश्चित रहने के कारण सहभाव सुना जाता है, प्रतीक उपासनाओं में वैसा पौर्वापर्य सहभाव नियत न रहने के कारण उसका अनुष्ठान साधक की इच्छा पर आधारित है, वह यथेच्छ विकल्प या समुच्चयरूप में उन उपासनाओं का अनुष्ठान कर सकता है।

अङ्गेषु यथाश्रयभावः (ललिता)

अब अङ्गावबद्ध उपासनाओं का अनुष्ठानक्रम बतलाने के लिए पहले चार सूत्रों द्वारा पूर्वपक्ष करने जा रहे है। ये उपासनायें अङ्गाश्रित हैं और इनका फल भी बतलाया गया है। अतः उद्गीथादि कर्माङ्ग के आश्रित जो प्रत्यय वेदत्रयी में विहित है, उनका अनुष्ठान समुच्चयपूर्वक करना चाहिए अथवा यथेच्छ करना चाहिए, ऐसा संशय होने पर इनके सम्बन्ध में पूर्वपक्षा ने कहा है कि जैसे इनके आश्रित स्तोत्रादि मिलाकर प्रयोग किये जाते हैं ऐसे ही ये उपासनायें भी एक साथ की जा सकती हैं क्योंकि उपासना आश्रयाधीन होती है ॥६१॥

शिष्टेश्च (ललिता)

जैसे तीनों वेदों में कर्माश्रित स्तोत्र पढ़े गये हैं, ऐसे ही ये उपासनायें भी कर्माश्रित ही मानी गयी हैं। इनके उपदेश में कोई अन्तर नहीं है, अतः अङ्ग और अङ्गाश्रित प्रत्ययों का उपदेश एक जैसा ही है ॥६२॥

(४२२) समाहारात् ॥६३॥

(४२३) गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥६४॥

'होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति' (छा० १-५-५) इति च प्रणवोद्गीथैकत्वविज्ञानमाहात्म्यादुद्गाता स्वकर्मण्युत्पन्नं क्षतं हौत्रात्कर्मणः प्रतिसमादधातीति ब्रुवन्वेदान्तरोवितस्य प्रत्ययस्य वेदान्तरोवितपदार्थसम्बन्धसामान्यात्सर्ववेदोदितप्रत्योपसंहारं सूचयतीति लिङ्गदर्शनम् ॥६३॥

विद्यागुणं च विद्याश्रयं सन्तमोंकारं वेदत्रयसाधारणं श्रावयति—'तेनेयं त्रयीविद्या वर्तते 'ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति' (छा० १-१-६) इति च। ततश्चाश्रयसाधारण्यादाश्रितसाधारण्यमिति लिङ्गदर्शनमेव। अथवा गुणसाधारण्यश्रुतेश्चेति।

समुच्चये लिङ्गम्—समाहारादिति। 'ऋग्वेदिनां यः प्रणवः स सामवेदिनामुद्गीथः' इति छान्दोग्ये प्रणवोद्गीथयोरैक्यध्यानविधिरस्ति, तस्य फलार्थवादो होतृषदनादि त्यादिः। होतुः शंसनस्थलवाचिना होतृषदनशब्देन शंसनं लक्ष्यते। उद्गाता स्वरादिप्रमादाद्दुष्टमप्युद्गीथं सम्यक्कृताद्धोतृशंसनादनुसमाहरत्येव निर्दोषं करोत्येव किल, शंस्यमानप्रणवेन स्वोयोद्गीथस्यैक्यध्यानबलादित्यर्थः। ततः किं तत्राह—इति ब्रुवन्निति। सामवेदस्योद्गीथध्यानस्य ऋग्वेदोक्तप्रणवसंबन्धो यो दृष्टः स एवाङ्गानां सर्ववेदान्तविहितोपास्तिसमुच्चये लिङ्गं प्रणवरूपपदार्थस्योपास्तीनां च वेदान्तरोक्तत्वसादृश्याद्वेदान्तरोक्ताङ्गसंबन्धस्यापि समानत्वादित्यर्थः ॥६३॥

ॐकारस्य ध्येयस्य साधारण्यादपि तदाश्रितध्यानानां समुच्चित्यानुष्ठानं गम्यत इति लिङ्गान्तरमाह—गुणेति। तेनोङ्कारेण, वेदत्रयोक्तं कर्म प्रवर्तत इत्यर्थः। अन्वयमुखेनोक्तमेवार्थं व्यतिरेकतोऽपि व्याचष्टे—अथवेति ॥६४॥

समाहारात् (ललिता)

समुच्चय अनुष्ठान में एक ज्ञापक लिङ्ग अग्रिम सूत्र से भी देते हैं कि 'ऋग्वेदियों का जो प्रणव है वह सामवेदियों का उद्गीथ है' इस छान्दोग्य वाक्य में प्रणव एवं उद्गीथ का अभिन्न रूप से ध्यान का विधान किया गया है, उसका फल अर्थवाद के रूप में बतलाया गया है कि 'शंसनस्थलवाची होतृषदन में बैठे हुए ऋग्वेदीय होता सामवेदीय उद्गाता के स्वर आदि प्रमाद के कारण से दुष्ट उद्गान को भी निर्दोष बना देता है।' यह प्रणव और उद्गीथ की अभिन्न उपासना का माहात्म्य है, इससे सामवेदीय उद्गाता अपने कर्म में उत्पन्न क्षति को होता के कर्म से समाधान कर लेता है, ऐसा बतलाते हुए यह श्रुति वाक्य एक वेदान्त में कही गयी उपासना का अन्य वेदान्त में कथित पदार्थ-सम्बन्धसामान्य होने के कारण सभी वेदों में बतलायी गयी उपासनाओं के उपसंहार को सूचित करता है। अतः यह लिङ्गदर्शन उक्त उपासनाओं के समुच्चय अनुष्ठान में ज्ञापक है ॥६३॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च (ललिता)

उपासना के गुण और उपासना के आश्रयरूप में ॐकार को तीनों वेदों में एक जैसा बतलाते हैं, इसीलिए 'इसे त्रयीविद्या कहते हैं अतएव ॐ इस मन्त्र का उच्चारणकर ऋग्वेदीय (अध्वर्यु) अन्य ऋत्विजों को आदेश देता हैं, ॐ इस मन्त्र का उच्चारणकर यजुर्वेदीय (होता) उनका शंसन करता है और ॐ इस मन्त्र का उच्चारणकर सामवेदीय (उद्गाता) ऋत्विज् गान करता है। अतः ॐकाररूप

(४२४) न वा तत्सहभावाश्रुतेः ।।६५।।

यदीमे कर्मगुणा उद्गीथादयः सर्वे सर्वप्रयोगसाधारणा न स्युर्न स्यात्ततस्तदाश्रयाणां प्रत्ययानां सहभावः । ते तूद्गीथादयः सर्वाङ्गग्राहिणा प्रयोगवचनेन सर्वे सर्वप्रयोगसाधारणाः श्राव्यन्ते । ततश्चाश्रयसहभावात्प्रत्ययसहभाव इति ।।६४।।

न वेति पक्षव्यावर्तनम् । न यथाश्रयभाव आश्रितानामुपासनानां भवितुमर्हति । कुतः ? तत्सहभावाश्रुतेः । यथा हि त्रिवेदीविहितानामङ्गानां स्तोत्रादीनां सहभावः श्रूयते—'ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति स्तोत्रमनुशंसति प्रस्तोतः सामगाय होतरेतद्यज' इत्यादिना । नैवमुपासनानां सहभावश्रुतिरस्ति । ननु प्रयोगवचन एषां सहभावं प्रापयेत् । नेति ब्रूमः—पुरुषार्थत्वादुपासनानाम् । प्रयोगवचनो हि क्रत्वर्थानामुद्गीथादीनां सहभावं प्रापयेत् । उद्गीथाद्युपासनानि तु क्रत्वङ्गाश्रयाण्यपि गोदोहनादिवत्पुरुषार्थानीत्यवोचाम 'पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्' (ब्र० सू० ३-३-४२) इत्यत्र । अयमेव चोपदेशाश्रयो विशेषोऽङ्गानां तदालम्बनानां चोपासनानां यदेकेषां क्रत्वर्थत्वमेकेषां पुरुषार्थत्वमिति । परं च लिङ्गद्वयमकारणमुपासनसहभावस्य श्रुतिन्यायाभावात् ।

फलेच्छाया अनियमादुपास्त्यनियम एवमुक्तः, अङ्गवत्समुच्चयनियमेमानाभावादिति सिद्धान्तयति–न वेति । प्रयोगविधिः खलु साङ्गप्रधानानुष्ठाननियामको न त्वनङ्गानां संग्राहक इत्याह—नेति ब्रूम इति । विमतोपास्तयः क्रतौ न समुच्चित्यानुष्ठेयाः, भिन्नफलत्वाद्गोदोहनवदिति भावः । शिष्टेश्चेत्युक्तं निरस्यति—अयमेवेति । समाहाराद्गुणसाधारण्यश्रुतेश्चेत्युक्तं लिङ्गद्वयमपि मानान्तरप्राप्तस्य द्योतकं न स्वयं साधकमर्थवादस्थत्वादित्याह—परं चेति । गुणसाधारण्यसूत्रस्य द्वितीयां

आश्रयसाधारण्य के आश्रित उपासनाओं में भी साधारण्य है, इस बात का ज्ञापक उक्त श्रुति को समझना चाहिए। अथवा गुणसाधारण्य का श्रवण होने के कारण भी इनका समुच्चय अनुष्ठान होना उचित ही है । यदि ये सभी कर्म के गुण उद्गीथादि सर्वप्रयोगसाधारण न माने जाँय तो तदाश्रित सहप्रत्ययों का सहभाव नहीं रह जायेगा किन्तु वे उद्गीथादि सर्वाङ्गग्राही प्रयोगवचन के द्वारा सर्वप्रयोगसाधारण सुने जाते हैं इसलिए आश्रयसहभाव के कारण उपासना का भी सहभाव होना उचित ही है ।।६४।।

न वा तत्सहभावाश्रुतेः (ललिता)

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहता है कि समुच्चयनियम में कोई प्रमाण नहीं मिलता । सूत्र में 'न वा' अव्यय पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए है अर्थात् अङ्गाश्रित उपासनाओं का यथाश्रयभाव नहीं कह सकते क्योंकि सहभाव बतलानेवाली कोई श्रुति नहीं है । जैसे यज्ञपात्र को ग्रहणकर या चमसपात्र को उठाकर स्तोत्रगान करता है, स्तुत का अनुशंसन करता है, हे प्रस्तोता ! सामगान करो, हे होता ! इसका याग करो' इस वाक्य द्वारा तीनों वेदों में विहित स्तोत्रादि अङ्गों का सहभाव सुना जाता है, वैसी उपासनाओं की सहभावबोधक श्रुति नहीं है । शङ्का—प्रयोगवचन ही इनके सहभाव का बोधक है । समाधान—हम इसे नहीं मानते हैं क्योंकि उपासनायें पुरुषार्थ हैं और प्रयोगवचन तो क्रत्वर्थ उद्गीथादि का सहभाव बतलाता है । उद्गीथादि उपासनायें क्रत्वङ्गाश्रित होती हुई भी गोदोहन आदि की भाँति पुरुषार्थ ही हैं, क्रत्वर्थ नहीं हैं, ऐसा हम 'पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्' इस सूत्र की व्याख्या में कह आये हैं । स्तोत्रादि अङ्गों और तदाश्रित कर्माङ्ग उपासनाओं में बस यही भेद है

(४२५) दर्शनाच्च ॥६६॥

नच प्रतिप्रयोगमाश्रयकात्स्न्योपसंहारादाश्रितानामपि तथात्वं विज्ञातुं शक्यम्। अतत्प्रयुक्तत्वादुपासनानाम्। आश्रयतन्त्राण्यपि ह्युपासनानि काममाश्रयाभावे माभूवन्न त्वाश्रयसहभावे सहभावनियममर्हन्ति तत्सहभावाश्रुतेरेव। तस्माद्यथाकाममेवोपासनान्यनुष्ठीयेरन् ॥६५॥

दर्शयति च श्रुतिरसहभावं प्रत्ययानाम्—'एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्च ऋत्विजोऽभिरक्षति' (छा० ४-१७-१०) इति। सर्वप्रत्ययोपसंहारे हि 'सर्वे सर्वविदः' इति न विज्ञानवता ब्रह्मणा परिपाल्यत्वमितरेषां संकीर्त्येत। तस्माद्यथाकाममुपासनानां समुच्चयो विकल्पो वेति ॥६६॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥

व्याख्यां दूषयति—न चेति। तत्प्रयुक्तत्वाभावे तदाश्रितत्वं कथमित्यत आह—आश्रयेति। इदमेव तेषां अङ्गाश्रितत्वं यदङ्गाभावे सत्यसत्त्वं न त्वङ्गव्यापकत्वमित्यर्थः ॥६५॥

किंच विदुषां ब्रह्मणान्येषामृत्विजां पाल्यत्ववचनान्न सर्वोपास्तीनां सहप्रयोग इत्याह—दर्शनाच्चेति। ऋग्वेदादिविहिताङ्गलोपे व्याहृतिहोमप्रायश्चित्तादिविज्ञानवत्त्वमेवंवित्त्वं ब्रह्मण इत्यर्थः ॥६६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ
श्रीमच्छारीरकमीमांसाव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां
तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥

कि एक क्रत्वर्थ है, दूसरा पुरुषार्थ है। किन्तु श्रुति और युक्ति के अभाव में उक्त दोनों ही लिङ्ग उपासना सहभाव के कारण नहीं बनते हैं। और प्रत्येक प्रयोग में आश्रय के पूर्णरूप से उपसंहार के कारण आश्रित उपासनाओं में भी वैसा नहीं समझ सकते क्योंकि उपासना तत्प्रयुक्त नहीं है। आश्रयाधीन उपासनायें भी चाहे आश्रय के अभाव में न हों, किन्तु आश्रयसहभाव रहने पर उपासनाओं का सहभावनियम नहीं है क्योंकि कर्म के साथ उपासनाओं का सहभाव बतलाने वाला कोई श्रुति-वाक्य नहीं है। अतः ऐसी उपासनाओं का अनुष्ठान यथेच्छ करना चाहिए ॥६५॥

दर्शनाच्च (ललिता)

'निःसन्देह ऐसा विद्वान् ब्रह्मा यज्ञ, यजमान और सभी ऋत्विजों की सभी ओर से रक्षा करता है' इस वाक्य द्वारा श्रुति उपासनाओं का असहभाव बतलाती है क्योंकि सभी उपासनाओं का सर्वत्र अनुष्ठान मानने पर सभी सर्ववित् हो जायेंगे, ऐसी स्थिति में विद्वान् ब्रह्मा द्वारा दूसरों की रक्षा की बात कैसे कही जा सकेगी। अतः उपासनाओं का अनुष्ठान इच्छानुसार समुच्चय अथवा विकल्प से भी करना चाहिए, यह निश्चित हुआ ॥६६॥

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य तृतीयाध्याय तृतीय पाद की
श्रीकैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज
द्वारा रचित ललिता व्याख्या
सम्पूर्ण हुई।

तृतीयाऽध्याये चतुर्थः पादः

१. पुरुषार्थाधिकरणम् (सू० १-७)

(४२६) पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥१॥

क्रत्वर्थमात्मविज्ञान स्वतन्त्र वात्मनो यतः । देहातिरेकमज्ञात्वा न कुर्यात्क्रतुं ततः ।
नाद्वैतधीः कर्महेतुर्हन्ति प्रत्युत कर्म सा । आचारो लोकसग्राही स्वतन्त्रा ब्रह्मधीस्ततः ॥

अथेदानीमौपनिषदमात्मज्ञानं किमधिकारिद्वारेण कर्मण्येवानुप्रविशत्याहोस्वित्स्वतन्त्रमेव

कर्माङ्गविद्याप्रसङ्गाद्ब्रह्मज्ञानस्य कर्माङ्गत्वमाशङ्कयाह—पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः । **पूर्वपादे परापरविद्यानां गुणोपसंहारोक्त्या स्वरूपं निश्चितमस्मिन्पादे** तासां **कर्मानङ्गतया पुरुषार्थहेतुत्वं निरूप्यते । ततोऽङ्गाकांक्षायां यज्ञादीनि बहिरङ्गाणि शमादीन्यन्तरङ्गाणि च निरूप्यन्त इत्येकविद्याविषयत्वं पादयोः संगतिः । तत्रादौ तत्त्वज्ञानं विषयीकृत्य** वादिविप्रतिपत्त्या संशयमाह—अथेति । **पूर्वपक्षे ज्ञानकर्मणोरङ्गाङ्गित्वेन समुच्चयः । सिद्धान्ते केवलज्ञानान्मुक्तिरिति फलभेदः ।**

तृतीय अध्याय चतुर्थ पाद

इस चतुर्थ पाद में निर्गुणब्रह्मविद्या के अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग साधनों का विचार किया गया है। इससे पूर्व पर और अपर विद्यामें गुणों के उपसंहारनिरूपण द्वारा फल का निश्चय किया जा चुका है। यहाँ पर कर्मनिरपेक्ष उन उपासनाओं में ही पुरुषार्थसाधनत्व के निरूपणार्थ बहिरङ्ग यज्ञादि और अन्तरङ्ग शमदमादि एवं श्रवणादि साधनों का निरूपण किया जाता है। ऐसी एकविद्याविषयत्वरूप सङ्गति के कारण चतुर्थ पाद को प्रारम्भ कर रहे हैं।

१. पुरुषार्थाधिकरण

१. सङ्गति—कर्माङ्ग विद्या के प्रसङ्ग को लेकर ब्रह्मज्ञान में कर्माङ्गत्व का प्रश्न उठाकर समाधान देने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ होता है, इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इसकी प्रसङ्ग सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण में औपनिषद आत्मज्ञान का विचार किया गया है।

३. संशय—क्या आत्मज्ञान कर्ता द्वारा कर्म में प्रवेशकर पुरुषार्थ का साधक है अथवा स्वतन्त्र ही पुरुषार्थ का साधन है ?

४. पूर्वपक्ष—देहातिरिक्त आत्मा को माने तथा जाने बिना कोई भी यागादि कर्म नहीं करता, अतः आत्मज्ञान कर्म के अङ्गरूप में पुरुषार्थ का साधक माना गया है।

५. सिद्धान्त—इस स्वतन्त्र औपनिषद आत्मज्ञान से मोक्ष मिलता है, यह आत्मज्ञान अपना फल मोक्ष देने में कर्मादि की अपेक्षा नहीं रखता। अद्वैत आत्मज्ञान कर्म का हेतु नहीं है, प्रत्युत वह कर्म का निवर्तक ही है। ज्ञान की उत्पत्ति में कर्म और उपासना सहायक हो सकते हैं, किन्तु उत्पन्न आत्मज्ञान स्वतन्त्र ही मोक्ष देने में समर्थ है। ब्रह्मज्ञानियों द्वारा यागादि कर्मों का अनुष्ठान लोकसंग्रहार्थ किया जाता है, वह ज्ञान का उपकारक नहीं है।

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः (ललिता)

यहाँ पर औपनिषद आत्मज्ञान क्या अधिकारी द्वारा कर्म में ही प्रवेश करता है अथवा स्वतन्त्र ही पुरुषार्थ का साधन है, ऐसी मीमांसा होने पर पहले सिद्धान्तनिरूपण द्वारा प्रसङ्ग प्रारम्भ किया

(४२७) शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥२॥

पुरुषार्थसाधनं भवतीति मीमांसमानः सिद्धान्तेनैव तावदुपक्रमते 'पुरुषार्थोऽतः' इति । अस्माद्वेदान्तविहितादात्मज्ञानात्स्वतन्त्रात्पुरुषार्थः सिध्यतीति बादरायण आचार्यो मन्यते । कुत एतदवगम्यते शब्दादित्याह । तथा हि—'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७-१-३), 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३-२-६), 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २-१-१), 'आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६-१४-२) इति । 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८-७-१) इत्युपक्रम्य 'सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति' (छा० ८-७-१) इति । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० ४-५-६) इत्युपक्रम्य 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' (बृ० ४-५-१५) इत्येवंजातीयका श्रुतिः केवलाया: विद्याया: पुरुषार्थहेतुत्वं श्रावयति ॥१॥

अथात्र परः प्रत्यवतिष्ठते—

कर्तृत्वेनात्मनः कर्मशेषत्वात्तद्विज्ञानमपि व्रीहिप्रोक्षणादिवद्विषयद्वारेण कर्मसम्बध्ये-

---

'य आत्मेति' प्रजापत्युक्तब्रह्मविद्यायां लोकादिकं सगुणविद्याफलं मोक्षानन्देऽन्तर्भावाभिप्रायेणोक्तमिति मन्तव्यम् ॥१॥

एवं सिद्धान्तमुपक्रम्य पूर्वपक्षयति—शेषत्वादिति । सूत्रेऽर्थवादपदमावर्तनीयम् । ज्ञानात्पुरुषार्थवादोऽर्थवाद इत्यर्थः। ज्ञानं कर्माङ्गम्, अफलत्वे सति कर्मशेषाश्रयत्वात्प्रोक्षणपर्णमयीत्वादिवदिति भावः। तत्त्वनिर्णयार्थं गुरुशिष्ययोः कथावादोऽयमिति ज्ञापनार्थं जैमिनिग्रहणम् । अङ्गिफलेनाङ्गभूत आत्मा-

---

गया है कि इस वेदान्तविहित स्वतन्त्र आत्मज्ञान से परमपुरुषार्थ सिद्ध होता है, ऐसा बादरायण आचार्य मानते हैं क्योंकि 'आत्मज्ञानी शोकोपलक्षित समस्त संसार को पार कर जाता है', 'निःसन्देह जो उस परब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है', 'ब्रह्मज्ञानी परतत्त्व को प्राप्त कर लेता है' ,आचार्यवान् पुरुष तत्त्व को जानता है, उस ब्रह्मज्ञानी को विदेहकैवल्य प्राप्त करने में प्रारब्धक्षय होने तक का ही विलम्ब है, प्रारब्ध क्षय होते ही कैवल्य को प्राप्त कर लेता है' 'जो आत्मा है वह पाप से सर्वथा मुक्त है' इन वाक्यों द्वारा प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'वह आत्मवित् पुरुष सभी लोकों को और सभी भोगों को प्राप्त कर लेता हैं, जो उस आत्मा को आचार्य से जानकर अपरोक्ष कर लेता है' निःसन्देह, अरे मैत्रेयि ! आत्मा ही दर्शनयोग्य है' इन वाक्यों से उपक्रम करके अन्त में कहा है कि 'अरे मैत्रेयि ! अमरत्व का साधन बस इतना ही है' इस प्रकार की श्रुतियाँ केवल आत्मज्ञान में मोक्षसाधनत्व दिखलाती है ॥१॥

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः (ललिता)

इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है कर्ता होने के कारण आत्मा कर्म का शेष है । अतः पुरोडाश द्रव्य का अङ्ग व्रीहियवादि का प्रोक्षण जैसे कर्माङ्ग है, ऐसे ही आत्मज्ञान भी कर्माङ्ग है । विषय

वेत्यतस्तस्मिन्नवगतप्रयोजन आत्मज्ञाने या फलश्रुतिः सार्थवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। यथान्येषु 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति। यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते। यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्यै' इत्येवंजातीयका फलश्रुतिरर्थवादः। तद्वत्। कथं पुनरस्यानारभ्याधीतस्यात्मज्ञानस्य प्रकरणादीनामन्यतमेनापि हेतुना विना क्रतुप्रवेश आशङ्क्यते। कर्तृद्वारेण वाक्यात्तद्विज्ञानस्य क्रतुसम्बन्ध इति चेत्। न, वाक्याद्विनियोगानुपपत्तेः। अव्यभिचारिणा हि केनचिद्द्वारेणानारभ्याधीतानामपि वाक्यनिमित्तः क्रतुसम्बन्धोऽवकल्पते। कर्ता तु व्यभिचारि द्वारं लौकिकवैदिककर्मसाधारण्यात्। तस्मान्न तद्द्वारेणात्मज्ञानस्य क्रतुसम्बन्धसिद्धिरिति। न, ²व्यतिरेकविज्ञानस्य वैदिकेभ्यः कर्मभ्योऽन्यत्रानुपयोगात्। नहि देहव्यतिरिक्तात्मविज्ञानं लौकिकेषु कर्मसूपयुज्यते। सर्वथा दृष्टार्थप्रवृत्त्युपपत्तेः। वैदिकेषु तु

वगतप्रयोजनस्तदाश्रये तत्संस्कारके ज्ञाने फलश्रुतिरर्थवाद इत्यत्र दृष्टान्तः—यथेति। पर्णमयी द्रव्यं, यजमानस्याञ्जनं संस्कारः, प्रयाजादीनि कर्माणि तेष्वित्यर्थः। वर्म कवचम्। आत्मज्ञानं न कर्माङ्गं मानाभावादिति सिद्धान्ती शङ्कते—कथमिति। पूर्वपक्ष्याह—कर्त्रिति। युक्तो ह्यनारभ्याधीतायाः पर्णताया जुहूद्वारेण वाक्यात्क्रत्वङ्गभावो जुह्वाः क्रतुव्याप्यतया क्रतूपस्थापकत्वात्, न तथात्मविज्ञानस्य 'आत्मा द्रष्टव्यः' इतिवाक्यात्क्रतुसंबन्ध उपपद्यते, आत्मनः क्रतुव्याप्त्यभावादिति सिद्धान्ती दूषयति—नेति। देहभिन्नत्वेन ज्ञातात्मनः क्रतुव्याप्यत्वमप्यस्तीति पूर्वपक्षी समाधत्ते—न व्यतिरेकेति। सर्वथेति।

द्वारा आत्मज्ञान कर्मसम्बन्धी हो है। इसलिए आत्मज्ञान का प्रयोजन अवगत हो जाने पर जो आत्मज्ञान की फलश्रुति है वह तो अर्थवादरूप है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं। जैसे 'जिसकी जुहू पलास की होती है वह यजमान पापसमुदाय को स्पर्श नहीं करता', 'यज्ञानुष्ठान के समय यजमान जब आँखों में अञ्जन लगाता है तो उससे उसके शत्रु की आँख फूट जाती है', प्रयाज और अनुयाज के अनुष्ठान जो करते हैं वह यज्ञ और यजमान के लिए कवच का काम करता है और उससे उसके शत्रु का पराभव भी हो जाता है' इन श्रुतियों द्वारा जो द्रव्यसंस्कार और कर्म में फल सुना गया है वह अर्थवाद है, वैसे ही आत्मज्ञानप्रसङ्ग में भी फलश्रुति अर्थवाद है। शङ्का—आत्मज्ञान किसी कर्म के प्रसङ्ग में नहीं कहा गया है, ऐसी स्थिति में प्रकरण आदि में से किसी एक हेतु के बिना ही याग में आत्मज्ञान के प्रवेश की आशङ्का कैसे करते हो। समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं क्योंकि आत्मज्ञान वाक्य प्रमाण से कर्ता द्वारा यज्ञ के साथ सम्बद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं। शङ्का—वाक्यविनियोग की अनुपपत्ति होने के कारण पूर्वपक्षी का यह समाधान ठीक नहीं है क्योंकि अव्यभिचारी किसी माध्यम से ही अनारभ्य-अधीत वेदान्त का भी याग के साथ सम्बन्ध कराने वाला वाक्य प्रमाण निमित्त बन सकता है, किन्तु कर्ता द्वारा व्यभिचारी है, क्योंकि वह लौकिक वैदिक सभी कर्मों में साधारण है। अतः कर्ता द्वारा आत्मज्ञान का यज्ञ के साथ सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। समाधान—देह से भिन्न आत्मा का ज्ञान वैदिक कर्म को छोड़कर अन्यत्र उपयुक्त नहीं होता है क्योंकि आत्मा देह से भिन्न है। ऐसा आत्मज्ञान किसी लौकिक कर्म में उपयोगी नहीं जान पड़ता है, दृष्ट अर्थ में

---

१. द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्। फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्॥ २. देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानस्य।

(४२८) आचारदर्शनात् ॥३॥

देहपातोत्तरकालफलेषु देहव्यतिरिक्तात्मविज्ञानमन्तरेण प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्युपयुज्यते व्यतिरेकविज्ञानम्। नन्वपहतपाप्मत्वादिविशेषणादसंसार्यात्मविषयमौपनिषदं दर्शनं न प्रवृत्त्यङ्गं स्यात्। न। प्रियादिसंसूचितस्य संसारिण एवात्मनो द्रष्टव्यत्वेनोपदेशात्। अपहतपाप्मत्वादि विशेषणं तु स्तुत्यर्थं भविष्यति। ननु तत्र तत्र प्रसाधितमेतदधि[1]कमसंसारि ब्रह्म जगत्कारणं तदेव च संसारिण आत्मनः पारमार्थिकं स्वरूपमुपनिषत्सूपदिश्यत इति। सत्यं प्रसाधितं तस्यैव तु स्थूणानिखननवत्फलद्वारेणाक्षेपसमाधाने क्रियेते दार्ढ्याय ॥२॥

'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे' (बृ० ३-१-१), 'यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि' (छा० ५-११-५) इत्येवमादीनि ब्रह्मविदामप्यन्यपरेषु वाक्येषु कर्मसम्बन्धदर्शनानि भवन्ति। तथोद्दालकादीनामपि पुत्रानुशासनादिदर्शनाद्गार्हस्थ्यसम्बन्धोऽवगम्यते। केवला-

---

देहात्मत्वेनापीत्यर्थः। देहाभिन्नकर्तृज्ञानस्याङ्गत्वेऽप्यकर्तृब्रह्मात्मज्ञानस्य नाङ्गत्वमिति शङ्कते—नन्वपहतेति। यस्यार्थे जायादिकं प्रियं भोग्यं स आत्मा द्रष्टव्य इति भोग्यलिङ्गेन सूचितभोक्तृभिन्नमकर्तृस्वरूपं नास्तीति समाध्यर्थः। जन्मादिसूत्रमारभ्य साधितं स्वरूपं कथं नास्तीति शङ्कते—नन्विति। स्वरूपज्ञानं वेदान्तानां फलं, तस्य क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वविचारेण दार्ढ्यं क्रियत इत्याह—सत्यमिति ॥२॥

ब्रह्मविदां कर्माचारदर्शनं ब्रह्मविद्यायाः कर्माङ्गत्वे लिङ्गमित्याह—आचारेति। ईजे यागं कृतवानित्यर्थः। हे भगवन्त इति ब्राह्मणान्संबोध्य ब्रह्मवित्केकयराजो ब्रूते अहं यक्ष्यमाणो यागं करिष्यमाणोऽस्मि वसन्त्वत्र भगवन्त इत्यर्थः। अन्यपरेष्विति विद्याविधिपरेष्वित्यर्थः। अल्पायासं मुक्ते-

---

प्रवृत्ति तो देहात्मज्ञान से भी हो जाती है। किन्तु देहपात के बाद होने वाले वैदिक फल में देह से व्यतिरिक्त आत्मज्ञान के बिना प्रवृत्ति बनती ही नहीं है, अतः देहभिन्न आत्मज्ञान वैदिक कर्मानुष्ठान में उपयोगी होता है। शङ्का—आत्मा अपहतपाप है, ऐसा विशेषण आत्मा का दिया गया है, इससे संसारधर्म से रहित आत्मा को बतलाने वाला औपनिषद दर्शन कर्म में प्रवृत्ति का अङ्ग नहीं हो सकता। समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रियादिसंसूचित संसारी आत्मा का ही द्रष्टव्यरूप से उपदेश किया गया है, अपहतपाप्मत्वादि विशेषण तो केवल स्तुति के लिए है। शङ्का—उपनिषद् में स्थल-स्थल पर इस असंसारी ब्रह्मस्वरूप आत्मा को जगत् का कारण बतलाया गया है और वही संसारी जीवात्मा का पारमार्थिक स्वरूप उपनिषदों में कहा जाता है। समाधान—ठीक है, ऐसा ही सिद्ध किया गया है, किन्तु स्थूणानिखननन्याय की भाँति फल के माध्यम से उसी को दृढ़ करने के लिए शङ्का—समाधान किये गये हैं। अतः प्रतिपाद्य तत्त्व तो संसारी आत्मा ही है जिसका उपयोग वैदिक कर्मानुष्ठान में होता है ॥२॥

आचारदर्शनात् (ललिता)

'विदेहराज जनक ने विस्तृत दक्षिणावाले यज्ञ से यजन किया था', 'हे भगवन! मैं यज्ञ करने वाला हूँ' ये वाक्य ब्रह्मज्ञानियों को भी कर्मबोधक वाक्य में कर्म से सम्बन्धित बतलाते हैं। वैसे ही उद्दालक आदि ऋषियों को भी पुत्रादि को अनुशासन करते श्रुति ने देखा है, इससे उन ब्रह्मज्ञानियों

---

१. अधिकरणं सप्तम्यर्थः। २. अन्यत्।

(४२९) तच्छ्रुतेः ॥४॥
(४३०) समन्वारम्भणात् ॥५॥
(४३१) तद्वतो विधानात् ॥६॥

च्चेज्ज्ञानात्पुरुषार्थसिद्धिः स्यात्किमर्थमनेकायाससमन्वितानि कर्माणि ते कुर्युः । 'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' इति न्यायात् ॥३॥

'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १-१-१०) इति च कर्मशेषत्वश्रवणाद्विद्यायाः न केवलायाः पुरुषार्थहेतुत्वम् ॥४॥

'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृ० ४-४-२) इति च विद्याकर्मणोः फलारम्भे [२]सहकारित्वदर्शनान्न स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥५॥

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः' (छा० ८-१५-१) इति चैवंजातीयका श्रुतिः समस्तवेदार्थविज्ञानवतः

रुपायं ज्ञानं लब्ध्वा बह्वायासं कर्म न कुर्युरित्यत्र दृष्टान्तमाह—अत्त्व इति । समीप इत्यर्थः । अर्क इति पाठेऽप्ययमेवार्थः ॥३॥

ब्रह्मविद्यायाः कर्माङ्गत्वे तृतीया श्रुतिरप्यस्तीत्याह—तच्छ्रुतेरिति ॥४॥

लिङ्गान्तरमाह—समिति । तं परलोकं गच्छन्तं विद्याकर्मणी अनुगच्छत इत्यर्थः ॥५॥

गुरोः शुश्रूषारूपं कर्म कुर्वन्नतिशेषेणावशिष्टेन कालेन यथाविधानं वेदमधीत्यानन्तरमाचार्यस्य

का गार्हस्थ के साथ सम्बन्ध जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में यदि केवल ज्ञान से मोक्ष की सिद्धि होती तो वे ब्रह्मज्ञानी अनेक परिश्रम से सम्पन्न होने वाले कर्मों को क्यों करते। घर के कोने यदि मधु मिलता हो तो मधु के लिए पर्वत पर क्यों जाने लग जाय, इस लौकिक न्याय से भी यही अर्थ सिद्ध होता है कि केवल ब्रह्मज्ञान से मोक्ष नहीं मिलता, किन्तु कर्मसमन्वित ब्रह्मज्ञान से मोक्ष मिलता है ॥३॥

तच्छ्रुतेः (ललिता)

विद्या में कर्माङ्गत्व केवल लिङ्ग प्रमाण से ही सिद्ध नहीं होता किन्तु 'जब विद्यासहित श्रद्धा एवं औपनिषद ज्ञानपूर्वक कर्म करता है, तब वह कर्म अधिक शक्तिशाली हो जाता है' इस तृतीयाश्रुति से भी विद्या में कर्मशेषत्व सिद्ध होता है। अतः केवल विद्या मोक्ष का साधन नहीं है ॥४॥

समन्वारम्भणात् (ललिता)

'परलोक जाने वाले साधक के पीछे विद्या और कर्म साथ-साथ चलते हैं' इस वाक्य द्वारा फल देने में विद्या और कर्म सहकारी देखे गये हैं, अतः विद्या स्वतन्त्र मोक्ष का साधन नहीं है ॥५॥

तद्वतो विधानात् (ललिता)

गुरुकुल में गुरुशुश्रूषादि कर्म करते हुए वेद का अध्ययनकरके गुरुकुल से लौटकर शेष जीवन शास्त्रानुसार पवित्र देश एवं परिवार में वेद का अध्ययन करते हुए बिताये' ऐसी श्रुति समस्त वेद के तात्पर्य को जानने वाले का कर्म में अधिकार बतलाती है, इसलिए भी विद्या में स्वतन्त्ररूप से

---

१. अक्वे इति पाठान्तरम् । २. साहित्यमिति पाठान्तरम् ।

(४३२) नियमाच्च ॥७॥

(४३३) अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥८॥

कर्माधिकारं दर्शयति तस्मादपि न विज्ञानस्य स्वातन्त्र्येण फलहेतुत्वम् । नन्वत्राधीत्येत्यध्ययनमात्रं वेदस्य श्रूयते नार्थविज्ञानम् । नैष दोषः । दृष्टार्थत्वाद्वेदाध्ययनमर्थावबोधपर्यन्तमिति स्थितम् ॥६॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे' (ई० २) इति । यथा 'एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा' इत्येवंजातीयकान्नियमादपि कर्मशेषत्वमेव विद्याया इति ॥७॥

एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

तुशब्दात्पक्षो विपरिवर्तते । यदुक्तम्—'शेषत्वात्पुरुषार्थवादः' (ब्र० सू० ३-४-२) इति तन्नोपपद्यते । कस्मात् ? अधिकोपदेशात् । यदि संसार्येवात्मा शारीरः कर्ता भोक्ता च

कुलाद्गृहात् । ब्रह्मचर्यादिति यावत् । अभिसमावर्तनं कृत्वा कुटुम्बे गार्हस्थ्ये स्थितः । प्रत्यहं शुचौ देशे स्वाध्यायाध्ययनं कुर्वन्नन्यांश्च नित्यादिधर्माननुतिष्ठन्ब्रह्मलोकं प्राप्नोतीति श्रुत्यर्थः । यथावघातस्तुषविमोकपर्यन्त एवमध्ययनमर्थावबोधान्तम् । दृष्टेऽर्थावबोधाख्ये फले संभवति अध्ययनस्यादृष्टार्थत्वायोगादिति पूर्वतन्त्रे स्थितम् । ततश्च ब्रह्मापि वेदार्थ इति तदवबोधवतः कर्मविधानमित्यर्थः ॥६॥

यावज्जीवं कर्मनियमोऽप्यत्र लिङ्गमित्याह—नियमाच्चेति । इह देहे कर्माणि कुर्वन्नेव शतं संवत्सराञ्जीवितुमिच्छेदेवं कर्मित्वेन जीवति त्वयि नरे कर्म पापं न लिप्यते । इतः कर्मणोऽन्यथा नास्ति । कर्म विना श्रेयो नास्तीत्यर्थः । जरामर्यं जरामरणावधिकमित्यर्थः ॥७॥

कर्तुरधिकस्यासंसार्यात्मनः कर्मशेषत्वाभावात्तत्त्वज्ञानं कर्माङ्गं नेति सिद्धान्तयति—अधिकेति ।

फलहेतुत्व नहीं है । शङ्का—इस मन्त्र में 'अधीत्य' पद का अर्थ वेदाध्ययनमात्र सुना जाता है, तदर्थविज्ञान आवश्यक नहीं है । समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अवघात विधि की भाँति अध्ययन विधि में दृष्टार्थत्व है, अतः वेदार्थज्ञानपर्यन्त वेदाध्ययन करना चाहिए, ऐसा भाव है ॥६॥

नियमाच्च (ललिता)

'पूर्ण जीवन की इच्छावाला इस मनुष्यलोक में कर्म करता ही रहे, तुझ नराभिमानी व्यक्ति को पाप कर्म के लेप से बचने का उपाय इससे भिन्न कुछ भी नहीं है', 'जरा एवं मरणपर्यन्त अग्निहोत्रादि कर्म करता रहे, वह अग्निहोत्र जरा एवं मृत्यु से साधक को मुक्त कर डालता है' इन श्रुतियों में कहे गये नियम से भी विद्या में कर्मशेषत्व ही सिद्ध होता है ॥७॥

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् (ललिता)

'तु' शब्द से पक्ष का परिवर्तन हो जाता है । पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि ब्रह्मविद्या कर्म का शेष है और उसमें फलश्रुति अर्थवादमात्र है, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि उपदेश अधिक देखा जाता है ।

शरीरमात्रव्यतिरेकेण वेदान्तेषूपदिष्टः स्यात्ततो वर्णितेन प्रकारेण फलश्रुतेरर्थवादत्वं स्यात्। अधिकस्तावच्छारीरादात्मनोऽसंसारीश्वरः कर्तृत्वादिसंसारिधर्मरहितोऽपहतपाप्मत्वादिविशेषणः परमात्मा वेद्यत्वेनोपदिश्यते वेदान्तेषु। नच तद्विज्ञानं कर्मणां प्रवर्तकं भवति प्रत्युत तत्कर्माण्युच्छिनत्तीति वक्ष्यति 'उपमर्दं च' (ब्र० सू० ३-४-१६) इत्यत्र। तस्मात् 'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' (ब्र० सू० ३-४-१) इति। यन्मतं भगवतो बादरायणस्य तत्तथैव तिष्ठति न शेषत्वप्रभृतिभिर्हेत्वाभासैश्चालयितुं शक्यते। तथा हि तमधिकं शारीरादीश्वरमात्मानं दर्शयन्ति श्रुतयः—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १-१-९), 'भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' (तै० २-८-१), 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (क० ६-२), 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि' (बृ० ३-८-९), 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६-२-३) इत्येवमाद्याः।

यत्तु प्रियादिसंसूचितस्य संसारिण एवात्मनो वेद्यतयाऽनुकर्षणम् 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २-४-५), 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३-४-१), 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ८-७-४) इत्युप-

---

अस्य महत इति वाक्यशेषात्प्रियसंसूचित आत्मा पर एव द्रष्टव्यः। यः प्राणादि प्रेरयति सोऽश्यनायाद्यत्ययवाक्यशेषात्पर एव। तथाक्षिपुरुषोऽप्यवस्थासाक्षि परंज्योतिरिति वाक्यशेषात्पर इति विभागः।

यदि वेदान्त में शरीर से भिन्न संसारी जीवात्मा ही कर्ता-भोक्ता बतलाया गया होता तो पूर्वोक्त रीति से फलश्रुति को अर्थवाद कह सकते थे। किन्तु शारीर आत्मा से अधिक, असंसारी, कर्तृत्वादि संसारधर्म से अतीत, अपहतपाप्मत्वादि विशेषणविशिष्ट परमात्मा वेदान्तग्रन्थों में वेद्यरूप से उपदिष्ट है। ऐसे आत्मा का ज्ञान कर्मों का प्रवर्तक नहीं है, प्रत्युत कर्मों का उच्छेदक है, ऐसा हम 'उपमर्दं च' इस सूत्र में बतलायेंगे। अतः श्रुति प्रमाण के आधार पर केवल ब्रह्मविद्या से मोक्ष प्राप्त होता है, यह निर्विवाद है। इसलिए भगवान् बादरायण का 'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' यह जो मत है वह वैसे ही स्थिर रहता है, उसे शेषत्वादि हेत्वाभासों के द्वारा विचलित नहीं कर सकते। इसीलिए 'जो सामान्यतः सबको जानता है और विशेषतः भी जानता है, इसीलिए वह सर्वज्ञ और सर्ववित् है', 'उस परमेश्वर के भय से पवन चलता है, उसके भय से सूर्य उदय होता है', 'वह ब्रह्म महा भयावह, उठे हुए वज्र के समान है, उसे जो जानता है—'हे गार्गी! इसी अक्षर ब्रह्म के प्रशासन में सूर्यादि ग्रह काम कर रहे हैं', 'उसने संकल्प किया कि मैं बहुतरूप और प्रजारूप से उत्पन्न होऊँ, तत्पश्चात् उसने तेज की सृष्टि की' इत्यादि श्रुतियाँ शरीर से अधिक उस ईश्वरस्वरूप आत्मा को बतलाती हैं।

और जो आप ने कहा था कि 'अपने ही प्रयोजन के लिए सब प्रिय होते हैं, अरे मैत्रेयि! निःसन्देह आत्मा ही दर्शन के योग्य है', 'जो प्राण से प्राणन करता है वह तेरी आत्मा सर्वान्तर है' और उसी प्रकार 'नेत्र में जो यह पुरुष दीखता है' ऐसा प्रसङ्ग प्रारम्भ करके 'इसी आत्मा का उपदेश

---

१. संसारिधर्मेति।

(४३४) तुल्यं तु दर्शनम् ॥९॥

कस्य 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८-९-३) इति चैवमादि, तदपि 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः' (बृ० २-४-१०), 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' (बृ० ३-५-१), 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' (छा० ८-१२-३) इत्येवमादिभिर्वाक्यशेषैः सत्यामेवाधिकोपदिदिक्षायामत्यन्ताभेदाभिप्रायमित्यविरोधः। पारमेश्वरमेव हि शारीरस्य पारमार्थिकं स्वरूपम्। उपाधिकृतं तु शारीरत्वम् 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' (बृ० ३-८-११) इत्यादिश्रुतिभ्यः। सर्वं चैतद्विस्तरेणास्माभिः पुरस्तात्तत्र तत्र वर्णितम् ॥८॥

यत्तूक्तमाचारदर्शनात्कर्मशेषो विद्येति। अत्र ब्रूमः—तुल्यमाचारदर्शनमकर्मशेषत्वेऽपि विद्यायाः। तथा हि श्रुतिर्भवति—'एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न

जीवानुकर्षणमभेदाभिप्रायमित्यङ्गीकारे न विरोध इति कथम्, अभेदे जीवत्वविरोधादित्यत आह—पारमेश्वरमिति। ज्ञानं कर्माङ्गमफलत्वे सति कर्मशेषाश्रयत्वादित्युक्तो हेतुरसिद्ध इति भावः ॥८॥

ब्रह्मविदां कर्मवत्संन्यासस्यापि दर्शनात्तेषां कर्मदर्शनात्मकं लिङ्गं लोकसंग्रहार्थत्वेनान्यथासिद्धमित्याह—तुल्यं त्विति। किंच यस्य कर्म स न ब्रह्मविदित्याह—अपि चेति। तर्हि वैश्वानर विद्यायाः कर्माङ्गत्वं स्यादित्यत आह—न त्विति। ब्रह्मविदां लोकसंग्रहार्थं क्रियमाणमपि कर्म न भवति अभिमानाभावेनानधिकारित्वादिति भावः ॥९॥ ॥१०॥

मैं तुझे फिर से कहूँगा' इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रियादिसंसूचित संसारी आत्मा का ही वेद्यत्वेन अनुकर्षण किया गया है, वे वाक्य भी 'इस महान् परमात्मा का निःश्वासरूप ये ऋग्वेदादि हैं', 'जो भूख-प्यास से मुक्त, शोक-मोह, जरा-मृत्यु को पार किये बैठा है', 'उस परमज्योति को प्राप्तकर अपने स्वरूप से अभिनिष्पन्न होता है वह उत्तम पुरुष है' इत्यादि वाक्यशेषों के द्वारा अधिक उपदेश की इच्छा होने पर ही कहे गये हैं; वे संसारी और अत्यन्त असंसारी के भेदाभिप्राय से नहीं कहे गये हैं अतः कोई विरोध नहीं है। जीवात्मा का पारमार्थिक स्वरूप पारमेश्वर ही है, शारीरत्व तो औपाधिक हैं, इसी बात को 'तत्त्वमसि', 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' इन श्रुतियों से कहा गया है। यह सब विस्तार से हम पहले स्थल-स्थल पर कह आये हैं ॥८॥

तुल्यं तु दर्शनम् (ललिता)

और जो आप ने कहा था कि आचारदर्शन को देखते हुए विद्या को कर्म का अङ्ग मानना चाहिए, इस पर हम कहते हैं कि विद्या को कमशेष न मानने पर भी आचारदर्शन दोनों पक्ष में समान ही है। वैसा ही 'कवष के पुत्र उन विद्वान् ऋषियों ने कहा था कि हम किसलिए पढ़ेंगे और यज्ञ हम क्यों करेंगे क्योंकि पहले के विद्वानों ने भी अग्निहोत्र नहीं किया था' 'इसी आत्मा को जानकर

(४३५) असार्वत्रिकी ॥१०॥

(४३६) विभागः शतवत् ॥११॥

जुहवांचक्रिरे', 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ० ३-५-१) इत्येवंजातीयका। याज्ञवल्क्यादीनामपि ब्रह्मविदामकर्मनिष्ठत्वं दृश्यते--'एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार' (बृ० ४-५-१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अपि च 'यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि' (छा० ५-११-५) इत्येतल्लिङ्गदर्शनं वैश्वानरविद्याविषयम्। संभवति च सोपाधिकायां ब्रह्मविद्यायां कर्मसाहित्यदर्शनम्। न त्वत्रापि कर्माङ्गत्वमस्ति। प्रकरणाद्यभावात् ॥९॥

यत्पुनरुक्तम्—'तच्छ्रुतेः' (ब्र० सू० ३-४-४) इति। अत्र ब्रूमः--

'यदेव विद्यया करोति' (छा० १-१-१०) इत्येषा श्रुतिर्न सर्वविद्याविषया, प्रकृतविद्याभिसंबन्धात्। प्रकृता चोद्गीथविद्या 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १-१-१) इत्यत्र ॥१०॥

यदप्युक्तम्--'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृ० ४-४-२) इत्येतत्समन्वारम्भवचनमस्वातन्त्र्ये विद्याया लिङ्गमिति तत्प्रत्युच्यते। विभागोऽत्र द्रष्टव्यो विद्यान्यं पुरुषं समन्वारभते

समन्वारम्भवचनस्यमुमुक्षुविषय त्वमङ्गीकृत्य विद्या अन्यं मुमुक्षुं मुक्तत्वेनान्वारभत इति

ब्रह्मवित् ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊपर उठकर भिक्षाचर्या करते हैं'—ये श्रुतियाँ कहती हैं। ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य शुक आदि में भी अकर्मनिष्ठत्व देखा जाता है—महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयि को ब्रह्मज्ञान का उपदेश करके कहा 'अरे मैत्रेयि! मोक्ष का साधन बस इतना ही है', इतना कहने के बाद याज्ञवल्क्य ने संन्यास ग्रहण कर लिया। इन श्रुतियों से ब्रह्मज्ञानियों में अकर्मनिष्ठता सिद्ध होती है। और 'हे ब्राह्मणों! मैं यज्ञ करने वाला हूँ' यह लिङ्गदर्शन वैश्वानरविद्या को विषय करता है जो सोपाधिक ब्रह्मविद्या में कर्मसाहित्यदर्शन को सम्भावित करता है, निरुपाधिक ब्रह्मविद्या में यागादि कर्माङ्गत्व के बोधक प्रकरणादि प्रमाण नहीं हैं। अतः ब्रह्मविद्या को कर्माङ्ग किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं कर सकते ॥९॥

असार्वत्रिकी (ललिता)

'तच्छ्रुतेः' सूत्र से आप ने जो कहा था, इस पर हमारा कहना है कि **'यदेव विद्यया करोति'** यह श्रुति सभी विद्या को विषय नहीं करती है, इसका सम्बन्ध तो प्रकृत उद्गीथविद्या के साथ ही है। इसी प्रसङ्ग को 'ॐ इस अक्षर में उद्गीथ दृष्टि करे' ऐसा कहा गया है, जो आत्मविद्या को विषय नहीं करती है ॥१०॥

विभागः शतवत् (ललिता)

और जो आप ने कहा था कि 'परलोक जाने वाले साधक को विद्या और कर्म दोनों मिलकर फल देते हैं' यह समन्वारम्भवचन विद्या की अस्वतन्त्रता में लिङ्ग है, उसका प्रतिउत्तर सुन लीजिए कि यहाँ पर विभाग कर लेना चाहिए अर्थात् विद्या अन्य पुरुष को फल देती है और कर्म अन्य पुरुष

(४३७) अध्ययनमात्रवतः ॥१२॥

कर्मान्यमिति । शतवत्, यथा शतमाभ्यां दीयतामित्युक्ते विभज्य दीयते पञ्चाशदेकस्मै पञ्चाशदपरस्मै तद्वत् । न चेदं समन्वारम्भवचनं मुमुक्षुविषयम् 'इति नु कामयमानः' (बृ० ४-४-६) इति संसारिविषयत्वोपसंहारात् 'अथाकामयमानः' (बृ० ४-४-६) इति च मुमुक्षोः पृथगुपक्रमात् । तत्र संसारिविषये विद्या विहिता प्रतिषिद्धा च परिगृह्यते विशेषाभावात् । कर्मापि विहितं, प्रहितं प्रतिषिद्धं च यथाप्राप्तानुवादित्वात् । एवं सत्यविभागेनापीदं समन्वारम्भवचनमवकल्पते ॥११॥

यच्चैतत् 'तद्वतो विधानात्' (ब्र० सू० ३·४·६) इत्यत उत्तरं पठति—

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य' (छा० ८-१५-१) इत्यत्राध्ययनमात्रस्य श्रवणादध्ययनमात्रवत एव कर्मविधिरित्यध्यवस्यामः । नन्वेवं सत्यविद्यत्वादनधिकारः कर्मसु प्रसज्येत । नैष दोषः । न वयमध्ययनप्रभवं कर्मावबोधनमधिकारकारणं वारयामः किं तर्ह्यौपनिषद-

---

विभाग उक्तः सूत्रकृता । वस्तुनस्तु तन्नास्तीत्याह—न चेदं समन्वारम्भवचनमिति । तत्र संसारिविषये तं विद्येत्यादिवाक्ये यथाप्राप्तानुवादिनि विद्यादिरर्थःनाह—तत्रेति । **विहितोद्गीथादिविद्या प्रतिषिद्धा** नग्नस्त्रीध्यानादिरूपा ॥११॥

यच्चैतदिति । उक्तमिति शेषः । **अविद्यत्वाद्वेदार्थज्ञानशून्यत्वादित्यर्थः । मात्रपदमात्मज्ञानस्य व्यावर्तकं न कर्मज्ञानस्येत्याह**—नैष दोष इति ॥१२॥ ॥१३॥

को फल देना है। जैसे किसी ने कहा कि इन दोनों को सो रूपये दे दो, तो इसका अभिप्राय यह होता है कि विभाग करके एक को पचास और दूसरे को भी पचास रूपये दिये जाते हैं, वैसे हो यहाँ भी समझना चाहिए। साथ ही यह समन्वारम्भवचन मुमुक्षु के लिए नहीं है क्योंकि **'इति नु कामयमानः'** (निःसन्देह कामनावाला पुरुष ही कर्मानुसार ऐसी शुभाशुभ गति को प्राप्त होता रहता है) इस वाक्य द्वारा इसका उपसंहार संसारी के विषय में देखा जाता है, तत्पश्चात् **'अथाकामयमानः'** (अब जो अकाम पुरुष है उसके विषय में कहते हैं) इस वाक्य द्वारा मुमुक्षुओं के लिए पृथक् उपक्रम दीखता है। वहाँ पर संसारी जीवविषयिणी उद्गीथादि विद्या विहित है और नग्नस्त्रीध्यानादिरूप निषिद्ध परिगृहीत होता है, इसमें भेद नहीं है। विहित और प्रतिषिद्ध कर्म का यथाप्राप्त अनुवाद ही है। इस प्रकार समन्वारम्भवचन का विभाग न भी किया जाय तो अज्ञानी के विषय में दोनों ही सम्भव हो जाते हैं, किन्तु ब्रह्मविद्या अपना फल मोक्ष देने में स्वतन्त्र ही है ॥११॥

और जो आप ने कहा था कि विद्यायुक्त व्यक्ति के लिए कर्म का विधान शास्त्र में है, उसका उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं—

अध्ययनमात्रवतः (ललिता)

'वेद का अध्ययनकर गुरुकुल से लौटने पर गार्हस्थ्य स्वीकार करे' इस वाक्य में अध्ययनमात्र ही सुना जाता है; अतः वेदाध्ययन से युक्त व्यक्ति के लिए ही कर्म का विधान है, ऐसा हम इसका तात्पर्य समझते हैं। शङ्का—इस प्रकार विद्वान् न होने के कारण कर्म में उसका अधिकार ही नहीं प्राप्त होता। समाधान—यह कोई दोष नहीं है। अध्ययन से होने वाले कर्मज्ञान

(४३८) नाविशेषात् ॥१३॥
(४३९) स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥१४॥

आत्मज्ञानं स्वातन्त्र्येणैव प्रयोजनवत्प्रतीयमानं न कर्माधिकारकारणतां प्रतिपद्यत इत्येतावत्प्रतिपादयामः । यथा च न क्रत्वन्तरज्ञानं क्रत्वन्तराधिकारेणापेक्ष्यत एवमेतदपि द्रष्टव्यमिति ॥१२॥

यदप्युक्तं 'नियमाच्च' (ब्र० सू० ३-४-७) इत्यत्राभिधीयते—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' (ई० २) इत्येवमादिषु नियमश्रवणेषु न विदुष इति विशेषोऽस्ति । अविशेषेण नियमविधानात् ॥१३॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (ई० २) इत्यत्रापरो विशेष आख्यायते । यद्यप्यत्र प्रकरणसामर्थ्याद्विद्वानेव कुर्वन्निति संबध्येत तथापि विद्यास्तुतये कर्मानुज्ञानमेतद्द्रष्टव्यम् 'न कर्म लिप्यते नरे' (ई० २) इति हि वक्ष्यति । एतदुक्तं भवति । यावज्जीवं कर्म कुर्वत्यपि विदुषि पुरुषे न कर्म लेपाय भवति विद्यासामर्थ्यादिति तदेवं विद्या स्तूयते ॥१४॥

नियमवाक्यमज्ञविषयमित्युक्तं विदुषो ज्ञानस्तुत्यर्थं वेत्याह—स्तुतय इति । एवं कर्म कुर्वत्यपि त्वयि नरे नेतो विद्यालब्धाद्ब्रह्मभावाद'न्यथास्ति कर्मणा संसारो नास्तीति यावत् । यतः कर्म न लिप्यते । अपूर्वरूपलेपाय न भवतीत्यर्थः श्रुतेरिति भावः ॥१४॥

को कर्माधिकार का कारण हम भी मानते हैं, उसका निषेध हम नहीं करते । किन्तु औपनिषद आत्मज्ञान स्वतन्त्र अपना फल मोक्ष देने में समर्थ है, ऐसा हम कहते हैं । ऐसी स्थिति में औपनिषद आत्मज्ञान फलयुक्त प्रतीत हो रहा है, उसे कर्माधिकार का कारण हम नहीं कह सकते हैं । जैसे एक यज्ञ का ज्ञान यज्ञान्तर के अधिकारी को अपेक्षित नहीं होता है, ऐसे ही कर्मी को औपनिषद आत्मज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है ॥१२॥

और जो आप ने कहा था कि नियम को देखते हुए सभी को कर्म करना ही चाहिए, इसका उत्तर भी सुन लीजिए कि—

नाविशेषात् (ललिता)

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' इत्यादि नियमश्रवण में ज्ञानी के लिए कोई विशेष नहीं बतलाया गया है, वह तो अविशेषरूप से कहा गया है । फलतः उसका अधिकारी शरीराभिमानी अज्ञानी ही होता है. आत्मनिष्ठ ज्ञानी के उपर वह नियम नहीं लगाया जा सकता ॥१३॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा (ललिता)

अथवा यूं समझो कि यद्यपि प्रकरण को देखते हुए ज्ञानी का सम्बन्ध भी **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** इस प्रसङ्ग पर आता है जिसे विद्या की स्तुति के लिए कर्म की अनुज्ञामात्र ही समझना चाहिए, इसीलिए तो **'न कर्म लिप्यते नरे'** ऐसा इस मन्त्र के उत्तरार्ध में कहेंगे । तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष जीवनपर्यन्त कर्म करते रहें तो भी वे विद्यासामर्थ्य के कारण कर्म से लिप्त नहीं होते, इस प्रकार ब्रह्मविद्या की स्तुति हो जाती है ॥१४॥

---

१. अन्यथास्तीति संसारापत्तिरस्तीत्यर्थः ।

(४४०) कामकारेण चैके ॥१५॥

(४४१) उपमर्दं च ॥१६॥

अपि चैके विद्वांसः प्रत्यक्षीकृतविद्याफलाः सन्तस्तद[२]वष्टम्भात्फलान्तरसाधनेषु प्रजादिषु प्रयोजनाभावं परामृशन्ति । कामकारेणेति श्रुतिर्भवति वाजसनेयिनाम् 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' (बृ० ४-४-२२) इति । अनुभवारूढमेव च विद्याफलं न क्रियाफलवत्कालान्तरभावीत्यसकृदवोचाम । अतोऽपि न विद्यायाः कर्मशेषत्वं नापि तद्विषयायाः[१]फलश्रुतेरयथार्थत्वं शक्यमाश्रयितुम् ॥१५॥

अपि च कर्माधिकारहेतोः क्रियाकारकफललक्षणस्य समस्तस्य प्रपञ्चस्याविद्याकृतस्य विद्यासामर्थ्यात्स्वरूपोपमर्दमामनन्ति—'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्' (बृ० २-४-१४) इत्यादिना । वेदान्तोदितात्मज्ञानपूर्विकां तु कर्माधिकारसिद्धिं प्रत्याशासानस्य कर्माधिकारोच्छित्तिरेव प्रसज्येत । तस्मादपि स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥१६॥

स्वेच्छातः कर्मसाधनप्रजादित्यागलिङ्गाच्च विद्या स्वतन्त्रफलेत्याह—कामेति । तदेतद्ब्रह्म येषां नोऽस्माकं अयमपरोक्ष आत्मा अयमेव लोकः पुरुषार्थस्ते वयं किं प्रजादिना करिष्याम इत्यालोच्य कर्मत्यक्तवन्त इत्यर्थः । नन्वयं लोक इति ज्ञानफलस्य प्रत्यक्षत्वोक्तिरयुक्ता कर्मफलवददृष्टत्वादित्यत आह—अनुभवेति ॥१५॥

न केवलमनुपयोगाज्ज्ञानस्य कर्मानङ्गत्वं किंतु कर्मनाशकत्वाच्चेत्याह—उपमर्दं चेति ॥१६॥

कामकारेण चैके (ललिता)

पूर्वपक्ष में प्रत्युपस्थापित हेतुओं का निराकरणकर सिद्धान्त पक्ष में हेतु देते हैं कि ब्रह्मविद्या के फल आत्मैक्य का साक्षात्कार कर लेने वाले विद्वान् फलान्तरसाधन प्रजादि में प्रयोजन का अभाव ही देखते हैं क्योंकि वाजसनेयियों की श्रुति ने कहा है--'पहले भी विद्वान् प्रजा आदि की कामना नहीं करते थे, उनकी धारणा थी कि हम प्रजा से क्या करेंगे, हमें तो यह आत्मलोक ही सम्पादित करना है' इत्यादि । ब्रह्मविद्या का फल प्रत्यक्ष ही होता है, वह क्रियाफल की भाँति कालान्तरभावी नहीं होता, इसे हम अनेक बार कह आये हैं । इस लए भी विद्या कर्म का शेष नहीं है और न तद्विषयक फलश्रुति को अर्थवाद ही कहा जा सकता है, यह सिद्ध हुआ ॥१५॥

उपमर्दं च (ललिता)

अविद्या के कार्य, कर्माधिकार के प्रयोजक क्रियाकारकफलरूप समस्त प्रपञ्च के स्वरूप का विद्यासामर्थ्य से उपमर्दन भी श्रुति बतलाती है । जैसे 'जिस समय इस ज्ञानी की दृष्टि में सब कुछ आत्मा ही हो गया उस समय यह किससे किसको देखे, किससे किसको सूँघे' इत्यादि वेदान्तवाक्यजनित आत्मज्ञानपूर्वक कर्माधिकारसिद्धि की तो आशा ही नहीं रखनी चाहिए, प्रत्युत ज्ञानी के लिए कर्माधिकार का उच्छेद ही हो जाता है । अतः विद्या फल देने में स्वतन्त्र है, यह सिद्ध हुआ ॥ ६॥

---

१. विद्याऽऽश्रयणयात् । २. अपहृतपाप्मत्वादि ।

(२४४) ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥१७॥

ऊर्ध्वरेतःसु चाश्रमेषु विद्या श्रूयते । न च तत्र कर्माङ्गत्वं विद्याया उपपद्यते । कर्माभावात् । न ह्यग्निहोत्रादीनि वैदिकानि कर्माणि तेषां सन्ति । स्यादेतत् । ऊर्ध्वरेतस आश्रमा न श्रूयन्ते वेदे इति तदपि नास्ति, तेऽपि हि वैदिकेषु शब्देष्ववगम्यन्ते 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २-२३-१), 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते' (छा० ५-१०-१), 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' (मु० १-२-११), 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४-४-२२), 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जा० ४) इत्येवमादिषु । प्रतिपन्नाप्रतिपन्नगार्हस्थ्यानामपाकृतानपाकृतर्णत्रयाणां चोर्ध्वरेतस्त्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम् । तस्मादपि स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥१७॥

किंच कर्मतत्त्वज्ञाने नाङ्गाङ्गिभूते भिन्नाधिकारिस्थत्वाद्रा[१]जसूयबृहस्पतिसववदित्याह—ऊर्ध्वेति । त्रयो धर्मस्कन्धाः कर्मप्रधाना आश्रमाश्चतुर्थो ब्रह्मसंस्थ इत्यर्थः । 'ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणः' इति श्रुतेः । 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः' इति स्मृतेश्च प्राप्तगार्हस्थ्यस्यैव निरस्तर्णत्रयस्य पारिव्राज्यमित्यपि शङ्का न कार्या । ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति '[२]द्वितीयमाश्रममिच्छेत्तमावसेदेति च विधिश्रुतिस्मृतिविरोधेन अर्थवादश्रुतिस्मृत्योरविरक्तविषयत्वावगमादित्याह— प्रतिपन्नेति । तस्मादिति । संन्यासनिष्ठत्वादित्यर्थः ॥१७॥

ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि (ललिता)

मोक्षरूप फल के प्रति ब्रह्मविद्या अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं रखती, इस विषय में एक और हेतु अग्रिम सूत्र से देते हैं कि ऊर्ध्वरेता यतिआश्रम में विद्या सुनी जाती है। वहाँ कर्म का अभाव होने के कारण विद्या में कर्माङ्गत्व सिद्ध नहीं होता क्योंकि उन आश्रमों में अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म नहीं होते हैं। शङ्का—वेद में ऊर्ध्वरेता आश्रम नहीं सुने जाते हैं। समाधान—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वैदिक शब्दों में वे आश्रम भी जाने जाते हैं। 'धर्म के तीन स्कन्ध हैं—गृहस्थ, वानप्रस्थ और ब्रह्मचर्य', 'जो अरण्य में रहकर श्रद्धा एवं तप की उपासना करते हैं', 'जो वन में रहकर तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं', 'इसी आत्मलोक को चाहनेवाले संन्यासी संन्यास ले लेते हैं', 'ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यासग्रहण कर ले' इन सभी श्रुतियों में ऊर्ध्वरेता आश्रम सुने जाते हैं। जो ज्ञानी गार्हस्थ्य स्वीकार नहीं किये हों, अतएव ऋणत्रय का अपाकरण भी नहीं किये उन्हीं में श्रुति एवं स्मृति से प्रसिद्ध ऊर्ध्वरेतस्त्व सिद्ध होता है। अतः ब्रह्मविद्या में फल के प्रति स्वतन्त्रता है, कर्मसापेक्षता नहीं है, यह सिद्ध हो गया। साथ ही, ब्रह्मविद्या में संन्यासाश्रमनिष्ठत्व सिद्ध हुआ ॥१७॥

---

१. राजसूये क्षत्रियस्यैवाधिकारः । २. गृहस्थम् ।

२. परामर्शाधिकरणम् (सू० १८-२०)

नास्त्यूर्ध्वरेताः किं वास्ति नास्त्यसावविधानतः । वीरघातो विधेः क्लृप्तावन्धपङ्ग्वादिगा स्मृतिः ।
अस्त्यपूर्वविधेः क्लृप्तिर्वीरहाऽनग्निको गृही । अन्धादेः पृथगुक्तत्वात्स्वस्थानां श्रूयते विधिः ।।
लोककाम्याश्रमी ब्रह्मनिष्ठामर्हति वा न वा । यथावकाशं ब्रह्मैव ज्ञातुमर्हत्यवारणात् ।
अनन्यचित्तता ब्रह्मनिष्ठासौ कर्मठे कथम् । कर्मत्यागी ततो ब्रह्मनिष्ठामर्हति नेतरः ।।

---

२. परामर्शाधिकरण
(प्रथम वर्णक)

१. **सङ्गति**—पहले संन्यास आश्रम के सद्भाव में जो प्रमाण दिया गया था, वह विधि के अभाव में कैसे सम्भव हो सकेगा; इस प्रकार आक्षेप सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. **विषय**—संन्यास आश्रम की वैधता का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. **संशय**—संन्यास आश्रम शास्त्रविहित है अथवा नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—संन्यास आश्रम का विधान नहीं है, इसके विपरीत 'वह देवताओं का हत्यारा माना जाता है जो अग्नि का उद्वास कर देता है' ऐसा निषेधवचन भी मिलता है। और यदि स्मृति में कहीं संन्यास का विधान है तो वह अन्ध, पङ्गु इत्यादि के लिए है क्योंकि वे कर्म करने में समर्थ नहीं हैं।

५. **सिद्धान्त**—गार्हस्थ्य की भाँति संन्यास आश्रम का भी विधान शास्त्रों में मिलता है। विधि के श्रवण न होने पर भी अपूर्व अर्थ के रूप में विधि की कल्पना की जा सकती है। और **'वीरहा'** इत्यादि जो दोष कहे गये हैं वह तो उपसन्नाग्नि गृहस्थ के लिए है। अन्धे आदि अपङ्ग के लिए पृथक् से संन्यास की बात कही है। अतः स्वस्थ त्रैवर्णिक के लिए विधि सुनी जाती है, जैसा कि **'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा परिव्रजेत्'** इस जाबाल श्रुति में वचन मिलता है।

(द्वितीय वर्णक)

१. **सङ्गति**—पूर्वोक्त रीति से आक्षेप होने पर इस अधिकरण का आरम्भ हुआ है।

२. **विषय**—इस अधिकरण में संन्यास आश्रम की वैधता का विचार किया गया है।

३. **संशय**—लोककामी आश्रमी ब्रह्मनिष्ठ हो सकता है या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—किसी भी आश्रम में रहने वाला व्यक्ति आश्रमकर्म सम्पन्न कर अवकाश मिलते ही ब्रह्मचिन्तन कर सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। और लोककामी ब्रह्म को नहीं जान सकता, ऐसा निषेधवचन कहीं भी नहीं है। अतः सभी आश्रमियों में ब्रह्मनिष्ठा हो सकती है।

५. **सिद्धान्त**—समस्त व्यापारों का परित्याग कर अनन्यचित्त से ब्रह्म में समाप्ति को ब्रह्मनिष्ठा कहते हैं, ऐसी ब्रह्मनिष्ठा कर्मशूर में सम्भव नहीं है। कर्मानुष्ठान और कर्मत्याग परस्पर विरोधी होने के कारण कर्मत्यागी में ही ब्रह्मनिष्ठा होती है, दूसरों में नहीं।

(४४३) परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥१८॥

'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २·२३·१) इत्यादयो ये शब्दा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाणां सद्भावायोदाहृताः न ते तत्प्रतिपादनाय प्रभवन्ति । यतः 'परामर्शमेषु शब्देष्वाश्रमान्तराणां जैमिनिराचार्यो मन्यते न विधिम् । कुतः ? न ह्यत्र लिङ्ादीनामन्यतमश्चोदनाशब्दोऽस्ति । अर्थान्तरपरत्वं चैतेषां प्रत्येकमुपलभ्यते, त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यत्र तावद्यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासो तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्तीति 'परामर्शपूर्वकमाश्रमाणामनात्यन्तिकफलत्वं संकीर्त्यात्यन्तिकफलतया ब्रह्मसंस्थता स्तूयते—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छा० २·२३·१) इति ।

संन्यासो नास्तीत्याक्षिपति—परामर्शं जैमिनिरिति । ऊर्ध्वरेतःशब्दितं पारिव्राज्यमनुष्ठेयं न वेति मानभ्रान्तिमूलत्वाभ्यां सन्देहे भ्रान्तिमूलत्वान्नानुष्ठेयमित्याह—त्रय इति । 'आश्रमाणामवान्तरभेदापेक्षया 'बहुवचनम् । तथा च काण्वायनस्मृतिरर्थतोऽनुक्रम्यते । गायत्रो ब्राह्मः प्राजापत्यो बृहन्निति ब्रह्मचारी चतुर्विधः । तत्रोपनयनादूर्ध्वं यस्त्रिरात्रमक्षारालवणाशी गायत्रीमधीते स गायत्रः । यस्तु वेदस्य ग्रहणान्तं ब्रह्मचर्यं चरति स ब्राह्मः । ऋतुकाले स्वदारगामी नित्यं परस्त्रीविमुखः प्राजापत्यः, संवत्सरं वेदव्रतकृद्वर्द्धा प्राजापत्यः । आमरणं गुरुकुलवासी नैष्ठिको बृहन्नित्युच्यते । गृहस्थोऽपि चतुर्विधः । वार्ताको यायावरः शालीनो घोरसंन्यासिकश्चेति । तत्र कृषिगोरक्षादिकया वैश्यादिवृत्या जीवन्नित्यादिक्रियापरो वार्ताकवृत्तिः । यायावरस्त्वयाचितवृत्तिर्याजनाध्यापनप्रतिग्रहविमुखः । शालीनस्तु षट्कर्मनिरतो याजनादिवृत्तिः संचयी । उद्धृतपरिपूताभिरद्भिः कार्यं कुर्वन्प्रत्यहं कृतोञ्छवृत्तिर्ग्रामवासो घोरसंन्यसिक इत्युच्यते, हिंसाविमुखत्वात् । वानप्रस्थोऽपि चतुर्विधः । वैखानस औदुम्बरो वालखिल्यः फेनपश्चेति । तत्राकृष्टपच्यौषधीभिर्ग्रामबहिष्कृताभिरग्निहोत्रादि कुर्वन्वैखानस उच्यते । यस्तु प्रातरुत्थाय यां दिशं पश्यति तत्रत्योदुम्बरबदरीनीवारश्यामाकः कर्मपरः स औदुम्बरः । यस्तु जटावल्कलधारी अष्टौ मासान्वृत्त्युपार्जनं कृत्वा चातुर्मास्ये संगृहीताशी कार्तिक्यां

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि (ललिता)

'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यादि जो शब्द ऊर्ध्वरेता आश्रम के सद्भाव के लिए कहे गये थे वे उसके बतलाने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि जैमिनि आचार्य इन शब्दों में केवल आश्रमान्तर का परामर्श मानते हैं, विधि नहीं मानते । यहाँ पर लिङ्, लोट्, तव्यत् आदि प्रत्ययों में से एक भी विधायक शब्द नहीं है, इनमें प्रत्येक शब्द अर्थान्तरबोधक जान पड़ते हैं । 'धर्म के तीन स्कन्ध हैं' इनमें सर्वप्रथम यज्ञ, अध्ययन और दान है, दूसरा तप है और तीसरा आचार्यकुलवासी ब्रह्मचारी का गुरुकुल में रहते हुए अपने को गुरुसेवा में समर्पित करते हुए जीवन व्यतीत करना है । ऐसा करने वाले सभी पुण्यलोक के भागी होते हैं । इस प्रकार परामर्शपूर्वक इन आश्रमवासियों को आत्यन्तिक फलवाला न कहकर आत्यन्तिक फल प्राप्त कराने वाली ब्रह्मसंस्थता की **'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति'** इस वाक्य द्वारा स्तुति

१. अनुवादम् । २. अनुवादपूर्वकम् । ३ ननु संन्यासमेवैकमाश्रमाक्षिप्य स्थापयिषितत्वाद्बहुवचनमनुपपन्नं ब्रह्मचर्यवानप्रस्थयोस्तु स्थापनं प्रासंगिकमित्यशंक्याह आश्रमाणामवांतरेति । ४. बहुवचनमिति ऊर्ध्वरेतःसुप्त चेति सौत्रबहुवचनमारभ्योत्तरत्र सर्वत्र पठितं बहुवचनमित्यर्थः । ५. मुन्यन्नविशेषः ।

ननु परामर्शेऽप्याश्रमा गम्यन्त एव। सत्यं गम्यन्ते। स्मृत्याचाराभ्यां तु तेषां प्रसिद्धिर्न प्रत्यक्षश्रुतेः। 'अतश्च प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे सत्यनादरणीयास्ते भविष्यन्ति। अनधिकृतविषया वा। ननु गार्हस्थ्यमपि सहैवोर्ध्वरेतोभिः परामृष्टं यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथम इति। सत्यमेवं, तथापि तु गृहस्थं प्रत्येवाग्निहोत्रादीनां कर्मणां विधानाच्छ्रुतिप्रसिद्धमेव हि तदस्तित्वम्। । तस्मात्स्तुत्यर्थ एवायं परामर्शो न चोदनार्थः। अपि चाप-वदति हि प्रत्यक्षा श्रुतिराश्रमान्तरम् 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते', 'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' (तै० १-११-१), 'नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः' इत्येवमाद्या। तथा 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते'

संगृहीतपुष्पफलत्यागी स वालखिल्यः। फेनपास्तु शीर्णपर्णफलवृत्तयो यत्र क्वचिद्वसन्तः कर्मपरा इति। तथा परिव्राजकाश्चतुर्विधाः कुटीचका। बहूदकाः हंसाः परमहंसाश्चेति। तत्र स्वपुत्रगृहे भिक्षां चरन्त-स्त्रिदण्डिनः कुटीचकाः। बहूदकास्तु त्रिदण्डिनः शिक्यजलपवित्रपादुकासनशिखायज्ञोपवीतकौपीनका-षायवेषधरास्तीर्थान्यटन्तो भैक्षं चरन्तः आत्मानं प्रार्थयन्ते। हंसास्तु एकदण्डिनः शिखावर्जं यज्ञो-पवीतधराः शिक्यकमण्डलुपाणयः ग्रामैकरात्रवासिनः कृच्छ्रचान्द्रायणपराः। परमहंसास्त्वेकदण्डधरा मुण्डा अयज्ञोपवीतिनः त्यक्तसर्वकर्माण आत्मनिष्ठा इति। अत्र पूर्वपक्षे सन्यासाभावाज्ज्ञानस्य स्वतन्त्रफलत्वासिद्धिः सिद्धान्ते तद्भावात्तत्सिद्धिरिति फलभेदः। स्कन्धा आश्रमाः आत्मानं शरीरमा-चार्यस्य कुले गृहे 'कर्शयन्नैष्ठिक इत्यर्थः। स्कन्धश्रुतावाश्रमा न विधीयन्ते किंतु ब्रह्मसंस्थतास्तुत्यर्थ-मनूद्यन्त इत्युक्ते 'शङ्कते—ननु परामर्शऽपीति। अनुवादापेक्षितपुरोवादाप्रतीतिमङ्गीकरोति—सत्यमिति। प्रत्यक्षा स्कन्धश्रुतिरेव पुरोवादोऽस्तु नानुवाद इत्यत आह—स्मृतीति। 'तयोरपि इयमेव 'श्रुतिर्मूलमस्तु। क्लृप्तश्रुतौ विधिमात्रकल्पनालाघवात्। अस्या अनुवादत्वे तु मूलत्वेन 'साग्निकानग्निकाश्रमश्रुतिस्तत्र विधिश्चेति द्वयकल्पनागौरवादित्यत आह—अतश्चेति। स्मार्तत्वादाश्रमाः प्रत्यक्षयावज्जीवकर्मविधि-श्रुत्यविरुद्धा ग्राह्याः। विरुद्धास्त्वनग्निकाश्रमा उपेक्ष्याः कर्मानधिकृतैरन्धादिभिर्वा अनुष्ठेया इत्यर्थः। यावज्जीवश्रुतिविरोधाल्लाघवं त्याज्यमिति भावः। स्कन्धश्रुतावनुवाद्यत्वाविशेषाद्गार्हस्थ्यवदितरेषा-मनुष्ठेयत्वमाशङ्क्य 'तस्य श्रौतत्वादनुष्ठानं नेतरेषामश्रौतत्वादतो ब्रह्मसंस्थतास्तुतिपरमिदं स्कन्ध-

---

की गयी है। शङ्का—परामर्श में भी आश्रम का अस्तित्व जान पड़ता ही है। समाधान—ठीक है, स्मृति और आचार से वे आश्रम जान पड़ते हैं, पर उनकी प्रसिद्धि प्रत्यक्ष श्रुति से नहीं है। अतः प्रत्यक्ष श्रुति के साथ विरोध आने पर वे आदरणीय नहीं हो सकेंगे अथवा संन्यास आश्रम कर्म में अनधिकृत अन्धे आदि के लिए कहा गया है। शङ्का—'ऊर्ध्वरेताओं के साथ यज्ञोऽध्ययन दानमिति प्रथमः' इस वाक्य से गार्हस्थ आश्रम का भी परामर्श ही सिद्ध होता है। समाधान—ठीक है, इस वाक्य में तो परामर्श ही है, किन्तु गृहस्थ के लिए ही अग्निहोत्रादि कर्मों का विधान होने से श्रुति में प्रसिद्ध गार्हस्थ का अस्तित्व तो सिद्ध ही है। अतः यह परामर्श श्रुति स्तुति के लिए है, आश्रम-विधान के लिए नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष श्रुति 'यह देवताओं का हत्यारा है जो अग्नि को बुझा डालता है' इस वाक्य द्वारा संन्यास आश्रम की निन्दा करती है। मानवमात्र के लिए 'अध्ययन करने के बाद आचार्य को प्रिय धन समर्पित करके गार्हस्थ आश्रम में प्रवेश करे और सन्ततिपरम्परा

---

१. जठरकर्शयन्निति पाठः। २. सिद्धांती। ३. स्मृत्याचारयोरपि। ४. स्कन्धश्रुतिः। ५. ब्रह्मचर्यादयस्त्र-यस्साग्निकाः। ६. गार्हस्थ्यस्य।

(४४४) अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥१९॥

(छा० ५-१०-१), 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' (मु० १-२-११) इति च देवयानोपदेशो नाश्रमान्तरोपदेशः । संदिग्धं चाश्रमान्तराभिधानम् 'तप एव द्वितीयः' (छा० २-२३-१) इत्येवमादिषु । तथा 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४-४-२२) इति लोकसंस्तवोऽयं न पारिव्राज्यविधिः । ननु ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति विस्पष्टमिदं प्रत्यक्षं पारिव्राज्यविधानं जाबालानाम् । सत्यमेवमेतत् । अनपेक्ष्य त्वेतां श्रुतिमयं विचार इति द्रष्टव्यम् ॥१८॥

अनुष्ठेयमाश्रमान्तरं बादरायण आचार्यो मन्यते । वेदे श्रवणात् । अग्निहोत्रादीनां चावश्यानुष्ठेयत्वात्तद्विरोधादनधिकृतानुष्ठेयमाश्रमान्तरमितिहीमां मतिं निराकरोति गार्हस्थ्यवदेवाश्रमान्तरमप्यनिच्छता प्रतिपत्तव्यमिति मन्यमानः । कुतः ?—साम्यश्रुतेः । समाना हि गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य परामर्शश्रुतिर्दृश्यते 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २-२३-१) इत्याद्या । यथेह श्रुत्यन्तरविहितमेव गार्हस्थ्यं परामृष्टमेवमाश्रमान्तरमपीति प्रतिपत्तव्यम् । यथा च शास्त्रान्तरप्राप्तयोरेव निवीतप्राचीनावीतयोः परामर्श उपवीतविधिपरे वाक्ये,

---

वाक्यमित्याह—नन्वित्यादिना । तन्तुं संततिम् । तथा ये चेति । तेऽर्चिषमभिसंभवन्तीति वाक्यशेषादित्यर्थः । स्कन्धशब्दस्य आश्रमेष्वरूढत्वाच्चात्र नाश्रमविधिरित्याह— संदिग्धं चेति । तर्हि प्रव्रजन्तीत्याश्रमविधिरित्यत आह—तथैतमिति । आत्मलोको महीयान् यदर्थमशक्यां प्रव्रज्यामपि कुर्वन्तीति स्तुतिर्वर्तमानापदेशादित्यर्थः । संप्रति पूर्वपक्षमाक्षिप्येयं श्रुतिर्नास्तीतिकृत्वा चिन्त्यत इत्याह—नन्वित्यादिना ॥१८॥

स्कन्धश्रुतावितराश्रमाः श्रुत्यन्तरविहिता अनूद्यन्ते एतद्वाक्यानुवाद्यत्वाद्गार्हस्थ्यवदिति सिद्धान्तयति—अनुष्ठेयमिति । अनुवादस्य क्वचिद्विधिपूर्वकत्वे दृष्टान्तमाह—यथा चेति । निवीत

का उच्छेद न करे', 'पुत्रहीन को लोक नहीं मिलता, वे सब पशुतुल्य हैं' इत्यादि वाक्य द्वारा संन्यास आश्रम का विरोध ही किया गया है। वैसे ही 'अरण्य में रहकर जो लोग श्रद्धा एव तप की उपासना करते हैं', 'जो लोग वन में रहकर तप एवं श्रद्धा का अनुष्ठान करते हैं' इन वाक्यों से देवयान मार्ग का उपदेश किया गया है, आश्रमान्तर का उपदेश नहीं है। अतः 'तप एव द्वितीयः' इत्यादि वाक्य में आश्रमान्तर का कथन संदिग्ध है। उसी प्रकार 'इसी लोक को चाहने वाले प्रव्रज्या कर जाते हैं' इस वाक्य द्वारा लोकसंस्तुतिमात्र है, संन्यास का विधान नहीं है। शङ्का—'ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर ले' ऐसा जाबालश्रुतिवाक्य प्रत्यक्ष संन्यास का विधान कर रहा है। समाधान—यह वाक्य ठीक ही है, किन्तु इस श्रुति की अपेक्षा न करके यहाँ पर विचार किया गया है, ऐसा समझना चाहिए ॥१८॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः (ललिता)

बादरायण आचार्य संन्यास आश्रम को अनुष्ठेय मानते हैं। जैसे अग्निहोत्रादि वेद में सुने जाने से अवश्य अनुष्ठेय हैं वैसे ही संन्यास आश्रम भी अवश्य अनुष्ठेय है। और जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि वेद में अग्निहोत्रादि सुने जाने के कारण अवश्य अनुष्ठेय हैं, उनके साथ विरोध आने पर संन्यास आश्रम कर्म में अनधिकृत अपङ्गों के लिए हैं; इस दुराग्रह का निराकरण करते हैं कि गार्हस्थ्य की

तस्मात्तुल्यमनुष्ठेयत्वं गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य । तथा 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४-४-२१) इत्यस्य वेदानुवचनादिभिः समभिव्याहारः । 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते' (छा० ५-१०-१) इत्यस्य च पञ्चाग्निविद्यया ।

यत्तूक्तम् 'तप एव द्वितीयः' (छा० २-२३-१) इत्यादिष्वाश्रमान्तराभिधानं संदिग्धमिति । नैष दोषः । निश्चयकारणसद्भावात् । 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २-२३-१) इति हि धर्मस्कन्धत्रित्वं प्रतिज्ञातम् । नच यज्ञादयो भूयांसो धर्मा उत्पत्तिभिन्नाः सन्तोऽन्यत्राश्रमसम्बन्धात्त्रित्वेऽन्तर्भावयितुं शक्यन्ते । तत्र यज्ञादिलिङ्गो गृहाश्रम एको धर्मस्कन्धो निर्दिष्टो, ब्रह्मचारीति च स्पष्ट आश्रमनिर्देशस्तप इत्यपि कोऽन्यस्तपःप्रधानादाश्रमाद्धर्मस्कन्धोऽभ्युपगम्येत । 'ये चेमेऽरण्ये' (छा० ५-१०-१) इति चारण्यलिङ्गाच्छ्रद्धातपोभ्यामाश्रमगृहीतिः । तस्मात्परामर्शेऽप्यनुष्ठेयमाश्रमान्तरम् ॥१९॥

मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणामुपवीतं देवानामिति वाक्ये दैवे कर्मण्युपवीतं विधीयते । तत्स्तुतये द्वयमनूद्यते । मानुषक्रियासु देहार्धवस्त्रबन्धनाख्यनिवीतस्य सौकर्यार्थतया प्राप्तत्वात् पित्र्ये कर्मणि प्राचीनावीतस्यापि विध्यन्तरप्राप्तत्वादित्यर्थः । वाक्यान्तरे च साक्षादेव पारिव्राज्यविधिर्विधेयैः साहित्यादित्याह—तथैतमेवेति । अस्येति पारिव्राज्योक्तिः । विधेयवेदानुवचनादिसाहित्यात्पारिव्राज्यस्य विधेयतेत्यर्थः । वाक्यान्तरेऽपि साम्यश्रुतिमाह—ये चेति । अस्येति वानप्रस्थोक्तिः । विधेयपञ्चाग्निविद्यया वानप्रस्थस्य सहोक्त्या तदपि विधेयमित्यर्थः ।

श्रुतत्रित्वान्यथानुपपत्त्या स्कन्धशब्दस्य आश्रयपरत्वनिश्चय इत्याह—यत्तूक्तमित्यादिना । उत्पत्तिभिन्ना इति । यजेताऽध्येतव्यं दद्यादिति पृथगुत्पन्ना इत्यर्थः ॥१९॥

भाँति संन्यास आश्रम भी अनिच्छया मानना ही पड़ेगा क्योंकि गार्हस्थ आश्रम के साथ संन्यास आश्रम की परामर्शक श्रुति एक जैसी दिखाई पड़ती है । 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यादि श्रुति जैसे श्रुत्यन्तर से विहित गार्हस्थ का परामर्श करती है, ऐसे ही अन्य श्रुति से विहित संन्यास आश्रम का परामर्श भी करती है । जिस प्रकार शास्त्रान्तर से प्राप्त निवीत और प्राचीनावीत का ही उपवीत-विधायक वाक्य में परामर्श होता है, वैसे ही गार्हस्थ के साथ आश्रमान्तर में अनुष्ठेयत्व तुल्य ही है । इसीलिए वेदानुवचन के साथ संन्यास आश्रम का कथन 'इसी आत्मलोक को चाहने वाले कुछ विरक्त पुरुष संन्यास ग्रहण कर लेते हैं' इस वाक्य से किया गया है और 'वन में श्रद्धा और तप की उपासना जो करते हैं' इसका कथन पञ्चाग्नि विद्या के साथ किया गया है ।

और जो आप ने कहा था कि 'तप एव द्वितीयः' इन वाक्यों में आश्रमान्तर का कथन संदिग्ध है, यह दोष देना ठीक नहीं क्योंकि निश्चय का कारण वहाँ विद्यमान है । 'धर्म के तीन स्कन्ध हैं' इस वाक्य द्वारा तीन स्कन्ध की प्रतिज्ञा की गयी है, अन्य आश्रम से सम्बन्धित उत्पत्तिबोधक वाक्य द्वारा भिन्न-भिन्न अनेको यज्ञादि धर्म तीन में ही अन्तर्भूत नहीं किये जा सकते । अतः उनमें से यज्ञादि लिङ्ग गृहस्थ आश्रम के लिए एक धर्मस्कन्ध कहा गया है, ब्रह्मचारी शब्द से स्पष्ट आश्रम का निर्देश है, तपः यह शब्द भी तपप्रधान किसी अन्य आश्रम को ही कह रहा है; इस प्रकार तीन धर्म-स्कन्ध माने जाते हैं । साथ ही 'ये चेमेऽरण्ये' इस वाक्य में अरण्य लिङ्ग होने के कारण श्रद्धा और तप से आश्रम का ही ग्रहण होता है । अतः छान्दोग्य श्रुतिवाक्य में परामर्श होने पर भी आश्रमान्तर अनुष्ठेय है ही, उसका प्रतिवाद आप नहीं कर सकते हैं ॥१९॥

(४४५) विधिर्वा धारणवत् ॥२०॥

विधिर्वाऽयमाश्रमान्तरस्य न परामर्शमात्रम् । ननु विधित्वाभ्युपगम एकवाक्यताप्रतीतिरुपरुध्येत प्रतीयते चात्रैकवाक्यता पुण्यलोकफलास्त्रयो धर्मस्कन्धाः ब्रह्मसंस्थतात्वमृतत्वफलेति । सत्यमेतत् । सतीमपि त्वेकवाक्यताप्रतीतिं परित्यज्य विधिरेवाभ्युपगन्तव्योऽपूर्वत्वात् । विध्यन्तरस्यादर्शनात् । [1]विस्पष्टाच्च[2]श्रमान्तरप्रत्ययाद्गुणवादकल्पनयैकवाक्यत्वयोजनानुपपत्तेः । धारणवत् । यथा 'अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति' इत्यत्र सत्यामप्यधोधारणेनैकवाक्यताप्रतीतौ विधीयत एवोपरि-

स्कन्धश्रुतेरनुवादकत्वमङ्गीकृत्य विध्यन्तरकल्पनेनाश्रमा अनुष्ठेया इत्युक्तम् । इदानीं विधित्वं तस्या एव कल्प्यं लाघवादित्याह—विधिर्वेति । यावज्जीवादिश्रुतेरविरक्तविषयत्वान्न लाघवबाधकत्वमिति भावः । अल्पफलत्वेनाश्रमत्रयनिन्दया ब्रह्मसंस्थतास्तुतिपरमेकमिदं वाक्यं भाति । तत्राश्रमविधिचतुष्टयमयुक्तमिति शङ्कते—नन्विति । आश्रमाणां विध्यन्तरप्राप्त्यभावादनुवादायोगात् । स्तुतिलक्षणादोषाच्च वरं विस्पष्टाश्रमविधिभेदकल्पनमपूर्वत्वादित्याह—सत्यमित्यादिना । प्रतीतैकवाक्यत्वभङ्गेन भेदकल्पने दृष्टान्तमाह—धारणवदिति । महापितृयज्ञे प्रेताग्निहोत्रे च स्रुचि प्रक्षिप्तं हविराहवनीयं प्रति यदानीयते तदा तस्य हविषः 'अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेत्' इति विहिताधोधारणस्तावकतयोपरिहीत्यस्यैकवाक्यत्वभानेऽपि दैवे होमे स्रुग्दण्डोपरि समिद्धारणे विधिरेवापूर्वत्वादिति वाक्यभेदस्तृतीयाध्याये जैमिन्याचार्येणोक्त इत्यर्थः । एवं चत्वार आश्रमा विधीयन्त इति पक्ष उक्तः ।

विधिर्वा धारणवत् (ललिता)

अथवा छान्दोग्य श्रुति में संन्यास आश्रम का विधान ही है, अनुवादमात्र नहीं है क्योंकि ऐसा मानने में लाघव है । शङ्का—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इस वाक्य में विधि मानने पर श्रुतियों की एकवाक्यता की प्रतीति उपरुद्ध हो जायेगी । यहाँ पर पुण्यलोक फल 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इस वाक्य से प्रतीत होता है किन्तु ब्रह्मसंस्थता अमृतत्व फल को कहती है । अतः अल्पफलत्व तीन आश्रम वालों के लिए कहकर उसकी निन्दापूर्वक ब्रह्मसंस्थास्तुतिपरक यह वाक्य है, ऐसी स्थिति में चतुर्थ आश्रम का विधायक इस वाक्य को मानना असङ्गत है । समाधान—आप का यह कहना ठीक ही है, किन्तु विद्यमान एकवाक्यताप्रतीति को भी छोड़कर विधान ही मानना चाहिए क्योंकि वह अपूर्व है और यहाँ पर कोई दूसरा विधायक वाक्य दीखता नहीं । आश्रमान्तर की प्रतोति विस्पष्ट दीख रही है, ऐसी स्थिति में 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इस वाक्य में गुणवाद की कल्पना से एकवाक्यत्व प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा । अतः वाक्यभेद स्वीकार करना ही पड़ेगा । इस विषय में प्रेताग्निहोत्र में सुने गये वाक्य को उद्धृत करते हैं कि जैसे 'महापितृयज्ञ प्रेताग्निहोत्र में जब स्रुवपात्र में हवि रख देते हैं तो उस हवि के नीचे समिधा रखकर आहवनीय अग्नि में आहुति डाले और देवताओं के लिए हवि के ऊपर समिधा रखकर आहुति डाले' इस श्रुतिवाक्य में दोनों के निमित्त आहुतियाँ डालते समय हवि के अधोभाग में समिधा रखने से एकवाक्यता की प्रतीति होती है, फिर भी देवता के निमित्त हविधारण के समय हवि के ऊपर ही समिधाधारण का विधान है क्योंकि यह अपूर्व है । यह प्रसङ्ग

१. मुख्यात्प्रधानादिति यावत् । २. आश्रमान्तरविधेः ।

धारणमपूर्वत्वात् । तथा चोक्तं शेषलक्षणे–'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' इति । तद्वदिहाप्याश्रमपरामर्शश्रुतिर्विधिरेवेति कल्प्यते । यदापि परामर्श एवायमाश्रमान्तराणां तदापि ब्रह्मसंस्थता तावत्संस्तवसामर्थ्यादवश्यं विधेयाऽभ्युपगन्तव्या । सा च किं चतुर्ष्वाश्रमेषु यस्य कस्यचिदाहोस्वित्परिव्राजकस्यैवेति विवेक्तव्यम् । यदि च ब्रह्मचार्यन्तेष्वाश्रमेषु परामृश्यमानेषु परिव्राजकोऽपि परामृष्टस्ततश्चतुर्णामप्याश्रमाणां परामृष्टत्वाविशेषादनाश्रमित्वानुपपत्तेश्च यः कश्चिच्चतुर्ष्वाश्रमेषु ब्रह्मसंस्थो भविष्यति अथ न परामृष्टस्ततः परिशिष्यमाणः परिव्राडेव ब्रह्मसंस्थ इति सेत्स्यति । तत्र तपःशब्देन [1]वैखानसग्राहिणा परामृष्टः परिव्राडपीति केचित् । तदयुक्तम् । नहि सत्यां गतौ वानप्रस्थ[2]विशेषणेन परिव्राजको ग्रहणमर्हति । यथात्र ब्रह्मचारिगृहमेधिनावसाधारणेनैव स्वेन स्वेन विशेषणेन

संप्रत्याश्रमत्रयानुवादेन पारिव्राज्यमेकमेव विधीयत इति पक्षान्तरमाह—यदापीत्यादिना । ब्रह्मसंस्थताविधौ कथं पारिव्राज्यविधिरित्याशङ्क्य विचारयति—सा चेति । ननु त्रय इति वाक्य आश्रमचतुष्टयस्याप्राप्तेर्निर्बीजोऽयं विचार इत्याशङ्क्य तद्वाक्ये परिव्राजकः परामृष्टो न वेति संदिह्याद्ये पूर्वपक्षप्राप्तिमाह–यदि चेति । नन्वनाश्रम्येव ब्रह्मसंस्थः किं न स्यादत आह–अनाश्रमित्वेति । अनाश्रमो न तिष्ठेतेति निषेधादिति भावः । द्वितीये सिद्धान्तप्राप्तिमाह—अथेति । एवं परामर्शतदभावाभ्यां संशयमुक्त्वा पूर्वपक्षयति—तत्रेति । वनस्थस्य ह्यसाधारणं कृच्छ्रादिकं तप इति प्रसिद्धम् । तेनैकेन तपःशब्देनोभयग्रहणमन्याय्यं भिक्षोस्तपस्वित्वप्रसिद्ध्यभावाच्च । तथाच यज्ञाद्यसाधारणधर्मद्वारा गृहस्थाद्याश्रमत्रयवद्ब्रह्मसंस्थशब्देनैव ब्रह्मनिष्ठाप्रधानश्चतुर्थाश्रमो गृह्यते । स च स्तुतिसामर्थ्यात् सह ब्रह्मसंस्थया विधीयत इति सिद्धान्तयति—तदयुक्तमित्यादिना । पृथग्व्यपदेशाच्च ब्रह्मसंस्थः पूर्वोक्तेभ्यः

मीमांसा दर्शन-तृतीय अध्याय में आया है 'विधिस्तु धारणे अपूर्वत्वात्' अर्थात् देवता के निमित्त हविप्रक्षेप के समय स्रग्दण्ड के ऊपर समिधा धारण करे इसमें जिस प्रकार विधि मानी है, वैसे ही छान्दोग्य श्रुति में भी संन्यासआश्रमपरामर्शश्रुति विधान हो कर रही है, ऐसी कल्पना की जाती है। जब अन्य आश्रमों का अनुवाद ही मानते हैं, तो भी ब्रह्मसंस्थता के स्तुतिसामर्थ्य से उसे विधेय मानना उचित होगा। क्या चार आश्रमों में से जिस किसी आश्रम में ब्रह्मसंस्थता प्राप्त हो सकती है अथवा संन्यास आश्रम में ही प्राप्त हो सकती है, यह विवेचनीय है। यदि गार्हस्थ, वानप्रस्थ और ब्रह्मचर्य इन अनुदित तीनों आश्रमों में ही संन्यास आश्रम का भी अनुवाद माना जाय तो चारों आश्रमों में परा मृष्टत्व तुल्य हो जाने के कारण अनाश्रमित्व की सिद्धि नहीं होगी। और यदि उन तीनों आश्रमों के अन्तर्गत संन्यास आश्रम का न हुआ माना जाय तो परिशेषन्याय से संन्यास आश्रम ही ब्रह्मसंस्थ सिद्ध होगा। ऐसी स्थिति में कुछ लोग जो वैखानस अर्थ के ग्राहक तपः शब्द से संन्यास आश्रम परामृष्ट हो गया मानते हैं, वह असङ्गत हो जायेगा क्योंकि अन्य गति के रहने पर वानप्रस्थ के विशेषण तपः शब्द से संन्यास का ग्रहण करना उचित नहीं है। जिस प्रकार यहाँ ब्रह्मचारी और गृहस्थों को अपने-अपने असाधारण विशेषण से विशेषित किया गया है ऐसे ही संन्यासी और वानप्रस्थी

---

१. अकृष्टपच्यौषधादिभिर्ग्रामबहिष्कृताभिरग्निहोत्रादि कुर्वन् वैखानस उच्यते । २. तपःशब्देन ।

विशेषितावेवं भिक्षुवैखानसावपीति युक्तम् । तपश्चासाधारणो धर्मो वानप्रस्थानां काय-क्लेशप्रधानत्वात् । तपःशब्दस्य तत्र रूढेः । भिक्षोस्तु धर्म इन्द्रियसंयमादिलक्षणो नैव तपःशब्देनाभिलप्यते । चतुष्ट्वेन च प्रसिद्धा आश्रमास्त्रित्वेन परामृश्यन्त इत्यन्याय्यम् । अपिच 'व्यपदेशोऽत्र भवति 'त्रय एते पुण्यलोकभाज एकोऽमृतत्वभाक्' इति । पृथक्त्वे चैष भेदव्यपदेशोऽवकल्पते । न ह्येवं 'भवति देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञावन्यतरस्त्वनयो-र्महाप्रज्ञ इति । भवति त्वेवं देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञौ विष्णुमित्रस्तु महाप्रज्ञ इति । तस्मात्पूर्वे त्रय आश्रमिणः पुण्यलोकभाजः परिशिष्यमाणः परिव्राडेवामृतत्वभाक् ।

कथं पुनर्ब्रह्मसंस्थशब्दो योगात्प्रवर्तमानः सर्वत्र संभवन्परिव्राजक एवावतिष्ठेत । रूढ्यभ्युपगमे चाश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इति । अत्रोच्यते—ब्रह्मसंस्थ इति हि ब्रह्मणि परिसमाप्तिरनन्यव्यापारतारूपं तन्निष्ठत्वमभिधीयते । तच्च त्रयाणा-माश्रमाणां न संभवति । स्वाश्रमविहितकर्माननुष्ठाने प्रत्यवायश्रवणात् । परिव्राजकस्य

आश्रमिभ्यः पृथग्भूत इत्याह—अपि चेति । न चावस्थाभेदेन तेषामेव ब्रह्मसंस्था स्यादिति वाच्यम् । कालभेदेनापि सति मन्दप्रज्ञत्वे प्रज्ञाधिक्यवत्सति कर्मित्वे तेषां विक्षिप्तचेतसां ब्रह्मसंस्थानुपपत्तेः । कर्मत्यागे च परिव्राडेव ब्रह्मसंस्थ इत्यस्मदिष्टसिद्धिरिति भावः ।

इममेवार्थं स्पष्टयितुं शङ्कते—कथं पुनरिति । यद्यपि ब्रह्मसंस्थाशब्दः संन्यासाश्रमेन रूढस्तथापि योगात्तमेवोपस्थापयति । अन्याश्रमेषु यौगिकार्थासमवायादित्याह—अत्रोच्यत इति । सर्वकर्मत्यागिनः

के लिए भी असाधारण विशेषण से विशिष्ट कहना ही उचित होगा । वानप्रस्थों का असाधा-रण धर्म तप है क्योंकि उस आश्रम में कायक्लेश तप ही प्रधान होता है, अतः तप शब्द वानप्रस्थ आश्रम अर्थ में रूढ़ है । किन्तु संन्यासी का धर्म इन्द्रियसंयमादिरूप है, उसे तप शब्द से नहीं कह सकते । जब चार आश्रम प्रसिद्ध हैं, तो तीन का ही परामर्श कहना युक्तिसङ्गत नहीं है । इसके अति-रिक्त यहाँ पर भेद भी बतलाया गया है—'प्रथम के तीनों पुण्यलोक के भागी होते हैं और एक अमरत्व का भागी होता है ।' ऐसी स्थिति में प्रथम के तीन आश्रमों से संन्यास को पृथक् मानने पर उक्त भेदव्यपदेश भी युक्तिसङ्गत हो जाता है । लोक में देवदत्त यज्ञदत्त मन्दबुद्धि हैं, किन्तु उन दोनों में एक महाप्रज्ञ है, ऐसा व्यवहार नहीं होता । प्रत्युत देवदत्त यज्ञदत्त मन्दबुद्धि है किन्तु विष्णुमित्र महाप्रज्ञ है, ऐसा व्यवहार तो होता है । अतः पहले के तीन आश्रमी पुण्यलोक के भागी होते हैं, शेष संन्यासी ही अमरत्व का भागी होता है ।

शङ्का—ब्रह्मसंस्थ शब्द यौगिक मानने पर सर्वत्र प्रयुक्त हो सकता है, फिर उसका अर्थ संन्यासी ही क्यों माना जाय और रूढ़ि मानने पर संन्यास आश्रम ग्रहणमात्र से मोक्ष मिल जायेगा ऐसी स्थिति में ज्ञान में आनर्थक्यप्रसङ्ग आ जायेगा । समाधान—ब्रह्म में परिसमाप्ति, अनन्यव्यापार-तारूप ब्रह्मनिष्ठता को ब्रह्मसंस्थ शब्द बतला रहा है । ऐसी ब्रह्मनिष्ठता संन्यास से भिन्न आश्रमों में सम्भव नहीं है, उन्हें आश्रमविहित कर्मानुष्ठान न करने पर प्रत्यवाय सुना जाता है; किन्तु

---

१. भेदव्यपदेशः ।

तु सर्वकर्मसंन्यासात्प्रत्यवायो न संभवत्यननुष्ठाननिमित्तः । शमदमादिस्तु तदीयो धर्मो ब्रह्मसंस्थताया उपोद्बलको न विरोधी । ब्रह्मनिष्ठत्वमेव हि तस्य शमदमाद्युपबृंहितं स्वाश्रमविहितं कर्म यज्ञादीनि चेतरेषां तदव्यतिक्रमे च तस्य प्रत्यवायः । तथा च 'न्यास इति ब्रह्मा, ब्रह्मा हि परः, परो हि ब्रह्मा', 'तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्' (ना० ७८), 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' (मु० ३-२-६ ना० १२-३ कै० ३) इत्याद्याः श्रुतयः । स्मृतयश्च–'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः' (गी० ५-१७) इत्याद्या ब्रह्मसंस्थस्य कर्माभावं दर्शयन्ति । तस्मात्परिव्राजकस्याश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इत्येषोऽपि दोषो नावतरति । तदेवं परामर्शेऽपीतरेषामाश्रमाणां पारिव्राज्यं तावद्ब्रह्मसंस्थतालक्षणं लभ्यतेव । अनपेक्ष्यैव जाबालश्रुतिमाश्रमान्तरविधायिनीमयमाचार्येण विचारः प्रवर्तितः । विद्यत एव त्वाश्रमान्तरविधिश्रुतिः प्रत्यक्षा । 'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद्, गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा' (जा० ४) इति ।

प्रणवार्थब्रह्मनिष्ठातिरेकेणानुष्ठेयं नास्तीत्यत्र मानमाह—तथा चेति । न्यासः संन्यासो ब्रह्मेति स्तुतौ हेतुमाह—ब्रह्मा हीति । हिरण्यगर्भो हि पर इति प्रसिद्धः । अतो ब्रह्मत्वेन स्तुतः संन्यासः पर एवेति स्तुत्वा कर्माणि निन्दति तानीति । ततो न्यास एव ज्ञानद्वारा मोचकत्वादधिक इत्यर्थः । तद्बुद्धयो ब्रह्मचित्तास्तदात्मानो ब्रह्मस्वरूपास्तन्निष्ठाः श्रवणादिपरास्तत्परायणाः ब्रह्मप्रेप्सवः निष्कामा इति यावत् । एवं ब्रह्मसंस्थशब्दस्य ज्ञानप्रधानाश्रमवाचित्वादमृतत्वकामस्तमाश्रममनुतिष्ठेदिति विधिः परिणम्यते । अतो न ज्ञानानर्थक्यदोष इत्युपसंहरति—तस्मादिति । संप्रति कृत्वाचिन्तामुद्घाटयति—अनपेक्ष्येति । शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थं स्कन्धश्रुतिमादाय चिन्ता कृतेति भावः । यदि वेतरथेति । ब्रह्मचर्य

संन्यासी को सर्वकर्म का त्याग कर देने के कारण अनुष्ठाननिमित्तक प्रत्यवाय नहीं लगता क्योंकि शम-दम आदि संन्यास आश्रम का धर्म है जो ब्रह्मसंस्थता का साधक है, बाधक नहीं है । संन्यासी के लिए स्वाश्रमविहित कर्म शमदमादि से युक्त ब्रह्मनिष्ठता ही तो है, जब कि अन्य आश्रम वालों के लिए यज्ञादि आश्रम धर्म हैं । उन यज्ञादि धर्मों के अतिक्रम होने से उन्हें प्रत्यवाय लगता है, इसीलिए तो 'यह न्यास ब्रह्मस्वरूप है और ब्रह्म सर्वश्रेष्ठ है । ब्रह्म और न्यास दोनों समानार्थक हैं । और सब तप भिन्न श्रेणी के हैं, इनसे श्रेष्ठ संन्यास ही है ।' 'वेदान्तविज्ञान से जिन्होंने अच्छी प्रकार अर्थ को समझ लिया है, ऐसे संन्यास योग से युक्त संन्यासी विशुद्धसत्व माने जाते हैं' ये श्रुतियाँ और 'ब्रह्म में जिनका मन लगा हुआ है, बुद्धि लगी हुई है, जो ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मपरायण है'–ये स्मृतियाँ भी ब्रह्मसंस्थ ज्ञानी में कर्माभाव बतलाती हैं । अतः आश्रममात्र ग्रहण करने से संन्यासी को मोक्ष मिल जायेगा, ऐसी स्थिति में ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग आ जायेगी, यह दोष यहाँ पर प्रसक्त नहीं होगा । इस प्रकार अन्य आश्रमों का परामर्श मानने पर भी ब्रह्मसंस्थतारूप पारिव्राज्य 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इस वाक्य से सिद्ध होता ही है । जाबाल श्रुति जो संन्यास आश्रम की विधायिका है, उसकी ओर ध्यान न देकर भगवान् वेदव्यास ने यहाँ पर यह विचार प्रस्तुत किया है । संन्यास आश्रम की विधायिका 'ब्रह्मचर्य समाप्तकर गृही बने, गृही होकर वनी बने और वनी होकर संन्यास ग्रहण कर ले अथवा ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यास ले लेवे, गार्हस्थ या वानप्रस्थ आश्रम से संन्यास ग्रहण करे'

३. स्तुतिमात्राधिकरणम् (सू० २१-२२)

स्तोत्रं रसतमत्वादि ध्येयं वा गुणवर्णनात् । जुहूरादित्य इत्यादाविव कर्माङ्गसंस्तुतिः ।
भिन्नप्रकरणस्थत्वान्नाङ्गविध्येकवाक्यता । उपासीतेति विध्युक्तेर्ध्येयं रसतमादिकम् ॥

न चेयं श्रुतिरनधिकृतविषया शक्या वक्तुम्, अविशेषश्रवणात् । पृथग्विधानाच्चानधिकृतानाम्, 'अथ पुनरेव व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा' (जा० ४) इत्यादिना । ब्रह्मज्ञानपरिपाकाङ्गत्वाच्च पारिव्राज्यस्य नानधिकृतविषयत्वम् । तच्च दर्शयति—'अथ परिव्राट् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति' (जा० ५) इति । तस्मात्सिद्धा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाः, सिद्धं चोर्ध्वरेतःसु विधानाद्विद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति ॥२०॥

स्थितस्यैव पूर्वसुकृतपरिपाकाद्वैराग्यं यदि स्यादित्यर्थः । यदुक्तं कर्मानधिकृतान्धादिविषयः संन्यास इति तन्नेत्याह—न चेति । सामान्य श्रुतेः संकोचहेत्वभावादिति भावः । पृथगिति । संन्यासस्येति शेषः । व्रती गोदानादिवेदव्रतवान् । गुरुकुलान्निवृत्तिरूपस्नानानन्तरमकृतगार्हस्थ्यो गुरुसेवी स्नातकः उत्सन्नाग्नि[1]र्विधुरः अगृहीताग्निरनग्निकः प्रव्रजेदित्यन्वयः । सकलाङ्गानामेव कथंचित्कर्मानधिकृतानां संन्यासो युक्तः विकलाङ्गानां त्वन्धादीनां न ज्ञानप्रधानसंन्यासाधिकार इत्याह—ब्रह्मेति । दृष्टिपूतसंचारश्रवणादिकं विना ज्ञानानुत्पत्तेः । 'शरीरं मे [2]विचर्षणं जिह्वा मे [3]मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां '[4]भूरिविश्रुवम्' इत्यङ्गसाकल्यप्रार्थनालिङ्गाच्च नान्धपङ्गुमूकबधिरादीनामधिकार इत्यर्थः । तच्चेति । पारिव्राज्यस्य ब्रह्मज्ञानाङ्गत्वं चेत्यर्थः । ब्रह्मभूयाय ब्रह्मसाक्षात्कारायेति यावत् ॥२०॥

यह श्रुति तो प्रत्यक्ष ही है । इसे अपङ्गों के लिए भी नहीं कह सकते, क्योंकि यह श्रुति समानरूप से सभी के लिए सुनी जाती है और अनधिकृत अन्धे आदि अपङ्गों के लिए 'इसके बाद व्रती, अव्रती, स्नातक, अस्नातक, उत्सन्नाग्नि, अनग्नि' इत्यादि पृथक् श्रुति है । गोदानादि वेदव्रत धारण करने वाला व्रती कहलाता है, उससे विपरीत को अव्रती, गुरुकुल से निवृत्तिरूप स्नानान्तर भी गृहस्थ को स्वीकार न करने वाला गुरुशुश्रूषापरायण स्नातक कहा जाता है, उससे विपरीत को अस्नातक कहते हैं, विधुर को उत्सन्नाग्नि कहते हैं और अग्नि परिग्रह से पूर्व को अनग्नि कहते है, ऐसे कर्माधिकार-प्राप्ति से रहित व्यक्ति के लिए संन्यास का विधान पृथक् किया गया है । ब्रह्मज्ञान के परिपाक का अङ्ग होने के कारण संन्यास अनधिकारी के लिए नहीं कहा जा सकता, इसी बात को 'परिव्राट्, विवर्णवर्णधारी, मुण्डन कराने वाला, परिग्रहत्यागी, पवित्र, किसी से द्रोह न करने वाला, भिक्षान्नजीवी पुरुष ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है' इस वाक्य से श्रुति दिखलाती है । अतः संन्यास आश्रम प्रमाणसिद्ध हो गया और इसको सिद्धि के विधान से ब्रह्मविद्या में फल के प्रति स्वातन्त्र्य भी सिद्ध हुआ ॥२०॥

३. स्तुतिमात्राधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में अनुष्ठेय साम्यश्रुति होने के कारण संन्यास आश्रम को विधेय कहा था, वैसे ही यहाँ पर रसतमत्वादि अङ्गाश्रित होने के कारण 'इयमेव जुहूरादित्यः' इत्यादि श्रुति स्तुतिमात्र के लिए है; इम प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है ।

१. मृतभार्यः । २. विचर्षणं विचक्षणं योग्यमिति यावत् भूयात् । ३. मधुमत्तमाऽतिशयेन मधुरभाषिणीत्यर्थः । ४. भूरि विश्रुवं व्यश्रवमहभावश्छांदसः झटिति श्रोता भूयासमित्यर्थः आत्मज्ञानयोग्यः कायकारणसंघातोऽस्त्विति वाक्यार्थः ।

(४४६) स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥२१॥

'स एष रसानां रसतमः परमः पराध्र्योऽष्टमो यदुद्गीथः' (छा० १-१-३), 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १-६-१), 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः। तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी' इत्येवंजातीयकाः श्रुतयः किमुद्गीथादेः स्तुत्यर्था आहोस्विदुपासनाविध्यर्था इत्यस्मिन्संशये स्तुत्यर्था इति युक्तम्। उद्गीथादीनि कर्माङ्गान्युपादाय श्रवणात्। यथा—'इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गो लोक आहवनीयः' इत्याद्या जुह्वादिस्तुत्यर्थास्तद्वदिति चेत्। नेत्याह। नहि स्तुतिमात्रमासां श्रुतीनां प्रयोजनं युक्तमपूर्वत्वात्। विध्यर्थतायां ह्यपूर्वोऽर्थो

स्तुतिमात्रं। पृथिव्योषधिपुरुषवागृक्साम्नां सप्तानां रसानां रसतमोऽष्टम उद्गीथावयव ॐकारः परमः परमात्मप्रतीकत्वात्परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं तदर्हतीति पराध्र्य इत्यर्थः। श्रासु 'श्रुतिष्वङ्गोपादानादपूर्वार्थत्वाच्च संशयमाह—किमिति। यथानुष्ठयगार्हस्थ्यसाम्यश्रुतेः पारिव्राज्यस्यानुष्ठेयत्वं तद्वदासां श्रुतीनां जुह्वादिस्तुतिश्रुतिसाम्यात्स्तुतित्वमिति पूर्वपक्षयति—स्तुत्यर्था इति। जुहूरियमेव पृथिवीति स्तूयते। चयनस्थः कूर्म आदित्य इति। आहवनीयः स्वर्गलोक इति स्तुतिः। तयोद्गीथादीनां रसतमत्वादिगुणैः स्तुतिरित्यर्थः स्तुतिलक्षणातो वरं विधिकल्पनमनुष्ठानफललाभादिति सिद्धान्तयति—नहि स्तुनोति। पूर्वपक्षे तत्रानुष्ठानं फलं सिद्धान्ते त्वनुष्ठानं फलमिति मन्तव्यम्। स्तावकत्वेनार्थ-

२. **विषय**—इस अधिकरण में उद्गीथ आदि उपासना का विचार किया गया है।

३. **संशय**—'रसों में सर्वश्रेष्ठ रस यह है, जो अष्टम उद्गीथ है' इस वाक्य द्वारा उद्गीथ उपासनाओं में कर्माङ्ग उद्गीथ की स्तुति की गयी है अथवा गुण का विधान है?

४. **पूर्वपक्ष**—'**इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गो लोक आहवनीय**' इस वाक्य द्वारा जुहू आदि की स्तुति की भांति रसतमत्वादि वाक्य भी कर्माङ्ग उद्गीथ की स्तुति के लिए आया है।

५. **सिद्धान्त**—भिन्न प्रकरणस्थ होने से अङ्गविधि के साथ एकवाक्यता नहीं है 'उपासीत' इस वाक्य से उपासना का विधान किया गया है, उस विधि की सन्निधि में रसतमत्वादि गुण चिन्तन के लिए विहित है, वह स्तुतिमात्र नहीं है।

स्तुतिमात्रमुपानादिति चेन्नापूर्वत्वात् (ललिता)

'पृथ्वी, जल, ओषधि, पुरुष, वाणी, ऋक् और साम; इन सात रसों का श्रेष्ठ अष्टम रस उद्गीथावयव ॐकार परमात्मा का प्रतीक होने के कारण उसकी उपलब्धि का श्रेष्ठ स्थान है, इसीलिए उसको पराध्र्य कहते हैं।' 'यह पृथ्वी ही ऋक् है, अग्नि साम है और यह लोक अग्निचित् है', 'यही उक्थ है, जो यह पृथ्वी है' ऐसी श्रुतियाँ छान्दोग्य उपनिषद् में मिलती हैं। क्या ये उद्गीथ कर्म की स्तुति के लिए है अथवा उपासना विधान के लिए है, ऐसा संशय होने पर कर्माङ्ग उद्गीथादि को लेकर यह प्रसङ्ग सुने जाने के कारण इसे स्तुत्यर्थक मानना ही उचित होगा। जैसे 'यह पृथ्वी ही जुहू है, नेत्रगत कूर्म आदित्य है और आहवनीय अग्नि स्वर्गलोक है' इत्यादि श्रुतियाँ जुह्वादि की स्तुति के लिए है, वैसे ही जुह्वादि की स्तुति के लिए ही यह प्रसङ्ग आया है? ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि इन श्रुतियों का प्रयोजन स्तुतिमात्र कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ये अपूर्व हैं।

१. फलवदज्ञातोपासितविधायकत्वसम्भवात्। २. अज्ञातोऽर्थः। ३. उद्गीथाद्यङ्गोपादानादित्यर्थः।

विहितो भवति स्तुत्यर्थतायां त्वानर्थक्यमेव स्यात् । विधायकस्य हि शब्दस्य वाक्यशेषभावं प्रतिपद्यमाना स्तुतिरुपयुज्यत इत्युक्तम् 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्यत्र । 'प्रदेशान्तरविहितानां तूद्गीथादीनामियं [1]प्रदेशान्तरपठिता स्तुतिर्वाक्यशेषभावमप्रतिपद्यमानानर्थिकैव स्यात् । इयमेव जुहूरित्यादि तु [2]विधिसंनिधावेवाम्नातमिति वैषम्यम् । तस्माद्विध्यर्था एवंजातीयकाः श्रुतयः ।।२१।।

(४४७) भावशब्दाच्च ।।२२।।

'उद्गीथमुपासीत' (छा० १-१-१), 'सामोपासीत' (छा० २-२-१), 'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्'इत्यादयश्च विस्पष्टा विधिशब्दाः श्रूयन्ते ते च स्तुतिमात्रप्रयोजनतायां व्याहन्येरन् । तथा च न्यायविदां स्मरणम्–'कुर्यात्क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम् । एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्' इति लिङाद्यर्थो विधिरिति मन्यमानास्त एवं स्मरन्ति ।

वरत्रं किं न स्यादित्यत आह—विधायकस्येति । युक्तमियमेव जुहूरित्यादिश्रुतीनां फलवज्जुह्वादिविधिप्रकरणस्थतया स्तावकत्वेनार्थवत्वं; रसतमादिश्रुतीनां तु क्रत्वङ्गविधिप्रकरणस्थत्वाभावात्फलवदपूर्वोपास्तिविधायकत्वमेव युक्तं क्रत्वन्तरश्रुतिवदिति भावः ।।२१।।

किंचात्र विधिकल्प्य इति कृत्वाचिन्तयोक्तं वस्तुतस्तु न कल्प्यः क्लृप्तत्वादित्याह—भावेति । न चैवमुपासनाविधिस्तावकत्वं रसतमादिश्रुतीनामिति सांप्रतम् । विध्यपेक्षितविषयार्थकत्वसंभवे स्तुतिलक्षणायोगादिति भावः देवो मदिष्टं कुर्यादिति प्रार्थनादावपि लिङादिप्रयोगादुपासीतेत्यादिशब्दानां कथं विधिपरत्वनिश्चय इत्यत आह—तथा चेति । एतल्लिङादिकं वेदेषूत्सर्गतो नियमेनेष्टसाधनत्वाख्यविधेर्लक्षणं ज्ञापकं[4] स्यात् । उपपदादिबाधके त्वन्यार्थपरमित्यर्थः । तदिदमाह—लिङादिति । न च श्लोके पञ्चममित्युक्तेः पञ्चपदानामेव विधिलक्षणत्वं नोपासीतेत्यादीनामिति भ्रमितव्यम् । क्रियासामान्यवाचिनां कृभ्वस्तीनामुदाहरणेन सर्वधातूपरक्तलिङादीनां 'विधिलक्षणत्वस्य विवक्षितत्वात्-

विध्यर्थता मानने पर अपूर्वार्थ विहित माना जाता है, स्तुत्यर्थ मानने पर तो इसमें आनर्थक्य आ जायेगा क्योंकि विधायक शब्द के वाक्यशेषभाव को प्राप्त कराने वाली स्तुति उपयुक्त होती है। मीमांसा दर्शन में ऐसा कहा है कि 'विधि के साथ अर्थवाद वाक्य की एकवाक्यता होने के कारण विधि की स्तुतिरूप में वे उपयुक्त होते हैं।' अन्य प्रदेश में विहित उद्गीथ की प्रदेशान्तरपठित स्तुति वाक्यशेषत्व का न प्राप्त करती हुई अनर्थक ही हो जायेगी। 'इयमेव जुहूः' इत्यादि वाक्य तो विधिसन्निधि में पढ़े गये हैं, उनका उदाहरण यहाँ पर विषम माना जायेगा। अतः ऐसी श्रुतियाँ तो विधायक ही होती हैं ।।२१।।

भावशब्दाच्च (ललिता)

'उद्गीथ की उपासना करे', 'साम की उपासना करे', 'मैं उक्थ हूँ, ऐसा जाने' इत्यादि विस्पष्ट विधिशब्द सुनायी पड़ते है, यदि इनका प्रयोजन स्तुतिमात्र मानोगे तो ये व्याहृत हो जायेंगे। न्यायवित् पुरुषों का स्मरण है कि 'कुर्यात्, क्रियेत, कर्तव्यम्, भवेत् और स्यात्; ये पाँचों सभी वेदों में निश्चित विधिरूप से माने गये हैं।' इस वाक्य में लिङादि का अर्थ विधि मानने वाले विद्वान् ऐसा

१. पूर्वकाण्ड। २. उपासनाकाण्ड। ३. जोतिष्टोमादि विधि। ४. ज्ञापकत्वस्य।

४. पारिप्लवाधिकरणम् (सू० २३-२४)

पारिप्लवार्थमाख्यानं किं वा विद्यास्तुतिः स्तुतेः। ज्यायोऽनुष्ठानशेषत्व तेन पारिप्लवार्थता।
मनुर्वैवस्वतो राजेत्येवं तत्र विशेषणात्। अत्र विद्यैकवाक्यत्वभावाद्विद्यास्तुतिर्भवेत्॥

प्रतिप्रकरणं च फलानि श्राव्यन्ते—'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १-१-७), 'एष ह्येव कामागानस्येष्टे' (छा० १-७-९), 'कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' (छा० २-२-३) इत्यादीनि। तस्मादप्युपासनविधानार्था उद्गीथादिश्रुतयः॥२२॥

पञ्चमपदं तूक्तापेक्षया श्लोकपूरणार्थं मृत्युर्धावति पञ्चम इतिवत्। यद्यपि डुकृञ् करण इति धातोरेव [1]करणशब्दितभावनाख्यक्रियासामान्यवाचित्वं नेतरयोर्धात्वो र्भू सत्तायामस् भुवीत्यर्थान्तरोक्तेः। तथापि जन्माख्यभवनस्य तत्फलस्यास्तित्वस्य च प्रयोज्यनिष्ठस्य प्रयोजकव्यापारात्मकभावनाव्याप्तत्वात्तयोः क्रियासामान्यवाचित्वव्यवहारः। तत्र कुर्यादिति [2]प्रकृत्यर्थभावनाख्यातेनानूद्यते यथा द्वाविति प्रयोगे प्रकृत्यर्थो द्वित्वं प्रत्ययेनानूद्यते। तद्वल्लिङा च [3]तस्या इष्टसाधनत्वाख्यविधिर्बोध्यते। कर्ता तु तयाक्षिप्यत इत्याक्षिप्तकर्तृका भावनोदाहृता। तथा क्रियेतेत्यत्रापि प्रकृतिप्रत्ययार्थौ व्याख्यातौ। कर्मात्र प्राधान्येनाक्षिप्यत इत्याक्षिप्तकर्मिका भावनोदाहृता। आख्यातानां कर्त्रादिकारके शक्त्यभावात्कर्तृकर्मणोराक्षेप एवेति मीमांसकमतम्। कर्तव्यमिति कृत्यप्रत्ययेन कर्मकारकमुच्यते। तस्योपसर्जनत्वेन प्रकृत्या भावनोक्तेति भेदः। तथा दण्डी भवेत् भूयेत दण्डिना भवितव्यमित्युदाहर्तव्यम्। तथा स्याद्भूयेत भवितव्यमित्यस्तिधातोरप्युदाहरणं द्रष्टव्यम्। अस्तेर्भूरादेशात्। एतद्धातुत्रयोपरक्तलिङादिभिः सर्वधात्वर्थोपरक्तभावनागतेष्टसाधनत्वरूपो विधिरेक एवोच्यते। धातूनां प्रत्ययानां कर्त्रादिकारकाणां च भेदेऽपि विधिभेदो नास्तीति ज्ञापनार्थं प्रतिधातूदाहरणत्रयं दर्शितमिति सर्वमवदातम्। एवं सूत्रे भावो विधिरिति व्याख्याय चशब्दात्फलमिति व्याचष्टे—प्रतिप्रकरणं चेति। एष ऋत्विगुपासकः कामागानस्य गानेन फलसंपादनस्येष्टे समर्थ इत्यर्थः। एवमङ्गाश्रितविद्या अपि स्वतन्त्रफलाः किमु वक्तव्यमनङ्गात्मविद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति। आत्मविद्यास्वातन्त्र्ये चिन्ताया अस्याः पर्यवसानात्पादसंगतिर्बोध्या॥२२॥

स्मरण करते हैं, अतः इस वाक्य में विधि का भाव है। वैसे ही 'उद्गाथ उपासक ऋत्विज् यजमान की सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कराने वाला हो जाता है', 'यह ऋत्विग् गान के द्वारा इष्ट फल की प्राप्ति करा देता है', 'उस उपासक को ऊपर और नीचे के लोक प्राप्त हो जाते हैं' इत्यादि वाक्य प्रत्येक प्रकरण में फल बतला रहे हैं। अतः उद्गीथादि श्रुतियाँ उपासनाविधान के लिए ही हैं॥२२॥

४. पारिप्लवाधिकरण

१. सङ्गति—पहले जैसे उद्गीथादि की स्तुति की अपेक्षा से उपास्य विषय को सम्पर्क मानने में श्रेष्ठत्व कहा गया था, वैसे ही उपनिषद् में आयी हुई आख्यायिकाओं को भी विद्या की स्तुति मानने की अपेक्षा पारिप्लवशेष मानना श्रेष्ठ होगा; इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—उपनिषद् के अन्तर्गत आयी हुई आख्यायिकाओं का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—याज्ञवल्क्य की दो पत्नीयाँ थी–मैत्रेयी और कात्यायनी इत्यादि वाक्य से वेदान्त में पढ़े गये आख्यान क्या पारिप्लवार्थ हैं अथवा सन्निहित विद्या की स्तुति के लिए है ?

---

१. उभयविधभावनाख्यक्रिया। २. आर्थीभावना। ३. शाब्दीभावनायाः प्राप्ताप्राप्त विवेकन्यायेन शाब्दीभावनामनूद्य तत्रेष्टसाधनत्वाख्यविधिर्बोध्यत इत्यर्थः।

(४४८) पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥२३॥

'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च' (बृ० ४-५-१), 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम' (कौषी० ३-१), 'जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस' (छा० ४-१-१) इत्येवमादिषु वेदान्तपठितेष्वाख्यानेषु संशयः—किमिमानि पारिप्लवप्रयोगार्थान्याहोस्वित्संनिहितविद्याप्रतिपत्त्यर्थानीति। पारिप्लवार्था इमा आख्यानश्रुतयः। आख्यानसामान्यात्। आख्यानप्रयोगस्य च पारिप्लवे चोदितत्वात्। ततश्च विद्याप्रधानत्वं वेदान्तानां न स्यात्, मन्त्रवत्प्रयोगशेषत्वादिति चेत्। तन्न। कस्मात्? विशेषितत्वात्। 'पारिप्लवमाचक्षीत' इति हि प्रकृत्य

पारिप्लवार्थाः। अश्वमेधे पुत्रादिपरिवृताय राज्ञे पारिप्लवमाचक्षीतेति नानाविधाख्यानकथनात्मकः पारिप्लवप्रयोगो विहितः। तथाच वेदान्तस्थकथानामाख्यानत्वसामान्याद्विद्यासंनिधानाच्च संशयमाह—किमिति। पूर्वं स्तुत्यपेक्षया विधिर्ज्यायाननुष्ठानलाभादित्युक्तम्। तद्वैव कथानां न विद्यास्तावकत्वं पारिप्लवानुष्ठानलाभादिति पूर्वपक्षः। तत्र फलमाह—ततश्चेति। यथा देवस्य त्वा सवितुरित्यादि मन्त्रे कस्यचित्पदस्य प्रयोगसमवेतार्थतया शेषस्य प्रयोगाङ्गत्वं तथा वेदान्तस्थकथानां प्रयोगशेषत्वम्। [1]तदेकवाक्यतया सर्ववेदान्तानां कर्मशेषत्वान्न विद्याप्राधान्यमित्यर्थः। कथानां गुरुशिष्यसमाचारप्रदर्शनेन बुद्धिसौकर्यद्वारा संनिहितविद्याशेषत्वं सामर्थ्यलिङ्गादतो विद्याप्राधान्यमिति फलं मत्वा सिद्धान्तयति—तन्नेत्यादिना। अश्वमेधे प्रथमेऽहनि मनुर्वैवस्वत इति कथां[2] ब्रूयाद्द्वितीयेऽहनि यमो

४. पूर्वपक्ष—आख्यानसामान्य को देखते हुए सभी आख्यानों को पारिप्लवार्थ ही मानना चाहिए जो अनुष्ठेय विद्या के शेषरूप में माने जायेंगे।

५. सिद्धान्त—प्रथम दिन 'मनुर्वैवस्वतो राजा' द्वितीय दिन 'यमो वैवस्वतो राजा' इन विशेष आख्यानों को पारिप्लवार्थ होने के कारण कर्म का शेष मान सकते हैं, किन्तु औपनिषद आख्यानों को कर्म का शेष नहीं मान सकते। अतः सन्निहित विद्या की स्तुति के लिए ये आख्यान आये हैं, इसलिए विद्या के साथ इनकी एकवाक्यता लक्षित होती है। इससे ये विद्या के स्तावक माने जाते हैं।

पारिप्लवार्था इति चेन्न अविशेषितत्वात् (ललिता)

'मैत्रेयी और कात्यायनी नाम की दो पत्नियाँ याज्ञवल्क्य की थीं', 'दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन अपने युद्ध और पौरुष से इन्द्र के प्रियधाम में पहुँच गया', 'जानश्रुति पौत्रायण श्रद्धालु, बहुत दानी और बहुत पाकशाली था' वेदान्तपठित इन आख्यायिकाओं के विषय में सन्देह होता है कि ये पारिप्लव प्रयोग के लिए हैं अथवा सन्निहित विद्या की स्तुति के लिए हैं। इस पर पूर्वपक्षी ने इन आख्यान श्रुतियों को पारिप्लवार्थ ही माना है क्योंकि आख्यान तो सभी एक जैसे होते हैं और पारिप्लव में आख्यानप्रयोग का विधान किया गया है। ऐसी स्थिति में जैसे मन्त्र कर्म का शेष होता है, ऐसे ही ये आख्यान भी कर्म के शेष ही हैं। अतः वेदान्त में विद्या की प्रधानता नहीं है। सिद्धान्ती कहता है कि पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि 'पारिप्लवमाचक्षीत' इस अश्वमेधप्रसङ्ग में परिवारजनों से समवेत

१. स्तावकत्वेन तद्धेतूनि। २. कथा।

(४४६) तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥२४॥

'मनुर्वैवस्वतो राजा' इत्येवमादीनि कानिचिदेवाख्यानानि तत्र [1]विशेष्यन्ते । आख्यानसामान्याच्चेत्सर्वगृहीतिः स्यादनर्थकमेवेदं विशेषणं भवेत् । तस्मान्न पारिप्लवार्था एता आख्यानश्रुतयः ॥२३॥

असति च पारिप्लवार्थत्व आख्यानानां संनिहितविद्याप्रतिपादनोपयोगितैव न्याय्या । एकवाक्यतोपबन्धात् । तथा हि तत्र तत्र संनिहिताभिर्विद्याभिरेकवाक्यता दृश्यते प्ररोचनोपयोगात्प्रतिपत्तिसौकर्योपयोगाच्च । मैत्रेयीब्राह्मणे तावत्—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ०४-५-६) इत्याद्यया विद्ययैकवाक्यता दृश्यते । प्रातर्दनेऽपि 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्याद्यया । जानश्रुतिरित्यत्रापि 'वायुर्वाव संवर्गः' (छा०४-३-१) इत्याद्यया । यथा च 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' इत्येवमादीनां कर्मश्रुतिगतानामाख्यानानां संनिहितविधिस्तुत्यर्थता तद्वत् । तस्मान्न पारिप्लवार्थत्वम् ॥२४॥

वैवस्वत इति तृतीयेऽहनि वरुण आदित्य इति वाक्यशेषे कथानां विशिष्योक्तत्वादुपक्रमस्य संकोचो युक्त इति भावः ॥२३॥

क्व तर्हि कथानां विनियोग इत्याशङ्क्य संनिधानाद्विद्यास्वित्याह—तथा चेति । प्ररोचनं प्रीतिजननं स प्रजापतिर्वपामुदखिदत् होमायोद्धृतवानित्यस्य 'प्राजापत्यमजन्तुपरमालभेतेति विधिशेषत्वं एवमन्येषां तत्तद्विधिशेषत्वं द्रष्टव्यम् ॥२४॥

राजा को प्रथम दिन 'मनुर्वैवस्वतो राजा' इत्यादि कुछ कथा सुनायी जाती है, दूसरे दिन 'यमो वैवस्वतः' और तीसरे दिन 'वरुण आदित्यः' इत्यादि कुछ आख्यानविशेष ही वाक्यशेष के रूप में सुने गये हैं । यदि सभी आख्यानों को सामान्य मानोगे तो उस स्थिति में सभी वेदोक्त कथाओं का संग्रह हो जायेगा, फिर तो 'पारिप्लमाचक्षीत' इस प्रसङ्ग में जिन कथाओं की चर्चायें की गयी है, वे अनर्थक ही हो जायेंगी । अतः ये वेदान्तोक्त कथायें पारिप्लवार्थक नहीं हैं ॥२३॥

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् (ललिता)

पारिप्लवार्थ न मानने पर इन कथाओं को अपने प्रकरण में पठित विद्या के प्रतिपादन के लिए ही मानना उचित होगा क्योंकि ऐसा मानने पर एकवाक्यता हो जाती है, इसीलिए उन-उन स्थलों में कही गयी विद्या के साथ इन कथाओं की एकवाक्यता भी दीखती है । कथा के व्याज से गुरुशिष्य-संवादरूप में विद्या का उपदेश होने पर उसमें रुचि उत्पन्न होती है और बोध में सौकर्य भी आ जाता है । अतः मैत्रेयी ब्राह्मण में 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस वाक्य से विहित विद्या के साथ उस कथा की एकवाक्यता दीखती है । प्रातर्दन ब्राह्मण में भी 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इस वाक्य से विहित विद्या के साथ उस कथा की एकवाक्यता और 'जानश्रुतिः' इस प्रसङ्ग की भी 'वायुर्वाव संवर्गः' इस वाक्य से विहित संवर्ग विद्या के साथ एकवाक्यता देखी जाती है । जैसे पशुयाग की प्रशंसा के लिए 'प्रजापति ने अपनी वपा (चर्बी) का उत्खात किया था' इत्यादि कर्मश्रुतिगत आख्यानों को सन्निहित विहित पशुयाग की स्तुति के लिए मानते हैं, वैसे ही उपनिषद् में कही गयी विद्या की स्तुति के लिए तत्तद् स्थानों में आख्यायिकायें आयी हैं, इसलिए वे पारिप्लवार्थ नहीं हैं ॥२४॥

---

१. विशिष्योपदिश्यन्ते ।

(४५०) अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥२५॥

५. अग्नीन्धनाद्यधिकरणम् (सू० २५)

आत्मबोधः फले कर्मापेक्षो नो वा ह्यपेक्षते । अङ्गिनोऽङ्गेष्वपेक्षायाः प्रयाजादिषु दर्शनात् ।
अविद्यातमसोऽध्वंस्तौ दृष्टं हि ज्ञानदीपयोः । नैरपेक्ष्यं ततोऽत्रापि विद्या कर्मानपेक्षिणी ॥

'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' (ब्र० सू० ३-४-१) इत्येतद्व्यवहितमपि संमत्रावत इति परा-

---

एवमाद्याधिकरणप्रमेयं विद्यास्वातन्त्र्यमधिकरणत्रयेण दृढीकृत्याद्याधिकरणस्य फलमाह—अत एव चेति । ब्रह्मविद्या स्वफले मोक्षे जनयितव्ये सहकारित्वेन कर्माण्यपेक्षते न वेति वादिविवादात्संशये 'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजस इत्यादिश्रुत्या ज्ञानकर्मसमुच्चयेन मोक्षप्राप्तिकथनादपेक्षत इति प्राप्ते विद्याया मुक्तिहेतुत्वादविद्यानिवृत्त्याख्यमुक्तौ न कर्मापेक्षेति सिद्धान्तयति—पुरुषार्थ इति । अग्नीन्धन-पदेन तत्साध्यकर्माणि लक्ष्यन्ते । 'पुण्यकृत्तैजसः शुद्धसत्त्वो ब्रह्मविद्भूत्वा तेन वेदेनैति ब्रह्म प्राप्नोति'

---

५. अग्नीन्धनाद्यधिकरण

१. सङ्गति—औपनिषद आख्यानों को जैसे विद्या का अङ्ग कहा, वैसे ही कर्मों को भी विद्या का अङ्ग मानना चाहिए; इस प्रकार की दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—इस अधिकरण में विद्या में अग्निहोत्रादि कर्मों की आवश्यकता का विचार किया गया है।

३. संशय—क्या ब्रह्मविद्या अपना फल मोक्ष देने के लिए कर्म की अपेक्षा करती है, या नहीं करती ?

४. पूर्वपक्ष—अङ्गी को जैसे प्रयाजादि अङ्ग की अपेक्षा होती है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानरूप अङ्गी को अपने अङ्गभूत कर्मों की भी अपेक्षा होती ही है।

५. सिद्धान्त—तम का नाश करने में जैसे दीपक स्वतन्त्र है, वैसे ही अविद्या का नाश करने में ज्ञान भी स्वतन्त्र है। अतः ब्रह्मविद्या अपना फल मोक्ष देने में कर्म की अपेक्षा नहीं रखती है, उसमें वह स्वतन्त्र है।

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा (ललिता)

इस प्रकार आद्य अधिकरण के प्रतिपाद्य विषय विद्यास्वातन्त्र्य को पिछले तीन अधिकरणों द्वारा दृढ़ कर देने के बाद अब आद्य अधिकरण का फल अग्रिम सूत्र से बतलाते हैं। 'पुरुषार्थतोऽतः शब्दात्' इत्यादि सूत्र का विषय व्यवहित रहने पर भी इस सूत्र में 'अतः' शब्द से उसी का परामर्श होता है। ब्रह्मविद्या स्वतन्त्र मोक्ष का कारण होने से विद्या द्वारा मोक्षसिद्धि के लिए अग्नीन्धनादि आश्रम कर्म की अपेक्षा नहीं होती है, इस आद्य अधिकरण के फल का ही उपसंहार कुछ अधिक बात बतलाने की इच्छा से करते हैं अर्थात् मोक्ष के लिए कर्मों की अपेक्षा न रहने पर भी चित्तशुद्धि द्वारा

---

१. ज्ञानेन ब्रह्मैति । २. शुद्धसत्त्वः ।

६. सर्वापेक्षाधिकरणम् (सू० २६-२७)

(४५१) सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥२६॥

उत्पत्तावनपेक्षेयमुत कर्माण्यपेक्षते । फले यथानपेक्षैवमुत्पत्तावनपेक्षता ।
यज्ञशान्त्यादिसापेक्ष विद्याजन्म श्रुतिद्वयात् । हलेऽनपेक्षितोऽप्यश्वो रथे यद्वदपेक्ष्यते ॥

मृश्यते । अत एव च विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वादग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानीत्याद्यस्यैवाधिकरणस्य फलमुपसंहरत्यधिकविवक्षया ॥२५॥

इदमिदानीं चिन्त्यते किं विद्याया अत्यन्तमेवानपेक्षाश्रमकर्मणामुतास्ति काचिदपेक्षेति ।

इति श्रुतिर्व्याख्येयेति भावः । मुक्तावेव कर्मणामसामर्थ्यादनपेक्षा विद्यायां त्वस्ति चित्तशुद्धिद्वारा तेषामपेक्षेत्यधिकं वक्तुमयमुपसंहार इत्युपसंहारसूत्रस्य फलमाह—अधिकेति ॥२५॥

अधिकमाह—सर्वापेक्षा । यथा 'प्रमाफलत्वाद्'विद्यानिवृत्तौ कर्मानपेक्षा तथा प्रमात्वाद्विद्यायामपि 'प्रमाकरणमात्रसाध्यायां नास्ति कर्मापेक्षेति पूर्वपक्षः । तत्र विद्यार्थं कर्मानुष्ठानासिद्धिः फलं । सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः । अत्र विविदिषायामीष्यमाणज्ञाने वा यज्ञादीनां कर्मणां हेतुत्वमपूर्वत्वाद्वि'धीयते । प्रमाया अप्युत्पत्तिप्रतिबन्धकदुरितक्षयाख्यशुद्धिद्वारा कर्मसाध्यत्वसंभवात् । न च पारम्पर्ये तृतीयाश्रुतिविरोधः ज्वालाद्वारा पारम्पर्येऽपि काष्ठैः पचतीति प्रयोगात्, द्वारस्याऽव्यवधायकत्वात् । न च शुद्धेर्द्वारत्वे मानाभावः । 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः । कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते' इति स्मृतेः । 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' इत्यादि श्रुत्या कर्मणा पापनिवृत्तौ ज्ञानेन मुक्त्यभिधानाच्चेति सिद्धान्तयति—इदमिति ।

विद्या में उनकी अपेक्षा है, ऐसा कुछ अधिक अर्थ बतलाने के लिए उपसंहार सूत्र का फल बतलाते हैं ॥२५॥

६. सर्वापेक्षाधिकरण

१. सङ्गति—पहले कहा था कि जैसे ब्रह्मविद्या अपना फल मोक्ष देने में कर्मों की अपेक्षा नहीं रखती है, वैसे ही अपनी उत्पत्ति में भी ब्रह्मविद्या कर्मों की अपेक्षा नहीं रखेगी; इस प्रकार की दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—ब्रह्मविद्या के लिए यागादि कर्मों की स्थिति का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या ब्रह्मविद्या अपनी उत्पत्ति में स्वाश्रम कर्म की अपेक्षा रखती है, अथवा नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—अपने फल मोक्ष को देने में ब्रह्मविद्या जैसे कर्मनिरपेक्ष है, वैसे ही अपनी उत्पत्ति में भी वह कर्मनिरपेक्ष ही है।

५. सिद्धान्त—ब्रह्मविद्या अपनी उत्पत्ति में यागादि बाह्यकर्म और शम-दमादि आभ्यन्तर कर्म की अपेक्षा रखती है, क्योंकि श्रुति और स्मृति इनमें प्रमाण है। हल खींचने में अश्व की अपेक्षा नहीं भी हो, किन्तु रथ खींचने में उसकी अपेक्षा होती ही है; वैसे ही ब्रह्मविद्या अपना फल देने में भले ही कर्मनिरपेक्ष हो, किन्तु अपनी उत्पत्ति में यागादि कर्मों की और शमादि साधनों की भी अपेक्षा रखती ही है।

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् (ललिता)

पूर्वोक्त अधिक अर्थ अग्रिम सूत्र से कहते हैं कि अब यह विचार किया जाता है कि क्या विद्या

---

१. सम्यक्ज्ञान । २. तदात्मके फले । ३. साकारणमहावाक्यमात्रसाध्यतत्त्वज्ञाने । ४. विविदिषावाक्येनेति शेषः ।

तत्रात एवाग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्याया स्वार्थसिद्धौ नापेक्ष्यन्त एवमत्यन्तमेवान-
पेक्षयां प्राप्तायामिदमुच्यते सर्वापेक्षा चेति । अपेक्षते च विद्या सर्वाण्याश्रमकर्माणि
नात्यन्तमनपेक्षैव ।

ननु विरुद्धमिदं वचनमपेक्षते चाश्रमकर्माणि विद्या नापेक्षते चेति । नेति ब्रूमः ।
उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किंचिदन्यदपेक्षते उत्पत्तिं प्रति त्वपेक्षते । कुतः ?—
यज्ञादिश्रुतेः । तथाहि श्रुतिः—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा-
ऽनाशकेन'(बृ० ४-४-२२) इति यज्ञादीनां विद्यासाधनभावं दर्शयति । विविदिषासंयोगाच्चै-
षामुत्पत्तिसाधनभावोऽवसीयते । 'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्' (छा० ८-५-१)
इत्यत्र च विद्यासाधनभूतस्य ब्रह्मचर्यस्य यज्ञादिभिः संस्तवाद्यज्ञादीनामपि हि साधनभावः
सूच्यते । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं
चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि' (कठ० २-१५) इत्येवमाद्या च श्रुतिराश्रमकर्मणां
विद्यासाधनभावं सूचयति । स्मृतिरपि—'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः ।

नन्वत्र विविदिषन्तीति पञ्चमलकारेण विविदिषां भावयेयुरिति सनर्थेच्छैव भाव्यतया भाति ।
तां 'विषयसौन्दर्यलभ्यतयोल्लङ्घ्य वेदनं चेद्भाव्यमुच्यते तर्हि वेदनमप्युल्लङ्घ्य तत्फलं मोक्ष एव
कर्मभिर्भाव्यः किं न स्यादित्यत आह—विविदिषासंयोगाच्चेति । इष्यमाणतया विद्यायाः शब्दतः फलत्व-
भानादश्रुतमोक्षो न फलमन्यथा काष्ठैः पचतीत्यत्रापि काष्ठानां पाकफलतृप्तिहेतुत्वप्रसङ्गादिति
भावः । कर्मणां ज्ञानार्थत्वे लिङ्गवाक्यान्याह—अथेत्यादिना । कश्चिद्वेदभागः साक्षाद्ब्रह्माख्यं पदं
ब्रूते । कश्चित्तु ज्ञानार्थकर्मद्वारेति मत्वा सर्वे वेदान्ता इत्युक्तम् । स्पष्टमन्यत् ॥२६॥

को आश्रम कर्मों की सर्वथा अपेक्षा नहीं है अथवा कुछ अपेक्षा है । पूर्वोक्त सूत्र से अग्नीन्धनादि
आश्रम कर्मों की अपेक्षा विद्या को स्वार्थसिद्धि के लिए सर्वथा नहीं है, इस प्रकार अत्यन्त अनपेक्षा
प्राप्त होने पर यह सूत्र कहते है कि विद्या सभी आश्रम कर्मों की अपेक्षा रखती है, अर्थात् विद्या को
आश्रम कर्मों की अत्यन्त अनपेक्षा नहीं है ।

शङ्का—पहले कहा गया था कि विद्या आश्रम कर्मों की अपेक्षा नहीं रखती है, अब विद्या आश्रम
कर्मों की अपेक्षा रखती है, यह कथन परस्पर विरुद्ध है । समाधान—हम ऐसा नहीं कहते हैं । हम तो
कहते हैं कि उत्पन्न विद्या फलसिद्धि के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखती है, किन्तु उत्पत्ति के
लिए तो अपेक्षा रखती ही है क्योंकि 'उस आत्मा को ब्रह्मजिज्ञासु ब्राह्मण वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप
और उपवास के द्वारा जानना चाहते है' यह श्रुति यज्ञादि को विद्या का साधन बतलाती है । विविदिषा
के साथ सम्बन्ध होने के कारण यज्ञादि में विद्या उत्पत्ति के प्रति साधनत्व निश्चित हो जाता
है । 'जिसे यज्ञ इस नाम से कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही तो है' इस श्रुति में विद्यासाधनरूप ब्रह्मचर्य में
यज्ञादि के द्वारा संस्तवन दिखलाते हुए यज्ञादि में भी विद्यासाधनत्व सूचित हो रहा है । ऐसे ही
'साक्षात् या परम्परा से सभी वेद जिस पद को बतलाते हैं, सभी तप जिसे कहते हैं और जिसकी
प्राप्ति की इच्छा रखने वाले कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद को मैं संक्षेप में कहता हूँ,
वह है ॐ' इत्यादि श्रुति भी आश्रम कर्म को विद्या का साधन सूचित करती है । 'कर्म कषायपाक में

१. शब्दसौन्दर्यः ।

(४५२) शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥२७॥

कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते' इत्येवमाद्या । अश्ववदिति योग्यतानिदर्शनम् । यथा च योग्यतावशेनाश्वो न लाङ्गलाकर्षणे युज्यते रथचर्यायां तु युज्यते । एवमाश्रमकर्माणि विद्यया फलसिद्धौ नापेक्ष्यन्त उत्पत्तौ चापेक्ष्यन्त इति ॥२६॥

यदि कश्चिन्मन्येत यज्ञादीनां विद्यासाधनभावो न न्याय्यो विध्यभावात् । 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्येवंजातीयका हि श्रुतिरनुवादस्वरूपा विद्याभिष्टवपरा । न यज्ञादिविधिपरा । इत्थं महाभागा विद्या यद्यज्ञादिभिरेवैतामवाप्तुमिच्छन्तीति । तथापि तु शमदमाद्युपेतः स्याद्विद्यार्थी 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' (बृ० ४-४-२३) इति विद्यासाधनत्वेन शमदमादीनां विधानाद्विहितानां चावश्यानुष्ठेयत्वात् ।

एवं विद्योत्पत्तौ बहिरङ्गाणि कर्माण्युक्त्वान्तरङ्गाण्याह—शमेति । विद्यास्तुत्यर्थत्वेनैकवाक्यत्वसंभवे वर्तमानोक्तिभङ्गेन विधिकल्पनमयुक्तं विद्यावाक्याद्भेदप्रसङ्गात् । अतस्तत्त्वमसीति शब्दमात्रलभ्या विद्येति पराभिप्रायमनूद्याङ्गीकरोति—तथापि त्विति । शमादेरावश्यकत्वान्न शब्दमात्रलभ्या विद्येत्यर्थः ।

हेतु है, पर ज्ञान परमगति का साधन है । इसलिए सत्कर्मानुष्ठान के द्वारा पाप के धुले जाने पर ज्ञान प्रवृत्त होता है ।' इत्यादि स्मृति भी इसी बात को कह रही है । 'अश्ववत्' इस पद के द्वारा श्रुति में योग्यता बतलायी गयी है । जैसे योग्यता के कारण घोड़ा हल खींचने में नहीं लगाया जाता किन्तु रथ खींचने में लगाया जाता है, ऐसे ही विद्या से फलप्राप्ति में आश्रम कर्म की अपेक्षा नहीं होती किन्तु विद्या की उत्पत्ति में उनकी अपेक्षा रहती है ॥२६॥

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् (ललिता)

यदि कोई मानता हो कि इस वाक्य में विधि न रहने के कारण यज्ञादि को विद्या का साधन मानना उचित नहीं है, अतः 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुति अनुवादस्वरूपा है, जो केवल विद्या की स्तुति कर रही है, यज्ञादि की विधायिका नहीं है, जिसका तात्पर्य होना है कि यह ब्रह्मविद्या इतनी भाग्यशालिनी है, जिसे यज्ञादि साधनों के द्वारा साधक प्राप्त करना चाहते हैं ? फिर भी शमदमादि साधनों से युक्त तो विद्यार्थी को होना ही चाहिए, इसीलिए 'ऐसा विवेकशील व्यक्ति शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु एवं समाहित होकर अपने अन्तःकरण में ही आत्मा को देखता है' इस वाक्य से शमदमादि को विद्या के साधनरूप से बतलाया गया है और विहित साधन अवश्य अनुष्ठेय होते हैं ।

---

१. श्रद्धावित्तोभूत्वेति माध्यन्दिनानां पाठः २. तत्त्वमसीत्यादि ।

नन्वत्रापि शमाद्युपेतो भूत्वा पश्यतीति वर्तमानापदेश उपलभ्यते न विधिः। नेति ब्रूमः। तस्मादिति प्रकृतप्रशंसापरिग्रहाद्विधित्वप्रतीतेः। पश्येदिति च माध्यंदिना विस्पष्टमेव विधिमधीयते। तस्माद्यज्ञाद्यनपेक्षायामपि शमादीन्यपेक्षितव्यानि। यज्ञादीन्यपि त्वपेक्षितव्यानीति यज्ञादिश्रुतेरेव। ननूक्तं 'यज्ञादिभिर्विविदिषन्ती'त्यत्र न विधिरुपलभ्यत इति। सत्यमुक्तं तथापि त्वपूर्वत्वात् संयोगस्य विधिः परिकल्प्यते। न ह्ययं यज्ञादीनां विविदिषासंयोगः पूर्वं प्राप्तो येनानूद्येत। 'तस्मात्पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' इत्येवमादिष्वश्रुतविधिकेष्वपि वाक्येष्वपूर्वत्वाद्विधिं परिकल्प्य पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेतेत्यादि-

यस्मादेवंविन्न लिप्यते कर्मणा पापकेन तस्मादेव विद्यार्थी शमाद्युपेतो भूत्वा विचारयेदिति विधिर्गम्यत इत्याह—नेति ब्रूम इति। अत्रोपरतपदेन संन्यास उक्तस्तस्य श्रवणाङ्गत्वमते शमादिविशिष्टश्रवणमत्र विधीयते। यदि तु 'लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति', 'ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेत्' इत्यादि श्रुतिस्मृतिषु फलवत्त्वेनोत्पन्नसंन्यासस्याङ्गत्वायोगात्, श्रोतव्य इति विहितश्रवणानुवादेनानेकशमादिविधाने वाक्यभेदापातात्, पश्येदिति च प्रकृत्या श्रवणलक्षणादोषाच्च संन्यासो न श्रवणस्याङ्गं किंतु ततः प्रागनुष्ठेयत्वेऽपि श्रवणवज्ज्ञानार्थ इति मतं तदा शमादिसमुच्चयेन ज्ञानं भावयेदिति ज्ञानार्थं शमादिसमुच्चयविधिरित्यनवद्यम्। यः पूर्वं यज्ञादिश्रुतेः स्तुत्यर्थत्वाङ्गीकारः आपाततो गुडजिह्विकान्यायेन शमादिस्वीकारार्थं कृतस्तमिदानीं त्यजति—यज्ञादीन्यपीति। यज्ञादीनां विद्यासाधनत्वरूपसंयोगस्यापूर्वत्वादवान्तरवाक्यभेदेन विधिः स्वीक्रियते। ब्रह्मविद्यावाक्येन महावाक्यैकवाक्यता चेत्यर्थः। परमप्रकरणेऽप्यवान्तरविधिरित्यत्र पूर्वतन्त्रसंमतिमाह—तस्मात्पूषेति। दर्शपूर्णमासप्रकरणे श्रुतं पूषा प्रपिष्टभाग इति। तत्र पूषा देवता पिष्टभागो वा दर्शपूर्णमासयोर्नास्ति। अतः समासात्प्रतीतस्य कालत्रयानवमृष्टस्य द्रव्यदेवतासंबन्धस्याविनाभावेन यागविध्युपस्थापकत्वात् प्रयोगज्ञानाय विधिपदमध्याहृत्य प्रकरणादुत्कर्षेण पूषोद्देशेन पिष्टभागः कर्तव्य इति विकृतौ संबन्धः। 'पौष्णं पेषणमिति

शङ्का—यहाँ पर शमादि से युक्त साधक देखता है, ऐसा वर्तमान लट् लकार का प्रयोग दीखता है, विधि नहीं दीखती है। समाधान—ऐसा कहना हम ठीक नहीं मानते क्योंकि 'तस्मात्' यह पद प्रकृत विद्या की प्रशंसा के लिए है, अतः इसमें विधित्व प्रतीत होता है। माध्यंदिन शाखावालों ने तो 'पश्येत्' इस पद में विस्पष्ट विधि का पाठ किया है। अतः विद्या की उत्पत्ति में चाहे यज्ञादि की अपेक्षा नहीं भी हो, फिर भी शमादि साधनों की अपेक्षा तो है ही। सत्य पूछो तो यज्ञादि श्रुति से ही यज्ञादि साधनों की भी अपेक्षा माननी चाहिए। शङ्का—'यज्ञादिभिर्विविदिषन्ति' इस वाक्य में विधि नहीं दीखती है, ऐसा हम कह आये हैं। समाधान—कहा तो ठीक है किन्तु अपूर्व होने के कारण संयोग में विधि की कल्पना की जाती है क्योंकि यज्ञादि का विविदिषा के साथ इससे पूर्व सम्बन्ध प्राप्त नहीं है, जिससे कि इस वाक्य द्वारा उसका अनुवाद किया जाय। दर्शपूर्णमास प्रकरण में 'तस्मात् पूषा' इत्यादि सुना गया है अर्थात् 'पूषादेव प्रपिष्ट द्रव्य (सत्तू) का भागीदार है क्योंकि वह बिना दाँत का है' ऐसे वाक्य में जिसमें विधि नहीं सुनी गयी है, उन वाक्यों में भी अपूर्व होने के कारण विधि की कल्पनाकर विकृति याग में पूषा देवता के लिए सत्तू की प्रतीति होती है, ऐसा

१. विविदिषया सह यज्ञादिसंयोगस्य। २. श्रवणात्। ३. संन्यासस्य ४. संन्यासः। ५. तत्रमतीत्यादिना।
६. पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेतेता चोदनात्प्रकृतौ (जै० सू० ३-३-३४)।

७. सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् (सू० २८-३०)

सर्वाशनविधिः प्राणविदोऽनुज्ञायवापदि । अपूर्वत्वेन सर्वान्नभुक्तिर्यातुर्विधीयते ।
आद्यन्नभोजनाशक्तेः शास्त्राच्चाभोज्यवारणम् । आपदि प्राणरक्षार्थमेवानुज्ञायतेऽखिलम् ॥

विचारः प्रथमे तन्त्रे प्रवर्तितः। तथा चोक्तम् 'विधिर्वा धारणवत्'(ब्र० सू० ३-४-२०) इति। स्मृतिष्वपि भगवद्गीताद्यास्वनभिसंधाय फलमनुष्ठितानि यज्ञादीनि मुमुक्षोर्ज्ञानसाधनानि भवन्तीति प्रपञ्चितम् । तस्माद्यज्ञादीनि शमदमादीनि च यथाश्रमं सर्वाण्येवाश्रमकर्माणि विद्योत्पत्तावपेक्षितव्यानि । तत्राप्येवंविदिति विद्यासंयोगात्प्रत्यासन्नानि विद्यासाधनानि शमादीनि विविदिषासंयोगात्तु [1]बाह्यतराणि यज्ञादीनीति विवेक्तव्यम् ॥२७॥

सूत्रे विचारितमित्यर्थः । 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्याद्याः स्मृतयः । कर्मणां ज्ञानहेतुत्वे शमादिवद्यावज्ज्ञानोदयमनुवृत्तिः स्यात्तथा च संन्यासाभाव इत्यत आह—तत्रापीति । दृष्टविक्षेपनिवृत्तिद्वारा शमादीनां ज्ञानार्थत्वादनुवृत्तिर्न कर्मणामदृष्टद्वारा ज्ञानार्थत्वादिति भावः ॥२७॥

पूर्वमीमांसा में कहा गया है। और **'विधिर्वा धारणवत्'** इस सूत्र में सूत्रकार ने भी ऐसे स्थल पर विधि स्वीकार की है। भगवद्गीतादि स्मृतियों में भी फल को इच्छा न रखकर मुमुक्षु द्वारा अनुष्ठित यज्ञादि ज्ञान के साधन हो जाते हैं, ऐसा विस्तार से कहा गया है। अतः आश्रमानुसार यज्ञादि और शमदमादि सभी आश्रम कर्म विद्या की उत्पत्ति में अपेक्षित हैं। वहाँ पर भी **'एवंवित्'** ऐसा शब्द होने से विद्या के साथ सम्बन्ध रखने के कारण उसके निकटवर्ती शमादि साधन विद्या के लिए हैं और विविदिषा के साथ सम्बन्ध रखने के कारण यज्ञादि बाह्य साधन विद्या के प्रति उपकारक हैं अर्थात् विद्या की उत्पत्ति में शमादि अन्तरङ्ग साधन है और विविदिषा के साथ सम्बन्ध रखने के कारण यज्ञादि बहिरङ्ग साधन है, ऐसा विवेक कर लेना चाहिए ॥२७॥

७. सर्वान्नानुमत्यधिकरण

१. **सङ्गति**—पहले जैसे **'विविदिषन्ति'** इस वर्तमान क्रिया में भी पञ्चम लकार की कल्पनाकर विधि मानी गयी थी, वैसे ही 'इस प्राणोपासक के लिए कुछ भी अभक्ष्य नहीं है' इस वर्तमान लकार में अपूर्वता को देखते हुए क्यों नहीं विधि की कल्पना की जाय, ऐसी आक्षेप सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. **विषय**—इस अधिकरण में प्राणोपासक के लिए भक्ष्याभक्ष्य का विचार किया गया है।

३. **संशय**—विद्या के अङ्गरूप में जैसे शमदमादि विहित है, क्या वैसे ही प्राण उपासक के लिए सर्वान्नभक्षण का विधान है अथवा वैसा वाक्य स्तुत्यर्थ है ?

४. **पूर्वपक्ष**—आपत्तिकाल में अपूर्वरूप से प्राण उपासक के लिए सर्वान्नभक्षण का विधान ही है।

५. **सिद्धान्त**—विधायक शब्द का अभाव होने के कारण प्राणोपासक के लिए सर्वान्नभक्षण की अनुज्ञा नहीं है और न मनुष्य के लिए श्वादि अन्नभक्षण सम्भव ही है। शास्त्र ने तो अभक्ष्यभक्षण का निषेध भी किया है। आपत्तिकाल में प्राणरक्षा के लिए तो सभी को जैसा तैसा अन्न खाने की अनुज्ञा दे दी है, उससे प्राणोपासक के लिए सर्वान्नभक्षण कि विधि नहीं मान सकते।

---

१. बाह्यानीतराणीति पाठान्तरम् ।

(४५३) सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥२८॥

प्राणसंवादे श्रूयते छन्दोगानाम्—'न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति' (छा० ५-२-१) इति। तथा वाजसनेयिनाम्—'न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतम्' (बृ० ६-१-१४) इति। सर्वमेवास्यादनीयमेव भवतीत्यर्थः। किमिदं सर्वान्नानुज्ञानं शमादिवद्विद्याङ्गं विधीयत उत स्तुत्यर्थं संकीर्त्यत इति संशये विधिरिति तावत्प्राप्तम्। तथाहि—प्रवृत्तिविशेषकर उपदेशो भवत्यतः प्राणविद्यासंनिधानात्तदङ्गत्वेनेयं नियमनिवृत्तिरुपदिश्यते। नन्वेवं सति भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रव्याघातः स्यात्। नैष दोषः। सामान्यविशेषभावाद्बाधोपपत्तेः। यथा प्राणिहिंसाप्रतिषेधस्य पशुसंज्ञपनविधिना बाधः। यथा च 'न कांचन परिहरेत्तद्व्रतम्' (छा० २-१३-२) इत्यनेन वामदेव्यविद्याविषयेण सर्वस्त्र्यपरिहारवचनेन तत्सामान्यविषयं गम्यागम्यविभागशास्त्रं बाध्यते, एवमनेनापि प्राणविद्याविषयेण सर्वान्नभक्षणवचनेन भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रं बाध्येतेति।

सर्वान्नानुमतिः। एवंविदि प्राणस्यान्नं सर्वमिति ध्यानवतीत्यर्थः। जग्धं भक्षितम्। 'अपूर्वत्वाद्विध्यश्रुतेश्च संशयः। अपूर्वत्वाद्यज्ञादिवद्विधिः कल्प्य इति पूर्वपक्षयति—विधिरिति। अत्र भक्ष्याभक्ष्यनियमत्यागस्य विद्याङ्गत्वसिद्धिः फलं सिद्धान्ते तु विद्यास्तुतिरिति विवेकः। न कलञ्जं भक्षयेदिति शास्त्रं प्राणविद्व्यतिरिक्तविषयम्।

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् (ललिता)

'प्राण के सभी अन्न हैं, ऐसा ध्यान करने वालों के लिए कुछ भी अभक्ष्य नहीं है' ऐसा छन्दोग शाखावालों के प्राणसंवाद में सुना जाता है। वैसे ही वाजसनेयि शाखावालों के प्राणसंवाद में भी सुना जाता है कि 'प्राण उपासक के द्वारा खाया गया कुछ भी अनन्न नहीं है, उसके द्वारा प्रतिगृहीत अभक्ष्य भी भक्ष्य ही है'—इन वाक्यों द्वारा प्राण उपासक के लिए सब कुछ भक्ष्य ही जान पड़ता है। यहाँ पर संशय होता है कि जैसे विद्या के अङ्गरूप से शमादि साधन का विधान किया गया है, ऐसे ही सर्वान्नभक्षण की अनुज्ञा का विधान है अथवा प्राण उपासना की स्तुति की गयी है। इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि उक्त वाक्य द्वारा सर्वान्नभक्षण का विधान ही है, क्योंकि उपदेश प्रवृत्तिविशेष का कारण होता है। अतः प्राणविद्या की सन्निधि में उसके अङ्गरूप से नियमवृत्ति का उपदेश यह श्रुति कर रही है। शङ्का—इस प्रकार मानने पर भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्र का व्याघात होने लग जायेगा। समाधान—यह दोष देना ठीक नहीं। सामान्यविशेषरूप से बाध सिद्ध हो जायेगा। जैसे 'किसी प्राणी की हिंसा न करे' इस निषेधशास्त्र का 'अग्निसोमीय पशु का आलभन करे' इस वाक्य द्वारा पशुसंज्ञपन विधि से बाध हो जाता है। और जैसे 'समागमार्थी आयी हुई किसी स्त्री का परित्याग न करे' इस वाक्य द्वारा वामदेवविद्या के विषय सभी स्त्रियों के अपरिहारवचन से गम्यागम्यविभागविषयक सामान्यशास्त्र का बाध हो जाता है। ऐसे ही प्राणविद्यासम्बन्धी सर्वान्नभक्षण बतलाने वाले इस वाक्य से भी भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्र बाधित हो जायेगा।

---

१. विधिः। २. भक्ष्याभक्ष्यनियमनिवृत्तिः। ३. इतरप्रमाणैरज्ञातत्वात्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नेदं सर्वान्नानुज्ञानं विधीयत इति। न ह्यत्र विधायकः शब्द उपलभ्यते 'न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति' (छा० ५-२-१) इति वर्तमानापदेशात्। न चासत्यामपि विधिप्रतीतौ [1]प्रवृत्तिविशेषकरत्वलोभेनैव विधिरभ्युपगन्तुं शक्यते। अपिच श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमित्युक्त्वेदमुच्यते 'नैवंविदः किंचिदनन्नं भवति' इति। नच श्वादिमर्यादमन्नं मानुषेण देहेनोपभोक्तुं शक्यते। शक्यते तु प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति विचिन्तयितुम्। तस्मात्प्राणान्न[2]विज्ञानप्रशंसार्थोऽयमर्थवादो न सर्वान्नानुज्ञानविधिः। तद्दर्शयति 'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये' इति। एतदुक्तं भवति—प्राणात्यय एव हि परस्यामापदि सर्वमन्नमदनीयत्वेनाभ्यनुज्ञायते तद्दर्शनात्। तथाहि श्रुतिश्चाक्रायणस्यर्षेः कष्टायामवस्थायामभक्ष्यभक्षणे प्रवृत्तिं दर्शयति—'मटचीहतेषु कुरुषु' (छा० १-१०-१) इत्यस्मिन्ब्राह्मणे। 'चाक्रायणः किलर्षिरापद्गत इभ्येन सामिखादितान्कुल्माषांश्चखाद।

यथा [3]ग्राम्यकर्मणि वामदेव्यसामोपासकव्यतिरिक्तविषयं परस्त्रीनिषेधशास्त्रं तद्वदिति प्राप्ते सिद्धान्तं सूत्राद्बहिरेव दर्शयति—नेदमिति। प्राणविद्याविधिसंनिधेरशक्यत्वाच्च स्तुतिरेव न विधिः कल्प्यः। निषेधशास्त्रविरोधात् क्लृप्तो हि विधिः सामान्यशास्त्रबाधको नतु कल्प्य इति भावः। स्वस्थस्य प्राणविदो न सर्वान्नानुमतिरित्यत्र लिङ्गं वदन् सूत्रं योजयति—तद्दर्शयतीति। मटच्यो रक्तक्षुद्रपक्षिणस्तैर्हतेषु कुरुदेशस्थसस्येषु दुर्भिक्षे जाते बालया सह जायया मुनिर्देशान्तरं गच्छन्निभ्यग्रामे स्थितवान्निभ्यो हस्तिपालकस्तेन सामिखादितानर्धभक्षितान् कुत्सितमाषान् याचयित्वा भक्षितवान्। इभ्येन जलं गृहाणेत्युक्ते सत्युच्छिष्टं मे पीतं स्यादिति प्रतिषिध्य माषाः किं नोच्छिष्टा इतीभ्येनोक्ते सति माषभक्षणे जलत्यागे च कारणमुवाच। अन्नांशे मम आपदस्ति। जलपानं तु स्वेच्छातस्तडागादौ लभ्यत इति माषान् खादित्वावशिष्टाञ्जायायै दत्तवान्। सा चानापगता पत्युरापदं ज्ञात्वा माषान्संरक्ष्य प्रातस्तस्मै ददौ। स च तान् खादित्वा राज्ञो यज्ञं गत्वा प्रस्तोत्रादीनाक्षिप्य प्राणादिकां

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि यह सर्वान्नभक्षण अनुज्ञा का विधान नहीं है क्योंकि यहाँ पर विधायक कोई शब्द नहीं दीखता, केवल 'न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति' इस वाक्य में वर्तमान उपदेश ही तो है। विधि की प्रतीति न होने पर भी प्रवृत्तिविशेष कराने के लोभ से विधि नहीं मान सकते हो। साथ ही कुत्ते आदि तक प्राण के अन्न हैं, ऐसा कहने के बाद यह कहा गया है कि 'ऐसे उपासक का कुछ भी अनन्न नहीं है।' ऐसी स्थिति में कुत्तेपर्यन्त प्राणी के अन्न मनुष्य-शरीर से नहीं खा सकते। हाँ, प्राण का यह सब अन्न है, ऐसा चिन्तन तो कर सकते हैं। अतः प्राणान्न-विज्ञान की प्रशंसा के लिए यह अर्थवाद है, सर्वान्नभक्षण की अनुमति का विधायक नहीं है। ऐसा ही श्रुति कहती भी है कि 'प्राण संकट में आने पर सर्वान्नभक्षण की अनुमति दी गयी है' अर्थात् किसी बड़ी आपत्ति के आने पर प्राण संकट में पड़ गया हो तो भक्ष्यरूप से सभी अन्न खाने की अनुज्ञा देखी जाती है। चाक्रायण ऋषि को कष्टावस्था में अभक्ष्यभक्षण में प्रवृत्त होते श्रुति में देखते हैं—टिड्डीदल से आहत कुरुक्षेत्र' इत्यादि ब्राह्मण में उषस्त चाक्रायण ऋषि जब संकट में पड़ गया था

१. अनुष्ठानविशेषलाभलोभेन। २. उपासन। ३. मैथुनकर्मणि।

(४५४) अबाधाच्च ॥२९॥

(४५५) अपिच स्मर्यते ॥३०॥

अनुपानं तु तदीयमुच्छिष्टदोषात्प्रत्याचचक्षे, कारणं चात्रोवाच 'न वा अजीविष्यमिमानखादन्' (छा० १-१०-४) इति, 'कामो म उदपानम्' (छा० १-१०-४) इति च। पुनश्चोत्तरेद्युस्तानेव स्वपरोच्छिष्टान्पर्युषितान्कुल्माषान्भक्षयांबभूवेति। तदेतदुच्छिष्टोच्छिष्टपर्युषितभक्षणं दर्शयन्त्याः श्रुतेराशयातिशयो लक्ष्यते प्राणात्ययप्रसङ्गे प्राणसंधारणायाभक्ष्यमपि भक्षयितव्यमिति। स्वस्थावस्थायां तु तन्न कर्तव्यं विद्यावतापीत्यनुपानप्रत्याख्यानाद्गम्यते। तस्मादर्थवादो 'न ह वा एवंविदि' (छ० ५-२-१) इत्येवमादिः ॥२८॥

एवंच सत्याहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरित्येवमादि भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रमबाधितं भविष्यति ॥२९॥

अपि चापदि सर्वान्नभक्षणमपि स्मर्यते विदुषोऽविदुषश्चाविशेषण—'जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' इति। तथा 'मद्यं नित्यं

प्रास्तावादिदेवतामुपदिश्य धनं प्राप्य स्थित इति भावः। अत्रोच्छिष्टभक्षणजलत्यागात्मकशिष्टाचारलिङ्गाच्छ्रौतादनापदि विदुषाप्यभक्ष्यं न भक्षणीयमिति सूच्यत इति भावः ॥२८॥ ॥२९॥

सुरापानेनापि जीवमाशङ्क्य कदापि तन्न कार्यमित्याह—तथा मद्यं नित्यं ब्राह्मण इति। वर्जयेत्-

---

तब उसने महावत के आधे खाये हुए कुत्सित उड़द को खाया, पर उसका जल नहीं पिया, उच्छिष्ट होने के कारण जल का परित्याग कर दिया। जब महावत ने कारण पूछा कि जल क्यों नहीं पीते हो तो उषस्त ऋषि ने कहा कि 'इन उड़दों को मैं नहीं खाता तो मर जाता, पर जल तो मुझे यथेच्छ प्राप्त है।' पुनः दूसरे दिन महाबत के एवं अपने जूठे बासी उड़द को ऋषि ने खाया। इस प्रकार परोच्छिष्ट, स्वोच्छिष्ट और बासी उड़द का भक्षण बतलाने वाली श्रुति का ऐसा कुछ गम्भीर आशय लक्षित होता है कि प्राण के संकट का प्रसङ्ग आने पर प्राणरक्षा के लिए अभक्ष्य भी भक्षण किया जा सकता है। किन्तु स्वस्थावस्था में उपासक को भी वैसा नहीं करना चाहिए, ऐसा उक्त जलपान के निषेध से अवगत होता है। अतः 'न ह वा एवंविदि' यह वाक्य अर्थवाद है ॥२८॥

अबाधाच्च (ललिता)

ऐसा मानने पर 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि' इत्यादि भक्ष्याभक्ष्यविभाजक शास्त्र बाधित नहीं होता ॥२९॥

अपि च स्मर्यते (ललिता)

इसके अतिरिक्त आपत्तिकाल में उपासक और अनुपासक सभी के लिए सामान्यरूप से 'जीवन के संकट में आया हुआ पुरुष जहाँ कहीं से प्राप्त अन्न को खाता है, वह पाप से वैसे ही लिप्त नहीं होता जैसे जल से कमलपत्र लिप्त नहीं होता' इस स्मृतिवाक्य से कहा गया है। किन्तु ब्राह्मण के लिए मद्यपान का सर्वथा निषेध है। मदिरा पीनेवाले ब्राह्मण के ऊपर गरम-गरम मदिरा छिड़कने

८. आश्रमकर्माधिकरणम् (सू० ३२-३५)

(४४६) शब्दश्चातोऽकामकारे ।।३१।।

विद्यार्थमाश्रमार्थं च द्विःप्रयोगोऽथवा सकृत् । प्रयोजनविभेदेन प्रयोगोऽपि विभिद्यते ।
श्राद्धार्थभुक्त्या तृप्तिः स्याद्विद्यार्थेनाश्रमस्तथा । अनित्यनित्यसंयोग उक्तिभ्यां स्यादिरेमतः ।।

ब्राह्मणः', 'सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिञ्चेयुः', 'सुरापाः कृमयो भवन्त्यभक्ष्यभक्षणात्' इति च स्मर्यते वर्जनमनन्नस्य ।।३०।।

शब्दश्चानन्नस्य प्रतिषेधकः कामकारनिवृत्तिप्रयोजनः काठकानां संहितायां श्रूयते—'तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्' इति । 'सोऽपि 'न ह वा एवंविदि' (छा० ५-२-१) इत्यस्यार्थवादत्वादुपपन्नतरो भवति । तस्मादेवंजातीयका अर्थवादा न विधय इति ।।३१।।

इति शेषः । कुत इत्याशङ्क्य मरणान्तप्रायश्चित्तविधानादित्याह—सुरापस्येति । उष्णामतितप्तां सुरामिति शेषः । इतश्च सा न पेयेत्याह—सुरापा इति ।।३०।।

उदाहृतस्मृतीनां मूलश्रुतिमाह—शब्दश्चेति । कामकारो यथेष्टप्रवृत्तिः सोऽपि निषेधोऽपि उपपन्नतरो भवति । न ह वा एवंविदीत्यस्यार्थवादत्वात् । यद्ययमपि विधिः स्यात्तर्हि विहितप्रतिषिद्धत्वात्षोडशिग्रहणाग्रहणवत्सुरापाने विकल्पः स्यात्स च सर्वस्मृतिभिः शिष्टाचारेण च विरुद्ध इति तात्पर्यार्थः ।।३१।।

के लिए कहा गया है । मद्यपी एवं अभक्ष्यभक्षण करने वाले ब्राह्मण मरने पर कीड़े बनते हैं' ऐसा अभक्ष्य का वर्जन भी स्मृति शास्त्र में किया गया है ।।३०।।

शब्दश्चातोऽकामकारे (ललिता)

अभक्ष्य का निषेधक, यथेच्छाचार का निवर्तक शब्द कठों की संहिता में सुना जाता है—'इसलिए ब्राह्मण मदिरापान न करे' इत्यादि । वह भी 'न ह वा एवंविदि' इस वाक्य में अर्थवाद होने के कारण युक्तियुक्त हो जाता है। इसलिए ऐसे श्रुतिवाक्य केवल अर्थवाद हैं, विधि नहीं हैं ।।३१।।

८ आश्रमकर्माधिकरण

१. **सङ्गति**—जिस प्रकार शास्त्रान्तर के साथ विरोध आने के कारण सर्वान्नत्ववचन स्तुति के लिए है, वैसे ही **'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति'** इस नित्यत्वश्रुति के साथ विरोध आने के कारण यागादि को विद्या का साधन बतलाने वाला वचन भी स्तावकमात्र है; इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसको दृष्टान्त सङ्गति है ।

२. **विषय**—आश्रमकर्मों की स्थिति का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—विविदिषावाक्य में यज्ञादि आश्रमकर्म का विधान विद्या के लिए है अथवा आश्रमधर्मपालन के लिए है ?

४. **पूर्वपक्ष**—विविदिषावाक्य द्वारा विहित यागादि कर्मों का अनुष्ठान दो बार करने से आश्रमधर्म की रक्षा और विद्या की प्राप्ति, दोनों ही हो जायेगी ।

---

१. श्रौतनिषेधोपि ।

(४५७) विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥३२॥

'सर्वापेक्षा च—' (ब्र० सू० ३-४-२६) इत्यत्राश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वमवधारितम्। इदानीं तु किममुमुक्षोरप्याश्रममात्रनिष्ठस्य विद्यामकामयमानस्य तान्यनुष्ठेयान्युताहो नेति चिन्त्यते। तत्र 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४-४-२२) इत्यादिनाश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वेन विहितत्वाद्विद्यामनिच्छतः फलान्तरं कामयमानस्य नित्यान्यननुष्ठेयानि। अथ तस्याप्यनुष्ठेयानि न तर्ह्येषां विद्यासाधनत्वं नित्यानित्यसंयोगविरोधादिति। अस्यां प्राप्तौ पठति—आश्रममात्रनिष्ठस्याप्य-

---

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि। नित्याग्निहोत्रादिकर्मसु 'विहितत्वाद्विनियुक्तविनियोगविरोधाच्च संशये शास्त्रान्तरविरोधात्सर्वान्नत्वोक्तेः स्तुतित्ववन्नित्य'विनियुक्तत्वश्रुतिविरोधाद्विविदिषायां विनियोगश्रुतेः स्तुतित्वमिति पूर्वपक्षमाह—तत्रेति। ज्ञानकामनयानुष्ठाने कर्मणामनित्यत्वमनावश्यकत्वम्। तस्या अनित्यत्वाद्यावज्जीवादिविधिना तु नित्यत्वं चेति 'विरुद्धधर्मद्वयापाताद्विविदिषाश्रुतेः स्तुतित्वमिति फलं पूर्वपक्षे। सिद्धान्ते तूभयथानुष्ठानं फलम् ॥३२॥

---

५. सिद्धान्त—पितरों की तृप्ति के लिए श्राद्ध में ब्राह्मण भोजन करता है, उससे उस ब्राह्मण की भी तृप्ति हो जाती है; वैसे ही विद्या के लिए अनुष्ठित कर्मों से आश्रमधर्म भी सिद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में यागादि का अनुष्ठान दो बार करने की आवश्यकता नहीं है। आश्रमधर्मपालन के लिए यागादि का अनुष्ठान नित्यकर्म है और विद्या के अङ्गरूप से अनुष्ठान काम्यकर्म है, जो उभयविध यज्ञादि का अनुष्ठान एक बार करने से ही पूर्ण हो जायेगा। जैसे खदिर काष्ठ का यूप बनाने पर याग की सिद्धि होती है और वीर्यकाम भी सिद्ध होता है, दो वचन के बल से एक ही खदिर यूप में नित्यत्व और काम्यत्व दोनों ही हैं; वैसे ही विविदिषावाक्य में विहित यागादि का अनुष्ठान एक बार करने से ही उक्त दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जायेंगे।

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि (ललिता)

नित्य अग्निहोत्र से भिन्न अपूर्व यज्ञादि विविदिषा में उपयुक्त होते हैं, यह बात अग्रिम सूत्र से बतलाते हैं। 'सर्वापेक्षा च' सूत्र में आश्रम से सम्बन्धित कर्मों को विद्या का साधन बतलाया जा चुका है। किन्तु जो मुमुक्षु नहीं हैं, आश्रममात्र में निष्ठा रखते हैं, उपासक भी नहीं हैं, ऐसे व्यक्ति को उन यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए या नहीं, इसी का विचार इस अधिकरण में किया गया है। इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि 'उस आत्मा को वेदानुवचन द्वारा ब्राह्मण जानना चाहते हैं' इस वाक्य द्वारा विद्या के साधनरूप में आश्रमकर्म का विधान किया गया है, अतः विद्या न चाहने वाले एवं फलान्तर की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। यदि उस व्यक्ति से भी यज्ञादि कर्मों को अनुष्ठेय माना जायेगा तो उनमें विद्यासाधनत्व नहीं रह जायेगा, ऐसी स्थिति में नित्यानित्यसंयोग का विरोध भी होने लग जायेगा। ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्त की ओर से यह सूत्र कहा जाता है कि आश्रममात्रनिष्ठ अमुमुक्षु को भी सदा उक्त

---

१. विद्यार्थत्वस्य विहितत्वादित्यर्थः विद्यामनिच्छतो नानुष्ठेयानीति भावः। २. विरोधाच्चेति तामनिच्छतोपि अनुष्ठेयानीति भावः। ३. यावज्जीवश्रुतिविरोधादित्यर्थः। ४. एकत्रैवावश्यकत्वानावश्यकत्वरूपेत्यादौ शेषः।

(४५८) सहकारित्वेन च ॥३३॥

मुमुक्षोः कर्तव्यान्येव नित्यानि कर्माणि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिना विहितत्वात् । नहि वचनस्यातिभारो नाम कश्चिदस्ति ॥३२॥

अथ यदुक्तं नैवं सति विद्यासाधनत्वमेषां स्यादित्यत उत्तरं पठति—

विद्यासहकारीणि चैतानि स्युर्विहितत्वादेव 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४-४-२२) इत्यादिना । तदुक्तम्—'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३-४-२६) इति । न चेदं विद्यासहकारित्ववचनमाश्रमकर्मणां प्रयाजादिवद्विद्याफलविषयं मन्तव्यम् । अविधिलक्षणत्वाद्विद्यायाः । असाध्यत्वाच्च विद्याफलस्य । विधिलक्षणं हि साधनं दर्शपूर्णमासादि स्वर्गफलसिषाधयिषया सहकारिसाधनान्तरमपेक्षते नैव विद्या । तथा चोक्तं 'अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' (ब्र० सू० ३-४-२५) इति । तस्मादुत्पत्तिसाधनत्व एवैषां सहकारित्ववाचोयुक्तिः । न चात्र नित्यानित्यसंयोगविरोध आशङ्क्यः, कर्माभेदेऽपि संयोगभेदात् । नित्यो ह्येकः संयोगो यावज्जीवादिवाक्यकल्पितो न तस्य विद्याफलत्वम् ।

सह मिलित्वा शुद्धिद्वारा विद्यां कुर्वन्तीति सहकारीणि कर्माणि । तेषां भावस्तत्त्वं तेनेत्यर्थः । विद्यया सह फलकारित्वं सहकारित्वादाप्राप्तं निरस्यति—न चेदमिति । विद्याया अविहितत्वान्नाङ्गापेक्षास्ति । अतो विहितानि कर्माणि अविहिताया विद्याया न सहकार्यङ्गानि मोक्षस्यासाध्यत्वाच्च न कर्मणां सहकारित्वसंभव इत्यर्थः । तुल्यबलश्रुतिद्वयेन विनियोगपृथक्त्वं संयोगभेदस्ततो न विरोधः । कामनाया

कर्मों का अनुष्ठान करते ही रहना चाहिए क्योंकि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादि वाक्य से उसका विधान जीवनमात्र की इच्छा रखने वाले के लिए किया गया है । शास्त्र के लिए कोई गौरव नहीं है, वह लोककल्याण के लिए कुछ भी कह सकता है ॥३२॥

और जो आप ने कहा था कि यदि मुमुक्षु से भिन्न व्यक्ति द्वारा भी इन यज्ञादि कर्मों को अनुष्ठेय मानोगे तो उनमें विद्यासाधनत्व नहीं रह जायेगा, इसका उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं कि—

सहकारित्वेन च (ललिता)

इन कर्मों को विद्या के सहकारीरूप में 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादि वाक्य से विधान किया गया है । इसी को 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' इस सूत्र से सूत्रकार ने कहा है । आश्रमकर्मों में विद्यासहकारित्व बतलानेवाला उक्त वचन प्रयाजादि की भाँति विद्या के फल को विषय करता है, ऐसा नहीं मानना चाहिए क्योंकि विद्या विधिरूप नहीं है और विद्या का फल मोक्ष साध्य नहीं है । दर्शपूर्णमासादि विधिरूप साधन स्वर्गफल को सिद्धि के लिए सहकारी साधनान्तर की अपेक्षा करता है, पर विद्या ऐसी नहीं है, यह बात 'अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' इस सूत्र से कही जा चुकी है । इसलिए यागादि कर्मों को केवल विद्या की उत्पत्ति में सहकारी कहा है, इसमें दैनिक अग्निहोत्रादि कर्म नित्य हैं, एवं फलान्तर के साधन होने से यागादि अनित्य हैं । अतः नित्य और अनित्य कर्म का संयोग एक अधिकारी में होने लग जायेगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि कर्म का अभेद होने पर भी सम्बन्ध का भेद है । यावज्जीवादि वाक्य से कहा गया एक

१. अचोदनारूपत्वात् ।

(४५६) सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥३४॥

अनित्यस्त्वपरः संयोगः 'तमेतं वेदानुवचनेन' (बृ० ४-४-२२) इत्यादिवाक्यकल्पितस्तस्य विद्याफलत्वम्। यथैकस्यापि खादिरत्वस्य नित्येन संयोगेन क्रत्वर्थत्वमनित्येन संयोगेन पुरुषार्थत्वं तद्वत् ॥३३॥

सर्वथाप्याश्रमकर्मत्वपक्षे विद्यासहकारित्वपक्षे च त एवाग्निहोत्रादयो धर्मा अनुष्ठेयाः। त एवेत्यवधारयन्नाचार्यः किं निवर्तयति। कर्मभेदशङ्कामिति ब्रूमः। यथा कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुह्वति' इत्यत्र 'नित्यादग्निहोत्रात्कर्मान्तरमुपदिश्यते नैवमिह कर्मभेदोऽस्तीत्यर्थः। कुतः?—उभयलिङ्गात्। श्रुतिलिङ्गात्स्मृतिलिङ्गाच्च। श्रुतिलिङ्गं तावत् 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति'(बृ० ४-४-२२) इति सिद्धवदुत्पन्नरूपाण्येव यज्ञादीनि विविदिषायां विनियुङ्क्ते न तु जुह्वतीत्यादिवदपूर्वमेषां रूपमुत्पादयतीति। स्मृति-

अनित्यत्वेऽपि कर्मणां नानित्यत्वं नित्यविधिना प्रयोगस्य नित्यत्वात्। सत्यां कामनायां काम्यप्रयोगेणैव नित्यत्वसिद्धेर्न कश्चिद्विरोधः। इदंच 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' इति सूत्रे चिन्तितम् यथा 'खादिरो यूपो भवति' इति श्रुत्या खादिरत्वस्य क्रत्वर्थता खादिरं वीर्यकामस्येति श्रुत्या पुरुषार्थता चेति। अतः सति वाक्यद्वये विनियुक्तविनियोगो न विरुध्यत इत्यर्थः ॥३३॥

ननु नित्याग्निहोत्रादिभ्यो भिन्ना एवापूर्वयज्ञादयो विविदिषायां विनियुज्यन्तां तत्र कुतो विनियुक्तविनियोगस्तत्राह—सर्वथापीति। नित्यत्वे काम्यत्वे चेत्यर्थः। कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं जुह्वतीत्याख्यातस्य साध्यहोमवाचित्वात्तदेकार्थकाग्निहोत्रपदस्य व्यवहितसिद्धाग्निहोत्रपरामर्शकत्वायोगान्मासगुणविशिष्टं कर्मान्तरं विधीयत इति युक्तमिह तु यज्ञेनेत्यादि सुबन्तानामाख्यातेनैकार्थत्वा-

कर्मसम्बन्ध नित्य है, उसका फल विद्या नहीं है; किन्तु 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाविविदिषन्ति' इस वाक्य के द्वारा कहा गया दूसरा कर्मसम्बन्ध अनित्य है, उसका फल विद्या की प्राप्ति है। जैसे एक ही खदिर का 'खादिरो यूपो भवति' इस वाक्य में संयोग नित्य है, जो क्रत्वर्थ है और 'खादिरं वीर्यकामस्य' इस वाक्य द्वारा अनित्य संयोग कहा गया है जो पुरुषार्थ माना जाता है, वैसे ही कर्मों में अभेद रहने पर भी संयोग का भेद होने के कारण उभयार्थता है ॥३३॥

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् (ललिता)

विविदिषावाक्य में कहे गये कर्मों में आश्रमधर्मरूप पक्ष में एवं विद्यासहकारित्व पक्ष में वे अग्निहोत्रादि धर्म तो अनुष्ठेय ही हैं। सूत्र में आये हुए 'ते एव' इस अवधारण को देकर आचार्य कर्मभेद की आशङ्का को निवृत्त करते हैं, ऐसा हम मानते हैं। जैसे कुण्डपायियों के अयन में 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य से कहा गया कर्म नित्य अग्निहोत्र की अपेक्षा भिन्न ही माना जाता है, ऐसा भेद विविदिषावाक्य में कहे गये कर्मों का नहीं है क्योंकि श्रुति एवं स्मृतिरूप लिङ्ग उक्त अर्थ के बोधक देखे जाते हैं। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इस वाक्य द्वारा सिद्ध की भाँति उत्पन्न यज्ञादिरूप कर्मों का विविदिषा में विनियोग करते हैं, किन्तु 'जुह्वति' इस

१. यावज्जीवश्रुतिचोदितात्।

९. विधुराधिकरणम् (सू० ३६-३९)

(४६०) अनभिभवं च दर्शयति ॥३५॥

नास्त्यनाश्रमिणो ज्ञानमस्ति वा नैव विद्यते । धीशुद्धयर्थाश्रमित्वस्य ज्ञानहेतोरभावतः ।
अस्त्येव सर्वसम्बन्धिजपादेश्चित्तशुद्धितः । श्रुता हि विद्या रैक्वादेराश्रमे त्वतिशुद्धता ॥

लिङ्गमपि 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः' (६-१) इति विज्ञातकर्तव्यताकमेव कर्म विद्योत्पत्त्यर्थं दर्शयति । यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्कारा इत्याद्या च संस्कारत्वप्रसिद्धिर्वैदिकेषु कर्मसु तत्संस्कृतस्य विद्योत्पत्तिमभिप्रेत्य स्मृतौ भवति । तस्मात्साध्विदमभेदावधारणम् ॥३४॥

सहकारित्वस्यैवैतदुपोद्बलकं लिङ्गदर्शनमनभिभवं च दर्शयति श्रुतिर्ब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्नस्य रागादिभिः क्लेशैः 'एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते' (छा० ८-५-३) इत्यादिना । तस्माद्यज्ञादीन्याश्रमकर्माणि च भवन्ति विद्यासहकारीणि चेति निश्चितम् ॥३५॥

भावात्सिद्धव्यवहितकर्मानुवादकत्वात्तेषामेव कर्मणां ज्ञानार्थत्वविधिरिति भावः । सिद्धकर्मसु संस्कारत्वप्रसिद्धिरपि शुद्ध्याख्यसंस्कारद्वारा ज्ञानार्थककर्माभेदे लिङ्गमित्याह—यस्यैत इति ॥३४॥

ब्रह्मचर्यादिकर्मणां प्रतिबन्धध्वंसद्वारा विद्यार्थत्वे लिङ्गमाह—अनभिभवं चेति ॥३५॥

वाक्य की भाँति इसमें अपूर्वरूप का उत्पादन नहीं करता। कर्मफल का आश्रय न लेकर जो कर्तव्यकर्म का अनुष्ठान करता है' इस विज्ञात कर्तव्यताक कर्म को विद्योत्पत्ति के लिए स्मृतिलिङ्ग भी दीखता है। 'जिसके ये अड़तालीस संस्कार होते हैं' इस वाक्य द्वारा संस्कारों की प्रसिद्धि है, वैदिक कर्मों में उक्त संस्कार से संस्कृत पुरुष को विद्या की उत्पत्ति कही गयी है, इसी अभिप्राय से स्मृति में भी विद्या एवं तज्जन्य मोक्ष में यागादि कर्म को सहकारी कहा है। अतः उक्त कर्मों अभेद-निश्चय निर्विवाद है ॥३४॥

अनभिभवं च दर्शयति (ललिता)

उक्त लिङ्गदर्शन सहकारित्व का उपोद्बलक है और वह अनभिभव को भी बतला रहा है, इसीलिए ब्रह्मचर्यादि साधनसम्पन्न व्यक्ति रागादि क्लेश से अभिभूत नहीं होता है, ऐसा 'जिसे ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त करता है, वह आत्मा कभी नष्ट नहीं होता' इस वाक्य द्वारा श्रुति बतलाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि यज्ञादि आश्रमकर्म हैं और वे विद्या के सहकारी भी हैं ॥३५॥

९. विधुराधिकरण

१. **सङ्गति**—आश्रमकर्म को आप ने पहले विद्या का सहकारी कहा था, तब तो आश्रमविधुर व्यक्ति का विद्या में अधिकार नहीं रह जाता है; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. **विषय**—इस अधिकरण में आश्रमविधुर जपादि कर्मों की स्थिति पर विचार किया गया है।

३. **संशय**—द्रव्य आदि साधनों से हीन होने के कारण विधुरों का ब्रह्मविद्या में अधिकार है या नहीं ?

(४६१) अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥३६॥

(४६२) अपि च स्मर्यते ॥३७॥

विधुरादीनां द्रव्यादिसंपद्रहितानां चान्यतमाश्रमप्रतिपत्तिहीनानामन्तरालवर्तिनां किं विद्यायामधिकारोऽस्ति किं वा नास्तीति संशये नास्तीति तावत्प्राप्तम् । आश्रमकर्मणो विद्याहेतुत्वावधारणादाश्रमकर्मासम्भवाच्चैतेषामपि । एवं प्राप्त इदमाह—अन्तरा चापि त्वनाश्रमित्वेन वर्तमानोऽपि विद्यायामधिक्रियते । कुतः ?—तद्दृष्टेः । रैक्कवाचक्नवीप्रभृतीनामेवंभूतानामपि ब्रह्मवित्त्वश्रुत्युपलब्धेः ॥३६॥

संवर्तप्रभृतीनां च नग्नचर्यादियोगादनपेक्षिताश्रमकर्मणामपि महायोगित्वं स्मर्यत इतिहासे ॥३७॥

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः । अनाश्रमिणां जपादिकर्मसत्त्वान्निन्दितत्वाच्च संशये सति आश्रमकर्मणामेव विद्याहेतुत्वश्रुतेरनाश्रमस्य निन्दितत्वाच्चानधिकार इति पूर्वपक्षः । [1]तत्रानाश्रमकर्मणां विद्याहेतुत्वासिद्धिः । सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलम् ॥३६॥ ॥३७॥

४. पूर्वपक्ष—यागादि सहकारी कर्मों का अभाव होने से विधुरों का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है।

५. सिद्धान्त—अनाश्रमीरूप से वर्तमान विधुरों का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है। रैक्व आदि जो आश्रम विधुर थे उनमें भी ब्रह्मवित्व बतलाने वाली श्रुति देखी जाती है, ऐसे व्यक्ति के द्वारा किये गये जपादि से चित्त शुद्ध हो जाने पर उन्हें भी ब्रह्मविद्या प्राप्त हो जाती है। एतावता आश्रमित्व व्यर्थ नहीं है क्योंकि श्रुति और स्मृति लिङ्ग से अनाश्रमी की अपेक्षा आश्रमी श्रेष्ठ माना गया है।

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः (ललिता)

द्रव्यादिसाधनरहित, किसी आश्रम में जाने में अयोग्य, अन्तराल अवस्था में रहने वाले विधुरादि का विद्या में अधिकार है या नहीं, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्षी उक्त विधुरों का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं मानता है क्योंकि आश्रमकर्मों को विद्या का हेतु कहा गया है, जो आश्रमकर्म इन विधुरों में सम्भव नहीं है। ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहता है कि अनाश्रमीरूप से अन्तराल में रहने वाला विधुर भी विद्या का अधिकारी है क्योंकि उक्त प्रकार के विधुर रैक्व, वाचक्नवी गार्गी इत्यादि में भी ब्रह्मवित्व सुना गया है ॥३६॥

अपि च स्मर्यते (ललिता)

नग्नचर्यादि योग के कारण आश्रमकर्मरहित संवर्त आदि में भी महायोगित्व इतिहास में स्मरण होता है ॥३७॥

[1] पूर्वपक्षे ।

(४६३) विशेषानुग्रहश्च ॥८३॥

ननु लिङ्गमिदं श्रुतिस्मृतिदर्शनमुपन्यस्तं का नु खलु प्राप्तिरिति साऽभिधीयते—
तेषामपि च विधुरादीनामविरुद्धैः पुरुषमात्रसम्बन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः सम्भवति । तथा च स्मृतिः—'जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' इत्यसंभवदाश्रमकर्मणोऽपि जप्येऽधिकारं दर्शयति । जन्मान्तरानुष्ठितैरपि चाश्रमकर्मभिः सम्भवत्येव विद्याया अनुग्रहः । तथा च स्मृतिः—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गी०६-४५) इति जन्मान्तरसंचितानपि संस्कारविशेषाननुग्रहीतॄन्विद्यायां दर्शयति । दृष्टार्था च विद्या प्रतिषेधाभावमात्रेणाप्यर्थिनमधिकरोति श्रवणादिषु । तस्माद्विधुरादीनामप्यधिकारो न विरुध्यते ॥३८॥

रैक्वादीनां विद्यावत्त्वलिङ्गस्य जन्मान्तराश्रमकर्मणाऽन्यथासिद्धेरनाश्रमकर्मणो विद्यार्थत्वप्रापकं मानान्तरं वाच्यमिति शङ्कते—ननु लिङ्गमिति ।

अनाश्रमित्वाविरुद्धानां वर्णमात्रप्राप्तधर्माणां विद्यार्थत्वे मानमाह—तथा चेति । 'मैत्रो दयावानित्यर्थः । नन्वनाश्रमिणां कर्म भवतु विद्याहेतुस्तथापि तेषां न श्रवणादावधिकारः संन्यासाभावादित्यत आह—दृष्टार्था चेति । बन्धकाज्ञानध्वस्तिफलकविद्याकामस्य श्रवणेऽधिकारः संन्यासोऽपि कदाचित्कृतो ज्ञान उपकरोति श्रवणं प्रत्यनङ्गत्वादिति भावः ॥३८॥

यह श्रुतिस्मृतिदर्शनरूप लिङ्ग आप ने कहा, किन्तु इससे क्या प्राप्त होता है, यह तो कहा नहीं ? इस आशङ्का की निवृत्ति अग्रिम सूत्र से करते हैं—

विशेषानुग्रहश्च (ललिता)

पुरुषमात्र से सम्बन्ध रखने वाले जप, उपवास, देवाराधनादि अविरुद्ध धर्मविशेष के कारण उन विधुरों के ऊपर भी विद्या का अनुग्रह सम्भव हो जाता है । ऐसा ही दयालु ब्राह्मण कुछ करे या न करे, वह तो जपमात्र से ही संसिद्ध हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ।' स्मृति में भी कहा गया है । इससे जिनमें आश्रम कर्म का होना सम्भव नहीं है उनका भी जप में अधिकार स्मृति बतलाती है । इसके अतिरिक्त जन्मान्तरीय अनुष्ठित आश्रमकर्मों द्वारा भी विद्या का अनुग्रह सम्भव हो जाता है । इसीलिए तो 'अनेक जन्म से संसिद्ध पुरुष परागति को प्राप्त कर लेता है' इस वाक्य द्वारा गीतास्मृति जन्मान्तरीय संस्कारविशेष से युक्त पुरुष को भी विद्या का होना बतलाती है । विद्या दृष्टार्थ है, वह प्रतिषेधाभावमात्र से भी अर्थी को श्रवणादि में अधिकार देती है अर्थात् ऐसा कहीं भी नहीं कहा है कि विधुरों को ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं होगी, इससे यह सिद्ध होता है कि ऐसे ब्रह्मविद्या चाहने वाले विधुर का भी विद्या के साधन श्रवणादि में अधिकार है । अतः विधुरों का भी विद्या में अधिकार मानना विरुद्ध नहीं है ॥३८॥

---

१. मित्रे भवः सर्वभूताहिंसकः ।

१०. तद्भूताधिकरणम् (सू० ४०)

(४६४) अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ।।३६।।

अवरोहोऽस्त्याश्रमाणां न वा रागस्य विद्यते । पूर्वधर्मश्रद्धया वा यथारोहस्तथैच्छिक: ।
रागस्यातिनिषिद्धत्वाद्विहितस्यैव धर्मत: । आरोहनियमोक्त्यादेर्नावरोहोऽस्त्यशास्त्रत: ।।

अतस्त्वन्तरालवर्तित्वादितरदाश्रमवर्तित्वं ज्यायो विद्यासाधनम् । श्रुतिस्मृति[1]संदृष्टत्वात् । श्रुतिलिङ्गाच्च 'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च' (बृ० ४-४-६) इति । 'अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विज:'। 'संवत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रमेकं चरेत्' इति च स्मृतिलिङ्गात् ।।३६।।

तर्ह्याश्रमित्वं वृथेत्यत आह—अतस्त्विति । पुण्यकृत्तैजस: शुद्धसत्त्वस्तेन ज्ञानमार्गेणैति ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थ: । अत्र पुण्यकृत्त्वलिङ्गादाश्रमित्वं ज्याय: पुण्योपचये शीघ्रं विद्यालाभादनाश्रमस्य निन्दितत्वाच्चेति भाव: ।।३६।।

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च (ललिता)

तब तो आश्रमित्व व्यर्थ ही है ? इसी प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं कि--

अनाश्रमियों की अपेक्षा आश्रमित्व को श्रुति-स्मृति ने विद्या का श्रेष्ठ साधन माना है । 'पुण्यकर्म करने वाला विशुद्धान्त:करण तेजस्वी ब्रह्मवेत्ता उस मार्ग से चलकर उस ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है' ऐसा श्रुतिलिङ्ग होने से और 'द्विज बालक अनाश्रमी होकर एक दिन भी न रहे, एक वर्ष तक अनाश्रमी रहने वाले को एक कृच्छ्र व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए' इस स्मृतिलिङ्ग से भी अनाश्रमी विधुर की अपेक्षा आश्रमी को श्रेष्ठ माना गया है ।।३६।।

१०. तद्भूताधिकरण

१. **सङ्गति**—पहले अनाश्रमकर्म को विद्या का हेतु कहा था, तब तो उत्तमाश्रम से पूर्वाश्रम के प्रति लौटे हुए व्यक्ति के द्वारा किया गया कर्म भी विद्या का हेतु होने लग जायेगा; इस प्रकार की दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. **विषय**—आरूढ़पतित व्यक्ति के द्वारा किये गये कर्मों की स्थिति का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—उत्तम आश्रम से निम्न आश्रम में आने की व्यवस्था शास्त्र में है या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—पूर्व आश्रम के प्रति राग अथवा पूर्वाश्रमधर्म के प्रति श्रद्धा के कारण स्वेच्छया उत्तम आश्रम से निम्न आश्रम में आ सकता है । आरोह की भाँति अवरोह में भी कोई अवैधता नहीं होनी चाहिए ।

५. **सिद्धान्त**—राग अत्यन्त निषिद्ध है। आरोह धर्म के कारण विहित है, किन्तु अवरोह का विधान शास्त्रों में नहीं है और न आरोह की भाँति अवरोह में शिष्टाचार प्रमाण ही है । अत: उत्तमाश्रम से निम्नाश्रम में आने का विधान शास्त्र में है ही नहीं ।

---

१. संदृष्टत्वादिति पाठान्तरम् ।

(४६५) तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥४०॥

सन्त्यूर्ध्वरेतस आश्रमा इति स्थापितम् । तांस्तु प्राप्तस्य कथंचित्ततः प्रच्युतिरस्ति नास्ति वेति संशयः । पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया वा रागादिवशेन वा प्रच्युतोऽपि स्याद्विशेषाभावादिति ।

एवं प्राप्त उच्यते—तद्भूतस्य तु प्रतिपन्नोर्ध्वरेतोभावस्य न कथंचिदप्यतद्भावो न ततः प्रच्युतिः स्यात् । कुतः ? —नियमातद्रूपाभावेभ्यः । तथा हि—'अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्' (छा० २·२३·१) इति 'अरण्यमियादिति पदं ततो न पुनरेयादित्युपनिषत्' इति 'आचार्येणाभ्यनुज्ञातश्चतुर्णामेकमाश्रमम् । आविमोक्षाच्छरीरस्य सोऽनुतिष्ठेद्यथाविधि' इति चैवंजातीयको नियमः । प्रच्युत्यभावं दर्शयति, यथा च 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' (जा० ४) 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जा० ४) इति चैवमादीन्यारोहरूपाणि वचांस्युपलभ्यन्ते

तद्भूतस्य तु । उत्तमाश्रमात्पूर्वाश्रमं प्राप्तस्य प्रच्युतस्य कर्मापि विद्या[1]हेतुरनाश्रमिकर्मवदिति सङ्गतिः, पूर्वपक्षफलं चैतत् ।

सिद्धान्ते तु भ्रष्टस्य कर्म न हेतुरिति फलम् । रागादिप्राबल्यात्प्रच्युतिनिषेधाच्च प्रच्युतिः प्रामाणिकी न वेति संशयः । सिद्धान्तसूत्रे नियमं व्याचष्टे—तथा हीति । अत्यन्तमिति नैष्ठिकत्वनियमः । अरण्यमित्येकान्तोपलक्षितं पारिव्राज्यं गृह्यते । [2]तदियाद्गच्छेदिति पदं शास्त्रमार्गस्ततस्तस्मात्पारिव्राज्यान्न पुनरेयान्न प्रच्यवेदिति उपनिषद्रहस्यमित्यर्थः । अतद्रूपं प्रच्युतौ प्रमाणाभावं व्याचष्टे—यथा चेति । शिष्टाचाराभावमाह—न चैवमिति । 'चण्डालाः प्रत्यवसिताः' इति स्मृतेश्च पतितानां कर्म निष्फलमिति भावः ॥४०॥

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः (ललिता)

ऊर्ध्वरेता आश्रम (ब्रह्मचर्य तथा संन्यास) हैं, यह बात निश्चित हो चुकी । उस आश्रम को प्राप्त पुरुष का वहाँ से किसी प्रकार पतन होता है या नहीं, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष का कहना है कि पूर्वाश्रम के कर्मों में अनुष्ठान की इच्छा होने से अथवा पूर्वाश्रम की भोगाभिलाषा हो जाने पर वहाँ से लौटना भी हो सकता है क्योंकि सभी आश्रम समान हैं, किसी में कोई विशेष नहीं है ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती की ओर से अग्रिम सूत्र द्वारा कहा गया है कि ऊर्ध्व आश्रम में आरूढ़ हो जाने के बाद वहाँ से अवरोह किसी भी प्रकार उचित नहीं है क्योंकि उत्तम आश्रम में जाने का नियम है, वहाँ से नीचे लौटने का विधान नहीं है । ऐसा ही 'ब्रह्मचारी अपने आप को गुरुकुल में अत्यन्त समर्पित कर दे', 'स्त्रीजन से असम्पृक्त अरण्य में जाय, यह उत्तम स्थान है, शास्त्रमार्ग है, वहाँ से पुनः नीचे नहीं लौटे, यह रहस्य है' इत्यादि श्रुति तथा इसी प्रकार 'गुरु से अनुज्ञा प्राप्तकर चार आश्रमों में से किसी एक आश्रम में शरीर छूटने तक यथाविधि रहे' इत्यादि स्मृति भी नियम बतला रही है जिसमें पतनाभाव दिखलाया गया है । 'ब्रह्मचर्य समाप्तकर गार्हस्थ में जावे' और 'ब्रह्मचर्य से ही संन्यास लेवे' ऐसे आरोह बतलाने वाले अनेकों श्रुतिवाक्य

---

१. कर्मत्वादिति हेतुः पूरणीयः । २. अरण्यम् ।

११. आधिकारिकाधिकरणम् (सू० ४१-४२)

भ्रष्टोर्ध्वरेतसो नास्ति प्रायश्चित्तमथास्ति वा । अदर्शनोक्तेर्नास्त्येव व्रतिनो गर्दभः पशुः ।
उपपातकमेवैतदव्रतिनो मधुमांसवत् । प्रायश्चित्ताच्च संस्काराच्छुद्धिर्यत्नपरं वचः ॥

नैवं न प्रत्यवरोहरूपाणि। चैवमाचाराः शिष्टा विद्यन्ते। यत्तु पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया प्रत्यवरोहणमिति तदसत्, 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' (३-३५) इति स्मरणात्। न्यायाच्च। यो हि यं प्रति विधीयते स तस्य धर्मो न तु यो येन स्वनुष्ठातुं शक्यते चोदनालक्षणत्वाद्धर्मस्य। नच रागादिवशात्प्रच्युतिः नियमशास्त्रस्य बलीयस्त्वात्। जैमिनेरपीत्यपिशब्देन जैमिनिबादरायणयोरत्र सम्प्रतिपत्तिं शास्ति प्रतिपत्तिदार्ढ्याय॥४०॥

दीखते है, किन्तु अवरोह बतलाने वाला कोई श्रुतिवाक्य नहीं है और न ऐसा शिष्ट पुरुषों का आचार ही दीखता है। और जो आप ने कहा था कि पूर्वाश्रमकर्म के प्रति अनुष्ठान की इच्छा हो जाने से अवरोह अनुचित नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि 'अच्छी प्रकार से अनुष्ठान किये गये परधर्म की अपेक्षा गुणहीन भी स्वधर्म कल्याणकारक है' ऐसा गीता स्मृति कह रही है। इसके अतिरिक्त जिसके लिए जो विधान किया गया है वह उसका धर्म है, न कि जिसका अनुष्ठान जो अच्छी प्रकार कर सकता है उसका वह धर्म है क्योंकि धर्म का विधान शास्त्र करता है। रागादि के कारण से पतन का अनुमोदन भी ठीक नहीं है क्योंकि नियमशास्त्र बलवान होता है ऐसा जैमिनि आचार्य का कहना है। सूत्रस्थ 'अपि' शब्द जैमिनि तथा बादरायण दोनों की इस विषय में सहमतिबोध की दृढ़ता के लिए है॥४०॥

११. आधिकारिकाधिकरण

१. **सङ्गति**—इस प्रकार आरूढ़पतित व्यक्ति के द्वारा किया गया कर्म विद्या का हेतु नहीं है, तब तो आरूढ़पतित के द्वारा किया गया प्रायश्चित्त भी विद्या का हेतु नहीं हो सकेगा; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. **विषय**—आरूढ़पतित व्यक्ति के द्वारा किये गये प्रायश्चित का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. **संशय**—प्रमाद से आरूढ़पतित व्यक्ति के लिए प्रायश्चित्त का विधान है या नहीं?

४. **पूर्वपक्ष**—आरूढ़पतित व्यक्ति के लिए प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। और जो अधिकार-प्रसङ्ग में अवकीर्ण पतित ब्रह्मचारी के लिए नैर्ऋत गर्दभ का आलभनरूप प्रायश्चित्त कहा है, वह भी नैष्ठिक के लिए नहीं है। इसके विपरीत 'आरूढ़ ब्रह्मचारी यदि नैष्ठिक धर्म से पतित होता हो तो उसका पुनः प्रायश्चित्त मैं नहीं देखता जिससे वह आत्महत्यारा शुद्ध हो सके' इस प्रकार नैष्ठिकों के लिए प्रायश्चित्त नहीं है, किन्तु उपकुर्वाण के लिए यह प्रायश्चित्त है।

५. **सिद्धान्त**—जिस प्रकार उपकुर्वाण के लिए मधु-मांस भक्षणादि उपपातक है जिसका प्रायश्चित्त करने से शुद्ध हो जाता है, वैसे ही ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी के लिए गुरुपत्नी आदि से अन्यत्र प्रवृत्ति होती हो तो वह उपपातक ही माना गया है, महापातक नहीं। अतः प्रायश्चित्त और पुनः संस्कार से उसकी शुद्धि हो जाती है। और जो '**प्रायश्चित्त न पश्यामि**' इत्यादि कहा है वह तो कठिन प्रायश्चित्त के कारण दुष्कर है इस अभिप्राय से कहा गया है। ब्रह्मचारी के लिक गर्दभालभन जिस प्रकार प्रायश्चित्त है, वैसे ही वानप्रस्थ और संन्यासी के पतन होने पर भी प्रायश्चित्त का विधान है।

(४६६) न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥४१ ॥

यदि नैष्ठिको ब्रह्मचारी प्रमादादवकीर्येत किं तस्य 'ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेत' इत्येतत्प्रायश्चित्तं स्यादुत नेति । नेत्युच्यते । यदप्यधिकारलक्षणे निर्णीतं प्रायश्चित्तम् । 'अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात्' (जं० सू० ६-८-२१) इति तदपि न नैष्ठिकस्य भवितुमर्हति । किं कारणम्—'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा' इत्यप्रतिसमाधेयपतनस्मरणाच्छिन्नशिरस इव प्रतिक्रियानुपपत्तेः उपकुर्वाणस्य तु तादृक्पतनस्मरणाभावादुपपद्यते तत्प्रायश्चित्तम् ॥४१॥

न चाधिकारिकम् । अवकीर्येत व्यभिचरेदित्यर्थः । अवकीर्णं योनौ निषिक्तं रेतोऽस्यास्तीत्यवकीर्णी । अत्र प्रच्युतस्य प्रायश्चित्तं स्यान्नवेति उपपातकत्वात्पतनस्मृतेश्च संशयः । प्रच्युतस्य यज्ञादिकं निष्फलमित्युक्तं तद्वत्प्रायश्चित्तमपि निष्फलमिति पूर्वपक्षयति—नेत्युच्यत इति । अत्र कृतप्रायश्चित्तस्य कर्म ज्ञानहेतुर्न भवतीति फलं, सिद्धान्ते तु भवतीति भेदः । 'यथोपनयनकाले होमो लौकिकाग्नावेव कार्यः । दारसंबन्धोत्तरकालविहिताधानस्य सम्प्रत्यप्राप्तकालत्वेनाहवनीयाभावात्तद्वदवकीर्णिनो ब्रह्मचारिणः प्रायश्चित्तपशुर्गर्दभो लौकिकाग्नौ होतव्य इत्यधिकारलक्षणे षष्ठाध्याये निर्णीतं प्रायश्चित्तमाधिकारिकं तदुपकुर्वाणस्यैव न नैष्ठिकस्येति प्राप्ते सिद्धान्तयति ॥४१॥

दीक्षाभेद होने पर द्वादशरात्रपर्यन्त कृच्छ्र का आचरण वानप्रस्थ के लिए और सोमवृद्धि को छोड़कर अन्य वृक्षों का संवर्धन करना रूप प्रायश्चित्त भिक्षु के लिए कहा है ।

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् (ललिता)

यदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रमाद से अपना ब्रह्मचर्य खण्डित करता हो तो क्या उसके लिए 'ब्रह्मचर्य भङ्ग करने वाला ब्रह्मचारी नैर्ऋत गर्दभ का आलभन करे' इस स्मृतिवाक्य से विहित-प्रायश्चित्त है या नहीं, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष में कहा गया है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए उक्त प्रायश्चित्त नहीं है। अधिकार लक्षण में जिस प्रायश्चित्त का निर्णय दिया गया है और जो 'अवकीर्णी ब्रह्मचारी नैर्ऋत गर्दभ का आलभन एवं होम लौकिक अग्नि में हो करे क्योंकि उस समय तक उसके लिए अग्न्याधान तो प्राप्त ही नहीं है' इत्यादि, यह प्रायश्चित्त भी नैष्ठिक के लिए नहीं है क्योंकि 'जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी नैष्ठिक धर्म से भ्रष्ट होता हो तो उसका प्रायश्चित्त मैं देखता ही नहीं जिससे कि वह आत्महत्यारा शुद्ध हो सके' इस स्मृतिवाक्य द्वारा उसके पतन को अप्रति-समाधेय कहा है अर्थात् जिस प्रकार किसी का शिर कट जाने पर वह छिन्नशिर पुरुष प्रतिक्रिया नहीं कर सकता, वैसे ही भ्रष्ट नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रायश्चित्त करके शुद्ध नहीं हो सकता। किन्तु उपकुर्वाण ब्रह्मचारी के लिए ऐसा पतन स्मरणाभाव होने से उसके लिए उक्त प्रायश्चित है ॥४१॥

---

१. राक्षसपर्यायोयम् । २. ब्राह्मस्य । ३. जै० सूत्रार्थमाह यथेति ।

(४६७) उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥४२॥

अपि त्वेक आचार्या उपपातकमेवैतदिति मन्यन्ते। यन्नैष्ठिकस्य गुरुदाराभ्योऽन्यत्र ब्रह्मचर्यं विशीर्येत न तन्महापातकं भवति गुरुतल्पादिषु महापातकेष्वपरिगणनात्। तस्मादुपकुर्वाणवन्नैष्ठिकस्यापि प्रायश्चित्तस्य भावमिच्छन्ति ब्रह्मचारित्वाविशेषादवकीर्णित्वाविशेषाच्च। अशनवत्। यथा ब्रह्मचारिणो मधुमांसाशने व्रतलोपः पुनः संस्कारश्चैवमिति। ये हि प्रायश्चित्तस्याभावमिच्छन्ति तेषां न मूलमुपलभ्यते। ये तु भावमिच्छन्ति तेषां ब्रह्मचार्यवकीर्णीत्येतदविशेषश्रवणं मूलम्। तस्माद्भावो युक्ततरः। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—'समा विप्रतिपत्तिः स्यात्' (जं० सू० १-३-८), 'शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्' (जै० सू० १-३-९) इति। प्रायश्चित्ताभावस्मरणं त्वेवं सति यत्नगौरवोत्पादनार्थमिति व्याख्यातव्यम्। एवं भिक्षुवैखानसयोरपि 'वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा

उपपूर्वमिति। उपपदं पूर्वं यस्य पातकस्य तदुपपातकमित्यर्थः। 'प्रायश्चित्तं न पश्यामि' इति दर्शनाभावस्मृतेः प्रायश्चित्ताभावपरत्वं कल्पयित्वा तन्मूलश्रुतिकल्पनात्प्रागेव क्लृप्तसाधारणश्रुत्या प्रायश्चित्तसद्भावसिद्धेः कल्पनं नोदेति क्लृप्तश्रुतिविरोधादिति भावः। प्रायश्चित्तस्य भावाभावप्रसिद्धयोः समत्वेऽपि भावप्रसिद्धिः श्रुतिमूलत्वादादर्तव्येत्यत्र संमतिमाह—तदुक्तमिति। यवमयश्चरुरित्यत्र यवशब्दं 'केचिद्दीर्घशूके प्रयुञ्जते 'केचिद्देशविशेषे 'प्रियङ्गुषु। अतः कस्य चरुः कार्य इति संदेहे वृद्धप्रयोगसाम्यात्समा तुल्या विकल्पेन प्रतिपत्तिः स्यादिति प्राप्ते सिद्धान्तः—शास्त्रमूला प्रतिपत्तिर्ग्राह्या शास्त्रनिमित्तत्वाद्धर्मादिज्ञानस्य। तथा च 'यदान्या ओषधयो म्लायन्त्यथैते यवा मोदमानास्तिष्ठन्ति' इति शास्त्रमूलत्वाद्दीर्घशूकप्रयोगस्यैवादर इत्यर्थः। स्मृतेर्गतिमाह—प्रायश्चित्तेति। ब्रह्मचर्यरक्षार्थं यत्नाधिक्यं कार्यमिति ज्ञापनार्थं प्रायश्चित्तं स्पष्टमपि न पश्यामीत्युक्तं भगवदत्रिणेत्यर्थः। नैष्ठिकवदतिवनस्थयोरपि प्रमादाद्ब्रह्मचर्यभङ्गे प्रायश्चित्तमस्तीत्याह—एवमिति। कृच्छ्रं प्राजापत्यं

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् (ललिता)

इस पर कुछ आचार्य कहते हैं कि उक्त रीति से पतन उपपातक ही है, महापातक नहीं है। गुरुतल्पादि को छोड़कर अन्यत्र यदि नैष्ठिक का ब्रह्मचर्य खण्डित होता हो तो वह महापातक नहीं माना गया है क्योंकि गुरुतल्पादि महापातकों में इसकी गिनती नहीं है। अतः उपकुर्वाण की भाँति नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए प्रायश्चित्त मानते हैं क्योंकि दोनों में ब्रह्मचारित्व समान है और पतन भी एक जैसा ही हुआ है। जैसे मधु-मांसभक्षण करने पर ब्रह्मचारी के व्रत का लोप होता है और पुनः उसे संस्कार कराना पड़ता है, ये दोनों ब्रह्मचारियों के लिए समान है; किन्तु जो प्रायश्चित्ताभाव कहते हैं, उनके पक्ष में कोई मूलश्रुतिवाक्य नहीं मिलता है। पर जो मूलश्रुति मानते हैं, उनके यहाँ 'ब्रह्मचारी अवकीर्णी' इत्यादि यह श्रुतिवाक्य एक जैसा है। अतः प्रायश्चित्तभावपक्ष ही युक्तियुक्त है। वैसा ही प्रमाण लक्षण-मीमांसा दर्शन में कहा है—'शास्त्रस्थ विप्रतिपत्ति भी एक जैसी हैं, उसका निमित्त समान ही है।' प्रायश्चित्ताभाव जो स्मृति ने कहा है वह प्रयत्नगौरव बतलाने के लिए कहा है अर्थात् दुष्कर प्रायश्चित्त है, ऐसा प्रायश्चित्त करने की अपेक्षा मर जाना अच्छा है। ऐसा ही संन्यासी और वानप्रस्थी में से यदि वानप्रस्थ व्रत तोड़ता हो तो बारह रात्रि

---

१. तेष्वदर्शनाद्विरोधस्येतिसूत्रभागः प्रयोजनाभावात्त्याजितः। २. आर्याः। ३. यवनाः। ४. कङ्गुणी।

१२. बहिरधिकरणम् (सू० ४३)

शुद्धः शिष्टैरुपादेयस्त्याज्यो वा दोषहानितः । उपादेयोऽन्यथा शुद्धिः प्रायश्चित्तकृता वृथा ।
आमुष्मिके च शुद्धिः स्यात्ततः शिष्टास्त्यजन्ति तम् । प्रायश्चित्तादृष्टिवाक्यादशुद्धिस्त्वैहिकीष्यते ।।

महाकक्षं वर्धयेत्', 'भिक्षुर्वानप्रस्थवत्सोमवल्लिवर्जं स्वशास्त्रसंस्कारश्च' इत्येवमादि प्रायश्चित्तस्मरणमनुस्मर्तव्यम् ।।४२।।

महाकक्षं बहुतृणकाष्ठदेशं जलदानादिना वर्धयेत् । यतिस्तु सोमलतावर्जं वर्धयेत् । 'सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् । 'भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावन एव च । उपपातकसङ्घेषु पातकेषु महत्सु च । प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत् ।' इत्यादिस्वशास्त्रविहितध्यानप्राणायामादिसंस्कारोऽपि भिक्षुणा कार्य इत्यर्थः । आदिपदात् 'मनोवाक्कायजान्दोषानज्ञानोत्थान्प्रमादजान् । सर्वान्दहति योगाग्निस्तूलराशिमिवाऽनलः । नित्यमेव तु कुर्वीत प्राणायामांस्तु षोडश । अपि भ्रूणहनं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ।' इत्यादिवाक्यं ग्राह्यम् ।।४२।।

तक कृच्छ्र व्रत का अनुष्ठानकर महाकक्ष को बढ़ाये' अर्थात् तीन दिनों तक एक बार भोजन, तीन दिनों तक रात्रिभोजन, तीन दिनों तक अयाचित भोजन और तीन दिनों तक उपवास करते हुए बहुत तृण और वृक्षवाले देश की वृद्धि जनप्रदानादि से करे, इसी को द्वादशरात्र कृच्छ्र व्रत कहते हैं। वानप्रस्थी का व्रत खण्डित होने पर द्वादशरात्र कृच्छ्र व्रत का अनुष्ठान बतलाया है, तत्पश्चात् महावनसिंचन के लिए भी निर्देश है। वानप्रस्थ की भाँति संन्यासी का पतन होने पर केवल सोमलतावृद्धि को छोड़कर अन्य सभी प्रायश्चित्त एक जैसे हैं और सभी व्रतभ्रष्ट व्यक्ति के लिए पुनः शास्त्रसम्मत संस्कार का विधान भी है, इस प्रकार प्रायश्चित्त का स्मरण समझना चाहिए ।।४२।।

१२. बहिरधिकरण

१. **सङ्गति**—इस प्रकार आरूढ़पतित का प्रायश्चित्त हो जाने के बाद उसके द्वारा किया गया कर्म जैसे विद्या का साधन बतलाया गया, वैसे ही उसके साथ शिष्टाचारात्मक कर्म भी विद्या का साधन हो जायेगा; इस प्रकार की दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ होता है।

२. **विषय**—आरूढ़पतित के शुद्ध हो जाने पर उसके साथ शिष्टाचार कैसा होना चाहिए, इसी का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. **संशय**—आरूढ़पतित का प्रायश्चित्त हो जाने पर उसके साथ किया गया श्रवणादिक विद्या का साधन है या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—प्रायश्चित्त व्यर्थ न हो जाय इसके लिए उस कृतप्रायश्चित्त आरूढ़पतित के द्वारा किया गया श्रवणादि विद्या का साधन है, ऐसा मानना चाहिए।

५. **सिद्धान्त**—आरूढ़पतित के द्वारा किया गया प्रायश्चित्त उसके परलोक का साधन तो हो जाता है, किन्तु शिष्टपुरुष उसे त्याग ही देते हैं। '**प्रायश्चित्तं न पश्यामि**' इस वाक्य से कथित ऐहिक अशुद्धि तो उसमें बनी ही रहती है, अतः शिष्टपुरुष उसके साथ व्यवहार नहीं करते।

---

१. पुनः सपूतो भवतीति पाठांतरम् ।

१३. स्वाम्यधिकरम् (सू० ४४-४६)

(४६८) बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥४३॥

अङ्गध्यानं याजमानमार्त्विज्यं वा यतः फलम्। ध्यातुरेव श्रुतं तस्माद्याजमानमुपासनम्।
ब्रूयादेवंविदुद्गातेत्यार्त्विज्यत्वं स्फुटं श्रुतम्। क्रीतत्वादृत्विजस्तेन कृतं स्वामिकृतं भवेत्॥

यद्यूर्ध्वरेतसां स्वाश्रमेभ्यः प्रच्यवनं महापातकं यदि वोपपातकमुभयथापि शिष्टैस्ते बहिष्कर्तव्याः। 'आरुढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा' इति 'आरुढपतितं विप्रं मण्डलाच्च विनिःसृतम्। उद्बद्धं कृमिदष्टं च स्पृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत्' इति चैवमादिनिन्दातिशयस्मृतिभ्यः। शिष्टाचाराच्च। नहि यज्ञाध्ययनविवाहादीनि तैः सहाचरन्ति शिष्टाः ॥४३॥

बहिस्तूभयथापि। कृतप्रायश्चित्तैस्तैः सह कृतश्रवणादिकं ज्ञानसाधनं न वेति संदेहे तेषां शुद्धत्वात्साधनमिति प्राप्ते प्रायश्चित्तात्परलोके तेषां शुद्धत्वेऽप्यत्र शुद्धभावान्न साधनमिति सिद्धान्तयति—यद्यूर्ध्वेति। सुगमं भाष्यम् ॥४३॥

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च (ललिता)

यदि ऊर्ध्वरेताओं का अपने आश्रम से पतन होता हो तो उसे महापातक या उपपातक जो भी माना जाय, शिष्टपुरूष को तो ऐसों का बहिष्कार करना ही चाहिए क्योंकि 'जो आरूढ़ पुरुष नैष्ठिक धर्म से च्युत होता हो तो उसके लिए प्रायश्चित्त मैं नहीं देखता हूँ, जिससे कि वह आत्म-हत्यारा शुद्ध हो सके।' और ऐसे ही 'आरूढ़पतित ब्राह्मण को विप्रमण्डल से बहिष्कृत कर देना चाहिए। ऐसे आरूढ़पतित ब्राह्मण को, फाँसी लगाकर स्वयं मरने वाले ब्राह्मण को एवं कृमिदष्ट ब्राह्मण का स्पर्श होने पर कृच्छ्र चान्द्रायण व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए।' इन वाक्यों से स्मृति में अत्यन्त निन्दा की गयी है। शिष्ट पुरुषों का आचार भी ऐसा ही है। अतः ऐसे पतितों के साथ यज्ञ, अध्ययन, विवाहादि कृत्य शिष्ट पुरुष नहीं करते हैं ॥४३॥

१३. स्वाम्यधिकरण

१. सङ्गति—'कृतप्रायश्चित्तः संव्यवहार्यः' इस उत्सर्ग का अतिशयनिन्दाकथन से जैसे नैष्ठिकादि में बाध हो जाता है, वैसे ही अङ्गकर्म का कर्ता ही तदाश्रित उपासना का कर्ता होता है; इस उत्सर्ग का यजमान से भिन्न कर्ता के लिए फलश्रवण से बाध मानना चाहिए, इस प्रकार का दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—कर्तृत्व भोक्तृत्व में ऐकाधिकरण्य का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या अङ्गकर्म की भाँति अङ्गाश्रित उपासना यजमान को करनी चाहिए अथवा ऋत्विक् को?

४. पूर्वपक्ष—उपासना का फल उपासक को ही मिलता है, इस नियम के अनुसार अङ्गाश्रित उपासना का अनुष्ठान यजमान को ही करना चाहिए।

५. सिद्धान्त—'एवंविदुद्गाता ब्रूयात्' इस वाक्यशेष में उद्गाता को स्पष्टरूप से उपासक कहा गया है, जो उचित ही है। यजमान के द्वारा सम्पूर्ण कर्मानुष्ठान के लिए ऋत्विक् दक्षिणा से खरीदा हुआ होता है, अतः ऋत्विजों के द्वारा किया गया कर्म यजमान का ही माना जाता है। इसलिए ऋत्विक् के द्वारा किये हुए कर्म की भाँति उसके द्वारा अनुष्ठित उपासना का फल भी

(४६९) स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥४४॥

अङ्गेषूपासनेषु संशयः । किं तानि यजमानकर्माण्याहोस्विदृत्विक्कर्माणीति । किं तावत्प्राप्तं यजमानकर्माणीति । कुतः फलश्रुतेः । फलं हि श्रूयते—'वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते' (छा० २-३-३) इत्यादि । तच्च स्वामिगामि न्याय्यम् । तस्य साङ्गे प्रयोगेऽधिकृतत्वात् । अधिकृताधिकारत्वाच्चैवंजातीयकस्य । फलं च कर्तर्युपासनानां श्रूयते—'वर्षत्यस्मै य उपास्ते' इत्यादि । नन्वृत्विजोऽपि फलं दृष्टम् 'आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति' (बृ०१-३-२८) इति । न । तस्य वाचनिकत्वात् । तस्मात्स्वामिन एव फलवत्सूपासनेषु कर्तृत्वमित्यात्रेय आचार्यो मन्यते ॥४४॥

स्वामिनः फलश्रुतेः । अङ्गाश्रितोपास्तिषूभयकर्तृकत्वसंभवात्संशयः । यः कृतप्रायश्चित्तः स संव्यवहार्य इत्युत्सर्गस्य निन्दातिशयस्मृत्या नैष्ठिकादिषु बाधवद्यो यदङ्गकर्ता स तदाश्रितस्य कर्तेत्युत्सर्गस्य कर्तुः फलश्रुत्या बाध इति पूर्वपक्षमाह—किमिति । अत्र कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरैकाधिकरण्यं फलं सिद्धान्ते त्वङ्गाश्रिता ऋत्विक्कर्तृका अप्युपास्तयो यजमानगामिस्वतन्त्रफलाः किमु वाच्यं स्वनिष्ठब्रह्मविद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति फलं विवेक्तव्यम् । अतः पादसंगतिः हिङ्कारप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारनिधनाख्यपञ्चप्रकारे साम्नि वृष्टिध्यातुर्वर्षसमृद्धिः फलमिति श्रुत्यर्थः । श्रुतं फलं ऋत्विग्गतं किं न स्यादित्यत आह—तच्चेति । यथासाङ्गक्रत्वधिकृताधिकारत्वाद्गोदोहनस्य फलं क्रत्वधिकारिगतं तद्वदङ्गोपासनस्यापि फलं तद्गतमेवेत्यर्थः । अस्तु तस्य फलं तद्गतं कर्ता त्वन्यः किं न स्यादित्यत आह—फलं चेति । यदुक्तं यजमानगामि फलमिति तस्यापवादं शङ्कते—नन्विति । उद्गानेन साधयतीत्यर्थः । याजमानं फलमित्युत्सर्गस्यासति बाधकवचने सिद्धिरिति समाध्यर्थः । तस्मात्फल भोक्तृत्वादित्यर्थः ॥४४॥

यजमान को ही मिलता है।

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः (ललिता)

अङ्ग उपासनाओं में संशय होता है कि उनका अनुष्ठान यजमान को करना चाहिए या ऋत्विक् को। पूर्वपक्ष में वे उपासनायें यजमान के द्वारा अनुष्ठेय हैं क्योंकि उपासक के लिए उपासना का फल सुना जाता है। 'जो इस प्रकार जानने वाला पुरुष वृष्टि में पञ्चधा साम की उपासना करता है, उसके लिए वर्षा होती है और वह स्वयं भी मेघों से वर्षा करवाता है' इस वाक्य द्वारा श्रुति उपासना का फल स्वामी को मिलता है, ऐसा कहती है। अङ्गों के सहित कर्म में उस यजमान का अधिकार है, उस अधिकृत पुरुष का ही कर्माङ्ग उपासना में भी अधिकार मानना उचित होगा। उपासना का फल भी 'वर्षत्यस्मै य उपास्ते' इस वाक्य द्वारा कर्ता के लिए सुना जाता है। शङ्का—'अपने लिए अथवा यजमान के लिए उपासक जिस भोग की इच्छा करता है, उसी का गान करता है' इस वाक्य द्वारा ऋत्विज् को भी फल देखा गया है। समाधान (पूर्वपक्ष)–ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि इस वाक्य में फल अपवादरूप से वाचनिक है। अतः फलवती उपासनाओं में कर्तृत्व तो उत्सर्गतः स्वामी का ही है, ऋत्विक् तो दक्षिणा द्वारा उस अनुष्ठान के लिए खरीदा हुआ होता है, ऐसा आत्रेय आचार्य मानते हैं ॥४४॥

१. कर्माङ्गावबद्धस्य उपासनस्य।

(४७०) आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥४५॥

(४७१) श्रुतेश्च ॥४६॥

नैतदस्ति स्वामिकर्माण्युपासनानीति । ऋत्विक्कर्माण्येतानि । स्युरित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । किं कारणं तस्मै हि साङ्गाय कर्मणे यजमानेनर्त्विक्परिक्रीयते । तत्प्रयोगान्तःपातीनि चोद्गीथाद्युपासनान्यधिकृताधिकारत्वात् । तस्माद्गोदोहनादिनियमवदेवर्त्विग्भिर्निर्वर्त्येरन् । तथाच 'तं ह बको दाल्भ्यो विदांचकार स ह नैमिषीयाणामुद्गाता बभूव' (छा० १-२-१३) इत्युद्गातृकर्तृकतां विज्ञानस्य दर्शयति । यत्तूक्तं कर्त्राश्रयं फलं श्रूयत इति । नैष दोषः । परार्थत्वादृत्विजोऽन्यत्र वचनात्फलसंबन्धानुपपत्तेः ॥४५॥

'यां वै कांचन यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासत इति यजमानायैव तामाशासत इति होवाचेति', 'तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात्कं ते काममागायानि' (छा० १-७-८-९) इति ।

उपासनमार्त्विज्यं ऋत्विक्कर्तृकमित्यत्र श्रौतं लिङ्गमाह—तथा चेति । तमुद्गीथाख्यं प्रणवं प्राणदृष्ट्या ध्यातवान्ध्यात्वा च नैमिषीयाणां सत्रिणामुद्गातासीदित्यर्थः । यजमानेन स्वगामिफलकसाङ्गप्रयोगकरणार्थर्त्विजां क्रीतत्वात्कर्तृत्वेऽपि न तत्फलभाक्त्वमुत्सर्गस्य बाधकाभावादित्युक्तत्वात् । क्रयणद्वारा कर्तृत्वभोक्तृत्वसामानाधिकरण्यं चोपपद्यते । भृत्यकर्तृके युद्धे राजा युध्यते जयति चेतिवदिति भावः ॥४५॥ ॥४६॥

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते (ललिता)

कर्माङ्ग उपासनाओं का अनुष्ठान यजमान को ही करना चाहिए, ऐसा कहना ठीक नहीं। वे उपासनायें ऋत्विक् द्वारा भी अनुष्ठेय हैं, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं क्योंकि साङ्ग कर्मानुष्ठान के लिए ऋत्विक् यजमान द्वारा खरीद लिया जाता है। उसी प्रयोग के अन्तःपाती इन उद्गीथ उपासनाओं में भी अधिकृत का ही अधिकार माना जाता है। जैसे क्रत्वर्थ चमस पात्र से जलाहरण का विधान जिसके लिए किया गया है, वही व्यक्ति यदि पशुकाम हो जाय तो गोदोहन पात्र से जलाहरण का विधान पुनः किया गया है। इस गोदोहनादि कर्मनियम की भाँति साङ्ग कर्मानुष्ठान में ऋत्विक् का अधिकार है। अतः कर्माङ्ग उद्गीथ उपासनाओं का अनुष्ठान ऋत्विज् ही करेगा, इसमें श्रौत लिङ्ग दिखलाते हैं—'उद्गीथनामक प्रणव में प्राणादिदृष्टिविशिष्ट का चिन्तन दल्भ के पुत्र बक ने किया था, उसके फलस्वरूप वह नैमिष में अनुष्ठान करने वाले का उद्गाता हो गया था' इस वाक्य द्वारा विज्ञान का उद्गातृकर्तृकत्व श्रुति बतलाती है। और जो आप ने, कर्ता के आश्रित फल सुना जाता है, ऐसा कहा था, यह दोष नहीं है। जहाँ वचन है वह अपवादस्थल है, शेष सभी स्थलों में औत्सर्गिक फलसम्बन्ध कहना असङ्गत नहीं है ॥४५॥

श्रुतेश्च (ललिता)

'यज्ञ में ऋत्विज् जो कुछ भी कामना करते हैं, तदनुरूप यजमान के लिए ही प्रार्थना करते हैं, ऐसा उसने कहा' और 'अतः ऐसा विद्वान् उद्गाता यजमान से पूछे कि मैं तुम्हारे लिए किस

१. साम।

१४. सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् (सू० ४७-४९)

(४७२) सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥४७॥

अविधेयं विधेयं वा मौनं तत्र विधीयते । प्राप्तं पाण्डित्यतो मौनं ज्ञानवाच्युभयं यतः ।
निरन्तरज्ञाननिष्ठा मौनं पाण्डित्यतः पृथक् । विधेयं तद्भेददृष्टिप्रावृत्यै तन्निवृत्तये ॥

तच्चर्त्विक्कर्तृकस्य विज्ञानस्य यजमानगामि फलं दर्शयति । तस्मादङ्गोपासनानामृत्विक्कर्तृत्वसिद्धिः ॥४६॥

'तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' (बृ० ३-५-१) इति बृहदारण्यके श्रूयते । तत्र

सहकार्यन्तरविधिः । **यस्मात्पूर्वे ब्राह्मणा आत्मानं विदित्वा सन्यस्य भिक्षाचर्यं चरन्ति तस्मादद्यतनोऽपि ब्राह्मण आपातज्ञानरूपपण्डावान्पण्डितस्तस्य कृत्यं पाण्डित्यं श्रवणं तन्निर्विद्य निश्चयेन लब्ध्वा बाल्येन श्रवणजज्ञानस्य बलभावेन मननेनासंभावनानिरासेन बालस्य भावेन वा शुद्धचित्तत्वेन स्थातुमिच्छेदेवं मननश्रवणे कृत्वाथानन्तरं मुनिर्निदिध्यासनकृत्स्यादेवममौनं च मौनादन्यद्बाल्यपाण्डित्यद्वयं मौनं च निदिध्यासनं लब्ध्वा अथ ज्ञानसामग्री पौष्कल्यानन्तरं ब्रह्माहमिति साक्षात्कारवान् ब्राह्मणो भवतीत्यर्थः । मौनशब्दस्य सिद्धरूपे पारिव्राज्ये अनुष्ठेये च ध्याने प्रयोगात्संशयः । यथा तं**

फलप्राप्त के निमित्त प्रार्थना करूँ' इन वाक्यों द्वारा श्रुति ऋत्विक्कर्तृक उपासना का फल यजमानगामी बतलाती है । अतः कर्माङ्ग उपासनाओं में ऋत्विक् का अधिकार सिद्ध हो जाता है ॥४६॥

१४. सहकार्यन्तरविध्यधिकरण

१. सङ्गति—'**यां वै काञ्चन यज्ञे**' इत्यादि वाक्यशेष से जैसे कर्माङ्ग उपासना ऋत्विक् के द्वारा अनुष्ठेय कही गयी, वैसे ही '**अथ मुनिः**' इत्यादि वाक्यशेष से विधिविरह दशा में विधि नहीं माननी चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. विषय—मौन में अनुष्ठेयत्व का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—'**बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः**' इस वाक्य में मौन का विधान है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—'**अथ मुनिः**' इस वाक्य में विधिविभक्ति का अभाव होने के कारण मुनि और पण्डित शब्द ज्ञानार्थक है और पाण्डित्य से ही मौन भी प्राप्त है, अतः मौन का विधान नहीं है ।

५. सिद्धान्त—ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए बाल्य एवं पाण्डित्य की भाँति विद्या के सहकारीरूप में मौन का विधान मानना चाहिए । निरन्तर ज्ञाननिष्ठा को मौन कहते हैं, जो पाण्डित्य से पृथक् है । प्रबल भेददृष्टि की निवृत्ति के लिए मौन को विधेय मानना उचित ही होगा, चाहे वहाँ पर विधिविभक्ति का श्रवण नहीं भी हो तो मौन में विधि मानना ही उचित है । छान्दोग्य श्रुति में चारों आश्रमों का उल्लेख मिलता है, उनमें मौन शब्द से संन्यास आश्रम की ही सिद्धि होती है ।

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् (ललिता)

'ब्राह्मण पाण्डित्य को प्राप्तकर बालभाव से स्थित हो और बाल्य तथा पाण्डित्य को प्राप्त करने के बाद मुनि होता है, तत्पश्चात् अमौन और मौन का निष्पादनकर ब्राह्मण हो जाता है' ऐसा

संशयः मौनं विधीयते न वेति । न विधीयत इति तावत्प्राप्तम् । बाल्येन तिष्ठासेदित्यत्रैव विधेरवसितत्वात् । न ह्यथ मुनिरित्यत्रविधायिका विभक्तिरुपलभ्यते तस्मादयमनुवादो युक्तः । कुतः प्राप्तिरिति चेत् । मुनिपण्डितशब्दयोर्ज्ञानार्थत्वात्पाण्डित्यं निर्विद्येत्येव प्राप्तं मौनम् । अपि चामौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण इत्यत्र तावन्न ब्राह्मणत्वं विधीयते प्रागेव प्राप्तत्वात् । तस्मादथ ब्राह्मण इति प्रशंसावादस्तथैवाथ मुनिरित्यपि भवितुमर्हति समाननिर्देशत्वादिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः–सहकार्यन्तरविधिरिति । विद्यासहकारिणो मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधिरेवाश्रयितव्योऽपूर्वत्वात् । ननु पाण्डित्यशब्देनैव मौनस्यावगतत्वमुक्तम् । नैष दोषः । मुनिशब्दस्य ज्ञानातिशयार्थत्वात् । मननान्मुनिरिति च व्युत्पत्तिसंभवात् 'मुनीनामप्यहं व्यासः' (गी० १०-३७) इति च प्रयोगदर्शनात् । ननु मुनिशब्द उत्तमाश्रमवचनोऽपि

ह वक इत्यादिवाक्यशेषादुद्गीथाद्युपासनस्यार्त्विज्यत्वनिर्णयस्तद्वदथ ब्राह्मण इति विधिहीनवाक्यशेषान्मौनस्याप्यविधेयत्वनिश्चय इति पूर्वपक्षमाह—न विधीयत इति । अत्र [1]ध्यानस्याऽननुष्ठानं सिद्धान्ते त्वनुष्ठानमिति फलम् । यदि मौनं पारिव्राज्यं तदा [2]वाक्यान्तरप्राप्तमनूद्यते बाल्यविधिप्रशंसार्थम् । यदि ज्ञानं तदा पाण्डित्यशब्दात्प्राप्तमिति पूर्वपक्षग्रन्थार्थः । मुनिशब्दाद्विज्ञानातिशयः प्रतीयते तस्य ज्ञानमात्रवाचिपाण्डित्यशब्दान्न प्राप्तिः । नापि मुनिशब्दः परिव्राड्वाचकः वाल्मीक्यादिषु प्रयुज्यमानत्वात् ।

तस्मादप्राप्तं मौनमपूर्वत्वाद्विधिं कल्पयतीति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना । आप्तस्तम्बप्रयोगस्य

बृहदारण्यक उपनिषद् में सुना जाता है । वहाँ पर संशय होता है कि उक्त वाक्य द्वारा मौन का विधान है या नहीं । इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि 'बाल्येन तिष्ठासेद्' इसी वाक्य में केवल विधि सुनी जाती है, इसलिए मौन का विधान नहीं है । क्योंकि 'अथ मुनिः' इस वाक्य में विधायक विभक्ति नहीं दीखती है । अतः इसे अनुवाद कहना ही ठीक है । शङ्का—पूर्व से प्राप्त का ही अनुवाद होता है । यहाँ मौन की प्राप्ति किससे है, जिससे कि इस वाक्य द्वारा अनुवाद माना जाय । समाधान—मुनि एवं पण्डित शब्द ज्ञानार्थक होने के कारण 'पाण्डित्यं निर्विद्य' इस वाक्य से मौन प्राप्त है, जिसका अनुवाद 'अथ मुनिः' इस वाक्य द्वारा किया गया है । इसके अतिरिक्त 'अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' इस वाक्य में ब्राह्मणत्व का विधान नहीं है क्योंकि वह पूर्व से ही सिद्ध है । इसीलिए 'अथ ब्राह्मणः' यह वाक्य तो प्रशंसावाद है, वैसे ही 'अथ मुनिः' यह वाक्य भी अनुवादमात्र है क्योंकि निर्देश दोनों स्थल में एक जैसा दीखता है ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि आत्मज्ञान के सहकारी मौन में भी वैसे ही विधि माननी चाहिए जैसे बाल्य और पाण्डित्य में विधि मानते हैं क्योंकि यह मौन अपूर्व साधन है, जो पूर्व से प्राप्त नहीं है । शङ्का—पाण्डित्य शब्द से ही मौन अवगत हो चुका है, ऐसा हम कह आये हैं । समाधान—यह कोई दोष नहीं है, मुनि शब्द ज्ञानातिशयार्थक है । "मननात् मुनिः" ऐसी व्युत्पत्ति मुनि शब्द की होती है और 'मुनियों में भी मैं व्यास हूँ' ऐसा प्रयोग देखा जाता है । शङ्का—मुनि

१. निदिध्यासनस्य । २. विदित्वात्मानं व्युत्थायैषणाभ्योऽथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति वाक्यान्तरम् ।

श्रूयते 'गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं 'वानप्रस्थम्' इत्यत्र । न । 'वाल्मीकिर्मुनिपुंगवः' इत्यादिषु व्यभिचारदर्शनात् । इतराश्रमसंनिधानात्तु पारिशेष्यात्तत्रोत्तमाश्रमोपादानं ज्ञानप्रधानत्वादुत्तमाश्रमस्य । तस्माद्बाल्यपाण्डित्यापेक्षया तृतीयमिदं मौनं ज्ञानातिशयरूपं विधीयते। यत्तु बाल्य एव विधेः पर्यवसानमिति तथाप्यपूर्वत्वान्मुनित्वस्य विधेयत्वमाश्रीयते मुनिः स्यादिति । निर्वेदनीयत्वनिर्देशादपि मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधेयत्वाश्रयणम् । तद्वतो विद्यावतः संन्यासिनः । कथं च विद्यावतः संन्यासिन इत्यवगम्यते । तदधिकारात् 'आत्मानं विदित्वा पुत्राद्येषणाभ्यो व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति । ननु सति विद्यावत्त्वे प्राप्नोत्येव तत्रातिशयः किं मौनविधिनेत्यत आह–पक्षेणेति । एतदुक्तं भवति–यस्मिन्पक्षे भेददर्शनप्राबल्यान्न प्राप्नोति तस्मिन्नेष विधिरिति । विध्यादिवत् । यथा

गतिमाह—इतराश्रमेति । किंचामौनं च मौनं च निर्विद्येति श्रवणमननवदनुष्ठेयत्वोक्तेर्मौनस्य विधेयतेत्याह—निर्वेदनीयत्वेति । न च त्रयाणां विधाने वाक्यभेदो दोषः । उपरिधारणवदिष्टत्वात्तद्वाक्यभेदस्येति भावः । कस्येदं ध्यानं विधीयत इत्यत्राह—तद्वत इति । [1]आत्मानं विदित्वेति परोक्षज्ञानवतः संन्यासिनः प्रकृतत्वादित्यर्थः । सूक्ष्मार्थसाक्षात्कारसाधनत्वेन ध्यानादेः षडतादौ लोकतः प्राप्तिं शङ्कित्वा नियमविधिमाह—नन्वित्यादिना । ननु ब्रह्मविद्यापरे वाक्ये कथं ज्ञानाङ्गमिति चेत्तत्फलक्रतुपरवाक्येऽङ्गविधिवदित्याह—विध्यादिवदिति । प्रधानमारभ्याङ्गपर्यन्तो विधिः । तत्र 'प्रधानः क्रतुविध्यादिरत 'एवाङ्गं विधयन्त इत्युच्यत इत्यर्थः । एतत्सूत्रभाष्यभावानभिज्ञाः संन्यासाश्रमधर्म-

शब्द उत्तमाश्रमवाचक भी देखा जाता है। 'गार्हस्थ्य, आचार्यकुल, मौन एवं वानप्रस्थ' इस वाक्य में संन्यास आश्रम का वाचक मुनि शब्द आया है। समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि 'मुनियों में श्रेष्ठ वाल्मीकि हैं' इस वाक्य में उसका व्यभिचार देखा जाता है। इतर आश्रम का सन्निधान होने से भी मौन शब्द किस अर्थ को कह रहा है, यह जानना सरल हो जाता है। तीन आश्रमों को स्पष्टतः कह देने के बाद परिशेषतः वहाँ पर उत्तम आश्रम का ग्रहण मौन शब्द से होता है क्योंकि उत्तम आश्रम ज्ञानप्रधान होता है। अतः बाल्य एवं पाण्डित्य की अपेक्षा से ज्ञानातिशयरूप इस तृतीय साधन मौन का विधान है। और जो आप ने कहा था कि 'बाल्येन तिष्ठासेत्' इस वाक्य का बाल्यविधान में ही पर्यवशान हो जाता है; इत्यादि; फिर भी अपूर्व होने के कारण मौन में भी विधेयत्व माना जाता है। 'मुनिः स्यात्' इस वाक्य में निर्वेदनीयत्व निर्देश होने के कारण भी बाल्य तथा पाण्डित्य की भाँति मौन में विधेयत्व माना है, जो विद्वान् संन्यासी के लिए है। प्रश्न—उस वाक्य का अर्थ विद्यायुक्त संन्यासी आप कैसे कर रहे हैं ? उत्तर—'आत्मा को जानकर वित्तेषणा, पुत्रेषणा एवं लोकेषणा से ऊपर उठकर भिक्षाचर्या करते हैं' इस वाक्य में विद्वान संन्यासी का ही प्रसङ्ग होने के कारण वैसा अर्थ किया गया है। विद्या सम्पन्न होने पर उसमें विद्यातिशय तो प्राप्त ही है, फिर भला मौनविधान से क्या लाभ है, ऐसी शङ्का होने पर 'पक्षेण' इत्यादि सूत्रांश दिया गया है अर्थात् भेददर्शन की प्रबलता के कारण जिस पक्ष में विद्या का अतिशय प्राप्त नहीं है, उस

१. आपस्तम्बवचनमिदम् । २. आदि पदार्थमाह प्रधानेति विश्वेरादिरिति समासः । ३. दर्शपूर्णमासादिः । ४. समिदादिः ।

(४७३) कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥४८॥

(४७४) मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥४९॥

'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयके विध्यादौ सहकारित्वेनाग्न्यन्वाधानादिकमङ्गजातं विधीयते। एवमविधिप्रधानेऽप्यस्मिन्विद्यावाक्ये मौनविधिरित्यर्थः ॥४७॥

एव बाल्यादिविशिष्टे कैवल्याश्रमे श्रुतिमति विद्यमाने कस्माच्छान्दोग्ये गृहिणोपसंहारः 'अभिसमावृत्य कुटुम्बे' (छा० ८-१५-१) इत्यत्र। तेन ह्युपसंहरंस्तद्विषयमादरं दर्शयतीति। अतः उत्तरं पठति—

तुशब्दो विशेषणार्थः। कृत्स्नभावोऽस्य विशिष्यते। बहुलायासानि हि बहून्याश्रमकर्माणि यज्ञादीनि तं प्रति कर्तव्यतयोपदिष्टान्याश्रमान्तरकर्माणि च यथासम्भवमहिंसेन्द्रियसंयमादीनि तस्य विद्यन्ते तस्माद्गृहमेधिनोपसंहारो न विरुध्यते ॥४८॥

यथा मौनं गार्हस्थ्यं चैतावाश्रमौ श्रुतिमन्तावेवमितरावपि वानप्रस्थगुरुकुलवासौ।

श्रवणादौ विधिर्नास्तीति वदन्ति। विधौ ह्यप्राप्तिमात्रमपेक्षितं तच्च भेददर्शनप्राबल्याद्दर्शितमिति संप्रदायविदः ॥४७॥

समावर्तनानन्तरं कुटुम्बे स्थितो ब्रह्मलोकं प्राप्नोति 'न च पुनरावर्तते' इत्युपसंहारात्संन्यासो नास्तीति शङ्कार्थः। आयासविशिष्टकर्मबाहुल्याद्गृहिणोपसंहारः कृतो, न संन्यासाभावादिति समाध्यर्थः ॥४८॥

संन्यासगार्हस्थ्यद्वयमत्र सूत्रकृतोक्तम्। ततोऽन्यदाश्रमद्वयं नास्तीति कस्यचिद्भ्रमः स्यात्तं निरस्यति—मौनवदिति। आश्रमद्वयवदित्यर्थः। इतरयोरपीति वाच्ये बहूक्तिरवान्तरभेदमपेक्ष्य। स चास्माभिः प्राग्दर्शितः ॥४९॥

पक्ष में ही विद्यातिशयार्थ मौन का विधान है। जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' ऐसे विधिवाक्य में सहकारीरूप से अग्न्याधानादि अङ्ग का विधान किया जाता है, ऐसे ही विधिप्रधान न होने पर भी विद्यावाक्य में मौन का विधान है ॥४७॥

इस प्रकार बाल्यादिविशिष्ट संन्यास आश्रम जब श्रुतिसिद्ध विद्यमान है, फिर भला 'समावर्तन संस्कार सम्पन्न कराकर गार्हस्थ जीवन में जाय' इस छान्दोग्य श्रुति में गार्हस्थ आश्रम प्रतिपादन द्वारा उपसंहार क्यों किया गया, इसका उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं—

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः (ललिता)

गार्हस्थ आश्रम को आदर देने के लिए ऐसा कहना उचित है। सूत्र में 'तु' शब्द विशेषणार्थक है कि गार्हस्थ आश्रम में पूर्णता ही विशेष है क्योंकि बहुआयाससाध्य यज्ञादि आश्रम कर्म गृहस्थ के लिए कर्तव्यरूप से बतलाये गये हैं। इसके अतिरिक्त आश्रम से सम्बन्धित कम भी करने पड़ते हैं। यथासम्भव अहिंसा, इन्द्रिय संयम आदि भी गार्हस्थ जीवन में रहते ही हैं। इन्हीं सब कारणों से गार्हस्थ आश्रम के माध्यम से प्रसङ्ग का उपसंहार करना विरुद्ध नहीं है ॥४८॥

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् (ललिता)

जैसे 'मौनं गार्हस्थ्यं' इस वाक्य द्वारा दो आश्रम श्रुतिसम्मत हैं, ऐसे ही वानप्रस्थ और ब्रह्मचर्य

१५. अनाविष्काराधिकरणम् (सू.५०)

(४७५) अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥५०॥

बाल्यं वयः कामचारो धीशुद्धिर्वा प्रसिद्धितः । वयस्तस्याविधेयत्वे कामचारोऽस्तु नेतरा ।
मननस्योपयुक्तत्वाद्भावशुद्धिर्विवक्षिता । अत्यन्तानुपयोगित्वाद्विरुद्धत्वाच्च न द्वयम् ॥

दर्शिता हि पुरस्ताच्छ्रुतिः—'तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः' (छा० २-२३-१) इत्याद्या । तस्माच्चतुर्णामप्याश्रमाणामुपदेशाविशेषात्तुल्यवद्विकल्प-[१]समुच्चयाभ्यां प्रतिपत्तिः । इतरेषामिति द्वयोराश्रमयोर्बहुवचनं वृत्तिभेदापेक्षयाऽनुष्ठातृ-भेदापेक्षया वेति द्रष्टव्यम् ॥४९॥

'तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' (बृ० ३-५-१) इति बाल्यम-

---

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् । तत्र बाल्ये विषये तद्धितस्य भावार्थत्वासंभवात्कर्मार्थत्वं गृहीत्वा तिष्ठन्

आश्रम भी श्रुतिसिद्ध ही है । यह बात छान्दोग्य श्रुति में 'तप ही दूसरा है, ब्रह्मचारी आचार्यकुलवासी तृतीय है' इस वाक्य से बतलायी जा चुकी है । अतः चारों आश्रमों का उपदेश समानरूप से दिखाई पड़ने के कारण विकल्प एवं समुच्चय की प्राप्ति एक जैसी होती है । सूत्र में **'इतरेषाम्'** बहुवचन का प्रयोग दो आश्रम के लिए कैसे किया गया, इसका उत्तर है कि वृत्तिभेद की अपेक्षा से अथवा अनुष्ठानभेद की अपेक्षा से द्वित्व अर्थ में बहुवचन का प्रयोग करना असङ्गत नहीं है ॥४९॥

१५. अनाविष्काराधिकरण

१. **सङ्गति**—जैसे मौन शब्द की प्रसिद्धि निदिध्यासन अर्थ में है, इस प्रसिद्धि के कारण अप्राप्त मौन का भी विधान माना गया वैसे ही भावशुद्ध अर्थ में प्रसिद्ध बाल्य शब्द को भी विधेयक मानना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. **विषय**—बालसुलभ यथेच्छाचरण का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—**'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्'** इत्यादि वाक्य में बाल्य शब्द से बालसुलभ यथेच्छाचरण का विधान है अथवा भावशुद्धि का ?

४. **पूर्वपक्ष**—नियमाभाव के कारण यथेच्छाचरण का ही विधान उक्त वाक्य में मानना चाहिए ।

५. **सिद्धान्त**—**'अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः'** ऐसी श्रुति और **'अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्'** ऐसी स्मृति के कारण ज्ञान, अध्ययन एवं धार्मिकत्व के द्वारा अपने को ख्यापित न करते हुए ज्ञानी को रहना चाहिए । संन्यासी का जीवन ज्ञानाभ्यासप्रधान होता है, उसी अर्थ में भाव-शुद्ध्यर्थक बाल्य शब्द का प्रयोग हुआ है, यथेच्छाचार अर्थ में नहीं क्योंकि संन्यासी के लिए शौचादि धर्मविधायक शास्त्र उपलब्ध है, उसके साथ यथेच्छाचार का विरोध होने लग जायेगा । अतः भावशुद्धि ही बाल्य है, यथेच्छाचार नहीं ।

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् (ललिता)

'अतः ब्राह्मण को पाण्डित्य प्राप्तकर बाल्यभाव से स्थित होना चाहिए' इस वाक्य में बालभाव

---

१. क्रमसमुच्चय ।

नुष्ठेयतया श्रूयते । तत्र बालस्य भावः कर्म वा बाल्यमिति तद्धिते सति बालभावस्य वयोविशेषस्येच्छया सम्पादयितुमशक्यत्वाद्यथोपपादं मूत्रपुरीषत्वादिर्बालचरितमर्न्तगता वा भावविशुद्धिरप्ररूढेन्द्रियत्वं दम्भदर्पादिरहितत्वं वा बाल्यं स्यादिति संशयः । किं तावत्प्राप्तं कामचारवादभक्षणता यथोपपादमूत्रपुरीषत्वं च प्रसिद्धतर लोके बाल्यमिति तद्ग्रहण युक्तम् । ननु पतितत्वादिदोषप्राप्तेर्न युक्तं कामचारताद्याश्रयणम् । न विद्यावतः संन्यासिनो 'वचनसामर्थ्याद्दोषनिवृत्तेः पशुहिंसादिष्विवेति ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—न । वचनस्य गत्यन्तरसम्भवात् । अविरुद्धे ह्यन्यस्मिन्बाल्यशब्दाभि'लप्ये लभ्यमाने न विध्यन्तरव्याघातकल्पना युक्ता । प्रधानोपकाराय चाङ्गं विधीयते । ज्ञानाभ्यासश्च प्रधान'मिह्यतीनामनुष्ठेयम् ।

मूत्रत्वादिकर्मणोऽप्ररूढेन्द्रियत्वादिरूपभावशुद्धेश्च बालकर्मत्वाविशेषात्संशयमाह—तत्रेति । पूर्वपक्षे विद्याङ्गत्वेन तिष्ठन्मूत्रत्वादेरप्यनुष्ठानं सिद्धान्ते भावशुद्धेरेवेति फलम् । पूर्वत्र मौनशब्दस्य ज्ञानातिशये ध्याने प्रसिद्धत्वात् ध्यानं विधेयमित्युक्तम्, तद्वद्बाल्यशब्दस्य कामचारादौ प्रसिद्धस्तद्विधिग्रहणमित्याह—किं तावदिति । कामतश्चरणवदनभक्षणानि यस्य स कामचारवादभक्षणस्तस्य भावस्तत्तेत्यर्थः । यथोपपादं यथासंभवं मूत्रादि यस्य तद्भावस्तत्त्वं बाल्यविधिबलात्पातित्यशास्त्रमन्यविषयमिति भावः । "यस्त्वविज्ञानवान्भवत्य'मनस्कः सदाऽशुचिः ।

न स 'तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति' इत्यादि शौचभिक्षादिनियमविधिशास्त्राविरुद्धस्य भावशुद्ध्याख्यबाल्यस्य विधिसंभवान्न यथेष्टचेष्टाविधिरिति सिद्धान्तयति—एवमिति । प्रधानविरोधित्वाच्च न तद्विधिरित्याह—प्रधानेति । भावशुद्धेर्विद्योपकारकत्वेनान्वयाऽनाविष्कुर्वन्भवेदिति बाल्यविध्यर्थ इति सूत्रयोजना ॥५०॥

अनुष्ठेय सुना जाता है । बाल शब्द से भाव या कर्म अर्थ में ष्यञ् तद्धित होने पर बाल्य शब्द बनता है, अतः बालक की आयुविशेष का स्वेच्छा से सम्पादन करना शक्य नहीं है । जैसे बालक के लिए सुलभ मूत्रपुरीषादि का त्याग स्वेच्छा से नहीं होता है किन्तु स्वाभाविक हुआ करता है अथवा बालचरित्रान्तःपाती भावविशुद्धि या दम्भ, दर्प, इन्द्रियों की प्रौढ़ता से रहित भी बाल्य माना जा सकता है । इनमें से बाल्य शब्द का क्या अर्थ लेना उचित होगा, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष का कहना है कि यथेच्छ आचार, वदन, भक्षण, मूत्रपुरीषादि का त्यागरूप बालत्व लोक में अत्यन्त प्रसिद्ध है, बाल्य पद का वही अर्थ ग्रहण करना उचित होगा । शङ्का—उक्त रीति से यथेच्छाचरण करने पर पतित्वादि दोष आ जाने की सम्भावना से विद्वान् संन्यासी को यथेच्छाचरण करना उचित नहीं होगा । समाधान—वचनसामर्थ्य से पशु-हिंसादिनिवृत्ति की भाँति उक्त दोषनिवृत्ति विद्वान् संन्यासी के लिए भी अभीष्ट ही है ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहता हैं कि वचन में गत्यन्तर भी सम्भव है अर्थात् बाल्य शब्द से दूसरा अविरुद्ध अर्थ जब प्राप्त हो रहा है तो विध्यन्तरव्याघातकल्पना युक्त नहीं है । प्रधान के उपकार के लिए अङ्ग का विधान किया जाता है । संन्यासियों के लिए यहाँ पर ज्ञानाभ्यास

---

१. बाल्येनतिष्ठासेदितिवचनसामर्थ्यात् । २. वाच्येऽर्थे । ३. प्रकृतवाक्ये । ४. अनिपुणो विवेक शून्यः । ५. अपरिगृहीतमनाः अतएवाशुचिः, बाह्याभ्यंतर शौच शून्यः । ६. विष्णोः परमं पदम् ।

१६. ऐहिकाधिकरम् (सू० ५१)

इहैव नियतं ज्ञानं पाक्षिकं वा नियम्यते । तथाभिसंधेर्यज्ञादिः क्षीणो विविदिषाजनौ ।
असति प्रतिबन्धेऽत्र ज्ञानं जन्मान्तरेऽन्यथा । श्रवणायेत्यादिशास्त्राद्वामदेवोद्भवादपि ।।

नच सकलायां बालचर्यायामङ्गी क्रियमाणायां ज्ञानाभ्यासः सम्भाव्यते । तस्मादान्तरो भावविशेषो बालस्याप्ररूढेन्द्रियत्वादिरिह बाल्यमाश्रीयते । तदाह—अनाविष्कुर्वन्निति । ज्ञानाध्ययनधार्मिकत्वादिभिरात्मानमविख्यापयन्दम्भदर्पादिरहितो भवेत् । यथा बालोऽप्ररूढेन्द्रियतया न परेष्वात्मानमाविष्कर्तुमीहते तद्वत् । एवं ह्यस्य वाक्यस्य प्रधानोपकार्यर्थानुगम उपपद्यते । तथा चोक्तं स्मृतिकारैः—'यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् । न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित स ब्राह्मणः ।। गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् । अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्' । अव्यक्तलिङ्गोऽव्यचारः' चैवमादि ।।५०।।

ही प्रधानरूप से अनुष्ठेय हैं । ऐसी स्थिति में समस्त बालचर्या उसमें मानोगे तो ज्ञानाभ्यास ही सम्भव नहीं होगा । अतः बालक का आन्तरिकभावविशेष ही ग्रहण करना चाहिए, वही **अर्थ** बाल्य पद का करना चाहिए क्योंकि उसकी इन्द्रियां प्रौढ़ नहीं है जिससे कि उसमें साधारणजन-सुलभ कामादि की कल्पना कर सकें । यही बात सूत्रकार इस सूत्र से कहते हैं कि ज्ञान, अध्ययन, धार्मिकत्वादि रूप में अपने को ख्यापित न करता हुआ दम्भ, दर्पादिशून्य होकर रहे । जैसे इन्द्रियों में प्रौढ़ता न आने के कारण बालक दूसरों के समक्ष अपने को ख्यापित नहीं करता, वसे ही ज्ञानी भी दूसरों के समक्ष अपने को ख्यापित न करे । इस प्रकार बाल्य पद का अर्थ करने पर इस वाक्य का प्रधान-उपकारी अर्थ सिद्ध हो जाता है । 'जो अपने को न सन्त समझता है, न असन्त समझता है, न अश्रुत और न बहुश्रुत समझता है, न शोभन आचारवाला और न अशोभन आचारवाला ही समझता है वही ब्राह्मण है । गोपनीय धर्म का आश्रय लिया हुआ विद्वान् अज्ञात चरित्र का आचरण करे; वह अन्धे, जड़ एवं गूंगे को भांति अव्यक्त लिङ्ग और अव्यक्त आचारवाला होकर पृथ्वी में विचरण करे ।' ऐसा स्मृतिकारों ने भी कहा है ।।५०।।

१६. ऐहिकाधिकरण

१. **सङ्गति**—संन्यास से लेकर बाल्यपर्यन्त साधनों को बतला देने के बाद तत्साध्य विद्योत्पत्ति के विचार के लिए हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ हुआ है ।

२. **विषय**—श्रवणादि में विद्यासाधनत्व की सिद्धि पर इस अधिकरण में विचार किया गया है ।

३. **संशय**—क्या श्रवणादि के अनुष्ठान से इसी जन्म में ज्ञान की उत्पत्ति होती है अथवा जन्मान्तर में ?

४. **पूर्वपक्ष**—**'इहैव मे विद्याजायताम्'** इस कामना से ज्ञान के साधन श्रवणादि में प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः विद्योत्पत्ति ऐहिक ही है ।

५. **सिद्धान्त**—प्रतिबन्ध के न रहने पर श्रवणादि के अनुष्ठान से इस जन्म में ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु प्रतिबन्ध रहने पर जन्मान्तर में भी ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव है **'अन्यथा श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः'** इत्यादि शास्त्र असङ्गत हो जायंगे । वामदेवादि को मातृगर्भ में ही ज्ञान होना सुना जाता है, अतः श्रवणादि के द्वारा इस जन्म में और जन्मान्तर में भी ज्ञान का होना सम्भव है ।

(४७६) ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥५१॥

'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३-४-२६) इत्यत आरभ्योच्चावचं[1] विद्यासाधनमवधारितं तत्फलं विद्या सिध्यन्ती किमिहैव जन्मनि सिध्यत्युत कदाचिदमुत्रापीति चिन्त्यते। किं तावत्प्राप्तम्। इहैवेति, किं कारणम्। श्रवणादिपूर्विका हि विद्या। न च कश्चिदमुत्र मे विद्या जायतामित्यभिसंधाय श्रवणादिषु प्रवर्तते। समान एव तु जन्मनि विद्याजन्माभिसंधायैतेषु प्रवर्तमानो दृश्यते। यज्ञादीन्यपि श्रवणादिद्वारेणैव विद्यां जनयन्ति प्रमाणजन्यत्वाद्विद्यायाः। तस्मादैहिकमेव विद्याजन्मेति।

एवं प्राप्ते वदामः—ऐहिकं विद्याजन्म भवत्यसति प्रस्तुतप्रतिबन्ध इति। एतदुक्तं भवति—यदा प्रक्रान्तस्य विद्यासाधनस्य कश्चित्प्रतिबन्धो न क्रियत उपस्थितविपाकेन

ऐहिकमपि संन्यासादिबाल्यान्तं साधनजातमुक्त्वा तत्साध्यविद्याजन्म विचार्यत इति संगतिं वदन् साधनस्य द्विधा फलसंभवात्संशयमाह—सर्वेत्यादिना। कारीरीष्टिवदैहिकफलत्वनियमः श्रवणादीनामिति पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति। नन्वामुष्मिकफलकयज्ञादिसाध्यविद्यायाः कथमैहिकत्वनियम इत्यत आह—यज्ञादीन्यपीति। शुद्धिद्वारा यज्ञादिभिः श्रवणादिषु साक्षाद्विद्याहेतुषु घटितेषु विद्याविलम्बो न युक्तः। दृश्यते च विलम्बः। अतः श्रवणादेर्विद्याहेतुत्वमसिद्धमिति पूर्वपक्षे फलम्।

प्रतिबन्धकवशाद्विलम्बेऽपि हेतुत्वसिद्धिरिति सिद्धान्ते फलं मत्वा चित्रादिवदनियतफलं श्रवणादिकमिति सिद्धान्तयति—एवमिति। ननु प्रारब्धकर्मविशेषेण श्रवणादिफलप्रतिबन्धः किमिति क्रियते

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् (ललिता)

'सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेः' यहाँ से प्रारम्भकर ज्ञान के सभी छोटे-बड़े साधनों को बतलाया, अब उसके फल मोक्ष को सिद्ध करने वाली विद्या क्या इसी जन्म में प्राप्त होती है अथवा कदाचित् देहान्तर के बाद परलोक में भी प्राप्त होती है, ऐसा विचार यहाँ किया जाता है। इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि मोक्ष का साधन विद्या इस जन्म मे ही प्राप्त होती है क्योंकि विद्या का साधन श्रवणादि ऐहिक ही है। मरने के बाद मुझे विद्या प्राप्त हो, इस अभिप्राय से कोई भी श्रवणादि साधनों में प्रवृत्त नहीं होता; किन्तु इसी जन्म में मुझे विद्या प्राप्त हो, इस अभिप्राय से ही उसके साधन श्रवणादि में प्रवृत्त होते देखा जाता है। यज्ञादि बहिरङ्ग साधन भी श्रवणादि के द्वारा विद्या को उत्पन्न करते हैं क्योंकि विद्या प्रमाणजन्य होती है, कर्मजन्य नहीं। अतः विद्या की उत्पत्ति इसी जन्म में होती है।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रस्तुत प्रतिबन्ध के न रहने पर विद्या की उत्पत्ति ऐहिक होती है, किन्तु प्रतिबन्ध के रहने पर विद्या आमुष्मिक भी होती है अर्थात् प्रारम्भ-विद्यासाधन में किसी उपस्थित फलप्रद कर्मान्तर के द्वारा प्रतिबन्ध न उत्पन्न हुआ हो तो विद्या इसी जन्म में उत्पन्न होती है किन्तु जब प्रतिबन्ध आ जाता है, तब विद्या लोकान्तर एवं कालान्तर में भी

---

१. उच्चावचमन्तरङ्गबहिरङ्गाख्यम्।

कर्मान्तरेण तदेहैव विद्योत्पद्यते, यदा तु खलु तत्प्रतिबन्धः क्रियते तदाऽमुत्रेति । उपस्थितविपाकत्वं च कर्मणो देशकालनिमित्तोपनिपाताद्भवति । यानि चैकस्य कर्मणो विपाचकानि देशकालनिमित्तानि तान्येवान्यस्यापीति न नियन्तुं शक्यते । यतो विरुद्धफलान्यपि कर्माणि भवन्ति । शास्त्रमप्यस्य कर्मण इदं फलं भवतीत्येतावति पर्यवसितं न देशकालनिमित्तविशेषमपि संकीर्तयति । साधनवीर्यविशेषात्त्वतीन्द्रिया कस्यचिच्छक्तिराविर्भवति सा प्रतिबद्धा परस्य तिष्ठति । न चाविशेषेण विद्यायामभिसंधिर्नोत्पद्यत इहामुत्र वा मे विद्या जायतामित्यभिसंधेर्निरङ्कुशत्वात् । श्रवणादिद्वारेणापि विद्योत्पद्यमाना प्रतिबन्धक्षयापेक्षयैवोत्पद्यते । तथा च श्रुतिर्दुर्बोधत्वमात्मनो दर्शयति—'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः । आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' (क० २·७) इति । गर्भस्थ एव च वामदेवः प्रतिपेदे ब्रह्मभावमिति वदन्ती

श्रवणादिमेव कर्मविपाकप्रतिबन्धः किं न स्यादित्यत आह—उपस्थितविपाकत्वं चेति । देशादिमहिम्ना कर्माणि विपच्यन्त इत्यर्थः । तेन श्रवणादिकमेव किमिति न विपच्यते, तत्राह—यानि चेति । विपाचकत्वं फलोन्मुखत्वहेतुत्वम् । ननु तर्हि श्रवणादिविपाचकदेशादिकं कीदृशमित्यत आह—शास्त्रमपीति । फलबलाद्देशादिज्ञानमिति भावः । तथापि कर्मणैव श्रवणादिप्रतिबन्धो न वैपरीत्यमित्यत्र को हेतुस्तमाह—स धनेति । प्रतिबन्धकत्वशक्तिरपि फलबलाज्ज्ञातव्येति भावः । प्रतिबन्धकसद्भावे श्रौतं स्मार्तं च लिङ्गमाह—तथा चेत्यादिना । शृण्वन्तोऽपि न विद्युरित्युक्तेः प्रतिबन्धसिद्धिः । आत्मनो यथावद्वक्ताप्याश्चर्यः अद्भुतवत् कश्चिदेव भवति । तिष्ठतु लब्धासाक्षात्कारवान्, परोक्षतो ज्ञाताप्याश्चर्यः । कुशलेनाचार्येणानुशिष्टोऽपीत्यर्थः ॥५१॥

उत्पन्न होती है । देश, काल एवं निमित्त के कारण कर्म में उपस्थितविपाकत्व आता है, जिसे प्रतिबन्ध कहते हैं । एक ही कर्म के जो देश, काल निमित्त विपाचक होते हैं, वे ही अन्य कर्म के भी हों, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता क्योंकि कर्म विरुद्धफल देनेवाले भी होते हैं । शास्त्र तो इतना कहकर ही विराम ले लेता है कि इस कर्म का फल यह है । इस कर्म का फल अमुक देश में, अमुक काल में, अमुक निमित्त से भी प्राप्त होगा; ऐसा शास्त्र नहीं कहता । साधनशक्तिविशेष के कारण किसी कर्म की अतीन्द्रिय शक्ति प्रकट होती है तो दूसरे की प्रतिबद्ध पड़ी रहती है । विद्या में सभी का अभिप्राय एक जैसा नहीं होता है कि मुझे इसी जन्म में विद्या हो अथवा परजन्म में विद्या हो क्योंकि सभी का अभिप्राय निरङ्कुश होता है । श्रवणादि साधनों के द्वारा भी उत्पन्न होने वाली विद्या प्रतिबन्धक्षय की अपेक्षा रखती ही है, इसलिए श्रुति आत्मा को दुर्बोध बतलाती है कि 'बहुतों को यह आत्मा सुनने के लिए सुलभ नहीं है, सुनने वालों में भी बहुत से इसे नहीं समझ पाते । इस आत्मा का वक्ता भी अद्भुत होता है और इस आत्मा का लब्धा जिज्ञासु भी आश्चर्यमय होता है, जो कुशल आचार्य से अनुशिष्ट हो आत्मा को जानता है ।', 'ऋषि वामदेव मातृगर्भ में रहते हुए ही ब्रह्मभाव को प्राप्त कर गये थे' ऐसा कहने वाली श्रुति यह बतला रही है कि जन्मान्तरीयसंचित

१७. मुक्तिफलानियमाधिकरणम् (सू० ५२)

मुक्तिः सातिशया नो वा फलत्वाद्ब्रह्मलोकवत्। स्वर्गवच्च नृभेदेन मुक्तिः सातिशयैव हि।
ब्रह्मैव मुक्तिर्न ब्रह्म क्वचित्सातिशयं श्रुतम्। अत एकविधा मुक्तिर्वेधसो मनुजस्य वा॥

जन्मान्तरसंचितात्साधनाज्जन्मान्तरे विद्योत्पत्तिं दर्शयति। नहि गर्भस्थस्यैवैहिकं किंचित् साधनं संभाव्यते। स्मृतावपि—'अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति' (गी० ६-३७) इत्यर्जुनेन पृष्टो भगवान्वासुदेवः 'नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति' (गी० ६-४०) इत्युक्त्वा पुनस्तस्य पुण्यलोकप्राप्तिं साधुकुले सम्भूतिं चाभिधायानन्तरम् 'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्' (गी० ६-४३) इत्यादिना 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गी०६-४५)इत्यन्तेनैतदेव दर्शयति। तस्मादैहिकमामुष्मिकं वा विद्याजन्म प्रतिबन्धक्षयापेक्षयेति स्थितम् ॥५१॥

साधन से भी जन्मान्तर में विद्या की उत्पत्ति होती है क्योंकि गर्भ में रहने वाले व्यक्ति में किसी ऐहिक साधन की सम्भावना नहीं रहती। इसीलिए गीता में भी 'हे कृष्ण! योग की संसिद्धि को न प्राप्तकर योगभ्रष्ट किस गति को प्राप्त करता है?' ऐसा अर्जुन के पूछने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'हे तात! कल्याणकर्म करने वाला कोई भी साधक दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।' ऐसा कहने के पश्चात् उस योगभ्रष्ट को पुण्यलोकप्राप्ति और साधुकुल में जन्म बतलाया है, तत्पश्चात् उस साधुकुल में उस योगभ्रष्ट को पूर्वदेहिक बुद्धिसंयोग प्राप्त हो जाता है' यहाँ से लेकर 'अनेकजन्मसंसिद्ध पुरुष परागति को प्राप्त करता है' यहाँ तक के वाक्यों द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण उक्त अर्थ को ही बतलाते हैं। अतः विद्या का जन्म ऐहिक और प्रतिबन्धक्षय की अपेक्षा से आमुष्मिक भी होता है, यह निश्चित हो गया ॥५१॥

१७. मुक्तिफलानियमाधिकरण

१. **सङ्गति**—जैसे साधनों के उत्कर्ष और अपकर्ष से उसके फल विद्या में उत्कर्ष-अपकर्ष देखे जाते हैं, वैसे ही विद्या के फल मोक्ष में भी कुछ उत्कर्षादि विशेष नियम मानना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. **विषय**—ज्ञानसाध्य मुक्ति पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. **संशय**—क्या विद्या की भाँति मुक्ति में भी विशेषनियम है अथवा नहीं?

४. **पूर्वपक्ष**—साधनसामर्थ्यविशेष के कारण जैसे ज्ञान में वैशिष्ट्य आता है, वैसे ही विद्या के फल मोक्ष में भी विशेष नियम मानना चाहिए। अतः स्वर्गादि की भाँति मुक्ति भी सातिशय ही है।

५. **सिद्धान्त**—मुक्ति ब्रह्मस्वरूप ही है, ब्रह्म कहीं भी सातिशय नहीं सुना गया है। अतः चतुर्मुख ब्रह्मा अथवा मनुष्य की मुक्ति एक जैसी ही होती है, उस मुक्ति में कोई भेद नहीं है।

(४७७) एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थाव-धृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥५२॥

यथा मुमुक्षोर्विद्यासाधनावलम्बिनः साधनवीर्यविशेषाद्विद्यालक्षणे फल ऐहिकामुष्मिकफलत्वकृतो विशेषप्रतिनियमो दृष्टः। एवं मुक्तिलक्षणेऽप्युत्कर्षापकर्षकृतः कश्चिद्विशेषप्रतिनियमः स्यादित्याशङ्क्याह—एवं मुक्तिफलानियम इति। न खलु मुक्तिफले कश्चिदेवंभूतो विशेषप्रतिनियम आशङ्कितव्यः। कुतः? तदवस्थावधृतेः। मुक्त्यवस्था हि सर्ववेदान्तेष्वेकरूपैवावधार्यते। ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था, न च ब्रह्मणोऽनेकाकारयोगोऽस्ति। एकलिङ्गत्वावधारणात्। 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३-८-८), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३-९-२६), 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७-२४-१), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २-२-११), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २-४-६), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमृतोऽमरोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४-४-२५), 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४-५-१९) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

अपिच विद्यासाधनं स्ववीर्यविशेषात्स्वफल एव विद्यायां कंचिदतिशयमासञ्जयेन्न विद्या-

---

असति प्रारब्धकर्मप्रतिबन्धे श्रवणादिनेहैव विद्योदयः यज्ञादिभिः संचितपापप्रतिबन्धस्य निरस्तत्वात्। सति तु भोगेन तन्निरासादमुत्रेति विद्याया ऐहिकामुष्मिकत्वविशेषनियम उक्तस्तद्वत्तत्फलेऽपि मोक्षे कश्चिदुत्कर्षादिविशेषः स्यादित्यत आह—एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः। मुक्तिरत्र विषयः। तस्यां विद्यावद्विशेषनियमोऽस्ति न वेति फलत्वोभययासम्भवात्संशये पूर्वपक्षमाह—यथेति। मुक्तिः सविशेषा, फलत्वाद्विद्यावदतः कर्मसाध्या मुक्तिरिति फलम्। सिद्धान्ते तु निर्विशेषत्वावधारणश्रुतिबाधितमनुमानमतो ज्ञानैकलभ्या मुक्तिरिति फलम्।

किंच श्रवणादितारतम्याद्विद्यायां कंचिदतिशयमङ्गीकृत्य विद्यालभ्यमुक्तौ नातिशय इत्याह—अपिच विद्यासाधनमिति। ननु ब्रह्मणो नित्यसिद्धत्वादविद्यानिवृत्तेश्चान्यत्वे द्वैतापत्तेः, अनन्यत्वे

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः (ललिता)

ब्रह्मविद्यासाधन में संलग्न मुमुक्षु के साधनशक्तिविशेष के कारण उसके फल विद्या में ऐहिक और आमुष्मिकफलत्व विशेषरूप से प्रतिनियत देखा गया है अर्थात् साधन के उत्कर्ष होने पर ऐहिक फल और अपकर्ष रहने पर आमुष्मिकविद्यारूप फल देखा गया है। ऐसे ही विद्या के फल मोक्ष में उत्कर्ष और अपकर्ष कुछ विशेष रहेगा तो, इस आशङ्का का समाधान अग्रिम सूत्र से दिया गया है कि विद्या के फल मोक्ष में इस प्रकार विशेष की आशङ्का नहीं रखनी चाहिए क्योंकि सभी श्रुतियों में मुक्ति अवस्था एक जैसी ही निश्चित् की गयी है। ब्रह्म ही मुक्तावस्था है, उस ब्रह्म में अनेकाकार नहीं है, वह तो 'स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं', 'वह आत्मा यह नहीं, यह नहीं', 'जहाँ दूसरे को देखता नहीं', 'यह अमृतस्वरूप ब्रह्म ही सामने है', 'यह सब कुछ आत्मा ही तो है', 'वही यह महान् आत्मा अजर अमर अमृत अभय ब्रह्मस्वरूप है', 'जहाँ इस ज्ञानी का सब कुछ आत्मा ही हो गया वहाँ कौन किससे किसको देखे' इत्यादि श्रुतियों से एकरूप ही निश्चित हुआ है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मविद्या के साधन अपनी शक्तिविशेष के कारण अपने फल विद्या में ही कुछ

फले मुक्तौ। तद्ध्यसाध्यं नित्यसिद्धस्वभावभूतमेव विद्ययाधिगम्यत इत्यसकृदवादिष्म। न च '[1]तस्यामप्युत्कर्षनिकर्षात्मकोऽतिशय उपपद्यते निकृष्टाया विद्यात्वाभावादुत्कृष्टैव हि विद्या भवति। तस्मात्तस्यां चिराचिरोत्पत्तिस्वरूपोऽतिशयो भवन्भवेत्। न तु मुक्तौ कश्चिदतिशयसम्भवोऽस्ति। विद्याभेदाभावादपि तत्फलभेदनियमाभावः कर्मफलवत्। नहि मुक्तिसाधनभूताया विद्यायाः कर्मणामिव भेदोऽस्तीति। सगुणासु तु विद्यासु—'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३-१४-२) इत्याद्यासु गुणावापोद्वापवशाद्भेदोपपत्तौ सत्यामुपपद्यते यथास्वं

चासाध्यत्वात्किं विद्याफलमित्यत आह—तद्धीति। विद्ययाभिव्यक्तत्वेन ब्रह्मानन्द एव मुख्यफलमभिव्यक्तिरविद्यानिवृत्तिरानन्दस्वरूपस्फूर्तिप्रतिबन्धकाभावतया विद्यया साध्यते सा चानिर्वाच्येति न द्वैतापत्तिः। अन्ये तु सा [2]ब्रह्मानन्देत्याहुः। नच साध्यत्वानुपपत्तेस्तत्र विद्यावैयर्थ्यमिति वाच्यम्। यदभावे यदभावस्तत्तत्साध्यमिति ज्ञानात्सर्वो लोकः प्रवतते। तथाच विद्याया अभावे ब्रह्मस्वरूपमुक्तेरभावोऽनर्थरूपा अविद्यैवास्ति। अस्या अविद्याया एव मुक्तिर्नास्तीतिव्यवहारविषयत्वेन मुख्य भावत्वात्। तथा च विद्यां विना मुक्तिर्नास्तीति निश्चयाद्विद्यामुपादत्ते। विद्योदये च स्वतःसिद्धनित्यनिवृत्तानर्थस्वप्रकाशब्रह्मानन्दात्मनावतिष्ठत इत्यनवद्यम्। सम्प्रति विद्यायामतिशयाङ्गीकारं त्यजति—न चेति। एकरूपे [3]विषये प्रमायां तारतम्यानुपपत्तरित्यर्थः। कथं तर्हि पूर्वाधिकरणे विद्याया विशेष उक्तः तत्राह—तस्मादिति। सत्यामपि सामग्र्यां ज्ञाने विलम्ब उक्तो न तारतम्यमित्यर्थः। तर्हि सत्यपि ज्ञाने मुक्तौ विलम्बः किं न स्यादित्यत आह—न त्विति। वायत्राविप्रतिबन्धाद्दीपोत्पत्तिविलम्बेऽप्युत्पन्ने तमोनिवृत्तिविलम्बादर्शनात्सति ज्ञाने नाननिवृत्तौ [4]विलम्ब इति भावः। किंच कर्मणामुपासनानां च गुणभेदेन तारतम्यात्फलतारतम्यं युक्तम्। निर्गुणविद्यायास्त्वेकरूपत्वात्तत्फलैकरूप्यमित्याह—विद्याभेदेत्यादिना। स्मृतौ कस्यचिन्निर्गुणविद इत्यर्थः। तस्माद्विद्यासमकालैव मुक्तिरिति सिद्धम् ॥५२॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ
शारीरिकव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां
तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

विशेष का आधान करेगा, न कि विद्या के फल मोक्ष में क्योंकि मोक्षब्रह्मस्वरूप है, वह साध्य नहीं हैं, अपितु नित्यसिद्धस्वभावरूप ही है। विद्या से तो उसका अधिगममात्र होता है, ऐसा हम अनेक बार कह आये हैं। सत्य पूछो तो विद्या में भी उत्कर्ष-अपकर्षरूप अतिशय नहीं है क्योंकि विद्या उत्कृष्ट ही होती है, निकृष्ट में विद्यात्व नहीं कहा जा सकता। पूर्वाधिकरण मे जो विद्या में विशेष कहा गया था वह केवल चिर और अचिर उत्पत्तिस्वरूप को लेकर कहा गया था, किन्तु मुक्ति में कोई अतिशय सम्भव ही नहीं है। कर्म में भेद होने के कारण जैसे फल में भेद नहीं हो जाता है वैसा विद्या के फल में भेद नहीं है क्योंकि विद्या में जब भेद ही नहीं है, तब भला उसके फल मोक्ष में भेद कहाँ से आयेगा। कर्मों में जैसे भेद है, वैसे मोक्षसाधनरूप विद्या में भेद नहीं है। 'मनोमयः शरीरः' इत्यादि सगुणविद्या में गुणों के अवाप-उद्वाप के कारण कर्मफल की भाँति फलभेदनियम हो सकता है क्योंकि भेद का साधकलिङ्ग देखा गया है। जो उपासक

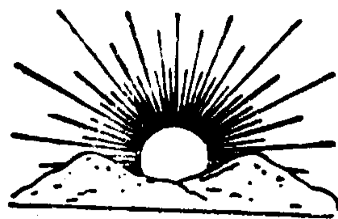
१. विद्यायाम्। २. अविद्यानिवृत्तिः। ३. प्रमाविषये एकरूपे सति। ४. प्रारब्धकर्मणां प्रतिबन्धकत्वात्।

फलभेदनियमः कर्मफलवत् । तथा च लिङ्गदर्शनम्—'तं यथायथोपासते तदेव भवति' इति । नैवं निर्गुणायां विद्यायां, गुणाभावात् । तथा च स्मृतिः—'नहि गतिरधिकास्ति कस्यचित्सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम्' इति तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेरिति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥५२॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥ इति साधनाख्योऽध्यायः ॥

उस परमेश्वर की जिस-जिस प्रकार से उपासना करते हैं, वह वही हो जाते हैं ।' पर निर्गुण विद्या में गुण न होने के कारण फलभेद का नियम नहीं रहता, ऐसा ही 'ब्रह्म की प्राप्ति में भेद है ही नहीं क्योंकि गुण रहने पर ही भेद की कल्पना विद्वान् लोग करते हैं ।' अतः निर्गुण उपासक की गति एक सी होती है, उसमें न्यूनाधिकभाव नहीं है ।' जिसे 'तदवस्थावधृतेः' इस सूत्रांश से कहा गया है । इस पद की पुनरावृत्ति अध्यायसमाप्ति का द्योतक है । अतः मुक्ति निरतिशय होने के कारण कर्मसाध्य नहीं है, ऐसा इस पाद के प्रारम्भिक अधिकरण द्वारा जो कहा गया था वह निर्विवाद सिद्ध हुआ ॥५२॥

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य तृतीयाध्याय तृतीय पाद की
श्री कैलास पीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
श्रीमत्स्वामी विद्यानन्दगिरिजी महाराज
द्वारा रचित ललिता व्याख्या
सम्पूर्ण हुई ।





॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

॥ श्रीबादरायणविरचितम् ॥

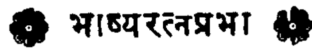
॥ ब्रह्मसूत्रम् ॥

॥ सटिप्पणशाङ्करभाष्यरत्नप्रभाललिताख्याख्यायुतम् ॥



अथ चतुर्थोऽध्यायः

॥ प्रथमः पादः ॥



१. आवृत्त्यधिकरणम् (सूत्र० १-२)

श्रवणाद्याः सकृत्कार्या आवर्त्या वा सकृद्यतः । शास्त्रार्थस्तावता सिध्येत्प्रयाजादौ सकृत्कृतेः ।
आवर्त्या दर्शनान्तास्ते तण्डुलान्तावघातवत् । दृष्टेऽत्र सम्भवत्यर्थे नादृष्ट कल्प्यते बुधैः ॥

भाष्यरत्नप्रभा

यज्ज्ञानाज्जीवतो मुक्तिरुत्क्रान्तिगतिवर्जिता ।
लभ्यते तत्परं ब्रह्म रामनामास्मि निर्भयम् ॥

॥ दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः ॥

॥ चतुर्थोऽध्याय प्रथम पाद ॥

ललिताख्या व्याख्या

तृतीय अध्याय में परापरविद्याविषयक साधनों का विचार प्रायशः हो चुका है । अब इस चतुर्थ अध्याय में फलसम्बन्धी विचार किया जायेगा और प्रसङ्गवश कुछ साधनों का भी चिन्तन किया जायेगा । उनमें से पहले कुछ अधिकरणों द्वारा साधनाश्रित विचार इसलिए हम करेंगे क्योंकि साधनसम्बन्धी विचार करना कुछ शेष रह गया था । यह चतुर्थ अध्याय सगुण एवं निर्गुण विद्या के फलविशेषनिर्णय के लिए कहा गया है, उसके प्रथम पाद में जीवनमुक्ति का निरूपण है । पिछले अध्याय में परापरविद्यारूप साधन वैराग्य के सहित तत्त्वंपदार्थशोधनपूर्वक प्रायशः बतला दिया गया, अब इस अध्याय में उसके फल को बतलाने के लिए कार्यकारणभाव सङ्गति के कारण यह अध्याय प्रारम्भ होता है ।

१. आवृत्त्यधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में जैसे मोक्ष में विशेष का अभाव कहा गया, वैसे ही उसके साधन श्रवणादि में भी विशेषाभाव क्यों न माना जाय; इस प्रकार की दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

(४७८) आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥१॥

तृतीयेऽध्याये परापरासु विद्यासु साधना[1]श्रयो विचारः प्रायेणात्यगात् । अथेह चतुर्थेऽध्याये [2]फलाश्रय आगमिष्यति । प्रसङ्गागतं चान्यदपि किंचिच्चिन्तयिष्यते । प्रथमं तावत्कतिभिश्चिदधिकरणैः साधनाश्रयविचारशेषमेवानुसरामः ।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४-५-६), 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' (बृ० ४-४-२१), 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः (छा० ८-७-१) इति चैवमादिश्रवणेषु संशयः—किं सकृत्प्रत्ययः कर्तव्य आहोस्विदावृत्त्येति । किं तावत्प्राप्तं सकृत्प्रत्ययः स्यात्प्रयाजादिवत् । तावता शास्त्रस्य कृतार्थत्वात् । अश्रूयमाणायां

ॐ । आवृत्तिरसकृदुपदेशात् । साधनं निरूप्य फलं निरूप्यत इत्यध्याययोर्हेतुफलभावं संगतिमाह—तृतीय इति । फलप्रसङ्गेनोत्क्रान्तिरर्चिरादिमार्गश्च विचार्यत इत्याह—प्रसङ्गेति । पूर्वं साक्षादेव श्रुत्युक्तं संन्यासादि साधनं चिन्तितं, संप्रति फलार्थापत्तिगम्यमावृत्त्यादिकमद्याश्लेषाधिकरणात्प्राक् चिन्त्यते, तदारभ्य जीवन्मुक्तिस्ततो द्वितीयपादे उत्क्रान्तिस्तृतीये अर्चिरादिमार्गस्य गन्तव्यस्य च निर्णयश्चतुर्थे ज्ञानोपासनयोः फलनिर्णय इति पादार्थविवेकः ।

आद्याधिकरणस्य श्रवणादिसाधनं विषयमनूद्य द्वेधानुष्ठानदर्शनात्संशयमाह—आत्मा वा इति । श्रौतात्मधीसाधनफलविचारात्मकत्वात्सर्वाधिकरणानां श्रुतिशास्त्राध्यायसंगतय उक्ताः । तत्तत्पदार्थसंबन्धात्तत्पादसङ्गतिः । मोक्षे विशेषाभाववच्छ्रवणादावावृत्तिविशेषो नास्तीति दृष्टान्तलक्षणावान्तरसंगत्या पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति । अत्र पूर्वपक्षे श्रवणादेः प्रयाजवददृष्टार्थत्वात्सकृदनुष्ठानं

२. विषय—इस अधिकरण में ब्रह्मज्ञान के साधन श्रवणादि का विचार किया गया है ।

३. संशय—क्या श्रवणादि जीवन में एक ही बार करना चाहिए अथवा बार-बार करना चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—प्रयाजादि जिस प्रकार अदृष्टार्थ हैं ऐसे ही श्रवणादि भी अदृष्टार्थ मान लेने पर एक बार ही उनका अनुष्ठान करना चाहिए, इतने मात्र से शास्त्र का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है ।

५. सिद्धान्त—तण्डुल अवघात का फल त्वक्विमोक जिस प्रकार दृष्ट होता है, ऐसे ही श्रवणादि का फल तत्त्वसाक्षात्कार भी दृष्ट ही है । अतः तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्त श्रवणादि का अनुष्ठान बार-बार करते रहना चाहिए । यहाँ पर दृष्ट फल सम्भव है इसलिए विद्वान् लोग अदृष्टफल की कल्पना नहीं करते हैं ।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् (ललिता)

'अरे मैत्रेयि ! निःसन्देह आत्मा दर्शन के योग्य है, श्रवण, मनन और निदिध्यासन के योग्य है', 'बुद्धिमान धीर पुरुष उस आत्मा को पहले परोक्षरूप से जानकर पुनः साक्षात्कार करे', 'वह आत्मा अन्वेषण के योग्य है और विशेष जिज्ञासा के भी योग्य है' ऐसे ही अन्य श्रवणादि बतलाने वाले वाक्यों में भी संशय होता है कि क्या आत्मा का श्रवणादि एक ही बार करना चाहिए अथवा उसकी आवृत्ति करनी चाहिए । इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि जैसे प्रधान यज्ञ के अङ्ग प्रयाजादि का एक बार अनुष्ठान कर लेने से शास्त्र कृतार्थ हो जाता है वैसे ही विद्या के साधन श्रवणादि का अनुष्ठान

१. साधनमाश्रयो विषयो यस्य विचारस्य सोयं साधनाश्रयो विचारः । २. फलविषयः ।

ह्यावृत्तौ क्रियमाणायामशास्त्रार्थः कृतो भवेत् । नन्वसकृदुपदेशा उदाहृताः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्येवमादयः । एवमपि यावच्छब्दमावर्तयेत्सकृच्छ्रवणं सकृन्मननं सकृन्निदिध्यासनं चेति नातिरिक्तम् । सकृदुपदेशेषु तु वेदोपासीतेत्येवमादिष्वनावृत्तिरिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—प्रत्ययावृत्तिः कर्तव्या । कुतः ?—असकृदुपदेशात् 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्येवंजातीयको ह्यसकृदुपदेशः प्रत्ययावृत्तिं सूचयति । ननूक्तं यावच्छब्दमेवावर्तयेन्नाधिकमिति । न । दर्शनपर्यवसितत्वादेषाम् । दर्शनपर्यवसानानि हि श्रवणादीन्यावर्त्यमानानि दृष्टार्थानि भवन्ति । यथाऽवघातादीनि तण्डुलादिनिष्पत्तिपर्यवसानानि तद्वत् ।

अपि चोपासनं निदिध्यासनं चेत्यन्तर्णीतावृत्तिगुणैव क्रियाऽभिधीयते । तथाहि—

फलं, सिद्धान्ते त्ववघातवद्दृष्टार्थत्वाद्यावत्फलमावृत्तिरिति भेदः । असकृदुपदेशान्यथानुपपत्त्या साधनावृत्तौ शास्त्रस्य तात्पर्यमिति शङ्कते—नन्वसकृदिति ।

श्रवणादीनां समुच्चयासिध्यर्थत्वेनासकृदुक्तेरन्यथोपपत्तेर्नावृत्तौ तात्पर्यमित्याह—एवमपीति । सगुणसाक्षात्कारसाधनेष्वप्यनावृत्तिमाह—सकृदिति । यद्यप्यसकृदुपदेश आवृत्तिसमुच्चययोरन्यतरसूचकत्वेनान्यथासिद्धः, तथापि दृष्टे संभवत्यदृष्टमात्रकल्पनानुपपत्तेः श्रवणादेरावृत्तिद्वारा साक्षात्कारफलस्य षड्जादौ दृष्टत्वादसकृदुक्तिरावृत्तिं सूचयति दृष्टार्थत्वादिति न्यायानुग्रहादित्याह—न दर्शनपर्यवसानत्वादिति ।

ध्यानस्य त्वावृत्तेर्वेदोपासीतेति शब्दे श्रुतत्वान्न केवलार्थिकत्वमित्याह—अपि चेति । अस्त्युपासितशब्द-

---

एक बार कर लेने पर भी शास्त्र सार्थक हो जायेगा । श्रुति में आवृत्ति जब सुनी जाती है तो ऐसी स्थिति में आवृत्ति करने पर अशास्त्रीय कृत्य माना जायेगा । शङ्का—'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' ये सब असकृत् उपदेश के उदाहरण दिये जा चुके हैं। समाधान—फिर भी जितना सुना जाता है तदनुसार एक बार श्रवण, एक बार मनन और एक बार निदिध्यासन कर लेना चाहिए, इससे अधिक करने की आवश्यकता नहीं है । किन्तु 'वेद' 'उपासीत' इत्यादि सकृत् उपदेशस्थल में आवृत्ति नहीं ही करनी चाहिए ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि श्रवणादि की आवृत्ति करनी चाहिए क्योंकि 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' ऐसा असकृत् उपदेश प्रत्यावर्तन की सूचना दे रहा है। शङ्का—हम कह आये हैं कि जहाँ जितना सुना गया है वहाँ पर उतनी ही आवृत्ति करे, अधिक आवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है। समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि श्रवणादि की पूर्णता आत्मसाक्षात्कार होने पर ही होती है । जैसे 'व्रीहिन् अवहन्ति' इस वाक्य द्वारा विहित व्रीहि अवघात त्वकविमोक एवं तण्डुलनिष्पन्न होने तक किया जाता है क्योंकि अवघात दृष्टार्थ है, वैसे ही श्रवणादि भी दृष्टार्थ है जिसकी पूर्णता आत्मसाक्षात्कार होने पर ही होती है । अतः आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते रहना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त उपासन और निदिध्यासन अन्तर्निहित आवृत्ति गुणवाली क्रिया को ही तो

(४७९) लिङ्गाच्च ॥२॥

लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्त इति च यस्तात्पर्येण गुर्वादीननुवर्तते स एवमुच्यते। तथा ध्यायति प्रोषितनाथा पतिमिति या निरन्तरस्मरणा पतिं प्रतिसोत्कण्ठा सैवमभिधीयते। विद्युपास्त्योश्च वेदान्तेष्वव्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते। क्वचिद्विदिनोपक्रम्योपासिनोपसंहरति यथा—'यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः' (छा० ४-१-४) इत्यत्र 'अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से' (छा० ४-२-२) इति। क्वचिच्चोपासिनोपक्रम्य विदिनोपसंहरति यथा—मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३-१८-१) इत्यत्र 'भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद' (छा० ३-१८-३) इति। तस्मात्सकृदुपदेशेष्वप्यावृत्तिसिद्धिः। असकृदुपदेशस्त्वावृत्तेः सूचकः ॥१॥

लिङ्गमपि प्रत्ययावृत्तिं प्रत्याययति। तथा ह्युद्गीथविज्ञानं प्रस्तुत्य 'आदित्य

स्यावृत्तिवाचित्वं तथापि वेदेतिशब्दोक्तवेदनेष्वहंग्रहेषु कथमावृत्तिसिद्धिरित्यत आह—विद्युपास्त्योश्चेति। शब्दयोरेकार्थत्वमुदाहरति—क्वचिदिति। स रैक्वो यद्वेद तत्प्राणतत्त्वं रैक्वादन्योऽपि यः कश्चिद्वेद तत्फले सर्वमन्तर्भवतीत्येतदुक्ते इत्थं मयोत्कृष्टत्वेन स रैक्व उक्त इति हंसं प्रति हंसान्तरवचनं, तच्छ्रुत्वा रैक्वं गत्वोवाच जानश्रुतिः, हे भगवः, एतां रैक्वविदितां देवतां मेऽनुशाधि मह्यमुपदिशेत्यर्थः। एवं सगुणनिर्गुणसाक्षात्कारसाधनध्यानस्यावृत्तिः श्रौतो चार्थसिद्धा च दृष्टार्थत्वात्, श्रवणमननयोस्त्वसकृदुपदेशादर्थसिद्धैवावृत्तिरिति विशेषः ॥१॥

आदित्यस्यैकस्यवोद्गीथे संपाद्योपासनान्मम त्वमेक एव पुत्रोऽसीति कौषीतकिः पुत्रमुवाच,

---

कहते हैं। लोक में—गुरु की उपासना करता है, राजा की उपासना करता है—ऐसा कहा जाता है, वहाँ जो तत्परतापूर्वक गुरु आदि का अनुवर्तन करता है उसके लिए ही ऐसा लोकव्यवहार देखा जाता है। वैसे ही जिसका पति प्रवास में चला गया हो वह प्रोषितनाथा स्त्री पति का ध्यान करती है, ऐसा प्रयोग तभी होता है जब वह स्त्री पति का उत्कंठापूर्वक निरन्तर स्मरण करती है। 'विदि' और 'उपास्ति' क्रिया का प्रयोग वेदान्त में एक ही अर्थ में किया गया है। कहीं पर विदि से प्रसङ्ग प्रारम्भकर उपास्ति से उपसंहार करते हैं, जैसे छान्दोग्य में 'जो उसे जानता है जिसे वह रैक्व जानता है उसके विषय में भी मैंने फल बतला दिया अर्थात् रैक्व के समान ही वह भी कृतनामक पासे के सदृश हो जाता है' इस वाक्य में विदि से प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'हे भगवन्! जिस देवता की उपासना आप करते हैं उसी का उपदेश मेरे लिए करें' इस वाक्य द्वारा उपास्ति क्रिया से उपसहार किया गया है। कहीं पर उपास्ति से प्रसङ्ग प्रारम्भकर विदि क्रिया से उपसंहार करते हैं, जैसे 'ब्रह्मदृष्टि से मन की उपासना करे' इस वाक्य में उपास्ति से प्रसङ्ग प्रारम्भ किया और 'वह उपासक यश, कीर्ति से भासमान होता है एवं ब्रह्मतेज से भी युक्त होता है जो इसे इस रूप में जानता है' इस वाक्य द्वारा विदि से उपसंहार करते हैं। अतः सकृत् उपदेशस्थल में भी आवृत्ति की सिद्धि होती है। श्रवण एवं मनन का जहाँ असकृत् उपदेश है वहाँ तो अर्थतः आवृत्ति सिद्ध ही है, वह असकृत् उपदेश आवृत्ति का सूचक भी है ॥१॥

लिङ्गाच्च (ललिता)

अर्थज्ञापक लिङ्ग भी प्रत्यावृत्ति का बोध कराता है, इसीलिए छान्दोग्य में 'आदित्य उद्गीथ है

उद्गीथः' (छा० १-५-१) इत्येतदेकपुत्रतादोषेणापोद्य 'रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयात्' (छा० १-५-२) इति रश्मिबहुत्वविज्ञानं बहुपुत्रतायै विदधत्सिद्धवत्प्रत्ययावृत्तिं दर्शयति। तस्मात्तत्सामान्यात्सर्वप्रत्ययेष्वावृत्तिसिद्धिः।

अत्राह—भवतु नाम साध्यफलेषु प्रत्ययेष्वावृत्तिः। तेष्वावृत्तिसाध्यस्यातिशयस्य सम्भवात्। यस्तु परब्रह्मविषयः प्रत्ययो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमेवात्मभूतं परं ब्रह्म समर्पयति तत्र किमर्थावृत्तिरिति। सकृच्छ्रुतौ च ब्रह्मात्मत्वप्रतीत्यनुपपत्तेरावृत्त्यभ्युपगम इति चेत्। न। आवृत्तावपि तदनुपपत्तेः। यदि हि 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७) इत्येवंजातीयकं वाक्यं सकृच्छ्रूयमाणं ब्रह्मात्मत्वप्रतीतिं नोत्पादयेत्ततस्तदेवावर्त्यमानमुत्पादयिष्यतीति का प्रत्याशा स्यात्। अथोच्येत न केवलं वाक्यं कंचिदर्थं साक्षात्कर्तुं शक्नोत्यतो युक्त्यपेक्षं वाक्यमनुभावयिष्यति ब्रह्मात्मत्वमिति। तथाऽप्यावृत्त्यानर्थक्यमेव। साऽपि हि

अतस्त्वं तथा मा कृथाः किंतु बहून् रश्मीनादित्यं च पर्यावर्तयतात् पृथगावर्तयस्वेत्यर्थः। तलोपश्छान्दसः। अत्र पर्यावृत्तिशब्दात्सिद्धवदुद्गीथध्यानस्यावृत्तिरुक्ता ततो ध्यानत्वसामान्यात्फलपर्यन्तत्वसामान्याद्वा लिङ्गात्सर्वत्र श्रवणमननध्यानेष्वावृत्तिसिद्धिरित्याह—लिङ्गाच्चेति।

एवं तावत्सगुणनिर्गुणसाक्षात्कारसाधनेष्वावृत्तिरुक्ता तत्र सगुणध्यानादेरावृत्तिमङ्गीकृत्य निर्गुणश्रवणादिष्वावृत्तिमाक्षिपति—अत्राहेत्यादिना। वाक्यं निर्गुणसाक्षात्कारजनने शक्तं न वा, आद्ये सकृच्छ्रुतवाक्यात्साक्षात्कारसिद्धेरावृत्तिर्वृथेत्युक्त्वा द्वितीयं शङ्कते—सकृदिति। अशक्तस्यावृत्तावपि फलानुपपत्तिरित्याह—नेति। तथापीति। स्वतोऽशक्तस्य युक्तिसाहित्याच्छक्तावपीत्यर्थः। वाक्ययुक्तिभ्यां

इस वाक्य द्वारा उद्गीथ उपासना का प्रसङ्ग प्रारम्भकर (उद्गीथ में आदित्यदृष्टि का परित्याग करने के लिए कौषातकि ने अपने पुत्र से कहा—क्योंकि मैंने उद्गीथ में आदित्यदृष्टि की थी इसी से तुम मेरे एक ही पुत्र हुए हो) इस एकपुत्रतादोष के कारण उद्गीथ में आदित्यदृष्टि का निषेधकर 'तुम आदित्य और रश्मियों का भेदरूप से चिन्तन करो' इस प्रकार रश्मिबहुत्व उपासना बहुपुत्रता के लिए कही गयी है, वह निर्विवाद अन्य स्थलों में भी प्रत्ययावृत्ति को बतलाती है। इसलिए तदनुसार सभी उपासनाओं में पुनः पुनः आवृत्ति की सिद्धि हो जाती है।

पूर्वपक्ष—साध्यरूप फलवाली उपासनाओं में आवृत्ति इसलिए मानते हैं क्योंकि उनमें आवृत्ति करने से अतिशय का होना सम्भव है, किन्तु जो परब्रह्मविषयक उपासना करता है वह नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव आत्मस्वरूप परब्रह्म को बतलाता है, वहाँ आवृत्ति की क्या आवश्यकता है। यदि कहो कि एक बार सुनने पर ब्रह्मात्मत्व का बोध न होने के कारण वहाँ आवृत्त मानी गयी है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि आवृत्ति करने पर भी ब्रह्मात्मत्व का बोध नहीं हो सकेगा। यदि एक बार सुना हुआ 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य ब्रह्मात्मत्व बोध को उत्पन्न न कर सका तो वही वाक्य बार-बार सुने जाने पर ब्रह्मात्मत्व बोध करायेगा, यह आशा कैसे की जा सकती है। इस पर यदि कोई कहे कि केवल वाक्य किसी अर्थ का साक्षात्कार नहीं करा सकता, अतः युक्तिसापेक्ष वाक्य ब्रह्मात्मत्व का बोध करा देगा; फिर भी आवृत्ति अनर्थक ही मानी जायेगी क्योंकि वह युक्ति भी एक बार ही प्रवृत्त होकर अपने विषय का बोध करा देगी, श्रवणावृत्ति तब भी निरर्थक ही है। इस पर यदि कहो

युक्तिः सकृत्प्रवृत्तैव स्वमर्थमनुभावयिष्यति । अथापि स्याद्युक्त्या वाक्येन च सामान्यविषयमेव विज्ञानं क्रियते न विशेषविषयम् । यथास्ति मे हृदये शूलमित्यतो वाक्याद्गात्रकम्पादिलिङ्गाच्च शूलसद्भावसामान्यमेव परः प्रतिपद्यते न विशेषमनुभवति यथा स एव शूली । विशेषानुभवाश्चाविद्याया निवर्तकस्ततस्तदर्थावृत्तिरिति चेत् । न । असकृदपि तावन्मात्रे क्रियमाणे विशेषविज्ञानोत्पत्त्यसम्भवात् । न हि सकृत्प्रयुक्ताभ्यां शास्त्रयुक्तिभ्यामनवगतो विशेषः शतकृत्वोऽपि प्रयुज्यमानाभ्यामवगन्तुं शक्यते । तस्माद्यदि शास्त्रयुक्तिभ्यां विशेषः प्रतिपाद्यते यदि वा सामान्यमेवोभयथापि सकृत्प्रवृत्ते एव ते स्वकार्यं कुरुत इत्यावृत्त्यनुपयोगः । न च सकृत्प्रयुक्ते शास्त्रयुक्ती कस्यचिदप्यनुभवं नोत्पादयत इति शक्यते नियन्तुं विचित्रप्रज्ञत्वात्प्रतिपत्तॄणाम् । अपि चानेकांशोपेते लौकिके पदार्थे सामान्यविशेषवत्त्येकेनावधानेनैकमंशमवधारयत्यपरेणापरमिति स्यादप्यभ्यासोपयोगो यथा दीर्घप्रपाठकग्रहणादिषु । न तु निर्विशेषे ब्रह्मणि सामान्यविशेषरहिते चैतन्यमात्रात्मके प्रमोत्पत्तावभ्यासापेक्षा युक्तेति ।

परोक्षज्ञाने जातेऽप्यपरोक्षज्ञानार्थमावृत्तिरिति शङ्कते—अथापि स्यादिति । तयोः परोक्षज्ञानहेतुत्वस्वाभाव्यादावृत्तावपि न साक्षात्कारः स्यादिति परिहरति—नासकृदपीति । यदि तयोः साक्षात्कारसामर्थ्यं यदि वा परोक्षज्ञानसामर्थ्यमुभयथाप्यावृत्त्यनपेक्षेत्याह—तस्मादिति । प्रमातृवैचित्र्यादप्यावृत्त्यनियम[1] इत्याह—न चेति । प्रमेयस्यानंशत्वाच्च 'तथेत्याह—अपि चेति । द्विविधो ह्यधिकारी स्यात्कश्चिज्जन्मान्तराभ्यासान्निरस्तसमस्तासंभावनादिप्रतिबन्धः कश्चित्तु प्रतिबन्धवानिति ।

कि युक्ति और वाक्य दोनों मिलकर सामान्यविषय का ही ज्ञान कराते हैं, विशेष का नहीं । जैसे किसी ने कहा कि मेरे हृदय में पीड़ा है और उसी समय उसके शरीर को काँपते भी देख रहे हैं, तो उस वाक्य से और गात्रकम्पनादि लिङ्ग से दूसरा व्यक्ति उसके हृदय में होने वाली पीड़ा के सद्भावसामान्य को ही जानता है, वह विशेष अनुभव नहीं करता जैसा कि वह पीड़ित व्यक्ति विशेष का अनुभव करता है । अतः प्रत्ययावर्तन अविद्या का निवर्तक है इसलिए आवृत्ति करनी चाहिए, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि पहले की भाँति द्वितीयादि आवृत्ति में भी उतना ही ज्ञान होगा, विशेषज्ञान का होना तब भी सम्भव नहीं है । एक बार प्रयुक्त हुए शास्त्र एवं युक्ति से यदि विशेष अर्थ का बोध नहीं हुआ तो सौ बार उनके प्रयोग करने पर भी विशेषबोध नहीं ही होगा । अतः यदि शास्त्र और युक्ति से विशेष बोध होता हो अथवा यदि सामान्य ही बोध होता हो, दोनों ही प्रकार से एक बार प्रयुक्त शास्त्र एवं युक्ति ही अपने विषय के बोधरूप कार्य को कर देंगे; उस स्थिति में आवृत्ति का कोई उपयोग नहीं है । साथ ही यह भी नियम नहीं लगाया जा सकता कि एक बार प्रयोग किया गया शास्त्र एवं युक्ति किसी अर्थ का बोध नहीं करायेंगे क्योंकि श्रोताओं की बुद्धि विचित्र होती है । जहाँ लौकिक पदार्थ प्रमेय वस्तु अनेक अंशवाले हों और सामान्य विशेषधर्म से युक्त हो, वहाँ एक बार के उपदेश से एक अंश का बोध होता हो और दूसरी बार उपदेश से दूसरे अंश का बोध होता है, ऐसी स्थिति में अभ्यास का उपयोग हो जाता है, जैसे बृहत् अध्याय, खण्ड आदि के बोध में कई बार आवर्तन की आवश्यकता होती है । किन्तु ब्रह्म सामान्यविशेषभाव से रहित, निर्विशेष, चैतन्यमात्रस्वरूप है, तद्विषयक प्रमा उत्पत्ति के लिए पुनरावृत्ति की कोई अपेक्षा नहीं होती ।

१. आवृत्त्यनियमः

अत्रोच्यते--भवेदावृत्त्यानर्थक्यं तं प्रति यस्तत्त्वमसीति सकृदुक्तमेव ब्रह्मात्मत्वमनुभवितुं शक्नुयात् । यस्तु न शक्नोति तं प्रत्युपयुज्यत एवावृत्तिः । तथाहि छान्दोग्ये 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६-८-७)इत्युपदिश्य 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' (छा० ६-८-७) इति पुनः पुनः परिचोद्यमानस्तत्तदाशङ्काकारणं निराकृत्य तत्त्वमसीत्येवासकृदुपदिशति । तथा च 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४-५-६) इत्यादि दर्शितम् । ननूक्तं सकृच्छ्रुतं चेत्तत्त्वमसिवाक्यं स्वमर्थमनुभावयितुं न शक्नोति तत आवर्त्यमानमपि नैव शक्ष्यतीति । नैष दोषः । नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । दृश्यन्ते हि सकृच्छ्रुताद्वाक्यान्मन्दप्रतीतं वाक्यार्थमावर्तयन्तस्तत्तदाभासव्युदासेन सम्यक्प्रतिपद्यमानाः । अपि च तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थभावमाचष्टे । तत्पदेन च प्रकृतं सद्ब्रह्मेक्षितृ जगतो जन्मादिकारणमभिधीयते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१-१), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३-९-२८), 'अदृष्टं द्रष्टृ' (बृ० ३-८-११), 'अविज्ञातं विज्ञातृ' (बृ० ३-८-११),

---

तत्राद्यं प्रत्यावृत्तेरानर्थक्यमिष्टं, द्वितीयस्य तु प्रतिबन्धनिरासाय तदपेक्षेति समाधत्ते—अत्रोच्यत इति । आवृत्तेः प्रतिबन्धनिरासार्थत्वे लिङ्गमाह—तथा हीति । यथा षड्जादिस्वरभेदसाक्षात्कारशक्तमपि श्रोत्रमभ्यासमपेक्षते तथा ब्रह्मात्मसाक्षात्कारशक्तं वाक्यं तदपेक्षमित्यनुभवमाश्रित्याह —नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति । तत्त्वंपदलक्ष्यार्थस्य दुर्बोधत्वादज्ञानप्रयुक्तसंशयादिप्रतिबन्धसंभवात्तद्ध्वंसायावृत्तिरेष्टव्येति वाच्यलक्ष्यविवेकपूर्वकमाह—अपि चेत्यादिना ।

इस पर सिद्धान्ती कहता है कि उस विद्यार्थी के लिए आवृत्ति अनर्थक हो सकती है जो 'तत्त्वमसि' वाक्य को एक बार सुनकर ब्रह्मात्मत्व का अनुभव कर सकता है, किन्तु जो वैसा नहीं कर सकता उस व्यक्ति के लिए आवृत्ति का उपयोग है ही । इसीलिए तो छान्दोग्य उपनिषद में 'हे श्वेतकेतु ! तू ब्रह्म है ।' इस वाक्य से उपदेश कर देने पर बार-बार श्वेतकेतु कहता है कि 'आप मुझे फिर से उस तत्त्व का बोध करावें' ऐसा बार-बार पूछने पर पूछने वाले की शङ्का के कारण को मिटाते हुए 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का उपदेश आचार्य अनेक बार करते हैं । वैसा ही 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य.' इत्यादि स्थल में भी बतलाया गया है । पूर्वपक्षी—मैं कह चुका हूँ कि एक बार कहा गया 'तत्त्वमसि' महावाक्य यदि अपने अर्थ का बोध नहीं कराता है तो आवृत्ति करने पर भी उक्त वाक्य अपने अर्थ का बोध नहीं ही करायेगा । सिद्धान्ती– यह दोष नहीं हैं क्योंकि प्रत्यक्ष विषय में असङ्गति कुछ दीखती नहीं है अर्थात् एक बार सुने हुए वाक्य से मंदबुद्धि को वाक्यार्थबोध न होने पर पुनः-पुनः आवर्तन करने पर उन उन अर्थाभासों[1] को दूर करते हुए सम्यक् ज्ञान होते देखा गया है । साथ ही 'तत्त्वमसि' यह वाक्य 'त्वम्' पदार्थ जीव में 'तत्' पदार्थ ब्रह्मभाव का उपदेश करता है और 'तत्' पद से प्रकृत सद्ब्रह्म, सङ्कल्प करने वाले, जगत् के जन्मादि कारण को ही कहा जाता है जो 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान एवं परिच्छेदशून्य है', 'ब्रह्म चैतन्य आनन्दरूप है', 'ब्रह्म देखा नहीं जा सकता किन्तु सबका द्रष्टा है,' 'वह जाना नहीं जा सकता किन्तु सबका जानने वाला है'

---

१. शंकाभास ।

'अजमजरममरम्', 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३-८-८) इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धम्। तत्राजादिशब्दैर्जन्मादयो भावविकारा निवर्तिताः। अस्थूलादिशब्दैश्च स्थौल्यादयो द्रव्यधर्माः। विज्ञानादिशब्दैश्च चैतन्यप्रकाशात्मकत्वमुक्तम्। एष व्यावृत्तसर्वसंसारधर्मकोऽनुभवात्मको ब्रह्मसंज्ञकस्तत्पदार्थो वेदान्ताभियुक्तानां प्रसिद्धः। तथा त्वंपदार्थोऽपि प्रत्यगात्मा श्रोता देहादारभ्य प्रत्यगात्मतया सम्भाव्यमानश्चैतन्यपर्यन्तत्वेनावधारितः। तत्र येषामेतौ पदार्थावज्ञानसंशयविपर्ययप्रतिबद्धौ तेषां तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं स्वार्थे प्रमां नोत्पादयितुं शक्नोति पदार्थज्ञानपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थज्ञानस्येत्यतस्तान्प्रत्येष्टव्यः पदार्थविवेकप्रयोजनः शास्त्रयुक्त्यभ्यासः।

यद्यपि च प्रतिपत्तव्य आत्मा निरंशस्तथाप्यध्यारोपितं तस्मिन्बह्वंशत्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादिलक्षणं तत्रैकेनावधानेनैकमंशमपोहत्यापरेणापरमिति युज्यते तत्र क्रमवती प्रतिपत्तिः। तत्तु पूर्वरूपमेवात्मप्रतिपत्तेः। येषां पुनर्निपुणमतीनां नाज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिबन्धोऽस्ति ते शक्नुवन्ति सकृदुक्तमेव तत्त्वमसिवाक्यार्थमनुभवि-

---

यदुक्तमनंशत्वात्प्रमेयस्यावृत्त्यानर्थक्यमिति, तत्राह—यद्यपीति। आरोपितांशनिरासाय न मे देहो नेन्द्रियमित्यभ्यासो युक्त इत्यर्थः। वाक्यार्थज्ञाने सति कथमभ्यासनियमः, प्रमाणज्ञानस्याभ्यासायोगाज्ज्ञानिनः श्रवणादिनियमायोगाच्चेत्यत आह—तत्त्विति। ज्ञानात्प्रागेव श्रवणादिव्यापारनियमनं क्रियत इत्यर्थः। अधिकं शङ्कितुमुक्तमनुवदति—येषामिति। अधिकं शङ्कते—सत्यमिति। दुःखित्व-

---

'ब्रह्म जन्म, जरा, मरण से रहित है', 'वह स्थूल, सूक्ष्म, ह्रस्व एवं दीर्घ भी नहीं है' इत्यादि शास्त्रों में प्रसिद्ध है। वहाँ पर अजादि शब्दों से उत्पत्ति आदि भावविकार निवृत्त किये गये है, अस्थूलादि शब्दों से स्थूलतादि द्रव्यधर्म निवृत्त किये गये हैं एवं विज्ञानादि शब्दों द्वारा जगत्कारण में चैतन्यप्रकाशात्मकत्व कहा गया है। अतः समस्त संसारधर्म से रहित अनुभवस्वरूप ब्रह्मनामक यह 'तत्' पदार्थ वेदान्तविद् पुरुषों में प्रसिद्ध है। वैसे ही 'त्वम्' पदार्थ भी प्रत्यगात्मा है जो श्रोता के देह से लेकर प्रत्यगात्मरूप से सम्भाव्यमान है जिसे चैतन्यरूप से निर्धारित किया गया है। वहाँ पर जिन मंदबुद्धि जिज्ञासुओं को ये दोनों 'तत्-त्वम्' पदार्थ अज्ञान एवं तज्जन्य संशय-विपर्यय से प्रतिबद्ध है अर्थात् पूर्णरूपेण अवगत नहीं है उन्हें 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य अपने प्रतिपाद्य जीव-ब्रह्म के ऐक्य अर्थ में यथार्थबोध उत्पन्न नहीं करा सकता क्योंकि पदार्थज्ञानपूर्वक ही वाक्यार्थज्ञान हुआ करता है। अतः ऐसे मन्दबुद्धि जिज्ञासुओं के लिए शास्त्रश्रवण एवं युक्ति का अभ्यास पदार्थबोध कराने के लिए इष्ट ही है।

यद्यपि ज्ञातव्य आत्मा निरंश है फिर भी उसमें देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं विषयवेदनादि अनेकों अंश कल्पित हैं; उन कल्पित अंशों में से एक के निश्चय से एक मिट जाता है, दूसरे के निश्चय से दूसरा अंश मिटता है, इस प्रकार वहाँ क्रमशः बोध होता है। किन्तु ये सब यथार्थ आत्मबोध से पूर्व ही होते हैं। इतने पर भी जिन निपुण बुद्धिमानों में अज्ञान एवं तज्जनित संशयविपर्ययरूप पदार्थविषयक प्रतिबन्ध नहीं है वे तो एक बार कहे जाने पर ही 'तत्त्वमसि' वाक्यार्थ का अनुभव कर

तुमिति तान्प्रत्यावृत्यानर्थक्यमिष्टमेव । सकृदुत्पन्नैव ह्यात्मप्रतिपत्तिरविद्यां निवर्तयतीति नात्र कश्चिदपि क्रमोऽभ्युपगम्यते । सत्यमेवं युज्येत यदि कस्यचिदेवं प्रतिपत्तिर्भवेत् । बलवती ह्यात्मनो दुःखित्वादिप्रतिपत्तिः । अतो न दुःखित्वाद्यभावं कश्चित्प्रतिपद्यत इति चेत् । न । देहाद्यभिमानवद्दुःखित्वाद्यभिमानस्य मिथ्याभिमानत्वोपपत्तेः । प्रत्यक्षं हि देहे छिद्यमाने दह्यमाने वाऽहं छिद्ये दह्य इति च मिथ्याभिमानो दृष्टः । तथा बाह्यतरेष्वपि पुत्रमित्रादिषु संतप्यमानेष्वहमेव संतप्य इत्यध्यारोपो दृष्टः । तथा दुःखित्वाद्यभिमानोऽपि स्यात् । देहादिवदेव चैतन्याद्बहिरुपलभ्यमानत्वाद्दुःखित्वादीनां सुषुप्तादिषु चाननुवृत्तेः । चैतन्यस्य तु सुषुप्तेऽप्यनुवृत्तिमामनन्ति 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति' (बृ० ३-४-२३) इत्यादिना । तस्मात्सर्वदुःखविनिर्मुक्तैकचैतन्यात्मकोऽहमित्येष आत्मानुभवः । न चैवमात्मानमनुभवतः किंचिदन्यत्कृत्यमवशिष्यते । तथा च श्रुतिः—'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः' (बृ० ४-४-२२) इत्यात्मविदः कर्तव्याभावं दर्शयति । स्मृतिरपि—'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते' (गी० ३-१७) इति । यस्य तु नैषोऽनुभवो द्रागिव जायते तं प्रत्यनुभवार्थं

प्रत्यक्षविरोधाद्वाक्याद्वैक्यधीर्नोदेतीत्यर्थः । प्रत्यक्षस्य भ्रान्तित्वादविरोध इत्याह—नेत्यादिना दुःखादयो नात्मधर्माः दृश्यत्वाद्देहादिवत्, नाप्यात्मस्वरूपाः आत्मनि सत्यप्यननुवृत्तित्वाद्व्यतिरेकेण चैतन्यवदित्यर्थः । निर्दुःखे चिदात्मनि दुःखादिधियो भ्रान्तित्वाद्वाक्यार्थानुभवो न विरुध्यत इत्याह—तस्मादिति । अनुभवे जातेऽप्यावृत्त्याद्यनुष्ठानं किं न स्यादित्यत आह—न चैवमिति । रतिः कामः

लेते हैं, उनके लिए बार-बार श्रवणादि का आवर्तन हमें भी अनर्थक ही प्रतीत होता है क्योंकि एक बार उत्पन्न आत्मबोध ही अविद्या को निवृत्त कर डालता है, यहाँ पर कोई क्रम नहीं माना जाता है। शङ्का—पर ऐसा बोध किसी को हो जाय तो श्रवणादि के प्रत्ययावर्तन को अनावश्यक कहना ठीक ही होगा किन्तु आत्मा में दुःखित्व आदि की प्रतीति बलवती है, अतः कोई भी दुःखित्वादि का अभाव आत्मा में नहीं समझ सकता। समाधान—ऐसा यदि कोई कहता हो तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि जैसे देहादि में आत्माभिमान मिथ्या है वैसे ही दुःखित्वादि अभिमान को भी मिथ्या ही माना है। देह के कटने-जलने पर मैं ही कट गया, मैं ही जल गया, ऐसा मिथ्याभिमान प्रत्यक्ष देखा गया है। वैसे ही अत्यन्त बाह्य मित्र-पुत्रादि के संतप्त होने पर भी मैं ही संतप्त हो रहा हूँ, ऐसा अध्यारोप भी देखा गया है। ठीक ऐसे ही देहादि की भाँति दुःखित्वादि अभिमान भी होता है क्योंकि दुःखित्वादि में भी चैतन्य से बहिष्ट्व ही अनुभव होता है। सुषुप्ति, मूर्च्छादि अवस्था में दुःखित्वादि की अनुवृत्ति भी नहीं होती, पर सुषुप्त पुरुष में भी 'वह जो सुषुप्ति में नहीं देखता है, निःसन्देह उस अवस्था में वह देखता हुआ ही नहीं देखता' इत्यादि वाक्य द्वारा चैतन्य का अनुवर्तन तो श्रुति बतलाती ही है। अतः सम्पूर्ण दुःखों से सर्वथा मुक्त एक चैतन्यस्वरूप मैं हूँ यही आत्म अनुभव है और ऐसे आत्मज्ञानी के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। ऐसा ही 'हम प्रजा लेकर क्या करेंगे जब हमें यह आत्मलोक ही सम्पादित करना है' यह श्रुति भी आत्मज्ञानी के लिए कर्तव्याभाव बतलाती है। 'जो आत्मा में ही रति रखता है और जो मनुष्य आत्मतृप्त है तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट है उसके लिए कोई कर्तव्य

२. आत्मत्वोपासनाधिकरणम् (सू० ३)

ज्ञात्रा स्वान्यतया ब्रह्म ग्राह्यमात्मतयाथवा । अन्यत्वेन विजानीयद्दुःख्यदुःखिविरोधतः ।
औपाधिको विरोधोऽत आत्मत्वेनैव गृह्यताम् । गृह्णन्त्येवं महावाक्यैः स्वशिष्यान्ग्राहयन्ति च ।।

एवावृत्त्यभ्युपगमः । तत्रापि न तत्त्वमसिवाक्यार्थात्प्रच्याव्यावृत्तौ प्रवर्तयेत् । नहि वरघाताय कन्यामुद्वाहयन्ति । नियुक्तस्य चास्मिन्नधिकृतोऽहं कर्ता मयेदं कर्तव्यमित्यवश्यं ब्रह्मप्रत्ययाद्विपरीतप्रत्यय उत्पद्यते । यस्तु स्वयमेव मन्दमतिरप्रतिभानात्तं वाक्यार्थं जिहासेत्तस्यैतस्मिन्नेव वाक्यार्थे स्थिरीकार आवृत्त्यादिवाचोयुक्त्याभ्युपेयते । तस्मात्परब्रह्मविषयेऽपि प्रत्यये तदुपायोपदेशेष्वावृत्तिसिद्धिः ।।२।।

आत्मकामतया तृप्तिर्विषयतृष्णाक्षयः तेन संतोषे आत्मानन्दानुभव इति भेदः । नन्वावृत्तौ नियोगात्प्रवृत्तिर्वाच्या तथा च नियुक्तत्वबुद्धेरकर्त्रात्मधीर्न स्यादित्यत आह—तत्रापीति । आवृत्त्यभ्युपगमेऽप्यकर्ताहमित्यनुभवात्प्रच्याव्य गुरुरन्यो वा नियोगान्न प्रवर्तयेदुक्तदोषादित्यर्थः । कथं तर्हि प्रवृत्तिरित्यत आह—यस्त्विति । अप्रतिभानादसंभावनादिनेत्यर्थः । शिष्यबुद्ध्यनुसारेण श्रोतव्यादिवचोभिः प्रधानसिद्ध्यर्थमावृत्त्यादौ प्रवर्तयेदित्यर्थः ।।२।।

नहीं है ।' ऐसा गाता स्मृति भी कहती है । पर जिसे ऐसा अनुभव सहज में नहीं होता है उसके लिए वैसा ही अनुभवार्थ श्रवणादि का आवर्तन माना गया है । वहाँ पर भी 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ जो ब्रह्मात्मैक्यस्थिति है, उससे दूर हटाकर श्रवणादि की आवृत्ति में श्रुति प्रवृत्त नहीं करायेगी क्योंकि वर को मारने के लिए कन्या का व्याह नहीं करते हैं । जो इस आत्मस्थिति से दूर है वही श्रवणादि के आवर्तन में अधिकृत है । मैं श्रवणादि का कर्ता हूँ और मेरे लिए ये कर्तव्य हैं, ऐसे भाववाले को ब्रह्मबोध से भिन्न प्रकार का बोध अवश्य उत्पन्न होता ही है । परन्तु जो स्वयं ही मन्दमति है एवं असम्भावनादि के कारण यथार्थबोध न होने से ब्रह्मात्मैक्यस्थिति का छोड़ना चाहता है उसी को इस वाक्यार्थ में स्थिर करने के लिए श्रवणादि की आवृत्ति का कथन युक्तिपूर्वक किया गया है अतः परब्रह्मविषयक बोध के लिए भी उसके साधनरूप उपदेशों में आवृत्ति की सिद्धि हो जाती है ।।२।।

२. आत्मत्वोपासनाधिकरण

१. **सङ्गति**—ब्रह्मात्मैक्य के निश्चित होने पर उसके साक्षात्कार के लिए श्रवणादि की आवृत्ति सार्थक हो सकता है, किन्तु ब्रह्म और आत्मा की एकता ही सिद्ध नहीं है; ऐसी आक्षेप सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. **विषय**—इस अधिकरण में श्रवणादि आवृत्ति के प्रकार पर विचार किया गया है ।

३. **संशय**—क्या श्रवणादि की आवृत्ति के समय अहंभाव से स्वात्मत्वेन ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिए अथवा भिन्नत्वेन चिन्तन करना चाहिए ।

४. **पूर्वपक्ष**—मुमुक्षु साधक को ब्रह्म का चिन्तन भिन्नत्वेन करना चाहिए क्योंकि जीव और ब्रह्म सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्व, सुखित्व और दुःखित्वादि विरुद्ध धर्म के आश्रित हैं । नाहं ईश्वरः इस प्रत्यक्ष से भी विरोध आता है ।

(४८०) आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥३॥

यः शास्त्रोक्तविशेषणः परमात्मा स किमहमिति ग्रहीतव्यः किं वा मदन्य इत्येतद्विचारयति । कथं पुनरात्मशब्दे प्रत्यगात्मविषये श्रूयमाणे संशय इति । उच्यते—अयमात्मशब्दो मुख्यः शक्यतेऽभ्युपगन्तुं सति जीवेश्वरयोरभेदसम्भव इतरथा तु गौणोऽयमभ्युपगन्तव्य इति मन्यते । किं तावत्प्राप्तं नाहमिति ग्राह्यः । न ह्यपहतपाप्मत्वादिगुणो विपरीतगुणत्वेन शक्यते ग्रहीतुं विपरीतगुणो वाऽपहतपाप्मत्वादिगुणत्वेन । अपहतपाप्मत्वादिगुणश्च परमेश्वरस्तद्विपरीतगुणस्तु शारीरः । ईश्वरस्य च संसार्यात्मत्व ईश्वराभावप्रसङ्गः । ततः शास्त्रानर्थक्यम् । संसारिणोऽपीश्वरात्मत्वेऽधिकार्यभावाच्छास्त्रानर्थक्यमेव । प्रत्यक्षादि-

---

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च । पूर्वत्र ध्यानादेरावृत्तिरुक्ता तामुपजीव्य तत्त्वज्ञानार्थं ध्यानावृत्तिकाले किमहं ब्रह्मेति ध्यातव्यमुत मत्स्वामीश्वर इत्यैक्यभेदमानाभ्यां संशयमाह—य इति । शब्दादेवप्रमित इत्यादावयमात्मा ब्रह्मेत्याद्यभेदश्रुतिभिरैक्यनिर्णयात्संशयमाक्षिपति—कथमिति । भेदश्रुत्यनुग्रहाद्भेदप्रत्यक्षादिप्राबल्यमालम्ब्य संशय इत्याह—उच्यत इति । अभेदश्रुतीनां गौणत्वमुख्यत्वे उभयत्र फलं, यद्यप्ययं प्रत्यक्षादिविरोधपरिहारो द्वितीयाध्याय[1]संगतस्तथाप्यैक्यश्रुतेरविरुद्धत्वनिश्चयस्य समाधावन्तरङ्गत्वादिह संगतिः । विरुद्धयोरैक्यदृष्टिरसिद्धेत्याह—नाहमिति । किंच किमीश्वरस्य जीवमात्रत्वमैक्यं जीवस्येश्वरमात्रत्वं वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—ईश्वरस्य चेत्यादिना । एकत्व-

---

५. सिद्धान्त—पूर्वपक्षी के द्वारा कहा गया विरोध औपाधिक है, अतः ब्रह्म का चिन्तन आत्मत्वेन करना चाहिए, इसीलिए महावाक्य द्वारा आचार्य अपने शिष्यों को जीव-ब्रह्म का अभेद रूप से उपदेश करते हैं । विरुद्धधर्माश्रयत्व औपाधिक है और प्रत्यक्ष मिथ्याभेद को विषय करता है, अतः जीव और ब्रह्म का अभेद पारमार्थिक होने के कारण अभेदभाव से ही ब्रह्म चिन्तनीय है ।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च (ललिता)

शास्त्रोक्त विशेषणवाला जो परमात्मा है उसे आत्मत्वेन ग्रहण करना चाहिए अथवा मुझसे भिन्न मेरा स्वामी वह परमेश्वर है, इस रूप में चिन्तन करना चाहिए; इसी का विचार इस अधिकरण में किया गया है । शङ्का—प्रत्यगात्मविषयक आत्म शब्द जब श्रुति में आया है तो फिर आप को इस विषय में संशय कैसे हो रहा है । समाधान—जीव-ईश्वर का अभेद सम्भव हो तो यह आत्म शब्द मुख्यार्थक माना जा सकता है, नहीं तो यह आत्म शब्द गौणार्थक ही मानना चाहिए, ऐसी विद्वानों की मान्यता है । इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि मैं ईश्वर नहीं हूँ, इसी रूप में चिन्तन करना चाहिए क्योंकि पुण्य-पापादि से रहित परमेश्वर विपरीत गुणवाला कैसे माना जा सकता है अथवा विपरीत पुण्य-पापादि गुणवाला जीव पुण्य-पापादि से रहितरूप में कैसे ग्रहण किया जा सकता है । परमेश्वर पुण्य-पापादि से रहित है, किन्तु जीव उससे विपरीत है । साथ ही ईश्वर को जीवरूप मानने पर ईश्वराभाव का प्रसङ्ग आ जायेगा जिससे शास्त्र में आनर्थक्य आ जायेगा और संसारी

---

१. तस्याविरोधाध्यायत्वात् ।

विरोधश्च। अन्यत्वेऽपि तादात्म्यदर्शनं शास्त्रात्कर्तव्यं प्रतिमादिष्विव विष्ण्वादिदर्शनमिति चेत्काममेवं भवतु। न तु संसारिणो मुख्य आत्मेश्वर इत्येतन्नः प्रापयितव्यमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आत्मेत्येव परमेश्वरः प्रतिपत्तव्यः। तथाहि परमेश्वरप्रक्रियायां जाबाला आत्मत्वेनैवैतमुपगच्छन्ति—'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि देवते' इति। तथाऽन्येऽपि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्येवमादय आत्मत्वोपगमा द्रष्टव्याः। ग्राहयन्ति चात्मत्वेनेश्वरं वेदान्तवाक्यानि 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३-४-१), 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३-७-३), 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७) इत्येवमादीनि। यदुक्तं प्रतीकदर्शनमिदं विष्णुप्रतिमान्यायेन भविष्यतीति तदयुक्तं गौणत्वप्रसङ्गात्। वाक्यवैरूप्याच्च। 'यत्र हि प्रतीकदृष्टिरभिप्रेयते सकृदेव तत्र वचनं भवति। यथा—'मनो ब्रह्म' (छा० ३-१८-१), 'आदित्यो ब्रह्म' (छा० ३-१९-१) इत्यादि। इह पुनस्त्वमहमस्म्यहं च त्वमसीत्याह, अतः प्रतीकश्रुतिवैरूप्यादभेदप्रतिपत्तिः। भेददृष्टय-

श्रुतिप्रामाण्यायैक्यध्यानं कार्यमिति शङ्कते—अन्यत्वेऽपीति। एकत्वध्यानमस्मदिष्टमेव। एकत्वं तु नास्तीत्याह—काममिति।

अभेदश्रुतीनां फलवदपूर्वार्थतात्पर्येण गौणत्वायोगाद्भेदश्रुतीनां कल्पितभेदानुवादित्वात्प्रत्यक्षादेरपि तद्विषयत्वाद्बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव विरुद्धधर्माणां मिथ्यात्वान्मुख्यमैक्यमिति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना। ईश्वरस्य जीवत्वं न प्रतिपाद्यं येनेश्वराभावः स्यात्किंतु जीवस्येश्वरत्वम्। न चैवमधिकार्य-

जीव में भी ईश्वरात्मत्व स्वीकार करने पर अधिकारी न रह जाने के कारण शास्त्र में आनर्थक्य आयेगा ही, प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ विरोध भी आयेगा। शङ्का—जीव और ईश्वर में भेद रहने पर भी शास्त्रप्रामाण्य के आधार पर अभेदचिन्तन वैसे ही करना चाहिए जैसे प्रतिमादि और विष्णु आदि में भेद रहने पर भी शास्त्र प्रमाण के आधार पर प्रतिमादि में विष्णु आदि दृष्टि करते हैं। समाधान—ऐसा हो सकता था किन्तु संसारी की मुख्य आत्मा ईश्वर है नहीं, ऐसा हमें बोध कराया गया है।

इस प्रकार का पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि आत्मरूप से ही परमेश्वर का चिन्तन करना क्योंकि परमेश्वर के प्रकरण में 'हे भगवन्! हे देवता! जो तुम हो वह मैं हूँ और जो मैं हूँ वही तुम हो' इस वाक्य द्वारा जाबाल शाखावालों ने आत्मरूप से ही परमेश्वर को माना है। वैसे ही अन्य शाखावाले भी 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि वाक्य द्वारा आत्मरूप से ही ब्रह्म को स्वीकार है। इस प्रकार 'यह तेरी आत्मा सर्वान्तर है', 'यह तेरी आत्मा अन्तर्यामी अमृत है', 'वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है' इत्यादि वेदान्तवाक्य ईश्वर का आत्मरूप से ही बोध कराते हैं। और जो आप ने कहा था कि यह प्रतीकदर्शन है जो प्रतिमा में विष्णुदृष्टि करने की भाँति हो जायेगी, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि उस स्थिति में गौणत्व का प्रसङ्ग आ जायेगा और वाक्य में वैरूप्य भी आयेगा। जहाँ प्रतीक दृष्टि बतलाना अभीष्ट हो वहाँ 'मनो ब्रह्म', 'आदित्यो ब्रह्म' इत्यादि एक ही बार कहा जाता है, किन्तु यहाँ पर 'तू मैं हूँ और मैं तुम हो' इस प्रकार पुनः पुनः कहा है, अतः प्रतीकश्रुति की अपेक्षा

१· वैरूप्यमेवाह यत्रेति।

पवादाच्च । तथाहि—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योहमस्मीति न स वेद' (बृ० १-४-१०) 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४-४-१९- कठ० ४-१०), 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदम्' (बृ० ४-५-७) इत्येवमाद्या भूयसी श्रुतिर्भेददर्शनमपवदति । यत्तूक्तं न विरुद्धगुणयोरन्योन्यात्मत्वसम्भव इति । नायं दोषः । विरुद्धगुणताया मिथ्यात्वोपपत्तेः । यत्पुनरुक्तमीश्वराभावप्रसङ्ग इति । तदसत् । शास्त्रप्रामाण्यादनभ्युपगमाच्च । न हीश्वरस्य संसार्यात्मत्वं प्रतिपाद्यत इत्यभ्युपगच्छामः किं तर्हि संसारिणः संसारित्वापोहेनेश्वरात्मत्वं प्रतिपिपादयिषितमिति । एवं च सत्यद्वैतेश्वरस्यापहतपाप्मत्वादिगुणता विपरीतगुणता त्वितरस्य मिथ्येति व्यवतिष्ठते । यदप्युक्तमधिकार्यभावः प्रत्यक्षादिविरोधश्चेति । तदप्यसत् । प्राक्प्रबोधात्संसारित्वाभ्युपगमात् । तद्विषयत्वाच्च प्रत्यक्षादिव्यवहारस्य । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २-४-१४) इत्यादिना हि प्रबोधे प्रत्यक्षाद्यभावं दर्शयति । प्रत्यक्षाद्यभावे श्रुतेरप्यभावप्रसङ्ग इति चेत् । न । इष्टत्वात् । 'अत्र पिताऽपिता भवति' (बृ० ४-३-२२) इत्युपक्रम्य 'वेदा

भावः : एकत्वप्रबोधात्प्रागधिकारिभेदाङ्गीकारादित्याह—यत्पुनरुक्तमित्यादिना । वेदसत्यत्वश्रद्धालुः शङ्कते—प्रत्यक्षाद्यभाव इति । वर्णेषु क्रमस्वरयोरभावादुपलब्धध्वनिस्थयोरारोपो वाच्यस्तथा चारोपितक्रमस्वरविशिष्टवर्णात्मकवेदस्य मिथ्यात्वं दुर्वार, वादिनां सत्यत्वाग्रहस्त्वविद्याविजृम्भित इति वेदसत्यत्वाभावो न दोष इत्याह—नेति । अविद्यामाक्षिपति—कस्येति । प्रश्नलिङ्गेन त्वय्येव तस्याः सिद्धेस्त्वदाक्षेपानुपपत्तिरित्याह—यस्त्वमिति । अज्ञानमूलत्वात्प्रश्नादेरिति भावः । सर्वज्ञाभिन्ने मयि

विलक्षण होने के कारण एवं भेददृष्टि की निन्दा होने के कारण भी अभेदबोध कराना ही अभीष्ट है। इसीलिए तो 'जो देवता की भेददृष्टि से उपासना करता है कि वह भिन्न है और मैं भिन्न हूँ वह अज्ञानी परमार्थ तत्त्व को नहीं जानता ऐसा उपासक मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है जो अज्ञान के कारण जीव-ईश्वर में नानात्व सा देखता है', 'उस भेददृष्टिवाले का पराभव हो जाता है जो आत्मा से अन्य सबको भिन्न समझता है' ऐसी अनेक श्रुतियाँ भेददर्शन की निन्दा करती हैं। और जो आप ने कहा कि विरुद्ध गुण वाले जीव और ईश्वर में परस्पर आत्मत्व सम्भव नहीं है इत्यादि, यह दोष हमारे अभेदपक्ष में नहीं है क्योंकि विरुद्ध गुण में मिथ्यात्व सिद्ध हो चुका है। अभेद पक्ष में ईश्वराभावप्रसङ्ग दोष देना भी ठीक नहीं है क्योंकि हम अभेद शास्त्रप्रमाण के आधार पर मानते हैं और भेद को स्वीकार नहीं करते। अभेद मानने पर ईश्वर में संसारित्व आ जाता है, ऐसा हम नहीं मानते; किन्तु हमें संसारी जीव से संसारित्व को हटाकर ईश्वरात्मत्व बतलाना अभीष्ट है। इस प्रकार अद्वैत ईश्वर में अपहतपाप्मत्वादि गुण है, किन्तु विपरीत गुण ईश्वर में आविद्यक होने के कारण मिथ्या है, यह सिद्धान्त है। अद्वैत पक्ष में अधिकारी का अभाव और प्रत्यक्षादि दोष जो दिया था वह दोष देना भी ठीक नहीं क्योंकि तत्त्वज्ञान से पहले जीव में संसारित्व माना गया है और वही प्रत्यक्षादि व्यवहार का विषय है। 'जहाँ इस ज्ञानी की दृष्टि में सब कुछ आत्मा ही हो गया वहाँ कौन किससे किसको देखे' इत्यादि वाक्य द्वारा तत्त्वज्ञान हो जाने पर प्रत्यक्षादि का अभाव ही श्रुति बतलाती हैं।

१. अपवादमेवाह तथा हीति । २. प्रबोधे ।

३. प्रतीकाधिकरणम् (सू० ४)

(४८१) न प्रतीके नहि सः ॥४॥

प्रतीकेऽहंदृष्टिरस्ति न वा ब्रह्माविभेदतः। जीवप्रतीकयोर्ब्रह्मद्वाराहंदृष्टिरिष्यते।
प्रतीकत्वोपासकत्वहानिर्ब्रह्मैक्यवीक्षणे। अवीक्षणे तु भिन्नत्वान्नास्त्यहंदृष्टियोग्यता॥

अवेदाः' (बृ० ४-३-२२) इति वचनादिष्यत एवास्माभिः श्रुतेरप्यभावः प्रबोधे। कस्य पुनरयमप्रबोध इति चेत्। यस्त्वं पृच्छसि तस्य त इति वदामः। नन्वहमीश्वर एवोक्तः श्रुत्या, यद्येवं प्रतिबुद्धोऽसि नास्ति कस्यचिदप्रबोधः। योऽपि दोषश्चोद्यते कैश्चिदविद्यया किलात्मनः सद्वितीयत्वादद्वैतानुपपत्तिरिति सोऽप्येतेन प्रत्युक्तः। तस्मादात्मन्येवेश्वरे मनो दधीत ॥३॥

'मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति' (छा० ३-१८-१), तथा

कथमज्ञानमिति शङ्कते—नन्विति। अभेदज्ञानात्प्राक् चिन्मात्रस्य तवैवाज्ञानाश्रयत्वमनुभवसिद्धाज्ञानस्यापलापायोगात्। ज्ञाने त्वनिर्वाच्यस्य तस्य बाधान्नाश्रयापेक्षेत्याह—यद्येवमिति। अनिर्वाच्यत्वेन दोषान्तरमपि निरस्तमित्याह—योऽपीति ॥३॥

न प्रतीके नहि सः। उभयथा ध्यानसंभवात्संशयः। यथा ब्रह्मण्य[1]भेदसत्त्वादहंग्रह [2]उक्त एवं प्रतीकेष्वपि ब्रह्मविकारतया जीवाभिन्नब्रह्माभिन्नत्वाज्जीवाभेदसत्त्वेनाहंग्रहः कार्य इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षः। [3]अत्र प्रतीकोपास्तीनामहंग्रहोपास्तिभिरविशेषः।

शङ्का—प्रत्यक्षादि के न रहने पर श्रुति का भी अभावप्रसङ्ग आ जायेगा अर्थात् श्रोत्र और शब्द के अभाव में भला श्रुति अपने अर्थ का बोध कैसे करा सकती है। समाधान—इष्ट होने के कारण हमारे पक्ष में यह दोष नहीं दे सकते क्योंकि 'यहाँ पर पिता अपिता हो जाता है' इस वाक्य से प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'वेद अवेद हो जाते हैं' इस वाक्य द्वारा तत्त्वज्ञान हो जाने पर श्रुति का भी अभाव हमें इष्ट ही है। यह अज्ञान किसमें है, यदि ऐसा पूछो तो हम कहेंगे जो तुम पूछते हो उसी में यह अज्ञान है। यदि कहो कि मैं ईश्वर ही हूँ क्योंकि श्रुति कहती है, ऐसा श्रुति से प्रतिबुद्ध हो गये हो तो यह अज्ञान किसी में नहीं है। और जो भी कोई अविद्या से आत्मा में सद्वितीयत्व आ जाने के कारण अद्वैत की असिद्धि दोष देता है वह दोष भी इसी उत्तर से दूर हो गया। अतः आत्मरूप ईश्वर में ही मन को लगाना चाहिए, यह निश्चित हो गया ॥३॥

३. प्रतीकाधिकरण

१. सङ्गति—जैसे जीव-ब्रह्म का अभेद होने के कारण 'अहं ब्रह्मास्मि' इस रूप में ही ब्रह्म का ध्यान करना पिछले अधिकरण में कहा गया है, वैसे ही ब्रह्म का विकार होने के कारण मन आदि प्रतीक भी ब्रह्मरूप हैं, अतः उनका चिन्तन भी ब्रह्मरूप से ही करना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति पूर्व अधिकरण के साथ इसकी है।

२. विषय—प्रतीकोपासना इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या मन आदि प्रतीकों में अहंदृष्टि करनी चाहिए अथवा नहीं ?

---

१. जीवस्य। २. पूर्वाधिकरणे। ३. पूर्वपक्षे।

'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३-१९-१), 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७-१-५) इत्येवमादिषु प्रतीकोपासनेषु संशयः—किं तेष्वप्यात्मग्रहः कर्तव्यो न वेति। किं तावत्प्राप्तं? तेष्वप्यात्मग्रह एव युक्तः। कस्मात्? ब्रह्मणः श्रुतिष्वात्मत्वेन प्रसिद्धत्वात्प्रतीकानामपि ब्रह्मविकारत्वाद्ब्रह्मत्वे सत्यात्मत्वोपपत्तेरिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न प्रतीकेष्वात्ममतिं बध्नीयात्। नहि स उपासकः प्रतीकानि व्यस्तान्यात्मत्वेनाकलयेत्। यत्पुनर्ब्रह्मविकारत्वात्प्रतीकानां ब्रह्मत्वं ततश्चात्मत्वमिति। तदसत्। प्रतीकाभावप्रसङ्गात्।[1] विकारस्वरूपोपमर्देन हि नामादिजातस्य ब्रह्मत्वमेवाश्रितं भवति। स्वरूपोपमर्दे च नामादीनां कुतः प्रतीकत्वमात्मग्रहो वा। नच ब्रह्मण आत्मत्वात्-ब्रह्मदृष्ट्युपदेशेष्वात्मदृष्टिः कल्प्या। कर्तृत्वाद्यनिराकरणात्। कर्तृत्वादिसर्वसंसार-धर्मनिराकरणे हि ब्रह्मण आत्मत्वोपदेशः। तदनिराकरणेन चोपासनविधानम्। अतश्चो-

सिद्धान्ते तु विशेषसिद्धिरिति फलम्। एतदारभ्याधिकरणत्रयस्य प्रासङ्गिकी पादसङ्गतिः, ब्रह्मैक्यध्यानप्रसङ्गागतत्वादिति विवेकः। किं प्रतीकेष्वात्मत्वानुभवबलादहंग्रह उत वस्तुतो जीवा-भेदसत्त्वात। नाद्य इत्याह—नहि स इति। नानुभवतीत्यर्थः। द्वितीयमप्यसिध्या दूषयति—यत्पुन-रिति। विकारस्य ब्रह्मणा स्वरूपैक्यायोगाद्बाधेनैक्यं वाच्यं प्रतीकबाधे चोपास्तिविधिर्न स्यादित्यर्थः। किंच कर्तृत्वाद्यबाधेनोपास्तिविधिप्रवृत्तिर्वाच्याबाधे तदयोगात्। तथा च बाधमूलब्रह्मैक्यज्ञानं द्वारीकृत्य प्रतीकेष्वहंग्रहोपास्तिकल्पना न युक्ता, बाधविरोधादित्याह—नच ब्रह्मण इति। अतो जीवप्रतीकयोः स्वरूपभेदादहंग्रहे विध्यश्रवणाच्च नाहंग्रह इति फलितमाह—अतश्चेति। यथा रुचक-

४. पूर्वपक्ष—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादि प्रतीकों में अहंदृष्टि करनी चाहिए क्योंकि जीव और प्रतीक ब्रह्म द्वारा अभिन्न हो ही जाते हैं।

५. सिद्धान्त—ब्रह्म और आत्मा का अभेददर्शन होने पर प्रतीक में प्रतीकत्व और उपासक में उपासकत्व समाप्त हो जाता है, किन्तु ब्रह्मदर्शन से पूर्व जीव और प्रतीक में भेद रहने के कारण अहंदृष्टि की योग्यता ही उसमें नहीं है। अतः प्रतीक में अहंभाव नहीं करना चाहिए।

न प्रतीके न हि सः (ललिता)

'अध्यात्म में ब्रह्मदृष्टि से मन की उपासना करे और अधिदैव में ब्रह्मदृष्टि से आकाश की उपासना करे' ऐसा कहा है वैसे ही 'आदित्य में ब्रह्मदृष्टि करे, यह आदेश है' एवं 'जो ब्रह्मदृष्टि से नाम की उपासना करता है' इत्यादि प्रतीक उपासनाओं में संशय होता है कि क्या प्रतीकों को भी आत्मदृष्टि से ग्रहण करना चाहिए अथवा नहीं। इस पर पूर्वपक्ष कहता है कि प्रतीकों में भी आत्म-दृष्टि करना उचित ही है क्योंकि श्रुति में सर्वात्मरूप से ही ब्रह्म की प्रसिद्धि है। प्रतीक भी ब्रह्म के विकार होने के कारण ब्रह्मस्वरूप ही हैं, अतः उनमें भी आत्मबुद्धि करना युक्तिसङ्गत है।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रतीकों में आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह उपासक पृथक्-पृथक् प्रतीकों का आत्मरूप से आकलन नहीं कर सकता। और जो आप ने कहा कि ब्रह्म का विकार होने से प्रतीकों में भी ब्रह्मत्व है इसलिए उनमें आत्मदृष्टि करना

१. प्रतीकानां स्वतो जडत्वेनाभेदाख्यमुख्यसमानाधिकरण्याभावाद योऽयं स्थाणुः स पुमानितिवद्बाधसमाना-धिकरणमेव वाच्यं तथा च प्रतीकाभावप्रसंगस्तमेवोपपादयति विकारेत्यादिना।

४. ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम् (सू० ५)

किमन्यधीर्ब्रह्मणि स्यादन्यस्मिन्ब्रह्मधीरुत । अन्यदृष्टयोपासनीयं ब्रह्मात्र फलदत्वतः।
उत्कर्षेतिपरत्वाभ्यां ब्रह्मदृष्टयान्यचिन्तनम । अन्योपास्त्या फलं दत्ते ब्रह्मातिथ्याद्युपास्तिवत् ।

पासकस्य प्रतीकैः समत्वादात्मग्रहो नोपपद्यते । नहि रुचकस्वस्तिकयोरितरेतरात्मत्वमस्ति । सुवर्णात्मत्वेनैव तु ब्रह्मात्मत्वेनैकत्वे प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम । अतो न प्रतीकेष्वात्मदृष्टिः क्रियते ।।४।।

स्वस्तिकयोः सुवर्णात्मनैक्येऽपि मिथोनैक्य तथा जीवप्रतीकयोः ब्रह्मात्मनैक्येऽपि भेदः समः । यदि च [1]धर्मि[2]व्यतिरेकेण तयोरभावनिश्चयाद्वस्त्वैक्य तदोपासनोच्छेद उक्त इत्यर्थः ।।४।।

उचित ही है, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि इस स्थिति में प्रतीकाभाव का प्रसङ्ग आ जायेगा। विकार के स्वरूप नष्ट हो जाने से नामादि समुदाय में ब्रह्मत्व ही शेष रहता है, स्वरूप के उपमर्दन हो जाने पर नामादि में प्रतीकत्व कैसे रहेगा और उसमें आत्मबुद्धि भी कैसे की जा सकेगी। शङ्का— ब्रह्म सबकी आत्मा है, अतः ब्रह्मदृष्टि के उपदेशों में आत्मदृष्टि की कल्पना कर लेनी चाहिए। समाधान—इस प्रकार कल्पना करने पर कर्तृत्वादि का निराकरण न होने से ब्रह्मदृष्टि भी कैसे हो सकती है। अतः कर्तृत्वादि समस्त संसारधर्मों के निराकरण करने से ही ब्रह्म में आत्मत्व उपदेश सम्भव होता है, कर्तृत्वादि के निराकरण न करने से उपासना का विधान माना जाता है; उस स्थिति में उपासक की प्रतीकों के साथ समता रहने के कारण आत्मग्रह नहीं बनता है अर्थात् उपासक और प्रतीक दोनों ही ब्रह्म में कल्पित हैं। सभी कल्पित वस्तु का अधिष्ठान के साथ एकत्व तो होता है, परस्पर एकत्व नहीं होता। सोने के बने हुए रुचक और स्वस्तिक आभूषणों में परस्परात्मत्व नहीं होता है, स्वर्णरूप से तो दोनों एक हैं; वैसे ही ब्रह्मरूप से सभी एक है, उस दृष्टि से सबमें एकत्व मानने पर प्रतीकाभाव का प्रसङ्ग हम बतला चुके हैं। अतः प्रतीकों में आत्मदृष्टि नहीं की जाती है ।।४।।

४. ब्रह्मदृष्ट्यधिकरण

१. **सङ्गति**—पूर्वोक्त प्रतीक उपासनाओं में ही कुछ अन्य बात का विचार करना भी अभीष्ट है, अतः पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण का एकविषयत्व सङ्गति है।

२. **विषय**—इस अधिकरण में भी पूर्वोक्त प्रतीक उपासनाओं पर ही विचार किया गया है।

३. **संशय**—क्या ब्रह्म में प्रतीकदृष्टि करनी चाहिए या प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए?

४. **पूर्वपक्ष**—प्रतीकदृष्टि से उपासना किये जाने पर ब्रह्म फल देता है, अतः प्रतीकदृष्टि से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए।

५. **सिद्धान्त**—निकृष्ट में उत्कृष्टदृष्टि करनी चाहिए, इस लौकिक न्याय की अपेक्षा रखते हुए ब्रह्मदृष्टि से प्रतीक की उपासना करनी चाहिए; ऐसा करने पर निकृष्ट का उत्कर्ष बढ़ाता है, अन्यथा प्रत्यवाय का प्रसङ्ग आ जायेगा। अतिथि आदि की उपासना ब्रह्मदृष्टि से करने पर जैसे ब्रह्म फल देता है, वैसे ही ब्रह्मदृष्टि से प्रतीक की उपासना करने पर भी ब्रह्म ही फल देगा क्योंकि वह सर्वाध्यक्ष है।

---

१. ब्रह्म। २. जीव प्रतीकयोः।

(४८२) ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥५॥

तेष्वेवोदाहरणेष्वन्यः संशयः—किमादित्यादिदृष्टयो ब्रह्मण्यध्यसितव्याः किंवा ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति। कुतः संशयः?—सामानाधिकरण्ये कारणानवधारणात्। अत्र हि ब्रह्मशब्दस्यादित्यादिशब्दैः सामानाधिकरण्यमुपलभ्यते। आदित्यो ब्रह्म, प्राणो ब्रह्म, विद्युद्ब्रह्मेत्यादिसमानविभक्तिनिर्देशात्। न चात्राञ्जसं सामानाधिकरण्यमवकल्पते। अर्थान्तरवचनत्वाद्ब्रह्मादित्यादिशब्दानाम्। नहि भवति गौरश्व इति सामानाधिकरण्यम्। ननु प्रकृतिविकारभावाद्ब्रह्मादित्यादीनां मृच्छरावादिवत्सामानाधिकरण्यं स्यात्। नेत्युच्यते। विकारप्रविलयो ह्येवं प्रकृतिसामानाधिकरण्यात्स्यात्। ततश्च प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम। परमात्मवाक्यं चेदं तदानीं स्यात्ततश्चोपासनाधिकारो बाध्येत। परिमितविकारोपादानं च व्यर्थम्। तस्माद्ब्राह्मणोऽग्निर्वैश्वानर इत्यादिवदन्यतरत्रान्यदृष्टयध्यासे सति क्व किंदृष्टिरध्यस्यतामिति संशयः। तत्रानियमो नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादित्येवं प्राप्तम्।

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्। एकविषयत्व संगतिः। प्रश्नपूर्वकं संशयबीजमाह—कुत इत्यादिना। सामानाधिकरण्यं श्रुतं तन्न तावन्मुख्यं, ब्रह्मविकारयोर्गवाश्वयोरिवाभेदायोगात्। नापि प्रकृतिविकारभावनिबन्धनं, वाक्यस्य विकारबाधेन ब्रह्मपरत्वापातात्। न चेष्टापत्तिः। नाम ब्रह्मेत्युपासीतेति विधिश्रुतिविरोधात्, परिमितनामग्रहणानर्थक्यापाताच्च। ब्रह्मपरत्वे सर्वं ब्रह्मेति वक्तव्यत्वात्। अतः परिशेषादध्यास एव सामानाधिकरण्यकारणम्, अध्यासे च [2]नियामकाभावात्संशय इत्यर्थः।

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् (ललिता)

पूर्वोक्त उदाहरणों में ही कुछ अन्य संशय भो उत्पन्न होता है कि क्या ब्रह्म में आदित्यादि दृष्टि करनी चाहिए अथवा आदित्य में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए। यहाँ पर यह संशय हो क्यों होता है? 'आदित्यो ब्रह्म', प्राणो ब्रह्म', 'विद्युत ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों में समान विभक्ति द्वारा निर्देश होने के कारण समानाधिकरण्य है, इस समानाधिकरण्य का कारण क्या है, यह निश्चय नहीं होता। यहाँ पर उक्त उदाहरणों में ब्रह्म शब्द का आदित्यादि शब्द के साथ सामानाधिकरण्य दीखता है, किन्तु उसके कारण का निर्णय नहीं हो पाता। शङ्का—उक्त उदाहरणों में समानाधिकरण्य असङ्गत नहीं कह सकते, वह तो किसी दूसरे ही अर्थ को कह रहा है। समाधान—ब्रह्म और आदित्यादि शब्दों में वैसे ही समानाधिकरण्य नहीं हो सकता है जैसे गो अश्व है, ऐसा कहना असङ्गत है अर्थात् यहाँ पर मुख्य सामानाधिकरण्य नहीं है। मृद्घटः इत्यादि की भाँति ब्रह्म और आदित्यादि में प्रकृतिविकारभाव से सामानाधिकरण्य माना जाय तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि उस स्थिति में विकार का विलय हो जायेगा और प्रतीकाभाव का प्रसङ्ग आ जायेगा, ऐसा हम कह आये हैं। साथ ही उस समय यह परमात्मबोधक वाक्य ही माना जायेगा और उपासनाधिकार बाधित होने लग जायेगा एवं कुछ परिमित विकार का ग्रहण करना भी व्यर्थ होगा। अतः 'ब्राह्मणोऽग्निः वैश्वानरः' इत्यादि की भाँति एक में अन्य दृष्टि का अध्यास स्वीकार करने पर कहाँ पर किस दृष्टि का अध्यास किया जाय, यह संशय बना ही रहेगा क्योंकि वहाँ पर नियामक शास्त्र के अभाव में

---

१. वास्तवम्। २. कुत्र कस्याध्यास इत्यत्र।

अथ वाऽऽदित्यादिदृष्टय एव ब्रह्मणि कर्तव्या इत्येवं प्राप्तम् । एवं ह्यादित्यादिदृष्टिभिर्ब्रह्मोपासितं भवति ब्रह्मोपासनं च फलवदिति शास्त्रमर्यादा । तस्मान्न ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्वति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मदृष्टिरेवादित्यादिषु स्यादिति । कस्मात् ? उत्कर्षात् । एवमुत्कर्षेणादित्यादयो दृष्टा भवन्ति । उत्कृष्टदृष्टेस्तेष्वध्यासात् । तथाच लौकिको न्यायोऽनुगतो भवति । उत्कृष्टदृष्टिर्हि निकृष्टेऽध्यसितव्येति लौकिको न्यायः । यथा राजदृष्टिः [1]क्षत्तरि । [2]स चानुसर्तव्यः । विपर्यये प्रत्यवायप्रसङ्गात् । नहि क्षत्तृदृष्टिपरिगृहीतो राजा निकर्षं नीयमानः श्रेयसे स्यात् । ननु शास्त्रप्रामाण्यादनाशङ्कनीयोऽत्र प्रत्यवायप्रसङ्गो, नच लौकिकेन न्यायेन शास्त्रीया दृष्टिर्नियन्तुं युक्तेति । अत्रोच्यते—निर्धारिते शास्त्रार्थ एतदेवं स्यात् । संदिग्धे तु तस्मिंस्तन्निर्णयं प्रति लौकिकोऽपि न्याय आश्रीयमाणो न विरुध्यते । [6]तेन चोत्कृष्टदृष्ट्यध्यासे शास्त्रार्थेऽवधार्यमाणे निकृष्टदृष्टिमध्यस्यन्प्रत्यवेयादिति

उत्कृष्टनिकृष्टयोर्निकृष्टमध्यु[3]पास्यं [4]फलवत्त्वादिति न्यायो नियामक इत्यरुचेराह—अथवेति । [5]अत्र विकारदृष्टिभिर्ब्रह्मोपासितसिद्धिः फलम् ।

सिद्धान्ते तु विकारदृष्ट्या ब्रह्मण उपास्यत्वे निकर्षप्राप्तौ सत्यां फलवत्त्वासिद्धेर्विकारा एवोत्कृष्टब्रह्मदृष्ट्योपास्या इति फलम् । किंच लौकिकन्यायाविरुद्धार्थसंभवे विरुद्धार्थो न ग्राह्यः प्रत्यवायप्रसङ्गात् । किंच प्रथमश्रुतानामादित्यादिपदानामसंजातविरोधितया मुख्यार्थत्वग्रहो न्याय्यः, ब्रह्मशब्दे च दृष्टिलक्षणाग्रहः, तथा चादित्यादयो ब्रह्मदृष्ट्योपास्या इत्येष वाक्यार्थ इत्याह—

नियम तो बन ही नहीं सकता । अथवा ब्रह्म में आदित्यदृष्टि करनी चाहिए, यह पक्ष समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि आदित्यादि दृष्टि से ब्रह्म की उपासना तब मान ली जायेगा । ब्रह्म उपासना फलवती होती है, यह शास्त्रमर्यादा भी है । अतः आदित्यादि में ब्रह्मदृष्टि नहीं करनी चाहिए ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि आदित्यादि में ब्रह्मदृष्टि ही करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर आदित्यादि में उत्कर्ष बढ़ेगा । उत्कृष्ट दृष्टि से आदित्यादि का ध्यान करने पर यह लौकिक न्याय अनुगत हो जाता है कि निकृष्ट में उत्कृष्ट दृष्टि करनी चाहिए । जैसे मन्त्री में राजदृष्टि करने से मन्त्री का उत्कर्ष बढ़ता है और वह फलप्रद भी होता है, उसके विपरीत करने पर अपराध होने लग जायेगा । राजा में मन्त्री दृष्टि करने पर राजा निकृष्टभाव को प्राप्त करेगा, उस स्थिति में वह कल्याण का कारण नहीं बन सकता । शङ्का—शास्त्रप्रामाण्य के आधार पर यहाँ शङ्का का कोई स्थान नहीं है जिससे प्रत्यवाय का प्रसङ्ग आवे क्योंकि लौकिक न्याय से शास्त्रीय-दृष्टि का नियमन करना ठीक नहीं है । समाधान—इस पर सिद्धान्ती कहता है कि शास्त्रतात्पर्य निश्चित हो जाने पर आप का पूर्वोक्त कथन सुसङ्गत हो सकता था किन्तु उक्त संदिग्ध विषय में निर्णय के लिए लौकिक न्याय का भी आश्रय ग्रहण करना विरुद्ध नहीं है । इससे उत्कृष्ट दृष्टि निकृष्ट में करने पर फल मिलता है, उसके विपरीत उत्कृष्ट में निकृष्ट दृष्टि करने पर प्रत्यवाय लगेगा, ऐसा कहना

---

१. नियंता प्राजिता यंता सूतः क्षत्ता च सारथिरित्यमरः । २. स च सुतो राजदृष्ट्यानुसर्तव्यः । ३. प्रतीकत्वेन ग्राह्यमित्यर्थः । ४. राजादिवदिति पूरणीयम् । ५. पूर्वपक्षे । ६. न्यायेन ।

श्लिष्यते। प्राथम्याच्चादित्यादिशब्दानां मुख्यार्थत्वमविरोधाद्ग्रहीतव्यम् । तैः स्वार्थवृत्तिभिरवरुद्धायां बुद्धौ पश्चादवतरतो ब्रह्मशब्दस्य मुख्यया वृत्त्या सामानाधिकरण्यासम्भवाद्ब्रह्मदृष्टिविधानार्थतैवावतिष्ठते । इति परत्वादपि ब्रह्मशब्दस्यैष एवार्थो न्याय्यः। तथाहि 'ब्रह्मेत्यादेशः', ब्रह्मेत्युपासीत', 'ब्रह्मेत्युपास्ते' इति च सर्वत्रेति परं ब्रह्मशब्दमुच्चारयति शुद्धांस्त्वादित्यादिशब्दान् । ततश्च यथा शुक्तिकां रजतमिति प्रत्येतीत्यत्र शुक्तिवचन एव शुक्तिकाशब्दो रजतशब्दस्तु रजतप्रतीतिलक्षणार्थः। प्रत्येत्येव हि केवलं रजतमिति न तु तत्र रजतमस्ति। एवमत्राप्यादित्यादीन्ब्रह्मेति प्रतीयादिति गम्यते। वाक्यशेषोऽपि च द्वितीयानिर्देशेनादित्यादीनेवोपास्तिक्रियया व्याप्यमानान्दर्शयति—'स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ३-१९-४), 'यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७-२-२), 'यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७-४-३) इति च ।

यत्तूक्तं ब्रह्मोपासनमेवात्रादरणीयं फलत्वायेति । तदयुक्तम् । उक्तेन न्यायेनादित्या-

---

प्राथम्याच्चेति । ब्रह्मशब्दस्यैव दृष्टयर्थत्वे हेत्वन्तरमाह—इतिपरत्वादिति । इतिशब्द शिरस्कः शब्दः समभिव्याहृतक्रियालक्षक इति लोके प्रसिद्धमित्यर्थः। द्वितीयाश्रुतेश्चादित्यादीनामेवोपास्तिकर्मत्वमित्याह—वाक्यशेषोऽपीति।

उत्कृष्टमेवोपास्यमिति न्यायमुक्तमनुवदति—यत्तूक्तमिति । द्वितीयेतिश्रुतिभ्यां लौकिकन्याया-

---

युक्तियुक्त ही हैं। आदित्यादि प्रतीकों में ब्रह्मदृष्टि ही करनी चाहिए, इस अर्थ में एक हेतु यह भी है कि आदित्यादि शब्द प्रथम होने के कारण निर्विरोध मुख्यार्थरूप से ग्रहण करना चाहिए। जब अपने अर्थ से युक्त आदित्यादि शब्द मन में बैठ जायेगा तो फिर पश्चाद्भावी ब्रह्मशब्द मुख्यार्थक नहीं हो सकता इसलिए आदित्य और ब्रह्म में समानाधिकरण्य सम्भव न होने के कारण ब्रह्म दृष्टिविधान के लिए ही ब्रह्म शब्द शेष रहता है । ब्रह्म शब्द के आगे इति शब्द होने से भी यही अर्थ ग्रहण करना उचित होगा क्योंकि 'ब्रह्मेत्यादेशः', 'ब्रह्मेत्युपासीत', ब्रह्मेत्युपास्ते' इन सभी श्रुतिवाक्यों में इतिपरक ब्रह्म शब्द का उच्चारण श्रुति करती है, किन्तु आदित्यादि शुद्ध शब्द का ही उच्चारण करती है । इसीलिए जैसे लोक में शुक्तिका को रजत समझता है इस लौकिक शुक्तिवचन में भी शुक्तिका शब्द मुख्यार्थक है; रजत शब्द तो रजतप्रतीति का बोधक, अध्यासार्थ का सूचक है अर्थात् रजत केवल प्रतीत ही होता है, वास्तव में वहाँ पर रजत नहीं है। ऐसे ही यहाँ भी आदित्यादि को ब्रह्मरूप से जाने, ऐसा अर्थ जान पड़ता है । वाक्यशेष भी द्वितीया विभक्तिनिर्देश द्वारा उपासना क्रिया का कर्म आदित्यादि को ही बतलाता है । 'इस प्रकार जानने वाला वह विद्वान् आदित्य में ब्रह्मदृष्टि करता है', 'जो वाणी की उपासना ब्रह्मदृष्टि से करता है' 'जो ब्रह्मदृष्टि से संकल्प की उपासना करता है' इन सभी श्रुतियों में उपासना क्रिया से व्याप्य आदित्यादि को ही समझना चाहिए ।

और जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि फलप्रद होने के कारण ब्रह्म उपासना ही यहाँ पर आदरणीय है, वह कथन ठीक नहीं है क्योंकि उक्त लौकिक न्याय से आदित्यादि में ही उपास्यत्व जान पड़ता है।

५. आदित्यादिमत्यधिकरणम् (सू० ६)

(४८३) आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥६॥

आदित्यादावङ्गदृष्टिरङ्गे रव्यादिधीरुत । नोत्कर्षो ब्रह्मजत्वेन द्वयोस्तेनैच्छिकी मतिः ।
आदित्यादिधियाङ्गानां संस्कारे कर्मणः फले । युज्यतेऽतिशयस्तस्मादङ्गेष्वर्कादिदृष्टयः ॥

वीनामेवोपास्यत्वावगमात् । फलं त्वतिथ्याद्युपासन इव आदित्याद्युपासनेऽपि ब्रह्मैव दास्यति सर्वाध्यक्षत्वात् । वर्णितं चैतत् 'फलमत उपपत्तेः' (ब्र० सू० ३-२-३८) इत्यत्र । ईदृशं चात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं यत्प्रतीकेषु तद्दृष्टयध्यारोपणं प्रतिमादिष्विव विष्णवादीनाम् ॥५॥

'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत' (छा० १-३-१), 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपा-

---

क्षोक्तन्यायबाध इत्याह—तदिति । ब्रह्मणोऽनुपास्यत्वे कथं फलदातृत्वं, तत्राह—फलं त्विति । किञ्च 'यद्दृष्ट्या विकारस्योत्कर्षः तस्य ब्रह्मणो विशेषणत्वेऽप्युपास्यत्वं चास्तीत्याह—ईदृशं चेति ॥५॥

आदित्यादि । पृथिव्यग्न्यन्तरीक्षादित्यद्युसंज्ञेषु लोकेषु हिंकारप्रस्तावोद्गीथप्रतीहारनिधनै रंशैः पञ्चांशं साम, तैरेवादिरिति उपद्रव इति च भक्तिद्वयाधिकैः सप्तांशं सामेति भेदः । अत्र विशेषा-

---

अतिथि की उपासना में जैसे परमेश्वर फल देता है, वैसे ही आदित्यादि उपासना में भी फल तो ब्रह्म ही देगा क्योंकि वह सार्वाध्यक्ष है, यह बात 'फलमत उपपत्तेः' इस सूत्र में हम कह आये हैं । अतः इस प्रकार यहाँ पर जैसे प्रतिमा में विष्णुदृष्टि का आरोप करना अभीष्ट है, वैसे ही आदित्यादि प्रतीकों में ब्रह्मदृष्टि का आरोप करना अभीष्ट है; यही यहाँ पर ब्रह्म में उपास्यत्व है, यह अर्थ निश्चित हुआ ॥५॥

५. आदित्यादिमत्यधिकरण

१. **सङ्गति**—जैसे सम्पूर्ण जगत् का कारण होने से और अपहतपाप्मत्वादि गुणों के साथ सम्बन्ध होने से ब्रह्म आदित्यादि प्रतीक की अपेक्षा उत्कृष्ट है, वैसे ही सिद्ध आदित्यादि की अपेक्षा साध्यरूप उद्गीथादि फल देने में उत्कृष्ट है; अतः पूर्वोत्तर अधिकरणों में दृष्टान्त सङ्गति है ।

२. **विषय**—छान्दोग्य उपनिषद् में कही उद्गीथादि उपासनायें इस अधिकरण के विचारणीय विषय हैं ।

३. **संशय**—क्या आदित्यादि में उद्गीथ दृष्टि करनी चाहिए या उद्गीथादि में आदित्यादिदृष्टि करनी चाहिए ?

४. **पूर्वपक्ष**—आदित्य और उद्गीथ दोनों ही ब्रह्मजन्य है, अतः इनमें उत्कर्षापकर्षभाव नहीं है, इसलिए उपासक अपनी इच्छानुसार कर सकता है ।

५. **सिद्धान्त**—आदित्यादिदृष्टि से उद्गीथ अङ्ग का संस्कार हो जाने पर उसमें अतिशय आ जाता है और उद्गीथ कर्माङ्ग भी है तथा कर्म से फलप्राप्ति प्रसिद्ध ही है । अतः उद्गीथादि अङ्गों में आदित्यादिदृष्टि करना ही युक्तियुक्त है ।

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः

'जो यह सामने तप रहा है उस उद्गीथ को उपासना करे' 'लोक में पञ्चविध साम की उपासना

---

१. ब्रह्म । २. भक्तिभिः ।

सीत' (छा० २-२-१), 'वाचि सप्तविधं सामोपासीत' (छा० २-८-१), 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १-६-१) इत्येवमादिष्वङ्गावबद्धेषूपासनेषु संशयः। किमादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टयो विधीयन्ते किंवोद्गीथादिष्वेवादित्यादिदृष्टय इति। तत्रानियमो नियमकारणाभावादिति प्राप्तम्। नह्यत्र ब्रह्मण इव कस्यचिदुत्कर्षविशेषोऽवधार्यते 'ब्रह्म हि समस्तजगत्कारणत्वादपहतपाप्मत्वादिगुणयोगाच्चादित्यादिभ्य उत्कृष्टमिति शक्यमवधारयितुं न त्वादित्योद्गीथादीनां विकारत्वाविशेषात्किंचिदुत्कर्षविशेषावधारणे कारणमस्ति। अथवा नियमेनोद्गीथादिमतय आदित्यादिष्वध्यस्येरन्। कस्मात्? कर्मात्मकत्वादुद्गीथादीनां कर्मणश्च फलप्राप्तिप्रसिद्धेः। उद्गीथादिमतिभिरुपास्यमाना आदित्यादयः कर्मात्मकाः सन्तः फलहेतवो भविष्यन्ति। तथाच 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १-६-१) इत्यत्र 'तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम' (छा० १-६-१) इत्यृक्शब्देन पृथिवीं निर्दिशति सामशब्देनाग्निं तच्च पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामदृष्टिचिकीर्षायामवकल्पते न ऋक्सामयोः

ज्ञानात्संशयः। पूर्ववदुत्कर्षानवधारणादनियम इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षमाह—तत्रेति। सिद्धरूपादित्यादिभ्यः कर्मरूपोद्गीथादीनां फलसंनिकर्षेणोत्कर्षाद्ब्रह्मवद्विशेषणत्वे नियम इति दृष्टान्तेन मुख्यं पूर्वपक्षमाह—अथवेति। तत्तत्पक्षसिद्धिरेव पूर्वोत्तरपक्षफलं मन्तव्यम्। किंचानङ्गेष्वेवाङ्गदृष्टिरित्यत्र तेष्वङ्गवाचिपदप्रयोगं लिङ्गमाह—तथाचेयमेवेति। तदेतदग्न्याख्यं साम एतस्यां पृथवीरूपायामृच्यध्यूढमुपरिस्थितमित्यर्थः। ऋचि सामवत्पृथिव्यामग्निर्दृश्यते, अतः साम्यात्पृथिव्येवर्गग्निः सामेति ध्यानं विहितं, तत्र यदि ऋक्सामात्मकयोः कर्माङ्गयोः पृथिव्यग्निदृष्टिः स्यात्, तदा पृथिव्यग्न्यो-

---

करे' 'वाणी में सप्तविध साम की उपासना करे' 'यह पृथ्वी ही ऋक् है और अग्नि साम है' इन अङ्गावबद्ध उपासनाओं के सम्बन्ध में संशय होता है कि आदित्यादि में उद्गीथादिदृष्टि का विधान है अथवा उद्गीथादि? आदित्यादि दृष्टि का विधान है। इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि नियम का कारण न होने से अनियम ही मानना चाहिए। यहां पर जैसे ब्रह्म में उत्कर्ष पहले कहा गया था वैसा इनमें से किसी में भी उत्कर्षविशेष का निश्चय नहीं होता है। ब्रह्म समस्त जगत् का कारण होने और अपहृतपाप्मत्वादि गुणों से युक्त होने के कारण आदित्यादि की अपेक्षा उत्कृष्ट है, ऐसा निश्चय कर सकते हैं; किन्तु आदित्य एवं उद्गीथादि में विकारत्व समान रहने के कारण उत्कर्षविशेष का निर्णायक कोई कारण नहीं है जिससे किसी एक में उत्कर्षनिश्चय होने पर पूर्वोक्त अधिकरणानुसार निकृष्ट में उत्कृष्ट दृष्टि का निर्णय किया जा सके। अथवा आदित्यादि सिद्ध वस्तु है एवं कर्म होने के कारण उद्गीथादि साध्यवस्तु है, इसलिए आदित्यादि में नियम से ही उद्गीथादिदृष्टि करनी चाहिए क्योंकि कर्म से फल की प्राप्ति होना प्रसिद्ध ही है। उद्गीथादि कर्मात्मक होने के कारण उद्गीथादिदृष्टि से आदित्यादि की उपासना करने पर आदित्यादि कर्मात्मक हो जायेंगे और वे फल के हेतु बन जायेंगे। वैसे ही 'यह पृथ्वी ही ऋक् है और अग्नि साम है' इसमें पार्थिवादि ईंधन से अग्नि की उपलब्धि होती है इसीलिए यहां पर 'ऋक् मन्त्र में आरूढ़ होकर साम गाया जाता है' इस प्रकार ऋक् शब्द से पृथ्वी का और साम शब्द से अग्नि का निर्देश श्रुति करती पृथ्वी में ऋक्दृष्टि और अग्नि में सामदृष्टि के विधान में लौकिक प्रमाण भी है, किन्तु ऋक् में पृथ्वी और साम में अग्निदृष्टि करने में कोई लोकप्रमाण नहीं है। सूत में राजदृष्टि करने से राज

पृथिव्यग्निदृष्टिचिकीर्षायाम्। क्षत्तरि हि राजदृष्टिकरणाद्राजशब्द उपचर्यते न राजनि क्षत्तृशब्दः। अपि च 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २-२-१) इत्यधिकरणनिर्देशाल्लोकेषु सामाध्यसितव्यमिति प्रतीयते। 'एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्' (छा० २-११-१) इति चैतदेवं दर्शयति। प्रथमनिर्दिष्टेषु चादित्यादिषु चरमनिर्दिष्टं ब्रह्माध्यस्तम्। 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३-१९-१) इत्यादिषु। प्रथमनिर्दिष्टाश्च पृथिव्यादयश्चरमनिर्दिष्टा हिंकारादयः 'पृथिवी हिंकारः' (छा० २-२-१) इत्यादिश्रुतिषु। अतोऽनङ्गेष्वादित्यादिष्वङ्गमतिनिक्षेप इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आदित्यादिमतय एवाङ्गेषूद्गीथादिषु क्षिप्येरन्। कुतः? उपपत्तेः। उपपद्यते ह्येवमपूर्वसंनिकर्षादादित्यादिमतिभिः संस्क्रियमाणेषूद्गीथादिषु कर्मसमृद्धिः। 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १-१-१०) इति च विद्यायाः कर्मसमृद्धिहेतुत्वं दर्शयति। भवतु कर्मसमृद्धिफलेष्वेवं स्वतन्त्र-

---

श्वसामपदप्रयोगो न स्यादित्यत्र दृष्टान्तमाह—क्षत्तरीति। अतः प्रयोगान्यथानुपपत्त्या पृथिव्यग्न्योश्वसामदृष्टिरित्यर्थः। विषयसप्तम्या चैवमेवेत्याह—अपिचेति। गायत्रसंज्ञं साम। किंच पूर्वाधिकरणसिद्धान्तन्यायेनाप्येवमित्याह—प्रथमेति।

अनङ्गबुद्ध्याङ्गान्युपास्यानीति सिद्धान्तयति—एवमिति। उपास्तीनां हि कर्मसमृद्धिः फलं श्रूयते, सा च ताभिरङ्गेषु संस्क्रियमाणेषूपपद्यते, अङ्गानां समृद्ध्यनुकूलप्रकृतकर्मापूर्वजनकत्वादित्यर्थः। ननु यत्रोपास्तीनां प्रकृतकर्मापूर्वसंनिकृष्टाङ्गद्वारापेक्षं फलं श्रुतं तत्र फलोपपत्तयेऽङ्गानामुपास्यत्वं भवतु तदनपेक्षलोकादिफलेषु तूपासनेषु कथमुपास्यविवेक इति शङ्कते—भवत्विति।

शब्द गौणार्थक हो जाता है, किन्तु राजा में सूतदृष्टि करने से क्षत्तृ शब्द गौणार्थक नहीं होता। इसके अतिरिक्त 'लोकेषु पञ्चविधंसामोपासीत' इस वाक्य द्वारा अधिकरणनिर्देश होने के कारण लोक में सामदृष्टि करनी चाहिए, ऐसा ही 'प्राणों में यह गायत्र ओत-प्रोत है' यह श्रुति भी बतलाती है। प्रथमनिर्दिष्ट आदित्यादि में 'आदित्यो ब्रह्म' इत्यादि स्थल में जैसे ब्रह्म का अध्यास बतलाया जा चुका है, वैसे ही प्रथमनिर्दिष्ट पृथिव्यादि में 'पृथिवी हिंकारः' इत्यादि श्रुतियों द्वारा चरमनिर्दिष्ट हिंकारादिदृष्टि करनी चाहिए। अतः आदित्यादि अङ्ग नहीं है, उनमें अङ्ग का अध्यास करना चाहिए।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि उद्गीथादि अङ्गों में आदित्यादि दृष्टि ही करनी चाहिए क्योंकि इस प्रकार अलौकिकसन्निकर्ष के कारण आदित्यादि बुद्धि द्वारा उद्गीथादि के संस्कार किये जाने पर कर्म की समृद्धि होती है। यही बात 'जब उपासना, श्रद्धा एवं रहस्यज्ञानपूर्वक कर्म करता है तब वह कर्म शक्तिशाली हो जाता है' इस वाक्य द्वारा श्रुति उपासना को कर्मसमृद्धि का कारण बतलाती है। शङ्का—जहाँ उपासना से कर्म में समृद्धिरूप फल प्राप्त होना कहा गया है वहाँ जैसा आप कहते हैं वैसा ही मान लेना चाहिए, किन्तु 'जो इस प्रकार जानने वाला उपासक लोक में पञ्चविध साम की उपासना करता है' इन स्वतन्त्र फलवाली उपासनाओं में पूर्वोक्त युक्ति कैसे बन सकेगी।

---

१. स्थापनम्। २. अपूर्वसन्निकर्षादिति अपूर्वजनकत्वादित्यर्थः अंगानामिति शेषः।

फलेषु नु कथम् 'य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते' (छा० २-२-३) इत्यादिषु। तेष्वप्यधिकृताधिकारात्प्रकृतापूर्वसंनिकर्षेणैव फलकल्पना युक्ता गोदोहनादिनियमवत्। फलात्मकत्वाच्चादित्यादीनामुद्गीथादिभ्यः कर्मात्मकेभ्य उत्कर्षोपपत्तिः। आदित्यादिप्राप्तिलक्षणं हि कर्मफलं शिष्यते श्रुतिषु। अपि च 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १-१-१), 'खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' (छा० १-१-१०) इति चोद्गीथमेवोपास्यत्वेनोपक्रम्यादित्यादिमतीर्विदधाति।

यत्तूक्तमुद्गीथादिमतिभिरुपास्यमाना आदित्यादयः कर्मभूयं गत्वा फलं करिष्यन्तीति। तदयुक्तम्। स्वयमेवोपासनस्य कर्मत्वात्फलवत्त्वोपपत्तेः। आदित्यादिभावेनापि च दृश्यमानामुद्गीथानां कर्मात्मकत्वानपायात्। 'तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम' (छा० १-६-१) इति तु लाक्षणिक एव पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामशब्दप्रयोगः। लक्षणा च यथासम्भवं संनिकृष्टेन

यथ। स्वतन्त्रपशुफलस्यापि गोदोहनस्य अङ्गद्वारापेक्षयैव फलमिष्टं तद्वल्लोकादिफलेषूपासनेष्वपि कर्मापूर्वाङ्गद्वारैव फलकल्पना युक्ता, कर्माधिकृतस्यैवाङ्गाश्रितोपासनेष्वधिकारात्, अतोऽङ्गानामेवोपास्यत्वमिति समाधत्ते—तेष्वपीति। उत्कर्षानवधारणादनियम इत्युक्तं निरस्यति—फलात्मेति। उपक्रमबलाच्चाङ्गमुपास्यमित्याह—अपिचेति। रसतमत्वादिगुणाद्युपसंख्यानमित्यर्थः।

द्वितीयं पूर्वपक्षं दूषयति—यत्तूक्तमित्यादिना। कर्मभूयं कर्मात्मकत्वं प्राप्येत्यर्थः। सिद्धादित्यात्मना कर्मणा दृष्टौ कर्मत्वहानिः स्यादित्यत आह—आदित्यादिभावेनेति। माणवकेऽग्निदृष्टिवदुद्गीथादिष्वादित्यादिधियां गौणत्वान्न कर्मत्वाभिभावकत्वमित्यङ्गेष्वनङ्गत्वधीरविरुद्धेत्याशयः। प्रयोगानुपपत्तिमुक्तां निरस्यति—तदेतदिति। लक्षणाबीजं संबन्धमाह—लक्षणा चेति। गङ्गायां घोष इत्यत्र

समाधान—अधिकृत का अधिकार होने के कारण प्रकृत अलौकिकसन्निकर्ष से ही स्वतन्त्र फलशाली उपासनाओं में भी फल की कल्पना युक्त ही है, जैसे 'चमसेन अपप्रणयेत गोदोहनेन पशुकामः' इस कर्मविधायक वाक्य में चमस पात्र द्वारा जलाहरण करने वाला यजमान ही पशुकाम हो जाने पर गोदोहन पात्र से जलाहरण का अधिकारी माना जाता है। इसके अतिरिक्त आदित्यादि फलात्मक होने के कारण कर्मरूप उद्गीथादि की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, इसलिए निकृष्ट उद्गीथादि में उत्कृष्ट आदित्यादि दृष्टि करना युक्तियुक्त एवं फलप्रद है क्योंकि श्रुतियों में कर्म का फल आदित्यादि की प्राप्ति बतलाया जाता है। उपक्रम के बल से भी उद्गीथादि अङ्ग ही उपास्य है क्योंकि 'ॐ' इस अक्षररूप उद्गीथ की उपासना करे' और इसी अक्षर का उपव्याख्यान रसतमत्वादि गुणों के वर्णन द्वारा आगे किया गया है' इत्यादि वाक्य द्वारा उपास्यरूप से उद्गीथ का प्रसङ्ग प्रारम्भकर आदित्यादृष्टि का विधान श्रुति करती है।

और जो आप ने कहा था कि उद्गीथादिदृष्टि से आदित्यादि की उपासना करने पर वे कर्मरूप बनकर फल देंगे, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उपासना तो स्वयं ही कर्मरूप होने से फलवती है ही। साथ ही आदित्यादिदृष्टि से देखे जाने पर उद्गीथादि में कर्मरूपता मिट नहीं जाती है। 'वह यह अग्निनामक साम इस पृथ्वीसंज्ञक ऋक् में अधिष्ठित है' यह पृथ्वी एवं अग्नि में ऋक् तथा साम शब्द का प्रयोग तो लाक्षणिक ही समझा जाय। लक्षणा यथासम्भव सन्निकृष्ट अथवा

विप्रकृष्टेन वा स्वार्थसम्बन्धेन प्रवर्तते । तत्र यद्यप्यृक्सामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिचिकीर्षा तथापि प्रसिद्धयोरृक्सामयोर्भेदेनानुकीर्तनात्पृथिव्यग्न्योश्च संनिधानात्तयोरेवैष ऋक्सामशब्दप्रयोग ऋक्सामसम्बन्धादिति निश्चीयते । क्षत्तृशब्दोऽपि हि कुतश्चित्कारणाद्राजानमुपसर्पन्न निवारयितुं पार्यते । 'इयमेवर्क्' (छा० १-६-१) इति च यथाक्षरन्यासमृच एव पृथिवीत्वमवधारयति । पृथिव्या ह्यृक्त्वेऽवधार्यमाण इयमृगेवेत्यक्षरन्यासः स्यात् ।

'य एवं विद्वान्साम गायति' (छा० १-७-७) इति चाङ्गाश्रयमेव विज्ञानमुपसंहरति न पृथिव्याद्याश्रयम् । तथा 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २-२-१) इति यद्यपि

संनिकृष्टसंयोगसंबन्धेन तीरलक्षणा, अग्निर्माणवक इत्यत्राग्निनिष्ठशुचित्वादिगुणवत्त्वरूपपरम्परासंबन्धेन लक्षणा दृष्टा, तथा चात्र ऋक्सामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिपक्षेऽपि ऋक्सामपदाभ्यां स्ववाच्यार्थद्रष्टव्यताख्यपरम्परासंबन्धेन पृथिव्यग्निलक्षणा युक्तेत्यर्थः । ननु प्रतीकवाचिपदस्य ध्येये अर्थे लक्षणा न युक्ता, क्षत्तृपदस्य राजन्यप्रयोगादिति शङ्कते—तत्र यद्यपीति । तथापि ऋक्सामसंबन्धात्पृथिव्यग्न्योरेवैतस्यामृच्यध्यूढं सामेत्येष ऋक्सामपदप्रयोग इत्यन्वयः । ननु मुख्यार्थ एव न कुतो गृह्यते, तत्राह—प्रसिद्धयोरिति । तस्मादृच्यध्यूढं सामेति मुख्ययोः पृथगुक्तेस्तदेतस्यामित्यत्रापि तयोर्ग्रहे पुनरुक्तिः स्यात्, अतः प्रतीकाभेददृष्ट्या पृथिव्यग्न्योः प्रतीकसंनिधानात्तयोरेव प्रतीकपदप्रयोगः कृतस्तदभेददार्ढ्यायेत्यर्थः । तर्हि क्षत्तृशब्दोऽपि राजनि स्यादित्यत आह–क्षत्त्रिति । स्थितप्रयोगस्य निमित्तं किमपि वाच्यं न तु निमित्तमस्तीति प्रयोग आपाद्य इति भावः । क्षत्ता सूतः, तस्य कार्यं रथचर्यादि यदा राजैव करोति तदा क्षत्तृशब्दो राजन्यप्यस्तीत्यक्षरार्थः । ऋगादावेव पृथिव्यादिदृष्टिरित्यत्र हेत्वन्तरमाह—इयमिति ।

सप्तम्या लोकानामुपास्यत्वमुक्तं निरस्यति—तथा लोकेष्विति । सामात्मना लोकानुपासीतेति द्वितीयासप्तम्योर्भङ्गस्त्वया कार्यस्ततो वरं लोकात्मना सामोपासीतेति सप्तमीमात्रभङ्ग इत्यर्थः ।

विप्रकृष्ट स्वार्थसम्बन्ध के कारण ही प्रवृत्त होती है । ऐसा ही 'गङ्गायां घोषः' 'अग्निर्माणवकः' इत्यादि स्थल में देखा गया है । वहाँ पर यद्यपि ऋक् में पृथ्वीदृष्टि और साम में अग्निदृष्टि करनी इष्ट है, तथापि ऋक् और साम प्रसिद्ध हैं एवं उनसे पृथक् रूप में पृथ्वी और अग्नि का अनुकथन भी हो चुका है; अतः सन्निधान के कारण पृथ्वी और अग्नि में ही ऋक्-साम शब्द का प्रयोग हुआ है क्योंकि ऋक्-साम का सम्बन्ध भी वहाँ दीखता है । क्षत्ता शब्द का अर्थ सूत होता है जो रथचर्या का काम करता है, वह काम यदि राजा कर रहा हो तो राजा में भी क्षत्तृ शब्द का प्रयोग करने पर उसका वारण नहीं हो सकता । 'इयमेवर्क्' यह अक्षरन्यास ऋचा में ही पृथ्वीत्व का निश्चय कराता है । यदि पृथ्वी में ऋक्त्वरूपता का निश्चय कराना हो तो इयं ऋगेव, ऐसा अक्षरन्यास होना चाहिए; किन्तु ऐसा प्रयोग नहीं दीखता है । अतः ऋगादि में ही पृथिव्यादिदृष्टि करनी चाहिए, ऐसा निर्णय लेने में अक्षरन्यास हेतु दिया गया है ।

'जो इस प्रकार जानने वाला विद्वान् साम का गान करता है' इस वाक्य द्वारा अङ्गाश्रित ही उपासना का उपसंहार देखा जाता है, पृथिव्यादि के आश्रित उपासना का उपसंहार नहीं दीखता है । वैसे ही 'लोकों में पञ्चविध साम की उपासना करे' इस श्रुति में यद्यपि सप्तमी विभक्ति से लोकों का निर्देश है, इससे आपाततः प्रतीत होता है कि लोक में सामदृष्टि का विधान किया है; फिर भी

सप्तमीनिर्दिष्टा लोकास्तथापि साम्न्येव तेऽध्यस्येरन्द्वितीयानिर्देशेन साम्न उपास्यत्वावगमात् । सामनि हि लोकेष्वध्यस्यमानेषु साम लोकात्मनोपासितं भवति । अन्यथा पुनर्लोकाः सामात्मनोपासिताः स्युः । एतेन 'एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्' (छा० २-११-१) इत्यादि व्याख्यातम् । यत्रापि तुल्यो द्वितीयानिर्देशः—'अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत' (छा० २-६-१) इति तत्रापि 'समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु' (छा० २-१-१), 'इति तु पञ्चविधस्य' (छा० २-७-२), 'अथ सप्तविधस्य' (छा० २-८-१) इति च साम्न एवोपास्यत्वोपक्रमात्तस्मिन्नेवादित्याद्यध्यासः । एतस्मादेव च साम्न उपास्यत्वावगमात् 'पृथिवी हिंकारः' (छा० २-२-१) इत्यादिनिर्देशविपर्ययेऽपि हिंकारादिष्वेव पृथिव्यादिदृष्टिः । तस्मादनङ्गाश्रया आदित्यादिमतयोऽङ्गेषूद्गीथादिषु क्षिप्येरन्निति सिद्धम् ॥६॥

एतेनेति एकविभक्तिभङ्गलाघवेन प्राणात्मना गायत्रं सामोपास्यमिति व्याख्यातमित्यर्थः । ननु विभक्तिसाम्ये कथं निर्णयस्तत्राह—यत्रापीति । 'साम्न उपासनं साधु' इत्युपक्रम्य पृथिवी हिङ्कार इत्यादिना हिङ्कारादिपञ्चावयवस्य साम्न उपासनमुक्त्वा 'इति तु पञ्चविधस्योपासनम्' इत्युपसंहृत्य, अथेति सप्तविधस्य साम्न उपासनं प्रक्रम्य प्रपञ्चितमतः साम्न एवोपास्यत्वमित्यर्थः । यदुक्तं प्राथम्यात्पृथिव्यादेरुपास्यत्वमिति, तत्राह—एतस्मादेवेति यद्यपि हिङ्कारोद्देशेन पृथिवीत्वविधेरुद्देश्यस्य प्रथमनिर्देशो वाच्यस्तथाप्युक्तन्यायबलाद्व्यत्ययो ग्राह्य इत्यर्थः ॥६॥

साम में ही लोकदृष्टि करनी चाहिए क्योंकि साम पद में द्वितीया विभक्ति दीखता है जिससे साम में उपास्यत्व का बोध होता है । साम में लोकदृष्टि करने पर लोकरूप से साम की उपासना मानी जायेगी; इसके विपरीत करने पर सामरूप से लोक की उपासना कही जायेगी, इसमें पञ्चमी एवं द्वितीया दोनों विभक्ति अनुपयुक्त हो जाती है । और सिद्धान्त पक्ष में साम पद में द्वितीया विभक्ति यथाश्रुत अर्थ को कहती है किन्तु लोक पद में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग तृतीया के अर्थ में किया गया है । अतः एकविभक्तिभङ्गरूप लाघव सिद्धान्त पक्ष में है और पूर्वपक्ष में दोनों ही विभक्तियों के भङ्ग का प्रसङ्ग आता है । इसी लाघव-गौरव के कारण 'प्राण में यह गायत्र साम ओत-प्रोत है' इस श्रुतिवाक्य का अर्थ भी व्याख्यात हो जाता है अर्थात् प्राणरूप से गायत्र साम की उपासना करे । और जहाँ भी द्वितीया का समान निर्देश है, जैसे 'अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत' इस वाक्य में आदित्य तथा साम दोनों ही पदों में द्वितीया विभक्ति का निर्देश एक सा है, वहाँ पर भी 'समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु', 'इति तु पञ्चविधस्य', 'अथ सप्तविधस्य' इन वाक्यों द्वारा साम में ही उपास्यत्व का प्रसङ्ग प्रारम्भ करते हैं । इस उपक्रम से साम में ही आदित्यदृष्टि का विधान किया गया है, इससे भी साम में ही उपास्यत्व का बोध होता है । 'पृथिवी हिंकारः' इस श्रुति में प्रथमनिर्दिष्ट पृथिवी पद है और चरमनिर्दिष्ट हिंकार पद है, इससे आपाततः पृथ्वी में हिंकारदृष्टि का विधान सा जान पड़ता है, ऐसा निर्देशविपर्यय रहने पर भी हिंकारादि सामभक्तियों में ही पृथिव्यादिदृष्टि का विधान समझना चाहिए, ऐसे निर्णय में उक्त न्याय का बल प्राप्त होता है । अतः आदित्यादि अङ्गाश्रित नहीं हैं और उद्गीथादि अङ्गाश्रित हैं, इसीलिए उद्गीथादि अङ्गों में आदित्यादिदृष्टि ही करनी चाहिए, यह अर्थ निश्चित हुआ ॥६॥

६. आसीनाधिकरणम् (सू० ७-१०)

(४८४) आसीनः सम्भवात् ॥७॥

नास्त्यासनस्य नियम उपास्तावुत विद्यते । न देहस्थितिसापेक्षं मनोऽतो नियमो नहि ।
शयनोत्थानगमनैर्विक्षेपस्यानिवारणात् । धीसमाधानहेतुत्वात्परिशिष्यत आसनम् ॥

कर्माङ्गसम्बद्धेषु तावदुपासनेषु कर्मतन्त्रत्वान्नासनादिचिन्ता नापि सम्यग्दर्शने वस्तुतन्त्रत्वाद्विज्ञानस्य । इतरेषु तूपासनेषु किमनियमेन तिष्ठन्नासीनः शयानो वा प्रवर्तेतोत नियमेनासीन एवेति चिन्तयति । तत्र मानसत्वादुपासनस्यानियमः शरीरस्थितेरिति ।

एवं प्राप्ते ब्रवीति—आसीन एवोपासीतेति । कुतः ? सम्भवात् । उपासनं नाम

आसीनः संभवात् । कर्मण उत्थितेनोपविष्टेन वानेकधानुष्ठानदर्शनात्संशयः कर्माङ्गाश्रितोपासनानामासननियमानपेक्षणानामनुष्ठानप्रकार उक्तस्तद्वदङ्गानाश्रितोपासनेष्वप्यनियम इति पूर्वपक्षयति—तत्रेति । अत्रासनाभ्यासासिद्धिः ।

सिद्धान्ते तु मनोदेहयोर्भिन्नत्वेऽपि देहचाञ्चल्ये मनसोऽनवस्थानस्य अनुभवसिद्धत्वान्मनोव्यापारेषु-

---

६. आसीनाधिकरण

१. सङ्गति—अङ्गाश्रित उपासना की भाँति अङ्ग अनाश्रित उपासनाओं में भी आसन का नियम नहीं है, इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है ।

२. विषय—इस अधिकरण में उपासना के समय आसननियम पर विचार किया गया है ।

३. संशय—क्या जो कर्माङ्ग उपासनायें नहीं हैं अपितु स्वतन्त्र हैं; ऐसी उपासनायें बैठे-बैठे, खड़े रहकर अथवा लेटकर किसी भी प्रकार से कर सकते हैं या नियमपूर्वक बैठ करके ही कर सकते हैं ।

४. पूर्वपक्ष—मानस व्यापार होने के कारण उपासना में शरीरस्थिति का कोई नियम नहीं है, साधक अपनी इच्छानुसार ऐसी उपासनायें कर सकते हैं ।

५. सिद्धान्त—सोकर या लेटकर उपासना करने से निद्रा आने की आशङ्का रहेगी, खड़े-खड़े या चलते हुए उपासना करने पर विक्षेप होता रहेगा, अतः बैठकर ही उपासना करनी चाहिए, उसी में मन की स्थिरता रहेगी ।

आसीनः सम्भवात् (ललिता)

कर्म के अधीन होने से कर्माङ्ग उपासनाओं में आसनादि की चिन्ता आवश्यक नहीं है और ज्ञान के वस्तुतन्त्र होने के कारण तत्त्वज्ञान और उसके साधनानुष्ठान में भी आसनादि का विचार आवश्यक नहीं है, किन्तु इससे भिन्न उपासनाओं में क्या नियम के बिना ही स्वेच्छा से खड़े रहकर, बैठकर अथवा लेटकर उपासना में प्रवृत्त हो सकता है अथवा नियम से बैठ करके ही उपासना कर सकता है, ऐसे विचार का प्रसङ्ग जब उपस्थित हुआ तब पूर्वपक्ष का कहना है कि मानसव्यापार होने के कारण शरीरस्थिति का कोई नियम नहीं है ।

ऐसा कहने पर सिद्धान्ती कहता है कि बैठकर ही उपासना करे क्योंकि तैलधारावत् एक समान

(४८५) ध्यानाच्च ।।८।।

(४८६) अचलत्वं चापेक्ष्य ।।६।।

[1]समानप्रत्ययप्रवाहकरणं नच तद्गच्छतो धावतो वा सम्भवति गत्यादीनां चित्तविक्षेपकत्वात् । तिष्ठतोऽपि देहधारणे व्यापृतं मनो न सूक्ष्मवस्तुनिरीक्षणक्षमं भवति । शयानस्याप्यकस्मादेवं निद्रयाभिभूयेत । आसीनस्य त्वेवंजातीयको भूयान्दोषः सुपरिहर इति सम्भवति तस्योपासनम् ।।७।।

अपिच ध्यायत्यर्थ एष यत्समानप्रत्ययप्रवाहकरणम् । ध्यायतिश्च प्रशिथिलाङ्गचेष्टेषु प्रतिष्ठितदृष्टिष्वेकविषयाक्षिप्तचित्तेषूपचर्यमाणो दृश्यते ध्यायति बको ध्यायति प्रोषितबन्धुरिति आसीनस्यानायासो भवति । तस्मादप्यासीनकर्मोपासनम् ।।८।।

अपिच 'ध्यायतीव पृथिवी' (छा० ७-६-१) इत्यत्र पृथिव्यादिष्वचलत्वमेवापेक्ष्य ध्यायतिवादो भवति तच्च लिङ्गमुपासनस्यासीनकर्मत्वे ।।६।।

उपासनेषु देहस्थैर्यार्थमासननियमापेक्षेति फलभेदः । तिष्ठत उत्थितस्य ।।७।।

किंच ध्यातार आसीना एव स्युः ध्यायतिशब्दार्हत्वाद्बकादिवदित्याह—ध्यनाच्चेति ।।८।।

अत्रैव श्रौतं दृष्टान्तमाह—अचलत्वं चेति ।।६।।

मनोवृत्ति के प्रवाह को उपासना कहते हैं, वह उपासना चलते हुए या दौड़ते हुए में होना सम्भव नहीं है क्योंकि गति और धावन चित्तविक्षेप का कारण बन जाते हैं। खड़े रहने पर भी देह को सँभालने में ही मन लगा रहेगा, सूक्ष्मवस्तु के निरीक्षण में मक्षम नहीं हो सकता है। लेटा हुआ व्यक्ति भी अकस्मात् ही निद्रा से अभिभूत हो जाता है, अतः लेटा हुआ व्यक्ति भी उपासना में सफल नहीं हो सकता है। परिशेषतः बैठकर उपासना करने वाले में पूर्वोक्त सभी दोषों का परिहार हो जाता है, अतः बैठकर ही उपासना करना सम्भव है ।।७।।

ध्यानाच्च (ललिता)

समानप्रत्ययप्रवाहरूप उपासना ध्यान का पर्याय भी मानी जाती है। अङ्गचेष्टायें अत्यन्त शिथिल हों, नेत्रवृत्ति किसी एक लक्ष्य पर टिकी हुई हो और चित्त किसी एक विषय में लगा हुआ हो तभी, ध्यान करता है, ऐसा प्रयोग होते देखा जाता है। इस स्थिति में बैठे हुए बक को देखकर लोग कहते हैं कि बक ध्यान कर रहा है, जिसका परिवार प्रवास में गया हो ऐसे व्यक्ति को देखकर कहते हैं कि प्रोषितबन्धु ध्यान कर रहा है। इस प्रकार बैठे हुए व्यक्ति में अनायश ध्यान शब्द का व्यवहार हो जाता है, इससे अर्थतः सिद्ध हो जाता है कि बैठे हुए का ही कर्म उपासना है। यहाँ पर एक अनुमान भी निकल आता है कि बैठे हुए को ही ध्याता कहें, क्योंकि उक्त रीति से ध्यायति शब्द का प्रयोग उन्हीं में उचित होता है, जैसे बकादि का अचल स्थिर देखकर ध्यान करता है, ऐसा प्रयोग किया जाता है ।।८।।

अचलत्वं चापेक्ष्य (ललिता)

इसी विषय में श्रौत दृष्टान्त भी कहते हैं कि 'पृथ्वी ध्यान करती सी जान पड़ती है' इस श्रुति

---

१. सजातीय ।

७. एकाग्रताधिकरणम् (सू० ११)

(४८७) स्मरन्ति च ॥१०॥

(४८८) यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥११॥

दिग्देशकालनियमो विद्यतेऽथ न विद्यते । विद्यते वैदिकत्वेन कर्मस्वेतस्य दर्शनात् ।
एकाग्रस्याविशेषेण दिगादिर्न नियम्यते । मनोऽनुकूल इत्युक्तेर्दृष्टार्थं देशभाषणम् ॥

स्मरन्त्यपि च शिष्टा उपासनाङ्गत्वेनासनम्—'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (गी० ६-११) इत्यादिना। अत एव पद्मकादीनामासनविशेषाणामुपदेशो योगशास्त्रे ॥१०॥

दिग्देशकालेषु संशयः—किमस्ति कश्चिन्नियमो नास्ति वेति । प्रायेण वैदिकेष्वारम्भेषु

बाह्यस्य शारीरस्य चासनस्य स्मरणान्नियम इत्याह—स्मरन्ति चेति ॥१०॥
यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् । तेष्वेवाङ्गानाश्रितोपासनेषु प्राच्यादिदिशि तीर्थादिदेशे प्रदोषादिकाले नियमोऽस्ति न वेत्युभयथासंभवात्संशयः । एकविषयत्वं संगतिरुपास्तीनां विहितत्वाद्यागादिवदस्ति

में पृथिव्यादि को अचल देखकर ही 'ध्यायति' शब्द का प्रयोग किया गया है और यहाँ, उपासना बैठे हुए का कर्म है, इस अर्थ का ज्ञापक है ॥९॥

स्मरन्ति च (ललिता)

'पवित्र देश में अपने आसन को स्थिर करके बैठे' इस स्मृतिवाक्य से शिष्ट पुरुष उपासना के अङ्गरूप से आसन को भी बतलाते हैं। इसीलिए योगशास्त्र में पद्मासनादि आसनविशेष का उपदेश भी किया गया है, ऐसा सिद्ध हो जाता है ॥१०॥

७. एकाग्रताधिकरण

१. सङ्गति—स्वतन्त्र उपासनाओं में जिस प्रकार आसन का नियम पिछले अधिकरण में कहा गया है, वैसे ही उनमें दिगादि का भी नियम क्यों न माना जाय; इस प्रकार पूर्वाधिकरण के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. विषय—अङ्ग अनाश्रित उपासनाओं में दिगादि नियम का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या पूर्वोक्त उपासनाओं में आसन की भाँति दिगादि का नियम है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—प्रायशः वैदिक अनुष्ठानों में दिशा और काल का नियम देखा जाता है, अतः अङ्गानवबद्ध उपासनाओं में दिगादि का नियम होना ही चाहिए।

५. सिद्धान्त—जिस देश और काल में मन की एकाग्रता सुलभ हो ऐसे देश एवं काल में उक्त उपासनाओं का अनुष्ठान करना चाहिए। इसीलिए तो श्वेताश्वतर उपनिषद् में **'मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने'** ऐसा कहा गया है, अतः अङ्गानवबद्ध उपासनाओं में दिशा एवं काल का नियम नहीं है।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् (ललिता)

अङ्गानाश्रित उपासनाओं के सम्बन्ध में दिक्, देश और काल के नियम का विचार करना भी

दिगादिनियमदर्शनात्स्यादिहापि कश्चिन्नियम इति यस्य मतिस्तं प्रत्याह दिग्देशकालेष्वर्थलक्षण एव नियमः। यत्रैवास्य दिशि देशे काले वा मनसः सौकर्येणैकाग्रता भवति तत्रैवोपासीत प्राचीदिक्पूर्वाह्णप्राचीनप्रवणादिवद्विशेषाश्रवणात्। एकाग्रताया इष्टायाः सर्वत्राविशेषात्। ननु विशेषमपि केचिदामनन्ति—'समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्' (श्वे० २-१०) इति यथेति। उच्यते—सत्यमस्त्येवंजातीयको नियमः। सति त्वेतस्मिंस्तद्गतेषु विशेषेष्वनियम इति सुहृद्भूत्वाचार्य आचष्टे। 'मनोऽनुकूले' इति चैषा श्रुतिर्यत्रैकाग्रता तत्रैवेत्येतदेव दर्शयति ॥११॥

दिगादि नियम इति पूर्वपक्षः। अत्र दिगादिष्वादरः फलं, सिद्धान्ते त्वनादरः। ध्येये चित्तैकाग्र्यस्य प्राधान्यात्प्रधानाक्षिप्तदेशादिग्रहणस्योचितत्वादिति विवेकः। अर्थलक्षण एवेति। ऐकाग्र्यफलालङ्क एवेत्यर्थः। प्राचीनप्रवणे प्राग्देशे निम्नस्थाने वैश्वदेवं कुर्यादितिवदत्र दिगादिविशेषो न श्रूयते अतोऽनुमानमप्रयोजकमिति भावः। विशेषाश्रवणमसिद्धमिति शङ्कते—ननु विशेषमपीति। शर्कराः सूक्ष्मपाषाणाः। जलाश्रयवर्जनं शीतनिवृत्त्यर्थम्। चक्षुःपीडनो मशकः। वाचनिकं समदेशादिनियममङ्गीकृत्य चित्तैकाग्र्यविरुद्धेषु देशादिगतेसु प्राचीनप्रवणत्वादिष्वनादर इति सुहृद्भावेन सूत्रकृदुपदिशति। देशाद्याग्रहे चित्तविक्षेपात्समाधिभङ्गः स्यात्स मा भूदिति ॥११॥

आवश्यक है। क्या ऐसी उपासनायें दिशा, देश और काल से सम्बन्धित हैं अथवा नहीं क्योंकि प्रायशः सभी वैदिक कार्यों में दिगादि का नियम देखा गया है। अतः यहाँ पर भी नियम है, ऐसा जिन लोगों का निश्चय है उनका खण्डन करते हैं कि दिशा, देश एवं काल में प्रयोजन ही नियम है अर्थात् जिस देश में, जिस दिशा में और जिस काल में सरलता से मन में एकाग्रता आवे उसी में उपासना करनी चाहिए। पूर्व दिशा, पूर्वाह्ण काल, निम्न प्रदेश इत्यादि जैसे कर्मानुष्ठान के लिए सुने जाते हैं वैसा उपासना के लिए नहीं सुना जाता; एकाग्रता ही इष्ट है जो सर्वत्र अविशेषरूप से देखा जाता है। शङ्का—कुछ लोग दिगादि विशेष भी बतलाते हैं, जैसे—'समतल भूमि, पवित्र देश, सूक्ष्मपाषाणरूप शर्करा से रहित, अग्नि, बालुका, शब्दकोलाहल, जलाश्रयादि से विवर्जित, नेत्र को पीड़ा न देने वाले, मनोनुकूल गुहा तथा निवात स्थान में बैठकर मन को समाहित करे।' समाधान—इस प्रकार का नियम ठीक है, किन्तु इस नियम के अन्तर्गत विशेष नियम का अभाव ही ऋषियों को इष्ट है इसीलिए सुहृद्भाव से आचार्य अनियम ही कहते हैं और इसीलिए श्रुति ने भी 'मनोनुकूले' ऐसा कहा है जिसका अभिप्राय है कि जहाँ पर चित्त की एकाग्रता हो वहाँ पर ही साधना करनी चाहिए; देशादि का आग्रह करने पर चित्तविक्षेप के कारण समाधिभङ्ग न हो, ऐसा विशेष ध्यान रखने की बात है ॥११॥

८. आप्रायणाधिकरणम् (सू० १२)

(४८९) आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥१२॥

उपास्तीनां यावदिच्छमावृत्तिः स्यादुतामृति । उपास्त्यर्थाभिनिष्पत्तेर्यावदिच्छं न तूपरि ।
अन्त्यप्रत्ययतो जन्म भाव्यस्तत्प्रसिद्धये । आमृत्यावर्तनं न्याय्यं सदातद्भावत्वाक्यतः ॥

आवृत्तिः सर्वोपासनेष्वादर्तव्येति स्थितमाद्येऽधिकरणे । तत्र यानि तावत्सम्यग्दर्शनार्थान्युपासनानि तान्यवघातादिवत्कार्यपर्यवसानानीति ज्ञातमेवैषामावृत्तिपरिमाणम् । नहि सम्यग्दर्शने कार्ये निष्पन्ने यत्नान्तरं किंचिच्छासितुं शक्यम् । अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तेः शास्त्रस्याविषयत्वात् । यानि [1]पुनरभ्युदयफलानि तेष्वेषा चिन्ता, किं कियन्तंचित्कालं प्रत्ययमावर्त्योपरमेदुत यावज्जीवमावर्तयेदिति । किं तावत्प्राप्तम् ? कियन्तंचित्कालं

आप्रायणात् । व्यवहितेनास्य संबन्धमाह—आवृत्तिरिति । अनियोज्ये ब्रह्मण्यात्मत्वप्रतिपत्तिर्यस्य तस्य विदुष इत्यर्थः । अहंग्रहोपासनेष्वनुष्ठानस्योभयथादृष्टेः संशयमाह—यानि पुनरिति । यथा दिगादि-

---

८. आप्रायणाधिकरण

१. **सङ्गति**—पूर्वोक्त रीति से उपासनाओं में दिगादि नियम न होने की भाँति उपासना में आवृत्ति का श्रवण भी नहीं है, अतः जीवनपर्यन्त उसका आवर्तन आवश्यक नहीं है; इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. **विषय**—इस अधिकरण में उपासना के आवर्तन पर विचार किया गया है।

३. **संशय**—कादाचित्क प्रत्ययाभ्यास अदृष्ट द्वारा उपास्यसाक्षात्कार का हेतु है अथवा निरन्तर प्रत्ययाभ्यास उपास्यसाक्षात्कार का कारण है ?

४. **पूर्वपक्ष**—अहंग्रह उपासनाओं का कुछ काल अभ्यास करके विराम दे देवें।

५. **सिद्धान्त**—जीवन के अन्तिम क्षण तक अहंग्रह उपासना का अनुष्ठान करते रहना चाहिए क्योंकि श्रुति एवं स्मृति में मरणकाल में भी ऐसे चिन्तनों को बनाये रखने का उपदेश किया गया है। **'स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति'** ऐसी श्रुति और **'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्'** इस स्मृति से उपास्यप्रत्यय का अनुवर्तन देखा जाता है। अतः आमरण अहंग्रह उपासना करते रहना चाहिए।

आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् (ललिता)

सभी उपासनाओं में आवृत्ति को आदर देने के लिए कहा है, ऐसा इस पाद के प्रथम अधिकरण में निश्चित हो चुका है। उनमें तत्त्वज्ञान की साधनभूत उपासनायें जो भी हैं वे तण्डुलनिष्पत्त्यर्थ अवघात की भाँति कार्यपर्यवसायी हैं, अतः उनमें आवृत्ति का परिणाम निश्चित ही है क्योंकि सम्यग्दर्शन कार्य सिद्ध करने में यत्नान्तर का उपदेश करना शक्य नहीं है। अनियोज्य ब्रह्मरूप आत्मा का बोध हो जाने पर वह तत्त्वज्ञानी शास्त्र का विषय नहीं रहता, इसीलिए शास्त्र का अङ्कुश भी उसके ऊपर नहीं रहता है। किन्तु जो अभ्युदयफलक उपासनायें हैं उनके सम्बन्ध में यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि कुछ समय तक अभ्यास करने के बाद उस उपासना को छोड़ देना चाहिए अथवा जीवनपर्यन्त करते रहना चाहिए। इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि कुछ काल तक ऐसी

---

१. तत्तल्लोकप्रापकाणि सगुणोपासनानीति यावत्।

प्रत्ययमभ्यस्योत्सृजेदावृत्तिविशिष्टस्योपासनशब्दार्थस्य कृतत्वादिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आप्रायणादेवावर्तयेत्प्रत्ययम् । अन्त्यप्रत्ययवशाददृष्टफलप्राप्तेः । कर्माण्यपि हि जन्मान्तरोपभोग्यं फलमारभमाणानि तदनुरूपं भावनाविज्ञानं प्रायणकाल आक्षिपन्ति, 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति', 'यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति', 'प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासङ्कल्पितं लोकं नयति' इति चैवमादिश्रुतिभ्यः । तृणजलूकानिदर्शनाच्च । प्रत्ययास्त्वेते स्वरूपानुवृत्तिं मुक्त्वा किमन्यत्प्रायणकालभावि भावनाविज्ञानमपेक्षेरन् ! तस्माद्ये प्रतिपत्तव्यफलभावनात्मकाः प्रत्ययास्तेषामाप्रायणादावृत्तिः । तथा च श्रुतिः—'स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति' इति प्रायणकालेऽपि प्रत्ययानुवृत्तिं दर्शयति ।

नियमस्याविधेरनादरस्तद्वदामरणमुपस्यावृत्तेरविधानादनियम इति पूर्वपक्षः ।

मरणपर्यन्तमावृत्तिरिति सिद्धान्तयति—एवमिति । उपास्तीनां कर्मणां चान्त्यकाले प्राप्तव्यफलस्फूर्तिद्वारा फलहेतुत्वे मानमाह—सविज्ञान इति । 'भावनामयं विज्ञानं फलस्फुरणं तेन सहितः सविज्ञानो विज्ञानस्फुरितफलं विज्ञानमित्यर्थः । यस्मिँल्लोके चित्तं संकल्पोऽस्येति यच्चित्तस्तेन संकल्पितेन लोकेन सह फलस्फूर्त्यनन्तरं मनः प्राणे लीयते इति यावत् । तेज उदानः । आत्मा जीवः । जलौकादृष्टान्तश्रुतेश्च भाविफलस्फूर्तिरस्तीत्यर्थः । अस्त्वेवमन्त्यफलं विज्ञानं कर्मणामिवादृष्टद्वारोपास्तीनां ततः कुत आमरणमावृत्तिरित्यत आह—प्रत्ययास्त्विति । उपास्तिप्रत्ययानां धारावाहिकतया स्वरूपानिवृत्तिरेवान्त्यं विज्ञानं, न त्वदृष्टद्वारकमन्यदपेक्षितं सर्वभावानामेव स्वसमानजातीयद्वारानपेक्षतया

उपासनाओं का अभ्यास करने के बाद उसका परित्याग कर देना चाहिए । आवृत्तिविशिष्ट ही उपासना शब्द का अर्थ है जिसका अभ्यास कुछ काल करने पर कृतार्थ हो जाता है ।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि अन्तिम प्रत्यय के अनुसार अदृष्ट फल प्राप्त होता है, अतः मरणपर्यन्त उसका अभ्यास करना चाहिए । जन्मान्तर में उपभोग करने योग्य फल को देने वाले कर्म भी अपने अनुरूप संस्कारजन्य विज्ञान की प्रयाणकाल में अपेक्षा रखते हैं इसीलिए अन्तिम क्षण में शरीर त्याग करते समय जैसा स्फुरण होता है उसके अनुरूप ही जीव को शरीर एवं भोग्यवस्तु की प्राप्ति होती है । ऐसा ही 'शरीर त्याग करते समय जीव विज्ञानयुक्त हो जाता है, सविज्ञान फल को ही ग्रहण करता है', 'मरणासन्न व्यक्ति के चित्त में जो स्फुरण होता है उसके अनुसार वह प्राण में लीन होता है, प्राण तेज से युक्त हो जीव के साथ संकल्पित लोक को प्राप्त कराता है' इन श्रुतियों से सिद्ध होता है । तृणजलूका के दृष्टान्त से भी भावीफल अन्तिम स्फुरण के अनुरूप ही प्राप्त होता है । ये सब प्रत्यय स्वरूपावृत्ति को छोड़कर प्रायणकालभावी किस अन्य भावना विज्ञान को बतलायेंगे अर्थात् ये भावीफल देने वाले अन्तिम स्फुरण को ही बतला रहे हैं । अतः प्राप्तव्य फलभावनानुरूप जो अन्तिम प्रत्यय होते हैं उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि मरणपर्यन्त अभ्यास बनाये रखे । ऐसा ही 'जीव अपने संकल्पानुरूप इस लोक से प्रस्थान करता है' इस वाक्य द्वारा श्रुति प्रायणकाल में भी प्रत्ययानुवर्तन को बतलाती है ।

---

१. वासना ।

९. तदधिगमाधिकरणम् (सू० १३)

(४९०) तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥१३॥

ज्ञानिनः पापलेपोऽस्ति नास्ति वाऽनुपभोगतः। अनाश इति शास्त्रेषु घोषाल्लेपोऽस्य विद्यते।
अकर्त्रात्मधिया वस्तुमहिम्नैव न लिप्यते। अश्लेषनाशावप्युक्तावज्ञे घोषस्तु सार्थकः॥

स्मृतिरपि—'यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः' (गी० ८-६) इति, 'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन' (गी० ८-१०) इति च। 'सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत' इति च मरणवेलायामपि कर्तव्यशेषं श्रावयति ॥१२॥

गतस्तृतीयशेषः। अथेदानीं ब्रह्मविद्याफलं प्रति चिन्ता प्रतायते। ब्रह्माधिगमे सति

प्रत्ययानां प्रत्ययान्तरापेक्षायोगात्, कर्मणां तु दृष्टद्वारान्त्यधीफलत्वानुपपत्तेः अदृष्टद्वारकल्पनेति भावः। क्रतुर्ध्यानम्। उपासक एतत्त्रयम् 'अक्षितमसि', 'अच्युतमसि' 'प्राणसंशितमसि' इति मन्त्रत्रयं मरणकालेऽपि स्मरेदित्यर्थः ॥१२॥

यथोपासकानां यावज्जीवं कर्तव्यमस्ति न तथात्मविदामिति कर्मक्षयलक्षणां जीवन्मुक्तिमाह—तदधिगम इति। ज्ञानसाधनेषु फलाधिक्यार्थं फलाध्यायेऽपि साधनविचारः कृतः, संप्रति फलाध्यायस्था फलचिन्ता क्रियत इत्याह—गत इति। कर्मणां फलान्तत्वशास्त्राज्ज्ञाननाश्यत्वशास्त्राच्च संशयः,

---

'अन्त समय जिस-जिस पदार्थ का स्मरण करता हुआ जीव शरीरत्याग करता है उस-उस को ही प्राप्त करता है, हे कौन्तेय! क्योंकि वह सदा तद्भाव से भावित रहता है।' 'मरण के समय अचल मन से अपने ध्येय का चिन्तन करे' ये स्मृति भी ऐसा ही कहती हैं। 'वह उपासक मरते समय अक्षितमसि, अच्युतमसि, प्राणसंशितमसि—इन तीनों मन्त्रों का स्मरण करे' इस वाक्य द्वारा भी श्रुति उपासक के लिए मरणवेला में कर्तव्यशेष बतलाती है ॥१२॥

९ तदधिगमाधिकरण

१. **सङ्गति**—उपासकों की भाँति ज्ञानियों के लिए कर्तव्य का निर्देश नहीं है, ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जा रहा है।

२. **विषय**—ज्ञानियों के पुण्यपापसंश्लेष का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. **संशय**—ब्रह्मज्ञान हो जाने पर पूर्वोत्तर पाप के संश्लेष और विनाश होते हैं या नहीं?

४. **पूर्वपक्ष**—'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' (भोगे बिना कर्म नष्ट नहीं होता, सौ कल्प बीत जाने पर भी) इस स्मृतिवाक्यानुसार भोगे बिना पापकर्म का क्षय नहीं होता, ऐसी प्रसिद्धि होने के कारण ज्ञानियों में भी पापकर्म का लेप होता ही है।

५. **सिद्धान्त**—ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ज्ञान के उपरान्त किए हुए पाप का असंश्लेष होता है और ज्ञान से पूर्व इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में सञ्चित पाप का विनाश हो जाता है। 'नाश नहीं होता' यह उद्घोष तो अज्ञानियों के लिए सार्थक है। अकर्ता आत्मबुद्धि से और आत्मस्वरूप की महिमा से भी ज्ञानी में पाप कर्म का लेप सम्भव नहीं है।

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्

फलाध्याय में भी अब तक आठ अधिकरणों द्वारा साधनों का विचार किया गया जिससे ज्ञानसाधनों में फलाधिक्य की सिद्धि हो, अब ब्रह्मविद्या के फल पर विचार किया जाता है। ब्रह्म-

तद्विपरीतफलं दुरितं क्षीयते न क्षीयते वेति संशयः। किं तावत्प्राप्तम् ? फलार्थत्वात्कर्मणः फलमदत्त्वा न सम्भाव्यते क्षयः। फलदायिनो ह्यस्य शक्तिः श्रुत्या समधिगता। यदि तदन्तरेणैव फलोपभोगमपवृज्येत श्रुति 'कदर्थिता स्यात्[1]। स्मरन्ति च 'नहि कर्म[2] क्षीयते' इति। नन्वेवं सति प्रायश्चित्तोपदेशोऽनर्थकः प्राप्नोति। नैष दोषः। प्रायश्चित्तानां नैमित्तिकत्वोपपत्तेर्गृहदाहेष्ट्यादिवत्। अपिच प्रायश्चित्तानां दोषसंयोगेन विधानाद्भवेदपि दोषक्षपणार्थता, न त्वेवं ब्रह्मविद्यायां विधानमस्ति। नन्वनभ्युपगम्यमाने ब्रह्मविदः कर्मक्षये तत्फलस्यावश्यंभोक्तव्यत्वादनिर्मोक्षः स्यात्। नेत्युच्यते। देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः

पूर्वपक्षे ज्ञानिनोऽपि संचितपापभोगानन्तरं मुक्तिः, सिद्धान्ते तु ज्ञानसमकालं पापनाशाज्जीवन्मुक्तिरिति फलम्। न हिंस्यादित्यादिनिषेधश्रुत्या दुरितादृष्टस्य दुःखदायिनी शक्तिरधिगता। 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इति च स्मरन्ति। अतः फलान्तमेव पापं न मध्ये नश्यतीति पूर्वपक्षः। ननु तर्हि तन्नाशार्थं प्रायश्चित्तविधिर्न स्यादिति चेत्। न। यथा आहिताग्नेर्गृहदाहे निमित्ते सति 'अग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्' इति इष्टिविधिस्तद्वद्दोषे निमित्तमात्रे सति प्रायश्चित्तविधेर्दोषनाशार्थत्वासिद्धेः। ननु विषम उपन्यासः, युक्तं गृहदाहस्य सिद्धत्वादयोग्यत्वाच्चाफलतया निमित्तमात्रत्वं दोषवान्प्रायश्चित्तं कुर्यादित्यत्र तु मलिनः स्नायादितिवद्दोषपदस्य निवृत्तिद्वारा फलपरत्वसंभवात् 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' इति प्रायश्चित्तात्पापनिवृत्तिश्रुतेश्चायुक्तं प्रायश्चित्तस्य नैमित्तिकत्वमित्यत आह—अपि चेति। ज्ञानस्य दोषनाशार्थतया विधानं नास्ति 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इत्यादेर्ज्ञानस्तावकमात्रत्वा-

---

ज्ञान हो जाने पर उसके विपरीत फल देने वाला पाप कर्म नष्ट हो जाता है या नहीं। कर्म फल देकरके ही नष्ट होता है या ज्ञान से कर्म नष्ट हो जाता है, ऐसे द्विविध शास्त्र को देखकर संशय होना स्वाभाविक है। इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि कर्म फल के लिए होता है, अतः फल दिये बिना कर्मों का क्षय होना सम्भव नहीं है। श्रुति से कर्मों में फल देने वाली शक्ति का निश्चय होता है, ऐसी स्थिति में यदि फलोपभोग के बिना ही कर्म का नाश माना जायेगा तो श्रुति कदर्थित हो जायेगी। 'फलभोग के बिना कर्म नष्ट नहीं होते' ऐसा महाभारत में भी कहा गया है। **शङ्का**—तब तो प्रायश्चित्त का उपदेश ही व्यर्थ पड़ जायेगा। **समाधान**—यह दोष देना ठीक नहीं। गृहदाह के निमित्त जैसे आहिताग्नि व्यक्ति को अग्नि की शान्ति के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप करना पड़ता है ऐसे ही प्रायश्चित्त में नैमित्तिकत्व माना गया है, अतः उसमें आनर्थक्य नहीं आता। इसके अतिरिक्त दोष के कारण प्रायश्चित का विधान होने मे दोषनाश के लिए उसे मान भी लिया जाय, किन्तु ब्रह्मविद्या का विधान पापक्षयार्थ नहीं है जिससे कि ब्रह्मविद्या से पाप का क्षय माना जा सके। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' यह श्रुति तो ज्ञान की स्तुतिमात्र के लिए है। **शङ्का**—ब्रह्मज्ञानी के कर्म का क्षय न मानने पर उसका भोग ब्रह्मज्ञानी को अवश्य करना ही पड़ेगा, ऐसी स्थिति में मोक्षाभाव का प्रसङ्ग आ जायेगा। **समाधान**—ऐसा कहना ठीक नहीं। कर्मफल की भाँति मोक्ष भी देशान्तर

---

१. पीडिता स्यात्। २. कर्माणि क्षीयन्ते इति पाठांतरम्।

कर्मफलवद्भविष्यति । तस्मान्न ब्रह्माधिगमे दुरितनिवृत्तिरिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदधिगमे ब्रह्माधिगमे सत्युत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशौ भवतः उत्तरस्याश्लेषः पूर्वस्य विनाशः। कस्मात् ? तद्व्यपदेशात् । तथाहि ब्रह्मविद्याप्रक्रियायां सम्भाव्यमानसम्बन्धस्यागामिनो दुरितस्यानभिसम्बन्धं विदुषो व्यपदिशति—'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४-१४-३) इति । तथा विनाशमपि पूर्वोपचितस्य दुरितस्य व्यपदिशति—'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५-२४-३) इति । अयमपरः कर्मक्षयव्यपदेशो भवति—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मु० २-२-८) इति ।

यदुक्तमनुपभुक्तफलस्य कर्मणः क्षयकल्पनायां शास्त्रं कदर्थितं स्यादिति । नैष दोषः । नहि वयं कर्मणः फलदायिनीं शक्तिमवजानीमहे विद्यत एव सा, सा तु विद्यादिना

त्यर्थः । कर्मभोगानन्तरं देशकालान्तरे मोक्षो भविष्यति शास्त्रप्रामाण्यादित्याह—नेत्युच्यत इति ।

ज्ञानात्कर्मक्षयस्यापूर्वत्वान्मानान्तराविरुद्धत्वाच्च तत्परानेकवाक्यानां स्तावकत्वायोगात्तस्यास्तित्वमिति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना । पापक्रियातोऽपूर्वानुत्पत्तिरश्लेषः । सगुणब्रह्मविद्यायां व्यपदेशमुक्त्वा निर्गुणायां तमाह—अयमपर इति ।

परोक्तं दूषयति—यदुक्तमित्यादिना । विधिनिषेधशास्त्रं 'नाभुक्तं क्षीयते' इत्यादि, स्मृतिश्च

एवं कालान्तर निमित्त की अपेक्षा रखेगा जो कर्मफलभोग के बाद ही मिलेगा । अतः ब्रह्मविद्या प्राप्त हो जाने पर पाप की निवृत्ति नहीं होती है ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने हम सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान होने पर सञ्चित पाप का नाश और आगामी पाप का असंश्लेष होता है । ऐसा ही ब्रह्मविद्या प्रसङ्ग में ज्ञानी के लिए आगामी पापसम्बन्ध का अभाव 'जैसे कमलपत्र पर जल संश्लिष्ट नहीं होते, ऐसे ही ब्रह्मज्ञानी में पाप कर्म का लेप नहीं होता' इस वाक्य द्वारा श्रुति बतलाती है । वैसे ही 'जिस प्रकार अग्नि में डाली हुई सरकण्डे की रुई तत्काल जल जाती है, ऐसे ही इस ज्ञानी के सभी पाप नष्ट हो जाते है' इस वाक्य के द्वारा श्रुति पूर्वसञ्चित पाप का नाश भी कहती है। इस प्रकार सगुण ब्रह्मविद्या में कर्मक्षय बतलाकर अग्रिम भाष्य से निर्गुणविद्या में भी कर्मक्षय का व्यपदेश करते हैं कि 'इस ज्ञानी के हृदय में रहने वाली अन्योन्याध्यासरूप ग्रन्थि नष्ट हो जाती है, इसके सभी संशय मिट जाते हैं और कर्म भी नष्ट हो जाते हैं जब उस परावर का साक्षात्कार कर लेता है ।

और जो आप ने कहा था कि भोगे बिना कर्म का क्षय मानसे पर शास्त्र कदर्थित हो जायेगा, यह दोष देना ठीक नहीं है क्योंकि हम कर्म में फल देने वाली शक्ति की अवज्ञा नहीं करते हैं, वसी शक्ति तो कर्म में है ही; किन्तु विद्यादि कारणान्तर से वह शक्ति प्रतिबद्ध हो जाती है, ऐसा हम कहते हैं । कर्मफलबोधक शास्त्र शक्तिसद्भावमात्र को बतलाता है, प्रतिबन्ध और प्रतिबन्धाभाव को नहीं कहता है । 'कर्म नष्ट नहीं होता है' ऐसा स्मृतिवाक्य भी औत्सर्गिक है, इसका अर्थ है कि भोग के

---

१. उपासकस्य । २. प्रक्षिप्तम् । ३. अग्निर्हिमस्य भेषजमितिवन्न प्रमाणांतरसिद्धम् । ४. आदित्यो यूपः यजमानः प्रस्तर इत्यादिवन्न प्रमाणांतरविरुद्धम् ।

कारणान्तरेण प्रतिबध्यत इति वदामः। शक्तिसद्भावमात्रे च शास्त्रं व्याप्रियते न प्रतिबन्धाप्रतिबन्धयोरपि। नहि कर्म क्षीयत इत्येतदपि स्मरणमौत्सर्गिकं नहि भोगादृते कर्म क्षीयते तदर्थत्वादिति। इष्यत एव तु प्रायश्चित्तादिना दुरितस्य क्षयः 'सर्वं पाप्मानं तरति', 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः।

यत्तूक्तं नैमित्तिकानि प्रायश्चित्तानि भविष्यन्तीति। तदसत्। दोषसंयोगेन चोद्यमानानामेषां दोषनिर्घातफलसंभवे फलान्तरकल्पनानुपपत्तेः।

यत्पुनरेतदुक्तं न प्रायश्चित्तवद्दोषक्षयोद्देशेन विद्याविधानमस्तीति। अत्र ब्रूमः— सगुणासु तावद्विद्यासु विद्यत एव विधानम्। तासु च वाक्यशेष ऐश्वर्यप्राप्तिः पापनिवृत्तिश्च विद्यावत उच्यते तयोश्चाविवक्षाकारणं नास्तीत्यतः पाप्मप्रहाणपूर्वकैश्वर्यप्राप्तिस्तासां फलमिति निश्चीयते। निर्गुणायां तु विद्यायां यद्यपि विधानं नास्ति तथाप्यकर्त्रात्मत्वबोधात्कर्मप्रदाहसिद्धिः। अश्लेष इति चागामिषु कर्मसु कर्तृत्वमेव न प्रतिपद्यते ब्रह्मविदिति दर्शयति। अतिक्रान्तेषु तु यद्यपि मिथ्याज्ञानात्कर्तृत्वं प्रतिपेद इव तथापि विद्यासामर्थ्यान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तेस्तान्यपि प्रविलीयन्त इत्याह—विनाश इति। पूर्वसिद्ध-

कर्मणः फलशक्तौ प्रमाणमतः शक्तस्यापि कुतश्चिन्नाशाङ्गीकारेण शास्त्रविरोध इत्यर्थः।

तत्त्वज्ञानमात्मन्यशेषदुरितनाशकं तन्मूलाध्यासबाधकत्वात्स्वप्नदुरितमूलकर्तृत्वाध्यासबाधकजाग्रद्बोधवदित्याह—तथाप्यकर्त्रात्मबोधादिति। श्रुतार्थमेव युक्त्या द्रढयति—अश्लेष इति चेति। मूलाध्यासानुत्पत्तेः पापस्याश्लेषः, तन्नाशात्तद्विनाश इत्यर्थः। अध्यासाभावे विद्वदनुभवमाह—पूर्वेति।

बिना कर्म नष्ट नहीं होता। पर प्रायश्चित्तादि से पाप का क्षय होना इष्ट ही है, इसीलिए तो 'जो अश्वमेध यज्ञ द्वारा यजन करता है और जो अश्वमेध की उपासना करता है वह सम्पूर्ण पापों को तर जाता है, ब्रह्महत्या पाप से भी छूट जाता है' ऐसा श्रुति-स्मृति कहती है। और जो आप ने कहा ने कहा कि प्रायश्चित्त नैमित्तिक माने जायेंगे, तो यह कहना ठीक नहीं है। दोष के कारण विधान किये गए प्रायश्चित्त को दोषापनयन फल सम्भव होने पर वहाँ फलान्तर की कल्पना नहीं बनती है।

और जो आप ने कहा था कि प्रायश्चित्त की भाँति विद्या का विधान दोषनाश के उद्देश्य से नहीं किया गया है, इस पर हम कहते हैं कि सगुण उपासनाओं में विधान विद्यमान ही है और उनके वाक्यशेष में ऐश्वर्य की प्राप्ति एवं उपासक के लिए पापनिवृत्ति भी कही गयी है, उन दोनों की अविवक्षा का कोई कारण नहीं है; अतः पापनाशपूर्वक ऐश्वर्यप्राप्ति उन उपासनाओं का फल है, ऐसा निश्चत होता है। किन्तु निर्गुण विद्या में यद्यपि विधान नहीं है फिर भी अकर्ता आत्मतत्त्व के बोध से कर्म का दाह तो होता है। आगामी कर्मों में कर्तृत्व ही नहीं है, इसीलिए ज्ञानी का उसमें असंश्लेष श्रुति बतलाती है। हाँ, अतीत कर्मों में मिथ्याज्ञान के कारण यद्यपि कर्तृत्व प्राप्त थे फिर भी ब्रह्मविद्यासामर्थ्य से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने के कारण ब्रह्मज्ञानी के वे अतीत कर्म भी नष्ट हो जाते हैं जिसे सूत्रकार ने 'विनाशः' इस सूत्रांश से कहा है। भूत, भविष्यत्, एवं वर्तमान तीनों काल में मिथ्याज्ञान से प्रसिद्ध कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वरूप था, उसके विपरीत अकर्ता-अभोक्ता स्वरूप ब्रह्म मैं हूँ, अतः इससे पूर्व भी मैं कर्ता-भोक्ता नहीं था, आज नहीं हूँ, भविष्य में भी मैं नहीं रहूँगा,

१. निह्नुति। २. इति पदेनेत्यर्थः। ३. सूत्रकारः ४. अज्ञावस्थायाम्। ५. प्रतिबद्धत्वांगी। ६. सूत्रे इति शेषः।

१०. इतरासंश्लेषाधिकरणम् (सू० १४)

(४६१)इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥१४॥

पुण्येन लिप्यते नो वा लिप्यतेऽस्य श्रुतत्वतः । नहि श्रौतेन पुण्येन श्रौतं ज्ञानं विरुध्यते ।
अलेपो वस्तुसामर्थ्यात्समानः पुण्यपापयोः । श्रुतं पुण्यं पापतया तरणं च समं श्रुतम् ॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वविपरीतं हि त्रिष्वपि कालेष्वकर्तृत्वाभोक्तृत्वस्वरूपं ब्रह्माहमस्मि नेतः पूर्वमपि कर्ता भोक्ता वाहमासं नेदानीं नापि भविष्यत्काल इति ब्रह्मविदवगच्छति । एवमेव च मोक्ष उपपद्यते । अन्यथा ह्यनादिकालप्रवृत्तानां कर्मणां क्षयाभावे मोक्षाभावः स्यात् । नच देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद्भवितुमर्हति । अनित्यत्वप्रसङ्गात् । परोक्षत्वानुपपत्तेश्च ज्ञानफलस्य । तस्माद्ब्रह्माधिगमे दुरितक्षय इति स्थितम् ॥१३॥

पूर्वस्मिन्नधिकरणे बन्धहेतोरघस्य स्वाभाविकस्याश्लेषविनाशौ ज्ञाननिमित्तौ शास्त्र-

---

मोक्षशास्त्रबलाच्च ज्ञानात्कर्मक्षयसिद्धिरित्याह—एवमेवेति । ज्ञानात्कर्मक्षये सत्येवेत्यर्थः । मोक्षस्य कर्मफलसाम्यमुक्तं निरस्यति—नचेति ॥१३॥

इतरस्यापि तु— । अतिदेशत्वान्न संगत्याद्यपेक्षा । ज्ञानात्पुण्यं क्षीयते न वेति पूर्ववत्संदेहे ज्ञानं

ऐसा ब्रह्मज्ञानी समझता है । मोक्ष का स्वरूप ऐसा ही है जिसे वह प्राप्त कर चुका है । यदि ऐसा नहीं मानोगे तो अनादि काल से प्रवृत्त कर्मों का क्षय न होने पर मोक्षाभाव का प्रसङ्ग आ जायेगा । कर्मफल की भाँति मोक्ष को देश-काल-निमित्त की अपेक्षा कहना ठीक नहीं क्योंकि देश-काल-निमित्त की अपेक्षा वाले मोक्ष में अनित्यत्व का प्रसङ्ग आ जायेगा और ज्ञान के फल मोक्ष में परोक्षत्व मानना भी ठीक नहीं । अतः ब्रह्मज्ञान होने पर पाप का क्षय होता ही है, यह निश्चित हो गया ॥१३॥

१०. इतरासंश्लेषाधिकरण

१. **सङ्गति**—जैसे ब्रह्मज्ञानियों के पूर्वपाप का विनाश और आगामी पाप का असंश्लेष कहा गया था, वैसे पुण्य का नहीं हो सकता क्योंकि श्रौत विज्ञान के साथ श्रुतिविहित पुण्यकर्म का विरोध नहीं है; इस प्रकार प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. **विषय**—ज्ञानियों के पुण्य-पाप के संश्लेष-विनाश का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—क्या ज्ञानी का आगामी पुण्य के साथ असंश्लेष तथा उनके सञ्चित पुण्य का विनाश होता है या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—श्रौत पुण्य का श्रौत ब्रह्मज्ञान के साथ में कोई विरोध नहीं है, अतः ज्ञानी के सञ्चित पुण्य एवं आगामी पुण्य बने रहते हैं ।

५. **सिद्धान्त**—वस्तुसामर्थ्य के कारण पुण्य एवं पाप की स्थिति एक समान ही है, अतः ज्ञानी के पाप की भाँति सञ्चित पुण्य का भी नाश हो जाता है और आगामी पुण्य-पाप का असंश्लेष रहता है । पुनर्जन्म एवं भोग का कारण होने से पुण्य भी पाप ही कहा गया है, अतः पाप की भाँति पुण्य को भी तत्त्वज्ञानी तर जाता है, ऐसा श्रुति ने कहा है ।

व्यपदेशान्निरूपितौ । धर्मस्य पुनः शास्त्रीयत्वाच्छास्त्रीयेण ज्ञानेनाविरोध इत्याशङ्क्य तन्निराकरणाय पूर्वाधिकरणन्यायातिदेशः क्रियते ।

इतरस्यापि पुण्यस्य कर्मण एवमघवदसंश्लेषो विनाशश्च ज्ञानवतो भवतः । कुतः—? तस्यापि स्वफलहेतुत्वेन ज्ञानफलप्रतिबन्धित्वप्रसङ्गात् । 'उभे उ हैवैष एते तरति' (बृ० ४-४-२२) इत्यादिश्रुतिषु च दुष्कृतवत्सुकृतस्यापि प्रणाशव्यपदेशात् । अकर्त्रात्मत्वबोधनिमित्तस्य च कर्मक्षयस्य सुकृतदुष्कृतयोस्तुल्यत्वात् । 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मु० २-२-८) इति चाविशेषश्रुतेः यत्रापि केवल एव पाप्मशब्दो दृश्यते तत्रापि तेनैव पुण्यमप्याकलितमिति द्रष्टव्यम् । ज्ञानफलापेक्षया पुण्यस्य निकृष्टफलत्वात् । अस्ति च श्रुतौ पुण्येऽपि पाप्मशब्दः 'नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः' (छा० ८-४-१) इत्यत्र सह दुष्कृतेन सुकृतमप्यनुक्रम्य सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्त इत्यविशेषेणैव प्रकृते पुण्ये पाप्मशब्दप्रयोगात् ।

तु न पुण्यनाशकं शास्त्रीयत्वात्पुण्यवदित्यधिकाशङ्कामुक्त्वातिदेशं व्याचष्टे—धर्मस्येत्यादिना ।

ज्ञानं पुण्यनाशकं 'तन्मूलाविद्याघातित्वादिति[1] न्यायोपेतागमबाधितमनुमनमिति भावः । ननु क्षीयन्ते चेत्यविशेषश्रुतिः पापविषया सर्वं पाप्मानं तरतीति विशेषश्रुतेरित्यत आह—यत्रापि केवल

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु (ललिता)

पिछले अधिकरण में बन्ध के कारण स्वाभाविक पाप का ज्ञान से असंश्लेष एवं विनाश शास्त्र उपदेशानुसार बतलाया गया था । क्योंकि ज्ञान शास्त्रीय था, बन्धनहेतु पुण्य-पाप स्वाभाविक थे इसीलिए शास्त्रीय ज्ञान से स्वाभाविक बन्धनहेतु पुण्य-पाप का नाश कहना युक्तियुक्त है । पर शास्त्रीय ज्ञान से शास्त्रीय धर्म का विरोध नहीं है जिससे पाप की भाँति पुण्य का नाश ज्ञान द्वारा माना जा सके, ऐसी शङ्का होने पर उसके निराकरण के लिए पूर्वाधिकरण न्याय का अतिदेश इस अधिकरण में किया जाता है,

पाप से भिन्न पुण्य कर्म का भी पाप की भाँति ही ज्ञानियों के साथ असंश्लेष और विनाश होता है क्योंकि पुण्य कर्म को भी अपने फल का अवश्यकारण मानने पर ज्ञान-फल मोक्ष में प्रतिबन्धित्व का प्रसङ्ग आ जायेगा अर्थात् पुण्यकर्म यदि अपना फल अवश्यमेव देता ही रहेगा । तो उस स्थिति में ज्ञान का फल मोक्ष प्रतिबद्ध हो जायेगा । 'निःसन्देह यह ज्ञानी पुण्य-पाप दोनों को तर जाता है' इत्यादि श्रुतियों में दुष्कर्म की भाँति ज्ञानियों के सुकर्म का भी नाश बतलाया है । अकर्ता आत्मा का बोध हो जाने पर, जो कर्मक्षय का निमित्त है, उसमें पुण्य-पाप दोनों समान ही हैं, इसीलिए 'ज्ञानी के कर्म नष्ट हो जाते हैं' यह श्रुति अविशेषरूप से ज्ञान द्वारा सभी कर्मों का क्षय बतलाती है । जहाँ भी केवल पाप शब्द पढ़ा गया है वहाँ पर भी पाप शब्द से ही पुण्य का भी ग्रहण हो जाता है क्योंकि ज्ञानफल की अपेक्षा से पापफल की भाँति पुण्यफल भी निकृष्ट माना गया है, ऐसा समझना चाहिए । 'इस मोक्षरूप सेतुस्वरूप आत्मा को दिन-रात स्पर्श नहीं करते' इस श्रुति में पुण्य अर्थ में भी पाप शब्द का प्रयोग हुआ है । यहाँ पर पाप के साथ पुण्य का अनुक्रमणकर ज्ञानी के निकट से सभी पाप निवृत्त

---

१. स्वप्नपुण्यमूलाविद्याघातिजाग्रद्बोधवत् ।

११ अनारब्धाकार्याधिकरणम् (सू० १५)

(४६२) अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥१५॥

आरब्धे नश्यतो नो वा सचिते इव नश्यत । उभयत्राप्यकर्तृत्वतद्बोधो सदृशो खलु ।
आदेहपातसंसारश्रुतेरनुभवादपि । इषुचक्रादिदृष्टान्तान्नैवारब्धे विनश्यतः ।

पाते त्विति । तुशब्दोऽवधारणार्थः । एवं धर्माधर्मयोर्बन्धहेत्वोर्विद्यासामर्थ्यादश्लेषविनाशसिद्धेरवश्यंभाविनो विदुषः शरीरपाते मुक्तिरित्यवधारयति ॥१४॥

पूर्वयोरधिकरणयोर्ज्ञाननिमित्तः सुकृतदुष्कृतयोर्विनाशोऽवधारितः स किमविशेषेणारब्धकार्ययोरनारब्धकार्ययोश्च भवत्युत विशेषेणानारब्धकार्ययोरेवेति विचार्यते । तत्र 'उभे उ हैवैष एते तरति' (बृ० ४-४-२२) इत्येवमादिश्रुतिष्वविशेषश्रवणादविशेषेणैव क्षय इति ।

इति । पापपुण्यक्षयपराधिकरणद्वयस्य फलमाह—पाते त्विति ॥१४॥

अनारब्धकार्य एव तु । उक्तकर्मक्षयं विषयीकृत्य ओयन्ते चेत्यविशेषश्रुतेस्तस्य तावदेव चिरमिति श्रुतेश्च संशयमाह—पूर्वयोरिति । जीवन्मुक्त्यसिद्धिस्तत्सिद्धिश्चेत्युभयत्र फलम् । पूर्वसिद्धान्तन्यायेन पूर्वपक्षप्राप्तौ उक्तोत्सर्गतः कर्मक्षतिः प्रारब्धान्यकर्मविषयेत्यपवादं सिद्धान्तयति—एवमिति ।

हो जाते हैं, ऐसा अविशेषरूप से ही प्रसङ्गागत पुण्य में पाप शब्द का प्रयोग होता है। सूत्र के 'पाते तु' इस वाक्य में आया हुआ 'तु' शब्द अवधारणार्थक है। इस प्रकार बन्धन के कारण पुण्य-पाप का ब्रह्मविद्यासामर्थ्य से अश्लेष एवं विनाश हो जाने पर ज्ञानी को प्रारब्धक्षय होते ही मुक्ति अवश्यम्भावी है, ऐसा निश्चित हो जाता है ॥१४॥

११. अनारब्धाधिकरण

१. सङ्गति—ज्ञान के कारण से पुण्य-पाप का विनाश पिछले अधिकरणों में बतलाया गया, वह प्रारब्धकर्म से भिन्न का ही होता है; इस प्रकार उत्सर्गापवाद सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—ज्ञानियों के आरब्ध पुण्य-पाप का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या ज्ञानियों के प्रारब्ध कर्म भी तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाते हैं या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—सञ्चित कर्म की भाँति प्रारब्ध कर्म का भी नाश बतलाना उचित है क्योंकि पूर्व की भाँति अकर्ता आत्मा का बोध ज्ञानी को यहाँ भी है ही।

५. सिद्धान्त—'उस ज्ञानी का विदेहकैवल्य प्राप्त करने में उतनी ही देर है जितनी देर तक प्रारब्ध कर्म का क्षय नहीं हो जाता' इस देहपातपर्यन्त संसारश्रुति एवं अनुभव से भी यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी के आरब्ध पुण्य-पाप भोग से नष्ट होते हैं, ज्ञान से नहीं। इस विषय में छोड़े हुए बाण एवं कुलालचक्र का उदाहरण भी दिया जाता है कि जैसे छोड़ा हुआ बाण अपना काम करके गिर जाता है और कुलाल से चलाया हुआ चक्र कुछ क्षण तक चलता रहता है, ऐसे ही ब्रह्मज्ञान के पश्चात् भी प्रारब्ध कर्म सुख-दुःखादि फल देते रहते हैं।

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः (ललिता)

पिछले दो अधिकरणों में ज्ञान से पुण्य-पाप का विनाश निश्चित किया गया। क्या वह नाश सामान्यतः आरब्ध कार्य एवं अनारब्ध कार्य; पुण्यपाप दोनों का ही होता है अथवा विशेषरूप से अनारब्ध

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अनारब्धकार्ये एव त्विति । अप्रवृत्तफले एव पूर्वे जन्मान्तरसंचिते अस्मिन्नपि च जन्मनि प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः संचिते सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात्क्षीयेते न त्वारब्धकार्ये सामिभुक्तफले याभ्यामेतद् ब्रह्मज्ञानायतनं जन्म निर्मितम् । कुत एतत्?—'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६-१४-२) इति शरीरपातावधिकरणात्[१] क्षेमप्राप्तेः इतरथा हि ज्ञानादशेषकर्मक्षये सति स्थितिहेत्वभावाज्ज्ञानप्राप्त्यनन्तरमेव क्षेममश्नुवीत तत्र शरीरपातप्रतीक्षां नाचक्षीत ।

ननु वस्तुबलेनैवायमकर्त्रात्मावबोधः कर्माणि क्षपयन्कथं कानिचित्क्षपयेत्कानिचिच्चोपेक्षेत । नहि समानेऽग्निबीजसंपर्के केषांचिद्बीजशक्तिः क्षीयते केषांचिन्न क्षीयत इति शक्यमङ्गीकर्तुमिति । उच्यते—न तावदनाश्रित्यारब्धकार्यं कर्माशयं ज्ञानोत्पत्तिरुपपद्यते । आश्रिते च तस्मिन्कुलालचक्रवत्प्रवृत्तवेगस्यान्तराले प्रतिबन्धासम्भवाद्भवति वेगक्षयप्रतिपालनम् ।

सामिशब्दोऽर्धवाचकः । प्रारब्धाद्यावन्न विमुच्यते तावानेव विलम्बस्तन्मोक्षे ब्रह्म संपद्यत इति श्रुत्यर्थः । देहपातावधिलिङ्गात्तत्त्वविदां याज्ञवल्क्यादीनां देहधारणश्रुतिस्मृतिलिङ्गाच्च प्रारब्धकर्मणस्तत्त्वज्ञानं प्रति हेतुत्वेनोपजीव्यत्वाच्च प्राबल्यसिद्धेस्तत्प्रतिबद्धं तत्त्वज्ञानं तत्सिद्ध्यर्थमविद्यांशं विक्षेपशक्त्याख्यं विहायावरकाविद्यांशं नाशयतीत्याह—

कार्य (सञ्चित कार्य) वाले पुण्य-पाप का ही तत्त्वज्ञान से विनाश होता है, ऐसा विचार यहाँ पर उपस्थित हुआ है । इस पर 'यह ज्ञानी दोनों को तर जाता है' ऐसी श्रुतियों में अविशेष का श्रवण होने से अविशेष रूप से ही सञ्चित एवं प्रारब्ध सभी कर्मों का क्षय मान लेना चाहिए, ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सूत्रकार कहते हैं कि ज्ञान से सञ्चित कर्मों का ही नाश होता है । जो जन्मान्तरसञ्चित पुण्य-पाप फल देने के लिए प्रवृत्त नहीं हुए हैं एवं इस जन्म में भी ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व पुण्य-पाप किए जा चुके हैं, इन सभी को सञ्चित कर्म कहते हैं । ये सञ्चित पुण्य-पाप ज्ञान होते ही नष्ट हो जाते हैं । किन्तु जिन पुण्य-पाप कर्मों से ब्रह्मज्ञान का आयतन यह जन्म हुआ है जिसका आधा फल भोगा जा चुका है, ऐसे प्रारब्धकर्मस्वरूप पुण्य-पाप का ब्रह्मज्ञान से नाश नहीं होता क्योंकि 'ज्ञानी को विदेहकैवल्य प्राप्त करने में प्रारब्धक्षय की अपेक्षा होती है, प्रारब्धभोग समाप्त होते ही ज्ञानी विदेहकैवल्य को प्राप्त कर लेता है' इस श्रुति में विदेहकैवल्यप्राप्ति के लिए शरीरपात की सीमा बतलायी गयी है । यदि ऐसा नहीं मानोगे तो ज्ञान से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय मानने पर जीवन का कोई हेतु न रहने के कारण ज्ञान होते ही विदेह कैवल्य प्राप्त कर लेगा, वहाँ पर विदेहकैवल्य की प्राप्ति के लिए शरीरपात की प्रतीक्षा बतलाना नहीं बनेगा ।

शङ्का—ब्रह्मरूप वस्तु के सामर्थ्य से यह अकर्ता आत्मबोध कर्मों का नाश करने वाला है, फिर भला वह आत्मज्ञान कुछ कर्मों को नष्ट करेगा और कुछ का उपेक्षा कर डालेगा, यह कैसे सम्भव है । समानरूप से अग्नि और बीज का सम्पर्क होने पर कुछ बीज की अंकुर उत्पादनशक्ति नष्ट हो जाती है और कुछ की नष्ट नहीं होती है, ऐसा किस प्रकार माना जा सकता है ? **समाधान**—सिद्धान्ती

१. विदेहकैवल्यप्राप्तेः । २. शरीरम् ।

१२. अग्निहोत्राद्यधिकरणम् (सू० १६-१७)

नश्येन्नो वाग्निहोत्रादि नित्यं कर्म विनश्यति । यतोऽयं वस्तुमहिमा न क्वचित्प्रतिहन्यते ।
अनुषक्तफलांशस्य नाशेऽप्यन्यो न नश्यति । विद्यायामुपयुक्तत्वाद्भाव्यश्लेषस्तु काम्यवत् ॥

अकर्त्रात्मबोधोऽपि हि मिथ्याज्ञानबाधनेन कर्माण्युच्छिनत्ति । बाधितमपि तु मिथ्याज्ञानं द्विचन्द्रविज्ञानवत्संस्कारवशात्कंचित्कालमनुवर्तत एव । अपिच [1]नैवात्र विवदितव्यं ब्रह्मविदः कंचित्कालं शरीरं ध्रियते न वा ध्रियते इति । [2]कथं ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं चापरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत । [3]श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनिर्देशेनैतदेव निरुच्यते । [4]तस्मादनारब्धकार्ययोरेव सुकृतदुष्कृतयोर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय इति निर्णयः ॥१५॥

उच्यते न तावदिति । **विक्षेपकाविद्यालेश एव तत्संस्कारः । शिष्यान्प्रति जीवन्मुक्तो स्वानुभवमाह**—अपिच नैवेति ॥१५॥

कहता है कि जिस कर्मसंस्कार ने फल देना प्रारम्भ कर दिया है उस आरब्धकार्य कर्मसंस्कार का आश्रय लिए बिना ज्ञान की उत्पत्ति होती ही नहीं और उसका आश्रय लेने पर प्रारब्धवेगक्षय की प्रतीक्षा वैसे ही करनी होती है जैसे कुम्हार के द्वारा चलाया गया चक्र तभी शान्त होता है जब उसका वेग मिट जाता है, बीच में प्रतिबन्ध का होना सम्भव नहीं है । अकर्ता आत्मबोध भी मिथ्याज्ञान को बाधने के बाद सञ्चित कर्मों को नष्ट करता है, बाधित मिथ्याज्ञान भी द्विचन्द्रादि ज्ञान की भाँति संस्कारवशात् कुछ क्षण बना ही रहता है । प्रारब्धक्षय होते ही तत्त्वज्ञान के द्वारा बाधित मिथ्याज्ञान सदा के लिए शान्त हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में विवाद नहीं करना चाहिए कि ब्रह्मज्ञानी का शरीर कुछ काल रहता है या नहीं रहता क्योंकि एक ही ब्रह्मज्ञानी के हृदय में रहने वाला ब्रह्मज्ञान ब्रह्म का बोध कराता है और देहधारण भी कराता है, इस पर दूसरे पुरुष का आक्षेप कैसे हो सकता है । श्रुति-स्मृति में स्थितप्रज्ञ का लक्षण बतलाकर यही कहा गया है कि ब्रह्मज्ञानी प्रारब्धक्षय होने तक लोककल्याण के लिए उपदेश करता रहता है । अतः सञ्चित पुण्य-पाप का ही ब्रह्मविद्यासामर्थ्य से क्षय होता है, प्रारब्ध का नहीं; ऐसा निर्णय हुआ ॥१५॥

१२. अग्निहोत्राद्यधिकरण

१. सङ्गति—इससे पूर्व अनारब्ध सभी कर्म तत्त्वज्ञान द्वारा उत्सर्गतः नष्ट हो जाता है ऐसा कहा गया है, किन्तु नित्य-नैमित्तिक कर्म से अतिरिक्त अनारब्ध कर्म के विषय में ही यह बात कही गयी है; ऐसे उत्सर्गापवाद सङ्गति के कारण इस अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं ।

२. विषय—ज्ञान से पूर्व किये गए नित्य-नैमित्तिक कर्मों का विचार इस अधिकरण का विषय है ।

३. संशय—क्या अग्निहोत्रादि नित्य कर्म ज्ञान से नष्ट हो जाते है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—ज्ञान से पूर्व इस जन्म अथवा जन्मान्तर में किया गया नित्य कर्म भी काम्य कर्म की भाँति अकर्ता आत्मवस्तु के बोध से नष्ट हो जाता है ।

१. जीवन्मुक्तो । २. विवादायोगे हेतुमाह कथं हीत्यादिना । ३. प्रमाणवत्त्वादपि जीवनमुक्तिः स्वीकार्येत्याह श्रुतिः ।
४. उक्तमुत्सर्गापवादमुपसंहरति तस्मादिति ।

(४९३) अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥१६॥

पुण्यस्याप्यश्लेषविनाशयोरघन्यायोऽतिदिष्टः सोऽतिदेशः सर्वपुण्यविषय इत्याशङ्क्य प्रतिवक्ति—अग्निहोत्रादि त्विति। तुशब्द आशङ्कामपनुदति। यन्नित्यं कर्म वैदिकमग्निहोत्रादि तत्तत्कार्यायैव भवति ज्ञानस्य यत्कार्यं तदेवास्यापि कार्यमित्यर्थः। कुतः? 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' (बृ० ४-४-२२) इत्यादिदर्शनात्। ननु ज्ञानकर्मणोर्विलक्षणकार्यत्वात्कार्यैकत्वानुपपत्तिः। नैष दोषः। ज्वरमरणकार्ययोरपि दधिविषयोर्गुडमन्त्रसंयुक्तयोस्तृप्तिपुष्टिकार्यदर्शनात्। तद्वत्कर्मणोऽपि ज्ञानसंयुक्तस्य मोक्षकार्यत्वोपपत्तेः। नन्वनारभ्यो मोक्षः कथमस्य कर्मकार्यत्वमुच्यते। नैष दोषः। आरादुपकारकत्वात्कर्मणः। ज्ञानस्यैव हि प्रापकं सत्कर्म प्रणाड्या मोक्षकारणमित्युपचर्यते। अतः एव

अग्निहोत्रादि तु। नित्यं नैमित्तिकं कर्म ज्ञानान्नश्यति न वेति संदेहे उभे पुण्यपापे तरतीत्यविशेषश्रुतेर्नश्यतीत्याशङ्क्योत्तरस्याऽपीत्युक्तातिदेशस्य नित्याद्यतिरिक्तकाम्यपुण्यविषयत्वेनात्रापवादं सिद्धान्तयति—पुण्यस्येत्यादिना। अत्र पूर्वपक्षे ज्ञानार्थं नित्याद्यनुष्ठानासिद्धिः पङ्क्षालनन्यायात्, सिद्धान्ते तु ज्ञानोत्पत्त्यर्थत्वात्तत्सिद्धिरिति विवेकः। अत्र भाष्ये ज्ञानकर्मणोः साक्षादेककार्यत्वं परमतेनोक्त्वा साक्षात्पारम्पर्याभ्यां मोक्षहेतुत्वं स्वमतमुक्तमिति मन्तव्यम्—अत एवेति। ज्ञानादूर्ध्वं कर्माभावात्पूर्व-

---

५. सिद्धान्त—नित्य कर्म के दो अंश हैं, एक अंश प्रधानरूप से चित्त को शुद्ध करता है और दूसरा अंश स्वर्गादि फल देता है। उनमें स्वर्गादि फलप्रद अंश ही तत्त्वज्ञान से नष्ट होता है, दूसरा चित्तशुद्धिप्रद अंश ब्रह्मज्ञान का उपकारक होने से नष्ट नहीं होता। ज्ञान के पश्चात् होने वाले नित्य कर्म का असंश्लेष काम्य कर्म ही होता है। लोक में भोग से क्षीण होने वाले व्रीहि आदि को नष्ट मानते हैं।

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् (ललिता)

पाप की भाँति तत्त्वज्ञानी के पुण्य का भी असंश्लेष एवं विनाश होता है, ऐसा अतिदेश पिछले अधिकरण में किया गया था। वह अतिदेश सभी पुण्यों के सम्बन्ध में है, ऐसी शङ्का मन में रखकर सूत्रकार उसका उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं। 'अग्निहोत्रादि तु' इस सूत्र में आया हुआ 'तु' शब्द आशङ्का की व्यावृत्ति करता है कि जो नित्य अग्निहोत्रादि वैदिक धर्म हैं वे तो ज्ञान के कार्य के लिए ही है क्योंकि उनका अनुष्ठान तत्त्वज्ञान का सहायक है। ऐसा ही 'उस आत्मा को स्वाध्याय द्वारा ब्राह्मण जानना चाहते हैं, यज्ञानुष्ठान, दान, तप और उपवास से उस आत्मा को जानना चाहते हैं' इत्यादि स्थलों में देखा गया है। पूर्वपक्षी—ज्ञान एवं कर्म के कार्य भिन्न-भिन्न होते हैं, इन दोनों के कार्य एक कहना ठीक नहीं है अर्थात् ज्ञान एवं वैदिक नित्य कर्म मोक्ष के कारण हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं है। सिद्धान्ती—यह कोई दोष नहीं हैं। दधि ज्वर का कारण और विष मरण का कारण है फिर भी गुड़संयुक्त दधिभक्षण से तृप्ति होती है और मन्त्रसंयुक्त विषभक्षण से पुष्टिकार्य होते देखा गया है, वैसे ही ज्ञानसंयुक्त कर्म में भी मोक्षकार्यत्व कहना असङ्गत नहीं है। पूर्वपक्षी—मोक्ष अनारम्भणीय है, उसे कर्म का कार्य कैसे कह रहे हैं। सिद्धान्ती—यह दोष नहीं है। हम कर्म को मोक्ष का आरात उपकारक (बहिरङ्ग साधन) मानते हैं, वैदिक नित्य कर्म अन्तःशुद्धि द्वारा ज्ञान का ही प्रापक है। इस प्रकार परम्परया मोक्ष के कारण उस कर्म को औपचारिक दृष्टि से माना गया है, इसीलिए

(४६४) अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥१७॥

चातिक्रान्तविषयमेतत्कार्यैकत्वाभिधानम् । नहि ब्रह्मविद आगाम्यग्निहोत्रादि सम्भवति । [1]अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तेः शास्त्रस्याविषयत्वात् । सगुणासु तु विद्यासु कर्तृत्वानतिवृत्तेः सम्भवत्यागाम्यप्यग्निहोत्रादि । [2]तस्यापि निरभिसंधिनः कार्यान्तराभावाद्विद्यासंगत्युपपत्तिः ॥१६॥

किंविषयं पुनरिदमश्लेषविनाशवचनं किंविषयं वाऽदो विनियोगवचनमेकेषां शाखिनाम् 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति । अत उत्तरं पठति—

अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यात्कर्मणोऽन्यापि ह्यस्ति साधुकृत्या या फलमभिसंधाय क्रियते तस्या एष विनियोग उक्त एकेषां शाखिनाम् 'सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति' इति । तस्या एव चेवमघवदश्लेषविनाशनिरूपणमितरस्याप्येवमश्लेष इति । तथा एवं जातीयकस्य काम्यस्य कर्मणो विद्यां प्रत्यनुपकारकत्वे [3]सम्प्रतिपत्तिरुभयोरपि जैमिनिबादरायणयोराचार्ययोः ॥१७॥

कर्मविषयमित्यर्थः । निर्गुणविद्यायाः कर्मसाहित्यं तृप्तिं प्रति भोजनस्य लाङ्गलेनेव दर्शितं, संप्रति सगुणविद्यापरत्वेन सूत्रस्या[4]ञ्जस्यमाह—सगुणास्विति ॥१६॥

उत्तरसूत्रार्थं गृह्णाति—किमित्यादिना । यत्प्रारब्धादन्यत्काम्यं पुण्यं पापं च तदेव विद्वत्सुहृद्विषतोः स्वसमानजातीयं कर्म जनयति स्वयं च ज्ञानान्नश्यतीति भावः ॥१७॥

पिछले अधिकरण मे ज्ञान तथा नित्य वैदिक कर्म में कार्यैकत्व कहा गया था । ब्रह्मज्ञानी का आगामी अग्निहोत्रादि सम्भव नहीं है । अनियोज्य ब्रह्म को आत्मरूप से जान लेने के कारण वह शास्त्र का विषय नहीं है । किन्तु सगुण उपासनाओं में कर्तृत्व बना रहता है, इसीलिए सगुण ब्रह्म उपासक आगामी अग्निहोत्रादि कर्म कर सकते हैं । वह सगुण उपासक भी निष्कामभाव से अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान करे तो उसका फल अन्य न होने के कारण विद्या के साथ सम्बद्ध हो जाता है ॥१६॥

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः (ललिता)

यह अश्लेषविनाशवचन किसे बतला रहा है और वह विनियोगवचन किसे बतलाता है ? इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से दिया जाता है । 'जीवनमुक्त तत्त्वज्ञानी के धनादि के भागीदार उसके पुत्र एवं शिष्य हो जाते हैं, उसके शुभ कर्म के भागीदार सुहृद् होते हैं और उसके पाप कर्म के भागीदार द्वेषी होते हैं' ऐसा कुछ शाखा वालों ने कहा है, इस पर जो अभी पूर्वोक्त शङ्का उठाई गयी है उसका उत्तर भगवान् बादरायण देते हैं कि नित्य अग्निहोत्रादि कर्म मे भिन्न भी शुभ कर्म हैं जिनका अनुष्ठान फलाकांक्षापूर्वक पुरुष करता है । ऐसे कर्मों का ही यह विनियोग एक शाखावालों ने बतलाया है कि 'ज्ञानी के शुभ कर्म के भागीदार उसके सुहृद् होते हैं । ' इसीलिए पाप की भाँति उसके पुण्य का अश्लेष और विनाश इतरस्याप्येवमश्लेषः' इस वाक्य से किया गया है । इस प्रकार सकाम कर्म विद्या का उपकारक नहीं है, इस सम्बन्ध में जैमिनि और बादरायण दोनों ही आचार्यों की सहमति है ॥१७॥

---

१. अनियोज्यब्रह्मण्यात्मत्व प्रतिपत्तिर्यस्य तस्य विदुष इत्यर्थः । २. कर्मणः । ३. सम्मतिः । ४. वास्तवत्वम् ।

१३. विद्याज्ञानसाधनत्वाधिकरणम् (सू० १८)

(४६५) यदेव विद्ययेति हि ॥१८॥

किमङ्गोपास्तिसंयुक्तमेव विद्योपयोगुत । केवलं वा प्रशस्तत्वात्सोपास्त्येवोपयुज्यते ।
केवलं वीर्यवद्विद्यासंयुक्तं वीर्यवत्तरम् । इति श्रुतेस्तारतम्यादुभयं ज्ञानसाधनम् ॥

समधिगतमेतदनन्तराधिकरणे नित्यमग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेन कृतमुपात्तदुरितक्षयहेतुत्वद्वारेण सत्त्वशुद्धिकारणतां प्रतिपद्यमानं मोक्षप्रयोजनब्रह्माधिगमनिमित्तत्वेन ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं भवतीति । तत्राग्निहोत्रादि कर्माङ्गव्यपाश्रयविद्यासंयुक्तं केवलं चास्ति । 'य एवं विद्वान्यजति', 'य एवं विद्वाञ्जुहोति,' 'य एवं विद्वाञ्छंसति', 'य एवं विद्वानगायति', 'तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं' (छा० ४-१७-१०), 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' (छा० १-१-१०) इत्यादिवचनेभ्यो विद्यासंयुक्तमस्ति केवलमप्यस्ति । तत्रेदं विचार्यते–किं विद्यासंयुक्तमेवाग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षोर्विद्याहेतुत्वेन तया सहैककार्यत्वं प्रतिपद्यते न केवलमुत विद्यासंयुक्तं केवलं चाविशेषेणेति । कुतः

यदेव विद्ययेति हि । उक्तनित्यादिकं विषयमुपजीव्य सबीजं संशयमुक्त्वा पूर्वपक्षमाह–

१३. विद्याज्ञानसाधनाधिकरण

१. सङ्गति—नित्यादि कर्म के विषय में कुछ और भी विचार करना हैं, अतः एकविषयत्व सङ्गति के कारण इस अधिकरण को कहा गया है।

२. विषय—उपासनायुक्त नित्यादि कर्म का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या अङ्ग उपासना के सहित कर्म विद्योपयोगी है अथवा केवल कर्म भी?

४. पूर्वपक्ष—प्रशस्त होने के कारण उपासनासहित कर्म विद्योपयोगी होता है, केवल कर्म नहीं।

५. सिद्धान्त—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इस श्रुति के अनुसार उपासनासहित कर्म में अतिशय बतलाने वाली श्रुति ने उपासनारहित कर्म को भी विद्योत्पत्ति में उपकारक माना है, अतः सोपासन और निरुपासन दोनों ही कर्म विद्या के साधन हैं।

यदेव विद्ययेति हि (ललिता)

पिछले अधिकरण में अच्छी प्रकार से समाधान किया गया कि मुमुक्षु मोक्षप्रयोजन के उद्देश्य से अग्निहोत्रादि कर्म करता है, वह कर्म पापक्षय द्वारा अन्तःशुद्धि का कारण बनकर मोक्षप्रयोजन के साधन ब्रह्मज्ञान के प्रति निमित्त बन जाता है, इसीलिए ब्रह्मविद्या के साथ ऐसे कर्म को एक कार्य मोक्ष का उत्पादक मानते हैं। यहाँ यह प्रश्न होता है कि अग्निहोत्रादि कर्म अङ्गाश्रित उपासना से युक्त हो ब्रह्मज्ञान का उपकारक है अथवा केवल अग्निहोत्रादि कर्म ब्रह्मज्ञान का उक्त रीति से उपकारक है। 'जो इस प्रकार जानने वाला याग करता है, होम करता है और इस प्रकार विद्वान् शंसन करता है एवं उद्गान करता है, इसीलिए ऐसे विद्वान् को ही ब्रह्मा का पद देवें, दूसरे का नहीं।' 'इससे दोनों ही कर्म करते हैं, जो ऐसी उपासना करता है और जो ऐसी उपासना नहीं करता' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से उपासनासंयुक्त कर्म और केवल कर्म, दोनों ही ब्रह्मविद्या के उपकारक हैं। यहाँ पर यह विचार उत्पन्न होता है कि क्या उपासनायुक्त ही अग्निहोत्रादि कर्म मुमुक्षु के ज्ञान का कारण है, अतः उपासना के साथ एककार्यत्व को कर्म प्राप्त करता है, केवल कर्म नहीं अथवा अविशेषरूप से

संशयः?—'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' इति यज्ञादीनामविशेषेणात्मवेदनाङ्गत्वेन श्रवणात् । विद्यासंयुक्तस्य चाग्निहोत्रादेर्विशिष्टत्वावगमात् । किं तावत्प्राप्तं, ? विद्यासंयुक्तमेव कर्माग्निहोत्राद्यात्मविद्याशेषत्वं प्रतिपद्यते न विद्याहीनम् । विद्योपेतस्य विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनात् । 'यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं विद्वान्' इत्यादिश्रुतिभ्यः । 'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि' (गी० २-३९), 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय' (गी० २-४९) इत्यादिस्मृतिभ्यश्चेति ।

एवं प्राप्ते प्रतिपद्यते—यदेव विद्ययेति हि । सत्यमेतत् । विद्यासंयुक्तं कर्माग्निहोत्रादिकं विद्याविहीनात्कर्मणोऽग्निहोत्राद्विशिष्टं विद्वानिव ब्राह्मणो विद्याविहीनाद्ब्राह्मणात् । तथापि नात्यन्तमनपेक्षं विद्याविहीनं कर्माग्निहोत्रादिकम् । कस्मात् ? 'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यविशेषेणाग्निहोत्रादेर्विद्याहेतुत्वेन श्रुतत्वात् । ननु विद्यासंयुक्तस्याग्निहोत्रादेर्विद्याविहीनाद्विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनमग्निहोत्राद्यात्मविद्या हेतुत्वेनानपेक्षमेवेति युक्तम् । नैतदेवम् । 'विद्यासहायस्याग्निहोत्रादेर्विद्यानिमित्तेन सामर्थ्यातिशयेन

विद्यासंयुक्तमेवेति । अत्र पूर्वपक्षे कर्माङ्गोपास्तिहीनकर्मणो ज्ञानार्थत्वासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः । भवतु विद्याविशिष्टस्य कर्मणो ज्ञानं प्रति शीघ्रकारित्वाख्यः कश्चिदतिशयो विद्यासामर्थ्यात् । नैतावता केवलस्य वैयर्थ्यं विविदिषाश्रुतिविरोधात् । नच तत्र श्रुतौ यज्ञादिशब्दानां

उपासनायुक्त और केवल कर्म भी मोक्ष के साधन ब्रह्मविद्या का उपकारक है । यह संशय क्यों होता है ? 'इस आत्मा को यज्ञानुष्ठान द्वारा ब्राह्मण जानना चाहते हैं' इस वाक्य द्वारा यज्ञादि कर्मों का अविशेषरूप से आत्मज्ञान के अङ्गरूप से श्रवण होता है, उपासनासंयुक्त अग्निहोत्रादि कर्म में वैशिष्ट्य का बोध होता है । इसलिए यह सन्देह होता है कि विद्यासयुक्त ही अग्निहोत्रादि कर्म आत्मज्ञान का अङ्ग है या विद्याहीन कर्म ज्ञान का अङ्ग है । उपासनाहीन कर्म की अपेक्षा उपासनायुक्त कर्म में 'जिस दिन होम करता है उसी दिन पुनर्मृत्यु को ऐसा उपासक जीत लेता है' इत्यादि श्रुतियों से उपासनाहीन कर्म की अपेक्षा उपासनायुक्त कर्म में वैशिष्ट्य का बोध होता है । हे अर्जुन ! जिस बुद्धि से युक्त हो तू कर्मबन्धन को त्याग देगा (उसे मैं बतलाऊँगा)' 'हे धनंजय ! बुद्धियोग की अपेक्षा केवल कर्म अत्यन्त तुच्छ माना गया है' इत्यादि स्मृतिवाक्यों से भी ऐसा ही अर्थ प्रतीत होता है ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहता है कि उपासना के सहित किया हुआ कर्म अधिक फलप्रद होता है, ऐसा जो कहा वह ठीक ही है । अतः उपासनारहित कर्म की अपेक्षा उपासनासहित कर्म श्रेष्ठ हैं, इसीलिए अग्निहोत्रादि कर्म के वैशिष्ट्य को जानने वाला ब्राह्मण उपासनाहीन ब्राह्मण की अपेक्षा श्रेष्ठ सा कहा गया है । फिर भी उपासनारहित अग्निहोत्रादि कर्म सर्वथा अनपेक्ष्य नहीं हैं क्योंकि 'इस आत्मा को यज्ञ द्वारा ब्राह्मण जानना चाहते हैं' इस श्रुति में अविशेषरूप से अग्निहोत्रादि कर्म को भी विद्या का कारण माना है । पूर्वपक्ष—विद्यासहित अग्निहोत्रादि कर्म में विद्याहीन कर्म की अपेक्षा वैशिष्ट्य का बोध होने से उपसनाहीन अग्निहोत्रादि आत्मज्ञान के कारणरूप से

---

१. एतत्सग्रहं विवृणोति ।

१४. इतरक्षपणाधिकरणम् (सू० १९)

बहुजन्मप्रदारब्धयुक्तानां नास्त्युतास्ति मुक् । विद्यालोपे कृतं कर्म फलदं तेन नास्ति मुक् ।
प्रारब्धं भोजयेदेव न तु विद्यां विलोपयेत् । सुप्तबुद्धवदश्लेषतादवस्थ्यात्कुतो न मुक् ॥

योगाद्वात्मज्ञानं प्रति कश्चित्कारणत्वातिशयो भविष्यति न तथा विद्याविहीनस्येति युक्तं कल्पयितुम् । न तु 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यत्राविशेषेणात्मज्ञानाङ्गत्वेन श्रुतस्याग्निहोत्रादेरनङ्गत्वं शक्यमभ्युपगन्तुम् । तथाहि श्रुतिः—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १-१-१०) इति विद्यासंयुक्तस्य कर्मणोऽग्निहोत्रादेर्वीर्यवत्तरत्वाभिधानेन 'स्वकार्यं प्रति कंचिदतिशयं ब्रुवाणा विद्याविहीनस्य तस्यैव तत्प्रयोजनं प्रति वीर्यवत्त्वं दर्शयति । कर्मणश्च वीर्यवत्त्वं तद्यत्²स्वप्रयोजनसाधनप्रसहत्वम् । तस्माद्विद्यासंयुक्तं नित्यमग्निहोत्रादि विद्याविहीनं चोभयमपि मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेनेह जन्मनि जन्मान्तरे च प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः कृतं यत्तद्यथासामर्थ्यं ब्रह्माधिगमप्रतिबन्धकारणोपात्तदुरितक्षयहेतुत्वद्वारेण ब्रह्माधिगमकारणत्वं प्रतिपद्यमानं श्रवणमननश्रद्धाध्यानतात्पर्याद्यन्तरङ्गकारणापेक्षं ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं भवतीति स्थितम् ॥१८॥

विद्योपेतकर्मपरतया संकोचो युक्तः । हि यतः । 'यदेव विद्यया' इति श्रुतिः केवलस्याऽपि वीर्यवत्त्वं गमयतीति सिद्धान्तग्रन्थार्थः ॥१८॥

अपेक्षित नहीं है, ऐसा मानना ही युक्तियुक्त है । सिद्धान्त—ऐसा मानना ठीक नहीं क्योंकि विद्यासहित अग्निहोत्रादि में ब्रह्मज्ञान का निमित्त होने से सामर्थ्य अतिशय जान पड़ता है, इससे आत्मज्ञान के प्रति उसमें कोई करणत्व अतिशय हो जायेगा ! वैसा अतिशय विद्याविहीन कर्म में नहीं है, ऐसी कल्पना कर सकते हैं। किन्तु 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इस श्रुति द्वारा अविशेषरूप से आत्मज्ञान का अङ्ग जब अग्निहोत्रादि सुना जा चुका है तो उसमें अङ्गत्वाभाव नहीं मान सकते, इसीलिए तो 'जब उपसना के सहित, श्रद्धा और रहस्यज्ञानपूर्वक कर्म करता है तब वही कर्म अधिक शक्तिशाली हो जाता है' इस वाक्य द्वारा श्रुति उपासनासहित अग्निहोत्रादि कर्म में अतिशय सामर्थ्य का अभिधान करके अपने कार्य के प्रति किंचित् अतिशय बतलाती हुई उपासनाहीन उसी अग्निहोत्रादि कर्म में आत्मज्ञान के प्रति वीर्यवत्त्व तो बतलाती ही है। कर्म में वीर्यवत्ता यही है जो अपने प्रयोजन सिद्ध कर सकता है । अतः उपासनासहित अग्निहोत्रादियुक्त कर्म और उपासनारहित उक्त कर्म दोनों ही प्रकार से मोक्षप्रयोजन के उद्देश्य से मुमुक्षु द्वारा ज्ञान उत्पत्ति से पूर्व इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में जब किया जाता है तब वह शक्ति के अनुसार ब्रह्मज्ञान के प्रतिबन्धक पाप को क्षीणकर ब्रह्मज्ञान का कारण बन जाता है; फिर तो श्रवण, मनन, श्रद्धापूर्वक ध्यान की तत्परता जो ब्रह्मज्ञान के अन्तरङ्ग कारण हैं, उनकी अपेक्षाकर ब्रह्म उपासना के साथ मोक्षरूप एक फल अग्निहोत्रादि नित्य कर्म देता है, यह निश्चित हो गया ॥१८॥

१४. इतरक्षपणाधिकरण

१. सङ्गति—सञ्चित कर्म की भाँति आरब्ध कर्म का तत्त्वज्ञान से क्षय क्यों नहीं मानते, ऐसा आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

---

१. कर्म । २. स्वप्रयोजनसाधकत्वमिति पाठांतरम ।

(४९६) भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ॥१९॥

अनारब्धकार्ययोः पुण्यपापयोर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय उक्तः । इतरे त्वारब्धकार्ये पुण्यपापे उपभोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म सम्पद्यते 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छा० ६-१४-२) इति 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' इति चैवमादिश्रुतिभ्यः । ननु सत्यपि सम्यग्दर्शने यथा प्राग्देहपाताद्भेददर्शनं द्विचन्द्रदर्शनन्यायेनानुवृत्तमेवं पश्चादप्यनुवर्तेत । न निमित्ताभावात् । उपभोगेन शेषक्षपणं[1] हि तत्रानुवृत्तिनिमित्तं न च तादृशमत्र किंचिदस्ति । नन्वपरः

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते । तत्त्वविदत्र विषयः, स किं प्रारब्धक्षयानन्तरं संसरत्युत नेति निमित्तभावाभावाभ्यां संशये सिद्धान्तमुपक्रमते—अनारब्धेति । अनारब्धकर्मणः क्षयोक्तावारब्धस्य कथं क्षय इत्याकाङ्क्षायामस्योत्थानात्सङ्गतिः । पूर्वपक्षे विदेहकैवल्यासिद्धिः सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः । देहपातोत्तरमपि तत्त्ववित्संसरति संसारयोग्यत्वाद्यथा देहपातात्पूर्वमित्यनारब्धाधिकरणदृष्टान्तेन पूर्वपक्षमाह—नन्विति । भोगनिमित्तकर्माभावाद्भेदत्वसिद्धिः । यत्तु संचितं कर्मान्तरं

२. विषय—प्रारब्ध कर्म के क्षय का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—क्या तत्त्वज्ञानी भी प्रारब्धक्षय के पश्चात् जन्म ग्रहण करता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—तत्त्वज्ञान के पश्चात् जैसे उसका शरीर बना रहता है, वैसे ही देहपात के पश्चात् तत्त्वज्ञ का संसार बना ही रहेगा ।

५. सिद्धान्त—प्रारब्ध केवल भोग देता है, विद्या का लोप नहीं करता है । इस प्रकार प्रारब्ध पुण्य-पाप कर्मों का नाश भोग से कर लेने के बाद तत्त्वज्ञ पुरुष विदेहकैवल्य को प्राप्त करता है । मरणाव्यवधानमात्र से विद्या का लोप वैसे ही नहीं होता जैसे सुषुप्ति व्यवधान के कारण विद्या का लोप नहीं होता । विद्या के उदय हो जाने पर ज्ञानी के द्वारा किये गये अनेक आगामी कर्म उसे स्पर्श नहीं करते, यह बात गुणोपसंहार पाद में कही जा चुकी है ।

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते (ललिता)

सञ्चित पुण्य-पाप का ब्रह्मविद्यासामर्थ्य से क्षय बतलाया गया, किन्तु उससे भिन्न आरब्ध पुण्य-पाप को भोग से समाप्तकर मुमुक्षु विदेहकैवल्यरूप ब्रह्म को प्राप्त करता है, ऐसा 'उस तत्त्ववित् पुरुष को विदेहकैवल्य प्राप्त करने में इतना ही विलम्ब है जब तक उसका आरब्ध कर्म नष्ट नहीं हो जाता । भोग से प्रारब्धक्षय होते ही वह ज्ञानी विदेहकैवल्य को प्राप्त कर लेता है ।', 'ब्रह्मज्ञानी जीवित दशा में भी ब्रह्म ही है, वह प्रारब्ध समाप्त होते ही निर्विशेष ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ।' इन श्रुतियों से सिद्ध होता है । शङ्का—तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी जैसे देहपात से पूर्व द्विचन्द्रदर्शन न्याय से जब ज्ञानी का भेददर्शन बना रहता है तो ऐसे ही देहपात के बाद भी भेददर्शन बना ही रहेगा । समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि अब भेददर्शन अनुवर्तन का निमित्त नहीं रह गया है । वहाँ पर भेददर्शनानुवर्तन का निमित्त प्रारब्धभोग का शेष रहना ही है जो देहपात के बाद वैसा कोई निमित्त नहीं रह गया है जिससे देहपात के बाद ज्ञानी में भेददर्शन अनुवर्तन का बना रहना माना जाय । शङ्का—कुछ अन्य कर्मसंस्कार नूतन भोग का आरम्भ कर सकता है । समाधान—ऐसा

१. क्षपण स्थिति ।

कर्माशयोऽभिनवमुपभोगमारप्स्यते । न । 'तस्य दग्धबीजत्वात् । मिथ्याज्ञानावष्टम्भं हि कर्मान्तरं देहपात उपभोगान्तरमारभते तच्च मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानेन दग्धमित्यतः साध्वेतदारब्धकार्यक्षये विदुषः कैवल्यमवश्यं भवतीति । १९।।

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य प्रथम पादः ।।१।।

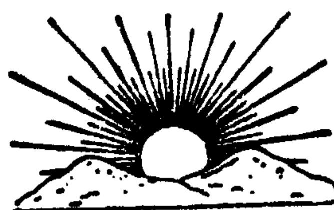
तन्न निमित्तं फलस्य, दग्धमूलत्वात् । अविद्यादयो हि क्लेशाः कर्मणस्तत्फलस्य च मूलम् । तदुक्तं योगशास्त्रे 'क्लेशमूलः कर्माशयः सति मूले तद्विपाकः' इति । तच्च मूलं ज्ञानाग्निना दग्धमिति कुतः पुनः संसारस्तस्माद्देहपाते कैवल्यमिति सिद्धम् ।।१९।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ
श्रीमच्छारीरकमीमांसाव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां
चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।१।।

कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसे कर्मसंस्कार ज्ञानाग्नि से दग्धबीज हो चुके हैं । मिथ्याज्ञान से सहकृत कर्मान्तर देहपात के बाद उपभोगान्तर को उत्पन्न करते हैं, वह मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान से दग्ध हो चुका है । अतः यह मानना सर्वथा उचित है कि प्रारब्धकार्य के क्षय हो जाने पर ब्रह्मज्ञानी विदेहकैवल्य निश्चित ही प्राप्त करता है ।।१९।।

[चतुर्थ अध्याय-प्रथम पाद समाप्त]

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक कैलासपीठाधीश्वर
ब्रह्मचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि
द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य चतुर्थाध्याय
प्रथमपाद की ललिता व्याख्या समाप्त हुई ।



---

१. कर्माशयस्य ।

।। चतुर्थोऽध्यायः द्वितीयः पादः ।।

१. वागाधिकरणम् (सू० १-२)

(४९७) वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ।।१।।

वागादीनां स्वरूपेण वृत्त्या वा मानसे लयः। श्रुतिर्वाङ्मनसीत्याह स्वरूपविलयस्ततः।
न लीयतेऽनुपादाने कार्यं वृत्तिस्तु लीयते। वह्निवृत्तेर्जले शान्तेर्वाक्शब्दो वृत्तिलक्षकः।।

अथापरासु विद्यासु फलप्राप्तये देवयानं पन्थानमवतारयिष्यन्प्रथमं तावद्यथाशास्त्रमुत्क्रान्तिक्रममन्वाचष्टे[1]। समाना हि विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिरिति वक्ष्यति। अस्ति प्रायण-

---

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च। ज्ञानफलोक्त्यनन्तरमुपासनफलं ब्रह्मलोकस्थं वक्तव्यं तच्चार्चिरादिमार्गप्राप्यं, मार्गप्राप्तिश्चोत्क्रान्तिसाध्या तस्मादुपास्तिफलाक्षिप्तोत्क्रान्तिपादस्यास्त्यध्यायसङ्गतिः। युक्तं चास्य पूर्वपादानन्तर्यं ज्ञानफलोक्त्यनन्तरं वक्तव्योपास्तिफलेनाक्षिप्तत्वादित्याह—अथेति।

द्वितीय पाद

प्रथम पाद में तत्त्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने के बाद जीवनमुक्ति के विरुद्ध सञ्चित कर्मों की निवृत्ति कही गयी थी और भोग से प्रारब्ध कर्म के क्षय होने पर विदेहकैवल्य भी सामान्यतः परापर विद्या के फलरूप में बतलाया गया था। अब अपर विद्या से प्रारब्धक्षय के पश्चात् होने वाले मोक्ष में कुछ विशेष बतलाने के लिए आगे के तीन पाद प्रारम्भ किये जा रहे हैं। सामान्यनिरूपण विशेषनिरूपण का कारण होता है, अतः प्रथम पाद के साथ अग्रिम तीन पादों की सामान्यविशेषभाव सङ्गति है। उनमें भी उत्क्रान्ति आदि में विशेष अर्थ बतलाने के लिए यह दूसरा पाद है।

१. वागाधिकरण

१. **सङ्गति**—पादान्तर होने के कारण पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की सङ्गति बतलाना आवश्यक नहीं है।

२. **विषय**—'**अस्य सोम्य! पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते**' इस श्रुति अंश का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. **संशय**—क्या वागादि का मन में स्वरूपतः लय होता है या वृत्तितः?

४. **पूर्वपक्ष**—श्रुति के बल से वाणी का ही मन में लय मानना चाहिए, वाग्व्यापार का लय मानने पर लक्षणा का प्रसङ्ग आ जायेगा।

५. **सिद्धान्त**—वाग्वृत्ति का ही मन में लय होता है, व्यापारसहित वाणी का नहीं क्योंकि कार्य का विलय उपादान कारण में होता है, अन्यत्र नहीं। जैसे वह्नि का दाहकतारूपव्यापार जल में लीन होता है, ऐसे ही वाग्वृत्ति का ही मन में लय होता है, वाक् का नहीं। श्रुति में वाक् शब्दवृत्ति का लक्षक है।

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च (ललिता)

ज्ञान का फल बतलाने बाद उपासना का फल ब्रह्मलोक की प्राप्ति बतलाना है, वह अर्चिरादि मार्ग से प्राप्य है। मार्ग की प्राप्ति उत्क्रान्तिपूर्वक ही होती है, अतः उपासनफल से आक्षिप्त उत्क्रान्ति

---

१. माचष्ट इति पाठांतरम्।

विषया श्रुतिः 'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा० ६-८-६) इति। किमिह वाच एव वृत्तिमत्या मनसि सम्पत्तिरुच्यत उत वाग्वृत्तेरिति विशयः। तत्र वागेव तावन्मनसि सम्पद्यत इति प्राप्तम्। तथा हि श्रुतिरनुगृहीता भवति। इतरथा लक्षणा स्यात्। श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा। तस्माद्वाच एवायं मनसि प्रलय इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—वाग्वृत्तिर्मनसि सम्पद्यत इति। कथं वाग्वृत्तिरिति व्याख्यायते यावता वाङ्मनसीत्येवमाचार्यः पठति। सत्यमेतत्। पठिष्यति तु परस्तात् 'अविभागो वचनात्' (ब्र० सू० ४-२-१६) इति। तस्मादत्र वृत्त्युपशममात्रं विवक्षितमिति गम्यते। तत्त्वप्रलयविवक्षायां तु सर्वत्रैवाविभागसाम्यात्किं परत्रैव विशिष्यादविभाग इति। तस्मादत्र वृत्त्यु-

ज्ञानिन इवोपासकस्याप्युत्क्रान्तिर्नेष्यत आह—समानेति। विद्वानुपासकः, तस्यानुपासकवदुत्क्रान्तिरस्ति, अज्ञत्वादिति वक्ष्यत इत्यर्थः। प्रयतो म्रियमाणस्येत्यर्थः। वाक्पदस्य करणभावव्युत्पत्तिभ्यां करणतद्वृत्त्योर्लयभानात्संशयः।

पूर्वपक्षे करणानां स्वरूपलयान्मृतमात्रस्य मुक्तिः, सिद्धान्ते तु संसारसिद्धिः। अनुपादाने मनसि वाचस्तत्त्वलयायोगेन व्यापारमात्रोपशमादिति विवेकः। सूत्रे वृत्तिपदाध्याहारः कथमिति शङ्कते—कथमिति—उत्तरत्र हि सूत्रकृत्तत्त्वविद इन्द्रियाणां स्वरूपलयं वक्ष्यति तद्बलादिहाध्याहार उचितः।

पाद की अध्याय सङ्गति है। इसलिए ज्ञानफलप्रतिपादक पूर्वपाद के पश्चात् उपासनाफल इस पाद से बतलाते हैं। सगुण विद्या में फलप्राप्ति के लिए देवयान मार्ग बतलाने हेतु इस पाद में प्रथमतः शास्त्रानुसार उत्क्रान्ति को कहते हैं। विद्वान् और अविद्वान् दोनों की उत्क्रान्ति एक जैसी होती है, ऐसा आगे कहेंगे। प्रायण को बतलाने वाली 'हे सोम्य ! इस देह से प्रस्थान करने वाले मुमुक्षु पुरुष की वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में और प्राण तेज में तथा तेज परदेवता में लीन होता है' यह श्रुति है। यहाँ पर प्रश्न होता है कि क्या व्यापारयुक्त वाणी का मन में लय होता है अथवा केवल वाग्व्यापार का लय होता है, इस प्रकार विकल्प खड़ा होता है। इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि मन में वाणी ही लीन होती है, वाग्व्यापार नहीं, ऐसा प्रसङ्ग प्राप्त है। ऐसा मानने पर श्रुति भी अनुगृहीत होती है, अन्यथा वाक्श्रुति की वाग्व्यापार अर्थ में लक्षणा करनी पड़ेगी। श्रुति एवं लक्षणा के सम्बन्ध में संशय होने पर श्रुति को मानना न्यायसङ्गत है, लक्षणा को मानना न्यायसङ्गत नहीं है। अतः मन में वाणी का ही लय होता है।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि वाग्व्यापार का मन में लय होता है। पूर्वपक्ष—जब आचार्य 'वाङ्मनसि' इस वाक्य द्वारा वाणी का ही विलय कहते हैं, फिर वाक् शब्द का वाग्व्यापार अर्थ आप कैसे कर रहे हैं ? सिद्धान्त—यह ठीक है, किन्तु आगे बतलाया जाने वाला 'अविभागो वचनात्' यह सूत्रांश पढ़ा जायेगा, इसीलिए यहाँ पर वृत्ति का उपशममात्र बतलाना ही अभीष्ट है। तत्त्वतः प्रलय की विवक्षा होने पर तो सर्वत्र ही अविभाग की साम्यता है, फिर भला

१. वाचः सम्पत्त्यभ्युपगमे। २. शक्तिः। ३. वाग्वृत्तेः सम्पत्त्यभ्युपगमे। ४. समाना चेत्यादि सूत्रे ४-२-७। ५. वृत्तिमदस्य।

(४६८) अत एव च सर्वाण्यनु ॥२॥

पसंहारविवक्षा । वाग्वृत्तिः पूर्वमुपसंह्रियते मनोवृत्ताववस्थितायामित्यर्थः । कस्मात् ? दर्शनात् । दृश्यते हि वाग्वृत्तेः पूर्वोपसंहारो मनोवृत्तौ विद्यमानायाम् । न तु वाच एव वृत्तिमत्या मनस्युपसंहारः केनचिदपि द्रष्टुं शक्यते । ननु श्रुतिसामर्थ्याद्वाच एवायं मनस्यप्ययो युक्त इत्युक्तम् । नेत्याह । अतत्प्रकृतित्वात् । यस्य हि यत उत्पत्तिस्तस्य तत्र प्रलयो न्याय्यो मृदीव शरावस्य । न च मनसो वागुत्पद्यत इति किंचन प्रमाणमस्ति । वृत्त्युद्भवाभिभवौ त्वप्रकृतिसमाश्रयावपि दृश्येते । पार्थिवेभ्यो हीन्धनेभ्यस्तैजसस्याग्नेर्वृत्ति-रुद्भवत्यप्सु चोपशाम्यति । कथं तर्ह्यस्मिन्पक्षे शब्दो वाङ्मनसि सम्पद्यत इति । अत आह 'शब्दाच्चेति । शब्दोऽप्यस्मिन्पक्षेऽवकल्पते वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादित्यर्थः ॥१॥

'तस्मादुपशान्ततेजाः । पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः' (प्र० ३-९) इत्यत्राविशेषेण सर्वेषामेवेन्द्रियाणां मनसि सम्पत्तिः श्रूयते । तत्राप्यत एव वाच इव चक्षुरादीनामपि

अज्ञस्यापि इन्द्रियलयसाम्ये वक्ष्यमाणविशेषोक्त्ययोगादिति समाध्यर्थः । प्रकृतावेव विकारलय इति न्यायविरुद्धार्थं श्रुतिरपि न ब्रूत इति सिद्धान्तयति–अतत्प्रकृतित्वादिति । 'न्यायस्य निरवकाशत्वा-द्बलीयस्त्वं शब्दस्य तूक्तिर्वागितिव्युत्पत्त्या लक्षणया वा सावकाशत्वमिति द्योतयितुं शब्दाच्चेत्युक्तम् ॥१॥

वाच्युक्तं न्यायं चक्षुरादिष्वतिदिशति—अत एवेति । उपशान्तदेहोष्मयस्तस्मादुत्क्रमणादूर्ध्वं पुन-

---

परमात्मा में ही अविभाग विशेषण क्यों लगायेंगे । अतः इस श्रुति में वाग्वृत्ति का उपसंहार बतलाना अभीष्ट है अर्थात् पहले वाग्व्यापार का उपसंहार होता है; मनोवृत्ति बनी रहती है, वाणी अपना व्यापार छोड़ बैठती है । ऐसा ही लोक में देखा भी जाता है कि मुमूर्षु के वाग्व्यापार का पहले उपसंहार होता है, मनोव्यापार विद्यमान ही रहता है क्योंकि वृत्तिविशिष्ट वाणी का मन में उपसहार तो कोई देख हो नहीं सकता । शङ्का—श्रुति के बल से वाणी का ही विलय मन में मानना उचित है, ऐसा हम कह आये हैं । समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वाणी का उपादान कारण मन नहीं है । जिससे जिसकी उत्पत्ति हो उसी में उसका विलय माना जाता है, जैसे मिट्टी से उत्पन्न घटादि मृत्पात्र का विलय मृत्तिका में होता है । यह न्याय सर्वत्र लगा लेना चाहिए । मन से वाणी को उत्पत्ति बतलाने वाला कोई प्रमाण नहीं है, वृत्ति का उद्भव और विलय अपनी प्रकृति से भिन्न में भी देखा जाता है । पार्थिव ईन्धन से तैजस अग्नि में व्यापार होता है, किन्तु अग्निव्यापार की उपशान्ति जल में होती है । तब इस पक्ष में 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' यह शब्द कैसे कहा गया है, इसका उत्तर सूत्रकार 'शब्दाच्च' इस सूत्रांश से देते हैं कि इस पक्ष में शब्द भी युक्तियुक्त प्रतीत होता है, वृत्ति एवं वृत्तिमान का अभेद औपचारिक दृष्टि से कहा गया है, यह इसका तात्पर्य है ॥१॥

अत एव च सर्वाण्यनु (ललिता)

पूर्वसूत्र से कहे गये न्याय का अतिदेश चक्षुरादि में अग्रिम सूत्र से करते हैं । 'जब शरीर की ऊष्णता शान्त हो जाती है और मन में सभी इन्द्रियाँ तादात्म्यभाव प्राप्त कर लेती हैं तब जीव

---

१. उपचारादित्यर्थः । २. उक्तन्यायादेव । ३. प्रकृतावेव विकारलय इति न्यायस्य ।

२. मनोधिकरणम् (सू० ३)

(४९९) तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥३॥

मनः प्राणे स्वयं वृत्त्या वा लीयेत स्वयं यतः। कारणान्नोदकद्वारा प्राणो हेतुर्मतः प्रति।
साक्षात्स्वहेतौ लीयेत कार्यं प्राणादिके न तु। गौणः प्राणादिको हेतुस्ततो वृत्तिलयो धियः।

सवृत्तिके मनस्यवस्थिते वृत्तिलोपदर्शनात्तस्वप्रलयासम्भवाच्छब्दोपपत्तेश्च वृत्तिद्वारेणैव सर्वाणीन्द्रियाणि मनोऽनुवर्तन्ते। सर्वेषां करणानां मनस्युपसंहाराविशेषे सति वाचः पृथग्ग्रहणं वाङ्मनसि सम्पद्यत इत्युदाहरणानुरोधेन ॥२॥

समधिगतमेतत् 'वाङ्मनसि संपद्यते' (छा० ६-८-६) इत्यत्र वृत्तिसंपत्तिविवक्षेति।

भेव प्रतिपद्यत इति श्रुत्यर्थः। इन्द्रियशब्दस्य श्रुतिस्थस्य वृत्तिपरतयोपपत्तेः। सर्वेन्द्रियवृत्तिलयश्चे-दिष्टस्तर्हि वाङ्मनसोरि पृथक्सूत्रं किमर्थमित्यत आह—सर्वेषां करणानामिति ॥२॥

तन्मनः प्राण उत्तरात्। वाक्यक्रमादर्थक्रमाच्चाधिकरणक्रमः। श्रुतिन्यायाभ्यां संशयः पूर्वं

पुनर्जन्म को प्राप्त करता है' इस वाक्य में अविशेषरूप से सभी इन्द्रियों का मन में विलय सुना जाता है। वहाँ भी वाणी के मन में विलय की भाँति चक्षुरादि इन्द्रियों का भी व्यापारयुक्त मन में विलय दीखता है। व्यापार का लोप देखा जाता है, स्वरूप का लय होना सम्भव नहीं है और न शब्द की सङ्गति ही बैठती है। इसीलिए सभी इन्द्रियाँ व्यापार द्वारा ही मन का अनुवर्तन करती हैं अर्थात् मरणासन्न दशा में इन्द्रियों का व्यापार बन्द हो जाता है और मनोव्यापार होता रहता है। सभी इन्द्रियों का मन में उपसंहार समानरूप से होने पर भी सूत्रकार ने 'वाङ्मनसि' इस सूत्रांश से अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा वाणी का पृथक् ग्रहण 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' इस उदाहरण के अनुरोध पर किया है जो दोषावह नहीं है ॥२॥

२. मनोधिकरण

१. सङ्गति—जैसे वागादि इन्द्रियों के व्यापार का लय मन में कहा, वैसा मनोव्यापार का प्राण में लय नहीं होता; किन्तु 'मनः प्राणे' इस श्रुति के बल से स्वरूपतः मन का लय प्राण में मानना चाहिए, परम्परया मन का उपादान कारण प्राण भी माना जा सकता है। इस प्रकार प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—'मनः प्राणे' यह श्रुत्यंश इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या प्राण में मन मन का स्वरूपतः लय होता है या वृत्तितः ?

४. पूर्वपक्ष—'मनः प्राणे' इस श्रुति के बल से मन का स्वरूपतः लय प्राण में मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—सभी इन्द्रियों के व्यापार का लयाधारभूत मन वृत्तिरूप से ही प्राण में लीन होता है। कार्य का साक्षात् लय अपने कारण में ही होता है, मन प्राण का साक्षात् कार्य नहीं है। है। सुषुप्ति और मुमूर्षा दशा में प्राणव्यापार रहते-रहते मनोव्यापार का लय देखा गया है। व्यापार एवं व्यापारवान में औपचारिक अभेद मानकर 'मनःप्राणे' ऐसा कहा गया है। परम्परा से उत्पन्न कार्य का कारण में लय मानने पर हिमकरकादि घटादि के विलय का प्रसङ्ग आ जायेगा जो अनुभवविरुद्ध माना जायेगा।

तन्मनः प्राण उत्तरात् (ललिता)

'वाङ्मनसि सम्पद्यते' इस श्रुति में वाग्व्यापार का विलय मन में बतलाना अभीष्ट है, ऐसा

अथ यदुत्तरवाक्यम् 'मनः प्राणे' (छा० ६-८-६) इति किमत्रापि वृत्तिसंपत्तिरेव विवक्ष्यत उत वृत्तिमत्संपत्तिरिति विचिकित्सायां वृत्तिमत्संपत्तिरेवात्रेति प्राप्तम् । श्रुत्यनुग्रहात्तत्प्रकृतिकत्वोपपत्तेश्च । तथाहि—'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः' (छा० ६-५-४) इत्यन्नयोनि मन आमनन्त्यब्योनिं च प्राणम् । 'आपश्चान्नमसृजन्त' इति श्रुतिः । अतश्च यन्मनः प्राणे प्रलीयतेऽन्नमेव तदप्सु प्रलीयतेऽन्नं हि मन आपश्च प्राणः प्रकृतिविकाराभेदादिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदप्यागृहीतबाह्येन्द्रियवृत्ति मनो वृत्तिद्वारेणैव प्राणे प्रलीयत इत्युत्तराद्वाक्यादवगन्तव्यम् । तथा हि सुषुप्सोर्मुमूर्षोश्च प्राणवृत्तौ परिस्पन्दात्मिकायामवस्थितायां मनोवृत्तीनामुपशमो दृश्यते । नच मनसः स्वरूपाप्ययः प्राणे संभवति । अतत्प्रकृतित्वात् । ननु दर्शितं मनसः प्राणप्रकृतित्वम् । नैतत्सारम् । न हीदृशेन प्राणालिकेन[1] तत्प्रकृतित्वेन मनः प्राणे सपत्तुमर्हति । एवमपि ह्यन्ने मनः संपद्येताप्सु चान्न-

प्रबलन्यायविरोधाद्वागिति श्रुतेर्बाधः कृतः इह त्वबात्मकप्राणस्य अन्नात्मकमनःप्रकृतित्वेन प्रकृतौ विकारलय इति न्यायानुग्रहान्न मनःश्रुतिर्बाध्येति पूर्वपक्षफलं पूर्ववत्,

सिद्धान्तस्त्वबन्नयोः प्रकृतिविकृतिभावेऽपि न तद्विकारयोः प्राणमनसोस्तद्भावो हिमघटयोरपि तद्भावप्रसङ्गादतो न्यायविरोधात्पूर्ववच्छ्रुतिर्बाध्येति विवेकः । आगृहीता बाह्येन्द्रियवृत्तयो येन तत्तया लीनेन्द्रियवृत्तिकं मनोऽपि वृत्तिलयेनैव प्राणे लीयत इत्यर्थः । एवमपीति । प्राणस्याविकार-

दिया गया । अब इसके आगे 'मनः प्राणे' इस वाक्य में भी मनोव्यापार का ही प्राण में विलय बतलाना अभीष्ट है अथवा व्यापारविशिष्ट मन का प्राण में विलय बतलाना अभीष्ट है। ऐसा संशय होने पर वृत्तियुक्त मन का ही प्राण में विलय पूर्वपक्ष ने माना है । ऐसा मानने पर श्रुति अनुगृहीत होती है और प्राण में मनप्रकृतित्व की सङ्गति भी बैठ जाती है क्योंकि 'हे सोम्य ! मन अन्न का विकार है और प्राण जल का विकार है' इस श्रुति में मन को अन्न का विकार और प्राण को जल का कार्य बतलाते हैं । 'जल अन्न की सृष्टि करता है' ऐसी श्रुति भी है । अतः प्राण में जो मन लीन होता है, वह अन्न ही जल में प्रलीन हुआ; ऐसा समझना चाहिए क्योंकि अन्न और मन एवं जल तथा प्राण प्रकृतिविकृतिभाव होने के कारण अभिन्न हैं ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि समस्त बाह्य इन्द्रियों के व्यापार का विलयस्थान वह मन भी व्यापार द्वारा ही प्राण में लीन होता है, उत्तरवाक्य से ऐसा अर्थ समझना चाहिए । ऐसा ही सोने की इच्छावाले और मुमूर्षु पुरुष की परिस्पन्दात्मिका प्राणवृत्ति के रहते-रहते मनोव्यापार का उपशम देखा जाता है । मन के स्वरूप का विलय प्राण में सम्भव भी नहीं है क्योंकि प्राण मन का उपादान कारण नहीं है । शङ्का—मन में प्राणप्रकृतित्व परम्परा से हम दिखला आये हैं । समाधान—यह ठीक नहीं है. ऐसे परम्परया प्रकृतिविकृतिभाव मानकर मन में प्राण का विलय नहीं बतला सकते क्योंकि इस प्रकार अन्न में मन लीन होगा और जल में अन्न लीन होगा, ऐसा कहने पर जल में ही प्राण लीन हुआ माना जायेगा । इस पक्ष में भी प्राणरूप से

१. पारंपर्येण ।

३. अध्यक्षाधिकरणम् (सू० ४-६)

(५००) सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥४॥

असोर्भूतेषु जीवे वा लयो भूतेषु तच्छ्रुते । स प्राणस्तेजसीत्याह न तु जीव इति क्वचित् ॥
एवमेवेममात्मानं प्राणा यन्तीति च श्रुतेः । जीवे लीत्वा सहैतेन पुनर्भूतेषु लीयते ॥

मप्स्वेव च प्राणः । न ह्येतस्मिन्नपि पक्षे प्राणभावपरिणताभ्योऽद्भ्यो मनो जायत इति किंचन प्रमाणमस्ति तस्मान्न मनसः प्राणे स्वरूपाप्ययः । वृत्त्यप्ययेऽपि तु शब्दोऽवकल्पते वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादिति दर्शितम् ॥३॥

स्थितमेतद्यस्य यतो नोत्पत्तिस्तस्य तस्मिन्वृत्तिप्रलयो न स्वरूपप्रलय इति । इदमिदानीं प्राणस्तेजसीत्यत्र चिन्त्यते—किं यथाश्रुति प्राणस्य तेजस्येव वृत्त्युपसंहारः किंवा देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षे जीव इति । तत्र श्रुतेरनतिशङ्क्यत्वात्प्राणस्य तेजस्येव संपत्तिः

स्वपक्षेऽपीत्यर्थः । तस्मादिति प्राणस्य साक्षान्मनःप्रकृतिकत्वाभावान्मन शब्दो वृत्तिं लक्षयतीत्यर्थः ॥३॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः । उक्तन्यायसिद्धं प्राणस्यापि वृत्तिलयमुपजीव्य 'प्राणस्तेजसि' इति श्रुतेरुपगमादिश्रुतेश्च संशयमुक्त्वा जीवे लयं विनापि उपगमादिसम्भव इति पूर्वपक्षयति—स्थित-

---

परिणत हुए जल से मन उत्पन्न होता है, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है । अतः प्राण में मन का स्वरूपतः विलय नहीं होता, किन्तु वृत्तितः लय होता है । मनोव्यापार का विलय मानने पर भी 'मनः प्राणे' यह सङ्गति बनती है क्योंकि व्यापार एवं व्यापारवाले का औपचारिक अभेद हम बतला आये हैं ॥३॥

३. अध्यक्षाधिकरण

१. **सङ्गति**—इस प्रकार प्राण में मनोवृत्तिलय की भाँति तेज में प्राणवृत्ति का लय मानना चाहिए, ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. **विषय**—'प्राणः तेजसि' इस श्रुति में आये हुए तेज शब्द का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—क्या उत्तरवाक्य में यथाश्रुत प्राण का लय तेज में ही मानना चाहिए अथवा जीव में ? ऐसा संशय होता है ।

४. **पूर्वपक्ष**—श्रुतार्थ का परित्यागकर अश्रुत अर्थ की परिकल्पना न्यायविरुद्ध है, अतः तेज में ही प्राण का लय मानना युक्तियुक्त होगा ।

५. **सिद्धान्त**—'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति' इस श्रुति के आधार पर अध्यक्ष जीव मे प्राण का लय मानना चाहिए । जीव के सहित प्राण तेज आदि भूतों में लीन होता है, पहले तो प्राण जीव के साथ ही तादात्म्यभाव को प्राप्त करता है ।

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः

जिससे जिसकी उत्पत्ति नहीं होती उसमें उसके व्यापार का लय कहा जा सकता है, स्वरूपलय नहीं कहा जा सकता ; यह समाधान पिछले अधिकरणों में दिया गया । अब यहाँ पर 'प्राणस्तेजसि' इस श्रुतिवाक्य पर विचार किया जाता है कि श्रुति के अनुसार तेज में ही प्राणव्यापार का उपसंहार माना जाय अथवा देह-इन्द्रिय पञ्जर के अध्यक्ष जीव में प्राणव्यापार का विलय माना जाय । इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि श्रुति में शङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि श्रुति अनतिशङ्कनीय है ।

स्यादश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति ।

एवं प्राप्ते प्रतिपद्यते सोऽध्यक्ष इति । स प्रकृतः प्राणोऽध्यक्षेऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञोपाधिके विज्ञानात्मन्यवतिष्ठते । तत्प्रधाना प्राणवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । कुतः ?—तदुपगमादिभ्यः । 'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति' इति हि श्रुत्यन्तरमध्यक्षोपगामिनः सर्वान्प्राणानविशेषेण दर्शयति । विशेषेण च 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' (बृ० ४-४-२) इति पञ्चवृत्तेः प्राणस्याध्यक्षानुगामितां दर्शयति तदनुवृत्तितां चेतरेषाम् 'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४-४-२) इति । 'सविज्ञानो भवति' इति चाध्यक्षस्यान्तर्विज्ञानवत्त्वप्रदर्शनेन तस्मिन्नपीतकरणग्रामस्य प्राणस्यावस्थानं गमयति । ननु 'प्राणस्तेजसि' इति श्रूयते कथं प्राणोऽध्यक्ष इत्यधिकावापः क्रियते । नैष दोषः । अध्यक्षप्रधानत्वादुत्क्रमणादिव्यवहारस्य श्रुत्यन्तरगतस्यापि च विशेषस्यापेक्षणीयत्वात् ॥४॥

मित्यादिना । अत्र तेजःशब्दस्य मुख्यत्वम् ।

सिद्धान्ते तु भूतोपहितजीवलक्षकत्वमिति मत्वा सूत्रं योजयति—स प्रकृत इत्यादिना । अज्ञानकर्मवासनोपाधिक इत्यर्थः । तं जीवं प्रति प्राणानामुपगमानुगमनावस्थानश्रुतिभ्य इति हेत्वर्थः । यथा यात्रच्छावन्तं राजानं भृत्या उपगच्छन्त्येवमेव परलोकं जिगमिषुं जीवं सर्वे प्राणा आभिमुख्येनायान्तीत्युपगमः श्रुतः । तमुत्क्रामन्तमित्यनुगमनं श्रुतम् । जीवे प्राणावस्थानश्रुतिमाह—सविज्ञान इति । जीवस्य प्राप्तव्यफलावगमाय हि विज्ञानसाहित्यश्रुत्या मुख्यप्राणसहितकरणानां जीवे स्थितिर्भातीत्यर्थः ॥४॥

अतः प्राण का तेज ही विलय मानना चाहिए । श्रौतार्थ का परित्यागकर अश्रुत अर्थ की कल्पना न्यायसङ्गत नहीं है ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि वह प्रसङ्गागत प्राण अविद्या, कर्म, पूर्वप्रज्ञारूप उपाधिवाले विज्ञानात्मा अध्यक्ष में लीन होता है । प्राणव्यापार में अध्यक्ष की प्रधानता होती है, ऐसा तात्पर्य है । ऐसा ही अध्यक्ष उपगामी सभी प्राणों को श्रुत्यन्तर बतलाता है कि 'अन्तकाल में इसी आत्मा के पास सभी प्राण आ जाते हैं जब यह ऊर्ध्व उच्छ्वास लेने लग जाता है' और 'अध्यक्ष के उत्क्रमण के पीछे प्राण उत्क्रमण करता है' इस श्रुति में विशेषरूप से पांच व्यापार वाले प्राण को अध्यक्षानुगामी बतलाते हैं । उस प्राण का अनुवर्तन अन्य इन्द्रियाँ करती हैं, इसे 'प्राणमनूत्क्रमन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' यह श्रुति कहती है । 'सविज्ञानो भवति' यह श्रुति शरीरत्याग समय अध्यक्षपदवाच्य जीव में अन्तर्विज्ञानवत्त्व दिखलाते हुए उस जीव में ही प्राण का अवस्थान कहती है जिस प्राण के साथ सभी इन्द्रियों का तादात्म्य हो चुका है । शङ्का—'प्राणस्तेजसि' इसमें जो सुना गया है वह प्राण का अध्यक्ष में विलय मानने पर कैसे सुसङ्गत हो सकेगा ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है । उत्क्रमणादि व्यवहार में अध्यक्ष की प्रधानता श्रुत्यन्तर में भी देखी गयी है । श्रुत्यन्तरगत विशेष की अपेक्षा करनी चाहिए, तदनुसार अध्यक्ष जीव में ही प्राण का विलय मानना उचित है, यह अर्थ सिद्ध हुआ ॥४॥

---

१. संस्कारे । २. संग्रहः । ३. उपाधिमन्तरेण विज्ञानानुपपत्तेरिति भावः ।

(५०१) [1]भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥५॥

(५०२) नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥६॥

कथं तर्हि प्राणस्तेजसीति श्रुतिरित्यत आह—

स प्राणसंपृक्तोऽध्यक्षस्तेजःसहचरितेषु भूतेषु देहबीजभूतेषु सूक्ष्मेष्ववतिष्ठत इत्यवगन्तव्यम् । प्राणस्तेजसीति श्रुतेः । ननु चेयं श्रुतिः प्राणस्य तेजसि स्थितिं दर्शयति न प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्य । नैष दोषः । सोऽध्यक्ष इत्य[2]ध्यक्षस्याप्यन्तरालेऽप्युपसंख्यातत्वात् । योऽपि हि स्रुघ्नान्मथुरां गत्वा मथुरायाः पाटलिपुत्रं व्रजति सोऽपि स्रुघ्नात्पाटलिपुत्रं यातीति शक्यते वदितुम् । तस्मात्प्राणस्तेजसीति प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्यैवं तत्तेजःसहचरितेषु भूतेष्ववस्थानम् ॥५॥

कथं तेजःसहचरितेषु भूतेष्वित्युच्यते यावतैकमेव तेजः श्रूयते प्राणस्तेजसीति ।अत आह—

नैकस्मिन्नेव तेजसि शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां जीवोऽवतिष्ठते कार्यस्य शरीरस्यानेकात्म-

---

यद्यपि प्राणस्य तेजस्यव्यवधानेन लयः श्रुतस्तथाप्युभयश्रुत्यनुग्रहाय प्राणो जीवे लीयते, जीवद्वारा च तदुपाधिषु तेजादि भूतेष्विति श्रुत्यर्थस्फुटीकरणार्थं सूत्रं गृह्णाति—कथं तर्हीति ।

नच लयं विनापि जीवं प्रत्युपगमादिसंभवात्तेजःश्रुतिर्मुख्यास्त्विति वाच्यं, जीवं प्रत्यागतस्य प्राणस्य निर्व्यापारत्वेन स्थितेरेवात्र लयत्वादिति भावः । भूतेषु जीवस्थितिः किंबलादव्याख्यायत इत्याशङ्क्य 'सोऽध्यक्षे' इतिसूत्रोदाहृतश्रुतिबलादित्याह–नन्वित्यादिना । प्राणस्य जीवद्वारा भूतप्राप्तौ दृष्टान्तमाह—योऽपि हीति ॥५॥

फिर भला 'प्राणस्तेजसि' यह श्रुति प्राण का तेज में विलय कैसे कह रही है, इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से सूत्रकार देते हैं—

भूतेषु तच्छ्रुतेः (ललिता)

प्राणसंयुक्त जीव तेज सहचरित देह के बीजभूत सूक्ष्म भूतों में स्थित रहता है, ऐसा **'प्राणस्तेजसि'** इस श्रुति का अर्थ समझना चाहिए। **शङ्का**—यह श्रुति प्राण की तेज में स्थिति दिखलाती है, न कि प्राणसंयुक्त अध्यक्ष की तेज में स्थिति बतलाती है, फिर आप ऐसी कल्पना किस आधार पर कर रहे हैं। **समाधान**—यह दोष नहीं है। 'सोऽध्यक्षे' इस सूत्र में अध्यक्ष का भी अन्तराल में पाठ मिलता है। जो भी कोई पुरुष स्रुघ्न से मथुरा होकर पाटलिपुत्र जाता है वह स्रुघ्न से पाटलिपुत्र जाता है, ऐसा कह सकते हैं। स्थूलदेह आरम्भ के लिए पञ्चीकृत पञ्चभूत का आश्रयण जीव करता है, ऐसा 'रंहत्यधिकरण' में कह आये हैं। अतः 'प्राणस्तेजसि' इस श्रुति में प्राणसंयुक्त जीव का ही तेजसहचरित भूतों में अवस्थान होता है, ऐसा मानना युक्तियुक्त है ॥५॥

तेजसहचरित भूत में जीव का अवस्थान कैसे कह रहे हैं जब कि एक ही तेज शब्द **'प्राणस्तेजसि'** इस श्रुति में सुना जाता है, इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से भगवान् वेदव्यास देते हैं—

नैकस्मिन्दर्शयतो हि (ललिता)

शरीरान्तर में जाते समय जीव केवल एक तेज में अवस्थित नहीं रहता क्योंकि भावी शरीर

---

१. भूतेष्वतश्रुतेरित्यपि पाठः । २. वाङ्मनसि मनः प्राणे प्राणोऽध्यक्षेऽध्यक्षस्तेजसीति ।

कत्वदर्शनात् । दर्शयतश्चैतमर्थं प्रश्नप्रतिवचने 'आपः पुरुषवचसः' (छा० ५-३-३) इति । तद्व्याख्यातम् 'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३-१-२) इत्यत्र । श्रुतिस्मृती चैतमर्थं दर्शयतः । श्रुतिः 'पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः' इत्याद्या । स्मृतिरपि—'अण्व्यो मात्राऽविनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः । ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः' इत्याद्या । ननु चोपसंहृतेषु वागादिषु करणेषु शरीरान्तरप्रेप्सा-वेलयां 'क्वायं तदा पुरुषो भवति' (बृ० ३-२-१३) इत्युपक्रम्य श्रुत्यन्तरं कर्माश्रयतां निरूपयति—'तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ ह यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः' (बृ० ३-२-१३) इति । अत्रोच्यते—तत्र कर्मप्रयुक्तस्य ग्रहातिग्रहसंज्ञकस्येन्द्रियविषयात्मकस्य बन्धनस्य प्रवृत्तिरिति कर्माश्रयतोक्ता । इह पुनर्भूतोपादानाद्देहान्तरोत्पत्तिरिति[1] भूताश्रयत्वमुक्तम् । प्रशंसाशब्दादपि तत्र[2] प्राधान्यमात्रं कर्मणः प्रदर्शितं न त्वाश्रयान्तरं निवारितम् । तस्मादविरोधः ॥६॥

स्थूलदेहारम्भाय पञ्चीकृतभूतान्यावश्यकानीति रंहत्यधिकरणे व्याख्यातम् । अण्व्यः सूक्ष्माः, मीयन्त इति मात्राः परिच्छिन्नाः, प्राङ्मोक्षादविनाशिन्यः, दशार्धानां पञ्चानां भूतानां सूक्ष्मभागा इति यावत् । जीवस्य भूताश्रयत्वं कर्माश्रयत्वश्रुतिविरुद्धमित्याशङ्क्य कर्म निमित्तत्वेनाश्रयः, भूतानि तु देहोपादानत्वेनेत्युभयमविरुद्धमित्याह—ननु चेत्यादिना । तौ याज्ञवल्क्यार्तभागौ यज्जीवाधार-मूचतुस्तत्कर्मेति श्रुतेर्वचनम् ॥६॥

ही अनेकात्मक देखा गया है । इस अर्थ को 'आपः पुरुषवचसः' इस वाक्य द्वारा प्रश्नोत्तर के माध्यम से श्रुति दिखलाती है जिसका व्याख्यान 'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' इस सूत्र में किया जा चुका है । इस रहस्य को पृथ्वीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय' यह श्रुति बतलाती है और 'नाशवान पञ्चभूतों की सूक्ष्ममात्रा जो कही गयी है उनके साथ ही यह जीव शरीरान्तर में जाता है जिनसे भावी शरीर बनता है' ऐसा स्मृति भी कहती है । शङ्का—वागादि इन्द्रियों का उपसंहार हो जाने पर शरीरान्तरप्राप्ति के समय 'उस समय यह पुरुष कहाँ रहता है' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भ-कर अन्य श्रुति कर्माश्रयता को बतलाती है कि 'इन दोनों, याज्ञवल्क्य एवं आर्त्तभाग, ने जो कुछ भी जीव का आधार बतलाया है वह कर्म के विषय में ही कहा है और जो प्रशंसा की है वह भी उस कर्म की ही प्रशंसा है ।' समाधान—वहाँ पर कर्म से प्रेरित ग्रहातिग्रहनामक इन्द्रिय एवं विषयरूप बन्धन की प्रवृत्ति जो कही गयी है वह भी कर्माश्रयता को ही बतलाती है, किन्तु यहाँ पर भूत उपादान से देहान्तर की उत्पत्ति कहकर भूताश्रयत्व का कहा गया है । प्रशंसा शब्द से भी वहाँ पर भूत उपादान से देहान्तर की उत्पत्ति कहकर भूताश्रयत्व को कहा गया है । प्रशंसा शब्द से भी वहाँ पर कर्म की प्रधानतामात्र बतलायी गयी है, अन्य आश्रय का निषेध नहीं है । इसलिए पूर्वोक्त छान्दोग्य श्रुति और बृहदारण्यक श्रुति में कोई विरोध नहीं है ॥६॥

---

१. भूताभिन्नादुपादानकारणात् । २. श्रुतौ ।

४. आसृत्युपक्रमाधिकरणम् (सू० ७)

(५०३) समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ।।७।।

ज्ञान्यज्ञोत्क्रान्तिरसमा समा वा नहि सा समा । मोक्षसंसाररूपस्य फलस्य विषमत्वतः ।
आसृत्युपक्रमं जन्म वर्तमानमतः समा । पश्चात्तु फलवैषम्यादसमोत्क्रान्तिरेतयोः ।।

सेयमुत्क्रान्तिः किं विद्वदविदुषोः समाना किंवा विशेषवतीति विशयानानां विशेषवतीति तावत्प्राप्तम् । [1]भूताश्रयविशिष्टा ह्येषा । पुनर्भवाय च भूतान्याश्रीयन्ते । न च विदुषः पुनर्भवः सम्भवति । 'अमृतत्वं हि विद्वानश्नुते' इति [2]स्थितिः । तस्मादविदुषः एवैषोत्क्रान्तिः । ननु विद्याप्रकरणे समाम्नानाद्विदुष एवैषा भवेत् । [3]न । स्वापादिव[4]द्यथाप्राप्तानुकीर्तनात् । तथा हि 'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम', अशिशिषति नाम', 'पिपासति नाम' (छा० ६-८-१,३-५) इति च सर्वप्राणिसाधारणा एव स्वापादयोऽनुकीर्त्यन्ते विद्याप्रकरणेऽपि प्रतिपिपादयिषित-

एवं बाह्येन्द्रियाणां मनसि प्रथमं वृत्तिलयलाभात्ततो मनोवृत्तेः प्राणे लयः प्राणवृत्तेर्भूतावहितजीवे लय इत्युत्क्रान्तिव्यवस्थोक्ता । सा च सर्वप्राणिषु तुल्येत्याह—समाना चानुपोष्य । 'पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि' इत्यविशेषश्रुतेः' 'विद्ययामृतमश्नुते' इति श्रुतेश्च संशयमाह—सेयमिति । विशयानानां संदिहानानामित्यर्थः । पूर्वपक्षे सगुणब्रह्मविदसम्बन्धित्वमुत्क्रान्तेर्विशेषः साध्यते । ततोऽनुत्क्रान्त उपासको मुक्तिमश्नुत इति फलं, सिद्धान्ते तूत्क्रान्तो ब्रह्मलोकभागीति फलभेदः । पूर्वपक्षमाक्षिप्य समाधत्ते—ननु विद्येत्यादिना । विद्ययामृतमिति श्रुतिर्निर्गुणविद्याविषया । न तस्य प्राणा उत्क्रा-

४. आसृत्युपक्रमाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वोक्त उत्क्रान्ति को लेकर कुछ अन्य बातों का विचार करने के लिए उपजीव्य-उपजीवकभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—इस अधिकरण में देह से उत्क्रान्ति पर विचार किया गया है ।

३. संशय—क्या देह से उत्क्रान्ति अज्ञानियों को ही होती है अथवा देहरादि सगुण ब्रह्म के उपासकों की भी होती है ?

४. पूर्वपक्ष—मोक्ष और संसाररूप विषय फल होने के कारण उत्क्रान्ति तुल्य नहीं है ।

५. सिद्धान्त—देवयान मार्ग प्रारम्भ होने से पूर्व ज्ञानी और अज्ञानी की उत्क्रान्ति समानरूप में ही होती है, फलवैषम्य तो पश्चाद्भावी है । अतएव ज्ञानी और अज्ञानी की उत्क्रान्ति विषय कही गयी है ।

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य (ललिता)

यह उत्क्रान्ति ज्ञानी और अज्ञानी की एक सी होती है अथवा इसमें कुछ भेद है ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष में भिन्न भिन्न प्रकार की उत्क्रान्ति कही गयी है । भूताश्रय से विशिष्ट यह उत्क्रान्ति अज्ञानियों की ही होती है जो पुनर्जन्म के लिए भूतों आश्रय करते हैं । ज्ञानी का तो पुनर्जन्म सम्भव ही नहीं है क्योंकि 'ज्ञानी अमृतत्व प्राप्त करता है' ऐसी श्रुति है । इसलिए अज्ञानी की ही यह उत्क्रान्ति होती है । शङ्का—विद्याप्रकरण में पढ़े जाने के कारण विद्वान् की ही यह उत्क्रान्ति माननी

१. भूताभिन्नाश्रयवि । २. श्रुतिरिति पाठांतरम् । ३. वस्तुतत्त्वप्रतिपादनाय लोकसिद्धधर्माणामनूद्यमानत्वान्न प्रकरणं विद्वद्विषयमिति समाधत्ते नेति । ४. दृष्टांतं विवृणोति यथा ।

वस्तुप्रतिपादनानुगुण्येन न तु विदुषो [1]विशेषवन्तो विधित्स्यन्ते। एवमियमप्युत्क्रान्तिर्महाजनगतैवानुकीर्त्यते यस्यां परस्यां देवतायां पुरुषस्य प्रयतस्तेजः सम्पद्यते स आत्मा तत्त्वमसीत्येतत्प्रतिपादयितुम्। [2]प्रतिषिद्धा चैषा विदुषः 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० ४-४-६) इति। तस्मादविदुष एवैषेति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—समाना चैषोत्क्रान्तिर्वाङ्मनसीत्याद्या विद्वदविदुषोरासृत्युपक्रमाद्भवितुमर्हति। अविशेषश्रवणात्। अविद्वान्देहबीजभूतानि भूतसूक्ष्माण्याश्रित्य कर्मप्रयुक्तो देहग्रहणमनु[3]भवितुं [4]संसरति। [5]विद्वांस्तु ज्ञानप्रकाशितं मोक्षनाडीद्वारमाश्रयते। तदेतदासृत्युपक्रमादित्युक्तम्। नन्वमृतत्वं हि विदुषा प्राप्तव्यं नच तद्देशान्तरायत्तं तत्र कुतो भूताश्रयत्वं सृत्युपक्रमो वेति। अत्रोच्यते—अनुपोष्य चेदम्, अदग्ध्वाऽत्यन्तमविद्यादीन्क्लेशानपरविद्यासामर्थ्यादापेक्षिकममृतत्वं प्रेप्सते संभवति तत्र सृत्युपक्रमो भूताश्रयत्वं

मन्तीति प्रतिषेधोऽपि तद्विषयः। अतः सगुणविदोऽप्ययमस्त्येवोत्क्रान्तिरिति सिद्धान्तयति—एवमिति। सृतिर्मार्गस्तस्योपक्रमोऽर्चिःप्राप्तिस्ततः प्राक्तना उत्क्रान्तिस्तुल्या, तत उपासको मूर्धन्यनाडीद्वाराऽर्चिरादिमार्गं प्राप्नोति नान्य इति विशेषः। यत्तु दहरोपासकस्यामृतत्वं श्रुतं 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति तदापेक्षिकमेव न मुख्यं 'यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति' इति भोगश्रवणादित्याह—अनुपोष्य चेदमिति। उष दाह इति धातोरिदं रूपम् ॥७॥

समाधान— (पूर्वपक्ष)–ऐसा कहना ठीक नहीं। सुषुप्त्यादि की भाँति यथाप्राप्त का ही कथन वहाँ पर है। 'जब यह पुरुष सोता है' 'खाना चाहता है' पीना चाहता है' ये सभी अनुसंकीर्तन सभी प्राणी के लिए साधारण है, विद्यासन्दर्भ में भी प्रतिपादन करना इष्ट वस्तु के प्रतिपादनारूप ही अर्थ करना चाहिए, अतः विद्वान के लिए कुछ विशेष नहीं कहा गया है। इस प्रकार यह उत्क्रान्ति भी महापुरुषगत अनुकीर्तन ही है—'जिस परदेवता में प्रस्थान करने वाले पुरुष का तेज मिल जाता है वह आत्मा है और वह तू है' इत्यादि। विद्वान के लिए तो इस उत्क्रान्ति का निषेध ही है। 'विद्वान् के प्राण शरीर से निकलते नहीं' इस वाक्य द्वारा विद्वान् की उत्क्रान्ति का निषेध होने से परिशेषतः अज्ञानी की ही उत्क्रान्ति सिद्ध होती है।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि 'वाङ्मनसि' इत्यादि श्रुति द्वारा बतलायी गयी यह उत्क्रान्ति ज्ञानी और अज्ञानी की एक जैसी प्रारम्भ में कही गया है क्योंकि श्रुति में एक जैसी बात देखने में आती है। अज्ञानी भावीदेह के बीजरूप भूतसूक्ष्म का आश्रय लेकर कर्म से प्रेरित हो देहग्रहण का अनुभव करने के लिए संसार में पड़ जाता है, किन्तु विद्वान् ज्ञान से प्रकाशित मोक्ष के साधन नाड़ी द्वार का आश्रय लेता है, यही बात 'आसृत्युपक्रमात्' इस वाक्य से बतलायी गयी है। शङ्का—विद्वान् को अमरत्व प्राप्त करना है, वह देशान्तराधीन नहीं है, फिर भला भूतों का आश्रय अथवा मार्ग का आश्रय क्यों करेगा। समाधान—अविद्यादि क्लेशों को बिना दग्ध किये अपर विद्या के सामर्थ्य से आपेक्षिक अमरत्व प्राप्त करता है, इसलिए वहाँ पर भी मार्ग का उपक्रम

१. विशेषतो विधीयन्ते इति पाठांतरम्। २. उत्क्रान्तेर्विद्वद्विषयत्वाभावे हेत्वंतरमाह प्रतिषिद्धा। ३. अनुभवन् इति पाठांतरम्। ४. देहबीजेत्याद्याश्रित्येत्यन्तमत्राप्यनुवर्तते। ५. सापेक्षिकमोक्षप्रापकं नाडीद्वारमित्यर्थः।

५. संसारव्यपदेशाधिकरणम् (सू० ८-११)

(५०४) तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥८॥

स्वरूपेणाथ वृत्त्या वा भूतानां विलयः परे। स्वरूपेण लयो युक्तः स्वोपादाने परात्मनि।
आत्मज्ञस्य तथात्वेऽपि वृत्त्यैवान्यस्य तल्लयः। न चेत्कस्यापि जीवस्य न स्याज्जन्मान्तरं क्वचित् ॥

च । नहि निराश्रयणां प्राणानां गतिरुपपद्यते । तस्माददोषः ॥७॥

'तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा० ६-८-६) इत्यत्र प्रकरण[1]सामर्थ्यात्तद्यथा प्रकृतं तेजः साध्यक्षं सप्राण सकरणग्रामं भूतान्तरसहितं [2]प्रयतः पुंसः परस्यां देवतायां संपद्यत इत्येतदुक्तं भवति । कीदृशी पुनरियं संपत्तिः स्यादिति चिन्त्यते । तत्रात्यन्तिक एव तावत्स्वरूपप्रविलय इति प्राप्तम् । तत्प्रकृतित्वोपपत्तेः । सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य प्रकृतिः परा देवतेति प्रतिष्ठापितम् । तस्मादात्यन्तिकीयमविभागापत्तिरिति ।

तदाऽपीतेः। पूर्वोदाहृतोत्क्रान्तिवाक्यशेषं व्याख्याय लिङ्गाश्रयपञ्चभूतानां किमात्यन्तिको ब्रह्मणि लय उतानात्यन्तिक इति लयस्योभयथादर्शनात्संशयमाह—कीदृशी पुनरियमिति। पूर्वत्रापेक्षिकममृतत्व-

---

एवं भूताश्रयत्व सम्भव है क्योंकि निराश्रित प्राणों में गति नहीं होती। अतः पूर्वपक्ष द्वारा उत्थापित दोष यहाँ पर नहीं आता है ॥७॥

५. संसारव्यपदेशाधिकरण

१. सङ्गति—सभी की उत्क्रान्ति समान मानने पर मरणमात्र से ही ब्रह्म की आत्यन्तिकप्राप्ति क्यों न मानी जाय, इस प्रकार आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—'**तेजः परस्यां देवतायाम्**' यह श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—परमात्मा में तेज आदि भूतों का विलय स्वरूपतः होता है अथवा वृत्तितः ?

४. पूर्वपक्ष—परमात्मा सबका उपादान कारण है, अतः तेज आदि भूतों का परमात्मा में स्वरूपतः विलय मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—आत्मतत्त्वज्ञानी का उक्त प्रकार से स्वरूपतः भूतलय मान लेने पर भी कर्मी एवं उपासक का, जन्मान्तर की सिद्धि के लिए, वृत्तिलय मानना ही उचित होगा।

तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् (ललिता)

'तेज परदेवता में लीन होता है' इस वाक्य में प्रकरणसामर्थ्य से जैसे प्रकृत तेज अध्यक्ष के सहित प्राण, इन्द्रिय समुदाय एवं भूतान्तर के सहित प्रस्थान करने वाले पुरुष का परदेवता में सम्पन्न होना कहा गया है। यह सम्पन्नता किस प्रकार की है, ऐसा विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि परमात्मा में जीव का आत्यन्तिक विलय अर्थात् स्वरूप विलय होता है क्योंकि परमात्मा तेज की प्रकृति है। उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुओं की प्रकृति परमात्मा है, ऐसा प्रतिष्ठापित किया जा चुका है। इसलिए तेज पद से उपलक्षित जीव का परमात्मा में आत्यन्तिक विलयरूप अविभागापत्ति ही होती है।

---

१. सामर्थ्यादित्यन्तस्यैतदुक्तं भवतीत्यनेनान्वयः, किमेतदित्याकांक्षायामाह तद्यथेत्यादिः प्रयतः पुंसः तेजः परस्यामित्यन्वयः कीदृशं तेज इत्यपेक्षायामाह साध्यक्षमित्यादिः।

(५०५) सूक्ष्मं [1]प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥९॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तत्तेजआदि भूतसूक्ष्मं श्रोत्रादिकरणाश्रयभूतमाऽऽसीतेरा संसारमोक्षात्सम्यग्ज्ञाननिमित्तादवतिष्ठते । 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्'(क० ५·६)इत्यादिसंसारव्यपदेशात् । अन्यथा हि सर्वः प्रायणसमय एवोपाधिप्रत्यस्तमयादत्यन्तं ब्रह्म संपद्येत । तत्र विधिशास्त्रमनर्थकं स्याद्विद्याशास्त्रं च । मिथ्याज्ञाननिमित्तश्च बन्धो न सम्यग्ज्ञानादृते विस्रंसितुमर्हति । तस्मात्प्रकृतित्वेऽपि सुषुप्तप्रलयवद्बीजभावावशेषैवैषा सत्संपत्तिरिति ॥८॥

तच्चेतरभूतसहितं तेजो जीवस्यास्माच्छरीरात्प्रवसत आश्रयभूतं स्वरूपतः प्रमाणतश्च सूक्ष्मं भवितुमर्हति । तथाहि—नाडीनिष्क्रमणश्रवणादिभ्योऽस्य सौक्ष्म्यमुपलभ्यते । तत्र तनुत्वात्संचारोपपत्तिः । स्वच्छत्वाच्चाप्रतीघातोपपत्तिः । अत एव च देहान्निर्गच्छन्पार्श्वस्थैर्नोपलभ्यते ॥९॥

मित्युक्तं तदयुक्तमित्याक्षेपात्संगतिः । पूर्वपक्षे भूतमात्रस्य मुक्तिसिद्धिः, सिद्धान्ते तु कर्मविद्याशास्त्रबलात्सावशेषलयसिद्धिरिति विवेकः ॥८॥

ननु लिङ्गात्मकस्य तेजसः कथं सूक्ष्मतमनाडीद्वारा गतिः कुतो वा केनचिन्मूर्तेन प्रतिघातो नास्ति कुतो वा न दृश्यत इत्यत आह—सूक्ष्ममिति ॥९॥

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि श्रोत्रादि इन्द्रियों के आश्रयरूप तेज आदि सूक्ष्मभूत सम्यग्ज्ञाननिमित्तक संसारमोक्ष से पूर्व तक बना रहता है । ऐसा ही 'कुछ जीव भावीशरीर ग्रहण के लिए योनि में जाते हैं और कुछ स्थाणु में प्रविष्ट हो जाते हैं, जिनका जैसा कर्म और संस्कार है' इत्यादि वाक्य द्वारा अज्ञानियों का संसारव्यपदेश बतलाया गया है । ऐसा न मानने पर मरण के समय ही सभी उपाधियों के मिट जाने से ब्रह्म में अत्यन्त सम्पन्न हो जायें तो विधिशास्त्र और विद्याशास्त्र अनर्थक हो जायेगा । बन्धन मिथ्याज्ञान के कारण से है, वह बन्ध सम्यग्ज्ञान के बिना नष्ट नहीं हो सकता । अतः परमात्मा तेज का उपादान होने पर भी सुषुप्ति और प्रलय में जैसे बीजभाव शेष रह जाता है, ऐसे ही मरण के बाद अज्ञानी को ब्रह्मसम्पन्नता बीजभाव अवशेष ही होती है, आत्यन्तिक नहीं होती ॥८॥

लिङ्गात्मक तेज का सूक्ष्मतम नाड़ी से निःसरण कैसे होता है, किसी मूर्त पदार्थ के साथ प्रतिघात क्यों नहीं होता और निकलकर जाते समय दिखाई क्यों नहीं पड़ता ? इन प्रश्नों का उत्तर अग्रिम सूत्र से दिया जाता है—

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः (ललिता)

इतर भूत के सहित तेज इस शरीर से प्रवास करने वाले जीवात्मा का आश्रयरूप है जो स्वरूपतः और परिणामतः भी सूक्ष्म है, इसीलिए नाड़ी से निष्क्रमणश्रवणादि के कारण इस तेज में सूक्ष्मता प्रतीत होती है । सूक्ष्म होने के कारण उसका संचरण भी बनता है और स्वच्छ होने के कारण मूर्त पदार्थ के साथ उसका प्रतिघात नहीं होता । इसीलिए देह से निकलकर जाने वाला जीव निकटवर्ती लोगों को दिखाई नहीं पड़ता है ॥९॥

१. परिमाणतश्चेति पाठः साधुः ।

६. प्रतिषेधाधिकरणम् (सू० १२–१४)

(५०६) नोपमर्देनातः ॥१०॥

(५०७) अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥११॥

किं जीवादथवा देहात्प्राणोत्क्रान्तिर्निवार्यते । जीवाच्चिवारणं युक्तं जीवेद्देहोऽन्यथा सदा ॥
तप्ताश्मजलवद्देहे प्राणानां विलयः स्मृतः । उच्छ्वयत्येव देहान्ते देहात्मा विनिवार्यते ॥

अत एव सूक्ष्मत्वान्नास्य स्थूलस्य शरीरस्योपमर्देन दाहादिनिमित्तेनेतरत्सूक्ष्मं शरीरमुपमृद्यते ॥१०॥

अस्यैव च सूक्ष्मस्य शरीरस्यैष ऊष्मा यमेतस्मिञ्शरीरे संस्पर्शेनोष्माणं विजानन्ति । तथाहि मृतावस्थायामवस्थितेऽपि देहे विद्यमानेष्वपि च रूपादिषु देहगुणेषु नोष्मोपलभ्यते जीवदवस्थायामेव तूपलभ्यत इत्यत उपपद्यते प्रसिद्धशरीरव्यतिरिक्तव्यपाश्रय एवैष ऊष्मेति । तथाच श्रुतिः—'उष्ण एव जीविष्यञ्शीतो मरिष्यन्' इति ॥११॥

'प्रमाणसौक्ष्म्यादुर्गतिरनुद्भूतस्पर्शरूपवत्त्वादस्वच्छत्वादप्रतिघातानुपलब्धी इत्यर्थः ॥१०॥
लिङ्गसद्भावे चोष्ण्यलिङ्गकानुमानमाह—अस्यैव चेति ॥११॥

नोपमर्देनातः (ललिता)

सूक्ष्म होने के कारण ही दाह आदि कारणों से इस स्थूल शरीर का उपमर्दन हो जाने से भी सूक्ष्म शरीर का उपमर्दन नहीं होता अर्थात् अग्निदाह, शस्त्र से छेदनादि स्थूल शरीर का ही होता है; तन्निष्ठ सूक्ष्म शरीर एवं जीवात्मा का न दाह होता है, न छेदन होता है ॥१०॥

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा (ललिता)

इस जीवित शरीर में संस्पर्श से जिस ऊष्णतादि को लोग जानते हैं वह इसी सूक्ष्म शरीर की है। इसीलिए मृत अवस्था में देह के रहने पर और देह के गुण रूपादि के विद्यमान रहने पर भी ऊष्णता उपलब्ध नहीं होती है, वह ऊष्णता तो जीवित दशा में ही उपलब्ध होती है। इसलिए प्रसिद्ध शरीर से भिन्न सूक्ष्म शरीर के आश्रित ही ऊष्मा सिद्ध होती है। 'शरीर ऊष्ण है तो यह जीवित माना जाता है, शीतल हो गया हो तो मृत कहा जाता है' ऐसी ही श्रुति भी है ॥११॥

६. प्रतिषेधाधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में मुख्य अमृतत्व की प्राप्ति के लिए उत्क्रान्ति का अभाव जो कहा गया था, वह ठीक नहीं है; इस प्रकार की आक्षेप सङ्गति से यह अधिकरण प्रारम्भ हुआ है।

२. विषय—निर्गुण ब्रह्मज्ञानियों के प्राण उत्क्रमण का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—जीवात्मा से प्राण उत्क्रान्ति का निषेध किया गया है अथवा देह से?

४. पूर्वपक्ष—जीवात्मा से ही प्राण उत्क्रान्ति का निषेध मानना उचित होगा, अन्यथा देह सदा जीवित रहने लग जायेगा।

५. सिद्धान्त—तप्त लोहपिण्ड पर छोड़े हुए जल की भाँति ज्ञानियों के प्राणों का विलय देह में ही हो जाता है। तत्त्वज्ञानी के प्राण देह से निकलते नहीं; किन्तु देह के भीतर ही अपने-अपने कारणों में विलीन हो जाते हैं, अतः जीवित रहना असम्भव हो जाता है, इसलिए देहो मृतः ऐसा व्यवहार होता है।

१. परिमाणेति पाठान्तरम्।

(५०८) प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥१२॥

'अमृतत्वं चानुपोष्य' इत्यतो विशेषणादात्यन्तिकेऽमृतत्वे गत्युत्क्रान्त्योरभावोऽभ्युपगतः। तत्रापि केनचित्कारणेनोत्क्रान्तिमाशङ्क्य प्रतिषेधति–'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४-४-६) इत्यतः परविद्याविषयात्प्रतिषेधान्न परब्रह्मविदो देहात्प्राणानामुत्क्रान्तिरस्तीति चेत्। नेत्युच्यते। यतः शारीरादात्मन एष उत्क्रान्तिप्रतिषेधः प्राणानां, न शरीरात्। कथमवगम्यते 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति' इति [1]शाखान्तरे पञ्चमीप्रयोगात्। सम्बन्धसामान्यविषया हि [2]षष्ठी शाखान्तरगतया पञ्चम्या [3]सम्बन्धविशेषे व्यवस्थाप्यते। तस्मादिति च [4]प्राधान्यादभ्युदयनिःश्रेयसाधिकृतो देही सम्बध्यते न देहः। न तस्मादुच्चिक्रमिषोर्जीवात्प्राणा अपक्रामन्ति सहैव तेन भवन्तीत्यर्थः ॥१२॥

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्। पूर्वमनुपोष्येतिपदेन दग्धाशेषक्लेशस्य निर्गुणज्ञानिन उत्क्रान्त्याद्यभावः सूचितस्तस्यात्राक्षिप्य समाधानादव्यवहितेनास्य संगतिरित्याह–अमृतत्वं चेति। सकामस्य संसारोक्त्यनन्तरं निष्कामस्य मुक्तिकरणार्थोऽथशब्दः आत्मकामत्वात् पूर्णानन्दात्मविस्वादादाप्तकामः प्राप्तपरमानन्दः, अतो निष्कामः अनभिव्यक्तान्तरवासनात्मककामशून्यः, तस्मादकामः व्यक्तबहिष्कामरहित. ईदृशो योऽकामयमानस्तस्येत्यन्वयः। ज्ञानिन उत्क्रान्तिरस्ति न वेति पञ्चमीषष्ठीश्रुतिभ्यां सदेहे सिद्धान्तिशङ्कानिरासपूर्वकं पूर्वपक्षयति–नेत्यादिना काण्वश्रुतौ तावत्तस्येति सर्वनाम्ना प्रकृतं ज्ञानिनं परामृश्य सम्बन्धसामान्यमुक्तं तत्र माध्यंदिनशाखायां तस्मादित्यपादानत्वरूप[5]विशेष उक्तो ग्राह्यस्तथा च जीवात्प्राणोत्क्रान्तिप्रतिषेधो भाति न देहात्तच्छब्देन देहस्यानुक्तेस्तस्माज्ज्ञानिनोऽप्युत्क्रान्तिरस्तीति ज्ञानवैयर्थ्यमिति पूर्वपक्षफलम् ॥१२॥

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् (ललिता)

'अमृतत्वं चानुपोष्य' इस विशेषण से यह सिद्ध हो चुका है कि आत्यन्तिक अमरत्व के लिए गति एवं उत्क्रान्ति का अभाव होता है, इस पर भी किसी कारण से ज्ञानी की उत्क्रान्ति की आशङ्का का उत्थापनकर श्रुति उसका निषेध करती है। सकाम पुरुष का संसार बतलाने के बाद निष्काम पुरुष के मुक्ति प्रकरण को बतलाने के लिए प्रकृत श्रुति में 'अथ' शब्द आया है अर्थात् 'जो कामनारहित अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम है उसके प्राण निकलते नहीं है; वह ब्रह्म होता हुआ ही ब्रह्म में लीन हो जाता है' ऐसी श्रुति है। अतः प्रतिषेध परविद्याविषयक होने के कारण परब्रह्म को जानने वाले पुरुष के देह से प्राणों की उत्क्रान्ति नहीं होती है, ऐसा यदि कोई समाधान देता हो तो इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि जीवात्मा से प्राणों की उत्क्रान्ति का प्रतिषेध बतलाया गया है, शरीर से उत्क्रान्ति का प्रतिषेध नहीं है क्योंकि 'उससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं' ऐसा शाखान्तर में पञ्चमी का प्रयोग होने से जान पड़ता है। षष्ठी विभक्ति सम्बन्धसामान्य को विषय करती है जिसकी व्यवस्था शाखान्तरपठित पञ्चमी विभक्ति के द्वारा सम्बन्धविशेष में की जाती है। 'तस्मात्' यह पञ्चम्यन्त पाठ प्रधान होने के कारण अभ्युदय एवं निःश्रेयस के अधिकारी देही जीव का सम्बन्ध होता है, देह का नहीं। इसीलिए उस उत्क्रमण की इच्छावाले जीवात्मा से प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं किन्तु उसके साथ ही रहते हैं, ऐसा श्रुति बतलाती है ॥१२॥

१. माध्यन्दिनशाखायाम्। २. काण्वशाखायां पठिता। ३. अपादानत्वाख्य। ४. सर्वनाम्नामुत्सर्गतः प्रधानपरामर्शित्वात्। ५. सम्बन्धः।

(५०९) स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥१३॥

सप्राणस्य च प्रवसतो भवत्युत्क्रान्तिर्देहादित्येवं प्राप्ते प्रत्युच्यते—

न तदस्ति यदुक्तं परब्रह्मविदोऽपि देहादस्त्युत्क्रान्तिरुत्क्रान्तिप्रतिषेधस्य देह्यपादानत्वादिति। यतो देहापादान एवोत्क्रान्तिप्रतिषेध एकेषां समाम्नातॄणां स्पष्ट उपलभ्यते। तथाहि—आर्तभागप्रश्ने 'यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति' (बृ० ३-२-११) इत्यत्र 'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः' (बृ० ३-२-११) इत्यनुत्क्रान्तिपक्षं परिगृह्य न तर्ह्ययमनुत्क्रान्तेषु प्राणेषु म्रियते इत्यस्यामाशङ्कायामत्रैव समवलीयन्त इति प्रविलयं प्राणानां प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये 'स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते' (बृ० ३-२-११) इति सशब्दपरामृष्टस्य प्रकृतस्योत्क्रान्त्यवधेरुच्छ्वयनादीनि समामनन्ति। देहस्य चैतानि स्युर्न देहिनः। तत्सामान्यात् 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते' इत्यत्राप्यभेदोपचारेण देहापादानस्यैवोत्क्रमणस्य प्रतिषेधः। यद्यपि प्राधान्यं देहिन इति व्याख्येयं येषां पञ्चमीपाठः। येषां तु षष्ठीपाठस्तेषां विद्वत्सम्बन्धिन्युत्क्रान्तिः प्रतिषिध्यत इति प्राप्तो—

सिद्धान्ते तत्सार्थवयमाह—स्पष्टो हीति। अत्र पुरुषशब्दवाच्यो देह एवास्मादित्युत्क्रान्त्यवधिरुच्यते। सशब्दपरामृष्टस्य प्रकृतस्य पुरुषस्योच्छ्वयनादिधर्मकस्य जीवत्वायोगादित्यर्थः। उच्छ्वयति बाह्यवायुपूरणाद्वर्धते, आध्मायति आर्द्रभेरीवच्छब्दं करोतीत्यर्थः। येषां पञ्चमीपाठस्तेषां यद्यपि देहिनः प्राधान्यं तथापि देहदेहिनोरभेदात्तस्मादिति देहं परामृश्य तदपादान एवोत्क्रान्तिप्रतिषेध इति व्याख्येयम्। तत्सामान्यादुक्तश्रुत्यास्य पाठस्यैकार्थत्वादिति योजना। इदानीं काण्वपाठस्यानुगुण्यमाह—येषां तु षष्ठीपाठ इति। संबन्धविशेषाकाङ्क्षायां भोक्ता प्राणानां भोगोपकरणत्वविशेषोऽत्रैव

प्राण के सहित प्रवास करने वाले जीवात्मा की उत्क्रान्ति देह से होती है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त प्राप्त होने पर अग्रिम सूत्र से प्रत्युत्तर देते हैं—

स्पष्टो ह्येकेषाम् (ललिता)

पूर्वपक्षी ने परब्रह्मज्ञानी की भी देह से उत्क्रान्ति कही थी, वह ठीक नहीं है क्योंकि प्रतिषेध देही अपादानक है। जीवात्मा से उत्क्रान्ति का प्रतिषेध किया था, यह ठीक नहीं है क्योंकि एक शाखावालों में उत्क्रान्तिप्रतिषेध देह अपादानक स्पष्ट प्रतीत होता है, इसीलिए आर्तभाग का 'जिस समय यह पुरुष मरता है उस समय इस देह से प्राण निकलते हैं या नहीं?' ऐसा प्रश्न होने पर 'याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं निकलते हैं' इस वाक्य द्वारा उत्क्रान्ति पक्ष को लेकर जब यह प्रश्न खड़ा होता है कि देह से प्राण का उत्क्रमण न होने पर यह मरा नहीं है किन्तु जीवित ही है, ऐसी आशङ्का होने लग जायेगी इसीलिए 'अत्रैव समवलीयन्ते' इस वाक्य द्वारा प्राणों के प्रविलय की प्रतिज्ञाकर उस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए 'वह मुमूर्षु उच्छ्वास लेता है, घरघराता है और फिर मरकर सो जाता है' इस वाक्य द्वारा शब्दसहित परामृष्ट प्रकृत उत्क्रान्तिसीमा को उच्छ्वयन आदि कहते हैं; ये देह से ही होंगे, देही से नहीं। तदनुसार 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते' इस वाक्य में भी अभेददृष्टि से देह-अपादानक उत्क्रान्ति का प्रतिषेध किया गया है। यद्यपि जिस शाखा में पञ्चमी पाठ है, वहाँ देही प्राधान्य को लेकर पूर्वपक्षी ने व्याख्या की है, वह व्याख्यान वैसा ही रहे। किन्तु जिस शाखा में षष्ठी पाठ है तदनुसार तो विद्वत्सम्बन्धी उत्क्रान्ति का ही प्रतिषेध है। यह वाक्य प्राप्त

१. पुरुषकारो देहः। २. प्रतिज्ञासिद्धये। ३. देहस्येति शेषः।

(५१०) स्मर्यते च ॥१४॥

त्क्रान्तिप्रतिषेधार्थत्वादस्य वाक्यस्य देहापादानैव सा प्रतिषिद्धा भवति, देहादुत्क्रान्तिः प्राप्ता न देहिनः। अपिच 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४-४-२) इत्येवमविद्वद्विषयं सप्रपञ्चमुत्क्रमणं संसारगमनं च दर्शयित्वा 'इति नु कामयमानः' (बृ० ४-४-६) इत्युपसंहृत्याविद्वत्कथाम् 'अथाकामयमानः' (बृ० ४-४-६) इति व्यपदिश्य विद्वांसं यदि तद्विषयेऽप्युत्क्रान्तिमेव प्रापयेदसमञ्जस एव [2]व्यपदेशः स्यात्। तस्मादविद्वद्विषये प्राप्तयोर्गत्युत्क्रान्त्योर्विद्वद्विषये प्रतिषेध इत्येवमेव व्याख्येयं व्यपदेशार्थवत्त्वाय। नच ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य प्रक्षीणकामकर्मण उत्क्रान्तिर्गतिर्वोपपद्यते, निमित्ताभावात्। 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इति चैवंजातीयकाः श्रुतयो गत्युत्क्रान्त्योरभावं सूचयन्ति ॥१३॥

स्मर्यतेऽपि च महाभारते गत्युत्क्रान्त्योरभावः—'सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि

---

[1]प्राणमयो मनोमयः इति पूर्वश्रुत्युक्तो ग्राह्यः। न शाखान्तरस्थमपादानस्य ग्राह्यं जीवादुत्क्रान्तेरप्राप्तायाः प्रतिषेधायोगात्। अतो विद्वत्संबन्धिप्राणानामुत्क्रान्त्यपादानापेक्षायां चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वेत्युक्तदेहप्रदेशा एव ग्राह्याः। तथाचायमर्थः—तस्य विदुषो भोगोपकरणात्मकाः प्राणाः देहप्रदेशेभ्यो नोत्क्रामन्तीति। एवं च प्राप्तोत्क्रान्तिनिषेधार्थत्वं वाक्यस्येति सर्वं चतुरस्रम्। अपिचेति स्पष्टार्थम्। सम्यगात्मभावेन भूतानि पश्यतः अपदस्य प्राप्यपदरहितस्य पदैषिणो देवा अपि मार्गे मुह्यन्ति मार्गं न

उत्क्रान्तिप्रतिषेध के लिए आया है, अतः देह अपादानक ही उत्क्रान्ति प्रतिषिद्ध है क्योंकि देह से उत्क्रान्ति प्राप्त थी, न कि देही से। श्रुति प्राप्त का ही प्रतिषेध करती है, अप्राप्त का प्रतिषेध असङ्गत है। इसके अतिरिक्त 'आँख से, मूर्धा से अथवा शरीर के किसी अन्य भाग से उस जीवात्मा के उत्क्रमण करने पर उसके पीछे प्राण उत्क्रमण करता है और प्राण के उत्क्रमण करने के बाद सभी इन्द्रियाँ उत्क्रमण कर जाती हैं' इस वाक्य द्वारा अज्ञानी के सम्बन्ध में विस्तार के साथ उत्क्रमण और संसारगमन दिखलाने के बाद 'यह सब कुछ कामनावालों के लिए कहा गया है' इस वाक्य द्वारा अज्ञानियों के प्रसङ्ग को समाप्तकर 'अब अकाम पुरुषों के सम्बन्ध में कहते हैं' इस वाक्य द्वारा, ज्ञानी का व्यपदेश करके यदि उसके विषय में ही उत्क्रान्ति बतलायी जायेगी तो यह व्यपदेश संदिग्ध हो जायेगा। अतः अज्ञानी के विषय में ही गति और उत्क्रान्ति प्राप्त होती है, ज्ञानी के विषय में तो उस प्राप्त गति और उत्क्रान्ति का प्रतिषेध ही है; ऐसी व्याख्या उक्त व्यपदेश की सार्थकता के लिए करनी चाहिए। साथ ही ज्ञानी सर्वव्यापक ब्रह्मस्वरूप हो गया, उसके सभी काम और कर्म सर्वथा नष्ट हो गये हैं; ऐसी स्थिति में निमित्त के न रह जाने पर उसकी उत्क्रान्ति और गति बनती भी नहीं है। इसीलिए तो 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इस प्रकार की श्रुतियाँ ज्ञानी की गति एवं उत्क्रान्ति का अभाव ही बतलाती हैं ॥१३॥

स्मर्यते च (ललिता)

महाभारत में भी ज्ञानी की गति एवं उत्क्रान्ति का अभाव बतलाया गया है—'सम्पूर्ण भूतों

---

१. भेदव्यः। २. भूतपूर्वगत्याऽयं व्यपदेशः।

७. वागादिलयाधिकरणम् (सू०—१५)

अस्य वागादयः स्वस्वहेतौ लीनाः परेऽथवा । गताः कला इति श्रुत्या स्वस्वहेतुषु तल्लयः ।
नद्यब्धिलयसाम्योक्तेर्विद्वद्दृष्ट्या लयः परे । अन्यदृष्टिपरं शास्त्रं गता इत्याद्युदाहृतम् ॥

पश्यतः । देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः' इति । ननु गतिरपि ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य स्मर्यते 'शुकः किल वैयासकिर्मुमुक्षुरादित्यमण्डलमभिप्रतस्थे पित्रा चानुगम्याहूतो भो इति प्रतिशुश्राव' इति । न सशरीरस्यैवाय योगबलेन विशिष्टदेशप्राप्तिपूर्वकः शरीरोत्सर्ग इति द्रष्टव्यम् । सर्वभूतदृश्यत्वाद्युपन्यासात् । न ह्यशरीरं गच्छन्तं सर्वभूतानि द्रष्टुं शक्नुयुः । तथा च तत्रैवोपसंहृतम्—'शुकस्तु मारुताच्छीघ्रां गतिं कृत्वाऽन्तरिक्षगः । दर्शयित्वा प्रभावं स्वं सर्वभूतगतोऽभवत्' इति । तस्मादभावः परब्रह्मविदो गत्युत्क्रान्त्योः । गतिश्रुतीनां तु विषयमुपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥१४॥

जानन्ति तदभावादिति स्मृतियोजना । स्मृत्यन्तरविरोधं शङ्कते—ननु गतिरपीति । सगुणविद्याबलेनैषा गतिरिति परिहरति—सशरीरस्येति । ननु तर्हि **'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति', '[1]स एवैतान्ब्रह्म गमयति' इत्यादिश्रुतीनां का गतिः, तत्राह—गतीति ॥१३॥१४॥**

की आत्मा ब्रह्मस्वरूप जो हो गया और जो सभी भूतों को सम्यक् प्रकार से देखता है उस प्राप्य पदरहित पुरुष के मार्ग में पदैषि देवता भी मोहित हो जाते हैं अर्थात् उसके मार्ग को नहीं जान पाते ।' **शङ्का**—सर्वव्यापक ब्रह्मभाव को प्राप्त ब्रह्मज्ञानी की 'व्यासपुत्र शुकदेव मुमुक्षु थे, वे आदित्यमण्डल में चले गये, पीछे चलते हुए पिता ने जब पुकारा तब उन्होंने 'भो' ऐसा कहकर प्रत्युत्तर दिया' इस वाक्य के द्वारा गति का स्मरण होता है । **समाधान**—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि योगबल से शरीरसहित शुकदेव का विशिष्टदेशप्राप्तिपूर्वक यह शरीर उत्सर्ग बतलाया गया है, ऐसा समझना चाहिए । वहाँ पर सर्वभूतदृश्यत्वादि का उपन्यास भी मिलता है, शरीर के बिना जाने वाले को सभी भूत देख नहीं सकते हैं । वैसा ही वहाँ पर उपसंहार भी मिलता है—'मारुतगति से भी सिद्ध गति द्वारा शुकदेव अन्तरिक्ष में गये, अपना प्रभाव दिखलाकर वे सर्वभूत हो गये ।' अतः ब्रह्मज्ञानी की गति और उत्क्रान्ति का अभाव सिद्ध होता है । गति बतलाने वाली श्रुतियों के विषय पर हम आगे व्याख्यान करेंगे ॥१४॥

७. वागादिलयाधिकरण

१. **सङ्गति**—ब्रह्म में प्राणों का लय कहना असङ्गत है क्योंकि प्राणशब्दवाच्य इन्द्रियों का एवं भूतों का ब्रह्मज्ञानियों के प्रसङ्ग में पृथिव्यादि में लय सुना जाता है; ऐसा आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. **विषय**—ब्रह्मज्ञानियों के प्राणविलय का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—क्या ब्रह्मज्ञानियों के प्राण पृथिव्यादि में लीन होते हैं या परमात्मा में ?

---

१. तृतीये पादे । २. अमानवः पुरुषः ।

(५११) तानि परे तथा ह्याह ॥१५॥

तानि पुनः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाणि भूतानि च परब्रह्मविदस्तस्मिन्नेव परस्मिन्नात्मनि प्रलीयन्ते। कस्मात्? तथा ह्याह श्रुतिः—'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' (प्रश्न० ६-५) इति। ननु 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' (मु० ३-२-७) इति विद्वद्विषयैवापरा श्रुतिः परस्मादात्मनोऽन्यत्रापि कलानां प्रलयमाह स्म। न। सा खलु व्यवहारापेक्षा, पार्थिवाद्याः कलाः पृथिव्यादीरेव स्वप्रकृतीरपियन्तीति। इतरा तु विद्वत्प्रतिपत्त्यपेक्षा, कृत्स्नं कलाजातं परब्रह्मविदो ब्रह्मैव संपद्यत इति। तस्माददोषः ॥१५॥

तानि परे तथा ह्याह। पूर्वत्र गतिनिषेधेन विद्वत्कलानां प्राणादीनामत्रैव लय उक्तः। तमुपजीव्य 'स किं तत्तत्कलाप्रकृतिषु पृथिव्यादिषु स्यादुत परमात्मनीति श्रुतिद्वयदर्शनात्संशयः कार्यः। तत्र साक्षात्प्रकृतौ विकारलय इति न्यायानुगृहीतया 'गताः कलाः' इति श्रुत्या पूर्वपक्षमप्रे वदन्नादौ सिद्धान्तमाह—तानीति। यथा नद्यः समुद्रं प्राप्य लीयन्ते एवमेवास्य परितः सर्वत्र ब्रह्मद्रष्टुरिमाः प्राणश्रद्धाद्याः पुरुषायणाः पुरुषे कल्पिताः पुरुषमेव ज्ञेयं प्राप्य लयं गच्छन्तीत्यर्थः। मनःप्राणयोरेकीकरणेन कलानां पञ्चदशत्वम्। प्रतिष्ठा इति द्वितीयाबहुवचनम् स्वस्य प्रकृतीः पृथिव्याद्या इत्यर्थः। वस्तुगत्या विद्वद्दृष्ट्या परमात्मनि कलालयेऽपि लोकदृष्ट्या प्रतिष्ठासु लयोक्तिरविरुद्धा। तथाच कलाः स्वप्रकृतिषु विलाप्य 'ताभिः सह पुरुषे लीयन्ते इति श्रुतिद्वयतात्पर्यम् ॥१५॥

---

४. पूर्वपक्ष—'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' इस श्रुति के आधार पर अपने-अपने कारणों में ही वागादि का लय मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—नदी का लय जैसे सागर में होता है, वैसे ही ज्ञानियों की दृष्टि से उनके प्राणों का विलय परमात्मा में होता है। व्यवहारदृष्टि से कलाओं का विलय अपने-अपने उपादान कारण में शास्त्र ने बतलाया है।

तानि परे तथा ह्याह (ललिता)

ब्रह्मज्ञानी के प्राणपदवाच्य वे इन्द्रियाँ और भूत परमात्मा में लीन हो जाते हैं क्योंकि 'जैसे नदियाँ समुद्र में लीन हो जाती हैं ऐसे ही ज्ञानी की सोलह कलायें जो पुरुष में कल्पित हैं वे ज्ञेय पुरुष को प्राप्तकर अस्त हो जाती हैं' यह श्रुति ऐसा ही कहती है। शङ्का—ज्ञानियों की पञ्चदश कलायें अपनी प्रकृति में प्रतिष्ठित होती हैं' यह दूसरी श्रुति ज्ञानी के विषय में परमात्मा से अन्यत्र भी कलाओं का प्रलय बतलाती है। इस श्रुति में मन और प्राण को एक मानकर पञ्चदश कला कही गयी है, वस्तुतः कलायें प्राणश्रद्धादि सोलह हैं। समाधान—यह श्रुति व्यवहार की अपेक्षाकर पार्थिवादि कलाओं का अपनी प्रकृति पृथिव्यादि में ही लीन होना कह रही है किन्तु दूसरी श्रुति ज्ञानी के ज्ञान की अपेक्षाकर ब्रह्मवित् पुरुष के सम्पूर्ण कलासमुदाय का ब्रह्म में ही लीन होना बतलाती है। अतः ब्रह्मज्ञानी की कलायें अपनी प्रकृति में लीन होने के पश्चात् प्रकृति के सहित पुरुष में लीन होती हैं, ऐसा दोनों श्रुतियों का तात्पर्य होने से कोई दोष नहीं है ॥१५॥

---

१. एवमेवास्येति श्रुतिः। २. लयः। ३. स्वप्रकृतिभिः।

८. अविभागाधिकरणम् (सू०–१६)

(५१२) अविभागो वचनात् ॥१६॥

तल्लयः शक्तिशेषेण निःशेषेणाथवात्मनि । शक्तिशेषेण युक्तोऽसावज्ञानिष्वेतदीक्षणात् ।
नामरूपविभेदोक्तेर्निःशेषेणैव तल्लयः । अज्ञे जन्मान्तरार्थं तु शक्तिशेषत्वमिष्यते ॥

स पुनर्विदुषः कलाप्रलयः किमितरेषामिव सावशेषो भवत्याहोस्विन्निरवशेष इति । तत्र प्रलयसामान्याच्छक्त्यवशेषताप्रसक्तौ ब्रवीति–अविभागापत्तिरेवेति । कुतः ?वचनात् । तथा हि कलाप्रलयमुक्त्वा वक्ति–'भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति' (प्र० ६-५) इति । अविद्यानिमित्तानां च कलानां न विद्यानिमित्ते प्रलये सावशेषत्वोपपत्तिः । तस्मादविभाग एवेति ॥१६॥

अविभागो वचनात् । उक्तलयमुपजीव्य लयस्य द्वेधादर्शनात्संशयमाह—स पुनरिति । मुक्त्यसिद्धिस्तत्सिद्धिश्चेत्युभयत्र फलम् । अवशेषो मूलकारणे शक्त्यात्मना स्थितिः । पुनर्जन्मयोग्यतेति यावत् । विमतः कलालयः सावशेषः, कलालयत्वात्सुषुप्तिवदिति पूर्वपक्षः । विमतो निरवशेषः, विद्याकृतत्वाद्रज्ज्वा विद्यया सर्पलयवदिति युक्त्युपेतश्रुत्या सिद्धान्तयति—ब्रवीतीति । नामरूपे शक्त्यात्मके अपि भिद्येते इत्यर्थः ॥१६॥

---

८. अविभागाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वोक्त विद्वत् कलाओं के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातों का विचार करने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ हुआ है, इस प्रकार पूर्वोत्तर अधिकरणों को एकविषयत्व सङ्गति है ।

२. विषय—ज्ञानियों की कलाओं के विलय का विचार इस अधिकरण का विषय है ।

३. संशय—क्या अज्ञानियों की भाँति ज्ञानियों को भी कलाओं का विलय सावशेष होता है या निरवशेष ?

४. पूर्वपक्ष—अज्ञानियों की भाँति ज्ञानियों की कलाओं का विलय भी सावशेष ही होता है ।

५. सिद्धान्त—'भिद्येते तासां नामरूपे' इस श्रुति के आधार पर संसार के कारण षोडश कलाओं का विलय ज्ञानियों का निरवशेष होता है, किन्तु अज्ञानियों का जन्मान्तरप्राप्ति के लिए सावशेष विलय माना गया है ।

अविभागो वचनात् (ललिता)

विद्वानों की कला का लय क्या अज्ञानियों की भाँति सावशेष होता है अथवा निरवशेष होता है, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष में प्रलयसादृश्य के कारण सावशेष ही कलालय माना गया है । इस पर सिद्धान्ती कहता है कि कलाओं का परमात्मा के साथ अविभाग ही होता है अर्थात् कलाओं का निरवशेष लय होता है क्योंकि कलालय बतलाने के बाद 'कलाओं के नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं, उस समय पुरुष नाम से ही व्यवहार होता है, वह पुरुष कलारहित एवं अमृत है' इस वाक्य के द्वारा अविद्यानिमित्तक कलाओं का विद्यानिमित्त प्रलयप्रसङ्ग आने पर सावशेष लय मानना युक्तियुक्त नहीं है । अतः कलाओं का लय निरवशेष होने के कारण उनका अपने अधिष्ठानरूप ब्रह्म के साथ विभाग नहीं रह जाता ॥१६॥

६. तदोकोऽधिकरणम् (सू०—१७)

(५१३) तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥१७॥

अविशेषो विशेषो वा स्यादुत्क्रान्तेरुपासितुः । हृत्प्रद्योतनसाम्योक्तेरविशेषोऽन्यनिर्गमात् ।
मूर्धन्ययैव नाड्यासौ व्रजेन्नाडीविचिन्तनात् । विद्यासामर्थ्यतश्चापि विशेषोऽस्त्यन्यदर्शनात् ॥

समाप्ता प्रासङ्गिकी परविद्यागता चिन्ता । संप्रति त्वपरविद्याविषयामेव चिन्तामनुवर्तयति । समाना चासृत्युपक्रमाद्विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिरित्युक्तं तमिदानीं सृत्युपक्रमं दर्शयति । 'तस्योपसंहृतवागादिकलापस्योच्चिक्रमिषतो विज्ञानात्मन ओक आयतनं

तदोकोग्रज्वलनम् । सृतेर्मार्गस्योपक्रमो नाडीप्रवेशनियमस्त वक्तुं सूत्रभागस्य।त्पाद्वाराऽधिकरणविषयमाह—तस्येति । स मुमूर्षुस्तेजोमात्रा इन्द्रियाणि । तस्य हृदयस्याग्रं नाडीमुखं तस्य ज्वलनं भाविफलस्फुरणं 'प्रद्योताख्यम् । चक्षुष्टो वेत्यनियमश्रुतेस्तयोर्ध्वमायन्निति विशेषश्रुतेश्च संशयः—किमुपासकोऽप्यनुपासकवत् येन केनचिद्द्वारेण निर्गच्छति उत मूर्धन्यनाड्यैवेति । अत्र पूर्वपक्षे विद्याकृतातिशयासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति विवेकः । वचनादविभागवदनियम इति प्राप्ते सिद्धान्त-

---

६. तदोकोऽधिकरण

१. सङ्गति—जैसे सगुण ब्रह्मोपासकों की उत्क्रान्ति देवयान मार्गारम्भपर्यन्त होती है, वैसे ही मार्गारम्भ में भी हृदय का प्रद्योतनादि समान ही सुना जाता है; इस प्रकार की दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—अज्ञानी और सगुणब्रह्मोपासक दोनों के प्राणों का उत्क्रमण भिन्न प्रकार से इस अधिकरण में बतलाया गया है ।

३. संशय—क्या सगुण ब्रह्मोपासक और अज्ञानी का मूर्धादि स्थान से प्राण उत्क्रमण एक जैसा होता है अथवा भिन्न प्रकार से होता है ?

४. पूर्वपक्ष—हृदयप्रद्योतन आदि सभी के एक जैसे होते हैं, अतः अज्ञानी और सगुण ब्रह्मोपासक के प्राण उत्क्रमण में कोई भेद नहीं है ।

५. सिद्धान्त—सगुण उपासक को नाड़ी का चिन्तन करने के लिए कहा गया है । अतः विद्यासामर्थ्य रहने के कारण वह सगुण ब्रह्मोपासक मूर्धा नाड़ी से ही निकलता है, अन्य प्राणी दूसरे-दूसरे मार्ग से निकलते हैं ।

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया (ललिता)

परविद्यासम्बन्धी प्रासङ्गिकी चिन्ता समाप्त हो गयी, अब अपरविद्याविषयक ही चिन्ता का अनुवर्तन करते हैं । ज्ञानी और अज्ञानी की उत्क्रान्ति मार्ग के उपक्रम से पूर्व तुल्य ही होती हैं, ऐसा कहा जा चुका है । अब उस मार्ग-उपक्रम को अग्रिम सूत्र से बतलाते हैं । 'जिस जीव के वागादि

---

१. अदृष्टाक्षिप्तप्रतिपत्तव्यज्ञानं प्रद्योतनम् ।

हृदयम् 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' इति श्रुतेः । तदग्रप्रज्वलन[1]पूर्विका चक्षुरादिस्थानापादाना चोत्क्रान्तिः श्रूयते—'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृ० ४-४-२) इति । सा किमनियमेनैव विद्वदविदुषोर्भवत्यथास्ति कश्चिद्विदुषो विशेषनियम इति विचिकित्सायां श्रुत्यविशेषादनियमप्राप्तावाचष्टे—समानेऽपि हि विद्वदविदुषोर्हृदयाग्रप्रद्योतने तत्प्रकाशितद्वारत्वे च मूर्धस्थानादेव विद्वान्निष्क्रामति स्थानान्तरेभ्यस्त्वितरे । कुतः ? विद्यासामर्थ्यात् । यदि विद्वानपीतरवद्यतः कुतश्चिद्देहदेशादुत्क्रामेन्नैवोत्कृष्टं लोकं लभेत । तत्रानर्थिकैव विद्यास्यात् । तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च । विद्याशेषभूता च मूर्धन्यनाडीसंबद्धा गतिरनुशीलयितव्या विद्याविशेषेषु विहिता तामभ्यस्यंस्तयैव प्रतिष्ठत इति युक्तम् । तस्माद्धृदयालयेन ब्रह्मणा समुपासितेनानुगृहीतस्तद्भावं समापन्नो विद्वान्मूर्धन्ययैव शताधिकया शतादतिरिक्तयैकशततम्या नाड्या

यति—आचष्ट इति । येन केनचिन्मार्गेण निर्गतस्याऽपि ब्रह्मलोकप्राप्तौ विद्याशेषत्वेन मार्गानुस्मृतिविधेः केवलादृष्टार्थत्वं स्यादतोऽन्वहं स्मृतेनैव मार्गेण गमनं युक्तमिति भावः । हार्दं ब्रह्म । विष्वङ् नानाविधा अन्या नाड्योऽन्येषामित्यर्थः । सुषुम्नाख्या नाडी हृदयात् निर्गता दक्षिणता[2]कुकण्ठान्त-

कलासमुदाय का उपसंहार हो चुका है और जो इस देह से उत्क्रमण करना चाहता है उस चेतन जीवात्मा का हृदय आयतन तेजोमात्रा को लेकर अपने गोलक में हृ आ जाता है' ऐसी श्रुति है। उसका अग्रभाग प्रज्वलित हो उठता है क्योंकि 'उस हृदय का अग्रभाग प्रज्वलित होता है, उसके प्रज्वलित होने से यह जीवात्मा चक्षु, मूर्धा या शरीर के अन्य किसी देश से निकल जाता है' इस श्रुति में अग्रज्वलनपूर्वक चक्षुरादि के द्वारा जीवात्मा की उत्क्रान्ति सुनी जाती है। वह उत्क्रान्ति, क्या ज्ञानी और अज्ञानी अर्थात् उपासक और अनुपासक इन दोनों की, नियम के बिना ही होती है अथवा उपासकों के लिए कुछ विशेष नियम है; ऐसा संशय होने पर श्रुति के अविशेष होने से अनियम की प्राप्ति होने पर सिद्धान्ती कहता है कि विद्वान् और अविद्वान् दोनों के हृदय के अग्रभाग का प्रद्योतन और उससे नाड़ी आदि द्वार का प्रकाश तुल्य होने पर भी उपासक जीव मूर्धास्थान से ही निकलता है, किन्तु दूसरे अनुपासक जीव अन्य स्थानों से निकलते हैं क्योंकि विद्यासामर्थ्य से ऐसा होना उचित है। यदि उपासक भी अनुपासक की भाँति जिस किसी देहदेश से उत्क्रमण करेगा तो वह उत्कृष्ट लोक को प्राप्त न कर सकेगा। ऐसी स्थिति में वहां पर विद्या अनर्थक ही हो जायेगी। साथ ही उपासकों को ब्रह्मलोकप्राप्ति के अङ्गभूत गति का अनुस्मरण भी कहा गया है। उपासना के अङ्गभूत मूर्धन्य नाड़ी से सम्बन्धित गति का अनुशीलन करना चाहिए, ऐसा विधान विद्याविशेष में किया गया है। उस गति का अभ्यास करने वाला उस मार्ग से ही गन्तव्य स्थान में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, ऐसा मानना युक्तिसङ्गत है। अतः हृदयस्थ परमात्मा की जब अच्छी प्रकार से उपासना की जाती है तब उस परमात्मा से अनुगृहीत उपासक परमात्मभाव को प्राप्तकर सौ से अतिरिक्त एकशततम मूर्धा नाड़ी से ही निष्क्रमण करता है, दूसरे अनुपासक अन्य नाड़ियों से निकलते हैं। ऐसा ही हार्दविद्या का प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'हृदय में एक सौ एक प्रधान नाड़ियां हैं, उनमें से एक

१. हृदयाग्रनाडीमुखज्वलनपूर्विका। २. दक्षिणाक्षीति पाठोपि क्वचित्।

१०. रश्म्यधिकरणम् (सू० १८-१९)

(५१४) रश्म्यनुसारी ॥१८॥

अहन्येव मृतो रश्मिं याति निश्यपि वा निशि। सूर्यरश्मेरभावेन मृतोऽहन्येव याति तम्।
यावद्देहं रश्मिनाड्योर्योगो ग्रीष्मक्षपास्वपि। देहदाहच्छ्रुतत्वाच्च रश्मीन्निश्यपि यात्यसौ।

निष्क्रामतीतराभिरितरे। तथाहि हार्दविद्यां प्रकृत्य समामनन्ति—'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' (छा० ८-६-६) इति ॥१७॥

अस्ति हार्दविद्या—'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा० ८-१-१) इत्युपक्रम्य विहिता। तत्प्रक्रियायाम् 'अथ या एता हृदयस्य नाड्यः' (छा० ८-६-१) इत्युपक्रम्य सप्रपञ्चं नाडीरश्मिसम्बन्धमुक्त्वोक्तम् 'अथ यत्रैतस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव

स्तननासिकामध्यभित्तिद्वारा ब्रह्मरन्ध्रं प्राप्ता सूर्यरश्मिरेकीकृता ब्रह्मलोकमार्ग उपासकस्येति स्थितम् ॥१७॥

रश्म्यनुसारी। प्रकरणशोधनपूर्वकमुपासकस्य रश्म्यनुसारित्वं विषयमाह—अस्तीत्यादिना।

नाड़ी सीधी मूर्धा की ओर गयी हुई है, उस नाड़ी से उत्क्रमण करने वाला उपासक आपेक्षिक अमरत्व को प्राप्त करता है। शेष नाड़ियाँ नाना गति को देने वाली केवल उत्क्रमण में कारण होती हैं।' यह श्रुति कहती है ॥१७॥

१०. रश्म्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण में कहे गये नाड़ीसम्बद्ध रश्मियों को उपजीव्य बनाकर कुछ अन्य विचार करने के लिए उपजीव्योपजीवकभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—इस अधिकरण में मरण के पश्चात् उपासक की होने वाली गति का विचार किया गया है।

३. संशय—क्या दिन में ही मरा हुआ सूर्यरश्मियों को प्राप्त करता है या रात्रि में मरा हुआ भी ?

४. पूर्वपक्ष—रात्रि के समय सूर्यरश्मि का अभाव होने के कारण दिन में मरा हुआ जीव ही सूर्यरश्मियों को प्राप्त करता है, रात्रि में मरा हुआ नहीं।

५. सिद्धान्त—रश्मि और नाड़ी का सम्बन्ध जीवनपर्यन्त बना रहता है। ग्रीष्म काल की रात्रि में भी देहपात का अनुभव होता है। श्रुति भी अहोरात्र जीवात्मा का रश्मि से सम्बन्ध बतलाती है, अतः रात्रि में मरा हुआ उपासक भी सूर्यरश्मियों को प्राप्त कर ही लेता है।

रश्म्यनुसारी (ललिता)

'इस शरीर के भीतर छोटा सा आकाश है' इस वाक्य द्वारा हार्दविद्या बतलायी है। इस ब्रह्मपुर मानवदेह में छोटा सा हृदयकमल है जिसमें छोटा सा आकाश है' इस वाक्य से प्रसङ्ग प्रारम्भकर हार्दविद्या का विधान किया गया है। उस प्रकरण में 'जो ये हृदय में नाड़ियाँ हैं यही

(५१५) निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥१९॥

रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (छा० ८-६-५) इति । पुनश्चोक्तम् 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८-६-६) इति । तस्माच्छताधिकया नाड्या निष्क्रामन्रश्म्यनुसारी निष्क्रामतीति गम्यते । तत्किमविशेषेणैवाहनि रात्रौ वा म्रियमाणस्य रश्म्यनुसारित्वमाहोस्विदहन्येवेति संशये सत्यविशेषश्रवणादविशेषेणैव तावद्रश्म्यनुसारीति प्रतिज्ञायते ॥१८॥

अस्त्यहनि नाडीरश्मिसम्बन्ध इत्यहनि मृतस्य स्याद्रश्म्यनुसारित्वं रात्रौ तु प्रेतस्य न स्यात् । नाडीरश्मिसम्बन्धविच्छेदादिति चेन्न । नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात् । यावद्देहभावी हि शिराकिरणसम्पर्कः । दर्शयति चैतमर्थं श्रुतिः—अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये

अथ प्रारब्धान्ते एतदुत्क्रमणं यदा स्यादथ तदा एतैरेव नाडीसबद्धै रश्मिभिरुत्क्रामतीत्यर्थः । अत्र संबन्धस्य कालविशेषाश्रवणाद्रात्रौ रश्म्यभावाच्च संशयमाह—तत्किमिति । पूर्वोक्तनाडीसबद्धरश्मीनामत्रोपजीव्यत्वात्संगतिः । पूर्वपक्षे रात्रौ मृतस्य रश्मिप्राप्त्यर्थं सूर्योदयप्रतीक्षाऽस्ति, सिद्धान्ते नास्तीति मत्वा सिद्धान्तं प्रतिजानीते—अविशेषेणेति ॥१८॥

पूर्वपक्षबीजमुपन्यस्य दूषयति—निशीत्यादिना । शिरा नाड्यः प्रतायन्ते विस्तृता भवन्ति सृप्ताः संबद्धाः । श्रुतसंबन्धस्य रात्रौ सत्त्वे युक्तिमाह—निदाघेति । तर्हि हेमन्तादिरात्रिष्वौष्ण्योपलब्धिः

से प्रसङ्ग प्रारम्भकर नाड़ीरश्मिसम्बन्ध विस्तारपूर्वक कहने के बाद कहा है कि 'जिस समय इस शरीर से जीव निकलता है उस समय इन रश्मियों के द्वारा ही ऊपर जाता है' इत्यादि । पुनः 'उस मूर्धा नाड़ी से उत्क्रमण करने वाला अमरत्व प्राप्त करता है' इस वाक्य द्वारा कहा गया है । इन सब श्रुतियों को देखते हुए यह संशय होता है कि शताधिक नाड़ी से निष्क्रमण करने वाला रश्म्यनुसारी जीव जब निकलता है तब वह अविशेषरूप से दिन में अथवा रात्रि में मरा हुआ व्यक्ति रश्मि का अनुसरण करता है अथवा दिन में ही मरने वाला व्यक्ति रश्मियों का अनुसरण करता है । ऐसा संशय होने पर अविशेषश्रवण होने के कारण अविशेषरूप से ही जीव सूर्यरश्मियों का अनुसरण करता है, ऐसी सिद्धान्ती की प्रतिज्ञा है ॥१८॥

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च (ललिता)

दिन में ही नाड़ी-रश्मि का सम्बन्ध रहता है, इसलिए दिन में मरे हुए को रश्मि अनुसरण हो जायेगा; किन्तु रात्रि में मरे हुए जीव को रश्मि अनुसरण प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि रात्रि के समय नाड़ी और रश्मि के सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता हैं, ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहता हो तो सिद्धान्ती कहते हैं कि यह कथन ठीक नहीं क्योंकि नाड़ी और सूर्यरश्मि का सम्बन्ध जब तक देह है तब तक बना ही रहता है । इसी अर्थ को 'उस आदित्य से निकलकर रश्मियाँ इन नाड़ियों में प्रविष्ट हो जाती हैं और इन नाड़ियों से निकली हुई रश्मियाँ उस आदित्य में प्रविष्ट हो जाती हैं' इस वाक्य द्वारा श्रुति बतलाती है । ग्रीष्म काल में रात्रि के समय भी किरणों की अनुवृत्ति उपलब्ध

---

१. रश्म्यनुसारित्वम् । २. मरणोन्मुखस्य ।

सृप्ताः' (छा० ८-६-२) इति । निदाघसमये च निशास्वपि किरणानुवृत्तिरुपलभ्यते प्रतापादिकार्यदर्शनात् । स्तोकानुवृत्तेस्तु दुर्लक्ष्यत्वमृत्वन्तररजनीषु शैशिरेष्विव दुर्दिनेषु । 'अहरेवैतद्रात्रौ दधाति' इति चैतदेव दर्शयति । यदि च रात्रौ प्रेतो विनैव रश्म्यनुसारेणोर्ध्वमाक्रमेत रश्म्यनुसारानर्थक्यं भवेत् । न ह्येतद्विशिष्याधीयते यो दिवा प्रैति स रश्मीनपेक्ष्योर्ध्वमाक्रमते यस्तु रात्रौ सोऽनपेक्ष्यैवेति । अथ तु विद्वानपि रात्रिप्रायणापराधमात्रेण नोर्ध्वमाक्रमेत पाक्षिकफला विद्येत्यप्रवृत्तिरेव तस्यां स्यात् । मृत्युकालानियमात् । अथापि रात्रावुपरतोऽहरागममुदीक्षेत । अहरागमेऽप्यस्य कदाचिद्रश्मिसंबन्धार्हं शरीरं स्यात्पावकादिसंपर्कात् । 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' (छा० ८-६-५) इति च श्रुतिरनुदीक्षां दर्शयति । तस्मात्तदविशेषेणैवेदं रात्रिदिवं रश्म्यनुसारित्वम् ॥१९॥

स्यादित्यत आह—स्तोकेति । सविता रात्रावप्यहर्दधातीति धारणाभिधानं स्तोकरश्म्यनुवृत्त्यभिप्रायमेवेत्यर्थः । किंच यदि रात्रौ मृतस्य रश्मियोगं विनैवोर्ध्वगतिः स्यात्तदा रश्मिश्रुतेर्दिवामृतविषयतया संकोचः स्यादूर्ध्वगत्यभावे च विद्यायामप्रवृत्तिः स्यात् । नच प्रतीक्षयोर्ध्वगतिरिति वाच्यं, रश्म्युदयात्प्राग्देहदाहे आदित्यप्रतीक्षावैयर्थ्यापातादप्रतीक्षाश्रुतिविरोधाच्च । तस्माद्यदाकदाचिन्मृतस्य रश्मिप्राप्त्या झटिति ब्रह्मलोकप्राप्तिरिति ॥१९॥

होती है क्योंकि प्रतापादि काय देखे जाते हैं । दिन की अपेक्षा रात्रि में ताप कम रहने के कारण ताप दुर्लक्ष्य दीखता है, उसी प्रकार अन्य शिशिरादि ऋतुओं में अथवा दुर्दिन में जैसे सूर्य का ताप स्पष्ट अनुभव नहीं होता ऐसे ही रात्रि के समय सूर्य का ताप स्पष्ट नहीं भासता; अस्तित्व तो उसका रात्रि में भी विद्यमान रहता ही है । 'रात्रि में भी दिन ही प्रतीत होता है' यह श्रुति भी इसी बात को बतलाती है । यदि रात्रि में मरा हुआ जीव रश्मि अनुसरण के बिना ही ऊर्ध्व आक्रमण कर ले तो फिर रश्मि का अनुसरण निरर्थक हो जायेगा । इसके अतिरिक्त जो दिन में मरता है वह रश्मि की अपेक्षा करके ऊर्ध्वलोक में जाता है किन्तु जो रात्रि में मरता है वह रश्मि की अपेक्षा किये बिना ही ऊर्ध्वलोक में चला जाता है, ऐसा विशेष पाठ कहीं नहीं मिलता है । इसलिए रात्रि में मरणरूप अपराध के कारण ऊर्ध्वलोक नहीं जायेगा तो उपासना पाक्षिक फलवाली हो जायेगी, इस स्थिति में लोगों की प्रवृत्ति उपासना में नहीं हो सकेगी क्योंकि मरणकाल कोई निश्चित नहीं है कि उपासक दिन में ही मरेगा और अनुपासक रात्रि में ही मरेंगे । यदि कहो कि रात्रि में मरा हुआ व्यक्ति सूर्यरश्मि अनुसरण के लिए अर्थात् सूर्योदय की प्रतीक्षा करता रहेगा तो यह भी कहा जा सकता है कि दिन में भी उसका कदाचित् रश्मिसम्बन्धयोग्य शरीर तब होगा जब दाहसंस्कार होगा । श्रुति तो 'जितनी देर से में मन आदित्यलोक में पहुँचता है इतने ही समय में यह उपासक आदित्यलोक पहुँच जाता है' इस वाक्य द्वारा प्रतीक्षा का अभाव ही बतलाती है । अतः अविशेषरूप से ही रात्रि एवं दिन में मरा हुआ उपासक सूर्यरश्मियों का अनुसरण करता ही है ॥१९॥

---

१. यद्रात्रौ तापो दृश्यतेऽहरेव तद्रात्रौ सविता दधातीति श्रुत्यर्थः ।

११. दक्षिणायनाधिकरणम् (सू० २०–२१)

(५१६) अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥२०॥

अयने दक्षिणे मृत्वा धीफलं नैत्यथैति वा । नैत्युत्तरायणाध्वोक्तेर्भीष्मस्यापि प्रतीक्षणात् ।
आतिवाहिकदेवोक्तेर्वरख्यात्यै प्रतीक्षणात् । फलैकान्त्याच्च विद्यायाः फलं प्राप्नोत्युपासकः ॥

अत एव चोदीक्षानुपपत्तेरपाक्षिकफलत्वाच्च विद्याया अनियतकालत्वाच्च मृत्योर्दक्षिणायनेऽपि म्रियमाणो विद्वान्प्राप्नोत्येव विद्याफलम् ।

उत्तरायणमरणप्राशस्त्यप्रसिद्धेर्भीष्मस्य च प्रतीक्षादर्शनात् 'आपूर्यमाणपक्षाद्यान्ष-

---

एवं दक्षिणायने मृतो विद्वन्विद्याफलमाप्नोति न वेति विद्याया नित्यवत्फलश्रुतेरुत्तरायणप्राशस्त्यशास्त्राच्च संदेहे पूर्वोक्तहेतूनतिदिशति—अतश्चायनेऽपि दक्षिणे । पूर्वपक्षमाशङ्क्यापनुदति—

---

११. दक्षिणायनाधिकरण

१. **सङ्गति**—पूर्वोक्त न्याय का अतिदेश होने के कारण इस अधिकरण की सङ्गति पृथक् नहीं है अर्थात् उपजीव्य-उपजीवकभाव सङ्गति ही है ।

२. **विषय**—उपासक के मरने पर होने वाली गति का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—क्या दक्षिणायन में मरा हुआ उपासक उपासना का फल प्राप्त करता है अथवा नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—दक्षिणायन में मरे हुए उपासक को उपासना का फल ब्रह्मलोक प्राप्त नहीं होता, इसीलिए श्रुति-स्मृति में उपासक के लिए उत्तरायण मार्ग कहा गया है । विद्या को फलप्राप्ति के लिए भीष्म पितामह ने भी उत्तरायण की प्रतीक्षा की थी ।

५. **सिद्धान्त**—उत्तरायण शब्द से काल अर्थ बतलाना अभीष्ट नहीं है किन्तु आतिवाहिक देवता अर्थ बतलाना अभीष्ट है । भीष्म पितामह ने पितृप्रसाद से लब्ध स्वच्छन्दमरण वरदान की प्रसिद्धि के लिए उत्तरायण की प्रतीक्षा की थी । अतः विद्या का फल ऐकान्तिक है जिसे उपासक प्राप्त करता ही है । अतएव दक्षिणायन में मरा हुआ भी सगुण ब्रह्म उपासक विद्या का फल प्राप्त कर ही लेता है ।

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे (ललिता)

विद्या का फल श्रुति ने नित्य कहा है और शास्त्रों में उत्तरायण मार्ग की प्रशंसा भी की गयी है, अतः दक्षिणायन में मरा हुआ विद्वान् विद्या का फल प्राप्त करता है या नहीं, ऐसा सन्देह होने पर अग्रिम सूत्र से पूर्वोक्त हेतुओं का अतिदेश करते है । ज्ञानी में उत्तरायण को प्रतीक्षा नहीं बनती है, विद्या का फल पाक्षिक भी नहीं है एवं मृत्यु का काल निश्चित नहीं है, अतः दक्षिणायन में मरा हुआ विद्वान् भी विद्या का फल प्राप्त करता ही है । उत्तरायण मरण को प्रशंसा प्रसिद्ध है, भीष्म ने भी उसकी प्रतीक्षा की थी और 'शुक्ल पक्ष एवं उत्तरायण के छः मास में मरने वाला देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक जाता है' ऐसी शङ्का का समाधान इस सूत्र से सूत्रकार देते हैं ।

उत्तरायण की प्राशस्त्यप्रसिद्धि अज्ञानी के लिए है, भीष्म में उत्तरायण की प्रतीक्षा आचार-

(५१७) योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥२१॥

डुवङ्डेति मासांस्तान्' (छा० ४-१५-५) इति च श्रुतेरपेक्षितव्यमुत्तरायणमितोमामाशङ्का-मनेन सूत्रेणापनुदति। प्राशस्त्यप्रसिद्धिरविद्वद्विषया । भीष्मस्य प्रतिपालनमाचारप्रति-पालनार्थं पितृप्रसादलब्धस्वच्छन्दमृत्युताख्यापनार्थं च । श्रुतेस्त्वर्थं वक्ष्यति 'आतिवाहिका-स्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० ४-३-४) इति ॥२०॥

ननु च—'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ' (गी० ८-२३) इति कालप्राधान्येनोपक्रम्याहरादिकालविशेषः स्मृतावपुनरावृत्तये नियमितः कथं रात्रौ दक्षिणायने वा प्रयातोऽनावृत्तिं यायादिति । अत्रोच्यते—

योगिनः प्रति चायमहरादिकालयोगोऽनावृत्तये स्मर्यते । स्मार्ते चैते योगसांख्ये न श्रौते । अतो विषयभेदात्प्रमाणाविशेषाच्च नास्य स्मार्तस्य कालविनियोगस्य श्रौतेषु विज्ञानेष्ववतारः । ननु—'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्' । धूमो रात्रि-

---

उत्तरायणमित्यादिना । अज्ञानामुत्तरायणे देवान्मरणं चेत्प्रशस्तमित्यभिज्ञाभिवचनरूपाचारपरिपालनार्थं भीष्मस्य प्रतीक्षा । षण्मासानिति श्रुतिस्तूत्तरायणदेवतापरेति वक्ष्यते । तथाच देवतायाः सदा सत्त्वा-द्विद्यया दक्षिणायनकालेऽपितत्प्राप्तिरविरुद्धेति भावः ॥२०॥

स्मृतिबलात्कालप्राधान्यं शङ्कते—ननु चेति । श्रौतदहराद्युपासकस्यास्माभिः कालानपेक्षोक्ता, स्मार्तयोगिनां तु कालपेक्षा स्मृतावुच्यत इत्यविरोधमाह—योगिन इति । योगो दहराद्युपासक एव स्मृत्युक्तः किं न स्यादित्यत आह—स्मार्ते चेति । भगवदाराधनबुद्ध्याऽनुष्ठितं कर्म योगः 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च योगी च' इति स्मृतेः । धारणापूर्वकोऽकर्तृत्वानुभवः सांख्यं, 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्' इति स्मृतेः । ननु श्रुतिस्मृत्योर्भिन्नार्थत्वमयुक्तं

परिपालनार्थ भी थी और पिता के आशीर्वाद से प्राप्त स्वच्छन्दमरणज्ञापनार्थ भी थी। श्रुति का तात्पर्य 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात' इस सूत्र द्वारा बतलायेंगे। अतः दक्षिणायन में मरा हुआ भी विद्वान् विद्या का फल प्राप्त करता ही है ॥२०॥

'जिस काल में प्रस्थान करने वाले योगी अनावृत्ति और आवृत्ति को प्राप्त करते हैं, हे अर्जुन ! उस काल को मैं कहूँगा' इस वाक्य के द्वारा प्रधान रूप से प्रसङ्ग प्रारम्भकर गीता स्मृति में अहरादि कालविशेष अनावृत्ति के लिए निश्चित किया गया है, फिर भला रात्रि अथवा दक्षिणायन में प्रस्थान करने वाला पुरुष अनावृत्ति को कैसे प्राप्त करेगा; इस शङ्का का समाधान अग्रिम सूत्र से करते हैं—

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते (ललिता)

यह अहरादि काल का मोक्ष के लिए विनियोग योगियों के प्रति कहा गया है और ये योग तथा सांख्य स्मार्त मार्ग हैं, श्रौत नहीं हैं। अतः विषयभेद से और प्रमाणविशेष के कारण श्रौत विज्ञान में इस स्मार्त कालविनियोग का अवतरण नहीं होगा। 'अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण के छः मास तथा धूम, रात्रि, कृष्ण पक्ष और दक्षिणायन के छः मास' ये स्मृति में कथित होने पर

स्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्' (गी० ८-२४।२५) इति च श्रौतावेतौ देवयान-पितृयाणौ प्रत्यभिज्ञायेते स्मृतावपीति । उच्यते—'तं कालं वक्ष्यामि' (गी० ८-२३) इति स्मृतौ कालप्रतिज्ञानाद्विरोधमाशङ्क्य परिहार उक्तः । यदा पुनः स्मृतावप्यग्न्याद्या देवता एवातिवाहिक्यो गृह्यन्ते तदा न कश्चिद्विरोध इति ॥२१॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

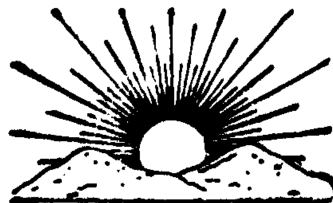
प्रत्यभिज्ञाविरोधादिति शङ्कते—नन्वग्निरिति । कालाग्रहिणं प्रति भिन्नार्थत्वमुक्तम् । यदि तु श्रौतार्थप्रत्यभिज्ञया कालशब्दो देवतापरस्तर्ह्यैकार्थ्यमेवेति समाध्यर्थः । तस्माद्विद्यासामर्थ्यात्सर्वदैव दिष्टंगतस्य उपासकस्य फलप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥२१॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ
श्रीमच्छारीरकमीमांसाव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां
चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

भी श्रौत देवयान एवं पितृयान की प्रत्यभिज्ञा कराते हैं। अतः 'तं कालं वक्ष्यामि' इस स्मृति में काल की प्रतिज्ञा होने के कारण विरोध की आशङ्का करके यह परिहार कहा गया है और जब स्मृति में भी अग्न्यादि देवता आतिवाहिक लिए जाते हैं तब कोई विरोध नहीं आता। ऐसी स्थिति में विरोध न रहने के कारण विद्या के सामर्थ्य से सदैव दिवंगत उपासक फल प्राप्त करता ही है, यह सिद्ध हो गया ॥२१॥

[द्वितयो पाद समाप्त]

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक कैलासपीठाधीश्वर
दशमाचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्दगिरि
द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य चतुर्थाध्याय
द्वितीयपाद की ललिता व्याख्या समाप्त हुई।



चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः

१. अर्चिराद्यधिकरणम् (सू–१)

(५१८) अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥१॥

नानाविधो ब्रह्मलोकमार्गो यद्वार्चिरादिकः । नानाविधः स्याद्विद्यासु वर्णनादन्यथान्यथा ।
एक एवार्चिरादिः स्यान्नानाश्रुत्युक्तपर्वकः । यतः पञ्चाग्निविद्यायां विद्यान्तरवतां श्रुतः ॥

आसृत्युपक्रमात्समानोत्क्रान्तिरित्युक्तम् । सृतिस्तु श्रुत्यन्तरेष्वनेकधा श्रूयते । नाडीरश्मिसम्बन्धेनैका 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमते' (छा० ८·६·५) इति । अर्चिरादिकैका 'तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहः' (बृ० ६·२·१५) इति । 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति' (कौ० १·३) इत्यन्या । 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स

एवमुत्क्रान्तिं निरूप्य तत्साध्यं मार्गं गन्तव्यं च निरूपयितुं पादमारभते—अर्चिरादिना तत्प्रथितेः । वृत्तानुवादपूर्वकमाद्याधिकरणस्य विषयं मार्गमाह—प्रासृतीति । विरजा विरजसः निष्पापा इत्यर्थः । 'श्रुतिविप्रतिपत्त्या संशयः । पूर्वं यदाकदाचिन्मृतस्यापि फलप्राप्तिरुक्ता तद्वदेन

॥ चतुर्थ अध्याय-तृतीय पाद ॥

द्वितीय पाद में उत्क्रान्ति का निरूपणकर अब तत्साध्य मार्ग और गन्तव्यस्थान को बतलाने के लिए हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति के कारण इस तृतीय पाद को प्रारम्भ करते हैं ।

१. अर्चिराद्यधिकरण

१. सङ्गति—जब कभी भी मरा हुआ व्यक्ति जैसे विद्या का फल प्राप्त कर लेता है, वैसे ही जिस किसी मार्ग से गया हुआ व्यक्ति विद्या का फल प्राप्त कर लेगा; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—इस अधिकरण में सगुण उपासक के अर्चिरादि मार्ग का विचार किया गया है ।

३. संशय—ब्रह्मलोकप्राप्ति का मार्ग भिन्न भिन्न है अथवा अनेक विशेषणों से युक्त एक ही मार्ग है ?

४. पूर्वपक्ष—भिन्न प्रकरण में पढ़े जाने के कारण और भिन्न उपासना के अङ्ग होने से ब्रह्मलोकप्राप्ति के मार्ग नाना हैं ।

५. सिद्धान्त—अनेक श्रुतियों में कहा गया अर्चिरादि मार्ग एक ही है क्योंकि पञ्चाग्नि विद्या और कुछ अन्य विद्याओं में यह मार्ग सुना गया है । अतः अर्चिब्रह्मलोकप्राप्ति का अर्चिरादि मार्ग एक ही है ।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः (ललिता)

मार्गारम्भ से पूर्व सभी की उत्क्रान्ति एक जैसी होती है, किन्तु श्रुतियों में मार्ग अनेक प्रकार का सुना जाता है । 'इन रश्मियों के सहारे जीव ऊर्ध्वलोक में जाता है' इस श्रुति के द्वारा रश्मि से सम्बन्धित नाड़ी एक मार्ग है, 'वे सभी अर्चि को प्राप्त करते हैं, अर्चि से दिन को प्राप्त करते हैं' ऐसा एक अर्चिरादि मार्ग कहा गया है, 'वह देवयान मार्ग को प्राप्तकर अग्निलोक में जाता है' इस श्रुति

१ श्रुतिकृतं कविरुद्धोक्त्या ।

वायुमागच्छति' (बृ० ५-१०-१) इत्यपरा। 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति'(मु० १-२-११) इति चापरा। तत्र संशयः—किं परस्परं भिन्ना एताः सृतयः किं वंकैवानेकविशेषणेति। तत्र प्राप्तं तावद्भिन्ना एताः सृतय इति। भिन्नप्रकरणत्वात्। भिन्नोपासनाशेषत्वाच्च। अपिच 'अथैतैरेव रश्मिभिः' (छा० ८-६-५) इत्यवधारणमर्चिराद्यपेक्षायामुपरुध्येत। त्वरावचनं च पीड्येत 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' (छा० ८-६-५) इति। तस्मादन्योन्यभिन्ना एवैते पन्थान इति एवं प्राप्तेऽभिदध्महे—? अर्चिरादिनेति। सर्वो ब्रह्म प्रेप्सुरर्चिरादिनैवाध्वना रंहतीति प्रतिजानीमहे। कुतः?—तत्प्रथितेः। प्रथितो ह्येष मार्गः सर्वेषां विदुषाम्। [1]तथाहि पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे 'येऽवामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' (बृ० ६-२-१५) इति [2]विद्यान्तरशीलिनामप्यर्चिरादिका स्सृतिः श्राव्यते। स्यादेतत्। यासु विद्यासु न काचिद्गतिरुच्यते तास्वियमर्चिरादिकोपतिष्ठतां

केनचिन्मार्गेण गतिरिति पूर्वपक्षफल विकल्पः, सिद्धान्ते मार्गैक्यमिति विवेकः। उपासनाभेदात्तच्छेषत्वेन ध्येयानां मार्गाणां भेदः, एवकाराच्च। किंच मार्गभेदे सत्यस्मादयं मार्गस्त्वरया प्रापक इति युक्तं न मार्गैक्य इत्यर्थः।

उपासनाभेदेऽप्युपास्यब्रह्मैक्यवन्मार्गैक्यमविरुद्धमिति सिद्धान्तयति—एवमिति। तस्य मार्गस्य प्रसिद्धत्वादिति हेत्वर्थः। ये चेत्यविशेषश्रुतिरश्रुतगतिविद्याविषयेति मार्गभेदं शङ्कते—स्यादेतदिति। एकस्यैव मार्गस्यानेकान्यग्न्यादीनि विशेषणानीत्युक्ते लाघवान्न मार्गभेदः प्रत्यभिज्ञानाच्चेति समाध्यर्थः। गन्तव्यैक्यं विवृणोति—तथा हीति। परावतो दीर्घायुषो हिरण्यगर्भस्य

से अन्य मार्ग कहा गया है। 'जब पुरुष इस लोक से प्रस्थान करता है तब वह वायु को प्राप्त करता है' इस श्रुति से अन्य मार्ग कहा गया है और 'वे निष्पाप पुरुष सूर्यद्वार से प्रस्थान करते हैं' इस श्रुति से अन्य ही मार्ग बतलाया गया है। अतः यहाँ पर संशय होता है कि ये परस्पर भिन्न मार्ग हैं अथवा अनेक विशेषणवाला एक ही मार्ग है। इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि ये भिन्न-भिन्न प्रकरण में स्थित होने के कारण और भिन्न उपासना के अङ्ग होने के कारण भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। इसके अतिरिक्त 'अथैतैरेव रश्मिभिः' इस श्रुति में अवधारणार्थक 'एव' पद अर्चिरादि की अपेक्षा करने पर उपरुद्ध हो जायेगा और 'जितनी देर में मन आदित्य लोक में पहुँचता हो उतनी देर में वह उपासक आदित्य लोक में पहुँच जाता है' इस श्रुति के द्वारा कथित त्वरावचन भी पीड़ित होने लग जायेगा। अतः ये सभी मार्ग परस्पर भिन्न ही हैं।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि सभी ब्रह्मप्रेप्सु पुरुष अर्चिरादि मार्ग से हो जाते हैं, ऐसी हमारी प्रतिज्ञा है क्योंकि यह मार्ग सभी उपासकों के लिए खुला हुआ है। इसीलिए पञ्चाग्नि विद्या के प्रसङ्ग में 'ये सभी जंगल में श्रद्धा और तप की उपासना करते हैं' इस वाक्य द्वारा अन्य उपासना करने वालों के लिए भी अर्चिरादि मार्ग सुना जाता है। शङ्का—जिन उपासनाओं में कोई मार्ग नहीं कहा गया है उन्हीं में अर्चिरादि मार्ग उपस्थित होगा, पर जिन उपासनाओं में भिन्न-भिन्न मार्ग सुना जाता है उनमें अर्चिरादि का आश्रयण क्यों किया जायेगा?

१. पंचाग्निविदामेव तेऽर्चिषमभिसंभवन्तीत्यर्चिरादिगते श्रुतत्वात्कुतः सर्वेषामिति विशेषण तत्राह तथा हीति।

२. विद्यांतरेति ये चेत्यविशेषश्रुत्या प्रकरणं बाध्यमिति भावः।

यासु त्वन्या श्राव्यते तासु किमित्यर्चिराद्याश्रयणमिति । अत्रोच्यते—भवेदेतदेवं यद्यत्यन्तभिन्ना एवैताः सृतयः स्युः । एकैव त्वेषा सृतिरनेकविशेषणा ब्रह्मलोकप्रपदनी क्वचित्केनचिद्विशेषणेनोपलक्षितेति वदामः । सर्वत्रैकदेश[1]प्रत्यभिज्ञानादितरेतरविशेषणविशेष्यभावोपपत्तेः । [2]प्रकरणभेदेऽपि हि विद्यैकत्वे [3]भवतीतरेतरविशेषणोपसंहारवद्गतिविशेषणानामप्युपसंहारः । [4]विद्याभेदेऽपि तु गत्येकदेशप्रत्यभिज्ञानाद्गन्तव्याभेदाच्च गत्यभेद एव । तथाहि 'ते तेषु [5]ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' (बृ० ६-२-१५), 'तस्मिन्वसन्ति शाश्वतीः समाः' (बृ० ५-१०-१), 'सा या ब्रह्मणो जितिर्या व्युष्टिस्तां जितिं जयति तां व्युष्टिं व्यश्नुते' (कौ० १-४), '[6]तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति' (छा० ८-४-३) इति च [7]तत्र तत्र तदेवैकं फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिलक्षणं प्रदर्श्यते । यत्त्वेतैरेवेत्यवधारणमर्चिराद्याश्रयणे न स्यादिति । नैष दोषः । रश्मिप्राप्तिपरत्वादस्य । न ह्येक एवशब्दो रश्मींश्च प्रापयितुमर्हत्यर्चिरादींश्च व्यावर्तयितुम् । तस्माद्रश्मिसंबन्ध

परा दीर्घाः समाः संवत्सरान्वसन्ति कार्यब्रह्मणो या जिति सर्वत्र जयः, व्युष्टिर्व्याप्तिस्तां लभत इत्यर्थः । एवं गन्तव्यैक्यवत्प्रत्यभिज्ञया मार्गैक्यनिश्चयात्प्रकरणभेदोऽप्रयोजक इत्युक्तं संप्रत्येवकारस्वरावचनयोगमाह—यत्त्वित्यादिना । रात्रौ स्पष्टरश्म्यभावाद्विदुषो रश्म्ययोगप्राप्तौ तन्निरासार्थमेवकारो नान्यव्यावृत्त्यर्थः । यथा लौकिकमार्गे विलम्बस्तथा अर्चिरादौ नेति त्वरावचनोपपत्ति-

समाधान—यदि ये सभी मार्ग अत्यन्त भिन्न हों तो ऐसा हो, किन्तु अनेक विशेषणों से युक्त ब्रह्मलोक का प्रापक एक ही मार्ग कहीं पर किसी विशेषण से उपलक्षित होता है, ऐसा हम कहते हैं क्योंकि एकदेश की सर्वत्र प्रत्यभिज्ञा होने से ये परस्पर विशेषणविशेष्यभाव को प्राप्त कर जाते हैं। प्रकरण भिन्न रहने पर भी विद्या एक रहने पर जैसे परस्पर विशेषणों का उपसंहार गुणोपसंहार पाद में बतलाया गया, वैसे ही यहाँ पर भी मार्ग के विशेषणों का उपसंहार सर्वत्र कर लेना चाहिए। इसलिए विद्याभेद रहने पर भी गति के एकदेश की प्रत्यभिज्ञा होने से और गन्तव्य ब्रह्मलोक के अभिन्न होने से गति का भी अभेद ही माना जायेगा । 'वे सभी हिरण्यगर्भ के उन ब्रह्मलोकों में दीर्घकाल तक वास करते हैं', 'उसमें अनन्त वर्षों तक अर्थात् ब्रह्मा के अनेक कल्पों तक निवास करता है' 'वही ब्रह्मा की विजय है, उस ब्रह्मा की सृष्टि, जिति और व्यष्टि को प्राप्त करता है' और 'जो इस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य से जीत लेते हैं' इस प्रकार इन श्रुतिवाक्यों द्वारा ब्रह्मलोकप्राप्तिरूप फल एक ही दिखलाया गया है । और जो 'एतैरेव' यह अवधारण अर्चिरादि मार्ग का आश्रय लेने पर अनुपयुक्त हो जायेगा, ऐसा कहा था ? यह कोई दोष नहीं है, यह तो रश्मिप्राप्ति को बतलाना है क्योंकि एक ही 'एव' शब्द रश्मि की प्राप्ति और अर्चिरादि की व्यावृत्ति दोनों बात नहीं कह सकती है। अतः यह अवधारणार्थक 'एव' पद केवल रश्मिसम्बन्ध को कहता है, अर्चिरादि की व्यावृति नहीं

१. एकदेशेनादित्यादि विशेषणेन विशेष्यी भूतायाः सृतेः प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः । २. यत्तु भिन्नप्रकरणस्वात् भिन्ना गतय इति तत्र प्रकरणभेदमात्रादेव गतिभेदो विद्याभेदाद्वा नाद्य इत्याह प्रकरणेति । ३. भवतीत्यस्योपसंहार इत्यत्रान्वयः । ४. न द्वितीय इत्याह विद्येति । ५. ब्रह्मविदः । ६. ब्रह्मलोके । ७. कस्यैतत्फलमित्याह—तद्य इति तत्र तत्राधिकृतानां मध्ये ये के विद्ब्रह्मचर्यादि साधनेन ब्रह्मोपासते ते पुनरेते ब्रह्म लभन्त इत्यर्थः । ८. उक्तश्रुतीनां तात्पर्यमाह तत्र तत्रेति ।

२. वाय्वधिकरणम् (सू० २)

संनिवेशयितुं वायुरत्राशक्योऽथ शक्यते । न शक्यो वायुलोकस्य श्रुतक्रमविवर्जनात् ।
वायुश्छिद्राद्विनिष्क्रम्य स आदित्यं व्रजेदिति । श्रुतेरर्वाग्रवेर्वायुर्देवलोकस्ततोऽप्यधः ।।

एवायमवधार्यत इति द्रष्टव्यम् । त्वरावचनं त्वर्चिराद्यपेक्षायामपि गन्तव्यान्तरापेक्षया शैघ्र्यार्थत्वान्नोपरुध्यते । यथा 'निमिषमात्रेणात्रागम्यत इति । अपि च 'अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न' (छा० ५-१०-८) इति मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टं तृतीयं स्थानमाचक्षाणा पितृयाणव्यतिरिक्तमेकमेव देवयानमर्चिरादिपर्वाणं पन्थानं प्रथयति । भूयांस्यर्चिरादिसृतौ मार्गपर्वाण्यल्पीयांसि त्वन्यत्र । भूयसां चानुगुण्येनाल्पीयसां नयनं न्याय्यमित्यतोऽप्यर्चिरादिना तत्प्रथितेरित्युक्तम् ।।१।।

रित्यर्थः । मार्गैक्ये लिङ्गमाह—अपि चेति । शुभमार्गबाहुल्ये तृतीयस्थानोक्तिर्न स्यादिति भावः । 'उत्तरमार्गैक्येऽप्यर्चिरादिनेति विशेषणे को हेतुरित्यत आह—भूयांसीति । १।।

करता, ऐसा समझना चाहिए । वैसे ही अर्चिरादि की अपेक्षा करने पर भी अन्य गन्तव्य की अपेक्षा से त्वरावचन शीघ्रता को बतलाता है, वह भी उपरुद्ध नहीं होता । जैसे लौकिक मार्ग में विलम्ब होता है वैसा अर्चिरादि में विलम्ब नहीं होता, निमिषमात्र में वहाँ पहुँच जाता है । इस प्रकार त्वरावचन की सङ्गति भी बैठ जाती है । इसके अतिरिक्त 'इन दोनों मार्गों में से किसी एक मार्ग से जो नहीं जाता' इस वाक्य द्वारा दोनों मार्गों से भ्रष्ट पापियों के लिए तीसरा कष्टकारक मार्ग बतलाने वाली श्रुति पितृयान से भिन्न एक ही अर्चिरादि विशेषणविशिष्ट मार्ग को बतलाती है । अर्चिरादि श्रुति में मार्गपर्व बहुत हों और अन्यत्र अल्प हों तो अल्प पर्वस्थान में अधिक गुणों का आनयन करना उचित है, इस युक्ति से भी अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक की प्राप्ति प्रसिद्ध हो जाती है, यह सिद्ध हुआ ।।१।।

२. वाय्वधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार जैसे सर्वत्र अर्चिरादि एकदेश की प्रत्यभिज्ञा होने के कारण ब्रह्मलोक-प्राप्ति का मार्ग एक ही है, वैसे ही अग्नि के पश्चात् वायु की प्रत्यभिज्ञा होने के कारण अग्नि के बाद ही वायु का निर्देश करना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण इस अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं ।

२. विषय—इस अधिकरण में अर्चिरादि मार्ग में पढ़े गये लोकों का विचार किया गया है ।

३. संशय—अर्चिरादि मार्ग में वायु का सन्निवेश होता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—श्रौतक्रम न होने के कारण अर्चिरादि मार्ग में वायुलोक का सन्निवेश नहीं हो सकता ।

५. सिद्धान्त—संवत्सर से पर और आदित्य से पूर्व वायु का सन्निवेश सम्भव है क्योंकि 'वायु-छिद्र से निकलकर वह उपासक आदित्यलोक में जाता है' ऐसी श्रुति है ।

१. निमेषोक्षिपलकः । २. श्रुतिः । ३. सोपानकम् । ४. अल्पपर्वणा मार्गेण गंतव्यप्राप्तिसंभवे बहुपर्व-मार्गोपदेशो व्यर्थः स्यात्प्रेक्षावतस्तत्राप्रवृत्तेरतो भूयसां पर्वणामनुरोधेनाल्पीयसां तदनुप्रवेश एवयुक्तो बहूनामनुग्रहस्य न्याय्यत्वादित्यर्थः मार्गैक्ये जघन्यविकल्पशंकापि न वक्तुमपीत्युक्तम् । ५. देवयानमार्गं ।

(५१६) वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥२॥

केन पुनः [1]संनिवेशविशेषेण गतिविशेषणानामितरेतरविशेषणविशेष्यभाव इति तदेतत्सुहृद्भूत्वाचार्यो ग्रथयति। 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्' (कौ० १-३) इति कौषीतकिनां देवयानः पन्थाः पठ्यते। तत्रार्चिरग्निलोकशब्दौ तावदेकार्थौ ज्वलनवचनत्वादिति नात्र संनिवेशक्रमः क्वचिदन्वेष्यः। वायुस्त्वर्चिरादौ वर्त्मनि न श्रुतः कतमस्मिन्स्थाने निवेशयितव्य इति। उच्यते—'तेऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्। मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्' (छा० ५-१०-१,२) इत्यत्र संवत्सरात्पराञ्चमादित्यादर्वाञ्चं वायुमभिसम्भवन्ति। कस्मात्। अविशेषविशेषाभ्याम्। तथाहि—'स वायुलोकम्' (कौ० १-३) इत्यत्राविशेषोपदिष्टस्य वायोः श्रुत्यन्तरे विशेषोपदेशो दृश्यते 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स

उक्तं मार्गक्रममुपजीव्य पूर्वक्रममाह—वायुमब्दात्। अर्चिरादिष्वस्मादयमनन्तर इति क्रमेण विशेषणविशेष्यभाव उच्यत इत्यधिकरणस्य तात्पर्यमुक्त्वा विषयमाह—स एतमिति। अत्राग्न्यनन्तरं पठितो वायुविषयः। स किं अर्चिरात्मकाग्नेरनन्तरमुत संवत्सरात्पर इति [2]पाठाद्वक्ष्यमाणविशेषश्रुतेश्च संशये सिद्धान्तमेवोपक्रमते—उच्यत इति। पुरुषः उपासकोऽस्माल्लोकाद्देहात्प्रैति निर्गच्छति तस्मै

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् (ललिता)

मार्गविशेषणों का परस्पर विशेषणविशेष्यभाव किस सन्निवेशविशेष के आधार पर माना गया है, इस प्रश्न का उत्तर सुहृद् बनकर आचार्य बादरायण बतलाते हैं। 'वह उपासक देह त्याग कर देवयान मार्ग प्राप्त करने के बाद अग्निलोक में आता है, वह वायुलोक में आता है, वह वरुणलोक में आता है, वह इन्द्रलोक में आता है' इस कौषीतकि शाखा के उपनिषद् में देवयान मार्ग कहा गया है। वहाँ पर अर्चि और अग्निलोक शब्द ज्वलनवाचक होने के कारण एकार्थक है अतः उन दोनों में किसी सन्निवेषक्रम अन्वेषण की आवश्यकता नहीं है। किन्तु अर्चिरादि मार्ग में जहाँ वायु अश्रुत है, उसे किस स्थान पर सन्निविष्ट करना चाहिए, ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं कि 'वे उपासक अर्चि को प्राप्त करते हैं, अर्चि से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण के छः मास को प्राप्त करते हैं, उत्तरायण छः मास से संवत्सर को और संवत्सर के बाद आदित्य को प्राप्त करते है' इस श्रुति के अनुसार संवत्सर से ऊपर और आदित्य से नीचे वायुलोक में उपासक जाते हैं, ऐसा अविशेष और विशेष हेतु के आधार पर मानना पड़ता है क्योंकि 'वह वायुलोक को प्राप्त करता है' यहाँ पर वायु अविशेषरूप से उपदिष्ट है, उसी वायु का 'निःसन्देह जब पुरुष इस लोक से प्रस्थान करता है तब वह वायु को प्राप्त करता है' वह वायु देवता उस उपासक के लिए मार्ग दे देते हैं। जैसे रथचक्र में छिद्र होता है वैसे ही वायु में छिद्र हो जाता है, उस छिद्र के द्वारा उपासक ऊर्ध्वलोक में जाता है, पुनः वह आदित्य को प्राप्त करता है' इस अन्य श्रुति में विशेषरूप से उपदेश देखा जाता है। अतः

१. सन्निवेशः संस्थितिः। २. पाठादिति कौषीतकावग्न्यनंतरपाठात् यदा वै पुरुष इति वक्ष्यमाणश्रुतेश्चेत्यर्थः।

आदित्यमागच्छति' (बृ० ५-१०-१) इति । एतस्मादादित्याद्वायोः पूर्वत्वदर्शनाद्विशेषादब्दादित्ययोरन्तराले वायुर्निवेशयितव्यः । कस्मात्पुनरग्नेः परत्वदर्शनाद्विशेषादर्चिषोऽनन्तरं वायुर्न निवेश्यते । नैषोऽस्ति विशेष इति वदामः । ननूदाहृता श्रुतिः—'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकम्' (कौषी० १-३) इति । उच्यते—केवलोऽत्र पाठः पौर्वापर्येणावस्थितो नात्र क्रमवचनः कश्चिच्छब्दोऽस्ति । पदार्थोपदर्शनमात्रं ह्यत्र क्रियते एतमेतं चागच्छतीति । इतरत्र पुनर्वायुप्रत्तेन रथचक्रमात्रेण च्छिद्रेणोर्ध्वमाक्रम्यादित्यमागच्छतीत्यवगम्यते क्रमः । तस्मात्सूक्तमविशेषविशेषाभ्यामिति । वाजसनेयिनस्तु 'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्' (बृ० ६-२-१५) इति समामनन्ति । तत्रादित्यानन्तर्याय देवलोकाद्वायुमभिसंभवेयुः । वायुमब्दादिति तु छन्दोगश्रुत्यपेक्षयोक्तम् । छान्दोग्यवाजसनेयकयोस्त्वेकत्र देवलोको न विद्यते परत्र संवत्सरः ।

प्राप्ताय पुरुषाय स वायुस्तत्र स्वात्मनि विजिहीते छिद्रं करोति, तेन वायुदत्तेन रथचक्रछिद्रतुल्येन द्वारेणोर्ध्वमादित्यं गच्छतीति श्रुत्यर्थः । इदानीं पूर्वपक्षमाह—कस्मात्पुनरिति । पाठबलादर्चिषोऽनन्तरो वायुरित्यर्थः । कौषीतकिनां पाठमात्रं, न क्रमविशेषवाची कश्चिच्छब्दोऽस्ति । काण्वानां तु तेनेत्यूर्ध्वमिति च शब्दाभ्यां क्रमनिश्चयात्पाठबाध इति सिद्धान्तार्थः । अस्त्वर्चिरादिमार्गे छान्दोग्यस्थे संवत्सरपाठाद्वायोरब्दात्परत्वं, वाजिश्रुतिस्थे तु संवत्सरस्याश्रुतेः कथमब्दात्परो वायुरित्यत आह—वाजेति । तर्हि देवलोकाद्वायुमिति सूत्रं स्यादित्यत आह—वायुमब्दादिति त्विति । संवत्सरस्य मासावयवित्वान्मासानन्तर्यं संवत्सरात्परो देवलोकस्ततः परो वायुर्वायोः पर आदित्य इति श्रुतिद्वये क्रमो निष्पन्नः । तेनेति तृतीयाश्रुत्या वायोरादित्यपूर्वत्वावगमादिति, सूत्रे तु वायुपदं देवलोकपूर्वकवायुपरमिति स्थितम् ॥२॥

आदित्य से वायु में पूर्वत्वविशेष देखने के कारण संवत्सर और आदित्य के मध्य में वायु का निवेश मानना चाहिए । शङ्का—पूर्वोक्त कौषीतकि श्रुति में अग्नि से परत्वविशेषदर्शन वायु में होना है, इस आधार पर अग्नि के अनन्तर वायु का निवेश क्यों नहीं किया जाता है । समाधान—हम इसे कोई विशेष नहीं मानते । शङ्का—'वह इस देवयान मार्ग को प्राप्तकर अग्निलोक में आता है, वह वायुलोक में आता है' ऐसी श्रुति भी उदाहृत है । समाधान—यहाँ पर केवल पाठमात्र है जो पौर्वापर्यरूप से अवस्थित है, क्रमबोधक कोई शब्द नहीं है । इस-इस लोक में वह उपासक जाता है, ऐसा पदार्थ उपदर्शनमात्र ही इस श्रुति में है । किन्तु अन्य श्रुति में वायुप्रदत्त रथचक्र छिद्रमात्र से उपासक ऊपर जाकर आदित्य लोक में पहुँचता है, ऐसा क्रम भी जान पड़ता है । इसीलिए आचार्य बादरायण ने 'अविशेषविशेषाभ्याम्' इस सूत्रभाग से वायु के लिए उक्त व्यवस्था की है किन्तु वाजसनेयी शाखावाले 'मास से देवलोक और देवलोक से आदित्यलोक' का पाठ करते हैं, इसलिए वहाँ पर आदित्य के अनन्तर देवलोक से पर वायु को कहते हैं । 'वायुमब्दात्' यह सूत्रभाग तो छान्दोग्य श्रुति की अपेक्षा करके कहा गया है । छान्दोग्य और वाजसनेयक में से एक स्थान में देवलोक नहीं है और दूसरे में संवत्सर नहीं है, अतः वहाँ पर दोनों श्रुतियों की प्रतीति से दोनों स्थानों में दोनों का ग्रथन कर लेना

---

१. छान्दोग्ये । २. बृहदारण्यके । ३. शंकाग्रंथार्थः ।

३. तडिदधिकरणम् (सू–३)

(५२०) तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥३॥

वरुणादेः संनिवेशो नास्ति तत्राथ विद्यते । नास्ति वायोरिवैतस्य व्यवस्थाश्रुत्यभावतः ।
विद्युत्सम्बन्धिवृष्टिस्थनीरस्याधिपतित्वतः । वरुणो विद्युतस्तूर्ध्वं तत इन्द्रप्रजापती ॥

तत्र श्रुतिद्वयप्रत्ययादुभावप्युभयत्र ग्रथयितव्यौ । तत्रापि माससंबन्धात्संवत्सरः [1]पूर्वः [2]पश्चिमो देवलोक इति विवेक्तव्यम् ॥२॥

'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम् (छा० ४-१५-५) इत्यस्या विद्युत उपरिष्टात्स वरुणलोकमित्ययं वरुणः सम्बध्यते । अस्ति हि सम्बन्धो विद्युद्वरुणयोः । 'यदा हि विशाला विद्युतस्तीव्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरेषु प्रनृत्यन्त्यथापः प्रपतन्ति । विद्योतते स्तनयति

एवं कौषीतकिभिरग्न्यनन्तरं पठितस्य वायोः स्थानमुक्त्वा वाय्वनन्तरं पठितस्य वरुणस्यार्चिरादिमार्गे स्थानमाह—तडितोऽधि वरुणः सबन्धात । पठितो वरुणादिर्मार्गपर्वत्वेन संबध्यते न वेति संदेहेऽर्चिषोऽहरित्यादि पञ्चम्याऽर्चिरादीनां क्रमेण मार्गपर्वतया बद्धत्वाद्वायोरिव स्थानविशेषश्रुत्यभावादलब्धस्थानो वरुणादिर्न संबध्यत इति प्राप्ते सिद्धान्तमाह—आदित्यादिति । अपां विद्युत्कार्यत्वेन संबन्धे मानमाह—विद्योतत इति । [3]वरुणस्याब्द्वारा विद्युत्संबन्धात् 'आगन्तुकानामन्ते निवेशः'

चाहिए । उनमें भी मास से सम्बद्ध होने के कारण पहले संवत्सर और तत्पश्चात् देवलोक का सन्निवेश करना चाहिए ॥२॥

३. तडिदधिकरण

१. **सङ्गति**—मान लिया कि स्थानविशेष सुने जाने के कारण अर्चिरादि माग का पर्व वायुलोक है, फिर भी वरुणादि का स्थानविशेष न सुने जाने के कारण इस देवयान मार्ग में उनका सम्बन्ध कैसे हो सकेगा; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ करते हैं ।

२. **विषय**—देवयान मार्ग में वरुणादि लोक के सन्निवेश का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. **संशय**—इस अर्चिरादि मार्ग में वरुणादि लोक का सन्निवेश हो सकता है या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—वायु के समान वरुणादि लोक को व्यवस्थापकश्रुति न होने के कारण यहाँ पर उनका सन्निवेश सम्भव नहीं है ।

५. **सिद्धान्त**—विद्युतसम्बन्धी वृष्टि में स्थित जल का अधिपति वरुण है, अतः विद्युतलोक से पर वरुणादि का सन्निवेश उचित है । आगन्तुकों का अन्त में सन्निवेश न्यायसङ्गत है ।

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् (ललिता)

'आदित्य से चन्द्रलोक और चन्द्र से विद्युनलोक' इस श्रुति के आधार पर विद्युत के पश्चात् उपासक वरुण लोक में जाता है क्योंकि वरुण जलाभिमानी देव है और विद्युत जल का कार्य है, इसलिए विद्युत और वरुण का सम्बन्ध है । जब बिजली से विशाल तीव्र निर्घोष होते हैं जो बादलों के मध्य नृत्य करने लग जाते हैं तब जल बरसता है । 'बिजली चमकती है, बादल गरजते हैं और

---

१. देवलोकात् । २. संवत्सरात् । ३. विद्युतोऽप्कारणत्वं वरुणस्य च जलाधिपतित्वमिति तथाच विद्युतो वरुणेन सह स्वकार्याधिपतित्वाख्यस्तस्य तथा च स्वकिंकरकारणत्वाख्यः संसर्ग इति ।

४. आतिवाहिकाधिकारम् (सू० ४-६)

(४२१) आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥४॥

मार्गचिह्नं भोगभूर्वा नेतारो वार्चिरादयः। आद्यौ स्यातां मार्गचिह्नसारूप्याल्लोकशब्दतः।
अन्ते गमयतीत्युक्तेर्नेतारस्तेषु चेद्दशः। निर्देशोऽस्त्यत्र लोकाख्या तन्निवासिजनान्प्रति ॥

वर्षिष्यति वा' (छा० ७-११-१) इति च ब्राह्मणम्। अपां चाधिपतिर्वरुण इति श्रुति-स्मृतिप्रसिद्धिः वरुणादधीन्द्रप्रजापती स्थानान्तराभावात्पाठसामर्थ्याच्च। आन्तुकत्वादपि वरुणादीनामन्त एव निवेशो वैशेषिकस्थानाभावाद्विद्युन्वान्त्यार्ऽर्चिरादौ वर्त्मनि ॥३॥

तेष्वेवार्चिरादिषु संशयः—किमेतानि मार्गचिह्नान्युत भोगभूमयोऽथवा नेतारो गन्तृणा-मिति। तत्र मार्गलक्षणभूता अर्चिरादय इति तावत्प्राप्तम्। तत्स्वरूपत्वादुपदेशस्य। यथा

इति न्यायाच्च विद्युदानन्तर्ये सति यथापाठमिन्द्रप्रजापत्योः क्रम इत्यर्थः ॥३॥

एवमर्चिरादीनां क्रमं निरूप्य स्वरूपं निरूपयति—आतिवाहिकास्तल्लिङ्गादिति। चिह्ननिर्देश-साम्याल्लोकशब्दान्नेतृत्वलिङ्गाच्च संशयः। आद्यपक्षद्वयं पूर्वपक्षः। अर्चिरादयो विद्युदन्ताश्चेतना

वर्षा होने लग जाती है' इस प्रकार जल का अधिपति वरुण श्रुति-स्मृति में प्रसिद्ध ही है। वरुण से परे इन्द्र और प्रजापति का स्थान मानना उचित होगा क्योंकि अन्य स्थान का अभाव है और पाठ-सामर्थ्य से एवं आगन्तुकत्व के कारण भी वरुणादि का अन्त में ही निवेश करना उचित होगा। विशेष स्थानाभाव के कारण अर्चिरादि मार्ग में विद्युत का स्थान अन्त में ही होना चाहिए। 'आगन्तुकानामन्ते विवेशः' इस न्याय से भी उक्त क्रम को मानना उचित होगा ॥३॥

४. आतिवाहिकाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार अर्चिरादि का क्रम बतलाने के बाद अब उनके स्वरूप का विचार किया जायेगा। सम्बन्धित विद्युत से पर वरुणादि का सन्निवेश होना चाहिए, ऐसा कहा गया; वसे ही सादृश्यसम्बन्ध के कारण अर्चिरादि को मार्गचिह्न क्यों नहीं माना जाय, इस आक्षेप का समाधान इस अधिकरण द्वारा किया गया है।

२. विषय—अनुशासक अथवा लोकश्रुति के मुख्यत्व का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—अर्चिरादि मार्ग के चिह्न हैं, भोगभूमि हैं अथवा आतिवाहिक नेता हैं ?

४. पूर्वपक्ष—मार्गचिह्न के सदृश होने के कारण वे मार्गचिह्न हैं अथवा लोक शब्द का प्रयोग होने के कारण वे भोगभूमि हैं, ये आतिवाहिक नेता नहीं हैं।

५. सिद्धान्त—'स एतान्ब्रह्म गमयति' ऐसा अन्त में सुने जाने के कारण अमानव पुरुष जिस प्रकार नेता निश्चित जान पड़ता है, उसके सहचर होने के कारण अर्चिरादि भी आतिवाहिक देवता जान पड़ते हैं। आतिवाहिक देवताओं के लिए वे भोगभूमि भले ही हों, किन्तु ब्रह्मलोकयात्रा के लिए वे भोगभूमि नहीं हैं। अतः अर्चिरादि आतिवाहिक देवता ही हैं।

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात (ललिता)

उन अर्चिरादि मार्गों के सम्बन्ध में यह संशय होता है कि ये मार्ग के चिह्न हैं या भोगभूमि हैं अथवा जाने वाले जीव के अतिवाहक हैं। इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि अर्चिरादि मार्ग के चिह्न

१. मार्गलक्षणस्वरूपत्वात्।

हि लोके कश्चिद्ग्रामं नगरं वा [1]प्रतिष्ठासमानोऽनुशिष्यते गच्छेतस्त्वममुं गिरिं ततो न्यग्रोधं ततो नदीं ततो ग्रामं ततो नगरं वा प्राप्स्यसीत्येवमिहाप्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमित्याद्याह। अथवा भोगभूमय इति प्राप्तम्। तथाहि—लोकशब्देनाग्न्यादीननुबध्नाति अग्निलोकमागच्छति' (कौ० १·३) इत्यादि। लोकशब्दश्च प्राणिनां भोगायतनेषु भाष्यते—'मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः' (बृ० १·५·१६) इति च। तथा च ब्राह्मणम्—अहोरात्रेषु ते लोकेषु सज्जन्ते' इत्यादि। तस्मान्नातिवाहिका अर्चिरादयः। अचेतनत्वादप्येतेषामातिवाहिकत्वानुपपत्तिः। चेतना हि लोके राजनियुक्ताः पुरुषा दुर्गेषु मार्गेष्वतिवाह्यानतिवाहयन्तीति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आतिवाहिका एवैते भवितुमर्हन्ति। कुतः? तल्लिङ्गात्। तथाहि 'चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४·१५·५) इति [2]सिद्धवद्गमयितृत्वं दर्शयति। [3]यावद्वचनं वाचनिकमिति न्यायात्, तद्वचनं तद्विषयमेवोपक्षीणमिति चेत्। न। प्राप्तमानवत्वनिवृत्ति-

नेतारश्चामानवपुरुषेण नेत्रा सह पठित्वादिति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना। यथाश्रुत्यमानवस्यास्तु नेतृत्व नार्चिरादीनामिति शङ्कते—तद्वचनमिति। पुरुषस्यामानवत्वं नेतृत्वं चेत्युभयपरत्वे वाक्यभेदः स्यादतोऽर्चिरादिपर्वैर्नेतार एव मानवाः प्रकृताः प्रकरणबलाद्विद्युदनन्तरं मानवस्य नेतुः प्राप्तौ प्रकरणप्राप्तनेतृत्वानुवादेनामानवत्वमेकमेव प्रतिपाद्यत इति वक्तव्यमित्याह—नेति। नेतृप्रकरणात-

हैं क्योंकि उसी रूप में व्यपदेश देखा जाता है। जैसे लोक में कोई ग्राम या नगर की ओर प्रस्थान करने वाला हो तो उसे उपदेश करते हैं कि तुम यहाँ से अमुक पर्वत के पास जाओ, उसके आगे वट वृक्ष के पास जाओ, तत्पश्चात् नदी के पास जाओ एवं तदनन्तर ग्राम अथवा नगर को प्राप्त कर जाओगे। ऐसे ही यहाँ पर भी 'अर्चि से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष को' ऐसा वाक्य कहा गया है। अथवा ये अर्चिरादि भोगभूमि हैं क्योंकि 'अग्निलोकमागच्छति' इत्यादि श्रुति लोक शब्द के द्वारा अग्न्यादि को बांधती है। प्राणियों के भोगायतन के रूप में ही 'मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः' इस प्रकार लोक शब्द का प्रयोग होता है। ऐसा ही 'अहोरात्र उन लोकों में सृष्टि होती है' यह ब्राह्मण-वाक्य है। अतः अर्चिरादि अतिवाहक नहीं हैं। अचेतन होने के कारण भी इनमें अतिवाहिकत्व सिद्ध नहीं होता। लोक में राजा से नियुक्त चेतन पुरुष ही दुगम मार्गों में चलने वाले लोगों का अतिवहन करते हैं।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि ये अर्चिरादि अतिवाहिक ही होने चाहिए क्योंकि 'चन्द्रमा से विद्युत और वहाँ से अमानव पुरुष उन उपासकों को ब्रह्म के पास पहुंचाता है' यह श्रुति अर्चिरादि में भी निःसन्दिग्ध गमयितृत्व को बतलाती है। **शङ्का**—जितना वाचनिक शब्द हो, उतना ही उस विषय का बोधक होता है; उसके आधार पर अन्य में कल्पना ठीक नहीं है। **समाधान**—ऐसा कहना ठीक नहीं। अमानव विशेषण प्राप्तमानवत्वनिवृत्तिमात्रपरक है। यदि अर्चिरादि में अतिवाहिक पुरुष प्राप्त हैं तो वे मानव हैं, उनको निवृत्ति के लिए विद्युतलोक के बाद

१. प्रस्थानं कुर्वाणः। २. अमानवपुरुषस्य विद्युदादावातिवाहिकत्वदृष्टेरर्चिरादीनामपि तदुन्नेयमित्यर्थः। ३. विद्युदादावमानवपुरुषकर्तृकमातिवाहिकत्ववचनममानवपुरुषविषय एवोपक्षीणमित्यत्र युक्तिमाह यावद्वचनमिति।

(५२२) उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥५॥

परत्वाद्विशेषणस्य । यद्यर्चिरादिषु पुरुषा गमयितारः प्राप्तास्ते च मानवास्ततो युक्तं तन्निवृत्त्यर्थं पुरुषविशेषणममानव इति ॥४॥

ननु तल्लिङ्गमात्रमगमकं न्यायाभावात् । नैष दोषः ।

ये तावदर्चिरादिमार्गगास्ते देहवियोगात्संपिण्डितकरणग्रामा इत्यस्वतन्त्रा अर्चिरादीनामप्यचेतनत्वादस्वातन्त्र्यमित्यतोऽर्चिराद्यभिमानिनश्चेतना देवताविशेषा अतियात्रायां नियुक्ता इति गम्यते । लोकेऽपि हि मत्तमूर्च्छितादयः संपिण्डितकरणाः परप्रयुक्तवर्त्मानो भवन्ति । अनवस्थितत्वादप्यर्चिरादीनां न मार्गलक्षणत्वोपपत्तिः । न हि रात्रौ प्रेतस्याहःस्वरूपाभिसंभव उपपद्यते । न च प्रतिपालनमस्तीत्युक्तं पुरस्तात् । ध्रुवत्वात्तु देवतात्मनां नायं दोषो भवति । अर्चिरादिशब्दता चैषामर्चिराद्यभिमानादुपपद्यते 'अर्चिषोऽहः'

ङ्गीकारे त्वमानवः पुरुषो गमयतीति वाक्य भिद्येत अमानवत्ववन्नेतृत्वास्याप्यप्राप्तेरिति भावः ॥४॥

नेतृत्वानुवादलिङ्गस्यानुग्राहकन्यायपरं सूत्रं गृह्णाति—नन्विति । यद्यनेतारोऽचेतना एवार्चिरादयस्तर्हि मार्गतद्गन्त्रोरुभयोरपि व्यामोहादज्ञत्वादूर्ध्वगतिर्न स्यादतः स्वयं प्रयत्नशून्यश्चेतनान्तरेण नेय इति लौकिकन्यायानुग्रहात्तत्सिद्धेर्नेतृत्वसिद्धेरुक्तलिङ्गं न्यायोपेतमिति सूत्रार्थः । पूर्वपक्षद्वयं दूषयति—अनवस्थितत्वादित्यादिना । अर्चिरहरादीनामस्थिरत्वाद्रात्र्यादौ मृतस्य प्रतीक्षा नास्तीत्युक्तत्वाच्च न मार्गचिह्नत्वं भोग्यत्वं वा, देवतात्वे त्वस्थिरत्वदोषो नास्तीत्यर्थः । यत्तूपदेशस्वारस्याच्चिह्नत्वं भातीति, तत्राह—अर्चिषोऽहरिति । चिह्नत्वनेतृत्वसंशयाच्च वाक्यशेषा-

---

अतिवाहक पुरुष में अमानव पुरुष विशेषण युक्त ही है अर्थात् विद्युतलोकपर्यन्त अतिवहन करने वाले मानव पुरुष हैं, वे मानव विद्युतलोक के आगे नहीं जाते हैं; वहाँ से अमानव पुरुष उपासकों को ब्रह्मलोक में पहुँचाता है ॥४॥

न्याय के अभाव से लिङ्गमात्र गमक नहीं होता ? ऐसा संशय होने पर कहते हैं—

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः (ललिता)

जो अर्चिरादि मार्ग में जाने वाले उपासक हैं वे स्थूल देह के अभाव में संपिण्डितकरणग्राम हैं, इसलिए अस्वतन्त्र हैं । उस स्थिति में अचेतन होने के कारण अर्चिरादि में भी अस्वतन्त्रता मानी जाय तो अचेतन-अचेतन का वहन कैसे कर सकेगा, इसलिए अर्चिरादि अभिमानी चेतनदेवताविशेष उस उत्कृष्ट यात्रा में अतिवाहकरूप से नियुक्त किए गये हैं, ऐसा जान पड़ता है । लोक में भी मतवाले और मूर्च्छाग्रस्त व्यक्ति के इन्द्रियसमुदाय पिण्डीभूत हो जाते हैं, उस स्थिति में वे मार्ग में दूसरों से प्रेरित होकर ले जाये जाते हैं । इसके अतिरिक्त अर्चिरादि में स्थिरत्व न रहने के कारण भी वे मार्ग के चिह्न नहीं बन सकते क्योंकि रात्रि में मरे हुए का दिन के साथ सम्बन्ध सम्भव नहीं है और रात्रि में मरने वाला दिनागम की प्रतीक्षा नहीं करता है, ऐसा हम पहले कह आये हैं । देवता ध्रुव होते हैं, अतः अर्चिरादि को अतिवाहक देवता मानने पर यह दोष नहीं रहता । उन देवताओं को अर्चिरादि में अभिमान रहने के कारण अर्चिरादि शब्द का प्रयोग उनमें होता है ।

(छा० ४-१५-५-५-१०-१) इत्यादिनिर्देशस्त्वातिवाहिकत्वेऽपि न विरुध्यते। अर्चिषा हेतुनाऽहरभिसम्भवति, अह्ना हेतुनापूर्यमाणपक्षमिति। तथा च लोके प्रसिद्धेष्वप्यातिवाहिकेष्वेवंजातीयक उपदेशो दृश्यते, गच्छ त्वमितो बलवर्माणं ततो जयसिंहं ततः कृष्णगुप्तमिति। अपि चोपक्रमे 'तेऽर्चिरभिसंभवन्ति' (बृ० ६-२-१५) इति संबन्धमात्रमुक्तं न संबन्धविशेषः कश्चित्। उपसंहारे तु 'स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा०-४-१५-६) इति संबन्धविशेषोऽतिवाह्यातिवाहकत्वलक्षण उक्तस्तेन स एवोपक्रमेऽपीति निर्धार्यते। संपिण्डितकरणत्वादेव च गन्तॄणां न तत्रोपभोगसंभवः। लोकशब्दस्त्वनुपभुञ्जानेष्वपि गन्तृषु गमयितुं शक्यते। अन्येषां तल्लोकवासिनां भोगभूमित्वात्। अतोऽग्निस्वामिकं लोकं प्राप्तोऽग्निनाऽतिवाह्यते वायुस्वामिकंलोकं प्राप्तोवायुनेति योजयितव्यम् ॥५॥

कथं पुनरातिवाहिकत्वपक्षे वरुणादिषु तत्सम्भवः। विद्युतो ह्यधि वरुणादय उपक्षिप्ता विद्युतस्त्वनन्तरमा ब्रह्मप्राप्तेरमानवस्यैव पुरुषस्य गमयितृत्वं श्रुतमिति। अत उत्तरं पठति—

निर्णय इत्याह—अपिचेति। यदुक्तं लोकशब्दाद्भोगत्वमिति तत्रेत्याह—संपिण्डितेति ॥५॥

सूत्रान्तरं गृह्णाति—कथं पुनरिति अमानवो विद्युल्लोकमागतो वद्युतस्तेनेत्यर्थः श्रुतौ तु

'अर्चि के बाद दिन को प्राप्त करता है' इत्यादि निर्देश आतिवाहिक पक्ष में भी विरुद्ध नहीं होगा। अर्चिरादि हेतु के कारण दिन के साथ उस उपासक का सम्बन्ध हो जाता है, पुनः दिनरूप हेतु के कारण वह उपासक शुक्ल पक्ष को प्राप्त कर जाता है। वैसे ही लोकप्रसिद्ध आतिवाहिक अर्थ में भी इस प्रकार का उपदेश देखा जाता है कि तू यहाँ से बलवर्मा के पास जा, वहाँ से जयसिंह के पास जा और तत्पश्चात् कृष्णगुप्त के पास जा। इसके अतिरिक्त उपक्रम में 'वे उपासक अर्चि को प्राप्त करते हैं' इस वाक्य द्वारा सम्बन्धमात्र कहा गया है, कोई सम्बन्धविशेष नहीं बतलाया गया है; किन्तु उपसंहार में 'वह अमानव पुरुष इन उपासकों को ब्रह्म के पास पहुँचा देता है' इस वाक्य द्वारा अतिवाह्य-अतिवाहकरूप सम्बन्धविशेष कहा गया है, इसीलिए उपक्रम में भी उसी का निर्धारण होता है। सपिण्डितकरणग्राम होने के कारण ही उन उपासकों को वहाँ का भोग होना सम्भव नहीं है। भोग न करने वाले गन्ता में भी लोक शब्द का प्रयोग होता है क्योंकि उस लोक में निवास करने वाले अन्य प्राणियों का भोगस्थान तो वह है ही। अतः अग्नि स्वामी वाले लोक में गया हुआ पुरुष अग्नि के द्वारा अतिवहन कराया जाता है और वायु स्वामी वाले लोक में गया हुआ व्यक्ति वायु के द्वारा अतिवहन कराया जाता है अर्थात् अग्निस्वामिक लोक को अग्नि द्वारा प्राप्त करता है और वायुस्वामिक लोक को वायु द्वारा प्राप्त करता है, ऐसा समझना चाहिए ॥५॥

आतिवाहिकत्व पक्ष में भी वरुणादि में आतिवाहिकत्व कैसे सम्भव हो सकेगा क्योंकि विद्युत के बाद वरुणादि का पाठ मिलता है, परन्तु विद्युत लोक के अनन्तर ब्रह्मलोकप्राप्तिपर्यन्त अमानव पुरुष में ही गमयितृत्व सुना गया है? इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं—

५. कार्याधिकरणम (सू० ७-१४)

(५२३) वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥६॥

(५२४) कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥७॥

परं ब्रह्माथ वा कार्यमुदङ्मार्गेण गम्यते । मुख्यत्वादमृतत्वोक्तेर्गम्यते परमेव तत् ।
कार्यं स्याद्गतियोग्यत्वात्परस्मिंस्तदसम्भवात् । सामीप्याद्ब्रह्मशब्दोक्तिरमृतत्वं क्रमाद्भवेत् ॥

ततो विद्युदभिसम्भवनादूर्ध्वं विद्युदनन्तरवर्तिनैवामानवेन पुरुषेण वरुणलोकादिष्वतिवाह्यमाना ब्रह्मलोकं गच्छन्तीत्यवगन्तव्यम् । 'तान्वैद्युतात्पुरुषोऽमानवः स एत्य ब्रह्मलोकं गमयति' इति तस्यैव गमयितृत्वश्रुतेः । वरुणादयस्तु तस्यैवाप्रतिबन्धकरणेन साहाय्यानुष्ठानेन वा केनचिदनुग्राहका इत्यवगन्तव्यम् । तस्मात्साधूक्तमातिवाहिका देवतात्मानोऽर्चिरादय इति ॥६॥

'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४·१५·५) इत्यत्र विचिकित्स्यते—किं कार्यमपरं ब्रह्म

वैद्युताल्लोकादित्यर्थः । श्रुत्या वरुणादीनां नेतृत्वाभावेऽप्यनुग्राहकत्वेन मार्गान्तर्भाव इति भावः ॥६॥
एवं मार्गं निरूप्य गन्तव्यं चिन्तयति—कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः । परं ब्रह्म गन्तव्यमिति

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः (ललिता)

उस विद्युत लोक में पहुँचने के बाद विद्युत अनन्तरवर्ती अमानव पुरुष से ही वरुण लोकादि में अतिवाह्यमान उपासक ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है, ऐसा समझना चाहिए क्योंकि 'विद्युत लोक में आये उन उपासकों को अमानव पुरुष ब्रह्मलोक पहुँचाता है' इस वाक्य द्वारा अमानव पुरुष में ही आतिवाहिकत्व सुना गया है। वरुणादि तो उसी अमानव पुरुष के अप्रतिबन्धक होने के कारण अथवा सहायक होने के कारण अनुग्राहक माने गये हैं, ऐसा समझना चाहिए। अतः ठीक ही कहा है कि अर्चिरादि आतिवाहिक देवतात्मा हैं ॥६॥

५. कार्याधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार गति का निरूपण करने के बाद गन्तव्य का निरूपण होने के कारण पूर्वापर अधिकरण की हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण में देवयान मार्ग से प्राप्त होने वाले गन्तव्य के स्वरूप का विचार किया गया है।

३. संशय—अर्चिरादि मार्ग से उपासक परब्रह्म को प्राप्त करता है अथवा अपरब्रह्म को ?

४. पूर्वपक्ष——मुख्य अमृतत्व का कथन होने के कारण उन उपासकों को परब्रह्म की ही प्राप्ति होती है।

५. सिद्धान्त—गति के योग्य होने से कार्यब्रह्म को ही उपासक प्राप्त करते हैं, परब्रह्मप्राप्ति के लिए गति की आवश्यकता नहीं है। परब्रह्म के समीप होने से हिरण्यगर्भ को भी ब्रह्म शब्द से कहा गया है, अमरत्व की प्राप्ति क्रमशः होती है।

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः (ललिता)

इस प्रकार मार्ग का निरूपण करने के पश्चात् अब गन्तव्य का विचार करते हैं। 'वह अमानव

(५२५) विशेषितत्वाच्च ॥८॥

गमयत्याहोस्वित्परमेवाविकृतं मुख्यं ब्रह्मेति । कुतः संशयः ? ब्रह्मशब्दप्रयोगाद्गतिश्रुतेश्च । तत्र कार्यमेव सगुणमपरं ब्रह्मैनान्गमयत्यमानवः पुरुष इति बादरिराचार्यो मन्यते । कुतः? अस्य गत्युपपत्तेः । अस्य हि कार्यब्रह्मणो गन्तव्यत्वमुपपद्यते प्रदेशवत्त्वात् । न तु परस्मिन्ब्रह्मणि गन्तृत्वं गन्तव्यत्वं गतिर्वाऽवकल्पते । सर्वगतत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च गन्तॄणाम् ॥७॥

'ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' (बृ० ६-२-१५) इति च श्रुत्यन्तरे विशेषितत्वात्कार्यब्रह्मविषयैव गतिरिति गम्यते । नहि बहुवचनेन विशेषणं परस्मिन्ब्रह्मण्यवकल्पते । कार्ये त्ववस्थाभेदोपपत्तेः संभवति बहुवचनम् । लोकश्रुतिरपि विकारगोचरायामेव संनिवेशविशिष्टायां भोगभूमावाञ्जसी[1] । गौणी त्वन्यत्र 'ब्रह्मैव लोक एष सम्राट्' इत्यादिषु । अधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशोऽपि परस्मिन्ब्रह्मण्यनाञ्जसः[2] स्यात् ।

पूर्वपक्षे मार्गस्य मुक्त्यर्थता कार्यं ब्रह्मेति सिद्धान्ते भोगार्थतेति मत्वा प्रथमं सिद्धान्तमाह—तत्र कार्यमेवेति । सर्वगतस्यापि प्रदेशान्तरविशिष्टत्वेनाकाशस्य गन्तव्यत्वं दृष्टं, ब्रह्मणस्तु प्रत्यक्त्वान्न कथमपि गन्तव्यतेत्यर्थः ॥७॥

ब्रह्मलोकेष्विति बहुवचनलोकशब्दाधारसप्तमीश्रुतिभिर्गन्तव्यस्य परस्माद्व्यावृत्तत्वाच्च न परं गन्तव्यमित्याह—विशेषितत्वाच्चेति । परब्रह्मणि भोग्यत्वोपचाराद्गौणी लोकश्रुतिरित्यर्थः । नपुंसकब्रह्मशब्देन कारणवाचिना कार्यं लक्ष्यते गन्तव्यत्वन्यायोपेतबहुवचनाद्यनेकश्रुत्यनुग्रहाय । न चाना·

पुरुष विद्युत लोक में आये हुए उपासकों को ब्रह्मलोक में ले जाता है, ऐसा कहा गया है । इस पर सन्देह होता है कि जिस ब्रह्म के पास अमानव पुरुष ले जाता है वह अपरब्रह्म है अथवा शुद्ध परब्रह्म ही है । ब्रह्म शब्द का प्रयोग होने के कारण और साथ ही गतिश्रवण के कारण यह संशय होना स्वाभाविक है । इस पर सर्वप्रथम सिद्धान्त पक्ष से कहा गया है कि अमानव पुरुष इन उपासकों को कार्यब्रह्म के पास ही पहुँचाता है, ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं क्योंकि गति की सङ्गति इस प्रकार मानने पर ही बैठती है, प्रदेशवाला होने के कारण उसी कार्यब्रह्म में गन्तव्यत्व भी सिद्ध होता है । सर्वव्यापक एवं गन्ता का प्रत्यगात्मा होने के कारण परब्रह्म में गन्तृत्व, गन्तव्यत्व अथवा गति का होना सम्भव नहीं हैं ॥७॥

विशेषितत्वाच्च (ललिता)

'ब्रह्मलोकों को प्राप्त कराता है, वे उपासक उन लोकों में अनेक वर्षों तक वास करते हैं' ऐसा श्रुत्यन्तर में बहुवचन से लोक को विशेषित किये जाने के कारण गति कार्यब्रह्मविषयक ही है, ऐसा जान पड़ता है क्योंकि परब्रह्म में बहुवचन विशेषण घटता नहीं हैं । किन्तु कार्यब्रह्म में अवस्थाभेद के कारण बहुवचन विशेषण सम्भव हो जाता है । लोकश्रुति में भी सन्निवेशविशिष्ट, विकारविषय भोगभूमि में ही घटती है, परब्रह्म में तो लोक शब्द का गौण प्रयोग मानना पड़ेगा । ऐसा ही

---

१. तात्त्विकी । २. तात्त्विकः ।

(५२६) सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥९॥

तस्मात्कार्यविषयमेवेदं नयनम् ॥८॥

ननु कार्यविषयेऽपि ब्रह्मशब्दो नोपपद्यते समन्वये हि समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मेति स्थापितमिति । अत्रोच्यते—

तुशब्द आशङ्काव्यावृत्त्यर्थः । परब्रह्मसामीप्यादपरस्य ब्रह्मणस्तस्मिन्नपि ब्रह्मशब्दप्रयोगो न विरुध्यते । परमेव हि ब्रह्म विशुद्धोपाधिसंबन्धं क्वचित्कैश्चिद्विकारधर्मैर्मनोमयत्वादिभिरुपासनायोपदिश्यमानमपरमिति स्थितिः ॥९॥

ननु कार्यप्राप्तावनावृत्तिश्रवणं न घटते । नहि परस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्र क्वचिन्नित्यतां संभावयन्ति । दर्शयति च देवयानेन पथा प्रस्थितानामनावृत्तिम् 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४-१५-६) इति तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८-६-६ क० ६-१६) इति चेत् । अत्र ब्रूमः—

वृत्तिलिङ्गात्परस्य गन्तव्यता, क्रममुक्त्या लिङ्गस्यान्यथासिद्धेरिति भावः ॥८॥

प्रतिसंचरो महाप्रलयः, तस्मिन्प्राप्ते परस्य हिरण्यगर्भस्यान्ते समष्टिलिङ्गशरीररूपविकारावसाने ब्रह्मलोकनिवासिनः कृतात्मानः शुद्धधियस्तत्रोत्पन्नसम्यग्धियः सर्वे ब्रह्मणा मुच्यमानेन सह परं

'हे सम्राट ! ब्रह्म ही यह लोक है' इत्यादि श्रुतियां में देखा गया है। आधार-आधेय निर्देश भी परब्रह्म में सरलता से घटता नहीं। अतः उपासकों का अमानव पुरुष द्वारा यह नयन कार्यब्रह्मविषयक ही है ॥८॥

शङ्का—कार्यविषय में भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग अयुक्त ही है क्योंकि समन्वयाध्याय[1] में समस्त जगत् के जन्मादि का कारण ब्रह्म है, ऐसा निश्चित किया जा चुका है। इसका समाधान सिद्धान्ती अग्रिम सूत्र से देते हैं—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः (ललिता)

समाधान—सूत्र में आया हुआ 'तु' शब्द आशङ्काव्यावृत्ति के लिए है। अपरब्रह्म में परब्रह्म का सामीप्य होने के कारण कार्यब्रह्म में भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग होना विरुद्ध नहीं है क्योंकि विशुद्ध उपाधिसम्बन्ध हो जाने पर परब्रह्म ही कहीं कहीं विकारनिष्ठ कुछ मनोमयत्वादि धर्मों के कारण उपासना के लिए उपदिश्यमान होने पर अपरब्रह्म कहा गया है, यह वस्तुस्थिति है ॥९॥

शङ्का—कार्यब्रह्म की प्राप्ति मानने अनावृत्तिश्रवण घटता नहीं है क्योंकि परब्रह्म से अतिरिक्त कहीं भी नित्यता सम्भव नहीं है। किन्तु श्रुति 'इस देवयान मार्ग से गये हुए उपासक इस मानव आवर्त में लौटते नहीं हैं' इस वाक्य द्वारा देवयान मार्ग से प्रस्थान करने वाले की अनावृत्ति दिखलाती है। ऐसा ही 'ब्रह्मलोक में गये हुए उपासकों की मर्त्यलोक में पुनरावृत्ति नहीं होती', 'मूर्धा नाड़ी से ऊपर गया हुआ जीव अमरत्व को प्राप्त करता है' ये सब श्रुतियां भी कहती हैं। इस पर हम सिद्धान्ती कहते हैं—

१. तन्नामकेऽध्याये ।

(५२७) कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥१०॥
(५२८) स्मृतेश्च ॥११॥
(५२९) परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥१२॥

कार्यब्रह्मलोकप्रलयप्रत्युपस्थाने सति तत्रैवोत्पन्नसम्यग्दर्शनाः सन्तस्तदध्यक्षेण हिरण्यगर्भेण सहातः परं परिशुद्धं विष्णोः परमं पदं प्रतिपद्यन्त इति । इत्थं क्रममुक्तिरनावृत्त्यादिश्रुत्यभिधानेभ्योऽभ्युपगन्तव्या । न ह्यञ्जसैव गतिपूर्विका परप्राप्तिः संभवतीत्युपपादितम् ॥१०॥

स्मृतिरप्येतमर्थमनुजानाति—'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' इति । तस्मात्कार्यब्रह्मविषया गतिः श्रूयत इति सिद्धान्तः ॥११॥

कं पुनः पूर्वपक्षमाशङ्क्यायं सिद्धान्तः प्रतिष्ठापितः 'कार्यं बादरिः' (बृ० सू० ४-३-७) इत्यादिनेति । स इदानीं सूत्रैरेवोपदर्श्यते—

जैमिनिस्त्वाचार्यः 'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४-१५-६) इत्यत्र परमेव ब्रह्म प्रापयतीति मन्यते । कुतः? मुख्यत्वात् । परं हि ब्रह्म ब्रह्मशब्दस्य मुख्यमालम्बनं गौणमपरं मुख्यगौणयोश्च मुख्ये संप्रत्ययो भवति ॥१२॥

पदं प्रविशन्तीति योजना । एवं सिद्धान्तमुक्त्वा तेन निरस्तं पूर्वपक्षमाह—कं पुनरित्यादिना ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् (ललिता)

समाधान—कार्यब्रह्मलोक का प्रलय हो जाने पर वहाँ रहने वाले उपासकों को तत्त्वज्ञान हो जाता है इसलिए वे वहाँ के अध्यक्ष हिरण्यगर्भ के साथ ही ब्रह्मलोक से विष्णु के परम पद अत्यन्त परिशुद्ध ब्रह्म को प्राप्त कर जाते हैं । इस प्रकार अनावृत्ति आदि श्रुति के कथन से क्रममुक्ति माननी चाहिए क्योंकि परब्रह्म को प्राप्ति गतिपूर्वक मानना उचित नहीं है, ऐसा हम कह आये हैं ॥१०॥

स्मृतेश्च (ललिता)

इसी अर्थ का अनुमोदन 'प्रलयकाल उपस्थित होने पर ब्रह्मलोकनिवासी सभी कृतात्मा उपासक हिरण्यगर्भ का अन्त हो जाने पर उस ब्रह्मा के साथ परम पद में प्रवेश कर जाते हैं' यह स्मृति भी करती है । अतः कार्यब्रह्मविषयक गति सुनी जाती है, परब्रह्मविषयक नहीं; ऐसा सिद्धान्त है ॥११॥

'कार्यं बादरिः' इत्यादि वाक्यों से जो सिद्धान्त प्रतिष्ठापित किया, यह सिद्धान्त किस पूर्वपक्ष की आशङ्का से प्रतिष्ठापित किया है, उस पूर्वपक्ष को ही अब अग्रिम सूत्रों से दिखलाते हैं—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् (ललिता)

'स एनान्ब्रह्म गमयति' इस श्रुति में जैमिनि आचार्य मानते हैं कि इन ब्रह्म उपासकों को अमानव पुरुष परब्रह्म को ही प्राप्त कराता है क्योंकि परब्रह्म ही ब्रह्म शब्द का मुख्य अर्थ है, अपरब्रह्म तो गौण अर्थ है । मुख्य और गौण का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर मुख्य अर्थ को स्वीकार करना ही उचित है ॥१२॥

(५३०) दर्शनाच्च ॥१३॥

(५३१) न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः ॥१४॥

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८-६-६ क० ६-१६) इति च गतिपूर्वकममृतत्वं दर्शयति । अमृतत्वं च परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यते न कार्ये, विनाशित्वात्कार्यस्य । 'अथ यत्रान्यत्पश्यति तदल्पं तन्मर्त्यम्' (छा० ७-२४-१) इति प्रवचनात् । परविषयैव चैषा गतिः कठवल्लीषु पठ्यते । न हि तत्र विद्यान्तरप्रक्रमोऽस्ति 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २-१४) इति परस्यैव ब्रह्मणः प्रक्रान्तत्वात् ॥१३॥

अपि च 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (छा० ८-१४-१) इति नायं कार्यविषयः प्रतिपत्त्यभिसंधिः 'नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' (छा० ८-१४-१) इति कार्यविलक्षणस्य परस्यैव ब्रह्मणः प्रकृतत्वात् । 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्' (छा० ८-१४-१) इति च सर्वात्मत्वेनोपक्रमणात् । 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः' (श्वे० ४-१९) इति च परस्यैव ब्रह्मणो यशोनामत्वप्रसिद्धेः । सा चेयं वेश्मप्रतिपत्तिर्गतिपूर्विका हार्दविद्यायाः-

---

दहरविद्यायां कठवल्लीषु परब्रह्मप्रकरणे च तयोर्ध्वमायन्निति गतिर्दर्शिता ॥१३॥

एवं ब्रह्मश्रुत्यमृतत्वलिङ्गाभ्यां प्रकरणाच्च परविषया गतिरित्युक्तं, सम्प्रति प्रजापतेः सभां वेश्म प्राप्नुयामिति उपासकस्य मरणकाले कार्यप्राप्तिसंकल्पश्रुतेर्न परं गन्तव्यमिति शङ्कां निरस्यति— न च कार्ये इति । परस्य प्रकृतत्वात्, यशःपदस्य परमात्मनामत्वप्रसिद्ध्या यशःपदेनात्मोक्तिः । यश एवाआत्मा ब्राह्मणानामहं भवामि, तथा राज्ञां यशो विशां यश इति सार्वात्म्यलिङ्गाच्च परप्राप्तिसंकल्पयमित्यर्थः । अस्तु वेश्मप्रतिपत्तीच्छा परब्रह्म विषया तथापि सा कथं गतिपूर्विका स्यादित्यत आह— सा चेति । तत्तत्र ब्रह्मलोके विद्याविहीनेनापराजिता पूरस्ति ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य तेनैव प्रभुणा

दर्शनाच्च (ललिता)

'उस मूर्धा नाड़ी से ऊपर की ओर जाने वाला साधक अमरत्व प्राप्त करता है' यह श्रुति गति-पूर्वक अमरत्व बतलाती है । वह अमरत्व परब्रह्म में ही घटता है, कार्यब्रह्म में नहीं क्योंकि वह विनाशी है ऐसा 'जो भेद देखता है वह परिच्छिन्न है और मरणशील है' इस श्रुतिवाक्य से सिद्ध होता है । कठवल्ली उपनिषद् में परब्रह्मविषयक यह गति पढ़ी गयी है, वहाँ पर अन्य विद्या का प्रसङ्ग नहीं है क्योंकि 'जो धर्म से भिन्न है और अधर्म से भिन्न है' इस श्रुतिवाक्य द्वारा परब्रह्म का ही प्रकरण प्रारम्भ किया गया है ॥१३॥

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः (ललिता)

इसके अतिरिक्त 'मैं प्रजापति के सभागार को प्राप्त करूँ' यह श्रुति कार्यब्रह्मविषयक प्रतिपत्ति की अभिसंधि नहीं बतलाती है क्योंकि 'जो नाम रूप का निर्वाहक है और ये नाम-रूप जिसके भीतर हैं' इस वाक्य द्वारा कार्यब्रह्म से विलक्षण परब्रह्म का प्रसङ्ग दीखता है । 'ब्राह्मणों में मैं यशस्वी होऊँ' इस वाक्य द्वारा सर्वात्मतः रूप से प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'जिसका नाम महत् यश है उसकी तुलना नहीं' इस वाक्य से परब्रह्म मे ही यशोनामत्व की प्रसिद्धि है । प्रजापति के सभागार की प्राप्ति 'प्रजापति का वह अपराजित नगर है जिस हिरण्मय नगर का निर्माण प्रभु ने स्वयं ही किया है' इस

मुविता 'तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्' (छा० ८-५-३) इत्यत्र । पदेरपि च गत्यर्थत्वान्मार्गापेक्षाऽवसीयते । तस्मात्परब्रह्मविषया गतिश्रुतय इति पक्षान्तरम् । तावेतौ द्वौ पक्षावाचार्येण सूत्रितौ गत्युपपत्त्यादिभिरेको मुख्यत्वादिभिरपरः । तत्र गत्युपपत्त्यादयः प्रभवन्ति मुख्यत्वादीनामासयितुं न तु मुख्यत्वादयो गत्युपपत्त्यादीनित्याद्य एव सिद्धान्तो व्याख्यातो द्वितीयः पूर्वपक्षः ।

न ह्यसत्यपि सम्भवे मुख्यस्यैवार्थस्य ग्रहणमिति कश्चिदाज्ञापयिता विद्यते । परविद्याप्रकरणेऽपि च तत्स्तुत्यर्थं विद्यान्तराश्रयगत्यनुकीर्तनमुपपद्यते 'विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' (छा० ८-६-६) इतिवत् । 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (छा० ८-१४-१) इति तु

विमितं निर्मितं हिरण्मयं वेश्मास्ति तत्प्रतिपद्यते विद्वानिति दहरविद्यायां गतिपूर्विका वेश्मप्राप्तिरुक्ता । तेन परब्रह्मण्यपि वेश्मप्रतिपत्तिशब्दसामान्याद्गतिपूर्वकत्वं तस्याः सिध्यतीत्यर्थः । किञ्च पद गताविति धातुपाठाद्वेश्म प्रपद्ये इत्यत्र मार्गापेक्षा भातीत्याह—पदेरपीति । पूर्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति । आद्य एव सिद्धान्तपक्ष इति दृढीकर्तुमुपक्रमते—ताविति ।

ब्रह्मशब्दमुख्यत्वादिहेतूनामाभासत्वं स्फुटयति—न हीति । गन्तव्यत्वस्य ब्रह्मलोकेष्विति बहुवचनादेः संकल्पादेव गन्धादिदिव्यभोगश्रुतेश्च परब्रह्मण्यसंभवान्मुख्यार्थत्याग इत्यर्थः । यद्यप्येतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्मेत्यादिश्रुतिषु प्रयोगसाम्याद्ब्रह्मशब्द उभयत्र रूढतया मुख्य एव तथापि पूर्णे परस्मिन्नवयवार्थस्य निरतिशयमहत्त्वस्य लाभादपरब्रह्मण्यमुख्य इत्यङ्गीकृतमिति मन्तव्यम् । यदुक्तं कठवल्लीषु प्रकरणबलाद्गतिः परविषयेति, तत्राह—परेति । यथा विद्यासंबद्धसुषुम्नास्तुत्यर्थं तदसंबद्धनाड्यन्तरकीर्तनं तथा परविद्यास्तुत्यर्थं तत्प्रकरणेऽप्यपरविद्याश्रयगतिकीर्तनं युज्यते, गतिं विनापि हि परविद्या निरतिशयफला तस्यां स्वपरविद्याफलं गतिसाध्यमन्तर्भवतीति स्तुतिलाभादित्यर्थः । यदप्युक्तं प्राप्तिसंकल्पोऽपि प्रकृतपरविषय इति तत्रेत्याह—प्रजापतेरिति । प्रजापतिसभावेश्मश्रुति-

---

श्रुति में कथित हार्दविद्याप्रसङ्ग में गतिपूर्वक बतलायी गयी है । 'पद' धातु भी गत्यर्थक होने से मार्ग की अपेक्षा रखता है । अतः गतिश्रुतियाँ परब्रह्म को विषय करती हैं, ऐसा पूर्वपक्ष है । इन दोनों पक्षों को आचार्य बादरायण ने सूत्रित किया है जिनमें गति की उपपत्ति आदि हेतुओं से सिद्धान्त पक्ष कहा गया है और मुख्यत्व आदि हेतुओं से पूर्वपक्ष बतलाया गया है । उनमें मुख्यत्व आदि हेतुओं को आभासित करने के लिए गति-उपपत्ति आदि हेतु समर्थ है, न कि मुख्यत्वादि हेतु गति-उपपत्त्यादि हेतु को आभासित कर सकेंगे इसलिए सिद्धान्त पक्ष की व्याख्या पहले की गयी और दूसरा पूर्वपक्ष माना गया ।

सम्भव न होने पर भी मुख्यार्थ का ही ग्रहण करना चाहिए, यह कोई राजाज्ञा नहीं है । परविद्या के प्रसङ्ग में भी उसकी स्तुति के लिए अपर विद्या के आश्रित गति का संकीर्तन वैसे ही युक्तियुक्त हो जाता है जैसे कठोपनिषद् में 'विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' इस वाक्य द्वारा परविद्या के प्रसङ्ग में गति का वर्णन मिलता है । 'मैं प्रजापति के सभागार को प्राप्त होऊँ' इस श्रुति में

पूर्ववाक्यविच्छेदेन कार्येऽपि प्रतिपत्त्यभिसंनिधिर्न विरुध्यते । सगुणेऽपि च ब्रह्मणि सर्वात्मत्वसङ्कीर्तनं सर्वकर्मा सर्वकाम इत्यादिवदवकल्पते । तस्मादपरविषया एव गतिश्रुतयः ।

केचित्पुनः पूर्वाणि पूर्वपक्षसूत्राणि भवन्त्युत्तराणि सिद्धान्तसूत्राणीत्येतां व्यवस्थामनुरुध्यमानाः परविषया एव गतिश्रुतीः प्रतिष्ठापयन्ति तदनुपपन्नं गन्तव्यत्वानुपपत्तेर्ब्रह्मणः । यत्सर्वगतं सर्वान्तरं सर्वात्मकं च परं ब्रह्म 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३-४-१), 'य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३-४-१), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७-२५२-), 'ब्रह्मवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' (मु० २-२-११) इत्यादिश्रुतिनिर्धारितविशेषं तस्य गन्तव्यता न कदाचिदप्युपपद्यते । न हि गतमेव गम्यते । अन्यो ह्यन्यद्गच्छतीति प्रसिद्धं लोके । ननु लोके गतस्यापि गन्तव्यता देशान्तरविशिष्टा दृष्टा । यथा पृथिवीस्थ एव पृथिवीं देशान्तरद्वारेण गच्छतीति । तथानन्यत्वेऽपि बालस्य कालान्तरविशिष्टं वार्धकं स्वात्मभूतमेव गन्तव्यं दृष्टं तद्वद्ब्रह्मणोऽपि सर्वशक्त्युपेतत्वात्कथञ्चिद्गन्त-

भिस्तत्संघातात्मकवाक्येन च प्रकरणं बाध्यं, यशोऽहमिति सार्वात्म्य तूपासनार्थमपरब्रह्मण्युपयुज्यत इत्यर्थः । स्वपक्षमुक्त्वापरमतं दूषयति—केचिदित्यादिना । सर्वगतस्य स्वात्मभूतस्यापि ब्रह्मणः संसारदेशाद्देशान्तरेण तत्कालात्कालान्तरेण विशिष्टतया गन्तव्यत्वं स्यादिति पृथिवीवयोदृष्टान्ताभ्यां शङ्कते—नन्विति । यत्नं विनैव प्राप्तमनन्यत्वम्, अवस्थातद्वतोरभेदात्स्वात्मभूतत्वम् । ननु युक्तं भूवयसोः प्राप्तयोरपि देशान्तरकालान्तरविशिष्टत्वेन गन्तव्यत्वं तयोर्गन्तृभिन्नत्वात् ब्रह्मणस्तु गन्तृभिन्नत्वात्, कथं गन्तव्यत्वं तत्राह—सर्वशक्तीति । या प्राप्ता भूः सा न गन्तव्या यच्च गन्तव्यं देशान्तरं तत्त्वप्राप्तमिति कुतः प्राप्तस्य गन्तव्यता वयसोऽपि कालान्तरेऽभिव्यक्तिमात्रं न गन्तव्यत्वमिति वस्तुगतिः । अङ्गीकृत्य विशिष्टभूवयसोर्गन्तव्यतां परब्रह्मणो देशकालविशिष्टयाभावाम्न

वाक्यभेद द्वारा कार्यब्रह्म में प्रतिपत्ति की अभिसन्धि विरुद्ध नहीं । सगुण ब्रह्म में भी सर्वात्मत्व का संकीर्तन 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्यादि की भाँति हो सकता है । अतः गतिश्रुतियाँ अपर ब्रह्म को ही विषय करती हैं ।

कुछ लोग पूर्वपक्ष सूत्र को पहले मानते हैं और सिद्धान्त को बाद में कहते हैं, इस व्यवस्था के अनुरूप गतिश्रुति को परब्रह्मविषयक ही प्रतिष्ठापित करते हैं । किन्तु यह कथन युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि परब्रह्म में गन्तव्यत्व की सिद्धि नहीं होती । 'जो सर्वव्यापक, सर्वान्तर, सर्वात्मक परब्रह्म है', 'आकाश की भाँति सर्वव्यापक और नित्य है', 'जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है', जो आत्मा सर्वान्तर है,' 'यह सब आत्मा ही है' 'यह सम्पूर्ण विश्व वरिष्ठ ब्रह्म ही है' इन श्रुतियों से विशेष निश्चित हो चुका, अतः प्रकार से भी गन्तव्यता घटती नहीं । प्राप्त को कोई प्राप्त नहीं करता; लोक में दूसरा ही दूसरे को प्राप्त करता है, यह प्रसिद्ध है । शङ्का—लोक में प्राप्त में भी देशान्तरविशिष्ट में गन्तव्यता देखी गयी है । जैसे पृथ्वी में रहने वाला व्यक्ति देशान्तर पृथ्वी को प्राप्त करता है और जैसे बालक एक होते हुए भी वह कालान्तरविशिष्ट अपने ही वार्धक्य को गन्तव्य मानता देखा गया है अर्थात् बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में वह व्यक्ति एक ही है फिर भी उसे ऐसा कहते देखा गया है कि अब मैं वृद्ध हो गया हूँ, ऐसे ही सर्वशक्तियुक्त होने के कारण ब्रह्म में भी कथञ्चित गन्तव्यता घट सकती है । समाधान—ऐसा मानना ठीक नहीं क्योंकि परब्रह्म में 'ब्रह्म कलारहित, क्रियारहित, शान्त, निर्दोष

व्यता स्यादिति । न, प्रतिषिद्धसर्वविशेषत्वाद्ब्रह्मणः । 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६-१९) 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३-८-८) 'सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २-१-२) 'स वा एष महाजन आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४-४-२५) 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३-९-२६) इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यो न देशकालादिविशेषयोगः परमात्मनि कल्पयितुं शक्यते, येन भूप्रदेशवयोवस्थान्यायेनास्य गन्तव्यता स्यात् । भूवयसोस्तु प्रदेशावस्थादिविशेषयोगादुपपद्यते देशकालविशिष्टा गन्तव्यता । जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुत्वश्रुतेरनेकशक्तित्वं ब्रह्मण इति चेत् । न, विशेषनिराकरणश्रुतीनामनन्यार्थत्वात् ।

उत्पत्त्यादिश्रुतीनामपि समानमनन्यार्थत्वमिति चेत् । न, तासामेकत्वप्रतिपादनपरत्वात् । मृदादिदृष्टान्तैर्हि सतो ब्रह्मण एकस्य सत्यत्वं विकारस्य चानृतत्वं प्रतिपादयच्छास्त्रं नोत्पत्त्यादिपरं भवितुमर्हति । कस्मात्पुनरुत्पत्त्यादिश्रुतीनां विशेषनिराकरणश्रुतिशेषत्वं न पुनरितरशेषत्वमितरासामिति । उच्यते—विशेषनिराकरणश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थत्वात् । न ह्यात्मन एकत्वनित्यत्वशुद्धत्वाद्यवगतौ सत्यां भूयः काचिदाका-

---

कथंचिदपि गन्तव्यतेत्याह—नेत्यादिना । 'अनादिमत्परं ब्रह्म' इत्याद्या स्मृतिर्दृश्यविशेषस्य दृशि कल्पितत्वाद्दृगात्मनो निर्विशेषतेति न्यायः । सगुणमेव ब्रह्म सूत्रात्मापेक्षया परं गन्तव्यम् निर्विशेषं तु नास्त्येवेति शङ्कते—जगदुत्पत्तीति । किं निर्विशेषस्यासत्त्वं मानाभावात्सविशेषश्रुतिविरोधाद्वा । नाद्य इत्याह—नेति ।

द्वितीयं शङ्कते—उत्पत्त्यादीति । सविशेषश्रुतीनां निर्विशेषश्रुतिशेषत्वान्न विरोध इत्याह—नेति । निर्विशेषश्रुतीनामेव सविशेषश्रुतिशेषत्वं किं न स्यादित्याह—कस्मादीति । तासां स्वार्थे फलवत्त्वेन निराकाङ्क्षत्वाच्छेषिता विशेषश्रुतीनां स्वफलत्वाभावश्च विशेषसमर्पणादिद्वारेण शेषत्वं फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमिति न्यायादित्याह—उच्यत इत्यादिना । न केवलं न्यायाच्छेषता किंतु श्रुत्यापीत्याह—

और निरंजन है', 'ब्रह्म स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं, ह्रस्व नहीं, दीर्घ नहीं', 'वह अजन्मा ब्रह्म बाहर-भीतर सर्वत्र है', 'निःसन्देह वह अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत और अभय ब्रह्मस्वरूप है', 'वह यह नहीं, यह नहीं' इत्यादि श्रुति, स्मृति एवं युक्ति से देशकालादिविशेष का सम्बन्ध नहीं कह सकते हैं जिससे भू-प्रदेश और वय-अवस्था न्याय को लेकर उस परब्रह्म में गन्तव्यता मान सकें । भू एवं वय में प्रदेश तथा अवस्थादिविशेष के सम्बन्ध से देशकालविशिष्ट गन्तव्यता घट जाती है । शङ्का—जगदुत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयहेतुत्व श्रुति के आधार पर ब्रह्म को अनेक शक्तिवाला माना जा सकता है । समाधान—विशेषनिराकरणश्रुति अनन्यार्थक है, इसलिए उक्त शङ्का की सम्भावना नहीं है । शङ्का—उत्पत्त्यादि श्रुति भी निराकरणश्रुति की भाँति अनन्यार्थक है । समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि विशेषनिराकरणश्रुति एकत्व का प्रतिपादन करती है, मृदादि दृष्टान्तों द्वारा एक सद्ब्रह्म में सत्यत्व एवं विकार में अनृतत्वप्रतिपादक शास्त्र उत्पत्त्यादिबोधक नहीं हो सकता ।

शङ्का—उत्पत्ति आदि श्रुतियों को विशेषनिराकरणश्रुति का अङ्ग क्यों मानते हो, निराकरणश्रुति को ही उत्पत्त्यादिश्रुति का अङ्ग क्यों नहीं मानते । समाधान—विशेषनिराकरण श्रुतियाँ निराकांक्षार्थक हैं क्योंकि आत्मा एक, नित्य और शुद्ध अवगत हो जाने पर फिर कभी कोई आकांक्षा उत्पन्न

ङ्क्षोपजायते पुरुषार्थसमाप्तिबुद्ध्युपपत्तेः 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई० ७), 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४-२-४), 'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' 'एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' (तै० २-९-१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथैव च विदुषां तुष्टयनुभवादिदर्शनात्। विकारानृताभिसंध्यपवादाच्च 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (क० २-१-१०) इति, अतो न विशेषनिराकरणश्रुतीनामन्यशेषत्वमवगन्तुं शक्यते। नैवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थप्रतिपादनसामर्थ्यमस्ति। प्रत्यक्षं तु तासामन्यार्थत्वं समनुगम्यते। तथाहि 'तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यति' (छा० ६-८-३) इत्युपन्यस्योदर्के सत एवैकस्य जगन्मूलस्य विज्ञेयत्वं दर्शयति। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्म' (तै० ३-१-१) इति च। एवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनामैकात्म्यावगमपरत्वान्नानेकशक्तियोगो ब्रह्मणः। अतश्च गन्तव्यत्वानुपपत्तिः। 'न तस्य

प्रत्यक्ष त्विति। तत्र मूलकारणे ब्रह्मण्येतच्छुङ्गं जगदात्मकं कार्यमुत्पन्नमित्युपक्रम्य तेन शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छेत्युपसंहारे सत एव ज्ञेयत्वमुक्तं छान्दोग्ये। तथा तैत्तरीयकेऽपि जगज्जन्माद्यनुवादेन ब्रह्मण एव ज्ञेयत्वं दर्शितमतः सृष्टिश्रुतीनां श्रुत्यैव निर्विशेषधीशेषता भातीत्यर्थः। एवं ब्रह्मणो निर्विशेषत्वान्न गन्तव्यतेति फलितमाह—एवमिति। स्पष्टनिषेधाच्च परस्य न गन्तव्यतेत्याह—न तस्येति।

नहीं होती क्योंकि उस समय पुरुषार्थ की समाप्ति हो जाती है। 'वहाँ क्या मोह और क्या शोक जब एकत्व को देख लेता है', 'हे जनक ! निःसन्देह अब तुम अभय को प्राप्त कर गये हो', 'विद्वान् किसी से भयभीत नहीं होता', 'इस ज्ञानी को पुण्य-पाप संतप्त नहीं करते कि मैंने पुण्य क्यों किया और पाप क्यों किया' इन सभी श्रुतियों में पुरुषार्थसमाप्ति का ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर ज्ञानी में कृतकृत्यता भासने लग जाती है। वैसा ही विद्वानों में तुष्टि का अनुभव देखा जाता है और विकारजगत् में अभिसन्धि की निन्दा भी देखी जाती है—'वह मृत्यु को प्राप्त करता है जो यहाँ भेद देखता है।' अतः विशेषनिराकरणबोधक श्रुतियों में अन्यशेषत्व नहीं जान पड़ता है। उत्पत्ति आदि श्रुतियों में ऐसा निराकांक्षार्थत्वप्रतिपादनसामर्थ्य नहीं है, किन्तु उनमें अन्यशेषत्व का ही बोध होता है। 'हे सोम्य ! इस उत्पन्न हुए कार्य के कारण को विशेषरूप से जानो क्योंकि कोई भी कार्य बिना कारण के हो नहीं सकता' ऐसा प्रसङ्ग प्रारम्भकर अन्त में एक ही सत् जगत् मूल में विज्ञेयत्व श्रुति बतलाती है कि जानने योग्य पदार्थ जगत् का परमकारण एक अद्वय आत्मा ही है। 'जिस कारण से सभी भूत उत्पन्न होते है, उत्पन्न होकर जिससे जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें विलीन होते हैं उसे विशेषरूप से जानो, वह ब्रह्म है' यह वाक्य भी जगत् के मूल कारण ब्रह्म को ही विज्ञेय बतलाता है। इस प्रकार उत्पत्त्यादिश्रुति में एकात्मता का बोध होने के कारण ब्रह्म में परमार्थतः अनेक शक्ति का योग मानना ठीक नहीं है, इसीलिए उसमें गन्तव्यत्व सिद्ध नहीं होता। 'तत्त्वज्ञानी के प्राण शरीरान्तर-

प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४-४-६) इति च परस्मिन्ब्रह्मणि गतिं निवारयति । तद्व्याख्यातम् 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' (ब्र० सू० ४-२-१३) इत्यत्र ।

गतिकल्पनायां च गन्ता जीवो गन्तव्यस्य ब्रह्मणोऽवयवो विकारो वान्यो वा ततः स्यात् । अत्यन्ततादात्म्ये गमनानुपपत्तेः । यद्येवं ततः किं स्यात् ? उच्यते । यद्येकदेशस्तेनैकदेशिनो नित्यप्राप्तत्वान्न पुनर्ब्रह्मगमनमुपपद्यते । एकदेशैकदेशित्वकल्पना च ब्रह्मण्यनुपपन्ना निरवयवत्वप्रसिद्धेः । विकारपक्षेऽप्येतत्तुल्यं विकारेणापि विकारिणो नित्यप्राप्तत्वात् । नहि घटो मृदात्मतां परित्यज्यावतिष्ठते परित्यागे वाऽभावप्राप्तेः । विकारावयवपक्षयोश्च तद्वतः स्थिरत्वाद्ब्रह्मणः संसारगमनमप्यनवक्लृप्तम् । अथान्य एव जीवो ब्रह्मणः । सोऽणुर्व्यापी मध्यमपरिमाणो वा भवितुमर्हति । व्यापित्वे गमनानुपपत्तिः । मध्यमपरिमाणत्वे । चानित्यत्वप्रसङ्गः । अणुत्वे कृत्स्नशरीरवेदनानुपपत्तिः । प्रतिषिद्धे

एवं गन्तव्यालोचनया गतिं निरस्य गन्त्रालोचनयापि निरस्यति–गतिकल्पनायां चेत्यादिना । भेदाभेदेन द्वौ कल्पावत्यन्तभेदस्तृतीयः कल्पः । नन्वत्यन्ताभेदकल्पः किमिति नोक्तः, तत्राह—अत्यन्तेति । कल्पत्रये किं दूषणमिति पृच्छति—यद्येवमिति । कल्पद्वयेऽपि दोषान्तरमाह—विकारावयवपक्षयोश्चेति । विकारावयवरूपजीवविशिष्टस्य ब्रह्मणः स्थिरत्वाज्जीवानां गत्यागती न स्याताम् । नह्यचलातिस्थूलपाषाणस्थयोर्मण्डूकपाषाणावयवयोश्चलनमस्तीत्यर्थः । अस्माकं त्वज्ञानात्कल्पितोपाधिभिर्गत्यागतिविभ्रम इति भावः । तृतीयकल्पमनूद्य विकल्प्य दूषयति—अथेत्यादिना । अभेदश्रुति-

ग्रहण के लिए शरीर से नहीं निकलते हैं, वह तो जीते जी ब्रह्म होता हुआ ब्रह्म में ही लीन हो जाता है' इस वाक्य के द्वारा यह श्रुति ब्रह्म में गति का निषेध करती है। उसी का व्याख्यान 'स्पष्ट ह्येकेषाम्' इस सूत्र से किया गया है।

परब्रह्म में गति की कल्पना करने पर गन्ता-जीव गन्तव्य-ब्रह्म का अवयव है, विकार है या उससे भिन्न वस्तु है क्योंकि अत्यन्त तादात्म्य रहने पर गमन की सिद्धि बन नहीं सकती। उक्त तीनों विकल्पों में क्या दोष है, ऐसी जिज्ञासा होने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि जीव ब्रह्म का एकदेश है तो उस जीव के साथ एकदेशी ब्रह्म का नित्यसम्बन्ध प्राप्त ही है, पुनः ब्रह्म के प्रति गमन नहीं बनता। साथ ही निरवयव होने के कारण ब्रह्म में एकदेशीकल्पना बनती भी नहीं। विकार पक्ष में भी यह दोष समान ही है, विकार के साथ भी विकारी का नित्यसम्बन्ध है। मृत्तिका का विकार घट मृद्रूपता को छोड़कर कभी रह नहीं सकता और मृद्रूपता का परित्याग करने पर घट का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। विकार और अवयव पक्ष में एक यह भी दोष आयेगा कि विकार एवं अवयववाले ब्रह्म में स्थिरत्व रहने के कारण संसारगमन भी नहीं सिद्ध होता है। अचल अतिस्थूल पाषाण में बने हुए मण्डूक एवं पाषाण के अवयव में चलन हो ही नहीं सकता। हमारे पक्ष में अज्ञान से कल्पित उपाधियों के द्वारा गति एवं आगति का भ्रम हो सकता है। तृतीय कल्प के अनुसार ब्रह्म से जीव को भिन्न मानने पर यह प्रश्न होता है कि वह जीव अणुपरिमाण है, विभुपरिमाण है अथवा मध्यमपरिमाण है। विभुपरिमाण मानने पर गमन सिद्ध नहीं होता, मध्यमपरिमाण मानने पर जीव में अनित्यत्व का प्रसङ्ग आ जायेगा और अणुपरिमाण मानने पर भी सम्पूर्णशरीरव्यापीवेदना की सिद्धि होने लग जायेगी। साथ ही अणुत्व एवं मध्यमपरिमाण पक्ष का

चाणुत्वमध्यमपरिमाणत्वे विस्तरेण पुरस्तात्। परस्माच्चान्यत्वे जीवस्य 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७) इत्यादिशास्त्रबाधप्रसङ्गः। विकारावयवपक्षयोरपि समानोऽयं दोषः। विकारावयवयोस्तद्वतोऽनन्यत्वाददोष इति चेत्।

न। मुख्यैकत्वानुपपत्तेः। सर्वेष्वेतेषु पक्षेष्वनिर्मोक्षप्रसङ्गः। संसार्यात्मत्वानिवृत्तेः। निवृत्तौ वा स्वरूपनाशप्रसङ्गः। ब्रह्मात्मत्वानभ्युपगमाच्च।

यत्तु कैश्चिज्जल्प्यते नित्यानि नैमित्तिकानि कर्माण्यनुष्ठीयन्ते प्रत्यवायानुत्पत्तये काम्यानि प्रतिषिद्धानि च परिह्रियन्ते स्वर्गनरकानवाप्तये सांप्रतदेहोपभोग्यानि च कर्माण्युपभोगेनैव क्षप्यन्त इत्यतो वर्तमानदेहपातादूर्ध्वं देहान्तरप्रतिसंधान-कारणाभावात्स्वरूपावस्थानलक्षणं कैवल्यं विनापि ब्रह्मात्मतयैवंवृत्तस्य सेत्स्यतीति। तदसत्। प्रमाणाभावात्। न ह्येतच्छास्त्रेण केनचित्प्रतिपादितं मोक्षार्थीत्थं समाचरेदिति। स्वमनीषया त्वेतत्तर्कितं यस्मात्कर्मनिमित्तः संसारस्तस्मान्निमित्ताभावान्न भविष्यतीति।

विरोधरूपो दोषो मम नास्तीति भेदाभेदवाद्याह—विकारावयवयोरिति।

भिन्नयोरभेदो मुख्यो न युक्तो विरोधादिति परिहरति—नेति। किंच पक्षत्रयमप्ययुक्तं संसारित्वस्य तात्त्विकजीवभावस्य नाशे तात्त्विकजीवस्वरूपनाशप्रसङ्गात्। नचास्माभिरिव त्वया ब्रह्मात्मत्वं जीवस्य तात्त्विकरूपमङ्गीकृतं यदस्य संसारनाशेऽपि न नश्येदित्याह—सर्वेष्विति।

ननु किं ब्रह्मत्वेन, संसाराभावः किल मोक्षः स च कर्माभावमात्रेण सेत्स्यतीति कर्मजडानां मतमुद्भाव्य निरस्यति—यत्त्वित्यादिना। तदिति। एवंवृत्त मोक्षहेतुरित्यस्मिन्नर्थे मानाभावादित्यर्थः।

विस्तार से पहले निराकरण किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त परमात्मा से जीव को भिन्न मानने पर 'तत्त्वमसि' इत्यादि शास्त्र का बाधप्रसङ्ग भी आ जायेगा। विकार एवं अवयव पक्ष में भी शास्त्रबाध दोष समान ही है। शङ्का—विकार एवं अवयव पक्ष में विकारी और अवयवी के साथ उनका अभेद होने के कारण अभेदश्रुतिबाधरूप दोष नहीं है। समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि मुख्य एकत्व की सिद्धि विकार तथा अवयव पक्ष में नहीं हो सकती। इन सभी पक्षों में संसारीपन की निवृत्ति न होने के कारण मोक्षाभाव का प्रसङ्ग आयेगा ही अथवा संसारीरूपत्व की निवृत्ति होने पर जीव के स्वरूप का नाश होने क्योंकि नित्य-नैमित्तिक कर्मों के साथ उनका विरोध नहीं है। विरोध रहने पर ही नाश्यनाशकभाव होता है, जन्मान्तरीय सञ्चित पुण्य कर्मों का नित्य-नैमित्तिक कर्म के साथ विरोध है ही नहीं क्योंकि दोनों में शुद्धिरूपत्व एक जैसा है। अशुद्धरूप होने के कारण विरोध होने से नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान द्वारा सञ्चित पाप कर्म का नाश तो हो सकता है, किन्तु इतने मात्र से देहान्तरग्रहण के निमित्त का अभाव सिद्ध नहीं होता। देहान्तरग्रहण का निमित्त पुण्यकर्म तो विद्यमान ही है, साथ ही समस्त पाप का भी पूर्णरूप से नाश होना नहीं जान पड़ता है। और नित्य-नैमित्तिक कर्म के अनुष्ठान से प्रत्यवाय की अनुत्पत्तिमात्र होती है, ऐसा मानने में प्रमाण नहीं है। अनुनिष्पादी फलान्तर का होना भी सम्भव है, ऐसा आपस्तम्ब स्मृति

न चैतत्तर्कयितुमपि शक्यते निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वात् । बहूनि हि कर्माणि जात्यन्तरसंचितानीष्टानिष्टविपाकान्येकैकस्य जन्तोः सम्भाव्यन्ते । तेषां विरुद्धफलानां युगपदुपभोगासम्भवात्कानिचिल्लब्धावसराणीदं जन्म निर्मिमते कानिचित्तु देशकालनिमित्तप्रतीक्षाण्यासत इत्यतस्तेषामवशिष्टानां सांप्रतेनोपभोगेन क्षपणासम्भवान्न यथावर्णितचरितस्यापि वर्तमानदेहपाते देहान्तरनिमित्ताभावः शक्यते निश्चेतुम् । कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्च 'तद्य इह रमणीयचरणास्ततः शेषेण' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः ।

स्यादेतत् । नित्यनैमित्तिकानि तेषां क्षेपकाणि भविष्यन्तीति । तन्न । विरोधाभावात् । सति हि विरोधे क्षेप्यक्षेपकभावो भवति । नच जन्मान्तरसंचितानां सुकृतानां नित्यनैमित्तिकैरस्ति विरोधः । शुद्धिरूपत्वाविशेषात् । दुरितानां त्वशुद्धिरूपत्वात्सति विरोधे भवतु क्षपणं न तु तावता देहान्तरनिमित्ताभावसिद्धिः । सुकृतनिमित्तत्वोपपत्तेः । दुश्चरितस्याप्यशेषक्षपणानवगमात् । नच नित्यनैमित्तिकानुष्ठानात्प्रत्यवायानुत्पत्तिमात्रं

तर्क एव मानमित्यत आह—न चैतत्तर्कयितुमिति । ननु तवाप्येतत्तर्कमात्रमेकस्मिञ्जन्मन्यनेकविरुद्धफलानां कर्मणां भोगायोगादस्त्यवशिष्टं कर्म जन्मान्तरस्य निमित्तमित्याशङ्क्य तत्र मानमाह—कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्चेति। सन्त्वनारब्धफलानि पुण्यपापानि तेषां नित्याद्यनुष्ठानेन क्षयान्न जन्मान्तरमिति शङ्कते—

स्यादेतदिति । पुण्येन पुण्यस्य न नाशः अविरोधादन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । पापस्यापि सर्वात्मना पुण्यनाश्यत्वे मानं नास्तीति संचितपुण्यपापाभ्यां जन्मान्तरं दुर्वारमित्याह—तन्नेत्यादिना । क्रियमाणनित्यादिनापि जन्म स्यात्, कर्मणा पितृलोक इत्यविशेषश्रुतेः, स्मृतेश्चेत्याह—नच नित्येति । प्रत्य-

---

कहती है—'जैसे फल के लिए आम्रवृक्ष के लगाने पर छाया और गन्ध भी उत्पन्न होते ही हैं ऐसे ही धर्मानुष्ठान के पीछे अर्थ उत्पन्न होते ही हैं।' साथ ही तत्त्वज्ञान के अभाव में काम्य एवं निषिद्ध कर्म का सर्वथा वर्जन कह भी नहीं सकते। जन्म और मरण के अन्तराल में कोई भी व्यक्ति तत्त्वज्ञान के बिना यह दावा नहीं कर सकता कि मैंने काम्य तथा निषिद्ध कर्म का सर्वथा परित्याग कर दिया है। अत्यन्त निपुणता से कर्म करने पर भी अपराध का संशय होता रहता है, अतः जन्मान्तर के निमित्त के अभाव को जानना अत्यन्त कठिन है। ज्ञानगम्य ब्रह्मात्मत्व को न मानने पर अग्नि में औष्ण्य स्वभाव की भाँति कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वभाववाले आत्मा में मोक्ष की आकांक्षा भी नहीं कर सकते क्योंकि स्वभाव अपरिहार्य माना जाता है। शङ्का—कर्तृत्वादिरूप कार्य आत्मा का स्वभाव नहीं है किन्तु उसकी शक्ति है, इस प्रकार शक्ति के रहने पर भी कार्य का परिहार हो जाने के कारण मोक्ष सिद्ध हो जायेगा। समाधान—ऐसा मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि शक्ति के रहते-रहते कार्य उत्पत्ति का वारण कठिन ही है। लग जायेगा क्योंकि जीव को ब्रह्मस्वरूप आप मानते नहीं हैं।

जो भी कोई ऐसा कहते हैं कि प्रत्यवाय की अनुत्पत्ति के लिए नित्य-नैमित्तिक कर्म का अनुष्ठान किया जाता है, काम्य एवं निषिद्ध कर्म का परित्याग कर दिया जाता है और वर्तमान देह से भोगने योग्य कर्म तो भोग से ही क्षीण हो जाते हैं; अतः वर्तमान देहपात के पश्चात् देहान्तरप्राप्ति का कारण न रह जाने से स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष, उक्त रीति से कर्म करने वाले का, ब्रह्मज्ञान के बिना भी सिद्ध हो जायेगा। ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। किसी शास्त्र में ऐसा प्रतिपादन नहीं किया गया है कि मोक्षार्थी इस प्रकार से आचरण करे। अपनी बुद्धि से आप

न पुनः फलान्तरोत्पत्तिरिति प्रमाणमस्ति फलान्तरस्याप्यनुनिष्पादिनः संभवात् । स्मरति ह्यापस्तम्बः—'तद्यथाम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते' इति । न चासति सम्यग्दर्शने सर्वात्मना काम्यप्रतिषिद्धवर्जनं जन्मप्रायणान्तराले केनचित्प्रतिज्ञातुं शक्यम् । सुनिपुणानामपि सूक्ष्मापराधदर्शनात् । संशयितव्यं तु भवति तथापि निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वमेव । न चानभ्युपगम्यमाने ज्ञानगम्ये ब्रह्मात्मत्वे कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावस्यात्मनः कैवल्यमाकाङ्क्षितुं शक्यम् । अग्न्यौष्ण्यवत्स्वभावस्यापरिहार्यत्वात् । स्यादेतत् । कर्तृत्वभोक्तृत्वं कार्यमनर्थो न तच्छक्तिस्तेन शक्त्यवस्थानेऽपि कार्यपरिहारादुपपन्नो मोक्ष इति । तच्च न । शक्तिसद्भावे कार्यप्रसवस्य दुर्निवारत्वात् । अथापि स्यान्न केवला शक्तिः कार्यमारभतेऽनपेक्ष्यान्यानि निमित्तानि । अतः एकाकिनी सा स्थितापि नापराध्यतीति । तच्च न । निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन सम्बन्धेन नित्यसम्बद्धत्वात् । तस्मात्कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावे सत्यात्मन्यसत्यां विद्यागम्यायां ब्रह्मात्मतायां न कथंचन मोक्षं प्रत्याशास्ति । श्रुतिश्च—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३-८) इति ज्ञाना-

वायनिरासार्थं नित्याद्याचारे सत्यनु पश्चात्फलान्तरं निष्पद्यत इत्यत्र दृष्टान्तः । तद्यथेति । निर्मिते आरोपिते सतीत्यर्थः । तथापि काम्यादिकर्मसत्तानिश्चयो नास्त्यत आह—संशयितव्यं त्विति । ज्ञानं विना देहपाते मोक्ष एवेति निश्चयालाभात्त्वत्पक्षे क्षतिरिति भावः । ब्रह्मभिन्नस्य जीवस्य कर्तृत्वादिस्वभावस्य मोक्षाशा न युक्तेत्याह—नचेति । कर्तृत्वादिरूपं कार्यं न स्वभावः किंतु तच्छक्तिरिति शङ्कते—स्यादेतदिति । कार्यगम्यायाः शक्तेः कार्यस्यात्यन्तानुत्पादे सत्त्वमयुक्तमतः शक्तिसत्त्वे तद्विषयस्य कार्यस्यादृष्टदेशकालादिनिमित्तानां चात्मना शक्तिद्वारा नित्यसंबद्धत्वान्मोक्षो न स्यादिति

ने ऐसी कल्पना की है कि जब संसार कर्मनिमित्तक है तो निमित्ताभावदशा में संसार नहीं रहेगा। पर ऐसा कल्पना कर नहीं सकते क्योंकि निमित्ताभाव को जानना बड़ा ही कठिन है। जन्मान्तरीय सञ्चित कर्म अनेकों इष्टानिष्ट फलवाले एक-एक जीव के सम्भव हैं, उन विरुद्ध फलवाले सभी कर्मों का एक साथ उपभोग होना सम्भव नहीं है, कुछ कर्म समय पाकर इस जन्म का निर्माण करेंगे और कुछ कर्म देशकालनिमित्त की प्रतीक्षा करते हुए बैठे रहेंगे, अतः उन अवशिष्ट सभी कर्मों का वर्तमानकालिक उपभोग से नाश होना सम्भव नहीं है। जैसा आप ने वर्णन किया है तदनुसार भी वर्तमान देहपात होने पर देहान्तरनिमित्त का अभाव हो जाता है, ऐसा निश्चय नहीं कर सकते क्योंकि 'इनमें से यहाँ पर रमणीय आचरण वाले रमणीय योनि को प्राप्त करते हैं', 'उससे अवशिष्ट कर्म के द्वारा शरीर प्राप्त करते हैं' इस श्रुति-स्मृति से कर्मशेष का सद्भाव ही सिद्ध होता है।

शङ्का—उन शेष कर्मों के नाशक नित्य-नैमित्तिक कर्म हो जायेंगे। **समाधान**—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है **शङ्का**—ऐसा माना जा सकता है कि निमित्त की अपेक्षा बिना केवल शक्ति कार्य आरम्भ नहीं करती है, अतः एकाकी शक्ति के रहने पर भी कोई दोष नहीं है। **समाधान**—ऐसा मानना ठीक नहीं क्योंकि शक्ति के रहने पर उसके विषय कार्य और अदृष्ट देशकालादि निमित्त को भी शक्तिरूप सम्बन्ध से नित्यसम्बद्ध ही माना गया है। इसलिए कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वभाव वाले आत्मा के रहने पर ब्रह्मविद्यागम्य ब्रह्मरूपता के अभाव में कभी भी मोक्ष की आशा नहीं की जा सकती है। इसीलिए 'मान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय' इस वाक्य द्वारा श्रुति भी ज्ञान से भिन्न मोक्षमार्ग का

दन्यं मोक्षमार्गं वारयति । परस्मादनन्यत्वेऽपि जीवस्य सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः । प्रत्यक्षादिप्रमाणाप्रवृत्तेरिति चेत् । न । प्राक्प्रबोधात्स्वप्नव्यवहारवत्तदुपपत्तेः । शास्त्रं च 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २-४-१४; ४-५-१५) इत्यादिनाऽप्रबुद्धविषये प्रत्यक्षादिव्यवहारमुक्त्वा पुनः प्रबुद्धविषये 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २-४-१४, ४-५-१४) इत्यादिना तदभावं दर्शयति । तदेवं परब्रह्मविदो गन्तव्यादिविज्ञानस्य बाधितत्वान्न कथंचन गतिरुपपादयितुं शक्या ।

किंविषयाः पुनर्गतिश्रुतय इति । उच्यते—सगुणविद्याविषया भविष्यन्ति । तथाहि क्वचित्पञ्चाग्निविद्यां प्रकृत्य गतिरुच्यते क्वचित्पर्यङ्कविद्यां क्वचिद्वैश्वानरविद्याम् । यत्रापि ब्रह्म प्रकृत्य गतिरुच्यते यथा 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४-१०-५) इति 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा० ८-१-१) इति च तत्रापि वामनीत्वादिभिः सत्यकामादिभिश्च गुणैः सगुणस्यैवोपास्यत्वात्संभवति गतिः । न क्वचित्परब्रह्मविषया गतिः श्राव्यते यथा गतिप्रतिषेधः श्रावितः 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० ४-४-६) इति । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २-१-१) इत्यादिषु तु सत्यप्याप्नोतेर्गत्यर्थत्वे वर्णितेन न्यायेन देशान्तरप्राप्त्यसंभवात्स्वरूपप्रतिपत्तिरेवेयमविद्याध्यारोपि-

---

परिहरति—तच्चेत्यादिना । मोक्षसिद्ध्यर्थं जीवस्य ब्रह्मत्वाङ्गीकारे संसारानुपपत्तिमाशङ्क्याज्ञानाद्युपपत्तिमसकृदुक्तां स्मारयति—परस्मादित्यादिना । प्रासङ्गिकं परिहृत्य परमं प्रकृतमुपसंहरति—तदेवमिति ।

ननु परविद्यायामप्याप्नोतिपदेन गतिः श्रुतेत्यत आह—ब्रह्मविदाप्नोतीति ।

प्रतिषेध करती है । शङ्का—परमात्मा से जीव को अभिन्न मानने पर भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रवृत्ति न होने पर सभी व्यवहार के लोप का प्रसङ्ग आ जायेगा । समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं । ज्ञान होने से पूर्व स्वप्नव्यवहार की भाँति सभी व्यवहार सिद्ध हो जाते हैं, इसीलिए 'जहाँ द्वैत की भाँति होता है वहाँ दूसरा दूसरे को देखता है' इत्यादि वाक्य द्वारा शास्त्र अज्ञानदशा में प्रत्यक्षादि व्यवहार को बतलाकर पुनः ज्ञानदशा में 'जहाँ इस ज्ञानी का सब कुछ आत्मा ही हो गया वहाँ किससे किसको देखे' इत्यादि वाक्य द्वारा व्यवहाराभाव दिखलाता है । जिस प्रकार गन्तव्यत्वादिविज्ञान के बाधित हो जाने से किसी प्रकार उसमें गति का उपपादन नहीं किया जा सकता ।

शङ्का—फिर गतिश्रुति किसे विषय करती है । समाधान—गतिश्रुति सगुण विद्या को विषय करेगी । ऐसा ही पञ्चाग्नि विद्याप्रसङ्ग में कहीं गति बतलायी है, कहीं पर्यङ्कविद्या में और कहीं वैश्वानर विद्या में गति का उपदेश है । यहाँ भी ब्रह्म का प्रसङ्ग प्रारम्भ करके गति कही गयी है, जैसे 'प्राण ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है' और 'इस मानवशरीररूप ब्रह्मपुर में जो छोटा सा हृदयकमल है' इन सन्दर्भों द्वारा जो गति कही गयी है वहाँ भी वामनित्वादि एवं सत्यकामत्वादि गुणों के द्वारा सगुण ब्रह्म के उपास्य होने से गति सम्भव हो जाती है । किन्तु परब्रह्मविषयक गति कहीं भी नहीं सुनी जाती । उस प्रसङ्ग में जैसे 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति', 'ब्रह्मज्ञानी पर को प्राप्त कर लेता है' इत्यादि स्थलों में तो गत्यर्थक आप्नोति क्रिया के रहने पर भी पूर्वोक्त न्याय से देशान्तरप्राप्ति का होना असम्भव हो जाता है, इसलिए यह स्वरूपबोध ही अविद्या से कल्पित नाम-

तनामरूपप्रविलयापेक्षयाऽभिधीयते 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४·४·६) इत्यादिवदिति द्रष्टव्यम् ।

अपिच परविषया गतिर्व्याख्यायमाना प्ररोचनाय वा स्यादनुचिन्तनाय वा । तत्र प्ररोचनं तावद्ब्रह्मविदो न गत्युक्त्या क्रियते । स्वसंवेद्येनैवाऽव्यवहितेन विद्यासमर्पितेन स्वास्थ्येन तत्सिद्धेः । न च नित्यसिद्धनिःश्रेयसनिवेदनस्यासाध्यफलस्य विज्ञानस्य गत्यनुचिन्तने काचिदपेक्षोपपद्यते । तस्मादपरब्रह्मविषया गतिः । तत्र परापरब्रह्मविवेकानवधारणेनापरस्मिन्ब्रह्मणि वर्तमाना गतिश्रुतयः परस्मिन्नध्यारोप्यन्ते । किं द्वे ब्रह्मणी परमपरं चेति । बाढं द्वे 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' (प्र० ५·२) इत्यादिदर्शनात् । किं पुनः परं ब्रह्म किमपरमिति । उच्यते । यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत्परम् । तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३·१४·२) इत्यादिशब्दैस्तदपरम् । नन्वेवमद्वितीयश्रुतिरुपरुध्येत । न । अविद्याकृतनामरूपोपाधिकतया परिहृतत्वात् । तस्य चापरब्रह्मोपासनस्य तत्संनिधौ श्रूयमाणम् 'स यदि पितृ-

वंफलत्वाच्च गतेर्न परविषयत्वमित्याह—अपिचेति । अनुचिन्तनपक्षं प्रत्याह—न च नित्यसिद्धेति । कथं तर्हि कैश्चित्परविषयत्वं गतेरुक्तमित्याशङ्क्य भ्रान्त्येत्याह—तत्र परापरेति । प्रश्नपूर्वकं परापरब्रह्मविभागं वदन्नपरब्रह्मणि गतेरर्थवत्त्वमाह—किं द्वे इत्यादिना । व्यापिनो जीवस्य कथं गतिस्तत्राह—सर्वगतस्यापीति ॥१४॥

रूप प्रपञ्च के विलय की अपेक्षा से गतिप्रतिषेधक शब्द द्वारा कहा गया है । 'ज्ञानी ब्रह्म होता हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त करता है' इस श्रुति में भी गति का अभाव ही समझना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त व्याख्यायमान परब्रह्मविषयक गति ब्रह्मज्ञान में रुचि परिवर्धन के लिए गयी है अथवा चिन्तन के लिए ? उनमें गति के कथन से ब्रह्मज्ञानी में प्ररोचन तो नहीं किया जा सकता क्योंकि अव्यवहित, विद्यासमर्पित, स्वसंवेद्य स्वरूपनिष्ठा से ही ब्रह्मज्ञान में प्रवृत्ति सिद्ध हो चुकी है और नित्यसिद्ध मोक्ष का ज्ञान जो सिद्धफल विज्ञानरूप है उसमें गति के चिन्तन के लिए किसी की भी अपेक्षा सिद्ध नहीं होती । अतः गति सगुणब्रह्मविषयक ही है । वहाँ पर पर एवं अपर ब्रह्म का विवेक न होने से अपर ब्रह्म में प्रवृत्त होने वाली गतिश्रुतियाँ परब्रह्म में अध्यारोपित हो जाती हैं । शङ्का—क्या पर और अपर ब्रह्म दो हैं ? समाधान—अवश्य ब्रह्म दो हैं क्योंकि 'हे सत्यकाम ! जो यह ॐकार है यही पर और अपर ब्रह्मस्वरूप है' इस श्रुति द्वारा ऐसा ही कहा गया है । शङ्का—पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म क्या वस्तु है ? समाधान—जहाँ पर अविद्याकृत नामरूपादि विशेष के प्रतिषेध द्वारा अस्थूलादि शब्दों से ब्रह्म का व्यपदेश किया है वह पर ब्रह्म है और जहाँ पर उपासना के लिए उसी पर ब्रह्म को किसी नामरूपादि विशेष से विशिष्टकर 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' इत्यादि शब्दों से बतलाया गया है वह अपर ब्रह्म है । शङ्का—इस प्रकार दो ब्रह्म मानने पर अद्वैतश्रुति का उपरोध हो जायेगा । समाधान—अविद्याकृत नाम-रूप उपाधि को लेकर दो ब्रह्म का कथन होने के कारण ऐसे आक्षेपों का परिहार किया जा चुका है । और उस अपर ब्रह्म उपासना के प्रसङ्ग में सुने गये 'वह यदि पितृलोक की कामना करता है' इत्यादि वाक्य द्वारा सांसारिकऐश्वर्यरूप संसारविषयक

६. अप्रतीकालम्बनाधिकरणम् (सू० १५-१६)

(५३२) अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च ॥१५॥

प्रतीकोपासकान्ब्रह्मलोकं नयति वा न वा । अविशेषश्रुतेरेतान्ब्रह्मोपासकवन्नयेत् ।
ब्रह्मक्रतोरभावेन प्रतीकार्हफलश्रवात् । न तान्नयति पञ्चाग्निविदो नयति तच्छ्रुते ॥

लोककामो भवति' (छा० ८-२-१) इत्यादि जगदैश्वर्यलक्षणं संसारगोचरमेव फलं भवति। अनिवर्तितत्वादविद्यायाः । तस्य च देशविशेषावबद्धत्वात्तत्प्राप्त्यर्थं गमनमविरुद्धम् । सर्वगतत्वेऽपि चात्मन आकाशस्येव घटादिगमने बुद्ध्याद्युपाधिगमने गमनप्रसिद्धिरित्यवादिष्म 'तद्गुणसारत्वात्' (ब्र० सू० २-३-२९) इत्यत्र । तस्मात् 'कार्यं बादरिः' (ब्र० सू० ४-३-७) इत्येष एव स्थितः पक्षः । 'परं जैमिनिः' (ब्र० सू० ४-३-१२) इति तु पक्षान्तरप्रतिभानमात्रप्रदर्शनं प्रज्ञाविकासनायेति द्रष्टव्यम् ॥१४॥

स्थितमेतत्कार्यविषया गतिर्न परविषयेति । इदमिदानीं संदिह्यते किं सर्वान्विकारालम्ब-

---

एवं गन्तव्यं निरूप्य गन्तॄन्निर्धारयति—अप्रतीकेति । 'स एतान् ब्रह्म गमयति' इत्यविशेषश्रुतेः

ही फल सुना जाता है क्योंकि अभी तक उसकी अविद्या की निवृत्ति नहीं हो पायी है। देशविशेष से बँधे रहने के कारण उस अपरब्रह्म उपासक को अपने उपास्य की प्राप्ति के लिए गति मानना विरुद्ध नहीं है। जैसे आकाश घटादि की गति से गतिवाला प्रतीत होता है, ऐसे ही व्यापक होने पर भी बुद्ध्यादि उपाधि के गमन में आत्मा में गति की प्रसिद्धि है; ऐसा हम 'तद्गुणसारत्वात्' इस सूत्र मे कह आये है। अतः 'कार्यं बादरिः' यही पक्ष स्थिर रहा। 'परं जैमिनिः' इस पक्षान्तर में प्रज्ञाविकास के लिए प्रतिपादनमात्र का प्रदर्शन है, ऐसा समझना चाहिए ॥१४॥

६. अप्रतीकालम्बनाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार गन्तव्यविशेष बतलाने के बाद गन्ताविशेष को बतलाने के लिए गन्तृगन्तव्यभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—ब्रह्मलोक प्राप्त करने वाले अधिकारी का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—प्रतीक उपासक ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं या नहीं।

४. पूर्वपक्ष—नियामक न होने के कारण सभी उपासक सामान्यरूप से ब्रह्मलोक प्राप्त करते ही हैं।

५ सिद्धान्त—प्रतीक उपासक के लिए योग्य फल पृथक् पढ़ा गया है। वे ब्रह्म उपासक नहीं होते, अतः वे ब्रह्मलोक प्राप्त नहीं करते। श्रुति के बल से केवल पञ्चाग्नि विद्या के उपासक ही ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं, अन्य प्रतीक उपासक नहीं।

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथादोषात्तत्क्रतुश्च (ललिता)

इस प्रकार गन्तव्य का निरूपण कर गन्ता के स्वरूप का अवधारण अग्रिम सूत्र से किया जाता है। गति कार्यब्रह्म में है, परब्रह्म में नहीं है, यह निश्चित हो गया। अब यहाँ पर सन्देह होता है

नानविशेषेणैवामानवः पुरुषः प्रापयति ब्रह्मलोकमुत कांश्चिदेवेति । किं तावत्प्राप्तं ? सर्वेषामेवैषां विदुषामन्यत्र परस्माद्ब्रह्मणो गतिः स्यात् । तथाहि—'अनियमः सर्वासाम्—' (ब्र० सू० ३-३-३१) इत्यत्राविशेषेणैवषा विद्यान्तरेष्ववतारितेति ।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अप्रतीकालम्बनानिति । प्रतीकालम्बनान्वर्जयित्वा सर्वानन्यान्विकारालम्बनान्नयति ब्रह्मलोकमिति बादरायण आचार्यो मन्यते । न ह्येवमुभयथाभावाभ्युपगमे कश्चिद्दोषोऽस्ति । अनियमन्यायस्य प्रतीकव्यतिरिक्तेष्वप्युपासनेषूपपत्तेः । तत्क्रतुश्चास्योभयथाभावस्य समर्थको हेतुर्द्रष्टव्यः । यो हि ब्रह्मक्रतुः स ब्राह्ममैश्वर्यमासीदेदिति श्लिष्यते 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः । न तु प्रतीकेषु ब्रह्मक्रतुत्वमस्ति प्रतीकप्रधानत्वादुपासनस्य । नन्वब्रह्मक्रतुरपि ब्रह्म गच्छतीति श्रूयते यथा पञ्चाग्निविद्यायाम् 'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४-१५-५) इति भवतु यत्रैवमाहत्यवाद उप-

---

तत्क्रतुन्यायाच्च । संशयमाह—इदमिति । अनियमाधिकरणे तत्त्वविदोऽन्यत्र सर्वोपासकानां मार्गोपसंहार उक्तः, इदानीमप्रतीकोपासकानामेव मार्गो न सर्वेषां विकारोपासकानामित्युभयथाभावोक्तौ पूर्वोक्तविरोधः स्यात् तस्मादुपासकमात्रस्योत्तरमार्गसिद्धिरिति पूर्वपक्षफलं ।

सिद्धान्ते तूभयथाभावसिद्धिः । अदोषादिति सूत्रे पदच्छेदः, अविरोधादित्यर्थः । अनियमः सर्वासामिति सूत्रे सर्वशब्दस्य प्रतीकोपासकान्यपरत्वादिति भावः । यद्यपि प्रतीकध्यायिनां वितृयाणतृतीयस्थानयोरप्रवेशादर्चिरादिमार्गो वाच्यस्तथापि तेषां विद्युत्पर्यन्तमेव गमनमस्तु, न ब्रह्मप्राप्तिर्ब्रह्मक्रतुत्वाभावात् । यो यद् ध्यायति स तत्प्राप्नोति हि तत्क्रतुन्यायः श्रुतिमूलः । प्रतीकेषु च नामादिषु ध्येयेषु ब्रह्मणो गुणत्वात्, न ब्रह्मध्यायित्वमस्ति । अस्य च न्यायस्य पञ्चाग्निविद्यायामाहत्यवादात्

कि विकारालम्बन करने वाले सभी उपासकों को अमानव पुरुष समानरूप से ही ब्रह्मलोक पहुँचाता है अथवा कुछ ही उपासकों को पहुँचाता है । इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि इन सभी उपासकों को परब्रह्म से भिन्न अपर ब्रह्म की प्राप्ति होती है । ऐसा ही 'अनियमः सर्वासाम्' इस सूत्र द्वारा अन्य उपासनाओं में अविशेषरूप से गति का अवतरण हुआ है ।

इस पर सिद्धान्ती कहता है कि प्रतीक उपासनाओं को छोड़कर अन्य सभी विकारालम्बन करने वाले उपासकों को अमानव पुरुष ब्रह्मलोक पहुँचाता है, ऐसा बादरायण आचार्य मानते हैं । प्रतीकभिन्न उपासनाओं में भी अनियमन्याय की सङ्गति बन जाती है । जो जिसका ध्यान करता है वह उसे प्राप्त करता है; यह क्रतुन्याय है । यह न्याय इस उभयथाभाव का समर्थककारण है, ऐसा मानना चाहिए । जो ब्रह्म का उपासक है वह ब्राह्म ऐश्वर्य को प्राप्त करेगा, ऐसा 'उस परमेश्वर की जिस प्रकार की उपासना करते हैं वे वैसे ही हो जाते हैं' इस श्रुति से सिद्ध होता है । नामादि प्रतीक उपास्य में ब्रह्मक्रतुत्व नहीं है, उस उपासना में तो प्रतीक की ही प्रधानता है । शङ्का—जैसे पञ्चाग्नि विद्या में अमानव पुरुष उन पञ्चाग्नि विद्या के उपासकों को ब्रह्म के पास पहुँचा देता है, ऐसा कहा गया है, इससे यह सिद्ध होता है कि जो ब्रह्मक्रतु नहीं है वह भी ब्रह्म के पास जाता है । समाधान—जहाँ पर ऐसा अपवाद दीखता है वहाँ वैसा ही हो पर इसके अभाव में तो औत्सर्गिक तत्क्रतुन्याय से ब्रह्मोपासकों को ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है, दूसरों को नहीं; ऐसा जान पड़ता है ।

(५३३) विशेषं च दर्शयति ॥१६॥

लभ्यते तदभावे त्वौत्सर्गिकेण तत्क्रतुन्यायेन ब्रह्मक्रतूनामेव तत्प्राप्तिर्नेतरेषामिति गम्यते ॥१५॥

नामादिषु प्रतीकोपासनेषु पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्फलविशेषमुत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नुपासने दर्शयति—'यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७-१-५), 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' (छा० ७-२-१), 'यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७-२-२), 'मनो वाव वाचो भूयः' (छा० ७-३-१) इत्यादिना । स चायं फलविशेषः प्रतीकतन्त्रत्वादुपासनानामुपपद्यते । ब्रह्मतन्त्रत्वे तु ब्रह्मणोऽविशिष्टत्वात्कथं फलविशेषः स्यात् । तस्मान्न प्रतीकालम्बनानामितरैस्तुल्यफलत्वमिति ॥१६॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥

प्रत्यक्षवचनाद्बाध इष्ट इति सूत्रभाष्यार्थः ॥१५॥

किंच प्रतीकतारतम्येन फलतारतम्यश्रुतेर्न प्रतीकध्यायिनां ब्रह्मप्राप्तिरित्याह—विशेष चेति । तस्मादसति वचने ब्रह्मध्यायिन एव ब्रह्मगन्तार इति सिद्धम् ॥१६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ
श्रीमच्छारीरकमीमांसाव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां
चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥

इसलिए पञ्चाग्नि विद्या में आहुत्यवाद के आधार पर प्रत्यक्ष श्रुतिवाक्य से इस क्रतुन्याय का बाध होना इष्ट ही है ॥१५॥

विशेषं च दर्शयति (ललिता)

नामादि प्रतीक उपासनाओं में 'जहाँ तक नाम की गति है वहाँ तक नामोपासक का यथेच्छ विचरण होता है', 'वाणी नाम से श्रेष्ठ है', 'जहाँ तक वाणी की गति है वहाँ तक वाणी के उपासक का यथेच्छ विचरण होता है', 'वाणी से श्रेष्ठ मन है' इत्यादि वाक्य द्वारा पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर उपासना में श्रुति फलविशेष बतलाती है और यह फलविशेष प्रतीकाधीन होने के कारण उन उपासनाओं में घटता है । किन्तु ब्रह्मतन्त्र उपासना में ब्रह्म के अविशिष्ट होने के कारण फलविशेष कैसे हो सकेगा । अतः प्रतीक उपासनाओं का अन्य उपासनाओं के समान फल नहीं माना जा सकता है । इसीलिए वचनविशेष न रहने पर ब्रह्म उपासक ही ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, यह सिद्ध हो गया ॥१६॥

इस प्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक कैलासपीठाधीश्वर
दशमाचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्दगिरि
द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य चतुर्थाध्याय
तृतीयपाद की ललिता व्याख्या समाप्त हुई ।



चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः

१. संपद्याविर्भावाधिकरणम् (सू० १–३)

(५३४) संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥१॥

नाकवन्नूतनं मुक्तिरूपं यद्वा पुरातनम् । अभिनिष्पत्तिवचनात्फलत्वादपि नूतनम् ।
स्वेन रूपेणेति वाक्ये स्वशब्दात्तत्पुरातनम् । आविर्भावोऽभिनिष्पत्तिः फलं चाज्ञानहानितः ॥

'एवमेवैष[1] सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' इति श्रूयते । तत्र संशयः—किं देवलोकाद्युपभोगस्थानेष्विव'गन्तुकेन केनचिद्वि-

पूर्वपादे ब्रह्मोपासकानां कार्यब्रह्मप्राप्तिरुक्ता, सम्प्रति तेषामैश्वर्यविशेषं ब्राह्मलौकिकं पादस्योत्तरार्द्धेन प्रपञ्चयिष्यन्नादावभ्यर्हितपरविद्याप्राप्यं निर्विशेषब्रह्मभावमाह—संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् । निर्गुणविद्याफलवाक्यमुदाहृत्य स्वशब्दस्य स्वीयागन्तुकरूपस्वात्मरूपवाचित्वाभ्यां संशयमाह–एवमिति। पूर्वपक्षे मोक्षस्य स्वर्गादविशेषः, सिद्धान्ते विशेष इति फलं, तत्र मोक्ष आगन्तुकः, फलत्वात्स्वर्गवदिति

चतुर्थ अध्याय–चतुर्थ पाद

तृतीय पाद में सगुण उपासना के फलोपयोगी गति, गन्तव्य और गन्ताविशेष का विचार किया गया। अब निर्गुण ब्रह्म उपासकों के ब्रह्मभाव का आविर्भाव और सगुण ब्रह्म उपासकों के हिरण्यगर्भतुल्य भोग की प्राप्ति बतलाने के लिए यह चतुर्थ पाद प्रारम्भ किया जाता है।

१. सम्पद्याविर्भावाधिकरण

१. **सङ्गति**—पादान्तर होने के कारण पूर्व अधिकरण के साथ इसकी सङ्गति अपेक्षित नहीं है।

२. **विषय**—इस अधिकरण में स्वर्ग एवं मोक्ष की समानता-असमानता पर विचार किया गया है।

३. **संशय**—स्वर्ग के समान मोक्ष भी कोई नूतनावस्था जीव को प्राप्त होती है अथवा पुरातन अवस्था प्राप्त होती है ?

४. **पूर्वपक्ष**—'एष सम्प्रसादः' इस श्रुतिवचन के आधार पर स्वर्ग के समान मोक्ष में भी फलत्व तुल्य होने के कारण मोक्ष कोई नूतन अवस्था ही है।

५. **सिद्धान्त**—'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा विशेषित पूर्व अवस्था ही मुमुक्षु को प्राप्त होती है। वहाँ पर अज्ञान के नाश हो जाने पर स्वरूपाविर्भाव ही फल है, अन्य कुछ भी नहीं है।

पिछले पाद में ब्रह्म उपासकों को कार्यब्रह्म की प्राप्ति कही गयी, अब इस चतुर्थ पाद के उत्तरार्द्ध से इन्हीं के लिए ब्रह्मलोकसम्बन्धी ऐश्वर्यविशेष का विस्तार बतलाने के लिए पहले अभीष्ट परविद्या से प्राप्य निर्विशेषब्रह्मभाव को अग्रिम सूत्र से कहते हैं——

सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् (ललिता)

'ऐसे ही यह जीव इस शरीर से ऊपर उठकर परज्योति को प्राप्त कर लेने के बाद अपने रूप से अभिनिष्पन्न हो जाता है इस श्रुतिवाक्योक्त विषय में सन्देह होता है कि देवलोकादि उपभोगस्थान

१. (छा० ८-१२-२) २. जीवः । ३. उपासनावललभ्येनोपास्य सारूप्यविशेषेण: ।

शेषेणाभिनिष्पद्यत आहोस्विदात्ममात्रेणेति । किं तावत्प्राप्तम् ? स्थानान्तरेष्विवागन्तुकेन केनचिद्रूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात् । मोक्षस्यापि फलत्वप्रसिद्धेः । अभिनिष्पद्यत इति चोत्पत्तिपर्यायत्वात् । स्वरूपमात्रेण चेदभिनिष्पत्तिः पूर्वास्वप्यवस्थासु स्वरूपानपाया-द्विभाव्येत । तस्माद्विशेषेण केनचिदभिनिष्पद्यत इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—केवलेनैवात्मनाविर्भवति न धर्मान्तरेणेति । कुतः ? स्वेन रूपेणाभि-निष्पद्यत इति स्वशब्दात् । अन्यथा हि स्वशब्देनेति विशेषणमनवक्लृप्तं स्यात् । नन्वा-त्मीयाभिप्रायः स्वशब्दो भविष्यति । न । तस्यावचनीयत्वात् । येनैव हि केनचिद्रूपेणा-भिनिष्पद्यते तस्यैवात्मीयत्वोपपत्तेः स्वेनेति विशेषणमनर्थकं स्यात् । आत्मवचनतायां त्वर्थवत्केवलेनैवात्मरूपेणाभिनिष्पद्यते नागन्तुकेनापररूपेणापीति ॥१॥

कः पुनर्विशेषः पूर्वास्ववस्थास्विह च स्वरूपानपायसाम्ये सतीत्यत आह—

न्यायोपेतयाभिनिष्पत्तिश्रुत्या पूर्वपक्षमाह—किमित्यादिना ।

स्वशब्दश्रुतिबाधितो न्यायः अभिनिष्पत्तिश्च साक्षात्कारवृत्त्यभिप्राया बन्धध्वंसजन्मन्यौपचारि-कयेवेति मत्वा सिद्धान्तयति—एवमिति । मोक्षस्य फलत्वेन प्राप्तागन्तुकत्वनिरासार्थः स्वशब्द इति युक्तं, स्वीयवाचित्वेऽनर्थकानुवादः स्यादित्यर्थः ॥१॥

सूत्रान्तरं गृह्णाति—कः पुनरिति । जागरिते ह्यान्ध्यादिदेहधर्मवान्भवति स्वप्ने तु हत इव केन-

---

में जैसे किसी आगन्तुकविशेष से जीव अभिनिष्पन्न हो जाता है, ऐसे ही ब्रह्मलोक में भी होता है अथवा केवल आत्मस्वरूप से अभिष्पिन्न होकर जीव रहता है। इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि स्वर्गादिस्थानों की भाँति किसी आगन्तुक रूपविशेष से ब्रह्मलोक में भी ब्रह्मोपासक की निष्पत्ति होती है क्योंकि स्वर्ग और मोक्ष में फलत्व प्रसिद्ध है और 'अभिनिष्पद्यते' यह क्रिया उत्पत्ति का पर्याय मानी जाती है । यदि स्वरूपमात्र से भी अभिनिष्पत्ति मानी जाय तो पूर्व अवस्थाओं में भी स्वरूप का अपाय न होने के कारण अभिनिष्पत्ति औपचारिक मानी जायेगी। अतः किसी विशेष रूप से ही अभिनिष्पत्ति होती है।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि केवल आत्मरूप से ही ब्रह्म उपासक का आवि-र्भाव होता है, धर्मान्तर से नहीं । इसीलिए 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इस श्रुति में 'स्व' शब्द का प्रयोग किया गया है, अन्यथा 'स्व' शब्द से विशेषण देना असङ्गत हो जायेगा । शङ्का—'स्व' शब्द आत्मीय अभिप्राय से कहा गया है । समाधान—तब तो 'स्व' शब्द कहने की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि जिस किसी रूप से अभिनिष्पत्ति होगी वही उसका आत्मीय माना जायेगा, ऐसी स्थिति में 'स्वेन' यह विशेषण देना अनर्थक हो जायेगा। किन्तु 'स्व' शब्द को आत्मीयवाची माना जाय तो केवल आत्मरूप से ही अभिनिष्पत्ति होती है, अन्य किसी आगन्तुक से नहीं; ऐसा मानने पर 'स्व' विशेषण सार्थक हो जायेगा ॥१॥

पूर्वावस्था में कौन सा विशेष है जो यहाँ पर भी स्वरूपानपाय साम्य होने पर बना रहता है, इसका समाधान अग्रिम सूत्र से करते हैं—

(५३५) मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥२॥

योऽत्राभिनिष्पद्यत इत्युक्तः स सर्वबन्धविनिर्मुक्तः शुद्धेनैवात्मनाऽवतिष्ठते। पूर्वत्र त्वन्धो भवत्यपि रोदितीव विनाशमेवापीतो भवतीति चावस्थात्रयकलुषितेनात्मने'त्ययं विशेषः। कथं पुनरवगम्यते मुक्तोऽयमिदानीं भवतीति? प्रतिज्ञानादित्याह। तथाहि 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८-९-३, ८-१०-४, ८-११-३) इत्यवस्थात्रयदोषविहीनमात्मानं व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञाय 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८-१२-१) इति चोपन्यस्य 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' (छा० ८-१२-३) इति चोपसंहरति। तथाख्यायिकोपक्रमेऽपि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८-७-१) इत्यादि मुक्तात्मविषयमेव प्रतिज्ञानम्। फलत्वप्रसिद्धिरपि मोक्षस्य बन्धनिवृत्तिमात्रापेक्षा नापूर्वोपजननापेक्षा। यदप्यभिनिष्पद्यत इत्युत्पत्तिपर्यायत्वं तदपि पूर्वावस्थापेक्षं यथा रोगनिवृत्तावरोगोऽभिनिष्पद्यत इति तद्वत्। तस्माददोषः ॥२॥

चित्। अपिच पुत्रादिनाशाद्रोदितीव भवति, सुषुप्तौ तु विशेषाज्ञानाद्विनष्ट इवेति, बन्धदशायां कलुषितात्मना तिष्ठति मोक्षं तु विगलिताखिलदुःख परितः प्रद्योतमानपूर्णानन्दात्मनावतिष्ठत इति महान् विशेष इत्यर्थः ॥२॥

मुक्तः प्रतिज्ञानात् (ललिता)

यहाँ पर 'अभिनिष्पद्यते' इस वाक्य से जिसे कहा गया है वह सभी बन्धनों से सर्वथा मुक्त, शुद्ध आत्मरूप से ही अवस्थित रहता है। पहले तो जाग्रदवस्था में अन्धा रहना है फिर स्वप्नावस्था में रोता हुआ सा सुषुप्ति में विनाश को प्राप्त होता है, इन अवस्थात्रय से कलुषित आत्मरूप से जान पड़ता है; बस यही विशेष है। इस समय यह मुक्त हो गया, यह कैसे जान पड़ता है? इस प्रश्न का उत्तर 'प्रतिज्ञानात्' इस सूत्रांश से दिया गया है इसीलिए 'इसी को मैं तुझे फिर से बतलाऊँगा' इत्यादि वाक्य द्वारा अवस्थात्रयदोष से रहित आत्मा को व्याख्येयरूप से प्रतिज्ञा करके शरीराभिमान-रहित पुरुष का इष्ट-अनिष्ट स्पर्श नहीं करते' इस वाक्य द्वारा उपन्यासकर 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुष.' इस वाक्य से उपसंहार करते हैं। उसी प्रकार आख्यायिका के आरम्भ में भी 'जो आत्मा है वह पाप से रहित है' इस वाक्य द्वारा मुक्तात्माविषयक ही प्रतिज्ञा है। फलत्व की प्रसिद्धि भी मोक्ष में बन्धननिवृत्तिमात्र की अपेक्षा से होती है, न कि अपूर्व उपजनन की अपेक्षा से। और जो 'अभिनिष्पद्यते' इस क्रिया में उत्पत्तिपर्यायित्व कहा था वह भी पूर्वावस्था की अपेक्षा कर ही रहा है जैसे रोग की निवृत्ति हो जाने पर निरोग हो गया, ऐसा मानते हैं; ऐसे ही बन्धननिवृत्तिमात्र की अपेक्षा से मोक्ष में फलत्व की सिद्धि की गयी है, अतः कोई दोष नहीं है ॥२॥

---

१ अवतिष्ठते इत्यनुषगः। २. शरीरत्रयासंस्पृष्टम्।

२. अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम् (सू० ४)
(५३६) आत्मा प्रकरणात् ॥३॥

मुक्तरूपादब्रह्म भिन्नमभिन्नं वाथ भिद्यते । संपद्य ज्योतिरित्येवं कर्मकर्तृभिदोक्तितः ।
अभिनिष्पन्नरूपस्य स उत्तमपुमानिति । ब्रह्मत्वोक्तेरभिन्नं तद्भेदोक्तिस्तवारतः ॥

कथं पुनर्मुक्त इत्युच्यते—यावता 'परं ज्योतिरुपसंपद्य' (छा० ८-१२-३) इति कार्यगोचरमेवैनं श्रावयति । ज्योतिःशब्दस्य भौतिके ज्योतिषि रूढत्वात् । न चानतिवृत्तो विकारविषयात्कश्चिन्मुक्तो भवितुमर्हति । विकारस्यार्तत्व[1]प्रसिद्धेरिति । नैष दोषः । यत आत्मैवात्र ज्योतिःशब्देनावेद्यते प्रकरणात् 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः' (छा० ८-७-१) इति हि प्रकृते परस्मिन्नात्मनि नाकस्माद्भौतिकं ज्योतिः शक्यं ग्रहीतुम् । प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात् । ज्योतिःशब्दस्त्वात्मन्यपि दृश्यते 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' (बृ० ४-४-१६) इति । प्रपञ्चितं चैतत् 'ज्योतिर्दर्शनात्' (ब्र० सू० १-३-४०) इत्यत्र ॥३॥

कार्यगोचरमिति । कार्यं ज्योतिःप्राप्तमित्यर्थः । कार्यं प्राप्तोऽपि मुक्तः किं न स्यादित्यत आह—न चानतिवृत्त इति ॥३॥

आत्मा प्रकरणात् (ललिता)

शङ्का—'जब परज्योति को प्राप्त करता है' इस वाक्य द्वारा इस कार्यज्योति को ही श्रुति बतला रही है तो फिर यह पुरुष मुक्त है, यह कैसे कह रहे हो क्योंकि ज्योति शब्द भौतिक ज्योति में रूढ़ है। विकारविषय का अतिक्रमण किये बिना कोई भी विमुक्त नहीं कहला सकता क्योंकि विकार में आर्तत्व प्रसिद्ध है। **समाधान**—यह दोष नहीं है क्योंकि प्रकरण को देखते हुए यहाँ पर ज्योति शब्द से आत्मा को ही कहा गया है।' 'जो आत्मा है वह पापरहित, जरारहित और मृत्यु से रहित है' इस वाक्य द्वारा प्रसंगागत परमात्मा में अकस्मात् भौतिक ज्योति का ग्रहण नहीं हो सकता, अन्यथा प्रकृत की हानि और अप्रकृतप्रक्रिया का प्रसंग आने लग जायगा। 'देवता लोग उसकी ज्योतियों की ज्योतिरूप में उपासना करते हैं' इस श्रुति के अनुसार आत्मा में भी 'ज्योतिः' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। इसका विस्तृत वर्णन 'ज्योतिर्दर्शनात्' इस सूत्र में कर आये हैं ॥३॥

२. अविभागेन दृष्टत्वाधिकरण

१. **सङ्गति**—ब्रह्म उपासकों को अविशेषरूप से परज्योति की प्राप्ति पहले बतला दी गयी, अब उसी में कुछ अन्य बातों का विचार करने के लिए उपजीव्योपजीवकभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. **विषय**—मोक्षावस्था में जीव का ब्रह्म के साथ अत्यन्त भेदाभेद का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. **संशय**—क्या अपने रूप से अभिनिष्पन्न जीव मोक्षकाल में ब्रह्म के साथ भिन्न होकर रहता है अथवा अभिन्न हो जाता है?

४. **पूर्वपक्ष**—'पर ज्योति को प्राप्तकर' इस श्रुतिवाक्य में कर्तृकर्मरूप भेद का कथन होने से मुक्तावस्था में भी जीव ब्रह्म से भिन्न ही रहता है।

---

१ विनाशग्रस्तत्व।

(५३७) अविभागेन दृष्टत्वात् ॥४॥

परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते यः स किं परस्मादात्मनः पृथगेव भवत्युताविभागेनैवावतिष्ठत इति वीक्षायाम् 'स तत्र पर्येति' (८-१२-३) इत्यधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशात् 'ज्योतिरुपसंपद्य' (छा० ८-१२-३) इति च कर्तृकर्मनिर्देशाद्भेदेनैवावस्थानमिति यस्य मतिस्तं व्युत्पादयत्यविभक्त एव परेणात्मना मुक्तोऽवतिष्ठते। कुतः? दृष्टत्वात्। तथा हि 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १-४-१०), 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७-२४-१), 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ० ४-३-२३) इत्येवमादीनि वाक्यान्यविभागेनैव परमात्मानं दर्शयन्ति। यथादर्शनमेव च फलं युक्तं तत्क्रतुन्यायात्। 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम' (क० ४-१५) इति चैवमादीनि मुक्तस्वरूपनिरूपणपराणि वाक्यान्यविभागमेव दर्शयन्ति, नदीसमुद्रादिनिदर्शनानि च। भेदनिर्देशस्त्वभेदेऽप्युपचर्यते। 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७-२४-१) इति 'आत्मरतिरात्मक्रीडः' (छा० ७-२५-२) इति चैवमादिदर्शनात् ॥४॥

अविभागेन दृष्टत्वात्। स्वरूपस्थितमुक्तमुपजीव्य वादिविवादात् ब्रह्मभेदाभेदसंशये सत्यत्यन्तभेदं पूर्वपक्षमुक्त्वा सिद्धान्तमाह—यस्येति ॥४॥

५. सिद्धान्त— मोक्षकाल में अभिनिष्पन्न जीव को उत्तम पुरुष कहा गया है, इससे मोक्षावस्था में जीव और ब्रह्म का अभेद मानना ही उचित है, भेदकथन तो उपचारमात्र है।

अविभागेन दृष्टत्वात् (ललिता)

परम ज्योति को प्राप्तकर अपने रूप से जो अभिनिष्पन्न होता है वह क्या परमात्मा से पृथक् ही रहता है अथवा अपृथक् होकर रहता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर 'वह पुरुष ब्रह्मलोक में सर्वत्र जाता है' इस श्रुति में आधार-आधेय भाव का निर्देश होने से और 'ज्योति को प्राप्तकर' इस श्रुति में कर्ता-कर्म का निर्देश होने से भेदरूप में ही अवस्थान होता है, ऐसा जिसका आग्रह है उसे आगम सूत्र के द्वारा यथार्थबोध कराते हैं कि मुक्त आत्मा परमात्मा में अभिन्न हो जाता है क्योंकि 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'यत्र नान्यत्पश्यति', 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' ये सभी श्रुतिवाक्य अविभागरूप से ही परमात्मा को बतलाते हैं। तत्क्रतुन्याय के अनुसार दर्शन के अनुरूप ही फल मानना उचित होगा। 'जैसे शुद्ध जल में डाला हुआ शुद्ध जल एक हो जाता है, हे गौतम! ऐसे ही तत्त्वज्ञानी की आत्मा ब्रह्म के साथ अभिन्न हो जाती है' मुक्त आत्मा के स्वरूप को बतलाने वाले ये श्रुतिवाक्य और नदीसमुद्रादि दृष्टान्त, ये सभी मोक्षकाल में परमात्मा से जीव का अभिन्न होना ही बतलाते हैं। अभेद में भी भेदनिर्देश औपचारिक रूप से किया जा सकता है क्योंकि 'हे भगवन्! वह किसमें प्रतिष्ठित है? (इस प्रश्न के उत्तर में) वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है' इस वाक्य के द्वारा और 'ज्ञानी आत्मरति और आत्मक्रीड होकर रहता है' इत्यादि वाक्य के द्वारा भी ऐसा ही बतलाया गया है ॥४॥

१. भूमा।

३. ब्राह्माधिकरणम् (सू० ५-७)

(५३८) ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥५॥

क्रमेण युगपद्वास्य सविशेषाविशेषते । विरुद्धत्वात्कालभेदाद्व्यवस्था श्रुतयोस्तयोः ।
मुक्तामुक्तदृशोर्भेदाद्व्यवस्थासंभवे सति । अविरुद्धं यौगपद्यमश्रुतं क्रमकल्पनम् ॥

स्थितमेतत् 'स्वेन रूपेण' (छा० ८-३-४) इत्यत्रात्ममात्ररूपेणाभिनिष्पद्यते नागन्तुकेनापररूपेणेति। अधुना तु तद्विशेषबुभुत्सायामभिधीयते स्वमस्य रूपं ब्राह्ममपहतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वावसानं तथा सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं च तेन स्वरूपेणाभिनिष्पद्यत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः ? उपन्यासादिभ्यस्तथात्वावगमात् । [1]तथा हि—'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८-७-१) इत्यादिना 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८-७-१) इत्येव-

ब्राह्मेण जैमिनिः । उक्तं ब्रह्मस्वरूपमुपजीव्य स किं सत्येन सर्वज्ञत्वादिधर्मेण युक्तस्तिष्ठति उत धर्मस्य शशशृङ्गवदसत्यत्वात्स्वचिन्मात्रात्मना तिष्ठति किं वा वस्तुतश्चिन्मात्रोऽपि जीवान्तरव्यवहारदृष्ट्या कल्पितसर्वज्ञत्वादिमानिति मुनिविप्रतिपत्तेः संशये सत्याद्यं पूर्वपक्षमाह—अधुनेत्यादिना । तत्तत्पक्षसिद्धिरेव फलं द्रष्टव्यम् । सोऽन्वेष्टव्य इतिविध्यर्थ उद्देशो य आत्मेत्यादिरुपन्यास-

३. ब्राह्माधिकरण

१. **सङ्गति**—पहले कहे गये ब्रह्म से अभिन्न मुक्त पुरुष को उपजीव्य बनाकर कुछ अन्य बातों का विचार करने के लिए उपजीव्योपजीवकभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण कहा गया है ।

२. **विषय**—पूर्वोत्तर पक्ष में अपने-अपने पक्ष की सिद्धि ही इस अधिकरण में बतलायी गयी है ।

३. **संशय**—क्या ब्रह्मभाव से सम्पन्न जीव ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि धर्म से भी युक्त हो जाता है या चिन्मात्ररूप से अथवा उभयरूप से स्थित रहता है ?

४. **पूर्वपक्ष**—आचार्य जैमिनि के मतानुसार मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि धर्म से युक्त हो जाता है तथा आचार्य औडुलोमि के मतानुसार मोक्षकाल में जीव चिन्मात्ररूप से अवस्थित रहता है ।

५. **सिद्धान्त**—पारमार्थिक चैतन्यमात्रस्वरूप मानने पर भी सर्वज्ञत्वादि ब्राह्मभाव व्यावहारिक दृष्टि से जीव में हो सकता है । अतः आचार्य बादरायण के मत से मुक्तात्मा में सप्रपञ्चत्व और निष्प्रपञ्चत्व, उभयधर्म का विरोध नहीं है क्योंकि सर्वज्ञत्वादि सभी धर्म कल्पित हैं ।

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः (ललिता)

'**स्वेन रूपेण**' इस श्रुति में केवल आत्मस्वरूप से ज्ञानी मोक्षकाल में अवस्थित रहता है, किसी आगन्तुक से नहीं, यह बात पिछले अधिकरण में निश्चित हो चुकी है । किन्तु अब इस सम्बन्ध में विशेष जानने की इच्छा होने पर यह कहा जाता है कि इस जीव का अपना स्वरूप अपहतपाप्मत्वादि से लेकर सत्यसंकल्पत्वपर्यन्त ब्राह्मरूप है जिसमें सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व भी निहित है; उसी अपने रूप से मोक्षकाल में जीव रहता है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं क्योंकि उपन्यासादि से ऐसा ही अवगत होता है । 'यह आत्मा पापरहित है' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भ कर 'आत्मा सत्यकाम एवं सत्यसंकल्प है'

१. उपन्यासेन ब्रह्मणः सप्रपञ्चत्वसिद्धिं विवृणोति तथा हीति उपन्यासो नामोद्देशः स चान्यत्र ज्ञातस्यान्यविधानायानुवादः ।

(५३६) चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥६॥

मन्तेनोपन्यासेनैवमात्मकतामात्मनो बोधयति । तथा 'स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः' (छा० ८-१२-३) इत्यैश्वर्यरूपमावेदयति । 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ७-२५-२) इति च । 'सर्वज्ञः सर्वेश्वरः' इत्यादि व्यपदेशाश्चैवमुपपन्ना भविष्यन्तीति ॥५॥

यद्यप्यपहतपाप्मत्वादयो भेदेनैव धर्मा निर्दिश्यन्ते तथापि शब्दविकल्पजा एवैते । पाप्मादिनिवृत्तिमात्रं हि तत्र गम्यते । चैतन्यमेव त्वस्यात्मनः स्वरूपमिति तन्मात्रेण स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्युक्ता । तथा च श्रुतिः—'एवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४-५-१३) इत्येवंजातीयकाऽनुगृहीता भविष्यति । सत्यकामत्वादयस्तु यद्यपि वस्तुस्वरूपेणैव धर्मा उच्यन्ते सत्याः कामा अस्येति, तथाप्युपाधिसंबन्धाधीनत्वात्तेषां न चैतन्यवत्स्वरूपत्वसंभवः, अनेकाकारत्वप्रतिषेधात् । प्रतिषिद्धं हि

शब्दार्थः । आदिपदाद्विधिव्यपदेशग्रहः । तत्राज्ञातज्ञापको विधिस्तमाह—तथा स तत्रेति । सर्वज्ञ इत्यादिस्तु व्यपदेशोऽयं हि नोद्गतः विध्यभावान्नापि विधिः सिद्धवन्निर्देशादित्यर्थः ॥५॥

सत्यत्वादिधर्माणां सत्यत्व दूषणमत्यन्तासत्पक्षमाह—चितितन्मात्रेणेति । चितिश्चैतन्य, 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पोऽसन्तरस्तज्जाः अत्यन्तमसन्त इति यावत् । अस्त्वभावरूपधर्माणामसत्त्वं भावधर्माणां तु सत्त्वमित्याशङ्क्य तेषामप्यौपाधिकत्वादसत्त्वमित्याह—सत्यकामेति । चिन्मात्रे

यहाँ तक के उपन्यास द्वारा आत्मा में इस प्रकार का ही बोध श्रुति कराती है । वैसे ही 'वह मुक्त पुरुष वहाँ पर स्वच्छन्दता से विचरण करता है, खाते हुए, क्रीड़ा करते हुए रमण करता रहता है' इस वाक्य के द्वारा श्रुति ऐश्वर्यरूप का बोध कराती है । 'उस मुक्तात्मा का सभी लोकों में यथेच्छ विचरण होता है' और 'वह सर्वज्ञ तथा सर्वेश्वर है' इत्यादि व्यपदेश भी उक्त पक्ष को मानने पर ही युक्तियुक्त होंगे ॥५॥

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः (ललिता)

यद्यपि अपहतपाप्मत्वादि धर्म भेदरूप से ही बतलाये गये हैं फिर भी 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इस परिभाषा के अनुसार वे अपहतपाप्मत्वादि धर्म अत्यन्त असत् हैं जो आत्मा में पाप्मत्वादिनिवृत्तिमात्र करते हैं, ऐसा वहाँ पर समझा जाता है । आत्मा का स्वरूप तो चैतन्यमात्र ही है, तन्मात्रस्वरूप से मोक्षकाल में मुक्तात्मा की अभिनिष्पत्ति मानना उचित होगा । 'अरे मैत्रेयि ! निःसन्देह यह आत्मा बाह्य एवं आभ्यन्तरभावशून्य सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है' इस प्रकार की श्रुति भी उक्त सिद्धान्त पक्ष मानने पर अनुगृहीत हो जायेगी । सत्यकामत्वादि धर्म भी यद्यपि वस्तुस्वरूप ही कहे गये हैं अर्थात् जिसका काम सत्य है उसे सत्यकाम कहा जाता है ऐसी व्युत्पत्ति जब करते हैं तो सत्यकामत्वादि आत्मस्वरूप ही सिद्ध होते हैं, फिर भी उपाधिसम्बन्धाधीन होने के कारण चैतन्य की भाँति इन्हें स्वरूपत्व कहना सम्भव नहीं है क्योंकि अनेकाकारत्व का 'न स्थानतोऽपि परस्योभय-

---

१. आदिशब्दार्थं विधिं दर्शयति तथेति । २. अगदिशब्देनैवोक्तं व्यपदेशमाह—सर्वज्ञ इति । ३. विधेयान्तररहितत्वेनानुद्देश्यस्य प्रतिपाद्यत्वेनाविधेयस्य च सिद्धवदभिधानं व्यपदेशः । ४. तत्त्वमस्यादि ।

(५४०) एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥७॥

ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वम् 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम् (ब्र० सू० ३-२-११) इत्यत्र। अत एव च जक्षणादिसंकीर्तनमपि दुःखाभावमात्राभिप्रायं स्तुत्यर्थमात्मरतिरित्यादिवत्। नहि मुख्यान्येव रतिक्रीडामिथुनान्यात्मनि शक्यन्ते वर्णयितुं द्वितीयविषयत्वात्तेषाम्। तस्मान्निरस्ताशेषप्रपञ्चेन प्रसन्नेनाव्यपदेश्येन बोधात्मनाऽभिनिष्पद्यत इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥६॥

एवमपि पारमार्थिकश्चैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि व्यवहारापेक्षया पूर्वस्याप्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्याप्रत्याख्यानादविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते ॥७॥

मुक्ते जक्षणादिश्रुतिः कथं तत्राह—अत एव चेति। सर्वधर्मनिषेधादेवेत्यर्थः ॥६॥

धर्माणां सत्यत्वमत्यन्तासत्त्वं चेति पक्षद्वयमयुक्तम्। अद्वैतश्रुतीनां सर्वज्ञत्वादिश्रुतिव्यवहारयोश्च बाधापातादतस्तृतीयपक्षः श्रेयानिति सिद्धान्तयति—एवमपीति। अत्र केचिन्मुह्यन्ति—अखण्डचिन्मात्रज्ञानान्मुक्तस्याज्ञानाभावात्कुत आज्ञानिकधर्मयोग इति, ते इत्थं बोधनीयाः। ये ईश्वरधर्मास्त एव चिदात्मनि मुक्ते जीवान्तरैर्व्यवह्रियन्ते इति। न च मूलाविद्यैक्यात्तन्नाशे कुतो जीवान्तरमिति वाच्यं, न वयं तन्नाशे जीवान्तरव्यवहारं ब्रूमः, किंतु तदंशनाशेनांशान्तरस्थाध्यात्मिकशरीरद्वयाभिमानिनो मुक्तावंशान्तरोपाधिका जीवा व्यवहर्तार इति वदामः। तर्हि नानाविद्यापक्ष एव कुतो नाद्रियते जीवभेदस्यावश्यकत्वादिति चेत्। न। प्रकृतिनानात्वं प्रतिजीवं प्रपञ्चभेद इत्याद्यप्रामाणिकानेकार्थगौरवादिति सर्ववृद्धसंमत एकविद्यापक्ष एव श्रेयान् अंशभेदेन च बन्धमुक्तिव्यवस्थेति संक्षेपः ॥७॥

लिङ्गम्' इस सूत्र की व्याख्या में निषेध कर दिया गया है। इसीलिए जक्षणादि का कथन भी दुःखाभावमात्र के अभिप्राय से आत्मरति इत्यादि की भाँति स्तुति के लिए है क्योंकि रति, क्रीड़ा और मिथुन दूसरे को विषय करता है, वह केवल आत्मा में होना सम्भव नहीं है। अतः जिसमें समस्त प्रपञ्च का निषेध हो गया है, जो शब्द से बतलाया नहीं जा सकता और जो बोधस्वरूप एवं विशुद्ध है, इसी रूप में मोक्षकाल में मुक्त आत्मा को अभिनिष्पत्ति होती है, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं ॥६॥

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः (ललिता)

इस प्रकार पारमर्थिक चैतन्यमात्र स्वरूप मान लेने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से उपन्यासादि हेतुओं द्वारा जैमिनि आचार्य ने ब्राह्म ऐश्वर्य का बोध पहले कराया था उसका प्रत्याख्यान न होने के कारण बादरायण आचार्य दोनों पक्षों में विरोधाभाव मानते हैं अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि से जैमिनि का कथन है और पारमार्थिक दृष्टि से औडुलोमि का कथन है, ऐसा बादरायण आचार्य मानते हैं ॥७॥

४. संकल्पाधिकरणम् (सू० ८-९)

(५४१) सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥८॥

भोग्यसृष्टावस्ति बाह्यो हेतुः सकल्प एव वा । आशामोदकवैषम्याद्धेतुर्बाह्योऽस्ति लोकवत् ।
सङ्कल्पादेव पितर इति श्रुत्यावधारणात् । संकल्प एव हेतुः स्याद्वैषम्यं चानुचिन्तनात् ॥

हार्दविद्यायां श्रूयते—'स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८-२-१) इत्यादि । तत्र संशयः—किं सङ्कल्प एव केवलः पित्रादिसमुत्थाने हेतुरुत निमित्तान्तरसहित इति । तत्र सत्यपि सङ्कल्पादेवेति श्रवणे लोकवन्निमित्तान्तरापेक्षता युक्ता । यथा लोकेऽस्मदादीनां सङ्कल्पाद् गमनादिभ्यश्च हेतुभ्यः पित्रादिसम्पत्तिर्भवत्येवं मुक्तस्यापि स्यात् । एवं दृष्टविपरीतं न कल्पितं भविष्यति । सङ्कल्पा-

---

एवं परविद्याफलमुक्तमिदानीमपरविद्याफलं प्रपञ्चयति—संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः । एवकारस्यायोगान्ययोगव्यवच्छेदसाधारण्यात्संशयः, ब्रह्मलोकं गतस्योपासकस्य संकल्पो यत्नान्तरसापेक्षः,

---

४. संकल्पाधिकरण

१. सङ्गति—मुक्तात्मा में व्यावहारिक दृष्टि से सप्रपञ्चत्व और तात्त्विक दृष्टि से निष्प्रपञ्चत्व पिछले अधिकरण में कहा गया, किन्तु इस अधिकरण में संकल्प से भिन्न साधनों का भाव और अभाव आपाततः एक उपाधि में मान लेने पर भी लौकिक अनुमान से श्रुति का बाध नहीं हो सकता; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—मोक्षकाल में आत्मा से अतिरिक्त भोग के साधन का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—ब्रह्मलोक में स्थित उपासक के पास पित्रादि की प्राप्ति में संकल्प ही एकमात्र साधन है अथवा अन्य साधन भी हैं ?

४. पूर्वपक्ष—भोग प्रयत्नसापेक्ष ही होते हैं, आशामोदक की भाँति संकल्पमात्र से नहीं । इस लौकिक अनुमान से यत्नान्तरसापेक्ष संकल्प से ब्रह्मलोक में विभूति की प्राप्ति माननी चाहिए ।

५. सिद्धान्त—'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' इस अवधारणार्थक एवकारयुक्त श्रुति से ब्रह्मलोक में स्थित जीव को तत्रस्थ भोग की प्राप्ति संकल्पमात्र से ही होती है । अतः लौकिक अनुमान से संकल्पातिरिक्त साधनों की कल्पना उचित नहीं है ।

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः (ललिता)

इस प्रकार परविद्या का फल बतलाया गया, अब अपर विद्या का फल बतलाते हैं । 'वह ब्रह्मलोक गया हुआ उपासक यदि पितृलोक की कामना करता है तो संकल्प करते ही उसके पितर उपस्थित हो जाते हैं' ऐसा हार्दविद्य प्रसङ्ग में सुना जाता है । वहाँ पर संशय होता है कि पित्रादिसमुत्थान का कारण केवल संकल्प ही है अथवा निमित्तान्तरसहित संकल्प है । यह ठीक है कि 'संकल्पादेव' इस पद में एवकार सुना गया है, फिर भी लोक की भाँति निमित्तान्तर की अपेक्षाकर ही संकल्प से पित्रादि की उपस्थित मानना उचित है । जैसे लोक में हम लोगों को पित्रादि की प्राप्ति संकल्पपूर्वक गमनादि क्रिया से होती है, ऐसे ही ब्रह्मलोक गये मुक्तात्मा के विषय में भी समझना चाहिए; ऐसा मानने पर प्रत्यक्षविरुद्ध कल्पना नहीं मानी जायेगी । 'संकल्पादेव' इस पद में एवकार

(५४२) अत एव चानन्याधिपतिः ॥९॥

देवेति तु राज्ञ इव सङ्कल्पितार्थसिद्धिकरीं साधनान्तरसामग्रीं सुलभामपेक्ष्योच्यते। न च सङ्कल्पमात्रसमुत्थानाः पित्रादयो मनोरथविजृम्भितवच्चलत्वात्पुष्कलं भोगं समर्पयितुं पर्याप्ताः स्युरिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सङ्कल्पादेव तु केवलात्पित्रादिसमुत्थानमिति। कुतः? तच्छ्रुतेः। 'सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८-२-१) इत्यादिका हि श्रुतिर्निमित्तान्तरापेक्षायां पीड्येत। निमित्तान्तरमपि तु यदि सङ्कल्पानुविधाय्येव स्याद्भवतु न तु प्रयत्नान्तरसंपाद्यं निमित्तान्तरमिष्यते। प्राक्तत्संपत्तेर्वन्ध्यसंकल्पत्वप्रसङ्गात्। न च श्रुत्यवगम्येऽर्थे लोकवदिति सामान्यतो दृष्टं क्रमते। संकल्पबलादेव चैषां यावत्प्रयोजनं स्थैर्योपपत्तिः। प्राकृतसंकल्पविलक्षणत्वान्मुक्तसंकल्पस्य ॥८॥

अत एव चावन्ध्यसंकल्पत्वादनन्याधिपतिर्विद्वान्भवति नास्यान्योऽधिपतिर्भवतीत्यर्थः।

भोगसामग्रीसंकल्पत्वादस्मदादिसंकल्पवत्। न चवकारविरोधः संकल्पेन सामग्र्या अयोगव्यवच्छेदेन सौलभ्यार्थत्वात्, यत्नानङ्गीकारे भोगपुष्ट्यसिद्धेश्चेति पूर्वपक्षाशयः। अत्र लोकवृत्तानुसरणं फलं, सिद्धान्ते तु विद्याबलेन संकल्पस्यैव भोगपुष्टिकरत्वसिद्धिरिति भेदः। किंच यदि भोगसंकल्पानन्तरमपि यत्नान्तरसाध्यनिमित्तापेक्षा स्यात्तर्हि निमित्तप्राप्तेः प्राग्जातसंकल्पस्य [1]वन्ध्यत्वं स्याद्भोगे विलम्बात्ततः सत्यसंकल्पश्रुतेर्न यत्नान्तरापेक्षेत्याह—निमित्तान्तरमपि त्विति ॥८॥

नन्वीश्वराधीनस्य विदुषः कथं संकल्पमात्राद्भोगसिद्धिस्तत्राह—अत एवेति। ईश्वरधर्म एव

तो साधनान्तरसामग्री सुलभ की अपेक्षा से कहा गया है, जैसे राजा को संकल्पमात्र से अर्थ की सिद्धि होती है; ऐसा लोक में कहा जाता है। इसमें एवकार अयोगव्यवच्छेदार्थक होने के कारण सौलभ्य बतलाने के लिए है। और संकल्पमात्र से उपस्थित पित्रादि मनोराज्य से उपस्थित राज्यादि की भाँति चञ्चल होने के कारण पुष्कल भोग को प्राप्त नहीं करा सकते।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि केवल संकल्प से ही ब्रह्मलोक में पित्रादि का समुत्थान होता है क्योंकि 'सकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' ऐसी श्रुति है। यदि संकल्प से अतिरिक्त अन्य निमित्त की भी अपेक्षा पित्रादि की उपस्थिति के लिए मानोगे तो एवकारयुक्त श्रुति पीडित होने लग जायेगी। यदि निमित्तान्तर भी संकल्पानुकूल ही माना जाय तो ऐसा मान सकते हो, किन्तु अन्य प्रयत्न से सम्पाद्य निमित्तान्तर मानना इष्ट नहीं है क्योंकि ब्रह्मलोकप्राप्ति से पूर्व उसमें बन्ध्यसंकल्पत्व का प्रसङ्ग आ जायेगा। श्रुतिगम्य अर्थ में लोक की भाँति सामान्यतः दृष्टानुमान की गति नहीं होती। संकल्प के बल से ही उनके सभी प्रयोजन की स्थिरता हो जायेगी। मुक्त पुरुष का संकल्प प्राकृत पुरुष के संकल्प से विलक्षण होता है, अतः उसके संकल्प की तुलना प्राकृत पुरुष के संकल्प से नहीं कर सकते ॥८॥

अत एव चानन्याधिपतिः (ललिता)

इसीलिए उस मुक्त आत्मा में अबन्ध्यसंकल्प होने के कारण उसका ब्रह्मलोक में कोई दूसरा अधिपति नहीं होता, अतएव वह उपासक अनन्याधिपति माना जाता जाता है। प्राकृत पुरुष

---

१. मोघत्वं निष्फलत्वमिति यावत्।

५. अभावाधिकरणम् (सू० १०-१४)

(५४३) अभावं बादरिराह ह्येवम् ।।१०।।

व्यवस्थितावैच्छिको वा भावाभावौ तनोर्यतः । विरुद्धौ तेन पुंभेदावुभौ स्यातां व्यवस्थितौ ।
एकस्मिन्नपि पुंस्येतावैच्छिकौ कालभेदतः । अविरोधात्स्वप्नजाग्रद्भोगवद्युज्यते द्विधा ।।

न हि प्राकृतोऽपि सकलयत्नान्यस्वामिकत्वमात्मनः सत्यां गतौ संकल्पयति । श्रुतिश्चैतद्दर्शयति—'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ८-१-६) इति ।।९।।

'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८-२-१) इत्यादिश्रुतेर्मनस्तावत्संकल्प-

---

विदुष्याविर्भूत इति न संकल्पभङ्ग इति भावः ।।९।।

एवकारवन्मनसेति विशेषणेनान्ययोगव्यवच्छेदाद्देहाद्यभाव इति पूर्वपक्षयति—अभावं बादरिराह ह्येवम् । अत्रापि वादिविवादात्संशयः, तत्र देहादयो न सन्त्येव सदा सन्त्येवेति च पक्षद्वयं पूर्वपक्षः ।

भी जहाँ तक सम्भव हो अपने को अन्यस्वामित्व का संकल्प नहीं करता । 'जो इस लोक में आत्मा को जानकर इन संकल्पित सत्यकामों को प्राप्त करता है उनका सभी लोकों में यथेच्छ विचरण होता है' यह श्रुति भी उक्त अर्थ को बतलाती है । अतः सत्यसंकल्पश्रुति यत्नान्तर की अपेक्षा नहीं बतलाती ।।९।।

५. अभावाधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में 'संकल्पादेव' इस श्रुति में एवकार अवधारण के कारण उपासकों का साधनान्तरनिरपेक्ष विभूति कही गया थी, ऐसे ही यहाँ भी 'मनसा' यह विशेषण अन्ययोगव्यवच्छेदक होने के कारण अवधारणार्थक है । अतः उपासक के देहादि का अभाव क्यों न माना जाय, ऐसी आक्षेप सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. विषय—'संकल्पादेव' इस अवधारणार्थक श्रुति का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—क्या प्राप्त ऐश्वर्य ब्रह्मलोक गये उपासक पुरुष के शरीर, इन्द्रियादि होते हैं या नहीं होते ?

४. पूर्वपक्ष—आशामोदक से विलक्षण होने के कारण ब्रह्मलोक गये उन उपासकों को शरीरादि बाह्यसाधन भी होते हैं । जैसे लोक में भोगसुख प्राप्त करने के लिए शरीर और इन्द्रियों की अपेक्षा होती है, ऐसे ही ब्रह्मलोकवासियों को भी शरीरादि की अपेक्षा होती ही है ।

५. सिद्धान्त—'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' इस अवधारणार्थक श्रुति के बल से ब्रह्मलोक गये उपासकों के पास संकल्प के लिए केवल मन रहता है, अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं रहती । बादरि आचार्य के मत से देहादि का अभाव कहा गया है और जैमिनि के मत से देहादि भी माना है, पर बादरायण ने दोनों ही पक्षों का समर्थन किया है । देहादि के अभाव में स्वप्न के समान और भाव में जाग्रत् के समान उनका भोग होता है ।

अभावं बादरिराह ह्येवम् (ललिता)

'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' इस श्रुति से संकल्प का साधन मन तो सिद्ध हो गया जो ब्रह्मलोक गये हुए उपासक के पास रहता है, किन्तु प्राप्तैश्वर्य उस उपासक के शरीर और इन्द्रियाँ

(५४४) भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥११॥

साधनं सिद्धम् । शरीरेन्द्रियाणि पुनः प्राप्तैश्वर्यस्य विदुषः सन्ति न वा सन्तीति समीक्ष्यते । तत्र बादरिस्तावदाचार्यः शरीरस्येन्द्रियाणां चाभावं महीयमानस्य विदुषो मन्यते । कस्मात् ? एवं ह्याहाम्नायः 'मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते' (छा० ८-१२-५)), 'य एते ब्रह्मलोके' (छा० ८-१३-१) इति । यदि मनसा शरीरेन्द्रियैश्च विहरेन्मनसेति विशेषणं न स्यात् । तस्मादभावः शरीरेन्द्रियाणां मोक्षे ॥१०॥

जैमिनिस्त्वाचार्यो मनोवच्छरीरस्यापि सेन्द्रियस्य भावं मुक्तं प्रति मन्यते । यतः 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७-२६-२) इत्यादिनाऽनेकधाभावविकल्पमामनन्ति । न ह्यनेकविधता विनाशरीरभेदेनाञ्जसी[1] स्यात् । यद्यपि निर्गुणायां भूमविद्यायामय-मनेकधाभावविकल्पः पठ्यते तथापि विद्यमानमेवेदं सगुणावस्थायामैश्वर्यं भूमविद्या-स्तुतये संकीर्त्यत इत्यतः सगुणविद्याफलभावेनोपतिष्ठत इति ॥११॥

उच्यते—

कालभेदेनेच्छया सन्ति न सन्ति चेति सिद्धान्तपक्षो द्रष्टव्यः । फलं तु तत्तच्छ्रुतेर्मुख्यत्वमिति विवेकः ॥ १० ॥ ११ ॥

रहते हैं या नहीं, इस पर विचार किया जाता है। इस सम्बन्ध में महिमायुक्त उस उपासक के पास शरीर और इन्द्रियों का अभाव आचार्य बादरि मानते हैं। ऐसा हो 'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते', 'य एते ब्रह्मलोके' ये श्रुतियाँ केवल मन की स्थिति को कहती हैं। यदि मन, शरीर एवं इन्द्रियों के सहित वह मुक्तात्मा ब्रह्मलोक में विचरण करता हो तो 'मनसा' यह विशेषण नहीं दिया जाता। अतः आपेक्षिक ब्रह्मलोकरूप मोक्ष में शरीर एवं इन्द्रियों का अभाव ही निश्चित होता है ॥१०॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् (ललिता)

किन्तु मन की भाँति इन्द्रियों के सहित मुक्त आत्मा के शरीर का भी अस्तित्व जैमिनि आचार्य मानते है क्योंकि 'वह उपासक एकरूप हो जाता है, तीन रूपवाला हो जाता है' इत्यादि वाक्य द्वारा अनेकधाभाव का विकल्प श्रुतियाँ बतलाती हैं। शरीरभेद के बिना अनेकविधता सहज में नहीं आ सकती है। यद्यपि अनेकधाभाव में यह विकल्प निर्गुण भूमविद्या में कहा गया है फिर भी वहाँ होता हुआ सगुणावस्था में उक्त ऐश्वर्य का यह कथन भूमविद्या की स्तुति के लिए किया गया है। अतः सगुणविद्या के फलरूप से उक्त ऐश्वर्य उस मुक्तात्मा को प्राप्त होता है, ऐसा कहना उचित है ॥११॥

---

१. तात्विकी ।

(५४५) द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥१२॥
(५४६) तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥१३॥
(५४७) भावे जाग्रद्वत् ॥१४॥

बादरायणः पुनराचार्योऽत एवोभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादुभयविधत्वं साधु मन्यते यदा सशरीरतां सङ्कल्पयति तदा सशरीरो भवति यदा त्वशरीरतां तदाऽशरीर इति । सत्यसङ्कल्पत्वात् । सङ्कल्पवैचित्र्याच्च । द्वादशाहवत् । यथा द्वादशाहः सत्रमहीनश्च भवति । उभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादेवमिदमपीति ॥१२॥

यदा तनोः सेन्द्रियस्य शरीरस्याभावस्तदा यथा सन्ध्ये स्थाने शरीरेन्द्रियविषयेष्वविद्यमानेष्वप्युपलब्धिमात्रा एव पित्रादिकामा भवन्त्येवं मोक्षेऽपि स्युरेवं ह्येतदुपपद्यते ॥१३॥

भावे पुनस्तनोर्यथा जागरिते विद्यमाना एव पित्रादिकामा भवन्त्येव मुक्तस्याप्युपपद्यते ॥१४॥

द्वादशाहवदिति । य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्ति इत्युपायिचोदनानन्यत्वश्रुतेर्द्वादशाहस्य सत्रत्वं, आसतेति चोपयन्तीति वाचोविततत्वं सत्रलक्षणमिति स्थितिः । तथा द्वादशाहेन प्रजाकाम याजयेदिति यजतिचोदनादर्शनान्नियतकर्तृकत्वावगमेन द्विरात्रादिवदहीनत्वं चेत्यर्थः ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः (ललिता)

उभयलिङ्गश्रुति को देखते हुए आचार्य बादरायण उभयविधत्व को उचित मानते हैं अर्थात् जब वह मुक्तात्मा सशरीरता का संकल्प करता है तब शरीरयुक्त हो जाता है और जब अशरीरता का संकल्प करता है तो शरीररहित हो जाता है क्योंकि वह सत्यसंकल्प है और संकल्प में विचित्रता रहती ही है। जैसे उभयलिङ्गश्रुति को देखते हुए द्वादशाह याग को सत्र एवं अहीन् उभयरूप मानते हैं, वैसे ही उभयलिङ्गश्रुति के कारण उस मुक्तात्मा में उभयरूपत्व मानना विरुद्ध नहीं है ॥१२॥

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपतेः (ललिता)

किन्तु जब इन्द्रियों के सहित शरीर नहीं रहता तब स्वप्नस्थान की भाँति शरीर, इन्द्रिय एवं विषय के न रहने पर भी उपलब्धिमात्र में ही पित्रादि भोग रहते हैं एसे ही मोक्ष में भी समझना चाहिए। इस प्रकार शरीर-इन्द्रियों के अभाव में स्वप्न की भाँति ब्रह्मलोक गये हुए उस मुक्तात्मा को भोग होता रहता है ॥१३॥

भावे जाग्रद्वत् (ललिता)

शरीर के रहने पर जैसे जाग्रत् में विद्यमान ही पित्रादि भोग होते हैं, ऐसे ही मुक्तात्मा को भी ब्रह्मलोक में शरीर और इन्द्रियों के रहने पर पित्रादि की प्राप्ति से भोग होते है ॥१४॥

६. प्रदीपाधिकरणम् (सू० १५-१६)

(५४८) प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥१५॥

निरात्मनोऽनेकदेहाः सात्मका वा निरात्मकाः । अभेदादात्ममनसोरेकस्मिन्नेव वर्तनात् ।
एकस्मान्मनसोऽन्यानि मनांसि स्युः प्रदीपवत् । आत्मभिस्तदवच्छिन्नैः सात्मकाः स्युरितीर्यतः ।

'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्' (ब्र० सू० ४-४-११) इत्यत्र सशरीरत्वं मुक्तस्योक्तम् । तत्र त्रिधाभावादिष्वनेकशरीरसर्गे किं निरात्मकानि शरीराणि दारुयन्त्राणीव सृज्यन्ते किंवा सात्मकान्यस्मदादिशरीरवदिति भवति वीक्षा । तत्र चात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरेकेन शरीरेण योगादितराणि शरीराणि निरात्मकानीति । एवं प्राप्ते प्रतिपद्यते—प्रदीपवदावेश इति । यथा प्रदीपएकोऽनेकप्रदीपभावमापद्यते विकारशक्तियोगात् । एवमेकोऽपि

प्रदीपवदावेशः । संकल्पमात्रान्निर्मितदेहानुपजीव्य तेषु भयथावर्शनात्संशयमाह—भावमिति । अनादिलिङ्गशरीरस्यैकस्मिन्नेव शरीरे भावान्निर्मितानेकदेहेषु भोगासिद्धिः पूर्वपक्षफल, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति मत्वा सूत्रं व्याचष्टे—यथेत्यादिना । स एकधा त्रिधा पञ्चधेत्यादिश्रुत्या विदुष एवानेकधा-

---

६. प्रदीपाधिकरण

१. सङ्गति—जब संकल्पमात्र से ही सृष्टि हो सकती है तो फिर शरीर की क्या आवश्यकता, अत: शरीरादि के अभाव में ब्रह्मलोक गये जीव को भोग हो नहीं सकता; इस प्रकार की आक्षेप सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. विषय—इस अधिकरण में ब्रह्मलोकवासी जीव के स्वरूप का विचार किया गया है ।

३. संशय—क्या ब्रह्मलोकस्थ उपासक के द्वारा रचे गये शरीर दारुयन्त्र की भाँति निरात्मक होते हैं अथवा अस्मदादि शरीरों की भाँति सात्मक होते हैं ।

४. पूर्वपक्ष—आत्मा और मन का भेद न होने के कारण एक शरीर सजीव होता है, उसी से भोग होता है और शेष सभी शरीर निर्जीव होते हैं ।

५. सिद्धान्त—प्रदीप की भाँति एक ही मन उपासनासामर्थ्य से सभी शरीरों में भोग कर लेता है । जैसे एक प्रदीप अनेक प्रदीपों को प्रज्वलित कर देता है, वैसे ही एक ही मन अनेक मनों में चेतना भर देता है; इसीलिए 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' ऐसी श्रुति कही गयी है ।

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति (ललिता)

'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्' इस सूत्र के व्याख्यान में मुक्तात्मा को सशरीर कहा गया है । वहाँ पर त्रिधाभावादि अनेक शरीर के उत्पन्न होने पर वे सभी शरीर दारुयन्त्र की भाँति निर्जीव उत्पन्न होते हैं अथवा शरीर की भाँति सजीव होते हैं, ऐसी जिज्ञासा होती है । वहाँ पर आत्मा और मन में भेद मानना अयुक्त होने के कारण एक शरीर के साथ जीव का सम्बन्ध रहता है, पर अन्य सभी शरीर निर्जीव रहते हैं ।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहता है जैसे एक दीपक विकारशक्ति के सम्बन्ध से अनेक दीपभाव को प्राप्त कर जाता है, ऐसे ही मुक्तात्मा उपासक ऐश्वर्य के बल से अनेक भाव को प्राप्तकर

सन्निद्वानैश्वर्ययोगादनेकभावमापद्य सर्वाणि शरीराण्याविशति। कुतः ? तथाहि दर्शयति शास्त्रमेकस्यानेकभावम्—'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा' (छा० (७-२६-२) इत्यादि। नैतद्दारुयन्त्रोपमाभ्युपगमेऽवकल्पते नापि जीवान्तरावेशे। नच निरात्मकानां शरीराणां प्रवृत्तिः सम्भवति। यत्त्वात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरनेकशरीरयोगासम्भव इति। नैष दोषः। एकमनोनुवर्तीनि समनस्कान्येवापराणि शरीराणि सत्यसङ्कल्पत्वात्स्रक्ष्यति। सृष्टेषु च तेषूपाधिभेदादात्मनोऽपि भेदेनाधिष्ठातृत्वं योक्ष्यते। एषैव च योगशास्त्रेषु योगिनामनेकशरीरयोगप्रक्रिया ॥१५॥

कथं पुनर्मुक्तस्यानेकशरीरावेशादिलक्षणमैश्वर्यमभ्युपगम्यते यावता 'तत्केन कं विजा-

---

भाव उक्तः। विद्वांस्तु न देहो नापि चिन्मात्रः। किंतु लिङ्गोपहितात्मा। नच तस्य लिङ्गभेदं विनाऽनेकत्वं संभवति। अतः श्रुतिबलादेकस्यैवानादिलिङ्गस्यानेकदेहेषु प्रवेशेन भेद एष्टव्यः। यद्यपि मूलप्रदीपस्य वर्त्यन्तरेषूत्पन्नदीपानां चात्यन्तभेदोऽस्ति लिङ्गस्य तु देहभेदकृतो भेदो न स्वतः, स्वतो लिङ्गभेदे तदुपहितजीवभेदादनुसंधानानुपपत्तेः। आगन्तुकानेकलिङ्गसृष्टावसत्कार्यवादापाताच्च। तथापि प्रदीपत्वजात्यैक्येन व्यक्त्यैक्यारोपात् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यं द्रष्टव्यम्। तथाच यथा प्रदीपोऽनेकवर्तिषु प्रविशति एवं विद्यायोगबलाद्विद्वल्लिङ्गस्य व्यापित्वादनेकदेहेषु युगपदावेश इति सूत्रार्थः। विदुषोऽनेकधात्वं श्रुतमन्यथा न घटत इत्याह—नैतदिति। इतश्च सात्मकत्वमित्याह—न च निरात्मकानामिति। यदनादि मन एकदेहस्थं तदनुसारीणि देहान्तरस्थानि मनांसि भवन्ति 'तदवस्थानां तन्नियम्यत्वसंभवादिति। अत्र योगशास्त्रसंमतिमाह—एषैवेति। निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्प्रवृत्तिभेदे प्रयोजक चित्तमेकमनेकेषामिति हि भगवत्पतञ्जलिना सूत्रितम्। योगिनोऽभिमानमात्रान्निर्माणचित्तानि निर्माणदेहेषु भवन्ति, तेषां नियामकमनादिचित्तमित्यर्थः ॥१५॥

उत्तरसूत्रव्यावर्त्यशङ्कामाह—कथं पुनरिति। सलिलवत्सलिलः, स्वच्छ इत्यर्थः। न तु तद्द्वितीय-

---

सभी शरीरों को सजीव बना देता है। ऐसा ही 'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा भवति सप्तधा नवधा' इत्यादि शास्त्रवचन एक को अनेक भाव होना बतलाता है। यह श्रुतिवचन दारुयन्त्र को उपमा मानने पर सुसंगत नहीं होता है और न दूसरे शरीर में जीवान्तर का प्रवेश मानने पर युक्तिसंगत होता है। और जो आत्मा एवं मन में भेद मानना असङ्गत होने के कारण अनेक शरीर के साथ जीव का सम्बन्ध कहना असम्भव आप ने कहा था, यह कोई दोष नहीं है। एक मन का ही अनुवर्तन करने वाले समनस्क अनेकों अन्य शरीरों का सत्यसंकल्प के बल से वह मुक्तात्मा बना लेगा। इस प्रकार शरीर और इन्द्रिय आदि के बन जाने पर उपाधि भेद से आत्मा में भी भेदपूर्वक अधिष्ठातृत्व युक्तियुक्त हो जायेगा। योगशास्त्र में योगियों के अनेक शरीरों के साथ सम्बन्ध की ऐसी ही प्रक्रिया बतलायी गयी है जिसे महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में कहा है ॥१५॥

मुक्तात्मा का अनेकशरीरावेशादिरूप ऐश्वर्य आप कैसे मानते हैं जब कि 'वहाँ पर किससे किसको

---

१. अनेकधात्वम्। २. अनादिमनः।

(५४६) स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥१६॥

नीयात्' (बृ० ४-५-१५), 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्' (बृ० ४--३-३०), 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति' (बृ० ४-३-३२) इति चैवंजातीयका श्रुतिर्विशेषविज्ञानं वारयतीत्यत उत्तर पठति—

स्वाप्ययः सुषुप्तम् 'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते' (छा० ६-८-१) इति श्रुतेः। सम्पत्तिः कैवल्यम् 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति (बृ० ४-४-६) इति श्रुतेः। तयोरन्यतरामवस्थामपेक्ष्यैतद्विशेषसंज्ञाभाववचनम् । क्वचित्सुषुप्तावस्थामपेक्ष्योच्यते क्वचित्कैवल्यावस्थाम् । कथमवगम्यते, यतस्तत्रैवैतदधिकारवशादाविष्कृतम् 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीति' (बृ० २-४-१४), 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' (बृ० २-४-१४), 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति' (बृ० ४-३-१९ / मा० ५) इत्यादिश्रुतिभ्यः । सगुणविद्याविपाकावस्थानं त्वेतत्स्वर्गादिवदवस्थान्तरं [1]यत्र[2]तदैश्वर्यमुपवर्ण्यते । तस्माददोषः ॥१६॥

मस्त्वीति क्वचित्सुषुप्तिमाधिकृत्योक्त 'तत्केन कम्' इत्यादि क्वचिन्मुक्तिं प्रकृत्योक्तम् । एवं विशेषज्ञानाभाववचनं सुषुप्तिमुक्त्यन्यतरापेक्षं सगुणोपासकस्य भोगोक्तौ न विरुध्यते भिन्नविषयत्वादित्याह—स्वाप्ययेति। तत्रैव श्रुतौ तदधिकारवशात्सुषुप्त्यादिप्रकरणबलात्, उक्तवचनानामन्यतरापेक्षत्वमाविष्कृतं हि यतस्ततोऽवगम्यत इत्यर्थः । अत्र समुत्थानादिवाक्यं मुक्तिविषयं यत्र सुप्त इति सुप्तिविषयमिति विभागः ॥१६॥

जानेगा, उससे भिन्न दूसरा कोई है ही नहीं जिसे वह जाने और 'स्वच्छ जल की भाँति द्रष्टा अकेला रहता है' ऐसी श्रुतियाँ विशेषविज्ञान का अभाव बतलाती हैं, इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं—

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि (ललिता)

'अपने में लीन हो जाता है इसीलिए उसे, सो रहा है, ऐसा कहते हैं' इस श्रुति से सुषुप्त और 'ब्रह्म होता हुआ ही ब्रह्म में लीन होता है' इस श्रुति से कैवल्य कहा गया है। इन दोनों में से किसी एक अवस्था की अपेक्षाकर विशेषसंज्ञा का अभावकथन किया गया है अर्थात् किसी श्रुति में सुषुप्तावस्था की अपेक्षाकर और किसी में कैवल्यावस्था की अपेक्षाकर विशेषसंज्ञा का अभाव कहा गया है क्योंकि 'इन भूतों से ऊपर उठकर उनके पीछे विशेषविज्ञान का अभाव हो जाता है, मर जाने पर विशेष चेतना नहीं रहती', 'परन्तु जहाँ पर इस विद्वान् के लिए सब आत्मा ही हो गया', 'जहाँ सोया हुआ पुरुष किसी भोग की कामना नहीं करता और न किसी स्वप्न को देखता है' इन श्रुतियों के द्वारा उस आत्मा में ही अधिकार के कारण यह सब कहा गया है। यह तो सगुण विद्या के फलभोगस्थान स्वर्गादि की भाँति अवस्थान्तर है जहाँ इस ऐश्वर्य का वर्णन किया गया है। अतः समुत्थान आदि वाक्य मुक्तिविषयक है और 'यत्र सुप्तः' इत्यादि वाक्य सुषुप्तिविषयक है, ऐसा विभाग कर लेना चाहिए ॥१६॥

---

१. ब्रह्मलोक स्थाने। २. शरीरावेशादि लक्षणम्।

७. जगद्व्यापाराधिकरणम् (सू० १७-२२)

(५५०) जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥१७॥

जगत्स्रष्टृत्वमस्त्येषां योगिनामथ नास्ति वा । अस्ति स्वाराज्यमाप्नोतीत्युक्तैश्वर्यनिवग्रहात् ।
सृष्टावप्रकृतत्वेन स्रष्टृता नास्ति योगिनाम् । स्वाराज्यमीशो भोगाय ददे मुक्तिं च विद्यया ॥

ये सगुणब्रह्मोपासनात्सहैव मनसेश्वरसायुज्यं व्रजन्ति किं तेषां निरवग्रहमैश्वर्यं भवत्याहोस्वित्सावग्रहमिति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? निरङ्कुशमेवैषामैश्वर्यं भवितुमर्हति 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १-६-२), 'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति' (तै० १-५-३), 'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ७-२५-२, ८-१-६) इत्यादिश्रुतिभ्य इति ।

जगद्व्यापारवर्जम् । संकल्पादेवेत्यदिनोक्तैश्वर्यस्य जगत्सृष्ट्यादिव्यतिरिक्तविषयत्वेनात्रापवादात् संगतिः । उभयथा दर्शनात्संशयः । ईश्वरनानात्वं पूर्वपक्षफलं, सिद्धान्ते तु विद्यायोगिनामीश्वर-

---

७. जगद्व्यापाराधिकरण

१. **सङ्गति**—स्वाराज्य-कामचारादि श्रुति के बल से ब्रह्मलोकवासियों में जो निरङ्कुश ऐश्वर्य जान पड़ता था, उसका अपवाद 'जगद्व्यापारवर्जम्' इस श्रुति के बल से हो जाता है; अतः उत्सर्गापवादरूप सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. **विषय**—ब्रह्मलोक में स्थित सगुण उपासकों के ऐश्वर्य का इस अधिकरण में विचार किया गया है ।

३. **संशय**—क्या सगुण ब्रह्म के उपासक का ऐश्वर्य ब्रह्मलोक में ईश्वर के समान निरङ्कुश होता है अथवा साङ्कुश होता है ?

४. **पूर्वपक्ष**—'आप्नोति स्वाराज्यम्' इस श्रुति के बल से सगुण ब्रह्मोपासक का ऐश्वर्य निरङ्कुश जान पड़ता है ।

५. **सिद्धान्त**—सृष्टिप्रतिपादक प्रकरण में परमात्मा को ही स्रष्टा कहा गया है, सगुण ब्रह्मोपासक योगियों को नहीं । ईश्वर उन उपासकों को भोग में स्वतन्त्रता देता है, सर्गादिरचना में नहीं । मुक्ति तो विद्या से ही प्राप्त होती है । अतः जगत्सृष्टि में उनको स्वतन्त्रता न होने पर भी भोग एवं मोक्ष मे उनकी स्वतन्त्रता है ही, यह सिद्ध हुआ ।

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च (ललिता)

सगुण ब्रह्म की उपासना से जो से उपासक मन के सहित हो ईश्वरसायुज्य को प्राप्त करते हैं, क्या उन्हें निरङ्कुश ऐश्वर्य प्राप्त होना है अथवा साङ्कुश ऐश्वर्य प्राप्त होता है, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष ने उन उपासकों का निरङ्कुश[1] ऐश्वर्य 'वह स्वाराज्य को प्राप्त करता है', 'सभी देवता उसके एि बलि प्रदान करते हैं', 'उनका सभी लोकों में यथेच्छ विचरण होता है' इन श्रुतियों से प्राप्त होना कहा है ।

---

१. निरंकुशम् ।

(५५१) प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥१८॥

एवं प्राप्ते पठति—जगद्व्यापारवर्जमिति। जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य। कुतः? तस्य तत्र प्रकृतत्वादसंनिहितत्वाच्चेतरेषाम्। पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः तमेव। प्रकृत्योत्पत्त्याद्युपदेशात। नित्यशब्दनिबन्धनत्वाच्च। तदन्वेषणविजिज्ञासनपूर्वकं त्वितरेषामणिमाद्यैश्वर्यं श्रूयते। तेनासंनिहितास्ते जगद्व्यापारे। समनस्कत्वादेव चैतेषामनैकमत्ये कस्यचित्स्थित्यभिप्रायः कस्यचित्संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित्स्यात्। अथ कस्यचित्सङ्कल्पमन्वन्यस्य संकल्प इत्यविरोधः समर्थ्येत ततः परमेश्वराकूततन्त्रत्वमेवेतरेषामिति व्यवतिष्ठते ॥१७॥

अथ यदुक्तम् 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १-६-२) इत्यादिप्रत्यक्षोपदेशान्निरवग्रह-

---

नियन्तृत्वादेकस्य नित्यसिद्धस्येश्वरस्यैव जगत्कर्तृत्वसिद्धिरिति विवेकः। प्रलयात्सर्गसमये यस्येक्षणपूर्वं कर्तृत्वं श्रुतौ प्रकृतं तस्यैव नियन्तृत्वादिर्जगद्व्यापारः। नह्युपासकानां देहं विनेक्षणं संभवति। किञ्चेश्वरस्य नित्यसिद्धत्वाच्छब्दैकसमधिगम्यत्वाच्च जगत्स्रष्टृत्वं युक्तं, न तु तत्प्रसादलब्धसिद्धीनां जीवानामित्याह—नित्यशब्दनिबन्धनत्वाच्चेति। किञ्च विदुषां समप्राधान्ये मिथो विरोधः। एकं प्रत्यन्येषां गुणत्वे त्वेक एवेश्वर इत्याह—समनस्कत्वादिति ॥१७॥

अधिकारे नियोजयत्यादित्यादीनित्याधिकारिकः, स चासौ मण्डलस्थश्च तस्य प्राप्यत्वोक्ते-

---

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहता है कि संसार के उत्पत्ति आदि व्यापार को छोड़कर उन मुक्त पुरुषों को अन्य अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्त होता है, जगत्सृष्टि आदि व्यापार तो नित्यसिद्ध ईश्वर का ही है क्योंकि वहाँ पर उसी का प्रकरण है. अन्य मुक्त पुरुष सृष्ट्यादि व्यापार में सन्निहित नहीं हैं। जगत्दुत्पत्ति आदि व्यापार में परमेश्वर ही अधिकृत है, उसी के प्रसङ्ग में उत्पत्त्यादि का उपदेश है और नित्य शब्द का सम्बन्ध भी उसी के लिए के लिए है। उस परमेश्वर का अन्वेषण एवं अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति अन्य मुक्त पुरुषों की सुनी जाती है, इससे यह सिद्ध होता है कि वे मुक्त पुरुष जगदुत्पत्ति आदि व्यापार में सन्निहित नहीं हैं। वे मुक्तात्मा अनेकों हैं और सभी के पास मन भी है, ऐसी स्थिति में उनका ऐकमत्य न होने पर कोई सृष्टि को बनाये रखना चाहेगा और कोई संहार करना चाहेगा, ऐसा विरोध भी कदाचित् हो सकता है। और यदि एक के संकल्प के अनुरूप दूसरे का संकल्प मानकर विरोधाभाव का समर्थन करोगे तो परमेश्वर के अभिप्रायाधीन ही अन्य का संकल्प होता है, ऐसा मानकर व्यवस्था देनी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में एक के प्रति दूसरों को गौण मानने पर एक ही ईश्वर सिद्ध होगा, सभी में समानरूप से प्रधानता मानने पर पूर्वोक्त विरोध आयेगा ही ॥१७॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः (ललिता)

और जो आप ने 'आप्नोति स्वाराज्यम्' इत्यादि प्रत्यक्ष उपदेश के आधार पर उन उपासकों

(५५२) विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह ॥१९॥

मैश्वर्यं विदुषां न्याय्यमिति तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते । नायं दोषः । आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः । आधिकारिको यः सवितृमण्डलादिषु विशेषायतनेष्ववस्थितः पर ईश्वरस्तदायत्तैव स्वाराज्यप्राप्तिरुच्यते । यत्कारणमनन्तरम् 'आप्नोति मनसस्पतिम्' (तै० १-६-२) इत्याह । यो हि सर्वमनसां पतिः पूर्वसिद्ध ईश्वरस्तं प्राप्नोतीत्येतदुक्तं भवति । तदनुसारेणैव चानन्तरम् 'वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिश्च भवति' (तै० १-६-२) इत्याह । एवमन्यत्रापि यथासम्भवं नित्यसिद्धेश्वरायत्तमेवेतरेषामैश्वर्यं योजयितव्यम् ॥१८॥

विकारावर्त्यपि च नित्यमुक्तं पारमेश्वरं रूपं न केवलं विकारमात्रगोचरं सवितृमण्डलाद्यधिष्ठानम् । तथा ह्यस्य द्विरूपां स्थितिमाहाम्नायः 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३-१२-६) इत्येवमादिः । न च तन्निर्विकारं रूपमितरालम्बनाः प्राप्नुवन्तीति शक्यं वक्तुमतत्क्रतुत्वात्तेषाम् । अतश्च यथैव

त्यर्थः । मनसस्पतिः सूर्यमण्डलान्तःस्थः परमात्मा 'तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात्' इति श्रुतेः । तथाच यदि पूर्वं निरङ्कुशं स्वाराज्यमुक्तं स्यात्तर्हि ईश्वरस्याग्रे प्राप्यतां न ब्रूयात् । अतो भोगे स्वाराज्यं न जगज्जन्मादिष्विति भावः । वाक्पतित्वादिकमपीश्वराधीनमित्याह— तदनुसारेणेति । उक्तन्यायं कामचारादिवाक्येष्वतिदिशति—एवमिति ॥१८॥

जगद्व्यापार उपासकप्राप्यः तदुपास्यनिष्ठत्वात्संकल्पसिद्ध्यादिवदित्याशङ्क्योपास्यस्यनिर्गुण-

---

का ब्रह्मलोक में निरङ्कुश ऐश्वर्य मानने का आग्रह किया था, उस आक्षेप का परिहार करना है। यह कोई दोष नहीं है। विशेष आयतन आदित्यमण्डलादि में व्यवस्थित जो आधिकारिक परमेश्वररूप माना गया है उसके आधीन ही यह स्वाराज्यप्राप्ति कही जाती है क्योंकि उसके बाद 'आप्नोति मनसस्पतिम्' यह वाक्य भी है जिसका अर्थ है कि सभी के मन का शासक जो पूर्वसिद्ध ईश्वर है उसे वह उपासक प्राप्त करता है। तदनुसार ही आगे 'वाणी का पति, चक्षु का पति, श्रोत्र का पति और सभी विज्ञानों का भी स्वामी हो जाता है' इत्यादि कहना भी युक्तिसङ्गत हो जाता है क्योंकि वाक्पतित्वादि ईश्वराधीन ही है। यह न्याय अन्यत्र कामचारादि वाक्य में भी यथासम्भव लगा लेना चाहिए जिससे ब्रह्मलोक गये उन उपासकों का ऐश्वर्य नित्यसिद्ध ईश्वराधीन ही रहता है, ऐसी योजना सिद्ध हो जायेगी ॥१८॥

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह (ललिता)

नित्यमुक्त परमेश्वर का रूप केवल विकारमात्र आदित्यादि मण्डल में ही नहीं है अपितु विकारावर्ति भी है। ऐसा ही 'अनन्तानन्त सृष्टिरचना उस परमेश्वर की महिमा है, वह पुरुष तो उससे भी महान् है उसके एक अंश में सभी भूत हैं और द्युलोक में इसके त्रिपाद अमृतस्वरूप हैं' इत्यादि वाक्य उस परमेश्वर की द्विरूपस्थिति को बतलाते हैं। उस निर्विकार रूप को अन्य उपासक प्राप्त करते हैं,

(५५३) दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥२०॥

(५५४) भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥२१॥

द्विरूपे परमेश्वरे निर्गुणं रूपमनवाप्य सगुण एवावतिष्ठन्त एवं सगुणेऽपि निरवग्रहमैश्वर्यमनवाप्य सावग्रह एवावतिष्ठन्त इति द्रष्टव्यम् ॥१९॥

दर्शयतश्च विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः श्रुतिस्मृती । 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' (क० ५-१५, श्वे० ६-१४, मु० २-२-१०) इति । 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' (गी० १५-६) इति च । तदेवं विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः प्रसिद्धमित्यभिप्रायः ॥२०॥

इतश्च न निरंकुशं विकारालम्बनानामैश्वर्यं यस्माद्भोगमात्रमेवैषामनादिसिद्धेनेश्वरेण समानमिति श्रूयते--'तमाहापो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ' इति, 'स यथैतां देवतां सर्वाणि

स्वरूपे व्यभिचारमाह—विकारावर्ति चेति ॥१९॥

निर्गुणस्वरूपे प्रमाणमाह—दर्शयतश्चेति । यथा ज्ञानाभावान्निर्गुणं न प्राप्तं तथा ध्यानाभावाज्जगत्स्रष्टृत्वादि न प्राप्यते । ध्यानाभावश्च विध्यभावादिति भावः ॥२०॥

तमुपासकं ब्रह्मलोकगतमाह हिरण्यगर्भः मया खल्विमा आपो अमृतरूपा मीयन्ते भुज्यन्ते तवाप्यसौ लोकोऽमृतोदकलक्षण इत्यर्थः । श्रुत्यन्तरमाह—स यथेति । भोगसाम्ये स दृष्टान्तो यथेत्यर्थः ।

ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वे उसके उपासक नहीं हैं। अतः द्विरूप परमेश्वर में सगुण उपासक निर्गुण रूप को प्राप्त किये बिना सगुण मे ही अवस्थित रहते हैं, ऐसे ही सगुण स्वरूप में भी यह उपासक निरङ्कुश ऐश्वर्य को न प्राप्तकर साङ्कुश ऐश्वय में ही रह जाते हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥१९॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने (ललिता)

परमेश्वर के विकारावर्तित्व को 'वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं करता, न चन्द्रमा, न तारे और न यह विद्युत प्रकाश करती है, फिर अग्नि तो कैसे प्रकाश कर सकेगा' यह श्रुति और 'उसे सूर्य नहीं प्रकाशित करता, न चन्द्रमा और न पावक ही प्रकाशित करता है' यह स्मृति भी बतलाती है। इस प्रकार परमज्योति परमात्मा का विकारावर्तिरूप प्रसिद्ध है ॥२०॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च (ललिता)

उन उपासकों का ब्रह्मलोक में ऐश्वर्य निरङ्कुश इसलिए भी नहीं है क्योंकि अनादिसिद्ध ईश्वर के साथ इनका भोगमात्र समान सुना गया है। 'उस उपासक को हिरण्यगर्भ सान्त्वना देते हैं कि यह अमृतरूप जल मेरे द्वारा भोगा जाता है, यह अमृतोदकरूप लोक तुम्हारा भी भोग्य है, तुम

(५५५) अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥२२॥

भूतान्यवन्त्येवं हैवविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति', 'तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' (बृ० १ ५-२३) इत्यादिभेदव्यपदेशलिङ्गेभ्यः ॥२१॥

नन्वेव सति सातिशयत्वादन्तवत्त्वमैश्वर्यस्य स्यात्ततश्चैषामावृत्तिः प्रसज्येतेत्यत उत्तरं भगवान्बादरायण आचार्यः पठति—

नाडीरश्मिसमन्वितेनार्चिरादिपर्वणा देवयानेन पथा ये ब्रह्मलोकं शास्त्रोक्तविशेषणं गच्छन्ति यस्मिन्नरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि यस्मिन्नैरंमदीयं सरो यस्मिन्नश्वत्थः सोमसवनो यस्मिन्नपराजिता पूर्ब्रह्मणो यस्मिंश्च प्रभुविमितं हिरण्मयं वेश्म यश्चानेकधा मन्त्रार्थवादादिप्रदेशेषु प्रपञ्च्यते ते तं प्राप्य न चन्द्रलोकादिव भुक्तभोगा

तेनो इत्युशब्दोऽप्यर्थः। सलोकतामपीत्यन्वयः। सायुज्यं समानदेहत्वं क्रमेण मुक्तिर्वा ॥२१॥

शास्त्रसमाप्तिं सूचयन्सूत्रकारं पूजयति—भगवानिति। भगवत्त्वं सर्वज्ञत्वम्। सूत्रद्वारा शिष्याणामाचारे स्थापनादाचार्यत्वम्। बादरायणपदेन बदरिकाश्रमवासोक्त्या नित्यसर्वज्ञस्य परमगुरोर्नारायणस्य प्रसादद्योतनात्तत्प्रणीतशास्त्रे निरवद्यतां द्योतयति। सगुणविद्यायाः सातिशयफलत्वेऽपि ततो निर्गुणविद्ययानावृत्तिरित्याह—अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्। ये ब्रह्मलोकं गच्छन्ति ते तं प्राप्य नावर्तन्ते इति सम्बन्धः। लोकं विशिनष्टि—यस्मिन्निति। इतोऽस्मात्पृथिवीलोकात्तृतीयस्यां दिवि यो ब्रह्मलोकस्तस्मिन्नर इति ण्य इति चार्णवतुल्यौ सुधाह्रदावित्यर्थः। ऐरमन्नमयं मदीयं मदकरं सरः, सोमसवनः अमृतवर्षो। यद्यपि तेषामिह न पुनरावृत्तिरिमं मानवमिति च श्रुतिष्विहेममिति विशेषणा-

---

इसका यथेच्छ भोग करो', 'जैसे इस हिरण्यगर्भ देवता की पूजा सभी प्राणी करते हैं, ऐसे ही इस उपासक की भी सभी जीव पूजा करते हैं', 'इससे वह प्राण व्रत करने वाला उपासक इसी देवता के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है' इत्यादि भेदप्रतिपादक लिङ्गों से भी ब्रह्मलोकस्थ विद्वानों का साङ्कुश ऐश्वर्य प्रतीत होता है, निरङ्कुश नहीं ॥२१॥

शङ्का—इस प्रकार साङ्कुश होने के कारण उन विद्वानों के ऐश्वर्य का अन्त हो जायेगा, फिर तो इन्हें संसार में लौटना पड़ेगा ? इसका उत्तर भगवन् बादरायण अग्रिम सूत्र से देते हैं—

(५५५) अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥२२॥

समाधान—नाड़ी-रश्मि से समन्वित अर्चिरादि देवयान मार्ग से शास्त्रोक्तविशेषणविशिष्ट लोक में जो जाते हैं—उस लोक में अर और ण्य ऐसे अमृत के सरोवर हैं, जिस तृतीय द्युलोक में अन्नमय मादक सरोवर है, जहाँ अमृत बरसाने वाला अश्वत्थ वृक्ष है, जहाँ पर उस परमेश्वर की अपराजिता नगरी है जिसका निर्माण परमात्मा ने अपने हाथों से किया है जिसमें हिरण्मय वेश्म है, जिसे अनेकधा मन्त्र-अर्थवाद आदि प्रदेशों में विस्तार से कहा गया है—उस ब्रह्मलोक को प्राप्तकर वे उपासक चन्द्रलोकादि की भाँति भोग समाप्त होते ही लौटते नहीं अर्थात् भोग समाप्त होते ही जैसे स्वर्ग से

आवर्तन्ते । कुतः ? 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८-६-६ / क० ६-१६), 'तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृ० ६-२-१५), 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४-१५-६), 'ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते' (छा० ८-१५-१), 'न च पुनरावर्तते' (छा० ८-१५-१) इत्यादिशब्देभ्यः । अन्तवत्त्वेऽपि त्वैश्वर्यस्य यथाऽनावृत्तिस्तथा वर्णितम् 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परम्' (ब्र० ४-३-१०) इत्यत्र । सम्यग्दर्शनविध्वस्ततमसां तु नित्यसिद्धनिर्वाणपरायणानां सिद्धैवानावृत्तिः । [1]तदाश्रयणेनैव हि सगुणशरणानामप्यनावृत्तिसिद्धिरिति । अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दादिति सूत्राभ्यासः

दस्मिन्कल्पे ब्रह्मलोकं गतानां कल्पान्तरे आवृत्तिर्भाति, तथापीश्वरोपास्ति विना पञ्चाग्निविद्याश्रमेघट्टब्रह्मचर्यादिसाधनैर्ये गतास्तेषां तत्त्वज्ञाननियमाभावादावृत्तिः स्यात्, ये तु दहरादीश्वरोपास्त्या गतास्तेषां सगुणविद्याफलक्षयेऽपि निरवग्रहेश्वरानुग्रहलब्धात्मज्ञानान्मुक्तिरिति नियम इत्यभिप्रेत्याह— अन्तवत्त्वेऽपि त्विति । नन्वत्र सूत्रकृता सगुणविदामेवानावृत्तिक्रम उक्तो न निर्गुणविदां तत्र को हेतुरित्याशङ्क्य तेषामावृत्तिशङ्काभावादित्याह—सम्यगिति । तदाश्रयणेनेति । सगुणविदामावृत्तिप्राप्तौ सम्यग्दर्शनाश्रयणेनैवानावृत्तिः साधिता, अतः स्वत एव सम्यग्दर्शिनामावृत्तिशङ्का नेति किमु वाच्यमित्यर्थः । यत्राध्यायसमाप्तिस्तत्र पदमात्रस्याभ्यासो दर्शितः, इह सूत्रस्यैवाभ्यासाच्छास्त्रसमाप्तिर्द्योत्यत इत्याह— अनावृत्तिः शब्दादिति । एवं समन्वयोक्त्या ब्रह्मात्मैक्यस्य वेदान्तप्रमाणकत्वमवधारयितुं वाक्यार्थज्ञाने स्मृतितर्कादिसर्वप्रकारविरोधः परिहृतः, साधनसंपत्तिश्च दर्शिता, तस्माद्विवेकादिसाधनसंपन्नस्य श्रवणाद्यावृत्तिनिरस्तसमस्तप्रतिबन्धस्याखण्डात्मसंबोधात्समूलबन्धध्वंसे

जीव का लौटना होता है वैसी पुनरावृत्ति ब्रह्मलोक से नहीं होती क्योंकि 'उस मूर्धन्य नाड़ी से ऊपर गया हुआ जीव अमरत्व प्राप्त करता है', 'उनका पुनरावर्तन नहीं होता', 'इस मार्ग से जाने वाले इस मानव आवर्त में नहीं पड़ते हैं', 'ब्रह्मलोक को प्राप्त कर जाता है', 'पुनः वह वहाँ से लौटता नहीं इत्यादि श्रुतिवाक्यों से ऐसा ही कहा गया है । उस ऐश्वर्य का अन्त हो जाने पर भी जिस प्रकार उनका पुनरावर्तन नहीं होता, उसे हम **'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परम्'** इस सूत्र में कह आये हैं । तत्त्वसाक्षात्कार से जिनका अज्ञानान्धकार नष्ट हो चुका है और जो नित्यसिद्ध निर्वाण के परायण उनकी अनावृत्ति तो सिद्ध ही है । उन यथार्थज्ञान के आश्रयण से ही सगुणब्रह्म उपासकों का भी अनावृत्ति सिद्ध हो जाती है । तात्पर्य यह कि कारणसहित सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष निर्गुणब्रह्मज्ञानियों को सद्यः मिलता है और सगुणब्रह्मोपासकों को क्रमशः मिलता है । सूत्र में 'अनावृत्तिः शब्दात्' इस वाक्य द्वारा सम्पूर्ण सूत्र का अभ्यास 'ब्रह्मसूत्र' शास्त्र

---

१. सम्यग्दर्शन ।

शास्त्रपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥२२॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

सत्याविर्भूतनिष्कलङ्कानन्तस्वप्रकाशचिदानन्दात्मनावस्थानमिति सिद्धम् ॥२२॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ
श्रीमच्छारीरकमीमांसाव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां
चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

की परिसमाप्ति को बतला रहा है ॥२२॥

इस प्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक कैलासपीठाधीश्वर
दशमाचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्दगिरि
द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य चतुर्थाध्याय
चतुर्थपाद की ललिता व्याख्या समाप्त हुई ॥४॥

* * *

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र-प्रथमाध्याय से श्रुतिसमन्वय, द्वितीय अध्याय
द्वारा विरोधपरिहार, तृतीय अध्याय से साधनसम्पत्ति और
अन्तिम चतुर्थ अध्याय से सविशेष-निर्विशेष
उपासना का फल बतलाया गया।

इसके साथ ही श्री कैलास पीठाधीश्वर आ० म० म० स्वामी विद्यानन्द गिरि द्वारा
विरचित ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य की ललिता व्याख्या समाप्त हुई। इत्यों शम्।





सूत्राणां वर्णानुक्रमणिका

इति बादरायणप्रणीतब्रह्मसूत्राणां वर्णानुक्रमणिका सम्पूर्णाम् । इत्यों शम् ।

श्री कैलासपीठाधीश्वर अनन्त श्रीविभूषित श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

एवं श्री कैलास आश्रम के पूर्वाचार्यों की अनुपम कृतियां।

श्री कैलास विद्या प्रकाशन के सोपान

१. ईशावास्योपनिषद (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ६८ ३०-००

२. ईशावास्य प्रवचनसुधा, डिमाई साइज पृष्ठ ३२० ... ५०-००

३. ईशावास्य प्रवचनसुधा (आंग्ल अनुवाद) डिमाई १६ पेजी सजिल्द २००-००

४ केनोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्ययुता) क्राउन साइज पृष्ठ १३८ ५०.००

आई एस. बी. एन. ८१-९००६२५-७-३

५ कठोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज पृष्ठ १४० ५०.००

६. प्रश्नोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय-समलंकृत शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज पृष्ठ १२० ... ४० ००

७. मुण्डकोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय समलंकृत शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ९० ... ४०.००

८. माण्डूक्य कारिका (सटिप्पण, हिन्दी, संस्कृत टीका सहित शाङ्करभाष्य) सजिल्द क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ३२० २५०.००

आई. एस. बी. एन. ८१-९००६२५-८-१

९. माडूक्य कारिका (सानुवाद शाङ्करभाष्ययुता) ... ५०.००

१०. तैत्तिरीयोपनिषद् (सटिप्पण-टीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्य युता) क्राउन साइज पृष्ठ १९८ ... ५०.००

आई.एस बी.एन. ८१-९००६२५ ९-×

११. एतरेयोपनिषद् (सटिप्पणटीका-द्वय संवलित शांकरभाष्ययुता क्राउन साइज पृष्ठ ११२ ... ४०.००

१२. छान्दोग्योपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शांकरभाष्ययुता क्राउन साइज पृष्ठ ७३४ ... २००.००

१३. बृहदारण्यकोपनिषद् (सटिप्पण-टीकाद्वय समलङ्कृत शांकरभाष्य-युता) सजिल्द क्राउन ८ पेजी २ खण्ड, पृष्ठ १६६२ ... ५००.००

१४. ईशादि सप्तोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय शांकरभाष्योपेता) क्राउन साइज २००-००

१५. ईशादि द्वादशोपनिषद् (विद्यानन्दी मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या) सजिल्द डबल डिमाई १६ पेजी पृष्ठ ५३२ २००-००
(ओडियो-विडियो कैसेट उपलब्ध है)

१६. ब्रह्मसूत्र (सानुवाद-विद्यानन्दवृत्ति) सजिल्द डबल डिमाई १६ पृष्ठ ५२० २००-००
(ओडियो-विडियो कैसेट उपलब्ध है)

१७. ब्रह्मसूत्र (संस्कृत विद्यानन्दवृत्ति-परीक्षोपयोगी) डबल डिमाई साइज १६ पेजी पृष्ठ २४७ ... २५-००

१८. ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य सटिप्पण-रत्नप्रभा ललिता व्याख्यायुतम्)
(भाग-१) ... ३००-००
(भाग-२) ... ५००-००

आई.एस.बी.एन. ८१-९००६२५-३-०

१९. ब्रह्मसूत्र (चतुःसूत्री, शांकरभाष्य सटिप्पण ललिता व्याख्यायुतम्) १००.००
आई.एस.बी.एन. ८१-६००६२५-०-६

२०. ब्रह्मसूत्र मूलपाठ ... १०-००

२१. वैयासिक न्यायमाला (संस्कृत, हिन्दी, टीकाद्वय सम्वलिता व्याख्यायुता १५०-००
आई. एस. बी. एन. ८१-६००६२५-४-६

२२. वैयासिक न्यायमाला (सानुवाद ललिता व्याख्यायुता १००-००
आई. एस. बी. एन. ८१-६०००६२५-४-७

२३. श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य सटिप्पण आनन्दगिरि टीका ललिता व्याख्यायुतम् दो भाग) ... ४००-००
आई० एस० बी० एन० ८१-६००६२५-१-४

२४. श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य ललिता व्याख्यायुतम् ... २५०-००
आई० एस० बी१ एन० ८१-६०००६२५-२-२

२५. श्रीमद्भगवद्गीता (अष्टादशाह प्रवचन) ... २५०-००
(ओडियो-विडियो कैसेट उपलब्ध है)

२६. वेदान्त परिभाषा (अर्थदीपिका एवं सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या) सजिल्द क्राउन साइज ८ पेजी ... ८०-००

२७. वेदान्त परिभाषा (परीक्षाब्धि-संतरणी) ... २०-००

२८. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी-छात्रतोषिणी टीका परिक्षाब्धिसंतरणी अष्टोत्तरशतन्यायमालायुता) १२०-००

२९. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी सटिप्पणटीकाद्वय संवलिता भाग १-२ ... १८०-००

३०. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी परिक्षाब्धि संतरणी) ४०- ००

३१. चतुःसूत्री (भामती परीक्षाब्धि संतरणी) ... २०-००

३२. व्याप्तिपञ्चकम् (सानुवाद माथुरी छात्रतोषिणी संवलितम्) ... ४०-००

३३. सिद्धान्तलक्षणम् (जागदीशी छात्रतोषिणी हिन्दी व्याख्यात्रय संवलितम। ... यन्त्रस्थ

३४. संक्षेप शारीरकं (सानुवाद-मधुसूदनी सटिप्पणं संवलितं [भाग-१-२] ... ५००-००

३५. संक्षेप शारीरकं (सानुवाद ललिता व्याख्यायुता) ... २००-००

३६. सागरसेतु सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ३२० ... ५०-००

३७. कैलास आश्रम शताब्दी स्मारिका सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ४३४ .... ५०-००

३८. यतीन्द्रतिलक सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ३२४ .... ५०-००

३९. दिव्यस्मृति पृष्ठ ३८८ ... २०-००

४०. आचार सहिता ... ५०-००
आई. एस. बी. एन. ८१-६००६२५-६-५

४१. व्यासपूजापद्धति(शङ्खकलशप्रधान-वेदोमण्डलैःसमलङ्कृता) २०-००

४२. चित्राञ्जलिः १२५-००

४३. श्रद्धासुमनाञ्जलिः १२५-००

४४. अमृताञ्जलिः ५०-००

४५. श्रुतिसारसमुद्धरणम् (हिन्दी-टीकायुतम्) क्राउन १६ पेजी पृष्ठ १५२ २०/-

४६. तत्त्वबोध, आत्मबोध सानुवाद पृष्ठ १०० २०/-

४७. वेदान्त रत्नाकर क्राउन १६ पेजी पृष्ठ ११६ २०/-

४८. वेदान्त डिण्डिम बोध (सानुवाद) पृष्ठ ५८		२०/-
४९. वैराग्यपञ्चक (कुञ्जिकाव्याख्या)		यन्त्रस्थ
५०. अद्वैतमुक्तावली (मूल पञ्जाबी का संस्कृत श्लोकों एवं हिन्दी में अनुवाद)		२०/-
५१. अमर संस्मरण (श्री अमरनाथ यात्रा विवरण)		२०/-
५२. कैलास मान सरोवर यात्रा		५०/-
५३. चैतन्य वचनामृतं	....	५०/-
५४. सानुवादगङ्गालहरी	....	१०/-
५५. हरिहरतारतम्यस्तोत्र सानुवाद	...	५-/
५६. शिवताण्डवस्तोत्रं सानुवाद	...	५-००
५७. मुक्ति सोपान	...	५-००
५८. मानस सूक्ति सुधा	...	१०-००
५९. शिवमहिम्न. स्तोत्र सान्वय व्याख्या सहित	....	१०-००
६०. वैदिक दशशान्तिमन्त्र सानुवाद	...	५-००
६१. संक्षेप शारीरक परीक्षाविध संतरणी	...	४०-००
६२ अष्टोत्तरशतन्यायमाला	...	२०-००
६३. पाणिनीयाष्टाध्यायी ललिता टीका	...	१००-००
६४. शङ्कर वचनामृतम् सानुवाद	....	५-००

विशेष सूचना—पुस्तक मंगाने वाले सज्जन अग्रिम राशि निम्नांकित कार्यालय में भेजकर मंगावें। पुस्तक के मूल्यातिरिक्त डाक, रेलवे तथा पोस्टेज व्यय पृथक् लगेगा, वी. पी. द्वारा पुस्तक भेजने का क्रम नहीं है।

ओडियो वीडियो कैसेटों के लिए प्रधान कार्यालय में सम्पर्क करें।

मुख्य कार्यालय—श्रीकैलास आश्रम ऋषिकेश (उ० प्र०)
पिन. २४९२०१, दूरभाष: (०१३५) ४३०५९८।

कैलासविद्या प्रकाशन, श्री कैलास आश्रम, ऋषिकेश (उ० प्र०)।



पाणिनीय-प्रशस्तिः

आचार्यमहामण्डलेश्वरेण कैलासपीठाधीश्वरेण
श्रीमत्स्वामिना विद्यानन्दगिरिणा विरचिता ।

अष्टाध्यायी मया दृष्टा यल्लब्धं फलमीप्सितम् ।
तल्लब्धुं नहि केनापि प्राप्तुं तद्दर्शनं विना ॥१॥

अष्टाध्यायीमदृष्ट्वा च योऽन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
वृथैव जीवनं यातं तस्य हा हन्त मन्मतम् ॥२॥

तस्मादग्रे न कर्तव्यमित्थं कैश्चिच्च पण्डितैः ।
नोचेत् स्वस्य च स्वीयानां वृथा यास्यति जीवनम् ॥३॥

पाणिनीयरहस्यं चेज्ज्ञातुमिच्छति यो नरः ।
अवश्यं तेन द्रष्टव्यः पाणिन्युक्तमहोदधिः ॥४॥

शङ्का वोभूयते यस्मात् सूत्रस्यार्थोऽतियत्नतः ।
न कर्तुं शक्यते कैश्चिद्विस्मरद्वृत्तिभिर्नरैः ॥५॥

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः ।
अनेन वचसा येन ह्यार्षग्रन्थोऽवहेलितः ॥६॥

प्रत्यक्षं तत्फलं लब्धं तेन प्रेत्यापि लप्स्यते ।
यथा स्वरापराधेति नेदुर्भाष्ये च तत्कृतः ॥७॥

नागेशादिमहाभट्टैः सादरं पाणिनिक्रमम् ।
गृहीत्वा लब्धपाण्डित्यैर्नैपुण्यं चित्रकारकम् ॥८॥

प्राप्तमद्यापि नाग्राहि यैश्च स्वीयप्रमादतः । ।
अमस्तेषां कृते चिन्ता भूरिशो मे हृदिस्थिता ॥९॥

तस्मात्पण्डितवर्याणामन्तिके चातिसादरम् ।
कायेन मनसा वाचा ज्ञापनेयं समर्पिता ॥१०॥

गर्वादिकं परित्यज्य श्रूयतां सादरं वचः ।
पाणिनीयक्रमत्यागो भारतीयैरसाम्प्रतम् ॥११॥

भो ! भो ! विद्यार्थिनः ? सर्वैः श्रोतव्यं खलु मद्वचः ।
वारमेकं समाधीत्य सूत्राणि पाणिनिक्रमात् ॥१२॥

अध्येतव्यं प्रयत्नेन सादरं कौमुदीत्रिकम् ।
नाग्रहो मे यतः पश्चादस्ति तत्र कथञ्चन ॥१३॥

सप्तद्वीपपृथिव्याञ्च पारं शब्दमहोदधेः ।
गन्तुमिच्छन्ति चेत् केचित् गम्यतां तैर्यथा-
सुखम् ॥१४॥

विद्यानन्दस्य वाञ्छा चेद्विस्तृते शब्दसागरे ।
पाणिनिक्रमिकां नौकमारुह्य यान्ति नो भयम् ॥१५॥

निगमशास्त्रमुखे निहितं फलं,
ऋषिविनिर्मितरीतिविभूषितम् ।

त्रिमुनिवंशपरम्परयागतं,
पठत भाष्यसमन्वितसूत्रकम् ॥१६॥

इति पाणिनिप्रशस्तिः समाप्तिं गता ।